प्रकाशक :
विजय प्रकाश बेरी
प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा.लि.
पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१०१०
फोन : ३५०४२५, ३५६८५०
फैक्स : (०५४२) ३५०६७०



पंचम संस्करण : २००१



मूल्य : १५०.००



प्रकाशकीय

सत कबीर ने न केवल मध्यकाल के हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया था बल्कि आज भी उनका प्रभाव बना है। ऐसा लगता है कि दिन ब दिन उनके पाठकों, प्रशसकों की सख्या बढ़ रही है। उनके पाठक प्रशसक अब न केवल हिन्दी क्षेत्र, भारत के हिन्दीतर क्षेत्र मे है बल्कि कबीर अब एक अन्तर्राष्ट्रीय कवि और दार्शनिक के रूप मे पूज्य हो रहे है। अभी एक अमेरिकी विदुषी से बात हो रही थी। किसी ने उससे भारत के श्रेष्ठ कवि कालिदास का नाम लिया। किन्तु अमेरिकी विदुषी की जिज्ञासा कबीर के बारे मे थी। लगा कि सत कबीर ने उसके अत स्थल को गहराई से प्रभावित किया है। इसी प्रकार साहित्य मे भारत के एकमात्र नोबल पुरस्कार प्राप्त महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर पर सत कबीर की रचनाओं का गहरा प्रभाव था। इसका कारण है कि सत कबीर भौतिक सुख सुविधा से घिरे मन को एक नयी दुनिया का दर्शन कराते है। भौतिकता एक प्रकार का बधन है। सुख भोग का आकर्षण एक सीमा पर स्थिर हो जाता है। भोजन कितना भी स्वादिष्ट हो। किंतु उसका असल स्वाद तो भूख मे है। बिना भूख के अमृत भी विष जैसा है। यही भोग और सुख के सारे साधन एक स्थान पर ठहर जाते है। इतिहास मे भी देखा गया है। सुखी परिवारों, राजन्य परिवारों मे ही विद्रोही हुए है। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि राजपरिवार के व्यक्ति थे। तुलसीदास ने ठीक ही लक्ष्य किया था। राम ने पिता का राज्य वैसे छोड़ दिया। जैसे यात्रीगण रास्ते के पड़ाव सुखों को छोड़ देते है। इतिहास पुरुष बुद्ध ने भी राज्य का त्याग किया था। जिस राज्य के लिये लोग रक्त बहाते है उसे छोड़ बुद्ध सन्यासी हो गए। इतिहास मे ऐसे शासकों, सपन्नों की कथा आती है जो शासन की समृद्धि के बीच रहकर भी भोग नही योग का जीवन जीते थे। दूसरो को भोग प्रदान करने के लिये वे राज्य शासन मे भाग लेते थे। किन्तु अपना जीवन साधु रखते थे। यहॉ तक कि अपनी जीविका के लिये भी दूसरा धधा करते थे।

इस त्याग का मूल कारण है भोग मे अरुचि। भोग की तुच्छता की अनुभूति। आधुनिक युग मे देखते है। सपूर्ण दिल्ली स्वतत्रता का उत्सव मना रही थी। किंतु महात्मा गॉधी दगा पीड़ित नोआखाली मे मानव सेवा मे लगे थे। रामायण के भरत ने राम वनवास के चौदह वर्षो को नदिग्राम मे बिताया। इस समय वे गोमूत्र मे सिद्ध जौ की दलिया खाकर जीवन निर्वाह करते थे। तुलसीदास कहते है—

अवध राजु सुरराजु सिहाई। दसरथ धन सुनि धनदु लजाई।

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चचरीक जिमि चपक बागा।

अनेक नये-पुराने अनुभव बताते है। मनुष्य भोग से भागना चाहता है। भोग और वैभव स्थूल, ऊबाऊ और बध कारक होते है। इनके मुकाबले त्याग और तपस्या सूक्ष्म, स्पृहणी और मुक्तिवाला होती है। भोग मनुष्य को छोटा बनाता है। त्याग का ससार विराट् है। निस्सीम है। त्याग का कोई अत नही है। इसीलिये एक स्थिति, भोग की चरम स्थिति पर पहुँचा मानव उससे भागना चाहता है।

सत कबीर का काव्य असीमता का भोग विरोधी रचना है। आज जहॉ एक ओर भोग साधन

प्रचुर हो रहे है । भोग और भोग की उत्तेजनाएँ उत्ताल तरगों मे है । वही उनकी गहरी प्रतिक्रिया भी देखी जा रही है । भोग का अस्वीकार पक्ष प्रवल हो रहा है । भोग नही । योग । सत कवीर इस योग के प्रवल पक्षधर है । उन्होंने स्वय योग की साधना की थी । किन्तु योग मे भी विभूतिदर्शन, विभूति लाभ की आशका रहती है । योगी अपने चमत्कार से ससार को आकर्षित करना चाहता है । अतः सत कवीर ने भोगोत्पन्न विभूतियों को भी भगवान् को समर्पित कर दिया था । उनका सव कुछ भगवान के लिये था । यह भक्ति है । भक्त भगवान् का है । अत योग साधना की सारी उपलव्धियाँ भी भगवान् की है । भक्त तो निस्व है । जिसका अहम् ही इदम् मे विसर्जित है उसके लिये न भोग है । न योग । केवल है समर्पण । भक्ति भौतिकता तो क्या ? योग को भी अतिक्रात करती है । सत कवीर की भक्ति मे योग, ज्ञान, कर्म, वैराग्य सवका पर्यवसान होता है ।

कहते है सत कवीर पढ़े लिखे नही थे । किन्तु उनकी रचनाएँ प्रत्येक पढ़े-लिखे के लिये आदर्श है । उनका ज्ञान पक्ष अत्यन्त उच्च स्तर का है । उनकी रचनाओं मे दर्शन, विशेपकर वेदात दर्शन और पुराकथा की अत्यन्त निगूढ़ वाते भरी है । जिन्हे सामान्य जन तो क्या विद्वान् भी नही समझ पाते है । इसके साथ यह भी सच है कि कवीर के पाठक या तो अति स्तरी विद्वान् है या अत्यन्त साधारण जन उनके भजनों का आनन्द लेता है । विना किसी प्रामाणिक पाठ की चिता किये विभिन्न क्षेत्रों की जनता कवीर को दुहराती है । आज करीव ५०० वर्षो से मौखिक परपरा ने कवीर के वचनों की सुरक्षा की है । उनका प्रचार प्रसार किया है । भावों को समझने परखने का सरल मार्ग वनाया है । इस प्रकिया ने कवीर की रचनाओं का विस्तार भी अवश्य किया होगा । फलत स्वय सत के वचनों और परवर्ती मिलावट को अलगाना कठिन हो गया है । सभी तो अपने को मूल मानते है । इनमे सप्रदाय भेद भी है । सत कवीर मठ स्थापना के चाहे जितने विरोधी रहे हों । आज उनके नाम से अनेक सप्रदाय और मठ है । इन सप्रदायों और मठों ने न केवल अर्थ भेद किया है वल्कि कभी-कभी पाठातर भी है । कवीर की चर्चा चलते ही प्रत्येक भारतवासी कोई न कोई कवीर की रचना सुनाकर पूछता है । यह पाठ आपने लिया है ? और कहना पड़ता है । यह तो नही है । किसी भी सग्राहक, सपादक के लिये लोककठ मे प्रचलित सत कवीर के नाम से चलने वाले सभी पाठों का सग्रह असभव सा है । जितने क्षेत्र, जितने व्यक्ति उतने पाठ । इस स्थिति का प्रभाव कवीर के पाठों की भाषा पर भी है । न जाने कितने क्षेत्रों, व्यक्तियों और वाचकों की भाषा ने सत कवीर की रचनाओं को आकार दिया है । सत कवीर की रचनाओं का मूल चित्र कैसा था ? यह कहना आज अत्यन्त कठिन हो गया है । कभी यही स्थिति वुद्ध वचनों की हुई थी । अनेक सगायनों के वावजूद सर्वसम्मत पाठों का अभाव है । सर्वसम्मत पाठ भाषा और अर्थो के अभाव मे अशोक के समय ही वौद्धों के २५० सप्रदाय, उप सप्रदाय हो जाने का उल्लेख मिलता है । इन सप्रदायों के निजी आग्रह है । कोई भी व्यक्ति या सप्रदाय अपने आग्रहों को छोड़ना नही चाहता है । ये आग्रह ही सप्रदाय शक्ति है । इनकी दृष्टि मे साप्रदायिक आग्रह वुद्ध के मूल वचन की अपेक्षा अधिक महत्व के है । ससार के सभी सत आग्रह मुक्ति का उपदेश देते है । किन्तु कोई भी आग्रह मुक्त नही हो पाता है । क्योंकि आग्रह ही सप्रदाय सगठन के आधार है । कोई भी सप्रदाय आग्रह रहित नही हो सकता है । हालत तो यह है कि आग्रह मुक्ति के आन्दोलनों के भी आग्रह है । जैसे दीवालों पर नोटिस चिपकाने या कुछ लिखने का निषेध दीवालों पर निषेध वाक्य लिखकर ही सभव होता है । सत कवीर की इन रचनाओं के विराट् फलक और उसकी विविधता को यथावत् स्वीकार करना होगा । इसमे ध्यान रखना होगा कि यह विविधता मुख्यत भाषा और रचना सवधी है । इनमे भावों का वैपरीत्य नही

है। कोई भी रचना विपरीत भावों की नही है। सभी रचनाऍं सत कबीर के केन्द्री विचारों को सपुष्ट करती है। केद्री विचारों की इस एकतान सपुष्टता दो प्रकार के सकेत करती है। एक यह कि घुमक्कड़ साधु कबीर जहाँ गए वही की भाषा मे कुछ कहा। रमता जोगी वहता पानी की भाषा भी रमती वहती है। दूसरा यह कि शिष्यों ने इन्हे यथावत ग्रहण किया। इसमे उन्होंने प्रामाणिक पवित्रता के वावजूद अपनी भाषा का प्रभाव छोड़ा होगा। भाषा का सबध मानवी सस्कारों से है। अत किसी भाषा का प्रयोग करते समय इन सस्कारों का प्रभाव का होना स्वाभाविक है। किसी भी वाह्य पदार्थ को मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार ही ग्रहण करता है। आग पानी की ओर नही। आग की ओर आकर्षित होती है। वरसात, शिशिर और हेमत की अपेक्षा ग्रीष्म मे प्रचड सूर्य से तप्त दारु खड या पत्रों को अग्नि शीघ्र अपना वना लेती है।

सत कबीर की रचनाओं के मुख्यत तीन भेद सर्व स्वीकृत है। वे है साखी, सवदी और रमैनी। इनमे साखी दोहों मे है। सवदी पद में है। रमैनी मे मुख्यत दोहा चौपाई का प्रयोग हुआ है। कहते रमैनियाँ छ लाख से अधिक है—'छ लाख छानवे सहस्र रमैनी एक जीभ पर होय।' ऐसे ही कवीर ने अपने को चारों युग का महात्मा कहा है। इस स्थिति मे पाठ निश्चय का एकमात्र आधार प्रस्तुत को ही वनाना उचित है। यह बात तव और महत्त्व रखती है जब अनेक विद्वानों के प्रयत्नों को पूर्ण विफलता मिली है। एक विद्वान् ने पहले अपने शिष्य से पाठ सशोधन कराकर उन्हे विश्वविद्यालय की उपाधि दिलवायी। बाद मे उसे उन्होंने अप्रामाणिक घोषित कर अपना पाठ दिया। यह पाठ मुख्यत 'सभा' का पाठ है। इस प्रकार पाठों को लेकर नाना प्रकार के मतातर रहे है। कबीर पथी साधु प्राय बीजक को ही प्रामाणिक मानते है। बीजकों की भी अनेक शाखा परपराऍं है। असल मे संत कबीर जिस प्रकार लोक कठ पर है। उसी प्रकार उनके पाठ का निश्चय भी लोक मे है। विद्वान् मात्र उसके सग्राहक है। पूरा सग्रह भी कर ले। यह बड़ी बात होगी। हिन्दी पूरे देश की भाषा है। किन्तु सभी क्षेत्रों की भाषा शैली, उच्चारणादि भिन्न है। इसी तरह की बात कबीर की भाषा के बारे मे है। लोगों को उनकी भाषा पर पजावी प्रभाव पर वड़ी आपत्ति है। किन्तु किसी पजावी से इस आग्रह को छोड़ने का अनुरोध कर देखिए। वह कभी तैयार नही होगा। इसी से कबीर साहित्य के गभीर अध्येता श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव जी ने कबीर की भाषा के पजावी और राजस्थानी प्रभावों का भी अध्ययन किया है। श्रीवास्तव जी बाबू श्यामसुन्दर दास के शिष्य थे। प० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भाषा अध्ययन के पक्ष को बिल्कुल ही छोड़ दिया। डा० सुभद्र झा ने कबीर की भाषा को मैथिली बनाने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल इसे पचमेल कहते है। प० परशुराम चतुर्वेदी, त्रिगुणायत आदि का भी यही मत है। डा० श्याम सुदरदास कबीर की भाषा के प्रामाण्य को टेढ़ी खीर मानते है। डा० पारस नाथ तिवारी, उनके गुरु माता प्रसाद गुप्त आदि भी इसी मत के है।

इन बातों को ध्यान मे रखकर यथावाद को ठीक जानकर सारे पाठ रखे गए है। प्रस्तुत सग्रह का ध्यान पाठ की अपेक्षा अर्थ, कबीर के काव्य सौंदर्य और उसकी दार्शनिक उपलब्धियों पर है। इन दृष्टियों से यह सग्रह कबीर के अव तक के सग्रहों मे विशिष्ट है।

इतनी महत्वपूर्ण पुस्तक को कम से कम मूल्य पर उपलब्ध कराते हिन्दी प्रचारक सस्थान को गौरव का अनुभव हो रहा है। पुस्तक की पदसूची का निर्माण डा० मनोरमा दुबे ने किया है। प्रकाशक को आशा है वह कबीर साहित्य के इस कार्य को और आगे वढ़ाएगा।

परिचय

कवीर समग्र की रचनाएँ साखी, सवद (पद) और रमैनी इन तीन खडों मे बँटी है। सख्या की दृष्टि से साखियों की सख्या सवसे अधिक है। उसके वाद है पद। सबसे कम सख्या रमैनियों की है। विप्रमतीसी, कहरवा आदि को भी पदों के साथ सयुक्त कर दिया है। अधिकाश छदों के शव्दार्थ, अर्थ और विशेपताएँ वनानेवाली टिप्पणियाँ भी दी गयी है। प्राय ही अलकार भी निर्दृष्ट है। कुछ छद अर्थ की दृष्टि से छोड़ दिए है। ये छद प्राय ही सरल और पुनरुक्त भाव वाले है। कुछ छदों के शब्दार्थ मात्र दिए गए है। पाठ भेद देने की अपेक्षा वैकल्पिक पाठ वाले छदों को यथावत ग्रहण कर लिया गया है। कोशिश की गयी है कि सभी उपलव्ध प्रकाशित सामग्रियों का एक जिल्द मे समाहार हो जायगा। अर्थो की भापा सरल और मुवोध रखी गयी है।

कवीर माहित्य मे अनेक पारिभाषिक शव्द हैं। एक ही शव्द कई पारिभाषिक अर्थो मे प्रयुक्त है। अधिकतर पारिभापिक शव्द सकेत या प्रतीक सूचक है। अनेक उलटवॉसियों के शव्द है। इन मभी शव्दों के अर्थ व्याख्या मे यथास्थान दिए गए है। साथ ही अत मे पारिभापिक एव प्रतीकात्मक शव्दों की अर्थ सहित सूची है। यह सूची अव तक प्रकाशित सूचियों मे सवसे वड़ी है। खीचतान कर शव्दों की लवी सूची से मोटा कोश बनाने की अपेक्षा मात्र पारिभाषिक एव प्रतीकात्मक शव्दों को अर्थ सहित देना उचित समझा गया। कठिन शव्दों के अर्थ यथास्थान है। अव अलग से किसी कोश का निर्माण व्यर्थ लगता है।

लेखक द्वारा इस पुस्तक के आरभ मे दो सौ पृष्ठों की भूमिका अत्यन्त महत्व की है। कवीर की दार्शनिक चिताधारा को समझने मे अव तक इतना गभीर और विस्तृत नही हुआ हे। लेखक की मान्यता के अनुसार कवीर काव्य की प्रत्येक पक्ति किसी न किमी दार्शनिक चिन्तन से युक्त है। इस दृष्टि से कवीर काव्य का प्रत्येक छद विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है। इन व्याख्याओं को टीका के साथ प्रस्तुत करना न सभव है। न उचित ही। इसी मे लेखक ने उन छद पक्तियों को आधार वनाकर नमूने के रूप मे कुछ निवध प्रस्तुत किये है। इन निवधों को लिखते ममय लेखक ने कवीर काव्य की आतरिक चेतना का साक्षात्कार किया है। इस साक्षात्कार ने लेखक को ऊर्जस्वित और उत्साहित किया है। अव लेखक सपूर्ण कवीर काव्य के प्रत्येक छद को निवधों मे समेटने की मनस्थिति मे है। यही कार्य उसने '१११ मानस निवध' लिखकर राम चरित मानस के छदों के वारे मे किया है। ऐसा ही पक्ति या छद निवध वह गीता तथा महाभारत पर लिख रहा है। कवीर काव्य पर लिखे गए ये निवध कवीर साहित्य की समझदारी मे नया और विशिष्ट आयाम प्रस्तुत करते है। इनसे सत कवीर के काव्य और दार्शनिक गहराइयों का अनुभव होता है। आशा है ये निवध न केवल पाठक की ज्ञान वृद्धि करेगे वल्कि वह साहित्य के ज्ञानात्मक सौंदर्य का भी आनन्द ले सकेगा।

लेखक की स्पष्ट मान्यता है कि सत कवीर अद्वैत वेदात के सर्वश्रेष्ठ भापा कवि है। बिना अद्वैत को समझे सत कवीर को समझना कठिन है। किन्तु अद्वैत के साथ ही सत कवीर पर पड़नेवाले

दूसरे प्रभावों को भी अस्वीकार नही किया जा सकता है। क्योंकि सत कबीर कोरे दार्शनिक न होकर भाव सपन्न कवि है। ससार को माया मानकर भी वे ससार मे उत्पन्न उचितानुचित का विचार करते है। ससार को माया मानने का मतलब ससार छोड़ना नही है। जब तक देह है ससार रहेगा। तो जो है। जो रहेगा। जो छूट नही सकता। उसके सौन्दर्य और स्वास्थ्य का प्रयत्न भी आवश्यक है। मायावाद किसी अनाचार की छूट नही देता है। वह जीवन से पलायन न होकर जीवन उचित ढग से जीने का दर्शन है। मुक्ति का अर्थ भोग, विषय एव इनके लिये उत्पन्न द्वन्द्व, अनाचार आदि से मुक्ति है। एक ऐसे जीवन की कल्पना है जिसमे सबके प्रति प्रेम हो। जिसमे घृणा, द्वेष, क्रोध, मोह, शोषण एव-अकेले भोगने का प्रसग न हो। इसीलिये सभी सत अपना धधा करते है। परिवार के साथ साधु सतों का भी सत्कार करते है। अपने कम से कम लेकर दूसरों की व्यवस्था करते है।

लेखक ने अपने निबधों मे कबीर के बारे मे प्रचलित अनेक भ्रमों का भी निराकरण किया है। उदाहरणार्थ धारणा है कि कबीर की पत्नी का नाम लोई था। किन्तु लेखक ने इसे लोक का अपभ्रश बताकर कबीर की स्त्री के इस नाम का खडन किया है। ऐसे ही कुछ विद्वानों ने कबीर की दो पत्नियों को मान्यता दी है। किन्तु लेखक ने इसे माया और भक्ति का रूपक न समझने का भ्रम बताया है। ढाई आखर एक बड़ा भ्रम प्रचलित है। लोग समझते है। कबीर ने ढाई आखर प्रेम का कहा है। किन्तु ढाई शब्द भी गलत है। पूरे कबीर साहित्य मे ढाई की कोई अवधारणा नही है। यह अवधारणा एक की है। 'एक जु अच्छर प्रेम का'। कबीर सर्वत्र ही एक के उपासक है। वे एक से अधिक दो को गाली मानते है। दोइ कहे ते गारि। ऐसे ही कबीर का सबध मगहर बताना भी परपरा विरुद्ध है। मगहर मगध गृह का अपभ्रश है। द्वन्द्व काशी और मगध का है। कासी मग सुरसरि कविनासा। कबीर काशी की निदा किये बिना मगहर (मगध गृह) को महत्व देना चाहते है। इस दृष्टि से मगहर स्थान विशेष न होकर क्षेत्र और अचल है।

कबीर की भाषा का अध्ययन लेखक ने काव्य सौंदर्य की दृष्टि से किया है। उसके व्याकरण रूपों के अध्ययन को आवश्यक नही समझा। क्योकि व्याकरण रूपों की प्रामाणिकता पर अनिश्चय की स्थिति रहती है। लेखक यह मानने के लिये तैयार नही है कि सत कबीर पढ़े-लिखे नही थे। उनके द्वारा प्रस्तुत का विरोध औपनिषदिक परपरा है। सभी सत भक्तों ने पुस्तक ज्ञान, अक्षरज्ञान को हीन बताया है। असल है आत्मज्ञान, आत्म साक्षात्कार। पुस्तके बाहरी है। इनसे अतर के देव की प्राप्ति सभव नही। सभव है सत कबीर को यह सारा ज्ञान मौखिक परपरा से प्राप्त था। जैसा कि पहले प्रायः ही होता था। आज भी ऐसे लोग मिलते है। जिन्हे अक्षर नही आता। किन्तु वे पूरा रामचरित मानस, गीता या दूसरे कवियों की सैकड़ों रचनाएँ सुना सकते है। अक्षर पर अत्यधिक बल आधुनिक अवधारणा है।

सतों, भक्तों का मार्ग भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिक है। इसी से कबीर और तुलसी मे भी मूलत अविरोध है। विरोध वहाँ उतना नही है जितना लोग देखना चाहते है। इस बात की सिद्धि के लिये लेखक ने तुलसी और कबीर के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन निबधों की सारी स्थापनाएँ प्रमाण पुष्ट है। कोई भी बात बिना प्रमाण के लादने का प्रयत्न नही है। स्थापना सामान्य विश्वास से भिन्न होने के कारण चकित कर सकती है। किन्तु वे गलत नही

है। आशा है इस अध्ययन से भक्ति साहित्य का परपरित किन्तु रुद्ध मार्ग पर नया और उचित प्रकाश पड़ेगा।

यह पुस्तक हिन्दी प्रचारक सस्थान, वाराणसी की महत्वपूर्ण देन है। प्रकाशन सस्थान के स्वामी श्री कृष्ण चद्र वेरी जी की प्रवल इच्छा और भक्ति काव्य के प्रति अनुराग का परिणाम है। बेरी जी के पुत्र श्री विजय प्रकाश बेरी, श्री राजेन्द्र बेरी, श्री अनिल बेरी तथा पौत्र श्री विवेक वेरी ने भी रुचि लेकर प्रकाशन कार्य को पूर्ण किया है। अत ये सभी सत आराधना फल के भागी है। सपूर्ण ग्रथ भगवताराधना का विनम्र प्रयास है।

विषय-सूची

द्वितीय भाग

साखी



तृतीय संस्करण

'कबीर समग्र' का तृतीय सस्करण देख प्रसन्नता होती है। श्रेष्ठ साहित्य के पाठक अभी भी हैं। यह प्रसन्नता का विशेष कारण है। पाठकाभाव के प्रमुखत दो कारण हैं—एक है, शिक्षा का गिरता स्तर। दूसरा है, मौलिक, चिंतित और बौद्धिक साहित्य का अभाव। अभी तक किसी तरह दूर पश्चिम के सुहावने ढोल से काम चलाया गया। अब पता लगा। ढोल में पोल है। फलत पाठक आयायित विचारो से ऊब चुका है। आयायित साहित्य प्राय ही बासी, रुक्ष, उच्छिष्ट और कदन्न होता है। ऊपर से लदा होने के कारण बोझ ढोना ही पड़ता है। पाठको ने इस बोझ को अस्वीकार अवश्य कर दिया है। किन्तु श्रेष्ठ विकल्प के अभाव में उलझने हो रही हैं।

औद्योगिक क्राति की वैचारिक ऊर्जा अग्रेजी राज मे ही चुक गयी थी। कुछ दिनो तक हमने मार्क्स की बैसाखी पकड़ी। किन्तु मार्क्सवाद सौ शरत् भी न जी सका और वह परिनिर्वाण को प्राप्त हुआ। फलत ससार के सामने विचारो का महाशून्य मुँह खोले खड़ा है। एक नवजागरण दस्तक दे रहा है। इसीसे लोग भारत के वेदात, बुद्ध, कबीर, तुलसी, गाँधी को आशा से देख रहे हैं। योग नही, योगा जीन्स नही, भगवा। मशीन नही, मनुष्य। वस्तु नही, व्यक्ति। दृश्य नही, द्रष्टा। जानता हूँ। अग्रेजी के बधिरकर्ण इस नवजागरण के दस्तक को नही सुनेंगे। सचार माध्यमो ने उन्हे खोखा बना दिया है। किन्तु दूसरा विकल्प भी नही है। प्रत्येक महान् आरम्भ मे उपेक्षित होता है।

कबीर समग्र के बार-बार सस्करण प्रमाणित करते हैं। भारत का पाठक अब आयायित साहित्य के जुए को अपने कधो पर नही रखेगा। अब भारत के स्वचिंतित, प्राणवान् और श्रेष्ठ साहित्य के दिन लौट रहे हैं। 'कबीर समग्र' भारत के आत्मनिर्भर चिन्तन का विनम्र प्रयास है।

हिन्दी प्रचारक सस्थान, वाराणसी के स्वामी श्री कृष्णचन्द्र बेरी को इस प्रकार के साहित्य मे रुचि है। यह सुखद पक्ष है।

— युगेश्वर

२०-२-१९९६

चतुर्थ संस्करण

'कबीर समग्र' १९९६ मे तृतीय एव १९९८ मे चतुर्थ सस्करण आश्वस्त करता है। पिछले दिनो एक जापानी पाठक ने अत्यन्त उत्साह से कबीर समग्र की प्रशसा लिखी थी। इससे पता लगता है। कबीर समग्र सार्वभौम रूप ले रहा है।

चतुर्थ सस्करण मे कुछ भूले, छूटे सुधारी गयी हैं। भविष्य के सस्करणो मे अधिक सुधार सभावना है।

— युगेश्वर

२५-१२-१९९७

भक्तिः स्थान और आरम्भ

भारती जनमानस पर सबसे अधिक प्रभाव 'भक्ति' का है। कम से कम पिछले दो हजार वर्षो से इस प्रभाव की निरन्तरता प्रमाणित है। तारीखे कठिनाई मे डाल देती है। 'सनातन' की कोई तारीख नही। कोई सन् और सवत् नही। सनातन अनत और अजन्मा है। खोजी भक्ति का आरम्भ वेदो से ही कहते है। जहाँ तक भारती साहित्य है वहाँ सर्वत्र ही भक्ति है। वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य, प्रबन्धम्, भाषा, बौद्ध, जैन, दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम सब जगह भक्ति है। यहाँ तक कि सूफियो के यहाँ भी। भक्ति ब्रह्म जैसी व्यापिनी है। गीता मे श्रीकृष्ण ने भक्तियोग को पुरातन कहा है। इसे उन्होने सर्वप्रथम सूर्य को बताया था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को। मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को। इसी सूर्य कुल मे भगवान राम का जन्म हुआ था। महाभारत मे भक्ति नारद को श्वेतद्वीप मे भगवान से प्राप्त हुई थी। यह श्वेतद्वीप बदरिका आश्रम के आस-पास है। हिमालय का श्वेत धवल यह स्थान कभी समुद्र से घिरा रहा होगा। आगे चलकर जिस भक्ति का विकास हुआ वह भी नारायणी या भागवत भक्ति है। किन्तु भक्ति का क्षेत्र विष्णु के अतिरिक्त भी है। शिव और विष्णु की भक्ति की दो धाराएँ प्राचीन है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है–'भगवद्गीता (९ १४) एव शिवगीता (१२ ४) दोनो ग्रंथों मे कहा है कि भक्ति किसी की करो, पहुँचेगी वह एक ही परमेश्वर को। महाभारत के नारायणी धर्म मे इन दोनो देवताओ का अभेद यो बताया गया है कि नारायण और रुद्र एक ही है। जो रुद्र के भक्त है, वे नारायण के भक्त है और जो रुद्र के द्वेषी है वे नारायण के भी द्वेषी है (म० भा०० शा० ३४१ २०-१६ और ३४२, १२९ देखो)[1] इतना ही नही शारदा, दुर्गा, सूर्य, ब्रह्मा आदि की भी भक्ति होती थी। आगे चलकर बोधिसत्व, बुद्ध, अर्हत आदि की भक्ति होने लगी। सभी भक्तो ने प्राय सभी देवताओ की प्रार्थनाएँ की है। अवतारो की सख्या भी बढ़ती जा रही है। आस्तिक बुद्धि का श्रद्धालु भक्त और भगवान् मे भेद करने का साहस नही करता। झगड़े तो अश्रद्धालुओ के काम है। सभी देवो के प्रति पूज्य भाव के कारण ही समन्वय का विकास हुआ। वेद-विरोधी बुद्ध वेदधर्मियो के भगवान् हो गए। जैनो के ॠषभदेव अवतारो मे शामिल कर लिए गये। आत्मा, परमात्मा और सत्ता के विरोधी पूज्य होते-होते स्वय भगवान बन गए। सर्वोच्च सता बन गए। भुक्ति-मुक्ति के दाता बन गए। इतिहास से अधिक पुराण बन गये।

भारत का शायद ही कोई सम्प्रदाय, मतवाद और धारा हो जहाँ भक्ति का उदय नही हुआ। सनातन धारा ने विरोधियो को प्रभावित किया। विरोधियो ने सनातन के निर्माण मे अपना योग दिया। भारती मनीषा ने कब, कहाँ और किसको प्रभावित किया है, इसका लेखा कठिन है। सनातन की सभी धाराएँ अनत है। वे एक दूसरे के साथ चलती है। विरोधी बौद्ध और जैन धर्म वेद-धर्म से ही विकसित थे। उन्होने सुधार चाहा। एक पिता के विपुल कुमार की स्थिति थी। पिता के गुण-दोष तो इनमे थे ही, उन्होने अपने भाइयो को भी प्रभावित किया। उनसे प्रभावित भी हुए।

---

१ गीता–रहस्य–पृ० ३४३।

आधुनिक युग मे खण्डित देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। आर्य, अनार्य, द्रविड़, दक्षिण, उत्तर के विभाजन द्वारा भक्ति की शुरुआत आदि पर मत स्थापित किये जाते है। पहली बात तो यह है कि आर्य और द्रविड़ का बॅटवारा प्रामाणिक और विश्वसनी नही है। ये देशो और जातियो के आपसी नामकरण हैं। इनमे सभ्यता, धर्म, सस्कृति और देश-विदेश जैसा बड़ा अलगाव खोजना अधूरी दृष्टि है। इन्हे दो जातियो–देशी-विदेशी के रूप मे देखना इतिहास विरुद्ध और छल वाला है। भारती मेधा इस देश की विशालता, विविधता और प्राचीनता के प्रति सावधान रहने के कारण ही सामजस्य बैठाती है। विष्णु का शयन-स्थल समुद्र है, तो अवतार-स्थल मध्य देश। शकर की निवास-भूमि धुर उत्तर है, तो उनके अनेक भक्त दक्षिण मे है। भगवान उत्तर के, भगवद्धाम सभी दिशाओ मे। भगवान् की द्वैत, अद्वैत, विशिष्ट आदि मूर्तियॉ गढ़नेवाले आचार्य दक्षिण मे। आचार्यो के कवि शिष्य प्राय उत्तर के। कहते है शिव ने अपने हाथो से डमरू बजाया। अगस्त्य और पाणिनि दोनो उपस्थित थे। बायी ओर से निकलनेवाली ध्वनियॉ तमिल और दायी ओर से निकलनेवाली सस्कृत का मूलस्रोत बनी। अगस्त्य वाराणसी, उत्तर के थे। उन्होने या उनके शिष्य ने प्रथम तमिल व्याकरण का निर्माण किया। स्वय शिव सावधान थे। तमिल बायी, ओर (उत्तर) से निकली और सस्कृत दायी (दक्षिण) से। शोधी कहते है कि 'भागवत' का निर्माण दक्षिण मे हुआ। प्रस्थानत्रयी के अधिकतर-टीकाकार आचार्य दक्षिण के थे। किन्तु भारती मेधा भेद के चक्कर मे नही पड़ती। उसके लिए 'भागवत' दैवी ग्रन्थ है। देवता का कोई एक स्थान नही होता। आचार्यो का जन्म दक्षिण मे हुआ होगा। किन्तु वे पूरे देश के है। इसीलिये सन्यासी अपनी जन्मभूमि बताने मे सकोच करते है। जाति पूछने पर तो वे बिलकुल दुखी हो जाते है। फिर भी भक्ति स्थान और काल से कभी-कभी जुड़ती है। महाभारत का श्वेत द्वीप कहॉ है पता नही। नारद का नाम सही है। नारद भक्ति के मान्य और प्राचीन आचार्य है। प्राय अस्वीकार की मुद्रावाले कबीर भी नारदी भक्ति मे मग्न है

(भगति नारदी मगन कबीरा) महाभारत के स्रोत से इतना ही कहा जा सकता है कि 'भक्ति' अनादि है।

भागवत मे 'भक्ति' की उत्पत्ति के बारे मे दो सकेत है। एक, जिसमे भक्ति स्वय अपने बारे मे कहती है—"मै द्रविड़ देश मे उत्पन्न हुई। कर्नाटक मे बढ़ी। कही-कही महाराष्ट्र मे बढ़ी और गुजरात मे बूढ़ी हो गयी। वहॉ घोर कलियुग के प्रभाव से पाखण्डियो ने मुझे अग–भग कर दिया। अपने पुत्र के साथ मे दुर्बल और मन्द हो गयी हूँ। अब वृन्दावन आकर मुझे सुन्दर रूप और यौवन मिला।" (भागवत की प्रस्तावना) नारद को यह भक्ति यमुना के किनारे मिली थी। दूसरा उदाहरण भागवत एकादश स्कन्ध के अध्याय पॉच मे है। करभाजन जी कहते है–"कलियुग मे द्रविड़ देश मे अधिक भक्त पाये जाते है, जहॉ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नाम की नदियॉ बहती है। राजन जो मनुष्य इन नदियो का जल पीते है, प्राय उनका अन्त करण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् के भक्त हो जाते है" (३८-४०)। इन दो उद्धरणो के अतिरिक्त कबीर की प्रसिद्ध उक्ति है– "भक्ति द्रविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।" इन उद्धरणो और भक्ति के मध्यकालीन आचार्यो (जो प्राय दक्षिण के है) को आधार बनाकर दक्षिण मे भक्ति की खोज हुई है।

दक्षिण की भक्ति का सम्बन्ध आलवारो से जोड़ा जाता है। भक्ति सम्बन्धी सभी लेखको ने आलवारो की चर्चा की है। "कुछ शिलालेखो से पता चलता है कि प्रारम्भ मे यह शब्द (आलवार) केवल वैष्णव भक्तो के लिये न होकर शैव, जैनभक्तो तथा भगवान् बुद्ध के लिये

प्रयुक्त होता था।"[१] आगे चलकर आलवार शब्द केवल वैष्णव भक्तो के लिये सीमित हो गया। इन वैष्णव आलवारो की सख्या १२ गिनी जाती है। अधिकाश विद्वान आलवारो का काल सामान्य रूप से चौथी शताब्दी से नवी शताब्दी मानते है।"[२] इस प्रकार ५०० वर्षों के काल मे १२ आलवार हुए। सबो ने अपनी रचनाएँ तमिल मे की है। सबो के तमिल के अतिरिक्त सस्कृत नाम भी है। 'आलवरो की विचारधारा वेद और गीता से प्रभावित दीख पड़ती है। प्रथम तीन आलवारो (पोयगे आलवार, भूतत्तालवार और पेयालवार) ने अपनी रचनाओ मे वैदिक विचारो को अधिक व्यक्त किया है जिससे उनके वेदो के पाडित्य का पता चलता है। चौथे आलवार (तिरुमलिश आलवार) ने ऐसे विचारो को व्यक्त किया है जो पॉचरात्र मत से प्रभावित दीख पड़ते है। नम्मालवार की रचनाओ मे तो वेद और गीता के विचार भरे पड़े है।"[३] 'अलवारो ने वेद, उपनिषद् और गीता से विचार ग्रहण कर भक्ति का सरलतम रूप जन सामान्य के सम्मुख रखा।'[४] स्पष्ट है कि आलवारो की विचारधारा वैदिक विचारधारा है। प्रत्येक आलवार ने प्राय वेद, गीता, उपनिषद् आदि का उल्लेख किया है। अब आर्य और द्रविड़ सस्कृतियो के अलगाव और सगम की चर्चा कोई अर्थ नही रखती। करीब ५०० वर्षो मे केवल १२ आलवारो का होना किसी आन्दोलन का परिणाम न होकर एक विचारधारा और एक प्रकार की रचना का शनै विकास अवश्य है। आलवारो के समान ही उस युग मे शिव भक्त नायनमार थे। नायनमारो की सख्या ६३ थी। आलवारो मे पॅचगुनी। किन्तु नायनमार की परम्परा का आगे विकास न हो सका। दक्षिण के आलवारो की अल्पसख्या को देखकर कहा जा सकता है कि 'भक्ति' आन्दोलन की अपेक्षा जीवन की शाश्वत धारा है। हॉ, समय-समय पर उसमे बरसाती ज्वार अवश्य आता है। यह बरसाती ज्वार दक्षिण मे कम, उत्तर मे अधिक दीखता है। दक्षिण से उत्तर की भक्ति-धारा को प्रभावित बताते समय ध्यान मे रखना चाहिए कि उत्तर के कवि दक्षिण के कवियो से प्रभावित नही जान पड़ते। इसकी अपेक्षा उन पर आचार्यो का प्रभाव है। दार्शनिक क्षेत्र मे सभी भक्त आचार्यो की टक्कर शकराचार्य से है। शकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध भी इन्ही आचार्यो ने कहा। शकर भक्ति विरोधी नही थे। हॉ, उनके यहॉ भक्ति को प्रथम स्थान न था। कहना इतना ही है कि भक्ति की धारा शकर को छूकर ही निकलती है। वेदान्तकेसरी ने सारे देश को प्रभावित किया। उसी प्रभाव मे मध्यकाल के अन्य भक्ति-दर्शनो का विकास हुआ। दर्शन हो या इतर क्षेत्र, सब जगह सनातन और सनातन-विरोधी एक-दूसरे को प्रभावित कर रहे थे। यह प्रभाव अपने मे विचित्र ढग का था। विरोध और ग्रहण दोनो साथ-साथ चल रहे थे। शकराचार्य वैदिक धर्म के उन्नायक थे। भक्ति के आचार्यो ने भी यही किया। भक्ति के सभी आचार्य शकर की ही विकास परम्परा मे थे।

सभी आचार्यो पर सस्कृत और तमिल का प्रभाव था। सभी आचार्य द्विभाषी थे। लोकभाषा तमिल और शास्त्रभाषा सस्कृत। मम्मट ने कवि के लिये लोक-शास्त्र दोनो आवश्यक माना था। इसी प्रकार इन आचार्यो ने लोक-वेद दोनो से प्रभाव लिये। प्रबन्धम् और सस्कृतम्।

गोस्वामी तुलसीदास की एक प्रसिद्ध उक्ति है– गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग। स्पष्ट है कि तुलसीदास वेद, उपनिषद् गीता, सहिताओ आदि की भक्ति का उल्लेख कर रहे थे। इससे ज्ञात होता है कि गोरख के पहले वैदिक भक्ति का यहॉ प्रचार था। तुलसी उसी शास्त्र-सम्मत भक्ति की स्थापना करना चाहते थे। आचार्यो ने अपनी टीकाओ द्वारा भक्ति को शास्त्री

---

१ डा० मलिक मोहम्मद– आलवार भक्तो का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ० ९३।
२ वही ,पृ० ९५।
३ वही ,पृ० ५६
४ डा० मलिक मोहम्मद, वैष्णव भक्ति आन्दोलन अध्ययन, पृ० ९५।

रूप दिया था, बौद्ध और जैन धर्म के आलोक मे अपनी भक्ति को सॅवारा था। बुद्ध को अवतार मानने वाले ग्रथो ने केवल बुद्ध का नाम ही नही लिया होगा। उनकी और चीजे भी आई होगी। इस सम्बन्ध मे नारद और शाडिल्य के भक्ति-सूत्रो से एक स्पष्ट अन्तर परवर्त्ती उत्तर और दक्षिण दोनो की भक्ति मे दीख पड़ता है। पूर्ववर्त्ती भक्ति-सूत्रो की भक्ति प्रेम रूपा थी। उसमे दैन्य का भाव गौण था। महाभारत के नारायणी उपाख्यान की भक्ति मे 'लगाव' है। प्रेम और दैन्य का सकेत निकाला जा सकता है। किन्तु वह सहज और स्पष्ट नही है। आगे की भक्ति लगाव से बढ़कर पूर्ण समर्पण, दैन्य और गहरे प्रेम मे बदल गयी।

हिन्दी मे भक्ति की तीन प्रवल धाराएँ दीख पड़ती है-१ सन्तो की, २ राम भक्ति की और ३ कृष्ण भक्ति की। सन्तो मे सबसे बड़े सन्त कबीर ने भक्ति का द्रविड़ से आने की घोषणा की। किन्तु दक्षिण वाली भक्ति का जिन पर सबसे कम प्रभाव है वे है सन्त और कबीर। राम भक्ति और कृष्ण भक्ति का सनातनी भक्ति से सीधा और साथ-साथ का सम्बन्ध है। किन्तु सन्त शास्त्र और सनातन को दूसरे स्तर पर ग्रहण करते है। सन्तो की साधना और शब्दावली पर योग प्रभाव भी है। दक्षिण के भक्त लोक और वेद दोनो के समर्थक थे। मधुर कवि भक्ति को वेद का गूढ़ से गूढ़ तत्व समझाने की विधि बताते है। कबीर लोक और वेद दोनो को अस्वीकार करते है। लोक का अर्थ लोक प्रचलित विश्वास और लोक मे घुसा बौद्ध तथा तात्रिक प्रभाव है। वेद-मार्ग का विरोध तो भगवान बुद्ध ने ही शुरू कर दिया था। लोक का विरोध कबीर और आगे के सन्त-भक्त करते है। क्योकि लोक-धर्म के नाम पर बौद्ध सहजयान, वज्रयान आदि ने जो अनाचार फैला रखा था जनता उससे ऊब गयी थी। दक्षिण के प्रसिद्ध शैव सन्त 'नायमारो ने अपनी रचनाओ मे खुलकर बौद्ध और जैनो का खडन किया और उनके निदनी कार्यो की हॅसी उड़ाई। तुलसी को लोक-वेद दोनो स्वीकार है। किन्तु राम इन दोनो के ऊपर हैं।

दक्षिण की भक्ति पर थोड़ा और विस्तार से विचार करने की जरूरत है। एक बात तो स्पष्ट है कि यह भक्ति कोई द्रविड़ भक्ति नही है। यह 'सनातन' भक्ति है जिसमे वेद, उपनिषद् गीता, पुराण, पचरात्र आदि सम्मिलित है। दूसरी बात यह कि इस भक्ति पर भी बौद्ध-जैन प्रभाव है। (ग्रहण तो प्रभाव है ही, विरोध मे भी एक प्रकार का प्रभाव हो सकता है)। शरणागति का सबसे अधिक विकास बौद्ध धर्म की महायान शाखा मे हुआ। 'महायानी स्तुतियो मे बुद्ध काया के तीन रूप बताए गए है जो परम सत्ता के तीनो पक्षो के प्रतीक है-१ काया, २ सभोग काया, ३ निर्माण काया।[1] यह विचारधारा और आगे बढ़ी। 'जनसाधारण के लिये प्रज्ञापारमिताओ मे कुछ सरल मार्ग भी बताए गए हैं। यह मार्ग बोधिसत्वो की शरण मे जाना था। इस शरणागति के साथ-साथ पूजा अर्चा का भी सम्यक् विधान मिलता है। इस प्रकार की पूजा न केवल निर्वाण वरन् भौतिक सिद्धियॉ भी प्रदान करती थी।[2] बौद्ध धर्म की इस अवतार और पूजावाली स्थिति ने उत्तर-दक्षिण दोनो मानस को प्रभावित किया। बौद्ध और जैन धर्म ई० पू० ही दक्षिण जा चुके थे। ये धर्म दक्षिण के लिए चिन्ता का विषय थे भी। यही कारण है कि दक्षिण के आचार्य को बौद्ध धर्म के विरोध का सेहरा बॅधा। भारत की भौगोलिक दृष्टि से दक्षिण प्रदेश प्रा य रक्षित रहा है। इसीलिये मूल भारत वहॉ सुरक्षित रहा है। इसी मे वैदिक और बौद्ध धर्म का मेल हुआ। 'महाभारत काल तक आते आते वैष्णवधर्म का एक

१ डॉ० धर्मवीर भारती-सिद्ध साहित्य,पृ ०११० ।
२ वही ,पृ०१११ ।

सुसगठित रूप प्रगट हुआ जो भागवत या सात्वतपति कहलाया'।[१] नासिक के शिलालेखो से स्पष्ट है कि ईसा के पूर्व ही कृष्ण-भक्ति का प्रचार दक्षिण की ओर भी गया।'[२] वैदिक कर्मकाण्डो के प्रति बुद्ध का विद्रोह और उनका जनता मे व्यापक प्रभाव प्रमाणित करता है कि लोग वैदिक कर्मकाड के ऊबे होगे। उसी समय सनातनी भक्ति का आरम्भ हुआ होगा। यह भक्ति वेद से जुड़ी थी। यह सनातनी पद्धति भी है। यहाँ विरोध नही विकास होता है। भक्ति वेद से अलग थी। किन्तु वैदिक थी। स्थितियो के दबाव से उदित हुई थी किन्तु सनातन का अग बनकर। प्राकृतिक आनन्द, देवो के प्रति पूज्यभाव, महत्ता के प्रति आत्मसमर्पण, मानव मन मे रक्षा की इच्छा, प्रभु के सानिध्य की कामना आदि का सम्मिलित रूप भक्ति है। भक्ति शब्द सस्कृत के भज् धातु से निष्पन्न है। इससे भी भक्ति का सस्कृत और सनातन परम्परा सिद्ध है। पूरे भारत मे एक प्रकार की भक्तिधारा रही है। दक्षिण मे शैव भक्त नायनमार थे तो उत्तर मे नाथ सम्प्रदाय मूलत शैव रहा है। विद्यापति मूलत. शिवोपासक है। यहाँ तक कि सूरदास भी आरम्भ मे शैव रहे है। कालिदास ने पार्वती-परमेश्वर की वन्दना की है। शकराचार्य भी शिव उपासक थे। तुलसी ने शिव की पूरी स्तुति की है। पूरी राम-कथा शिव कहते है। रामेश्वर शिव है। प्राचीन धर्म ग्रन्थो मे शिव का महत्त्व स्पष्ट है। किन्तु शिव की भक्ति का विकास विष्णु भक्ति के समान आगे न बढ़ सका। इसका मुख्य कारण शायद यह है कि भक्ति के आचार्य सभी विष्णु-उपासक थे। ऐसे शिव-भक्ति की धारा लोक मे आज भी मौजूद है। शिव प्रेमा भक्ति के अनुकूल न थे। कालिदास शिव की प्रेम-कथा कहकर कोढ़ी हुए थे। आगे पितरो के प्रेम का वर्णन साहस का काम था। तुलसी जगतमाता-पिता के शृगार-वर्णन पर बिल्कुल नाराज थे। प्रसाद के यहाँ शिव-पार्वती मनु-श्रद्धा हो गए।

शैव सन्त सुन्दर ने लिखा है 'बौद्ध और जैन अहिसा का प्रचार करके भी हिसा द्वारा ही धर्म प्रचार करते है। तपस्या का बहाना करके भी वे अपनी जीभ के दास बने फिरते है। खा-खाकर सुस्त और तुदिल बन गए है।[३] पूरी भक्तिधारा समन्वय की धारा है। तुलसी-सूर आदि भक्तो मे यह समन्वय शोध का विषय है। जो स्पष्ट है वह सनातनी शास्त्रो, विचारो, मतो और देवो के समन्वय का है। किन्तु कबीर मे यह समन्वय स्पष्ट है। यह नही कि कबीर ने कोई समन्वय किया था। शायद उनका स्वभाव समन्वय का न भी रहा हो। कितु यह समन्वय स्वाभाविक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के समन्वय को अच्छे ढग से कहते है—'कबीर ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर सगुन साधना, उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े है।'[४] डॉ० द्विवेदी की बात केवल समन्वय दिखाने के लिए उद्धृत है। समन्वय के प्रकार से सहमति आवश्यक नही। कबीर का समन्वय न तो नया है, न बिल्कुल निजी। वह सगुन साधको के समन्वय से भिन्न ढग का है। समन्वय का अर्थ सग्रह कर लेना ठीक नही होगा। समन्वय मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कोई भी 'बड़ा' व्यक्ति, समाज, आन्दोलन, इतिहास या धारा समन्वय के बिना असम्भव है। भक्ति धारा पूरे देश की है। इसमे नाना प्रकार के प्रभाव आए है। इसीलिए इसमे कई-कई उपधाराएँ. है। उदाहरण के लिए राम भक्ति से सामान्यत तुलसीदास और विशिष्टाद्वैत की भक्ति ही समझी जाती है। किन्तु इधर राम के बहुत

---

१ आलवार भक्तो का तमिल प्रबन्धम्, पृ०६।
२ वही,पृ० ८।
३ आलवार भक्तो का तमिल प्रबन्धम् पृ० ५३
४ कबीर, पृ० १८२।

से रसिक भक्त भी प्रकाश मे आए है। इसी प्रकार राम की निर्गुनिया धारा का प्रतिनिधित्व कबीरदास करते है। कबीर ने राम को भजा है और रमैनी की रचना की है।

तुलसी रामानुज सप्रदाय मे आते है। कबीर भी इसी सम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द के शिष्य थे। सूर, नन्ददास आदि कवि आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। भक्ति की इस परम्परा और इतिहास को परिभाषाओ मे समेटना होगा। भक्ति की नारद[1] और शाडिल्य[2] की परिभाषाएँ उक्त स्थितियो को देखते हुए अपूर्ण है। नारद के भक्ति-सूत्र मे ईश्वर के माहात्म्य ज्ञान[3] की शर्त है। भागवत की दृष्टि मे गोपियो के प्रेम मे कृष्ण का माहात्म ज्ञान मोजूद है। माहात्म्य-ज्ञान के अभाव मे प्रेम जारो के प्रेम के समान हो जाता है।[4] कृष्ण केवल प्रेमी नही 'समस्त देहधारियो के प्रियतम, बन्धु और आत्मा भी है[5]।' उन्होने समपूर्ण जगत् की रक्षा के लिये यदुकुल मे अवतार लिया है।[6] इन्हे ही ध्यान मे रखकर आचार्य वल्लभ ने 'तत्त्व-दीप-निबन्ध' मे भक्ति की परिभाषा दी–'भगवान के प्रति माहत्स्य-ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ ओर सबसे अधिक स्नेह हो वही भक्ति है।'[7] नारद ने माहात्म्य को और सपप्ट किया 'ईश्वर को भी अभिमान से द्वेष है और दैन्य से प्रिय भाव है।[8] दैन्य को और भी स्पष्ट रूप मे दूसरी जहक कहा गया है–

'सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा।
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम॥

जब तक अभिमान है, दैन्य नही आ सकता। अभिमान का अर्थ है मैं का भाव। मै और मेरा का भाव भगवत्प्राप्ति मे बाधक है। अभिमानी, अहकारी मूढ़ होते है अपने को कर्त्ता मानते है, जबकि वे निमित्त मात्र है। नारद को अपनी तपस्या और काम-विजय का अभिमान था। अर्जुन अपने कर्त्तापन के अभिमान के कारण ही युद्ध से हिचक रहा था। कृष्ण ने गीता के उपदेशो द्वारा अर्जुन के मन मे बैठे कर्तापन (अहकार) को निकाल दिया। अहकार रहित मन मे स्व-अर्थ (स्वार्थ) के रहने का सवाल खतम हो जाता है। भक्ति की सबसे छोटी परिभाषा इस प्रकार हो सकती है–'विराट् सत्ता के प्रति एकात सम्बन्ध और आत्मसमर्पण भक्ति है।' इस भक्ति की प्राप्ति और पूर्णता के नौ तरीके बताए गये है– श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन।[9] नारद भक्ति-सूत्र मे ग्यारह मार्ग बताए गए हैं, कुछ लोग भगवत्-प्राप्ति के ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग दो भेद बताते हैं और ज्ञानमार्ग को भक्तिमार्ग से श्रेष्ठ बताते है। ज्ञानमार्ग अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, अतीद्रिय की उपासना का मार्ग है। व्यक्त, प्रत्यक्ष और सगुण की उपासना भक्ति-मार्ग है। गीता मे इन दोनो मार्गो को एक नाम अध्यात्म दिया गया है।[10] ऐसे लोग यह भी मानते हैं कि 'भक्ति का पर्यवसान या फल

---

१ सा त्वस्मिन् परम प्रेमा रूपा।
२ सा परानुरक्तिरीश्वरे।
३ तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवाद ॥२२॥
४ तद्विहीन जाराणामिव ॥२३॥
५ प्रेष्ठो भवास्तनुभृता किल बन्धुरात्मा ।१०/२९/३२।
६ विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वता कुले।१०/३१/४।
७ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्या मुक्तिर्न चान्यथा ।–अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय, पृ० ५१६ पर उद्धृत।
८ ईश्वरस्याप्यभिमावद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ।–नारद भ० सू० ॥२७॥
९ श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।
अर्चन वन्दन दास्य साख्य आत्मनिवेदम् ॥–भागवत ७/५/२२।
१० गीता ११ १।

ज्ञान है। भक्ति ज्ञान का साधन है। वह कुछ अन्तिम साध्य वस्तु नही है।'[१] किन्तु आगे 'अध्यात्म' शब्द प्रचलन न पा सका और भक्ति शब्द व्यापक हो गया। भक्ति के ही ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग दो भेद हुए। ज्ञान मार्ग मे योग, निर्गुण, निराकार, पुस्तक विरोध, व्यक्तिगत साधना आदि ब्रह्म से तादात्य पर जोर दिया। इसकी साधना शून्य और निराधार की साधना है। सूरदास ने ज्ञानमार्ग को 'निराधार मन चक्रित धावै' कहा है। तुलसी की दृष्टि मे 'ज्ञान पथ कृपाण की धारा' है। असहज है।

वैदिक यज्ञो की मुख्यत तीन विशेषताएँ थी--बलि, यज्ञ और प्रार्थना। तीनो मे पुरोहित का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसलिये भी कि ये तीनो अलग नही बल्कि सपूर्ण यज्ञ के अग मात्र थे। देवता की प्रसन्नता एव आराधना के लिये पशुबलि, अन्न घृतादि का हवन एव प्रार्थना मे व्यक्ति और समाज के कल्याण की कामना की जाती थी। देवताओ का आशीर्वाद मॉगा जाता था। इद्र और वरुण से जल, सूर्य से प्रकाश और ज्ञान आदि। इसी प्रकार से गौ, अश्व, धन, धान्य पुत्रादि के लिये प्रार्थनाऐं की जाती थी।

ध्यान से देखे तो यहॉ दो बाते दीखेगी---एक यह कि देवता अनेक है तथा दूसरी यह कि सारे कर्मो का उद्देश्य भूतसुख है। इसी से बुद्ध के विद्रोह मे यज्ञ, हिसा एव भूतसुख का विरोध दीखता है। अक्सर लोग भूल जाते है कि बुद्ध का उद्देश्य भूतसुख को बिल्कुल ही अस्वीकार करना है। क्योकि उनकी दृष्टि मे सपूर्ण भूतसुख दुख के अतिरिक्त कुछ नही है। सब कुछ प्राप्त करने के बाद भी सब अनित्य है। बहुत किया तो सौ वर्षो की आयु प्राप्त कर ली। फिर तो सब नाश, अनित्य। इस अनित्य मे नित्य सुख की खोज आवश्यक है।

यह बात स्वय वैदिको को सूझी होगी। इसी से वैदिक कर्म की दो धाराऐं हो गयी-- कर्मकाड, यज्ञादि की मीमासा धारा और दूसरी आरण्यक और उपनिषद् की ज्ञान धारा। इसी से मीमासा को पूर्व मीमासा और उपनिषदो को उत्तर मीमासा कहते है। चूॅकि दोनो ही वेद के विकास है इसलिये दोनो ही वेद को प्रमाण मानते है। पूर्व मीमासा मे ब्रह्मण का महत्त्व बना रहा। किंतु उत्तर मीमासा मे ब्राह्मण का महत्त्व नही है।

समस्त भक्ति-आन्दोलन इसी उत्तर मीमासा के विकास है। भक्ति धर्म एक उदारवादी आन्दोलन है। न यज्ञ का खर्च, न बलि, न पुरोहित की पूजा और न लम्बा चौड़ा शास्त्र ज्ञान। न तीर्थ मे जाने की जरूरत, न योग की साधना।

वेद के ज्ञान काण्ड का नाम उपनिषद् है। उपनिषदो के ज्ञान के साथ ही सहिताओ आदि मे भक्ति मार्ग का विकास हुआ। कुछ तो भक्ति के स्वतन्त्र ग्रन्थ है। जैसे नारद भक्ति सूत्र, शाडिल्य भक्ति सूत्र, श्रीमद्भागवत। नारद भक्ति सूत्र मे गर्गाचार्य के मत का उल्लेख है। आचार्यो ने उपनिषदो को भी भक्ति का आधार बनाया। उपनिषदो की शिक्षा मे ज्ञान है। किन्तु इस ज्ञान का अर्थ, तर्क, शब्द, वाक्य अथवा पुस्तकी ज्ञान नही है। उपनिषदे तर्क, शब्द या वाक्य द्वारा ज्ञान-प्राप्ति को असम्भव मानती है। 'कठ उपनिषद् के अनुसार आत्मा को तर्क से नही आत्मयोग से जाना जाता है। सत्य की प्राप्ति बुद्धि के बल से या बहुत अध्ययन से नही होती है, बल्कि जिसकी इच्छा ईश्वर मे शान्ति से केन्द्रित हो जाती है सत्य उसके सम्मुख प्रगट हो जाता है। हम ईश्वर को ज्ञान के प्रकाश से, 'ज्ञान प्रसादेन' अनुभव करते है।[२] उपनिषदे 'बुद्धि की सकुलता के स्थान पर बुद्ध की निर्मलता' मे विश्वास करती है। ज्ञान के लिये श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धावन् को ही ज्ञान होता है। यहॉ ज्ञान का अर्थ भक्ति है। ज्ञान मार्ग मे बुद्धि

---

१ तिलक--गीता-रहस्य पृ०--४१६।

२ डा० राधाकृष्णन्--उपनिषदो की भूमिका, पृष्ठ० १०३ पर उद्धृत।

और भक्ति मार्ग मे श्रद्धा का स्थान है। किन्तु जैसे श्रद्धा के विना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती उसी प्रकार ज्ञान के विना श्रद्धा अन्धी हो सकती है। यही ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग का मेल होता है। भक्ति के लिये ज्ञान और श्रद्धा दोनो आवश्यक है। ज्ञान को निर्गुन और श्रद्धा को सगुन ब्रह्म से जोड़ा जाता है। किन्तु निर्गुन सगुन भी विल्कुल अलग-अलग नही है। निर्गुन निराकार अव्यक्त ही सगुन-साकार व्यक्त होता है। निर्गुन सगुन मे अवतरित होता है। सगुन व्यापकता और विस्तार मे निर्गुन स्थिति को पहुँच जाता है। व्यक्ति सगुन है। किन्तु समाज सगुन होकर भी निर्गुन है। समाज का वोध हो सकता है। वह केवल ज्ञान है। साकार है। कृष्ण ने अपने विराट् रूप द्वारा अर्जुन को साकार-निराकार रूप का दर्शन कराया था।

आरम्भ मे ही कहा गया है कि भक्ति भारत की सर्वाधिक व्यापक और प्रभावशाली धारा रही है। यह स्वय मे पूर्ण और साध्य है। अपौरुष वेद थोड़े से व्यक्तियो मे सीमित रहे। उपनिषदे, ब्राह्मण, सहिताएँ आदि सस्कृत मे है। बौद्ध साहित्य पालि मे होने के कारण तीन पिटारियो मे सीमित हो गया। सस्कृत मे आते ही उसे 'गुह्याचार' ने घेर लिया। जैनो का 'नगापन' जनता को स्वीकार नही हुआ। श्वेत धवलित वस्त्र भी सामान्यजन के लिये सम्भव न था। यह भी कि बौद्ध-जैन निवृतिमार्गी और गार्हस्थ्य के विरोधी थे। गृहस्थ उनसे प्रभावित और आतकित होता था। उसमे गृहस्थ अपनी हिस्सेदारी नही समझता था। ये धर्म विरोध-मूलक थे और विरोध को एक सीमा के वाद लोक अस्वीकार कर देता है। इसीलिये विरोध को कोशिश कर सत्ता का अग बनना पड़ता है। बौद्ध-जैन ने अपनी सत्ता स्थापित की। उन्होने सनातन धारा को बिल्कुल अस्वीकार किया। यही कारण है कि वे भारत मे व्यापक आन्दोलन न बन सके। इनके मुकाबले भक्ति धारा सनातन का अग बनी रही। लोक-वेद दोनो का विरोध करके भी लोक-वेद के साथ रही। जो कुछ कहा 'आत्म' के प्रति पूरी निष्ठा और आदर से कहा। कही उपेक्षा नही की। अपनी बात को उनके अनुशासन मे कहा। उन्होने विरोध देखने की अपेक्षा अविरोध देखा। छोटा-बड़ा देखने को अपराध माना (को बड़-छोट कहत अपराधू)। बहुत से व्यक्ति इसे इस प्रकार कह सकेगे— पचो की बाते सिर पर किन्तु पनाला यही बहेगा।

जहॉ तक भारती भाषा की प्राचीनता है वहॉ भक्ति है। उत्तर-दक्षिण की शायद कोई भाषा हो जिसका मुख्य विषय भक्ति न हो। प्राय सभी आधुनिक भारती भाषाओ का आरम्भ और विकास भी भक्तिभाव से हुआ है। सभी भाषाओ का भक्ति साहित्य सबसे प्रौढ़ साहित्य है। बुद्ध ने भी शायद लोक भाषा का प्रयोग किया था। किन्तु पाली मे बौद्ध धर्म के ही कुछ लेखक तैयार हुए। आगे बौद्धो ने भी पाली को छोड़ दिया। इसके मुकावले लोकभापाओ मे भक्ति साहित्य ने बड़ा ही व्यापक रूप ग्रहण किया। हजारो लेखक तैयार किये। लोकभाषाओ को सकुचित क्षेत्रो से उठाकर राष्ट्री भाषा वना दिया। जन-भाषाओ के गॅवारूपन को सस्कृत प्रतिष्ठा दी। काम, क्रोध, भूख के सामान्य अनुभवो, प्रयोगो, चिन्ताओ को व्यक्त करनेवाली भापा को उच्चस्तरी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की भाषा वना दिया। इससे 'सस्कृत' का लोक जीवन से निष्क्रमण हो गया। क्योकि भाषाएँ अब काफी समर्थ हो गयी। सस्कृत 'कूपजल' हो गयी और भाषा 'क्षीर सागर'। भक्ति, भगवान, भक्त, गुरु, लीला, धाम आदि के उज्ज्वल रूप सामने आए। भक्ति ने लोकभाषाओ के साहित्य को समृद्ध किया। भगवान् को जन-जन के सुख-दु ख का साथी वना दिया। शृगार का तमस्, धर्मरहित युद्ध का रजस् भक्ति के सत्य से छूट गया। इतना ही नही शृगार को भी राधाकृष्ण सुमिरन का बहाना करना पड़ा।

भक्ति का दरवाजा सबके लिये खुल गया। भगवान के पवित्र मन्दिर मे नम्मालवार हरिजन, सदन कसाई, धन्ना नाई आदि प्रमुख हो गएँ। रहीम और रसखानि प्रमुख कवि और भक्त बने।

वैष्णव ग्रथो मे बताए गए ६४ अपराधो मे भक्तो मे जाति-बुद्धि भेद भी अपराध है। गीता ने कहा –'हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य और शूद्र या अत्यज आदि जो नीच वश मे उत्पन्न हुए है वे भी उत्तम गति पा जाते है।[1] पहली बार हरिजन-मन्दिर-प्रवेश और अछूतोद्धार हुआ। वर्णव्यवस्था के इतिहास मे यह क्रान्तिकारी घटना है। नारद भक्ति सूत्र ने और कहा–'भक्तो मे जाति विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद नही है'।[2] जाति और वर्ग ही नही अन्य प्रकार के भेदो को भी भक्ति अस्वीकार करती है। भक्ति सभी प्रकार की श्रेष्ठता और हीनता के विरुद्ध है। भक्ति नम्रता और साधारणता का सिद्धान्त है। सत्य इसका आधार है। इसमे आडम्बर, सजावट आदि के लिए स्थान नही है। इसकी साधना मे कही जाना नही है। किसी प्रकार का खर्च नही है। अध्ययन या विद्या सग्रह की जरूरत नही है। कष्ट साध्य नही है। देह को तपाना नही पड़ता। विफलता नही होती। सभी प्रकार के बाह्य धर्मो को त्यागकर भगवान की शरण जाना है। शरणागत को भगवान वैसे ही पकड़ते है जैसे बिल्ली अपने बच्चे को पकड़ती है। भक्त भगवान् और भगवान् भक्त के सेवक हो जाते है। भक्ति घर बैठे विना साधन के आदमी को ऊँचा उठाने की कला है। केवल इच्छारहित होकर ईश्वर की शरण मे जाने की जरूरत है। सकाम भक्ति निम्नकोटि की भक्ति है। निष्काम भक्ति के द्वारा ही भक्त भगवान बनता है। भक्ति मनुष्य मे आत्मसम्मान जगाती है। ईश्वर या ब्रह्म बादशाहो का भी बादशाह है। साहब से जुड़ा भक्त चपरासियो को क्यो पूछने लगे। समाज और व्यक्ति विपत्ति मे अपने को स्थिर पाता है। जैसे किसी को मालूम हो कि ऊपर का साहब तो हमारे साथ है ही। इसीलिये तुलसी ने प्राकृत जन (राजा, सामन्त) के गुनगान को निंद्य बताया। गुलाम का गीत भी साहब का ही गीत होता है। साहब के गोत्र का होने पर 'प्राकृत' का गुणगान असम्भव है। भक्ति निरामिष और सादे भोजन पर जोर देती है। समान विचार वाले सज्जनो की सगति अनिवार्य है। भक्त किसी विवाद मे न पड़कर सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति मित्रभाव रखता है। सुन्दर और श्रेष्ठ भगवान् की विभूति है। सारे ससार को सीताराममय देखना भक्ति का रूप है। भक्ति का दूसरा रूप है प्रतीकोपासना। तीसरे रूप मे भक्त अपने भीतर ही भगवान् का ध्यान करता है। ऐसे भक्त को ज्ञानी और निर्गुण भक्त कहते है। सगुन भक्त भी अपने हृदय मे प्रभु का ध्यान करता है। दोनो प्रकार के भक्त किसी न किसी प्रकार भगवान् से अपने को जोड़ते है। और इतना जोड़ते है कि मानसिक तदाकारता प्राप्त कर लेते है। भक्त का भगवान् से सबध होता है– मो तो नातो अनेक । मानिए जो भावे। भक्त अपनी भावना के अनुसार ही प्रभु की मूर्ति बनाता है। भक्ति पिछड़ो को गले लगाने का सिद्धान्त है। आलवार और नायनमार भक्तो के बारे मे कहा गया है–'बौद्धो और जैनो ने निम्न जातियो के लोगो को और स्त्रियो को भी अपने धर्म मे स्थान दिया था, अत वे लोग जो सामाजिक स्तर पर अनादृत थे, उन बौद्ध जैन धर्मो की शरण मे चले गए थे। उन सबको फिर भक्ति मार्ग मे लाने के लिये आलवारो और नायनमारो ने भक्ति का द्वार सबके लिये खोल दिया'।[3] इस कथन का इतना ही अर्थ है कि भक्ति द्वारा पिछड़ो को समाज मे उचित सम्मान मिला। दूसरे सम्प्रदाय मे चले गए लोग स्वधर्म मे लौट आए। क्योकि भक्ति तो आरम्भ से ही जाति-पाँति विरोधी है। भक्ति के लिये अपने पेशे को छोड़ने की जरूरत नही। महाभारत मे व्याध भक्त थे। सदन तो कसाई थे ही। इतना ही नही ईश्वर की प्रतिमा के स्थान पर भक्ति का और भी कोई साधन हो सकता है। महाभारत के व्याध ने ब्राह्मण को

---

१ माम् हि पार्थ व्यापाश्रित्ययेऽपिस्यु पाप योनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम् ।९।३२।

२ नास्ति तेपु जातिविघारूपकुलधन क्रियादिभेद ।७२।

३ मलिक मोहम्मद-वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ९८।

अपने वृद्ध माता-पिता के समीप ले जाकर कहा– 'यही मेरे प्रत्यक्ष देवता है, और मनोभाव से ईश्वर के समान इनकी सेवा करना मेरा प्रत्यक्ष धर्म है।' भक्ति प्रत्यक्ष धर्म है। गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है किसी भी देवता की श्रद्धापूर्वक की गयी भक्ति अन्त मे मुझे ही प्राप्त होती है। भक्ति सत्य और सर्व से जुड़ने की प्रक्रिया भी है।

मोक्ष को अतिम पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष धर्म, अर्थ, काम तीनो पुरुषार्थो का फल है। मोक्ष पॉच प्रकार का माना गया है। भक्ति का उद्देश्य मोक्ष नही है। कही-कही मोक्ष भक्ति का स्वाभाविक फल हे। किन्तु प्रा य भक्ति के सामने मोक्ष व्यर्थ है। भक्ति मोक्ष से उच्चतर है।[1] भक्ति ग्राम जीवन से सबद्ध है। अत इसमे गॉव और वनो की स्वच्छन्दता और सादगी है। रसखानि कोटिक ही कलधौत के धाम करील के कुञ्जन पर वारते है। बसीवट, वृन्दावन, जमुना के समान बैकुठ नही है। तीनो लोको का राज्य वेकार है। कृष्ण की सेवा सवसे बड़ी मुक्ति है। इसीलिये भक्त की बार-बार इच्छा रहती है कि वह प्रत्येक अवसर पर भगवान् की सग-सेवा मे रहे। इस सग-सेवा के लिये भक्त 'लोक, वेद, कर्म, धर्म, चार मुक्ति को छोड़ता है।[2] 'मानस' मे भगवान् राम ने काक भुसुंडि से कहा–

काक भुसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।
आजु देउँ सब संशय नाही। मागु जो तोहि भाव मन माही।७।८४

इस पर काक ने सोचा प्रभु ने सव दुख देने को कहा। किन्तु अपनी भक्ति देने की वात नही की, जो सवसे महत्वपूर्ण है। तुलसीदास कहते है कि रामभक्ति से मोक्ष विना इच्छा के आता है। किन्तु भक्त मुक्ति का निरादर करता है। भक्ति पर लुब्ध रहता है।[3] कवीर पूछते है– राम मोहि तारि कहाँ ले जइहो ? भक्ति स्वय मे पूर्ण है। साध्य भी है। साधन भी है। मुक्ति की अवधारणा ससार विरोधी और नीरस है। आवागमन से छूटना ध्येय है। भक्ति रसात्मक है। यह सामान्य सासारिक और विषय रस से भिन्न है। काव्यरस भी विलक्षण है। किन्तु भक्तिरस काव्यरस से उच्च और भिन्न है। 'रस विशेष' है। मुक्तमार्गी ससार को कोसता है। उसे दुखो का मूल मानकर आवागमन से मुक्त होना चाहता है। भक्त पूरी सृष्टि को प्रभुमय देखता है। जन्म-जन्म रघुपति भक्ति चाहता है। कोई दूसरा वरदान नही । मुक्तिमार्गी धर्म को गौण मानता है। भक्तिमार्गी मोक्ष को भक्ति के सामने गौण मानता है।

और अन्त मे यह कि भक्ति भारती-मेधा की एक अनुपम और विशिष्ट देन है। यह सव जन हिताय, सब जन सुखाय है। भक्ति पलायन की अपेक्षा एक उच्चतर सत्ता के माध्यम से ससार से जुड़ने की प्रक्रिया है। भक्त सृष्टि को 'सियाराममय' जानकर सवके प्रति नम्र और उदार वना रहता है। यह नम्रता और उदारता उसे सेवा का अवसर देती है। इसीलिये सभी भक्त 'दास' है। वे सेवा धर्म मे विश्वास करते है। दास दो प्रकार के है–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के विषय दास। दूसरे है–अनन्त अनादि पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के दास।

---

१ श्रेष्ठा पचविधामुक्तेहरिभक्तिारीयसी–नारद भक्ति सूत्र पृ० १३५ पर उद्धत। (ब्रह्म वैवर्त कृ० ९७।८-९)
२ लोक वेद कर्म धर्म छाँडिमुकुति चारि।– हरिराम व्यास–व्यासवाणी, पृ० १४९।
आलवार भक्तो का तमिल प्रबन्धम्, पृ० ३२२ पर उद्धृत।
३ राम भजत सोई मुकुत गुसाई। अनइच्छित आवै बरिआई।
अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।–मानस ७।११।

भक्ति द्रबिड़ ऊपजी

कबीर कहते है 'भक्ति द्रविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।' तुलसी कहते है–'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।' दोनो ही हिन्दी के मध्यकालीन सन्त है। किन्तु दोनो की बातो मे मौलिक अन्तर है। तुलसी भक्ति के भागने से परेशान है। यह भक्ति गोरख के पहले रही होगी। तुलसी के पहले ही कबीर कहना चाहते है भक्ति नयी चीज है। इसे रामानन्द जी रामेश्वरम् से सौगात ले आए। रामानन्द कहॉ के थे यह विवाद का विषय है। यहॉ इस पर विवाद करने की जरूरत नही। भक्ति मे दक्षिण का महत्त्व स्पष्ट है। किन्तु रामानन्द को भक्ति लानेवाला कहना साप्रदायिक है। रामानन्द के पूर्व के कई आचार्य भक्ति के प्रणेता है– रामानुज, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि का नाम भक्ति प्रचार के क्षेत्र मे प्रसिद्ध है। नाथ मुनि और यामुनाचार्य रामानुज के भी पूर्ववर्ती है। आचार्य शकर भी रामानुज के पूर्ववर्ती है। भक्ति की भूमिका बनाने मे उनका भी महत्त्वपूर्ण योग है। शकराचार्य के नाम से भक्तिपरक स्तोत्र मिलते है। इसलिये रामानन्द द्वारा भक्ति लाने की बात का कोई सामान्य अर्थ नही है।

कबीर की उक्ति के मुकाबले भागवत के उद्धरण अधिक व्यापक है। एक मे भक्ति का द्रविड़ देश मे उत्पन्न और अनेक राज्यो मे घटते-बढते वृन्दावन मे आने की बात है। दूसरी मे बताया गया है कि भक्ति दक्षिण की नदियो के किनारे पैदा होगी। तुलसीदास के कथन मे दो बाते है– १ यह कि भक्ति प्राचीन चीज है। यह लोक मे प्रचलित थी। गोरखनाथ के योगमार्ग ने उस भक्ति को जनता के मन से निकाल दिया। २. यह कि योग और भक्ति का अनिवार विरोध है। योग की उपस्थिति से भक्ति भाग जाती है। भ्रमरगीत मे भी उद्धव और गोपियो के सवाद मे यह प्रश्न उठाया गया है। उद्धव गोपियो मे 'योग' का प्रचार करते है। उसके मन से कृष्ण की भक्ति को भगाना चाहते है। गोपियॉ अपने तर्को द्वारा उसी का विरोध करती है गीता मे भी ज्ञान, योग और भक्ति के त्रिकोण टकराते है। कृष्ण उनका समन्वय करते है तुलसी, सूर, कबीर आदि सन्तो ने योग और भक्ति का समन्वय किया। योग को गौण और भक्ति को प्रधान बना दिया। प्राय भक्ति के लिये योग अनावश्वक हो गया। योग वाली परम्परा के कबीर ने हठ को छोड़ दिया। सहज साधना, सहज समाधि को उद्देश्य बनाया। सहज से उनका अर्थ है 'विषय त्याग' (जिन सहजै विषयातजी सहज कहीजै सोइ)। द्रविड़ भक्ति मे योग और भक्ति का द्वन्द्व नही दीख पड़ता। क्योकि द्रविड़ भक्ति वैदिक भक्ति का दक्षिणी रूप है अवैदिक भक्ति का विकास अगर कही हुआ तो वह उत्तर भारत ही था। इसका कारण सीधा है। अवैदिक धर्म बौद्ध और जैन का विकास उत्तर भारत मे हुआ। इन धर्मो ने भक्ति को प्रभावित किया। जान पड़ता है कि कबीर और तुलसी दोनो इस बात पर एक मत है कि असली भक्ति वह है जो बौद्ध-जैन प्रभावित नही है। क्योकि दोनो ही दक्षिण से आनेवाली भक्ति के पहले उत्तर मे भक्ति की अनुपस्थिति को स्वीकार करते है। फर्क यह है कि कबीर की उ उक्ति मे गोरख के पहले की भक्ति चर्चा नही है। जबकि तुलसी भक्ति को उत्तर में गोरख पहले मानते है। किन्तु उनके युग मे वह ह्रास को प्राप्त हो गयी। कबीर अपने को नारदी भक्ति वाला कहते है (भगति नारदी मगन कबीरा)। यह नारदी भक्ति वैदिकी, उत्तरी अं

शास्त्रसम्मत भक्ति थी। शायद यही भक्ति गोरख के प्रभाव से भगायी गयी। अब कबीर और तुलसी दोनो उसी मे दीक्षित हुए। बावजूद इसके कि दोनो मे बहुत से भेद है।

अब द्रविड़ भक्ति की पूरी परीक्षा करनी चाहिए। भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत लिखा है–'मै (भक्ति) द्रविड़ देश मे उत्पन्न हुई, कर्णाटक मे बढ़ी, कही-कही महाराष्ट्र मे सम्मानित हुई, गुजरात मे मुझको बुढ़ापे ने आ घेरा। वहाँ घोर कलियुग के प्रभाव से पाखडियो ने मुझे अग-भग कर दिया। चिरकाल तक यह अवस्था रहने से मै अपने पुत्रो के साथ दुर्बल और निस्तेज हो गयी। अब जब मै वृन्दावन आयी तब से पुन परम सुन्दरी सुरूपवती नवयुवती हो गयी हूँ।' स्पष्ट ही यहाँ तमिल प्रदेश की उस भक्ति की ओर ईशारा है जिसका आरम्भ आलवार भक्तो द्वारा हुआ था। किन्तु अन्य स्थानो का वर्णन काल्पनिक-सा है, क्योकि अन्यत्र भक्ति की स्थिति सामान्य है। वृन्दावन तो उसकी शाश्वत राजधानी है। (वृन्दावन सो बसत निरन्तर कबहुँ न होत निनार)। पता नही गुजरात पर ऐसी अकृपा क्यो है ? गुजरात तो सदा से वैष्णव राज्य रहा है। भक्ति बिलकुल उलटा कह रही है। तमिलनाडु के बाद कर्नाटक मे बढ़ी और केरल तथा आन्ध्र मे किस स्थिति मे रही ? महाराष्ट्र मे भी कही-कही की बात भी स्पष्ट नही है। पूर्वी भारत बिल्कुल छूट गया। जबकि यहाँ भक्ति का प्रचार बहुत तीव्र रहा है। इसी भागवत मे कहा गया है–'कलियुग मे द्रविड़ देश मे अधिक भक्त पाये जाते है। जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नाम की नदियाँ बहती हैं। इनमे कई नदियाँ आन्ध्र और उड़ीसा मे बहती है। जिससे इन क्षेत्रो मे भक्ति के होने की सभावना लगती है। लगता है महात्म्य लेखक को भक्ति के विस्तार का कोई ज्ञान नही है। द्रविड़ देश जिसका मतलब तमिलनाड से है उसकी भक्ति को बताने के लिये अप्रासगिक बाते भी कह गया। उत्तर भारत मे वृन्दावन का महत्त्व कृष्ण भक्ति की दृष्टि से है और अयोध्या का राम भक्ति की दृष्टि से। किन्तु लेखक को अयोध्या का पता ही नही है। जबकि भक्ति की स्थापना मे अकेले तुलसी की अवधी रामायण का बहुत बड़ा महत्त्व है। रामानन्द द्वारा तो राम भक्ति ही दक्षिण से आयी। केरल प्रदेश जो तमिल प्रदेश जैसा ही है, उसका हिस्सेदार है। वेदान्त केसरी शकराचार्य के इस प्रदेश को भी लेखक भूल गया। जबकि भक्ति के क्षेत्र मे आचार्य शकर की योग्य देन है। थोड़ी ही अवस्था मे शकर ने जो कुछ किया उससे केरल मे भक्ति का महत्व स्पष्ट है। कोई कह सकता है सभी राज्यो के बारे मे भक्ति की स्थिति बताना उद्देश्य नही था। यह सही हो सकता है। किन्तु इससे अपूर्णता अविश्वसनीता और भ्रम बना।

अब यदि उक्त कथन की थोड़ी और जाँच हो जाय तो स्थिति और भी स्पष्ट होगी। भक्ति नारद को युवती रूप मे मिली। किन्तु उसके दो बालक ज्ञान और वैराग्य थके-माँदे है। बूढ़े है। यह वृन्दावन की अवज्ञा है। जहाँ ज्ञान-वैराग्य को बूढ़ा कहा जा रहा है। यह रूपक ठीक नही है। ज्ञान-वैराग्य भक्ति के बेटे नही, मित्र, सहयोगी और सहजन्मा हैं। भक्ति से ज्ञान-विराग की उत्पत्ति नही होती। ज्ञान-वैराग्य और भक्ति का साथ-साथ विकास होता है। भक्ति तीन पहियों की सवारी है– ज्ञान, वैराग्य और आत्मनिवेदन। किन्तु उक्त रूपक को मान भी लिया जाय तो इन दोनो के अभाव मे माँ कैसे जवान हो गयी। यह प्रश्न माहात्म्य लेखक के सामने है। उत्तर भी है। नारद का उत्तर है–'यह दारुण कलियुग है इसी से इस समय सदाचार, योगमार्ग और तप आदि सभी लुप्त हो गए है। वृन्दावन के सयोग से तुम फिर नवीन तरुणी हो गई हो। अत यह वृन्दावन धन्य है। जहाँ भक्ति सर्वत्र नृत्य कर रही है। परन्तु तुम्हारे इन दोनो पुत्रो का यहाँ कोई ग्राहक नही है इसीलिए इनका बुढ़ापा नही छूट रहा है।' क्या बिना सदाचार के भक्ति रह सकती है ? ज्ञान-वैराग्य भक्ति के फल है तथा भक्ति ज्ञान-वैराग्य का फल है। ज्ञान-भक्ति प्राय पर्यायी है। फिर यह सभव नही कि भक्ति हो और ज्ञान-वैराग्य न

हो। माहात्य लेखक भक्ति की महत्ता स्थापित करने के चक्कर मे मूल बात को ही भूल गया। कलि प्रभाव और भक्ति विरोधी है। जहाँ राम तहँ काम नहि जहाँ काम तहँ राम नहि। किन्तु लेखक ने कलि प्रभाव और भक्ति की तरुणाई को एकत्र दिखलाया है। कलि भी जबान और भक्ति भी जबान। यह बहुत सामान्य ढग का भ्रम है। अगर ज्ञान-वैराग्य के अभाव मे भक्ति जबान है ही तो ज्ञान-वैराग्य की जरूरत ही क्या है ?

दक्षिण मे आलवारो की भक्ति ने वहाँ के आचार्यो को प्रभावित किया। किन्तु पूरे देश मे एक ऐसी भक्ति का साथ-साथ विकास हुआ जो नारद, शाडिल्य, वेदान्त आदि के सम्मिलित विचारो का फल था। इसी भक्ति से जैन और बौद्धो मे भी भक्ति का प्रचार बढ़ा। बौद्धों का त्रिशरण, अहिसा, करुणा आदि का प्रभाव सनातनी भक्ति पर पड़ा। बुद्ध कहते है धर्म, सघ और बुद्ध की शरण मे आओ। कृष्ण कहते है मेरी शरण मे आओ। बुद्ध कृष्ण हो गए। कृष्ण बुद्ध हो गए। एक ही परिवार के बँटवारे मे किसने किसको प्रभावित किया यह निर्णय साम्प्रदायिक होगा। शकराचार्य बौद्ध धर्म के उच्छेद मे प्रच्छन्न बौद्ध हो गए। दूसरे सनातनियो ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया। बौद्धो के यहाँ बहुत से सनातनी देवो की पूजा होने लगी। उत्तर के भक्तो ने राम-कृष्ण को भक्ति का आराध्य बनाया। यह पुनर्जागरण था। इस पुनर्जागरण के मूल मे है–'नाना पुराण निगमागम'। उत्तर मे यही सहज था। आचार्यो ने प्राय प्रस्थानत्रयी पर टीकाएँ लिखी। अपने-अपने 'वाद' स्थापित किए। ये वाद प्राय शकराचार्य के अद्वैत के खंडन मे बने थे। इन पर आलवारो की भक्ति का प्रभाव स्वाभाविक है। किन्तु ये उनके आधार बने कहना कठिन है। आचार्य दार्शनिक चितन को प्रभावित करने वाले थे। रचना को प्रभावित करने वाले प्राचीन साहित्य, आस-पास का जनमानस और कवि की निजी चेतना थी। इस बात का अभी तक कोई प्रमाण नही मिल सका कि रचना के क्षेत्र मे आलवार सन्तो का उत्तर के भक्ति आन्दोलन पर कितना प्रभाव था ? कबीर, तुलसी, सूर, दरिया, दादू, नन्ददास आदि भक्तो की रचनाओ पर आलवर प्रभाव का कोई सकेत नही मिलता है।

भक्ति के सबसे प्रभावशाली और व्यापक कवि तुलसी स्पष्ट ही गोरख पूर्व की भक्ति के लिये चितित है। यह भक्ति उन्हे 'नाना पुराण निगमागम' में मिली थी। 'क्वचिदन्यतो' को स्वयम्भू की रामायण से जोड़ा गया है। जो गलत है। यह तो लोक है। काव्य है। कोई इन्हे तमिल 'प्रबन्धम्' से जोड़ सकता है। किन्तु ये अनुमान है। इन्हे प्रमाणो से सिद्ध नही किया जा सकता। सूर आदि व्रजभाषा के कृष्ण कवियो पर मुख्य प्रभाव भागवत का है। वैसे भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसने भक्ति और अध्यात्म पर लिखने वाले सबो को प्रभावित किया है। आधुनिक युग के कवि भी उसके प्रभाव से अलग न रह सके। कबीर निर्गुण के कवि माने जाते है। इन पर भी भागवत प्रभाव लक्षित होता है। जैसे इनका ब्रह्म निराकार है उसी प्रकार इनकी परम्परा भी निराकार लगती है। ऐसा लगता है 'सनातन शास्त्रो' से उनका कोई सबध नही है। किन्तु कही-कही कबीर इस सबध को खोलते है। भगति नारदी मगन कबीरा। इससे पता चलता है उन पर नारदी भक्ति का प्रभाव था। वे कही न कही अपने को नारद से जोड़ते है। भागवत भक्ति भी नारदी भक्ति है। किन्तु कबीर नारद को भी नही छोड़ते। 'सिव सनकादिक नारद सेसा, मन के भीतर मन उनहुँ न देखा।' पता नही शुकदेव को कबीर क्यो छोड़ देते है–'जा मन को कोई जानु न भेवा, ता मन मगन भये सुकदेवा।' राम के खोजी कबीर सिहल द्वीप की चर्चा करते है (कबीर खोजी राम का गयासु सिहल द्वीप)। किन्तु कही भी प्रबन्धम् या आलवारो की चर्चा नही करते। दक्षिण की भक्ति में जैन-बौद्ध का विरोध स्पष्ट है। दक्षिण मे भक्ति का विकास पूर्णत वैदिक है। गीता, उपनिषद् प्रभावित है। जैन-बौद्ध प्रतिक्रिया में है। जैन-बौद्ध के मूल विरोधी शकर थे। रामानुज-वल्लभ आदि ने जैन-बौद्ध धारा का विरोध किया। इनका

समन्वय उत्तर मे अधिक है। दक्षिण मे नही। उत्तर की निर्गुण धारा पर भी यह प्रभाव कठिनाई से देखा जा सकता है। भाषा कवियो पर संस्कृत प्रभाव ही मुख्य है। भक्ति का आरम्भ दक्षिण से बताने के कारण ही कोई भक्ति पर ईसाई और कोई इस्लामी प्रभाव देखता है। इतना ही नही उसे मात्र प्रतिक्रिया का आन्दोलन समझा जाता है। आन्दोलन देश-काल बद्ध होता है। भक्ति को आन्दोलन कहकर उसे सीमित और छिछला करने की प्रछन्न कोशिश है। सचाई यह कि पुराणो, काव्यो, स्तोत्रो आदि मे भक्ति की परम्परा बराबर कायम रही है। पालि, प्राकृत के बौद्ध जैन साहित्य मे भक्ति प्राप्त है। उनके रूपो मे भिन्नता स्वाभाविक है। किन्तु आत्मनिवेदन, शरणागति, श्रद्धा और पूज्यभाव का नैरतर्य बना है। सगुन भक्तो ने योग का विरोध किया। किन्तु भक्ति को ही योग मान लिया। तुलसी तपस्या पर भी जोर देते है। सूर अष्टाग योग को भक्ति के लिये आवश्यक मानते है–

भक्ति पथ को जो अनुसरै। सो अष्टाग योग को करै।
यम नियमासन प्राणायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।–सू० सा० ३६४।

इस प्रकार भक्ति मे कई प्रभावो का समन्वय है। यहॉ विरोध कम है। अपना मत रखकर भी भक्ति अविरोधिनी है।

उपनिषद् गीता, भागवत आदि मे भी तो योग प्रचुर है। गीता तो साख्ययोग दो निष्ठाओ का समन्वय है। कबीर मे भी तो यही समन्वय है। कबीर दशम स्कध की प्रेमाभक्ति तो स्वीकार करते है। किन्तु रास उन्हे स्वीकार नही है। क्योकि रास सामूहिक है। जबकि कबीर की साधना वैयक्तित है। परकीया नही स्वकीया का प्रेम-मिलन है। कबीर के राम कृष्ण जैसे प्रेमी नही। पति है।गोपियॉ समर्पिता है। सत कबीर की आत्मा परिणीता है, कितु यौवन के मतवाले-पन मे वह राधा से कम नही दीखती है।

कबीर : हिन्दू सुधारक की बेचैनी

कबीर उदारवादी हिंदू सुधारक है। उदार हिदूधर्म मानवधर्म का पर्याय है। इसका मूलाधार सत्य, अहिसा और धर्म समभाव है। यह सुधार मूलत हिंदू है। इस्लाम से इसका विरोध नही है। यह दुनिया के सभी मजहबो के प्रति सहिष्णु है।

इस्लाम के प्रभाव ने हिंदू समाज को सोचने के लिए बाध्य किया। सुधरो या टूटो। दोनो प्रक्रियाएँ साथ चली। टूट भी और सुधार भी। सुधार की आवश्यकता ही टूट के संदर्भ मे होती है। कबीर ने देखा वर्णव्यवस्था हिन्दू समाज को दुहरा नुकसान कर रही है। समाज का एक बड़ा हिस्सा गिरा है। यह गिरावट उसे विजाती बनाती है। न वह सुखी है। न समाज का कथित उच्चवर्ग। पूरा हिंदू-समाज अशात है। आक्रात है। अपने ही अग को दबाए रखने की प्रक्रिया मे स्वय भी दबा है। दबता जा रहा है। परेशान भी है। उच्चता के अहकार मे ऐंठा भी है। वर्णव्यवस्था आध्यात्मिक नही है। योकि आत्म विरोधी है।

मुस्लिम समाज मे उनके लिये ऊँचा स्थान न था जिनका स्थान हिंदू समाज मे नीचे था। इसलिये मुसलमान होना व्यर्थ है। कबीर ने भूलकर भी धर्मपरिवर्त्तन को स्वीकृति नही दी। उलटे इस्लाम की गहरी आलोचना की। इस्लाम के सारे कर्मकाड उन्हे नापसद है। रोजा, बांग, खतना, हलाल, मस्जिद, दाढी आदि सब। तुलसी को वर्णव्यवस्था ठीक नही लगती है। किन्तु वर्णव्यवस्था ही व्यवस्था है। यह व्यवस्था टूटी कि हिंदू समाज बिखर जायगा। अराजकता फैल जायगी। व्यवस्था और सगठन की दृष्टि से इसका कोई विकल्प नही है। बिना विकल्प खोजे इसे तोड़ने को वे सकट को न्यौतना मानते है। विदेशी ताकत का आना क्या कम सकट है, जो समाज तोड़ने का एक नया सकट और ले ले। तुलसी व्यवस्था को तोड़े बिना ही व्यवस्था मे सुधार करने की कोशिश मे है। कबीर सुधार चाहते है। चाहे व्यवस्था क्यो न टूट जाय। ऐसी व्यवस्था किस काम की जो करोड़ो को अपावन बनाए है। जिसने स्वय व्यवस्था को खतरे मे डाल दिया है। जिसमे व्यवस्थापक का पतन हो गया हो। योगी जाति मे जन्मे कबीर को हिंदुओ ने कब प्रतिष्ठा दी ? यह उनका राष्ट्री और जाती आत्मविश्वास है कि वे नारदी भक्ति को स्वीकारते है। हिंदूधर्म का नाश नही, सुधार चाहते है। इस प्रकार की चाह न केवल कबीर मे है बल्कि पूरे भारत मे अनेक संत सप्रदायो मे है। जो हिंदूधर्म की आलोचना और उसमे सुधार के लिये सघर्ष को इस्लाम मानते है उनसे कबीर बात नही करते। कबीर और तुलसी की दृष्टि मे यह अतर क्यो है ? क्या इस अतर का कारण वैयक्तिक है या सामाजिक भी ? नही यह सामाजिक भी है। परंपरागत भी है। कबीर योगी से सत वैष्णव हुए थे। तुलसी वैदिक सनातनी से सत वैष्णव हुए थे। है दोनो ही सत वैष्णव। कितु दोनो की परपरा भिन्न है। सामाजिक परिवेश भी भिन्न है। दोनो की परपराएँ बुद्ध प्रभावित है। सुधार प्रभावित है। कितु एक बुद्ध को अवतार बनाकर उन पर अपना रग दे देता है। दूसरा बौद्ध रग से प्रभावित है। इसीलिये तुलसी सुधार चाहकर भी उसे गोपनी रखना चाहते है। कोई देखे नही। कही कुछ गड़बड़ न हो जाय। बुद्ध और महावीर अपने देश के अपने ही समाज धर्म के सुधारक थे। इन्हे ले लिया। मुहम्मद साहब के लिये यहाँ स्थान नही। मुहम्मद को न तुलसी ले पाते है, न

कबीर। सैद्धातिक स्तर पर कबीर राम-रहीम को समान कहते है। किंतु उपास्य तो राम ही होगे। यहॉ तक कि शक्ति और शिव भी नही। मुहम्मद का तो सवाल ही नही उठता।

राम और रहीम के प्रति उदार कबीर शक्ति, शिव, मौनी, जटाधर के प्रति कठोर है। तुलसी की वैष्णवता उन्हे हिन्दूधर्म तथा सभी धर्मो के प्रति सहनशील बनाती है। वे विदेशी इस्लाम के प्रति मौन रहते है। कबीर इस्लाम की आलोचना करके भी समभाव रखते है। ईश्वर एक है तो खुदा और राम भी एक है। कबीर हिन्दू जातियो और सम्प्रदाय दोनो को हानिकारक मानते थे। जाति के समान ही सम्प्रदाय भी खराब है। ये ही हिन्दूधर्म को नाश की ओर ले जाते है। तुलसी हिन्दू सम्प्रदायो मे समानता और समभाव रखते थे। उनकी दृष्टि हिन्दू समाज के सतुलन पर है।

तुलसी आदि से अन्त तक हिन्दू है। यद्यपि उन्हे अपने हिन्दू होने का जरा भी पता नही है। यह दूसरो का आग्रह है। उन्होने उन्हे हिन्दू माना है। तुलसी कही भी अपने को हिन्दू नही कहते। कबीर की बानियो से पता लगता है कि इस देश मे हिन्दू भी है, मुसलमान भी है। और दोनो को राह नही मिली है। दोनो ही भटक गये है। कबीर दोनो से नाराज है। दोनो को सिखाते है। दोनो से ऊपर है। तब कौन है कबीर ? हिन्दू नही है। मुसलमान नही है। समस्या हो गयी। दो ही तो धर्म है। दो ही सम्प्रदाय है। इनमे कबीर को कहॉ रखा जाय।

भक्त अपनी कोई जाति नही मानते। वे न हिन्दू है, न मुसलमान, न योगी। वे केवल भक्त है। नानक बानी मे नानक ने कहा है 'वे न हिन्दू है, न मुसलमान, न योगी। वे केवल भक्त है।' गोरख अपने को तीनो मानते है। 'वे जन्म से हिन्दू, तपस्या से योगी और बुद्धि से मुसलमान है–

उत्पत्ति हिन्दू जरणा जोगी अकल परी मुसलमानी

कबीर अपने को जोगी, हिंदू, मुसलमान सबसे ऊपर मानते है।

जोगी गोरख गोरख करैं, हिंदू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर कै स्वामी घटि रह्यौ समाई ॥

–कबीर स० पृ० २००

यहॉ कबीर ने हिन्दू की पहचान बता दी। रामरटने वाला हिन्दू है। हिन्दू के उपास्य राम है। राम कबीर के भी उपास्य है। फिर वे हिन्दू क्यो नही है ? इसलिये कि कबीर जिस हिन्दू की बात करते है वह सगुणमार्गी सनातनी हिन्दू है। कबीर तो घट-घट वासी राम के उपासक है। जैसे आगे चलकर बौद्धो, जैनो एव सिक्खो मे अलगाव की प्रवृत्ति आ गयी उसी प्रकार कबीर आदि सन्त भी अपनी पहिचान अलग बनाये रखना चाहते है। वीर शैव और महानुभाव भी अपने को हिन्दू नही कहते थे। भक्तिसार अलवार ने तो यहॉ तक कह दिया कि 'चारो वर्णो के किसी गृह मे मेरा जन्म नही हुआ है।' सन्त अपने को जानना चाहते है। मै कौन हूँ कोऽहम् । तुम कौन हो ? कस्त्वम् ? इसी सन्दर्भ मे वे सम्पूर्ण सामाजिक परिचय को अस्वीकृत करते है। प्रसिद्ध मराठी उपन्यास 'इद्रायणी तीरे' मे एक उद्धारण है। ज्योति कहती है– मै न मनुष्य हूँ, न देव, यक्ष, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। न ब्रह्मचारी, न गृही, न वानप्रस्थ, न भिक्षु। मै केवल बोध रूप सच्चिदानन्द हूँ।

(नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृहीवनस्थो भिक्षु न चाहं निजबोध रूपः ।)

कबीर के युग तक हिन्दू शब्द प्रतिष्ठित हो पाया था इसमे सन्देह है। हिन्दू शब्द

मुसलमानो द्वारा कभी सम्पूर्ण भारतीयो के लिए। कभी भारत के गैर मुसलमानों के लिये प्रयुक्त होता था। बाद मे जिनके लिये यह शब्द रूढ़ हो गया उनमे यह शब्द प्रतिष्ठित न था। उस समय तक वर्ण व्यवस्था के अतिरिक्त हिन्दू जैसे शब्द को पूर्ण स्वीकृति नही मिली थी।

कबीर को नव धर्मातरित मुसलमान कहने की अपेक्षा वैष्णवयोगी कहना अधिक ठीक है। इसीलिये कबीर अपने को न तुर्क कहते है, न मुसलमान। योगी अहिदू जैसे हो गए थे। जैसे आज के बौद्ध, जैन, सिक्खादि है। कबीर मे मुसलमान परिवार मे पलने का कोई सस्कार और सज्ञा नही है। इसके मुकाबले उनमे योग और वैष्णव शास्त्रो की गहराई है।

कबीर की सारी चिन्ता और पीड़ा हिन्दू होने की है। हिन्दू धर्म मे पिछड़ा और अछूत होने की है। हिन्दू बाह्य व्यक्ति द्वारा की गई हिन्दू धर्म की आलोचनाओ मे एक प्रकार की तटस्थता होती है। वह सैद्धातिक लड़ाई लड़ता है। उसमे भोगने की पीड़ा नही होती है। कबीर मे वर्ण-व्यवस्था से मुक्ति की छटपटाहट और आक्रोश है। वे हिन्दू परम्पराओ, शास्त्रो, पुराणो आदि को जानबूझकर इनकार करते है। हिन्दू शब्द के समान ही साधुओ और सन्यासियो के विभिन्न सप्रदायो मे भी दृढ़ीकरण नही हुआ था। वे अपना लचीलापन बनाए थे। निश्चित जाति मे जन्म लेते थे। निश्चित सम्प्रदाय मे दीक्षित होते थे। किंतु बराबर उनसे ऊपर उठकर देखते थे। देश-दुनिया के परिवर्त्तनो पर नजर रखते थे। इसी कारण उनमे विरोधी तत्वो का मिश्रण भी दिखाई पड़ता है। कैसा समन्वय है, सन्तो मे ? प्राय सभी सन्त सबके आलोचक भी है। सबसे प्रभावित भी है। उनका हृदय खुला है। न छोड़ते देर। न लेने मे सकोच।

सभी सन्तो मे सामाजिक सुधार की बेचैनी है। रास्ते अलग-अलग हो सकते है, किन्तु उद्देश्य एक है। प्राय सभी सन्त विदेशी दरबारो से मुक्त है। हिन्दी क्षेत्र के सन्त अक्सर दरबारो मे भी नही जाते है। हिन्दीतर क्षेत्रो मे कभी-कभी राजा स्वय सन्त होता दिखाई पड़ता है। ऐसे ही सन्त भी दरबारों मे जाते है। राज्याश्रय पाते है। दक्षिण के नायनमार सन्तो मे पॉच राजा, चार सामन्त और चार सेनानायक थे। सन्त पीपा राजवश के थे। मीरा भी राजपरिवार से आई थी। कन्नड़ सन्त बसवेश्वर एक जैन राजा के मन्त्री थे। लगता है बाद मे उन्होने उसे छोड़ दिया। बेसवेश्वर के सम्प्रदाय मे दीक्षित मोलिगये मारय्या कश्मीर का राजा था। स्वय बुद्ध राजपरिवार से आये थे। राजा और बादशाह सन्तो को राज्याश्रय देते थे। जिसे सन्त अस्वीकार करते थे। कभी-कभी स्वीकार भी करते थे। इस सम्बन्ध मे कुभनदास का अनुभव महत्त्वपूर्ण है। कुभनदास को अकबर ने फतहपुर सीकरी मे बुलाया। वे गए भी। किन्तु उन्हे अच्छा नही लगा—

सन्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जिनके मुख देखत घिन उपजत तिनकौ करिबे परी सलाम ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सन्त राज्याश्रयी नही होते थे। इसलिये कि वे दुनियादार भी नही होते थे। वे कुछ विरक्त रहकर समाज-सेवा करते थे। मूलत वे आध्यात्मिक पुरुष होते थे। किन्तु कभी-कभी सामाजिक सेवा के क्षेत्र मे उतर आते थे। ऐसे नामो मे स्वामी रामदास का नाम शायद सबसे महत्त्वपूर्ण था। स्वामी रामदास महाराज शिवाजी के गुरु थे। सन्तो का मुख्य काम था जनता मे आत्मविश्वास पैदा करना। मानव मानव की एकता के माध्यम से उन्होने देश और समाज की एकता स्थापित करने की कोशिश की। यह एकता व्यापक थी। इसमे जाति गत, लिग या रगगत भेद-भाव न था। आचरण, सद्विचार, त्याग, साधना जैसे

तत्त्वो को अपनानेवाले सभी व्यक्ति समान है। सन्तो ने मानव एकता के माध्यम से राष्ट्री एकता को पाने की कोशिश की थी। आक्रमणकारी इस्लाम से एकता का सवाल नही था। यहाँ एकता का मतलब था शोषित हिन्दू जनता की एकता। कुछ सामान्य मुसलमान जनता की एकता भी। उदार सत एक ऐसी आधार भूमि बनाना चाहते थे, जिसमे सामान्य मुसलमान भी आ सके। इससे कट्टरता कम होगी। उदारता का विकास होगा। धर्म-परिवर्त्तन के तूफ़ान से हिन्दू धर्म को बचाने का यही एक मार्ग उन्हे सम्भव दीखा। इसके लिए थोड़ी तटस्थता की भी आवश्यकता थी। फलत कुछ-कुछ मुसलमान भी सन्त मार्ग मे शामिल हुए।

जो लोग कबीर की आलोचनाओ पर चमत्कृत है उन्हे यह भूलना न होगा कि कबीर हिन्दू धर्म के पाखडो के विरोधी है। किन्तु उनकी मूल अवधारणा हिन्दू है। बुद्ध, महावीर, सिद्ध और गोरखनाथ आदि के समान वे स्पष्ट देख रहे थे कि जाति-व्यवस्था, छुआछूत जैसी चीजे ही देश को गुलाम बनाती है। जाति व्यवस्था के शिकार मुख्य रूप से शरीर-श्रम करनेवाली जातियाँ है। इन्हे देश का उच्चवर्ग भी परेशान करता है। विदेशी भी लूटते है। उन्होंने स्पष्ट देखा कि धर्म-परिवर्त्तन से इनका काम चलनेवाला नही है। धर्म-परिवर्त्तन स्वय मे गुलामी है। यह एक अन्यायी राज्य से दूसरे शोषक राज्य मे शरण लेने जैसा है। धर्म बदलने से समस्याएँ और बढ़ेगी। मूल सवाल है दृष्टि बदलने का। कबीर दृष्टि बदलने के लिये संघर्ष करते है। पडित से शास्त्रार्थ की मुद्रा बनाते है। बहस चलाते है। जौ तू बभनी बाभन जाया आन बाट से काहे न आया ? इस्लाम मे अहिसा का स्थान न था। कबीर ने अहिसा पर जोर दिया, क्यो ? इसलिये कि बुद्ध अहिसक थे। नही, इसलिये नही। मूल बात यह है मारना, काटना ही हिसा नही है। शोषण, छुआछूत आदि भी हिसा है। किसी को सताना भी हिसा है। प्रजा को लूटना और बलात् धर्म परिवर्तन भी हिसा है। तत्कालीन शासन अहिसा की यह परिभाषा स्वीकार करने की स्थिति मे न था। क्योकि सत्ता का आधार ही हिसा थी। व्यभिचार, शराब, जूआ,भारी कर, बेगार, सग्रह आदि हिसा के सहयोगी है। कबीर हिसा के इन सहयोगियो का भी विरोध करते है। सामाजिक स्थिरता समृद्धि के मूल मे है। यह स्थिरता सदाचरण से ही आ सकती है। हिसा मूलक समाज में स्थिरता नही रह सकती। वर्ण व्यवस्था और छुआछूत ने समाज की जड़ को हिला दिया। समाज कमजोर हो गया है। इसे ठीक करने के लिये इन्हे दूर करना होगा। द्वैत मूलक समाज कभी सुखी नही हो सकता। सुख तो अद्वैत मे है। अद्वैत कबीर का मुख्य दर्शन है। अद्वैत का अर्थ है मानव-मानव की एकता, शोषणरहित समतामूलक समाज। कबीर अद्वैत मूलक सामाजिक समता, एकता के गायक है।

मुसलमान भारत मे शासक जाति के थे। बादशाह उनके थे। अधिकाश मुसलमान बादशाह बिरादरी के थे। धर्मपरिवर्त्तन के मूल मे भी बादशाही बिरादरी मे शामिल होने का सुख था। यह मान सिह जैसे उच्चवर्गी परिवार भी कर रहे थे और निम्नवर्ग भी। निम्न वर्ग से तो बलात् भी धर्मपरिवर्त्तन कराया जाता था। धर्मपरिवर्त्तन मे लोभ, मोह और भय तीनो का स्थान था।

कबीर स्वधर्म मे रहने के समर्थक है। हाँ, स्वधर्म मे नित्य सुधार की आवश्यकता है। इस्लाम मूर्तिपूजा, अवतार, पुनर्जन्म का कट्टर विरोधी है। एक ईश्वर मे विश्वास करता है। सामाजिक समता मे विश्वास करता है। किन्तु धार्मिक दृष्टि से कट्टर है। धर्मो की विभिन्नता के प्रति अनुदार है। कबीर मूर्तिपूजा और अवतार के विरोधी है। किन्तु पुनर्जन्म मे उनका विश्वास है। वे एक ईश्वर मे विश्वास करते हुए जीव, जगत् और ब्रह्म की एकता मे विश्वास करते है। इस्लाम जीव जगत् और ब्रह्म की एकता का विरोधी है। इसलिये जो कबीर के मूर्तिपूजा और अवतार विरोध तथा एक ईश्वर के विचार को इस्लामी मानते वे भूल करते है। इन्ही बातो को माननेवाला आर्य समाज को मुसलमान कौन कहेगा ? असल मे कबीर की मुख्य समस्या इस्लाम

की चुनौतियो के सन्दर्भ मे सगठन और सुधार है। यही कारण है कि कबीर का मुख्य प्रभाव हिन्दू जनता पर है। मुसलमानो की दुनिया मे तो वे विजाती और विधर्मी है। इसके मुकाबले हिन्दू उन्हे अपने समाज के आदर्श भक्तो मे स्थान देता है। नीमा और नीरू के घर पलने पर भी हिन्दू उन्हे पराया नही मानता।

कबीर रामानन्द के शिष्य कहे जाते है। रामानन्द की परम्परा भी हिन्दू सुधार वाली है। कबीर साहित्य और चिन्तन की परम्परा इस्लामी न होकर हिन्दू है। कबीर की आलोचनाओ से परेशान लोग उन्हे अक्खड़, उद्धत और मुसलमान कहकर सन्तोष कर लेते है। सच्चाई यह है कि कबीर की समस्याएँ, समर्थन और विरोध सब हिन्दू धर्म के भीतर की है। कबीर ने आर्य समाज के समान ही कठोर और तथ्यमूलक आधार पर समाज सुधार की कोशिश की। इस सुधार की परम्परा है। किन्तु यह पुनर्निर्मित परम्परा है। कबीर ने परम्परा के अलग टुकड़ो को लेकर जोड़ा है। इसी जोड़ने मे भगवान् से जुड़े कि कबीरदास से कबीर साहब हो गए। वे कयामत तक कब्र मे रहकर फैसले का इन्तजार नही करते। स्वय साधना द्वारा व्यक्ति से ब्रह्म बन जाते है। हिन्दू की एक विशेषता निरन्तर अपना सशोधन है। वैचारिक स्तर पर दुनिया का यह अकेला धर्म है जिसमे सुधार, सशोधन और अनुसन्धान की बराबर कोशिश होती रही है। इसका कोई स्वर अधिक तीव्र होता था, कोई धीमा। कबीर उस सशोधन सुधार के एक तीव्र स्वर थे।

कबीर ने भी अपने धर्म का नाम नही दिया। इसलिये कि उस समय तक हिन्दू शब्द को प्रतिष्ठा नही मिली थी। भारत मे धर्म और समाज की ऐसी एकता थी कि किसी को अपना धर्म या समाज बताने का अभ्यास न था। हिन्दू नाम मुसलमान दे रहे थे। भला ऐसा नाम कबीर को अपने लिये क्यो स्वीकार होता ? इस्लाम केवल प्रणति वाला धर्म है। अपने धर्म की आलोचना सुनने की उसकी आदत नही है। कबीर की आलोचना अगर उसे सुननी पड़ी तो केवल इसलिये कि कबीर गैर फिरके के थे। मस्जिद और ईदगाह मे बैठकर आलोचना के लिये मुँह खोलते ही सिर कलम कर दिया जाता। गैर फिरका वाले का असर सीधा नही होता। सीधा होता तो मुसलमान नेतृत्व इस पर अवश्य सोचता।

शेख तकी के कहने पर कबीर पकड़कर सिकन्दर लोदी के दरबार मे लाए गए। उन्हे मारने की कोशिश की गयी। कबीर को मरवाने की कोशिश केवल मुसलमान शासक ने ही की। क्योकि कट्टर मुसलमान उन्हे अपना विरोधी मानता था। इसके मुकाबले प्रत्येक हिन्दू ने उन्हे भक्त माना। भक्ति-आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण नेता, सुधारक और कवि घोषित किया। परंम्परा से कबीर हिन्दू भक्ति धर्म के प्रमुख सतो मे है।

कबीर को हिन्दू पुराणो, देवी-देवताओ आदि का अर्जित की अपेक्षा परपरित ज्ञान है। वे अपनी बात को उन्ही के माध्यम से कहते है। उनका मुख्य प्रतीक कमल है। गुलाब को तो वे शायद जानते भी नही। मुसलमान किताब विरोधी नही हो सकता। पवित्र कुरान उसके धर्म का एकमात्र आधार है। कबीर ने किताब का विरोध उपनिषद् एव योग परम्परा से लिया है। मुसलमान हुक्म पर विश्वास करता है। कुरान का हुक्म, शेख का हुक्म है। कबीर हुक्म विरोधी है। हुक्म तो क्या वे किसी भी बाहरी आदेश की उपेक्षा करते है। ईश्वर को स्वर्ग मे न खोजकर अपने भीतर खोजते है। पीरपैगम्बर और किताब के आदेश के स्थान पर आत्मानुभूति पर जोर देते है। पुस्तक सत्य नही, आत्मसत्य। इस्लाम का किताबी और पैगम्बरी ज्ञान सबके लिए सत्य है। सबको उसके सामने सिर झुकाना है। न बहस। न विवाद। कबीर का सत्य व्यक्तिगत है। सब उसे पा भी नही सकते। गुरु प्रसाद और अपने परिश्रम से विरला ही उस सत्य तक पहुँच सकता है। सामान्य जन की तो बात ही क्या मुनिजन भी वहाँ महल नही पा

सकते।

कवीर अपने को पूर्वजन्म का वॉमन (ब्राह्मण) कहते है। उन्हे दुख है कि राम देव की सेवा मे चूक न होती तो वे जुलाहा नही बनते। इसीलिये इस जन्म मे वे रामदेव की सेवा मे लगे है। इसका मतलव नही कि वे ब्राह्मण कर्म करेगे। करेगे वे सुधार ही। इस जन्म को ही सुधारेगे। अपनी व्यक्तिगत साधना के साथ वे हिन्दू धर्म मे सुधार चलाते है। अपनी मुक्ति और समाज मुक्ति दोनो साथ चलना चाहिए। स्वय तो वे मुक्त हो ही गये है। अव दूसरो को भी मुक्ति का रास्ता बताते है। कबीर समाज सुधारक थे। यह वात सर्वमान्य है। तो, क्या कबीर मुसलिम समाज के सुधारक थे। या मुसलमान होकर हिन्दू समाज मे सुधार कर रहे थे ? फिर उन्हे मुसलमान मानने का आधार मात्र एक किवदती रह जाती है। ऐसा भी नही कि वे अरण्य- रोदन मात्र करते थे। उनके पीछे कोई समाज न था। अवश्य ही उनका समाज हिंदू है। कबीर एकेश्वरवादी है। निर्गुणोपासक है। किंतु कबीर का निर्गुण और एकेश्वर इस्लाम से बिल्कुल अलग है। वे अवतार नही मानते तो रसूल या पैगबर को भी नही मानते। कबीर अद्वैतवादी है। वहॉ रसूल का कोई स्थान नही है। कबीर रसूल नही स्वय ब्रह्म है। यह बात इस्लाम के गले नही उतरेगी। किंतु हिंदू को यह अच्छा लगता है। इस्लाम का खुदा दिल मे, घट मे नही, सातवे आसमान पर है। इसी बात को कबीर कहते है—

मुसलमान कहै एक खुदाई।
कबीरा कौ स्वामी घटि घटि रह्यौ समाई।

पिछले खेवे के सुधारको और कबीर मे एक अन्तर भी था। पिछले खेवे के सुधारक वैष्णव नही थे। कबीर वैष्णव क्यो हुए ? उन्हे वैष्णव वनने मे कठिनाइयॉ भी हुई। शुरू मे गुरु रामानन्द उन्हे शिष्य बनाने को तैयार न थे। किन्तु कबीर हठपूर्वक रामानद के शिष्य बने। उन्होने योगमार्ग की जमीन पर वैष्णव भक्ति का वृक्ष तैयार किया। गोरख ने योग जगाकर भक्ति भगायी थी। कबीर ने भक्ति पल्लवित की। योग को उखाड़ा नही। उनके लिये योग साधन है, भक्ति साध्य। उनके द्वारा गिनाये गए भक्तो मे हिन्दू शुकदेव, नामदेव, जयदेव आदि है। उन्होने कभी किसी मुसलमान भक्त का नाम नही लिया। शेखतकी उनका विरोधी है। कहते है उनकी लाश जलायी जाय या गाड़ी जाय। इस पर हिन्दू भक्तो और मुसलमान भक्तो मे झगड़ा हो गया। कपड़ा हटाने पर देखा गया कि वहॉ लाश के स्थान पर फूल है। कबीरपंथी उनका जन्म भी कमलपत्र पर मानते है। कमल से कमल तक का यह विकास हिन्दू पुराकथा है। कवीर द्वारा प्रयुक्त घट और पट का प्रतीक भी हिन्दू प्रतीक है। ये दोनो प्रतीक कवीर के विचारो के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार है।

इस प्रकार के जाने कितने प्रमाण है जिनसे स्पष्ट होता है कि कबीर मुख्यत उदारवादी हिन्दू समाज-सुधारक थे। उन्होने लोगो को मुसलमान बनने से रोका।

शातिप्रिय बादशाह, विद्वान् और नेता यह भी समझ रहे थे कि धार्मिक अशाति, बलात् धर्मपरिवर्त्तन जैसी चीजे स्थायी राज्य के लिये अच्छी नही है। इसलिये उन्होने एक सामान्य धर्म को भी विकसित करने की कोशिश की। अकबर का दीन-इलाही ऐसा ही आन्दोलन था।

●

कबीर : जाति, स्थान

कबीर के बारे मे कुछ भी स्थिर नही है। हो भी कैसे ? उनका जन्म शायद सामाजिक दृष्टि से शुद्ध न था। किंतु कर्म से वे महान् हो गए। अशुद्धता ऐसी कि माता-पिता नाम भी न ले, 'हमे पुत्र हुआ है'। उनके जन्म पर थाली नही बजी। प्रीतिभोज नही हुआ। प्रतिभा का धनी पुत्र झाड़ी मे फेक दिया गया। अवैध सतान थी। इसी कबीर ने समाज की सारी अवैधता पर चोट की। केवल हिंदू की अवैधता नही, सबकी अवैधता। मुसलमान की अवैधता। बौद्ध, जैन, जोगी, जती, सन्यासी सबकी अवैधता। जहाँ गलत है वहाँ कबीर उँगली उठाए है। दिखावा, आडम्बर, ढोग को नेस्तनाबूद कर देना चाहते है। धर्म एक आदर्श है। मानसिक चिंतन है। बौद्धिक प्रयत्न है। इसके अभाव मे धर्म के पाषाण को पूजना व्यर्थ है। योग अच्छी चीज है। योगी श्रेष्ठ है। किंतु केवल आँख मूँदने और दाढ़ी बढ़ाने से कोई योगी नही हो सकता। योग तो आध्यात्मिक वृत्ति है। मन प्रक्रिया है। किंवदन्ती कहती है, कबीर विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुए थे। ब्राह्मण पाषंड का यह विरोधी ब्राह्मणी के गर्भ में नौ मास रहा। कबीर अपने को कही भी ब्राह्मणी से नही जोड़ते। माता-पिता के बारे मे मौन रहते है। हाँ, पूर्व जन्म मे 'बाभन' थे—

पूरब जनम हम बांम्हन होते, बोछे करम तप हींनां।
रांमदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां ॥

—कबी० पृ १७३

क्या कबीर के मन मे कही यह बात थी कि वे 'वोछे कर्म' तथा तपस्या की कमी के कारण जुलाहा हुए ? क्या वे अपने को पूर्वजन्म का ब्राह्मण कहकर अपने कथन को प्रामाणिक बनाना चाहते थे ? जुलाहा हुआ तो क्या हुआ, जन्मान्तर का सस्कार ब्राह्मण का है। इससे कथन मे शक्ति मिलती थी ? ब्राह्मण को ललकारने में आत्मविश्वास स्थैर्य पाता था। जिन्हे ललकार रहे थे उन्हे पूर्वजन्म मे विश्वास था। या वे जनश्रुति का सकेत करते है ? सामाजिक मान्यता महत्त्वपूर्ण चीज है। जनता ने कबीर को ब्राह्मणी के पेट मे शायद लोक मान्यता के लिये डाला। लोक उन्हे ब्राह्मणी कुमार के रूप मे जाने। माने। विशिष्टता का मोह नया नही है। ब्राह्मण आज भी विशिष्ट बना है। आज की अनेक जातियाँ ब्राह्मण बन रही है। नाई ब्राह्मण सबसे अच्छा उदाहरण है। लुहार, बढ़ई, नाई आदि अपने को शर्मा लिखते है। यह स्थिति ब्राह्मण को भी स्वीकार हुई होगी। कबीर जैसी प्रतिभा बिना ब्राह्मण ससर्ग से कैसे पैदा होती ? बीज नही तो रज और क्षेत्र तो ब्राह्मण के है। बीज के बारे मे मौन है। क्यो मौन है ? क्या बीज भी ब्राह्मण का था ? नही। यह शुद्ध कल्पना होगी। हाँ, आचार्य रामानद के आशीर्वाद से विधवा को गर्भ रहा। इस ढग से बीज को अलौकिक और ब्राह्मण बनाने की कोशिश है। नीमा और नीरू को बार-बार गौण बनाने की कोशिश हुई। वे केवल पालनकर्त्ता है। या ऐसा कि लोक हिंदू धर्म पर व्यग्य करना चाहता है। रूढ़िवादी, अनुदार हिंदू ने इतनी बड़ी प्रतिभा को झाड़ी मे फेक दिया। जुलाहा बनने के लिये मजबूर कर दिया।

सामाजिक सदर्भो के अन्वेषक के लिये विधवा ब्राह्मणी वाली बात महत्त्वहीन है। वे उसकी चर्चा नही करते। सामाजिक सदर्भ की दृष्टि से उसे महत्त्वहीन समझते होगे। उन्होने कबीर को जुलाहा मानकर विचार किया है। शायद कोरी भी जुलाहा ही है। 'कुछ पडितो का यह भी

अनुमान है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेवाले कोरी ही जुलाहे है।' (कबीर पृ ५) किंतु पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी जी इस राय से सहमत नही है। 'कोरियो और जुलाहो को एक ही श्रेणी की दो जातियॉ मान लेने का कोई प्रमाण नही है।' (वही पृ ५)।

कबीर ने अधिकतर स्थानो पर अपने को जुलाहा, कही-कही कोरी और एक बार शूद्र कहा है–

तुम कैसे बाम्हण पांडे हम कैसे सूद।

इससे जाति का ठीक पता नही लगता। क्योकि शूद्र कोई जाति न होकर जातिसमूह है। साधु अपनी जाति, जन्म और कुल नही बताते। कबीर इसका समर्थन करते है–

ना मोहि छानि न छपरी ना मोहि घर नही गाउ।
मति हरि पूछै कौन है मेरे जाति न नाउ॥

फिर भी कबीर अपने को नीची जाति का बताते है–

कबीर मेरी जाति को सब कोइ हँसने हारु।
बलिहारी इसु जाति कौ जिह जपियो सिरजनहारु॥ वही पृ २५८।

इन कथनो से स्पष्ट है कि कबीर किसी पिछड़ी जाति के थे। उन्होने बुननयत्र से सबद्ध अनेक शब्दो के प्रयोग किए है। इससे लगता है कि वे बुनकर जाति के थे। किंतु जुलाहा शब्द एक भ्रम पैदा करता है। जुलाहा जाति है, किंतु जुलाहा प्रतीक भी है। सृष्टि-कार्य कपड़ा बुनना जैसा है। ईश्वर सृष्टि रूप चादर को बुनता है। सिद्ध ततीपा ने एक चर्या द्वारा अपने को वयन-जीवी कहा है। सिद्ध शातिपा की दृष्टि मे–

तुला धुनि धुनि आँसु रे आँसु।

सूक्ष्म से सूक्ष्म अश तक रुई को धुनते है। नानक ससार को सूत, शरीर को वस्त्र कहते है। (नानकवाणी पृ ४०२, ८१) श्रीमद्भागवत के अनुसार 'ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण चराचर जीव प्राकृत है और जैसे वस्त्र सूत्रो से ओतप्रोत रहते है, वैसे ही ये सब प्रकृति के उन गुणो से ही ओत प्रोत है।[1] स्वय कबीर जुलाहा शब्द का प्रयोग सृष्टिकर्त्ता के लिये करते है–

अस जोलहा को मरम न जाना। जिन जग आनि पसारिन ताना।
धर्ती अकास दुइ गाड़ खुदाया। चाँद सूर्य दुइ नरी बनाया। कबीर, बी० पृ० ९०।

स्पष्ट ही यह जुलाहा जाति नही सृष्टि निर्माता है। इसी स्थान पर कबीर ने अपने को कोरी भी कहा है। कोरी कपड़ा बुनता है–

सहस्रतार लै पूरन पूरी। अजहूँ बिनैकठिन है दूरी।
कहहि कबीर कर्म ते जोरी। सूत कुसूत बिनै भल कोरी। वही, पृ० ९०।

जुलाहा और कोरी को कबीर पर्याय रूप मे कहते है। ये पर्याय न होते तो एक ही व्यक्ति अपने को कभी जुलाहा और कभी कोरी कैसे कहता? इनकी स्थिति समाज मे शूद्रवत थी। कबीर अपने को कही भी ब्राह्मण या द्विज नही कहते। इसके मुकाबले शूद्र कहते है। जैसे जुलाहा जाति प्रतीक है उसी प्रकार गोरख ने तेली और सुनार का प्रतीक लिया है– 'जाति हमारी तेली कहिए। मेरी जाति सुनारी रे।' गोरख तेली नही थे। सुनार नही थे। गरीबदास अपने को बुननेवाले जुलाहा न कहकर 'कोली' कहते है– 'कोली बुनै बिहंगम ताना। –सत काव्य, पृ० ४१२। सत शिवदयाल सिह (स्वामीजी महाराज) अपने को गुरु चरनो को धुनने-

---

१ भागवत हिंदी, गीता प्रेस, पृ ३७५।
गीता ने मृत्यु को वस्त्र-परिवर्त्तन कहा है। गीता मे वस्त्र का अर्थ है देह। सामान्यत लोग शरीर को चोला कहते हैं। चोल माने वस्त्र। इसी से बुनकर चोलवाय है। जुलाहा शब्द फारसी व्युत्पन्न है। किंतु इसका फारसी रूप चोलवाय के निकट है।

वाला धुनिया कहते है। यह मन को धुनता है। मन कपास है। सूरत रुई है।[1] कबीर बार-बार आध्यात्मिक बुनाई की बात करते है–

मै बुनिकरि सिरांना हो राम।

× × ×

मिहीन सूत बिरहिन कातैं माँझा भगति का।

× × ×

जोलहा बीनहु हो हरिनामा।
सुन्न सहज महि बुनत हमारी।

एक स्थान पर किसान का रूपक भी लिया है। किसी-किसी सत ने अपने को सुनार कहा है। सृष्टि निर्माण के लिये कनक-कुडल न्याय प्रसिद्ध है। ईश्वर को कुभकार भी कहा गया है। ब्रह्मा कुभकार है। पडित का पर्याय कुभकार हो गया है।क्या कबीर जाति के जुलाहा थे? और जुलाहा को रूपक के रूप मे भी उन्होने प्रयोग किया। कबीर अपनी बात जिस ढग से कहते है उसमे इस बात की सभावना भी कम नही है कि वे जुलाहा को रूपक के रूप मे प्रयोग करते है।

कुरल तमिल का अत्यत प्रसिद्ध और आदरणी काव्य है। इसके रचयिता तिरुवल्लुवर अछूत जुलाहा थे।[2] एलाचार्य (कुकुदाचार्य) भी सभवत जुलाहा थे। प्रसिद्ध तमिल रामायण के रचयिता कम्बन् भी जुलाहा थे।

क्या इससे यह अनुमान नही होता कि जुलाहा जाति की अपेक्षा रूपक है? यह भी सभव है कि जुलाहो मे भक्तों की परपरा रही हो। किंतु इसमे दो बाधाएँ जान पड़ती है– एक यह कि भक्ति जुलाहो मे ही क्यो हो? शूद्रो मे होने का कारण तो समझने योग्य है। दूसरी कठिनाई यह है कि यदि वह परपरा थी तो उसे किसी न किसी रूप मे आज भी होना चाहिए जो नही है। हॉ, शूद्रो मे भक्ति की परपरा आज भी है।

भक्ति मे शूद्रो की सख्या (बहुलता) का यह अर्थ भी नही है कि यह कोई पेशे से सबद्ध आन्दोलन था। इसका अर्थ इतना ही है कि भक्ति के क्षेत्र मे सबके लिये गुजाइश थी। यह भेदभाव वाला आन्दोलन न था। यह वैदिक धारा का ही एक विकास था। अथर्ववेद मे कहा गया है कि चाडाल भी यदि राम-राम जपता है तो उसके साथ बोलना, रहना और भोजन करना चाहिए–

यश्च चाडालोऽपि रामेतिवाच व्रवीत तेन सह संवदेत् तेन सह सवसेत् तेन सह भुजीयात् (मानस पीयूष बाल १, पृ० ३७७)। अधिकतर साधक अपनी जाति नही बताते। नानक कहते है–मै न तो हिंदू हूँ, न मुसलमान, न योगी हूँ।' फिर क्या है? भक्त है। जाति न पूछो साधु की। और जाति जानना आवश्यक है तो गोरखनाथ उसकी अलग पद्धति बताते है-

उत्पति हिंदू जरणा जोगी अकलि परी मुसलमानी।
ते राह चीन्हो रे काजी मुलां ब्रह्मा विष्णु महादेव मानी–गोरखबानी, पृ०६।।

यह कौन-सी राह है? निश्चित ही यह भिन्न रास्ता है। साधना का रास्ता है। यह जाति-पॉति का रास्ता नही है। साधक शून्यवादी है। सभी रास्ते व्यर्थ है। साधक का रास्ता ही ठीक है। इसीलिये जाति-पॉति व्यर्थ है। वह हिंदू, मुसलमान, योगी कुछ भी नही है।

कबीर को नवधर्मातरित मुसलमान भी कहा गया है। धर्मातरण 'जोगी' जाति का हुआ था। इस सबध मे पहली बात यह कि नवधर्मातरित नवधर्म (इस्लाम) का विरोध नही करेगा।

---

१ धुन धुन डालू अब मन को। मै धुनिया सतगुरु चरनन को।
मन कपास सूरत कर रूई। काम विनौले डाले लोई।–सत काव्य, पृ ४९४।

२ गोविद शास्त्री–कुरल काव्य।

मुसलमान इतने उदार भी नही कि वे किसी को आलेचना की छूट दे। विधर्म के नवागत को न यह छूट होती है। न वह यह छूट लेता है। उल्टे नया मुसलमान अधिक प्याज खाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कबीर को जोगी से जोड़ने की जरूरत ? सत मार्ग भक्ति मार्ग का एक रूप है। यह सारे देश मे फैला है। मुख्य रूप से हिंदू कहलाने वालो मे फैला। जोगी भी हिंदू है। यो कि ये अपने को ब्राह्मण भी कहते है। प्रचलित मान्यता के अनुसार ये शकराचार्य के शिष्य मडल मे गृहस्थ सन्यासी है। इन पर निराकार, शून्य आदि का प्रभाव है। सन्यासी होने के कारण ये जाति-पॉति का खडन करते थे। समाज मे इनका दर्जा गिर गया था। जाति व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था है। इसका दर्शन भक्ति या साधना के किसी सप्रदाय से सवध जोड़ना कठिन है। जाति का मुख्य समर्थन स्मृतियॉ करती हैं। जिनका ध्यान सामाजिक व्यवस्था पर है। व्यवस्था वाले तब भी और आज भी जाति को पकड़े है। विशिष्ट के लिये यह बहुत बड़ी सुविधा है। कबीर अपने को योगी नही कहते। बगला विश्वकोश के अनुसार 'अधिकांश योगी शिव के उपासक है। यह हिंदू जाति की एक श्रेणी है।' कबीर शैव नही वैष्णव है। शैव योगी गोरखनाथ के शिष्य थे। नाथ सप्रदाय मूलत शैव प्रभाव का था। शंकराचार्य स्मार्त थे। शैव थे। विष्णु के भी आराधक थे। योगियो मे कृष्णोपासक भी है। विश्वकोश कहता है 'कृष्ण की उपासना करनेवाले योगियो की सख्या भी थोड़ी नही है।' किंतु कबीर राम भक्त वैष्णव है। वैष्णवता कबीर मे बहुत प्रबल है। उन पर सहजिया सप्रदाय का भी प्रभाव है। कबीर नारदी भक्ति, शुकदेव आदि की बातो को भी मान्यता देते है। कबीर पर जो सबसे कम प्रभाव है वह इस्लाम का। वे इस्लाम के रोजा, बॉग, खतना, हलाल, पश्चिम, कुरान सबके विरोधी है। किताब (कुरान), वेद दोनो को अस्वीकार करते है। ऐसी स्थिति मे उन्हें मुसलमान जुलाहा मानने का कोई कारण नही है। वे योगी भी नहीं थे, क्योकि वे वैष्णव हैं। वे किसी बुनकर पेशे के व्यक्ति हो सकते है जिनपर बौद्ध, सिद्ध, नाथ भक्ति के निर्गुण मार्ग का पूरा प्रभाव है। उनकी रचनाओ का पौराणिक सदर्भ अत्यत गभीर और विस्तृत है। इसके मुकाबले इस्लामी सदर्भ विरल, नही के बराबर है।

कबीर को योगी मानकर निर्गुण मार्ग को समझा नही जा सकता है। निर्गुण मार्गी कबीर पूर्ववर्ती और परवर्त्ती है। इसमे कबीर जैसे ही प्राय सैकड़ो उच्चकोटि के सत सारे देश मे फैले है। ये सत विभिन्न जातियो के है। कबीर स्पष्ट ही योगी से अपने को अलग करते हैं–

जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर कै स्वामी घटि घटि रह्यौ समाई ॥

निश्चय ही कबीर का रास्ता न तो योगी का था, न परपरित हिंदू का। मुसलमान का तो बिल्कुल ही नही। यह रास्ता सतो का था। सत अधिकतर पिछड़ी जाति के थे। कबीर किसी पिछड़ी जाति के सत थे। कबीर जिस प्रकार से जाति-व्यवस्था पर हमला करते है उससे स्पष्ट है कि वे विधर्मी नही है। जाति-व्यवस्था से पीड़ित समाज के अग है। विधर्मी को जाति व्यवस्था की पीड़ा नही होती। वह तो विचार के स्तर पर इसे अस्वीकार करता है। कबीर मे अहिंसा का प्रबल भाव है। वे गोहत्या विरोध को स्पष्ट रूप मे सकेतित करते है– 'दिनभर रोजा रखत हो राति हनत हौ गाय।' भक्तो का समूह भी प्राय जाति का निर्णायक माना जाता है। कबीर के अधिकतर भक्त पिछड़ी जाति के हिंदू है। शूद्र हैं। कबीर के वचनो की स्वीकृति हिंदू के यहॉं है। बहुत थोड़े से मुसलमान कबीर के भक्त है। कबीर हिंदू सत है। हिंदू धर्म के आध्यात्मिक नेता है।

गोरखनाथ सभी दिशाओ मे योगियो के रहने की बात कहते है–

दषिणी जोगी रंगाचंगा, पूरबी जोगी बादी।
पछमी जोगी बालाभोला, सिध जोगी उतराधी।

–गोरख वा० पृ० १६

गोरख उत्तर को महत्त्व देते है। कबीर पूर्व को। कबीर की बोली पूरबी है। गोरख पूर्व को रोग का घर मानते है– 'अवधू पूरब दिसि व्याधि का रोग।' यह दिशा भेद क्या इस बात का सकेत नही कि कबीर नाथपथी योगी नही थे। वे मुसलमान नही थे। मुसलमान पश्चिम को महत्त्व देता है। कबीर इन दोनो से भिन्न पूर्व धुर पूर्व की बात कहते है। इस प्रकार कबीर को सीधे किसी पुराने सप्रदाय से जोड़कर उनकी जाति का पता नही लगता। सभी सत प्राय' एक जैसी बाते करते है। इनकी बोली के आधार पर इन सबको 'जोगी' जाति का मानना ठीक न होगा। यह भी नही कहा जा सकता कि सभी सत कबीर की परपरा के है या सब उनका अनुकरण मात्र करते है। इस व्यापक धारा को केवल कबीर के आधार पर सीमित नही किया जा सकता है। एक स्थान पर कबीर ने जाति की लबी सूची दी है। यह जाति कर्मानुसार है–

कुमरा ह्वै करि बासन घरिहूं, धोबी ह्वै मलधोऊं।
चमरा ह्वै करि रंगौ अघौरी जातिपांति कुल खोऊं।
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ, पाप पुंनि दोऊ पीरौं।
पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरूं।

इस प्रकार और अनेक जातियो की चर्चा है। इनमे जुलाहे की चर्चा नही है, न कोरी की चर्चा है। शायद इसलिये कि जुलाहा-कोरी की चर्चा बार-बार आई है।

'पूर्व बगाल मे दशशौच योगिगण अपने को ब्राह्मणी के गर्भ का मानते है।'–बगला विश्वकोष। क्या कबीर के विधवा ब्राह्मणी के गर्भवाली बात का यही सकेत है ?

भक्ति प्रवाह दक्षिण से उत्तर तक व्याप्त था। भक्ति को आगम-निगम के साथ ही बौद्ध जैन परपराओ ने भी विकसित किया था। इस भक्ति मे शूद्रो की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। दक्षिण मे आलवार और नायनमार भक्तो के दो सप्रदाय थे। इनमें अनेक भक्त शूद्र थे। भक्ति मे शूद्रो का महत्त्वपूर्ण स्थान न केवल दक्षिण भारत मे बल्कि उत्तर भारत मे भी था। कोरी कोई शूद्र जाति थी। कोरी का काम बुनना था। बुननेवाला बुनकर है। जुलाहा है। इसीलिये कबीर अपने को शूद्र और कमीना दोनो कहते है। कबीर पर इस्लामी प्रभाव के कारण उन्हे मुसलमान मानने पर मूल कठिनाई यह होगी कि ऐसे सभी प्रभाववालो को मुसलमान कहना होगा, जो सभव नही है। क्योकि हमे दूसरे सतो की जाति का निश्चित ज्ञान है।

स्वय महान् योगी गोरख ब्राह्मण थे। इससे स्पष्ट है कि दूसरी जातियॉ भी योगी हुआ करती थी। योगी जाति भी थी और साधना सप्रदाय भी। कबीर की मूल दीक्षा योगी सप्रदाय की रही होगी। बाद मे उन्होने वैष्णव सप्रदाय की दीक्षा ली होगी। योगी बनने पर उनके साथ योगियो सबधी धारणाऍ जुड़ी होगी। किंतु कबीर बहुत दिनो तक उस सप्रदाय मे टिक न सके। जैसे उनके गुरु रामानद ने रामानुज के सप्रदाय मे सशोधन किया। भिन्न भिन्न सप्रदाय चलाया। गोरखनाथ ने भी अपने गुरु मत्स्येद्रनाथ के सप्रदाय का शोधन किया था। प्रचलित तो यह है कि उन्होने अपने गुरु को किसी नारी-पाश से मुक्त किया था। योगी सप्रदाय मे परिवर्तन की प्रक्रिया गोरखनाथ से आरभ हो गयी थी। स्वामी रामानद पर भी योग का प्रभाव था।

योगी जाति थी यह विचारणी है। जातियॉ पेशे के आधार पर बनी है। योगी कोई पेशा नही है। निश्चित ही पहले यह साधना मार्ग रहा होगा। उससे सप्रदाय बना और अत मे उसने जाति का रूप ले लिया। स्वयं गोरखनाथ और कबीर ने सर्वत्र योगी शब्द का प्रयोग एक साधना पद्धति के सप्रदाय या उस सप्रदाय के व्यक्ति के लिये किया है। वे कही भी योगी जाति नही कहते है। सामाजिक और साप्रदायिक बहिष्कार के कारण योगी सप्रदाय ने आपस मे ही शादी-विवाह आरम्भ कर दिया होगा। धीरे-धीरे उन्हे एक जाति मान लिया गया होगा। दशनामी साधुओ मे योगी जाति का नाम नही है।

कबीर को मुसलमान मानने का मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण है उनके जन्म के सबध की जनश्रुति कि वे मुसलमान के घर पाले गए थे। नीरू और नीमा ने उन्हे रास्ते मे फेका पाया।

ऐसी जनश्रुति केवल कबीर के बारे मे होती तो उसे सच मान लेना ठीक था। किंतु ऐसी किवदतियाँ अनेक महापुरुषो के बारे मे प्रचलित है। सीता खेत मे फेकी पायी गयी थी। प्रसिद्ध आलवार भक्तिसारसरकडे पर फेके पाए गए थे, जिन्हे व्याध दपति ने पाला था। योगिवाहन (मुनेवाहन) खेत मे पाए गए थे। हरिजन द्वारा पाले गये थे। आडाल' (गोदा) विष्णुचित्त को वन के मार्ग मे मिली थी। महाराष्ट्री भक्तिन वेणाबाई सत रामदास की शिष्या थी। यह बचपन मे विधवा हो गयी थी। निदा के भय से माता-पिता ने इन्हे विष दे दिया। किंतु गुरु-कृपा से कोई असर नही पड़ा। वाल्मीकि रहजन थे। कालिदास परम मूर्ख, तुलसीदास, सूरदास एव नददास परम कामी। शायद ही कोई बड़ा कवि या सत हो जिसके प्रारभिक जीवन के बारे मे कुछ विचित्र न प्रचलित हो। तुलसीदास मूल नक्षत्र मे पैदा हुए थे। माता-पिता को खतरा था। इन्हे मारना चाहा। मार न सके। बचपन गे भीख माँगकर खाते थे। भक्ति के प्रथम आचार्य एव ब्रह्मा-पुत्र वैष्णव नारद दासीपुत्र थे।

ऐसी कथाओ को यथावत् लेना ठीक नही। ये कथाएँ किसी विशिष्ट सकेत के लिये गढ़ी गयी है। सतो का विश्वास अपना सिद्धान्त बताने मे है। विचार बताने मे है। न कि जाति और जन्म। इन्हे तो छिपाते है। वे जन्म नही कर्म को महत्त्व देते है। केवल ध्यान देने की बात इतनी ही है कि भक्तिधारा मे पूरे देश के शूद्रो की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। रचना, स्थिति और सख्या तीनो दृष्टियो से शूद्र महत्त्वपूर्ण है। सत कबीर का सारा चितन, आक्रोश और पीड़ा किसी जागरूक हिंदू शूद्र की है।

कबीर के नाम पर प्रचलित अतर एव बाह्य साक्ष्यो के आधार पर कुछ निर्धारण सभव नही है। कुछ उदाहरण की जॉच पर यह स्पष्ट होता है। उनकी माता के नाम पर एक उदाहरण है—

मुसि मुसि रोवे कबीर की माई।
ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।
तनना बुनना सब तज्यो कबीर।
हरि का नाम लिख लियो सरीर।

१ यहॉ मुसि मुसि का क्या अर्थ है ? मूसना का अर्थ है चुराना। तो क्या कबीर की मॉ मुँह चुराती है ? उन्हे रोने मे लज्जा आती है ? क्या ? क्या कबीर से कुछ बुरा हो गया है ? लोग कहेगे हॉ बुरा हो गया है। क्या बुरा हुआ हे ? यह कि जिसके घर मे कोई राम नही बोलता था वहॉ अब राम बोला जाता है इससे कबीर की मॉ जुलाहा (मुसलमान) समाज लज्जित है।

मेरे कुल [illegible] राम कह्यो
जब [illegible] माला लइ निपूते।
तब ते सुख न भयो।

किंतु यहॉ तो लज्जा की बात बिल्कुल नही है। माला से दुखी होने की बात है। अब अगर मुसि मुसि का अर्थ मुसका-मुसका करले तो सारे प्रसग ठीक बैठेगे। यह माया मॉ है जो कबीर की साधना से डरी है। यह कबीर अब विषयो मे नही जीवित रहेगा। माया मे नही रहेगा। प्रश्न है रोती क्यो है ? रोती भी है मुसकाती भी है ? यह कैसे सभव हुआ ? सभव इस प्रकार हुआ कि कबीर के लिये रोती है और दूसरो के लिये मुसकाती है और लोग अभी माया मे है। अगर भौतिक मॉ नीमा होती तो वह रघुराई सबोधन नही करती। उसका सबोधन अल्लाह या खुदा के लिये होता। रोना और मुसकाना का विरोधाभास व्यग्य है। तनना बुनना का अर्थ है आवागमन से मुक्ति। यह सामान्य व्यापार नही है। राम नाम लिखने से आवागमन छूटता है। न कि दैनिक जीविका का तनना-बुनना। माया भी मॉ ही है। सब माया की उत्पत्ति है।

ऐसी ही माँ के मरने पर कबीर खुश है–

मुई मेरी माई हौ खरा खुशाला।

भला भौतिक माँ के मरने पर कोई प्रसन्न होगा ? नही यह माया माँ है जिसकी मृत्यु पर कबीर खुश है।

इसके बाद कहते है– बाप ने मुझे ढाढस बँधाया–

बाप दिलासा मेरो कीन्हा।

तो क्या माँ और बाप की मनोवृत्ति मे अतर था? क्या संत कबीर के मुसलमान पिता उनके राम नाम से लज्जित नही थे ? माँ और बाप की मनोवृत्ति मे यह अतर क्यो ? क्या बाप को मुसलमान समाज मे लज्जित नही होना होता होगा ? निश्चय ही यह बाप मायापति ब्रह्म है। ब्रह्म कबीर की राम-साधना से प्रसन्न है। इसलिये दिलासा दे रहा है। इसलिये भी कि बाप बड़ा गुसाई (गोस्वामी) है–

बाप हमारो बड़ गुसाईं।

इस बाप पर कबीर अपने को बलि करते है–

बलि तिसु बापै जिन हऊ जाइया।

यह वह भौतिक बाप नही है। जिसने इनकी माँ को छोड़ दिया था। इन्हे जन्म लेते ही फेकने पर मजबूर किया था।

लोग कहते है कबीर साहब हज करने भी गए थे। उसका उदाहरण देखिए–

हज काबै होइ होइ गया केती बार कबीर।

तो क्या कबीर कई बार हज करने गये थे ? एक बार तो मुश्किल है। कितनी बार जाने का तो सवाल ही नही उठता। इसका उत्तर दूसरी पक्ति देती है–

हज हमारी गोमती तीर जहाँ बसै पीताम्बर पीर।

यह हज तो गोमती के किनारे है। गोमती नदी तो भारत में है। काशी के आस-पास है। किंतु यह गोमती भी भौतिक नदी नही है। गोमती इद्रिय नदी है। इद्रियाँ है। इद्रियो को जीतना ही गोमती का हज है। इसी गोमती के किनारे पीताम्बर (पीले वस्त्रवाला) पीर (भगवान) बसता है। हज मे पीताम्बर का उल्लेख सभव नही। यह हज तो असली हज के विरोध मे है। निर्गुण निराकार के कवि के लिये सृष्टि पीताम्बर भगवान की उपासना ही काशी है। काबा है। हज है। वे काबा को और सपष्ट करते है– सत्तरि काबे घट ही भीतरि। कबीर किसी भी भौतिक स्थान तीर्थ को अपनी मान्यता नही देते है। काशी और मगहर मे जन्म-मरन भले हुआ हो। किंतु इससे वे उपास्य नही हो जाते है। उपास्य तो केवल भगवान् है। पीताम्बर भी केवल नाम सकेत है। सगुण साकार परमात्मा नही। कहना है तो कोई न कोई नाम तो लेना ही होगा। कबीर को पौराणिक नाम लेने मे कठिनाई नही होती है। नाम ही तो उपासना का साधन है। राम नाम भी तो पौराणिक है। बिना भौतिक नाम के उपासना सभव नही। हाँ, रूप की अपेक्षा नाम कम से कम स्थूल और सगुण है। इस राम नाम को भी तभी प्राप्त किया जा सकता है जब शरीर अर्थात् शरीर की अहता छूट जाय–

राम रतन तब पाइये जो पहिले तजहि सरीर।

हम इस मान्यता मे विवाद नही करते कि कबीर का जन्म काशी मे हुआ था। हाँ, उनकी मृत्यु का स्थान मगहर सदेह पैदा करता है। मगहर शब्द मगध गृह का तद्भव रूप है। सनातनी शास्त्रो मे मगध निंद्य है। यहाँ मरने पर अच्छी योनि नही मिलती है। स्वय कबीर और तुकवालों का तो यहाँ तक कहना है कि—

मगह मरे सो गदह होइ।

गोस्वामी तुलसीदास ने मगध और कर्मनाशा को पुण्यधाम काशी और पुण्य नदी गगा के

विरोध मे पाप के स्थान पर रखा है। और भी उदाहरण है।

अपनी साधना को शास्त्र और परपरा की अपेक्षा महत्वपूर्ण माननेवाले कबीर इसी सदर्भ मे मगधगृह (मगहर) की बात करते है। संभव है वे मगहर में पैदा भी हुए हो और अतकाल वही जाकर मरे भी हो। जैसा कि पता चलता है–

तोरे भरोसे मगहर बसिऔ मेरे तन की तपन बुझाई।
पहले दरसन मगह पायो पुनि कासी बसे आई।

'पहले दरसन' का है जन्म लेकर भगवान (तेरे) या मगहर का दर्शन। 'तोरे' तो स्पष्ट ही भगवान् की ओर सकेत है। मगहर मे 'तनतपन' शात होती थी। क्योकि परपरावद्ध शास्त्र-सपन्न ब्राह्मण प्रमुख काशी मे स्वाभाविक सम्मान तो दूर विरोध ही रहता होगा। रोज कोई न कोई झझट। तो फिर काशी क्यो आये ? इसलिये कि काशी की मान्यता आवश्यक थी और अगर कबीर काशी मे ही पैदा हुए थे तो मगहर गये होगे। मगध मे कोई स्थान वनाया होगा। तुलसीदास के समान ही कवीर भी काशी और मगहर की साथ चर्चा करते हैं–

हिरदै कठोर मरै बानारसि नरक न बांच्या जाई।
हरि का दास मरै जो मगहरि तौ सगली सैंन तराई।

मगध मे कोई नही तरता है। किंतु कवीर स्वय ही नही पूरी सेना, भीड़ को तारने की बात करते है। स्पष्ट है कि यह मगहर प्रदेश है। स्थान नही। स्थान मगहर का कभी कोई महत्त्व नही था। यह जानने का कोई साधन नही है कि मगहर पहले से बसा था। यह नाम उसका पुराना है या कवीर के बाद पड़ा ? हो सकता है यह नाम कवीर ने ही रखा हो।

अधिक सभावना यह लगती है कि कवीर काशी मे पैदा हुए थे और मगहर मे मरे थे–

सकल जनम सिवपुरी गँवाया।
मरनकाल मगहर उठि धाया ॥

कवीर काशी को बुरा नही कहते। किंतु काशी या किसी भी स्थान से उनकी साधना महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये वे कहते है–

जो कासी तन तजै कबीरा रामहिं कौन निहोरा।

राम के चरण (भक्ति) द्वारा मोक्ष का महत्त्व है। राम के चरणो का महत्त्व कवीर काशी को नही देना चाहते है– **चरन बिरद कासी कूं न देहूं। कहै कबीर भल नरकहिं जैहूं।**

कवीर या सत-साहित्य मे स्थान का महत्त्व नही है। इसी से काशी और मगहर प्रतीक भी है। सत गरीबदास कहते है–

काया कासी छोंड़ि चलोगे जाय बसो मन मघरी। (मघरी = मगही)।

कवीर साहव कहते है–

कासी से धुनि उपजै कासी जाई।
कासा फूटी पंडिता धुनि कहाँ समाई।

ध्वनि काशी से उपजती है। काशी जाती है। मतलव यह कि काशी भी सगुण है। शरीर है। कबीर इस शरीर का वहिष्कार करते है। मगहर भी वही है। इसीलिये वे पूछते है काशी (शरीर) फूट गयी। शरीर का नाश हो गया। अब ध्वनि कहाँ जायगी ? उत्तर सीधा था-मगहर। किंतु कबीर यह नही कहते। ये पडितो से पूछते है। ध्वनि मगहर नही जायगी। मगहर कोई ब्रह्म तत्त्व तो है नही। मगहर के ऊसरपने को वे स्वीकार करते है। काशी और मगहर दोनो स्थान है। स्थान से ब्रह्म का सबध नही है। इसीलिये वे कहते है–

क्या कासी क्या ऊसर मगहर राम हृदय बस मोरा।

मेरे हृदय मे राम है। और जिसके हृदय मे राम का निवास है उसका हृदय स्वय पवित्र है।

पूर्ण है। उसे न काशी न मगहर की चिता करनी चाहिए। कबीर किसी स्थान को महत्त्व नही देते है। भक्तिशास्त्र ब्रह्म के पॉच रूप मानता है– है (अस्ति), चमकता है (भाति), सुदर (प्रिय), रूप और नाम। तीन तो केवल ब्रह्म मे है। शेष दो जगत रूप है।[1] पुरुषार्थ क्षेत्र है। दैव बीज है। कबीर इसी पुरुषार्थ क्षेत्र मे राम का बीज डालकर निश्चित है। उन्हे और किसी चीज की आवश्यकता नही है।

क्या कबीर को काशी छोड़ने का अफसोस भी था ? वे कहते है–

तजलों कासी मति भइ मोरी।

इस पक्ति का अर्थ स्पष्ट है। काशी छोड़ना ठीक नही हुआ। विशेषकर उनके लिये यह चेतावनी है जो कबीर साहब की नकल मे काशी छोड़ेगे।

परिशिष्ट के एक पद मे कहा है–

हरि का संत मरै हॉडवैत सगरी सैन तराई।

यह हॉडवैत तो राजस्थान का कोई स्थान जान पड़ता है। यहॉ भी मगहर के समान सारी सेना को तराने की बात है। इसके पहले की पक्ति भी ध्यान देने योग्य है–

मन्हु कठोर मरै बानारस नरकन बॉध्या जाई।

मनहु कठोर का अर्थ है भक्ति रहित। प्रभु प्रेमरस हीन मन। अद्रवित मन। ऐसे कठोर मनवाला व्यक्ति बनारस मे भी मरे तो वह नरक जाने से बच नही सकता है। असल है भक्ति। भक्ति से भावित हृदय व्यक्ति हॉड़वैत मे मर कर भी सारी सेना को मुक्त कर सकता है। मगहर एव हॉडवत प्रतीक से जान पड़ते है। इनका उपयोग भक्ति के महत्त्व की स्थापना के लिये है।

भक्त राम की कृपा से मगध (कीकट) को भी पवित्र करता है। पवित्र स्थान वही है जहॉ भक्त रहते है (भागवत ७।१०।१९)।

---

१ अस्ति भाति प्रिय रूप नाम चेत्यर्थ पचकम् ।
आद्य त्रय ब्रह्म रूप जगद्रूप ततो द्वयम् ॥

भक्ति की उपलब्धि अहिंसा

अहिसा भक्ति की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। भक्ति मे हिसा के लिये कोई स्थान नही है। वैष्णवो ने अहिसा को वैयक्तिक और सामूहिक धर्म बनाया। गॉधी तक आते-आते यह राष्ट्री धर्म हो गयी। अन्याय से लड़ने का अस्त्र बन गयी। जीवन पद्धति बन गयी। गॉधी की अहिसा जितनी वैयक्तिक है उतनी ही सामूहिक, राष्ट्री और विश्ववादी। यह विश्ववाद उस विश्ववाद से भिन्न है जो अपनी सामाजिक पद्धति को विश्व पर लादना चाहता है। यह सामाजिक सरचना का आधार भी है। अहिसा सामाजिक विकास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। दुनिया मे सामाजिक विकास के दो आधार है–हिसक और अहिसक। दोनो की दो तकनीकी है। दो विज्ञान है। दो यन्त्र, दो उत्पादन साधन और दो राजव्यवस्थाएँ है। हिसक समाज मूलत भोगवादी है। अपने जीने के लिये दूसरो का जीवन नष्ट करता है। रक्षा का अर्थ है। अपनी रक्षा। रक्षा प्रधान भोगवादी जीवन की दृष्टि वैयक्तिक होती है। हम अकेले है। व्यक्ति है। जितना भोग सके हमारा है। भोग के अतिरिक्त ससार मे कुछ नही है। हम ससार मे भोग के लिए आए है। दूसरो को देखना हमारा काम नही है। दूसरे सभी हमारे भोग्य है। इसी बात को कामायनी के मनु कहते है–

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा
जीवन के दोनों कूलो मे
बहे वासना धारा।

हमे अधिक से अधिक शक्ति अर्जित कर अधिक से अधिक भोग प्राप्त करना है। शक्ति का भोग। भोगशक्ति। इसमे कौन रहता है, कौन नष्ट होता है यह नही देखना चाहिए। यह देखनेवाला भोग का सुख नही प्राप्त कर सकता है। असली भोग तो निर्बाधता मे है। इसीलिये प्राय सभी सत्ताएँ निर्बाध होती है।

भोग एक सैनिक अभियान है। इस अभियान के सामने पड़नेवाला कुचल जायगा। सब का परम कर्त्तव्य है कि वह इस अभियान को स्वीकार करे। मदद दे, वरना कुचल जाने के लिये गर्दन झुका दे। सहायक बने। इस अभियान मे शक्तिशाली जीता है। कमजोर मरता है। शक्तिशाली का भोग्य बन जाता है। हिसा असुर भाव है।

इस सिद्धान्त ने दुनिया मे बड़े-बड़े साम्राज्य बनाए। युद्ध किये। गुलामो की फौज तैयार की। भीमाकार मारक हथियार और यन्त्र बनाये। राज्य द्वारा शासन शक्ति का विकास किया। वैयक्तिक और लघु समूहो द्वारा की गई लूटपाट का स्थान राजकी एवं सामूहिक लूटपाट ने ले लिये। शोषण की प्रणाली को राजकी तथा सामाजिक मान्यता मिली। रग भेद, धर्म परिवर्त्तन, छुआछूत, सामतवाद, पूँजीवाद, साम्यवाद, विकसित एव अविकसित समूहो का विकास हुआ। प्रकृति और पर्यावरण का दोहन किया गया। कमजोर और शातिप्रिय जातियो, वर्गो और समूहो को बदूको के द्वारा घेर कर नष्ट कर दिया गया। हिसा दुनिया मे शोषण, दोहन और उत्पीड़न के लिये प्रसिद्ध रही है। इस ससार को सुन्दर और समृद्ध बनाने के नाम पर। इसी ने ससार मे

प्रलय और विस्फोटो का सृजन किया है। यह मनुष्य को बार-बार क्रूरता, जगल और पशुता की ओर ढकेलती है।

हिसा के ठीक विपरीत अहिसा ईश्वर से जुड़ने का साधन है। ससार मे ईश्वर को बुलाने और बसाने का दिव्य पथ है। अहिसा द्वारा मनुष्य ईश्वर तक पहुँचता है। ईश्वर बन जाता है। मनुष्य मे ईश्वर का अवतरण होता है। अवतार हिसा विरोधी है। अहिसा के मदिर मे ही देवता का अवतार होता है। वह मदिर देह हो या गेह। गृहस्थ का हो या सन्यासी का। हिसा का आधार द्वैत है। अहिसा अद्वैत वाली है। भेदभाव हिसा को बढ़ाता है। अभेद अहिसा का साध्य और साधन दोनो है। ईश्वर का अवतार अधर्म, उपद्रव और शोषण के विरुद्ध होता है। अवतार लेकर ईश्वर हिसा तत्त्व का नाश करता है। यही काम भक्त भी करता है। भक्त जगत मे ईश्वर प्रतिनिधि है।

भक्ति जोड़ती है। न केवल जीव बल्कि जड़ से भी। सत् (जड़) चित् (चेतन) एव आनद के सम्मिलित रूप को ही सच्चिदानद कहते है। सच्चिदानद की पूर्णता तो सत् चित् आनद तीनो से होती है। तीनो मे एक कम से सच्चिदानद प्रभु अपूर्ण हो जायगा। शायद अस्तित्वरहित न हो जाय। इसलिये सत को सत् की भी उतनी ही चिता है जितनी चित् और आनद की। घट-घटवासी के साथ ही घट भी महत्त्वपूर्ण है। घट फूटेगा। नष्ट होगा। इसलिये कोई भी इसे न तो फोड़ता है। न नष्ट करता है। बल्कि साधना सिद्धि के लिये इसका सुदर उपयोग करता है। प्रत्येक वैष्णव इन तीनो तत्त्वो का उपासक होता है। सत के हृदय मे कोई निजी दुख नही है। वह परदुख से द्रवित होता है। वैष्णव दृष्टि भोग और योग के बीच वाली है। राम के भरत राज्य को त्यागकर वैराग्य नही।अहिसा का परिचय देते है। यह राज्य उन्हे हिसा से मिला था। अन्याय से मिला था। वे उसके अधिकारी नही थे। अन्याय हिसा है। भरत ने इस हिसाधारित राज्य को छोड़ दिया। प्रायश्चित किया। स्वय कपड़ा बुनते। अपने भी पहनते, दूसरो को भी पहनाते। ग्रामोद्योग, छोटी या आत्मनिर्भर तकनीकी के मूल मे प्रकृति, पदार्थ और पुरुष के शोषण से बचने का सिद्धात है। अहिसक दृष्टि के अभाव मे शोषण समाप्त नही हो सकता। इस बात को वैष्णवो ने अच्छी तरह समझा था। प्रकृति और पदार्थ का शोषण करनेवाला समाज मनुष्य के प्रति सहिष्णु नही हो सकता। इसीलिये देवबलि भले ही समाप्त हो गयी हो किंतु देश-समाज के स्तर पर बलि को निदनी नही माना जाता है। सैकड़ो वर्षो की देवबलि किसी भी एक देश का शोषण के सामने अपनी लघुता मे लज्जित हो जाती है। अहिसा देने की प्रवृत्ति है। हिसा लेने की। इसलिये जिन समाजो ने अहिसा नही अपनायी उनका समाज शोषण पर खड़ा है। समानता की बाते केवल दिखावटी हो गयी। हिसा और समानता का बैर है। समानता मे कैसी हिसा ? हिसा और समानता दोनो साथ नही चल सकते। सभी हथियार भक्षक होते है। रक्षक हथियारो की बात कल्पना मात्र है। रक्षक हथियार तो केवल अहिसा है। हथियार मुक्त अहिसक समाज ही आत्मिक विकास की बाते सोच सकता है। कभी हिसा का जन्म पशु-पक्षियो को मारकर उदर भरण के लिये हुआ था। आगे यही हिसा देशो और समाजो को मारकर घर भरने का साधन बन गयी। वर्ग, वर्ण, छुआछूत, रग-भेद वलात् धर्म परिवर्त्तन आदि का समाज विकसित हुआ। दूसरो के श्रम पर जीने की हिसा।

राम का महान् त्याग और कृष्ण का स्त्री-पुरुष प्रेम अहिसा के महान् प्रयोग है। सीता त्याग के समय राम अहिसा को चरम पर ले जाते है। मेरा या हमारा का त्याग अहिसा है। सीता राम की थी। धोबी दूर का था। धोबी की उपेक्षा हिसा होती। सीता त्याग से ही इस हिसा का निवारण हो सकता था। धोबी का कथन समाज मे उपस्थित हिसा की सूचना मात्र है। रावण की बदिनी सीता को गले लगाकर राम ने अहिसा का परिचय दिया था। धोबी ने सीता

की निदाकर हिसा व्यक्त की। राम ने प्रिय पत्नी को निष्कासित कर पुन अहिसा की स्थापना की। अहिसक का धैर्य महान् होता है। हिसा मे अधैर्य होता है। धोवी ने इसी अधैर्य का परिचय दिया था।

अस्तेय, अस्वाद, अपरिग्रह, आर्जव, मुदिता और मैत्री अहिसा के आधार है। दभ, द्वेष, निर्वाध भोग, लोभ, मोह, क्रोध, इद्रिय लोलुपता आदि हिसा के साथी है। हिसक सब कुछ अपने लिये करता है। अहिसक का कर्म भगवान् के लिये होता है। सम्पूर्ण मानव जाति के लिए होता है। चराचर सृष्टि के लिए होता है। अहिसा एक श्रेष्ठ मानवी गुण है। यह मनुष्य को पशु से ऊपर उठाती है।

हिसा मे लिप्त राजा की प्रजा दरिद्र और दुखी होती है। श्रीमद्भागवत् मे ठीक कहा है– जो राजा हिसापरायण, दु शील और अजितेंद्रिय होता है, उसे राजा मानकर सेवा करनेवाली प्रजा दरिद्र होकर दुख पर दुख भोगती है और उसके सामने सकट पर सकट आते रहते है।[1] पश्चिमी सभ्यता अपनी हिसा वृत्ति से आज संकट मे फँस गयी है। उसके राज्यो मे रक्षा के नाम पर बड़े-बड़े हथियार बनाए है। स्वनिर्मित हथियार अपने लिये ही भयावह हो गए है। भोग का रथ रुक गया है। एक का भोग दूसरे के भोग से टकरा रहा है। इस टकराहट से ऐसी आग पैदा हो रही है जिसमे सब कुछ नष्ट होने को है। असीमित भोग, शोषण, दोहन के दरवाजे पर अनन्त प्रलय का दस्तक है। अहिसक चित्तवृत्तियो के अभाव मे शस्त्र व्यापार नही रुक सकते। हिसा भावित चित्त का चितन उलटा है। हिसा को समाप्त करने के लिये मन मदिर मे धर्म स्थापना न कर धर्म निरपेक्ष बन रहा है। धर्मनिरपेक्ष समाज से अहिसा की स्थापना नही हो सकती। आज की हिसा का बड़ा कारण धर्मनिरपेक्षता के मूल्य है। जब पशु एव मानव का दैदिक धर्म ही निरपेक्ष हो गया तो मानव का पशु बन जाना स्वाभाविक है।

सतो की अहिसा का आधार योग मार्ग भी है। यम योग का प्रथम आधार है। इस यम मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह महत्त्वपूर्ण है। सत इन पॉचो पर विशेष बल देते है। भक्ति चाहे किसी की कीजिए उसमे समर्पण महत्त्वपूर्ण है। दास एव सेव्य सेवक भाव। ऐसे में हिसा के लिये कोई स्थान नही है।

हिसा विहार नृपति दु शीलमजितेन्द्रियम्।
प्रजाभजन्त्य सीदन्ति दरिद्रा नित्य दुखिता।-भागवत १०।८९।२५।

जाति व्यवस्था और भक्ति

भक्ति का निर्गुन-निराकार मार्ग जाति-पाँति मे विश्वास नही करता। यह सर्वमान्य है। दिक्कत सगुन मार्ग के लिये है। सगुन और निर्गुन मार्ग के स्रोत प्राय एक है। प्रभाव और झुकाव का भेद हो सकता है। नारद भक्ति सूत्र, शाडिल्य भक्ति सूत्र आदि भक्ति के मूल ग्रंथ है। महाभारत के नारायणी उपाख्यान मे भक्ति है। वेदान्त दर्शनो के द्वारा भक्ति के रूप की स्थापना हुई। गीता और भागवत की स्थापना भी भक्तिवाली है। भागवत का घोषित मत है भक्ति की स्थापना। क्योकि इस समय भक्ति का हाल बहुत बुरा था। अन्य पुराणो मे भी भक्ति स्थापित है। परम्परा की दृष्टि से भी भक्ति अनादि और अनन्त है। भक्ति धारा मे पुस्तकी ज्ञान गौण है। प्राय. हानिकर। यहाँ पुस्तक, तीर्थ, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, कष्ट साधना आदि सबका निषेध है। अभिमान छोड़कर, सभी धर्मो को त्यागकर भगवान् की शरण मे जाओ। अपने को अकर्ता और निमित्त मात्र समझो। जो कुछ करो ईश्वर को समर्पित करके करो। खाना पीना, उठना-बैठना, सोना जागना, चलना फिरना सब ईश्वर के लिये करो। ससार मे रहो, किन्तु ससार से जुड़ो मत। जुड़ो ईश्वर से। ससार के और सभी धर्मो (कर्त्तव्यो) की आसक्ति छोड़ दो। आसक्ति बुरी है। सभी धर्मो को ईश्वर को समर्पित कर दो। ईश्वर ही तुम्हारे भोजन पानी (योगक्षेम) की व्यवस्था करेगा। साहब है न। सेवक रखेगा तो उसके भोजनादि की व्यवस्था तो करेगा ही। हाँ वहाँ मजदूरी बढ़ाने के लिये सगठन नही बन सकता। हड़ताल नही हो सकती। माँगो की सूची नही दी जा सकती। उलटे माँगो को कम से कम करना पड़ता है। अपने को पूर्णत उसकी इच्छा पर छोड़ना होता है। जो दे दे उसी पर सतुष्ट रहना है। न दे शिकायत नही। यह उसकी इच्छा है किसे दे, कितना दे, कब दे।

जाति, कुल, गोत्र, वर्ग, रग आदि के अहकार है। इनकी सीमाओ मे बन्द व्यक्ति ईश्वर को नही पा सकता। क्योकि भगवान् की शर्त है सब कुछ छोड़कर आओ। उसने गोपियो को घर से निकाल लिया। उनका सब कुछ छूट गया। पति, पुत्र, माता-पिता, धन-दौलत, वंश, गोत्र, जाति आदि। वे भगवान् कृष्ण के पास चली आयी। भगवान् को फिर भी सतोष न हुआ। उन्होने उनके शरीर के वस्त्र भी उतरवा लिये। वे बिलकुल प्राकृत रूप मे आ गई। सर्वहारा बन गई। यह प्राकृत रूप, सर्वहारा रूप कृष्ण को प्रिय हुआ। जाति प्राकृत नही, कृत्रिम और मानवी है। यही कारण है भक्ति मे सर्वत्र और समान रूप से जाति का विरोध है। तोडरडिपोडी आलवार कहते है–'प्रभु के साम्राज्य मे पद प्राप्त करने की कामना करनेवाले तुम अपनी जाति के गर्व को त्याग दो। अपने ज्ञान की शेखी बघारना बन्द कर दो। खडनी जाति गर्व के कारण तुम क्यो उस जनसमूह से दूर जा बैठे हो ? अगर वे अपने करो पर पड़ी मनुष्य निर्मित जाति की शृखलाओ को तोड़कर आये तो तुम्हे क्या आपत्ति है ? क्या इतना पर्याप्त नही है कि वे भगवान के सेवक है ? उनकी पूजा करो, उनकी सेवा करो। क्योकि किसको पता है कि उसके मध्य भगवानवास नही करते हो ?'[१] स्पष्ट है कि जाति गर्व के कारण प्रभु के साम्राज्य मे स्थान नही मिलता। कोई भी राजा अहकारी को पसन्द नही करता। गर्व के कारण सेवा नही हो सकती। अहकारी का मन सदा अपने मे लगा रहता है। वह भगवत् उन्मुख नही होगा।

---

१ आलवार भक्तो का तमिल प्रबन्धम्, पृ० ५००।

जाति भाव के कारण मनुष्य व्यापक समाज से नही जुड़ पाता। भक्ति का लक्ष्य व्यापक समाज से जुड़ना है। व्यापक समाज ही उसका ईश्वर है। उसका प्रभु सबमे है। सर्वत्र है। विश्वरूप है। भक्त कहते है ईश्वर हममे, तुममे ही नही, खड्ग खम्भ मे भी है। अर्जुन परिवार मोह के कारण विराट् रूप को नही देख रहा था। कोई भी व्यक्ति जाति मोह मे विराट् को नहीं देख पाता। अर्जुन में परिवार मोह होते ही जाति मोह हो गया। कुल, परिवार, जाति आदि की प्रतिष्ठा साथ-साथ जुड़ी है। स्त्री की सामाजिक स्थिति भी इसी से जुड़ी है। महाभारत युद्ध मे अर्जुन को वर्णसकरता का भय सता रहा है–

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकर कारकैः।

उत्साद्यन्ते जाति धर्माः कुल धर्माश्च शाश्वताः। –गीता १/४३

(कुल घातको के इन वर्णसंकर कारक दोषो से पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म उनसन्न होते है।)

कृष्ण ने अर्जुन को जातिधर्म, कुलधर्म, परिवारधर्म सबको छोड़कर भक्तिधर्म मे आने को कहा है। भक्ति द्वारा मनुष्य जाति दोष से मुक्त हो जाता है।[1] मनुष्य का उद्देश्य भक्ति है, न कि जाति। भक्ति व्यापक समाज का हित है। विश्व मानवता का हित है। अर्जुन मोह एक परिवार के लिये है। अगर महाभारत युद्ध मे मामा, साला सम्बन्धी न होते तो अर्जुन की दृष्टि मे वह युद्ध ठीक होता। भक्ति इस स्वार्थ दृष्टि का निषेध करती है। क्योकि भक्ति स्वार्थ नही, परमार्थ है। इसलिये जाति नही, भक्ति चाहिये। सेवको की एक जाति है। जो स्वय दास है उनमे कैसा भेदभाव ? फिर भगवान् की सेवा तो एक उपलब्धि है। भगवान तो अपने सेवक मे वास करता है। भगवान सेवक है। सेवक भगवान है। सेवक से भेद भगवान से भेद है। भक्त अपने को अनागारिक समझता है। तोडरडिपोडी आलवार कहते हैं–मेरा अपना कोई घर नही। अपनी कोई जमीन नही ।[2] भला ऐसा अनागारिक जाति मे क्यो विश्वास करेगा ? इस अनागरिक सर्वहारा को जाति क्या देगी? इस सर्वहारा का अपना कुछ न होकर भी सब कुछ उसका है। क्योंकि वह विराट् से जुड़ा है। भगवान का सब कुछ उसका है। वह भगवत् सम्पत्ति का अमानतदार है।

भक्ति मे जाति की अस्वीकृति का कारण कुछ लोगो की दृष्टि मे बौद्ध जैन प्रभाव है। यह आशिक सत्य हो सकता है। किन्तु कोई पूछे बुद्ध या महावीर हरिजन तो थे नही। उन्होंने जाति व्यवस्था का क्यो विरोध किया ? उन्हे तो शाक्य सिंह एव ज्ञातृक का गर्व भी था। बौद्ध धर्म मे वर्ण व्यवस्था को स्वीकृति नही है। किन्तु जाति का गर्व बार-बार आया है। बुद्ध का जन्म चाडाल कुल मे न हुआ, न होता है, न होगा। वेद मे भी जाति व्यवस्था पूरी नही हुई थी। बाद मे उसे कसने का प्रयत्न हुआ। बुद्ध ने अपना दल बढ़ाने के लिये इसमे ढील दी। मानवतावादी पक्ष भी था। आध्यात्मिक चेतना भी थी। भक्ति उसी वैदिकधारा से जुड़ी है जिसमे जाति मजबूत नही हुई थी। यह इसका ऐतिहासिक कारण है। किन्तु जाति की अस्वीकृति का असल कारण, आध्यात्मिक और मानवतावादी है। जो बात बौद्ध और जैन के साथ थी वही भक्ति मे भी थी। महाभारत मे भक्त व्याध ने ब्राह्मण को उपदेश दिया। यह प्रत्यक्ष धर्म का उपदेश था। क्योंकि भक्ति प्रत्यक्ष धर्म है। महाभारत का यह प्रसग भक्ति मे जाति के अमहत्त्व का प्राचीन उल्लेख है। नारद भक्ति सूत्र भक्ति का प्रसिद्ध ग्रथ है। भक्ति के क्षेत्र मे नारद का महत्त्व सर्वोपरि है। नारद ही भक्ति-क्षेत्र श्वेत द्वीप का वर्णन करते है। कबीर भी नारदी भक्ति मे मग्न हैं।

---

१ भागवत ११।१४।२१।
२ आलवार भक्तो का तमिल प्रबन्धम्, पृ० २४५।

(भगति नारदी मगन कबीरा)। नारद भक्ति सूत्र मे जाति ही नही विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद भी निषिद्ध है। भक्ति मे हर प्रकार का भेदभाव वर्जित है। नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादिभेद ७२। गोस्वामी तुलसीदास इसी से मिलती बाते कहते है–

'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।
भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।' –मानस

वैष्णव शास्त्रो मे ६४ अपराध माने गये है। उनमे भक्तो मे जाति भेद रखना भी एक अपराध है।

रामचरित मानस मे तुलसीदास अजीब सकट मे फॅस गए। भक्ति के क्षेत्र मे जाति व्यवस्था नही मानते। किन्तु समाज तो जाति मानता है। वहाँ ऊँच-नीच का भेद बना है। भक्तो मे ऊँच-नीच का भेद करना अपराध है। इसी मनस्थिति मे भरत और निषाद् राज की भेट होती है। निषादराज सावधान है। उसने भरत को पहले अपनी जाति बतायी। नाम बताया। अन्त मे धरती पर माथा टेककर प्रणाम किया। भरत राजा थे। जाति से बड़े थे। किन्तु भरत को वशिष्ठ ने पहले से समझा दिया–'भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा।' समझाने का कारण भी सपष्ट है। वशिष्ठ ने स्वय गुह को आशीर्वाद दिया था। फल यह हुआ कि भरत रथ से उतर गए। भक्ति क्षेत्र मे कौन बड़ा होता है ? इतना ही नही। प्रेम से उमगते हुए गुह की ओर चले–

राम सखा सुनिस्यन्दन त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा।

इस गुह ने उक्त प्रक्रिया की। जाति बतायी। नाम बताया। भूमि पर झुककर प्रणाम किया। किन्तु भक्त तो जाति से ऊपर होता है। भरत ने गुह को लक्ष्मण ही समझा। अपना भाई। राम सेवक। राम सेवक चाहे जिस कुल-गोत्र का हो। किसी भी सामाजिक स्थिति का हो। भाई है। यह अन्तरजाती और अन्तर्राष्ट्री भाईचारे का धर्म है। भरत गुह से लिपट गए। गुह को हृदय से लगा लिया। वहाँ उपस्थित लोग सराहना करने लगे। देवता फूल बरसाने लगे। क्यो सराहना होने लगी ? क्यो फूल बरसने लगे ? भरत ने नया काम किया था। अति उदार और मानववादी कार्य किया था। किन्तु तुलसीदास जानते है- भक्ति के इस आदर्श को अभी सामाजिक मान्यता नही मिली है। लोग इसके लिये तैयार नही है। ऐसा होता तो गुह को उक्त प्रक्रिया अपनाने की जरूरत नही पड़ती। तुलसीदास भरत-गुह मिलन के सैद्धातिक पक्ष पर प्रकाश डालते है। भक्ति मे जाति-पॉति नही है। ऊँच-नीच का भेद नही है। छुआछूत नही है। राम भक्ति से कथित नीच जातियाँ भुवन विख्यात हो जाती है–

स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात।

भरत के इस व्यवहार से गुह अत्यन्त प्रभावित हुआ। तुलसीदास गुह को विदेह कहते है। विदेह जनक है–'भा निषाद तेहि समय बिदेहू।' तुलसीदास ने लम्बी भूमिका बॉधी। इसलिये कि भक्ति की इस मान्यता पर वर्णव्यवस्थावादी समाज ऊँगली न उठाए। मान्य करे। यह मान्यता सर्वजन स्वीकृत हो। किन्तु समाज कब मानता है ? उसकी तो अपनी टेक होती है। विनय पत्रिका की टीका मे लाला भगवानदीन ठीक ही लिखते है–'वैष्णव धर्म मे सम्मिलित हो जाने पर अधिकाश लोग तुलसीदास जी पर आक्षेप करने लगे विशेषत उनके जातिपॉति के बंधन तोड़ने पर।' विनय० पृ०७७। इसीलिये तुलसीदास को लिखना पड़ा–'मेरे व्याह न बरेखी जाति-पॉति न चहत हौ।' या 'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।' ये पक्तियॉ प्रमाण है कि जीवदया, सर्वभूतहित, विश्व विग्रह ईश्वर को माननेवाले वैष्णव किस

सकट मे थे। यह हाल तुलसीदास का है जो जगह-जगह वर्णव्यवस्था को स्वीकार कर चलते है। क्योकि वर्ण व्यवस्था यथार्थ है। वर्णो की समानता आदर्श है।

मध्ययुगीन भारत मे भक्ति आन्दोलन ने जो निम्न जातियो और गरीबो को समेटने वाला अखिल भारती आन्दोलन था, इस बात पर जोर देकर कि धर्म मे कर्मकाड या जाति की बजाय ईश्वर-भक्ति ही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, पूर्ववर्ती शुद्धतावाद को अधिक गहरा और व्यापक बना दिया। भक्त सन्तो ने सभी धर्मों की मूलभूत समानता और ईश्वर की एकता का उपदेश दिया और यह माना कि मनुष्य का गौरव उसके जन्म पर नही, कर्म पर निर्भर होता है। उन्होने धर्म मे अधिक कर्मकाड और औपचारिकता और पुरोहितो की प्रधानता के विरुद्ध आवाज उठाई, और हर व्यक्ति की मुक्ति के उपाय के रूप मे सहज भक्ति और आस्था पर जोर दिया। भक्ति आन्दोलन के प्रसाद से कथित नीच जातियो के कुछ व्यक्ति भी, जिनमे हरिजन भी हैं, धार्मिक नेता बन सके। भक्ति आन्दोलन ने स्त्री-पुरुष के भेद को भी अस्वीकार किया और आन्दाल, अक्कमहादेवी और मीरा जैसी भक्त महिलाएँ सन्तो की कोटि मे गिनी जाने लगी। निर्विवाद रूप से भक्ति आन्दोलन का वास्तविक प्रभाव यह है कि उसने समानता प्राप्ति के लिये एक प्रहार किया और उच्च जातियो को उस व्यापक आक्रमण के लिये तैयार कर दिया जो बाद मे अग्रेजी राज मे हुआ।

भक्ति के विभिन्न पथ एक और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उन्होने सस्कृत हिन्दू धर्म का सार विशाल और अपढ़ जनता तक पहुँचाने के लिये सस्कृत के बजाय प्रादेशिक भाषाओ का उपयोग किया। अन्तत' प्रादेशिक भाषाओ के साहित्य से महान् परम्परा की परिपुष्टि हुई। जहाँ भी स्थानी धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ तो सस्कृत की प्रेरणा से हुआ पर उनके सुदृढ होने का भाषागत वाहन प्रादेशिक भाषाएँ थी, वही सस्कृतीकरण का दूसरा प्रयास हुआ जिसने सस्कृत मे फिर से रचनाएँ उत्पन्न की प्रारम्भ में जनता को उसकी अपनी भाषाओ मे दी गई सामग्री को सस्कृत मे आत्मसात करने से सस्कृत के भक्ति साहित्य मे भी वृद्धि हुई। उदाहरण के लिये तमिल शैवमत मे मदुरै हालास्य महात्म्य की कथा और तिरसठ शैव सन्तो के चरित सस्कृत मे लिखे गए और तमिल वैष्णव मत मे वेदान्तदेशिक ने वैष्णव आलवारो के तमिल भजनो के साराश सस्कृत मे रचे।' ५३ (वी० राघवन 'विश्व परिवार का सवप्न भारत सन्त गायको का सदेश' भारतीय तथा विदेशी समीक्षा पत्रिका मे जनवरी, १,१९६५ मे दिया गया भाषण)।

भक्ति के विकास की दृष्टि से द्रविड़ देश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्रविड़ देश मे नायनमार और आलवार दो प्रकार के भक्त हो गये हैं। नायनमार शैव थे। आलवार वैष्णव। इन भक्तो मे बहुत से भक्त शूद्र, हरिजन थे। प्रसिद्ध भक्तिन आडाल स्त्री थी। प्रो० एम० एन० श्रीनिवास का कहना है--'रामानुज ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की और वह जैनियो, शैवो तथा नीची जाति के लोगो मे अनेक को अपने पक्ष मे करने मे सफल हुए। ब्राह्मण बासव द्वारा स्थापित लिगायत सम्प्रदाय कन्नड़ तथा तेलगू भाषी प्रदेशो में फैला। इसने हिन्दुओ विशेषकर अब्राह्मणो को केवल शिव की ही पूजा करने मे दीक्षित किया।

--आधुनिक भारत मे जातिवाद पृ० १६६

उत्तर मे नाम-गोत्र-कुलहीन कबीर शायद शूद्र या जुलाहा थे। रैदास चमार। रहीम, रसखान मुसलमान। तुलसा, पार्वती, रजो, मीरा आदि स्त्री। विष्णुदास छीपी। सूत्तार कारीगर। नरहरदास गोडिया, भाव जी पटेल, कृष्णदास शूद्र थे। कन्नड़ भक्त कनकदास अत्यज थे। मुनिवाहन (योगेवाह) तिरुप्पन, नम्मालवार, बल्लुवार आदि भक्त भी हरिजन थे। तुकाराम शूद्र। अलखनामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक लाल चमार थे। नानक अपने को हिन्दू मुसलमान और योगी

सबसे अलग मानते है। अनुभव मडप मे बेडर दासिमय्या शिकारी, माचय्या धोबी के अतिरिक्त टोकरी बुननेवाले, नाई, केवट, ढोलिया, चुगी उगाहनेवाले, किसान, डोम, चाडाल, तेली, दर्जी आदि थे। दक्षिण के शूद्र भक्तों की रचनाओ का आदर वेद के समान होता है। उत्तर के कबीर ने निर्गुन आत्मशाति और आत्ममुक्ति के लिये गाए जाते है। शूद्र भक्तो के बारे में जो कहानियाँ प्रचलित है उनसे समाज मे उनके स्थान का पता लगता है। रामायण के वनेचर हनुमान पूज्य हो गए। राम ने भीलनी के जूठे बैर खाए। अवधूत वेश मे घूमनेवाले भक्त विदुर दासीपुत्र और शूद्र थे। नारद भी पूर्व जन्म के दासी पुत्र थे। 'दक्षिण के प्रसिद्ध भक्त तिरुमलिसई कुम्भकोणम् नगर मे स्थित विष्णु मदिर मे दर्शनार्थ गये थे। वहाँ कुछ ब्राह्मण वेदपाठ कर रहे थे। तिरुमलिसई को देखकर उन्हे नीच जातिवाला वेद वाक्य के श्रवण का अनधिकारी समझकर ब्राहाणो ने वेदपाठ बन्द कर दिया। तिरुमलिसई उनके अभिप्राय को समझकर वहाँ से उठकर अन्यत्र चले गये। जब ब्राह्मणो ने पुन वेदपाठ करना चाहा, तब किसी को भी याद नही आया कि उन्होने कहाँ वेद पाठ बन्द किया था।[1] तिरुमलिसई ने उन्हें वेद का वह वाक्य बताया जहाँ से उन्हे आरम्भ करना था। एक दूसरा प्रसंग यो है—'श्री रगनाथ के मदिर का लोक सारग नामक एक ब्राह्मण पुजारी अपने साथियो के साथ श्री रगनाथ की मूर्ति के अभिषेक के लिये घड़े मे कावेरी का जल लेकर जा रहा था। कावेरी तट के मदिर की ओर आते समय उन लोगो ने देखा कि तिरुप्पाण आलवार मार्ग के समीप भगवद् भजन मे तल्लीन होकर वीणा बजाते हुये तन्मयावस्था मे बैठे है। यह सोचकर कि तिरुप्पाण निम्न जाति का है और इसीलिये अपवित्र है, उन लोगो ने तिरुप्पाण को मार्ग से हट जाने के लिये कहा। चूँकि आलवार भगवद् भजन मे समाधिस्थ थे, इसलिये वे उन लोगो की आवाज न सुन सके।·· लोक सारग को जब क्रोध आया और अहङ्कारवश उसने एक पत्थर आलवार पर फेक दिया रंगनाथ ने स्वप्न मे प्रगट होकर आदेश दिया। तुम्हारे फेके हुए पत्थर से मेरे सिर पर चोट लगी है। ·· तिरुप्पाण मेरे श्रेष्ठ भक्त, मित्र और दास है। अतः तुम अपने प्रायश्चित के रूप मे उन्हे अपने कन्धो पर बिठाकर लाओ और मेरे सम्मुख उपस्थित करो।' दूसरे दिन लोक सारंग ने आलवार से क्षमा माँगी और उन्हें अपने कन्धो पर बिठाया[2]। ये जनश्रुतियाँ समाज मे पिछड़ी जाति के भक्तो के महत्त्व पर प्रकाश डालती हैऔर बताती हैं कि भक्ति के क्षेत्र मे जाति व्यवस्था और छुआछूत को स्थान नही है।

भक्ति के विकास मे सबसे अधिक महत्त्व आभीरो का है। कृष्ण को बार-बार अहीर कहा गया है। वृन्दावन के कृष्ण ही भक्ति के उपास्य है। वृन्दावन के कृष्ण आभीर कुल के है। आभीर शूद्र थे। आभीरो का दर्जा समाज मे ऊँचा न था। स्वय गोपियाँ भी आभीरो पर व्यग्य करती है। कृष्ण भक्ति का अर्थ है पशु चरानेवाले की भक्ति। राम राज्य से निर्वासित हैं। पत्नी छीन ली गई है। वनवासी के बीच वनवासी से रहते है। भक्ति में नगर और राजधानियो का जीवन नही है। गाँव का मुक्त वातावरण और सादगी है। शिव भक्तों ने तो स्पष्ट ही शिव के औघड़ या बौड़म रूप की भक्ति की। जहाँ कुछ तरतीब नहीं है। सब बेढंगा। शिव के गण सामान्य कोटि के अपूर्ण जीव हैं। प्राय त्रुटिपूर्ण। जंगली। शवर उनके सहयोगी हैं। शबर से शाबर मंत्र निकला। शाबर मंत्र शिव को खुश करने का अच्छा साधन है। शिव के वेश से अलौकिकता निकाल दी जाय तो शिव बिलकुल अर्धसभ्य हो जायँ। शिव प्राय. असुरो के देवता है।

---

१. वैष्णव भक्ति आन्दोलन, पृ० ११८-१९।
२. वही, पृ० १३९, १४०।

कवीर हिन्दू मुसलमान दोनो धर्म की त्रुटियॉं वताते है। इसीलिये कि उनकी जाति वदल गई है। भक्त की अपनी जाति है। स्वराजी कार्यकर्ता अपना गॉव कॉंग्रेस, पिता गॉंधी और जाति भारती बताता था। यह भक्ति पद्धति है। देश भक्ति ने भी इसी पद्धति को स्वीकार किया। आखिर देश भक्ति भी तो भक्ति ही है। हरिराम व्यास ने अपनी जाति को अनन्य रसिक कहा है। राधा कुलदेवी है। बरसाना घर। व्रज के लोग पक्ति मे वैठनेवाले सम्वन्धी, विरादरी। गोपाल गोत्र है—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुल देवी राधा, बरसानो खेरी व्रजवासिन सों पॉंति।
गोत गोपाल जनेऊ माला, सिखा, सिखंडि परिमंदिर माल।

अपनी जाति न बताने का कारण भक्ति के क्षेत्र मे समता का भाव है। भक्त समाज का ऐसा प्राणी है जो प्रभु कृपा के लिये समाज की सभी मर्यादाये अस्वीकार करता है। वह प्रभु प्रेम के वन्धन को छोड़कर किसी वन्धन मे नही वॅंधना चाहता। उसकी दृष्टि सार्वजनीन और सार्वभौमिक है। अचित्य, अजन्मा, विराट् से सम्वन्ध के कारण उसके घर के घेरे टूट गये हैं। इसीलिये वह कहता है—

नहि हिदू नहि तुरक हम नहिं जैनी अंगरेज।
सुमन सॅंवारत रहत नित कुंज बिहारी सेज॥

—भगवत रसिक। व्रज माधुरी सार।

भगवत रसिक अजात है। क्योकि जाति जाति करने से सव कुछ चला जाता है—

जात जात मे जात सब सबही जाति कुजाति।
रसिक अनन्य अजात को कहो कौन सी जाति॥

—व्रजमाधुरी सार।

भक्त की जाति भगवान की जाति है। जो भगवान की जाति का है उसे अव किसी जाति मे जाने की जरूरत नही। केवल जाति जाति चिल्लाने वाले तो कुजाति हैं। कुजाति भ्रष्टाचार है। सूरदास ने स्पष्ट कहा है—

जाति पाति कोउ पूछत नाही श्रीपति के दरबार।

रामभक्तवत्सल है। उनके यहॉं न जाति है, न धनी गरीव का भेद—

राम भक्त वत्सल निज बानो,
जाति गोत कुल नाम गनत नहि रंक होय के रानो।

वे पूछते है—'ब्रह्मादिशिव की क्या जाति थी ? मै अज्ञानी हूँ बताइये। जहॉं जाति की महत्ता है वहॉं प्रभु नही है—

ब्रह्मादिक शिव कौन जाति प्रभु हो अजान नहि जाने।
महता जहॉं तहॉं प्रभु नाहीं, सो द्वैता क्यो मानो॥

राम कथा के प्रथम गायक वाल्मीकि व्याध थे। इन्हे श्वपच भी कहा जाता है। तुलसीदास ने भक्ति के द्वारा सामाजिक जीवन मे पिछड़ो की प्रगति और उच्च स्थान की पवित्रता की ओर सकेत करते हुए कहा है—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पॉंवर कोल किरात।
रामु कहत पावन परम होत भुवन विख्यात।

—मानस २। १९४

भक्ति द्वारा सामाजिक उन्नति की इस स्थिति को देखकर तुलसी दास ने कहा—**'मेरी जाति पाँति, न चहो काहू की जाति पाँति।** क्योकि तुलसी की जाति पॉति तो भगवान की जाति पॉति है–**'जाति पाँति सब भाँति लागि, रामहि हमारि पति'।** राष्ट्री आन्दोलन, बालिक मताधिकार ने पिछड़ो की उन्नति का दरवाजा खोल दिया। कितने ही पिछड़े ऊँचे पदो पर चले गये। भक्ति भी यही करती है। गीता मे कहा है—हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप योनिवाले जो कोई भी हो, मेरी शरण मे आकर परम गति को प्राप्त होते है।'-गी० ९।३२।

श्रीमद्‌भागवत २,४, १८ मे इसी भाव का प्रतिपादन है

किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा, आभीर कंका यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवेनमः ॥

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कक, यवन, खस आदि जिस भगवान् विष्णु का आश्रय पाकर शुद्ध हो जाते है, उसे प्रणाम है। 'कूर्म पुराण अध्याय १४ के श्लोक सिद्ध करते है कि वेद बाह्य समझे जानेवाले व्यक्तियो की रक्षा के लिये केशव ने शिव से प्रेरित होकर पचरात्रादि तत्रो का निर्माण किया था।

भक्तो ने अपना उपास्य इद्र नही उपेद्र को बनाया। इद्र के छोटे भाई को। विष्णु उपेद्र है। इन्द्र से छोटे। वरुण से छोटे। इद्र देवो के राजा है। विष्णु गायो और गोपो के। गोविद कृष्ण को अपनी स्थापना के लिये इद्र से लड़ना पड़ा। इद्र को परास्त कर विष्णु पूजित हुए। तभी से भक्ति की दुनिया मे राजेन्द्र नही गाय चरानेवाले गोविन्द का महत्त्व बढ़ा।

भक्ति और जाति विरोध का यह सम्बन्ध टिकाऊ न हो सका। कारण है–सामाजिक व्यवस्था और जाति व्यवस्था का धार्मिक रूप। हमारा आज का राष्ट्री आन्दोलन नये सामाजिक सगठन के अभाव मे जाति तोड़ने मे विफल रहा। लोभ, चुनाव और अरक्षा के भाव ने जाति को नये रूप मे मजबूत किया है। शायद यही हाल भक्ति आन्दोलन का रहा। भक्तो ने जाति छोड़ दी। किन्तु समाज ने जाति बनाए रखी। भक्ति के साथ ही सामाजिक सगठन का कार्य न हो सका। भाव, विचार और साधन पद्धति है। यह आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है। भौतिक जीवन को पवित्र और आनदित करने का साधन है। जाति व्यवस्था का गठन बड़े से बड़े झोको को झेलकर रह जाता है। भक्ति ने उसे धक्का दिया। किन्तु वह उसके सम्पूर्ण बदलाव को मूर्त न कर सकी। राष्ट्री आन्दोलन ने भी शायद यही किया। तुलसी, कबीर, नानक, गाधी लोहिया सब राम भक्त थे। सब जाति को व्यर्थ समझते थे। किन्तु यह टूट न सकी।

पुस्तकी ज्ञान का विरोध

जो लोग ज्ञान का मात्र पुस्तकी आधार मानते है उन्हे कबीर के पुस्तक विरोध से बड़ी परेशानी होती है। ऐसे लोग झट से कह देते है कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे। क्योंकि उन्होंने मसि कागद छुआ ही नहीं था। और भला जो कलम कागज नहीं छूएगा वह पडित कैसे होगा? इसे उलटकर भी पूछा जा सकता है कि क्या सभी मसि कागज छूनेवाले पडित होते हैं? उत्तर स्पष्ट वे बेहिचक है, नही। किंतु यहाँ तो बात इतनी ही है कि क्या बिना मसि कागज छुए कोई पडित हो सकता है? उत्तर है, हाँ। विद्वान् होने के लिये दोनो की जरूरत नहीं है। जब कागज नही था तब भी तो विद्वान होते थे। लोग ताड़, भोजपत्रो या चमड़े पर लिखते थे, किंतु इनकी मात्रा अत्यल्प थी। अधिकतर लोग श्रुति का भरोसा करते थे। सुनने का, संगति का, आचरण का अभ्यास करते थे। लेखन कला भी तो बाद की। इसलिये एक ऐसा भी युग रहा होगा जब कुछ भी लिखना असभव रहा होगा। फिर भी लोग विद्वान् होते थे। आज भी ऐसे व्यक्ति मिल जाते है जो गूँगे अत. बहरे भी और अधे हैं। किंतु वे विद्वान् हैं। हेलन केलर का नाम प्रसिद्ध है। उनके लिये लिखने-पढ़ने के अलग साधन बने। निश्चय ही ये साधन इतने नही रहे होगे जितने से एक आदमी विद्वान् बन सके। क्योंकि आधुनिक विद्वतता हजारो किताबो, पत्र-पत्रिकाओ और सगोष्ठियो आदि पर आधारित है। अब तो विद्या पर यत्रों का भी अधिकार हो गया है। किताबे एक हद तक बेकार हो गयी हैं। रेडियो, टी वी की शिक्षा बिल्कुल ही मौखिक है। बहुत-सी विद्या टेप मे बद रहती है। समय पर निकाली जाती है।

कबीर कभी नही कहते कि वे पढ़े लिखे नहीं थे। उनका कहना था—

मसि कागद छूओ नहीं कलम गही नहिं हाथ।
चारो जुग को महातमा कबीर मुखहिं जनाई बात॥

इसका तो इतना ही मतलब है कि कबीर के वचन लिखित नही मौखिक हैं। यही बात सूरसागर के बारे मे भी है। सूरदास ने शायद ही लिखा-पढ़ा हो। क्योंकि सभवत· वे जन्माध थे। अनेक जन्माध उच्चकोटि के कवि-दार्शनिक और सगीतज्ञ आदि हो गये हैं।

किंतु कबीर तो लगता है सपूर्ण विद्या के विरोधी हैं—**'विद्या न पढउँ बाद नहिं जानूं।'** विद्या का अर्थ है माया। माया मे रमा व्यक्ति ही विद्या पढ़ता है। माया के दो भेदो मे एक विद्या माया भी है। फिर सत विद्या क्यो पढ़ने लगे। इस सदर्भ मे स्वय कबीर ने पौराणिक भक्त प्रह्लाद की चर्चा की है। शाला मे प्रह्लाद ने कहा—मैं केवल राम नाम पढ़ूँगा। मुझे और कुछ नहीं पढ़ना है। गुरु जी आप मुझे आलजाल क्यों पढ़ाते हैं? मेरी पटिया पर केवल श्री गोपाल लिख दीजिए।[1] इसलिये कि राम नाम के अतिरिक्त सारी विद्या व्यर्थ है। पडित और काजी के पढ़ते जाने कितने दिन बीत गए। किंतु कुछ नही हुआ। होता भी कैसे? तोता के रटने मे उसे ज्ञान नही होता। इसीलिये कबीर कहते हैं—पुस्तक छोड़ो। पोथी पढ़-पढ़कर लोग मर गये। कोई

---

1 नहीं छाड़उँ रे बाबा रांम नाम,
मोहि अउर पढन सौं नहीं काम।
मोकउँ कहा पढावसि आलजाल,

पडित नही हुआ। पडित होने के लिये एक अक्षर का ज्ञान काफी। राम मे दो अक्षर है। इनमे केवल 'र' के ज्ञान से भी काम चल सकता है।

शकराचार्य ने बहुत लिखा। किंतु आधा श्लोक ही महत्त्वपूर्ण है— ब्रह्म सत्य है। जगन् मिथ्या है। जीव और ब्रह्म मे अभेद है।[1] स्वय शंकर शब्दो को जगल कहते थे। इस जगल मे चित्त भटक रहा है।[2] यह तब की बात है जब छापाखाना नही था। गद्य का भी विकास पूरी तरह से नहीं हुआ था। आज के कागज की छपाई देखकर ये सत लोग पता नही क्या कहते ? ध्यान सप्रदाय मौन को ही भाषा कहता है। उपनिषदे भी प्रवचन और मेधा को तत्त्व प्राप्ति का साधन नही मानती है। कालिदास अत करण को ही प्रमाण मानते है।[3]

भारती परपरा समासवाली है। कम से कम शब्द। अधिक से अधिक अर्थ। दोनो लोहो से टकराहट तो एक बार होती है। किंतु उसकी ध्वनि देर और दूर तक फैलती है। कबीर सतगुरु के शब्दो द्वारा वैसी ही ध्वनि उत्पन्न करना चाहते है। इसीलिये वे केवल गुरु के शब्दो को महत्त्व देते है। वेद भी शब्द प्रधान है। सत भी शब्द प्रधान है।

ज्ञान का एक साधन पुस्तक, अक्षर और लेखन अवश्य है। किंतु इनके अतिरिक्त भी साधन है। यह तो आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है। उदाहरण के लिये मनुष्य बहुत कुछ व्यवहार या आचरण से सीखता-समझता है। इसी से सत आचरण और व्यवहार पर जोर देते है। कभी प्रयोग और कभी मात्र दर्शन से ज्ञान होता है। किंतु ये सारे ज्ञान स्थूल और भूत पदार्थों के है। आत्मतत्त्व का ज्ञान तो आत्मा मे होता है। जहाँ बाहर के किसी भी साधन का वश नही चलता है। मन मे तो केवल मन ही जा सकता है। भूत पदार्थों की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी नही जा सकती है। इसलिये आत्म तत्त्व को प्राप्त करने मे पुस्तकी ज्ञान क्या करेगा ? पुस्तकें तो बाहरी वस्तुओ को बताएँगी। अधिक हुआ तो भीतर की कुछ प्रकियाओ की ओर सकेत कर सकती है। किंतु पूर्ण पता तो जाने वाले को ही लगेगा। लग गया तो वह बता नही सकता। गूँगे के समान केवल मुसका सकता है।

संत की साधना निजी अनुभूति है। व्यक्ति मन की यौगिक प्रक्रिया है। मन एक जगह स्थिर होता है। शरीर मे रहनेवाले चक्र, कुडलिनी का जागरण है। आज्ञा चक्र। फिर उसे भी पारकर ध्यान को केंद्रित करना है। प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण है। इस कार्य मे शास्त्र कोई सहायता नही करते। योगशास्त्र उपाय तो बताता है। उपाय करता नही। उपाय करना साधक धर्म है। शास्त्रो का काम बाह्य व्यापार बताना है। अतर के संसार को स्वय पाना होगा।

एक बात और। अत्यंत प्रेम के कारण माता बच्चे की भूख को समझ जाती है। भूखे बच्चे की याद से उसके स्तनो के दूध स्वय बहने लगते है। अनेक पशुओं को प्रकृति परिवर्त्तन का पूर्वाभास हो जाता है। अनेक बार हम दूर स्थित प्रिय की सही स्थिति का स्वप्न देखते है। युगल प्रेमी एक दूसरे की भावनाओं को समझ लेते है। जाने कितने ही कार्य हैं जिन्हे हम बिना प्रत्यक्ष हुए केवल अपनी रागात्मिका वृत्ति से जान जाते है। ऐसी ही स्थिति ज्ञान की है। आखिर दो अज्ञानियों में अंतर का क्या कारण है। एक साथ जन्मे, बढ़े, पढ़े बालकों मे बुद्धि-भेद के साथ ही ज्ञान भेद भी होता है। निश्चय ही इसका कारण बाह्य नहीं आतरिक है।

मेरी पटिया लिखि देहु श्री गोपाल।

१. श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्त ग्रंथ कोटिभि'।
सत्य ब्रह्म जगन्मिथ्या ब्रह्मोजीवैव नापरम्।

२ शब्दजाल महारण्य चित्त भ्रमण कारणम्।

३ प्रमाणमन्त करण' प्रहतय ।

प्रतिभा, बुद्धि की तीक्ष्णता, विचार एव कलादि अभिरुचि भी बाह्य की अपेक्षा आतरिक है। बाह्य तो सबका प्राय एक-सा है। अंतर तो भीतर मे है। इसी आंतरिक शक्ति के सहारे योगी ज्ञान प्राप्त करता है। यौगिक क्रियाओ और प्रभु की आराधना द्वारा प्राप्त कृपा से आतरिक शक्ति का विकास होता है। बिना पढ़े ही सब समझने की क्षमता हो जाती है। कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य चक्षु दिया था। विराट् को देखो। व्यास ने सजय को दिव्य चक्षु दिया। महाभारत को देखो। देखकर धृतराष्ट्र को बताओ। प्रत्यक्ष दो ऑखे तो ससार को देखने के लिये है। बाह्य देखने के लिये है। किंतु तीसरी ऑख, दिव्य चक्षु दुनिया को समझने के लिये है। जानने के लिये है। इस दृष्टि से बाहर-भीतर दोनो दीखते है। ॲधेरा या उजाले का कोई प्रतिबध नही। किसी भी समय कुछ भी देखो सब दीखेगा। मूलाधार चक्र के मनन से अनेक लाभो मे सर्वज्ञाता लाभ भी है। बुद्धि तीव्र होती है। साधक अपरिचित विद्याओ का सरहस्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है। हवा मे उड़ने की शक्ति आ जाती है। योग द्वारा अनेक प्रकार की सिद्धियो की प्राप्ति की बात की जाती है। सत मानते है कि समस्त सृष्टि का आधार परमात्मा है। साधना का उद्देश्य है। परमात्म तत्त्व से तदाकारिता। तदाकारिता के बाद योगी को भी सारी परमात्म शक्तियाँ प्राप्त हो जाती है। यह बात नित्य के व्यवहार मे भी देखी जाती है कि जिस बात को अनेक लोग सिद्धातो की किताबो से जान पाते है उसे बहुत से लोग सामान्य व्यवहार से जानते समझते है।

हजारो लोकगीत, लोककथा, लोकमहाकाव्य, दवाएँ, कानून, कृषि सबधी निश्चय, ज्योतिष एव विज्ञान की बाते मौखिक परपरा मे चली आ रही है। अनेक तो हमारे जीवन का इतना अधिक अग बन गयी है कि हम उनकी वैज्ञानिकता भूल गये है।

किंतु सत तो किताब को न केवल अनावश्यक समझते है बल्कि किताबके विरोधी भी हैं। इसीलिये वे पुस्तक को बहा देने की बात करते हैं। सत विवाद मे बचते है। आत्म तत्त्व बोध वस्तु है। तर्क द्वारा समझाने की चीज नही है। बोलने से तत्त्व नष्ट हो जाता है– **'बोलत बोलत तत्व नसाई।'** पढ़ना एक सीधी प्रक्रिया है। किंतु आत्म तत्त्व को तो दुनिया से उलट कर देखा जा सकता है। ऐसे मे पुस्तके साधक नही बाधक है। असल मे आत्मतत्त्व का बोध क्रियाधीन न होकर कृपाधीन भी है। सारे साधन सहायक है। सब कुछ कर लीजिए किंतु सद्गुरु या प्रभु की कृपा के बिना सब व्यर्थ है। प्रत्येक साधना कृपाधीन है।

यह भी ध्यान रखना होगा कि आत्मतत्त्व की साधना अत्यत निर्गुण-निराकार की साधना है। आत्मा और शरीर मे भेद है। आत्मा के अस्तित्व को नकारा गया है। नकारा जाता है। किंतु शरीर के अस्तित्व को कोई भी इनकार नही कर सकता है। ऐसे विशुद्ध अनुभूतिमूलक तत्त्व के साक्षात्कार मे पुस्तके क्या करेगी ? इसीलिये गीता भी वेद ज्ञान को गुणात्मक ज्ञान कहती है। कृष्ण अर्जुन से कहते है– त्रिगुणात्मक वेद को छोड़ निर्गुण की उपासना करो ।[1] वेद-वाद मे रत व्यक्ति को ब्राह्म स्थिति की प्राप्ति नही हो सकती है। वेद कामना वाले हैं। स्वर्गपरक है। स्वर्ग की कामना वाले को आत्मतत्त्व का बोध नही हो सकता है। आत्मतत्त्व तो कामनाहीन को ही प्राप्त हो सकता है। भागवत मे वेदो के बारे मे और स्पष्ट कहा गया है— 'लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नही है। क्योंकि वेद वाक्य भी अधिकतर गृहजनोचित यज्ञविधि के विस्तार मे व्यस्त है। राग द्वेषादि दोषो से रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति उनमे भी नही हुई है। जिसे गृहस्थोचित यज्ञादि कर्मो से प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख स्वप्न के समान हेय नही जान पड़ता, उसे तत्त्वज्ञान कराने मे साक्षात्

१ त्रैगुण्य विषया वेदा नैष्त्रैगुण्यो भवाऽर्जन।-२/४/४५।

उपनिषद्-वाक्य भी समर्थ नही है ।[1] गीता ने केवल वेद कहा था। भागवत जो गीता के बाद की रचना है ने तत्त्व ज्ञान के लिए पूरे वैदिक वाड्मय को व्यर्थ घोषित किया है। इसमे कोई आश्चर्य नहीं है। कबीर और भागवत दोनो ही भक्ति को द्रविड़ से आयी बताते है। द्रविड़ भक्ति स्त्री रूप मे नारद को मिली थी। ज्ञान वैराग्य ये दो पुत्र भी उसके साथ थे। किंतु इनकी हालत खराब थी। ये कमजोरी के कारण चेतनाशून्य थे। वृद्धावस्था के कारण इनसे उठा नही जा रहा था। नारद ने वेदध्वनि, वेदातघोष और बार-बार गीता पाठ द्वारा उन्हे उठाना चाहा। इससे उनमे हरकत तो हुई। किंतु वे पूर्णत स्वस्थ नही हो सके। नारद परेशान हो गये। क्या किया जाय ? नारद ने अपनी चिता सनकादि ऋषियो के सामने रखी। तब उन्होने भक्ति का मार्ग बताया। यह भक्ति वेद-वेदात का ही सार है। किंतु वेद-वेदात से भिन्न है। यह फल स्वरूपा है। वेद-वेदात वृक्ष है तो भागवत भक्ति फल है। कबीर की भी यही मान्यता है। वे वेद, वेदात, पेड़ और पत्ता गिनने की अपेक्षा सीधे फल से जुड़ने मे विश्वास करते है। यह फल पुस्तको से नही। साधना और प्रपत्ति से प्राप्त होता है। वसिष्ठ ने कहा है—जो ब्राह्मण चारो वेदो का ज्ञाता होने पर भी सूक्ष्म परब्रह्म का अनुभव नही करता, वह वेदरूप भार से दबा हुआ ब्राह्मण रूप गधा ही है ।[2]

सभी स्टेशनो पर रुकनेवाली गाड़ी भी दिल्ली ही पहुँचती है। किंतु शास्त्र कहता है कुछ स्टेशन जानेवाली, भटककर चलनेवाली, कैसे भी चले, चलती रहे। पहुँचेगी वह दिल्ली ही। आकाश से गिरा सारा जल समुद्र मे जाता है। सभी देवो के प्रति किया गया नमस्कार केशव को प्राप्त होता है ।[3] गीता मे इसी प्रकार से कहा गया है कि सभी देवो की पूजा भगवान को ही मिलती है। सभी देवो की पूजा का फल भगवान् ही देते है ।[4] सामान्य गाड़ी स्टेशनो पर रुकती है। किंतु सत कबीर की गाड़ी सीधे प्रभु के पास पहुँचती है। इसका प्रभाव उनके आत्म-विश्वास और अभिव्यक्ति पर पड़ा है।

●

---

१ तथैव राजन्नुरु गार्हमेध वितानविघोरुविजृम्भितेषु।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववाद प्रायेण शुद्धो न चकास्ति साधु ॥२।
न तस्य तत्त्वग्रहणायसाक्षाद् वरीयसीरपि वाच समासन् ॥
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधि सौख्य न यस्य हेयानुमित स्वय स्यात् । ५/११/३ ।

२ चतुर्वेदोऽपि यो विप्र सूक्ष्म ब्रह्मन विन्दति ।
वेदभारभराक्रान्त. स वै ब्राह्मण गर्दभ । -श्रीसनत्सुतीये शाकरभाष्ये ॥

३ आकाशात् पतित तोय यथा गच्छति सागरम्।
सर्व देव नमस्कार केशव प्रतिगच्छति ।

४ गीता, ७/२९ ।

मैं न मरौं मरिहै संसारा[1]

लोग कहेगे यह कबीर का घमड है। कोई घोर अहकारी आदमी ही इस तरह की बात कह सकता है।

अरे भाई, मरना तो प्राणी का धर्म है। मरने के कारण ही तो ससार मर्त्यलोक है। सभी तो मरते है। मरेगे। मर रहे है। कभी जन्म दर बढ़ती है। कभी मृत्यु दर बढ़ती-घटती है। किंतु इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता है। सभी का मरना निश्चित है। जब सभी निश्चित है तो हे कबीर साहब आप ऐसी असभव बात क्यो करते है ?

लगता है कबीर साहब हमारे प्रश्न से परिचित थे। उन्हे स्वय लगा होगा कि मृत्यु के विरुद्ध कहने पर लोग इसका कारण पूछेगे। इसीलिये उन्होने कारण भी बता दिया। कबीर क्यों नही मरेगे ? और ससार क्यो मरेगा ? ससार का मतलब है ससार मे रहनेवाले लोग। इतना ही नही। इस ससार मे जो कुछ दिखाई, सुनाई आदि पड़ता है वह सब मरेगे। कबीर कहते है–

चंदो जैहै सुरजो जैहै, जैहै पवनो पानी।
कह कबीर हम भगत न जैहें जाकी मति ठहरानी।

कुल मिलाकर कहिए कि प्रलयकाल मे सारे प्रकाश लुप्त हो जायेंगे। हवा, पानी, आग आदि पच महाभूत मिलाकर एक हो जायेंगे। पृथ्वी जल मे, जल अग्नि मे, आग हवा मे, हवा आकाश मे मिल जायेंगे। आकाश और ब्रह्म एक हो जायँगे। सभी चेतन अचेतन अलग अस्तित्व खो देगे। इसे ही कहते है ससार का मरना। ससार दो प्रकार से मर रहा है। एक को कहते है नित्य प्रलय। लोग नित्य मर रहे हैं। प्रत्येक वस्तु जो चढ़ती दीखती है वह घटने की ओर है। क्षीण होने की ओर है। दोपहर का सूर्य खूब तप रहा है। सबके माथे पर है। सबको किसी न किसी छाया-सहारा के लिये बाध्य कर दिया है। किंतु इसका यह अर्थ भी स्पष्ट है कि सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है। वह डूबेगा। प्रात: जब उसकी किरणे अत्यत मंद रहती हैं। उसकी अनुभूति या तो होती नहीं है या शीतल सुखद होती है। तब सूर्य के डूबने की बात मन मे नही होती है। सभी उसके उगने की बात करते है। डूबना पीछे रहता है। किंतु दोपहर होते ही डूबना प्रबल और प्रमुख हो जाता है। उदय की अनुभूति गायब रहती है।

एक दूसरा प्रलय भी है। इसमे सब समाप्त हो जाता है। केवल शून्य रह जाता है। इस शून्य के बारे मे कुछ कहा नही जा सकता है। कौन कहेगा ? उस शून्य मे कौन था ? सब तो विलीन हो गये थे। इसे कहते है सृष्टि का आत्यतिक प्रलय। महाप्रलय। कबीर कहते हैं वे उस प्रलय मे भी रहते है। तुलसीदास भी कहते है– तासु नास कल्पांत न होई।

सभी भक्त मानते है कि भक्त का कभी नाश नही होता है। गीता कहती है– मेरे भक्त का कभी नाश नही होता है। (न मे भक्त: प्रणश्यति)। महाभारत मे कहा है कि विष्णुभक्त विष्णु के मागलिक स्तोत्रों द्वारा यमदूत को मूर्छित और अदृश्य कर देते हैं–जैमिनीयाश्वमेधपर्व १५/१५।

---

१. मै न मरीं मरिहै संसारा,
मुझको मिला जिवावनिहारा।

भागवत मे अजामिल को यम लेने आये तो विष्णु के पार्षदो ने उन्हे रोक दिया। कठोपनिषद् के यम नचिकेता के गुरु है। उन्होने नचिकेता को मृत्यु पर विजय का उपदेश दिया। भक्त काल से परे है। काल ब्रह्म सृष्टि है। भक्त स्वत परमात्मा का रूप है। इसलिये भक्त पर काल का प्रभाव नही पड़ता है। तुलसीदास कहते है–

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही।
सुमरेसु भजेसु निरंतर मोही॥७।८८।१।

काल क्यो नही व्यापेगा ? शर्त यह कि मुझ भगवान् का नित्य स्मरण, भजन करना। स्मरण-भजन छूटा कि काल ने दबोचा। यही कबीर कहते है– मुझको मिला जिलानेवाला। भगवान्। गुरु। भगवान गुरु। गुरु भगवान।

ससार के लोग शरीर को ही व्यक्ति मानते है। मै का अर्थ शरीर समझते है। किंतु शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व के बोध से अनभिज्ञ रहते है। प्रत्येक व्यक्ति दो आधारो पर खड़ा है। शरीर और आत्मा दोनो एक-दूसरे का आधार लिये है। शरीर नाशवान् है। मृत्यु शरीर की होती है। जन्म शरीर का होता है। दुख सुख शरीर धर्म है। आत्मा जन्म जरामृत्यु रहित है। वह सुख दुख से मुक्त है। जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना, नष्ट होना इन छ उर्मियो से मुक्त है। इसीलिये गीता के आरभ मे श्रीकृष्ण कहते है– यह आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है।[1] कुमार, यौवन एव जरा ये सब शरीर के धर्म है।

सवाल है जब आत्मा नही मरती तो लोग मृत्यु से इतना डरते क्यो है ? सभी असुर देहवादी थे। सभी ने अपनी तपस्या द्वारा अमरता का वरदान माँगा है–'प्रभो, हम किसी से भी न मरे। किसी भी स्थान पर, कैसे भी न मरे।' किंतु कोई भी देवता इस वरदान को दे न सका। साफ इनकार किया। जन्म लेनेवाला, देहधारी मरेगा ही। बिना मृत्यु के जन्म संभव नही है। जन्म लेते ही मृत्यु का दर्शन आरम्भ हो जाता है। कबीर इसे बहुत अच्छे ढग से कहते है– **खलक चबेना काल का कुछ मुख में कुछ गोद।** ससार भगवान् का नाश्ता है। कुछ हिस्से को मुँह मे रखकर चबा रहा है। कुछ हिस्सा उसकी गोदी मे है। गरज कि जो है सब उसके मुँह और गोद मे है। काल के मुँह और गोद के अतिरिक्त कुछ नही है। काल सबको खा जायगा। खा रहा है। यहाँ तक कि उन्हे भी जो गोद मे है। काल बड़ा क्रूर है। गोद वाले को भी नही छोड़ता है। भ्रूण हत्या। शिशु वध। काल कस से बड़ा है। सतो ने एक रास्ता निकाला। देह और आत्मा को अलग किया। मै के स्वरूप को पहचाना। शरीर को मै समझनेवाला मरता है। किंतु आत्मा को मै समझनेवाला अमर है। आत्मा के बारे मे दो कल्पना है। आत्मा तो परमात्मा ही है। दूसरा यह कि आत्मा परमात्मा का अश है। इस विवाद मे बिना पड़े कहा जा सकता है कि दोनो पक्ष परमात्मा वाले हैं। आत्मा चाहे अंश हो चाहे पूर्ण, है तो वह परमात्मा ही। अंश क्या अशी से भिन्न होगा। अब क्या परमात्मा की मृत्यु होगी ? परमात्मा की मौत न हुई है, न होगी। सत कबीर कहते है– **उपजै खपै सो दूजा।**

जन्म-मृत्यु वाला कोई दूसरा है। वह भगवान् नही हो सकता है। भगवान् ही जब मरने खपने लगेगा तब तो अनर्थ हो जायगा। प्रश्न है तब कौन है जो मरने जीने का कार्य करता है। सत कहते है– यह सब काम माया का है। माया ही रूप बदलती है। माया तीन गुणो वाली पेड़ है- माया तरुवर त्रिविध का, साखा दुख सताप। धर्म, अर्थ, काम भी मायाधीन हैं। यही माया तरु ससार है। यही अनेक रूप धारण करती है। परिवर्त्तन ही दुख का कारण है। ईश्वर तो सच्चिदानद है। वहाँ दुख का नाम भी नही है। इसी से कबीर आनद की साखी कहते हैं

---

१ न जायते म्रियते वा कदाचिन् २/२०।

(साखी कहै अनद)। सुख-दुख दोनो ही माया वृक्ष के पत्ते है। माया मिटी कि सुख-दुख दोनो खत्म। इसीलिये सत मायाविरोधी होते है।

सत के मरने या न मरने का मतलब यह नही कि सत के शरीर का नाश नही होता। शरीर तो नाशवान् है। नष्ट हो जाता है। किंतु उसके आध्यात्मिक शरीर, आत्मा का नाश नही होता है। अस्तित्व का बोध या मै की चेतना शरीर को नही होती है। आत्मा या मन इस चेतना का अधिकारी है। यह आत्मा या मन ही जीवित रहता है। असाधको की यह आत्मा या मन विषयो मे फॅस कर मृत्यु को प्राप्त होता है। अह, मै, यह का भाव मन मे रहता है। यह मनोभाव आत्मा को परमात्मा से अलग करता है। परमात्मा से अलगाव की अनुभूति ही माया है। मृत्यु है। कबीर ममता (मै भाव) वाले मन को मारते है। चैतन्यात्मा का जागरण और उन्मनीभाव ही जीवन है और ससार मे फॅसना ही मृत्यु है। जाग्रत भक्त ससार पार हो जाता है। इसलिये मृत्यु पार भी हो जाता है। क्योकि मृत्यु तो ससार मे होती है। ससार के बाद मृत्यु कहॉ है ? विषयो मे बद्ध ससारी वासना की आग मे नित्य जल रहे है। मर रहे है। भगवान् बुद्ध का भी यही अनुभव था– **किमाहासो किमानंदो नित्तं प्पजलिते 'सति।** ससार के लोगो को देखो। सव है। कितु फिर भी अतृप्त है। असतोष की आग मे जल रहा है। और, और के सचय मे लगा है। कितु साधु है कि एक लगोटी पर पूरे ससार की लक्ष्मी को अॅगूठा दिखा रहा है। जिसे कुछ पेट समाता लेना है उसे किसका डर ? साधु पेटू भी नही है। रूखा-सूखा खाकर ठडा पानी पीकर सो रहता है। कम से कम लेता है।

खानेवाला मर रहा है। भूखो रहनेवाला मृत्यु को जीत रहा है। सतो की बात अब सभी लोग मान रहे है। रूखा खाओ। कम खाओ। खुले मे रहो। घोर भौतिकता को वही पहुँचना है जहॉ सत पहले पहुँचे है। अधिक सग्रह लोभ युद्धो मे बदल जाता है। युद्ध मौत को खुला न्यौता है। इसीलिये सत कहते है कि ससार सग्रह से न जुड़कर।परमात्मा से जुड़ो। अमर हो जाओगे।

सतो ने जीवित मृत्यु की कल्पना की। इसका मतलब है विषयो से मुक्ति। परमात्मा से लगाव। कठोपनिषद् मे कहा है– मूढ़ या अज्ञानी व्यक्ति बाह्य विषयो मे लगे रहते है। इसी से विस्तृत काल के फदे मे फॅसते है।[1]

---

1. पराच कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् २/१/२।

महाठगनी माया[1]

माया ठगनी ही नही, महाठगनी है। क्या ठगनी कहना ही काफी नही था ? महा लगाने की जरूरत ? जी हॉं, महा लगाने से अर्थ का विस्तार हो गया। ठगनी तो ससार के लोगो को ठगती है। एकाध को ठगती है। सबको ठगा भी नही है जा सकता। ठग भी थोड़े है। ठगाने वाले भी कम है। सभी ठग हो जायें, ठगाने लगे तो इस शब्द का अर्थ व्यर्थ हो जायगा। यह माया दूसरे प्रकार का ठग है। यह सबको ठग रही है। सत कबीर लबी सूची देना चाहते है। किंतु लबी सूची ठीक नही। लोग ऊबेगे। इसलिये वे कुछ प्रमुख व्यक्तियो की सूची देते है। लोग जिन्हे देवी-देवता समझते है। जो ससार को रचने, रखने और नाश करनेवाले माने जाते है। उन्हे भी माया ठग रही है। केशव, शिव, ब्रह्मा, पडा, योगी, राजा, धनवान, गरीब, भक्त आदि सबको ठग रही है। ये नाम समाज के सचालको के है। विशिष्ट व्यक्तियो के है। बनाने बिगाड़नेवालो के है। किंतु कबीर कहते है माया इन्हे भी ठग रही है। जब इतने बड़े-बड़े लोगो को ठग रही है तो सामान्यो को कौन पूछता है ? इससे कबीर दो बाते कहते है– एक यह कि किसी भी देवी-देवता पर विश्वास मत करो। सभी माया द्वारा ठगे गए है। सब के घर मे माया बैठी है। कही लक्ष्मी, कही पार्वती और कही ब्रह्माणी बनी बैठी है। दूसरी यह कि यह माया गरीबो को भी लग रही है। अमीर अगर हीरा के चक्कर मे है तो गरीब कानी कौड़ी (तुच्छ सिक्का) के लिये ही परेशान है। क्योंकि मोह-ममता तो सर्वत्र है। धनी को भी है। गरीब को भी है। धरती के लोगो को है। स्वर्ग स्थित देवो को है। यहॉं तक कि भक्तो और योगियो को है।

माया को छोड़ना कठिन है। बार बार छोड़ने पर भी वह लिपटती है। ससार मे आदर, मान, रस, जप, तप, योग आदि सब माया से बँधे है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र तो माया है ही जल, थल, आकाश आदि मे भी चारो ओर माया फैली है।[2] जो भी है सब माया है। सांख्य

---

१ माया महा ठगनी हम जानी।
तिरगुन फॉंस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत होइ बैठी, तीरथ मे भइ पानी।
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, यह सब अकथ कहानी।

२ माया तजूँ तजी नहिं जाइ,
फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ।
माया आदर माया मॉंन, माया नहीं तहॉं ब्रह्म गियॉंन।
माया रस माया कर जॉंन, माया कारनि तजै परान।
माया जप तप माया जोग, माया बॉंधे सबही लोग।
माया जलथलि माया अकासि, माया व्यापि रही चहुँ पासि।
माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै ब्यौहार, कहै कबीर मेरे रॉंम अधार।

वाले कहते है सृष्टि करनेवाला पुरुष नही प्रकृति है। प्रकृति ही पुरुष का आकर्षण करती है। प्रकृति सत्व ~न, तम तीन गुणो वाली है। ये गुण जब अलग होकर काम करते हैं तो ससार सरकता है। तीनो समान रूप से इकट्ठे हो जाते है, साम्यावस्था को प्राप्त करते है, तब प्रलय हो जाता है। सृष्टि प्रक्रिया व्यक्त से अव्यक्त हो जाती है। वेदांती इसी प्रकृति को माया कहते हैं। यहाँ भी रचना, रखना और सहार का कार्य माया का है। यह माया स्वतत्र दीखती है। किंतु यह पूर्ण स्वतत्र नही है। यह चेतन के अधीन है। इस चेतन को ही ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म माया से भी व्यापक है। बड़ा है। फैलता है। फैला है। ब्रह्म बृह् धातु से बना। बृह् का अर्थ है बढ़ना। प्रकृति या माया ब्रह्म की शक्ति है। इसीलिये ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान, निमित्त एव कारण है। इसी से एकमात्र सत्य ब्रह्म है। बाकी सारे दृश्य-अदृश्य मिथ्या, माया है। ब्रह्म ही सब कुछ का आधार और अधिष्ठान है। सभी सत इसी ब्रह्म की खोज करते है। जैसे पुत्र मिठाई आदि प्रलोभनो को छोड़कर रोता है। (ब्रह्म) पिता की खोज मे, उसे पाने के लिये रोता है। उसे प्राप्त करने को बेचैन हो जाता है। यह बेचैनी उत्पन्न हो जाने पर ससार का कुछ भी अच्छा नही लगता है। कथित सुदर से सुंदर वस्तुओ को नश्वर और व्यर्थ समझकर छोड़ देता है। तोड़-फोड़ कर फेक देता है। सीधे पिता के पास पहुँचना चाहता है। ससार है तो झूठा। किंतु यह मीठा झूठा है। ऐसा मीठा जिसका अत अच्छा नही है। यह मीठा आगे नुकसान करता है। मनुष्य को असल तत्त्व से अलगा देता है। यह माया का मीठा है। यह बच्चे के हाथ की मिठाई है। गुरु ज्ञान से बालक इस मिठाई को फेक देता है। माया मोहिनी है। सब इसके मोह मे पड़े है। सबके घरो मे माया रूप से स्त्री विराजमान है। स्त्री से ही ससार है। स्त्री ससार का मूल है। आधार है। कबीर साहब इन स्त्रियो की सूची देते है।

माया मधुर बोलती है। बोलै मधुरी बानी। ससार इस माधुरी मे आसक्त है। फँसा है। कबीर साहब कहते हैं मधुर (मीठा) और माधुरी से सावधान। माधुरी मे बड़ी माया है। माधुरी बाणी ठगो की वाणी है। महाठग की वाणी है। पुराने ठग मीठा मे जहर मिला देते थे। इसी से हिंदी मे माहुर बना। माहुर अर्थात् जहर। कबीर कहते है ऐ सखी माया, तुम्हारी आँखो मे जहर है। हे बहन, तुम घर लौट जाओ। तुम्हारी आँखो मे विष लगा है।[1] माया के कारण मधुर बदनाम हो गया। माहुर बन गया। इस मधुरी बानी के कारण ही आदमी फँसता है। मधुरी बानी का उद्देश्य है बाँधना। माया तीन रस्सी लिये घूम रही है।[2] एक बधन ही कठिन है। यहाँ तो तीन बधन हैं– तम, रज, सत। कामैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा। तीनो गुणो से संसार बँधा है। तीनो गुण ही माया है। किसी का बचना मुश्किल है। कबीर इस बधन को स्पष्ट करते हैं। माया से कहते हैं– ऐ बहन, वहाँ जाओ जहाँ पाट पीताम्बर हो। अगर चदन से देह सजायी जाती हो। कबीर तो जुलाहा है। कमीना है।[3] मतलब यह कि सपन्नो के यहाँ माया अधिक है। सपन्नता ही माया है। गरीबो पर माया का विशेष प्रभाव नही पड़ता है। फिर भी सावधानी तो बरतनी ही चाहिए। हीरा वाले को माया अधिक परेशान करती है तो कानी कौड़ी वालो को भी बिल्कुल छोड़ नही देती है। मधुर वाणी, मधुर भोजन और मधुर वस्त्रादि का कैसा मेल बैठाया है कबीर ने। ठीक भी है। माया तो स्वर्ग से आयी है (स्रग लोक ते तुम चलि आई)। अब स्वर्ग से आने वाली देवी क्या साधारण के यहाँ रहेगी ? स्वर्ग तो सपन्नता के लिये प्रसिद्ध

---

१ तुम्ह घरि जाहु हमारी बहना,
विष लागै तुम्हारे नैंनां।
२ तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी।
३ तहाँ जाहु जहाँ पाट पटबर अगर चदन घसि लीना।
आइ हमारे कहा करौगी हम तौ जाति कमीना।

है। वहाँ सभी प्रकार की संपन्नता है। ऐसी देवी ठहरेगी भी तो वही जहाँ स्वर्ग जैसे साधन होगे। इसीलिये कबीर सपन्नता को माया मानते है। धन बटोरने के विरोधी है। ईश्वर से इतना ही माँगते है जितने से परिवार का काम चल जाय। किंतु 'परिवार का काम चलना' तो धोखे का वाक्य है। कभी-कभी बड़ी आमदनी वाले भी झखते है। खर्च न चलने की शिकायत करते है। क्योकि मनुष्य ने अपना खर्चा बहुत बढ़ा लिया है। अनावश्यक साधन इकट्ठे कर लिये है– डनलप, मोटे पर्दे, फ्रिज आदि। एक दो वस्त्र के स्थान पर पचीसो पचासो तरह के ड्रेस। घर का सात्त्विक भोजन छोड़कर रेस्तराँ का तामसिक भोजन। ऐसे ही अनेक प्रकार के शृगार। कबीर इससे सावधान थे– रूखा-सूखा खाना चाहते है। पेट समाता लेना चाहते है। शरीर को इतना आराम नही देना चाहते है कि वह कागज की पुतली बन जाय। जरा भी बेमौसम की हवा बही कि गलने लगे। वे प्रकृति के वर्जनारहित शरीर मे विश्वास करते है। प्रकृति तो बुरी है ही। किंतु प्रकृति को रोकने के लिये बिल्कुल कृत्रिम या अप्राकृत साधन तो उससे भी बुरे है। प्रकृति को सहजभाव से, सहज साधना से छोड़ना चाहिए। प्रकृतिलिप्सा तो बनी हो और उसे नकली ढग से पूरा करने का प्रयत्न भयानक होता है।

ससार ही माया है। तो माया के साधनो को बिल्कुल छोड़ा नही जा सकता है। प्रकृति का इतना प्रयोग तो करना ही पड़ेगा जिससे शरीर चल सके।

माया का सुख कुछ दिनो का है। सत शाश्वत सुख की खोज मे है। माया का सुख अच्छी तरह भोग नही पाया कि काल आ पहुँचता है। बहुत से गरीब धनी बनते ही इतनी बीमारियो से घिर जाते है कि वे केवल दवा का सुख ही भोग पाते है। कजूस जीवनभर कष्ट सहकर धन न खाते है, न खाने देते है। समय पर वह धन उनके दुख का कारण बन जाता है। ले तो कोई नही जाता है। धन की इस स्थिति से सत में साम्यबुद्धि का विकास होता है। सभी प्रकार के शरीर चाहे उन्हे कितने ही यत्न से ठीक रखो। सब जल जाते है या गलकर मिट्टी मे मिल जाते है।

सबको माया रूपी डायन ग्रसे है। लोग समझते है वे धन को खा रहे है। किंतु धन की माया उन्हे खा रही है। सारा ससार नष्ट हो रहा है। ऐसी भयकर स्थिति में भगवान का भरोसा है। ससार अँधेरा कुँआ है। सभी मृत्यु के अँधेरे कुँए की ओर बढ़ रहे है। मजा यह कि यह अँधेरा कुआँ आँखे बद करने पर दीखता है–

जीवत आँखि मूंदि किन देखौ, संसार अंध अंधेरा।

सब कुछ अजन है। अँधेरा है। एक राम निरंजन है। असली तत्त्व निरजन है। निरजन ही सार है (अजन अलप निरंजन सार) अजन अल्प है। थोड़े दिनो के लिये है। निरजन शाश्वत है। सत ने निरजन की खोज कर ली है। उसे पा लिया है। इसलिये वह विनाशी नही, अविनाशी हो गया है। सारे ससार के नाश होने पर भी वह अविनाशी रहता है। रहेगा–

कहै कबीर सबै जग बिनस्या रहै राम अबिनासी रे।

माया आवागमन का खेल करती है। लोग आते है। जाते है। माया मुक्त व्यक्ति आवागमन से मुक्त हो जाता है। आवागमन से मुक्त प्रभु की भक्ति मे लगा, प्रभु बना कबीर को देखकर माया माँ रो रही है—**ठाढ़ी रोवै कबीर की माई। ये लरिका बौराना हो राम।** सत्य ही तो है। माया वाले ससार की दृष्टि से मायामुक्त भक्त पागल है। उसका आचरण असामान्य हो गया है। उसने तनना-बुनना छोड़ दिया है। तनना बुनना तो जगत कर्म है। लोभ, मोह का कर्म है। महल, अटारी बुनो। बनाओ। पैसा कमाने, धन जोड़ने का बाना बुनो। कबीर ने यह सब बद कर दिया। न धन दौलत, न सपत्तिशाली होने का ताना-बाना। केवल अपने तन-मन मे

राम नाम लिख लिया है।[1] सत ने ताना-बाना इसलिये भी छोड़ा है कि जिस प्रभु ने जन्म दिया है, जो सभी का प्रतिपाल करता है वह भक्त का प्रतिपाल भी करेगा। जन्म-मरण ईश्वराधीन है। भोजन भी ईश्वराधीन है। सत निश्चित है। उसने अपना खर्च कम कर दिया है। कम से कम लेना चाहता है। इतना तो प्रभु दे ही देगा। इतने से किसी दूसरे का हिस्सा कम नही करना होगा। अधिक संग्रह मे दूसरे का हिस्सा लेना पड़ता है। फलत एक अमीर और दूसरे गरीब हो जाते है। एक खा-खाकर मरता है। दूसरे बिना खाए मरते है। दूसरे गरीब न हो। दूसरो को भी मिले, दूसरो का शोषण न हो। इसलिये स्वय कम से कम लो। केवल पेट समाता लो। जितना और जैसा वह दे। उतना और वैसा लो। अधिक लगे तो छोड़ दो। क्योकि ईश्वर सग्रह विरोधी है। सग्रह पर माया का अधिकार है। जहाँ सग्रह है वहाँ राम नही माया होती है। सग्रह ही तो माया का तीन ताग वाला बधन है। तिरगुन फॉस है। ईश्वर को न जाननेवाला पशु इसी तिरगुन फॉस मे बॅधा है। बॅधे पशु का माया द्वारा आवागमन होता रहता है। मनुष्य को कौन कहे सारे देवी-देवता बॅधे है। केवल सत मुक्त है। इसलिये कि वह माया को जानता है। राम को भी जानता है। अत वह राम के साथ है।

कबीर कभी माया से आतकित रहे होगे। अब वे माया के आतक से मुक्त है। इसलिये कि राम की शरण मे है। राम की शरण वाले पर माया का वश नही चलता है। किंतु वे ससार के लोगो के लिये रो रहे है। दुखी है। कैसे है लोग जो माया की भयानकता के प्रति निष्क्रिय है। बेखबर है। कितनी भयानक बाढ़ आनेवाली है। और ये लोग अभी तक सोए हैं। वे सबको आतकित कर रहे है। डरा रहे है। डर को इतना तीव्र कर रहे है कि लोग जगकर माया बाढ़ से बचने का उपाय करे। राम की शरण मे पहुँचकर अपनी सुरक्षा करे। इसके बिना कोई उपाय नही है। राम के बिना माया डायन से बचने का कोई उपाय नही है। और सारी नावे जर्जर है। छेदो से भरी है। केवल राम नाम की नाव ही सबको बचा सकती है। कबीर तो जर्जर नाव को देखकर फड़क कर उतर गये है।[2]

महाठगनी माया सबको भरमाये है। कोई उतर न सके। किंतु कबीर सबको चिता रहे है। उतरो, जल्दी उतरो। माया की जर्जर नाव को छोड़कर राम नाम की दृढ़ और अविनाशी नाव को पकड़ लो।

माया के आतक को कबीर ने माया के मानवीकरण द्वारा अभिव्यक्त किया है। डायन बच्चो को खा जाती है। माया डायन रस्सी, तीन रस्सी लिये घूम रही है। भोलेभाले लोगो को फॅसाने के लिये मीठा बोलती है। किंतु मीठे से असावधान को फॅसाकर नष्ट कर देती है। यह डायन ही महाठगनी है।

●

---

१ तनना बुनना तज्यौ कबीर, राम नाम लिखि लियौ सरीर।
मुसि मुसि रोवै कबीर की माई, ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई।
२ भेरा देख्या जर्जरा उतरि पड़ा फरकि।

पौराणिक अनुभव

भागवत वाक्यो से कबीर विचारो की तुलना के बाद इस हिस्से की आवश्यकता नही थी। *भागवत* की चर्चा पूर्ण है। भागवत मे सारी कथाऐं है। फिर लगता है कुछ छूट गया है। उसे इस भाग में देखना होगा।

रमैनी का प्रारभ सृष्टि सबधी पौराणिक अवधारणा से होता है। रमैनी का अर्थ पुराण लगता है। यह शब्द रामायण के आधार पर बना है। पुराणो मे पॉच या दस बाते होती है– सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, वशानुचरित, मन्वन्तर ।[1] इनमे कबीर साहित्य मे वश और वशानुचरित के सकेत मात्र है। किंतु शेष तीनो की चर्चा विस्तार से आई। रमैनी का तो आधार ही सर्ग, प्रतिसर्ग एव मन्वन्तर का वर्णन है।

पुराणो के शायद ही कोई देवता हो जिनकी चर्चा छूट गयी हो। कभी-कभी तो कबीर दास जी पुराण देवताओ की ऐसी चर्चा करते है जो सामान्यत. केवल पुस्तको मे है। उदाहरण के लिये–

हरि हर ब्रह्मा के मन मन भाई, बिबि अच्छर ले जुक्ति बनाई।
बिबि अक्षर का कीन्ह बंधाना, अनहद सब्द जोति परमाना।

यहॉ बिबि का अर्थ है दो। हरि और हर दोनो मे दो अक्षर है। ब्रह्म ने इन्ही दो अक्षरो से राह चलाई। सृष्टि की अगुआई की। पुराणो मे भी इस प्रकार के सकेत है। सत कबीर चार आश्रम के स्थान पर छ आश्रम मानते है–

षट आश्रम षट दरसन कीन्हा।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास तो प्रसिद्ध है। शेष दो हस और परमहस सन्यास के उपरात है। हस सदसद् विवेक आत्मशक्ति है और परमहस इसकी पूर्णता है। परमहसोपनिषद् मे इसकी चर्चा है। परमहस को कुटीचक भी कहते है।

सत कबीर की सृष्टि के विकास की प्रक्रिया वही है जो वैदिक साहित्य मे प्राप्त होती है। वे चौरासी लाख योनियो मे विश्वास करते है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन मुख्य देवता है। ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। विष्णु पालक है। महेश नाश के देव है। ये तीनो देवता है। ब्रह्म नही है। इसलिये तीनो ही मायाधीन है।

सृष्टि भगवान् की इच्छा का परिणाम है। यह प्रसिद्ध वेदांत कथन है। उन्होने ही स्त्री-पुरुष का भेद किया। ब्रह्मा की इच्छा से एक गायत्री नामक स्त्री उत्पन्न हुई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इसके तीन पुत्र हुए–

इच्छारूप नारि अवतरी, तासु नाम गायत्री धरी।
तेहि नारि के पुत्र तिन भयऊ, ब्रह्मा विष्णु महेश नाम धरेउ।

ब्रह्मा ने मॉ से पूछा– तुम्हारा पुरुष कौन है ? तुम किसकी स्त्री हो ? गायत्री ने उत्तर

---

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशोमन्वन्तराणि च।
वशानुचरित चैव पुराण पच लक्षणम्।

दिया—तुम और हम अलग नही है। तुम मेरे पुरुष हो। मै तुम्हारी स्त्री हूँ। पिता-पुत्र की एक ही स्त्री है। दोनो एक ही माँ से उत्पन्न है–

तब ब्रह्मा पूछल महतारी, को तोर पुरुष काकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई तुम मोर पुरुष हमैं तोरि जोई।
बाप पूत की एकै नारी, ओ एकै माय बिआय।

कितना विचित्र लगता है ? किंतु सृष्टि के आरभ की पौराणिक कल्पना यही है। गीता मे श्रीकृष्ण कहते है– योनि भी मेरी है। बीज भी मेरा है। विराट् प्रकृति मेरी योनि है। मैं उसमे बीज डालकर गर्भ धारण करता हूँ ।[1]

वेदात प्रकृति को पुरुष ब्रह्म की ही अचित्य शक्ति मानता है। इसीलिये कबीर के विचार उपनिषद्, गीता और भागवत से मिलते हैं।

पुरुष और प्रकृति ने मिलकर चार प्रकार के जीव बनाये है। अष्टाग सृष्टि की रचना की है-

तब अष्टंगी रची कुमारी

× × ×

एकै पुरुष एक है नारी ताते रचेउ खानि भै चारी।

यह अष्टाग गीता का अष्टाग है– भूमि, पानी, हवा, आग, आकाश, मन, बुद्धि एव अहंकार। प्रकृति के ये अष्टधा रूप है ।[2] स्मृति वेद की पुत्री है ।[3] यह स्मृति विद्वानो की पहचान है। इसी ने पाप पुण्य का रास्ता निकाला है ।[4]

सत कबीर ब्रह्मा को वेद रचयिता मानते है। किंतु वेद का हाल भी खराब है। ब्रह्मा को भी रास्ता नही मालूम है। वेद भी तो बधन है। वेद ब्रह्मा ने बनाया। वेद महत्त्वपूर्ण भी है। किंतु है तो वह रस्सी ही। इसलिये सपूर्ण ब्राह्मी रचना मायाकृत है। सारा दृश्य और इद्रियगम्य प्रकृति द्वारा निर्मित है। और यह प्रकृति ही माया है। इसलिये वेद भी बधन के कारण हैं–

'आपकी वेदरूपा वाणी ने भी जगत् को बाँध रखा है। यदि उस वेदवाणी रूप रस्सी से लोग बँधे न होते, तो वे मोहवश सकाम कर्म क्यो करते ?[5] गीता ने वेद को छिछला जलाशय और आत्मज्ञान को समुद्र कहा है ।[6] त्रयी (वेद) की अपूर्णता के कारण ही भक्तिमार्ग का विकास हुआ। कृष्ण ने अर्जुन से कहा—वेद त्रिगुणात्मक हैं। तुम्हे तीनो गुणो के पार जाना चाहिए ।[7] वेद के वचन सुनने मे तो अच्छे लगते है। किंतु वे कर्म प्रशंसक एवं स्वर्ग परक हैं। किंतु कर्म से तो कर्म छूटता नहीं। कर्म छोड़ने के लिये अकर्म की जरूरत है। कर्म करके भी कर्मफलरहित। आवश्यक कर्म ही करे। वह कर्म भी भगवान् को समर्पित कर दे। क्योंकि उद्देश्य तो उस प्रभु को पाना है जो सारे कर्मधर्म का आधार है। उसकी प्राप्ति के सामने स्वर्ग-

---

१ मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।१४/३।
२ भूमिरापोऽनलो वायु ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इतीय मे भिन्न प्रकृतिरष्टधा । ७/४
३ वेद की पुत्री सुम्रिति भाई।
४ सुम्रिति आहि गुननि को चीन्हा, पाप पुन्न को मारग कीन्हा।
५ भागवत ४/२०/३०
६ २/४६
७ २/४५

सुख भी व्यर्थ है। फिर लोक के सुख की क्या बात है ? वेद अधिक से अधिक स्वर्ग तक ले जायँगे। इसके आगे वेदो की गति नही है।

कबीर को रचनाओ का सारा सदर्भ पौराणिक है। उनके साथी भक्त अधिकतर पौराणिक है। उन्हे भक्त अम्बरीष की कथा पर गर्व है। भक्त के सामने ऋषि की दुर्गति होती है। भगवान् ने अम्बरीष की रक्षा मे चक्र सुदर्शन जारी किया–

राजा अंबरीष के कारणि चक्र सुदरसंन जारै।

तैतीस कोटि देवो और अठासी हजार मुनि की कल्पना भी पौराणिक है जिसे कबीर स्वीकार करते है–

सुर तेतीसूं कौतिग आए मुनियर सहस अठ्यासी।

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव के पुराणो मे तीन रूप है। सृष्टि, पालन और सहार। यम मृत्युदेव है। किंतु मृत्यु का असली देवता काल है। काल को स्वय भगवान् का प्रतिरूप कहा गया है। कबीर इन पौराणिक प्रतीको को स्वीकार करते है। ८४ लाख योनियाँ, चार प्रकार के जीव, नवग्रह तथा पचभूत की कल्पना भी उन्हे स्वीकार है।

स्वर्ग की कामना वैदिक कल्पना है। भक्ति मे स्वर्ग को हीन माना गया है। कबीर कहते है–

जब लग है बैकुंठ की आसा। तब लग नहीं हरि के चरन निवासा।

ब्रह्मा को कुम्हार कहा गया है। कबीर कहते है–

कुंभार एक कमाई माटी बहुविधि जुगति बणांई ।

कबीर ने विवाह या मृत्यु आदि के रूपक बाँधे है वे भी हिंदू पुराणो-परंपराओ के अनुसार है। विवाह मे पचसखी (इद्रियाँ) मगल गाती है। दुलहन (साधक) डोली मे जा रही है। इसमे पाँच कहार लगे है। उसमे उहार लगा है। नायिका नैहर जा रही है। नैहर जाने मे उसे दुख होता है। (सामान्यत लड़कियो को ससुराल जाने मे दुख होता है)।

इसी तरह रावण, लका और उसकी समृद्धि, कस और कृष्ण की कथा से कबीर का साहित्य भरा है। स्वय कबीर ने पैराणिक आधारो को लेकर अपना पुराण रचा। यो तो पौराणिक तत्त्व उनकी सभी रचनाओ मे है। किंतु रमैनी तो मूलत पुराण ही है। इसमे ऐसी कथाएँ भी आयी है जिनसे साधारणजन अपरिचित है। किंतु वे अप्रामाणिक नही है। उदाहरण के लिये– पार्वती को कबीर ने बाँझ नही कहा है—

पारबती को बाँझ न कहिए ईस न कहिए भिखारी।

क्या पार्वती बाँझ थी ? हाँ। पार्वती के दो पुत्र थे कार्तिकेय (स्कंद) और गणेश। कार्तिकेय के जन्म मे शकर का वीर्य स्खलित हो गया था। जिसे गगा, अग्नि आदि ने धारण किया। शकर तेज के स्खलन से इनका नाम स्कद हुआ। इन्हे कृतिकाओ ने पाला था। गणेश और कार्तिकेय दोनो ही पार्वती की क्षेत्रज या आत्मज नही है। गणेश पार्वती की मैल से तैयार हुए थे। इसी तरह शिव को सामान्यत धनहीन माना जाता है। किंतु कबीर इन्हे धनहीन नही कहते है। ऐसा कहने से दूसरो को भी मना करते है।

सत कबीर कहते है–

तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन आठ तुम जीतहु जाई।

सवाल है यह आठ मैथुन क्या है ? आठ प्रकार के विवाह है। क्या इन्हे ही आठ मैथुन माना जाय ? कुछ लोग मन, बुद्धि, अहकार और पाँच ज्ञानेंद्रियो के भोग को मैथुन कहते है।

कामसूत्र (२/४/४) के अनुसार कामकला के आठ भेद है– आलिगन, चुवन, नखच्छेदन, दशनच्छेद, सवेशन, सीतकार, पुरुषायित, औपरिष्टक। इनमे प्रत्येक के आठ-आठ भेद हैं। इसी से इन्हे ६४ कला भी कहते है। सत कवीर का ज्ञान कितना गहरा है ? वे ६४ कला को चौसठ दीपक और आठ काम की भी चर्चा करते है।

अष्ट मैथुन जीतने का उपदेश विष्णु ने किसे दिया ? सनकादि को–**तब सनकादि तत्व विचारा। ज्यो धन पावहिं रंक अपारा।** सनकादि सभी भाई नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। अव पता लगा कि वे विष्णु के आदेश से ब्रह्मचारी है। उन्हे दुनिया की सवसे महत्वपूर्ण सपत्ति मिल गयी है– ब्रह्मचर्य एव भगवान् की कृपा।

भगवान ने वामन अवतार लिया। ब्राह्मण का रूप धरकर राजा वलि को छलकर उसका पूरा राज्य ले लिया–

बावन रूप छलेउ बलि राजा। ब्राह्मन कीन्ह कौन को काजा।

अर्जुन ने अग्नि को तृप्त करने के लिये खाडव वन दाह किया था। कवीर के शब्दो मे–

तीसर बूड़े पारथ भाई। जिन बन दीन्हो दहा लगाई।

पारथ = अर्जुन। दहा = दग्ध। आग। 'सशयात्मा विनश्यति' गीता का यह कथन कवीर के यहॉ सशय का हिंसक पशु हो गया है–

संसय सावज बसै सरीरा। तिन्ह खायो अनबेधा हीरा।

वेद चार वृक्ष है। वेदाग उसकी छ शाखाएँ है। यो तो विद्या अनगिनत हैं–

चारि वृक्ष छव सखा बखानै। विद्या अगनित गनै न जानै।

यह ससार एक चित्र है। ईश्वर इसका सूत्रधार है। इस चित्र को समझना कठिन है। वे ही लोग भले है जो इस चित्र को समझ लेते हैं–

जिन यह चित्र बनाइया, साँचा सूतरधार।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रहिं लेहिं निहार।

अन्य दार्शनिक भी ससारचित्र और उसकी विचित्रता की चर्चा करते है। सूत्रधार को सॉचा कहकर कवीर ने सकेत किया कि चित्र सत्य नही है। केवल सूत्रधार सत्य है। तुलसीदास ने भी शून्य भीति पर चित्र वनने की वात की है।

पुराणो की मान्यता है कि पहले जल ही जल था। जल मे एक अडाकार पैदा हुआ। इसी अडे से ब्रह्माड (ब्रह्मा + अड) वना। ब्रह्मा निकले। ब्रह्मा ने सात द्वीप (जम्बू, कुश, प्लस, क्रौच, शक, पुष्कर, शाल्मलि) ओर पृथ्वी के नौ खंड जिसे वर्ष भी कहते है (भारत, इलावृत, किपुरुष, भद्राश्व, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रम्य, कुश) वनाया। प्रकृति के आठ रूपो की चर्चा हो चुकी है। इस प्रकृति पर तीनो लोक मुग्ध है। पार्वती भी प्रकृति है। जिन्होने शिव को पाने की तपस्या की। पहले केवल प्रकृति (नारी) और पुरुष थे। बाद मे अडज, पिडज, स्वेदज, उद्भिज ये चार योनियॉ उत्पन्न हुई। उन्ही से शर्मा (ब्राह्मण), वर्मा (क्षत्रिय), देव (गुप्त, वैश्य), दास (शूद्र) हुए। सत, रज, तम तीन गुणो से धरती और आकाश भर गये। ये सभी प्रकृति प्रसार है। इसलिये सभी स्त्रियॉ है। पुरुष तो केवल एक राम है। यह मान्यता अनेक भक्ति सप्रदायो की है। इसीलिये कवीर, सूरदास, मीरा आदि प्रभु को परम प्रिय मानकर उपासना करते है–

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मांडा। सात दीप पुहुमी नव खंडा।
सत्य सत्य कहि विष्णु दृढाई। तीन लोक मे राखिन आई।

लिंग रूप तब शंकर कीन्हा। धरती कीलि रसातल दीन्हा।
तब अष्टंगी रची कुमारी। तीनि लोक मोहिनि सम म्रारी।
दुतिया नाम पार्वती भयऊ। तप करते शंकर को दयऊ।
एके पुरुष एकै है नारी ताते। रची खानि भौ चारी।
सर्बन बर्बन देव औ दासा। रज सत तम गुन धरति अकासा।
एक अंड ओंकार ते, सभ जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की, अबिचल पुरुष भरतार।

जो पढ़े तो है। किंतु उसके बाद भी अतर्दृष्टि विहीन है। उनके लिये शास्त्र अधे के लिये दर्पण के समान है। जैसे कलछुल सब्जी मे डूबी रहकर भी उस रस को नही जान पाती है। इसी बात को सत कबीर कहते है–

अंध सो दरपन बेद पुराना, दरबी कहा महारस जाना।

शास्त्र पढ़कर भी मूर्ख रहनेवाले को–लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पण कि करिष्यति और दूसरे के लिये दब्वी सूप रस यथा। यह वचन महाभारत और धम्मपद मे यथावत् है।

पुराणो के प्रतिनायको की ओर सकेत करते कबीर कहते है– जरासध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, सोने की दीवालो वाला लका का राजा रावण, दुर्योधन ये सब अहकारवश चले गये। पाडवो को भी भेद नही मिला। सभी उत्तम, मध्यम, नीच चले गये।

कबीर कहते है कि उस परमतत्त्व का आदि अत स्वय शिव को भी नही मिला। उमा सहित जीवनभर खोजते रहे। जब उन जैसे सिद्ध-साधक का यह हाल है तो साधारणजन का क्या होगा–

महादेव मुनि अंत न पाया, उमा सहित उन्ह जन्म गँवाया। उनते सिध साधक नहिं कोई···

पुराणो मे कथा आती है कि विष्णु का मोहिनी रूप देखकर शिव मोहित हो गये। उनके साथ उमा भी थी। शायद कबीर उसी घटना की ओर सकेत कर रहे है।

प्रसिद्ध है कि कबीर अवतारो मे विश्वास नही करते थे। अवतार कल्पना सगुणोपासना और वैष्णव कल्पना है। क्योकि प्राय विष्णु के ही अवतार देखे जाते है। कबीर ने इस अवतार की अत्यत सूक्ष्म आलोचना की है। अनेक पुराणो मे कथा आती है कि शालग्राम गडक के पत्थर का अश है। कबीर कहते है शालग्राम गडक का पत्थर नही है–

गंडक सालिगराम न सीला···

ऐसे ही पभु ने द्वारका मे शरीर नही छोड़ा था। जगन्नाथपुरी मे पिड नही गाड़ा था। कबीर की दृष्टि मे प्रभु ने जब शरीर ही धारण नही किया तो छोड़ने और गाड़ने का सवाल कहाँ उठता है?

पुराणो ने कभी-कभी देवताओ को रजोगुणी और तमोगुणी तक कहा है। वे लोभी द्वेषी और कामी है। देवेद्र, चद्रमा आदि का काम अत्यत प्रसिद्ध है। इसी बात को कबीर कहते है–

देव चरित्र सुनहु रे भाई, सो तो ब्रह्मा धिया नसाई।
ऊ जे सुनी मंदोदरि तारा तिन घर जेठ सदा लगवारा।
सुरपति जाय अहीलहिं छरी, सुरगुर घरनि चंद्रमै हरी।
कहै कबीर हरि के गुन गाया, कुन्ती करन कुँवारहिं जाया।

ये कथाए प्रसिद्ध है। सबने कही है। बालि के मरते समय राम ने बालि से कहा कि तुमने अपनी अनुजवधू को रख लिया। ब्रह्मा की कथा तो शुद्ध रूपक है। फिर भी, पुराणो मे भी

इसकी आलोचना है। लोग ऐसे रूपको को भी अच्छा नही मानते हैं। और सब कथाएँ प्रसिद्ध है। कवीर ने पुराणो की ये कथाऐं इसलिये नही लीं कि वे पुराणो को दुहराना चाहते थे। वे पुराण प्रतीको का प्रचार भी नही करना चाहते थे। केवल इतना कि पुराण कथाओ, उनके नायको और प्रतीको द्वारा उस जनता को निर्गुण, निराकार, माया और ससार की मिथ्या स्थिति को समझाना चाहते थे। स्वाभाविक है कि इस कार्य के लिये पुराणो की कथाऐं महत्त्वपूर्ण थीं।

कवीर द्वारा पुराण कथाओ के प्रयोग वाहुल्य से दो वाते स्पष्ट है– १. ये कथाएं लोकचित्त मे अत्यत वैठी थीं। २ स्वय कवीर जिस परपरा मे थे वह परपरा इन कथाओ को अच्छी तरह जानती थी। क्योकि इसमे एक भी ऐसी वात नही आई है जो पुराण-शास्त्र से अप्रामाणिक हो।

कवीर को पौराणिक परंपरा का जितना अच्छा ज्ञान है उसके मुकावले उन्हे किसी दूसरी परपरा का ज्ञान है इसमे सदेह है। शायद उन्हे दूसरी परपरा के ज्ञान, विशेषकर उस ज्ञान की अभिव्यक्ति की कोई आवश्यकता नही थी। क्योकि जिस जनसमुदाय से वाते कर रहे थे, जिसे शिक्षित करने पर उनका मुख्य जोर था वे सब इसी पौराणिक परपरावाले थे। जिन्होने अपने पुराणो और धर्मग्रथो मे अपनी इतनी आलोचना कर रखी है कि अव दूसरी आलोचनाएँ मनोरजन मात्र करती है।

पुराणो को पचम वेद कहा गया है। इससे एक वात स्पष्ट है कि पुराण वेद विरोधी नहीं है। उसी परपरा के विकास है। किंतु वेद नही है। वेद से भिन्न हैं। कैसी भिन्नता है ?

पहली बात यह कि वेद विशिष्टजन के लिये और शव्दप्रधान है। पुराण सामान्यजन के लिये अर्थप्रधान है। पुराणो को कभी-कभी विस्तार का पर्याय भी माना जाता है। उसके दस लक्षणो मे वहुत-सी बाते आती है। भागवत मे पुराण के दस[1] लक्षण बताये गये हैं।[1] इससे पुराणो की व्यापकता स्पष्ट है। इनमे अनेक बाते है। किंतु कबीर ने सव नही लिया। अपनी आवश्यकतानुसार छाँटकर लिया। फिर भी सत कवीर मे अनेक वातो का मेल दीखता है। उदाहरण के लिये उनका ब्रह्म निर्गुण निराकार भी है और प्रेम का आधार भी है। पूछिए निराकार से प्रेम कैसे हो सकता है ? प्रेम को तो साकार होना होगा। कवीर सॉई, पति, खसम आदि शब्दो द्वारा निराकार को साकार रूप देते है।

सत कवीर की पौराणिक चर्चा सामान्य से कुछ भिन्न हे, यह कहा जा चुका है। भागवत, अन्य पुराणो एव भाषा के कृष्ण काव्य मे भ्रमर गीत का प्रसग प्रसिद्ध है। यहाँ उद्धव गोपियो को निर्गुण-निराकार का उपदेश देते है। सामान्यत समझा जाता है कि वृदावन सगुणोपासक हैं। किंतु कबीर ऐसा नही मानते–

निर्गुन ब्रह्म मते बृंदावन, अजहूँ लागि खुमारी।

कवीर यह कहना चाहते है कि वृदावन की भी मूल उपासना सगुण नही निर्गुण की है। इसलिये उद्धव का यह उपदेश अस्थान नही था। वृदावन के इस प्रसग से भ्रमर गीत पर नया प्रकाश पड़ता है।

ऋषि शृगी ने राम की बहन शाता से विवाह किया था। शृगी ऋषि ने ही दशरथ को सतानोत्पत्ति के लिये यज्ञ कराया था। इस प्रकार शृगी ऋषि राम के वहनोई और यज्ञकारक पिता से लगते है। कबीर कहते है–

देखहु लोगो हरि की सगाई,

हम बहनोई राम मोर सारा, हमहि बाप हरि पुत्र हमारा।

कबीर ने पौराणिक कथा का उपयोग निर्गुण साधना के लिये किया है। पुरुष और प्रकृति

---

१ सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशकथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय। २।१०।१।

दोनो साथ पैदा हुए है। फिर जीव माया (प्रकृति) मे बँध जाता है। ब्रह्म दोनो का पिता है। सगुण साकार अवतारी राम माया के भाई है। साधक कबीर ने माया से अपना सबध जोड़कर अपने को राम का बहनोई कहा। कबीर ब्रह्म भी है। अत अवतारी राम इस ब्रह्म के पुत्र हुए। कबीर यह भी कहते है कि ससारी सबध अस्थिर है। जो पुत्र है, वही पिता बन जाता है। ऐसे ही सबध बदलते रहते है।

कबीर अपने विचारो की पुष्टि के लिये पुराणो का उपयोग करते है। उदाहरण के लिये वे मानते है कि ससार मे कोई सुखी नही है–

तन धरि काहू न सुखिया देखा, जो देखा सो दुखिया हो।

इस सिद्धात को वे सर्वत्र लगाते है। राम भी जब शरीर धारण करते है तो उन्हे भी दुखी होना पड़ता है। ससार के सारे छल छद्मो मे जाना पड़ता है। क्योकि देह का भी कुछ नियम है। वह नियम सब तनधारी पर लागू होता है–

कहै कबीर तेई भये दुखिया, जिन यह राह चलाई।

क्योकि राम भी पूर्व कर्म से बँधे थे। सभी को कर्मो का फल भोगना होता है। राम ने भी भोगा–

गुरु बसिष्ट मिलि लगन सोधाई, सूर्य मंत्र एक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ बिवाही, पल एक सच न कीन्हा।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वसिष्ठ का ज्योतिष तो कर्मफलभोग के सामने विफल ही हो गया। सूर्य मत्र जो अत्यत प्रभावशाली एव गोप्य मत्र है वह भी विफल हो गया। सूर्य मत्र की जानकारी इस बात का प्रमाण है कि कबीर को पुराण साहित्य का गहरा ज्ञान था। क्योकि सामान्यत लोग सूर्य मत्र से अपरिचित है।

सत कबीर पूछते है कृष्ण नद के पुत्र है। कितु नद किसके पुत्र है ? जब धरती और आकाश दोनो नही थे। अर्थात् सृष्टि नही थी तब नद कहाँ थे ? कबीर ने यह 'कहाँ' कृष्ण के बारे मे नही पूछा। क्योकि कृष्ण तो ब्रह्म रूप मे थे ही। वे तो सनातन है।[१] इसी कृष्ण को लोग गोवर्धनधारी कहते है। कबीर के लिये यह आश्चर्य की बात है। औठो कुल के पर्वत जिसके पैर की धूल है। सातो समुद्र आँखो के अजन है, जो विराट् रूप है उसे गोवर्धनधारी कहना क्या उचित है ?[२]

ब्रह्मा का जन्म कमल से हुआ है। गगा विष्णु के चरण से निकली है। जन्म के बाद ब्रह्मा कमलनाल मे अपना उत्पत्ति स्थान खोजते है। ये सब पुराणो की प्रसिद्ध कहानियाँ है।[३] नल-नील ने वरदान से समुद्र बाँधा था। उनके द्वारा फेके गये पत्थर डूबते नही थे। भीलनी के जूठे वैर राम ने खाए थे। गणिका अर्थात् पिंगला। पिगला एक पौराणिक नाम है जो प्राय निराश वेश्या के लिये प्रयुक्त होता है।[४] इसी के आगे कबीर निगम की साक्षी को भी स्वीकार करते है।[५] ब्रह्म और जीव मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। ससार दर्पण है। इसमे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब

---

१ लोक तुम जो कहत हौ नद के नदन, नद कहौ धू काकौ रे।
२ लोग कहे गोबरधनधारी। ताकौ मोहि अचभौ भारी।
अष्ट कुली परबत जाके पग की रैना। सातौ सागर अजन नैना।
३ ब्रह्मा खोजि पर्‌यो गहि नाल। कहै कबीर वै राम निराल।
४ भजन को परताप ऐसो, तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका चढे जात विंवान।
५ निगम जाकी साखि बोलै, कहै सत सुजान।

जीव है। दोनो एक है। किंतु यह बात जीव को समझ में नही आती है। सशय वना रहता है। यह सशय तब मिटता है जब महाप्रलय मे सारे तत्त्व एक हो जाते है। सव मिलकर एक ही रह जाता है।[१]

' पुराण अपनी वात को वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि द्वारा प्रामाणिक वताने के लिये आरभ में ही कहते है– श्रुति सम्मितम् (महा०हरि०पर्व १/२७)। इद भागवत नाम पुराण ब्रह्म सम्मितम्। सर्व वेदेतिहासाना सार सार समुद्धृतम् (भा० १/३/४०-४२)। अव कवीर साहव का देखिए–

कबीर कहै मै कथि गया, कथि गये ब्रह्म महेश।
राम नाम ततसार है, सब काहू उपदेस।

इसमे ब्रह्म तो स्पष्ट ही ऊपर उद्धृत भागवत का ब्रह्म है। आध्यात्म रामायण और मानस की कथा महेश कहते है। भागवत मे भी शिव रामभक्त के रूप मे आये है 'सव काहू उपदेश' मे ऊपर के 'सर्व' का अनुवाद है। इसी को तुलसीदास 'नाना' शब्द से व्यक्त करने हैं।

सत कवीर वार-वार अपने को दासो का दास कहते हैं–

कहहिं कबीर दासन के दास, काहू सुख दे काहू निरास।

× × ×

कबीर घेरा संत का दासनि का परदास।

तुलसी राम से अधिक रामदास को महत्त्व देते हैं। अध्यात्म रामायण मे सुतीक्ष्ण अपने को 'तव दासदास (भगवान के दासो के दास) कहते है। नारद ने कहा– मैं आपके भक्तों के भक्त और उनके भी भक्तो का दास हूँ ।[२] आदिपुराण मे भगवान ने कहा है—मेरा भक्त भक्त नही है। मेरे भक्तो का जो भक्त है सही मे वही मेरा भक्त है।[३]

●

---

१ ज्यो दरपन प्रतिब्यव देखिए, आप दवासूँ सोई।
ससो मिट्यौ एक को एकै महाप्रलै जब होई।

२ अह त्वद्भक्तभक्ताना तद् भक्ताना च किंकर ।–आध्यात्म०१/१/३०

३ ये मे भक्त जना पार्थ ! न मे भक्ताश चते जना ।
मद्भक्ताना च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते जना ।

एक की अनेकता

वेदांत की स्थापना स्पष्ट है—ब्रह्म एक है। इस एक से अनेक दीखता है। एक ने ही अनेक विस्तार किया है। सत इसे एक ब्रह्म का पसारा (प्रसार) कहते है। एक ने अपनी अनिर्वचनी माया के द्वारा यह सब प्रसारित किया है। माया ब्रह्म की शक्ति है। किंतु साधारण नही असाधारण शक्ति है। इस पर साख्य के प्रकृति पुरुष का प्रभाव है। साख्य प्रकृति और पुरुष दो, अलग अलग और स्वतत्र मानता है। साख्य का अर्थ है बुद्धि, ज्ञान। कहना यह कि वेदात का मूल ज्ञान भी प्रकृति पुरुष वाला है। किंतु उसे इससे सतोष नही है। उसने प्रकृति पुरुष से भी आगे, बढ़कर एक ऐसी चेतना की खोज की जो दोनो का नियत्रक है। दोनो से परे, ऊपर और विलक्षण है। यह नियत्रक प्रकृति से काम तो लेता है। किंतु प्रकृति से अलग, मुक्त, नि.सग, निर्लेप रहता है। प्रकृति उसे प्रभावित नही कर सकती। प्रकृति उससे बहुत कम दर्जे पर स्थित है। इसलिये भी कि प्रकृति बदलती है। अस्थिर है। फैलने और सिमटनेवाली है। इसका प्रसार और सकोच होता है। किंतु ब्रह्म सदा एक रस और अखड रहता है।

प्रकृति स्थूल है। ब्रह्म सूक्ष्म है। इसलिये सारा इद्रिय गम्य, इद्रियो से ज्ञात होनेवाला प्रकृतिपरक है। अत नाशवान् है। सत्य नही, मिथ्या है। इसके मुकाबाले ब्रह्म अपरिवर्त्तनशील और अत्यत सूक्ष्म है। किसी भी स्थूल से उसे समझाया नही जा सकता है। इद्रिय सवेदना से मुक्त होने पर ही उसका बोध होता है। वैज्ञानिको के सारे यत्र इद्रिय सवेद्य को पकड़ पाते है। किंतु इद्रिय सवेदना से परे ब्रह्म को समझने का कोई यत्र न बना है। न बनेगा। इसे समझने का यत्र स्वय उसी ने बनाया है। विचित्र है यह यत्र, जहॉं सारे यत्र समाप्त हो जाते है। अपनी शक्ति खो देते है। वहॉं से इस यत्र का कार्य प्रारभ होता है। सच्चाई तो यह है कि यह कोई यत्र है भी नही। यत्रहीनता का यत्र है। यत्र का नाम रूप इसे व्यक्त करने मे भ्रम पैदा करता है। यह कोई यत्र नही है बल्कि सब यत्रो का विराम है। ब्रह्म को जानने का यत्र स्वय ब्रह्म है। ब्रह्म को जानना हो तो ब्रह्म बन जाइए। ब्रह्म बनने के साधन मौजूद है। यह साधन भी कोई बाहरी नही है। क्यो बाहरी नही है ? इसलिये कि बाहरी मे तो अनेकता है। बहुरूपता है। किसको ले ? किसको छोड़े ? इस लेने-छोड़ने से भी क्या होगा ? सारे प्रयत्न व्यर्थ है। ब्रह्म तो भीतर है। सर्वत्र है और सबमे है। तो इसे भीतर देखो। अपनी वृत्तियो, इच्छाओ, कामनाओ, भावनाओ को भीतर ले जाओ। बाहर देखना हो तो सर्वत्र उसी को देखो। उसी मे सबको देखो, और कुछ मत देखो। अनेक नही एक देखो। एक को जानो। सब पता चल जायगा—

कबीर एक न जानई, सब जाने क्या होय ?
एकहि से सब होत है, सब ते एक न होय।

सब एक से होता है। सब मिलाकर भी चाहे जितनी कोशिश करो एक नही बन सकता है। सारी कोशिशे तो व्यर्थ जायॅंगी या फिर वही जायॅंगी जहॉं एक है।

अभी-अभी बाहर देखने की भी बात थी। बाहर देखने से दो स्थितियॉं पैदा होती है—पहली है नाश। केवल बाहर-बाहर देखो। सबको प्राप्त करने के चक्कर मे कुछ भी नही प्राप्त होगा। क्योकि बाहर का तो सब नाशवान् है। नाश की ओर स्थिर है। बढ़ रहा है। दूसरी स्थिति है बाहर मे भी एक को देखो। एक की खोज करो। बाहर और भीतर को ऐसे देखो जैसे दोनो

एक है। एक को एक से, एक रूप मे, एक की तरह देखो। भीतर को बाहर को समान देखो। भीतर भी खतरे कम नही है। भीतर भी मैल भरी है। नाना प्रकार की वासनाऍ, इच्छाएँ। शास्त्र कहता है। हर व्यक्ति के छ दुश्मन उसके भीतर बसते है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद,मत्सर। चार दिशाऍ है। दुश्मन छ है। चारो दिशाओ के अतिरिक्त दो दिशा और। शायद धरती और स्वर्ग। स्वर्ग की कल्पना भी विषयो वाली है। स्वर्ग देवो मे भी ये विकार हैं। इसीलिये कबीर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा नही करते। उसकी चर्चा से भी घबराते है। स्वर्ग के कई दोष है–एक तो वह स्थायी नही है। पुण्य क्षीण होने के बाद वहॉ से गिरना पड़ता है। दूसरे यह कि वह कामना-युक्त है। और जहॉं कामना है वहॉ मुक्ति नही है। वहॉ ब्रह्म या भगवान् नही मिलते। कामना है तो काम की वस्तुऍ लो। ईश्वर तो अकाम, अनिच्छित को प्राप्त होता है। फिर जैसा कि कहा गया है ये छ दुश्मन स्वर्ग को भी घेरे है। जब स्वर्ग मे भी ये दुश्मन है तो स्वर्ग प्राप्ति से फायदा ? इसीलिये कबीर की दृष्टि मे स्वर्ग नरक की कल्पना बेकार है।

तो इन छ विकारो को जो भीतर हैं। मार डालो। इनसे मुक्त हो जाओ। ये सूक्ष्म स्थूल दुश्मन सबको परेशान किये है। सभी इससे परेशान है। इनके रहते कुछ नही होगा। इनके रहते एक की प्राप्ति को कौन कहे संसार का सुख भी नही प्राप्त हो सकता है। मृगमरीचिका के समान भटकना पड़ता है।

किसी को प्राप्त करने के लिये पहले उसे जानना होता है। वेदात और कबीर ने उसे जान लिया है। वह एक है। आग, हवा, आकाश, जल, पृथ्वी आदि के समान। आग, हवा आदि अनेक स्थानो मे अलग-अलग दीखती है। कितु सब एक है। उपनिषद् इसका अच्छा वर्णन करती है–

'एक ही आग सारे ससार मे अनेक रूपो मे दीखती है। इसी प्रकार सभी भूतो मे स्थित एक ही परमात्मा सभी मे अलग-अलग भासित होता है।' यही बात सूर्य, हवा, पृथ्वी आदि के लिये है।[१] इसी बात को कबीर कहते है–

हंम तौ एक एक करि जांनां।
दोइ कहै तिनही कौ दोजग, ते नांहिन पहिचाना।
एके पवन, एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा।

एक पर यह जोर इसलिये है कि विविधता देखना आसान है। सभी देख लेते है। प्रत्येक शरीर मे कितने ही अग है। सभी जानते है। सभी अगो के अलग-अलग रूप है। नाम है। ऐसे ही ससार मे जो भी हैं।सब भिन्न-भिन्न रूप नाम वाला है। कितु इस नाम रूप से अलग भी कुछ है। चलती चक्की सभी देखते है। उसमे दो पाट है। कितु ये दोनो पाट व्यर्थ हैं।यदि दोनो के बीच मे कील न हो। खभा ही वह तत्व है जो इन पाटो को उपयोगी बनाता है। पाट दो और कील एक। एक ही शरीर के विभिन्न अग व्यर्थ होते यदि उन्हे चलानेवाला भीतर नही होता। कितु शरीर सब देखता है। शरीरी को कोई नही देखता है। बाहर से देखने पर भी शरीर क्या है ? सब तो अग हैं ? इनमे शरीर कौन है ? सबके मिलने पर ही एक नाम बना शरीर। कितु इस शरीर को भी दूसरा शरीरी चला रहा है। भूतवादी उसे मन कहते है। कितु वेदात और सत मन से भी आगे जाते है। मन भी मरणशील है। विषयाधीन है।

---

१ अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च। -कठ० २।२।९

वेदात और सत ने ऐसे तत्त्व की खोज की है जो नष्ट नही होता है। वह सबको नष्ट करता है। रखता है। पैदा करता है। इसे कहते है जन्म, मृत्यु और स्थिति। एक की खोज अत्यत महत्त्वकाक्षी योजना है। सभी नाशवान् को खोजते है। उसे खोजते है जो कालदेव की मुट्ठी मे है। कुछ मुख मे है। कुछ गोद्र मे है। कितु वेदात और संत ने इन सबके उस मालिक की खोज की है जो सबको नचाता है। इनका सबध परम पुरुष से है। पुरुष नाशवान् है। परम पुरुष अनश्वर है। किसी का सबध राजा से हो जाय तो वह प्रजा को क्या समझेगा ? प्रजा तो उसके लिये अत्यत तुच्छ है। वेदात और सत इसी एक को प्राप्त कर मग्न है। आत्माराम मे विचरण करते है। दुनिया के सारे भोग इस एक के सामने व्यर्थ है। प्रत्यक्ष जगत् इन्हे मिथ्या लगता है। क्योकि एक विराट् सत्य से साक्षात्कार हो गया है। कितु प्रत्यक्ष जगत की भी अपनी सत्ता है। मिथ्या सत्ता भी एक सत्ता है। स्वप्न मे देखना भी देखना है। जब स्वप्न है वह सत्य सा भसता है। इसी प्रकार ससार भी भासमान् है। मिथ्या का अर्थ यह नहीं कि योगी को चोट नही लगती है। उसे काटो तो खून नही निकलेगा। निकलेगा अवश्य निकलेगा। अब सत उस सत्य और इस मिथ्या मे सतुलन बैठाता है। सत्य के प्रति समर्पित रहता है। मिथ्या को आसक्तिरहित होकर भोगता है। जब तक शरीर है। शरीरी (आत्मा) उसमे विराजमान है। तब तक शरीर की रक्षा भी आवश्यक है। अनेकता के प्रति उदासीनता और तटस्थता ही बरती जा सकती है। उसे बिल्कुल छोड़ा नही जा सकता है। रेल की यात्रा जब तक है तब तक रेल के नियमो का पालन आवश्यक है। हाँ, वह यात्रा का साधन है। यह ज्ञात है कि रेल को छोडना है। यह अतिम नही है। यह गतव्य का साधन मात्र है। इसलिये भी कि वह एक कही अन्यत्र नही है। इसी देह, गेह और लोक मे व्याप्त है। अदर भी है। बाहर भी है। अदर बाहर के आधार पर टिका है। बाहर की शक्ति अदर के देवता के हाथो मे है। बाहर अगर कठपुतली है तो अदर सूत्रधार है। दोनो के समन्वय से ही नृत्य होता है। खाली सूत्रधार क्या करेगा ? किसे नचाएगा ? सूत्रधार के अभाव मे कठपुतली काठ रह जायगी। पुतली नही बन सकेगी।

खाली एक का बोध आदमी को विक्षिप्त बना सकता है। वह प्रत्यक्ष के भूत जगत की उपेक्षा करने लग जायगा। उसे भूलना नही चाहिए कि इस अनेकता का कारण वही एक है। एक से ही अनेक बना है। अनेक मे भी एक के तत्त्व विराजमान है। अत अनेक की सेवा, प्रतिष्ठा और सवर्धन भी एक की ही सेवा है। अच्छा योगी, सत, महात्मा अनेक की उपेक्षा केवल उसी सीमा तक करता है जिस सीमा मे वह उसे भूल न जाय। वह स्वय अनेक का एक अश है। अनेक न होता तो वह ही कहाँ होता। एक की इच्छा से ही अनेक हुआ है और है। इसलिये अनेक का बोध बिल्कुल छोड़ना सभव नही। उचित भी नही। एक को भूलकर अनेक की उपासना बुरी है। ऐसे ही अनेक को छोड़कर एक की उपासना न सभव है, न उचित। लोकजीवन मे केवल एक की बात नही हो सकती है। केवल एक खतरनाक नारा बन जायगा। यहाँ अनेकता आवश्यक है। अनेकता तो है ही। कितु इस अनुपेक्षणी अनेकता के बीच एक की खोज आवश्यक है। इसीलिये संत अनेक मे 'एक' और एक से उत्पन्न अनेक का उपासक है। देह रहते जगत और ब्रह्म की एकता आवश्यक है। विरोध है केवल एक और अनेक के बीच। भेद, भ्रम और बिलगाव करनेवाले तत्त्व की। इसी तत्त्व को माया कहते हैं। यह माया ही जगत, जीव और ब्रह्म को अलग करती है। अनेक को एक और एक के अनेक रूप को ठीक-ठीक समझने मे बाधक बनती है। माया के कारण ही एक अनेक दीखता है। इसीलिये वेदात और संत का विरोध न एक से है, न अनेक से। उसका विरोध तो दोनों के बीच की माया से है। सत उस घड़े को तोड़ देना चाहता है जिसके कारण समुद्र और घड़े का जल भिन्न दीखता है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। क्या कबीर बहुदेवोपासक है ? वे तो अनेक के भी उपासक है। अनेक तो एक ही है। यह भ्रम है। एक और अनेक मे अतर है। एक तो सत्य है। किंतु अनेक मिथ्या है। बालक खेल के लिये घरौदा बनाता है। तो उपासना बालक की होगी। घरौंदे की नही। किंतु घरौंदे को मिटाने का दूसरो को कोई हक नही है। यह हक तो उसे ही है जिसने उसे बनाया है। उसने स्व इच्छा से अपनें साधनो से बनाया है। जब तक चाहे खेले। जब चाहे मिटा दे। हम तो केवल उस खेल का आनद ले सकते है। हमारे मिटाने से घरौदा न मिटेगा। मिटा तो वह बालक दुखी होगा जिसके कार्य मे अनावश्यक दखल दिया गया है। इसीलिये वेदात और सत कबीर ससार नही मिटाते। ससार मिटाने की बात सोचते तक नही। केवल माया को मिटाते है। इसलिये ससार एक की अनेक सृष्टि है। वह न मिट सकता है। न उसे मिटाने की हमारी सामर्थ्य है। न उसे बनानेवाले की इच्छा के बिना मिटना चाहिए।

इसी से कबीर बहुदेववादी नही है। केवल यही कहते है कि अनेक मे एक है अवश्य। किंतु अनेक को एक नही कहा जा सकता है। देवता अनेक है। कबीर सारे देवी देवता और अवतार अंजन है–

अंजन ब्रह्मा संकर इंद, अंजन गोपी संगि गोविंद।
कहै कबीर कोइ बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै।

पुराणो मे भी जिन्होने ब्रह्म को एक देखने की कोशिश की विराट् रूप दिखाया गया। विराट् को एक रूप दिखाया गया। एक के भीतर विराट् है। एक ही विराट् है। विराट् ही एक है। एक अनेक द्वन्द्व जैसा भासता है। किंतु यह द्वन्द्व नही है। एक ही सत्ता के आभास है। दर्पण मे दूसरा मुख नही है। एक ही मुख दर्पण और दर्पण मे बहुत दीखता है। इस एक को लोगो ने ढाई बना दिया। ढाई की कल्पना कही नही है। यह अप्रमाणिक कल्पना है। एक ओकार का वाचक है। प्रेम मे ढाई आखर होता है। किंतु प्रेम तो साधन है। साध्य तो राम है। ओकार ब्रह्म का वाचक है। जैसा कि कहा गया है ओकार एकाक्षरी या तीन अच्छरो वाला है। फिर ढाई की कल्पना व्यर्थ है। कबीर सर्वत्र ही एक की बात करते है। तीन भी उन्हे पसद नही। एक तीन (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) हुआ। किंतु इस तीन को भी वे माया मानते है। प्रमाणिक पुस्तको मे सर्वत्र ही एक ही पाठ आता है–

एक जु अच्छर प्रेम का पढै सो पंडित हो।

जिसनें राम नाम का एक अच्छर भी जान लिया वह पडित हो गया। पूरा (ढाई) पढ़कर पडित होने मे क्या रह जायगा? पूरा पढ़कर तो सभी पडित हो जायेंगे? ढाई मे प्रेम की तीव्रता नही है। साधना का उत्कर्ष नही है। एक, दो, तीन की परपरा है। कही भी ढाई की परपरा नही है। ढाई की कल्पना अज्ञानमूलक है। सत कबीर एक को प्राप्तकर एकमेव, एक होना चाहते है। इसके बाद कुछ नही।

●

सगुण संकेत

सपूर्ण सगुण झूठा है। निर्गुण सत्य है। किंतु बिना सगुण के निर्गुण कहा नही जा सकता है।[1] निर्गुण का आधार सगुण है। सगुण निर्गुण द्वारा व्युत्पन्न है। प्रकृति सगुण है। तीन गुणो सत्व, रज, तमवाली है। साख्य दृष्टि से प्रकृति जड़ है। पुरुष के ससर्ग से वह सक्रिय होती है। प्रकृति मे आकर्षण है। वह पुरुष मे इच्छा जाग्रत करती है। यो पुरुष निरीह है। इच्छा रहित है। पुरुष जो कुछ भी करता है वह प्रकृति को, गुण को आधार बनाकर। इसीलिये कबीर प्रकृति को झूठ मानकर भी अभिव्यक्ति के लिये उसका सहारा लेते है। आदमी न हो। उसे इद्रियाँ न हो तो कोई क्रिया सभव नही। क्रिया के लिये सगुण-साकार व्यक्ति और उसकी इंद्रियो की आवश्यकता है। इसीलिये सगुण का सपूर्ण त्याग सभव नही। शरीर धर्म नही, किंतु धर्म साधना का आधार है।

सत सगुण की उपेक्षा भर करते है। सगुण को व्यक्ति नही मानते। आत्मा ही सब कुछ है। प्रतिबिम्ब के लिये दर्पण या जल चाहिए। जल के लिये उसका आधार घटादि चाहिए। उसी प्रकार शरीर आत्मा का अधिष्ठान है। आधार है। इस अधिष्ठान के अभाव मे आत्मा की अभिव्यक्ति सभव नही। आत्मा के अभाव मे शरीर मिट्टी है। उसे जलाओ, काटो या गाड़ो कुछ फर्क नही पड़ता है। फर्क तो आत्मा के सयोग से पड़ता है। उपाधि या आवरण मे आने पर दुख सुख की अनुभूति होती है। इस आवरण से छूटना ही मुक्ति है। जब तक आत्मा शरीर के आवरण मे है उसे सगुण का सहारा लेना होगा।

सत की अनुभूति निर्गुण की है। किंतु उसकी अभिव्यक्ति सगुण है। सत कबीर अवतार मे विश्वास नही करते। किंतु राजा राम सबोधन बार-बार करते है। राम तो किसी प्रकार समझ मे आ सकता है। किंतु यह 'राजा' क्या है ? क्या इस राजा शब्द के पीछे सगुण राम राजा की पूरी अवधारणा सन्निहित नही है ? कबीर बार-बार रूपक बाँधते है। किसलिये ? रूपक का उद्देश्य है रूप को और स्पष्ट करना। रूप ही तो सगुण है। निर्गुण रूप नही हो सकता। राजाराम भतार है। आत्मा कबीर दुलहन है। राजा राम इस दुलहन के घर आते है। बारात सजती है। भाँवरे फिरती है। यह इतना सगुण हो उठता है कि निर्गुण पार्श्व मे चला जाता हैं। सामने रह जातीं है। राजा राम की दूलह मूर्ति। आत्मा-परमात्मा युगल मूर्ति की साधनाजन्य शादी। परमात्मा से पति-पत्नी के जिस संबध की चर्चा की जा रही है वह सगुण है। सबध शून्य से सभव नही। राजा राम से पति-पत्नी सबध सामाजिक बन जाते है।

सत कबीर ने राम के प्राय वे ही नाम लिये है जो सगुण मार्ग मे स्वीकृत है– गोविद, मुरारी, सारगपाणि, केशव, दामोदर आदि। ये नाम न केवल सार्थक है। बल्कि प्रत्येक अपना अर्थ युक्त है। इन अर्थों का इतिहास है। न केवल भाषिक बल्कि साप्रदायिक और पौराणिक इतिहास।

भगवान् की कल्पना ही सगुण मूलक है। सत कबीर ने भगवान् शब्द का एक ही प्रयोग

---

१ सगुन कहूँ तो झूठ निर्गुण कथा न जाय।
अगुन सगुन के बीच में कबिरा रहा भ्रमाय।

किया हो। क्योकि भगवान् छ ऐश्वर्यों वाला है। कबीर इन ऐश्वर्यो से बचना चाहते होगे। किंतु भगवान् के अनेक पर्याय और कर्म है। कबीर के प्रभु भक्तवत्सल है। कृपालु है।[१] शरणागत रक्षक है।[२] बैकुठ है। वहाँ जाने से मुक्ति मिलती है।[३] भजन से नीच ऊँचा हो जाता है। ईश्वर ही परम गुरु है। भजन का प्रभाव सिद्ध करने के लिये सिद्ध भक्तो का उदाहरण देना आवश्यक है। भगवान भक्तो की मदद करते है, अवतार लेकर। कबीर अवतार को अस्वीकार करते है। किंतु अवतार के कर्म को स्वीकारते है।[४] राजा अम्बरीष की कथा प्रसिद्ध है। दुर्वासा ने भक्त राजा अम्बरीष को शाप दिया था। भगवान् ने अपने भक्त की रक्षा के लिये सुदर्शन चक्र को भेजा। ॠषि दुर्वासा की पराजय हुई।[५]

ऐसी ही कथा प्रह्लाद की है। नरसिह अवतार लेकर भगवान् ने भक्त की रक्षा की। एक पद मे सूरदास के समान ही सत कबीर भक्त प्रह्लाद की कथा के मुख्य अशो को कह डालते है। अत मे कहते है कि खभा से प्रभु प्रगट हुए और हिरनाकुश को नखो से विदीर्ण कर डाला। भक्त के लिये भगवान ने नरसिह अवतार ग्रहण किया। ऐसे ही उन्होने अनेक बार प्रह्लाद का (प्रह्लाद जैसे भक्तो का) उद्धार किया है।[६] कबीर के राम सुदर है। इसलिये उनका रूप ध्यान से बढ़कर आँखो का विषय है। वे राम का सुदर रूप देखकर प्रसन्न होते हैं।[७] यह रूपदर्शन अरूप का नही, विग्रहवान् राम का है। कबीर भी तुलसी के समान ससार को दृश्य और प्रभु को द्रष्टा मानते है। द्रष्टा राम ससार को कठपुतली के समान नचा रहा है। न केवल कि यह ससार बल्कि तीनो भुवन उसकी प्रेक्षागृह है। प्रेक्ष्य है। वह नेपथ्य मे भी नेपथ्य के बाहर दर्शक दीर्घा मे भी है।[८]

एक स्थान पर 'सारगपानी' का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। सारगपाणि का अर्थ है जिसके हाथ मे सारग धनुष हो। यह सारगपाणि यम को रोकता है। जरा, रोग, काल, यमदूत है। इनके आने पर वाणी क्षीण हो जाती है। अत कबीर कहते है कि सामर्थ्य रहते सारग-पाणि को भजो। वे इन यमदूतो से तुम्हारी रक्षा करेगे।[९] भगवान के रक्षक रूप की चेतना कबीर की भक्ति का महत्वपूर्ण भाग है। कबीर की भक्ति केवल ज्ञान का विषय नही है। ज्ञान के साथ कृष्ण भक्तो जैसी प्रेम व्याकुलता और मिलन-विरह भाव है। तुलसीदास या गीता जैसा रक्षक रूप भी है। स्वय कबीर को हाथी से कुचलवाने की कोशिश हुई थी। किंतु प्रभु ने उनकी रक्षा की। प्रभु कृपा से हाथी ने कबीर का कुछ नही बिगाड़ा। उलटा वह सत कबीर के सामने नम्र

---

१ दीनदयाल कृपाल दमोदर भगतबछल भयहारी।

२ सरनाई आयौ क्यूँ गहिये, यह कौन बात तुम्हारी।

३ चलु रे वैकुठ तुमहिं लै तारउ, हियहि त प्रेम ताजनैं मारउ।

४ है हरि भजन को परवान। नीच पावैं ऊच पदवी,बाजते नीसान।
भजन कौ परताप ऐसो, तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका, चढे जात बिवान।

५ राजा अबरीक कै कारणि-चक्र सुदरसन जारै।

६. खभा तैं प्रगट्यौ गिलारि, हिरनाकस मार्‍यौ नख बिदारि।
परम पुरख देवाधिदेव भगति हेत नरसिंघ भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार प्रहलाद उधारे अनिक बार।

७ खुले नयन मे हँस हँस देखू सुदर रूप निहारूँ।

८ तीन लोक पूरा पेखनौं नाचन चावै एकै जना।
कहै कबीर ससा करि दूरि त्रिभुवन नाथ रहा भरपूरि।

९ जब लगि जुरा रोग नहिं आया, जब लगि काल ग्रसै नहि काया।
जब लगि हीन पड़ै नहिं बानीं, तब लागि भजि मन सारगपानीं।

हो गया। क्योकि हाथी के हृदय मे भगवान् का निवास था।[1] ऐसी कथाएँ अनेक भक्तो के बारे मे प्रचलित है। प्रह्लाद, मीरा आदि को भी अनेक प्रकार से मारने की कोशिश की गयी। किंतु प्रभु कृपा से उनका बाल बॉका भी नही हुआ। वे त्रिभुवन-परमात्मा की आरती भी उतारते है। आरती प्रगट देवता की उतारी जाती है। भगवान् की यह ज्योति प्रगट भी है। पत्तो और पुष्पो से पूजा भी करते है।[2] इसी सारगपाणि प्रभु से अभयपद का वरदान मॉगते है। वे केवल राम से याचना करते है। क्योकि सभी देवता उनके सेवक है।[3] इसलिये कि राम न केवल दीनदयालु है, बल्कि वत्सल भी है।[4] कबीर ससार को उपदेश भी इस कारण दे रहे है क्योकि दयालु ईश्वर ने उन्हे उपदेश देने की आज्ञा दी है–

मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू के समझाइ।

एक पतिव्रता के समान कबीर प्रभु के रूप को ऑखो मे लेकर झॉप लेना चाहते है। जिससे न वे किसी को देखे, न दूसरे को इस भगवान् के रूप को देखने दे। यह तभी सभव है जब पूर्ण समर्पण का भाव हो। इसीलिये वे सपूर्ण भाव से अपना सब कुछ हरि को समर्पित करते है। क्योकि सब कुछ ही तो ईश्वर का है। अपना कुछ नही है। जब उसी का है तो उसे समर्पित करने मे कौन सी कठिनाई है।[5] इस समर्पण वाले दोहे पर सस्कृत श्लोक–**त्वमेव वस्तु गोविद तुभ्यमेव समर्पयामि** का स्पष्ट प्रभाव है। यह प्राय भोग लगाते समय कहा जाता है।

दास और साहब का विचार अलग हुआ है। किंतु यहॉ देखना यह है कि साहब की दृष्टि से सतो की उपासना मे क्या अतर आया ? असल मे निर्गुण की उपासना असभवप्राय है। अत सतो ने अवतार नही माना। किंतु सगुण-साकार भगवान् की जरूरत उन्हे भी पड़ी।

निर्गुण निराकार का ध्यान स्थायीत्व न पा सका। शिष्य और अनुयायियो को तो एकदम नही। स्वय ऊँचे साधको ने भी गुरु को भगवान् मान लिया। सगुण भगवान् का अवतरण मानता है। निराकार शरीर मे साकार होता है। यहॉ भगवान् से भगवान् बनने की प्रक्रिया है। भगवत्ता प्राणियो की प्रार्थना पर उनके कल्याण या स्वलीला द्वारा आनद उत्पन्न करने के लिये अपना प्राकट्य करती है। निर्गुण मार्ग मे भगवत्ता का कार्य गुरु द्वारा होता है। भक्त, शिष्य, अनुयायी अथवा जीव गुरु या उच्च साधक मे भगवत्ता की अनुभूति करता है। गुरु की मूर्ति, विग्रह भगवान् की मूर्ति है। गौतम कुल का एक युवक पहले सिद्धार्थ (सिद्धि के लिये) बना। सिद्धि के बाद बुद्ध (ज्ञानी) बना। बुद्ध से महात्मा बुद्ध। फिर भगवान् बुद्ध। सतो के बारे मे ये ही बाते है। अधिकतर सत आरभ मे साधारण है। किंतु साधना द्वारा भागवततत्त्व को प्राप्त कर

---

१ भुजा बाँधि मेला करि डार्‌यो हस्ती कोपि मूड़ महि मार्‌यौ।
भाग्यौ हस्ती चीसा मारी या मूरहि की हौं बलिहारी।
× × ×
हस्ती न तारै धरै धियान बाके हृदै बसै भगवान।

२ ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेज पुज तहाँ प्रान उतारै।
पाती पच पुहुप करि पूजा, देव निरजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हों प्रगट जोति तहाँ आतम लीनॉ।

३ जौ जाचउँ तौ केवल राम।
कहे कबीर सुनि सारगपानि, देहि अभै पदु मागउ दान।

४ दीनदयाल क्रिपाल दमोदर भगतबछल भैहारी।

५ नैना अतरि आवतू नैन झाँपि तोहि लेउँ,
ना हौ देखौ और कूँ ना तुझ देखन देउँ।
मेरा मुझमे कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौपता क्या लागै है मेरा।

लेते है। 'मदिर, मूर्ति, तीर्थ, पुस्तक और पूजा विरोधी स्वय मदिर, मूर्ति, तीर्थ, पुस्तक और पूजा बन जाते है। सपूर्ण बाह्य चिन्हो और आडवरो को छोड़ने की चेतना देनेवालो के पास ही वाह्य चिन्हो, आडवरो और सजावट का चक्र घूमने लगता है। उनके कट्टर संप्रदाय बन जाते है। सप्रदाय के रख-रखाव के लिये नाना प्रकार के विधि-विधान, छापा तिलक, वेश-भूषा गढ़े जाते है।

ध्यान रखना है कि ससार सगुण-साकार है। अत यहाँ बिल्कुल शून्य नही चल सकता है। अत प्रत्येक समाज मे किसी न किसी प्रकार के अवतार की कल्पना है। प्राय समाज तीन वर्गो मे बँटा है—सामान्य, विशिष्ट और नेता। ईसा, मुहम्मद, कन्फूशियस, जरथुस्त्र आदि क्या अवतार नहीं हैं ? क्या लोग इन्हे अवतार जैसा नही मानते है ? इनकी अवतारी जीवनी नही गढ़ी गयी है ? अवतार चार प्रकार के माने गये है—आवेश, प्रवेश, प्राकट्य एव स्फूर्ति। जैसे आग का पानी मे आवेश एवं लोहे मे प्रवेश, बिजली मे स्फूर्ति एवं पत्थर की टांकी से आविर्भाव होता है। आवेश एव प्रवेश का अवतार तो सर्वस्वीकृत होना चाहिए। लाखो और करोड़ो मे कोई एक ही जब नेता बन जाता है तो निश्चय ही उसमे प्राकट्य एव स्फूर्ति देखना भी गलत नही है।

यही कारण है कि न सत कबीर पूर्णत निराकारवादी है, न उनके अनुयायी।

●

विरला

पुस्तकी ज्ञान के विरोध को ही 'विरल' शब्द से समझना है। गीता मे कहा गया है– 'हजारो मनुष्यो मे कोई एक साधना करता है। साधना करने वालो मे कोई ही परमतत्त्व को जान पाता है।'[१] सस्कृत के 'कश्चित्' और 'कोऽपि' जैसे प्रश्नवाचक सर्वनामो के लिये ही 'विरला' या 'कोई विरला' का प्रयोग होता है। सतो की साधना सार्वजनिक साधना नही है। गुरु भी सबको मार्ग नही बताते। सबको शरण मे नही लेते। इसे कहते है 'अधिकारी'। गुरु ही निर्णय करते है कि योगमार्ग, साधनामार्ग का अधिकारी कौन है ? ऐसे मे निर्जीव किताबे क्या करेगी ? यद्यपि सत का मार्ग पूर्णत योग मार्ग नही है। इस मार्ग मे समर्पण और प्रेम का मेल है। किंतु समर्पण या प्रेम का सबध भी बाह्य से न होकर अतर मन से है। अत करण से है।

कृष्ण ने दिव्य दृष्टि केवल अर्जुन को दी। कौरवो को देने का तो सवाल नही था। पाडवो मे भी सबको नही, केवल अर्जुन को। अर्जुन जो स्वय कृष्ण है। जय है। विजय है। भक्त और सखा। कृष्ण से इतना जुड़ा है कि स्वय कृष्णमय है। कृष्ण का प्रतिरूप। कृष्ण ने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये, अपने कर्म के लिये जैसे अपना ही एक रूप अलग कर रखा है। जिसके चचल अश्वो की लगाम उनके हाथ मे है। महाभारत मे अर्जुन ही कृष्ण प्रतिनिधि है। कृष्ण की अनुपस्थिति मे अर्जुन व्यर्थ है। कृष्ण नही रहे। कृष्ण ने अपना कृपा हाथ खींच लिया। अर्जुन को उसी के पुत्र बभ्रुवाहन ने मार गिराया। अत मे कृष्ण की पत्नियो को लेकर अर्जुन द्वारका से हस्तिनापुर लौट रहे थे। बीच मे आभीरो ने उन स्त्रियो को लूट लिया। अर्जुन देखते रहे। उनके पास वे सारे शस्त्र थे जिन्होने जय युद्ध मे कमाल किया था। सब था। किंतु कृष्ण नही थे। कृष्ण के बिना सब व्यर्थ हो गया। अर्जुन दुखी होकर कहते है– वही मेरा गाडीव धनुष है, वे ही बाण है, वही रथ है, वही घोड़े है, और वही मै रथी अर्जुन हूँ जिसके सामने बड़े-बड़े राजा लोग सिर झुकाया करते थे। श्रीकृष्ण के बिना ये सब एक ही क्षण मे नही के समान सारशून्य हो गये।[२] कहना इतना ही है कि प्रभु कृपा सबको नही मिलती। वह दुर्लभ है। विरल है। तुलसीदास ने इसे यो कहा है– 'जनम जनम मुनि जतन कराही, अंत राम कहि आवत नाही।' तो क्या यत्न नही करना चाहिए। यत्न के बिना कोई उपाय भी नही है। किंतु फल ईश्वराधीन है। क्या होगा कहना कठिन है। प्रणति ही एकमात्र मार्ग है।

सत कबीर बार-बार 'बिरला' शब्द का प्रयोग करते है। निर्गुण भक्तो के यहाँ यह शब्द अधिक प्रचलित है। क्योकि निर्गुण भक्ति सगुण भक्ति की अपेक्षा कठिन मानी जाती है। जातिपाँति, छुआछूत की निदा करके भी सत कबीर कोई सामाजिक व्यवस्था नही बनाते।

---

१ मनुष्याणाम् सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत ॥ ७/३

२ तद्वै धनुस्त इषव स रथो हयास्ते,
सोऽह रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्व क्षणेन तदभूदसदीश रिक्त ॥ १/१५/२१

समाज और परिवार की उन्हे चिता नही है। वे व्यक्ति की मुक्ति के समर्थक है। विरला शब्द तुलसी मे शायद मिले। क्योकि तुलसी की भक्ति सबके लिये है। कवीर की भक्ति भी सबके लिये है। किंतु ज्ञान और योग तो किसी विरल की साधना है। ज्ञान और योग हजारो मे एक साध सकते है।

जो लोग सत कबीर के सामाजिक पक्ष पर विचार करते है, उन्हे समाज सुधारक मानते हैं, उन्हे विरला शब्द को ध्यान मे रखना होगा। सत मार्ग व्यक्ति साधना का मार्ग है। व्यक्ति के सुधार, ज्ञान, उन्नति, उपदेश से जितना समाज कल्याण हो सकता है यही सत कवीर की सीमा है। सत उपदेश इसलिये देते हैं कि समाज सुधरे। इसमे सामाजिक व्यवस्था का निकलना भी स्वभाविक है। उदाहरण के लिये छुआछूत, वलि, हिंसा, यज्ञ, तीर्थ, व्रत, खतना, मूर्त उपासना आदि का विरोध। सभी धर्मो की विसगतियॉ वताकर एक निर्गुण-निराकार की उपासना का उपदेश। अपना रोजगार करते हुए थोड़े मे, रूखा-सूखा मे निर्वाह जैसी चीजे उनकी सामाजिकता और समाज सुधार के अग है। किंतु उनके जीवन का असली पक्ष वैयक्तिक साधना और मोक्ष मूलक भक्ति है। इस भक्ति मे सब निषेध है। जो भी प्रभु की प्राप्ति मे बाधक हो उसे छोड़ो। क्योंकि एक ईश्वर के अतिरिक्त सब माया, मिथ्या और बधन के कारण हैं।

किंतु माया, मिथ्या या बधन का अर्थ क्रूरता नही करुणा है। ईश्वर द्विविध रूप हैं। एक तरफ वह सबसे अलग है। दूसरी ओर सब मे है। सब मे न होता तो हिंसा अहिंसा का सवाल नही उठता। चूकि प्रभु सब जड़-चेतन मे है इसलिये सबके प्रति प्रेम और करुणा आवश्यक है। नास्तिक केवल अपने को देखता है। बहुत हुआ तो अपने वर्ग-वर्ण की चिता करता है। क्योकि उसका अस्तित्व वर्ग-वर्ण पर ही आधारित है। किंतु आत्मवादी प्रभु को सर्वत्र देखता है। नास्तिक की क्रिया प्रत्यक्ष है। इसलिये उसका द्रष्टा और प्रतिबधक भी प्रत्यक्ष है। अपरोक्ष से उसे कुछ लेना देना नही। अपरोक्ष के अभाव मे वह प्रत्यक्ष को धोखा भी दे सकता है। उसकी सामाजिकता चालाकी भी है। जहॉ तक उसकी रक्षा का प्रश्न है वही तक सामाजिकता और उसकी व्यवस्था की चिता करता है। किसी की हत्या से अगर उसकी व्यवस्था नही विगड़ती है तो उसकी हत्या को वह बुरा नही अच्छा मानता है। भूतवादी होने के कारण उसकी सीमाऍ है। कभी वर्ण, वर्ग, धर्म, सप्रदाय, देश या कभी अतर्राज्य संवध। किंतु संपूर्ण सृष्टि के प्रति करुणा के लिये उसके पास कोई प्रेरणा नही है। इतना ही नही सवमे एक चेतन सत्ता को देखने के अभाव मे वह सबके प्रति उदार नही हो सकता है। उसकी करुणा व्यवस्था और सतुलन बनकर रह जाती है। यह व्यवस्था और सतुलन उसे चालाक भी बना देती है। विराट् चेतना के अभाव मे स्वय को नियता मानने के परिणामस्वरूप वह निर्भय रहता है। अपने राग को सीमित किये रहता है। जब कि आत्मवादी सर्वत्र ही अपने प्रभु का दर्शन करता है। सबके प्रति राग रखता है। प्रभु नि सीम है। अनत है। राग और करुणा भी नि सीम है। अनंत है। संत कबीर का सारा प्रयत्न इस नि सीम और अनत की खोज है। उसे प्राप्त करने का उपाय है। यह नि सीम और अनंत जहॉ पूरी सृष्टि और सृष्टि के बाहर है वही प्रत्येक व्यष्टि के भीतर है। जैसे कुछ अक्षरो के आधार पर सारी पोथियो का ज्ञान समझ मे आने लगता है। एक स्थान का स्वाद सपूर्ण शरीर मे फैल जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति के अतर स्थित आत्मतत्त्व को समझते ही सपूर्ण सृष्टि का वोध हो जाता है। द्रौपदी के एक बटुए से लाखो लोग भोजन कर सकते थे। वैसे ही अपने भीतर के आत्मतत्त्व की समझदारी और तदाकारिता सपूर्ण सृष्टि से जोड़ देती है।

बार-बार 'विरला' या 'कोई विरला' का प्रयोग कर कबीर साहब साधना की कठोरता की ओर सकेत करते हैं। क्योकि उन्हे उस स्थान पर पहुँचाना है जो शून्य है। जहॉ चद्रमा, सूर्य और तारे भी नही हैं। जहॉ बड़े-बड़े मुनि महात्मा भी नही पहुँच पाते है। साधना की दृष्टि से यह

बिल्कुल ही वैयक्तिक धर्मसाधना है। सामाजिक या भौतिक धरातल पर सर्वधर्म एव प्राणी के प्रति समानता और समन्वय का धर्म है। साधना की अत्यत आतरिक गूढ़ता ही साधक को पुस्तक विरोधी बनाती है। विरला करती है।

एक मनोयात्रा

कबीर तेज गाड़ी से दौड़ रहे है। उन्हे कलकत्ते से दिल्ली की यात्रा करनी है। लम्बा मारग दूरि घर। रास्ते मे वहुत सी वाधाएँ है। इसलिये एक्सप्रेस बने है। किसी स्टेशन पर नहीं रुकते। अपने न रुकने का कारण बताते है। उन्हे तो दिल्ली जाना है। राम के यहाँ पहुँचना है। राम जो सबके आधार है। सभी नाशवान् मे वही एक अविनाशी हैं। बीच के सभी देवता, स्टेशन है। किंतु राम के यहाँ पहुँचनेवालो को उनसे क्या काम ? बीच के स्थानो पर रुकने से बाधा होगी। देर होगी। हो सकता है यहीं समय बीत जाय। इसलिये सत तेज चलते है। राम के यहाँ। वे राम के दरवारियो को भी कुछ नही समझते। राम का कोई दरबारी है भी नहीं। दरबारी की वात झमेला है। कवीर किसी झमेले मे नही पड़ना चाहते। अपनी भक्ति का आत्मविश्वास और गुरु के मार्गदर्शन से किसी को कुछ नही समझते। सीधे राम की ओर दौड़ रहे हैं।

लोग समझते है। कबीर और स्टेशनो के विरोधी है। किंतु कबीर न विरोधी है, न समर्थक। वे इन स्थानो की ओर देखते ही नही। क्यो देखे ? किसलिये देखे ? जो दिल्ली से जुड़ा है, जुड़ना चाहता है वह ग्राम सभापतियो की पूजा क्यो करेगा ? इसीलिये वे लोक को छोड़ते है। वेद को छोड़ते है। उनका पूर्ण (पूरे) से परिचय हो गया है। राम पियारा छाड़ि के करै कौन को जाप ? हरि सागर है। दूसरे देवता गड़ही है। राम को पूजने वाला राम होगा। भूतो की पूजा करनेवाला भूत होगा (भुतवा के पुजले भुतवा होइ)।

छोटा मन, छोटी वुद्धि और छोटी साधना के लोग बीच मे रुक जाते है। नाशवान् देवी-देवताओ की पूजा मे लग जाते है। उन्हे पूर्ण का पता ही नही चलता है। किंतु कबीर को गुरु कृपा से परम तत्त्व का ज्ञान हो गया है। वे बीच मे नही रुकेगे। वे बीच के विरोधी दीखते हैं। है भी। इसलिये कि बीच के स्टेशन से गंतव्य तक नही पहुँचा जा सकता है। लोग समझते हैं कबीर सवके विरोधी है। उसका मतलब यह नही कि दूसरे ठहराव को कबीर स्वीकार नही करते। दूसरे ठहराव भी है। किंतु उच्च साधना और परात्पर ब्रह्म की प्राप्ति की दृष्टि से वे व्यर्थ है। बाधक भी है। जब दिल्ली जाने का अवसर है तो बीच मे क्यो रुका जाय ? सीधे चलो। एक देव की उपासना करो। बहुदेव भटकाव मात्र है। सत एक को जानते है। एक को जानो। बहुत जानने से क्या फायदा ? एकहि से सब होत है। सब ते एक न होइ। सत उसी एक के यहाँ दौड़े चले जा रहे है। और सब ठहराव छूट रहे है। एक से ही बहुत हुआ है —एकोऽहम् वहु स्याम। एक दिन ऐसा आयगा वहुत एक मे विलीन हो जायगा। बहु मध्य की स्थिति है। आदि अत दोनो ही एक है। जहाँ से आये है। जहाँ जाना है। वह सब एक है।

वहुत दीखनेवाला उस एक द्वारा निर्मित है। उस एक मे समाहित है। सूर्य एक है। चंद्रमा एक है। किंतु हजारो-लाखो घड़ो मे हजारो लाखो दीखता है। प्रत्येक लहर के साथ लहराता है। हर लहर मे दीखता है। अनत लहरो के साथ अनत दीखता है। किंतु है वह एक। लहर और घट जल की माया से अनेक दीखता है। एक के बोध का अभाव। अनेक समझने का भ्रम ही माया है। अनेक दीखता भर है। किंतु है वह एक। सारी साधना इस अनेक को देखने के भ्रम का निवारण है। साधनाओ से अनेक के भ्रम का बोध हो जाता है। एक के सत्य का ज्ञान हो

जाता है। सत कबीर एक का ज्ञान करते है। कठिन काम है। सरल भी है। इतने बड़े विस्तार को, नानात्व को एक समझना साधारण बात नही है। किंतु साधारण और सरल भी इसलिये है कि लहर और घट जल का उदाहरण मौजूद है। किसी भी शरीर को देखिए। अनेक इद्रियाँ। आजकल लोग कहते है मन भी कई है–दो या तीन। पुराने लोग अत करण को चार भागो मे बॉटते है –मन, चित्त, बुद्धि और अहकार। और भी बॅटवारे है। किंतु है सब एक के अधीन। व्यक्ति तो एक है। अभिव्यक्ति एक की है। कबीर इसे ही आत्मा कहते है। आत्मा सच है और सब झूठ है (आतमराम बिना सब झूठा)। इसलिये कि नाना दीखनेवाला उसी एक का विस्तार है। नाशवान् विस्तार है। एक तो सदा रहेगा। नाना का नाश हो जायगा।

संत इस विस्तार को छोड़ रहे है। विस्तार मे बने जगह जगह के ठहराव, पड़ाव, स्टेशनो को छोड़ रहे है। अब ये ठहराव, पड़ाव कौन से है ? पहला पड़ाव और असली पड़ाव है देह-गेह। सुत दारा। तीन एषणाओ मे काम (स्त्री) और पुत्र की एषणा महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति कामतुष्ट होना चाहता है। काम से सतान चाहता है। देह के बारे मे स्पष्ट है। कबीर साहब देह को अस्वीकार नहीं करते। किंतु इस ठहराव की सेवा नही करना चाहते है। वे जानते है कि यह ठहराव कभी भी नष्ट हो जायगा। इस ठहराव को उन्होने जर्जर या छेदो वाली नाव कहा है। इस पर कभी भरोसा नही करना चाहिए। भरोसा तो दूर इसे विभिन्न सुगधित वस्तुओ से सजाना भी नही चाहिए। शरीर को मोटा भी नही करना चाहिए। घी आदि खाने से शरीर मोटा होता है। भैस जैसा शरीर लेकर क्या होगा ? मोटे शरीर से भजनभाव नही हो सकता है। धम्मपद मे आया है कि सूअर के समान लोटने से मुक्ति नही मिलती है। इसलिये शरीर को सयम मे रखते है। शरीर के सभी विकारो पर अकुश रखते है।

देह (शरीर) के बाद है गेह। स्त्री, पुत्र, धनदौलत की ममता। कबीर साहब इन्हे भी अस्वीकार करते है। कोई सपत्ति नही इकट्ठी करते। क्यो करे ? किसके लिये करे ? अपनी जरूरते अत्यत सीमित है। परिवार या तो है नही। है तो उसे भी अत्यल्प मे जीना है। अत्यल्प। कोई सग्रह नही।

घर से आगे बढ़िए। अनेक देवी-देवता पूजा लेने के लिये खड़े है। कुलदेव, ग्रामदेव, पत्थर, मिट्टी, बालू, धातु आदि के देवी-देवता और देवमूर्तियाँ। उसके बाद आते है अनेक प्रकार के अवतार। सारा ससार मूर्तिपूजा और अवतार पूजा मे उलझा है। आकार साकार की उपासना करता है। अवतारो को भगवान मानता है। भगवान् को अवतारी मानकर पूजा करता है। कबीर कहते है–मूर्तियो मे भगवान् नही है। अवतार भी भगवान् नही है। भगवान् का कोई अवतार नही होता है। अवतार के साथ है तीर्थ, व्रत, रोजा, हज, नमाज आदि। कबीर इन्हे भी अस्वीकार करते है। केवल नाम जप को स्वीकार करते है। शायद इसलिये नाम शब्द है। निर्गुण के अधिक समीप है। जैसा कि तुलसीदास कहते है–नाम सगुण-निर्गुण दोनो के बीच है। दोनो को जोड़ता है। दोनो का साक्षी है। यह नाम ओकार का पर्यायवाची है। कबीर साहब शब्द को स्वीकार करते है–जे बेधे गुरु अक्खिरा। नाम ही गुरु का अक्षर है। नाम जप भी अनाहत उच्चारण है। कबीर साहब मे आहत उच्चारण की कल्पना नही है। अनाहद नाद। नाम स्मरण, नाम रट से भीतर स्फोट होता है। वेदो, तत्रो मे अनेक शब्द है। केवल ध्वनि है। स्फोट वाले। वे अर्थ नही केवल ध्वनि से प्रभाव उत्पन्न करते है। उच्च कोटि के वाद्यो मे केवल ध्वनि होती है। ध्वनि सगीत का आधार है। ध्वनि सगीत से बहुत से कार्य होते है। किंतु कबीर का ध्वनि सगीत अनाहत है। भीतर होता है। जप की, योग की, साधना, ध्यान आदि की प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है।

ऐसा एक पड़ाव है शास्त्र का अध्ययन। पुस्तकी ज्ञान। सत कबीर इस पड़ाव को भी

अस्वीकार करते है। लोक-वेद की कोई मर्यादा, वधन उन्हे स्वीकार नही है। यह वात प्राय: सभी भक्तो के वारे मे है। तुलसीदास मर्यादा वाले है। शास्त्र वाले है। किंतु जिनका रामभक्ति से विरोध है उन्हे वे एक क्षण भी स्वीकार नही करते। ज्ञान वही है जो रामभक्ति युक्त हो। राम भक्ति को वढ़ानेवाली हो। उन्हे केवल राम नाम का भरोसा है। राम नाम के अतिरिक्त कही विश्वास नही होता। राम नाम के कारण ही षड्दर्शन तथा वेदो का अध्ययन नहीं करना पड़ा। व्रत, तीर्थ, तप, योग, जप, मँहगे यज्ञो से वचे रहे। क्योकि राम नाम ही सत्य है।।[१] श्रीमद्भागवत मे कृष्ण की वशी ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपने घरो से निकल आयी। सारे धर्म कर्म छोड़ दिये। यहाँ तक कि कृष्ण ने उनका वस्त्र भी उतरवा लिया। सभी प्रकार की ममता ओर मर्यादा से मुक्त गोपियो ने ही कृष्ण को प्राप्त किया। भगवान् के सामने सभी मर्यादाएं छोटी है। हीन है। इसीलिये सभी भक्त केवल राजा राम की राजधानी पहुँचना चाहते हैं।

सत कवीर वार-वार राजा राम की चर्चा करते है। वही दौड़ रहे हैं। वीच मे कही रुकना नही है। सतगुरु ने रास्ता वता दिया है। गाड़ी पटरी पर दौड़ती हे। सत सतगुरु द्वारा वताए मार्ग पर दौड़ रहे है। सत केवल सतगुरु को प्रमाण मानते है। एक प्रमाण। सतगुरु प्रमाण। और अत मे है अत प्रमाण। सतगुरु प्रमाण ओर अत प्रमाण मे विरोध नहीं है। क्योकि दोनों की प्रमाण का आधार शास्त्र नही, स्वानुभूति है। स्वसाधना है। चित्तवृत्तियो के निरोध द्वारा आत्मतत्त्व के वोध की साधना है। आरभ मे योग साथ देता है। आगे केवल प्रणति है। समर्पण है। कवीर साहव ने योग द्वारा वृत्तियो को सगठित किया है। किंतु यहाँ भी वे रुकते नहीं। ज्ञान या योग का पड़ाव कुछ देर के लिये है। जाना तो है वहाँ जहा मात्र समर्पण है। प्रपत्ति है। केवल देना है। वे राम का कूता (कुत्ता) वन जाते हैं। इसके लिए कोई वेश भी नहीं वनाते। दाढ़ी वढ़ाना, जटा रखना, भस्म लगाना, गुफा मे वास करना, चदन, छापा, माला, कठी कुछ भी उन्हे स्वीकार नही है। वे तो सव छोड़कर दोड़ रहे हैं। वे जहाँ जा रहे है वहाँ वाहर का कुछ जा भी तो नही सकता है। वह स्थान अत्यत सूक्ष्म हे। उसे स्थान कहना भी ठीक नही। वह तो आसमान है। शून्य है। वहाँ तो शून्य वनकर ही जाया जा सकता है। पानी मे पानी मिलता है। हवा मे हवा मिलती है। तो सूक्ष्म मे क्या स्थूल मिलेगा ?

इसीलिये कवीर किसी सप्रदाय मे नही जाते। सभी सप्रदायो की उपासना को वाह्य मानकर अपूर्ण कहते है। क्योकि जिस उपासना से प्रभु की प्राप्ति होती है वह उपासना तो केवल अनुभूति का विषय है। उसे कहा नही जा सकता है। राजधानी पहुँची गाड़ी लोट नही सकती। राजधानी का अनुभव दूसरो को कैसे वताया जाय ? यह अनुभव तो एकाकी है। एक का है। एक का, एक द्वारा, एक के लिये, एक भाव का है।

यद्यपि कवीर राम नाम के उपासक है। दूसरे नामो से भी उन्हे परहेज नहीं है। राम के ही अनेक नाम है। अल्ला, खुदा भी उसी का नाम है। नाम भी तो एक पड़ाव हैं। लोग नाम के ठहराव को लेकर लड़ते हे। मदिर, मस्जिद आदि के ठहराव को लेकर हल्ला मचाते है। कवीर ने अपने लिये राम चुन लिया है। यो उन्हे किसी भी नाम पर एतराज नहीं हे। नाम तो प्रतीक है।

---

१ विश्वास एक राम नाम को।
मानत नहि परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन वाम को।
पढ़िवो पर्यो न छठी छमत ऋगुजजुरअअथर्वन साम को।
व्रत तीरथ, तप सुनि सहमत परि मरै करै तन छाम को ?
करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।
विनयपत्रिका १५५।

अब सवाल है कि इस बिना रुके भागनेवाली यात्रा से वे जाना कहाँ चाहते है। यह कहा जा चुका है कि वह राजा राम की राजधानी है। जहाँ राम रहते है। कहाँ रहते है राजा राम ? कहाँ है राजा राम की राजधानी ? इसका उत्तर बड़ा विचित्र है। राजा राम की राजधानी कही दूर नही है। भागते-दौड़ते सत कही दूर नही जाते। अपने भीतर जाते है। इद्रियो की प्रवृत्ति बहिर्गत होती है। मन बाह्य विषयो की ओर दौड़ता है। सत उन्हे भीतर दौड़ने के लिये मजबूर करते है। असाधको के लिये भीतर कुछ नही है। जैसे बाहर से किसी के सिर दर्द का ज्ञान नही होता। 'केवल रूप देखकर किसी का पाडित्य नही समझा जा सकता। उसी प्रकार बाहर से भीतर का विस्तार नही समझा जा सकता है। बड़े-बड़े विद्वानो की विद्या, अनेक शास्त्रो का धाराप्रवाह ज्ञान कहाँ होता है यह किसी को पता नही। किंतु वह होता है। इससे पता लगता है कि भीतर अनंत शक्ति है। विश्वरूप की कल्पना केवल भगवान् मे ही नही मनुष्य मे भी है। मनुष्य शरीर से जेल मे रहता है, किंतु मन विश्वभ्रमण के लिये दौरे पर रहता है।

योग की साधना का कबीर को यह फल मिला है कि वे भीतर की अनत सभावनाओ से परिचित हो गए है। सगुण भक्तो को भगवान् दिव्य दृष्टि देकर अपना रूप दिखाते है। कभी कभी स्नेहवश भी कौशल्या और नदरानी यशोदा को दिखा देते है। इस दिव्य दृष्टि को कबीर ने साधना द्वारा, योग द्वारा प्राप्त किया है। प्रभु कृपा भी कहिए। उन्होने दिव्य दृष्टि से घट-घट मे स्थित राम से साक्षात्कार कर लिया है। घट-घट वासी राम को पाने के लिये ही सत की अखड यात्रा है। मन को घटवासी राम की खोज मे लगाते है। मन मन मे समाता है। उनमन होता है।

कहै कबीर मन मनहि समानां। तब आगम निगम झूठि करि जानां।

बाहर खोजत जनम गँवाया। उनमनीं ध्यांन घट भीतरि आया।

कबीर का मुख्य क्षेत्र भीतर है। मन है। मन को मारते भी है। चलाते भी है। उन्मन भी करते है। असल मे भीतर मन ही सब कुछ है। मन को वश मे कर लीजिए सब ठीक हो जायगा। मन ठीक करना कठिन होता है। क्योकि मन अत्यत चचल है। यही द्वैत और दुविधा का कारण है। यह हर स्टेशन पर रुकता है। इसे राजा राम के यहाँ पहुँचने मे कोई रुचि नही है। किंतु तैयार तो करना ही होगा। मन से मन की तैयारी। इस दृष्टि से यह यात्रा मन से मन की यात्रा है। एक मन से दूसरे मन मे जाना भी नही है। मन दो नही है। मन एक है किंतु इस मन मे विकार बसा है। इस विकार को हटाना है। मन का विकार मन ही हटाएगा। जैसे हाथ की मैल हाथ ही साफ करता है। आँख को आँख ही देखती है। सीधे नही, दर्पण द्वारा वैसे ही मन मन को रोकता है। गुरुदेव माध्यम बनते है। वे साधना मार्ग बताते है। कृपा करते है।

यह यात्रा कही जाने-आने वाली न होकर भी अत्यत कठिन है। बार-बार बाधाएँ आती है। जितने देवी-देवताओ और प्रलोभनो के नाम गिनाए गए है सभी इस यात्रा को रोकने की कोशिश करते है। किंतु सतगुरु की कृपा से यह रास्ता निर्विघ्न समाप्त होता है। राजा राम की राजधानी मे पहुँचा व्यक्ति कभी लौटता नही। ताकर आवागमन न होई। प्रत्येक यात्रा मे कुछ साथ लेना पड़ता है। इस यात्रा मे सब छोड़ना होता है। यह छोड़ने की यात्रा है। ससार को छोड़ो। परमात्मा को पकड़ो। जीव को ब्रह्म के पास पहुँचा दो। इसे ही कबीर अनेक ढग से कहते है। कभी राजा राम 'भतार' आते है। कभी स्वय उसकी शरण मे जाते है। जीव और ब्रह्म मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। मन दर्पण विषय की मैल हटाकर साफ कर दीजिए। प्रभु स्वय प्रतिबिम्बित होने लगेगा। कही आने जाने की जरूरत नही है। किंतु मन दर्पण को साफ करना असान नही है। इस पर जाने कितने जन्मो के सस्कारो की मैल बैठी है। लगातार

साधना यात्रा से ही यह मैल मिट सकती है। यह मिटते ही साधक देखता है कि वह तो वहीं खड़ा है जहाँ उसे जाना है। स्वप्न का आदमी कहीं न आ जाकर भी सर्वत्र जाता है। सब कुछ करता है। लेकिन सव केवल मानसिक विकार है। तो यह यात्रा भी मन से मन की यात्रा है। 'से' 'मे' की यात्रा है। मन मे मन की यात्रा है। माया मन को छोड़ ब्रह्मप्राप्ति की यात्रा है। इस यात्रा के सबध मे उपनिषद् कहता है–

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।–कठ०

बैठा दूर जाता है। सोया सर्वत्र जाता है। इसीलिये कहा गया है कि बिना पैर के चलता है। बिना कान के सुनता है। बिना हाथ के अनेक प्रकार के कर्म करता है। बिना मुँह के सारे रसो का भोग करता है। बिना जीभ के बड़ी-बड़ी बाते करता है। उसके सारे कार्य अलौकिक होते है। शरीर के बिना स्पर्श करता है। आँखो के बिना देखता है। नाक के बिना सब सूँघता है। मतलब यह कि उसके सारे कार्य इद्रियातीत होते है। जैसे ब्रह्म निर्गुन निराकार है। इद्रियारहित है। वैसे ही साधक योगी इद्रियरहित होकर उस तत्त्व को जानता है। उसका रस लेता है। इस प्रक्रिया को सूक्ष्म से सूक्ष्म की यात्रा कहते हैं। जेन नगे रहते हैं। योगी नाक कान छिदाते है। मजूषा पहनते हैं। कुछ सप्रदाय आसन साधते हैं। चंदन, भस्म लगाते है। कबीर साहब सबको छोड़कर आगे बढ़ जाते है। दाढी तो बकरे को भी होती है। या केवल इद्रिय सयम ही पूर्ण नही है। किंतु इद्रिय सयम भी आवश्यक है। कबीर साहब ने लक्ष्य किया है कि वेद कितेब व्यवहार और लोकाचार कहते हैं।[१] आत्म ज्ञान से इनका कोई सबध नहीं है।[२]

---

१ बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहै घ्रान बिनु बास असेषा। —मानस।१।११८

२ तातैं कहिए लोकाचार,
वेद कतेब कथैं व्यौहार।

सब उलटा

ससार भोग है। भोग का अर्थ है कर्म। बिना कर्म के भोग कैसा ? भोग्कर्म या कर्म-भोग। भोग ही ससार है। इस भोग को ससार को उलट देना योग है। क्यो उलटे इस भोग को ? इस ससार को ? क्या भोग बुरा है ? क्यो बुरा है ? इसलिये कि भोग ससार का है। जहॉ तक ससार वहॉ तक भोग है। कर्म है। ससार सरक रहा है। सरकना ससार धर्म है। कुछ भी स्थिर नही है। सब भाग रहा है। दौड़ रहा है। इस भागदौड़ मे स्थिरता खोज की सज्ञा योग है। जब ससार का स्वभाव ही भागनेवाला है। सरकनेवाला है तो स्थिरता की खोज अप्राकृत नही है। इस अप्राकृत के पीछे क्यो लगा जाय ? उलटा काम करने से फायदा ? आखिर पागल कहते किसे है ? जो नियम से न चले। व्यवस्था मे न रहे। उलटा करे।

किंतु स्थिरता की खोज आवश्यक है। ससार क्यो सरक रहा है ? भोग के लिये, प्रलय के लिये। उसे पाने के लिये जिसने इसे बनाया है। जो इसके मूल मे है। मूल सत्ता या मातृ-पितृ सत्ता की खोज मे। किंतु यह होगा कैसे ? क्योकि भोगनेवाला स्वय अस्थिर है। वह समझता है वह दूसरो को खा रहा है। भोग रहा है। किंतु पीसनेवाली चक्की खुद भी घिस रही है। पिस रही है। गेहूँ के साथ पत्थर भी पिस रहा है। भोगनेवाला भोगा भी जा रहा है। वह एक साथ ही भोक्ता है। भुक्त है। हर आदमी भोगना चाहता है। भुक्त नही होना चाहता। इसीलिये वह स्थिर की खोज करता है। गेहूँ को पिसते सभी देखते है। किंतु पत्थर को पिसते, दोनो से अलग तटस्थ देखता है। योगी देखता है। वह जो दुनिया की दृष्टि में पागल है। हम क्रिया और चक्र के बीच तारतम्य बैठाना चाहते है। कुछ ठहरे। कुछ चले। गति और स्थिरता। पिसते गेहूँ और पत्थर एक तटस्थ उदासीन लौह स्कभ के सहारे है। सहारा न होता तो पत्थर मे पीसने-पिसने की शक्ति क्रिया न होती। योगी इस लौह स्कभ को देख रहा है। उसकी शक्ति को पहचान रहा है। इसीलिये वह भिन्न देखता है। न गेहूँ। न आटा। न पत्थर। इनके बीच का खभा। यह खभा सर्वत्र है। धरती और आकाश इन पाटों के बीच है। किंतु अत्यत सूक्ष्म है। इतना सूक्ष्म कि नही सा है। आकाश ही सूक्ष्म है। यह आकाश से भी सूक्ष्म है। आकाश एक तत्त्व है। भूत और महाभूत है। इद्रियगम्य है। किंतु खंभे की जानकारी कठिन है। एक ही खभा हममे तुममे खड्ग खभ मे है। इसे कौन देखेगा ? किसे इसकी अनुभूति होगी ? वही जो उलटा देखता है।

साधक उलटा देखता है। सभी सोते है। वह जागता है। सबके हँसने पर रोता है। रोने पर हँसता है। मछली का स्वभाव है पानी के उलटे चलना। किंतु सब मछली योगी नही है। सत कबीर ठीक कहते है। पानी मे भी प्यासी मछली योगी है। सभी लोग इंद्रियो से देखते है। योगी अतीद्रिय देखता है। इद्रियो से देखा, सुना, समझा, सब मिथ्या है। सत्य को देखने-परखने की उसकी कसौटी दूसरी है। क्या है ? वह जानता है। बता नही सकता। बताना इद्रियकर्म है। सीधा कर्म है। उलटा को बताया नही जा सकता है। बताने की भाषा भी उलटी है। उलटवॉसी।

सृष्टि मे चौरासी लाख जीवयोनियाँ है। उनमे भाषा केवल मनुष्य के पास है। साथर्क भाषा। अन्य जीवो के पास केवल ध्वनियॉ है। शायद उनका अर्थ से सबंध नही है। मतलब

यह कि भाषा कितनी छोटी चीज है। बड़ी भी कह सकते हैं क्योकि यह केवल मनुष्य को मिली है। जो हो, इतना कहना पड़ेगा कि मनुष्य को भी यह पूर्णता मे नही मिली हे। जैसे तोता रटाए गए शब्दो का उच्चारण करता है। वैसी ही स्थिति मनुष्य की है। मनुष्य भी वह सब नहीं कह सकता जो वह सोचता है। अनुभव करता है। कहेगा भी तो अपूर्ण कहेगा। फिर जो तत्त्व उसके अनुभव से परे है। मन के भी बाद की अनुभूति है।उसे वह कैसे कह सुन सकता है? भाषाविज्ञानी कहते हैं कि भाषा सामाजिक अभिव्यक्ति है। सामाजिक अर्थात् समूह की। याद रखिए, समूह या भीड़ मोटी बातो को समझने की ही क्षमता रखती है। समूह की मानसिकता बाहरी एव स्थूल होती है। ऐसी स्थिति मे जो तत्त्व बाहरी तो क्या भीतरी इद्रियो से भी परे हैं उसे भाषा कैसे कह सकेगी ? भाषा के सभी साधन जीभ, कान आदि तो बाहरी हैं।

सत इसे उलटना चाहते है। शायद कुछ काम बने। आखिर उपाय भी क्या है ? जो भी थोड़ा बहुत हो सके, वही ठीक। योगी उलटबाँसी का प्रयोग करता है। उलटी भाषा। किंतु उससे भी कुछ बता नही सकता। सबके वश का रोग नही। अनुमान भी वही कर सकता है जो उलटे रास्ते पर हो। सीधी राह वाला अनुमान का अधिकारी नही है। यह अनुमान तर्क के अनुमान प्रमाण से भिन्न है। अनुभूति मूलक है। योगी की दुनिया उलटी लगती है। इसकी जड़ ऊपर है। शाखाएँ नीचे है। उर्ध्व मूलमध शाख । सब वहाँ पहुँचना चाहते हैं। जहाँ कुछ हो। किंतु योगी शून्य मे पहुँचना है। आकाश मे। उसका आदर्श शून्य है। वस्तु नही। अवस्तु। राग नही। विराग। स्थूल नही। सूक्ष्म। इस शून्य मे ही शायद उस पेड़ की अत्यत सूक्ष्म जड़ है। सब रेतस को नीचे ले जाने की व्याकुलता मे है। योगी उसे ऊपर ले जाता है। उर्ध्वरेता। मोह, माया, ममता, सबके उलटे वह निवृत्ति का उपासक है। ससार से दूर एकात खोजता है। किताबो को बुरा मानता है। पुस्तकी ज्ञान व्यर्थ है। खराब है। ज्ञान पन्ना पलटने मे नहीं है। चित्त का ससार से पलटने मे है। जो जितना पलटेगा उतना ही ज्ञानी होगा। ज्ञान बाहर नहीं भीतर है। यह ज्ञान विद्या, वेद, पुराण, कुराण एव किताबो मे नही है। इसीलिये किताबे भटकाती है। वेद तो वेद्य को बताते है। किंतु सत्य तो कुछ और हे। और उसे कौन बताएगा?

अच्छा ससारी भी उलटा करता है। समाज सेवा के लिये अपनी सेवा बद करनी होती है। बड़ा बनने के लिये छोटो को प्यार करना चाहिए। शायर, सिंह, सपूत लीक छोड़कर चलते है। सिर शासन स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। अको की गति उलटी होती हे। अकानाम् वाम को गति । परिवर्त्तन उलटने का नाम है। सत्ताएँ कई प्रकार की होती हैं। सर्वप्रथम मन की प्रवृत्ति को, विचारो को बदलना होता है। विषय से उलटकर वैराग्य की ओर ले जाना पड़ता है।

विद्वान, चिंतक, बौद्धिक पागल कहे जाते है। क्यो ? इसलिये कि वे प्रचलित मान्यताओ के विरुद्ध सोचते है। लोक-वेद दोनो की स्वीकृत अवधारणाओ को छोड़कर बिल्कुल नया सोचते है। इसी मे भारत का वाममार्ग बदनाम हो गया है। उलटा सोचा भी। उलटा किया भी। फलत वे समाज से बिल्कुल कट गए। उलटना सोद्देश्य और साधार होना चाहिए। वरना वह बेकार हो जाता है। उलटा सोचा तो ठीक। उलटा चलने से गडबड़ी आ गयी। गोल दुनिया मे सीधा चलना भी उलटना है। कोई भी कितना सीधा चले उसे उलट जाना होगा। सूर्य के उलटने से रात-दिन बनते है। काल गति बनती है। देश काल की स्थिति और आकार बदलते है। इसीलिये ससार विरोधी रसो का सगम है। पैर सिर का सहयोगी हैं। आधार है। किंतु लोग उसे उलटा मानते है। राम और काम उलटे है। सहयोगी भी है ।

ससार किसने बनाया? राम ने या काम ने ? कहना कठिन है। शायद दोनो ने। सत काम छोड़ने का उपदेश देते हैं। किंतु काम को छोड़कर कहाँ जायेंगे ? राम के यहाँ भी काम है। काम न होता तो राम सृष्टि क्यो रचते ? काम बुरा नही है। बुरा है काम को राम मान

लेना। तुलसीदास ने प्रारभ मे यही गलती की थी। काम को राम मान लिया था। सभी लोग यही गलती करते है। काम को राम मान लेते है। रत्नावली ने तुलसीदास को राम-काम का भेद बताया। काम साधन है। राम साध्य। इस बात को समझते ही तुलसी महान् हो गए। सामाजिक जीवन का श्रेष्ठ काव्य लिखा। राम को छोड़ रत्नावली (काम) के पीछे गए थे। अब रत्नावली को छोड़कर राम के पीछे दौड़े। दोनो उलटी पद्धति थी। बाद मे दोनो मे समन्वय किया। रात दिन का समन्वय ही जीवन है।

इस मन को उलटते रहिए। बड़ा आनद मिलेगा। सीधी राह का सुख सब लेते है। आप थोड़ा उलटने की कोशिश कीजिए। आपको असामान्य सुख प्राप्त होगे। अपना सुख छोड़ दीजिए। दूसरो के सुख की चिता कीजिए। आप नंगे रहिए। भूखो रहिए। दूसरो के भोजन वस्त्र की चिता कीजिए। आप महान् हो जायँगे। उद्धारक, नेता और महात्मा हो जायँगे।

सत कपड़ा सीधा बुनते है। किंतु विचार उलटा बुनते है। क्योकि वस्त्र तो स्थूल है। भूत के लिये है। विचार उलटते है। उलटकर असली जगह पहुँचते है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छ दुश्मनो से घिरे समाज मे उलटे सोचते है। उलटे चलते भी है। चलते क्या है, चलना बद कर देते है। चलकर भी बैठे रहते है। बैठे-बैठे चलते हैं। इन छ दुश्मनो को छोड़कर पीछे मुड़ जाते है। सीधे चलने वालो को ये दुश्मन बहुत परेशान करते है। ये सभी घरो मे घुसे है। इसीलिये कबीर उस घर को जला देते है। जहाँ इनका निवास है। असाधक को ये जलाते है। साधक इन्हे जलाता है।

उलटवासी का अर्थ उलटावास। सभी माया मे वास करते है। सत माया के उलटे ब्रह्म मे वास करते है। इससे इसे उलटा वेद भी कहा है (है कोई गुरु ग्यानी जगत मे उलटि बेद बूझै)। इस उलटा वेद को ज्ञानी ही बूझ सकता है। ज्ञानी वह जिसे गुरु ने वाट दिखाई हो। ज्ञान दीप का प्रकाश हुआ हो। साधना की हो। साधना से ज्ञान प्राप्त हुआ हो। इद्रिय-विषयो से मुक्त हुआ हो। इसे उलट भाष (बोली) से भी व्युत्पन्न कहा जा सकता है।

इसे ही सधा भाषा भी कहते है। वह भाषा जो प्रकाश और अँधेरे, ज्ञान और अज्ञान, जीव और ब्रह्म के बीच मे खड़ी है।

उलटवाँसी या सधा भाषा के प्रयोग से क्या होता है ? कबीर कहते है इससे वैरी (विषय) मित्र बन जाते है। नश्वर सनातन हो जाता है—

बैरी उलटि भये हैं मीता। साखत उलटि सुजन भए चीता।

अब मन उलटि सनातन हूवा। तब जानां जब जीवन मूवा।

उलटने का कारण है। यह सर्वमान्य बात है कि ससार से इद्रियो का सबध है। देखने, सुनने, स्पर्शादि के सारे व्यापार इंद्रियो के माध्यम से होते है। किंतु इद्रियाँ जो सबको देखती, सुनती और छूती आदि है वे अपने भीतर कुछ भी करने मे असमर्थ हैं। क्योकि उनकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है[1]। जब तक विषय सामने है इंद्रियाँ विषयो को देखती है। प्रयत्नपूर्वक इद्रियो को विषयो से अलग कर इद्रियो का प्रमुख मन जब भीतर देखता है, बाहर देखने का स्वभाव छोड़

पराचि खानि व्यतृणत्स्वयभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

—कठोपनिषद् १।२।१

ईश्वर ने इद्रियो को बहिर्मुख बनाया है। इसी कारण मनुष्य बाह्य विषयो को देखता है। अदर की आत्मा को नही देखता है। कोई बुद्धिमान् आत्मतत्त्व की इच्छा करता हुआ इद्रियो को विषयो से हटाकर अतर्यामी ब्रह्म को देखता है। अर्थात उलट देता है।

उलटा देखता है, तब विषय तृष्णा छूटती है। मन अमन हो जाता है। क्योकि मन की विषय तृष्णा छूट जाती है। सत या योगी इसी अमनी या मनोमनी भाव मे रहकर ब्रह्म साक्षात्कार करते है। ब्रह्म साक्षात्कार विषय साक्षात्कार से उलटा है। जब व्यक्ति और ब्रह्म के बीच विषय (जिसे माया भी कहते हैं) हट जाते है तो सच्चे ज्ञान का उदय होता है। जीव का ब्रह्म मे पर्यावसान हो जाता है। जैसे नदी का समुद्र मे।

सत कबीर ने मन को उलटा था। इद्रियो को उलटा था। आँखे देखे। किसे देखे ? भीतर के प्रभु को। सबके भीतर ईश्वर बैठा है। आतमराम बिना जग झूठा। आत्मतत्त्व का दर्शन करो। इसीलिये वह गुफा मे बैठकर सब जग को देखता है। बाहर कुछ भी नही दिखाई देता है। बाहर का सब नश्वर है। नाशवान् और मिथ्या है–

बैठि गुफा मे सब जग देखा। बाहर कछू न सूझै।

नही बोलने वाली जीभ बोलती है–

अनबोला नित गावै।

यही जीव भीतर ही भीतर स्वाद लेता है। अमृत बेलि को क्षण-क्षण पी रहा हे–**अमृत बेली छिन छिन पीवै। कहे कबीर जुग जुग जीवै।**

इस रस को पीने वाले का कभी नाश नही होता। क्योकि यह अमरवेल का रस है। ज्ञान-रस है। भागवत रस है–

गुड़ करि ग्यान ध्यान करि महुआ,
भवभाटी कर भारा,
पीवै महारस मीठा।

कानो से अनाहत नाद सुनता है। इसी रस मे रामानद भी मस्त है। नाक से अद्भुत गध की अनुभूति करता है। एक ऐसा जप हो रहा है जिसमे किसी इद्रिय की जरूरत नहीं है–

हाथ पांव मुख स्रवन जीभ बिनु काकहि जपहु हो प्रानी।

यहाँ धरती उलटकर आकाश मे लगती है—

धरती उलटि अकासै जाई।

धरती यहाँ मूलाधार चक्र है। योगी इस चक्र से उठकर अपना ध्यान ब्रह्मरध्र आकाश मे स्थापित करता है। योगी का ज्ञान सासारिक ज्ञान का उलटा होता हैं। सारा पानी जब नीचे बहता है तो मछली उलटे ऊपर चढती है। कबीर कहते है–

वहि जोगिया का उलटा ज्ञाना। काला चोला नाहिं मियाना। आत्मतत्त्व के बोध के लिये विषयो से उलटकर, गुण से निर्गुण होकर भीतर जाना होगा–

आपा पर जब चीन्हिया, तब उलटि समाना मोंहि।

●

दास से साहब

दास आन्दोलन ने समस्त वर्णव्यवस्था को निष्प्रभावी बनाने की कोशिश की। वर्णव्यवस्था के विरुद्ध प्राय ध्वसमूलक आन्दोलन होते रहे है। किंतु यह आन्दोलन रचनात्मक था। इसने वर्णव्यवस्था को अन्दर से अस्वीकार किया। सामाजिक व्यवस्था के बदलने की प्रतीक्षा नही की। स्वय मे बदलाव को प्रोत्साहित किया। वर्णव्यवस्था मे चारो वर्णो की क्रमश शर्मा, वर्मा, गुप्त एव दास ये चार उपाधियाँ है। इसी प्रकार उत्पत्ति भी चार स्थानो से मानी गयी। चारो वर्ण है तो ब्रह्मा से उत्पन्न। किंतु ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जघा और शूद्र पैर से उत्पन्न है। इस सबध मे उत्पत्ति वाले सिद्धात के अतिरिक्त दो बाते और है। एक यह कि ये जातियाँ सृष्टि रूपी ब्रह्मा के क्रमश मुख, बाहु, कमर और पैर है। दूसरी यह कि ब्राह्मण ज्ञान देने के कारण मुख वाला है। बोलना उसका धर्म है। इसके मुकाबले क्षत्रिय 'कर्त्ता' है। बोलता नही। बोलनेवाले क्षत्रिय को अच्छा नही माना जाता। उसकी निंदा होती है। क्षत्रिय का कार्य 'करना' है। युद्ध करना है। राज करना है। इसका मुख्य क्षेत्र बाहु है। इसी से बाहुबल शब्द बना। शेष दो वर्णो को इसी ढग से समझना चाहिए। इनके बावजूद जन्म वाला विचार अधिक प्रचलित हुआ।

पैर हमारे शरीर का सबसे निचला भाग है। इसलिये शूद्र को वर्णव्यवस्था मे नीचे रखा गया। इसका एक कारण उनका कर्म भी है। शूद्र शिल्पकार या हाथ से काम करने वाले है। जिसे आजकल की भाषा मे अबौद्धिक तथा स्थूल कर्म कहना चाहिए। जिसमे पूँजी या तो बहुत कम या बिल्कुल नही चाहिए। ऐसे कर्म करनेवालो की किसी भी समाज मे उचित प्रतिष्ठा आज भी नही है। हाथ का काम हर समाज मे प्राय सामान्य माना जाता है। महात्मा गाँधी चरखे की चाहे जितनी तारीफ करे वे मात्र चरखावाला होते तो उन्हे कौन मानता ? महात्मा होना तो दूर सामान्य मानवी प्रतिष्ठा भी मिलती इसमे पूरा सदेह है। शिल्प अथवा हस्त कर्म उत्पादन की बुनियाद है। फिर इस बुनियादी कर्म करनेवालो की उपेक्षा हुई। उपेक्षा का अंदेसा तो ब्राह्मण की भी थी। किंतु अपनी बौद्धिकता, कम से कम लेने का निश्चय और क्षत्रिय तथा वैश्य को नित्य देनेवाली कल्याण कामनाओ ने उसे बचा लिया। ब्राह्मण चाहे अपने को कितना भी श्रेष्ठ कहे किंतु आर्थिक दृष्टि से वह पगु एव निर्भर था।

इस स्थिति मे भक्तो ने बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्त्तन किया। पहला तो यह कि वर्ण व्यवस्था का सिरमौर ब्राह्मण भक्ति मे कोई स्थान नही रखता है। इसलिये कि भक्ति आन्दोलन मे वर्णव्यवस्था नही है। भक्ति व्यक्ति साधना है। सामूहिक नही। कबीर कहते है, साधुओ (भक्तो) की जमात नही चलती है। यहाँ 'विरला' ही पहुँच पाता है। जहाँ समाज होगा वहाँ किसी न किसी प्रकार का वर्ण बन जायगा। सभव है यह वर्ण परिवर्तनशील हो। चल हो। कबीर और तुलसी मे एक अतर यह भी है। तुलसी एक समाज चाहते है। राज्य चाहते है। ज्यो ही यह चाहा कि वर्णव्यवस्था भी आ गयी। जैसे आजकल का राज दल। न चाहकर भी चुनाव वर्णव्यवस्था के आधार पर लड़ता है। पद और प्रतिष्ठा जाति के आधार पर पाता है। इस बात को याद रखना चाहिए कि मध्यकाल की सारी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था वर्ण पर आधारित थी। ऐसे मे वर्णव्यवस्था के सामाजिक विरोध का कोई अर्थ न था। वह तो

वैयक्तिक ही हो सकता था। भक्तो ने इस दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया।

भक्तो ने भक्ति क्षेत्र सवके लिये खोल दिया। विना किसी भेदभाव के। वेद का स्थान मिला वेदात को। प्रणव ओं का राम कृष्ण को। इस क्षेत्र मे पूर्ण समानता है। भक्त और गुरु कोई भी हो सकता है। चाहे उसकी कोई जाति हो, योनि हो, आचार विचार हो। फलस्वरूप मीरा और झाला जैसी क्षत्राणियो के गुरु रैदास चमार हो गए। अनेक व्राह्मणो ने शूद्र कवीर से दीक्षा ली। पैर का महत्त्व वढ़ा। भगवान, भक्त, गुरु एव साधु की पदपूजा होने लगी। चरणोदक, चरण-वदना, चरणरज, चरणसेवा आदि अत्यत प्रसिद्धि पा गये। ऐसी स्थिति मे चरण से उत्पन्न शूद्र के प्रति अपमान का सवाल खत्म हो गया। यह सव हुआ अपने धंधो मे रहते हुए। कोई धधा छोटा वड़ा नही है। तव उसे छोड़े क्यो ? छोड़े तो करे क्या ? भक्तिसूत्र के रचयिता, भक्ति को श्वेत द्वीप से लानेवाले दक्षिणी भक्ति को आश्रय देनेवाले देवर्षि नारद पूर्व जन्म के शूद्र थे। जेसे कवीर पूर्वजन्म के व्राह्मण तथा इस जन्म मे व्राह्मणीपुत्र (यह कही नही है कि उनका पिता व्राह्मण नही था)। नारद भगवान के सर्वश्रेष्ठ भक्त है। कृष्ण अपने को देवर्षियो मे नारद भी कहते है। ये नारद एक ओर व्रह्मा के पुत्र है, दूसरी ओर दासी के। पूरे देश मे शूद्र तथा अन्त्यज भक्तो का महत्त्व वढ़ा। शूद्र भक्त को अपमानित करने वालो को भगवान् दडित करने लगे। आलवारो मे अनेक अत्यज थे। इनकी रचनाओ को तमिल वेद कहते है। इन भक्तो की प्रतिष्ठा व्राह्मणो के स्तर पर हुई। व्राह्मण से वढ़कर हुई। भक्त भगवान् वन गये। अनेक भक्त भगवान् जैसे पूज्य हुए।

भक्तो ने अपनी जाति उपाधियॉ छोड़ दी। शूद्र उपाधि धारण करने लगे। सभी अपने को दास कहने लगे। जातिगत अभिमान को भगवान् के प्रति अपराध माना जाने लगा। शूद्र उपाधि 'दास' का प्रचलन वढ़ा। किसी भी सप्रदाय का भक्त हो। किसी भी राज्य या क्षेत्र का हो 'दास' सवकी उपाधि हो गयी। रामदास, तुलसीदास, नददास, सुदरदास, मलूकदास आदि। भक्तो मे जातिगत उपाधियॉ वहुत कम है। 'दास' उपाधि के अतर्गत सभी जातियो के भक्त है। वह महाक्राति का दिन था जव तुलसी दुवे से दास वने होगे। निर्गुण भक्त प्रारभ मे दास रहते थे वाद मे साहव हो जाते थे। पलटू साहव, कवीर साहव, दरिया साहव, मलूक साहव आदि। किंतु सगुण साधक को कभी ऐसा अवसर नही मिला। वे 'दास' ही रह गये। तुलसीदास, सूरदास, नददास, नागरीदास, पुरदरदास, कनकदास आदि।

सवाल उठता है ये किसके दास है ? भगवान के। भक्त के। गुरु के। साधु और सियाराम समाज के। यह दासभाव इतना वढ़ा कि दास भक्त का पर्याय वन गया। भगवान् की अपेक्षा दास की सेवा भक्ति के लिये आवश्यक मानी जाने लगी। इस दास भक्ति को सेवक-सेव्य भाव भी कहा गया है। भक्ति का ही एक ऐसा क्षेत्र है जहॉ किसी साधन की आवश्यकता नही है। कृष्ण ने गीता मे स्पष्ट कहा है कि सभी साधनो को त्याग कर मेरी शरण मे आओ। इसीलिये भक्ति उसे मिलती है, जिसके पास कुछ नही है। अपना अहम् भी नहीं है। सर्वाहकार शून्य है। इसे 'अकिचन' कहा गया है। भक्त भगवान् का सेवक है, शरण मे है। दास है।

भगवान् विराट् है। सर्वशक्तिमान है। सारी शक्तियॉ वही से उत्पन्न है। सृष्टि, स्थिति और नाश के कारण है। भगवान् की सृष्टि की कल्पना भी नही की जा सकती है। मनुष्य कुछ करने मे स्वतत्र नही है। ऐसी स्थिति मे उस सर्वशक्तिशली विराट् सत्ता से जुड़कर मनुष्य को नयी ताकत मिलती है। राजा और रक, सम्राट और सेवक दोनो उसके दरबार मे बराबर है। वह सवको एक प्रकार की समता प्रदान करता है। यह भी होता है कि वह राजा का न सुने। रक का सुन ले। इसीलिये बड़े बड़े राजाओ को साधुओ, सतो, भक्तो के पैरो पर गिरते देखा गया

है। निश्चित ही वह राजा का नही सुनता है। गरीब का सुनता है। अकिचन सर्वहारा उसकी भक्ति पाने का सर्वप्रथम अधिकारी है।

रामायण के भरत ने सब कुछ छोड़ दिया। अयोध्या का राज्य लेते तो राम नही मिलते। राम को लिया तो राज्य को छोड़ा। ये भरत अकेले नही है। पुराणो मे तो बहुत से है। नही ऐसे भक्त जीवन मे भी है। महाराज शिवाजी रामदास के शिष्य थे। अब्दुल रहीम खानखाना मुगल दरबार के महान पुरुष थे। किंतु तुलसीदास से अत्यत नम्रता से मिलते थे। तुलसीदास के सामने अपने को अत्यत छोटा समझते थे। कश्मीर का राजा कन्नड़ भक्त अल्लम प्रभु के दरबार मे लकड़ी चीरता था।

इन भक्तो ने सेवा को अपना धर्म बनाया। सेवा जो वर्णव्यवस्था मे शूद्र धर्म था। सेवा को गहन धर्म बताया। सेवा धर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यम्। किकर, सेवक, दास आदि कहने पर गर्व की अनुभूति होने लगी। यह अभिमान जाय नहि भोरे, मै सेवक रघुपति पति मोरे।

भक्त के साथ दो महत्त्वपूर्ण तथ्य और भी देखने को मिलते है। एक है भाषा सबधी परिवर्तन। भक्ति ने सस्कृत, प्राकृत से अलग लोक भाषाओ को प्रतिष्ठा दी। तमिल, कन्नड़, तेलगु, बगला, असमी, हिंदी आदि सभी प्राती भाषाओ से भक्ति साहित्य को निकाल दीजिए ये भाषाये शून्य मे पहुँच जायेंगी। इनके पास भक्ति का साहित्य ही श्रेष्ठ, समृद्ध और विपुल साहित्य है।

दूसरा तथ्य है– सपूर्ण देश के कोने-कोने मे शूद्र भक्तो का नेतृत्व और प्रतिष्ठा। रहीम, रसखान, जायसी आदि मुसलमान थे। तुलसी, रजो, मीरा, पार्वती, झाला स्त्री। विष्णुदास छीपी। कनकदास अत्यज। मुनिवाहन (योगवाह) तिरुप्पन, नम्मालवार, बल्लुवार आदि तमिल भक्त हरिजन थे। तुकाराम शूद्र। अलखनामी सप्रदाय के प्रवर्तक लाल चमार थे।

. देखने मे भक्ति भगवान् से जुड़ी है। यह सही भी है। कठोर राजव्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को राजा के ऊपर एक निर्गुण-निराकार राजा की जरूरत पड़ी है। जिस राजा से जुड़कर वह अपनी स्थिति मजबूत कर ले। ऐसे ही राजा से जुड़कर तुलसीदास कहते है–

हम चाकर रघुबीर के पटौं लिखौ दरबार।
तुलसी अब क्या होहुगे नर के मनसबदार ?

किंतु यह भक्ति भगवान् के स्वरूप मनुष्य की सेवा का भी बड़ा भारी साधन बना। कृष्ण ने गाय चराई। इद्र की पूजा बद करा दी। अहीरो की बस्ती मे बसे। राम ने भीलनी के जूठे वैर खाए। क्या यह सयोग है। आधुनिक भारत का सबसे बड़ा मानव सेवक और रामभक्त भी दास था– मोहनदास। इसे ही महात्मा गाँधी के नाम से जाना जाता है।

निर्गुण भक्त दास से साहब हो गये। कबीरदास, कबीर साहब। ऐसा क्यो हुआ ? ऐसा तादात्य के कारण हुआ। भक्त भक्ति के माध्यम से तदाकार हो गया। मै उसका हूँ (तस्यैवाऽहम्)। वह मेरा है (तदैवाऽसौ)। मै वही हूँ (स एवाऽहमिति त्रिधा)। आत्मा परमात्मा, जीव ब्रह्म, भक्त भगवान् तो एक थे ही। माया की उपाधि से भिन्नता थी। साधना से माया उपाधि के मिटते ही जीव ब्रह्म और भक्त भगवान् की एकता हो गयी। फलस्वरूप दास साहब हो गया।

हनुमान को देखिए। सुग्रीव का दास रामदास बना। रामदास स्वय राम सा पूज्य हो गया। गौतम सिद्धार्थ बने। सिद्धार्थ से बुद्ध और बुद्ध से भगवान्। शून्यवादी बुद्ध की करोड़ो मूर्तियाँ ससार मे फैल गयी। कबीरदास भगवान् की लाली देखने निकलते है। किंतु साधना (भक्ति) के

प्रभाव से दृश्य और द्रष्टा में एकाकार हो जाता है। वे भी लाल हो जाते है। लाली देखन मै गयी मै भी हो गयी लाल। इस लाल की सज्ञा साहब हुई। कबीर और राम एक ही है– कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो। राम और कबीर एक है तो कबीर साहब कहना उचित ही है। लगता है कबीर को साहब उनके भक्तो ने कहना प्रारभ किया। क्योकि कबीर तो दास ही कहते है–

प्रीति जांनि राम जे कहै।
दास नांउ सो भगता लहै।

भागवत और कबीर

भागवत और कबीर दोनो की भक्ति दक्षिण मे पैदा हुई थी, इस बात को कबीर कहते है–

"भक्ति द्रबिड उपजी,
लाये रामानंद।
प्रगट करी कबीर ने,
नवदीप सत खंड।

दक्षिण से भक्ति को लानेवाले रामानद थे और प्रचारक कबीर। भगवत मे यह नही कहा गया है। वहाँ न रामानद है। न कबीर। वहाँ है नारद। भागवत मे एक से अधिक बार भक्ति के दक्षिण मे उत्पन्न होने की बात कही गयी है। भूमिका मे भी और बीच मे भी। इससे इतना तो समझ मे आया कि कबीर भक्त थे और भागवत वाली भक्ति से उनका कोई न कोई सबध रहा होगा।

सत कबीर अपने को नारदी भक्ति का कहते है–

भगति नारदी मगन कबीरा।

कबीर नारदी भक्ति मे मग्न है। भक्ति की भागवत कथा शुकदेव कहते है। कबीर शुकदेव को न केवल जानते है बल्कि उनके प्रति श्रद्धा भी रखते है–

भजि नारदादि सुकादि बंदित चरन पंकज भामिनी।

ऐसे ही शुकदेव के बारे मे कहते है–

जा मनु को कोइ जान न भेवा।
ता मन मगन भये शुकदेवा।

शुक को यह अवसर क्यो मिला ? इसलिये कि बचपन से ही शुकदेव योगी थे– 'सुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भहि माया त्यागी।'

इसी विरागी शुक को कबीर मानते है। शुक को कबीर आचार्य कहते है। इसलिये कि शुकदेव भागवत कहते है। जन्म से योगी है। भागवत के शुक अपने को निर्गुणोपासक कहते है। (परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य २/१/९) कहते है भागवत व्यास की रचना है। अत कबीर, नारद, व्यास, शुकदेव तीनो को साथ याद करते है–नारद कहै व्यास यों भाषै शुषदेव पूछौ जाई। कबीर को वह कथा मालूम होगी जिसमे स्नान करती स्त्रियाँ शुक का परमहस स्वरूप देख लज्जित नही हुई। किंतु व्यास की साधना को छोटा माना। भेदवाला मानकर लज्जित हो गयीं। शुक की दृष्टि मे स्त्री-पुरुष भी भेद नही है। कबीर की भी यही दृष्टि है। शुक विरल है। ये पुरुष से पुरुष की रचना करते है– पुरुषहि पुरुषा जो रचै सो विरले ससार।

स्त्री से स्त्री रचना नही होगी। पुरुष-स्त्री के द्वारा माया की रचना होगी। माया रचेगी। किंतु निर्गुण, निर्लेप, अविकारी पुरुष द्वारा होनेवाली रचना ही सही रचना है।

यहाँ प्रसग इतना ही है कि कबीर की भक्ति भागवत से मिलती है। केवल दशम स्कध ही

भागवत नही है। भागवत के शेष ११ स्कधो मे कृष्ण भिन्न चर्चाएँ प्रचुर है। वल्कि मात्रा की दृष्टि से वे ही अधिक है। कबीर के सदर्भ मे दशम स्कंध का इतना ही महत्व है कि कवीर की भक्ति भी प्रेममूला है। कवीर का भाव भी राधा भाव है। कवीर पुरुष नही। स्त्री है। राम की बहुरिया है। आराधिका है। राधिका जैसी। राधा गोपी मे मिलन भी है। किंतु कवीर मे मिलन की अपेक्षा विरह तीव्र है। तीव्र क्यो ? विरह ही असली है। इसलिये भी कि मिलन मे चितन और स्मरण सभव नही। मिलन स्थूल है। विरह सूक्ष्म और मानसिक। विरह मे प्रकृति अतर्मुखी रहती है।

भागवत भक्ति एक पूर्ण ग्रथ है। इसमे भक्ति सवधी शायद कोई वात छूटी हो। निर्गुण भक्ति एव योग मूलक भक्ति की भी इसमे विस्तार से चर्चा है। सत कबीर जानते है कि निर्गुण निराकार का मूलाधार उपनिषदो से आया है। वेदात ही भक्ति का मूल स्रोत है। इसीलिये रमैनी के आरभ मे उपनिषद् की चर्चा करते है। उपनिषद् का आधार है– तत्त्वमसि। वे कहते है–

तत्त्वमसी इन्ह के उपदेसा। ई उपनिषद कहहीं संदेसा।

उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य और जनक सवाद प्रसिद्ध है। योगवासिष्ठ मे राम को वसिष्ठ के ज्ञानयोग का उपदेश है। यही वात कृष्ण ने उद्धव से कही है। जनक विदेह कहे जाते थे–

याज्ञबलिक औ जनक सँबादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा।

वहै वसिष्ठ राम मिल गाई। वह कृष्न ऊधव समुझाई।

उहै बात जे जनक दृढाई। देह धरे विदेह कहाई।

ये सभी नाम और कथाएँ भागवत मे आई है। यह भी कहा है कि वेद के पहले ओकार हुआ। ॐ ही सृष्टि का आदि। ॐ एक अक्षर भी है। तीन अक्षर भी है। ॐ भेद और अभेद दोनो का प्रतीक है–

के ओकार आदि नहिं वेदा। ताकर कौन कहहु कुल भेदा।

माडूक्योपनिषद् मे ओकार को ब्रह्म और आदि कहा है। गीता ने ॐ तत्सदिति से ब्रह्म के तीन भेद किये है।

किंतु ओकार न भागवत का, न कबीर का उपास्य है। भागवत के उपास्य कृष्ण हैं और कबीर के राम। भागवत ने राम की पूरी कथा कही है। इसलिये भागवत को राम से विरोध नही है। वैसे ही कवीर 'हरि की सरन' मे जाते हैं। 'विना गोपाल ठौर नहि' पाते है। केशव, माधव, गोविद, कमलाकत, बीठल, बनवारी, हरि, गोपाल जैसे नामो का राम नाम के पर्याय के रूप मे प्रयोग करते है।

सत कबीर की आलोचना का अर्थ निंदा नही अपूर्णता या निषेध दिखाना मात्र है। किंतु उद्देश्य तो तत्त्व को पाना है। इसलिये केवल निषेध से वात नही वनती है। वे कहते है–

जहाँ बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे।

सुयं प्रकास आनंद बमेक मैं धन कबीर है पैठे। क ग्र पृ १४९

कबीर सत सगति की बात करते है। उक्त नाम सतो के हैं। उन्ही सतो के साथ बैठकर कबीर ध्यान कर रहे है।

कबीर दूसरे भक्तो के समान ही साधु सगति पर अधिक बल देते है। यह साधु सगति भगवत्सान्निध्य का पर्याय है। क्योकि भक्त या साधु स्वय भगवान् है। भक्ति करते करते भक्त स्वय भगवान् हो जाता है। भगवत् भाव मे पहुँचकर ही भगवान् को समझा जा सकता है। इसीलिये भक्ति, भगवान्, भक्त और गुरु मे अभेद है। कबीर साहब गुरु को भगवान् से भी

बड़ा मानते है। क्योकि गुरु निराकार ब्रह्म का साकार विग्रह है। वही साधक को भगवान् तक पहुँचाता है। भागवत मे प्रचेताओ ने कहा है– हम तो भगवद्सतो के क्षणभर के सग के सामने स्वर्ग और मोक्ष को भी कुछ नही समझते, फिर मानवी भोगो की तो बात ही क्या है। आपके भक्त जन तीर्थो को पवित्र करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर पैदल ही विचरते है।[१]

सत तीर्थो को भी पवित्र करते। अत वे तीर्थो से महत्वपूर्ण है। इसीलिये सत कबीर किसी स्थान को तीर्थ नही जानते है। भक्त भगवान है। स्वय भगवान ने कहा है– मेरे प्रेमी भक्त मेरे हृदय है। उन प्रेमी भक्तो का हृदय मै स्वयं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नही जानते। मै उनके अतिरिक्त और कुछ नही जानता।[२] जैसे सूर्य आकाश मे उदय होकर लोगो को जगत् और अपने को देखने के लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपने को तथा भगवान् को देखने के लिये अतर्दृष्टि देते है। सत अनुग्रहशील देवता है। सत अपने प्रियतम आत्मा है। और अधिक क्या कहूँ स्वयं मै ही सत के रूप मे विद्यमान हूँ।[३]

कबीर इसी सत के महत्व को बार-बार स्थापित करते है। वे कहते है तीर्थो मे जाना व्यर्थ है। साधु सगति और हरि भक्ति ही काफी है–

कबीर मथुरा जावै द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ।

लोक-वेद (शास्त्र) दोनो व्यर्थ है। इनके द्वारा भगवान् की प्राप्ति नही हो सकती। ये आत्म ज्ञान मे बाधक है। इसीलिये कबीर लोक वेद दोनो को गले की फॉसी समझकर छोड़ते है। भागवत मे कहा है– लौकिक व्यवहार के समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नही है।[४] लौकिक और वैदिक दोनो ही प्रकार के कर्म जीव को ससार की ही प्राप्ति करानेवाले है।[५]

भागवत मे लोक-वेद से निरपेक्षता भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है। लोक वेद दोनो ही भगवान् से निकलते है। अत जो भगवान् का हो गया। भगवान् के पास पहुँच गया। उसे उससे नीचे के स्तर की वस्तुओ की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यो कि नीचे की स्थिति मे मन लगाने पर बाधा की सभावना है। निर्गुण भक्ति मे साधना की शक्ति की चेतना भी दिखाई पड़ती है। इसीलिये कबीर बार-बार अपनी साधना की विजय पर भी जोर देते है। इस साधना मे मन ऐसे स्थान पर पहुँचता है जहाँ शून्य के अतिरिक्त कुछ नही है। चैतन्यबोध और आत्मबोध मे एकता हो जाती है। यहाँ तो मन, पवन की गति नही है। लोक-वेद के स्थूल व्यापारो को कौन पूछता है। भागवत मे दत्तात्रेय और जड़भरत इसके अच्छे उदाहरण है।

सत कबीर सिद्धात मे लोक-वेद विरोधी है। किंतु उसकी व्यावहारिक सत्ता को अस्वीकार नही करते थे। लोक-वेद विरोधी जीवन नही जीते है। क्योकि भक्त लोक-वेद को वही अस्वीकार करता है जहाँ भक्ति मार्ग मे बाधक हो। इसीलिये कबीर अवधूत नही, गृहस्थ, भक्त और गुरु है। वैराग्य की साधना वन मे नही घर पर करते है। सत कबीर ज्ञानी भक्त

---

१ तुल्याम लवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम्,
भगवत्सगिसगस्य मर्त्याना किमुताशिष। ४/३०/३४
तेषा विचरता पद्भ्या तीर्थाना पावनेच्छया। ४/३०/३७

२ साधवो हृदय मह्य साधूना हृदय त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाह तेभ्यो मनागपि ९/४/६८

३ सतो दिशन्ति चक्षूषि बहिरर्क समुत्थित।
देवता बान्धवा सन्त सन्त आत्माहमेव च।११/२६/३४

४ न वेदवादेषु हि तत्त्ववाद ५/११/२

५ तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मन ससारावपन मुदाहरन्ति। ५/१४/२३

है। अत वे अपनी गृहस्थी का सब कार्य करते हुए भक्ति करते है। भक्ति गृहस्थ धर्म है। गृहस्थी से वैराग्य नही है। गृहस्थी मे रहते हुए काम, क्रोध, मोहादि को जीतना है। इस दृष्टि से उनकी तुलना विदेह जनक से की जा सकती है। उनके आचरण से सामाजिक आचरण बाधित नही होते है।

भक्ति का आधार सामाजिक और जीव समता है। इसीलिये सामाजिक और जैविक समता का आचरण करते है। योग की शिक्षा मे यम, नियम एव सयम के अंग अहिंसा की महत्त्वपूर्ण 'भूमिका है। कबीर अहिसा पर जोर देते है। अहिंसा के कारण ही वे शाक्तो के विरोधी है। 'भागवत भी शिव और विष्णु का समन्वय तो करता है। किंतु शाक्त समन्वय के बारे मे मौन है। कबीर शाक्तो के परम विरोधी है। इसके दो कारण है—एक यह कि शक्ति ब्रह्म न होकर माया है। दूसरे यह कि शाक्तो का सबध हिसा एव पशुबलि है। कबीरदास जी हर प्रकार की हिंसा के विरोधी है। भागवत का स्पष्ट आदेश है कि योगी कभी स्त्री के पास न जाय—जो पुरुष योग के परमपद पर आरूढ़ होना चाहता है अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा अनात्मा का विवेक हो गया हो, वह स्त्रियो का सग कभी न करे। क्योकि स्त्रियाँ नरक का द्वार है।[1]

सत कबीर भी नारी को नरक का द्वार मानते है। क्योकि नारी तिनको से ढ़के हुए कुँए के समान मृत्यु है।[2]

सत कबीर बाह्य साधना के विरोधी है। ईश्वर कही बाहर नही है। अज्ञानी उसे बाहर ढूँढते है। भला वह बाहर कहाँ मिलेगा ? बाहर की वस्तुएँ तो भगवत् रूप अवश्य है। इसलिये उनके प्रति समताभाव आवश्यक है। किंतु वे भगवान् नही है। भगवान् तो सबके भीतर है। किंतु लोग उसे बाहर खोजते है। कस्तूरी हिरण के कुडल मे है। उसकी गध बाहर आती है। अज्ञानी हिरण इस गध से प्रभावित हो कस्तूरी के लिये बाहर भटकता है—

कस्तूरी कुंडल बसै मृग ढूँढै वन माँहि।

यहाँ वन शब्द का अर्थ है वासना के वन मे ढूँढता है। भला काम, क्रोधादि वासना-तृष्णा के वन मे भगवान कहाँ मिलेगे। उन्हे तो इस वन से अलग अपने हृदय मे ढूँढ़ना होगा। भागवत मे कहा है—

योग का यथार्थ रहस्य न जाननेवाले पुरुष अपने हृदय मे छिपे हुए भगवान् को बाहर खोजते है।[3] गीता मे भी भगवान् ने इस बात को अत्यत स्पष्ट और जोरदार ढग से कहा है—

हे अर्जुन ! ईश्वर सभी जीवो के हृदय मे स्थित है। अपनी माया से सभी जीवो को यत्रवत् घुमाता है।[4]

अब अगर भगवान् भीतर है तो बाहर की सभी वस्तुएँ माया है। यहाँ तक कि इद्रिय सवेद्य सभी माया है। कबीर माया की प्रबलता का वर्णन अत्यत गभीरता से करते है। ससार के सारे जीव तो माया मे पड़े है ही, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सारे देवता भी मायाधीन है। इस दृष्टि से कबीर ने ब्रह्म के दो रूप माने है— एक वह जो निर्गुण, निर्लेप, अव्यक्त, अजन्मा और अविनाशी है। सबके हृदय मे अज्ञातभाव से रहकर अपनी माया द्वारा सबका सचालन करता

---

१ सग न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पार परमारुरुक्षु ।३/३१/३९
२ तामीक्षेतात्मनो मृत्यु तृणै कूपमिवावृतम् ।३/३१/४०
३ यथा निगूढ पुरुष कुयोगिन ४/१३/४८
४ ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यत्रारूढानि मायया । १८/६१

है। तो यह माया क्या है? निश्चय ही ब्रह्म नही है। फिर? ब्रह्म से परे भी कुछ होता है क्या? नही। जो कुछ है वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म की सत्ता सर्वोपरि है। वस्त्र मे धागे के समान वह सबमे स्थित है। जैसे बर्तन का मूल मिट्टी है। कुडल का सोना है।

कबीर सभी देवताओ और अवतारो को मायासृष्ट मानते है। ये मायासृष्ट माया मे ही फँसे है। माया भुक्त है। योगी, यती, मुनि, महात्मा, देव, दानव सब माया विवश है–

कहै कबीर कछू समझि न परई बिषम तुम्हारी माया।

माया अज्ञान है। मायाधीन को कुछ भी समझ मे नही आता है। वे किसे पुकारे ? सभी तो माया से डरे है–

मै किहि गुहरांऊँ आप लागि। उकरी डर बड़े-बड़े गये हैं भागि।
ब्रह्मा बिस्न अरु सुर मुयंक। किहि किहि नहीं लावा कलंक।

'माया महाठगनि' पद मे माया सभी देवो को नचा रही है। श्रीमद् भागवत का भी कहना है कि सभी देवता मायाधीन है। यमराज कहते है–

मै, इद्र, निर्ऋति, वरुण, चद्रमा, अग्नि, शकर, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, बारहो आदित्य, विश्वे देवता, आठो वसु, साध्य, उनचास मरुत्, सिद्ध, ग्यारहो रुद्र, रजोगुण-तमोगुण रहित भृगु आदि प्रजापति और बड़े बड़े देवता सब के सब सत्त्व प्रधान होने पर भी माया के अधीन है तथा भगवान् कब किस रूप मे क्या करना चाहते है इस बात को नही जानते है।[1]

प्रश्न उठता है जब सब माया के अधीन है, किसी को माया से मुक्ति मिली ही नहीं तो प्रयत्न व्यर्थ है। नही, ऐसी बात नही है।

कुछ लोग तो है ही जिन्होने माया छोड़ दी है। भागवत की दृष्टि मे वे है– धर्मराज, ब्रह्मा, नारद, शकर, सनत्कुमार, भीष्म, बलि, शुकदेव। ये बारह लोग ही भागवत धर्म का रहस्य जानते है।[2] सत कबीर मायामुक्त भक्तो की सूची कठिनाई से बनाते है। फिर भी उनके पास एक छोटी सी सूची है। छोटी तो होगी ही। साधुओ और भक्तो की भीड़ थोड़े ही होती है–

जागे सुक उधव अक्रूर। हणवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव। कलि जागे नांमां जैदेव।

कबीर की सूची का भागवत से विरोध नही है। हॉं, कलि मे भी भक्त होते है। इसलिये जयदेव और नामदेव का नाम भी जोड़ दिया।

भागवत मे कई बार उलटवासियॉं भी आई है। इसे वहॉं कूट वचन भी कहा गया है। स्वयं नारद ने दक्ष पुत्र हर्यश्वो को कूट वचनो का अर्थ बताते हुए कहा–एक देश है, जिसमे एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है, जिससे बाहर निकलने का रास्ता नही है। एक ऐसी स्त्री है जो बहुरूपिणी है। एक ऐसा पुरुष है जो व्यभिचारिणी का पति है। एक ऐसी नदी है जो दोनो ओर बहती है। एक विचित्र घर है, जो पच्चीस तत्त्वो से बना है।[3] आश्चर्य नही कि कबीर की उलटवॉंसियो पर भी भागवत का प्रभाव हो। भागवत मे शरीर और ससार के रूपक बार-बार आये है।

ससार का प्रसिद्ध रूपक वस्त्र से है। इसीलिये कबीर ने वस्त्र चादर को भोगा नही। जस

---

१ अह महेद्रो नैर्ऋति प्रचेता सोमोऽग्निरीश पवनोऽर्को विरचि ।
आदित्य विश्वे वसवोऽथ साध्या मरुद्गणा रुद्रगणा ससिद्धा । ६/३/१४

२ भागवत ६/३/२०-२१

२ वही ६/५/७-९

के तस धर दिया। यह चादर झीनी है। क्योकि यह त्रिगुणात्मक है। इसीलिये झीनी अर्थात् अपूर्ण और नाशवान् जीर्णशीर्ण है। झीनी शब्द सस्कृत का जीर्ण है। जीर्ण का अर्थ है पुराना। फटा हुआ। तो यह जगत पुराना भी है। फटा भी है। शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है। भागवत मे कहा है– ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यत सपूर्ण चराचर जीव प्राकृत है और जैसे वस्त्र सूत्रो से ओतप्रोत रहते है, वैसे ही ये सब प्रकृति के उन गुणो से ही ओतप्रोत है।[१] इसी बात को एक और प्रसग मे कहा गया है– समस्त प्राणियो के आत्मा रुद्रदेव तुम्हारा वेग धारण कर लेगे। क्योकि जैसे साड़ी सूतो से ओतप्रोत है वैसे ही यह सारा विश्व भगवान् रुद्र मे ही ओतप्रोत है।[२]

नाम जप को भागवत और कबीर दोनो महत्व देते है। भगवान् की छ सेवा मानी जाती है-- नमस्कार, स्तुति, सर्वकर्म समर्पण, सेवा पूजा, चरणकमल चितन, लीला कथा श्रवण। इसे षडग सेवा कहते है।[३] सत कबीर की भक्ति मे छ तत्व मौजूद है। इनमे सगुण साधना के तत्वो की पूर्तिगुरु और साधु सेवा से होती है। क्योकि जैसा कि पहले कहा जा चुका है गुरु और साधु भगवान् के साकार विग्रह है। इन्हे पूर्ण या अशावतार भी कहा जा सकता है।

यह विषय अत्यत व्यापक है। यहाँ यह नही कहना है कि सत कबीर ने भागवत पढ़कर उपासना की थी। कहना केवल इतना ही है कि सत कबीर भागवत परपरा से प्रभावित है। जो भक्ति दक्षिण से उत्तर तक आई उसने जाने कितने रूप लिये।यह भी आश्चर्य है कि दक्षिण की भक्ति मे जो पवित्रतावादी या शुद्ध वैदिक तत्व की कल्पना है वह उत्तर मे शायद नही है। दक्षिण मे बौद्ध-जैन के विरोध मे भक्ति की स्थापना हुई थी। शकराचार्य ने ही बौद्ध विरोध का प्रारभ कर दिया था। किंतु उत्तर तक आते-आते उस पर यहाँ के बचे खुचे बौद्ध प्रभाव पड़े हो तो इस पर आश्चर्य नही।

यह भी हुआ होगा कि बौद्ध जैन धर्म दक्षिण मे तो प्राय शास्त्र और सिद्धात के रूप मे गया। किंतु उत्तर मे वह सामाजिक जीवन का अभिन्न अग था। इसका सकेत इस बात से भी मिलता है कि लोगो ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया। बौद्ध तो मूलत वैदिक धर्म के विद्रोही थे ही। वैदिक जनता ने भी उन्हे ग्रहण करने मे सकोच नही किया। हाँ, उनकी सामाजिक निवृत्ति, तत्रयान, वज्रयान आदि का कुचलन को अस्वीकार कर दिया। यहाँ ध्यान रखना होगा कि भागवत ने बुद्ध को विष्णु नही, परब्रह्म नही केवल अवतार माना है।

फिर कबीर साहब ने जैनो और बौद्धो की आलोचना की। इसलिये कि वे मूलत वैष्णव थे। उनकी दृष्टि मे ब्राह्मण और वैष्णव एक है—

ब्राम्हन बैष्णव एकहि जाना।

वे जैनियो और बौद्ध सन्यासियो की ओर ईशारा कर कहते है–

का नांगे का बांधे चाम।
जौ नहिं चीन्हसि आतम राम।

× × ×

लुंचित मुंडित मोनि जटाधर ऐ जु कहैं सिधि पाई।

× × ×

---

१ १०/४०/११

२ धारयिष्यति ते वेग रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम्।
यस्मिन्नोतमिद प्रोत विश्व शाटीव तन्तुषु।९/९/७

३ ७/९/५०

मूंड मुंडाइ फूलि का बैठे कांननि पहरि मंजूसा।

इन पक्तियो मे नागे, लुचित का सबध जैन साधुओ से है। मुडित बौद्ध है। बॉधे चाम, मोनि एव जटाधर दूसरे सप्रदाय है। यही बात यो भी कही गयी है– **जैन बौद्ध अरु साकत सैनां, चारवाक चतुरंग विहूनां।**

कबीर सहज शून्य की बात भी करते है। इसका अर्थ भिन्न है। सहज तो हठयोग के विरुद्ध सहज योग या साधना है। शून्य ब्रह्मरंध्र है। यह बौद्धो के शून्य से भिन्न है। सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने के बावजूद अधिष्ठान रहित नही है। राम के कारण कबीर शून्यवादी नही है।

सत कबीर पर केवल भागवत का प्रभाव है यह कौन कहेगा ? वैदिक साहित्य बौद्ध साहित्य के बहुत बड़े अशो को भी अपने मे समेटे है। भारत के सभी साहित्य, साधना और भाषा-चितन का आधार वैदिक साहित्य है। बौद्ध साहित्य भी उसका ही विद्रोही विकास है। अत कबीर पर भी बौद्ध प्रभाव को अस्वीकार नही किया जा सकता है। किंतु उसे खोज निकालना कठिन है। क्योकि कबीर का मूल स्वरूप वैदिक परपरा के मिश्र भक्ति वाला है।

अत मे एक ज्ञानवर्धक तुलना द्रष्टव्य है। एक प्रश्न अत्यत मौलिक है कि संसार सृष्टि के पहले क्या था ? कैसा था ? कौन से लोग थे या नही थे ? यह जिज्ञासा इतनी स्वाभाविक है कि सभी परेशान लोगो को सत कबीर इसका उत्तर देते है–

जब नही होते पवन नहीं पानी।
तब नहीं होती सृष्टि उपानी।
जब नहीं होते प्यंड न बासा।
तब नही होते धरनि अकासा।
जब नहीं होते गरभ न मूला।
तब नहीं होते कली न फूला।
जब नहीं होते सबद न स्वाद।
तब नहीं होते विद्या न बाद।
जब नहीं होते गुरू न चेला।
गम अगमैं पंथ अकेला।

इसे ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से प्रभावित कहा जाता है। किंतु यह भागवत मे भी है। अन्य पुराणो मे भी है। क्योकि नासदीय सूक्त मे सबको प्रेरित किया है। उपनिषदो मे भी आया है। भागवत का यह छद देखे–

जब यह सृष्टि नही थी, तब केवल मै ही था और वह भी निष्क्रिय रूप मे। बाहर भीतर और कही भी कुछ न था। न कोई द्रष्टा था, न दृश्य। मै केवल ज्ञानस्वरूप और अव्यक्त था।[१]

सत कबीर और भागवत की यह तुलना इतनी अधिक है कि 'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' इसीलिये इसे कही न कही रोकना है।

हरि हर, शिव इनमे दो अक्षर है। कबीर कहते है–

बिधि अच्छर का कीन्ह बँधाना···

× × ×

---

१ अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किंचान्तर बहि ।
सज्ज्ञानमात्रमव्यक्त प्रसुप्तमिव विश्वत । ६/४/४७

हरिहर ब्रह्मा के मन भाई। लिपि अच्छर लै युक्ति बनाई।

भागवत मे शिव को अक्षरो वाला कहा है।[१] भागवत की टीका मे कहा है– जिसकी जिह्वा के नोक पर 'हरि' ये दो अक्षर बसते है ।[२]

भागवत के कथावाचक सूत विलोमज है। कबीर को भी लोककथा विलोमज कहती है। वैष्णव भक्त चाडाल श्रेष्ठ है, बारह गुणो से विमुख ब्राह्मण की अपेक्षा भगवान् का भक्त चाडाल श्रेष्ठ है।[३] आपका नाम स्मरण से कुत्ते का मास खानेवाला चाडाल भी सोमयाजी ब्राह्मण के समाज पूज्य हो जाता है।[४]

इसी बात को सत कबीर कहते है– **साकत बामन ना मिले वैस्नो मिले चंडाल।**

●

१ यद् द्व्यक्षरनाम गिरेरित नृणा ४/४/१४
२ जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्य क्षरद्वयम् ६/२/१९ की टीका।
३ विप्राद् द्विषड्गुणयुतादर विन्दनाभ पादारविंद विमुखाच्छ्वपच वरिष्ठम् ७/९/१०
४ श्वादोऽपि सद्य सवनाय कल्पते ३/३३/६

ज्यों के त्यों धरि दीनी चदरिया

एक चादर है। झीनी झीनी बीनी है। क्यो झीनी झीनी बीनी है ? क्या उसे कई जुलाहो ने मिलकर बुना है ? अलग-अलग बुना है ? नही, जुलाहा तो एक ही है। किंतु सूत अलग-अलग है। कितना है ? कबीर साहब वह भी बताते है– **नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।** इस जुलाहे का मर्म कोई नही जानता (ई जोलहा का मरम न जाना) है। क्यो नौ मन सूत लगाया ? लेकिन पूछे कौन ? वह किसको बताएगा ? केवल अनुमान करना है। अगर वह किसी को बता भी दे तो जानने वाला दूसरे को नही बता सकता। क्योकि वह बाहर तो बताएगा नही। हृदय, मन या चित्त के किसी कोने मे, अत्यत एकात, रहस् मे बताएगा। यहाँ के ज्ञान अनुभूति और वाणी मे तदाकारिता होती है। भारत के लोगो ने वाणी के पाँच विभाग किये है– परा, पश्यंती, मध्यमा, द्योतमना, वैखरी। वैखरी वाणी ही सुनी-सुनायी जाती है। बाकी चार तो भीतर ही रह जाता है। ऐसें मे कौन समझे-समझाएगा ? परा और पश्यती रहस्य की वाणी है। आगे बढ़ने पर बिल्कुल बदल जाती है। नेपथ्य और पर्दे के नट की आकृति मे अतर होता है। इससे भी अधिक अतर है परा और वैखरी मे। नही, नही। परा वैखरी तक आते-आते वाणी बिल्कुल बदल जाती है। परा भागवत वाणी है और वैखरी माया प्रकृति की वाणी है। खैर, यहाँ इतने से ही सतोष करना होगा कि नौ मन सूत (मन, पाँच ज्ञानेद्रियों और तीन गुण) है। और वह उलझा है। स्वाभाविक है। इतना अधिक सूत उलझ ही जायगा। सूत का स्वभाव है उलझना। नौ मन सूत का यह अर्थ तो बड़ा सरल हो गया। सतो का अर्थ इतना सरल होता नही। सरल अर्थ उस अध्यापक की लाचारी है जो अज्ञानी छात्रो को कुछ समझा देने के धधे की रोटी खाता है। पहले तो देखिए यह सूत क्या है ? अध्यापक कहेगा इसका अर्थ तो सीधा है– धागा। बात ठीक है। किंतु सत जब सूत्रात्मा की बात करता है तो उसके दिमाग मे धागा की अपेक्षा 'सूक्ष्म' अर्थ अधिक है। 'सूत्रात्मा' मे सूत्र सूक्ष्म का अर्थ देता है। सत का सूत्र सूक्ष्म मनोभावो, विकारो, पाँच या दस प्राणो, शरीर की नसो, धमनियो, प्रवृत्तियो और प्रकृति विकार से प्राप्त सभी चीजे है, जो आपस मे उलझी है। सब एकदूसरे के सहारे से बनी है। निर्भर है। प्रकृति का नाम प्रधान है। सृष्टि की सारी वस्तुएँ इसी प्रधान का लघु रूप है। यही हाल नौ का है। नौ के भी जाने कितने अर्थ है। नवग्रह भी है। पाँच प्राण+ अत करण·चार। नव निधि। इद्रियो के नौ द्वार। नौ नाड़ियाँ आदि। कहते है भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नौ प्रकार की है। तो अभक्ति, भक्ति विरोधी तत्त्व माया को भी नौ प्रकार का होना चाहिए। चचल मन एक नही है। एकाग्र नही होता है। नवो ग्रहो के चक्कर में भटकता है। इसलिये नौ मन के सूत्र कही व्यवस्थित नही होकर उलझ रहे है। ये सूत नही सुलझेगे। जब तक जीवन है तब तक उलझे रहेगे। बाद मे भी जन्मातर के बाद भी उलझे रहेगे। जब तक इन सूत्रो को एक नही करेगे।

नौ मन का बोझ छोड़ना होगा। नौ मन को एक, एकाग्र करना होगा। नौ मन भला कुछ कर सकता है। नौ मन तो जीवन पर बोझ है। मनुष्य बैल बन जाता है। उसी के नीचे दबा रहता है। कबीर साहब कहते है कि गतव्य स्थल तक एक चींटी नही जा सकती। और लोग है कि बैल लादकर ले जाना चाहते है– 'पाँव न टिकै पिपीलिका लोगन लादै बैल।'

कर्म का यह बोझ कोई छोड़ना नही चाहता। काम, क्रोध, लोभादि के बोझ बढ़ रहे हैं। नौ मन सूत तृष्णा के पानी से भींगकर और भारी हो गया है। आदमी क्या आदमी रह गया है ? इस बोझ ने उसे जानवर बना दिया है। मनुष्य समझता है कि इस नौ मन सूत से वह कुछ कर रहा है। किंतु सच्चाई यह है कि वह दबा पड़ा है। उसका उच्चतर विकास रुक गया है। उसे तो किसी न किसी प्रकार इस दबाव से मुक्त होना होगा। इस दबाव को हटाकर इनके द्वारा चादर बुनना भी चाहो तो यह चादर झीनी होगी। स्वय ईश्वर ने ही चादर झीनी बुनी है। झीनी का अर्थ है छिद्रो वाली। अनेक छेद है इस चादर मे। पुरानी भी हो गयी है। झीनी चाहे जितनी हो किंतु यह चादर मैली नही थी। मैली तो ससार मे आकर हुई है। इसी लिये कबीर कहते है– धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सकूँ पाँव। विषयो ने इस चादर को मैला कर दिया है। मनुष्य ही क्यो देवता और मुनियो ने भी इस चादर को मैला कर दिया है। मन, शरीर और ससार चादर को विषयो, वासनाओ, तृष्णाओ की कीचड़ मे लपेटकर अत्यत गदा कर दिया है। असीम गदगी। कहाँ तो यह चादर बिल्कुल सत्त्व प्रधान थी। साफ और साफ थी। किंतु मनुष्य ने उसे बिगाड़ दिया है। वह भूल गया कि इसमे कामनाओ के प्रवेश के अनेक छिद्र हैं। इसीलिये कबीर गाढ़ा बुनते है–

तांणे बाणे पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढी।

श्वासो और प्राणो के असख्य धागो से बुना यह शरीर, मन, जीवन और जगत को ईश्वर ने बुना है। ईश्वर जुलाहा है। कबीर जुलाहा है। हम सभी जुलाहे है। सभी बुन रहे है। अच्छा-बुरा बुन रहे है– **सूत कुसूत बुनै भल कोरी।**

अनेक सूत है। कभी तौलकर नौ मन बताते है। कभी सात या दस सौ गिनती मे कहते है– **दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चांद सूर दोइ साखी।**

सात सूत का अर्थ है शरीर के सप्त धातु– अस्थि, पक्वाशय के रस, रक्त, मास, मेद, मज्जा, वीर्य। हो गया– **सात सूत मिलि बनिज कीन्ह।**

स्वाभाविक है कि इन सूतो मे गाँठ पड़ जाय। इस गाँठ को तोड़ना महत्त्वपूर्ण कार्य है। तुलसीदास ने भी कहा है– जड़ चेतनहि ग्रथि परि गयी, जदपि मृषा छूटत कठिनई। आधुनिक मनोविज्ञान के चितन का आधार भी यह ग्रथि है। सत कबीर की ग्रथि टूट गयी है—तूटी गाठि दया धरम उपज्या। अब समझा। यह ग्रथि गाठ दया, धरम के विरोधियो की थी। काम, क्रोध, द्वेष की थी। इन्ही गाँठो के कारण न कपड़ा बन पाता है। न संसार ठीक हो पाता है। न ईश्वर से मिलना होता है। आत्मा और परमात्मा एक है। एक जगह रहते हैं। किंतु गाँठ के कारण अलग है। मिल नही पाते। अनेक स्त्री पुरुष एक विस्तर पर तड़पते रहते है। मन मे गाँठ है। बाहर गाँठ है। विना गाँठ खुले मिलन नही हो सकता।

इसीलिये तोड़ना भी चाहिए। जोड़ना भी चाहिए। विषयो से तोड़ो और प्रभु से जोड़ो– **धागा ज्यूँ तूटै त्यूँ जोरि।**

तूटै तूटनि होइगी रे, नां ऊँ मिलै बहोरि।

सत कबीर पूरे चौकस व्यक्ति है। धागे से लेकर कपड़े तक पर नजर रखते है। सबको ठीक करते हैं। धागा भी ठीक। कपड़ा भी ठीक। क्योंकि धागा ही तो आधार है। धागा टूटा नही कि शब्द का आकाश का नाश हो जायगा। आकाश में शब्द टिका है। शब्द मे सारा ज्ञान है। ज्ञान ही सृष्टि है। इसीलिये सत चाहते है कि उन्मन धागे का प्रयोग करे। मन को विषयो से हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख करे। आकाश जो ब्रह्म का वाचक है। शब्द ब्रह्म की योनि (जन्मस्थान) उसका लक्षण लिग है। टूटने बँधने की प्रक्रिया बहुत हुई। अब उन्मनी भाव के

कारण इस गगन का नाश नही होगा–

तूटै बँधै बँधै पुनि तूटै, जब तब होइ बिनासा।
कहै कबीर यह गगन न बिनसै, जो धागा उनमांना।

सत कबीर का यह रूपक बधान है तो शरीर के लिये। किंतु यह ससार शरीर पर भी लागू होता है। इस पद मे प्रश्नोत्तर है। स्वय पूछते है। स्वय उत्तर देते है। चादर है तो ताना-बाना किस चीज का है–

काहे क ताना काहे कै भरनी,
कौन तार से बीनी चदरिया।

उत्तर है – **इंगला पिंगला ताना भरनी,**
सुखमन तार से बीनी चदरिया।

इड़ा नाड़ी और पिगला नाड़ी दोनो का ताना बाना है। इसमे सुषुम्ना के तार लगे है। अब सवाल होता है इन तारो या सूत्र को काता कहाँ गया है ? सूत किस यत्र पर तैयार हुए है ? कबीर कहते है– अष्टकमल का एक चरखा है। इसी चरखे पर सूत काता गया है। यह शायद वही कमल है जिस पर कबीर साहब के अवतरण की बात साधु समाज मे प्रचलित है। ब्रह्मा का जन्म भी इसी कमल पर हुआ था। कमल सृष्टि का मूल है। कहते है गर्भाशय भी कमलाकार है। यह चरखा स्थिर नही है। स्थिर से सूत नही काट सकता है। अत डोलता है। चक्कर लगाता है। संसार चक्र है। संसार चरखा सा घूमता है। चरखा ससार सा घूमता है। पृथ्वी गोल है। चरखा गोल है। कमल गोल है। कमल पखुड़ियॉ फैलाता है। शाम को समेट लेता है। सूर्योदय पर पुन फैलता है। फैलना और सिमटना। सिमटना और फैलना। सृष्टि और प्रलय। प्रलय और सृष्टि। यही कमल और संसार का स्वभाव है।

इस चादर मे पॉच तत्व (धरती, जल, आग, हवा, आकाश) और तीन गुण (सत्व, रज, तम) है। यह जगत चादर, शरीर चादर इनसे ही बनी है। इसे ईश्वर ने बनाया है। दस मास मे बनाया। शरीर दस मास मे तैयार होता है। किंतु यह मास महत्त्वहीन है। (शब्द की सीमा को समझना होगा) क्योकि कारीगर तो चादर नित्य बुन रहा है। तैयार वह चाहे जितने दिनो मे हो।

प्रत्येक व्यक्ति (आत्मा, जीवात्मा) को यह चादर दी गयी है। शरीर चादर। जीवन की चादर। मनुष्य होने की चादर। सृष्टि, ससार, लोकलोकांतर तथा दिशादिशातर की चादर। कहते है पृथ्वी को जल घेरे है। जल को आग। आग को वायु। वायु को आकाश। सब क्रमश दस-दस गुणे है। आकाश ब्रह्म से घिरा है। स्वव ब्रह्ममय है। ब्रह्म है। ईश्वर ने इस चादर को सुंदर बनाया है। ठोक ठोक कै बीनी चदरिया। देह, गेह सब अच्छा। ऐ भाई, तुम्हारे पास प्रभु की धरोहर है। तुम स्वय प्रभु भी हो। धरोहर भी हो। प्रभु की इस धरोहर को सॅभाल के रखो। राजा ने अपने कर्मचारी को पूरा अधिकार दिया है। उसके पास राजकी मुद्रा है। वह राजशक्ति, सौदर्य एव औदार्य का प्रतीक है। जो करे सब मान्य होगा। इसलिये राजा बनकर करो। भगवान् बनकर करो। राजा का प्रतिनिधि राजा ही तो होता है। तुम भी तो राजा हो। भगवान् हो। फिर गलत क्यो करते हो ? गलत करोगे राजा निकाल देगा। राजा से सबध छूट जायेगा। राजकी मुहर गायब हो जायगी। अब तुम्हे कौन पूछेगा ? हीनता का बोध होगा। यम के साधारण सिपाही भी बॉध लेगे। इस बात का ध्यान रखो। राजा की धरोहर खराब न हो। जैसे दिया वैसे लौटा दो। जस के तस लौटा दो। आखिर दूसरे की अमानत का उपयोग या बरतने का तुम्हे क्या हक है ? अच्छा भाई उपयोग भी कर लिया। उसने भी तुम्हे अवसर दिया

उसे बरत लो। तुम्हारे द्वारा उपयोग किया जाना उसे अभीष्ट है। किंतु खराब मत करो। गदा मत करो। गदगी से प्रभु को बहुत चिढ़ है। साफ चादर को वह छीनना भी नही चाहता।

चादर को मैली करनेवाले भी साधारण नही, असाधारण है– सुर, नर, मुनि। सब ने ओढ़ा। सबको ओढ़ना पड़ा। बिना चादर ओढ़े कोई रूप बनता ही नही है। चादर हटी कि सब समाप्त। यह चादर पहले नही थी। बाद मे नही रहेगी। भूत और भविष्य दोनो अव्यक्त है। व्यक्त तो केवल वर्तमान है। वर्तमान की अभिव्यक्ति ही व्यक्ति है। इस व्यक्ति को चादर ने घेर रखा है। चादर न हो तो क्या होगा ? बिना चादर के कोई एक क्षण नही रह सकता। बता तो दिया चादर कैसे बनी है। इड़ा, पिगला, सुषुम्ना, पॉच भूत और तीन गुणो से। ये ही चादर है। चादर कैसे मैली होती है ? कैसे साफ रहती है। चादर को ओढ़कर भी चादर से अलग रहो। चादर साफ रहेगी। तन मन को साफ रखो। विचित्र चादर है यह। इसे ब्रह्मा जुलाहे ने बुना है। इसलिये यह शरीर से नही मन की गदगी से गदी होती है। मन को साफ रखो। सुर, नर, मुनि का दोष है। उन्होने मन को साफ नही रखा– मन मे मैल अपारा। फलत चादर गदी हो गयी। यह जीवन तो गया ही। भविष्य के लिये भी खतरा हो गया। अगले जीवन का बीज सूत्रात्मा, लिग शरीर, सूक्ष्म देह कर्म सस्कारो से भर गया। इनके कारण बार-बार जन्म मरण होगा।

सुर, नर, मुनि सब बार-बार जन्म ले रहे है। मर रहे है। तृष्णा मे मर रहे हैं। केवल एक कबीर है जिन्होने बड़े यत्न से यह चादर ओढ़ी है। कौन-सा यत्न ? मन को शुद्ध रखनेवाला यत्न। वासनामुक्त मन। काम, लोभ, क्रोध रहित मन। योग और भक्ति का यत्न। साधु सगति मे रहकर सब भगवान् को समर्पित करने वाला यत्न। यत्नपूर्वक जीविका चलाकर, साधारण जीवन जीकर भगवान् से जुड़ने का यत्न। यह चादर भगवान् के सेवको से गदी नही होती है। प्रभु दृष्टि मे रहने पर सदा साफ रहती है। सूर्य की रोशनी मे अँधेरा नही रहता है। भगवान् की भक्ति एव उनकी कृपा के प्रकाश मे चादर को मैल छू नही पाती है। गदा होने का तो सवाल ही नही है। यही कारण है कि कबीर साहब ने चादर जैसी थी वैसी ही रख दिया।

औरो की चादर छिन जाती है। मैल से नष्ट हो जाती है। झीनी तो थी ही। आसानी से नष्ट हो गयी। किंतु कबीर साहब की चादर नष्ट नही हुई। वे आवागमन, जन्म-मृत्यु से मुक्त हो गये। उन्होने तनना-बुनना दोनो छोड़ दिया–

तनना बुनना तज्या कबीर।
राम नाम लिखि लिया शरीर।

राम नाम लिखी, रामनामी चादर को मैल नही लगती है। राम तो सतोगुणी है। सत्त्व मे मैल कैसे लगेगी ? अब ताना-बाना दोनो नाच रहे है। जन्म-मृत्यु का परिवर्त्तन हो रहा है। किंतु कबीर इस परिवर्त्तन से मुक्त है। चूहे ने (मृत्यु ने) ताने को तन को काट दिया है। चूहा काट्या ताना री भाई। ताना तन है। तन मरेगा। आत्मा अमर रहेगी। सत कबीर इस स्थिति से शात है। मन स्थिर हो गया। भगवान् के ध्यान मे समाधि लग गयी है। उनकी इस समाधि को भगवान भी जानते है– जानत है भगवाना हो राम।

कबीर की माया मा रो रही है– ए लरिका क्यो जीवै खुदाई। कबीर कहते है– पूरनहारा त्रिभवन राई। परमात्मा ही पूर्ण करता है। उसका कार्य जल्द पूर्ण होता है जिसकी चादर साफ है। आत्मा शुद्ध है। मन निर्मल है। मैली चादर वाली मैली धन्या तो प्रिय के पॉव भी नही लग सकती है– पिउ उजला धन मैली लागि न सकई पाँव।

कितना अच्छा होता यदि सभी लोग इस चादर को साफ रखते। साफ रखने मे लगे रहते।

काम, क्रोध, द्वेष मुक्त रहते। मन को विकार मे नही पड़ने देते। सभी लोग संत हो जाते। कम से कम इतना होता कि इस चादर की अनुभूति, इसकी मैली न होने का ज्ञान बना रहता। इसके झीने स्वरूप का बोध रहता। जैसे छिद्र युक्त बॉध से पानी बह जाता है। बॉध टूट जाता है। वैसे ही इस चादर मे अनेक छेद है। अनेक दरवाजे है। नौ, दस। इन्हे ही गोस्वामी तुलसीदास कहते है– इद्रिय द्वार झरोखा नाना। देवता इनके पहरेदार है। ये देवता अधिदेव कहे जाते हैं। ईश्वर ने इन्हे इद्रिय द्वारो की रक्षा के लिये बैठाया है। ये द्वारपाल जीव और जीवन की रक्षा करते है। खाली द्वारो की रक्षा का क्या मतलब है? इसलिये चादर को साफ रखो। ऐसा न करो कि देव के स्थान पर दानव बैठ जायेगे।

दानव हर समय घूमते रहते है। देवो से उनकी दुश्मनी पुरानी है। जरा भी अँधेरा हुआ कि दानव बली हो जाते है। देवता कमजोर पड़ जाते है। अँधेरे मे देवो को नींद आने लगती है। इसलिये अँधेरे को कभी पास नही फटकने दो। मैली चादर और अँधेरे का बड़ा साम्य है। दोनो काले है। तम और तमस है।

कबीर प्रत्येक के भीतर के देवो को सावधान कर रहे है। मजबूती से पहरा दो। लोभ, मोह वाला पहरेदार पहरा नही दे सकता। उसे विषयचोर धोखा दे देते है। जो विषयो से धोखा नही खाता है। वासनाओ के चक्कर मे नही पड़ता है। उसकी चादर साफ रहती है। ऐसा व्यक्ति ही अच्छा सामाजिक प्राणी भी हो सकता है। हर श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा (यश काय) बचाता है। बढ़ाता है। उसे कभी मैली नही होने देता है। वैसे ही हर व्यक्ति को अपनी सामाजिक नैतिकता के प्रति सचेत रहना चाहिए। इसीलिये इस झीनी झीनी मे भी कबीर मस्त है। मगन है। भय रहित है।

झीनी चादर के समान ही यह शरीर घर छिन्हर भी है। इसे बद रखनेवाली टट्टी भी झिरहर है। टट्टी ही घासफूस, बॉस के डठलो से बनी होती है। किवाड़ जैसे मजबूत नही होती है। उस पर छिरहर भी है। इस छिनहर और झिरहर मे कुछ रुक नही सकता। बचाव नही है। आवागमन होगा ही। इसीलिये कबीर इस घर को छोड़ना चाहते है। यह घर पक्का नही, मिट्टी का है। मिट्टी से सकेत नाशवान् का है। मिट्टी का घर छिनहर होगा ही। टाटी भी झिरहर है। ऐसे मे सारे पहरे के बावजूद कितना भी जागिए चोरी हो ही जायगी। चोरी होगी। जब दूर जाना है तो इस घर को छोड़ना ही होगा। यहाँ से जाने पर हरि मिलेगे। हरि ही स्थायी और नाश रहित है। कबीर कहना चाहते है कि जैसे उन्होने चादर को बर्बाद नही होने दिया, वैसे ही इस घर मे भी सुरक्षित रह गये। औरो जैसी चोरी नही हुई। किंतु इसे छोड़ना ही होगा। पता नही यह कब नष्ट हो जायगा ? कबीर औरो के घरो की दशा देख रहे है। इस लिये इसे छोड़ने का निश्चय कर लिया है।[१]

---

१ इब न रहौ माटी के घर मै, इब मै जाइ रहू मिलि हरि मै।
छिनहर घर अरु झिनरहर टाटी, घन गरजत कपै मेरी छाती।
चहूँ दिसि बैठे चारि पहरिया। जागत मुसि गये मोर नगरिया।

कबीर की स्त्री

कबीर के बारे मे बहुत सी अनुश्रुतिया है, उनमे एक है उनकी स्त्री का नाम लोई। क्या कबीर की स्त्री का नाम लोई था ? भारत के लेखको कवियो आदि मे अपना परिचय बताने की प्रथा न थी। लोग प्राय आत्मकथा के स्थान पर प्रभुकथा लिखते थे। किन्तु आधुनिक लोग किसी न किसी बहाने रचना मे साहित्यकार की आत्मकथा खोजते है। डा० मुन्शीराम शर्मा ने 'भक्ति का विकास' नामी अपने ग्रथ मे लिखा है–'जनश्रुति के अनुसार कबीर की पत्नी नाम लोई था। सभव है उसी का नाम धनिया भी रहा हो।' (पृ० ४१९) जनश्रुति कबीर की एक पत्नी की है। किन्तु अर्थ लगानेवाले विद्वान दो पत्नी की कल्पना करते है। 'कबीर का विवाह हुआ था। उनकी स्त्री का नाम धनिया था, पर कबीर साधुओ के ससर्ग से रामरमौआ अर्थात् राम मे रमण करनेवाले भक्त बन गये थे, अत उनकी पत्नी को भी लोग रामजनी अर्थात् भगवान् की भगतिन कहा करते थे।' भक्ति का विकास, (पृ० ४१९)। इस कल्पना का आधार निम्नलिखित पक्तियाँ है–**मेरी बहुरिया को धनियां नाऊँ। ले राख्यो रमजनियाँ नाउं।** डा० मुन्शीराम शर्मा कहते है–'तो क्या कबीर के दो विवाह हुये थे ? दो स्त्रियो के नाम हम अभी लिख चुके है धनिया और लोई। इनमे कौन प्रथम विवाहिता थी कहा नही जा सकता। पृष्ठ ३०५ पद सख्या १३६ मे भी कबीर ने अपने दो विवाहो की ओर सकेत किया है

पहली कुरुप कुजाति कुलखनी साहुरे पेइये दुरी।
अबकी सरुप सुजाति सुलखनी सहजे उदर भरी।
भली सरी मुई मेरी पहली बरी।
जुग जुग जीवो मेरी अबका धरी।

यहाँ कबीर पहली स्त्री को विवाहिता या परिणीता और दूसरी को धरी हुई (बिना विवाह सस्कार के ही जिसे घर मे स्त्री की तरह रख लेते है) कहते है।–भक्ति का वि०, पृ० ४२१।

डॉ० रामकुमार वर्मा भी सत कबीर की दो पत्नियो मे विश्वास करते है।

कबीर की दो पत्नियो की कल्पना और उस पर पहली दूसरी का अनुमान हिन्दी की कविता के अध्ययन का अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार की कल्पनाएँ बिलुकल छिछली और सतही हैं। आश्चर्य तब होता है जब यह प्रसिद्व विद्वानो द्वारा कही जाती है। इसमे पहली बात तो यह कि कबीर रूपको मे बात करते है। उन्होने कही भी अपनी पत्नी का नाम लोई नही कहा। हॉ धनिया अवश्य कहा है। किन्तु धनिया और रमजनियाँ केवल तुक के लिये है। ध्यान रखना होगा कि कबीर अपने को भक्त और भगवान दोनो मानते है। इसीलिये वे स्त्री मात्र का पयार्य धन्या का तद्भव धनिया अपनी पत्नी का नाम बताते है। धनिया और रमजनिया केवल प्रतीक हैं। उनकी न तो कोई पहली पत्नी थी। न कोई दूसरी। जिसे वे पहली कहते है वह है माया और दूसरी है भक्ति। तुलसी ने माया-भक्ति दोनो को स्त्री कहा है। कबीर आगे है। दोनो से सबध कर लिया। किन्तु एक इनके साधु होने पर दुर गई। क्योकि यह तीन कु वाली थी– कुरूप, कुजाति, कुलक्खनी। दूसरी तीन सु वाली है सुरूप, सुजाति, सुलक्खनी। पता नही डॉ० शर्मा ने पहली को परिणीता कैसे मान लिया। यह भी नही सोचा कि अगर कबीर

मुसलमान थे तो चार तक तो परिणीता हो सकती थी। फिर सु, कु लगाने की जरूरत स्पष्ट है कबीर कुछ दूसरी बात कह रहे है। पहली मर गई। क्योकि वह माया थी। दूसरी भक्ति है। इसे ही कबीर युग युग जीने का आशीर्वाद देते है। धनिया को प्रथम और लोइ को दूसरी स्त्री मानना मन की उड़ान मात्र है। इसका सत्य से कोई सबध नही है। आध्यात्मिक और रहस्यवादी कवियो के अर्थ सपाट ढग से नही लगाए जा सकते। इनकी दार्शनिक गहराई को छोड़कर अभिधामूलक अर्थ अनेक सकट पैदा करते है।

लोई का कबीर की पत्नी होना तो शुद्ध रूप से भाषा दोष है। लोई सस्कृत लोक का तद्भव रूप है। मध्यकालीन साहित्य मे लोइ शब्द का लोग जनता के अर्थ मे बार-बार प्रयोग हुआ है। ढोला मारू का दूहा मे लोइ शब्द जनता के अर्थ मे छह बार आया है। सबरस के उद्धरण राहुल सास्कृत्यायन ने अपनी पुस्तक दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा मे लिया है। इसमे लोक के लिये लोका शब्द आया है लोका बोलेकि इस कोटका नाव है (हिदायत। पू ३४)।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सपादित सदेश रासक में लोक का तद्भव लोउ है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सपादित मधु मालती मे लोइ का प्रयोग लोग के अर्थ मे आया है

कलि औतरिमा अमरन कोई। अंत हाथ पछितावा लोई।

बुधि पढ़े आखर मोर लोइ।४२।४।

शेख अब्दुल कुद्दूस गगोही की अलखवानी मे लोई शब्दके प्रयोग अनेक बार हुए हे

अलखदास आखे सुन लोई। पृ० ३१

बोलत गोरख सुनिहो लोय। पृ० ५७

डॉ० गोविद त्रिगुणायत लिखते है–'कबीर ने अपनी रचनाओ मे कई बार लोई शब्द का प्रयोग किया है। वह भी अधिकतर सबोधन मे है। जिस प्रकार शिवजी ने पार्वतीजी को उपदेश दिये थे। सभवत उसी प्रकार कबीर ने अपने बहुत से उपदेश लोई, जो संभवत' उनकी स्त्री थी, को सबोधित कर प्रवर्तित किये थे। लोई के सबध मे प्रवाद है कि वे किसी बनखंडी वैरागी को लोई मे लपेटी हुई नवजात कन्या के रूप मे गगाजी के तट पर मिली थी। उन्होने उस कन्या का पालन पोषण किया था। बड़ी होने पर उसका विवाह कबीर से हो गया।। सबध बड़ा उपयुक्त और सम था। अगर वर के पिता का पता न था तो दुलहिन के माता-पिता दोनो ही अज्ञात थे। एक अन्य किवदती है कि लोई पहले तो कबीर की शिष्या थी। किंतु बाद को उनकी पत्नी बन गयी थी। कुछ भी हो, परम्परा के आधार–पर हम कबीर की स्त्री का नाम लोई मान सकते है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अत साक्ष्य के आधार पर अनुमान किया है कि कबीर के दो स्त्रिया थी। उनके मतानुसार पहली सभवत कुरूप थी। पहली स्त्री का नाम लोई था और दूसरी का धनिया। लोग इसे रमजनिया भी कहते थे। उनका अनुमान है कि रमजनिया वेश्या रही हो।'[1] ये उद्धरण अद्भुत् निष्कर्ष देते है।

लोई को सत कबीर ने वैसा ही उपदेश दिया जैसा शिव ने पार्वती को दिया था। किंतु पार्वती ने तो पूछा था। लोई तो बोलती ही नही। कबीर साहित्य मे कही भी कथित लोई का कोई पक्ष नही है। तो क्या सत कबीर बिना पूछे ही उपदेश दे रहे थे ?

लोई की जन्म कथा प्रसिद्ध भक्तिन अंडाल (गोदा) से मिलती है। वह भी एक साधु को तुलसी वन मे फेकी मिली थी। यह कथा रूढ़ि है। शिष्या से विवाह वाली बात तो अत्यत आपत्ति जनक है। क्या सत कबीर विश्वविद्यालयी अध्यापक थे ? कबीर जैसे सत का शिष्या

---

१ कबीर की विचारधारा, पृ० ३५-३६।

से आनुमानिक विवाह की बात करना अपराध है। उनके सतसाहित्य एव परपरा को न समझना है। कितु शोधियो को इतने से ही सतोष नही हुआ उन्होने सत कबीर को वेश्यागामी भी बना दिया।

शोध की कैसी विडबना है। कबीर साहब की सप्रदाय परपरा उन्हे अविवाहित मानती है। स्वय सत कबीर की स्त्री को माया मानकर उसे साधना मे बाधक मानते हैं। कितु विश्व विद्यालयी शोध उन्हे वेश्यागामी मानने मे भी नही हिचकता है। कलिकाल जो न करा ले।

सत कबीर पहली को कुरूप मानते है। दूसरी को सुलक्षणी। कितु आलोचक मानते है कि फिर भी कबीर साहब का पारिवारिक जीवन सुखी न था।'[१]

उसी मे नाथ सिद्धो की वाणिया, पृ० २६ एक उद्धरण है–

चरपट कहै सुणौ रे लोइ।
बरतणि दै पणि जो गन होइ। पृ०५८

गोरखबानी मे लोई शब्द तीन बार है–

बदंत गोरखनाथ सुणोनरलोई। पृ० ११६,१३९
चामे चांम घसंता लोई, दिन दिन छीजे काया। पृ० १४४

लोगो का ध्यान गोरखनाथ के अतिम उद्धरण पर नही गया वरना गोरख की पत्नी का नाम भी लोइ हो जाता। कुतुब शतक मे लोइ शब्द का प्रयोग लोक के ही अर्थ मे है –

लज्जा लोयिन नच्च मालोइ हसंदे कलि।३४

गरीबदास की वाणी मे ऊँच नीच इस विधि है लोई। कर्म कुकर्म कहौ पै दोई। इस प्रकार मध्यकाल के विभिन्न ग्रन्थो को देखकर स्पष्ट है कि लोइ, लोई लोग के अर्थ मे प्रयुक्त है। जो सस्कृत लोक का तद्भव है। सस्कृत राज हिंदी मे राय, राव, राइ, राई, राऊ, राउ आदि रूप ग्रहण करता है। यही हाल लोक का है। ऊपर के उद्धरणों मे लोक ने लोइ, लोय, लोउ, लोई रूप लिया है। भाषा विकास का जिन्हे थोड़ा भी ज्ञान होगा उन्हे यह विकास स्वाभाविक लगेगा।

कबीर ग्रन्थावली के परिशिष्ट मे पृ० ३२२ की पद सख्या १८५ मे लोई का प्रयोग इस प्रकार है

कहत कबीर सुनहु रे लोइ रामनाम बिन मुकुति न होई।

स्पष्ट ही यह लोइ लोक के अर्थ मे है। कबीर जनता को सबोधित कर रहे है। दूसरा प्रयोग है सुनि अध्ध लोई बेपीर। इन मुड़ियन भजि सरन कबीर। पृ० २९६, पद १०९, यहाँ अर्घाली प्रवाह पतित लोगो के लिये प्रयुक्त हुआ है। जो माया मे फसॉकर ईश्वर को नही देख रहा है वह अधा है। वे पीर का अर्थ तमस् हृदय वाला। जिसमे ईश्वर को समझने की सहृदयता नही है। एक दोहा इस प्रकार है

करिए तौकरि जाणि ये सारीषासू संग।
लीर लीर लोई थई, लऊ न छाड़े रंग।२६।३

लोई शब्द आते ही डॉ० मुशीराम शर्मा ने अर्थ किया–कबीर ने इस दोहे मे लोइ की प्रशसा की है। वह जल मे बहती हुई आई थी, फिर भी उसका रग ज्यो का त्यो बना हुआ था। लोइ क्यो जल मे बहती आयी। कबीर फेके गये थे। लोई भी फेकी गई थी क्या? असल मे यहाँ भी लोई का अर्थ लोग है। सपूर्ण सृष्टि जल मे स्थित है। जल मे उतपति जल मे वास ज...

---

१ वही, पृ० ३६।

मे नलिनी तोर निवास। थइ स्थित का तद्भव है। रग का अर्थ है स्वभाव। लोइ को कबीर की स्त्री मानने की धारणा बनाने के कारण अर्थ लगाने मे भी भ्रम स्वाभाविक है। कबीर लोइ के और भी प्रयोग किये है

रंग न चीन्है मूरख लोइ जिहि रंगि रंग रहा सब कोइ।

यहाँ भी लोइ लोग के अर्थ मे है। आगे पडित लोग से पूछते है–

सो कछू बिचारहु पंडित लोइ।

साफ है कि कबीर कही भी लोइ को अपनी स्त्री नही कहते। लोइ को कबीर की स्त्री कहना किसी पडित की भाषाविज्ञानी भूल थी। इस प्रभावशाली पडित के कारण लोई कबीर की पत्नी के रूप मे जनश्रुति बन गयी। यह भी हो सका है कि कभी किसी ने इसका दार्शनिक प्रयोग किया हो। कबीर पुरुष है और पूरी सृष्टि उनकी स्त्री है ऐसा दार्शनिक प्रयोग किया हो। कबीर ईश्वर पुरुष है। इस जनश्रुति की खोज आवश्यक है। अभी इतना ही। कबीर ग्रथावली और प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर लोइ व्यक्तिवाचक नाम नही है। इसलिये इसके कबीर की पत्नी होने का सवाल नही उठता। कबीर तो स्वय ही राम की बहुरिया है। ये स्वय राम भी है 'हमही आपु कबीर कहावा'। कबीर की पत्नी का नाम लोई बिल्कुल ही काल्पनिक और भ्रममूलक आधारों पर प्रचलित है।

कबीर स्त्री (बहुरिया) भी है। पुरुष भी है। मधुरोपासक प्राय. सप्रदाय पुरुष केवल ईश्वर को मानते है। पुरुष एक है। परमात्मा पुरुष है। सभी जीवात्मा प्रकृति या स्त्री है। कहानी है–प्रसिद्ध भक्तिन मीरा वृदावन गयी। रूप या जीवगोस्वामी ने उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। क्योकि मीरा स्त्री थी। मीरा ने उन्हे ध्यान दिलाया। पुरुष तो केवल कृष्ण है। शेष जीव स्त्री है। इसे गोपी भाव की उपासना भी कहते है। गोस्वामी को अपनी भूल तुरत समझ मे आ गयी। वे मीरा के सामने नतमस्तक हुए।

नकार

भारत के धर्म दर्शन मे नकार की महत्वपूर्ण भूमिका है। श्रुतियॉ ब्रह्म को नकार से ही व्यक्त करती है। सत कबीर का दर्शन इनकार का, नही,नकार का है। भागवत मे इसे निषेध कहा गया है।[1] नेति नेति। कुछ कुछ ऐसी ही पद्धति सतो की है। सत सभी को नकारते है। शायद ही कोई पूर्ववर्ती है जिसे कबीर ने नकारा न हो। वे सबके आलोचक है। ऐसा इसलिये है कि उनका मार्ग आतरिक साधना का है। निर्गुण और निराकार है। गुरु उन्हे राह जरूर बताते हैं। किंतु वे किसी बनी बनायी राह पर नही चलते। प्रत्येक सत अपने भीतर देखता है। निजी अनुभव और निजी साधना के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करता है। जिस सत्य का साक्षात्कार करता है वह अत्यत सूक्ष्म है। 'पानी ही तै पातला, धूवॉ ही तै झीण'। वह तत्त्व इनसे भी सूक्ष्म है। किंतु उसे कहा कैसे जाय ? अनुभूति का सकट तो है ही। उसे व्यक्त करने का संकट उससे भी गहरा है। इसीलिये सत पहले तो कुछ कहना नही चाहते। कहने, बोलने से तत्त्व नष्ट हो जाते है– बोलत-बोलत तत्त्व नसाई। किंतु बिना बोले रहा भी नही जाता है। बोलना कठिन है। नही बोलना भी मुश्किल है। इसीलिये कबीर सर्वप्रथम पडित को ललकारते हैं। पडित सर्वप्रथम तो अपनी बात न कहकर दूसरो की बाते कहता है। शास्त्र उसका अपना अनुभव नही है। कागज का लिखा है। इसीलिये शास्त्र क्रांतिकारी और परिवर्त्तनकारी नही हो सकता है। उसका अनुभव प्रमाणिक, अपना और ताजा नही होता है। सकट के समय पडित जल मरते है और भाग जाते है– 'पडित पडित जल मुये मूरख उबरे भागि।' यह इसलिये होता है कि पडित हर समस्या का समाधान पुस्तक मे ढूँढ़ता है। पुस्तक का अनुभव पुराना है। दूसरो का है। समस्या से प्रत्यक्ष सम्बद्ध नही है। इसके मुकाबले सत का अनुभव प्रत्यक्ष है। उसका आत्मविश्वास पडित की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं। इसीलिये सत का रास्ता सप्रदाय की अपेक्षा पंथ हैं। यह पथ उसने स्वय खोजा है।

शास्त्र की दृष्टि अधी हो सकती है। उसे सत्य नही दीखता है। जो ऑख रहित है उसे सब दिखाई पड़ता है। बाहरी ऑखो की अपेक्षा भीतरी ऑखो के प्रयोग की आवश्यकता है। सतो की अनुभूति का ढंग भी सामान्य लोगो की अनुभूति से भिन्न है।

कबीर ने जिनसे सीखा है उनके प्रति भी उन्हे सदेह है। गोरखनाथ के प्रति भी उन्हे सदेह है। वे भी झगड़े मे पड़ गये। इसीलिये कालपुर मे अटक गए–

झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छूटे न काहु।
गोरख अटके कालपुर, कौन कहावै साहु।

---

१ स वै न देवासुर मर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तु ।
नाय गुण कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेष ॥
वे भगवान न देवता हैं, न असुर । वे मनुष्य और पशु पक्षी भी नहीं हैं । न वे स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुसक । वे साधारण या असाधारण प्राणी भी नहीं हैं । वे गुण, कार्य, कारण, कर्म भी नहीं है । सबका निषेध हो जाने पर जो बच जाता है वही उनका स्वरूप है । ८/३/२४

चौरासी सिद्धो का कबीर पर बड़ा प्रभाव माना जाता है। किंतु कबीर उन्हे भी नही छोड़ते। सिद्ध भी माया मे खेल रहे है–

सिध चौरासी माया महि खेला।

× × ×

छिय जती माया के बंदा। नवै नाथु सूरज अरु चंदा।

तपे रखीसर माया महि सूता। माया महि काल अरु पंचदूता।

छ जती षडदर्शनो के प्रणेता है। नाथ नव है। सूर्य, चद्रमा, ऋषीश्वर भी माया मे सोये है। यहाँ तक कि काल और उसके पाच दूत भी माया के आधीन है। माया काल से भी बड़ी है।

मथुरा, द्वारिका, जगन्नाथ जाना व्यर्थ है। कुछ हाथ आनेवाला नही है। मूल बात है साधु की सगति। किंतु केवल वेश बनाना यहाँ भी खतरनाक है। बहुत से लोग वेश तो अतीत का बनाते है किंतु भीतर से अपराधी होते है–

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।

काशी मे रहनेवाले कबीर ने काशी को भी नही छोड़ा। काशी की निदा नही की, किंतु काशी या वाराणसी को मथुरा और द्वारिका के समान बाहरी साधन बताया। इससे आत्मतत्त्व की प्राप्ति नही हो सकती है।

वे वैष्णवो के मित्र है। अपने को वैष्णव कहना भी चाहते है। इसीलिये शाक्त के मुकाबले चाडाल वैष्णव भी अच्छा है। वह माँ अच्छी है जिसने वैष्णव पुत्र पैदा किया है–

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनौं पूत।

किंतु यह वैष्णव भी कबीर की आलोचना से नही बचता। क्योकि वहाँ भी बाह्याडबर है। संप्रदाय बनाकर सत्य की खोज नही हो सकती है। सत्य तो व्यक्तिगत अनुभव की चीज है। सबके अनुभव अलग अलग है। एक है। इसलिये कि मनुष्य अलग-अलग होकर भी एक है। व्यष्टि है। समष्टि है। व्यक्ति ही व्यष्टि और समष्टि का आधार है। इसीलिये नकार मे इनकार नही है। नकार कहने की मजबूरी के कारण है।

नकार का एक दूसरा अर्थ है प्रसार को अस्वीकार करना। यह प्रसार ही बाधक है। रोकता है। रुकावट है। बाधा बना खड़ा है। सत्य का प्रभु इस प्रचार-सचार मे नही है। तो प्रसार-सचार क्या उससे भिन्न और स्वतत्र है ? नही, भिन्न और स्वतत्र तो नही है। किंतु सत्य नही है। सत्य नही तो असत्य भी नही है। पूर्णत असत्य होते इनकार कर देते, किंतु यहाँ तो केवल नकार है। यह नही है। यह नही है। इसका मतलब यह नही कि इसमें या इनमे नही है। विचित्र स्थिति है। इसमे है। इनमे है। किंतु यह नही है। बिल्कुल नही भी नही कह सकते हैं। हाँ ना के बीच की, बाद की स्थिति है।

हाँ और ना की अनुभूति न केवल आध्यात्मिक है बल्कि इसे भूत दुनिया मे भी नित्य देखा जाता है। पचमहाभूत कहाँ नही है ? पानी गर्म है। ताप की अनुभूति होती है। छाले पड़ते है। सहा नही जाता है। किंतु आग कहाँ है ? और नही है तो ताप कैसे है ? ढक देने पर आग बुझती है। इसका मतलब है कि उसमे हवा है। हवा बद कर देने पर जीव भी मरता है। आग भी मरती है। इस बात को शोधार्थी विज्ञानी और ज्ञानी समझते है। सामान्यजन देखता तो है। किंतु इसके भीतरी तथ्य जानने की कोशिश नही करता है। यही स्थिति आध्यात्म विद्या से अपरिचित सामान्य जन की है। अतर की दुनिया से अपने को लगातार अलग रखने के

कारण वे बहुत सी उपलब्धियो से वचित रह जाते है। संत इसे समझने-समझाने की कोशिश करते है। सत तो समझ गए है। अब दूसरो को भी समझाना चाहते है। यह उनकी कृपा है। बहुत से सत महात्मा है जो समझाने के चक्कर मे नही पड़ते है। जाने कैसी कैसी और कितनी साधनाएँ करते है। किंतु कभी किसी को न बताते है। न दिखाते है। अपनपा भी दुराए रहते है। नगन अमगल वेश मे कही पड़े रहते है। पागल-सा घूमते रहते है। ऐसे महात्माओ की सख्या भी असख्य है। हम इन्हे न जानते है। न जानने की कोशिश करते है। ये एक प्रकार से योनि परिवर्तित व्यक्ति है। इन्हे सिद्ध सत योनि का कहा जा सकता है। ऐसा नही कि ये शरीर बदल देते है। शरीर वही रहता है। किंतु साधना से स्वभाव बदल जाता है।

जो सत अपने अनुभव को कहना चाहते है। वे अत्यत रहस्यमय और सूक्ष्म अनुभव को भाषा द्वारा कहते है। भाषा एक सामाजिक अनुभव है। इसलिये स्थूल है। क्योकि समाज तो सबका है। ऐसी स्थिति मे जो अनुभव सामाजिक नही है। व्यक्तिगत से भी परे आत्मिक है। उन्हे स्थूल भाषा के माध्यम से कैसे व्यक्त कर दिया जाय ? और व्यक्त कर भी दे तो उसे समझेगा कौन ? समझनेवाले के पास भी तो भाषा चाहिए। सत इसे कभी भाषा और कभी मौन से व्यक्त करते है। नकार मौन और भाषा के बीच की एक पद्धति है। तर्कशास्त्री अभाव की सत्ता भी स्वीकार करते है। वैसे ही यह नकार अभाव की सत्ता के निकट है। यद्यपि यह अभाव नही है। यह तो पूर्ण स्थिति के सूक्ष्म बोध की अभिव्यक्ति का ढग मात्र है। पूर्ण सत्य अक और अक्षर के माध्यम से नही बताया जा सकता है। जिन्हे अक और अक्षरो के माध्यम से समझने की आदत है वे इनकार कर देते है। प्रभु नही है। वह मनुष्य की कल्पना है। भय और विश्वास है। ऐसे व्यक्ति न केवल ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते है। बल्कि लाखो-करोड़ो सतो-योगियो और भक्तो की उन अनुभूतियो को भी अस्वीकार करते है। जो मनुष्य जाति लाखो वर्षो से अपना धन बनाये है। यह इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है कि ससार मे पूर्ण नास्तिक शायद मिले। किंतु पूर्ण आस्तिक की सख्या करोड़ो है। है की अनुभूति ही संभव है। नही की कोई अनुभूति नही हो सकती है। और नही की अनुभूति के अभाव मे नास्तिकता विधेयात्मक नही हो पाती है। मन को टिकने के लिये जगह चाहिए। अधिष्ठान चाहिए। अधिष्ठानरहित नास्तिक मन भटकता है। अगर अधिष्ठान पर मन टिक जाय तो फिर उसे नास्तिक कहना कठिन हो जायगा।

सत कबीर का नकार एक विराट आस्तिक मन की खोज है। एक आधार की प्राप्ति है। मन एक अधिष्ठान मे टिका है। किंतु यह अरूप अधिष्ठान है। शून्य है। किंतु शून्य के सामान्य अर्थ से भिन्न है। पूर्ण शून्य हो तो अधिष्ठान कैसे बनता ? मन कहाँ टिकता ? किंतु कबीर है कि अधिष्ठान की परछाही से भागते है। ना, ना करते है। कही रुकने की जगह नही है। सबसे भाग रहे है। किसी को साथ नही लेते। अकेले जाते है। साथ जाना कठिन है। वह अनुभूति सामूहिक नही हो सकती है। नितात वैयक्तिक अनुभूति है। जो अनुभूति सामाजिक और सामूहिक है वह नकार का विषय है।

नकार का इतना विराट् काव्य अत्यत दुर्लभ है। यह विराट् नकार इसलिये बन पड़ा कि कबीर ने विराट् आकार का दर्शन किया है। उस विराट् के सामने सारे साकार तुच्छ लगते है। जैसे समुद्र को पाकर सारे जलाशय हीन लगते है। क्षुद्र हो जाते है। समुद्र प्राप्त प्राणी दूसरे जलाशयो को अस्वीकार कर देते है। उनके अस्तित्व की उपेक्षा कर देता है। समुद्र के सामने आखिर ये क्या है ? कुछ भी नही। इनकी किंचित् भी स्थिति नही है। जलाशय और समुद्र के उपमान द्वारा गीता इसी तरह का सकेत करती है। ब्रह्मज्ञान समुद्र है और शेष सारे ज्ञान, सारी

सवेदना छोटी गड़ही है ।[१] इसीलिये ब्रह्म को जानो। ब्रह्म को इसलिये भी जानो कि समस्त जलाशय समुद्र मे ही विसर्जित होते है ।[२] सारे जलाशय अपूर्ण है। कालाधीन नाशवान् है। सूखनेवाले है। सूखते और नष्ट होते है या समुद्र मे मिलकर अपने को पूर्ण से सम्बद्ध करते है। जब सभी ज्ञान जलाशयो को समुद्र मे ही मिलना है तो सीधे समुद्र से ही क्यो न मिला जाय ? यही कारण है सत कबीर सबको नकारते बढ़े जा रहे है। जहॉ बाद मे शायद पहुँच सके वहॉ वे पहले पहुँचते है। सीधे पहुँचते है। सरल और सीधी गति से पहुचते है। बीच मे रुककर समय और शक्ति का अपव्यय नही करते है।

गतव्य स्थल सामान्य नही है। क्या है ? कहा नही जा सकता है। फिर वही नकार। वह रूपरहित एव आदिमध्य की प्रतिष्ठा से मुक्त है ।[३] इसीलिए वहॉ न सूर्य चमकता है। न चद्रमा और आग की रोशनी होती है। इसीलिये वहॉ जाकर कोई लौट नही पाता है ।[४] सत कबीर का यह नकार न उनका निजी है। न नया है। यही अनुभव योगेश्वर कृष्ण का है। यही दूसरे सतो का है। साधना की दुनिया निराधार को आधार बनाती है। यहॉ आधार वाला डूब जाता है। निराधार पार हो जाता है। यह साधना का मार्ग तो है, कितु साधन का मार्ग नही है। क्योकि साधन तो सभी स्थूल, सगुण, अत नाशवान् होते है। नाशवान् एक सीमा के बाद साधना का आधार नही रह जाता है। योगी देहरहित लोक मे पहुँच जाता है। कहा तो। जहॉ कोई नही, कुछ नही है। शून्य है। उसे शून्य कहना भी ठीक नही। क्योकि शून्य की कल्पना भी मानवी है। वह तो सपूर्ण मानव कल्पना से परे और पूर्ण है।किंतु इस पूर्ण को भी मनुष्य अपनी अपूर्णता के कारण कहता है वरना पूर्णता क्या है ? समुद्र क्या समुद्र का परिचय दे सकता है ? क्या समुद्र से समुद्र का परिचय दिया जा सकता है ? अलगाव के अभाव मे परिचय कैसा ? परिचय तो अपरिचितो का होता है। जहॉ एक है वहॉ कभी किसी परिचय की जरूरत नही पड़ती है।

सत कबीर उसी एक की खोज मे सबको नकार रहे है। उसी एक की बात लिखते है। यह लिखना भी नकार का अग है। पूर्ण को कोई लिख नही सकता है। वह तो अलेख है। उसकी सुधि तो बिना कलम, स्याही, दावात, कागज और स्याही के होती है–

मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागद बिनु अच्छर सुधि होई।

इस नकार मे सत कबीर अकेले नही है। अन्य सत भी ऐसा ही कहते है। सत ज्ञानेश्वर सबंधी प्रसिद्ध उपन्यास है 'इद्रायनीतीरे'। इसमे कहा गया है– मै न मनुष्य हूँ, न देवता एव यक्ष हूँ। न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र हूँ। न ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थ एव भिक्षु हूँ। मै केवल निजबोध रूप हूँ ।[५] सत कबीर भी यही निज बोधरूप है। इसमे 'निज' अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

---

१ यावानर्थ उदपाने सर्वत सप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत । २/४६।

२ आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठ
समुद्रमाप प्रविशन्ति तद्वत्।
तद्वत्कामा य प्रविशति सर्वे
स शातिमाप्नोति न कामकामी। २।७०

३ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च सप्रतिष्ठा । ३/१५

४ न तद्भासयते सूर्यो न शशाको न पावक ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम । १५/६

५ नाः मनुष्यो न चदेव यक्षौ न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रा ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षु न चाह निज वोध रूप ।–इद्रायनीतेरे।

इसलिये बोध तो गुणो का होता है। गुणो से होता है। तदनुसार सभी बोध माया है। भगवान् ने इस सृष्टि की रचना माया से की है। महाभारत मे कहा है–

नारद, मैने सब माया से निर्मित किया है। जो भी गुण युक्त है सब माया है।[1]

बोलने, ऑख से दीखने, कान से सुनने एव मन से कल्पना करनेवाला सब माया है। नष्ट होनेवाला है। मन की कल्पना है।[2]

इसीलिये 'एक' के अतिरिक्त दिखाई पड़नेवाला सब मृत्यु को देखना है। अतद् मे तद् को देखना है। केवल आत्मज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है। आत्मा से आत्मा को देखना चाहिए। इस ज्ञान का ही नाम ब्रह्म है (प्रज्ञान ब्रह्म)।

नकार और निषेध मे कबीर अपने और अपने लोगो की आलोचना भी नही भूलते–

साखी सब्दहि गावत भूले, आतम खबरि न जाना –बीजक।

ऐसे व्यक्ति को क्या कहेगे ? कुछ नही। आत्मतत्त्व इतना सूक्ष्म, अत. दुर्बोध है कि उसे किसी बाहरी तत्व से नही समझा जा सकता है। समझना तो दूर, हर वाहरी तत्त्व उसकी बाधा बना खड़ा है।

●

---

१ माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद।
सर्वभूत गुणैर्युक्त नैव त्व ज्ञातुमर्हसि । मा शा (गीता रहस्य पृ ७३४ पर उद्धृत)

२ यदिद मनसा वाचा चक्षुर्भ्या श्रवणादिभि ।।
नश्वर गुह्यमान च विद्धि माया मनोमयम् ।–भा ११/७/७

पानी में मीन पियासी

कबीर हँस रहे है। मछली पानी मे प्यासी है। लेकिन बाबा आप हँसते क्यो है ? आप तो रोनेवाले सत है। ससार को दुखी देखकर रोते है। यह भी कोई बात है कि कोई प्यास से तड़पे और कोई हँसे ? किंतु बाबा कबीर है कि अपना रोना बद कर। हँस रहे है। नही, नही, वे हँसते नही है, उन्हे हँसी आ रही है। मोहे सुनि सुनि आवै हाँसी। हँसना चाहते नही। हँसी आ जाती है। बरबस आती है। रोके नही रुकती है। सुन सुनकर हँसी आती है। देखते तो पता नही क्या होता ? सुनने पर तो यह हाल है। शायद हँसना भूल जाते। रोने लगते। कितना कष्ट है ससार मे। कितने दुखी है लोग।

सुनते क्यो है ? देखते क्यो नही ? देखना नजदीक मे होता है। अपने मे होता है। अपने को तो कोई दुख है नही। जिस पर प्रभु कृपा है उसे कैसा दुख ? साधुजन तो दूसरो के दुख से दुखी रहते है। वे जहाँ रहते है वहाँ भी दुख नही होता। सत अपनी उपस्थिति से ससार को सुखी बनाए रहते है। इसलिये सत कबीर दुख देखते नही, सुनते है।

सतो का चित्त नवनीत सा कोमल होता है। वे परदुख से द्रवित होते है। नवनीत अपने दुख से द्रवित होता है। कबीर भी पर दुख से रोते है। सत को अपना कौन सा दुख है ? वे तो समर्पित है। अपने को अपने दुख को, सुख को सबको भगवान को समर्पित कर दिया है। दूसरो के, दुख से दुखी होनेवालो के पास अपना दुख नही होता। हृदय मे थोड़ी तो जगह है। दूसरो के दुख को वहाँ बैठा दीजिए। अपना दुख स्वय भाग जायगा। नही भागा तो उसी मे विलीन हो जयगा। क्योकि हर हालत मे दूसरो के दुख की मात्रा अधिक होगी। व्यक्ति से समूह बड़ा है। सख्या मे, मात्रा मे, वजन मे। जैसे भी सोचिए, समूह का दुख अधिक होगा ही। इसीलिये बाबा लोग परदुख से दुखी होते है। परदुख कातरता ही सत का लक्षण है। सामान्य आदमी अपने दुख से दुखी होता है। सत परदुख से। बस यही तो अतर है सत और सामान्य मे।

फिर भी सत कबीर को हँसी क्यो आ रही है ? वे बराबर विरोधाभास देखते हैं। उलटवाँसी कहते है। यह भी विरोधाभास है। उलटवाँसी है। मछली पानी के बाहर तड़पती है। प्यास से तड़पती है। पानी के लिये तड़पती है। किंतु यहाँ तो पानी का समुद्र है। इसमे क्यो तड़पती है रे मछली ? आयी थी समुद्र मे। खूब सुख मिलेगा। खूब सुखी रहेगी। आनद करेगी। किंतु अपना भाग देख। वहाँ भी तू तड़पती है। प्यासी है। तृप्ति नही होती है। रत्नाकर मे तड़पती है। धन से कही किसी की तृप्ति होती है ? धन का स्वभाव गर्म है। धन की गर्मी से और भी प्यास बढ़ती है। जहाँ जहाँ धन है वहाँ-वहाँ प्यास है। छटपटाहट है। इसीलिये समुद्र मे बड़वानल है। आग है। उफान और उद्वेलन है। समुद्र उछलता है। चद्रमा की शीतलता के लिये।

अब बेचारी मछली का क्या होगा ? उसका पूरा घर जल रहा है। समुद्र तो खुद तड़प रहा है। उछल रहा है। भाग रहा है। भाग भी नही सकता। नदी नही है कि दौड़कर समुद्र से मिल जाय। समुद्र न कही से आया है। न कही जाता। केवल तड़पता है। उछलता है। और उछलता है। और तड़पता है। नदी को भी अपने मे मिला लिया है। नदी को मिलाकर उछलता

है। चचल मछली को तालाव और नदी के जल से सतोष नही हुआ। वह समुद्र सा सुख चाहती थी। किंतु समुद्र मे सुख कहॉ है ? जो समाज खुद दुखी है वहॉ व्यक्ति कैसे सुखी रह सकता है। समाज को सुखी बनाए बगैर केवल व्यक्ति सुख की कामना से ही तो मछली दुखी है। और सत कबीर को हॅसी आ रही है। पगली, जिस समाज मे तुम हो वह तो स्वय दुखी है। परेशान है। आग पर खड़ा उबल रहा है। उसमे तुम सुख चाहती हो। यह कैसे सभव है ? कबीर बेलाग कहते है। कब्र मे रहनेवाला कैसे निश्चित रह सकता है ? 'जाका वासा गोर मे सो क्यो सोवै निचित।'

कबीर समृद्धि के समाज पर हॅस रहे है। अधिकतम और इफरात के समाज को देखकर उन्हे हॅसी आ रही है। वहॉ के युवक और युवतियॉ शति की खोज मे कबीरचौरा आ रहे है। समृद्ध समाज परेशान है। सुख के सग्रह से मन ऊब रहा है। टी. वी , मोटर, मशीन, हवाई जहाज, ऊॅचे-ऊॅचे भवनो मे गैस भर रही है। हवा गायव है। हवा का स्थान ले लिया है गैस के प्रदूषण ने। इस प्रदूषण से बचना होगा।

चारो ओर फैली गैस पानी का समुद्र बन जायगी। प्रलय आ जायगा। प्रलय मे सब डूब जायगा क्या ? मशीनो ने बनाए है बड़े-बड़े घातक हथियार। वे घातक हथियार एक दूसरे को मारना चाहते है। दूसरो को मारने की दहशत मे स्वय भी मर रहे है। दूसरो को मारनेवाला स्वय मर रहा है। उसे भय है दूसरो के हथियारो का। अपने हथियारो का। हथियारो का प्रेत पूरे नगर पर गैस के रूप मे फैल रहा है। धुध की तरह छा गया है। यह धुध बढ़ रहा है। इसमे सब कुछ रखकर भी मनुष्य असतुष्ट है। अरक्षित और भयभीत है। समृद्धि के बीच रहकर तड़पता है। समृद्धि के लिये नही, सुख के लिये नही। तृप्ति के लिये। वह तृप्ति आनद जिसका पर्याय है। जिसके लिये उसने इस सभ्यता का निर्माण किया था। मशीन, महल, तोप, टैंक, बम, जहाज, टी वी और वी डी ओ का निर्माण किया था। किंतु उसे चैन नहीं है। उसकी सभ्यता समुद्र सी फैली है। खुद भी उबल रही है। चद्रमा की ओर जाती है। शायद कोई रास्ता मिल जाय।

किंतु उसका भाग्य तो देखिए। चद्रमा सबको शीतलता देता है। औषधीश है। अनेक रोगो को हरता है। वहॉ विज्ञान को केवल पत्थर और गड्ढे दीख रहे है। न जीव। न जतु। न हरियाली। न हवा। न पानी। अभागे, तुम्हारी खोज ही गलत है। तुम व्यर्थ में तड़प रहे हो। अभी चद्रमा पर जाने की क्या जरूरत थी? धरती पर गड्ढे और पत्थर कम है क्या जो तुम चद्रमा पर चले गए ? अभी तो धरती का आधा से अधिक हिस्सा पत्थर है। सूखा है। रेत सा मूर्छित है। उन्हे पहले समृद्ध करो। सुखी करो। ज्ञान विज्ञान के रूमाल से इनके ऑसुओ को पोछ दो। जले कटे जख्मो पर तकनीकी का मलहम लगा दो। सभ्यता की पट्टी बॉध दो। जहाज और मोटर की कौन रहे। उन्हे साइकिल तो दो। भरपेट भोजन तो दो। चदमा भी तुम्हारी मन्शा समझ गया है। वहॉ भी लूटने की नीयत से गए हो। इसीलिये सब खाली मिला। तुम अभी तक चद्रमा का कोई उपयोग नही कर सके। तुम्हारी दुनिया तड़प रही है। तुम्हारी सभ्यता व्याकुल है। तुम्हारा चद्रमा पत्थर और गड्ढा है। तुम हॉफ रहे हो। सब कुछ पाकर भी दुखी हो। इस सभ्यता का पानी तुम्हारे गले मे अटक गया है। वह हलक से नीचे उतरता नही है। तुम्हारी प्यास बुझे तो कैसे ? और पानी मे रहकर भी मछली प्यासी है। समृद्धि के बीच भी मनुष्य दुखी है। तड़प रहा है। हिप्पी बना घूम रहा है। फकीरी ठाट वाले सत कबीर को हॅसी आ रही है। हजारो युवक-युवतियॉ उनके गरीब देश मे शाति की खोज मे आ रहे है। शायद कुछ मिल जाय। पानी की मछली सूखे मे आना चाहती है। पानी को तो उसने देख लिया है।

कबीर हॅस रहे हैं। भारत के लोग धन की खोज मे गोरे देशो मे जा रहे है। गोरे देशो की

समृद्ध युवक-युवतियाँ भारत आ रही है। दोनो तड़प रहे है। एक अभाव से। दूसरा समृद्धि से। सत कबीर को हसी आ रही है–पागल, चित्त को शात कर। सुख भीतर है। बाहर तो केवल बेचैनी है। बाहर सुख होता तो संपन्न जगत शात होता। हथियार क्यो जुटाता ? महासमर क्यो लड़ता ? आनद की अनुभूति करता। वे भी तो परेशान है। तड़प रहे है। कुछ समृद्धि के लिये व्याकुल है। कुछ समृद्धि के भावी परिणाम से चितित हैं। कोई सुखी नही है। सुखी है केवल सत कबीर। जिन्हे हँसी आ रही है। इस बेपढ़े आदमी को केवल हँसी आती है। यह है ज्ञान-विज्ञानरहित व्यक्ति का सुख। केवल हँसना। केवल हँसना।

समस्या गंभीर है। इसे केवल हँसकर टाला नही जा सकता। रोकर मुक्त नही हुआ जा सकता। इस पर तो केवल हँसी आती है। कितु बाबा ज्यादा हँसो मत। क्योकि तुम्हारी यह हँसी स्वाभाविक नही है। कही तुम हँसते-हँसते रोने न लगो। क्योकि रोना तुम्हारा स्वधर्म है। तुम्हारी इस हँसी मे भी कही न कही भीषण रुदन अट्टहास कर रहा है।

सत कबीर एक रास्ता सुझाते है–

साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मै भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

'दीजिए' पर जोर है। दीजिए। अवश्य दीजिए। कौन कहता है सत विरागी था ? हाँ, विरागी तो था ही। 'दीजिए' कितु शर्त के साथ। यह शर्त है 'इतना'। इतना कितना ? जितने से परिवार, मेरी और अतिथियो की भूख मिट सके। बस। अधिक नही। अधिकतम तो बिल्कुल ही नही।

दूसरा होता तो अधिकतम माँगता। जब देने वाला स्वय अथाह सपत्ति का स्वामी है तो अथाह माँगो। हो सके तो उसका सब कुछ माँग लो। कोई हर्ज नही अगर वह दरिद्र हो जाय। आज का विज्ञान धरती, आकाश, हवा, पानी आदि प्रकृति साधनो से सब माँग रहा है। अधिकतम कौन कहे उसका अस्तित्व भी माँग रहा है। यह असत दृष्टि है। सत दृष्टि है शरीर रक्षा भर माँगो। शरीर रक्षा भर लो। वह पूरा दे भी तो। पूरा मत लो।

अधिक लेकर क्या होगा ? शरीर न अधिक मोटा हो। न असमर्थ। इसलिये थोड़ा लो। बाकी छोड़ दो। दूसरो के लिये छोड़ दो। सबको मिले। लेने मे भी, माँगने मे भी साम्यभाव हो। यह है साम्य योग। अधिक माँगना चोरी है। सत कबीर की इस बात का समर्थन भागवत से होता है। भागवत की भी यही दृष्टि है– मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उसकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सपत्ति को जो मानता (माँगता) है, वह चोर है। उसे धन नही, दड मिलना चाहिए।[१] अर्थ यह कि आवश्यकता से अधिक लेना चोरी है। अपराध है। दडनी अपराध।

लोग नित्य ही यह अपराध करते है। उनका दड इकट्ठा होता जाता है। एक दिन वे महा-दड पायेगे। आज की वैज्ञानिक तकनीकी समृद्धि उसी दड, महादड की तैयारी मे लगी है।

संत कबीर उसी अपराध, उसी दड की ओर सकेत करते है।

एक ऐसा समाज रचो जिसमे अपने कुटुब के खाने भर। थोड़ा दूसरो की सहायता भी हो। साधु सेवा भी हो–

---

१ यावद् भ्रियते जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम् ।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दडमर्हति ।७।१४।८

साई इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मै भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

दूसरो को खिलाने, देने की अनुभूति करो। तभी प्यास बुझेगी। केवल खुद खाने से प्यास नही बुझनेवाली है। हॉ, तो। खुद खाने। लूटने वाली मछली प्यासी है। वासना, लोभ, लालच के समुद्र मे प्यासी है।

न हँसनेवाला कवि

ससार मे दुख अधिक है। सुख कम। बुद्ध ने ससार के दुख को देखा था। यो कहिए कि उनकी मुलाकात दुखो से ही हुई थी। ऐसा दुख जो सबको होता है। राजा, रक, फकीर सबको।[1] रोग का दुख, बुढ़ापा और मृत्यु का दुख। दुख इसके अतिरिक्त भी है। गरीबी और अभाव का दुख। महीनो, वर्षो और जीवनभर भोजन, कपड़ा और दवा न मिलने का दुख। वर्ग, जाति और वर्ण व्यवस्था का दुख। किन्तु इन दुखो को सब नही देखते। 'सर्व दुखम्' मे गरीबी का दुख नही है। जाति और वर्ण व्यवस्था का दुख नही है। किन्तु इन दुखो का समर्थन भी नही है। हॉ, इतना अवश्य कि ये छोटे दुख है। एक दुख और है। इस दुख की अनुभूति तो सबको होती है। कितु इसे समझ पाना सबके बूते का नही है। वह है अधिक खा लेने पर भी असतुष्ट या भूखे रह जाने का दुख। बहुत स्वाद और रस लेकर बेस्वाद एव नीरसता का दुख। सभी रसो के नष्ट हो जाने का दुख। रस रस करते हुए रस के सूख जाने का दुख। यद्यपि बौद्ध धर्म मे समानता की बात है। किन्तु इनकी पीड़ा और बेचैनी नही है। कबीर ने भी दुख देखा था। ऐसा ही दुख। उनकी माया दुख देनेवाली है। सबको बॉधती है। ठगती है। गिरफ्तार करती हैं। घर में घुसकर नाश करती है। प्यार से, दुलार से, स्त्री, धन और सेविका बन कर कष्ट देती है। बुद्ध नित्य जल रहे थे। उनके जीवन मे हँसी नही थी। आनन्द नही था (किमा हासो किमा नदो नित्त पज्जलिते सति)। अपने दुख से जल रहे थे। परिवार और समाज के दुख से जल रहे थे। कबीर की माया भी सबको जलाती है। वे इससे मुक्त होना चाहते है। एक शाश्वत तत्त्व की खोज मे थे। जो उनका दुख दूर कर दे। सबका दुख दूर कर दे। किन्तु दुख दूर करने की प्रक्रिया निराली है। दुख दूर करनेवाले को पाने का ढग विचित्र है। दुख को दूर करने के लिये दुखी होना होगा। लोहा लोहा से कटता है। विष की औषधि विष ही है। कबीर इसी लोहे से लोहे को काट रहे थे। दुख के विष से दुख के विष को ठीक कर रहे थे।

कबीर स्पष्ट कहते है हँसो मत। हँसने से दुख दूर नही होगा। दुख दूर करनेवाला हँसने से नही मिलता। प्रसन्न रहनेवालो से उस स्वामी की कोई सहानुभूति नही है। उसके दरबार मे हँसने की मनाही है (अधिकतर दरबार ऐसे ही होते है, जहाँ हँसना धृष्टता है। अपराध है)। राजा किसी की हँसी बर्दाश्त नहीं कर सकता। हँसने का काम केवल सरकार बहादुर का है।

सरकार बहादुर प्रजा को लूटकर, मारकर, छीनकर भी हँसती है। मुस्कुराती है और अट्टहास करती है। दरबारी केवल उसी हँसी का साथ देता है। प्रजा को केवल रोना चाहिए। रोने से मालिक खुश होता है। रोनेवालो पर वह दया करता है। शरण मे ले लेता है। अपना बना लेता है। इससे मालिक का अहम् सतुष्ट होता है। दुनिया का यही कायदा है। यही कायदा भगवान् के यहाँ चलता है। इसलिये कि दुनिया भगवान् की बनायी है। दुख दूर करनेवाला ईश्वर है। भगवान् है। यह भगवान् कबीर का प्रिय है। प्रियतम है। दुखियो का स्वामी है। सभी दुखिया उससे नाता जोड़ते है। अनेक नाते है। किन्तु कबीर की दृष्टि मे प्रिय और प्रिया

---

१ (क) राजा दुखिया परजा दुखिया तपसी के दुख दूना।
(ख) राणा राव रक कौं व्यापै करि करि प्रीति सवाई।

का नाता मुख्य है। कबीर को भगवान् कत प्रिय है। कत भगवान् को कबीर प्रिय है। किन्तु यह कत हँसी विरोधी है। (हँस हँस कत न पाइए जिन्ह पाया तिन्ह रोइ)। ससार के प्रेम मे हँसी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेमी से हँसी दिल्ग्गी चलती है। जहाँ दिल लगा कि दिल्ग्गी शुरू हुई। मनहूस प्रेम नही कर सकता। प्रेम के लिए प्रसन्नता आवश्यक है। दो की प्रसन्नता और रजामदी का नाम प्रेम है। शायद इसीलिए प्रेम मे दो अक्षर हैं। ढाई कह लीजिए। एक है मात्रा। ए की मात्रा। यह मात्रा प्रेम की प्रौढ़ता की पहिचान है। आखिर प्रेम की साक्षी भी तो होना चाहिए। कबीर अक्सर प्रेम मे दो की चर्चा करते है।

हँसने का प्रभाव बुरा होता है। हँसने वाला नरक जाता है। जाना है स्वर्ग। किन्तु हँसी का प्रभाव उलटा होता है। नरक जाना पड़ता है। भला नरक कौन जाना चाहेगा ? इसलिए हँसो मत। पहले भी हँसनेवालो का बुरा हुआ है। वे नरक गए है। आज भी हँसनेवाले नरक जायँगे (केते अजहूँ जाइसी नरक हसत हसत)। प्राय लोग सुन्दरियाँ देखकर प्रसन्न होते हैं। उनसे हँसते है। मजाक करते है। दिल वहलाते है। किन्तु यह हँसी,मजाक, दिलबहलाव ठीक नही, क्योकि सुन्दरी से शूली भली है। ऐसे सोने से लाभ क्या जिससे फॉसी पड़ जाय। ससार मे सामान्यत खुशी के दो साधन है–कचन और कामिनी। किन्तु कबीर दोनो को देखकर रोते हैं। प्रसन्नता की तो वात ही व्यर्थ है। दोनो को देखकर आग लगती है। विष चढ़ता है। 'देखैहीथे विष चढै खाये सूँ मरि जाय।' कहते है कबीर को पत्नी भी थी। बच्चे भी हुए थे। किंतु सब विना हँसे हुआ था। शायद यही कारण है कि उनकी सतानोत्पत्ति को लेकर एक दल रोता है 'सदगुरु को सतान नही थी, लोग झूठे ही उन पर सतान पैदा करने का आरोप लगाते हैं।' ठीक भी है जो हँस नही सकता वह सतान क्या पैदा करेगा ? सतान तो प्रसन्नता की वात है। पुत्र को नन्द कहते है। नदलाल। नंद आनद देता है। किन्तु कबीर के लाल तो भगवान् हैं। वे उसी लाल की लाली देखते है। उसी लाल की लाली मे लीन हो जाते हैं। भूलकर भी नदलाला होने की खुशी नही मनाते। ऐसा दुखवादी कवि शायद कही मिले। दुखवादी स्त्री, पुत्र, पति, परिवार से परहेज करता है। भगवान् बुद्ध ने भी परहेज किया था। प्रछन्न बौद्ध शकराचार्य ने भी ससार को दुख और मिथ्या माना। सन्यास को प्रधान कर दिया। गेरुआ वाला सन्यासी पूज्य हो गया। गृहस्थ की अपेक्षा सन्यासी महान् है। क्योंकि सन्यासी ससार के दुख से मुक्त है। उसने स्त्री, पुत्र, पति, भाई, बधु की ममता त्याग दी है। औरो पर इसका असर पड़ा। ममता त्याग ससार का सबसे बड़ा पुरुषार्थ हो गया। तुलसीदास भी कहते है। 'ममता त्याग करहि जिमि ज्ञानी।' ज्ञानी वह है जो ममता का त्याग कर दे। परिवार समाज और ससार की ममता। कबीर इसे जीवन-मृत्यु कहते है। उनका आग्रह है कि जीते जी मरो। जीवन ते मरिबो भलो। मरने से जग डरता है। और कबीर को आनद आता है। मरना उनके लिये प्रसन्नता की वात है। वे मरने मे ही प्रसन्न रहते है। जिस मरनै थै जग डरै सो मेरे आनद। यह मृत्यु ससार मे राग से मृत्यु है। राग ही जीवन है। राग घटा कि जीवन गया। किंतु कबीर का ध्यान तो परमानद पर है। यह परमानद राग छोड़ने पर मिलेगा। मरने पर मिलेगा। मरना बहादुरी है। कायर नही मर सकता। वह तो पहले से मरा है।

कबीर नही हँसते तो कोई तो हँसेगा। काल हँसता है। ससारी जीवो के व्यवहार पर हँसता है। उनकी असावधानी पर हँसता है। ममता, मोह और गफलत पर हँसता है। कबीर के वदले हँसता है। हम सबके बदले हँसता है। कबीर उसको जीतना चाहते हैं। कालजयी होना चाहते हैं। उसे कबीर के व्यवहार पर हँसना आता है। वह सावधान है। कितनो को खा गया। ऋषि, मुनि, पीर, दिगम्बर को खा गया। मनुष्य को इससे शिक्षा लेनी चाहिए थी। किंतु कौन शिक्षा लेता है ? यद्यपि सभी काल के फॉस मे फँसे है। मनुष्य बेधड़क घूम रहा था। इसलिये काल

हँसता है। काल को हँसते देखकर कितनो की हँसी गायब हो जाती है। काल ने सबका केश पकड़ लिया है। सभी घबड़ाएँ है। इसमे काल मजा ले रहा है। गरज यह कि हँसने का काम मनुष्य का नही। काल का है। मनुष्य को इसी हँसी से भयभीत होना चाहिए। काल की हँसी से सभी डरे है। डर का अर्थ है काल की हँसी। भागवत के अनुसार हास भगवान् की माया है। वह माया, जो जनता मे उन्माद पैदा करती है। (हासो जनोन्मादकरी च माया) हास का सबध माया से है। अब तो कबीर का विरोध स्वाभाविक हो गया। हँसी माया है और माया पापिनी है। कबीर उससे नफरत करते है। इसी पापिनी से सारी दुनिया परेशान है। कबीर उन्मनी अवस्था को पहुँच गए है। हँसना तो दूर। बोलते तक नही। चचलता को मारकर फेक दिया। (हँसै न बोलै उन्मनी चचल मेल्ह्या मारि)। रुठनेवाला व्यक्ति हँसना बोलना सब बद कर देता है। कबीर भी ससार से रूठे है। किन्तु कबीर को कोई मना नही रहा है। यह रूठा व्यक्ति ही सबको मना रहा है। अरे भाई, तुम भी रूठो। मेरे समान रूठो। ससार से रूठने का मजा लो।

कबीर सुख के लिये जा रहे थे। सामने दुख दीख गया। उन्होने सुख को वापस भेज दिया। दुख का साथ कर लिया। सुख से पिड छूटा। अब वे दुख से अपना समझेगे। कबीर सुख की चिता बिल्कुल नही करते। यहाँ तक कि भूख की भी परवाह नही है। भूखे लोगो से कहते है–'भूख भूख क्या करता है? क्यो लोगो को भूख की बात सुनाता है ? जिसने शरीर रूपी भाड़ा गढ़कर मुँह दिया है वह भोजन भी देगा।' यह कबीर तीनो लोकों के दर्द को जानते है। मनुष्य तिल के समान सुख के लिये पहाड़ सा दुख झेलता है। सुख की अल्प कल्पना भी मनुष्य को गहरे दुख मे डाल देती है। यही कारण है कि पडितो का नाश हो जाता है और मूर्ख, कथित मूर्ख दुख से छूट जाते है। सबसे अच्छा है सुख-दुख दोनो को छोड़ दे। दुख भी बुरा। सुख भी बुरा। नही सुख तो और भी बुरा है। आनंद केवल राम को पाने मे है। यहाँ न सुख है, न दुख। सुख-दुख से अलग एक चीज है। इसे आनद कहते है। इसी आनद को पाने के लिये कबीर हँसी का बहिष्कार करते है। तिरस्कार करते है। हँसी तो साधन है। साध्य है आनद। कबीर साधन को छोड़कर सिद्धि और साध्य चाहते है। राह नही मजिल। दुख-सुख दोनो साधन है। राह है। मजिल है आनद। इस आनन्द मे न सुख है, न दुख। वहाँ हँसी का सर्वथा अभाव है। उसका अनुभव गूँगे के गुड़ सा है। अकथनी, अवर्णनी है।

समन्वय एवं साधना की कविता

कई लोग कबीर साहब को समन्वयवादी कहना चाहते हैं। किंतु किसी ने इस शब्द का प्रयोग नही किया है। इसलिये कि हिंदी मे समन्वय शब्द गोसाईं तुलसीदास के साथ इतना जुड़ गया कि अन्यत्र न जा सका। समन्वय के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य शुक्ल कबीर साहब के बारे मे कहते है--जहॉ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होने एक ओर तो स्वामी रामानद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ बाते ग्रहण की और दूसरी ओर योगियो और सूफियो के सस्कार प्राप्त किये। वैष्णवो से उन्होने अहिसा और प्रपत्तिवाद लिये। इसीलिये उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे सतो के वचनो मे कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियो के नाड़ी चक्र की, कही सूफियो के प्रेम तत्त्व की, कही पैगम्बरी कट्टर खुदावाद और कही अहिसावाद की मिलाजुला भाव इनकी बानी मे मिलता है। –(हि सा. इ पृ ७०)। 'मिलाजुला' कहकर भी कबीर को समन्वयवादी नही कहा गया? क्यो ? शायद इसलिये कि इससे तुलसी का समन्वय बाधित होता। जबकि तुलसीदास बिल्कुल ही समन्वयवादी नही है। उन्हे चाहे तो कोई परिवारवादी कह सकता है। वैदिक परिवार के देवताओ का समन्वय तुलसी को परपरा मे मिला था। शैव और वैष्णव के जिस समन्वय की बात की जाती है वह समन्वय महाभारत, शिव पुराण, लिग पुराण, भागवत, अध्यात्म रामायण आदि मे स्वत प्राप्त है। इस परिवार मे कभी-कभी द्वन्द्व भी है। किंतु समन्वय भी गहरा है। महाभारत के अर्जुन का रथ सूत्र कृष्ण के हाथ मे है। ध्वजा पर शकर पुत्र हनुमान है। युद्ध मे शकर अर्जुन के आगे-आगे अदृश्य रूप मे चलकर कौरवो का नाश कर रहे है। अर्जुन को अस्त्र-शस्त्र देनेवालो मे अग्नि, इद्र और शकर सभी देवता आते है। फिर भी हिंदी मे तुलसीदास को समन्वयवादी और कबीर को समन्वयरहित देखा गया। जब कि कबीर हिंदू-मुसलमान मे भी एक प्रकार का समन्वय देखते हैं। दोनो के देवो की अपूर्णता बताकर सर्वधर्म समभाव स्थापित करते है। आचार्य शुक्ल इस बात को पहचान कर ही कहते हैं कि 'भक्ति आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू मुसलमान दोनो के लिये एक सामान्य भक्ति मार्ग की भी भावना कुछ लोगो मे जगाई' (वही, पृ०६४)। यह 'सामान्य भक्ति मार्ग' महत्वपूर्ण उक्ति है। सामान्य का अर्थ है जो सभी मनुष्य को सामान्यत स्वीकार्य हो। जिसमे किसी विशेष का आग्रह न हो। यह तभी सभव है जब कि सभी धर्मो को या तो छोड़ा जाय या सबसे कुछ-कुछ ले लिया जाय। कुछ कुछ लेने मे छोड़ना स्वत आ जाता है।

असल मे सत कबीर के बारे मे आचार्य शुक्ल कुछ निश्चित करने की स्थिति मे नही है। लगता है कबीर उन्हे पसद नही है। क्योंकि सत कबीर व्यक्त के उपासक नही है। आचार्य शुक्ल व्यक्त, सगुण और स्थूल को अधिक पसद करते है। सामान्यत सभी लोगो को यही समझ मे भी आता हैं। किंतु कबीर को अस्वीकार करना भी कठिन है। इसलिये कबीर पर धड़ल्ले से आरोप लगाते है कि उनका एकेश्वरवाद, मूर्ति पूजा, जाति व्यवस्था आदि का खंडन आदि भी इस्लाम प्रभावित है। जबकि ऐसा कुछ नही है। वैदिक धर्म की विभिन्न शाखाओ मे चीजे बार-बार मिलती है। द्विज कहलानेवालो ने भी ये बाते कही है। जाति व्यवस्था का विरोध

सदा रहा है। भक्ति मे जाति व्यवस्था का स्थान नही है। निर्गुण भक्ति को कठिन मानकर छोड़ा गया है। कोई भी सगुणमार्गी निर्गुण विरोधी नही हो सकता है। ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा गया है। निर्गुण निराकार का ही अवतार होता है। इसलिये निर्गुण निराकार व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है ? आचार्य शुक्ल तो सामान्य भक्ति मार्ग और समन्वय को सिद्धो-नाथो मे ही देखते है। सच्चाई यह है कि कबीर जिस वैष्णव परपरा मे है वह स्वत समन्वय देखती है। एकेश्वरवाद, अहिसा, प्रपत्ति, योग आदि तो उसके मूल मे है। भक्ति का कोई भी सप्रदाय योग विरोधी नही है। शायद दुनिया का कोई भी धर्म योग का विरोधी नही। जिस दक्षिण से कबीर ने भक्ति ली थी वहाँ योग था। डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने ठीक ही लक्ष्य किया है–'भक्ति उत्पत्ति के लिये प्रयुक्त योग को वहाँ भागवत योग कहा गया है । जयाख्य सहिता ने भक्त को योगी कहा है । पचरात्र का आधार अशत वैदिक है और अशत तात्रिक । शाडिल्य के सूत्रो मे कहा गया है कि योग, ज्ञान और भक्ति दोनो का अग है अडगिय वैष्णव आचार्यो मे नाथमुनि योगी थे तथा उन्होने योग रहस्य नामक एक ग्रथ भी लिखा था। उन्होने अष्टाग योग का साधन किया था । रामानुज और उनके अनुयायियो ने तीन प्रकार के प्रमाण माने थे–प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र । प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है–१ ईश्वर प्रत्यक्ष, २ योगि प्रत्यक्ष, ३ लोक प्रत्यक्ष । योगि प्रत्यक्ष योगाभ्यास के विशेष प्रकाश के कारण होता है। वैष्णवमताब्जभास्कर कबीर के गुरु स्वामी रामानद का महत्वपूर्ण ग्रथ है। 'भास्कर अध्ययन से स्पष्ट है कि योग (राजयोग, हठयोग, तात्रिक योगादि) भक्ति के साधन है, भक्ति ही साध्य है, फल रूप है । यमादि अष्टागो को उस भक्ति का अवयव कहा गया है ।[१] भक्ति की पूर्णता को पाकर योग व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये कबीर योग को भी नाशवान् मानते है–

जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना पवना दोनों बिनसै, कहँ गया जोग तुम्हारा।

खुदावाद कबीर मे नही है। हॉ, वे राम और अल्लाह या खुदा मे भेद नही मानते। भेद नाम का है। है दोनो ही मूलत एक। इसे चाहे तो समन्वय कह सकते है। किंतु है यह वेदाती एकेश्वरवाद ही। प्रेम तत्व तो कृष्ण भक्ति शाखा मे भरा है। भक्ति का आधार ही ईश्वर मे परानुरक्ति। ईश्वर तो प्रेम रूप है। परम प्रेम रूप। सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा। भक्ति मे यह अवधारणा प्रसिद्ध है कि पुरुष केवल एक है। शेष सब प्रकृति है। स्त्री है। जीव साधिका है। इसे सूफियो से लिया बताना समस्त भारती चितन को अस्वीकार करना है। किंतु आचार्य शुक्ल यह मानने के लिये तैयार नही है। वे नही मानना चाहते कि सत कबीर के यहॉ कोई व्यवस्था है। व्यवस्था तो केवल वे तुलसीदास मे देखते है। किंतु कबीर मे भी व्यवस्था देखना उन्हे अच्छा नही लगता है। वे कहते है–'निर्गुण पंथ के सतो के सबध मे यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमे कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाना व्यर्थ है (वही, पृ०९२)। यहॉ कोई पूछ सकता है कि क्या तुलसीदास के दार्शनिक मत के बारे मे विद्वान् एकमत है ? नही। तो कबीर पर ही यह आरोप क्यो ? सत कबीर मूलत कवि है। कोई व्यवस्थित दर्शन ग्रथ नही लिख रहे थे। हाँ, इतना मान्य है कि वे एक कट्टर वैष्णव थे। रामानद के शिष्य थे। प्रभाव सभी लेते है। उनमे भी होगा ही। होना भी चाहिए। किंतु सारे प्रभावो के बीच सत कबीर की एक व्यवस्थित भक्ति पद्धति है।

---

१ डॉ नागेद्रनाथ उपाध्याय–नाथ और सत साहित्य (वैष्णव और शैव, शाक्त योग, पृ २१६-२६३)।

आचार्य शुक्ल को कबीर को कवि मानने मे भी कठिनाई होती है। वे कहते है—कबीर मे जो कुछ रहस्यवाद है वह एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नही है। (जायसी ग्र, पृ०१६४)। कबीर के चित्रो (इमेजनरी) की न वह अनेकरूपता है, न वह मधुरता (वही, पृ० १६५)। आ०शुक्ल का निर्णय डॉ श्यामसुन्दरदास को पसद नही आया। उन्होने इसके जवाव मे कहा, 'रसिको की सम्मति मे कबीर का रहस्यवाद रूखा है, उनका माधुर्यभाव भी उन्हे फीका लगता है, उनके चित्रो मे उन्हे अनेकरूपता नही दिखाई देती है। कबीर मे चित्रो की अनेकरूपता न देखना उनके साथ अन्याय करना है। जो उन्हे बिल्कुल ही रूखा समझते है, उन्हे उनकी रहस्यमयी अन्योक्तियो को देखना चाहिए–

'काहे री नलिनी ! तू कुमिलानी। तेरे ही नालि सरोबर पानी।
जल में उतपति जल में बास। जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगि। तो हेत कहु कासनि लाग।

....

कैसा मृदुल मनोमोहक चित्र है। इस सहज माधुर्य किसे न मोह लेगा' (कबीर ग्र, पृ ६१)। बाबू श्यामसुन्दरदास का यह जवाब इतना पूर्ण है कि इसके आगे कुछ भी कहना व्यर्थ होगा।

आचार्य शुक्ल ज्ञानी पुरुष है। उन्हे मालूम है भक्ति के क्षेत्र मे प्रेमतत्त्व श्रीमद्भागवत मे भरा है। प्रेमतत्त्व की गहनता के कारण ही रासपचाध्यायी की ख्याति है। वे यह भी बताते है कि प्रेम का सबध दक्षिण भारत की देवदासी प्रथा से है। सूफी कव्वालो मे हाल दशा (प्रेम मे मूर्छित होना) महत्त्वपूर्ण है। कबीर मे प्रेम दशा तो है, किंतु हालदशा का वर्णन कही नही हैं। ऐसे ही सूफी सेव्य को स्त्री मानकर उपासना करते है। जबकि भारती परपरा सेव्य को पुरुष मानती है। कबीर का प्रिय भी सूफी परपरा से भिन्न पुरुष है। साई है। प्रियतमा नही प्रियतम। इस पर भी शुक्ल जी को सत कबीर का प्रेममार्ग सूफी क्यो लगता है यह समझ मे नही आता। जबकि इस्लाम की सूफी धारा के अद्वैत को भारत के अद्वैत से प्रभावित माना जाता है।

आचार्य शुक्ल के प्रभाव के कारण कबीर के बारे मे कई असगत बाते प्रचारित हुई। यह कि निर्गुण मार्ग सगुण मार्ग से बिल्कुल भिन्न है। स्वय शुक्ल जी बताते है कि नामदेव मे यह भिन्नता नही है। हिंदी मे मीरा मे यह भिन्नता नही है। कबीर आदि मे भी अवतार की अस्वीकृति तो है। किंतु साकारता मिलना कठिन नही है। दूसरी बात यह कि निर्गुण मार्ग के भक्त अधिकतर पिछड़े है। निर्गुण का प्रचार भी मुख्यत पिछड़ो मे है। वे शास्त्ररहित पिछड़ी बाते भी करते है। निर्गुणमार्गी पढ़े-लिखे नही थे। ये सभी बाते अर्धसत्य है। कबीर साहब कहते है कि साधुओ की, निर्गुण साधुओ की जाति मत पूछो। इस मार्ग मे सभी जातियो के साधु है–

साध ब्राह्मन साध छत्तरी साध जाती बनियाँ।
साधन माँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी साध जाति है बरियाँ।
साधन माँ रैदास संत है सुपच ऋषि से भँगियाँ।

निर्गुण और सगुण मार्ग मे आज अधिक भेद देखा जा रहा है। इस भेद दृष्टि का कारण भक्ति नही। राजनीतिक आवश्यकता है। इसी राजनीतिक आवश्यकता ने सत कबीर को अध्यात्म के विराट् विश्व से निकालकर एक समाज सुधारक मात्र बना दिया है। जब कि समाज

सुधार उनका मुख्य लक्ष्य न था। शूद्रो के कथित आधुनिक वकील भूल जाते है कि पिछड़ो के लिये समग्र कबीर महत्त्वपूर्ण थे। जाति आदि सबधी सूक्तियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अनुभव के पद थे। उलटवासियो का रहस्यवाद था। कबीर की महत्ता खडन मे नही मनुष्य को विषय मुक्त करने मे है। कबीर रो रहे है। इसलिये नही कि वे दुखी है। भूख से या कपड़े के लिये परेशान है। उनका सकट तो माया मे पड़े लोग है। बेचारे नही जानते कि उनका आमोद क्षणभंगुर है। कालमार्जार के हाथो से नष्ट होनेवाला है। मेरा तेरा उसका के सारे सबध व्यर्थ है।

कबीर कहते है कि सबसे परिचय करना चाहते हो। जान पहचान बढ़ा रहे हो। किंतु अपना परिचय नही है। बाहर का परिचय व्यर्थ है। असल है आत्मपरिचय है। हम सभी इस विश्व मे है। यह विश्व हममे है। शायद अनेक विश्व हममे है। क्या है ? कितना है ? कुछ कहा नही जा सकता है। कहने के साधन सीमित है। समझने के साधन उससे महत्त्वपूर्ण है। अधिक है। किंतु अनुभूतियाँ तो नि सीम है। कहाँ तक है कौन बताए? नि सीम की अनुभूति तो नि सीम को नि सीम मे जाकर होती है। ऐसे मे सीमावाला सीमित माध्यमो से कैसे बता सकता है ? कबीर साहित्य का असली प्रयास नि सीम को पाना है। उस लोक मे विचारण करना है। ऐसे लोक मे पहुँचना है, जहाँ सूर्य चद्रमा का भी गम नही है। जहाँ पिपीलिका के पाँव भी नही टिकते है। यह स्थान, यह लोक समस्त नाम-रूपो से परे है। यहाँ बड़े-बड़े मुनि महात्मा नही पहुँच पाते है। इसी लोक, इसी लोक की अनुभूति, परिचय और प्रेम मे सत कबीर मस्त है–मन मस्त हुआ तब क्यो बोलै ? यहाँ एक हीरा पाया है। इस हीरे को गाँठ मे गँठिया लिया है। सारा ससार गाँठ खोलता है। खोलना चहता है। गाँठ ही तो कुठा है। कुठा की समाप्ति ही विकुठ है। वैकुठ है। किंतु कबीर गाँठ बाँधते है। इसलिये हीरा पाकर मस्त है। इस हीरा को पाकर अब कुछ पाना नही है–

मन मस्त हुआ तब क्यों बोलै।
हीरा पाया गाँठ गठियायो,
बार बार वाको क्यों खोलै।

यह हीरा क्या है ? हीरा का मूल हीर है। हीर सत्त्व अर्थात् मूल तत्त्व। वह तत्त्व जो सबमे है। सबका आदि है। सनातन है। अनश्वर है। सबके नष्ट होने पर भी रहता है। प्रभु और परमात्मा है।

कबीर ने जो कुछ पाया है उसे इसी घट के भीतर पाया है। उन्हे मालूम है। सब इसी कुछ घट मे है। इस घट के अतिरिक्त कुछ नही है। इसलिये वे कोशिश कर, यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा, ध्यान को बाहर से हटाकर भीतर देखते है। भीतर आना आसान नही है। किंतु कबीर इस कठिन कार्य को पूरा करते है। कहते है–

चंदा झलकै यहि घटमाही। अंधी आँखिन सूझै नाहीं।
यहि घट चंदा यहि घट सूर। यहि घट बाजै अनहद तूर।
यहि घट बाजै तबल निसान। बहिरा शब्द सुनै नहि कान।

यह देखना विराट् को देखना है। विराट् बाहर भी है। भीतर भी है। बीज मे वृक्ष है। वृक्ष मे फल है। अंडे मे मुर्गी है। मुर्गी अडा देती है। इस विराट् को कैसे देखा जाय ? क्या हम उस बीज को देख रहे है जिसमे वृक्ष छिपा है। सामान्य उत्तर होगा हाँ देख रहे है। बीज तो हमारी मुट्ठी मे है। किंतु यह उत्तर गलत है। हम जिस बीज को देख रहे है वह जड़ वृक्ष है। सभावना वाला बीज नही है। सभावना का ज्ञान तो उस बीज को भी नही है। यह बीज क्या

देगा, कौन जानता है। गीली मिट्टी पर गिरा तो वृक्ष बनेगा। सूखी भूमि पर सूखा रहेगा। आग मे गिरा तो सारी सभावनाएँ नष्ट हो जायँगी। इस बीज वृक्ष-न्याय से मनुष्य को ध्यान मे रखे तो कुछ भी नही कहा जा सकता है। बालक बीज है। बालक की सभावना को कौन बताएगा? प्रत्येक व्यक्ति हर क्षण बालक है। बढ़ रहा है। घट रहा है। पता नही क्या हो रहा है ? पता नही वह मृत्यु की ओर बढ़ रहा है या नये जन्म की ओर ? आप प्रतिभाशाली है, वीर है। बहुत दिनो से शोध कर रहे है, लड़ रहे है, कुछ नही बनता है। अचानक कोई बड़ी सफलता आपको इतिहासपुरुष बना देती है। आप जैसा ही प्रतिभाशाली आपका साथी रह जाता है। लोग उसे भूल जाते है। सेवा निवृत्त कर देते है। ज्योतिष आदि के द्वारा पता लगाई गयी सभावनाएँ भी कभी-कभी और एकाध ही सच होती देखी गयी है। इसलिये कि ज्योतिष का क्षेत्र भी नक्षत्रो, ग्रहो पर आधारित है। ये सभी दृश्य और भूत सत्ताएँ है। इनकी अपनी स्वतत्रता नही है। सत्ता नही है। यही बात विज्ञान के बारे मे सत्य है। ज्योतिष भी एक विज्ञान है।

अब क्या होगा ? इस बीज को कैसे देखा जाय ? कैसे पता लगे इस विराट् की सपूर्णता का ? विराट्ता का ? व्यक्ति या पुरुषवाची सर्वनाम चार है– मै, तुम, यह एव वह। ये चारो कौन है ? क्या है? कैसे है? कहॉ से क्यो एव कहॉ के लिए आए है? क्या ये पहले भी थे? आगे भी रहेगे ? अभी ये दीखते है। किंतु यह देखना क्या सही है ? कही हम गलत तो नही देख रहे है ? देखना भ्रम तो नही है ? हमे दृष्टि दोष तो नही है ? कही ऐसा तो नही कि वस्तु को हम वस्तु से भिन्न देख रहे है ? सत कबीर इन सारे प्रश्नो से जूझ रहे है। उनका कहना है कि इन प्रश्नो के उत्तर बाहर नही है? प्रश्न उत्तर की सभावना पर ही खड़ा होता है। उत्तर की क्षमता से रहित व्यक्ति मे प्रश्न भी नही पैदा होता है। इन प्रश्नो मे भी अदर देखने की प्रवृत्ति है।

कभी कभी बाहर से बहुत थककर, निराश होकर मन भीतर देखने लगता है। कभी कभी बद ऑखो से देखने मे भी कुछ दीख जाता है। कभी कभी प्रभु या गुरु कृपा से भीतर देखने की इच्छा जग जाती है। असल मे भीतर देखने की इच्छा जागरण को भी ठीक-ठीक वही जान सकता है जिसके भीतर यह इच्छा जगी है। जो भीतर देख सका है। देख सकता है। कृष्ण ने माता यशोदा और राम ने माता कौशल्या को उनकी सेवा से प्रसन्न होकर अपने भीतर का विराट् दिखलाया था। क्या दिखलाया–

देखरावा मातहि निज, अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड।

राम के एक एक रोम मे करोड़ो करोड़ो ब्रह्मंड है। यह कब दिखाया ? हँसकर दिखाया। यही काकभुसुडि को दिखाया था। दिखाने के बाद माता से कहा–

यह जनि कतहुँ कहसि जिनि माई।

क्यो नही कहना ? इसलिये कि इसे कहा नही जा सकता ? जो कहा जायगा उस पर विश्वास नही होगा। फिर तो असत्यभाषी समझकर लोग माता का अपमान करेगे। इस तत्त्व के बोध का अधिकारी दूसरे लोग है भी नही। इस तत्त्व के अधिकारी तो केवल वे लोग है जिन्हे प्रभु कृपा प्राप्त है। जिन्होने सत्सग किया है। साधना की है। अपने को प्रभु चरणो मे समर्पित कर दिया। इसी प्रसग मे कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी। देखो, मेरे भीतर का विराट् देखो। मेरे भीतर देखकर अपने भीतर का विराट् भी देख सकोगे। क्योकि मै और तुममे अभेद जो है। सजय को यह दृष्टि केवल महाभारत देखने के लिये मिली थी। सत कबीर कहते

हैं, कोशिश करो तुम्हे भी दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी। विराट् का दर्शन होगा।

सत कबीर विराट् दर्शन के लिये कई तरीका अपनाते है। यही इनका समन्वय है। यौगिक प्रक्रिया पूरी करो। नाड़ियो और चक्रो की साधना करो। चित्तवृत्तियो का निरोध करो। विषयो का साथ छोड़ दो। विषयो के सगसाथ से भीतर जाना सभव नही। इद्रियो के बहिगर्मन को उलटकर भीतर करो। यौगिक प्रक्रिया तो एक साधन है। इस एक साधन से काम नही चलेगा। दूसरा तरीका है सत संगति करो। भगवान के नाम का स्मरण करो। नवधा भक्ति करो। पूर्ण आत्म समर्पण करो। सारे कर्म धर्म प्रभु के लिये करो। अपने लिये कुछ भी नही। प्रभु की कृपा प्राप्त करो। प्रभु कृपा के माध्यम है गुरुदेव। अत अहकार छोड़ गुरुदेव की शरण मे जाओ। इस प्रकार सत कबीर ने वेदात के ब्रह्म को ज्ञानयोग द्वारा, ईश्वर को भक्ति द्वारा और परमतत्व को विषयशून्य अमनीभाव द्वारा प्राप्त किया। करने का उपदेश दिया। इन्हे प्राप्त करने मे जो भी बाह्याडम्बर दीखे उनका विरोध किया। कबीर के ब्रह्म, ईश्वर एव परमतत्त्व अलग अलग न होकर एक है। ब्रह्म या परम तत्त्व के अवतार को न मानकर भी उन्होने इनमे अनेक भक्तवत्सलता, पालक, शरणागत रक्षा, प्रेमतत्त्व जैसे उच्च्य गुणो की कल्पना की। इन गुणो के कारण कबीर साहब के भगवान् नीरस और शुष्क होने से बच गये। वे केवल ज्ञान विषय न होकर आनद का विषय भी है। इसी सगुण-साकार प्रभु को वे अपनी ऑखो से देखते है–

खुले नयन में हँस हँस देखूँ सुंदर रूप निहारूँ।

कितु सत कबीर इस रूप तक ही रुकते नही। वे इससे अपने अतर्तम मे एकाकार होते है। लाली देखने मे स्वय लाल हो जाते है। परमतत्त्व के रूप का वर्णन नही हो सकता। इसलिये वर्णन करनेवाला अलग नही है। उसी रूप का एक भाग है। ऐसे मे रूप रूप का क्या वर्णन करे ?

पिया को रूप कहाँ लगि बरनूँ, रूपहि माँहि समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके, तन मन सभी भुलानी ॥

संत कबीर अपने रूपको द्वारा अरूप-रूप के ध्यान मे मग्न रहते है। परमात्मा, आत्मा या जीव का प्रभु या पति है। कबीर इस प्रभु पति के मिलन के रूपक द्वारा ईश्वर की साकारता का पूरा आनद लेते है। कोई चाहे तो कह सकता है कि इसमे एक लौकिक-अलौकिक आनद की समरसता भी है। आत्मा परमात्मा के विवाह का वर्णन, उनका मिलन एव वियोग मे तड़पना, यह सब केवल अलौकिक नही लौकिक भी है। हॉ, यह लौकिक दूसरे शृगारी की लौकिकता से भिन्न है। लौकिक शृगार के सारे भाव (सुख-दुख) वास्तविक और स्थूल होते है। कबीर का सुख दुख वस्तु रहित है। इसमे वस्तु स्थूल नही कल्पनामूलक है। वस्तु के अभाव मे इसे वास्तविक नही कहा जा सकता है। कितु इसे अवास्तविक भी नही कह सकते। क्योकि इसमे काल्पनिक ही सही वस्तु का बोध है। शून्य शून्य है फिर भी उसकी एक स्थिति है। सत्ता है। नाम का अर्थ ही है सत्ता। सत्ता न होती तो नाम कहॉ से आता ? नाम के साथ रूप किसी न किसी प्रकार से जुड़ा है। चाहे वह कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो। रूप रहित नाम की कल्पना नही हो सकती। नाम का आरभ वस्तु चेतना से होता है। नाम को सज्ञा कहते है। सज्ञा चेतना का पर्याय है। चेतना वस्तु की होती है। वस्तुहीनता की कोई चेतना नही होती है। कितु कबीर की चेतना वस्तु से भिन्न है। वस्तुरहित चेतना। ऐसा नाम-रूप जो काल्पनिक है। जो होकर भी नही है। जो न होकर भी है। अस्ति नही है। नास्ति नही है। अस्ति-नास्ति से भी परे है। इन तीनो को कबीर और तुलसीदास दोनो भ्रम मानते है। संत कबीर दार्शनिक नही है। साधक है, कवि है। अपनी अनुभूतियॉ सप्रेषित करना चाहते है। दार्शनिक की अनुभूति नही

होती। वह देखता है। वाहर देखता है। भीतर की जॉच करता है। गणना करता है। गणित लगाकर पारिभाषित शब्दो मे प्रचारित करता है। कवीर बोध कराते हैं। ज्ञान, वोध, संप्रेषण की भाव सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। केवल जानना मानना काफी नहीं है। जाने माने से तादात्य की आवश्यकता है। दार्शनिक तादात्य नही करता। तादात्य की उसे जरूरत भी नहीं है। तादात्य होने पर वह कुछ नहीं कह सकेगा। कवि और दार्शनिक का क्षेत्र अलग अलग है। कविकर्म दर्शनकर्म से कठिन है। कवि एक ऐसी दुनिया मे प्रवेश करता है जो तिलस्म के समान खतरो भरा है। जहाँ गिरफ्तार होने का भय है।

किंतु यह सव तो कवि की वाते हैं। पाठक को इससे क्या लेना-देना ? इस प्रश्न का उत्तर है। साफऔर सीधा। शृगार के कवि का उद्देश्य है पाठक मे शृंगाररस का बोध कराना। शृगार का रस। शृगार का आनंद। ऐसा ही उद्देश्य संत साहित्य का है। सत ने जिस तत्त्व की अनुभूति की। उसकी अनुभूति पाठक को भी हो। पाठक भी उस लोक मे पहुंचे। जहॉ सत पहुँचा है। पाठक भी उस सत्य का साक्षात्कार करे जिस सत्य का साक्षात्कार कवि को हुआ है। जिस सत्य को पाने के लिये कवि को तरह तरह के रास्तो से गुजरना पड़ा है। कवि की यह दयालुता या शक्ति है कि जिस सत्य की अनुभूति उसे अनेक साधनो से हुई उसे वह पाठक को अपनी कविताओ द्वारा करा देना चाहता है। शायद इसीलिये वह ऐसे रूपको, अन्योक्तियो, उलटवाँसियो एव अन्य अलकारो का प्रयोग करता है जिनसे पाठक को उस तत्व की अनुभूति हो सके। ये अभिव्यक्ति मार्ग कवि की अनुभूति को सहज सप्रेषणशील वनाते है। इनके द्वारा समझाना और समझना दोनो मे सरलता आ जाती है। एक अगम, अगोचर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व को कवीर ने जिस ढग से पाठको तक पहुँचाया है उसकी तारीफ करनी ही पड़ेगी।

यही कवीर के वेपढ़े होने की वात याद आती है। पूरी वात पर विचार करने से लगता है कि जितने वे पढ़े नही थे उससे अधिक वे अपने को वेपढा वताना चाहते हैं। क्यो ? इसलिये कि वे लोक-वेद दोनो के शास्त्र और अक्षर (शव्द) को तर्क और न्याय को साधना की भट्ठी मे झोक एक घोल तैयार करते हैं। इसी घोल को कवीर 'महारस' कहते है। इसी महारस को पीकर उनका मन मस्त है, मतवाला है—

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढा गगन-रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुआ, भवभाठी करि मारा।
सुषमन नारी सहज समांनी, पीवै पीवनहारा।
दोउ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुआ महारस भीठा।

इसी महारस को स्वय पीते है। उनका पाठक पीता है। शायद तुलसी ने इसी महारस को 'रस विशेष' (रामचरित जे सुनत अघाहीं से रस विसेष जाना तिन्ह नाहीं) कहा था। इसीलिये कवीर और तुलसी दोनो लोक-वेद के शास्त्रभार से मुक्त कुछ भिन्न ढंग के कवि है। कवीर का यह महारस पढ़ा, वेपढ़ा, विद्वान, अविद्वान सभी समान भाव से पी सकते है। यो कि शास्त्रज्ञ विद्वान की अपेक्षा शास्त्ररहित को इसमे विशेष रस मिलता है। क्यो यह वहुत कुछ उसी को लक्ष्य कर शास्त्ररहित होकर लिखी गयी कविता है। शास्त्र मे एक खतरा भी है। शस्त्राधीत मूर्ख भी हो सकता है। किंतु शास्त्ररहित इस घोल को पीनेवाला ज्ञानी ही होगा। क्योकि इस महारस का सवंध मन से नहीं, वुद्धि से नही, वुद्धि से भी जो परे है उससे है (मनसस्तु परा वुद्धिर्वुद्धेरात्मा महान्पर. = मन से परे वुद्धि है। वुद्धि से परे महान् आत्मा है—कठ०)।

शास्त्र रहित का चित्त पहले से मुक्त है। इसलिये वह कवीर को पढ़कर महामुक्त होता।

शास्त्रज्ञ को अशास्त्र का नया एव भिन्न स्वाद मिलता है। उसका अशास्त्री मन प्रसन्न होता है। कबीर का काव्य मनुष्य के अशास्त्री मन को कुरेदता है। उसका स्पर्श या शास्त्रो के बोझ से दबे मन के भीतर का चैतन्य और चैतन्य, अति चैतन्य हो जाता है। याद रखना होगा कि प्रत्येक शास्त्री के पास भी एक अशास्त्री चैतन्य है। कबीर इसी अशास्त्री चैतन्य के कवि है। यही कारण है कि कबीर गॉव गॅवार और रवीद्र जैसे विद्वानो को समभाव से प्रभावित करते है। इसलिये भी कि दोनो का अशास्त्री मन एक है। किसी न किसी भाव से जुड़ा है। शास्त्र बुद्धि का व्यापार है और कविता चैतन्यात्मा का बधु है।

अब थोड़ा कबीर की सूक्तियो पर विचार करे। इन्ही सूक्तियो को देखकर शास्त्रज्ञ आलोचक कबीर का कवि रूप अस्वीकार करते है। निश्चय ही कबीर मे सूक्तियॉ भी बहुत है। सूक्तियो मे चमत्कार की प्रधानता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूक्तियो के बारे मे प्राय. ठीक ही कहा है–'सूक्तियो से मेरा अभिप्राय वैचित्र्यपूर्ण उक्तियो से है जिसमे वाक्चातुर्य ही प्रधान होता है। कोई बात यदि नये और अनूठे ढग से कही जाय तो उससे लोगो का बहुत कुछ मनोरजन हो जाता है। इससे कविलोग वाग्वैदग्ध्य से प्रायः काम लिया करते है। नीति संबधी पधो मे चमत्कार योजना अकसर देखने मे आती है। (जायसी ग्रथावली, पृ. १६८)। इस पर और गंभीरता से विचार करते हुए आचार्य ने सूक्तियो के तीन विभाजन किये –१ केवल चमत्कार प्रधान, २ जिसमे रस एव भावुकता हो, ३. जिसमे रस और चमत्कार हो। ऐसा लगता है इस विभाजन मे काव्य सबधी वाक्यो को भी सूक्ति मान लिया गया। सूक्तियो के इस परिभाषा या विभाजन में चमत्कार रहित सूक्तियो को छोड़ दिया गया है। ऐसी सूक्तियॉ भी होती है जिनमे किसी भी प्रकार का चमत्कार नही होता है। सूक्ति का अर्थ सुउक्ति, सुदर कथन। कोई सुदर जीवनानुभव। कोई सुदर विचार वाक्य। निश्चय ही ये विचार खडकाव्य की रसात्मक भूमिका को नही प्राप्त करते। किंतु मनुष्य की मेधा को अवश्य प्रभावित करते है। काव्य या रस की एकतरफा व्याख्या ने कभी कभी केवल शृंगार को रस मानने की प्रवृत्ति पैदा की है। किंतु सूक्तियो की एक निश्चित और ठोस परपरा है। बिना किसी चमत्कार के लाखो सूक्तियॉ समाज मे प्रचलित है। स्वय कबीर की सूक्तियो मे समाज को प्रभावित करने की शक्ति है। आधुनिक लोगो का एक महत्वपूर्ण समाज कबीर की सूक्तियो से ही प्रभावित है। समाज सबधी बहुत सी सूक्तियॉ इतनी प्रचलित और प्रभावी है कि बहुत से लोग इन्हे ही कबीर मानते है। दो उदाहरण काफी होगा–

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हात।
चारिउ युग को महातमा कबीर मुखहि जनाई बात।
चलती चक्की देखि के, दीया कबीरा रोय।
दोइ पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय।

ये अत्यत प्रचलित दोहे है। इनमे थोड़ा चमत्कार भी है। प्रथम विरोधाभास है तो दूसरा दो पाटो का बिम्ब बनाता है। अब जो लोग बिम्ब को ही कविता मानते है उन्हे इन दोहो को पूर्ण कविता कहना चाहिए। किंतु नही कहेंगे। क्योकि ये भाव नही, विचार जगाते है। भावात्मक गुहा मे न ले जाकर वैचारिक चेतना उत्पन्न करते है। यही बात सभी सूक्तियो के लिये है। सूक्तियॉ साहित्यशास्त्र के लिये चुनौती सी है। अधिकतर साहित्याचार्य सूक्तियो की प्रभावान्विति पर विचार करने के लिये तैयार नही है। रस की पूर्णता मे इसे 'रसाभास' कहकर अपमानित करने की कोशिश की गयी है। किंतु भावरस के अतिरिक्त ज्ञानरस की कसौटी भी माननी होगी। इसे बुद्धिरस भी कहा गया है। सूक्तियो का उद्देश्य ही है ज्ञानरस पैदा करना। भावक

कवि के समान ही ज्ञानी, दार्शनिक एव विज्ञानी भी ज्ञानरस मे तल्लीन रहते है। किसी विषय की खोज स्वय मे एक सुखात्मक अनुभूति है। यह अनुभूति भावात्मक न होकर ज्ञानात्मक है। इसीलिये शायद भक्ति मे ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा गया है।

गीता के चार प्रकार के भक्तो मे पहला है आर्त। आर्त अर्थात् ज्ञान प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा, इच्छा। यह इच्छा जिज्ञासा पैदा करती है। जिज्ञासा अर्थ के लिये। अर्थ मतलव तत्त्ववोध। यह तीसरी सीढ़ी है तत्त्ववोध का प्रयास (अर्थी)। चौथी स्थिति ज्ञान की है। ज्ञान स्वत पूर्ण है। ज्ञान स्वत ब्रह्मस्वरूप है। ज्ञान ब्रह्म पर्याय है। प्रज्ञान ब्रह्म। तो सत कवीर का सपूर्ण काव्य इसी ज्ञान ब्रह्म की प्राप्ति के लिये है। कवीर ने विभिन्न प्रक्रियाओ द्वारा इसी ज्ञानब्रह्म एव चैतन्यात्मा को प्राप्त करने कराने की कोशिश की। चूँकि सभी उसी ब्रह्म का है। ब्रह्म सवद्ध है।अत सवका समन्वय भी आवश्यक है।

उपास्य

कबीर वैष्णव नहीं है, क्योंकि वे राम को विष्णु का अवतार नहीं मानते है। तो कबीर क्या है ? उनकी सपूर्ण रचनाओ की ध्वनि है कि वे वैष्णव है। वे अपनी रचनाओ मे किसी की स्वीकृति नहीं देते है। केवल वैष्णव ही उन्हे मान्य है। अत. प्रच्छन्न मे वे अपने को वैष्णव ही कहना चाहते है। इसे दूसरे सप्रदायो से मिलाकर देखा जाना चाहिए। तुलसी और सूर के राम-कृष्ण क्या विष्णु के अवतार है ? इसका उत्तर भी 'हॉ' 'ना' मे है। तुलसीदास राम को विष्णु का अवतार स्वीकार करते है। किंतु उनके राम स्वयं परब्रह्म है। यही बात कृष्ण के लिये है। सूर और तुलसी सगुण को भी निर्गुण के समान ही पारमार्थिक मानते है। तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म के दो स्वरूप है–'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध, अनादि, अनूपा।' इसमे 'अनादि' शब्द महत्त्वपूर्ण है। अनादि का अर्थ है अवताररहित। क्योकि अवतार की आदि है। श्री यामुनाचार्य जी ने एक श्लोक मे सगुण स्वरूप को प्रियतर, अद्‌भुत और मूर्त बताया है--शातानत महाविभूति परम यद् ब्रह्म रूप हरेर्मूर्त ब्रह्मततोऽपि यत्प्रियतर रूप यतत्यद्‌भुतम्। राम स्वय ब्रह्म है। इन्हे किसी दूसरे का अवतार ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। स्पष्ट है कि तुलसी के राम स्वय अवतार है। विष्णु के नहीं। काम की इस महत्ता के सदर्भ मे ही कहा गया है–सकर सहस विष्णु अज तोही, राखि सकहि न राम कर द्रोही। अथवा रामविरोध न ऊबरसि सरन विष्नु अज ईस। सूरदास का भ्रमरगीत तो कृष्ण रूप की पूर्ण प्रतिष्ठा ही करता है।

सूर और तुलसी इस बात का खडन भी नहीं करते कि कृष्ण-राम विष्णु के अवतार नहीं है। इसके अतिरिक्त तुलसी बार-बार विष्णु के अवतार की याद दिलाते है। किंतु राम ही विष्णु के अवतार है इस पर प्राय मौन रहते है।

भारती शास्त्रो मे विष्णु की तीन स्थितियॉ है–कहीं वे इन्द्र से छोटे उपेद्र है। कहीं ब्रह्म और कहीं मात्र एक देवता है। कबीरदास जी इनमे न जाकर राम से सीधे जुड़े है। निर्गुण राम। ब्रह्म राम। कहना इतना ही है कि राम का ब्रह्मस्वरूप सभी भक्ति सप्रदायो मे स्वीकृत है। हॉ, कबीर उन्हे अवतार नहीं मानते। कबीर को किसी अवतार मे विश्वास नहीं है। जबकि तुलसी के राम जितना ब्रह्म, निर्गुण, निराकार है उतने ही अवतार भी। दोनो रूप राम के ही है।

कबीर ने राम की जगह-जगह वंदना की है। लगता है वे अपना उपास्य राम को मानते है। फिर भी कहते है कि राम के उपासक हिंदू है–हिंदू राम-नाम उच्चरै। कबीर के राम घट-घट व्याप्त है। इस स्थिति को देखना होगा। राम के दो भेद सगुण-निर्गुण तो थे ही। एक तीसरी स्थिति भी है क्या ? कबीर कहते है–

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै।

मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर के स्वामी घटि-घटि रह्यौ समाई।

इन पक्तियो से लगता है कि राम हिंदुओ के उपास्य है। कबीर के उपास्य (स्वामी) अनाम है। नाम रहित है। रूप तो है ही नही। नाम भी नहीं है। यही ठीक है। कबीर एक ऐसे स्वामी के उपासक है जिसका रूप नहीं है। नाम भी नहीं है। जो नाम-रूप रहित है। राम नाम तो

उन्होने वैसे ही रख लिया है जेसे किसी का कोई नाम होता है। यही कारण है कि उन्हे राम और रहीम मे अतर नहीं लगता है। विराट् प्रभु को राम रहीम कुछ भी कहो क्या फर्क पड़ता है ? असल मे तो वह न राम है, न रहीम है। कहने के लिये वह राम भी है। रहीम भी है।

स्वय हिंदू परपरा मे एक-एक देवता के हजारो नाम-रूप की कल्पना है–विष्णु सहस्त्रनाम, गोपाल सहस्त्रनाम आदि। अनेक नाम कर्म से जुड़े है। परमतत्त्व को समझना कठिन है। केवल बड़ा होने से कोई उसे नहीं समझ सकता है। उसे शिव सनकादि नहीं समझ सके। वह देवता अनगढ़ है–अनगढिया देवा। सभी लोग गढ़े देवता की पूजा करते है। वह देवता एक तरफ अनगढ़ हे। दूसरी ओर पूर्ण है।[1] कबीर की दृष्टि मे अनगढ़ और पूर्ण एक हैं। यह स्थिति भी है कि वह देवता सगुण-निर्गुण दोनो से भिन्न है।[2] इसीलिये जो भी रूप नाम वाला है उसे नहीं समझ सकता है।

निराकार-साकार की यह बात दर्शन मे तो ठीक हे। जीवन एव साधना मे इससे काम नहीं चलेगा। इसीलिये कवीर आकार-निराकार से परे उस तत्त्व को समझने की कोशिश करते हैं। साधना करते है। आनद लेते है। यह साधना की विशेपता हैं कि निर्गुण-निराकार से भी परे के तत्त्व की साकार अनुभूति होती हे। सब कुछ प्राय साकार सा होता है। किंतु कवीर उसे साकार तो क्या निराकार भी कहने की स्थिति मे नहीं है। वे सगुणियो के समान उसकी लीला की भी अनुभूति करते है– चेला रहा सो रस चुन खाया। गुरु निरंतर खेला। यह गुरु भगवान है। परमात्मा है जो निरतर अपना खेल खेल रहा है। लीला दिखला रहा है। कवीर लीला शब्द भी प्रयोग करते है। यह लीला निजी है। आप-आप मे है। आत्म मे है। आत्मलीला हे। क्योंकि आत्म से अलग कुछ भी नहीं है। न कोई रोगी हे। न कोई वैद। सब आत्मतत्त्व का विस्तार है। आत्मा मे आत्मा की लीला हो रही है। द्रष्टा और दृश्य दोनो एक हैं। नाना प्रकार के दीखनेवाले अलगाव सब एक है। काफी सोचा विचारा है। कोई भी निर्गुण कहने मे समर्थ नहीं है। इसीलिये सभी गुणी और पडित मिलकर लीला, प्रभु की यश लीला, कर्म लीला का गायन करते है।[3] 'लीला पद गावै' को देखकर सूर का ध्यान आता है। क्योंकि सूर कृष्णलीला का ही गान करते है

सब बिधि बिचारे तातें, सूर सगुन लीला पद गावै।

कभी-कभी कवीर को लगता है कि वह अनगढिया देवता सगुण-निर्गुण का मिलाजुला रूप है। गुण मे निर्गुण है और निर्गुण मे गुण है।[4] कठिनाई केवल कहने की है। सगुण साधक हनुमान ने हृदय मे चीरकर राम की स्थिति दिखाई थी। कवीर यह करने की स्थिति मे नही है। हृदय चीर भी दे तो वह वहाँ 'है' नही है। क्योंकि परमात्म तत्त्व जितना भीतर है उतना ही बाहर है। अगर कहे कि भीतर है। तो प्रश्न उठता है बाहर कौन है ? अगर बाहर कहे तो भीतर को

---

१ अनगढिया देवा कौन करै तेरी सेवा।
गढे देव को सब कोइ पूजै नित ही लावै सेवा।
पूरन ब्रह्म अखडित स्वामी, ताको न जानै भेवा।

२ कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै आकारा,
या विधी इन दोनो ते न्यारा, जानै जाननहारा।

३ राणा राव कवन सू कहिए, कवन वैद को रोगी।
इनमैं आप आप सबहिन मै, आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाड़े, रूप धरे धरि मेलै।
सोभि विचारि सबै जग देख्या निरगुण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पडित मिलि लीला जस गावै।

४ गुन मै निरगुन, निरगुन मैं गुन बाट छाडि क्यो बहिए रे।

खाली बताना होगा। दोनो जगह कहे तो उसकी उपस्थिति बतानी होगी। तब वह अनगढ़ नही रह जायगा। वह अनगढ़ इसी अर्थ मे है कि उसे बताया नही जा सकता है। वह सर्वत्र है। किंतु सभी जगहों से ऊपर है। अलग है। सारे कर्म उसके है। किंतु वह सभी कर्मो से अलग है। अलग न हो तो कर नही सकता। बिल्कुल अलग हो तो कर नही सकता है। वह कर्त्ता भी है। कार्य भी है। कारण और करण भी है। इन सबसे अलग भी है। वाच्य भी है। वाचक भी है।

किसी के पास उस तत्त्व को बताने की शक्ति नही है। लोग है कि जानना चाहते है। बताओ न प्रभु वह कौन है? क्या है ? कैसा है ? कहाँ रहता है ? बौद्धो का एक सप्रदाय शून्यवादी है। वह कहता है वह शून्य है। निश्चय ही यह शून्य सामान्य शून्य से भिन्न है। फिर भी वह है तो शून्य ही। वेदाती शून्य न कहकर पूर्ण कहता है। शून्य से अस्तित्वहीनता का बोध होता है। उसे अस्तित्वहीन कैसे कहेगे ? अगर उसका अस्तित्व नही है तो सारे अस्तित्व प्रश्नो के घेरे मे आ जायँगे। भ्रमो का आधार भी कोई न कोई अस्तित्व होता है। रस्सी न हो तो सर्प का, शुक्ति न हो तो रजत का, सूर्य की रोशनी न हो तो पानी का भ्रम नही हो सकता। प्रत्येक भ्रम के पीछे कोई न कोई अधिष्ठान है। हम किसी को न जानें, न बता सके तो इससे उसकी अस्तित्वहीनता नही प्रमाणित होती है। प्रमा और प्रमाण की सीमा है। यह सीमा नि सीम को नही बता सकती है। किंतु नि.सीम भी नि सीम को नही बता सकता है। नि सीम तो अवाक् है। उसे क्या गरज पड़ी है जो कुछ भी बताए ? बताने के लिए उसे भी सीमा मे आना होता है। जो सीमा मे दीख रहा है नि सीम ही तो है। किंतु सीमा मे आते ही बताने की शक्ति समाप्त हो जाती है। अजीब विडबना है। नि सीम बता नही सकता। सीमा वाला बता नही सकता। तो बताएगा कौन? सत लोग एक उपमान देते है। अधो और हाथी का। चार अंधो ने हाथी देखा। देखा क्या? देख तो सकते नही थे। पकड़ा। देखनेवाले को छुआ। आँख का काम हाथ से लिया। त्वचा से लिया। किसी ने हाथी को पूरा नही पकड़ा। पूरा पकड़ना असभव था। किसी ने पाँव, किसी ने पूँछ और किसी ने सूँढ़ पकड़ा। सबसे बताया। ठीक ही बताया। हाथी खभा है। हाथी मोटी रस्सी है। हाथी सिकुड़नेवाला बॉस सा है। किसी ने गलत नही बताया। सबने ठीक कहा। किंतु सबने गलत कहा। हाथी यह सब 'है' 'नही है'। यही स्थिति हमारी है। हम भी उस पूर्ण के अश को बताते है। बता सकते है। हमारी स्थिति भी उन अधो से अधिक नही।

कोई भी व्यक्ति पूर्ण को बताने का दावा नही कर सकता है। कोई बता दे तो वह पूर्ण रह नही जायगा। बतानेवाला पूर्ण हो जायगा। जो बताया जा रहा है वह छोटा हो जायगा। अश हो जायगा। इसीलिये उसके लिये कुछ सकेत मात्र है। कुछ सकेत है। आखिर करोड़ो अरबो को बताने के लिये भी तो सकेत है। एक से नौ तक के सकेत चिन्ह। एक और शून्य। इन दस सकेत चिन्हो से सभी सख्याएँ बताई जाती है। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण अक है शून्य। किंतु इतना महत्त्वहीन कि अकेले कुछ भी नही बता सकता है। अकेले उसका कोई अस्तित्व नही है। किंतु किसी के साथ जुड़ते ही तेजी से भागने लगता है। एक से सटा नही कि दसगुणा हो जायगा। यही स्थिति सगुण निर्गुण की है। इसीलिये कबीर कहते है–'सैन करै मन ही मन मुसकै गूँगे के मिठाई।' मिठाई का आनद तो लिया जा सकता है। किंतु उसे बताना कठिन है। असभव है। जानने के लिये कुछ सकेत मात्र है। शायद साधक की मुस्कान भी एक सकेत है। असल है स्वय चख कर देखो। जिसने गुड़ नही खाया है उसे गुड़ का स्वाद नही बताया जा सकता है। अगर जीभ मे कोई रोग हो तो क्या होगा? सभी गुड़ मिट्टी लगेगे। मनुष्य को माया का रोग लग गया है। जब तक यह रोग है वह गुड़ का आनद नही ले सकता है। इसीलिये

माया रोग को दूर करो। मन रूपी जीभ की मैल हटाओ। तभी भगवत् मिष्टान्न का आनंद मिलेगा। क्योंकि ब्रह्म का स्वाद आनदमय है। आनद ब्रह्मणो मूर्ति।

इस रोग को ठीक करने के लिये कोई वैद्य तो चाहिए। हॉं, ठीक कहा। वैद्य हैं। गुरुदेव, सतुगुरु वैद्य है। तुम सो वैद न हम सो रोगी। गुरु रूपी डाक्टर के पास दीन वन कर जाओ। डाक्टर साहब मे तीन विशेषताएं हैं– ब्रह्मस्वरूप परम ज्ञानी है। इनमे और परमात्मा मे भेद नही है। यो कि वैद्य गुरु निर्गुण-निराकार परमात्मा के ही सगुण-साकार रूप धारण कर पृथ्वी पर विराजते है। गुरुदेव शातचित्त है। उदार है। गुरु वैद्य के पास माया मुक्ति की औषधि है। कितु दो शर्त है–एक यह कि इनके पास अह को छोड़कर जाओ। अत्यंत आर्त्त भाव से जाओ। दूसरा यह कि इन्हे प्रमाण मानो। इनके वचनो पर आस्था रखो। सत साहित्य वेदागम प्रमाण न मानकर सतुगुरु वचनो (शब्दो) को प्रमाण मानता है। शब्द प्रमाण। गुरु की वाणी ही ब्रह्म वाणी है। वेद ब्राह्मण की वाणी है। सगुण-साकार की वाणी है। कितु सतगुरु की वाणी कहॉं से आती है जहॉं वेद-शास्त्रो की पहुँच नही है, वहां रात-दिन भी नही होते हैं–

दिवस न रैनि बेदु नहिं सासत तहॉं बसै निरंकारा।

सतगुरु इसी निरकार की वाणी बोलते है। भूले को राह पर लाते हैं। माया के अंधकार मे शिष्य के हाथ मे ज्ञान दीपक देते है। बिना गुरुदेव के अनगढ़िया देवता को समझना असम्भव है। इसका मतलब यह कि गुरुदेव एक ऐसे वैद्य हैं जो दवा देकर भवरोग छुड़ाते है। प्रभु से भेंट कराकर स्वस्थ करते है। पुष्टि देते हैं। शायद इसीलिये कबीर भगवान और सतगुरु मे अतर नही करते है।

कहना इतना ही है, कबीर अनगढ़िया देव के उपासक हैं। यह न गढ़ा गया है, न गढ़ा जा सकता है। इसे कहना, सुनना, समझना, देखना दिखाना आदि सब अनगढ़ है। उसे जो कहो सब ठीक। कुछ न कहो वह भी ठीक। यह राम है। नहीं है। रूप तो है ही नही। नाम भी जो चाहो रख लो।

ग्यान की आँधी

ग्यान की आँधी आ गई। सामान्य ज्ञान नहीं। ज्ञान का तूफान। सामान्य ज्ञान से काम नहीं चलेगा। सामान्य ज्ञान सामान्य स्थिति के लिये है। यहाँ तो स्थिति असामान्य है। असामान्यता दो प्रकार की है। पहली है माया की विकरालता। माया का विनाशकारी रूप। माया सबको खा रही है। नष्ट कर रही है। दूसरी यह कि माया का उपद्रव देखकर भी लोगो मे उस उपद्रव की चेतना का अभाव है। लोग माया को ही सत्य समझकर उसी मे उलझे है। सारा ससार माया की नींद सो रहा है। अपने कर्त्तव्य को भूला है। इसीलिये सबके सोने पर सत जागता है। भूले रहने पर ज्ञान प्राप्त करता है। कबीर स्पष्ट कहते है–

एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाके राम अधारा॥

यह भूल कैसे सुधरेगी ? एक उपाय है सतगुरु की शरण। एक और उपाय है। आत्मदर्शन का। अपने भीतर देखने का। अपने मे स्थित राम को देखने का। क्योकि राम (परमतत्त्व) भीतर-बाहर सर्वत्र है। कितु आत्मज्ञान–तत्वज्ञान के लिये भीतर के राम का दर्शन आवश्यक है। भीतर देखे बिना बाहर का राम नहीं दीखता है। यह देखना अजीब देखना है। देखते है भीतर। कितु दीखता है बाहर भी। यो कहो कि बाहर ही दीखता है। नहीं, तब बाहर भीतर का भेद नहीं रह जाता है। बाहर भीतर को अलग करनेवाली दीवाल टूट जाती है। ऑगन के पार द्वार और द्वार के पार ऑगन दीखता है। न ऑगन। न द्वार। जब सब ऑगन ही ऑगन, है तो द्वार कैसा ? कितना खुला यह ऑगन ?

महादेवी कहती है–विस्तृत जग का कोना-कोना, मेरा न कभी अपना होना। वही ऑगन जहाँ कभी द्वार से जाते थे वह अब आसमान जैसा खुला मैदान हो गया है। अब इस आसमानी मैदान मे भी जाने मे कभी रुकावट हो सकती है क्या ? कबीर यहाँ साधना के दरवाजे से जाते है। कितु उनके जाने के बाद दरवाजा स्वय लुप्त हो जाता है। ज्ञान की ऑधी मे भ्रम उड़ता है। भ्रम की टट्टी उड़ती है। स्वय दरवाजा उड़ जाता है। महादेवी और कबीर मे एक अतर है। कबीर जिस मैदान को प्राप्त करते है उसमे एकाकार हो जाते है। महादेवी मे तदाकारिता नहीं है। वे अपने व्यक्तित्व के हठ मे है। स्त्री होकर भी महादेवी मे पुरुप कबीर जैसा समर्पण नहीं है। महादेवी मे व्यक्तित्व के कारण प्रिय के प्रति उलाहना भी है। प्रिय चिता क्या है यदि मेरा दीपक बुझ जाता है। उससे तो तुम्हारा पीड़ा राज्य अँधेरा हो जायगा–

चिंता क्या है हे निर्मम।
बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही।
पीड़ा का राज्य अँधेरा।

कबीर प्रभु के प्रति अत्यत विश्वस्त है। वह उनका प्रतिपालक भी है। उसने गर्भ मे रक्षा की है। यहाँ भी भोजन देगा। रक्षा करेगा[१]। कबीर को मालूम भी है। माँगना व्यर्थ है। अधिक

---

१ जाके राम सरीखा साहिब भाई, सो क्यो अनत पुकारन जाई।

मॉगना तो और भी व्यर्थ है। क्या होगा मॉगने से ? अधिक जमा करना भी बेकार है। सब तो जा रहा है। राजा, राव, रक सब नष्ट हो रहे है। कोई लेकर नही जा रहा है।

भगवान् कबीर की मॉ है। इसीलिये वे इनके सारे अपराधो को क्षमा करते है। भक्त मार भी दे तो मॉ प्रभु क्रोध नहीं करते। अपना प्रेम नहीं छोड़ते। उलटे वे बालक के दुख से दुखी होते है[२]। यही प्रभु साहब है। भक्त गुलाम है। यह स्वामी उसे बेच भी सकता है। क्योंकि भक्त का तन मन धन सब राम के लिये है।[१] महादेवी का सबंध केवल प्रेमिका का है।

भ्रम कौन था ? क्या था ? यह भ्रम माया थी। माया का भ्रम। माया द्वारा भ्रम। भ्रम माया से बॅधा था। अब न बॉधनेवाली रस्सी रह गयी। न माया की बाधा। 'बॉधी' रस्सी है, बाधा है, बधन है। यह पूरा रूपक है। माया की रस्सी का बधन टूटने से हितचित की दो थूनी गिर गयी। यह थूनी विषयासक्ति और बाह्याचार की थी। चित्त ने विषयासक्ति और बाह्याचार को ही अपना आधार बना रखा था। इसमे मोह की बल्ली लगी थी। ज्ञान होने विषयासक्ति और मोह छूट गये। अब बाह्याचार की भी जरूरत नहीं रह गयी। क्योकि बाह्याचार भी तो आसक्ति ही है। इस घर पर तृष्णा का छप्पर रखा था। यहॉ कुबुद्धि का बर्त्तन (भाड) था। ये सब नष्ट हो गये। इसके इस रूपक का दूसरा पक्ष है। नये घर की युक्ति योग वाली है। इसमे एक बूँद पानी भी नहीं चूता है। शरीर कपट का कूड़ा निकल गया। तब प्रभु की शक्ति समझ मे आयी। किंतु कबीर साहब की दूसरी विशेषता यह है कि वे केवल ज्ञान मे विश्वास नहीं करते है। प्रेम के बिना ज्ञान अपूर्ण है। ज्ञान साधन है। साध्य है प्रेम। किसका साधन है ज्ञान? यही यहॉ बताया गया है। ज्ञान है साधन विषयासक्ति, तृष्णा और उनके आधारो, उनके कर्मियो एव उनके उपयोग को समझने का। मोह से छूटने का। कुबुद्धि को नष्ट करने का। यह मुख्यत बुद्धि का विषय है। बुद्धि मे समझदारी तो है किंतु क्रिया नहीं है। क्रिया का आधार ज्ञान नहीं भाव है। ज्ञानयोग नहीं। भावयोग।

भाव ही क्रिया को प्रेरित करता है। ठहराता है। ठहरने का आधार देता है। प्रेममूलक है। प्रेम भी दो प्रकार का होता है—अधा और ज्ञानमूलक। कबीर का प्रेम ज्ञानमूलक है। अंधमूलक नहीं। क्योकि अधमूलक मे तो फिर एक प्रकार का अज्ञान है। अज्ञानवश ही माया और उसके विषयो से अध प्रेम हो गया था। स्त्री का प्रेम अध प्रेम है। पतग अंध प्रेम का प्रतीक है। भ्रमर अध प्रेम का प्रतीक है। काठ काटता है और कमल मे बॅध जाता है। कमल के प्रति उसका अधानुराग है। कबीर अंध अनुराग वाले नहीं है। उन्होने प्रेम तक पहुँचने के लिये ज्ञान की साधना की है। पहले ज्ञान तब प्रेम। इस ज्ञान योग की युक्ति है—योग, ज्ञान और प्रेम। योग-ज्ञान पर आधारित प्रेम। प्रेम भी किसका ? हरि का प्रेम। प्रभु से प्रेम। यह प्रेम जल ज्ञान ऑधी के बाद बरसा है। भक्त कबीर उसी जल से भीगे है। भगवत्प्रेम का जल। विषय जल नहीं। विषय तो आग है। वह आग तो प्रभु प्रेम जल से बुझ गयी। सूर्योदय के बद तम नष्ट हो जाता है। ज्ञान सूर्य के उदय से अज्ञान का ॲधेरा दूर हो गया। ज्ञान सूर्य को विषयो के बादल ने ढॅक लिया था। फलत चारो ओर ॲधेरा फैल गया था। अब प्रेम जल बरसा है।

जा सिरि तीनि लोक को भरा, सो क्यूँ न करै जन को प्रतिपारा।

२ हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।

× × ×

कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता।

कहै कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी,-दुखी महतारी।

१ जाके राम सरीखा साहिब भाई, सो क्यो अनत पुकारन जाई।

जा सिरि तीनि लोक को भारा, सो क्यूँ न करै जन को प्रतिनपारा।

बादल छँट गये है। ज्ञान सूर्य के प्रकाश मे सब कुछ स्पष्ट दीख रहा है। मतलब यह कि ऑधी का सबध प्रेम जल की वर्षा से था। इस ऑधी का उद्देश्य अज्ञान भगाना या टाटी उड़ाना भर न होकर प्रेम पैदा करना ही था। क्योंकि प्रेम ही भक्ति का मूल तत्व है। भक्ति, भगवान और भक्त तीनो ही प्रेम रूप है। राधा और कृष्ण मे तादात्य है। कृष्ण तो भगवान् है ही। कभी राधा भी आराध्य बन जाती है। इसीलिय भक्तो मे तीन सप्रदाय बने–कृष्ण को प्रधान माननेवाले, राधा को प्रधान माननेवाले, राधा कृष्ण की सयुक्त भक्ति करनेवाले। यही सीता राम के लिये भी है। कबीर का यह पद ज्ञान की ऑधी से आरभ होकर प्रेम वर्षा मे समाप्त होता है। यह रचना और विचार दोनो दृष्टियो से महत्वपूर्ण है।

संत कबीर के मन मे कहीं न कहीं उस ज्ञान का विरोध है जिसे विषय ज्ञान कहते है। वस्तु का ज्ञान। जो ज्ञान कि पुस्तक का विषय है। विषय का ज्ञान बाह्य ज्ञान है। यह पुस्तकी ज्ञान ऑधी नहीं बन सकता है। इसलिये कि पुस्तकी ज्ञान आत्म ज्ञान न होकर पर ज्ञान है। सूचना का ज्ञान है। साक्षात्कार का ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान मे योग का कोई स्थान नहीं है। इस ज्ञान मे मनोग्रथि नहीं खुलती है। सारे छिद्र बद रहते है। द्वार बद रहते है। ऐसे मे इस ज्ञान को सिसकना पड़ता है। खुले मैदान के अभाव मे यह ज्ञान ऑधी बने भी तो बहेगा कहॉ ? ऑधी के लिये तो विस्तार चाहिए। बद कमरे मे ऑधी काम करेगी नहीं। अधिक से अधिक किबाड़ खड़काकर लौट जायगी।

कबीरदास जी की यह ऑधी निर्गुण वाली है। यह सपूर्ण सगुण को उड़ा देती है। सत कबीर का सारा साहित्य जीवन के दैनिक मर्म से कट जाता है। ससार मिथ्यात्व इतना बढ़ता है कि ससार शून्य और रूक्ष लगने लगता है। ससार छोड़ो, माया कुलटा आदि की प्रबल ऑधी मे जीवन का प्रत्यक्ष रस सूख जाता है। एक अलौकिक रस बनता है। जागतिक उपमानो, प्रतीको, रूपको आदि से जो रस बनता है वह अत्यधिक प्रभावशाली नहीं है। किंतु सत कबीर तो जागतिक रस तैयार भी नहीं करना चाहते है। जीवन की नश्वरता एव माया का भय के बीच मे भक्त भगवान् से जुड़ता है। यह भगवान् सनातन है। इसलिये यहॉ नाश का भय नहीं है। यहॉ शाति है। प्रेम और आनद भी है। किंतु यह पक्ष विस्तार से नहीं आया है। शायद यही कारण है कि समाज मे 'निर्गुण' का एक विशिष्ट अर्थ रहा है। निर्गुण गाना सब समय नहीं हो सकता है। जन्म और विवाह आदि शुभ कर्मो के समय कोई भी व्यक्ति कबीर के भजन नहीं गाता है। कबीर ही क्यो गीता और महाभारत जैसे ग्रन्थ भी हर समय, हर अवसर पर पाठ्य नहीं है। कारण शायद यही है कि उनमे निर्गुण ज्ञान की ऑधी है। इस ऑधी मे। सामान्यत लोक जिसे जीवन कहता है। वह जीवन भी उड़ जाता है।

कबीर के साहित्य का उद्देश्य अहमर्थ से उठकर परमार्थ पर जाना है। ज्ञान की ऑधी बताती है कि यह जीवन छोटा, नाशवान्, एव छोड़ने लायक है। परा जीवन ही श्रेष्ठ है। ज्ञान, आत्मा और जीव का प्रतीक हस अकेले ही यहॉ से जाता है। ज्ञान की ऑधी पाकर उड़ जाता है–हस अकेला जाई। जाना अकेला होगा, अत सामूहिक जीवन व्यर्थ है। इसीलिये कबीर मे पारवारिक जीवन का अभाव है। वे सामाजिक एकता की जो भी बातें कहते है उनका आधार निर्गुण है। निर्गुण अभेद है तो भेद की सारी बाते व्यर्थ है। बिना निर्गुण के जो लोग साम्य की बाते करते है उन्हे इस पक्ष पर ध्यान देना होगा। साम्य के लिये लोभ, मोह, काम आदि से तटस्थता आवश्यक है। क्योंकि लोभ और मोह ही वैषम्य के मुख्य कारण है? इसकी पूर्ति निर्गुण से होती है। सत कबीर तो जगत को पूर्णतः उलट देना चाहते है। अब मन उलटि सनातन हूवा। तब हम जाना जीवत मूवा। कबीर कहना चाहते है कि उनका काव्य जीवित मृत्यु का काव्य है। जिओ और मृत बनकर जिओ। विषय से अलग ही मृत्यु है। इसी मृत्यु को संत

आनद मानते है–जिस मरने से जग डरै सो मेरे आनद।

कबीर मे जो ऑधी बह रही है। जिस ऑधी को वे वहाना चाहते है वह उस ज्ञान की ऑधी है जिसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नहीं होते। वैषम्य टूटकर साम्य की प्राप्ति होती है।[१]

कालिदास ने मरण को प्रकृति और जीवन को उसकी विकृति कहा था। यह मान्यता साख्यो की है। सभव है वेदात मे यह साख्य से ही आया है। गीता के कृष्ण युद्ध मे मरो पर उदासीनता की शिक्षा देते है। क्योकि मृत्यु तो शरीर की होती है। आत्मा अमर है। इसीलिये मृत्यु पर शोक नहीं करना चाहिए। सपूर्ण महाभारत और अपने परिवार का नाश देखने पर भी कृष्ण प्रसन्न है। सच्चिदानंद है। कठोपनिषद् का नचिकेता मृत्यु का उपासक है। मृत्यु देवता यम ही उसके आचार्य है। इस सदर्भ मे आधुनिक सत महात्मा गॉधी का उद्धरण आवश्यक है। गॉधी जी एक पत्र मे लिखते है–'मृत्यु तो जन्म का साथी ही है और है वड़ा वफादार। कभी धोखा नहीं देता।' इससे भी वढ़कर कहते है–जो चीज जन्म के साथ ही लेकर हम इस जगत मे प्रवेश करते है इसका शोक क्यो? शोक हो तो जन्म का हो।' (उत्तर प्रदेश मे गॉधीजी, स० रामनाथ सुमन, पृ० ६०३ एवं ५८६)। इसका मतलब इतना ही है कि इस प्रकार के विचार मनुष्य को मृत्यु और दुख की ऑधी मे स्थिर रहने का आधार वनते है। क्यो कि मनुष्य का सबसे वड़ा भय मृत्यु है। और यह अटल भय भी है। कवीर इस अटल मृत्यु के भय को अपने काव्य द्वारा कुछ कम भर कर देना चाहते है।

---

१ मैं गुलाम मोहि वेचि गुसाई, तन मन धन मेरा राम जी के ताई।

२ सतौ भाई आई ग्यान की आधी रे।
भ्रम की टाटी सकल उड़ाणीं माया रही न दौंधी।
हित चित की द्वै थूनी गिरानीं, मोह बलींड़ा तूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपरि, कुबुधि का भाडा फूटा।
जोग जुगति करि संतौं बाधी, निरचू चुवै न पाणीं।
कूड़ कपट माया का निकस्या हरि की गति जब जाणीं।
आधी पीछै जौ जल वूठा, प्रेम हरी जन भींना।
कहै कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम षींना।

कबीर की भाषा

कबीर की विचारधारा को खोज लेना आसान है। उनकी भाषा के बाह्य रूप के व्याकरणिक अध्ययन मे भी विशेष कठिनाई नही है। कठिनाई है कबीर की भाषा के अतर-पक्ष का समझने मे। भाषा का वह कौन सा चमत्कार है जब कबीर अन्य कवियो से भिन्न पड़ते है। सवेदना का इतना गहरा ताना-बाना तानते है कि सब उसी मे समा जाता है। इनकी भाषा सस्कृत नही है। विचारो मे उपनिषद् के पास रहकर भी भाषा मे उपनिषद् भाषा का गठन नही है। पुराणो जैसा विस्तार भी नही है। सस्कृत सूत्र प्रधान भाषा है। इसके श्लोक सूत्र से अधिक विस्तार वाले है। कितु इनमे भी शास्त्री सगठन है। हिंदी की प्रकृति भिन्न है। यह भाषा सधि, समास और विभक्ति से मुक्तप्राय है। सस्कृत शब्द प्रयोग के समय पद कहे जाते है। ये पद प्रकृति प्रत्यय युक्त होते है। इनमे मुख्यत दो प्रत्यय लगते है– क्रिया मे तिड् और शेष मे सुप् आदि। वहॉ पद की परिभाषा है– सुप्तिडत पदम्। हिंदी दोहो मे सगठन एव विशेष लाघवता है। बिहारी अपनी लाघवता के लिये प्रसिद्ध है। उनके दोहे नावक के तीर जैसे है। देखन मे छोटो लगै, घाव करै गभीर।

कितु बिहारी के दोहो मे खुलेपन का अभाव है। ये सदर्भ मूलक है। इसी से आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हे रीति सिद्ध कहा है। जिसने सपूर्ण आचार्य एव काव्य परपरा को दोहो मे रखने की क्षमता प्राप्त कर ली है। इसी से बिहारी के दोहो का सौदर्य देर मे खुलता है। अर्थ खुलते-खुलते प्रभान्विति बासी पड़ने लगती है। इससे कुछ कम दूसरो के दोहो की स्थिति है। इसीलिये दोहा लिखना सबके लिये सभव भी नही है। कितु कबीर के दोहे, पद या रमैनी हिंदी की इस परपरा से भिन्न है।

कबीर की भाषा अत्यत खुली है। उद्दाम है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही इस भाषा को सधुक्कड़ी कहा था। कितु उनकी 'सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पजाबी मिली खड़ी बोली है।' आचार्य शुक्ल इनकी भाषा को पचमेल भी कहते है। आचार्य शुक्ल कबीर की प्रतिभा को स्वीकार करते है। कितु निर्गुण पथ के बारे मे उन्हे शिकायत है–'इस पथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नही पड़ा, क्योकि उसके लिये न तो इस पथ मे कोई नयी बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, सस्कृत हृदय और सस्कृत वाणी का विकास इस शाखा मे नही पाया जाता है जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।' (हिंदी सा० इ० पृ० ७१)।

आचार्य शुक्ल ने ठीक समझा। पूरा निर्गुण काव्य सस्कृत पद्धति से मुक्त है। सस्कृत से उसे परहेज है। सस्कृत ही रहती तो हिंदी की जरूरत क्या है ? हिंदी सस्कृत का भाषांतरण नही है। सतो की बाते तो है परपरा वाली, कितु भाषा और अभिव्यक्ति कौशल सर्वथा नया है। इन्हे सस्कृत की बिल्कुल परवाह नही है। ये अनागारिक एव घर जलानेवाले लोग है। जलाने की क्रिया क्या रीतिबद्ध या रीतिसिद्ध हो सकती है? खुली आग धधक रही है। सारे बधन, आडबर और अधविश्वास जले। मै, तुम एव वह भी जले। तीनो सर्वनाम जले। रह जाय केवल अनाम। रूप-नाम सहित केवल अनुभूति तत्त्व।

हिंदी तो सस्कृत को छोड़कर खड़ी ही हुई। वेद छोड़ा। शास्त्र छोड़ा। लोक से जुड़ी।

सामान्यजन की अभिव्यक्ति बनी। सस्कृत ही बनना, बनाना था तो इसके लिये संस्कृत भाषा तो थी ही। और सस्कृत कभी भी न व्यर्थ हुई है, न कमजोर। किंतु हिंदी भाषा के विकास को दूसरे ढग से देखना चाहिए। नाना पुराण निगमागम वाले तुलसी ने भी क्वचिदन्यतोऽपि कहा। यह क्वचिदन्यतोऽपि अत्यत महत्वपूर्ण है। क्योकि क्वचिदन्यत् ? इसलिये कि सस्कृत पूरी नहीं पड़ती है। इसमे लोक को जोड़ा गया। तुलसी का मानस सस्कृत और लोक के समन्वय पर खड़ा है। इसीलिये वह शिष्ट और सामान्य सबको प्रिय है। किंतु कबीर की भाषा पूर्णत. सस्कृत मुक्त है। शुक्ल जी ने एक अजीब प्रश्न उठा दिया है। उनके कथन का भावार्थ तो यह है कि तुलसी सस्कृत (शिष्ट) जन के कवि है और सत कबीरादि सामान्य जन के कवि है। ऐसी बात है नही। कौन ऐसा शिष्ट है जिसे कबीर के दो-एक निर्गुण याद न हो। दो-चार दोहे न सुनाए। प्रत्येक मन दुहरा है। वह सामान्य से शिष्ट बनता है। किंतु शिष्ट बने रहने पर भी सामान्य मन बिल्कुल छूट नही पाता है। कहा जा सकता है कि पिछड़ो मे कबीर का प्रचार अधिक है। इसका कारण कबीर का पिछड़ा होना नही है। पिछड़ा को पिछड़ा गाता हो यह धारणा नासमझी और छिछली है। गरीब जनता के साथ अन्याय है। बड़े पडित निर्गुणमार्गी हो गये है। जाति का भी कोई बधन नही था। गोरख, ज्ञानेश्वर दोनो ही ब्राह्मण और विद्वान् थे। ज्ञानेश्वर तो वेद विरोधी भी नही थे। किंतु थे निर्गुणमार्गी। यही बात अनेक सतो के बारे मे कही जा सकती है। समस्या सस्कृत असस्कृत की नही है। समस्या बधन और मुक्ति का। कबीर का सपूर्ण अरूप है। वे किसी भी बाह्य अनुशासन को मानने के लिये तैयार नही है। अतर्गुहा मे बैठकर बोलते है। उस मन से बोलते है जो है ही नही। अमनी हो सकता है। एक समाधि भाषा थी कृष्ण की। दूसरी समाधि भाषा है कबीर की। मुक्त समाधि। मन मस्त हुआ तब क्या बोलै ? कबीर मुक्त मन मे बोलते है।

कबीर की भाषा उपदेश नही देती है। केवल गाती है। एक विराट् अनुभव का थोड़ा सा प्रकाश करती है। इससे अगर उपदेश या चेतावनी निकले तो कबीर को दुख नही होगा। वे जैसे अपने को समझाते है वैसे ही जगत को समझाते हैं। कबीर दो हैं— एक वे जब गाते है। बोलते है। साधुओ की गति मे कुछ न कुछ कहते है। किंतु इसके पूर्व के कबीर भीतर ही भीतर अनुभव करते है। मनोलोक की यात्रा पर निकले हैं। यहाँ संसार नही है। मन नहीं है। सासारिक मन छूट गया है। इसकी अनुभूति का बाँध टूटता है। कुछ अनुभूतियाँ छलक कर बाहर आती है। जब तक शरीर है कुछ न कुछ तो बोलना-सुनना होगा ही। कबीर की भाषा मे पुस्तकी ज्ञान या रटत, घोषत एव पठत नही है। सारा ज्ञान अत्यत गुपाच्य स्थिति मे है। विराट् अनुभूति के कुछ कण है। उनका सबध अत्यत सूक्ष्म मे है। ये किसी भी स्थूल मे बँधे नहीं है। स्वय लोकपरक यात्रा की है। दूसरो के शास्त्र लोक सस्कारो को तोड़ रहे है। झकझोर कर नया बीज बो रहे है। पौध लगा रहे है। कौन सी पौध? कौन बताए ? कौन बोले? बोलने से तो तत्त्व नष्ट हो जाता है (बोलत बोलत तत्व नसाई)। किंतु बिना बोले रहा भी नही जाता।

कबीर की रचनाओ के तीन भाग है— साखी, सबद और रमैनी। तीनो की तीन प्रकृति है। साखी दोहो मे है। साखी का अर्थ है साक्षी। १. परमात्मा के दर्शन की साखी। ये साखियाँ बताती है कि हमे परमात्मा का दर्शन हुआ है। २ इन साखियो द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। ३ परमात्मा को साक्षी बनाकर साधना पथ की बातें कहता हूँ। सबद मे साखी से गहरी अनुभूति है। यह साधक के शब्द हैं। सिद्धावस्था के शब्द है। सबदी साखी की अपेक्षा अधिक अतरोन्मुख है। कबीर साहब की मूल शक्ति एव चेतना का आधार है सबद। सबद की गहराई और खुलापन का कोई मुकाबला नही। सबद की भाषा के अनेक आवर्त्त है। बँधने की अपेक्षा वह बार-बार टूटती है। हर आवर्त पर ताजी हो जाती है। गहरे जाती है। मन और मन

के गह्वर मे उतरती है। पाठक को उतारती है। हर पद विशिष्ट आवर्त लिये है। रस निर्झर बहानेवाले अनेक काव्य है। उनमे गहराई सरलता और सीधापन होता है। किंतु आवर्त पर तो एकमात्र कबीर का अधिकार है। रमैनी सीधे ढग से कहना चाहती है। कथा है न। किंतु सीधा कथन सत स्वभाव के विरुद्ध है। शुद्ध अनुभूतिपरक कथन कभी सीधा नही हो सकता है। इसलिये रमैनी मे न कथा की पूर्ण स्थूलता है, न बिल्कुल सीधापन। यह कथाबधन और स्वच्छदता के बीच स्थित है।

साखी मे अनुभव की अभिव्यक्ति मे उपदेश की सादगी दीखती है। यद्यपि प्रतीको की भरमार है–

चौंसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।
तिहि घरि किसकौ चांनिणौ जिहि घरि गोव्यंद नांहि।

यह उपदेशात्मक दोहा है। अर्थाभिव्यक्ति कठिन है। चौसठि दीवा और चौदह चदा का अर्थ लगाना कठिन है। किंतु माहि अर्थात् अत करण मे ६४ दीपक और १४ चद्रमा के प्रकाश की कल्पना का अर्थ लगने पर एक गहरा बौद्धिक बोध देता है। मध्ये से व्युत्पन्न माहि मे अत करण की पूरी अभिव्यक्ति है। पूरा दोहा तद्भव शब्दो एव सप्तमी कारक चिन्हो से जगमगा उठा है– चौसठि, माहि, घरि मे सप्तमी 'ए' (गृहे) 'इ' घरि बना बैठा है। दीवा के स्थान पर दीपक, चदा की जगह चद्रमा, चाणिणौ के स्थान पर चॉंदनी या चद्रिका अर्थ देते किंतु काव्य-रस नही ला पाते। सप्तमी द्वारा भीतर प्रवेश की ध्वनि बनती है। गोव्यद भी इद्रियो से सम्बद्ध है। गोविद का पर्याय यहॉं के लिये उपयुक्त न होता।
सत कबीर मे विम्ब ग्रहण कराने की अद्भुत क्षमता है–

सतगुर मार्‌या बाण भरि धरि करि सूधी मूठि।

बाण से मारना ठीक है। वह बाण भी सीधी मुट्ठी से मारा गया था। इससे दावाग्नि फूटी और विषयो का वन जलने लगा। बाण क्या लगा ?आग लग गयी। हथियार भेदन तो ठीक है। किंतु हथियार भेदन से चचल मारा नही काटा जाता है। ऐसे मार काट साथ चलते है। किंतु हथियार का काम काटना तब मारना है। आधुनिक हथियार दूर तक मार करते है। किंतु कबीर का हथियार तो भीतर मे भिदा है। अत करण को विद्ध किया है। अच्छा इससे मन की चचलता नष्ट होती।समाप्त होती। हुआ भी-वही। किंतु मारि से वह बात बनी नही। यह 'इ' भी सकट पैदा करता है। कभी तो वह सप्तमी 'ए' का रूप लेता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है। किंतु 'हथियारि' मे आकारात पुलिग एक वचन का मागधी प्राकृत रूप 'ए' का अवशेष है। 'मारि' मे भी उसी का प्रभाव है। प्राकृतो मे अकारात कर्त्ता एकवचन ने दूसरे कारको को भी प्रभावित किया है।

अनुप्रास तो कबीर की भाषा के स्वस्फूर्त अग है। शायद ही कोई छद हो जिसमे अनुप्रास न हो। अनुप्रास ध्वनि संगीत की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते है। कवितार्थ मे वीणा की मधुरता आ जाती है। कबीर के अनुप्रास बड़े नही है। प्राय दो वर्णो के है। अनुप्रास उद्देश्यमूलक है। न कि केवल शोभाधायक। उदाहरण के लिये– काबा और काशी, राम और रहीम, मोठ और मैदा ये केवल अनुप्रास नही है। ये अनुप्रास विचारो की सगति बैठाते है। सर्वधर्मभाव की भावना उल्लसित करते है। विषयो के मोटे आटे को और पीस कर मैदा किया। तभी भगवत्तत्त्व का आनद लिया जा सकता है। मैदा यद्यपि फारसी बताया जाता है। किंतु इसमे मर्दन की ध्वनि स्पष्ट है। इसीलिये सत कहते है मोठ चून मैदा भया। मोटा आटा रगड़ कर बिल्कुल मैदा हो गया। चून (चूर्ण) तो वह पहले ही हो गया था। अब बिल्कुल मैदा हो गया। विषयो के सपूर्ण नाश

के लिये इतना अच्छा प्रतीक शायद मिले।इसमे ध्वनि के साथ ही क्रिया चित्र भी है। व्यक्तित्व युक्त विषयो को भक्त कबीर ने पैर से मसल कर मैदा बना दिया। नष्ट विषय का भोग बधन नही बनता। 'बैठि कबीरा जीम' मे ध्वनि है कि कबीर की दुविधा समाप्त हो गयी। विषयो का द्वन्द्व, भागदौड़ समाप्त है। अब बैठकर आनद पान करना है। जीम मे शाति एव पूर्णता की ध्वनि है। खाने या भोजन करने मे जीम जैसी पूर्णता एव शाति नही है। 'बैठि' मे 'इ' पूर्वकालिक क्रिया चिन्ह है। बैठकर जीम।

तुको का सयोजन भी प्रभावशाली है। साथि और हाथि दो तुक है– लोक वेद के साथि। दीपक दीया हाथि। यहाँ ध्वनि रस भी है। स ह हो जाता है। पहली स ध्वनि ही जैसे ह की ओर बढ़ती दिखाई देती है। साथ और हाथ का मेल है। हाथ साथ का पर्याय भी है। साथ वह जो हाथ बटाए। साथ के लोग ही हाथ होते हैं। हाथ वह है जो साथ रहे। एक और तुक है अघट्ट और हट्ट। प्राकृत का अवशेष लगता है। प्राकृत द्वित्व व्यजनो एव मूर्धन्यता के लिये प्रसिद्ध रही है। यहॉ दोनो है। किंतु पूरा दोहा और महत्त्वपूर्ण है–

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां बहुरि न आऊँ हट्ट।

प्रथम पक्ति मे दिव्य अनुप्रास का चमत्कार है– तीन द हैं। इनमे दो 'दी' है। दई का अर्थ दी भी मन मे है। दीया क्रिया है। सज्ञा मान नही सकते। किंतु मन उधर भी जाता है। ऐसे मे तेल और दिये का वर्गगत अनुप्रास भी है। तेल, दिया एव बाती का सयोग चित्र भी बनता है। इस बत्ती को जलाया नही गया है। फिर भी वह जल रहा है। अघट्ट इसका प्रमाण है। जलता नही तो अघट्ट शब्द देने की जरूरत नही थी। जो सदा जलकर भी घटता नहीं है। स्नेह बत्ती। न कि जीवन बत्ती। अघट्ट की बत्ती जलकर भी गुप्त है। अप्रगट रोशनी। अघट्ट मे घ महाप्राण है। यह घ ह होता है। क्योकि प्रत्येक महाप्राण मे ह ध्वनि है। हट्ट अघट्ट से बनता नही । किंतु 'बहुरि न आऊँ' मे अघट्ट कर्म पूर्णता का अर्थ तो है ही।

सत कबीर की असली शक्ति शब्द सयोजन मे नही है। उनका सब स्फूर्त है। परावाणी का चमत्कार है। नदी की तलस्पर्शी गहराई का सहज प्रवाह है। इसे स्फोट कहिए या विस्फोट। इसीलिये कबीर की भाषा अधिक अर्थ देती है। कलाकार की सजावट मे अतिरिक्त सोचने-समझने का अवसर कम होता है। किंतु इन अनगढ़ कथनो की शक्ति अधिक है।

शब्द पर कबीर का अधिकार देखते बनता है। ये शब्द शास्त्री हैं। शास्त्र के बाहर के है। किंतु शास्त्री शब्द भी शास्त्र बनकर नही सामान्य बनकर आये है। इसीलिये विधि अर्थ उत्पन्न करते है– शास्त्री भी। सामान्य मनोवैज्ञानिक और अत.साधना भी। एक ही शब्द की कई आवृत्ति का नाद सगीत चित्रवृत्तियो को उक्षिप्त करता है–

मैं मै मैं जब लग मैं कीन्हां। तब लग मैं करता नहीं चीन्हां।

× × ×

अब का डरूँ डर डरहि समांन।
जब मैं मोर तोर पहिचान।
जब लग मोर तोर करि लीन्हा। मै मै जनमि जनमि दुख दीन्हां।

× × ×

बोलनां का कहिये रे भाई।
बोलत बोलत तत्त नसाई।

बोलत बोलत बढ़ै बिकार। बिन बोल्यां क्यूं होइ विचारा॥
संत मिलै कछु कहिये कहिये। मिलै असंत मुष्टि करि रहिए।
ग्यांनीं सूं बोल्यां हितकारी। मूरिख सूं बोल्यां झष मारी।

इन पदो मे शब्दो की अनुवृत्ति को देखिए। एक ही पक्ति मे मै पॉच बार आया है। बार-बार के इस मै प्रयोग मे अहम् का स्फोट होता है। अहम् का घटियापन व्यक्त होता है। मेरा ही 'मै' मुझे धोखा दे रहा। एक घटिया के पीछे दौड़ता रहा। इसके कारण मै कर्त्ता को पहचान नही सका। 'करता' कर्त्ता सज्ञा भी है। क्रिया भी है। कर्त्ता अर्थात् करनेवाला ईश्वर। आत्मा, परमात्मा। नाशवान् देह नही। करता अर्थात् जो करने योग्य कर्म था उसे नही कर सका। करनेवाले तत्त्व से पहचान ही नही हुई। कीन्हा और चीन्हा मे तुक तो है ही। क का च होना भी भाषा सिद्ध है। कीन्हा और चीन्हा दोनो एक ही है। पहचान से कर्म और कर्म से पहचान की प्रक्रिया है।

कवि इसी पहचान प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है– तीन बार डर शब्दो के प्रयोग मे बताया कि मम त्वम् के तत्त्व को पहचान गया हूँ। इस कारण सभी प्रकार के डर समाप्त हो गये। अब डरने की कोई बात नही है। ज्ञान हो जाने पर डर तो डरकर डर मे ही समा गया। लीन हो गया। डर की चेतना असत्य की चेतना है। अतः असत्य डर जहाँ से पैदा हुआ था वही विलीन हो गया। इसका कारण मोर (मम्) तोर (त्वम्) की पहिचान है। कवि तीन डर के बाद मोर तोर का अनुप्रास और भै भै, आगमनिगम, मनवा मन माहि समाना का अनुप्रास ध्वनि पैदा करता है। इतने अनुप्रास व्यर्थ और उबाऊ हो जाते। कितु ये अर्थगर्भित है। प्रायः अलकारो का लोभ अर्थ की उपेक्षा कर देता है। कबीर के अलकार अर्थ के लिये आते है। मात्र भीतर का अनाहत शब्द नही है। वह शब्द और अर्थ का संपृक्त रूप है। परा और पश्यंती वाणी मे शब्द और अर्थ तदरूप रहते है। यह एकरूपता बाहर आकर भी एक दूसरे से युगनद्ध रहती है।

शब्द और अर्थ की एकता ही ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति है। बोध है। यह बोध कहा नही जा सकता। क्योकि यह तो पराबोध है। इसे बोलने लगिए तो यह तत्त्व नष्ट हो जाता है। इस बात को कहने के लिये कवि ने एक पद मे नौबार बोलना शब्द की आवृत्ति की है। एक ही शब्द की इतनी आवृत्ति का कारण है अबोल को बोलकर समझाने की कोशिश। जिसे कहा नही जा सकता उसे कहने का प्रयास। कितु वह कहा नही गया। केवल इतनी ही सूचना हो पायी कि तत्त्व नष्ट हो गया। इतना ही नही समझाने की कोशिश जितनी अधिक होगी तत्त्व नष्ट हो जायगा। ब्रह्मतत्त्व समझाने, बोलने से नष्ट हो जाता है। नौबार बोलना के अतिरिक्त संत मिलै कछु 'कहिये कहिये'। यह कहिये भी बोलना ही है। बोलना और कहना मे भेद है। कितु कबीर दोनो का प्रयोग एक ही अर्थ मे करते है। सत से कहते है और ज्ञानी से बोलते है। सत और ज्ञानी एक ही है। मूर्ख और असत मे भेद है। असत के सामने मौन रहना चाहिए। मुष्टि = मौन। मूर्ख को कहना व्यर्थ है। झख मारने जैसा फालतू है। झख मारना मुहावरे का अर्थ है व्यर्थ समय बर्बाद करना।

कबीर के प्रतीक कभी-कभी अत्यत सरल होते है। इस सरलता का कारण उन प्रतीको की प्रसिद्धि है। घट शरीर का प्रसिद्ध प्रतीक है। इस में आधा जोड़कर आधा घट बनाया। किंतु इसका अर्थ आधा शरीर नही है। अर्थ है अर्ध ज्ञान। इसे ही लोक मे अध जल गगरी छलकत जाय कहते है। कबीर ने इसे ही बिना जल जोड़े कर 'आधा घट डोलै' कर दिया है। किंतु इस सक्षेप से भी पूरा बिम्ब उतर आया है। 'भरया' |पूर्ण ज्ञान है। भरया का अर्थ है पूर्ण ज्ञान। व्यवहार मे आधा का विलोम भरा या पूर्ण नहीं है। किंतु यहाँ यही विलोम चलेगा। आधा से

अनेक सप्रदायो, साधनाओ एव ज्ञानियो की ओर सकेत है। यह बात खाली कहने से नही बन सकती। इस प्रकार इसमे मुहावरा, सक्षिप्तता और कबीरदास के भाषा प्रयोग की विशिष्टता तीनो का मेल है।

कबीर अनेक स्थलो पर परपरागत प्रतीको का ही प्रयोग करते है। उनके प्रतीक या उपमान प्राय सरल और परिचित है। इसके कारण उन्हे सक्षेप मे गभीर एव सूक्ष्म की ओर सकेत करने का आधार मिल जाता है। प्रतीक ही काफी थे। उसमे भी सक्षिप्त और सकेत। यह सुविधा वे उलटवॉसियो मे नही देते। उलटवॉसी के प्रतीक परिचित होकर भी बदलते रहते है। इससे कठिनाई हो जाती है। कभी-कभी अत्यत कठिन। अगर नया प्रतीक लिया तो और भी कठिन। वहॉ अनुमान के लिये पूरी गुजाइश हो जाती है। उदाहरण के लिये–

बैल बियाइ गाइ भई बांझ। बछरा दूझै तीन्यूं सांझ।

मकड़ी घरि माषी छछिहारी। मांस पसारि चीन्ह रखवारी।

मूसा खेवट नाव बिलइया। मींडक सोवै सांप पहरइया।

यह उलटवॉसी है। उलटवॉसी मे शब्द देखने मे उलटे लगते है। यह एक प्रकार का शब्द चमत्कार है। बैल का ब्याना और गाय का बॉझ होना शब्द चमत्कार है। सचमुच ही कबीर ऐसा मानते है। इसमे पहले है 'चचल पुरुष विचषन नारी।' यह भी उलटवॉसी है। चचलता स्त्री धर्म है। पुरुष तो स्थिर रहता है। यह स्त्री आत्मा है। मन पुरुष है। मन तो चचल कहा ही गया है। बैल अविवेक और माया बुद्धि है। लोक मे भी बैल अज्ञानी को कहते है। गाय विवेक, बुद्धि या आत्मा है। बछड़ा इद्रियॉ है। तीनो सॉझ तीन काल है। ऐसे ही अन्यो के अर्थ होगे। इन अर्थो मे विरुद्धता की पूरी गुजाइश है। ये रूढ़ प्रतीक नही है। अत बैल, गाय या बछड़े कुछ भी अर्थ निकाला जाता है। रूढ़ प्रतीको के अभाव मे अर्थ अत्यत कठिन हो जाते है। कबीर अपनी उलटवॉसियो के लिये प्रसिद्ध है। आशा की जाती है कि उन्होने उलटवॉसियो का प्रयोग अत्यत सावधानी से किया होगा। किंतु इसके विपरीत भी हो सकता है। उलटवॉसियॉ स्वसवेद्य न होकर परसवेद्य है। इनकी सवेदना देर से और किसी के समझाने पर समझ मे आती है। इसलिये उलटवॉसियॉ चमत्कारिक आनद देती है। चमत्कार बौद्धिक होता है। इस दृष्टि से सतो को बौद्धिक रस का कवि कहा जा सकता है।

उलटवॉसियो का प्रयोग परपरित चेतना के विरुद्ध है। मायाबद्ध जीवो की नीद पर गहरा आक्रमण करना ही इनका उद्देश्य है। माया परपराबद्ध मन सामान्य कथनो से बदलने का नही। उलटवॉसियों की भाषा ने पिछड़ो मे एक प्रकार का आत्मविश्वास पैदा किया। एक तो वे देर तक इसके अर्थ की खोज करते रहे। खोजा तो उस पर चमत्कृत रहे। चमत्कृत हुए तो फिर काफी देर तक उस चमत्कार ने मन को घेरा। बुद्धि उसी मे उलझी रही। क्या खूब या वाह, वाह की चेतना। दूसरी बात यह कि उनके पास कुछ विशिष्ट ढग का ज्ञानबोध है जो औरो के पास नही है। यह ज्ञानबोध एक अलौकिक लोक एव अपरपार ब्रह्म तत्त्व से जोड़ता। उलटवॉसियो को पढ़ना, समझना और उनके समाज अर्थाना एक वीरतापूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया है। उलटवॉसियो मे भक्ति की नम्रता की अपेक्षा ज्ञान की अहचेतना दीखती है। ज्ञानी ससार से ऊपर है। ससार तो माया मे डूब रहा है। इसीसे इसने स्तरी या बौद्धिक मन को भी प्रभावित किया।

उलटवॉसियो के विरोधाभास से चमत्कार पैदा होता है। इन्ही चमत्कारो को देखकर अनेक आलोचको ने कबीर आदि सतो को काव्य जगत से बाहर रखना चाहा था। किंतु अपनी वक्रोक्तियो, विरोधाभास, अनुप्रास, यमक, प्रासगिक सरलता, अर्थगर्भित शब्दप्रयोगो, बिम्बो आदि के कारण इन्हे काव्य से अलग नही किया जा सका। एक उदाहरण–

द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मंदिर सदा अंधारा।

घर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि कीया पसारा।

उजाले के लिये एक दीपक ही काफी है। किंतु दो दीपक जलाने पर भी अधेरा है। यो भी कि दो दीपक के कारण ॲधेरा और बढ़ गया। दीपक ज्ञान है। ज्ञान एक है। एक का है। अब यदि दो और दुविधा वाला ज्ञान हो गया तो यह कौन सा ज्ञान होगा ? यह ज्ञान तो अज्ञानाधकार ही बढ़ाएगा।

दूसरी पक्ति मे घेहर धेहर (देहर) जान पड़ता है। घर और देहर पर सभी स्वार्थी है। फिर भी बाहर अनेक प्रकार का दिखावा करते है। सबध बनाते है। असल मे वे सारे दिखावे व्यर्थ है। घेहर मे दुहरे घर की ध्वनि है। गृहे गृहे से घेहर बना जान पड़ता है। जैसे गृह से घर और हर (खडहर, पीहर, नैहर) दोनो बनते है। घरि घरि मे सप्तमी 'इ' घर के भीतरी भाग का सूचक है। 'जोया' जलाना नही। ज्योतित करना है। ज्योतित किया मे जलाना की अपेक्षा प्रकाश प्रभावशाली और सीधा है। मदिर का अर्थ है देव मदिर। हृदय, जहाँ चैतन्य आत्मा का निवास है। वहाँ अधेरा रहने से और सारे प्रकाश व्यर्थ है। द्वैतवाद पर व्यग्य का कितना अच्छा तरीका है। कबीर के शब्दो मे शास्त्री अर्थ गभीर भले न लगे। किंतु इन्हें रहस्यमूलक अर्थगाभीर्य कहना चाहिए। यह योग साधना के द्वारा खुलनेवाले मानस कपाट से आया है।

कभी-कभी उलटवाँसियाँ लोकतत्त्व लिये होती है–

देस मालवा गहर गंभीर। डग डग रोटी पग पग नीर।

लगता है यह कोई लोकोक्ति हो। किंतु है यह प्रतीक। इसी पक्ति के आधार पर लोगो ने कबीर का सबध मालवा से भी जोड़ा है। मालवा बिल्कुल ही अप्रचलित प्रतीक है। यह बागड़ या मरुस्थल का उलटा है। मालवा माल वाला है। यहाँ योग क्षेम की पूरी व्यवस्था है। यह प्रभु का क्षेत्र है। इसलिये कभी सूखता नही। मालवा के तत्त्व को साधक ही जानता है। कुछ पद तो पूर्णत लोक सपृक्त लगते है–

राम चरन मनि भांये रे।
अस ढरि जाहु रांड के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लायै रे।
आंब चढी अंबली रे अंबली, बबूर चढी नगबेली रे।
द्वै थुर चढि गयौ रांड को करहा, मनह पाट की सैली रे।
कंकर कूई पातालि पानियां, सोनैं बूंद बिकाई रे।
बजर पस्यौ इहि मथुरा नगरी, कांन्ह पियासा जाई रे।
एक दहिड़िया दही जमायौ, दुसरी परि गई सारी रे।
न्यूंति जिवाऊं अपनौं करहा, छार मुनस की दाढी रे।
इहि बंनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बंनि बाजै तूरा रे।
इहि बनि खेलै राही रुकमनि, उहि बंनि कान्ह अहीरा रे।
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, मांहि द्वारिका गांऊं रे।
तहां मेरौ ठाकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नांऊं रे।

एक दो पक्ति को छोड़ पूरा पद लोक तत्त्व से जुड़ा है। किंतु इसमे लोकसिधाई नही, उलटवासी की गहनता और अस्पष्टता है। सुनने मे जितना ही सुखद है अर्थ उतना ही कठिन। सारे अप्रस्तुत नये है। मायामय जगत और मायामुक्त स्थिति की अभिव्यक्ति के लिये इतना

बधान बाँधा गया है। मथुरा नगर अर्थात् माया के ससार मे किसी की तृप्ति नहीं होती है। इस नगर का नाश हो। वज्र पड़ना नाश होने के अर्थ मे मुहावरा है। माया नगर मे मदन का बाजा बजता है। माया रहित वन मे ज्ञान का तूर्य निनादित होता है। इस नगर मे राधा रुक्मिणी आदि माया नर्तकियाँ है। कृष्ण यहाँ नही है। वे मायारहित क्षेत्र मे रमण करते है। द्वारका मे तुलसी वन है। तुलसी विटप है तो छोटा विरवा। किंतु ससार के बड़े-बड़े पेड़ो से बड़ा, महत्त्वपूर्ण और पवित्र है। यहाँ माया नही आती।

आसि पासि मे आर्श्वे पार्श्वे के ए का इ है। तुलसी का तुरसी और भी ग्रामीण हो गया है। राधिका का राही यात्री का सकेत भी है। कान्ह का विशेषण अहीरा कृष्ण के स्वच्छद स्वरूप की ओर सकेत है। अहीर जो गो, इद्रियो का स्वामी है। साहित्य के और भागो मे राधा, रुक्मिणी एव कृष्ण साथ खेलते है। किंतु यहाँ प्रकृति और पुरुष का खेल अलग-अलग होता है। कबीर शायद उस जागतिक तथ्य की ओर भी सकेत करते हैं। जब कृष्ण को जितना आनद गोकुल मे मिला था। उतना मथुरा मे नही। भक्ति परपरा मे भी वृंदावन के बाद द्वारका का ही स्थान है।

कबीर की भाषा अपनी है। भाषा के क्षेत्र मे वे अकेले है। ऊपर का उद्धरण लोकभाषा का होकर भी उलटवाँसी के कारण लोकोक्ति से दूर चला गया। इसी प्रकार अर्ध लोक साहित्य के प्रयोग भी देखे जा सकते है–

गालिब नगर गांव बसाया, हांम कांम अहंकारी।
घालि रसरिया जब जम खैंचै, तब का पति रहै तुम्हारी।

यह अर्ध लोकतत्व वाला पदाश है। किंतु सीधा है। इसमे कोई उलटवाँसी नही है। बिम्ब भी सीधा बनता है। काम के अनुप्रास मे अहम् का हाम बना दिया। नगर और गाँव दोनो गालिब अर्थात् रोब का बसाया। रोब गालिब किया। किंतु जैसे पशु की रस्सी कसाई खीचता है वैसे ही यम खीचेगा। यहाँ सपन्न और शक्तिशाली व्यक्तियो की दुर्दशा और विपन्नावस्था का सुदर चित्रण हुआ है। अहम् और काम के खूँटे से बँधा अहकारी पशु जाना नही चाहता। किंतु उसकी रस्सी अर्थात् इच्छाओ का बधन यम के हाथ मे है। वह उसे खीच रहा है।

लोकतत्त्व को उजागर करते हुए कबीर कहते है–

का काजर सिंदूर के दीयै। सोलह सिंगार कहा भयौ कीयैं
अंजन मंजन करै ठगौरी। का पचि मरै निगोड़ी बौरी।

इसमे लोकतत्त्व पूरा है, किंतु यह लोकतत्त्व से भिन्न है। लोक वेद के विरोधी कबीर अपनी भाषा को भी इनसे भिन्न बनाते है। काजर और सिंदूर के बाद सोलह शृगार, फिर अजन लगाना (मजन)। मजन का अर्थ दत मजन भी हो सकता है। ये सारे शृगार शरीर के है। 'पचि मरै' अत्यत परिश्रम करना है। कबीर कहते है कि बहुत परिश्रम कर शृगार कर देह सजाने से क्या फायदा ? शरीर की सजावट का दृश्य विरोधमूलक है। क्योंकि कबीर शरीर की सज्जा को व्यर्थ मानते है। शरीर सज्जा का पूरा चित्र देकर उसकी व्यर्थता व्यक्त करते है। यह चित्र एक चचला स्त्री का है। भाषा और उससे उत्पन्न चित्र गृहस्थ नारी का चित्र न बनाकर एक चचला एव वासनामूलक शरीर व्यापारिणी स्त्री का चित्र बनाता है। इसमे शृगार की सरसता नही, वासना की कुरूपता है। यह रूप ठगौरी है। माया है। कबीर इस छल रूप से सबको सावधान भी करना चाहते है।

कबीर ग्रामीण उपमानो द्वारा भी अपनी बात कहते है–

दिन प्रति पसू करै हरिहाई। गरै काठ वाकी बांनि न जाई।

यह उपमान उस पशु का है जिसे अधिक दौड़ने से रोकने के लिये गले मे काठ बॉध दिया जाता है। दौड़ते समय चोट लगती है। चोट के डर से वह धीरे-धीरे चलता है। इस पशु को हरिहाई कहते है। किसान ऐसे जानवरो के गले मे हल, खाट का पावा या कोई लकड़ी हार के रूप मे लटका देता था। शायद इसीलिये इसे हलहार कहते थे। इसी से हरिहाई बन गया। हलघात भी हो सकता है। यहॉ हरिहाई विषय दुख मे और चिपके रहनेवाले व्यक्ति के लिये आया है। इसी प्रकार देवता को प्रसाद चढ़ाने का विरोध करते हुए कहा—

लुचरी लपसी आप संघारै। द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै।

आरभ के दो शब्द लुचरी लपसी विशिष्ट भोज्य पदार्थ के प्रतीक है। इनके साथ सघारै जोड़कर उस भोजन को गभीर बना दिया है। सघार तो नाश है। इधर भोजन का संहार उधर आत्मराम की अतृप्ति। कितना विकराल विरोधाभास है। 'राम पुकारै' भीख मॉगना है। भीख की आवाज जोर से लगा रहा है। कोई सुन नही रहा है। पहले खड मे माया है। दूसरे मे राम। कबीर कहते है कि यह भव्य समारोह का प्रसाद माया है। इसका आत्मतत्त्व से कोई संबध नही है। आत्मराम तो भूखा है। भीख के लिये दरवाजे पर पुकार रहा है। भोग मे लिप्त व्यक्ति आत्मराम की पुकार भी नही सुन रहा है। इस भोजन का स्वाद कैसा है ? दूसरे पद मे कहा है 'गलगल स्वाद ।' गलगल का अर्थ है सड़ता हुआ। नाश की ओर। गलगल से बननेवाला अर्थबिम्ब गलना, सड़ना या नाश से नही बन सकता था। गल गल ध्वन्यात्मक शब्द है। जैसे ध्वनि करता हुआ नष्ट हो रहा है।

कबीर ने कामधेनु को भी माया ही माना है। कामधेनु माया अधी है। सबके वर्त्तनो का नाश कर रही है। गाय और ग्वाले के माध्यम से माया और साधक के द्वन्द्व पर प्रकाश डाला गया है। पूरी कविता कामधेनु के रूपक पर चलती है। किंतु कबीर अक्सर रूपक को कभी पूराकर और कभी बीच मे ही छोड़कर दूसरी बात कहने लगते है। इससे उनके भीतर विचारो की भारी टकराहट का पता चलता है। इसी टकराहट मे शब्दो की बार-बार आवृत्ति होती है—

बिन हाथन पांइन बिन कांननि, बिन जिभ्या गुण गावै।
× × × ×
×
बिनही तालां ताल बजावै, बिन मंदल पटताला।
बिनही सबद अनाहद बाजै.....
बिना चोलना बिनां कंचुकी, बिनहिं संग संग होई।

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी यही बात कही गयी है—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्...... । १७
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोतिकर्णः ।
स वेत्तिवेद्यं न तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् । १९

पद्म पुराण भूमिखड अध्याय ८६ मे कहा गया है—

हस्तपादादिहीनश्च सर्वत्र परिगच्छति ।...... । ७१
मुखनासाविहीनस्तु घ्राति भुङ्क्ते हि पुत्रक ।
अकर्णः शृणुते सर्वं सर्वसाक्षी जगत्पतिः । ७२
अजिह्वो वदते सर्वं..... । ७३
अत्वचः स्पर्शमेवापि..... । ७४

इसी औपनिषदिक तथा पौराणिक वर्णन को (तुलसी के समान) कबीर ने भी स्वीकार किया है। किंतु कबीर की अपनी शैली है। वे सीधे अनुवाद नहीं करते। अपने भाषा कथन को

अनोखा ही रूप देते है। कुछ कुछ समस्या भी भिन्न रखते है। यद्यपि वह कोई अलग समस्या नही है। उदाहरण के लिये–बिना ताला का ताल, बिना शब्द का अनाहत आदि सब वही है। किंतु भिन्न प्रस्तुति के कारण भिन्न हो जाते है। पूरा पद जैसे अरूप का सामूहिक कीर्तन बन गया है। जगत के सारे कार्य अरूप रूप के है। इस विचार को कबीर ने बार बार और बहुत ही अच्छे ढग से प्रस्तुत किया है।

कृष्ण भक्तो के यहाँ कन्हैया है। तो कबीर के रमइया है। इस पर पूर्वी प्रभाव है गइया, बिलइया जैसा रमइया। इसी प्रकार बरतिया (केस लूचि लूचि मूये बरतिया) का पूर्वी प्रयोग भी भीड़ का व्यग्य पैदा करता है। कभी झूठा और कभी जूठा की झड़ी लगाकर प्रभावान्विति का विस्तार करते है। जैसे–

तेरा झूठा मीठा लागा।
झूठे के घर झूठा आया, झूठा खांण पकाया।
झूठी सहनक, झूठा बस्या झूठे झूठा खाया।
झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई।

इस पूरे पद मे झूठा शब्द १० बार आया है। एक दूसरे पद मे माटी की झड़ी है। जीवत माटी मूवा भी माटी'''। उसके बाद है जूठा–

माता जूठी पिता पुनि जूठा जूठे फलचित लागे।
जूठा आंवन जूठा जांनां''''''।
अंन जूठा, पानी पुनि जूठा, जूठी बैठि पकाया।

कवि ने एक पद मे १४ बार जूठे का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग दूसरे कवियो मे है। जैसे तुलसीदास मे, लोभ को लेकर–लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। किंतु कबीर मे यह प्रयोग अधिक और अधिक शब्दो का है। इसकी चर्चा पहले भी आ चुकी है।

कबीर के तद्भव शब्द स्वत' रस उत्पन्न करते हैं। ऊपर रमइया और बरतिया है तो आगे तोहरा शब्द का पूर्वीपन स्वत रस उत्पन्न करता है—

जो तोहरा के ब्राह्मन कहिए, तो काको कहिए कसाई।

काको ने काम बिगाड़ दिया। यहाँ भी पूर्वी प्रयोग होता तो रस और भी गाढ़ा हो जाता। पूर्वी प्रयोग के साथ ही दूसरी भाषाओ के प्रयोग भी कम नही है। शायद पूर्वी से अधिक है। राजस्थानी प्रयोग–

बांध्यौ जमपुरि जासी।

यह प्रयोग हासी का तुक मिलाने के लिये है। यह संस्कृत के भविष्य काल गमिष्यति से बना रूप है। इसकी पूर्व पंक्ति है– साची प्रीति विषय माया सू, हरि भगतनि सू हासी।

यह हासी विषयमाया प्रीति के विरोध मे है। उलटा है। माया की प्रीति और भक्तो से हँसी मे ढोंग, अज्ञानता एव मोह की ध्वनि है। गोड का पउवा भी पूर्वी प्रयोग है।

कबीर काव्य मे भाषा की विविधता ने अनेक रूप ग्रहण किये है। कही सस्कृत का भ्रम है– व्याकरणा, मरणा, रमणा, भ्रमणा, ऊबरणा आदि–

पांडे न करिसि बाद बिबादं।
या देही बिन सब दन स्वादं।

चूकि विवाद (शास्त्रार्थ) पंडित है इसलिये विवाद विवाद स्वाद स्वाद है। देही आत्मा के लिये प्रयुक्त शुद्ध सस्कृत है। पृथ्वीराजरासो मे भी अनुस्वार बहुलता की प्रवृत्ति है। लोग विदु

विसर्ग को ही सस्कृत मान लेते है। मीया से बात करते समय अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग करते है–

रोजा करै निवाज गुजारै, कलमैं भिस्तिन होई।
सत्तरि कावे इक दिल भीतरि जे करि जानै कोई।

कभी-कभी 'राम रहिमाना' 'अलह मुकामा' औरत मरदा एव 'काजी माह रमजान' जैसे शब्दो मे भी अनुनासिकता देखी जाती है।

लोगो ने शब्दो की दृष्टि से कबीर की भाषा को पचमेल कहा है। सही है। किंतु एक बात और। षड्भाषा के आदर्श मे भी एक प्रकार की मिली जुली भाषा रहती थी। कबीर मे भी यह है। किंतु इसके अतिरिक्त उनके पदो की भाषा अलग-अलग है। कही सीधा तद्भव लोकतत्व युक्त, कही सीधा सादा तद्भव, कही मुल्ला से बात करने मे अरबी-फारसी वाली, कही योग के पारिभाषिक शब्दो द्वारा योग प्रक्रिया को व्यक्त करनेवाली। उलटवाँसियो की चर्चा तो बहुत हो चुकी।

निर्गुण-निराकार के कवि को रूपको का बहुत भरोसा होता है। यद्यपि सगुण के कवि तुलसी भी अपने बड़े-बड़े रूपको के लिये प्रसिद्ध है। तुलसी शायद रूपक छोड़ सकते थे। किंतु कबीर के लिये तो रूप कुछ आवश्यक है। इन्ही रूपको मे पारिभाषिक शब्द मिल जाते है तो कविता कठिन हो जाती है। कठिन कविता के बावजूद कबीर को कठिन काव्य का प्रेत या चमत्कारवादी क्यो नही कहा गया ? इसका कारण है कि कबीर की कठिनाई की गॉठ खुलते ही जिस लोक का परिचय होता है वहॉ से लौटना नही होता। मन उसी आनद लोक मे रम जाता है। कबीर स्पष्ट कहते है– यह मत जानो गीत है, यह तो ब्रह्म विचार। न तो राम खिलौना है– लोगनि राम खिलौना जाना।

निर्गुण के नाम पर कबीर के पद ही गाये जाते है। साखियॉ सादगी एव सूक्तियो के लिये उद्धृत की जाती हैं।

प्रसिद्ध है कि कर्म बधन का कारण है। इसलिये बहुत से लोग कर्म को छोड़ने की बात करते है। किंतु कर्म छूट नही सकता है। कर्म छोड़ना भी एक कर्म है। तो कर्म से ही कर्म छूटता है। इसके लिए एक ही शब्द है कर्म। किंतु कबीर ने करणी और करम दो बनाया–

करणी थैं कारण मिटि गया।
करणी किया करम का नास। पावक मांहि पुहुप प्रकास।
पहुप मांहि पावक परजै·····।

प्रथम करणी का अर्थ है फलेच्छारहित कर्म। क्यो कर्म तो किसी फल के लिये होता है। यदि फलेच्छा नही है तो कर्म कर्म नही है। वह अकर्म हो जाता है। इसीलिये ऐसा कर्म (करणी) कर्म (फलेच्छा वाला) अर्थात् बधन कारण कर्म का नाश कर देता है। पावक गीता का ज्ञानाग्नि है– ज्ञानाग्नि. सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। गी० ४/३७। ज्ञानाग्नि से जले कर्म वालो को ही पडित कहा जाता है। (ज्ञानाग्निदग्ध कर्माण तमाहु पडित बुधाः ४/१९)। गीता जिस बात को सीधी भाषा मे कहती है उससे पडित का लाभ होता है। बुद्धिमान समझते है। इसी को कबीर आग और फूल के माध्यम से कहते है— आग। साधना की आग। पुहुप। ज्ञान। दोनो एक दूसरे से जुड़े है। आग मे फूल और फूल मे आग। ज्ञान और साधना दो नही है। जैसे करणी और कर्म दो नही है। इसी प्रकार कर्म और कारण मे भी एकता है। इसीलिये कर्म कारण की समाप्ति होती है। शुद्ध कारणत्व की प्राप्ति होने पर कर्म की जरूरत नही रह जाती है।

कबीर एक ढग का सवाद भी चलाते है–

जब हंम बनजी लौंग सुपारी। तब तुम्ह काहे बनजी खारी।

जब हम बनजी प्रमल कसतूरी। तब तुम्ह काहे बनजी कूरी।

इस पद्धति मे आत्मता का गहरा तत्त्व है। निर्गुण-निराकार तत्त्व साकार हो उठता है। उससे बात करने का रस अलग है। कबीर परम गुरु (भगवान) से कहते है–

चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।

इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा।

इस सवाद शैली ने अतिरिक्त रस उत्पन्न कर दिया है। सवाद के द्वारा रागात्मकता घनी हो उठी है। यद्यपि यह सवाद एकतरफा है। किंतु इसमे रागात्मक उत्तर एवं स्वीकार की ध्वनि है। लगाव क्षण का नही स्थिर और सनातन है। यह कबीर की शैली है। उत्तर पक्ष न बोलकर भी मुखर है। यह पूरा सवाद नही है। सवाद का दूसरा पक्ष मौन है। किंतु कबीर की प्रस्तुति से लगता है कि वह ध्यान से सुन रहा है। अपनी स्वीकृति भी दे रहा है। जैसे मौखिक कहानियो मे कभी-कभी ही हाँ होता है। सुननेवाला सो गया है। फिर भी कहने वाला इस विश्वास से कहता है कि वह सुन रहा है। कहने वाले का उत्साह बहुत देर के बाद भग होता है। किंतु सत का उत्साह अभग है।

कबीर की भाषा को आध्यात्मिक कहना उचित होता। क्योंकि उनका मूल विषय आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक जागरण के लिये ही वे प्रयत्नशील है। किंतु आध्यात्मिक कहते ही ध्यान सस्कृतनिष्ठ परपरा की ओर जाता है। जहाँ बुद्धि की गहनता और चैतन्य का कसाव है। इसलिये कबीर की भाषा को मुक्त, आत्मिक आध्यात्मिकता कहना अधिक ठीक होगा। आध्यात्मिकता तो है। किंतु वह बौद्धिक की अपेक्षा आत्मिक एव भावात्मक है। वह भी मुक्त। खुलापन लिये। हाँ, उलटबाँसियाँ रोकती है। किंतु प्रभाव को बासी नही होने देती है। अर्थ खुलने मे देर लगती है। इससे प्रभाव और भी आतरिक बन जाता है। मन की मस्ती नये-नये आनद लोको मे डूबने-उतराने लगती है।

भाषा के क्षेत्र मे कबीर अकेले है। अन्य सतो को भाषा का आतरिक सयोजन नही प्राप्त हुआ। इसका कभी यह मतलब नही है कि दूसरे सतो की भाषा मे किसी प्रकार की हीनग्रंथि है। सत और हीनग्रथि दो विरोधी चीजे है। साधना तो ग्रथियो के नाश के लिये होती ही है। रैदास की भाषा मे नम्रता और विनय की सादगी किसी हीनता का द्योतक नही है। वे इतने नम्र और विनयी है कि उनकी भाषा किसी प्रकार का उत्पात नही मचाती। किंतु गोरखनाथ की भाषा उछलती है। आक्रमण करती है। आक्रमण के समय कबीर की भाषा गोरखनाथ और नानक के पास है। तो विनय मे वे रैदास की ओर झुकी लगती है। यद्यपि रैदास जैसा एकात विनय कठिन है। रैदास का विनय भी अकेला है। वह विनय जीवन के सारे कल्मष को चदन सा घिसकर सुगधितकर रहा है। चदन और पानी के प्रतीक मे द्वैत की सभावना है। किंतु कबीर कही द्वैत के लिये स्थान नही छोड़ते है। भासमान् द्वैत को मिटाना ही उनके प्रतीको और भाषा का उद्देश्य है।

तुलसी और कबीर

तुलसी और कबीर मे बहुत सी समानताएँ एवं असमानताएँ है। आचार्य रामचद्र शुक्ल एव उनकी परपरा के आलोचक दोनो सत भक्त कवियो मे किसी भी प्रकार की समानता नही देख पाते। इनकी अपेक्षा डॉ० रामविलास शर्मा जैसे व्यक्ति दोनो को 'सत' के खाते मे डालकर ऐक्य खोजने का प्रयत्न करते है। डॉ० शर्मा कहते है–"सत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियो से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम मे–या हिदू धर्म मे ढूँढ़ना सही नही है। इन धर्मो का उन पर असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नही है। मलिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नही है, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य है, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार है (लोक जीवन और साहित्य पृ १८)।" डॉ० शर्मा की पहली दिक्कत तो यह है कि वे धर्म को सुपर स्ट्रक्चर मानते है। फिर उससे सबद्ध साहित्य का मूल स्रोत उसमें नही ढूँढ़ते है तो आश्चर्य नही। 'सत साहित्य परिस्थितियो से पैदा हुआ है था।' यह एक स्थायी वाक्य है। किसी भी साहित्य और किसी भी आन्दोलन के लिये यह रेडीमेड वाक्य है। जहाँ चाहिए चस्पा कर दीजिए। दूसरी बात यह है कि जायसी को कुरान का भाष्यकार, कबीर-दादू को त्रिपिटकाचार्य, सूर तुलसी को वेद, गीता या मनुस्मृति का टीकाकार किसने कहा है जो आप उसका खडन कर रहे है। किंतु तुलसीदास ने स्वय अपनी रचना को नानापुराण निगमागमसमत कहा है। सूर के गुरु ने भागवत का गान करने की आज्ञा दी थी। वे श्री रंगनाथ के मदिर मे भजन गाते थे। इनकी रचनाओं मे बार-बार राम, कृष्ण के स्मरण है। कबीर ने आत्मा-परमात्मा के मिलन को उद्देश्य बनाया। राम नाम को अपना सिद्ध मत्र बनाया। क्या इन तथ्यो से कोई इनकार कर सकता है ? हाँ, इनकार करते है। कौन ? डॉ० रामविलास शर्मा।

डॉ० शर्मा समस्त भक्ति साहित्य का सामाजिक आधार ढूँढ़ते हुए कहते है–"सत साहित्य का सामाजिक आधार क्या है ? इसका सामाजिक आधार जुलाहो, कारीगरो और व्यापारिया का भौतिक जीवन है (वही पृ० १८)। कितना गहरा चमत्कार है।" डॉ० शर्मा ने कलम की एक नोक से हिदी के सपूर्ण आध्यात्मिक साहित्य को भौतिक आधार वाला बना दिया। कबीर जुलाहा थे यह तो ठीक। किंतु सूर, तुलसी, नददास, जायसी आदि कवि न तो कारीगर थे। न व्यापारी। फिर इनके साहित्य मे कुछ भी ऐसा नही है जिसका लाभ केवल जुलाहो, कारीगरो और व्यापारियो को मिले। किंतु डॉ० शर्मा की लाचारी है। साहित्य जो बाहरी ढाँचा मात्र है उसके मूल ढाँचे की खोज मे उन्हे जुलाहा, कारीगर और व्यापारी की खोज करनी ही होगी।

ऐसे दृष्टिकोण तथ्य की खोजकर न कर तथ्य को आरोपित करते है। जो नही है उसकी भी कल्पना कर लेते है। तुलसी और कबीर की रचनाओ को आधार बनाकर अध्ययन करना चाहिए। तुलसी और कबीर मे अनेक समानताएँ है।

दोनो ही प्राय एक जैसे काल के है। दोनो मे लोकभाषा का प्रबल आग्रह है। दोनो के उपास्य राम है। राम नाम। दोनो वैष्णव है। रामानंद सप्रदाय के है। कबीर के राम और तुलसी के राम मे मौलिक अतर है। तुलसी के राम राजा, मर्यादा पुरुषोतम एव परब्रह्म है। कबीर के राम केवल परब्रह्म है। किंतु कबीर भी उन्हे बार-बार राजाराम कहकर लीला पुरुषोत्तम की ओर

सकेत करते से दीखते है। परमात्मा से सवध जोड़ने की कल्पना मे पति-पत्नी का रूपक तुलसी की अपेक्षा सूर से मिलता है। तुलसी और कबीर दोनो ही योग के समर्थक है। हॉ, कवीर योग को ब्रह्म प्राप्ति का साधन भी मानते है। तुलसी उसे बहुत महत्त्व नही देते। दोनो ही सत सेवक सेव्यभाव मे विश्वास करते है। तुलसी और कवीर दोनो मे दीनता, विनय और आर्तभाव है। इनके विना भक्ति सभव नही। तुलसी अपने तन के चाम का प्रभु की जूती बनाना चाहते है तो कवीर राम की कुतिया है।

दोनो गुरु को महत्व देते है। दोनो मे गुरु की वदना है। दोनो के गुरु अलौकिक हैं। लौकिक भी हो सकते है। किंतु उनका सम्मान अलौकिक है। कवीर पुस्तकी ज्ञान के विरोधी है। तुलसी भी वाक्य ज्ञान (पुस्तकी ज्ञान) को मुक्ति के लिये व्यर्थ मानते है। तुलसी ने स्वय लिखा है। कवीर ने मसि कागद छुए विना मौखिक ही चारो युगो की वात कह दी। दोनो ही सार्वदेशिक एव सार्वकालिक अभिव्यक्ति के पक्ष मे है। दोनो हिसा विरोधी और अहिसा के समर्थक है। सत्य को प्रतिष्ठा देते है। दोनो ही षड् विकारो को त्यागने के पक्ष मे हैं। भोग विरोधी है। दोनो ही छुआछूत के विरोधी है। क्योंकि भगवान् के दरबार मे सभी समान हैं। कवीर पूर्णत निर्गुण निराकार के प्रचारक है। इसलिये वे किसी सामाजिक स्वरूप की कल्पना नही करते है। सामाजिक स्वरूप निर्धारण करनेवाले कवि हैं तुलसीदास। तुलसी भक्ति मे जाति को न मानकर भी सामाजिक व्यवस्था मे इसे स्वीकार करते हैं। कवीर जाति व्यवस्था को किसी भी स्तर पर नही मानते। किंतु अपने को जुलाहा कहते है। कवीर संसार और समाज, सामाजिक सवधो इनके प्रति रागादि को पूर्णत व्यर्थ माते है। अत उन्होने सामाजिक सवधो की चर्चा नही की। ससार की अनित्यता का स्वर कवीर साहित्य मे अत्यत तीव्र और शक्ति के साथ प्रस्तुत हुआ है। इसीलिये निर्गुण का मतलव ही हो गया ससार की अनित्यता का वर्णन। राम नाम सत्य का पर्याय। तुलसीदास को भी यह सव स्वीकार है। किंतु वे समाज निरपेक्ष नही है। उनकी रचनाओ मे समाज और सामाजिक सवध विस्तृत और पुष्ट है। दोनो कवियो के यहाँ श्रृंगार को स्थान नही है। किंतु कवीर स्त्री मात्र को एकभाव माया मानकर देखते है। जवकि तुलसी के यहॉ स्त्रियो के अनेक रूप है। शूर्पणखा जैसी कामिनी माया है। तो कौशल्या और सीता जैसी माता और पत्नी भी है। कभी-कभी तो लगता है कि तुलसीदास आध्यात्मिकता की अपेक्षा सामाजिकता के कवि है। जो लोग तुलसी मे केवल लोकमगल देखते हैं वे उनके आध्यात्मिक पक्ष को भूल जाते है। ऐसे ही लोग कवीर को सामाजिक परिवर्तन का कवि मानते है। उनकी गहरी आध्यात्मिकता उन्हे नही दिखाई पड़ती है।

सामाजिकता को तुलसी अत्यंत विस्तार देते है तो कवीर आध्यात्मिकता मे बहुत ऊँचे जाते है। समाज या किसी प्रकार के भूत के अभाव मे वे वहाँ जाते है जहाँ जाने मे चींटी के पाँव भी लड़खडाते हैं। तुलसी कथाओ के माध्यम से सासारिक संबधो और घटनाओ के मार्मिक स्थलो की अनुभूति कराते हैं। किंतु कवीर को ससार से कुछ भी लेना-देना नही। वे हर समय ससार की नश्वरता का वर्णन करते हैं।

तुलसी के राम रक्षा का आश्वासन देते है। बहुत कठिनाई हुई तो स्वय उपस्थित हो जाते है। किंतु कवीर के राम को समाज से कुछ लेना-देना नही। वे समाज नही व्यक्ति (विरला) की मुक्ति मे विश्वास करते है। असल मे तो व्यक्ति मुक्ति भी उनका कार्य नही है। वे तो किसी भी प्रकार के कार्य-कारण से परे हैं। कवीर मे निषेध की प्रधानता है। तुलसी सभी का निषेध नही करते। इसलिये कि तुलसी के राम सामाजिक हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम और राजा हैं। निषेध के कारण ही कवीर किसी शास्त्र को नही मानते। किसी वचन को प्रमाण नही मानते। सद्गुरु के वताए मार्ग पर चलते है। उसे भी अतिम नही मानते। स्वय खोज करते है। इसलिये कवीर

की शब्दावली परपरित हो सकती है किंतु उनकी अनुभूतियाँ निजी है। तुलसी निजी अनुभूति नही, सामाजिक अनुभव के कवि है। निजी अनुभव व्यक्ति के साथ नष्ट हो सकता है। किंतु सामाजिक अनुभव समाज के साथ रहकर शास्त्र बन जाता है। इसीलिये तुलसीदास नाना पुराण निगमागम को आधार मानते है। पुराणो का प्रभाव कबीर पर भी है। किंतु वे पुराणो की गहराई मे न जाकर कुछ गिनी-चुनी लोक प्रचलित बातो को ही स्वीकार करते है। वे परपरा के बिल्कुल विरोधी नही है। हॉ, साधना मे सामाजिक अनुभव की अपेक्षा वैयक्तिकता का आधार कबीर को पुराकथाओ से दूर रखता है। बौद्ध परपरा का प्रभाव उतना नही है जितना वैदिक परंपरा ने प्रभावित किया है। इसलिये कि कबीर मूलत वेदाती है। वेदात दर्शन के सत है। कबीर वेदातिक परपरा के रहस्यवादी है। रहस्यवाद का मुख्य आधार वेदात है।

कबीर के नाम प्रचलित रमैनी तुलसीदास के मानस से बिल्कुल भिन्न है। इसमे राम, सीता, रावण की कथा न होकर निर्गुण साधना एव सृष्टि विकास की वेदाती दृष्टि की प्रमुखता है। दोनो ही कवि मायावाद से प्रभावित है। कबीर पर माया का विशेष प्रभाव है। कबीर की माया तुलसी की माया से अधिक विकराल है। कबीर के त्रिदेव भी माया के शिकार है। तुलसी मे इसका संकेत भर है। इसीलिये कबीर मे नारी पूर्णत त्याज्य है। वे नारी के पूर्णत छोड़ने के पक्ष मे है। नारी बड़ा विकार। उनके यहॉ नारी केवल कामिनी है। नारी के अन्य पक्षो की चर्चा कबीर नही करते है। कबीर की माया अविद्या है। जबकि तुलसी के यहॉ माया के निर्माणकारी रूप भी है। तुलसी भक्ति समर्थक और मुक्ति विरोधी है–सगुणोपासक मोच्छ न लेही। कबीर भी भक्त है। मोक्ष को एकाध बार अस्वीकार भी करते है–राम मोहि तारि कहॉ लै जैहो। किंतु उनकी मूल दृष्टि मोक्षप्रधान है। माया और मायाविलास से पूर्ण मुक्ति। नारी के प्रति करुणा तुलसी मे कबीर की अपेक्षा अधिक है–कत विधि सृजी नारि जग माही। पराधीन सपनेहु सुख नाही। ऐसा लगता कि तुलसी मनु के उस कथन का खडन कर रहे थे जिसमे कहा गया है कि न स्त्री स्वातत्र्यमर्हति। कबीर के राम अकेले है। तुलसी के राम सीता सहित है। इसके विपरीत कबीर के यहॉ शिव, ब्रह्मा, विष्णु सबकी स्त्रियॉ माया है। माया ही इनके घरो मे पत्नी बन बैठी है। कबीर पर बौद्ध, वेदांत और योग तीनो का प्रभाव है। इन तीनो मे स्त्री त्याज्य है। अत कबीर ने गृहस्थ जीवन को पूर्णत अस्वीकार किया। लगता है तुलसीदास संसार को सुदर बनाना चाहते थे और कबीर ससार से मुक्त होना चाहते थे। किंतु विरक्ति दोनो मे है। बिना विराग के मुक्ति तो सभव ही नही है। ससार का सुधार भी नही हो सकता है।

तुलसी और कबीर दोनो ही आदर्शवादी है। किंतु दोनो की दृष्टि उर्ध्वगामी है। दोनो के आदर्श ऊपर से आते है। कबीर राम को हृदय मे देखते है और तुलसी उन्हे बाहर भी देखते है। सबमे, सबको राममय देखते है। कबीर इतने स्पष्ट न होकर भी सबकी एकता तो देखते ही है। सभी जीव ब्रह्म है। सभी मायाधीन है।

दोनो ही कवि उदारता एव सहिष्णुता का उपदेश करते है। परमात्मा के असाम्प्रदायिक रूप की स्थापना करते है। कबीर मे झाड़ फटकार अधिक है। वे सभी सप्रदायो को अपूर्ण मानते है। तुलसीदास मुख्यत. अपनी बात कहते है। खडन-मडन के चक्कर मे कम पड़ते है। कबीर मे तर्क और आवेश की प्रधानता है। किंतु तुलसी सहज ढंग से कहते है। कबीर अपने समाज और बाहरी आक्रमणकारी दोनो से पीड़ित है। किंतु तुलसी केवल बाहरी आक्रमण से प्रभावित है। फिर भी वे प्राय किसी आक्रमण की चर्चा से बचते है। सामयिकता की अपेक्षा शाश्वत एव सनातन मूल्यों पर अधिक जोर देते है। पुराने कवि सामयिक और सामाजिक सुधार की अपेक्षा मानव चरित्र सुधार के सनातन तत्त्वो को प्रतिष्ठित करते थे। उनमे सामयिकता का आग्रह कम से कम होता था।

सत कबीर श्रद्धा विरोधी नही है। किंतु वे श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक जोर देते है। तुलसी मे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य का समन्वय है। ये ही वाते कमोवेश कबीर मे भी कही जा सकती है। तुलसीदास उपास्य के नाम, रूप, लीला, धाम चारो के उपासक है। कबीर केवल नाम के समर्थक है। अवतार मे विश्वास के अभाव मे रूप, लीला और धाम का सवाल नही उठता है। तुलसी को ईश्वर का निर्गुण-सगुण दोनो रूप स्वीकार्य है। केवल तो केवल निर्गुण है। सगुण को कबीर केवल अभिव्यक्ति या साधना की दृष्टि से साधन रूप मे स्वीकार करते है। क्योकि भजन, कीर्तन, प्रेम, भक्ति आदि के लिये किसी न किसी प्रकार की सगुणता स्वीकार करनी ही पड़ती है। दोनो ही कवि मायामय जीव को तुच्छ मानते है। इसीलिये दोनो का उद्देश्य ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्म सवके भीतर है। उसकी जानकारी की कोशिश ही साधना है। इसीलिये दोनो कवि भक्त को, गुरु को परमात्मा जैसा मानते है। कबीर गृहस्थी का विरोध कर भी गृहस्थ थे। तुलसी गृहस्थ धर्म के समर्थक होकर सन्यासी थे। तुलसी प्रवध और मुक्तक दोनो के रचनाकार है। कबीर केवल मुक्तक के रचनाकार है। निर्गुण मे प्रवध के लिये स्थान नही है। तुलसी की दृष्टि सपूर्ण जीवनवाली है। कबीर जीवन की विविधता मे विश्वास नही करते हैं। परपरा की दृष्टि से कबीर भी नारदी भक्ति मे विश्वास करते है।

तुलसी ने कलिकाल को अपने युग की विपत्तियो का रूपक बनाया है। जवकि कबीर इसे माया के माध्यम से व्यक्त करते है। तुलसी वहुदेववादी भी है। कबीर बहुदेववाद के विरोधी है। किंतु दोनो ही इस्लामी एकेश्वरवाद को अस्वीकार करते है। कबीर की दृष्टि मे अन्यदेव माया है–

जौ जांया तौ केवल राम। आन देव सूं नाहीं काम।

नवधा भक्ति दोनो को स्वीकार्य है। किंतु तुलसी सख्यभाव को नहीं स्वीकार करते है। जबकि कबीर के यहाँ पाद सेवन का स्थान नही है। दोनो ही सत्सग को आवश्यक मानते हैं। सब कुछ को गुरु कृपा का फल मानते है। अमानी भक्ति, विषय विरति, सृष्टि को ब्रह्ममय देखना, सतो का आदर, छलहीनता, सरलता, दैन्य, अनन्य शरणागति आदि दोनो मे सामान्य हैं।

काशी की प्रतिष्ठा को कबीर भी अस्वीकार नही करते। भक्ति की महत्ता की दृष्टि से वे मगध मे मरना चाहते है। मतलव कि वे मगध को भी पवित्र वनाना चाहते है। क्या कबीर ने काशी छोड़कर गलती की ? तजलो कासी मति भइ भोरी। प्राननाथ कहु का गति मोरी। तुलसी काशी मे वाहर से आए थे। कबीर काशी मे ही पैदा हुए थे। दोनो देशी भाषा के लेखक है। किंतु तुलसी पर सस्कृत का गहरा प्रभाव है। जवकि कबीर की भाषा मिली जुली और ऊबड़-खावड़ है। कबीर मे उलटवाँसी है। वे अपनी वात किसी न किसी प्रतीक के माध्यम से कहते है। कबीर के प्रतीक कठिन है। तुलसी सीधी भाषा मे वोलते है। तुलसी सृष्टि मे फैले परमात्म सत्य की अनुभूति कराना चाहते हैं। जवकि कबीर हृदय मे स्थित ब्रह्म का साक्षात्कार कराना चाहते है।

तुलसी ने भाषा के माध्यम से वैदिक शास्त्र परपरा को जनसुलभ बनाया। आध्यात्मिक, नैतिक और शास्त्री मन का विश्वास बनाने मे उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन्होने किसी जाति या धर्म का विरोध न कर स्वय को बुलद बनाने की शक्ति विकसित की। कबीर की पद्धति भिन्न है। वे मनुष्य को वहाँ ले जाते है जहाँ सारे भेद, दुख और चिताएँ लुप्त होकर केवल परम आनदसत्ता की अनुभूति रह जाती है। मनुष्य मनोलोक का आनद लेता है। कबीर की रचनाएँ विना किसी शास्त्री तैयारी या प्रशिक्षण के एक ऐसा पुष्ट मन तैयार करती है जहाँ शोक का नाम नही है। इसीलिये कबीर का प्रचार उन लोगो मे भी अधिक हुआ जो औपचारिक शिक्षा

से वंचित थे। दोनो कवियो की रचनाओ ने एक ठोस आधार पर देश के मानस को पुष्ट किया। इन्ही दोनों कवियों की शिक्षा का फल है कि आगे आनेवाली सभी अभारत धार्मिक शिक्षाऍं प्रभाव नही डाल पाती है। कबीर चाहे जिस-जाति के रहे हो किंतु उनका मुख्याधार वेदात है। वे विधर्म को रोकते है। धर्म परिवर्तन को रोकने मे दोनो की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

किसी भी समाज को निर्गुण-सगुण दोनो की आवश्यकता है। केवल निर्गुण समाज नही चला सकता। उससे व्यवस्था की आलोचना हो सकती है। निर्गुण आलोचना सगुण की अपेक्षा अधिक प्रभावी होती है। समाज तो सगुण ही होगा। किंतु निर्गुण के अभाव मे सगुण समाज जड़ हो जाता है। इसीलिये तुलसी और कबीर दोनो की महत्ता समान रूप की है। गृहस्थी और सन्यास। कर्म और ज्ञान। दोनो को मिलाकर ही भक्ति पूर्ण हुई है। कबीर के मुक्तको ने तुलसी के मुक्तको से अधिक प्रसिद्धि पाई। तुलसी के प्रबध ने समाज को स्थायी और ठोस रचनात्मक आस्था दी।

ऐकातिक भक्ति की दृष्टि से योग, यज्ञ, तप, तीर्थ, अध्ययनादि दोनो भक्तो को अस्वीकार है। दोनो ही शब्द प्रमाण मे विश्वास करते है। अंतर यह है कि तुलसी के प्रामाणिक शब्द शास्त्रो के है। कबीर के सद्गुरु के है। सद्गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा ही उन्हे शब्द प्रमाण की ओर ले जाती है। वे सद्गुरु के शब्दो की आत्मानुभूति भी करते है। तुलसी भी आत्मानुभूति को स्वीकार करते है। इसलिये वे कहते है कि वाक्य ज्ञान की अत्यत निपुणता प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति मन के अज्ञानाधकार को दूर नही कर सकता है। भीतर के अधकार को दूर करने के लिये तो भीतर की साधना आवश्यक है। किंतु भीतर की साधना के साथ ही शास्त्र परपरा द्वारा प्राप्त ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण है। सत तुलसीदास जब कहते है कि "गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राज डगरो सो" तो वे गुरु वाक्य को महत्व देते है। गुरु ने ही दोनो (कबीर-तुलसी) को राम मत्र दिया है। दोनो राम को भजते है। न रॉ रामाय नम , न ओ नारायणाय नम , न ओ वासुदेवाय नम । सत कबीर तो जैसे राम के अतिरिक्त किसी को जानते ही नही। तुलसीदास भी स्पष्ट कहते है–

बिश्वास एक राम नाम को।
मानत नहि परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को।
पढ़िबो पर्यो न छठी छमत ॠगु जजुर अर्थबन साम को।
ब्रत तीरथ, तप सुनि सहमत, पचि मरै करै तन छाम को ?
ज्ञान, बिराग, जोग, जप, तप, भय, लोभ, मोह, कोह, काम को।–विनय०।

तुलसीदास और कबीर दोनो ही केवल बाह्य साधन के विरोधी है। बाहर तो ठीक हो ही। किंतु असली है भीतर को शुद्ध रखना। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये षट्विकार मन मे रहते है। अत इन्हे मन से भगाना है। मन को पवित्र करना है। बिना मन को शुद्ध किये भगवत्प्राप्ति सभव नही। विनयपत्रिका मे कहा गया है–

बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै।
×   ×   ×
अंतर मलिन, बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरै न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे।
तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई। पद११५

जब दोनो को सृष्टि के चोर, डाकू (काम, क्रोधादि) लूटने लगते है तो एक ही उपाय है प्रभु की शरण मे जाना। कबीरदास कहते है–

चोर तुम्हारा तुम्हारी अग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।

ऐसी ही बात तुलसीदास कहते है–

मैं एक अमित बटपारा, कोउ सुनै न मोर पुकारा।

दोनो ही भक्त शरीर की प्राप्ति को महत्त्वपूर्ण मानते है। इसलिये इस शरीर से परमार्थ साधन करना चाहिए। बाद मे यह शरीर मिले या नही ?

मानुख तन पायौ बड़े भाग–कबीर

बड़े भाग मानुस तन पावा–तुलसी

दोनो की भाषा भी एक है। दोनो ने भक्ति विरोधी की निदा की है। दोनो के उपमान तीखे है। अत्यंत प्रभावकारी है–

अपुन देहीं चुरुआ पांनी, तिहि निंदहि जिन गंगा आंनीं।–कबीर

गारी देत नीच हरिचंद हू दधीच हू को आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है।–तुलसी

दोनो के उपमान पौराणिक है। दोनो के प्रभु भक्तवत्सल है। इसीलिये कभी-कभी तुलसी और कबीर की पक्तियॉ एक जैसी लगती है–

दीनदयाल क्रिपाल दमोदर भगत बछल मै हारी।

यह पक्ति कबीर की है। किंतु तुलसी की भी हो सकती है। ऐसी ही दूसरी पक्ति है–

है हरि भजन को परवान।

नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान।

यह कबीर की पक्ति भी तुलसी से मिलती है। ऐसी जाने कितनी ही बाते कबीर और तुलसी मे समान है। किंतु असमानता भी कम नहीं है।

दोनो का रामानद या उनके सप्रदाय मे दीक्षित होना लोक का दृढ़ विश्वास है। दोनो ही राम भक्त है। अत समानता का मिलना स्वाभाविक है। कठिनाई तब आती है जब अनिवार्य विरोध दिखलाने के लिये तुलसी की कुछ पक्तियॉ उद्धृत की जाती है। ये है–

साखी सबदी दोहरा कहि किहिनी उपखान।

भगति निरूपहिं भगत जन निंदहिं बेद पुराना –तुलसी

तुम जो कहा राम कोउ 'आना' तुलसी

अलखहि अलखहि क्या जपै, रामनाम जपु नीच। –तुलसी

ऐसे ही उद्धरण सत सूरदास से दिए जा सकते है। कहा जाता है कि कृष्ण द्वारा ब्रज भेजे गए उद्धव निर्गुण मार्ग के उपदेष्टा है। उनके उत्तर मे गोपियाँ सगुण मार्ग की प्रस्थापना करती है। इस प्रकार निर्गुण और सगुण मार्ग के निश्चित द्वन्द्व ही उभर कर आए है। किंतु निर्गुण सगुण का विभेद अनिवार्य नही है। हिंदी साहित्य के बाहर तो निश्चय ही नही। हिंदी मे भी दोनो मे दोनो का मेल दीखता है। सगुण का तो आधार ही निर्गुण है। स्वय शंकराचार्य सिद्धात मे अद्वैतवादी और व्यवहार मे सगुणोपासक जैसे थे। वेदात ने पारमार्थिक और व्यावहारिक दो प्रकार के सत्य की कल्पना की है। परमार्थ मे जगत मिथ्या है। किंतु व्यवहार मे वह 'है'। भूख पारमार्थिक सत्य नही है। किंतु उसे व्यावहारिक सत्य तो मानना ही पड़ेगा। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को आग जलाती है। पानी गलाता है। हवा सुखाती है। यह सब शरीर को होता है।

परमतत्त्व आत्मा इन सबसे अलग है। सत कबीर की मुख्य दृष्टि उस परम तत्त्व पर है। तुलसी परम तत्व और व्यवहार तत्व दोनो को जोड़ कर चलते है। कबीर परम तत्व को प्राप्त कर स्वय वह हो जाने का उपदेश देते है। जबकि तुलसीदास परम तत्व का अवतरण नर रूप मे करते है। यह नर तत्व उद्धारक भी है। आदर्श भी है। इसे प्राप्त कर फिर कोई कष्ट नही रह जाता है। दोनो ही साधक दो रास्तो से उसी परम तत्त्व को महत्त्वपूर्ण मानकर उससे जुड़ते है। तुलसीदास का रास्ता थोड़ा स्थूल, सर्वजन सुलभ है और कबीर की राह सूक्ष्म अत विरल के लिये है।

तुलसी और कबीर दोनो की दृष्टि मे ससार शून्य की दीवाल पर बना चित्र जैसा है। ससार चित्र का आधार कोई भूत पदार्थ न होकर निर्गुण निराकार अमूर्त परम तत्त्व है। यह परम तत्त्व स्वय अपनी उपाधि से जुड़कर ईश्वर बनता है। इसीलिये वेदात भी माया की स्वतत्र सत्ता नही मानता। माया जो परम तत्त्व की भी उपाधि बनती है। वह परमेश शक्ति है। माया की परिभाषा देते हुए कहा गया है–

अव्यक्त नाम्नी परमेश शक्तिः अनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते। –शकर

यह माया सतसत् रहित, अनादि अनिर्वचनी, त्रिगुणात्मिका एव ज्ञान विरोधिनी है। माया का यह स्वरूप दोनो सतो को मान्य है। तुलसीदास की विनयपत्रिका का प्रसिद्ध पद है–

सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिना लिखा चितेरे।

इसी बात को कबीर कहते है–

१. पाहन होय के सब गए, बिनु भितियन के चित्र।
२. जिन यह चित्र बनाइया, साँचा सूतरधार।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रहि लेहिं निहारि।

तुलसीदास जब सत्य, असत्य एव सत्यासत्य तीनो को भ्रम बताते है तो उसका मतलब कबीर के नकार से है। क्योकि जो भी कहा जायगा वह भ्रम होगा। परमतत्त्व मौन या अनुभूति का विषय है। उसे बताया नही जा सकता है। बोलने से तत्व नष्ट हो जाता है (बोलत बोलत तत्व नसाई)। जब ससार के लोग सोते है तो तुलसी और कबीर दोनो ही जागते है–

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तब कृपापात्र जन जागै –विनय ११९

इसी बात को तुलसीदास ने अन्य जगह भी कहा है–

एहि जड़ जामिनि जागहि जोगी।।परमारथी परपंच वियोगी।

इसे ही सुमिरन कौ अग मे सत कबीर बार-बार कहते है–

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनाँ भी सोवणाँ लंबे पाँव पसारि।

ये सभी छद गीता के उस श्लोक जैसे है जिसमे कहा गया है–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः। २।६९।

सत कबीर ने सहज साधना और महासुख का प्रयोग किया है। इन्हे ही तुलसीदास सहज सुख कहते है–

निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो।
जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। –विनय० ८८

स्पष्ट है कि विषयो का साथ दुस्सह दुख है और प्रभु का साथ सहज सुख है।

तुलसीदास के अनुसार भक्ति और माया दोनो स्त्री है। इसलिये भक्ति पर माया का वश नही चलता है। ज्ञान का रास्ता कठिन है। ज्ञानी को माया का डर बना रहता है। ज्ञानी माया मे फॅस सकता है। किंतु भक्त का माया कुछ नही बिगाड़ सकती है। क्योकि स्त्री स्त्री को नही मोह सकती है–मोह न नारि नारि कर रूपा। अब कबीरदास तो अपने को राम की बहुरिया ही कहते है। माया भी राम की शक्ति है। ऐसे मे दोनो का विरोध हो सकता है। मोहने का कहॉ सवाल है? भक्तो पर माया का वश नही चलता है। भक्ति माया को खूब समझती है–तिरिया के तत तिरियै पै जाना। माया कुलटा है। इसलिये प्रभु को माया नही भक्ति प्रिय है। क्यो कुलटा है माया ? इसलिये कि यह सबको भ्रम मे डालती है। परमात्मा विमुख करती है। परम पुरुष को पहचानने मे बाधा डालती है। इसकी अपेक्षा भक्ति प्रभु से जोड़ती है। जीव को प्रभु बना देती है। माया की उपाधि से जीव अपने स्वरूप को नही पहचान पाता है। भक्ति माया के अज्ञानाधकार को हटाकर परम प्रकाश प्रभु का साक्षात्कार कराती है।

राम कथा के गायक शिव है। आध्यात्मरामायण और रामचरितमानस मे तो यही है। कबीर के समय मे सभव है आध्यात्मरामायण हो। राम कथा की शिव कथन परपरा हो। कबीर शायद उसी की ओर सकेत कर कहते है–

महादेव मुनि अंत न पाया। उमासहित उन जन्म गँवाया।

शिव अविनाशी माने जाते है। किंतु कबीर कहते है अविनाशी शिव भी मर गये। सगुण मे निर्गुण की उपासना करनेवाले भी मर गये–

मरि मरि गए भक्ति जिन्हि ठानी। सगुन माहि निर्गुन जिन्ह आनी।

अगर कबीरदास तुलसी के बाद होते तो आलोचक इन्हे तुलसी की आलोचना समझते। किंतु यह आलोचना सबके लिये है। सगुण मे निर्गुण लाने का अर्थ है सगुणोपासना। सगुणोपासना सत तुलसी के पहले भी थी। अत यह आलोचना तुलसी के पूर्ववर्तियो की है।

तुलसी की विनयपत्रिका और रामचरितमानस दोनो ही दो ढग की भक्ति कहते है। करते हैं। वैसे ही तुलसी और कबीर दोनो की पद्धति भिन्न है। किंतु दोनो ही एक ब्रह्म के उपासक है। तुलसी के यहॉ वह सगुण भी होता है। कबीर भी सगुण मे व्याप्त, व्यापक ब्रह्म के उपासक है। इसीलिये दोनो ही जीव की सत्ता मे आस्था रखते है।

वैष्णव भक्त

कबीर वैष्णव को पसद करते है। किंतु स्वय को कही भी वैष्णव नही कहते। तुलसी ने अवतार की बात कही है। किंतु तुलसीदास राम को विष्णु का अवतार नही कहते है। कहते भी है तो प्रकारातर है। दोनो ही सत अगर रामानद सम्प्रदाय से जुड़े थे तो स्पष्ट है कि रामोपासना इन्होने रामानद से ली। राम स्वय ब्रह्म है। कबीर साहब तो किसी अवतार मे विश्वास नही करते। उनकी दृष्टि मे दशो अवतार, सभी अवतार मरने खपनेवाले है। माया है। ब्रह्म तत्त्व इनसे भिन्न है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी माया प्रसूत है–

इच्छा रूप नारि अवतरी। तासु नाम गाइत्री धरी।

तेहि नारी के पुत्र तिन भयऊ। ब्रह्मा बिष्नु महेसर नाऊँ।–रमैनी

गो० तुलसीदास इतनी दूर तक नही जाते। उनके राम स्वय ब्रह्म है–

राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी।–मानस, १।१२०

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।–मानस १।१०८

यही अनादि ब्रह्म राम अवतार लेते है। इसीलिये राम के नाना भाँति के अवतार है (नाना भाँति राम अवतारा १।३३)। राम की मिति नही है। राम अनत है। उनके गुण अनत है। उनकी कथा का विस्तार असीम है–राम अनत अनत गुन अमित कथा बिस्तार–१।३३। यही राम भक्त का कल्याण करने के लिये नर शरीर धारण करते है। (राम भगत हित नर तनुधारी १।२४)। यही राम अतर्यामी भी है। सब कुछ के सूत्रधार है (राम सूत्रधर अतरजामी १।१०५)। इसी राम को आगम, निगम, पुराणादि नेति (न+इति) कहते है। राम नित्य स्वतत्र है। व्यापक है। सपूर्ण भुवनो के स्वामी और माया के पति है। जिसे सिद्ध योगी विमल मन से ध्यान करते है। ये शिव के इष्टदेव है–

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।

कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।

सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।

अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १।५१

इसमे 'अवतरेउ' को छोड़कर शेष सारी विशेषताऍं सत कबीर को भी स्वीकार है।

दोनो नाम के महत्व को स्वीकार करते है। तुलसीदास की दृष्टि मे राम नाम ब्रह्म राम से भी बड़ा है। जिस उद्देश्य से तुलसीदास इस बात को कहते है उसमें सत कबीर को भी एतराज नही होगा। चूँकि उनके यहाँ केवल नाम ही नाम है। रूप और चरित नही हैं इसलिये नाम को ब्रह्म राम से बड़ा बताने की आवश्यकता उन्हे नही हुई। किंतु कबीर भी कहते है राम की अपेक्षा राम ज्ञान महत्वपूर्ण है–राम बड़ा कि रामहि जानै। कबीर के ब्रह्म राम उपनिषद् वाले है। कबीर की दृष्टि मे इस ब्रह्मतत्व के अधिकारी सनकादि, नारद, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, जनक, दत्तात्रेय, वसिष्ठ आदि ऋषि है। ये नाम पौराणिक है। सत तुलसी का सरोकार भी इन नामो से रहा है। उनकी परपरा आगम निगम पुराण की है। किंतु इतना कहने पर भी उसे और स्पष्ट किया। राम को ब्रह्म कहना है तो उपनिषद् चर्चा आवश्यक है। क्योंकि ब्रह्म स्थापना का मुख्य

केद्र उपनिषदे है। इसी बात को ध्यान मे रखकर तुलसीदास कहते है–

राम नाम कर अमित प्रभाव।
संत पुरान उपनिषद गावा।१।४६

राम के अवतार पक्ष से ध्यान हट न जाय इसलिये तुलसीदास ने पुराण को भी जोड़ा है। कबीर को इसकी जरूरत नही। किंतु परपरा उल्लेख आवश्यक है। तुलसीदास ने केवल'सत' से जिनका उल्लेख किया उन्हे कबीर साहब ने नाम से गिनाया। दोनो के राम मूलत निर्गुण निराकार ब्रह्म है। राम की यह ब्रह्म मान्यता उपनिषद् की है। परपरामूलक हैं।

तुलसीदास और कबीर के यहाँ विष्णु एक देवता है। राम विष्णु, शिव और ब्रह्मा को नचाते है–जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। विधि हरि सभु नचावनिहारे। २।१२७। ये तीनो देवता ब्रह्म राम के महत्व को नही जानते है। तेऊ न जानहि मरम तुम्हारा। ये देवता तथा अन्य देवता राम का महत्व क्यो नही जानते है ? इसलिये कि ये भी मायाधीन हैं–

विधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलिकाला। २।२५४।

ब्रह्मादि सभी देवता राम की माया के वशवर्ती है–यन्मायावशवर्ति विश्वमखिल ब्रह्मादि देवासुरा। ब्रह्म राम का बल पाकर ही ये देवता सृजन, पालन और सहार करते हैं। इनकी शक्ति के मूल मे ब्रह्म राम की शक्ति है–जाके बल बिरचि हरि ईसा। पालत, सृजत, हरत, दससीसा।–५।५६।

इसीलिये सबको अन्य देवताओ को छोड़कर राम की शरण मे आना चाहिए। राम ही सबके प्रभु है। राम विरोधी विष्णु, शिव और ब्रह्मा की मुक्ति भी सभव नही–

राम विरोध न उबरसि सरन बिस्नु अज ईस। ५।५६।

इसी बात को सत कबीर कहते है। सभी अवतार और देवता मायाधीन हैं। माया सबके घर मे मौजूद है। वह विष्णु के घर कमला, ब्रह्मा के ब्रह्माणी और शिव के भवन भवानी बनी है। इन देवो मे शक्ति होती तो माया इनके पास कभी न जाती।

गो० तुलसीदास भी इन देवियो को माया कहते हैं। राम ब्रह्म हैं तो सीता उनकी आदि-शक्ति माया है। यही माया सृष्टि का सृजन, पालन और सहार करती है–

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की। २। १२६

माया की अपनी शक्ति नही होती है। वह ब्रह्म का सकेत (रुख) पाकर सब कुछ करती है। इसीलिये अवतार मे भी सीता राम के साथ लगी है। बिना माया के रामलीला नही हो सकती है। तुलसीदास कहते है–

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरेउ मोरि यह माया। १।१५२।

राम और देवता मे अतर यह है कि देवता मायाधीन हैं और माया रामाधीन है। कबीर कहते है–राम की माया दुन्द मचावै। पार्वती भी माया है–

तुम माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।१।८१।

कबीरदास राम को छोड़कर किसी दूसरे देवता को महत्त्व नही देते है। तुलसीदास ने अन्य देवताओ को तो रावण से भयाक्रात बताया है। केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव को महत्त्व प्रदान किया है। उसमे भी विष्णु और शकर को अधिक। अवतार के लिये प्रार्थी ब्रह्मा भी विष्णु के सामने असहाय जान पड़ते है। वे कहते है–मोर न कछू बसाई। १।१८४। तुलसीदास यह नही बताते कि ब्रह्मा गो बनी धरती और देवताओ को लेकर किसके पास गये ? केवल कहते है कि

प्रभु के साथ रहो। प्रभु कौन है ? कहाँ है ? इसका उत्तर कृष्ण यहाँ देते हैं। ... नहीं। ... अपने ... प्रभु का ... किया। ... कहाँ ... गया।

विष्णु सहस्र नाम। विष्णु इसी प्रकार का बहुत सारी भाग ... प्रस्तुत ... की है। प्रभु का अनुशासन विष्णु ... है (... । ... १।१८७)। विष्णु ... विष्णु का ... है। इसी प्रकार दो एक स्थानों पर विष्णु के अवतार की बात भी कही गई है—विष्णु के ... ३।४५। ... विष्णु ... ५५.३९। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि राम और विष्णु बिल्कुल भिन्न हैं। ... राम को ... विष्णु का अवतार ... है। ... बिल्कुल ... जा सकते हैं।

... विष्णु और राम को एक मानने के रूप में ... ।

आगम में कुछ ... राम और कृष्ण को परब्रह्म स्वरूप (विष्णु) ... बताया है। राम-कृष्ण स्वयं परब्रह्म हैं। विष्णु तो कहीं इन्द्र से भी छोटे माने जाते हैं। उपेन्द्र। महाभारत में कृष्ण इंद्र से छोटे तथा इन्द्रानुज भी माने गए हैं। दूसरी ओर कृष्ण की पारलौकिक सत्ता भी स्वीकृत है।

गुरु

सत कबीर ने गुरु के महत्त्व को बार-बार स्वीकार किया है। किंतु उनके गुरु कौन थे इस पर उन्होने कुछ भी नही लिखा। सामान्य मान्यता के अनुसार उनके गुरु आचार्य रामानद जी थे। किंतु स्वय कबीर साहब इसे नही कहते। उन्होने कही भी रामानद जी के रामावत सप्रदाय का उल्लेख भी नही किया है। बाबू श्यामसुदरदास लिखते है—''कासी मे हम प्रगट भये है रामानद चेताए'' कबीर का यह वाक्य इस बात के प्रमाण मे प्रस्तुत किया जाता है कि रामानद जी उनके गुरु थे। जिन प्रतियो के आधार पर इस ग्रथ का सपादन किया गया है उनमें यह वाक्य नही है और न ग्रथ साहब ही मे यह मिलता है। अतएव इसको प्रमाण मानकर इसके आधार पर कोई मत स्थिर करना उचित नही जँचता। केवल किवदती के आधार पर रामानद को उनका गुरु मान लेना ठीक नही। यह किवदती भी ऐतिहासिक जॉच के सामने ठीक नही ठहरती। रामानद की मृत्यु अधिक से अधिक देर मे मानने से सवत् १४६७ मे हुई, इसके १४ या १५ वर्ष पहले भी उनके होने का प्रमाण विद्यमान है। उस समय कबीर की अवस्था ११ वर्ष की रही होगी, क्योकि हम ऊपर उनका जन्म सवत् १४५६ सिद्ध कर आए है। ११ वर्ष के बालक का घूम फिरकर उपदेश देने लगना सहसा ग्राह्य नही होता। और यदि रामानद जी की मृत्यु सवत् १४५६ के लगभग हुई तो यह किवदती झूठ ठहरती है, क्योकि उस समय तो कबीर को ससार मे आने के लिये अभी तीन-चार वर्ष रहे होगे।

पर जब तक विरुद्ध दृढ़ प्रमाण नही मिलते, तब तक हम इस लोक प्रसिद्ध बात को कि रामानद जी कबीर के गुरु थे, बिल्कुल असत्य भी नही ठहरा सकते। (क ग्र , भूमिका, पृ १८)।

बाबू श्यामसुदरदास के इस लबे उद्धरण से स्पष्ट है कि रामानद कबीर के गुरु थे। यह प्रमाणपरक नही परपरापरक है। इस परपरा मे कुछ अन्य बाधाऍ भी है। पहली तो यह कि क्या रामानद जी महाराज आचार्य रामानुज की शिष्य परपरा मे आते है ? प्राय कबीर दास जी और तुलसीदास जी दोनो की गुरु परपरा रामानुजाचार्य और आचार्य रामानद की मानी जाती है। किंतु कबीरदास जी और तुलसीदास जी की मान्यताओ मे अनेक मौलिक भिन्नताऍ है। आचार्य रामानुज, आचार्य रामानद एव गो० तुलसीदास अद्वैत की अपेक्षा विशिष्टाद्वैतवादी है। जबकि कबीर साहब अद्वैतवादी है। जैसे गो० तुलसीदास को अद्वैतवादी मानने मे कठिनाई होती है वैसे ही कबीरदास जी को विशिष्टद्वैतवादी मानने मे कठिनाई होती है। यो आग्रही विद्वानो को कभी कोई कठिनाई नही हुई।

दूसरी कठिनाई यह है कि स्वय रामानद जी के लोग उन्हे रामानुज संप्रदाय से भिन्न मानते है। उनका तर्क है कि रामानद और रामानुज मे अनेक महत्वपूर्ण भेद है—उदाहरण के लिये श्रीमठ, पचगगा घाट, वाराणसी की स्मारिका (१९८९) पृ ७२,७३ पर कहा गया है—

	रामानंद संप्रदाय		रामानुज संप्रदाय
१	परात्पर ब्रह्म श्री राम जी है।	१	रामानुज सप्रदाय के परात्पर ब्रह्म श्री नारायण है।
२	नद सप्रदाय का मत्रराज रा रामाय	२	रामानुज सप्रदाय का मत्रराज ओम् नमो

	नम है।		नारायणाय है।
३	इस सप्रदाय का नाम श्री सम्प्रदाय, रामानद सप्रदाय, रामावत या वैरागी सप्रदाय है।	३	रामानुज के संप्रदाय का नाम श्री सप्रदाय या लक्ष्मी संप्रदाय है।
४	सपूर्ण भगवन्नामो से प्रेम रखते हुए श्रीराम मंत्र सर्वोत्कृष्ट है।	४	रामानुज सप्रदायो मे श्री राम के अलावे और मत्र तुच्छ है।
५	रामानद सप्रदाय मे ऋक्, यजु, साम, अथर्व ही वेद माने जाते है।	५	रामानुज संप्रदाय मे द्रविड़ प्रबधम् भी माना जाता है।
६	नाम दासान्त, प्रसादात एव शरणान्त रहता है।	६	इनका प्रयोग नही होता है।
७	तुलसी की कठी सतत् धारण करना होता है।	७	मत्र जप के बाद कठी उतार दी जाती है।
८	किसी भी व्रत मे रात दिन उपवास।	८	रामनवमी एव जन्माष्टमी को जन्म के बाद पारण।
९	भक्ति का अधिकारी मनुष्य मात्र।	९	वेदादि पढ़ा द्विज ही।
१०	पूजन मे शख प्रयोग।	१०	शख अस्पृश्य।
११	शालग्राम के साथ गोमती चक्र।	११	ऐसा नही होता।
१२	पच सस्कार।	१२	पच सस्कार नही
१३	हनुमान पूज्य, उनका प्रसाद ग्रहण।	१३	हनुमान की पूजा नही, उनका प्रसाद अस्पृश्य।
१४	मदिरो मे राम, लक्ष्मण, जानकी की प्रतिमा।	१४	लक्ष्मीनारायण की प्रतिमा।
१५	चतु सप्रदाय (रामानद, विष्णु स्वामी महत्त्व एव निम्बार्क) के मदिरो मे साष्टाग दडवत् की प्रथा।	१५	अन्य सप्रदाय दडवत् की प्रथा नही।
१६	रक्तश्री, श्वेतश्री (लश्करी) गोल श्री (विन्दुश्री) लुप्तश्री (चतुर्भुजी) एव चद्र विदु इत्यादि तिलक भेद है।	१६	मात्र रक्तश्री लगायी जाती है।
१७	ध्येय श्रीराम और गेय बाल्मीकि रामायण।	१७	ध्येय लक्ष्मीनारायण, गेय कुछ भी नही।
१८	विरक्त परपरा।	१८	गृहस्थ परपरा अधिक।
१९	जटा भस्म आदि।	१९	जटा भस्म कदापि नही।
२०	दीक्षा सस्कार सभी प्रकार के विरक्तो को देने का अधिकार।	२०	दीक्षा सस्कार केवल गद्दीधारी ब्राह्मण ही दे सकता है।

इस सूची को देखने से स्पष्ट है कि इनमे समानता और असमानता दोनो है। मूल बात है श्री को लेकर। श्री लक्ष्मी भी है। सीता भी है। हॉ, नारायण और राम का अतर महत्त्वपूर्ण है।

तो क्या किसी बड़े आचार्य को अपने सप्रदाय मे इतना अंतर करने का अधिकार नही है ? यह भी सभव है कि आचार्य रामानद ने रामानुज, दक्षिण की कोई दूसरी परपरा (विशेषकर कुलशेखर आलवार की) एव कुछ उत्तर की आवश्यकताओ के अनुसार जोड़ा हो। इसलिये भी दोनो आचार्यो का सिद्धात पक्ष विशिष्टाद्वैत है। जो थोड़ी भिन्नता है वह उपास्य के नाम और साधना पद्धति सवधी। इस पर अधिक विस्तार का अवसर नही है।

रामानद और रामानुज की तुलना की उक्त चर्चा का उद्देश्य यह दिखाना है कि अपने आचार्य और पीठ की स्वतत्रता के स्थापना के कारण आजकल अधिक विचार हो रहे है। ऐसा नही होता तो स्मारिका मे सत कबीर एव आचार्य रामानद के सप्रदाय की उपासना की भी तुलना की जाती है। क्योकि कबीरपथ और रामानंद सप्रदाय मे ऊपर के दो संप्रदायो से अधिक अतर है। उदाहरणस्वरूप कुछ बाते कही जा सकती है–

	कबीर पंथ		**रामानंदी संप्रदाय**
१	दड नही	१.	दडधारी
२	वस्त्र सफेद	२	गेरुआ
३	कबीर मठ	३	श्री मठ
४.	मूर्ति पूजा का विरोध	४.	मूर्ति पूजा
५	वेदो से कोई मतलब नही	५	वेद की मान्यता
६	सीता की चर्चा तक नही	६.	सीता श्रीरूप मे उपास्य
७	लक्ष्मण, हनुमान भी नही	७	लक्ष्मण, हनुमान भी उपास्य
८	सस्कृत विरोधी	८.	सस्कृत समर्थक
९	लोकभाषा के परम प्रचारक	९	लोकभाषा के प्रति आग्रह नहीं
१०	निर्गुण मार्ग	१०.	सगुण, निर्गुण मार्ग
११	पथ का सगठन	११	वैरागी (लड़ाकू) सगठन
१२	,राम मत्र	१२	रा रामाय नम

इस प्रकार अनेक बताए जा सकते हैं। कबीर साहब अपनी रचनाओ मे कहीं भी तुलसी की माला की चर्चा नही की है। जबकि रामानद के सप्रदाय मे तुलसी माला अनिवार्य है। कबीर साहब संपूर्ण बाह्याडबर के विरोधी हैं। रामानद ने बाह्याडबर का वैसा खडन नही किया। बाद मे कबीर पथ मे कबीर साहब की आराधना आरभ हो गयी। यह आराधना इतनी प्रबल हुई कि इसके नियमादि बने। किंतु सत कबीर के साहित्य मे आराधना एव परवर्त्ती कर्मकाडो की चर्चा नही है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी वैष्णव सप्रदाय अहिंसावादी है। हिसा और बलि मे किसी का विश्वास नहीं है। रामानदी सप्रदाय मे भक्ति, ज्ञान और योग का मिश्रण है। यही बात सत कबीर के साहित्य मे भी है। जातिपाँति, छुआछूत का विरोध भी समान है। दोनो सप्रदायो मे ब्रह्मचर्य पर जोर दिया गया है।

रामानदी सप्रदाय के श्रीमठ के आचार्य स्वामी श्री रामनरेशाचार्य कबीर सप्रदाय, निरंकारी, रविदासी, घीसापथी, रामस्नेही, गरीबदासी इत्यादि को अपनी शाखा मानते है। किंतु इनकी तुलना नहीं करते। क्यो और कैसे इन सप्रदायो से इनकी इतनी भिन्नता है ? रामानंद सप्रदाय शुक्ल यजुर्वेद अ ३१, मत्र २२ मे आए श्रीश्चते लक्ष्मी च पत्न्यौ के आधार पर ब्रह्म की दो पत्नियो का विचार करता है। इनके यही श्री सीता है। रामचरितमानस मे अनेक बार सीता को श्री कहा गया है–

१. आगे राम सहित श्री भ्राता। १।५४।४
२. उभय बीच श्री सोहति कैसी। ३।७।४
३. तदपि अनुज श्री सहित खरारी। ३।११।१८
४. बसहु हृदय श्री अनुज समेता। ३।१३।१०

इस प्रकार सीता के लिये करीब बारह श्री शब्द का प्रयोग है। इस दृष्टि से तुलसीदास रामानदी सप्रदाय के अधिक निकट दिखाई पड़ते है। कबीर साहब का श्री, सीता या लक्ष्मी से कोई सबध नही है। कबीर साहब मे दास्य और कांताभाव दोनो है। किंतु आचार्य रामानद के संप्रदाय मे कांताभाव का स्थान नही है। रामानद जी ने वैष्णवमताब्ज भास्कर मे शास्त्र समत कर्म विधान पर जोर दिया है। कबीरदास जी इस पर मौन है। इसी ग्रथ मे शर, चाप, ऊर्ध्वपुड्र, तीर्थ, रथोत्सव आदि का महत्त्व स्थापित है। यह कबीर से भिन्न है। किंतु भक्ति के लिये जाति, कुल, रूप, योनि आदि के किसी भी निषेध के दोनो विरोधी है। यद्यपि यह भी सच है कि दोनो मे स्त्री का निषेध प्राय है।

स्वामी रामानद और कबीर दोनो ही राम भक्त थे। इसलिये दोनो मे अनेक समानताओ का होना स्वाभाविक है। किंतु असमानताओ की अस्वाभाविकता सकेत करती है कि संत कबीर रामानद जी से दीक्षित नही थे। जैसे रामानद जी रामानुज सप्रदाय के नही थे। यह भी संभव है कि समय पाकर इन्होने अपने को गुरु परपरा से भिन्न कर लिया। यह भिन्न करने की प्रवृत्ति प्रथा न होती तो सप्रदायों का विकास ही सभव न था। शोध चाहे जो भी कहे किंतु लोक और विश्वास आचार्य रामानद को आचार्य रामानुज और सत कबीर को रामानद की परपरा का मानता है। शोधो से इस मान्यता मे अंतर आना कठिन है। बीजक मे एक स्थान पर कबीर रामानद को राम रस मत्त मानते है–

रामानंद रामरस माते

इससे भी कुछ पता नही लगता है। हाँ, रामरस माते से एक सकेत मिलता है कि रामानद भी विष्णु के उपासक नही थे। यही बात रामानदी सप्रदाय के लोग भी कहना चाहते है। कबीर के राम भी विष्णु के अवतार नही है। अत दोनो में विष्णु या नारायण के स्थान पर रामोपासना की समानता है। ऐसे में दोनो को वैष्णव कहना क्या उचित होगा ? गुरु मिलिए रामानद वाली सारी बात परवर्ती जान पड़ती है।

नाभादास जी के भक्तमाल मे रामानद को कबीरदास का गुरु माना गया है। किंतु नाभादास के कथन की प्रामणिकता कैसे पुष्ट होगी ?

सूरदास ने अपने गुरु का स्पष्ट नाम आचार्य वल्लभ बताया है। कबीर और तुलसी मे स्पष्टता नही है। इसका कारण है। भक्ति की चरमोपलब्धि मे गुरु का महत्त्व भी नही है। जैसा कि योगवासिष्ठ (६.११८.४) मे कहा है–

न शास्त्रैनोपि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्वस्थया धिया।

ईश्वर का दर्शन न शास्त्र न गुरु से होता है। यह तो अपनी सत्त्वस्थ बुद्धि द्वारा भीतर देखने की वस्तु है।

ईश्वर की अस्वीकृति

यह सर्वमान्य बात है कि संत कवीर अवतार को अस्वीकार करते है। इस सदर्भ मे उनकी प्रसिद्ध उक्ति है–

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।

कहते है गो० तुलसीदास ने इस 'आना' को आधार बनाकर ही पार्वती को शिव द्वारा कहलाया–

तुम जो कहा राम कोउ आना।
जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना।

किंतु बात इतनी ही नही है। यह बात कही जा चुकी है कि कवीर के राम पूर्णत निर्गुण नहीं हो सकते। क्योकि पूर्ण निर्गुण का कथन सभव नही। स्वय तुलसीदास ने नाम को निर्गुण और सगुण के बीच की स्थिति माना है। उभय प्रवोधक कहा है। भगवान् के अस्ति, भाति, प्रिय ये तीन रूप है। नाम और रूप जगत रूप हैं। कवीर पूर्णत रूप वाले भले न हो नाम तो उनका महत्वपूर्ण आधार है। नाम सभी भक्तो सतो मे सामान्य एव सर्वमान्य तत्त्व हैं। स्मरण और अभिव्यक्ति का आधार नाम ही है। इससे कभी नहीं समझा जा सकता कि कबीर सगुणोपासक है। सगुण तत्त्व आ जाने के बावजूद वे सगुण की प्रत्येक सभावना को अस्वीकार करते है। नकार उनका महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

किंतु एक दूसरी बात कहनी है। वेदातानुसार ईश्वर की सत्ता भी सोपाधिक है। वेदात सार (सदानद योगीन्द्र कृत) मे निखिलानंद का कथन है कि ईश्वर शब्द वेदांत मे विशिष्ट अर्थ रखता है। वेदातिक ईश्वर की निरपेक्ष सत्ता मे विश्वास नही करता है। अज्ञान सवद्ध ब्रह्म ही ईश्वर कहा जाता है। पृ० ७९। जव ईश्वर ही सोपाधिक है तो उसके अवतारो को मानने का कहाँ सवाल उठता है? ऐसे मे कवीर न केवल कि अवतार विरोधी हैं बल्कि वे ईश्वर की सत्ता के भी विरोधी है। वे वेदात की मान्यता से पूर्ण सहमत है।

ईश्वर का सबध सगुण-साकार से है। वेदात दृष्टि मे सभी सगुण साकार नाशवान है। सगुण का अर्थ है सत्त्व, रज, तम से बना या इन तीन गुणो से युक्त अगर कबीर इन गुणो की स्वतत्र सत्ता स्वीकार कर ले तो उनका निर्गुण बाधित हो जायगा। फिर सब कुछ सगुण की परिधि मे आ जायगा। इसलिये कबीर केवल ब्रह्म को ही सर्वनिरपेक्ष सत्ता मानते है। यही कारण है कि कबीर बार-बार यह भी नही, यह भी नही का प्रयोग करते है। जो भी दृश्य है वह सब मिथ्या है। अज्ञान मूलक है। इसीलिये अवतार तो क्या ईश्वर की सत्ता भी भ्रम है।

ईश्वर को मानने मे एक कठिनाई और है। वेदांत मान्यता मे तदाकारिता अतिम उपलब्धि है। ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है–ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। यह तभी सभव है जब आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक हो। जीव ब्रह्म से भिन्न न हो। आचार्य शकर स्पष्ट कहते हैं जीवो ब्रह्मैव नापर। एक ही पानी बर्तनो की भिन्नता के कारण भिन्न दीखता है। वैसे ही माया का आधान पाकर जीव और ब्रह्म अलग-अलग दीखते है। अलग-अलग अनुभूति करते हैं। जीव मे जड़ के प्रति वासना का विकास होता है। जड़ की वासना के कारण लोभ, मोह,

द्वेषादि षड्वर्गो की स्थिति उत्पन्न होकर दुख का कारण बनती है। सतो का काम है लोक को जड़ की वासना से निवृत्ति की शिक्षा देना। उन्होने आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति की है। अनुभूति के बाधक-साधक तत्वधर्मो को समझा है। समझकर ऐक्य विरोधी तत्त्वो से मुक्ति पायी है। उसे ही वे लोक कल्याणार्थ कहते है। जीव और ब्रह्म भिन्न होते तो इनकी एकता सभव नही थी। दो भिन्न तत्त्वो की एकात्मकता नही होती है।

अब सवाल उठता है दोनो एक ही है तो भक्ति कौन करेगा ? किसकी करेगा ? यह प्रश्न तब और महत्त्वपूर्ण बन जाता है जब हम कबीर को भी भक्ति करते देखते है। बहुतो का ख्याल है कि वेदाती या अद्वैती दृष्टि से भक्ति सभव नही। किंतु कबीर तो वेदात के अद्वैत और भक्ति दोनो मे विश्वास करते है। इसे अज्ञानमूलक कहकर नही टाला जा सकता है। पुन वेदात की ही बात आती है। योगी सदानद ने ईश्वर का रूप जीव से भिन्न और विशिष्ट माना है– इस (उपाधि) से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञता, सबका ईश्वर तथा सर्वनियता आदि गुणो वाला अव्यक्त, अतर्यामी, ससार का कारण रूप तथा ईश्वर आदि (नामो से) व्यवहृत किया जाता है। जो सर्वज्ञाता, सर्ववित् है, इत्यादि श्रुत्यनुसार यह सपूर्ण अज्ञान का प्रकाशयिता है (वही, पृ ७८)। इसी के समर्थन मे मुडकोपनिषद् का एक उद्धरण प्रस्तुत है–

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते।

अर्थ– "जो सबको (सामान्य रूप से) जाननेवाला और सबका विशेषज्ञ है तथा जिसका ज्ञानमय तप है उस (अक्षर ब्रह्म) से ही यह ब्रह्म (हिरण्य गर्भ), नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है।"

इस श्लोक मे य (जो) तथा तस्माद् (उस) ये दोनो शब्द ब्रह्म के दो रूपो की ओर सकेत करते है। पहले को अक्षर ब्रह्म और दूसरे को हिरण्यगर्भ कहा गया है। हिरण्यगर्भ को ही आचार्य शकर ने कार्यब्रह्म कहा है (मुडको० १। १। ९)। इससे पता लगता है कि जिसे ईश्वर कहा जाता है वह ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है। जीव से भिन्न और विशिष्ट। इसे पेड़ और वन के भेद से भी बताया गया है। ईश्वर समूह उपाधि वाला और जीव व्यष्टि उपाधि वाला है। ईश्वर वन है और जीव वृक्ष। समूह उपाधि महान् है। ईश्वर की यह समष्टि (समूहोपाधि) सबका मूल कारण होने के कारण कारणशरीर, आनद का प्राचुर्य होने के कारण समष्टिभूत अज्ञानात्मा को कोश के तुल्य आवश्यक होने के कारण 'आनदमयकोश' तथा सूक्ष्म व स्थूल जगत् प्रपच के लयस्थान होने के कारण सुषुप्ति कहलाती है। (वेदात सार ३९ का अनुवाद)।

इन उद्धरणो से एक बात स्पष्ट है कि ईश्वर की सगुणता जीव और जगत जैसी नही है। ईश्वर मूलत ब्रह्म ही है। ब्रह्म से उसका अलगाव कामचलाऊ है। इसीलिये सत कबीर एक तरफ तो सबका निषेध करते है। क्योकि दृश्य ब्रह्म नही हो सकता। दूसरी ओर भक्ति करते हैं। भजते है। नाम जपते है। ऑखो मे रूप देखते है। योग प्रक्रियाओ द्वारा साक्षात्कार करते है। सेवक बनकर समर्पण करते है। प्रतीक मे बने पति- पत्नी भाव को भी सगुण आधार देते है। बिना किसी आधार के पूर्णत शून्य का प्रतीक भी नही बन सकता। प्रतीक स्थूल मूर्ति है। किंतु उसके पहले मानसी मूर्ति की सृष्टि होती है। मानसी सृष्टि भी सगुण है। क्योकि मन भी सगुण है। मन की सगुणता के कारण ही कबीर परमतत्त्व को मन की पकड़ के भी बाहर मानते है–

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ।
मन पवन का गमि नहीं, तहाँ पहूँचे जाइ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सत कबीर ईश्वर का सगुणोपासक जैसा रूप न मानकर भी वेदात की सीमा मे भक्ति का आधार खोज लेते है। फिर भी कबीर ने ईश्वर को स्पष्टत स्वीकार नही किया। फलस्वरूप सद्‌गुरु ही ब्रह्म या ईश्वर का पर्याय हो गये। सद्‌गुरु की पूजा का आरंभ हुआ। इसलिये कि सद्‌गुरु पूर्णत स्थूल है। स्पष्ट है। इद्रिय सवेदना का विषय है। सत कबीर के साहित्य मे गुरु को पूज्य सेव्य मानने के तत्त्व मौजूद है। जब वे गुरु को गोविंद से भी बड़ा कहते है तो स्पष्टत इसी बात की ओर सकेत करते है। एक दो बार तो उन्होने अपने को ही परमात्मा के रूप मे घोषित किया है– हमही आपु कबीर कहावा।

गोस्वामी तुलसीदास के राम के भी तीन रूप है– राजा राम, मर्यादा पुरुषोत्तम राम एव ब्रह्म राम। कहा जा सकता है कि कबीर के ब्रह्म निरपेक्ष भी हैं। किंतु साधना और भक्ति के लिये उनका एक उस ब्रह्म रूप से कुछ भिन्न रूप भी है। इसे स्पष्टत' ईश्वर न कहकर भी कुछ ईश्वर जैसा ही कहा गया है।

●

रमैनी

रमैनी नाम देखकर स्पष्ट होता है कि यह शब्द रामायण के वजन पर बना है। आज-कल रामायण से सामान्य तात्पर्य तुलसी के रामचरितमानस से है। सामान्य लोग रामचरितमानस ही क्यो कवितावली को कवित्त रामायण, राधेश्याम कथा वाचक द्वारा लिखी राम कथा को राधेश्याम रामायण कहते है। कबीरदास भी राम के उपासक थे। सभव है शिष्यो के मन में राम की रमैनी की कल्पना आयी हो। स्वय कबीर साहब ने ही रमैनी लिखी हो। एक सदेह उपजता है। इस सदेह के कारण है। एक यह। तुलसीदास जी ने एक दोहे मे साखी सबदी का उल्लेख किया है–

साखी सबदी दोहरा किहि कहिनी उपखान।

भगति निरूपहि भगत कलि निंदहिं बेद पुरान।

इसमे रमैनी की चर्चा नही है। इससे संदेह होता है कि उस समय तक रमैनी नही लिखी गई थी। सभव है रमैनी के अति प्रचलन के अभाव मे गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि उधर न गयी हो। क्योंकि लोक मे प्राय साखी और सबद ही अधिक प्रचलित है। सत कबीर का सामान्य पाठक साखी अर्थात् दोहरा = दोहा और सबद अर्थात् पद को ही अधिक गाता है। सभव है कि रमैनी सप्रदाय मे ही रह गयी हो। बीजक मे, सभी बीजको मे रमैनी है। और बीजक गुप्त धन के समान है। इसे सामान्यत. लोक या अनाधिकारी से बचाया जाता है। सप्रदाय की मान्यतानुसार रमैनी की सख्या ६ लाख ९६ हजार मानी जाती है।–छ लाख छानबे सहस रमैनी एक जीव पर होय–बीजक की भूमिका, श्री हुजूरमणि प्रकाश साहब, सीया बाग, बड़ौदा १९५५ ई. (डॉ० शुकदेव सिह–सपादक, बीजक, पृ १ पर उद्धृत)। स्पष्ट ही यह सख्या अत्युक्ति पूर्ण लगती है। किंतु डॉ० शुकदेव सिह के मतानुसार सभी बीजको मे रमैनी की सख्या ८४ है (वही, पृ २)। फिर गो० तुलसीदास ने रमैनी का उल्लेख क्यो नही किया ? क्या कहिनी और उपखान मे रमैनियो को सम्मिलित माना जाय ? किंतु कहानी और उपाख्यान का संकेत तो प्रेममार्गी कवियो से लिया जाता है। यह भी पता लगता है कि दोहे और चौपाई की परपरा पुरानी है। सभव है कबीर साहब ने कुछ रचनाएँ इन छदो मे की हों। नाभादास ने कबीर की रमैनी को स्वीकार किया है–हिंदू तुराक प्रमान रमैनी सबदी साखी।

एक कठिनाई और है। स्वय कबीर साहब ने एक जगह कहा है–साखी सबदी गावत भूले आतमराम न चीन्हा। यहाँ भी रमैनी का उल्लेख नही है। अब तो कहा नही जा सकता कि कबीर साहब भी रमैनी से अपरिचित थे। अगर रमैनी उनकी रचना है तो उसका उल्लेख करना चाहिए था। यहाँ तो किहिनी और उपखान का उल्लेख भी नही है। रमैनी का विषय भी साखी, सबदी से बिल्कुल तो नहीं कुछ भिन्न है। इसमे सिद्धात पक्ष अधिक है। किंतु अनेक रमैनियाँ ऐसी भी है जो स्पष्टत पदो (सबदी) के भावो से मिलती है। ऐसी भी रमैनियाँ है जो डॉ० श्यामसुंदरदास की प्रति मे पदावली के अतर्गत है, एव डॉ० शुकदेव सिह के बीजक और डॉ० जयदेव सिह एव डॉ० वासुदेव सिह द्वारा सपादित रमैनी के अतर्गत है। इनमे मात्र दो का उदाहरण संभव है। डॉ० श्यामसुंदर दास एव डॉ० माताप्रसाद गुप्त की कबीर ग्रथावली मे–

जौ पै करता बरण बिचारै, तौ जनमत तीनि डाँड़ि किन सारै ।।टेक।।

उतपति ब्यंद कहाँ थैं आया, जो धरी अरु लागी माया।

दूसरा है– **बोलनाँ का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई।**

बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्याँ क्यूँ होई बिचारा।

उक्त तीनो सपादको ने इन्हे रमैनी के अतर्गत रखा है। यह तुलना और भी अधिक हो सकती है।

कहना इतना ही है कि रमैनी बिल्कुल भिन्न रचना नही है। एक कई प्रकार की भाषाशैली तथा विषयवस्तु का प्रयोग करता है। फलत लोगो को एक ही लेखक को कई लेखक मानने का भ्रम हो जाता है। निराला जी ने राम की शक्ति पूजा लिखी है तो कुकुरमुत्ता की भाषा शैली बिल्कुल भिन्न है। ऐसे ही प्रसाद के 'काव्य कला तथा अन्य निबध' की भाषा शैली प्रसाद की कहानियो और नाटको की भाषा से बिल्कुल भिन्न है। प्रेमचद ने जब जो समझा लिखा। अब उन्हे अपनी पार्टी विचारधारा के अधिक नजदीक लाने के क्रम में लोग उनकी कुछ ही रचनाओ को प्रमाणिक मानते है। शेष के बारे मे कहना चाहते है कि वे प्रेमचंद की प्रतिनिधि रचनाएँ नही है। प्रेमचद ने उन रचनाओ से मुँह मोड़ लिया था। जिन्हे वे मानते है उनकी व्याख्या भी पार्टी पक्ष मे करते है। ऐसे ही कबीर की साखियो, सबदो और रमैनियो का विभाजन भी स्वय कबीर साहब का न होकर दूसरो का है। अपनी सुविधा के लिये लोगो ने साखियो मे जीव, सबद मे ब्रह्म एव रमैनी मे जगत सबधी विचारो की चर्चा की है। वस्तुत जीव, जगत और ब्रह्म विचार ही सतो के विचार है। इसीलिये तीनो मे तीनो के विचार मिले है। रमैनी मे एक स्थान पर स्पष्ट कहा है कि परमतत्त्व अकथनी है। परमतत्त्व राम की रमैनी अर्थात् चरित्र का गुणगान नही हो सकता है–

जाकर नाम अकहुआ रे भाई, ताकर काह रमैनी गाई।

यहाँ रमैनी से अर्थ है राम की कथा या गुणानुवाद। अब स्पष्ट है कि रमैनी का विषय क्या है ? यहाँ सकेत ब्रह्म से है। सत कबीर उच्च कोटि के साधक थे। अत उनकी सभी रचनाएँ परमतत्व के साक्षात्कार का परिणाम हैं। इसलिये साखी (साक्षी) शब्द के आधार पर केवल साखियो को स्वसवेद्य या स्वानुभूत मानना ठीक नही है। सभी रचनाओ मे समानता हो। सभव है सत कबीर ने दोहो और पदो मे अलग-अलग समयो मे गाया हो। इन्हे साखी, सबदी, रमैनी नाम शिष्यो ने अपनी सुविधा के लिये दिया हो।

कहरा, बसत, बेलि, बिरहुली, चाचरि, हिंडोला चौंतीसा, विप्रमतीसी आदि काव्यरूपो को कबीर की रचना मानने मे कठिनाई जान पड़ती है। कबीर के जिस मुक्त व्यक्तित्व की कल्पना हमारे दिमाग मे है, लोक चित्त मे है उसमे ये रचनाएँ बाधा पहुँचाती है। केवल मिलते विचारो के आधार पर कुछ कहना कठिन है। कबीर के नाम पर जो अनेक 'कबीरा', 'जोगीड़ा' आदि का प्रचार पाया जाता है उनका आरभ इनसे जोड़ा जा सके तो आश्चर्य नहीं। अनेक सग्रहकारो ने इन्हे अप्रामाणिक मानकर अपने सग्रहो मे स्थान नही दिया है।

अत मे यह कि रमैनी के बारे मे जब तक कुछ निश्चय न हो जाय परपरा के अनुसार इन्हे सत कबीर की रचना मानकर सग्रहो मे स्थान देना ही होगा। एक महान् रचनाकार जिसकी सारी की सारी रचनाएँ अलिखित और लोककठ, वह भी अव्यवस्थित लोककठ मे प्रचलित है उनके प्रमाणिक पाठ के बारे मे अतिम निर्णय हो भी क्या सकता है? केवल मानने की बात है।

●

समाज सुधारक

पुराने कवियो का अध्ययन समाज सुधारक के रूप मे नही किया जाता था। कालिदास, भवभूति, माघ, दडी आदि को कोई समाज सुधारक नही कहता है। इसके दो बड़े कारण है— एक यह कि ये कवि अपनी कविता के लिये प्रसिद्ध है। कविता का अर्थ है सौदर्य तत्त्व। भावो का सौदर्य, भाषा का सौदर्य, अभिव्यक्ति का सौदर्य और अत मे पुरुष, प्रकृति एव जगत का सौदर्य। इसी प्रकार विद्यापति, जयदेव, चडीदास, केशव, देव, बिहारी, घनानद आदि कवियो का अध्ययन भी समाज सुधारक के रूप मे नही किया जाता है। क्यो ? क्या ये कवि समाज निरपेक्ष थे इन्हे समाज से कुछ भी लेना देना न था ? क्या ये समाज विरोधी तो नही थे ? किंतु समाज विरोध भी एक ढग की सामाजिक चेतना है। विरोध मे भी सामाजिकता का महत्त्वपूर्ण लगाव और चेतना है। किंतु संतो और भक्तों की सामाजिकता का अध्ययन बड़े पैमाने पर हुआ है। जब कि सच्चाई यह है भक्त और सत उक्त कवियों की अपेक्षा अधिक समाज निरपेक्ष कहे जा सकते है। सभी भक्त संत मुक्ति साधना मे मस्त है। हॉ, एक अतर भी है। निर्गुण-निराकार की ओर झुके सत की मुख्य दृष्टि मुक्ति की ओर है। जब कि सुगणोन्मुख भक्त भक्ति पर जोर देते है। निर्गुण की अपेक्षा सगुण साधना मे सामाजिक सुधार की सभावना अधिक है। भक्ति का उद्देश्य परमात्म एकात्मकता है। सत (या साधु) का उद्देश्य समाज सुधार न भी हो तो उनकी वाणी मे ही सुधार की प्रेरणा रहती है। उनका आचार लोक को आचारवान् बनाता है। उनका व्यक्तित्व सकेतित करता है। वे मानवता के माडल होते है। इसीलिये वे एक होते है। जब कि कबीर कहते है कि साधुओं की जमात नही चलती तो उनका सकेत उसी माडल की ओर है। माडल या आदर्श प्रतिमा अनेक नही एक होगी। यहॉ बहुवचन के लिये स्थान नही है। साधु, सत, महात्मा ये सब एक वचन शब्द है।

सत, महात्मा, साप्रदायिक या पथी बनने का उपदेश नही देते। उनका आचरण किसी खास समुदाय या देश काल के लिये न होकर सार्वकालिक और सार्वदेशिक होता है। इसीलिये सत कबीर ने अहिसा, सत्य और शाति (भीतरी बाहरी) पर जोर दिया। जब वे दूसरे सप्रदायो या पथो के आचरण की निदा करते है तब उसके पीछे कोई द्वेष नही होता। अपने को बड़ा कहने का भाव नही होता। भाव केवल यह होता है कि बाहरी आचरण में आनेवाले तत्त्वों को भीतर की शाति, अहिसा और सत्य से जोड़े रखना चाहिए। धर्म का मूल भीतर है। भीतर को शुद्ध रखकर ही बाहर को शुद्ध रखा जा सकता है। जब वे कहते है कि 'दढ़िया बढाइ जोगी हो गइले बकरा' तो इसका इतना ही अर्थ है कि दाढ़ी का भीतर की शुद्धता से सबंध होना चाहिए। इसीलिये प्रथम वाक्य मे कहते है--मन न रगायो रगायो जोगी कपरा। मूल बात है मन रगना। मन का परिवर्तन। क्योकि इद्रियो मे मन सबसे महत्त्वपूर्ण है। मन अगर चचल रहा। विषयो मे दौड़ता रहा तो बाहर के सारे उपाय व्यर्थ है। मन परिवर्तन के अभाव मे बाहर के सारे परिवर्तन व्यर्थ है। ससार का एक भी सुधारक ऐसा नही है जो मन परिवर्तन को अस्वीकार करता हो। बिना मन परिवर्तन के मत परिवर्तन सभव नही। गीता मे अर्जुन ने कृष्ण से कहा था मन चचल है (चंचल हि मन कृष्ण ६।३४)। । ऐसी ही बात बुद्ध ने कही थी। सत कबीर भी कहते है—

चंचल मनुवा चेत रे, सोवै कहा अजान।
यम घर जब ले आयगा, पड़ा रहेगा म्यान।

इसलिये कोई यह नही समझे कि कबीर बाहरी रूपरग या अचारण को महत्त्व नही देते है। देते है। किंतु वे बाहर को भीतर का प्रतिबिम्ब बताना चाहते है। भीतर की शुद्धता कठिन है। साधना संभव है। अत वह आवश्यक है। भीतर शुद्ध हो तो बाहर के कर्मकाड मे भिन्न होकर भी कुछ अतर नही आता।

कबीर जब हिंदू और मुसलमान, जैन और बौद्ध सबको ललकारते है। दोनो, चारो या सभी के कर्मकाड को व्यर्थ कहते है। तो केवल इस बात का सकेत करते है कि कर्मकाड महत्त्वहीन है। असल है मन की पवित्रता। चूँकि मन सभी का एक है इसलिये सबको समान मत का होना चाहिए। मन की शुद्धता की दो पद्धति नही हो सकती है। ऐसा नही हो सकता है कि हिंदू का मन और मुसलमान का मन अलग-अलग ढग से सुधारा जाय। कठिनाई तब आती है जब साप्रदायिक आग्रह के कारण मन विकृत रहता है। यह विकृत मन ही भेदभाव उत्पन्न करता है। विकृति या विकार के हटते ही भेदभाव समाप्त हो जाते हैं। सतो ने अपने मन को सुधारा था। वे चाहते थे कि दूसरो के मन भी सुधरे। साफ हो। विकार दूर हो। इसी सदर्भ मे सत कबीर निदक का महत्त्व भी स्वीकार करते है। मन बाह्य नही अतर्तत्त्व है। इसलिये मन के सुधार या स्वच्छता के उपाय भी भीतरी है। बाहर के प्रयत्नो से मन के विकार दूर नही हो सकते। कबीरदास जी ठीक कहते है–

एक जो दोस्त हमहूँ किया, जिहि गल लाल कबाय,
सब जग धोबी धोइ मरे, तो भी रंग न जाय।

कहना इतना ही है कि मन बाहरी प्रयत्नो से शुद्ध नही हो सकता है। हाँ, एक बाहरी प्रयत्न के लिये गुजाईश है। वह है निदक। कबीर शायद एकमात्र व्यक्ति है जो निदक को महत्त्व देते है–

निंदक नियरे राखिए आंगन कुटी बँधाइ।
बिन साबण पाँणी बिना निरमल करै सुभाइ।

यह निदक महत्त्वपूर्ण है। यह त्रुटियाँ बताने मे महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे साबुन और पानी अपने को नष्टकर वस्त्रादि को स्वच्छ करते है वैसे ही निदक अपना समय बर्बाद कर दूसरो के मन की मैल को दूर करता है। उसकी कमजोरियाँ बताता है। यह बात स्वय सत कबीर पर भी लागू होती है। वे जब सप्रदायवादियो के बाह्याचारो और आडबरो की निदा करते है तो उसका मतलब उन्हे नीचा दिखाना नही, सुधारना है। इस प्रकार कहा जा सकता है सत कि कबीर की दृष्टि मे मन सुधर जाय तो सारे सुधार स्वय हो जायँ।

मन तो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है। कही बाहर और दूर नही है। इसलिये उसके सुधार के प्रयत्न भी शातिपूर्वक बिना किसी हल्लागुल्ला के ही सभव है। इसीलिये कबीर अजान एव घटा-घड़ियाल, मदिर-मस्जिद दोनो को व्यर्थ बताते है। यहाँ तक कि जपना भी हो तो भीतर मे जपो। अजपा जाप जपो। भीतर सुधारना है तो भीतर मे जपो। बाहर मे जपने से फायदा ? बाहर की आवाज कौन सुनता है ? मन को सुनाना है तो मन मे, मन ही मन जपो। कितनी भी चचलता होगी, विकार होगा, कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ेगा ही, जैसे रसरी से पत्थर घिस जाता है।

इसीलिये मन के दो भाग है। विकृत मन और विकाररहित मन। विकाररहित मन ही परमात्मा मे तदाकार होता है। इसे अमनीभाव भी कहते हैं। अमन। मनरहित मन। मन का

स्वभाव है चचलता। तो यह मन निश्चल हो जाता है। किसी भी विषय की उत्तेजना से मुक्त। मन व्यक्तिगत है। अत व्यक्ति मन-का सुधार ही समाज सुधार है। सुधरा व्यक्ति मन ही समाज सुधारक हो सकता है। मन के सुधार के अभाव मे किसी समाज सुधार की आशा व्यर्थ है। यह बात अब प्राय. सर्वस्वीकृत हो रही है। बिना मन बदले किसी भी बदलाव की बात व्यर्थ है।

मन बदल कर सत कबीर एक पूर्ण मनुष्य की कल्पना करते है। वह मनुष्य जो स्वत पूर्ण हो। जिसे अपनी पूर्णता और आवश्यकताओ के लिये दूसरो पर निर्भर न रहना पड़े। जो दूसरो की पूर्णता मे बाधक न हो। जो अपनी आवश्यकताएँ इतनी सीमित रखे कि वह दूसरो की आवश्यकताओ मे बाधक नही बने। सत कबीर जब कहते है—

साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाइ।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाइ।

तो वे कई बाते एक साथ कहते है—देना प्रभु के हाथ मे है। प्रभु ही दाता है। उससे अधिक नही मॉगना है। अपने परिवार और अपने समाज के लिये मॉगना है। कितना ? जितने से शरीर यात्रा हो सके। भूख भर मिट जाय। लम्बा चौड़ा नही। साजसज्जा और आडम्बर नही। केवल 'पेट समाता लेइ'। मतलब यह कि जितने से भूख की निवृत्ति हो सके। बस। यह एक भिन्न ढग की समाज व्यवस्था की कल्पना है। यह ऐसा साधु समाज है जिसमे शोषण, सग्रह और हिसा के लिये स्थान नही है। यह अस्तेय और अपरिग्रह का समाज है।

आदमी अधिकतम सुख की आशा मे अधिकतम परतत्रता स्वीकार करता है। यह परतत्रता मनुष्य, मशीन या भौतिकता की हो सकती है। किसी भी परतत्रता के मूल मे अधिकतम सग्रह का लोभ है। अधिकतम सुखो का सग्रह। इसीलिये वे सुख और दुख दोनो को बुरा मानते है। सुख का सग्रह तो बुरा है ही। दुख का रहना भी बुरा है। सुख और दुख दोनो बुरे है—

दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख को झूरि।
सदा आनंद राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि।

सग्रह का अर्थ है जो पकड़ ले। सुख या दुख दोनो की पकड़ मनुष्य को परतत्र बनाती है। आचार्य शकर ने लोभ, मोह को दुख का कारण कहा है। लोभ, मोह ही ससार है। सत इस ससार पर अधिकार चाहता है। वह लोभ, मोह का दास न रहे। लोभ, मोह ही उसके दास हो।

महाकवि रवीद्रनाथ ने बहुत अच्छी बात कही है—हे प्रभु, मै यह नही चाहता कि आप विपत्ति मे मेरी रक्षा करे। चाहता यह हूँ कि व्यक्तित्व अभय वाला हो। दुख एव व्यथा मे तुम भले ही मुझे सांत्वना न दो। किंतु मेरा व्यक्तित्व ऐसा बना दो जो दुख पर विजय प्राप्त कर सके—

विपदे मोरे रक्षा करो ए नहे मोर प्रार्थना,
विपदे आमि ना येन करि भय।
दुःख तापे व्यथित चिते नाइ वा दिले सान्त्वना,
दुःखे येन करिते पारि जय।

यह इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति वस्तु नही व्यक्तित्व चाहता है। वस्तु की मॉग एक प्रकार की भीख जैसी है। नही, भीख नही। व्यक्तित्व का निर्माण। अतर का विकास। रवीद्र और कबीर दोनो ही अतर का विकास चाहते है। कबीर का आत्म विकास प्रसिद्ध है। रवि

बाबू भी 'अतरूविकास' की प्रार्थना करते है।

सतो का विश्वास है कि सच्चा व्यक्ति कभी भूखा नही रह सकता है–

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँडा घड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरन जोग।

इसलिये आर्थिक पक्ष से मनुष्य को निश्चित रहना चाहिए। सपत्ति ईश्वर विरोधी है। सपत्ति मे ईश्वर नही है–सपटि माँहि समाइया सो साहिब नहि होइ।

इसलिये सत मधुकरी को पसद करते है–

मीठा खाण मधुकारी भाँति भाँति को नाज।
दावा किसही का नहीं बिन बिलाइति बड़ राज।

दूसरी ओर वे 'माँगण' को मरण समान भी कहते है। इसका इतना ही मतलब है कि आवश्यकता से अधिक सग्रह न करो।

आर्थिक क्षेत्र मे नही सामाजिक क्षेत्र मे भी संत कबीर किसी पारिवारिक सबध को उपयोगी नही मानते है। सारे सबंध निरर्थक है। केवल परमात्मा से सबध ठीक है। मनुष्य की निजी शक्ति नही है। जो भी शक्ति दीखती है वह उसी परमात्मा की शक्ति है–

कबीर करणी क्या करै जे राम न करै सहाइ।

प्रभु की कृपा से ही दुख-सुख की प्राप्ति होती है। मनुष्य तो केवल कर्म कर सकता है। फल प्रभु के अधीन है। सत कबीर जब जाति व्यवस्था की निदा करते है तो उसका धार्मिक एवं दार्शनिक आधार है। प्राय सभी धर्म दर्शन समतामूलक है। इसीलिये धर्म दर्शन की समता मे जाति, उसके क्रम या ऊँच नीच का कोई सवाल नही हो सकता है। इस दृष्टि से कबीर जाति व्यवस्था को अस्वीकार करते है। इसी प्रकार राजा, बादशाह और सम्राट् की अपेक्षा साधु (भक्त) बड़ा है–

अर्ब खर्ब लौं द्रव्य है उदय अस्त लौं राज।
भक्ति महातम ना तुलै, ई सभ कौने काज।

कहना चाहिए कि सत कबीर भौतिक समृध्दि के समर्थक न होकर आत्मिक ज्ञान की समृध्दि के विश्वासी है। भौतिक समृध्दि तो माया है। धन सपत्ति का लोभ मनुष्य को प्रभु विमुख बनाता है। इसलिये वह त्याज्य है। सत गठरी नही बाँधते। पेटभर ही लेते है–

संत न बाँधे गाँठरी पेट समाता लेइ।

मतलब कि जो आवश्यकता से अधिक लेता है वह असत है। संत केवल जीवन निर्वाह के लिये लेता है।

ननद भौज परपंच रचो है

परपच (प्रपच) क्या है ? प्रपच का अर्थ है सृष्टि। ससार। जगत। इसलिये कि यह जगत पच का विस्तार है। पच विस्तार का अर्थ है पॉच से बना। पच महाभूत। आकाश, वायु, अग्नि पानी और पृथ्वी। यह ससार इन्ही पॉचो से बना है। यह, वह, मै, तुम सभी इन्ही पॉचो के निर्माण है। अत सारी सृष्टि प्रपच कही जाती है। सृष्टि अत्यत उलझन भरी है। नाना प्रकार के कर्म, अकर्म और विकर्म है। पूरा कर्म जाल है। ससार मे जो भी है, इस जाल के भीतर है। इस जाल को और बढ़ानेवाला जालिया है। इस जाल को नष्ट करनेवाला, तोड़नेवाला सॉवलिया है। इसीलिये कृष्ण भक्त बार-बार इस सावलिया का स्मरण करते है। राम कृष्ण के रूप मे जो भी विश्वास करते है वे इन्हे सॉवला ही बताते है। सॉवला ही इस जाल से मुक्त करने मे सक्षम है। कबीरदास इस सॉवलिया का स्मरण नही करते। कितु सावलिया का रग नीला है। आकाश रग। वह आकाश सा नीला । सूक्ष्म और व्यापक है। बाहर विराट् है और घट मे व्यष्टि है। इसीलिये एक ही आकाश को दो नाम देते है—आकाश और घटाकाश। आकाश भी घट-घट मे व्याप्त है और प्रभु भी घट-घट निवासी है। ऐसे घटि घटि राम है, दुनियॉ देखै नॉहि।

ज्ञानी प्रपच से मुक्त रहना चाहता है। मुक्त रहता है। इसलिये प्रपंच का मुख्य धधा अज्ञानियो का है। स्वय अज्ञानी है। दूसरो को भी अज्ञान मे रखना चाहते है। अज्ञान उनका स्वभाव बन गया है। अज्ञान बढ़ता है। जाल बढ़ता है। दोनो का परस्पर सबध है। सभी जीव मछली के समान जाल मे फॅसे है। प्रपच जाल। गो० तुलसीदास कहते है—

जलचरबृंद जाल अंतर्गत सिमिट होंहि इक पासा।
एकहिं एक खत लालच बस नहिं जानहि निज नासा।—विनय०

अब एक बात साफ है कि प्रपच और कुछ नही सारा ससार ही प्रपच है। सभी प्रपच जाल मे फॅसे है। एक दूसरे का नाश कर रहे है। अपना नाश कर रहे है। जाल होता ही नाश के लिये है। नाशकारी ही जाल बिछाता है। नाशकारी अर्थात् शिकारी। शिकारी पहले फॅसाता है। लोभ देकर। फिर पकड़ता है। पकड़कर मारता है। मारकर स्वाद लेता है। वाह, खूब बना। प्रत्येक जीव जाल मे है। अत स्वाद बननेवाला है। किसी न किसी का भोज्य बनेगा। उसके भूख और स्वाद को तृप्त करेगा। हो सकता है वह ऐसा शिकारी हो जो कभी तृप्त न हो। तृप्ति क्या सहज है ? सहज होता तो नित्य शिकार क्यो होता ? शिकारी का पेशा क्यो होता ? पेशेवर शिकारी क्यो होते ? इसलिये कि भूख नित्य है। नित्य भूख नित्य शिकार की मॉग करती है। अत नित्य शिकार हो रहा है। बड़ी मछली छोटी मछली एव बलवान् कमजोर का शिकार कर रहे है। उत्तरोत्तर बलवान शिकारी बन रहा है। सभी कमजोर शिकार बन रहे है। ताकतवर और कमजोर सापेक्ष्य शब्द है। कोई कही कमजोर है। कोई कही बलवान है। समाज मे देखा जाता है कि सब एक दूसरे को दबाने में लगे है।

अब सवाल उठता है इस प्रपंच को रचा किसने ? सत कबीर कहते है यह रचना ननद भौज की है। एक नही दो की रचना है। क्यो दो ? रचना एक से भी तो हो सकती थी। दो है तो दोनो की प्रकृति मे कुछ अंतर भी होगा। दो है तो दोनो के स्वभाव का अतर भी देखना होगा। एक ननद है। दूसरी भौजाई। असल होना तो चाहिए था दोनो मे झगड़ा। कितु झगड़ा

नही मेल है। मेल भी सामान्य नही। षड्यत्री मेल। प्रपची मेल। सत कबीर व्यग्य से सकेत करते है। ननद भौजाई दोनो दुष्ट है। शरीफ औरते नही है। लड़ानेवाली है। फॅसानेवाली है। शिकारी है। इन्होने ही सबको फॅसाने का जाल फैला रखा है। सत कबीर इनके कर्म से प्रसन्न नही है। कोई भी प्रसन्न न होगा। भला यह भी कोई बात है कि जाल पसारनेवाले से कोई प्रसन्न हो। कभी शिकार शिकारी से प्रसन्न होता है। सारे जीव तो शिकार है। ये दो महिलाएँ ही शिकारी है। लोगो को फॅसाने के लिये जाल पसार रखा है। कबीर के ही शब्दो मे तिरगुन फॉस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी। मधुरी बानी भी धोखा। तीन रस्सियॉ है—सत, रज, तम। तीनो गुण। तो सारे जीव इन्ही रस्सियो से बॅधे है। वहॉ तो सत ने स्पष्ट कहा माया ठगनी के हाथ मे रस्सी है। माया ही सबको बॉधना चाहती है। फॅसाना चाहती है। मीठी बोली से, सुदर रूप से। स्वाद, गध और स्पर्श से। इसी माया ने घर मे बड़ा भारी झगड़ा लगा रखा है—

संतो घर में झगरा भारी।

राति दिवस मिलि उठि उठि लागै, पाँच ढोटा एक नारी।

न्यारो न्यारो भोजन चाहै पाँचो अधिक सवादी।

पॉच ढोटा अर्थात् पॉच ज्ञानेद्रियॉ। जीभ, ऑख, कान, नाक, त्वचा। ये बुद्धि से रोज झगड़ा करते है। बुद्धि इन्हे सयम सिखाना चाहती है। किंतु ये इतने सवादी है कि बुद्धि का कुछ भी सुनना नही चाहते है। सवादी का अर्थ है स्वाद की इच्छा वाला। स्वाद मे निमग्न रहनेवाला। यह सवादी मे स्वाद की इच्छा अधिकाधिक बढ़ने का भाव है। जैसे आग मे घी से आग और तीव्र होती है।

किंतु यहॉ भी एक ही नारी है। कबीर तो दो नारियो की बात करते है—ननद, भौज। माया जाल पसारती है। तीन रस्सी लेकर चलती है तो स्पष्ट है कि ननद भौज का सबध भी माया से है। किंतु कबीरदास माया के दो रूप नही मानते। उनके लिये माया एक है। माया बुरी है। बुरी है। बस। माया राम की है—यह माया रघुनाथ की खेलन चढी अहेरै। राम तेरी माया दुद मचावै। यहॉ इससे कुछ नही निकलता है कि माया किसकी है ? मूल प्रश्न है कि माया दो कैसे है ? इसका उत्तर कबीर साहित्य मे नही है। इसका उत्तर अन्यत्र से लेना होगा। माया के दो रूप माने गए है—विद्या माया और अविद्या माया। वेदात के प्रसग मे इसकी चर्चा आ चुकी है। 'जिस समय जीव ब्रह्म से पृथक् हुआ उसी समय माया ने उसे घेरा। उसके हृदय मे अह भाव उत्पन्न हुआ। मै और मोर के पश्चात् तू और तेरा भाव भी आ जाता है (मानस पीयूष, अरण्य०, १५।४)। इसके दो भेद है—विद्या और अविद्या। अविद्या दुख और अतिशय दुख रूप है। इसके वश मे पड़कर जीव भवकूप मे गिर जाता है। दूसरी गुणो के बस मे होकर या गुणो को बस मे कर ससार की रचना करती है। इसका बल निजी न होकर प्रभु प्रेरित है—

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।

एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।३।१५।५-६

सामान्यत सत कबीर इस भेद को नही मानते दीखते है। किंतु जब वे दो स्त्रियो के प्रपच की बात करते है तब उनके मन मे इन्ही दोनो (विद्या, अविद्या) का ख्याल रहा होगा। क्यो ससार रचना और उसकी सारी अशाति के मूल मे ये ही दोनो है।

दोनो ही ननद और भौजाई एक ही परिवार की है। विद्यामाया जीव की बहन जैसी है। क्योकि जीव ब्रह्म से उत्पन्न है तथा माया ब्रह्म की शक्ति है। अविद्या का सबध पूर्णत जीव है। जीव उसी के कारण भवकूप, विषयकूप मे पड़ा है। उससे विषय सुख की अनुभूति करता है।

अत अविद्या विद्या की भौजाई है।

चैतन्यात्मा इन दोनो ननद भौजाई के प्रपच को देखती है। ये चालाक है। यह प्रपच है तो इनका, किंतु वे इसे परमात्मा का बताती है–मोर नाम कहि लीन्हा। वास्तव मे आत्मा से असग है। प्रपच उसका काम नही है। किंतु वह सारे कर्मो का अध्यक्ष है। आश्रय है। अत उसका नाम लग जाता है। असल मे तो प्रपच से उसका कोई मतलब नही है। कबीरदास जी ने एक स्थान पर ब्रह्म को ननद का भाई कहा भी है– अब मोहि ले चल ननद के बीर अपने देसा। ननद का भाई अर्थात् पति।

मोर नाम कहि लीन्हा मे ध्वनि यह है कि संसार मे जो कुछ होता है सब माया करती है। किंतु माया इसे अपने नाम से नही चला सकती। जैसे नम्बर दो का धधा करनेवाले लेबल किसी प्रमाणिक कपनी का लगाते है। ये महिलाएँ बदचलन भी है।

निस्सीम बदचलन–

पिता सगहि भई बावरी। कन्या रहलि कुँवारी।
खसमहि छोड़ि ससुर सग गौनी, सो किन लेहु बिचारी।

माया और अविद्या की इस बदचलनी से संतो को, विचारवान् पुरुषों को आश्चर्य होता है। माया कुमारी कन्या है। ब्रह्म उसके पिता है। क्योंकि वह ब्रह्म अचिन्त्य शक्ति है। किंतु ब्रह्म के पीछे ही पागल है। ब्रह्माश जीव को परेशान करती है। आखिर जीव भी तो ब्रह्म ही है। व और ब्रह्म का भेद तो इसी माया के कारण है। जैसे कोई कोई बहू आकर घर मे फूट ल देती है। पिता पुत्र, भाई भाई, माँ बेटे मे झगड़ा करा देती है, वैसे ही माया ने पिता ब्रह्म पीछे पागल होकर बुरा कर रही है। माया का कोई भरोसा नही, कब किससे क्या संबंध कर ती।

ब करती है माया। प्रपच माया खेल है। किंतु नाम प्रभु का लिया जाता है। मोर नाम कहि ना। प्रपच माया का है। अतः बुरा है। मुक्त होने के लिये है। प्रपच प्रभु का होता तो मुक्ति आवश्यकता नही थी।

बाप जनमिया पाछै

पहले जनम पूत का भयउ, बाप जनमिया पाछै। क्या कहते है कबीरदास? कैसा विरोधाभास है ? पुत्र पहले और पिता पीछे ? भला ऐसा कही होता है ? लोग कहेगे होता क्यो नही है ? हर पुत्र बाद मे पिता बन जाता है। किंतु ऐसा भी पुत्र हो सकता है जो पिता बने ही नही। पुत्र ही बना रह जाय। किंतु यह तो आशा के विपरीत हुआ। सामान्य नहीं, असमान्य हुआ। कबीरदास जी क्या असामान्य की बात कहते हैं ? नही, वह न सामान्य है न असामान्य। हर पुत्र मे पिता बनने की शक्ति है। वह पिता का पुत्र है। पिता बनने के लिये है। पिता से पिता। पुत्रत्व तो बीच की स्थिति है। हर व्यक्ति पिता के यहाँ से आया है। पिता बनकर जायगा। पिता की यही इच्छा है। शायद पिता ने उसे यहाँ भेजा ही इसीलिये है। पेड़ शायद इसीलिये फलता है कि उससे नये पेड़ो का विकास हो। कुछ पेड़ अपनी डाली से ही पेड़ पैदा करते है। किसी न किसी रूप मे यह पेड़ का फलना है। बढ़ना और विकसित होना है। यही प्रकृति का नियम है। तो क्या सत कबीर यही कहना चाहते है ? शायद।

नही। यह भी कि सृष्टि तो निराकार की सृष्टि है। निराकार से साकार होता है। भूतवादी साकार से साकार की सृष्टि मानते है। किंतु यह साकार आया कहाँ से ? उत्तर शून्य है। क्यो होती है सृष्टि ? भूतवादी कहते है प्रकृति का नियम। प्रकृति का नियम क्यो बना ? क्यो प्रकृति सृजन, सहार और पालन करती है ? उत्तर फिर शून्य है। प्रकृति के अतर को न जानना ही शायद निराकार की खोज है। किंतु निर्गुण-निराकारवादी यह नहीं मानते। निगम आगम प्रमाण इस तर्क को नही मानते। वे मानते हैं। उन्हे पूरा विश्वास है सृष्टि चेतन का धर्म है। सपूर्ण सृष्टि के मूल मे एक ऐसा चेतन है जिसे प्रमाणो से नही, विश्वास से बताया जा सकता है। निगम प्रमाण, शब्द प्रमाण, आर्ष प्रमाण पर विश्वास करना ही होगा। ससार मे बहुत से कार्य विश्वास पर होते हैं। ऐसा नही कि सभी कार्यों के पीछे अविश्वास है। तो निगम आगम प्रमाण को मानो। उससे बात बनेगी। सत गुरु को प्रमाण मानते हैं। सद्गुरु। सद्गुरु के वचन ही आर्ष प्रमाण है। गुरु ऋषि है। अनेक वर्षो की कठोर तपस्या, साधना द्वारा उसने सत्य का साक्षात्कार किया है। इसलिये सद्गुरु के वाक्य प्रमाण हैं।

किंतु सद्गुरु के वाक्य मार्गदर्शक भर है। चलना तो स्वयं होगा। खाली सद्गुरु के वाक्य मानकर बैठा नही जा सकता है। सद्गुरु की राह पर चलकर स्वय साधना करो। गुरु सहायक है। मददगार है। इसमे श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता है। श्रद्धा रहित को ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है—श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। तो साधक का एक विज्ञान है। उस विज्ञान से भिन्न जो बाहर को देखता-दिखाता है। यह विज्ञान है अपने भीतर प्रवेश करने का। बाहर की दुनिया एक है। दूसरी दुनिया है भीतर की। बाहर की दुनिया से विराट्। सूक्ष्म और शक्तिशाली। इस दुनिया का साक्षात्कार आवश्यक है। इस दुनिया का साक्षात्कार साधना से होता है। ऋषियो ने इस दुनिया का साक्षात्कार किया था। इसीलिये उनके वाक्य प्रमाण हैं। कोई भी व्यक्ति इसका साक्षात्कार कर देख सकता है। इस दुनिया को कबीरदास कहते है कि वहाँ कोई भी भौतिक तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता। उपनिषदे कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्र तारकं।

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। -कठ० २।२।१५

यहाँ पिपीलिका के पॉव भी नही ठहरते। इतना सूक्ष्म यह संसार। बिल्कुल शून्य मे टिका है। किंतु शून्य नही है। कुछ है। कहना कठिन है। बोलने पर, कहने पर वह तत्त्व कहा नही जा सकता है। नष्ट हो जाता है। बोलत बोलत तत्व नसाई। इसे मौन द्वारा समझा जा सकता है। यह बुद्धि का खेल नही। प्रवचन, शास्त्र और मेधा इसे बताने मे बिल्कुल असमर्थ है। इसके लिये बहुश्रुत होना आवश्यक नही है। यहाँ भौतिक विज्ञान कुछ नही कर सकता है। भौतिक विज्ञान की प्रवृत्ति तो बहिर्मुखी है। बाहर की खोज है। बाहर को देखना है। अतर के अनत को देखने की शक्ति उसमे नही है।

इसीलिये सत कबीर जब कहते है कि पुत्र पहले हुआ। पिता बाद मे हुआ तो लोग आश्चर्य मे पड़ जाते है। किंतु उपनिषदे कहती है कारण ब्रह्म ने आकार गढ़ा। उस आकार मे स्वय प्रविष्ट हुआ। आकार का मतलब है जीवाकार। इस जीवाकार मे प्रभु प्रविष्ट हुआ। माडूक्योपनषिद् भाष्य मे आचार्य कहते है– यह अंतर्यामी है अर्थात् समस्त प्राणियो के भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका नियमन करने वाला भी यही है (एषोऽन्तर्याम्यन्तर प्रविश्य सर्वेषा भूताना नियन्ताप्येष एव। ६। गीता मे भगवान् स्पष्ट कहते है– मै ही सब प्राणियो के हृदय मे अतर्यामी रूप से स्थित हूँ (सर्वस्य चाहं हृदि सनिविष्टो १५। १५)। यही बात पुन कही गई है– ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (ईश्वर सभी प्राणियो के हृदय मे स्थित है १८। ६१।। बार-बार के इस 'मे स्थित' का क्या अर्थ है ? 'मे' अधिकरण है। अधिकरण की व्याख्या है– अधारोऽधिकरणम्। परमात्मा शरीर को अपने ठहरने का आधार बनाता है। इसीलिये वह हृदय मे प्रवेश करता है। कारण ब्रह्म के द्वारा सभी प्रकार की सृष्टि आकार ग्रहण करती है। अब वही ईश्वर के प्रवेश से जीवात्मा का रूप ग्रहण करती है। पहले केवल सत् (जड़) होता है। उसमे चित् (चेतना) का प्रवेश होता है। किंतु यह चित् भी पूर्ण नही है जब तक उसका सयोग आनद से न हो जाय। इन तीनो के सम्मिलित रूप को ही सच्चिदानद कहते हैं।

संत कबीर का एक प्रसिद्ध दोहा है–

झल ऊठी झोली जली खपरा फूटिम फूटि।

जोगी था सो रमि रहा आसनि रही बिभूति।

स्पष्ट है कि यहाँ झोली और खपरा के जलने और फूटने के बाद योगी चला गया। क्योंकि योगी के रहने का स्थान समाप्त हो गया। योगी अर्थात् आत्मतत्त्व ने इसी खपरे मे अनुप्रवेश किया था। अब वह वहाँ नही रहेगा। रहने की जगह नही है। जहाँ उस योगी का आसन लगता था वहाँ अब राख (विभूति) है। किंतु इस विभूति को गीता की विभूति से मिलाकर देखे। कैसा लगता है ? गीता का दशम अध्याय विभूति योग है। यहाँ अर्जुन भगवान् की विभूतियो को जानना चाहते हैं। भगवान् अपनी विभूतियो के बारे मे कहते है। सभी नही। कुछ प्रधान विभूतियाँ ही कही जा सकती हैं। सभी तो अनंत है। क्योंकि भगवान् के विस्तार का अत नही है। सभी विभूतियो को अधिकरण मे बताया गया है। कबीर भी जब कहते है 'आसनि रही विभूति' तो यह आसनि सप्तमी में है। अर्थ की दृष्टि से भी और आसनि के नि मे लगी इ इस बात को पूर्णत. प्रमाणित करती है। इ सप्तमी एक वचन ए का विकसित रूप है। अपभ्रश और हिंदी आदि भाषाओ में यह इ रूप मे मिलता है। योगी के चले जाने के बाद भी विभूति रह गयी। यश रह गया। उसकी तपस्या रह गयी। उसका प्रभाव रह गया। यह तपस्या

ही बीज है जो जन्म ग्रहण करता है। इसीलिये भगवान् सबके 'बीज' (सर्वभूताना बीजं) है। बीज अश है। विभूति अश है (मम तेजोश १०। ४१)। इसीलिये सृष्टि की प्रक्रिया मे दो चीजे है बीज और वृक्ष। दोनो एक है। सुविधा के लिये अलग दीखते है। प्रत्येक बीज मे वृक्ष की विभूति है। प्रत्येक बीज विभूति है। वृक्ष मे विभूति बीज है। बीज मे विभूति वृक्ष है। इसीलिये योगी के रम जाने पर भी विभूति है। यह विभूति ही भविष्य की आशा है। आसन ही विभूति का अधिष्ठान है। गीता ने जिसे हृदय देश कहा था उसे ही कबीर ने आसनि कहा। दोनो ही विभूति के आसन है। कबीर दास कहना चाहते है कि आसन पर या मे अधिकरण का प्रयोग तभी होगा, जब आसन का निर्माण पहले हो जाय। अत कारण ब्रह्म पहले सत्त्व सृष्टि का निर्माण करता है, पुन उसमे चित् एव आनद की स्थापना करता है। अश रूप मे स्वयं निवास करता है। अश अशी मे अभेद के कारण यह कभी नही कहा जा सकता कि कितने अंश मे और कैसे निवास करता है। अत कारण ब्रह्म जो जीव का निर्माता पिता है वह बाद मे जीव शरीर मे स्थित होता है। तभी तो अधिकरण की ठीक-ठीक संगति बैठेगी। कबीर कहते है— सकल मॉड मै रमि रह्या साहिब कहिए सोइ। यहॉ भी वही सप्तमी, अधिकरण। क्योकि मॉड (मडित) तो जड़ है। चेतन और आनद सत्ता ब्रह्म की है।

मनुस्मृति मे कहा गया है नर भगवान् से नार (जल) पैदा हुआ। नार (जल) मे घर बनाने के कारण ही भगवान् नारायण कहलाये। सूक्ष्म, अव्यक्त ब्रह्म से एक अडा पैदा हुआ। सूर्य के समान प्रकाशित यह सुवर्ण अंडा ही बीज है। कबीर भी कहते है— एकै अंड सकल चवरासी। इसी से सबके उत्पत्तिकर्त्ता पिता ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। सपूर्ण सृष्टि के कारण, अव्यक्त, नित्य, सत्, असत् स्वरूप जो पुरुष उससे उत्पन्न हुआ उसे ससार मे (ब्रह्मा) नाम से कहते है १। ११। इस प्रकार अव्यक्त से व्यक्त बीज, अडा रूप सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह कारणब्रह्म का पुत्र है। इसके बाद कार्यब्रह्म जगत का विकास हुआ। इसीलिये भगवान् ने अकाश, पृथ्वी, स्वर्ग, दिशाओ, समुद्रो आदि को भी अपना रूप कहा है १। १३। यही बात गीता और भागवतादि मे भी कही गयी है—गीता मे भगवान् ने अपनी दो प्रकृति बताई है— परा और अपरा। सारे भौतिक तत्त्व उस अव्यक्त प्रभु के अपरा स्वरूप है। उसके निर्माण है। अत पुत्र हैं। फिर परा प्रकृत रूप मे वह पिता उनमे जन्म लेता है।

प्रश्न होता है कि क्या अपरा भगवान् से अलग है कि वह इसमे प्रवेश करे ? इसी प्रश्न को ध्यान मे रखकर वेदात ने सारे स्थूल को, भौतिक या जड़ को प्रकृति (माया) के अधीन कर दिया। परमात्मा स्वय सृष्टि न कर इस कार्य को अपनी अचित्य, अनिर्वचनी शक्ति माया के द्वारा करता है। माया उसकी शक्ति है। अत माया की सपूर्ण रचना उसकी सतान हुई। कबीरदास इस मायामय देह या जीव को उसकी प्रकृति, स्त्री मानकर साधना करते है। यह माया निर्मित शरीर व्यर्थ होता यदि इसमे पिता साकार न होता। वह इसमें अनुप्रवेश करता है। यही पिता ब्रह्म का पश्च जन्म है।

एक बात और। जीव सत् और चित् है। किंतु आनदांश लुप्त है। इस आनद को प्राप्त करना उसका उद्देश्य है। साधना और समर्पण द्वारा आनदाश को प्राप्तकर जीव ब्रह्म बन जाता है। सच्चिदानद। जीव शरीर मे पॉच कोश है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनदमय। साधारण जीव अन्नमय कोश मे स्थित है। अन्नमय कोश प्रथम पड़ाव है। जीवन रक्षा का पड़ाव। शरीर जो प्रत्येक धर्म साधना का आधार है वह अन्नमय का प्रथम पड़ाव है। अन्नमय से आनदमय की यात्रा ही जीव का उद्देश्य है। अन्नमय मे वह जड़ पशु है। किंतु आनदमय मे वह ब्रह्म बन जाता है। जीव आनद से ही बना है। किंतु जैसे पहाड़ से गिरने के बाद पहाड़ छूट जाता है वैसे ही आनद का कैलास उससे छूट गया है। किंतु इतना नही कि वह

उसे पुन न प्राप्त कर सके। वह उसके पास है। कही अन्यत्र खोजने की जरूरत नही है। वह आनद कृपापूर्वक उसके भीतर बैठा है। केवल देखने, खोजने की जरूरत है। इसीलिये सत कबीर के प्रभु कहते है–

मोंको कहाँ ढूँढै बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।

कस्तूरी हिरण की नाभि मे है। किंतु वह उसे बाहर खोजता है। बाहर तो है नही। बाहर तो उसकी सुगध मात्र है। अत परेशानी होती है। इसीलिये परमात्मा को अपने भीतर खोजना चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति होते ही जीव का नया जन्म होता है। वह जीव नामी पुत्र से जगत् पिता ब्रह्म बन जाता है। जीव बनने की प्रक्रिया पहले है और ब्रह्म बनने की प्रक्रिया बाद मे होती है। जीव पहले बनता है। ब्रह्म बाद मे। कहना यह है कि जीव जो अव्यक्त की सतान है, साधना द्वारा पिता ब्रह्म बन जाता है। इसे ही सत कबीर कहते है–

पहले जनम पूत को भयउ। बाप जनमिया पाछे।

जो लोग इस प्रक्रिया को केवल इतना ही समझते है कि जीव द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पिता का जन्म है वे अपूर्ण समझते है। जानना तो जरूरी है। किंतु इस जानकारी से होता क्या है ? जानकारी होते ही बड़ा परिवर्तन होता है। तुलसीदास के शब्दो मे–

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन होइ जाई।

जानने पर ससार की अनुभूति, उसके विकार, उसके बधन और अत मे उसकी स्थिति समाप्त हो जाती है। सब कुछ समाप्त हो जाता है। रह जाता है केवल ब्रह्म। ब्रह्मानुभूति। इस स्थिति को सभी नही समझ सकते है। केवल साधक समझता है। केवल वही समझता है जिसने परमतत्त्व की अनुभूति की है– जिहि बिरियाँ सॉई मिलै, तस न जानै और। प्रभु प्राप्ति की अनुभूति असाधारण है। इसे केवल साधक ही जानता है। क्योकि वह जीव स्थिति से मुक्त होकर ब्रह्म स्थिति को प्राप्त हो गया है।

पिता पुत्र की अद्वैत स्थिति भी है। जैसे पानी बर्फ और बर्फ पानी बनता है वैसे ही पिता पुत्र और पुत्र पिता बनता है। अद्वैत द्वैत और द्वैत अद्वैत बनता है। ससार मे भी देखा जाता है कि पहले मूर्ति बनती है। फिर उसमे प्राणप्रतिष्ठा का विधान है। प्राणप्रतिष्ठा रहित मूर्ति पूज्य नही है।

करनी किया करम का नास

एक अचंभा ऐसा भया,
करनी बैं कारन मिटि गया।
करनी किया करम का नास, पावक माँहि पुहप परगास।
पुहुप माँहि पावक परजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै।

एक आश्चर्य हुआ। हुए तो कई आश्चर्य, किंतु सब है एक ही। क्या आश्चर्य हुआ ? करनी ने कर्म का नाश कर दिया। तो क्या करनी और कर्म दो है ? क्या दोनो भिन्न-भिन्न है या अभिन्न है ? दोनो अभिन्न है। भिन्न है। योकि भिन्न-भिन्न स्थिति है। यहाँ कर्म का अर्थ सामान्य कर्म। सांसारिक कर्म। वह कर्म जिससे संसार चलता है। बनता, रहता और बिगड़ता है। इस कर्म मे ससार को ही सत्य मानने की प्रवृत्ति है। ससार ही सब कुछ है। जो कुछ है ससार है। ससार मे है। ससार से भिन्न कुछ भी नही है। सुख, दुख, मै, मेरा, इसका, उसका, तुम, तुम्हारा सब ससार मे है। यो कि यही ससार है। इसे ही देख आचार्य शंकर कहते हैं ससार बीज भूतौ शोक मोहौ। शोक मोह ससार के बीज है। ससार इन्ही से उत्पन्न है। ये नहीं तो ससार नही। इनका आधार अहम् प्रत्यय है। मै हूँ। किंतु मै होने का भाव ही महत्त्वपूर्ण नही है। महत्त्वपूर्ण है मै कौन हूँ ? मै देह हूँ जीव हूँ या स्वय ब्रह्म हूँ। सामान्यत लोग अपने को देह, गेह मानते है। इससे बढ़े तो देहगेह वाला जीव मानते है। किंतु मै ब्रह्म हूँ यह मानना ही असली मानना है। इस मान्यता से ससार मे रहकर भी नही रहने के बराबर हो जाता है। देह बुद्धि वाला व्यक्ति ससार और माया का दास बना रहता है। वह सब कुछ देह के लिये, देह दृष्टि से करता है। देह सुदर हो, मोटी हो, शक्तिशाली और स्थायी हो। किंतु ऐसा होता नही। कोई भी देह स्थायी नही रह सकती। सभी देह गेह नश्वर है। ऐसे ही देह से आगे बढ़कर जब जीव सोचता है– मै जीव हूँ। तो उसे कुछ-कुछ सफलता मिलती है। वह अपने को अश, परमात्माश समझने लगता है। ससार देह से मुक्ति का यह एक सोपान सा है। किंतु आत्म साक्षात्कार के बाद अपने को ब्रह्म समझने की प्रक्रिया पूरी होती है। जीव ब्रह्म बन जाता है।

ससार मे जो भी है उसे हर क्षण कोई न कोई कर्म करना होता है। यहाँ तक कि जब वह कर्म को छोड़कर आराम करता है तो वह भी कर्म है– आराम कर्म। इसीलिये कर्म का छोड़ना भी कर्म है। और कर्मो का नियम यह है कि कर्म से कर्म पैदा होता है। सभी कर्म कर्म परिणाम है। सभी कर्मो से कोई न कोई कर्म निकलता है। जैसे कर्म छोड़ देने पर भी कर्म छोड़ने का कर्म निकला। इसे कहते है कर्मचक्र। कर्म से कर्म अनुवर्तित होता है। यह अनुवर्तित कर्म जीव का बधन बन जाता है। कर्म बधन। मनुष्य जब तक कर्मबधन मे है उसे कर्म करना होगा। मरने पर भी छुट्टी नही। कर्मानुसार योनि तो मिलेगी ही। भव चक्र मे भी बार-बार आना होगा। हमारे कर्मो के मूल मे हमारा यही कर्मचक्र है। एक कर्म पूरा नही हुआ कि दूसरे कर्म का आरभ हो जाता है। इसीलिये कर्म के तीन विभाजन है–प्रारब्ध, क्रियमाण और सचित। यह शरीर कर्माधीन है। हमारे सारे कर्म सचित हो रहे है। उनके फल को भोगना कर्म विपाक है। सभी कर्म विपाक या कर्मफल को भोगते है। इसीलिये कर्मबंधन है। कर्मों की रस्सी मे बँधा जीव कर्म करता है। उसका अच्छा-बुरा फल भोगता है। कर्म भोग से छुटकारा

नहीं है। बड़ी भयावह स्थिति है। मनुष्य को पता भी नही कि उसके कौन-कौन से कर्म है ? अब अगर वह उनसे मुक्त भी होना चाहे तो क्या करे ? पुराने कर्जे को अदा तो करना ही होगा। उसका सूद भी बढ़ गया है। इस बीच जो कर्म किया उसका फल भोग भी जाकर जमा हो गया। एक कर्मफल खतम नही हुआ कि दूसरा जुड़ गया। ऐसे ही प्रति क्षण कर्म सचित हो रहा है। मनुष्य परेशान है। क्या करे ?

कितु परेशान होने की कोई बात नही। यह सच है कि कर्म से छुटकारा नही मिलेगा। कितु कर्म का उद्देश्य और स्वरूप बदल दिया जाय तो उससे मुक्ति मिल सकती है। गीता कर्म का पॉच विभाजन करती है–

एक कर्म तो है जब मनुष्य उन्हे करने के लिये आवश है। उसके किये बिना शरीर की यात्रा सभव नही। शरीर रहेगा ही नही। और शरीर न रहे तो कर्म और कर्म फल का नाश सभव नही। क्योकि कर्मफल का सबध केवल शरीर से नही है। वह मानव सस्कार से जुड़ा है। सस्कार का अग है। भागने से यह सस्कार और गहरा होगा। कर्जा देने से ही कर्जा पटता है। भागने से तो वह और बढ़ता है। इसलिये कर्म से भागने की बात सोचना ठीक नही। इससे कोई लाभ होनेवाला नही है। उल्टे हानि होगी। ससार मे रहना है तो शरीर रक्षा की दृष्टि से कर्म करो। इस कर्म को करने की विवशता है।

शरीर यात्रा जब चलने लगे तो हृदय की शुद्धि के लिये कर्म करना चाहिए। क्योकि हृदय मे अपार मैल भरी है। मन सारी गंदगियो का भडार है। हृदय या मन ही बधन, मोक्ष का कारण है। यही गदा रहे तो कुछ नही हो सकता है। इसे तो साफ रखना ही होगा। साफ करोगे तो यहॉ देवता वरना शैतान का निवास हो जायगा। देवता किसी गदी जगह पर नही बैठते है। इसे आत्मशुद्धये कर्म कहते है। मन की मैल सभी बाहरी मैलो, शरीर की मैलो से भयानक है। यहॉ काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, भय आदि की मैल बैठी है। इस मैल के बैठने का कारण मन का इद्रियो के अधीन होकर विषयो का सग करना है। विषयो का सग बुरा है। सग से काम, क्रोधादि बुराइयॉ पैदा होती है। अत मे सर्वनाश हो जाता है। विषयो के सग को कभी मन से सटने नही देना चाहिए। विषयो मे बड़ी जबर्दस्त आकर्षण शक्ति है। जरा भी उनके पास गए कि वे दबोच लेती है। फिर तो मन उनके वश मे हो जाता है। उसकी अपनी शक्ति समाप्त हो जाती है। इसलिये कि मन का स्वभाव भी ठीक नही है। वह चचल है। कभी स्थिर नही रहता है। जब देखो तब विषयो की ओर मड़राता रहता है। कभी यहॉ, कभी वहॉ। सदा असतुष्ट रहता है। इस मन की शुद्धता का अर्थ है विषयो की तृष्णा को मन से निकालकर मन को साफ रखना। इससे मन स्थिर होगा।

यह तभी होगा जब विषय और उसके फलो के प्रति समबुद्धि हो। सबको समान समझा जाय। सबके सुख-दुख को अपने सुख-दुख जैसा समझा जाय। इसे कहते है समत्वबुद्धि। समत्व बुद्धि को अपनाने से वैयक्तिक सकोच का स्थान सामूहिक कल्याण को मिलेगा। अब धीरे-धीरे कर्म का रग ढग बदल रहा है। कर्म की प्रथम सीढ़ी के बाहर से देखने मे लगता है कि यह कर्म असग है। हम इसे मजबूरीवश करते है। कितु ऐसी बात है नही। हम जो कुछ करते है यह सोचकर करते है कि शरीर ही सब कुछ है। शरीर ठीक तो सब ठीक। इसलिये सबको छोड़कर शरीर को ठीक रखो। यह बुद्धि ठीक नही। इसमे स्वार्थ है। साथ मे यह भी कि शरीर ही सब कुछ नही है। शरीर हो और मन खराब हो तो शरीर भी ठीक नही रह सकता है। इसलिये दूसरी सीढ़ी बनी। मन की मैल साफ करो। मन को साफ रखो। शरीर तो बाहरी साधन है। असली साधन तो मन है। शरीर की सभी इद्रियो का राजा मन है। राजा ही गड़बड़ हुआ तो सब गड़बड़ा जायगा। तो राजा को वश मे करो। कितु विचित्र है यह राजा। इसका

काम खुशामद से नही होता। सभी राजा खुशामद से खुश होते है। यह खुशामद पाकर और बिगड़ जाता है। जैसे बालक दुलार पाकर बहक जाते है। तो इस राजा पर शासन करो। यह इद्रियो के घोड़ो का लगाम है। इस लगाम को अच्छी तरह खीचो। यह इद्रियो को ढील न दे। स्वय कसा रहे। इद्रियाँ कसी रहे। यह कौन करेगा ? मन करेगा। मन ही मन को कसता है। हॉ, बुद्धि की सहायता आवश्यक है। क्योकि बुद्धि मन से ऊपर है– मनसस्तु परा बुद्धि । इससे मन शुद्ध होगा। पवित्र होगा। पवित्र मन बड़ा उपयोगी है।

यह शुद्ध मन समत्व बुद्धि से काम करेगा। सबका भला सोचेगा। सबका भला करेगा। स्वार्थी नही। परमार्थी बनेगा। आत्मौपम्य दृष्टि रखेगा। सबको अपने समान और अपने को सबके समान देखेगा। इससे इसकी व्यक्तिवादिता नष्ट हो जायगी। इसमे सामूहिकता एवं सामाजिकता का विकास होगा। तुम व्यक्ति नही समाज हो। समाज के बिना तुम नही रह सकते। माता-पिता ने तुम्हे जन्म दिया है। तुम उनका आदर करते हो। अपने साथ जन्मे भाई-बहनो को प्यार करते हो। तो, समझ लो कि यही सब मिलकर समाज बनता है। सभी सबध समाज के अग है। समाज अगी है और सबधो मे दीखनेवाले लोग उसके अंग है। अग के साथ ही अगी पर ध्यान दो।

मन बदलता है। सबका और सबके साथ हो जाता है। अपना ख्याल तो भूल ही जाता है। दूसरो की चिता मे रहनेवाले को अपनी चिता की कहॉ फुर्सत रहती है। बच्चे को दूध पिलाती मॉ यह कभी सोचती है कि वह दूध पीती है या नही ? वह तो केवल एक बात जानती है यह दूध बच्चे के लिये है। बच्चे को पिलाना है। बच्चे की खुशी ही उसकी खुशी है। ऐसे ही व्यक्ति मन समाज की खुशी को देखकर खुश होता है। अब वह समाज के लिये ही उठता, बैठता, चलता, फिरता, सोता, जागता, खाता और पीता है। स्वप्न भी देखता है तो समाज के सुख का देखता है। उसका सब कुछ समाज को अर्पित है–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।– गी. ९। २७

जो भी दोगे समाज उसे स्वीकार करेगा। पत्र, पुष्प, फल, पानी जो भी हो। ये सभी प्राकृत साधन है। इन्हे प्राप्त करने के लिये अधिक परिश्रम की आवश्यकता नही है। थोड़े ही परिश्रम से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ है। अत, थोड़ा देकर भी समाज सेवा की जा सकती है। थोड़ा का मतलब यह नही कि बहुत रखो और थोड़ा दो। नही। बहुत ना भी हो तो कम से कम इतना तो होगा ही। देना तो पूरा है। अब किसके लिये कौन रखेगा ? जब सब एक हैं। अपने सुख से बड़ा है दूसरो का सुख। तो फिर अपने लिये क्यो रखेगे ? सब दे दो। मूल बात तो यह कि अपने को ही दे दिया है। अपने को दिये बिना समत्वबुद्धि आ नहीं सकती। आत्मौपम्य दृष्टि तीसरी सीढी है। इसमे सपूर्ण सृष्टि को अपना समझने का भाव आ गया। वसुधैव कुटुम्बकम्। मै समाज का हूँ। समाज मेरा है। मै व्यक्ति नही समाज हूँ। जैसे माँ पुत्र को रोते देखकर स्वय भी रोने लगती है। जब वह बच्चे को चुप भी कराती है तो वह बच्चे के दुख से आविष्ट रहती है। बच्चे को चुप कराना, रुदन को रोकने की कोशिश मो का परमार्थ नही स्वार्थ है। क्योंकि माँ और बच्चे मे अद्वयभाव है।

प्रत्येक मॉ एक श्रेष्ठ रचनाकार है। कवि है। चित्रकार है। मूर्तिकार है। नही, इनसे बढ़कर है। कवि, चित्रकार, मूर्तिकार, सगीतज्ञ, नर्तक मे एक मनोरजन का भाव भी हो सकता है। होता है। किंतु मॉ बच्चे को अपने रक्त से पैदा करती है। रक्त से पालती है। इसमे मनोरजन के लिये स्थान नही है। यह उसके भीतर ही सृजनात्मक पीड़ा का सपूर्ण रूप है। यही कारण है

कि बच्चे के भूख लगने पर माँ को अगिया भीग जाती है। उसे रोते देख आँखो मे पानी स्वत बहने लगता है। बहुत से रचनाकार है जिन्होने अपनी रचना को उपयुक्त न समझकर उसे फेक दिया है। किंतु कोई माँ नही मिलेगी जो अपनी रचना को फेकने या फाड़ने की कल्पना भी करे। आत्मौपम्य दृष्टि का सबसे अच्छा उदाहरण माँ है। भारत की स्त्रियाँ कभी पुत्र, कभी बहन, कभी पत्नी और कभी माँ बनकर ससार मे इस आत्मौपम्य दृष्टि का संकेत करती है। उदाहरण बनती है।

समत्वबुद्धि आएगी कैसे ? इसके लिये कहते है कर्म यज्ञ के लिये करो। जीवन एक यज्ञ है। जो कुछ करो यह सोचकर करो कि यह मै अपने लिये नही। दूसरो के लिये। समाज सुख के लिये कर रहा हूँ। अपने को और समाज को एकाकार कर लो। अपने को समाज के व्यक्तित्व मे इतना मिला दो कि समाज रह जाय। तुम्हारा व्यक्तित्व बिल्कुल उसी मे लुप्त हो जाय। जैसे पानी मे नमक घुल जाता है। कोयला जलकर लाल हो जाता। काला। फिर लाल और लाल बुझकर सफेद। तमस्, रजस् और सत्व। स्वार्थी मनुष्य कोयला है। धीरे-धीरे वह रजस् एव सत्व गुणो की ओर बढ़ता है। फिर तो उसके सामाजिक कर्म उसके स्वभाव बन जाते है। साँप का स्वभाव है काटना और वृक्ष का स्वभाव है फूलना, फलना, पकना और पके को गिराना। बिना भेदभाव के सबको देना, उसे भी देना जो उसे काटने आया है। जो उसे नष्ट कर देगा। इसलिये कि पेड़ो का कोई निजी स्वार्थ नही है। काटने वाला स्वय सोचे कि यह कार्य क्या उसके हक मे है। शायद इसीलिये भारत मे हरे और फलदार वृक्षो को काटना पाप माना जाता है। वृक्ष के सामन काम करने वाला कर्म के लिये कर्म करता है। किसी फल की आशा से नही करता है। ऐसा कर्म स्वभाव बन जाता है। उद्देश्य की दृष्टि से यह लोक सग्रह के लिये होता है। चूकि कर्महीन स्थिति सभव नही। अत मनुष्य लोक सग्रह के लिये भगवत्समर्पित कर्म करता रहता है। इसीलिये गीता जब समाप्त होने लगती है, १८ वे अध्याय मे भगवान् अर्जुन से कहते है-- सभी धर्मो को छोड़ दो। छोड़कर मेरी शरण मे आ जाओ। यहाँ धर्म से अर्थ है कर्तव्य कर्म। कर्तव्य कर्म भी छोड़ो मतलब सब मेरे लिये करो। उतना ही करो जितने की मुझे जरूरत है। स्वय के लिये कुछ मत करो। इसे कहते है समर्पित कर्म।

समर्पित कर्म का पाप पुण्य या कर्मफल करनेवाले को नही भोगना होता है। जैसे सरकार के आदेश से गोली चलानेवाला सिपाही अपराधी नही माना जाता है। उसने जो कुछ किया उसमे उसका कोई स्वार्थ नही है। वह तो सरकार का आदेश है। वह जो भी करता है सरकार के आदेश से। सरकार के लिये करता है। इसी तरह यज्ञ या ईश्वर के लिये किया कर्म बधन नही बनता है। इतना ही नही कि बधन नही बनता है बल्कि पुराने बधन भी नष्ट हो जाते है। जैसे कोई पुराना कर्ज चुकाकर अपने को कर्ज मुक्त कर ले। और अगर पुराना कर्ज रह भी गया तो वह धीरे-धीरे चुक जाता है। बिना किसी कष्ट के चुक जाता है।

कर्म ही पुनर्जन्म का कारण होता है। प्राय कर्म किसी न किसी फल की आशा मे किये जाते है। इससे तृष्णा बढ़ती रहती है। यह आशा, तृष्णा तथा कर्मफल लिगशरीर मे सचित होते है। लिग शरीर ही पुनर्जन्म का कारण है। लिग शरीर ही एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाता है। लिग शरीर के साथ ही आशा तृष्णादि घूमते रहते है। ये मनुष्य के सचित और प्रारब्ध कर्म बनते-बनाते है। अब यदि मनुष्य स्वार्थपरक कर्म छोड़ दे तो आशा, तृष्णा भी छूट जायगी। कर्म से मिलनेवाले फल की इच्छा भी नही रह जायगी। किंतु अभी एक खतरा है। कही ऐसा न हो कि मै दूसरो की सेवा कर रहा हूँ यह भाव मन मे हो। जैसे दानी को अपने दान का अहकार और लेनेवाले को लेने की हीनता होती है। यह तो ठीक नही है। इससे तो कर्म जाल छूटा नही। खाली उसके ढग मे परिवर्तन हो गया। इसीलिये यज्ञार्थ कर्म मे अर्थ लगा है। अर्थ

का मतलब है लिये, उद्देश्य। ऐसा कर्म स्वार्थकर्म से आगे तो है किंतु पूर्णत. मुक्त नही। जब सारे कर्म भगवान् को समर्पित कर दिये जाते है तब कर्म कर्म के लिये अर्थात् किसी अन्य हेतु से रहित होता है। कर्म का हेतु उद्देश्य कर्म हो जाता है। कोई चित्रकार अगर बेचने के लिये चित्र बनाएगा तो निश्चय ही वह ग्राहक का ध्यान रखेगा। ग्राहक को कैसा चित्र पसद आएगा ? उसका ध्यान चित्र की अपेक्षा ग्राहक पर रहेगा। यह अपेक्षा चित्र की उपेक्षा कर देगी। इसीलिये श्रेष्ठ कला कला के लिये होती है। इसी प्रकार श्रेष्ठ कर्म कर्म के लिये होता है। चित्र के समान कर्म मे स्वय सौदर्य, सद्गुण और शील है। ऐसा कर्म किसी आशा, तृष्णा, हेतु या फलाशा रहित है। ऐसे कर्मों की बीज शक्ति नष्ट हो जाती है। जैसे भुना चना जन्म नही ले सकता। उसी प्रकार फल हेतु रहितकर्म बीजरहित हो जाता है। इसी बात को भगवान् गीता मे कहते है—ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । कैसा ज्ञान ? किस बात का ज्ञान ?

ज्ञान इस बात का कि मै भी ईश्वर हूँ। ब्रह्म हूँ। उनका, उन जैसा और वही हूँ। इसीलिये कोई ऐसा कर्म नही करना चाहिए जो पुनर्जन्म या बधन का कारण हो। उस कर्म का ज्ञान आवश्यक है जिस कर्म से ज्ञान पैदा होता है। ज्ञान से ही कर्मफलो का नाश होता है। ज्ञान की अग्नि से पुनर्जन्म के सस्कार नष्ट हो जाते है। यह कब होता है। जब हृदय कमल मे मनस् या मानसरोवर के प्रसन्न कमल मे ज्ञान की आग जलने लगती है। इस ज्ञानाग्नि के जलने के बाद पाप-पुण्य दोनो ही भ्रम लगते है। समर्पित कर्म तो प्रभु को दे दिया। मनुष्य उसके फल से मुक्त हो गया। अब सरकार जाने और कर्म जाने। सिपाही ने तो अपने जन्म-मरण के कारण लिग शरीर को मिटा दिया। उसमे कोई इच्छा है ही नही। इच्छावश उसने कोई काम किया ही तो फिर लिगशरीर व्यर्थ हो गया। इसीलिये निराशी कर्म से भवचक्र का कारण लिग शरीर समाप्त हो गया। लिगशरीर को कारणशरीर भी कहते है। कारण के साथ ही अब कर्म का भी नाश हो गया। अब किसी कर्म की आवश्यकता नही है। जो हो रहा है वह हो रहा है।

करनी शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। करनी साधारण कर्म नही है। यह बीरता का कर्म है। जेहि सब भाँति अलौकिक करनी। सूर समर करनी करहि। करनी सामान्य कर्म से भिन्न है। अलौकिक है। इसीलिये यह करनी बधनमुक्त करती है। कर्मफल से उत्पन्न बंधन का नाश करती है। करनी करने वालो मे प्रत्येक क्षण ज्ञानाग्नि रहती है। इसी ज्ञानाग्नि के बीच उस पुष्प का प्रकाश होता है जो मुक्ति है। मुक्ति प्रदाता है। यही सहस्रदल कमल है। जो स्वयं प्रभु का प्रतीक है। स्वय प्रभु है। और प्रभु तो कारणरहित है। स्वयं चाहे तो कार्य कारण बने या न बने। इसे किसी भवचक्र की आवश्यकता नही है। सब कुछ, सारे कार्य कारण इसकी लीला-मात्र है।

●

कबीरा संत नदी गयो बहि रे

कबीर कहते है सत नदी मे बह गया। बह रहा है। बहता रहेगा। क्या सत पागल हो गया है ? क्यो बह गया ? क्यो बहता रहेगा ? क्यो बह रहा है ? नदी मे बहना क्या अच्छी बात है ? हॉ, अच्छी बात है। नौका नदी मे बहती है। किंतु आदमी तो नदी मे नही बहता। हॉ, आदमी नदी पार करता है। नौका का सहारा लेता है। किंतु यह कबीर सत तो बिना किसी सहारे के बह रहा है। बह रहे है तो दुखी होना चाहिए। प्राण बचाने के लिये चिल्लाना चाहिए। सहायता की याचना करनी चाहिए। कुछ न मिले तो तिनके का सहारा लेना चाहिए। किंतु कबीर की बातो से, उनके कहने के ढग से पता लगता है कि वे इस पर खुश है। अच्छा हुआ बह रहे है। स्वय तो बह ही रहे है। लगता है दूसरे सत भी बह रहे है। क्योकि पूरी पक्ति इस प्रकार है 'कबीरा सत नदी गयो बहि रे।' ये केवल संत कबीर भी हो सकते है। कबीर कहनेवाले भी हो सकते है। तदनुसार नदी मे सत बह रहे है। किंतु सत बह रहे है तो कबीर क्यो प्रसन्न हो रहे है ? क्या वे इतने निर्मम है कि सतो को नदी मे बहते देख उन्हे प्रसन्नता होती है ? नही, ऐसा कहना ठीक नही होगा। किंतु यह कहा भी जा सकता है। क्योकि कबीर सत न केवल बहते है बल्कि बहनेवालो के नाम गिनाते है। परपरा बताते है–

जहाँ बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यॉन धरि बैठे।

लगता है यह और कोई नदी है। इसमे सतो का बहना बुरा नही है। यो कहिए कि इसमे सत ही बहते है। सतो को छोड़ कौन बह सकता है ?

जब सतो का बहना जरूरी है तब दुख काहे का ? किंतु माता को दुख हो रहा है–

ठाढी माइ कराड़े रोवै, है कोई ल्यावै गहिरे।

ममतामयी मॉ रो रही है। किनारे पर खड़ी रो रही है। कबीरदास जी कहते है किनारे पर खड़ी होकर रो रही है। अरी माता, इतना क्यो डरती हो ? बड़ा मोह है ? स्वय क्यो नही पानी मे कूद जाती ? बच्चे को बचा लो। अपनी जान इतनी प्यारी है कि बच्चा डूब रहा है। बह रहा है और तुम दूसरो की प्रतीक्षा कर रही हो। किंतु यह माता उस नदी मे नही घुस सकती। ऐसी इसकी सामर्थ्य नही है। उसे बच्चे के प्रति मोह नही है। बच्चा तो वह रोज जनमती है और रोज उसे खा जाती है। उसे बच्चे के मरने की चिता नही है। उसे चिता इस बात का है कि बच्चे ने उसे छोड़ दिया है। वह उस नदी मे बहने का आनद ले रहा है जहॉ सनक, सनदन आदि भगवत्पुत्र बहते है। वह अब भगवत्पुत्र हो गया है। इसीलिये माया माता रो रही है। ऐसे ही सभी माया से छूटने लगे तो माया का क्या होगा ?

यह नदी क्या है जहॉ भगवत्पुत्र, निर्विकार सत तैरते है। बहते है। यह है ज्ञान नदी। भक्ति नदी। और भक्ति नदी मे घुसने का साहस माया मे कैसे हो सकता है ? जहॉ राम भक्ति है, प्रभु ज्ञान है। वहॉ माया ठहर ही नही सकती। इसलिये वह किनारे खड़ी है। माया ही ससार की ममता है। ज्ञान से ममता समाप्त। ससार समाप्त। माया समाप्त। किनारे का अर्थ है ज्ञान मे चूके कि माया।

एक नदी और है–विषय नदी। इस नदी मे मछली तड़पती है। जीव को कभी तृप्ति नही होती। सारा जीवन तृषा मे बीत जाता है। माया ममता जीव को तड़पाती है। सुख का प्रलोभन

देकर दुख देती है। इस पानी मे रहकर भी लोग जलते हैं। यहाँ नाना प्रकार की आग जला करती है। कनक (सोना) कामिनी (स्त्री) की आग सबको जला रही है। कमलिनी, जीवात्मा ने विषय सागर मे ही घर बना लिया था। वही रहने लगी थी। किंतु यहाँ दावाग्नि उठी। बहुतेरी आग उठी। बेचारा जीव जल मे ही जलकर नष्ट हो गया। इसमें उसके पूर्व जन्म के पापो का भी हाथ था—

नलिनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।
जलही माँहें जलि मुई, पूरब जनम लषेणि।

यह ससार तो उभयवाहिनी है। इधर विषय नदी है। उधर ज्ञान नदी है। सभी लोग विषय नदी मे बहते हैं। किंतु सतजन ज्ञान भक्ति की नदी मे बहते हैं।

स्वय बहते है। किस रूप मे बहते है ? दूसरो के लिये नौका बनकर बहते है। स्वय तो मुक्त हुए ही। दूसरो को भी मुक्त करते है। माया इससे और परेशान होती है। नालायक अपने तो गया ही। दूसरो को भी साथ ले जा रहा हैं। माया माता का दुख दुहरा है। यो कहिए कि जीव पिता के पास पहुँच गया। माया माता है तो ब्रह्म पिता। माया माता ने पैदा किया। बाँधा। तो परम पिता परमात्मा मुक्त करेगे।

यहाँ साधक की शक्ति का भी सकेत है। 'गहि लाओ' पकड़ लाओ का अर्थ है वह स्वय नही आएगा। बचाओ नही। वह तो जान बूझकर डूबने गया है। उसे बलात् निकालो। भक्ति ज्ञान से बाहर करो। कौन सुनेगा माया माँ की आवाज ? वही जो माया के कारिंदे है। इद्रियो के विषय। काम, क्रोध, लोभ मोहादि। किंतु माँ पुकारती रही। कोई भी सत को पकड़कर बाहर न ला सका। किसकी हिम्मत है जो ज्ञान नदी मे कूदे। न माया कूद सकी, न माया के कारिंदे कूद सके। ज्ञान की धारा भी प्रबल होती है। जब बहती है तो फिर उसमे विषयो के बड़े-बड़े हाथी भी बह जाते है।

नदी भी उमगी है और 'बादल बाँनी राम घन' 'भी' 'उनया' हुआ है। 'अमृतधारा बरस' रही है। राम प्रेम की अमृत धारा। राम ज्ञान का बादल। सद्गुरु के उपदेश का बादल। अमृतधारा। अमर वाणी। अमर करनेवाली वाणी। भक्ति की अमृतधारा को पाकर किसी की मृत्यु नही होती है। क्योकि जन्म-मृत्यु दोनो ही माया है। यह सब प्रत्यक्ष हो रहा है। सूर्य प्रकाश मे आनद विवेक की वर्षा हो रही है। इससे ज्ञान नदी मे और उफान आ गया है। सत कबीर उस नदी का आनद ले रहे हैं।

दूसरे साधक (सखी) ने गगा जल भरकर लाया है। गगा जल अर्थात् राम प्रेम का जल। उसे जीव के प्राण पीकर तृप्त हो रहे हैं। वही प्राणो के आधार भी है। आनद का कारण भी है। इसी आनद के ध्यान मे रुद्र बैठे हैं। रुद्र सदा ही आनद का ध्यान करते है। ज्ञान का आनद बिना ध्यान के समझ मे भी नही आ सकता। यह योग साधना भी है। तपस्या भी है। तो ज्ञान नदी मे बहने का अर्थ किसी नदी मे बहना नही, तपस्या करना है। सनक, सनदन तो सहज सरल भक्ति के सत हैं। बालक है। नगे रहते हैं। इतने सरल कि कपड़ा पहनने का भी ख्याल नही। परमात्मा से अलग कोई अनुभूति नही है। फिर लज्जा किस बात की? वस्त्र तो लज्जा की अनुभूति को ढाँकने के लिये पहना जाता है। अगर किसी मे लज्जा और उसकी अनुभूति न हो तो उसे ढाँकने की जरूरत नही।

सत ही इस नदी मे बह भी सकता है। यह नदी तो सर्वत्र है। प्रत्येक क्षण प्रत्येक जीव नदी मे है। संसार सागर मे है। सभी जीव मछली है। मत्स्य न्याय से ससार चल रहा है। भक्ति मत्स्य न्याय को रोकने का साधन है। सारे भक्त मत्स्य न्याय के विरोधी है। अत राम की शरण

मे है। रामानद मे बह रहे है। इसी आनद मे दुनिया को कुछ नही समझते। इसलिये उनकी भोगवाली दुनिया तो जल गयी है। भोग छोड़कर ही तो वे भक्ति योग मे आये है। यहाँ आनद ही आनद है। दुख का नाम नही। प्रभु के सामने दुख कहाँ टिकता है ? प्रभु तो तीनो तापो सहित भवमोचन है।

कपड़ा बुननेवाले सत कबीर ने यहाँ नगो को ही अपना उदाहरण बनाया। सनक, सनदन एव महादेव। ये क्यो नगे है ? इसीलिये वे ईश्वरी ज्ञान, अनुभूति और साक्षात्कार की नदी मे बह रहे है। मछली कहाँ वस्त्र पहनती है ? वह तो हर समय पानी मे है। पानी बिना उसका अस्तित्व नही है। पानी ने ही मछली को पैदा किया। रखा, बढ़ाया और पाला है। उसका मन तन सब पानी से बना है। पानी ही उसकी साँस है। पानी और उसका अद्वय भाव है। ऐसे मे कैसा वस्त्र ? कहाँ का वस्त्र ? प्रभु ही तो सब कुछ है। निज प्रभुमय देखहि जगत।

सत कबीर के इस सुख को उसकी माँ ही नही देख पा रही है। माँ माया, ममता है। ज्ञान नदी मे बहने मे माया ममता ही बाधक है। साधना के दुश्मन प्रिय लोग है। क्योंकि साधना से प्रियता मे बदलाव आ जाता है। ज्ञान के पूर्व प्रियता की सीमा अत्यंत छोटी थी। हम एक अत्यत सकुचित ससार मे रहते थे। छोटा परिवार था। किंतु ज्ञान नदी का परिवार बड़ा है। जहाँ-जहाँ नदी बहती है सबको अपना बना लेती है। जहाँ नही भी बह पाती वहाँ उसका नाम चला जाता है। लोग दौड़े आते है। पता नही कहाँ कहाँ से आते है ? चलो, अपने को पवित्र कर। इस नदी मे गुप्त सरस्वती बहती है। यह भी एक प्रतीक है। सरस्वती कब प्रगट होती है। वह तो सदा ही गुप्त रहती है। तो सत इसी गुप्त गोदावरी, गुप्त सरस्वती एव गुप्त गगा का आनद लेते है। नदी जितना बढ़ती है आनद भी उसी अनुपात मे बढ़ रहा है।

यह ज्ञान नदी सबके लिये सुलभ है। जो भी नम्रभाव से जाय। गुरु शरण मे जाय उसे यह नदी प्राप्त होगी। एक नदी मथुरा (मधुरा) मे बहती है। किंतु यहाँ किसी की प्यास नही बुझती। और तो और स्वय श्रीकृष्ण प्यासे है। प्यासे चले गये। कबीर इस मथुरा नगरी को धिक्कारते है। नाश चाहते है। मथुरा की नदी कैसी है जो भगवान् कृष्ण की प्यास नही बुझा सकती है। कहना यह भी है कि भगवत्ता की प्यास किसी सासारिक नदी से पूरी नही हो सकती। अत यमुना की सारी क्रीड़ा क्रीड़ा है। इससे आत्म तृप्ति संभव नही। आत्मतृप्ति के अभाव मे मुक्ति भी सभव नही। इसीलिये सत कबीर कुछ-कुछ क्रोध मे कहते हैं–

बजर परौ इहि मथुरा नगरी कॉन्ह पियासा जाई रे।

जो नगर, नदी कृष्ण जैसे महापुरुष को तृप्त नही कर सकती उसका नाश कौन नही चाहेगा ? मथुरा से अतृप्त कृष्ण ही भागे थे। द्वारका।

किंतु इसमे नदी का क्या दोष ? एक तो मथुरा की नदी प्यास बुझाने की सामर्थ्य नही रखती। दूसरी यह कि इस नगर के आर-पार दो बन है। एक बन मे राधा और रुक्मिणी खेलती है। यहाँ मदन देवता का डका बजता रहता है। राधा और रुक्मिणी इसी डके की आवाज पर खेलती है। क्रीड़ा करती है–

इहि बँनि बाजै मदन भेरि रे।

इहि बँनि खेले राही रुकमिनि।

इस खेल मे कृष्ण की प्यास बुझाने का ध्यान भी नही आता। कृष्ण भी तो गजब जीव है। इस वन मे न खेलकर दूसरे वन मे जाते है जहाँ तूर्यनाद हो रहा है–

उहि बन बाजै तूरा रे। उहि बन कान्ह अहीरा रे।

किंतु यह और वह। वन दो होकर भी एक है। एक ही विषय नदी के दो किनारे है।

सुख-दुख के किनारे। रागविराग के किनारे। इन्हीं किनारो पर खड़ी माया माँ पुकारती है। भला इन किनारो पर खड़े जीव को कभी तृप्ति मिल सकती है क्या ? यह तो वासना की नदी है। विषयो के किनारे है। प्रवृत्तियो के वन है। इनमे तो माया की देवियाँ राधा रुक्मिणी के नृत्य चलते है। राधा-रुक्मिणी ने कब किसको तृप्त किया है ? ये तो अतृप्ति को और बढ़ाती हैं। इनके साथ खेलनेवाले की अतृप्ति और बढ़ती है। लगता है कि जीव तृप्त हो रहा है। किंतु यह भ्रम है। कभी तृप्ति नही होती है। इसीलिये कान्ह पियासा जाई रे। जब कान्हा (कृष्ण) ही अतृप्त है तो दूसरो की तृप्ति की बात व्यर्थ है। सत कबीर की बाते कठोर और कटु लग सकती हैं। किंतु सच यही है। सत कबीर कटु सत्य कहते हैं।

तो रास्ता क्या है ? रास्ता क्यों नही है ? परमात्मा की लीला मे कोई भी रास्ता बद नहीं है। शर्त यह है कि तुम उस रास्ते पर आना चाहते हो या नहीं ? अगर राधा और रुक्मिणी की क्रीड़ा का सुख लेना हो तो रास्ता नही है, क्योकि राधा-रुक्मिणी के खेल अतृप्ति पैदा करने वाले है। यह बंद गली का रास्ता है। यहाँ का रास्ता सीमित है। मृत्यु में जाकर बद हो जाता है। इस बद गली मे जो फँसा वह व्यर्थ हो गया। उसकी संसार यात्रा विफल गयी। ऐसा जीव ज्ञान नदी मे बहने का आनद नही ले सकता। उन्मुक्त होकर नही तैर सकता है। यह नदी बाँधनेवाली है। इस नदी मे विषयो के जाल बिछे है। जो गया वह फँसा। यहाँ माया ने जाल फैला रखा है। राधा रुक्मिणी माया के जाल है। किंतु कृष्ण को क्या कहिए। वह तो उसी जाल मे फँसा है। फँसा रहना चाहता है। चाहता है कि यहाँ सुख मिले। इसलिये दुख के वन से सुख के वन मे खेलता है। किंतु अहीर कृष्ण बेचारा है। अज्ञानी है। नही जानता कि सुख और दुख दोनो ही वेदना है। संसार की सारी अनुभूतियाँ, अनुभूति मात्र इंद्रिय सवेदना से उत्पन्न है। और सारी इद्रिय सवेदनाएँ दुख है। जो सुखद लगती है वे भी दुख है। पहले तो इद्रिय सवेदना का सुख इद्रियातीत सवेदना से अत्यत निचले स्तर का है। उसमे सख्यातीत छोटापन है। दूसरे यह कि वे किसी को भी तृप्त करने मे असमर्थ हैं। वे तो अतृप्ति का आधार है। उन्हे अतृप्ति के लिये ही ससार के साथ पैदा किया है। ये ही तृप्त करतीं तो परमात्मा की क्या आवश्यकता थी ? आखिर परमात्मा गुरु है न। एक दाँव शिष्य को नही बताता है। अतिम, स्थायी और सनातन तृप्ति के लिये सभी को उसी परमात्मा गुरु का आश्रित रहना होगा। उसी गुरु के पास जाना होगा। इसीलिये गुरु परमात्मा है। गोविद है। गोविद का अर्थ है इद्रियो का स्वामी। कहना यह है कि तृप्ति इद्रियो मे नहीं। इद्रियो द्वारा उत्पन्न विषय सुख मे नही है। तृप्ति तो इद्रियो के स्वामी गोविद की कृपा मे है। शरण मे जाने पर है।

इसीलिये सत कबीर एक और वन की ओर सकेत करते हैं। वह है, तुलसी वन। तुलसी विरवा का वन—

आसि पासि तुलसी का बिरवा, मौहि द्वारिका गाँऊँ रे।
वहाँ मेरो ठकुर रांम राइ है, भगत कबीरा नाँऊ रे।

द्वारका। मथुरा (मधुरा) नही द्वारका। भगवत्प्राप्ति का द्वार। द्वारका। द्वारका भी नगर है। किंतु बड़े-बड़े वनो का नगर नही। बड़े-बड़े वनो मे तो अनेक प्रकार के हिसक जीवजंतु रहते है। इन वनो मे किसी की खैर नही। जो भी गया, फँसा। राधा-रुक्मिणी माया सबको फँसा रही है। खा रही है। लोग कहेगे कैसे है कबीर, राधा और रुक्मिणी जैसी कोमल नारियो के बारे मे ऐसा कठोर भाव रखते है। राधा तो सौदर्य की देवी हैं। प्रेम की पुतली है। असख्य कवियो एव कृतिकारो ने कोमलागी राधा को अपनी सौंदर्य चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। भला ऐसी राधा के बारे मे इतनी कठोरता क्या उचित है ? यही तो रोना है, राधा मुक्ति नहीं भोग की देवी है। राधा के सारे अग ऐसे है जो कृष्ण (जीव) को नचाते है—

हरि नच्चावइ पंगणो बिम्भउ पाड़ि लोउ।

एम्बइ राहि पयोहरम जिमि भावइ तिमि होउ।

(लोग विस्मय मे पड़ गये है। कृष्ण ऑगन मे नाच रहे है। यह राधा के पयोधरो का कमाल है। वे जो चाहेगे वही होगा)। और रुक्मिणी तो कामदेव की माता ही ठहरी। कामदेव अनिरुद्ध होकर इसी देवी के गर्भ से पैदा हुए थे। इसीलिये सत कबीर ने कृष्ण की अन्य स्त्रियो मे से केवल इन्ही दोनो को प्रतीक रूप मे चुना। ये ही लोक वेद के प्रतीक भी है।

राधा और रुक्मिणी मथुरा मे है। मथुरा के विशाल वन मे है। भगवत् प्राप्ति की द्वारका मे इनका क्या काम ? यहाँ तो पवित्र तुलसी है। विरवा तुलसी। तुलसी का विरवा इतना छोटा है कि इसमे राधा-रुक्मिणी के खेलने का सवाल नही उठता। छोटा होकर भी गहरी पवित्रता का भाव है। यह विरवा द्वारका गॉव मे है। द्वारका तुलसी के बीच मे है। द्वारका तुलसीमय है। द्वारका और तुलसी पर्याय हो गये है। इस तुलसी मे राधा नही। रुक्मिणी नही। तो कौन है ? कबीर साहब इस प्रश्न से परिचित थे। उत्तर देते है– तहाँ मेरो ठाकुर राम राइ है । उसी पवित्र तुलसी वन मे दो है– ठाकुर राजा राम और भक्त कबीर। न राधा, न रुक्मिणी, न अतृप्त अहीर कृष्ण। यहाँ माया का स्थान नही है। यह भगवत्स्थान है। भक्ति मुक्ति दोनो यही सभव है। कृष्ण अहीर था। अज्ञानी था। कितु राम राजा है। ठाकुर है। अर्थ कि सर्व समर्थ है। कृष्ण जैसा असमर्थ नही। असमर्थ कृष्ण को राधा रुक्मिणी फॅसा लेती है। समर्थ राम स्वय मुक्त है। भक्तो को भी मुक्त करते है।

परम तत्त्व मुक्ति तत्त्व तुलसी के विरवा जैसा देखने मे लघु होकर भी महत्ता मे विराट् है। लघुता से ही प्रभुता मिलती है। प्रभुता से प्रभु दूर चले जाते है। मथुरा नगर है। विशालताओ एव वैभव का नगर है। बड़ी-बड़ी स्त्रियो का नगर। कितु ये सब वृक्षवत् व्यर्थ है। द्वारका गॉव है। यहाँ के लोग तुलसी विरवा जैसे साधारण क्रितु पवित्र चरित्र के है। यह पवित्रता ही मनुष्य की उपलब्धि है। यह पवित्रता लघुता से मिलती है। अपने को छोटा और प्रभु को महान् समझने से प्रभु की प्राप्ति होती है। द्वारका मे प्यासा नही रहना होगा। यहाँ भक्ति-साधना द्वारा पताल तोड़कर पानी निकलता है–

कंकर कूई पतालि पानियाँ, सुनै बूँद बिकाई रे।

भक्त पाताल का पानी पीता है। यह पाताल उसके भीतर है। इस पाताल का ज्ञान प्रभु कृपा, प्रभु के प्रति भक्ति एव यौगिक क्रियाओ द्वारा होता है। यह एक ज्ञान नदी है। यह नदी पाताल फोड़कर निकलती है। हर नदी पाताल से निकलती है। गहरे ज्ञान से आनद जल निकलता है। यह पाताल ककरो से भरा है। इसीलिये इसके जल का स्वाद महारस है। इसका एक-एक बूँद मूल्यवान् होता है।



बैल बियाइ गाय भई बाँझ

कबीर परेशान है। परेशान तो वे रहते ही हैं। परेशान रहना उनका स्वभाव बन गया है। हर समझदार आदमी परेशान रहता है। परेशानी नासमझ को भी होती है। किंतु नासमझ की परेशानी दूसरी है और समझदार की दूसरी। नासमझ अपने स्वार्थ के लिये परेशान है। अधिक से अधिक जोड़ने के लिये परेशान है। जो है उसमे और बढ़ जाय। कितना और कैसे सग्रह हो इसके लिये परेशान है। किंतु समझदार और सन यह देखकर परेशान होते हैं कि दखो इस आदमी को। इसकी आवश्यकताएं कितनी कम हैं। फिर भी कितना बटोर रहा है। जिस सुख के लिये बटोरता है वह सुख भी इसे प्राप्त नहीं है। फिर भी बटोरने मे लगा है। न्याय-अन्याय पर ध्यान दिये बिना बटोर रहा है। भोगता कम है। जोड़ता अधिक है। जोड़ के मुकाबले भोग अत्यल्प है। बड़े-बड़े महल वालो का जीवन यात्राओं मे ही बीत जाता है। सड़क पर गिरकर मर जाते है। कभी-कभी तो उन्हे कोई पहचाननेवाला नही होता है। निकले थे घूमने, हवा खाने और चले गये स्वर्ग। जाते समय अपनी मिट्टी भी यहीं छोड़ देते हैं। दूसरे लोग उसे जला या गाड़ देते है। कभी-कभी गिद्धो को खिला देते हैं।

सग्रह के क्रम मे लोग यह भी भूल जाते हैं कि उनके जन्म लेने का कोई उद्देश्य भी है या नही। ससार मे आये क्यो है ? स्वय आए हैं या किसी ने उन्हे भेजा है ? भेजा है तो क्यो भेजा है ? उनके द्वारा भेजनेवाला क्या काम लेना चाहता है ? इन बातो पर न सोचनेवाले बैलो को देख सत कबीर हैरान हैं। अरे बैलो, कुछ तो सोचो। क्या कर रहे हो ?

कैसे नगर करौं कुटवारी

कुटवारी मतलब कोर्टपाल, कोतवाल का कार्य। कोतवाली अर्थात् देखभाल कैसे की जाय ? रक्षाकार्य अत्यत कठिन हो गया है। नगर तो देह है। किंतु कोतवाल संत कबीर को देह रक्षा की उतनी चिता नही है जितनी चिता उन्हे देह ग्रहण करने के उद्देश्यो की है। ऐसा न हो देह ग्रहण का उद्देश्य पूरा ही न हो। अगर सत कबीर को भी देह रक्षा की ही चिता होती तो उनमे तथा सामान्य जन मे क्या अतर होगा ? शरीर की चिता असत को और शरीर प्राप्ति के उद्देश्यो की चिता सत को होती है। किंतु प्रतीको के धनी कबीर नगर और कुटवारी दोनो को प्रतीक माध्यम से व्यक्त करते हैं। बेचारे सत क्या करे ? प्रतीक तो अपनाना ही होगा। जब यहा सृष्टि ही प्रतीक है तो उसकी समस्याओ की अभिव्यक्ति भी प्रतीको के माध्यम से होगी। यो कहिए कि सत कबीर ससार प्रतीक के लिये दूसरा प्रतीक गढ़ते हैं। प्रतीको से समझदारी मे सुविधा होती है।

मासु पसारि गीध रखवारी। फिर प्रतीक। पूरा पद प्रतीक है। मासु है रूप, रस, गध, स्पर्श एव शब्द। ये ही चारो ओर फैले हैं। पसरे है। जब इद्रियो के ये विषय फैले है तो इंद्रियो का लोभी होना स्वभाविक है। यहाँ फैला या बिखरा से पसरा अधिक महत्त्वपूर्ण शब्द है। पसरा का अर्थ है जैसे किसी ने मेले मे वस्तुएँ फैला दी है। जिसकी जो इच्छा हो देखे। खरीदे। पसरा प्रदर्शनी का भाव देता है। वासना को लुभाने और उत्तेजित करने वाली इन वस्तुओ को पसरा देखकर लोभ का जागना स्वाभाविक है। लाख कोई समझाए कि किसी के धन पर गृद्ध दृष्टि मत रखो (मा गृध कस्य स्विद्धनम्–ईश० १)। किंतु गृद्ध की दृष्टि तो अपार होती है। माँस या

लोभ की चीजे कही भी रहेगी वह देख ही लेता है। ऐसी स्थिति मे शरीर धारण के उदेश्यो की रक्षा करना कठिन हो गया है। कहाँ पसरा है यह मॉस ? सारा ससार ही तो मास का पसारा है। और गीध भी कही दूर नही है। मास और गीध साथ-साथ है। गीध को कही दूर से नही आना है। उसका तो यही काम है। हर समय मॉस की खोज करना। रखना।

गीध तो पक्षी है। लोभ की कल्पना मे उड़नेवाला पक्षी। लोभ मोह इसके दो पख है। इन्ही दोनो पखो से यह ससार यात्रा करता है। आकाश से धरती और धरती से आकाश तक जाता है। कोई जगह इस गृद्ध से खाली नही है। विषय मांस कहॉ नही है। मासभक्षी (अत्यत लोभी)। होने के कारण ही गृद्ध की प्रतिष्ठा नही हुई। वरना यह पक्षियो मे बड़ा है। तीव्र दृष्टि वाला है। भगवान राम को सहायता प्रदान करनेवाला भी रहा है। यह वैष्णव दृष्टि तो है ही। मानवी दृष्टि भी है। क्योकि मनुष्य मूलत अहिसक है। वह मांस खाकर भी उसे लोभ के अतर्गत ही गिनता है। इसलिये मासभक्षी और लोभी को एक बनाकर उसकी सज्ञा गीध कर दी गई। ईशोपनिषद् मे गृद्ध का अर्थ लोभ ही है। गो० तुलसीदास कहते है कि लोभी की दृष्टि अपार होती है। वह वहॉ भी देख लेता है जहॉ सामान्य लोग नही देख पाते है। ऐसे मे लोभ की वस्तुएँ अगर बिखरी हो तब का तो कहना ही कठिन है। इसीलिये सत कबीर अपनी परेशानी व्यक्त कर रहे है। इस ससार मे शरीर की रक्षा कैसे करे ? कठिन स्थिति है।

कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब विवेक बुद्धि भी नष्ट हो गई हो। बॉझ हो गयी हो। उसने अपना कार्य करना बद कर दिया हो। अच्छे-बुरे का विवेक समाप्त हो गया हो। भगवान् जानते है कि जीव माया मे पड़ा है। उस पर माया का गहरा प्रभाव है। इसलिये उन्होने उसे बुद्धि प्रदान की है। बुद्धि गलत-सही का विवेक करेगी। किंतु ऐसा होता नही देख सत परेशान है। बुद्धि निश्चयात्मिका होनी चाहिए। वह निश्चय करे। क्या करने मे जीव की भलाई है। इसीलिये बुद्धि का स्थान ऊँचा है। किंतु बुद्धि अपना कार्य बद कर दे तो क्या होगा ? एक तरफ बुद्धि गाय गभीर नही हो रही है दूसरी ओर बैल अविवेक अपना कार्य कर रहा है। सब उलट गया है। जिन्हे कार्य करना था वे चुप है। अपना कर्तव्य छोड़े बैठे है। जिन्हे शात रहना था। मूर्ख बनकर बैठना चाहिए था वे सक्रिय है। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाय ? कोई भी शासक अपना कर्तव्य न निभाए तो उपद्रवी तत्त्व सक्रिय हो जाते है। यहॉ यही हुआ है। बुद्धि ने काम करना बद कर दिया है और अज्ञान बैल सक्रिय है। फलत ससार का उद्देश्य ही खतम हो रहा है। जीव के जन्म लेने का उद्देश्य ही खतरे मे पड़ गया है।

अब यह अज्ञान–अविवेक बैल बछरहि दूहै तीनिउ साझ। इद्रियॉ बझड़ा है। अज्ञान बैल इन्ही इद्रियो को सक्रिय किये है। अविवेक की स्थिति मे इद्रियॉ मुक्त भोग करने लगती है। बुद्धि के प्रतिबध से मुक्त हो जाती है। यह भी नही सोचती कि भोग, अबाध भोग का परिणाम क्या होगा ? वे तीनो सॉझ, हर समय विषय रस को दुहते रहती है। विषय रस मे लिप्त रहती है। उन्हे ध्यान भी नही रहता कि विषय रस के अतिरिक्त भी कोई रस है। राम रस। भक्ति रस। ज्ञान से उत्पन्न रस। कौन समझाएगा इन्हे ? बेचारी गाय दो बार दुही जाकर ही काफी थी। अब हर समय दुही जा रही है। इद्रियो की लोलुपता अज्ञान का साथ पाकर और बढ़ गयी है। इद्रियॉ प्रत्येक क्षण सक्रिय है। सतो का काम है। इद्रियो का दमन। प्रवृत्तियो का शमन। किंतु इद्रियो का दमन कौन करे ? यह काम तो बुद्धि का है। उसे ही यह कार्य सौपा गया था। अहकार, चित्त और मन इस कार्य को नही कर सकते। इन तीनो का यह कार्य नही है। फलस्वरूप अत करण विकृत हो रहा है–

मूसा खेवट नाव बिलइया। सोवै दादुर सर्प पहरिया।
नित उठि स्यार सिंघ सौ जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।

समाज मे उपद्रव बढ़ रहे है। सारे समाज का नेता काम या लोभ हो गया है। यह काम-लोभ ही ससार की नाव खे रहा है। जो पुरुष समझदार बनकर काम विषय के चूहे को मार सकते थे वे स्वय नाव बन गये है। वे विषय वासना द्वारा सचालित हो रहे है। वे समझते हैं विषयो द्वारा ससार सागर को पार कर लेगे। किंतु उनकी पतवार तो काम के अधीन है। विषय वासना के हाथ मे है। ऐसे मे क्या हो सकता है? विषयो का चूहा जो उनके पुण्य-पवित्र घर को धीरे-धीरे नष्ट कर रहा है उसे ही उन्होने नाविक बना दिया है। निश्चयात्मिका बुद्धि रूपी बिल्ली को विषय चूहे को पकड़ने के लिये दौड़ाना चाहिए था। किंतु उलटे ही बिल्ली ने नाव की पतवार उस छुद्र चूहे के हाथ मे दे दी है। छुद्र काम चूहा निर्द्वन्द्व है। कैसी भयानक स्थिति है ? जब भक्षक भक्ष्य बन जाय। रक्षक रक्ष्य बन जाय। चोर सिपाही और सिपाही चोर बन जाय। किंतु विषयो मे फँसी दुनिया की यही स्थिति है।

मोह मेढक सो रहे है। मोह निश्चिंतता की स्थिति है। मोह निसा सद सोवनिहारा। इन्हे पता ही नही कि ससार मे क्या हो रहा है ? अपने भविष्य के प्रति अज्ञान ही इनकी विशेषता है। मोह और अज्ञान का नाश करनेवाले शास्त्रो ने भी अपने कार्य बद कर दिया है। वे नाना मतातरो मे पड़े हैं। आत्मचैतन्य से उनका कोई सबध नही रह गया है। वे ज्ञानमूलक शास्त्र न होकर मोह बढ़ानेवाले हो गये है। मोह के रक्षक बन गये है। शास्त्र, मतो, धर्मपथो एव सतो का काम है मोह को समाप्त करना। आखिर मोह, लोभ, आदि की हैसियत क्या है ? हैं तो ये मेढक के समान। अज्ञान जल मे उछलते रहते है। कभी ज्ञानी के हृदय स्थल पर भी आ जाते है। इसलिये ज्ञानी का काम है इन्हे समाप्त कर दे। किंतु ज्ञानी तो स्वयं इनकी रक्षा कर रहा है।

विषयो की कामना का गीदड़ नित्य ही जीव सिह से लड़ता है। जीव मे कामना उत्पन्न होती है। मनुष्य अपनी ही कामना से लड़ता है। मानो मनुष्य मन एक जगल है। इस जगल मे उसका एक मन सिह है। वह मन जो विषय मुक्त रहता है। क्योंकि मन मे अनंत शक्ति है। इसलिये वह शेर है। किंतु मोह मे पड़ा मनुष्य मन सियार बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति मे अहम् है। मै ब्रह्म हूँ की चेतना है। इस चेतना के रहते सारे विषय गीदड़ के समान भागते फिरते हैं। दुबके रहते है। किंतु सियार दुनिया की माया मे प्रबल होता है। वह सिह को भी कुएँ मे गिरा देता है। कब गिरता है सिह कुएँ मे ? जब वह कामना सियार के बहकावे मे आ जाता है। क्रोध की स्थिति मे। अपने अहम् की तामसिक स्थिति मे। अपने स्वरूप को ठीक-ठीक न समझने की स्थिति मे। अपने ही प्रतिबिम्ब को दूसरा समझने की स्थिति मे। कहना यह है कि इन स्थितियो मे सिह स्यार से भी कमजोर हो जाता है। मोह मनुष्य की विवेक शक्ति को नष्ट कर देता है। उसे मूर्ख बना देता है। पचतत्र की प्रसिद्ध कथा मे इसी मोह, क्रोध वाले सिह को सियार ने मार डाला। मोह अक्सर काम साधक होता है वह छलबल से अपना काम करता है। ऋषि मुनियो को भी प्रभावित कर लेता है। कौन ऋषि ऐसा है जिसे कामना नही हुई। कामना और मोह के बाद क्रोध हुआ। क्रोध से उसका पतन हुआ। सत कबीर इसी स्थिति को कह रहे है।

कामना से दूर रहो। कामना के गीदड़ को कभी, किसी हालत मे पास न फटकने दो। यह काम साधक हर हालत मे तुम्हे धोखा देगा। तुम्हारा सिह-सा सपन्न और शक्तिशाली व्यक्तित्व नष्ट कर देगा। काम-सियार ने कभी किसी का लाभ नही किया है। अनेक-अनेक लोक-कथाओ मे यह लोभ को बढ़ाने के लिये प्रसिद्ध है। यह जितना सटता है उसका उतना ही शीघ्र नाश करता है। भला करने के लिये इसके पास कुछ भी नहीं है। इसने न कभी किसी की भलाई की है।न करने की क्षमता रखता है। हाँ, बुरा करने की इसकी क्षमता अद्भुत है। मित्र बनकर

दुश्मनी का कार्य करने में इसका कोई मुकाबला नही है। दुष्ट इतना है कि किसी न किसी बहाने से जीव सिह से रोज झगड़ा करता है। उसे परेशान करता है।

'उठि' का मतलब ज्ञान सिह इसे सुला देता है। किंतु जरा भी असावधानी हुई कि यह जग जाता है। नित्य उठना और झगड़ना इसका स्वभाव है। इसलिये सावधान। यह उठ न पाए। इसे उठने न दो। इतना मारो कि यह उठ न सके। बिल्कुल नष्ट कर दो। मार डालो।

सत कबीर कहते है कि मेरी बात स्पष्ट है। किंतु इसको कोई कोई ही समझ पाते है। यही कारण है, सभी कामना के वशीभूत होकर अपने को नष्ट कर रहे है। कबीर के इन प्रतीको का अर्थ है कि कुप्रवृत्तियाँ जो जानवर है ही। उनको न समझनेवाला। समझकर उसके अनुसार आचरण न करनेवाला तथा अपने कर्त्तव्यो से रहित, इनके वश मे पड़े व्यक्ति भी जानवर ही है।



नाम लिये का होई

भक्ति की प्राय सभी शाखाओ मे नाम स्मरण का महत्त्व है। इसे भक्ति का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। नाम को सगुण-निर्गुण के बीच का माना गया है। नाम स्मरण, नरम जप, सगुण निर्गुण सभी भक्तो को स्वीकार्य है। यह बात कवीरदास भी स्वीकार करते है। तो नाम लिये का होई क्यो कहते है ? इसका तो सामान्य अर्थ ठीक नही लगता। क्या सत कवीर को नाम स्मरण मे कही अविश्वास है ? है भी और नही भी। इसका कारण है। वे इस बात से शकित है कि नाम स्मरण कही रूढ़ि न बन जाय? आचरण न बदले। भीतर कुछ हो और नाम स्मरण केवल बाहर-बाहर रह जाय। कथनी केवल बदनी मे रह जाय। बहुत से लोग कहते कुछ है, करते उसके विपरीत है। कथनी करनी मे एकता होनी चाहिए। यह एकता तब आएगी जब भीतर बाहर एक ही बात हो। आचरण भी कथनी के अनुसार हो। आचरण कथनी को प्रतिबिम्बित करे। कथनी आचरण से गहरे मे जुड़ी हो। कथनी और करनी की भिन्नता से लाभ के स्थान पर हानि की सभावना है। सभावना क्या हानि होती ही है। इसी हानि के प्रति कवीर सजग है। सत कवीर सावधान है। कुछ भी ऐसा न हो कि धोखा हो जाय। छल कहॉ नही है ? नाम जप मे भी धोखा है। नाम तो जपो राम का और काम करो वासना का। विपय का। ऐसा जप तो व्यर्थ है। न केवल व्यर्थ है बल्कि धोखा भी है। ऐसा व्यक्ति अपने को भी धोखा देता है। समाज को भी धोखे मे रखता है। इस धोखे से नुकसान होता है। सत कवीर इस नुकसान से परेशान है। सबको सावधान करते है। खाली खाली नाम जप साधुता नही है। वाहरी नाम जप से सावधान।

तो, उन्होने एक रास्ता निकाला अजपा जाप। ऐसा नाम स्मरण जो मन मे हो। चित्त और बुद्धि मे हो। जो अहकार का अग वन जाय। मन, चित्त, बुद्धि और अहकार। अत करण की ये चारो शक्तियॉ, चारो रूपो मे नाम स्मरण हो। ये चारो है। किंतु अरूप है। इनका कोई रूप नही है। इन अरूप को राम जप का आधार बनाओ। नाम जप भी अरूप हो जाय। वाहर कुछ नही। बाहर राम न भी दीखे तो कोई हर्ज नही। किंतु भीतर का पूरा अत करण राममय है। राम से जुड़कर, वार-वार, हर समय राम को दुहराने से अत करण राममय हो जायगा। अपना रूप छोड़कर राम बन जायगा। कीट भृग सा तादात्म्य हो जायगा। तब जपनेवाला और जिसका जप हो रहा है दोनो एक हो जायॅगे। तन्मयी भवन की स्थिति हो जायगी। यह तन्मयी भवन की स्थिति ही नाम जप का उद्देश्य है। राम जपते-जपते राम होना ही मनुष्य का उद्देश्य है। जीव है तो मूलत राम ही। किंतु ससार मे आने के कारण वह राम से छूट गया है। अलग हो गया है। उसकी सारी परेशानी, बेचैनी इसीलिये है कि वह राम होकर भी राम से अलग है। राम न होता तो उसे राम बनने की बेचैनी क्यो होती ? राम होकर भी वह राम नही रह गया है इसलिये राम वनने की उसकी बेचैनी है। इस बेचैनी की पूर्ति बाहर नही भीतर है। अगर बेचैनी भीतर है तो बाहर के नाम जप से क्या फायदा होगा ? अदर से जुड़ना है। नाम जप भी अदर ही अदर करो।

अत करण की चारो वृत्तियॉ बदलेगी तभी व्यक्तित्व मे परिवर्तन होगा। व्यक्ति शरीर नही है। शरीर तो केवल आधारमात्र है। इस आधार की रक्षा बहुत थोड़े प्रयत्नो से होती है। शरीर

एक छोटी और स्थूल चीज है। इसलिये इसकी रक्षा छोटी और मोटी-मोटी स्थूल वस्तुओ से हो जाती है। किंतु शरीर की अपेक्षा शरीर मे रहनेवाली ये चारो वृत्तियाँ अत्यत बड़ी है। यह बात हम रोज देखते है। शरीर की दृष्टि से गाँधी का कोई महत्त्व नही था। शकराचार्य का शरीर भी वैसा ही था जैसा और लोगो का होता है। किंतु इनके भीतर अत करण मे कुछ था जो सबसे भिन्न और विशिष्ट था। अत्यत बड़ा, विराट् और सूक्ष्मातिसूक्ष्म था। ये लोग भी नही जानते कि वह क्या था ? शरीर नापा, तौला जा सकता है। उसकी प्रतिमूर्ति गढ़ी जा सकती है। भीतर-बाहर के अंगो के चित्र लेने की व्यवस्था भी हो गयी है। किंतु अत करण का चित्र कोई नही ले सकता है। यह अत करण इतना विराट्, इतना विचित्र है कि इसका चित्र बन नही सकता है। असली बात तो यह कि यह सूक्ष्म भी नही है। ससार की किसी भी वस्तु द्वारा इसे समझाया नही जा सकता है। किंतु यह है, इसे किसी न किसी रूप मे सभी समझते है। भिन्नता नामो की हो सकती है। गिनतियो की हो सकती है। कोई एक मन माने। कोई दो या तीन। कोई मन के अतिरिक्त भी कुछ माने। कोई मन मे ही सबको समेट ले। जैसे भारत मे मन, चित्त, बुद्धि और अहकार की एक सज्ञा अत करण दी गयी है। इनके अतिरिक्त अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनद नामी पाँच सूक्ष्म कोशो की कल्पना की गयी। ये सब विराट् होकर भी सूक्ष्म है। होकर भी नही से है। इन्हे दिखाया नही जा सकता। समाझाने मे भी अत्यत कठिनाई है। अपनी अनुभूति के अभाव मे इन्हे बताना असभव है। सारा मनोविज्ञान शास्त्र इस बात पर खड़ा है कि मन हमारे विश्वास मे है। अनुभूति और अनुभव मे है। ऐसा न हो तो मन को बताना, समझाना और उसका शास्त्र बनाना सब व्यर्थ है। किंतु मन को कोई अस्वीकार नही करता। क्यो ? इसलिये कि सभी जीवित मनुष्य इस शरीर के अतिरिक्त एक ऐसी सत्ता की अनुभूति करते है जो जड़ शरीर से भिन्न है। जो सही मे ससार के सारे दुख-सुखादि की अनुभूति करती है। उस सत्ता की उपस्थिति ही जीवन है। उसकी अनुपस्थिति मृत्यु बन जाती है। यह वह सत्ता है जो शरीर को छोड़कर चलती है। शरीर है भारत मे तो यह अमरीका का मजा लेती है। शिथिल होकर शरीर के गिर जाने जिसे सोना कहा जाता है। जब चेतना लुप्त सी लगती है। यह भी नही पता रहता कि हम है या नही ? ऐसे मे भी यह सत्ता सक्रिय रहती है। स्वप्न के माध्यम से काम करती है। स्वप्नो को भूलती भी है। याद भी करती है। बीते कल और आगमी कल के कार्यक्रम को नोट किये रहती है। सोने से कोई बात भूल नही जाती है। जैसे मृत्यु के बाद सारे स्मरण समाप्त हो जाते है वैसा नीद मे नही होता है। ऐसा क्यो ? ऐसा इसलिये कि नीद मे यह सत्ता हमारा साथ नही छोड़ती है। जब कि मृत्यु का अर्थ ही है इस सत्ता का शरीर से अलग हो जाना। जब तक यह सत्ता शरीर नही छोड़ती, हजार गोली खाकर भी मृत्यु नही होती है। हाँ, कभी-कभी एक सामान्य धक्के से भी यह सत्ता शरीर से अलग हो जाती है।

इसीलिये सत कबीर अजपा जाप पर जोर देते है। सूक्ष्म को प्रभावित करना है तो उसकी पद्धति भी सूक्ष्म होनी चाहिए। हाँ, दुनिया को दिखाना हो, बाहर के लोगो को प्रभावित करना हो तो बाहर मे जपो। किंतु कबीर साहब और सावधान होते है। वे कहते है बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिए का होई। मतलब की नाम जप के साथ ही मन मे प्रभु तत्त्व का दर्शन करने की कोशिश भी करो। उसका स्पर्श करो। कौन है प्रभु ? जिसका जैसा है प्रभु। जिसने प्रभु को जैसा जाना ही। उसी रूप को देखते रहो। स्पर्श करो। जप जीभ का काम है। देखना और स्पर्श आँख एव त्वचा के काम है। इस प्रकार तीन प्रमुख इद्रियो को प्रभु सेवा मे, स्मरण मे लगाया। शेष बची दो इद्रियाँ नाक और कान। इनका काम है सूँघना और सुनना। इनकी चर्चा रह गयी। किंतु इससे फर्क नही पड़ता है।

इद्रियो के स्वभाव को जानना होगा। इद्रियॉ मन राजा के अधीन है। मन राजा इद्रियो के अधीन है। इसलिये मन भी एक इद्री मान लिया गया है। राजा प्रजा के मेल से काम होता है। अत ऐसा नही हो सकता कि मन अलग रहे और इद्रियॉ अलग चली जायँ। मन के अभाव मे इद्रियॉ चाहकर भी कुछ नही कर पाती है। पहले तो मन के अभाव मे इंद्रियो मे किसी प्रकार की चाहृना सभव नही। क्योकि इद्रियॉ जड़ होती है। मन के अभाव मे कुछ नही कर् सकती है। इद्रियॉ जड़ है इसीलिये सभी इद्रियो का आपरेशन सभव हुआ। केवल मन का आपरेशन नही हो सकता है। क्योकि मन आकाश से भी सूक्ष्म है। कहना यह है कि इद्रियो और मन का अलगाव असभव है। अगर है तो वह निरर्थक है।

सत कवीर यही तो कहते है राम नाम मन मे जपो। वाहर-जपना सुग्गे सा जपना है। सुग्गा राम-राम करता है। किंतु उसकी मूल बोली टे-टे नही बदलती। मौका पाते ही टे-टे करने लगता है। इस टे-टे मे राम नाम नही है। टे टे का राम नाम'से दूर का संवध भी नही है। राम नाम से इतना जुड़ो कि रूप, रग, ध्वनि, स्पर्श घ्राण और स्वाद सव मे उसी की अनुभूति हो। यह तब होगा जब अजपा जाप द्वारा मन राममय हो जायगा। तव सारी इद्रियॉ भी राममय हो जायॅगी। राजा बदला सेवक भी बदल गये। प्रजा मे भी परिवर्तन आ गया। राममय मन का रूप भिन्न होगा। उसकी ऑखे प्रेमारक्त दीखेगी। त्वचा मे नयी शक्ति आ जायगी। जीभ का स्वाद बदल जायगा। अब सात्विक आहार ही पसद होगे। थोड़े भोजन, थोड़े वस्त्र, छोटी सी छाया मे भी सुख मिलेगा।

सुग्गा राम नाम दूसरो के लिये बोलता है। अपनी पीड़ा, अपना सुख वह राम-राम नहीं टे टे से व्यक्त करता है। किंतु मनुष्य को तो राम अपने लिये जपना है। अपनी आत्मा को शुद्ध करना। ऐसे मे वाहर राम रटने से फायदा ? किंतु लोग है कि वाहर चिल्लाते है। मुसलमान तो चिल्लाते ही है। हिदू भी लाउडस्पीकर लगाकर लोगो की नीद मुश्किल कर देते है। पूछिए वह राम नाम कैसा जो दूसरो का सोना कठिन बना दे। रोगी को जगाए रखे और छात्र को पढ़ने मे बाधा डाले। कवीर जानते है ऐसा राम नाम जप भक्ति नही माया है। अपने लिये नही दूसरो के लिये है। किसी से कहिए कि लाउडस्पीकर मत बजाओ तो वह कहेगा मुहल्ले के लोग जानेगे कैसे ? अच्छा तो आपके राम नाम का उद्देश्य भक्ति नही मुहल्ले को जनाना है। जगाना। शाति मे वाधा डालना। पीड़ित सिर की पीड़ा को और तेज करना है। अनिद्रा की गोली को व्यर्थ करना है। तो यह भी समझ लीजिए इससे आपको राम की प्राप्ति नहीं होगी। हॉ, जैसे आप दूसरो को ध्वनि प्रदूषण का शिकार वना रहे है वैसे ही ध्वनि प्रदूषण आपका भी नाश कर रहा है। कान की दवा सदा अपने पास रखिए।

बोलते है दूसरो को सुनाने के लिये। जपते है अपने भीतर की चेतना को जगाने के लिये। इसलिये आपका भीतरी जप जितना ही भीतर होगा आप उसी स्तर पर प्रभावित करेगे। प्रभावित होगे। अपने को प्रभावित करना है तो भीतर जपो। भीतर जप का एक कारण और है। इसे आध्यात्मिक कारण कहना चाहिए। जिस प्रभु को पाना है वह भीतर ही है। जहॉ जपना है वही है। उसी अत करण मे है। बात उलटी हो गयी। जो भीतर है उसे वाहर पुकारो। जो नजदीक है उसे दूर पुकारो। इससे क्या फायदा ? सत कबीर हर समय दिखावा या आडबर से परेशान रहते है। सारी बाहरी साज-सज्जा अपूर्ण है। इससे मनुष्य के भीतर के देवता असतुष्ट रह जाते है। राम स्मरण से भी महत्वपूर्ण है राम मे रमना। राम न रमसि मोह का माते।

प्रभु तो सबके भीतर है ही। जैसे फूल मे गध। फूलनि मे जैसे रहति बास। किंतु फूल तो सभी देखते है। उसकी गध नजदीक जानेवालो को मालूम होती है। भ्रमर उससे और विशिष्ट

प्रकार के गध रस का स्वाद लेता है। अजपा जाप से मनुष्य मे प्रभु गध रस को जानने, समझने और उपयोग करने की क्षमता आ जाती है। फूल के पास पहुँचा व्यक्ति बिना प्रयास के स्वय उससे प्रभावित होने लगता है। क्योकि गध के पास जो भी नाक जायगी गध उसे प्रभावित करेगी। वह अपने को रोक नही सकती है। इसी प्रकार परमात्मा अपने पास आये को अपना लाभ देता है। देना उसका स्वभाव है। फूल की गध के समान वह भी सबको सुगंधित करता है।

परमात्मा का कोई रूप नही है। सभी रूप उसके है। जो सब रूपो मे है उसका निजी रूप क्या हो सकता है ? इसीलिये उसे अपाणिपादो कहा गया है। वह मुँह बिना खाता है। कान बिना सुनता है। जीभ के बिना बोलता है। हाथ के बिना सारा कार्य करता है। कर्त्ता होकर भी सबसे अलग है। अलग होकर भी सबमे है। क्योकि वह रूपरहित है। रूप की सीमा है। रूप असीमित नही हो सकता। अरूप निस्सीम है। इस अरूप को अरूप मन ही समझ सकता है। स्थूल और रूपवान् इद्रियॉ इसे समझने मे बिल्कुल असमर्थ है। मन का यह विषय मन द्वारा ही जाना जा सकता है। यो कि मन की भी जब अमन स्थिति हो जाय। मन अपने पूर्व ग्रहो को छोड़ दे। विषयो से मुक्त अविषय हो जाय। क्योकि जहॉ विषय है वहॉ प्रभु नही रह सकता।

इसीलिये नाम तो लो। किंतु नाम के साथ ही नामी को समझने की कोशिश करो। नामी का साक्षात्कार करो। यह काम आतरिक जप से ही सभव है। बाहर के तोता रटत से कुछ नही मिलेगा। भीतर ठीक हुआ तो बाहर भी ठीक हो जायगा। सारा बाहर तो भीतर का ही प्रकाशन है। इसीलिये तुलसीदास कहते है जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। दृश्यमान सारा जगत उसी सूक्ष्म, अविज्ञात, अजन्मा प्रभु का आत्मप्रकाश है। उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित है–तस्य भासा सर्वमिद विभाति। कहना यह कि कबीर नाम जप के विरोधी नही है। केवल नाम जप को ठीक रखने की प्रक्रिया बताते है। नाम जप ठीक ठीक कैसे उपयोगी हो सके, यही बताते है।

बहुतो को राम नाम जपने पर भी सफलता नही मिली। यह नित्य देखा जाता है। कबीरदास भी ऐसे लोगो को गिनाते है। ये लोग निराश होकर नाम की महत्ता को अस्वीकार करते हैं। वे भूल जाते है कि नाम जप साधारण कार्य नही है। साधारण होता तो सत कबीर यह क्यो कहते कि सुग्गे सा नाम रट व्यर्थ है। गुड़ कहने से कोई मीठा खाने की अनुभूति नही कर सकता। गुड़ का स्वाद तो खानेवाला ही जानता है। वह भी नही जान सकता जिसकी जीभ खराब है। अत. हृदय को शुद्ध कर अजपा जाप ही लाभदायक है। बिना हृदय को शुद्ध किये न तो जाप सभव है, न उससे कोई फायदा है ? जप का तो उद्देश्य ही है हृदय मे बैठे काम, क्रोध, अहकार आदि चोरो को बाहर करना। अब अगर ये हृदय मे बैठे है तो कितना भी जपो लाभ नही पहुँचेगा। चोर घर मे हो और उसे पकड़ने की कोशिश बाहर व्यर्थ है। सर्प के बिल पर लाठी पटकने से सर्प नही मरता। काम, क्रोध के सर्प को हृदय बिल से बाहर करना होगा। तभी वे निराश्रित होकर मरेगे। इनसे मुक्त हृदय मे जप ठीक से चलेगा। प्रभावी, परिवर्तनकारी और लाभदायक होगा। इसलिये जिन्हे सफलता नही मिली उन्हे अपने पर ध्यान देना चाहिए। नाम जप की अशक्तता पर नही। राम नाम का तीर पत्थर पर नही, कोमल हृदय और स्वच्छ चित्त पर काम करता है। विषय भोग मे नीरस, ठूँठ हृदय पर उसका क्या असर होगा ?

जैसे तैयार होकर आया विद्यार्थी शिक्षा को शीघ्र ग्रहण कर लेता है। उसके मर्म को समझ जाता है। किंतु शीघ्र समझकर भी उसका अभ्यास करता रहा है। अभ्यास से न केवल कि शिक्षा याद रहती है बल्कि वह शिक्षा सस्कार बन जाती है। अब वह शिक्षा बाहरी नही है। दूसरे की नही है। सीखी नही है। अपनी है। भीतर की है। अनुभूति का अग है।

हांम कांम हंकारी

मूंड मुड़ाइ फूलि का बैठे, कांननि पहिरि मंजूसा।
बाहरि देह खेह लपटानीं, भीतरि तौ घर मूसा॥
गालिब नगरी गाँऊँ बसाया, हांम कांम हंकारी।
घालि रसरिया जब जम खैचै तब का पति रहै तुम्हारी॥

सत कवीर अहम्, अहकार और काम के विरोधी है। सभी सतो ने इनकी निदा की है। किंतु इतनी निदा के वावजूद ये छूटते नही। रहते है। शायद रहेगे भी। क्या यह संभव है कि मनुष्य अहम् अहकार और काम से मुक्त हो जाय ? शायद नही। शायद भी व्यर्थ है। नहीं। इनसे मुक्ति असभव है। क्यो ? यही तो विचित्रता है। जब तक ससार है। जव तक मनुष्य संसार का प्राणी है इनसे मुक्ति असभव है। इसलिये कि काम तो सवका पिता है। सभी कामोत्पन्न है। काम से पैदा हुए है। काम ने सबको पैदा किया है। काम न होता तो कोई न होता। इसीलिये वेद ने काम को सृष्टि का पूर्व पुरुष कहा। सृष्टि मे सवसे पहले काम उत्पन्न हुआ–कामस् तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेत प्रयम यदासीत्। ऋग्वेद १०। १२९। ४। परमेश्वर के मन मे सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ। काम का अर्थ सिसृक्षा। सृजन करने की इच्छा। सृजन करने की इच्छा ही काम है। अगर यह परमेश्वर की इच्छा है तो क्या सत कवीर परमेश्वर की इस इच्छा के विरोधी है। वे नही चाहते कि सृष्टि हो। क्या उनके न चाहने से सृजन बद हो जायगा ? क्या सत कवीर कोई असभव कल्पना मे खुद भी पड़े है। दूसरो को भी उसमे डालना चाहते है। कौन मानेगा उनकी बात। अरे भाई वह करो जो स्वाभाविक हो। सबकी भलाई वाली हो। एक तरफ तो परमेश्वर को मानते हो। दूसरी ओर उसकी इच्छा का विरोध करते हो। सृजन से इतनी नफरत है तो सारी दुनिया मे आग लगा दो। सब जलकर राख हो जाय। न रहेगा वाँस न वजेगी वाँसुरी। किंतु याद रखना। एक तो सब जलेगा नही। सब जलाने की शक्ति किसी मे नही है। सृजन और पालन के समान ही सहार भी प्रभु के हाथ मे है। उसकी इच्छा होगी तभी संहार भी होगा। विना उसकी इच्छा के पीपल का पत्ता तो हिलता नही। सपूर्ण का सहार कैसे होगा ? सब जलने के वाद भी कुछ न कुछ रह जायगा। उसी मे से ऋतु पाकर पुन सृष्टि के अकुर निकल आएँगे। देखते नही पत्थर पर दूब जम जाती है। पत्थर पककर चूना और पिसकर सीमेट बन जाता है। ससार को उज्वल करता है। ईट से ईंट को बजाता नही जोड़ता है। वह तुम हो जो ईंट से ईंट बजा रहे हो। कभी किसी जड़ पदार्थ को ईट से ईट बजाते नही देखा गया। और तुम शायद इस कर्म को इसलिये करते हो, तुम्हे भ्रम हो गया है कि तुम ससार का सुधार कर रहे हो।

सुधार की भावना के पीछे भी काम है। सुधार की इच्छा है। सुधार की सृष्टि। सब ठीक रहे की इच्छा। सृष्टि सृष्टि के समान रहे। कैसी सृष्टि ? जिस परमेश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया है उसके स्वरूप के अनुसार सृष्टि। परमेश्वर सुदर है। अत सुदर सृष्टि। परमेश्वर बन जाने-वाली सृष्टि। परमात्मा को तो सब कुछ है। वही तो सब कुछ है। फिर उसी को जब सृष्टि की इच्छा हो गयी तो मनुष्य को भी सृष्टि की इच्छा होना न बुरा है। न अस्वाभाविक। यो कि सृजन

की इच्छा मनुष्य का मानव धर्म है। यह नही है तो समझो वह विकृत मानव है। उसमे कुछ गड़बड़ हो गया है। तीन तो एषणाएँ है–लोकेषणा, वित्तेषणा, कामेषणा। लोक मे मेरा सम्मान हो। लोगो द्वारा मै अच्छा समझा जाऊँ। लोक मेरा तिरस्कार न करे। इसकी इच्छा। दूसरी मुझे ससार चलाने के लिये धन की प्राप्ति हो। मै अभावग्रस्त न रहूँ। मुझे किसी को मॉगना न पड़े। बल्कि मै लोगो को कुछ देने की स्थिति मे रहूँ। तीसरी है सृजन की इच्छा। मै अपनी सतान बढ़ाऊँ। अपने परिवार, समाज और दुनिया को लाभ पहुँचाऊँ। किसी न किसी प्रकार से उन्हे शिव और सुदर बनाऊँ। सत्य वाला बनाऊँ। भला कौन होगा जो अकल्याणकर, असुदर तथा झूठे लोगो को पसद करेगा ? नुकसान पहुँचानेवालो से सभी लोग घृणा करते है। उन्हे अपराधी मान लेते है। ऐसे ही सूखे फूल फेक दिए जाते है। फूटी ऑखे और टूटे दॉत किसी को अच्छे नही लगते। ईश्वर भी तो यही चाहता है। उसने बहुत से खिलौने फैला दिए है। सब रग-बिरगे है। अब मनुष्य की बुद्धि किसे चुनती है ? किसे छोड़ती है ? वही प्रभु दृश्य भी है और द्रष्टा भी है। वह देखता है। सबकी बुद्धि की परख लेता है।

सत कबीर कोई\अज्ञानी नही सब समझकर भी काम और अहकार को छोड़ने की बात करते है। असल मे तो ये दोनो एक ही है। जो काम है वही अहकार है। अहंकार ही काम है। काम या सृष्टि इच्छा तो उसी मे होगी जिसे अपने अस्तित्व का बोध हो। अह और कुछ नही अपनी स्थिति या सत्ता का बोध है। मै हूँ। यह सत्ता का निरपेक्ष बोध है। प्रसाद जी का वाक्य महत्त्वपूर्ण है–

मै हूँ यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानो मे।
मै भी कहने लगी ? 'मैं रहूँ' शाश्वत नभ के गानो में।–कामायनी।

मनुष्य पहले अपने अस्तित्व का बोध करता है। यही अस्तित्वबोध उसकी शक्ति है। सभी जीव अपने अस्तित्व का बोध करते है। यह अस्तित्वबोध ही प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व है। इसके बिना व्यक्ति रहेगा इसमे सदेह है। मुर्दो मे कोई बोध नही होता। यहॉ तक कि अपना और अपने अस्तित्व का बोध भी नही होता। जिनमे अपने अस्तित्व का बोध नही है वे जीवित होकर भी मुर्दा है। मरे है। जब कबीर कहते है कि 'मै न मरी मरिहै ससारा' तो वे इसी अस्तित्वबोध का सकेत करते है। जीवन के लिये अस्तित्वबोध आवश्यक है। अस्तित्वबोध व्यक्ति और समाज दोनो का आवश्यक है। अस्तित्वबोधहीन समाज व्यक्ति के समान ही मुर्दा है। महात्मा और सत्पुरुष समाज मे व्यक्ति के माध्यम से इसी अस्तित्वबोध का जागरण करते है। व्यक्ति के समान ही समाज भी समझे कि वह कौन है ? कहॉ से आया है ? उसका यहॉ आने, रहने और न रहने का उद्देश्य क्या है ? वह क्यो रहे और क्यो न रहे ? व्यक्ति शब्द का अर्थ है किसी अप्रगट का प्रगट होना। अप्रगट भी एक स्थिति है। अप्रगट का अर्थ शून्य या समाप्ति नही है। व्यक्ति का अर्थ है जो अप्रगट था वह अभिव्यक्त हो गया। यह कैसे सभव है। व्यक्ति या अभिव्यक्ति किसकी होगी ? कोई सत्ता तो होनी चाहिए। जो नही है। बिल्कुल शून्य है उसकी अभिव्यक्ति क्या कभी संभव है। कोई भी देश काल ऐसी अभिव्यक्ति नही कर सकते जो हो ही नही। नास्ति की अभिव्यक्ति असभव है। अभिव्यक्ति सदा अस्ति अर्थात् है से होती है। सत कबीर इस अस्ति को स्वीकार करते हैं। नास्ति नही अस्ति। नास्ति की सत्ता नही हो सकती। नास्ति का मतलब केवल इतना ही है कि वह प्रगट नही है। प्रगट मतलब वह इद्रियगोचर नही है। इद्रियातीत है। जिसे हम इद्रियो से नही जान सकते है। कितु जो इद्रियातीत है, जिसे हम इंद्रियो से नही जान सकते वह नही है ऐसा कहा जा सकता है। लोग कहेगे जो इद्रियो का विषय नही है उसे कैसे जाना जा सकता है ? क्योंकि जानकारी के सभी साधन तो इंद्रियाँ ही है। इद्रियाँ न रहे तो कुछ भी नही जाना जा सकता है। सामान्यत. यह

ठीक लगता है। किंतु इन प्रत्यक्ष इंद्रियो के भीतर भी एक इंद्रिय है जो भिन्न ढग से देखती है, सुनती, समझती और स्वाद लेती है।

सामान्य जीवन मे भी इसे देखा जा सकता है। इंद्रियाँ तो प्राय सबके पास एक जैसी होती है। इसके बावजूद लोग भिन्न-भिन्न व्यवहार करते है। कभी-कभी देशकाल बाधिक कार्य करते है। ससार के महापुरुषो को ध्यान मे रखना होगा। उनकी इंद्रियॉ सामान्य थी। किंतु उनके कार्य असामान्य थे। इंद्रियो के किसी नाप तौल से इनका निर्णय संभव नही। आप कहेगे मन भी तो इंद्री है। महापुरुषो का मन बड़ा और विशाल होता है। ठीक है मन। तो इस मन की कोई सीमा नही है। इस निस्सीम मन मे क्या क्या है, कौन बताए ? मन को कभी कोई देख नही सकता। वह यत्र का विषय नही। तो फिर इस मन के परे भी कुछ हो सकता है ? मन ही ऐसा हो जाय जो भिन्न प्रकार से सोचे समझे। अनत का ज्ञान प्राप्त कर ले। किंतु मन को अपने या अपने से भिन्न किसी का बोध तो होना ही चाहिए। मै की चेतना आवश्यक है। मै की चेतना के अभाव मे तो मन मरा रहेगा। मै की यह चेतना ही अहम् और अहकार है। मै हूँ तो मै कुछ कर सकता हूँ। मुझे कुछ करना भी चाहिए। यही काम है। काम की प्रेरणा चाहे बाहरी हो या भीतर की। किंतु प्रेरणा है। तभी तो अहम् बोध वाला मै व्यक्ति कुछ करने की स्थिति मे आता है। कुछ करता है। इसलिये प्रत्येक कर्म का कोई न कोई कर्त्ता है। साथ ही प्रत्येक कर्त्ता चाहे जैसा हो, जिस रूप मे हो उसे अह और काम की प्रेरणा है। ये दोनो ही उसके अस्तित्व है। अस्तित्व के अतरबाह्य लक्षण है। इसलिये अहम् और काम को अस्वीकार नही किया जा सकता। इन्हे अस्वीकार का अर्थ है जीव की सत्ता या संपूर्ण चेतना को अस्वीकार करना। क्योकि जहॉ भी चेतना होगी ये दोनो ही रहेगे। इसीलिये वेद ने काम को पूर्व पुरुष कहा। बुद्धि का आधार अह है। अत सांख्य ने महत् को बुद्धि और महत् से ही अहंकार को उत्पन्न बताया। मतलब कि अह महत है। यह बुद्धि भी है। बुद्धि के बाद का भी है। इनके बाद अन्य सृष्टियॉ आती है। इस प्रकार शास्त्रो मे काम और अह को सृष्टि का मूल माना गया है।

जब भगवान् कहते हैं कि मै कर्त्ता हू तो इसमे काम और अहम् दोनो की स्वीकृति है। ऐसे ही जब जीव भगवान् को कर्तुम् अकर्तुम् सर्वसमर्थ मानकर उनके कर्त्ता रूप विराट सत्ता की प्रार्थना करता है तो स्पष्ट ही वह उनके काम हाम को स्वीकार कर रहा है।

किंतु सत कबीर तो हाम काम के प्रचड विरोधी हैं। उनके उदाहरणो को ध्यान से देखना होगा। वे किसी दार्शनिक वाद मे नही जाते है। वे तो एक सामाजिक एव सासारिक स्थिति की ओर इगित करते है। समुद्र पर पुल बनाने के लिये वानरो ने पत्थर इकट्ठे किये। थे तो वे लोग वानर ही। अब वे पत्थरो से आपस मे लड़ने लगते। एक दूसरे पर फेककर मारने लगते। यह कि उसे एक-एक कर लका मे फेकते, जिससे लका नष्ट हो जाय। बिना किसी आधार के पत्थरो के समुद्र मे यत्र तत्र फैला देते। ऐसे मे न पुल बनता। न रावण का नाश होता। पत्थरों का सग्रह उचित होकर भी व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये पत्थरो का उपयोग सर्वप्रथम नल-नील ने किया। नल-नील मे पत्थर तैराने की शक्ति थी। उसके बाद अन्य वानरो ने पत्थर रखे। पुल बँध गया। नल-नील ने उसका आधार बना दिया था। स्पष्ट है कि हाम कांम आधार हैं। नीव के पत्थर है। इन्हे नीव से हटाया नही जा सकता है। नीव से हटा कि सब नष्ट। किंतु बेतरतीब इस्तेमाल भी पुल को नष्ट कर देगा। सत कबीर इसी बात की ओर सकेत करते हैं।

सामान्यजन तो हाम काम मे पड़े ही है। अपने को साधक सन्यासी कहनेवाले भी सिर मुड़ाकर कानो मे कुडल पहनकर हाम काम मे पड़े है। इन्हे पहना तो था यह बताने के लिये हाम काम छूट चुके है। वे कोई दिखावा नही करेगे। किंतु यह बाहरी दिखावा उनके भीतर

को प्रभावित नही कर रहा है। बाहरी मन की गदगी का प्रभाव भीतरी मन पर भी पड़ा है। यो कि बाहर के दिखावे के चक्कर मे भीतर को कभी ठीक करने की कोशिश ही नही की। हाम काम का पत्थर खतरनाक भी है। इससे पुल भी बन सकता है और सिर भी टूट सकता है। सत कबीर इसी बात की ओर सावधान करते है। हाम काम का ठीक उपयोग सीखो। पुल बाँधने मे उपयोग करो। तभी विषय रावण को पराजित किया जा सकता है। इनका ठीक सयोजन नही हुआ तो रावण के स्थान पर राम ही पराजित हो जायेंगे। और हो यही रहा है। लोग रावण को न पराजित कर राम को ही पराजित कर देते है। पुल को न बॅधता देख रावण और गरजता है। सती सीता पर अत्याचार करता है।

साधु सन्यासी भी अगर हाम काम के वश होकर काम करने लगे तो नया खतरा पैदा होता है। सीता की मुक्ति कौन कहे। सीता और भी पराधीन हो जायगी। रावण सन्यासी बनकर ही तो सीता को हर लाया था। वह सन्यासी क्यो बना ? क्या बिना इस वेश के वह सीताहरण नही कर सकता था ? कदापि नही। सामान्य आदमी मे सीताहरण की शक्ति नही थी। सन्यासी को समाज ने कुछ विशेष छूट दे रखी है। उनकी विश्वसनीयता सामान्यजन की विश्वसनीयता से बढ़कर है। उसे दडित करते समय भी बार-बार सोचना होता है। ऐसे मे सन्यासी को अपने कर्त्तव्यो के प्रति और भी सावधान रहना चाहिए। इसीलिये सत कबीर दूसरो का उदाहरण न देकर सन्यासियो का देते है—मुडित अर्थात् बौद्ध सन्यासी। मजूषा वाले अर्थात् कनफटे योगी। नाथ पथी।

कितु खाली सन्यासियो को कहने से बात नही बनती। सन्यासी तो हाम काम मे लिपटे ही, गृहस्थ भी कम नही है। हाम काम से सृष्टि नही, सृष्टि का नाश कर रहे है। किसी को पता नही कि वे कौन है। अपना अस्तित्व कीट पतग मानकर भी हो सकता और देवता मानकर भी। तो भाई, अपने को कीट पतग क्यो मानते हो ? देवता क्यो नही मानते ? भारत के लोगो की ही नही, सारी दुनिया के सभी धर्मो की मान्यता है। मनुष्य मूलत देवता है। कितु अनेक कारणो से वह राक्षस जैसा व्यवहार करता है। दूसरे धर्मो मे इस राक्षस को सुधारने और मुक्त करने देवदूत आते है। भारत के धर्मो का विश्वास है कि मनुष्य स्वय देवता बन सकता है। देवता तो वह है ही। केवल समझने की देर है। आग भीतर है। केवल एक उद्दीप्त चिनगारी से दहकने लगेगी। तो आवश्यकता है इस अह काम को ठीक से समझने की। समझकर उपयोग करने की। जड़ जतु अपने को ही नोचकर खाते है। समझते है वे अपनी भूख मिटा रहे है। कितु इससे भूख मिटती नही। जिस शरीर की रक्षा के लिये भोजन किया जाता है वह शरीर और भी क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। यही स्थिति इस अह और काम की है। इनके पीछे या इनके वश में रहने से ये सबको नष्ट कर देते है। इसलिये कि मनुष्य के सेवक नही है। परमात्मा के सेवक है। मनुष्य इनसे इतना काम लेने का अधिकारी है जितने से उसकी रक्षा हो सके। अस्तित्व रक्षाभर। अधिक लेने का अर्थ परमात्मा के अश को लेना। जैसे बकरी बाघ का भाग लेना चाहे। क्या परिणाम हो यदि बकरी बाघ का हिस्सा लेना चाहे ? बकरी नष्ट हो जायगी। तो इस नाश से बचने के लिये भी आवश्यक है कि परमात्मा को इन सेवकों का योग्य उपयोग करे।

यह बात सतो की समझ मे आती है। क्योकि वे भी परमात्मा के सेवक है। उन्हे मालूम है कि स्वामी की सपत्ति मे उसका उतना ही अधिकार है जितने से उसका निर्वाह हो सके। निर्वाह से अधिक लेनेवाला सेवक स्वामी का विरोधी और निष्ठारहित माना जाता है। स्वामी उसे अपनी सेवा से हटा देता है। और स्वामी की सेवा से हटे व्यक्ति की दुर्दशा का क्या कहना। ये हाम काम तो उसे एक क्षण मे नष्ट कर देगे। इसीलिये सत कबीर बार-बार इनसे

बचने को कहते है। बहुत कहेगे तभी कोई विरला सुनेगा, समझेगा और उस पर आचरण करेगा, लोग तो अहकार (गालिब) का नगर बसाते है। अह ही नही अहकार का नगर। यह भूल जाते है कि इन दोनो का भी असली मालिक कौन है ? लोग असली मालिक से न जुड़कर केवल सेवक से सबध रखना चाहते है। सत कबीर इसी भूल की ओर सबका ध्यान आकर्षित कर रहे है।

●

पुरुषहि पुरिषा जो रचै[1]

स्त्री द्वारा पुरुष और पुरुष द्वारा स्त्री की रचना होती है। दोनो मिलकर दोनो की रचना करते है। स्त्री और पुरुष दो विपरीत तत्त्व है। ये विपरीत ही मिलकर, रचना करते है। किंतु पुरुष द्वारा पुरुष की रचना सभव है क्या? यह सर्वप्रथम प्रश्न उठता है, पुरुष द्वारा पुरुष की बात क्यो कही गयी? स्त्री द्वारा स्त्री की रचना की बात क्यो नही कही गयी? क्या स्त्री द्वारा स्त्री की रचना सभव है? अथवा स्त्री द्वारा स्त्री की रचना असभव है, इसलिये उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। बात ऐसी ही है। स्त्री द्वारा स्त्री की रचना नही हो सकती। तो क्या स्त्री पुरुष की रचना कर सकती है? उत्तर है, अकेले वह भी नही कर सकती है। क्यो ? इसलिये कि स्त्री शक्ति तो है। किंतु वह शक्तिमान् नही है। शक्तिमान् कोई दूसरा है। वह शक्तिमान् परमेश की शक्ति है (अव्यक्त नाम्नी परमेश शक्ति)। उसमे कोई निजी शक्ति नही है। वह तो स्वय दूसरे की शक्ति है। वह कार्यो द्वारा अनुमानित होती है। उसका कारण भिन्न है। अनादि होकर भी कारण नही, कार्य है।

स्पष्ट है कि सत कबीर प्रथम पक्ति मे सासारिक स्त्री पुरुष की ओर सकेत कर रहे है। इस पक्ति का अर्थ है–स्त्री प्रकृति है और पुरुष पुरुष है। प्रकृति अर्थात् माया। पुरुष अर्थात् स्रष्टा परमात्मा। प्रकृति या माया तो जड़ है। त्रिगुणात्मिका है। इसके द्वारा स्वतत्र रूप से सृष्टि सभव नही। सृष्टि अगर स्त्री या माया की होती तो मुक्ति का सवाल कहाँ उठता है? क्या कभी कोई कर्त्ता से मुक्ति चाहता है? सृष्टि परमात्मा की है। बधन माया का है। माया अविद्या है। अज्ञान है। मुक्ति का मतलब है माया (अज्ञान) की निवृत्ति और आत्मतत्त्व (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति। किंतु परमात्मा तो निर्गुण निराकार, निष्क्रिय है। फिर कैसे यह सृजन करता है? इसका उत्तर यह है कि सृजन का कार्य उसका न होकर उसकी अचिन्त्य अवर्णनी शक्ति माया का है। इसीलिये माया के लिये 'प्रसूयते' शब्द आया है। किंतु इस प्रसूयते का मतलब नया बनाना नही है। माया कही से कुछ नया-पुराना लाकर नही बनाती है। वह लाएगी कहाँ से? न तो उसकी निरपेक्ष शक्ति है, न तो ब्रह्म से अतिरिक्त उसके पास कोई क्षेत्र है जहाँ से वह लाये। जो साधन है, वे भी उसके लिये कारण है। वे भी स्वतत्र रूप या स्वतत्र अस्तित्व मे उनके पास ही है, क्योंकि जिसकी स्वतत्रता स्वय बाधित है, उसका अपना क्या होगा? फिर वह स्वतत्र दीखती है। चूकि ब्रह्म को भी प्रभावित कर लेती है इसलिये ब्रह्म से भी या ब्रह्म जैसी ही प्रभावशाली दीखती है। इसलिये ब्रह्म की शक्ति होकर भी वह अनिर्वचनी और अनाद्य शक्ति है। असीमित शक्ति जैसी है।

इसीलिये सृष्टि तो ब्रह्म की है। आवरण और विक्षेप नामक अपनी दो शक्तियो द्वारा माया एक नयी सृष्टि खड़ी करती है। यह भ्रम की सृष्टि है। आवरण का अर्थ सत्य स्वरूप का ढँक जाना एव विक्षेप का अर्थ है एक नये रूप की अनुभूति। इस भ्रामक रूप की अनुभूति ही माया कार्य है। रज्जु मे सर्प की अनुभूति आवरण और विक्षेप का कार्य है। इस दृष्टि से माया कोई

---

१ नारि रचते पुरुष हैं पुरुष रचते नारि।
पुरुषहि पुरुषा जो रचै, सो बिरले ससार।

सृष्टि नही करती। वह केवल सृष्टि का भ्रम वनाती है। रस्सी का सर्प देखने मे है। वस्तुत. है वह रस्सी ही। कुडल मूलत सोना है। यह माया भी ब्रह्म की इच्छा है—इच्छा रूप नारि अवतरी, तासु नाम गायत्री धरी।

परमात्मा अपनी इच्छा इसी से पूर्ण कराता है। स्वय अकर्त्ता बना रहता है। उसे जब कभी कर्त्ता कहा जाता है तो इसका मतलब कि वह माया को माध्यम वनाकर अपना कार्य करता है। माया के सारे निर्माण त्रिगुणात्मक है। क्योकि माया त्रिगुणात्मक है। ये सभी निर्माण प्रभु- इच्छा के परिणाम हैं। अत नाशवान् है। सृजन और पालन के समान ही नाश भी उसकी इच्छा है। नाश भी वह माया द्वारा कराता है। प्रतिक्षण सृजन, पालन और संहार हो रहा है। मृत्यु मायाधीन है। इसीलिये सत कबीर कहते है—मै नही मरूँगा। ससार मरेगा। ससार के लोग मरेगे। सासारिकता मरेगी। यह सारा पसारा माया नारी का है—एकै नारी जाल पसारा। यही माया नारी सारे पुरुषो को खा जाती है—नारी सकल पुरुष को खायो। पुरुष तो एक है। फिर इसे सकल क्यो कहा? यहाँ नारी माया है। माया नारी पुरुष अर्थात् सभी प्राणियो को नष्ट कर रही है। नारी सामान्य स्त्री भी है। इस स्त्री नामा जीव ने सपूर्ण पुरुष जीव को भोग मे लगाकर समाप्त कर दिया है। पुरुष का पुरुषत्व नष्ट हो गया। ब्रह्म को प्राप्त करने की उसकी शक्ति जाती रही।

सभी जीव स्त्री है। चाहे वह पुरुष हो चाहे वह स्त्री हो। पुरुष जीव का पर्यायवाची है। स्त्री भी जीव का पर्याय है। माया बँधा जीव या साधक स्त्री है। पुरुष तो अकेले राम हैं—

कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार।

सत कबीर जब राम को, परमतत्त्व को खसम और अपने को राम की बहुरिया कहते हैं तो उसका यही मतलब है। गीता मे भगवान् ने कहा है—महद् ब्रह्म अर्थात् संपूर्ण प्रकृति मेरी योनि है। मै ही उसमे बीज डालनेवाला पिता हूँ—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत। १४।३
सर्व योनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवंति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।१४।४)

इसी महद् योनि को सत कबीर कहते है—नारी मोचित गर्भ प्रसूती। स्वाग धरै बहुतै करतूती। इसी बात को और स्पष्ट करते हैं। नारी एक है। पुरुष भी है। तो क्या ये दो है? नही है। नददास ने कहा है—प्रकृति पुरुष एकै करि जानो, बातनि भेद करायो। स्त्री और पुरुष प्रकृति और पुरुष एक हैं। भेद समझने का है। प्रसाद की दृष्टि मे एक तत्त्व ही प्रधान है। कहो उसे जड़ या चेतन। इसी अर्धनारीश्वर से चारो प्रकार के जीव उत्पन्न है—एकै पुरुष एकै है नारी। ताते रची खानि भौ चारी। स्त्री और पुरुष दो नही हैं। एक है।

इस एक को सिद्ध पुरुष समझता है। सिद्धि का अर्थ है परमतत्त्व की सत्यता और माया की निस्सारता को समझना, परमतत्त्व का रूप पुरुष का है। नारी का है। वस्तुत तो वह न स्त्री है, न पुरुष, न नपुसक। वह तो इन सबसे परे है। कितु रचना के समय उसे नाम रूप ग्रहण करना होता है। नाम रूप ग्रहण करने के सिलसिले मे ही वह स्त्री या पुरुष कहलाता है। कठिनाई माया या प्रकृति को समझने की है। माया परम पुरुष से अलग है क्या? अगर पूर्णत अलग माने तो उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करनी होगी। कितु दो की स्वतत्रता नहीं हो सकती। सर्व स्वतंत्र तो एक ही है। इसलिये माया की स्वतत्रता परमसत्ता की स्वतंत्रता से बाधित है। माया को पूर्ण स्वतत्र माने तो उससे मुक्ति के लिये ब्रह्म की उपासना व्यर्थ होगी।

नही माया दासी है। प्रभु की दासी। इसीलिये प्रभु के भक्तो पर उसका वश नही चलता। माया की पराधीनता के कारण ही सृष्टि का कार्य माया का होकर भी वह प्रभु कार्य कहा जाता है। क्योकि सेवक के सारे कार्य स्वामी द्वारा ही कृत्त माने जाते है।

माया मे पड़ा जीव माया मे फॅस जाता है। जैसे हाथी हाथी के द्वारा पकड़ा जाता है–

हस्ति के फंदे हस्ति रहई, मृग के फंदे मिरगा रहई।

कितु लोहा लोहे को काटता है। लौह पुरुष अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान से अज्ञान को, मिथ्या ज्ञान को नष्ट करता है। मिथ्या ज्ञान के रहते वह मायायुक्त है। स्त्री है। कितु ज्ञान होने पर, माया नाश के बाद वह पुरुष होता है। जीव पुरुष नही। परमात्म पुरुष। आत्मा और परमात्मा की एकता वाला पुरुष। ऐसा पुरुष जो माया से निकल गया है। माया ससार से उठ गया है। ऐसा ही विरला साधक पुरुष से पुरुष की रचना करता है। उसकी माया नष्ट हो गयी है। सत कबीर कहते है–जब मै था तब तू नही, अब तू है मै नाहि। मै का अर्थ माया। माया की उपस्थिति मे ब्रह्म नही था। माया हटी। तब केवल ब्रह्म है। अब कबीर को, साधक को पूर्ण ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो गयी है। वह जीव पुरुष से बढ़कर परम पुरुष हो गया है। ऐसे मे वह जो भी रचेगा वह पुरुष द्वारा पुरुष की रचना होगी। पहले के सारे कार्य मायाछन्न थे। अब ब्रह्म द्वारा ब्रह्म का प्रसार होगा। जित देखौ तित लाल। अब केवल लाल (ब्रह्म) दिखाई पड़ता है। सब कुछ ब्रह्ममय है। ब्रह्म द्वारा, ब्रह्म के लिये, ब्रह्म की है।

सत कबीर का सकेत एक ऐसी रचना से है जो मायिक रचना से भिन्न है। इसीलिए वह सर्वजन सुलभ न होकर विरला (क्वचित्) की रचना है। कबीर यह भी कहना चाहते है कि ब्रह्मात्मैक्य भूत पुरुष एक विशेष प्रकार का निर्माता हो जाता है। यही है, पुरुष से पुरुष की रचना। यह पूर्णता का दर्शन भी है। जहॉ पूर्ण से पूर्ण ही होता है। वेदात ने सृष्टि और परमात्मा के बीच मे माया को शायद इसीलिये रखा। ब्रह्म तो पूर्ण है। पूर्ण ब्रह्म कभी अपूर्ण, मिथ्या और असत्य की रचना नही कर सकता था। वह शायद उसकी प्रतिष्ठा के भी अनुकूल न था। इसलिये उसने अपूर्ण मिथ्या और नाशवान् के निर्माण की जिम्मेदारी के लिये माया को माध्यम बना लिया। गीता मे भगवान् कहते है–अपनी त्रिगुणमयी माया को अगीकार करके स्वभाव के वश से परतत्र हुए इस सपूर्ण भूत समुदाय को बारबार रचता हूँ–

प्रकृतिं स्वामवष्टय विभ्सृजामि पुनः पुनः।
भूत ग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।९।८

यहॉ तो कहा कि मै प्रकृति को आधार बनाकर रचता हूँ। आगे कहते है कि प्रकृति रचती है। मै उसका अध्यक्ष हूँ—हे अर्जुन, मुझ अधिष्ठाता के सक्राश से (यह मेरी) माया चराचर सहित सर्व जगत् को रचती है। मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् ९।१०। इस प्रकार हम देखते है कि रचना का कार्य कभी पुरुष का है। कभी प्रकृति का। असल मे है पुरुष का। कितु वह इस कार्य को अपनी दासी प्रकृति से कराता है। सत कबीर ने इन दोनो का भेद स्पष्ट किया है। माया से माया की रचना। ब्रह्म से ब्रह्म की रचना। ब्रह्म से ब्रह्म की रचना का अर्थ है आत्मा परमात्मा की एकता। एक ऐकातिक आनंदलोक की अनुभूति और उसी मे रमण, विहार। मुक्ति की एक दशा का नाम है–सार्ष्टि; जिसका अर्थ है समान स्थिति, दशा, पद की प्राप्ति। इस ब्रह्मदशा को प्राप्त साधक फिर माया मे न पड़कर परम पुरुष के ही साथ क्रीड़ा करता है। वही हो जाता है (ब्रह्मैव भवति)।

हम तो जाति कमीना

संत कवीर माया से कहते है। ऐ माया, हम तो गरीव जाति के हैं। हम गरीव के यहॉ क्यो आई हो? गरीव माया का स्वागत नही कर सकता है। भला गरीव के पास क्या है जो वह तुम्हारा, माया का, स्वागत करे? गरीव तो केवल जीवन यापन करता है। जीवन जीता है। शरीर क्या है? गरीव केवल उसकी रक्षा करता है। ईश्वर की दी हुई चादर को, घट को जस के तस रखता है। नष्ट नही होने देता है। कमीना का अर्थ है। शरीर का काम करने वाला। परिश्रमी। सही परिश्रमी का माया मे पड़ने की कहॉ फुर्सत है? कहॉं अवकाश है? गरीवो और मेहनतकशो के पास माया का स्थान नही है। उनके पास ऐसा कुछ नही है कि माया का पोषण कर सके। माया को तो वहुत कुछ चाहिए। वह वहुत कुछ गरीव नही दे सकता है।

अपनी गरीवी वताने का भी एक कारण है। कवीर उनमे नही जो व्यर्थ मे अपनी गरीवी का वखान करते है। गरीवी को धन कमाने, इकट्ठा करने का साधन वना लेते है। यहॉ कवीर ने अपने को गरीव कहा तो उसका विशेष सदर्भ है। माया ने कवीर से कहा था–'सरग लोक थै हम चलि आई, करन कवीर भरतारो। मै कवीर को पति वनाने स्वर्ग से आई हूँ।' अच्छा तो वड़ी कृपा की देवी। स्वर्ग की देवी हो। स्वर्ग से आई हो। कवीर को पति वनाने। कवीर को स्वर्ग का लोभ देती है। किंतु क्या है तुम्हारा यह स्वर्ग? विप लागै तिहारे नैना। विपैली ऑखो वाला स्वर्ग। काम के जाल मे फँसाने वाला स्वर्ग। वासना विप से मारने वाला स्वर्ग। माया का शृंगार कवीर को रक्तसनी तलवार लगती है। राती खॉडी देखि कवीरा, देखि हमारा सिगार। समस्त शृंगार माया है। समस्त शृंगार रक्त सनी तलवार है। साधना, शक्ति और सत को समाप्त कर देने वाली तलवार।

किंतु कवीर आसानी से मान जाने वाले नहीं है। वे पूछते हैं–हे देवी, तुम्हे स्वर्ग मे क्या कष्ट हुआ? स्वर्ग तो सुख की जगह है। तुम कलिकाल से भरी धरती पर क्यो आई हो? इसका मतलव यह कि कर्म करने वाला, मेहनतकश स्वर्ग से अधिक महत्त्वपूर्ण है। तभी तो माया स्वर्ग छोड़ कर एक कर्मकर को पति वनाने आई है। मेहनत की कमाई स्वर्ग से महत्त्वपूर्ण है। स्वर्ग माया है। किंतु असतुष्ट माया। स्वर्ग मे सतोष और सुख होता तो माया धरती पर क्यो आती? कर्मकर को क्यो खोजती? यह भी कि माया ने स्वर्ग को तो नष्ट किया ही। अव मजदूर को भी नष्ट करने आई है।

कवीर सत है न। सावधान है। माया समझती है। गरीव माया से तुरन्त प्रभावित हो जायगा। किंतु सावधान हैं सत। शायद केवल मजदूर होते तो यह सावधानी नही आती। सावधानी के कारण है साधक होना। संत होना। संत है जो हर समय माया से सावधान रहता है। तो सत कवीर पूछते है–ऐ माया स्वर्ग लोक मे तुम्हे क्या कष्ट हुआ कि धरती पर आयी? किंतु वे माया को उत्तर देने का अवसर नही देते। स्वय कहते है–

तहॉ जाहु जहॉ पाठ-पटवर, अगर चदन घसि लीना।

ऐ माया, ऐ रोग, ऐ धुर्त्तता, ऐ सजावट, ऐ अलकरण गरीब के यहॉ मत आओ। वहॉ जाओ। जहॉ सम्पत्ति है। सजावट है। अधिकता का सुख है। सचय और अपूर्व सचय है। जहॉ के लोग काम नही करते। केवल अपने को सजाते है। शोभित करते है। जहॉ राजपाट है। जहॉ के लोग पीताम्वर धारण करते है। अपने को नाना प्रकार के कृत्रिम साधनो से सजाते हैं।

अलकरणो मे अपने व्यक्तित्व को। सत्य को छिपाते है। सत्य से दूर रहने के लिये आवरण करते है। सुंदर बनने, सुदर दीखने-दिखाने के चक्र मे अपनी प्रकृति को नष्ट करते है। नाना प्रकार के उपकरणो, अलकरणो मे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते है। झूठा प्रदर्शन। झूठ का मिथ्या ससार। वह ससार जो उसे प्रभु से अलग करता है। जिसका सबध उसकी आत्मा से नही। मात्र शरीर से है। आत्मा की स्वच्छदता से नही। देह के बधन से है। जो देह को सब कुछ समझता है। जो देह के अतिरिक्त कुछ नही जानता है।

' जो भौतिकता, सजावट और अलकरण की गुलामी से दबा है। जिसने देह सजाने मे बाहर को अलकृत करने मे भीतर की उपेक्षा की है। अत करण की चेतना को मारा है। भीतर की गदगी को दूर न कर। उसे और गदा किया है। जो स्वार्थी है। स्वार्थ मे भीतर के काम, क्रोध, मद, मोह आदि को हटाना तो दूर। उन्हे और पोषित किया है। उसका सारा समय शरीर सज्जा। बाह्य आवरण मे। धर्म रखवाली मे व्यतीत हुआ है। जो धर्म नही। चर्म उद्योगी है। खाल की खबर रखता है। चर्म चिता मे रहता है। चर्म चिता ने जिसके चित्त को विकृत कर रखा है। चेतना को धूमिल बना दिया है।

हे माया। तुम कमीना कबीर को पति बनाने की बात छोड़ो। कबीर कर्मकर है। मेहनत कश है। यह कर्मकर पानी सा है। पानी मे माया की आग नही लगेगी। पाणी आगि न लागै। परिश्रम की साधना ने कबीर को पत्थर बना दिया है। साधना के पत्थर पर माया पानी का प्रभाव नही पड़ेगा। पानी से पत्थर नही भीगता है। ऐ माया, यहाँ तुम्हारा श्रम व्यर्थ होगा। माया के शृगार का असर शृगार करने वालो पर होता है। कर्मकर जुलाहो पर शृगार का असर नही होता है। कर्मकर के रखवाले भगवान् है। क्योकि वह माया नही। राम से जुड़ा है।

सत कबीर स्पष्ट देख रहे है। माया मानसिक रोग है। माया के साधन काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष से षड् विकार मन को विकृत करते है। मन मे आधि रूप मे उपजते है। मन की आधि। बाहर आकर व्याधि बन जाती है। सपूर्ण भीतर-बाहर के दुखो का मूल माया है। यह माया गरीब की अपेक्षा अमीर को अधिक पकड़ती है। अमीर के अनेक रोग है। पहले भी। अब भी। जैसे-जैसे माया की सभ्यता बढ़ती है। रोग बढ़ते है। सभ्यता परेशान है। भौतिक समृद्धि के बावजूद आत्मिक शाति नही है। बढ़ती समृद्धि के साथ अशाति बढ़ रही है। मन की आधि हिसा बढ़ रही है। मन हिसक बना है। हिसा और दुर्भावना बढ़ रही है। युद्ध और आतक बढ़ रहे है।

भारत का चितन। कबीर का चितन साधना और सरलता पर जोर देता है। सजावट नही। सज्जनता। अलकार नही। अहिसा। सजावट हिसा है। अधिक आवश्यकता। अधिक उपभोग की प्रवृत्ति है। अलकर प्रकृति को। स्वाभाविकता को समाप्त करते है। स्वाभाविकता, प्रकृति का नाश रोग, शोक और दुख का घर है। माया-मोह मे पड़ा व्यक्ति, समाज प्रकृति को नष्ट करता है। सारा सतुलन बिगाड़ दिया है। निर्गुण का पाना तो दूर। सगुण, सनातन की रक्षा भी नही कर रहा है। मन दुविधा मे है। पाना चाहता है निर्गुण को। किंतु सगुण भी छूट रहा है। भगवान् नही। माया को ही भगवान समझ रहा है। माया मनुष्य से भी महत्त्वपूर्ण हो गयी है। माया शृगार मे सृष्टि शृगार प्रकृति नष्ट की जा रही है। वनो, पहाड़ो, नदियो और देशदेशातरो की प्रकृति तो नष्ट की ही जा रही है। अपनी प्रकृति। अपने भीतर-बाहर की स्वाभाविकता, सरलता सादगी और सदाचार सभी का नाश हो रहा है। घरो पर रग। शरीर पर रंग। रंग के बढ़ते व्यापार को नष्ट कर दिया है। अपने ही विरुद्ध एक जंग छिड़ा है। चेतना नही। मात्र चमक। धन बढ़ा है। मन छोटा हुआ है। गर्व ने ज्ञान को दबा दिया है।

संत कबीर कहते है। गर्व माया है। ज्ञान परमात्मा है। क्यो आई? किसका गर्व है तुम्हे? तुमने ससार मे क्या प्राप्त किया है? जिसका गर्व है तुम्हें? शरीर तो तुम्हारा नही है। यह तो दूसरो का दिया है। नाशवान् है। नाश पर गर्व? नाश को सजाने, सवारने का गर्व? नही। यह ठीक नही। ज्ञान का गर्व करो। ज्ञान तुम्हारा होगा। अज्ञान माया का है। माया है। किंतु तुम देखोगे। ज्ञान आते ही गर्व नष्ट हो जायगा। गर्व और ज्ञान साथ नही रह सकते। गर्व तुम्हे सबसे, प्रभु से, प्रभु के वाशिदो से अलग करता है। ज्ञान जोड़ता है। सबकी, सबकी स्थिति का अनुभूति कराता है। विस्तार करता है। तुम विराट्। विराट् के अग बनते हो। यह विराट् तुम्हे विराट्, बड़ा बनाता है। गर्व ने तुम्हे लघु बनाया था। तुच्छता दी थी। ज्ञान ने तुच्छता का उन्मूलन कर दिया। तुम स्वय परमात्मा हो गये। सब को अपना और अपने को सबका समझने लगे। ज्ञान की ऑधी ने सबको अपने साथ कर लिया। सब अपने है तो लोभ, क्रोध, मोह, द्वेष आदि की आग स्वत· समाप्त हो गयी। अभी तक जिस आग मे तुम जल रहे थे। अग्नि शाति के लिये चोवा, चदन, अरगजा पोत रहे थे। चर्म चर्चित कर रहे थे। उसकी आवश्यकता समाप्त। खुली देह। पुरुष की परुष देह। श्रम से कठोर। पुष्ट देह को माया क्या करेगी? माया तो कोमलता खोजाती है। कमजोर पर चोट करती है। पुष्ट पर उसके दॉत खट्टे हो जाते हैं। बॉधना चाहे भी तो। बधन टूट जाता है। पीताम्बर के चिथड़े हो जाते है।

कोई कह सकता है। यह पीताम्बरधारी कृष्ण की आलोचना है क्या? सभव है। यही तो। कृष्ण तो पीताम्बरधारी है। तो जुलाहे ने पीताम्बर नही बनाया था क्या? कृष्ण का सबध तो पाट (राज्यं सिहासन) और पीताम्बर दोनो से है। कबीर दोनो के विरोधी है। पाट भी नही। पीताम्बर भी नही। दोनो मे माया का खतरा है। किंतु सूरदास भी कम सावधान नही है। वे पाट पीताम्बर को गोचारन, गाय, गोरक्षा, कछार और वंसी से जोड़ते है। गॉव और वन की सरलता। गो सेवा। कृषि। कालिया, पूतना, वकासुर आदि दुष्टो का वध और इन्द्र के उत्पात से व्रज की मुक्ति। कृष्ण सब कुछ करते है। किंतु राजकी ठाट से नही। सामान्य बन कर। अहीर बाल का बन कर। चरवाहा बन कर चराने वाला। उधर जुलाहा। इधर ग्वाला। अहीर। यहाँ भी माया का वश नही है। माया तो केवल आडवर और अनावश्यक सज्जा को घेरती है। सूर और कबीर दोनो ही माया विरोधी हैं। सूर के यहाँ राधा-गोपी नाम है। किंतु कबीर स्वय राधा गोपी है। राधा गोपी भाव मे राम के पति मान कर भजते है। सूर का गोपी भाव और कबीर का बहुरिया भाव एक है। कहने का ढग और शैली का अतर तो रहेगा ही। कबीर ने कही अपने को राधा गोपी नही कहा। किंतु स्त्री राधा बन कर ही प्रिय परमात्मा को पाते है। सूर कही सहजता नही खोते। गोचारण, उन्मुक्त बाल केलि के श्रम और गोवर्धन पर्वत उठाकर माया को रोकते है। इन्द्र माया है (इंद्रो मायाभि) कृष्ण ने इद्र माया को पराजित किया। साधारण वन, पर्वत एव पशु के साथ सामान्य स्त्री-पुरुष को जोड़ा। पहाड़ उठाकर। पहाड़ की रक्षा की। रक्षा माया नही है। भोग माया है। कृष्ण रक्षा, सरलता एव आनद के देवता हैं।

सत कबीर माया से, स्त्री से अधिक त्रस्त है। अत स्वयं स्त्री बन कर साधना करते है। अब माया का प्रभाव समाप्त। स्त्री पर बेअसर। स्त्री बन कर अपने को समर्पित कर दिया। दूसरे के। परमात्मा के हो गये। अब माया परमात्मा की वस्तु नही छीन सकती है। सत कबीर माया को वहाँ भेज रहे है जहाँ आवश्यकता से अधिक है। अधिकता ने आवश्यकता को दाब रखा है। व्यक्ति की आवश्यकता अधिकता की आवश्यकता की सेविका बन गयी है। अत· व्यक्ति की आवश्यकता व्यर्थ और बोझ है। आवश्यकता व्यक्ति का सहज मित्र है। अब इस आवश्यकता को भी जो दबा दे उस अपराधी को क्या कहा जाय?

तब अब बात यह बनी कि कबीर अपना कर्मकर रूप नही छोड़ेगे। क्योंकि इस पर माया का असर नही होता। माया गरीब नही। अमीर को अधिक प्रभावित करती है।

यहि घट चंदा यहि घट सूर

सत कबीर अगम देश मे वेगम मस्त रहते है। इस देश और स्थिति की अनुभूतियॉ असामान्य है। जैसे कोई धरती उठा। आकाश से सब को देखता हो। सब छोटे लगते हो। जहॉ न भूख है। न काम। न द्वेष और अद्वेष। अकेले मे मस्त। सारी जागतिक अनुभूतियो से ऊपर। उनका पाठक भी। उन्हे पढ़कर आकाश मे पहुँच जाता है। बिना किसी योग और साधना के। मनोलोक मे उड़ता है। किंतु किसी अतल गहराई की अनुभूति भी करती है। आकाश और पाताल के सगम मे स्थिति का सुख। यह सुख वही जानता है जो इसमे है। यहॉ है।

स्थूल और सूक्ष्म। सगुण एव निर्गुण के द्वारा सृष्टि को नही समझा जा सकता है। सृष्टि, सृष्टि की स्थिति और सृष्टि की समस्याओ को समझने का एक भिन्न तरीका है। वह तरीका क्या है? सत कबीर उसी तरीके को बताते है। ससार के लिये दो उपमान प्रसिद्ध है–घट और पट। ससार वस्त्र के समान बुना है। इसीलिये ईश्वर जुलाहा है। ईश्वर जुलाहा ससार वस्त्र को बुनता है। किंतु बात इससे पूरी नही होती है। व्यक्ति घट है। इस घड़े मे सब भरा है। गीता ने शरीर को वस्त्र कहा था। किंतु घड़ा और महत्वपूर्ण है। वस्त्र केवल बुनावट का सकेत करता है। किंतु घट अनत आयाम को छिपाये रखने की स्थिति मे है। भारत चितन मे एक दुनिया बाहर है। इसे ही हम सृष्टि, ससार के नाम से जानते है। यही हमारी सवेदना के प्रत्यक्षीकरण का विषय है। किंतु इसके अतिरिक्त एक ससार शरीर घट मे है। शरीर घट भी क्या कहिए? मानस मे है। अत करण मे है। शरीर घट तो स्थूल है। चीर का देखा जा सकता है। किंतु चीरने पर क्या मिलेगा? चीरने पर तो वही रक्त, मज्जा, मास, अस्थि आदि। नही। भीतर की दुनिया को भीतर जाकर पाया जा सकता है। यह एक अनुभव है। इस अनुभव की प्रक्रिया सारे अनुभवो से भिन्न है।

गीता मे श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपने घट के भीतर सब दिखलाया था। रामचरितमानस मे राम माता कौशल्या को अपने भीतर का अखड ब्रह्माड दिखलाते है। गीता और मानस भीतर के ब्रह्माड को जानकर भी उससे अनजान रहना चाहते है। क्योकि उनका उद्देश्य भीतर की अपेक्षा बाहर है। भीतर की कठिनाई है कि भीतर गया मन फिर बाहर नही आना चाहता है। वहॉ इतना सुख और आनद है कि कौन लौटे? अपना देश होकर भी यह अधिक अपना हो जाता है। फिर तो स्थूल, सगुण, साकार सब को भूल जाने की स्थिति आ जाती है। यह भूलना ठीक नही। भूले कि वह आधार समाप्त। जिसका सहारा लेकर घट के भीतर की दुनिया टिकी है। घट भी आवश्यक है। घट के भीतर की दुनिया भी आवश्यक है। बिना घट के इस दुनिया का अस्तित्व हो भी तो उसे पाना कठिन है। घट के भीतर को घट रहते ही समझा, परखा जा सकता है। उसका आनद भी घट के रहने पर ही है। घट फूटने पर क्या होगा? घड़े का जल ही उपयोगी है। समुद्र मे मिल जाने पर तो वह समुद्र का हो गया। विराट् का व्यष्टि बनना ही ससार सृष्टि है।

कठिनाई तब आती है जब हम बाहर के प्रसार को ही सब समझ लेते हैं। यही है। केवल यही है। ऐसे ही केवल का यह समझना कि यह नही। केवल भीतर है। यह समझ भी ठीक नही। इसीलिये सत कबीर इसे मै से मै की माया बताते है। मै ही मै को खोजता है। मै के दो

रूप है स्थूल (घट) और शून्य (भीतर)। दूसरे मै को सूक्ष्म भी कहना कठिन है। किंतु सूक्ष्म भी नही है। सूक्ष्म से ऊपर और शून्य से भिन्न है। ऐसा शून्य जिसका बोध हो सके। आनद या पीड़ा सूक्ष्म शून्य अनुभूति मात्र है। यही कारण है। इनकी अनुभूति घटानुसार होती है। एक घट की पीड़ा या आनदानुभूति दूसरे घट मे उलटी हो सकती है। होती है। सबकी अनुभूति। सभी घटो की चेतना। सुख-दुख एक जैसी हो। इसके लिये सत कबीर रास्ता बताते हैं। घट मे रहते हुए अपने घट के भीतर की दुनिया को दूसरे घटो की दुनिया से जोड़ देने की पद्धति। किंतु यह तो तब होगा जब पहले अपने घट की दुनिया को जाने। अपने घट की दुनिया को जानने की प्रक्रिया से अन्य घटो की दुनिया का भी बोध हो जाता है। क्योकि घट अनेक है। दुनिया तो एक है। कई घटो का पानी समुद्र मे मिल कर एक ही तो होता है। यह कार्य घटो के भीतर के जल की एकता की अनुभूति से सभव है।

कबीर की मुख्य चिता है कि जो अपने भीतर है। उसे व्यर्थ मे लोग मदिर, मस्जिद, काबा, कैलास मे खोजते है। बाहर ढूंढने से अलग-अलग दीखता है। किंतु भीतर, भीतर से देखने पर सब एक सा लगता है। भीतर की एकता की अनुभूति होते ही बाहर भी एक दीखेगा। दीखता है। मूल तत्त्व जल को समझ लिया। समझ लिया कि जल एक है। अब चाहे वह जहाँ हो। उसमे भेद नही किया जा सकता है। कहीं सफाई या गंदगी की अनुभूति सभव है। किंतु जल एक है कि अनुभूति महत्त्वपूर्ण है। अब अगर कहीं कुछ बुराई है तो उसे दूर करना है। इसलिये घट या जल द्वेष या घृणा का पात्र नहीं है।

सतो ने भीतर की दुनिया की खोज का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। घर बैठे सभी लोक लोकातर की यात्रा पूरी हो गयी। क्योकि सभी तो इसी शरीर मे है—सूर्य, चंद्रमा। सात समुद्र। नौ लाख तारे। पारस मोती। पारस को पहचानने वाला। अनाहत ध्वनि। फुहारा। फूलते जगल। फलते वृक्ष आदि। भीतर की यात्रा के कारण सतो के देवता अनगढ़िया हैं। अनगढ़िया कौन करे तेरी सेवा। इस देवता के अनगढ़ होने का कारण महत्त्वपूर्ण है। यह देवता व्यक्ति की खोज है। किसी शास्त्र या सिद्धात ने इसे पहले से नहीं गढ़ा है। इसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार गढ़ता है। अत. यह आरोपित नही। साधना से प्राप्त है। व्यक्ति की साधना। साधक की सामर्थ्य। इसलिये इसमे कलात्मक एव अलकारिक सौष्ठव नही है। अनगढ़पन ही इसका सौंदर्य है। रूप हीन। अरूप देव।

सत कबीर की इस आतरिक खोज को विश्वेतर विश्व कहना चाहिए। यह विश्वेतर विश्व पहाड़, नदी, पत्थर, वन, मिट्टी आदि से शून्य है। यहाँ तक कि इसमे हवा, आकाश भी नही। किंतु इसी शून्य मे कबीर तैरते हैं। चलते है। दौड़ते हैं। बैठते है। बिना साँस लिये जीवित रहते हैं। कुछ न कर भी सब करने के सुख की अनुभूति करते है। निष्क्रिय होकर भी गहरी सक्रियता है। बिना किसी ध्वनि और पदक्षेप चिह्न के सब हो रहा है। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, आदि कुछ नही। किंतु किसी अभाव की अनुभूति भी नही। भरे होने का भारी बोझ भी नही।

भौतिकता का अधिकता या अभाव से पीड़ित मन यहाँ सक्रिय विश्राम पाता है। अधिक को अधिक नही लगता है और अभाव को अभाव की अनुभूति नही होती है। अभाव तो भाव की अपेक्षा है। किंतु यहाँ भाव शून्यता मे कैसा अभाव। इसमे नीरस रस है। बिना रस के रस। शून्य होकर भी सहज है। निराधार मे टिका शरीर। किसी का सहारा नही। किसी की अपेक्षा नही। एकाकी शून्य। शून्य मे एकाकी। अकारण आनदित। केवल एकभाव। आनंद, रूप, रग, रेखा, ध्वनि रहित निर्जन आनद।

और तब लगता है। मै हूँ। केवल मै निजबोध। भीतर प्रविष्ट मे खुलता है। एक और मन। और मन ही मन। अनगिनन। असख्य मन। असंख्य सृष्टि। पलपल दृश्य बदलती सृष्टि। अनत काल की सृष्टि क्षण भर की लगती है। क्षण अनत काल लगता है। कौन खोजे? खोज के पीछे तो इच्छा है। यहाँ तो इच्छा का अभाव है। इच्छा तो शरीर मे। शरीर मे मन को होती है। यहाँ शरीर वाला मन भी तो नही। फिर इच्छा किसे हो? किसी प्रकार की कल्पना भी नही है। कबीर इसे शून्य महल। वेगम देश कहते है। यहाँ कोई गम नही। दुख नहीं। यहाँ सदा प्रकाश रहता है। करोड़ो सूर्य के प्रकाश होता है। यद्यपि यह वेगम देश विचित्र है। यहाँ न धरती है। न आकाश। कुछ नही। सब नही। सब से है। सब से विचित्र है।

इस देश दर्शन के फलस्वरूप। सत कबीर को यह भौतिक देश पराया लगने लगा है। पराया देश है। विदेश है। दूसरो का, माया का है। अत नाशवान् है। वे माया के इस नाशवान् देश मे क्यो रहे? नही रहेगे। यो भी कागद झाड़ झखाड़ एव कॉटे के घर मे कौन रहता है? यहाँ तो सकट ही सकट है। यह बागड देश लू से भरा है। लोग यहाँ नित्य जलते रहते है। दूसरा देश मालवा है। माल वाला गभीर है। कभी नाश न होने वाला माल। यहाँ पग-पग पर पानी और डग-डग पर रोटी है। कभी भूखो मरने की समस्या नही। मालवा ही अपना असली देश है। यह भौतिक देश तो पराए का है। इसे अपना समझना भूल है। एक तो यहाँ कुछ है नही। दूसरे यह नाशवान् है। इतना ही नही। इतना ही होता तो शायद रह लेते। नही। यहाँ एक बुढ़िया डाइन रहती है। यह डाइन है तो बुढ़िया कितु अपने को जबान कहती है। यह पर पुरुष का शिकार करती है। ज्ञानी इसके भोजन है। अज्ञानी से यह शृगार करती है। अपने पति पुत्र को खाकर प्रसन्न रहती है। इसकी ऑखो मे विषय है। तीन गुणो की रस्सी से बॉध कर सब को खाती है। इसके पॉच लड़के भी बदमाश है। नित्य सबको नचाते रहते है। सत कहते है अब कभी इस देश मे नही आऊँगा। जो गया, कोई तो नही आया। भला उस आनद देश को छोड़ इस डाइन के देश मे कौन आएगा? यह भी कोई रहने लायक देश है?

उस देश मे जाने पर एक अत्यत महत्त्वपूर्ण बात मालूम हुई। यह देश तो भेद-भाव शून्य है। यहाँ बैठकर सब समान दीखता है। कभी ऊँचे पहाड़ या हवाई जहाज से देखिए। नीचे सब बराबर दीखेगा। मतलब कि भेद दृष्टि नीचे की, नीचे रह जाने की दृष्टि है। उर्ध्वगामी दृष्टि समता मूलक, समता की है। इस समता दृष्टि के कारण वहाँ बारह मास बसत (होय) होता है। ज्ञानाग्नि की अखड धारा बरसती है। भव वन सदा हरियर रहता है। बरिसै अगिनि अखड धार। हरियर भौ बन अ ठारह भार। यह आनद समता का आनद है। विषमता मे दुख है। समता दुख रहित है।

यह अमरपुर है। नाशरहित नगर। इस नगर मे केवल सत रहते है। यह निर्गुण-निराकार क्षेत्र है। इसी को पाना कबीर का उद्देश्य है। कितु फिर भी वे सगुण को इनकार नही करते। सच तो यह है कि अगम, अमरपुर सगुण और निर्गुण दोनो से परे है। इसीलिए संत कबीर सगुण की सेवा। निर्गुण का ज्ञान और सगुण-निर्गुण से परे का ध्यान करते है–

सर्गुन की सेवा करौ, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुन के परे, तहै हमारा ध्यान।

कबीर निर्गुण को भी अस्वीकार करते लगते है। सही है। निर्गुण करते-करते निर्गुण भी सगुण जैसा हो जाता है। अत दोनो से परे जाना चाहते है। इस जगह कोई नाम-रूप नही। अगम देश है।

साखी

(१)

गुरुदेव कौ अंग

सतगुर सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति।

हरिजी सवाँ न को हितू, हरिजन सईं न जाति॥१॥

शब्दार्थ—सवॉ = समान। सगा (स स्वक्) = अपना। सोधी = (< सं. सुधी) विद्वान्। उदार। दाति = (स. दातृ = दानी) देनेवाला। हितू = हितैषी। हरिजन = भक्त। सई = समान

अर्थ—सद्‌गुरु के समान कोई अपना नही है। विद्वान् के समान कोई देनेवाला नही है। भगवान् के समान कोई हितैषी नही है। भक्त के समान कोई जाति नही है।

टिप्पणी—कई विद्वानो ने सोधी का शुद्धि तथा दाति का अर्थ दान किया है।

अलकार— अनुप्रास **बलिहारी गुरु आपणैं द्यौंहाड़ी कै बार।**

जिनि मानिष तै देवता, करत न लागी बार॥२॥

शब्दार्थ—बलिहारी = उत्सर्ग करना। बलिदान करना। आपणैं = अपने। द्यौहाड़ी = (सं दिवि गृह) स्वर्ग लोक। कै = का। बार = (< स द्वार) दरवाजा। बार = देर।

अर्थ—साधक गुरु पर अपने को बलिदान करता है। क्योंकि वे स्वर्ग दर्शन के द्वार है। जिन्हे साधक को मनुष्य से देवता बनाने मे जरा भी देर नही लगी।

यहॉ स्वर्ग और देवता का संयोग द्रष्टव्य हैं। देवता बनने पर ही मनुष्य स्वर्ग का अधिकारी होगा। क्योकि स्वर्ग देवो का निवासलोक है। दिव् का अर्थ आकाश भी है। योग मार्ग मे गुरु शिष्य को आकाश जिसे शून्य या सहस्रार चक्र कहते है, का दर्शन कराता है।

टिप्पणी—युगलानद जी ने इस साखी का पाठ यो दिया है—

बलिहारी गुरु आपना, घरी घरी सौ बार।

मानुष ते देवता किया, करत न लागी बार॥

इसमे और तो प्राय समान है। 'घरी घरी सौ बार' का अर्थ है—घड़ी घड़ी सौ बार।

डा० माता प्रसाद गुप्त ने पाठ तो 'द्यौहाड़ी' रखा है। इसका अर्थ दिवस किया है। सभवत वे द्यौहाड़ी को स दिवस + हि. ड़ी से व्युत्पन्न मानते है।

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपकार।

लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥३॥

अर्थ—सद्‌गुरु की महिमा (महत्त्व) अपरम्पार है। उन्होंने शिष्य (भक्त) पर अनत उपकार किए है। उन्होने विषय-वासनाओ से बद शिष्य की ऑखो को ज्ञान द्वारा खोलकर उसे सान्त नही अनंत तत्त्व ब्रह्म का दर्शन करा दिया है।

अलंकार— यमक **राम नाम कै पटतरे, देबे कौं कुछ नाँहि।**

क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माँहि॥४॥

शब्दार्थ—पटतरै = (< स. परत) समान। बराबर। हौंस = (<अर हवस) हौसला, प्रबल इच्छा।

अर्थ—गुरु ने शिष्य को राम नाम का मत्र दिया। यह इतना महत्त्वपूर्ण दान है कि इसके बदले मे कुछ नही दिया जा सकता। राम नाम से बढ़कर तो क्या राम नाम के मुकाबले का भी कुछ नही है। शिष्य गुरु दक्षिणा में गुरु को कुछ देकर संतुष्ट करना चाहता है। किंतु यह नही हो सकता है। इसलिये गुरु दक्षिणा देने की प्रबल इच्छा मन मे ही रह गयी। (पुराने जमाने मे शिष्य गुरु दक्षिणा अवश्य देता था।)

इस साखी मे एक ओर गुरु की महानता तथा दूसरी ओर शिष्य की नम्रता अभिव्यक्त है।

सतगुर के सदकै करूँ, दिल अपणी का साछ।
कलियुग हम स्यूँ लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ ॥५॥

शब्दार्थ—सदकै = निछावर। साछ = साक्ष्य। मुहकम = (अर) दृढ। बाछ = वाछा। आकाक्षा।

अर्थ—शिष्य कहता है कि मै हृदय को साक्षी बनाकर (सांच = सच्चे हृदय से) सद्गुरु के प्रति अपने को निछावर करता हूँ। सद्गुरु की कृपा और उनके प्रति मेरा समर्पण देखकर कलियुग (सासारिक विषय-वासनाऐं) मुझसे लड़ने लगा। वह मुझे गुरु समर्पण से विचलित करना चाहता है। किंतु मै दृढ इच्छावाला हूँ। कलियुग मुझे विचलित नही कर सकता है।

सतगुर लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जुबाह्या प्रीति हूँ, भीतरि रह्या सरीर ॥६॥

अर्थ—सद्गुरु ने प्रेम से आत्मज्ञान रूपी धनुष से राम नाम (शब्द) रूपी तीर चलाया। राम नाम रूपी यह तीर शिष्य के पूरे शरीर मे प्रविष्ट कर गया जिससे तन-मन सभी प्रभावित है।

टिप्पणी—धनुष एव तीर का यह रूपक गुरुवाणी के महत्त्व की ओर सकेत करता है।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही में मिलि गया, पढ्या कलेजे छेक ॥७॥

शब्दार्थ—साँचा = सच्चा। सूरिवाँ = सूरमा। बाह्या = (< सं वेध्या) भेदन किया। छेक = छेद।

अर्थ—सद्गुरु सच्चा वीर है जिसने शिष्य को राम नामक एक शब्द का ज्ञान दिया। यहाँ इसी ज्ञान को बाह्या अर्थात् बाण बेधना कहा गया है। इस शब्द बाण के लगते ही हृदय मे बैठा जन्म जन्मान्तर का वासना रूपी अधकार नष्ट हो गया। यह वासना या अज्ञान का अधकार पर्त दर पर्त बैठा था। यह मात्र गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही छेदा जा सकता था।

अलंकार— सागरूपक **सतगुर मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।**
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूँटि ॥८॥

शब्दार्थ—सूधी मूठि = सीधी मुट्ठी अर्थात् सीधा लक्ष्य कर तथा मुट्ठी कर, जिससे चूक न हो। दवा = वनाग्नि।

अर्थ—सद्गुरु ने शिष्य का अज्ञानाधकार मिटाने के लिये सीधा और प्रखर शब्द-बाण चलाया। वह न केवल शिष्य के अंगो को उघाड़ने लगा बल्कि उसने विषय-वासना के सारे प्रपंचो को नष्ट कर दिया। एक ऐसी आग लगी जिससे वासनाओ का जंगल जलने लगा।

अलंकार– मागरूपक उपमा।

हँसै न बोलै उनमनी, चंचल मेल्ह्या मारि ।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियार ॥९॥

शब्दार्थ–उनमनी = जहाँ मन और प्राण एक हो जाते है। मन का विषय चंचलता से हटकर ब्रह्म भाव मे स्थिर होना। मेल्ह्या = मिला दिया। भिद्या = भेद गया।

अर्थ–सद्गुरु का राम नाम रूपी हथियार मन के भीतर प्रविष्ट कर गया। इससे विषयो के पीछे भागनेवाले मन की चचलता समाप्त हो गयी। अब मन ब्रह्म से एकाकार है। ब्राह्मी स्थिति मे है। यह स्थिति न बोलने या शाति की स्थिति है।

टिप्पणी–गीता मे अर्जुन ने श्री कृष्ण से जिस चचल मन (चंचलस्तु मन कृष्ण) की शिकायत की थी उसे ही गुरु कृपा से कबीर साहब ने अचचल बना दिया है।

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति।

गूँगा हूवा बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थै पंगुल भया[1], सतगुर मार्‍या बाण ॥१०॥

अर्थ–सद्गुरु ने राम नाम का जो उपदेश दिया उससे शिष्य विल्कुल बदल गया। उसकी सभी इंद्रियॉ जो पहले पागल होकर विषयो के प्रति दौड़ती थी वे गूँगी, बहरी और लँगड़ी हो गयी है। इनके कारण अव वे विषयो की ओर नही दौड़ती है। उलटे अव राम के लिये पागल रहती है।

कवि ने गूँगा, बहरा और लगड़ा इन तीन शब्दो द्वारा इद्रियो की विषयहीनता की सूचना दी है।

पीछै लागा जाइ था, लोक बेद के साथि ।
आगै[2] थै सतगुर मिल्या, दीपक दीया[3] हाथि ॥११॥

अर्थ–शिष्य कहता है कि मै तो शास्त्राचार और लोकाचार के पीछे चलता था। किंतु इससे मुक्ति नही मिली । बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र मे घूमता रहा। सद्गुरु ने कृपा कर ज्ञान दीपक हाथ मे थमा दिया। इससे भीतर-वाहर का अज्ञानाधकार दूर हो गया।

टिप्पणी–यहाँ वेद का अर्थ है शास्त्र और लोक का अर्थ परंपरा। गो तुलसीदास ने इन्हे 'लोकवेदमत मजुल कूला' कहा है। भगवान् की ऐकातिकभक्ति मे लोक-वेद की मर्यादाएँ बाधक होती है।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहूर्णाँ, बहुरि न आँवौं हट्ट ॥१२॥

शब्दार्थ–अघट्ट = न घटनेवाली। बिसाहूणाँ = खरीद-ब्रिकी। सांसारिक व्यापार।

अर्थ–सद्गुरु ने मन रूपी दीपक मे भगवत् प्रेम का तेल भर दिया है। उसमे कभी न समाप्त होने वाली स्मरण की बाती जला दी है। इससे जीव के भीतर का अँधेरा (अज्ञान) दूर हो गया। इससे सासारिक व्यापार पूरा हो गया। अब जीव को इस भव सागर मे नहीं आना पड़ेगा।

यहाँ सकेत इस बात का है कि भक्त के सचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीनो प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते है। ये कर्म ही भवबधन या भव चक्र के कारण है।

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोबिंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ॥१३॥

शब्दार्थ–बीसरि = भूलना। जिनि = नही।

अर्थ–सद्‌गुरु ने जो ज्ञान दिया है (प्रकाशित किया है) उसे कभी भूल मत जाना। ऐसा दुर्लभ ज्ञान बार-बार नही मिलता है। यह तो स्वय भगवान् की कृपा है कि उन्होने सद्‌गुरु का दर्शन करा दिया।

टिप्पणी–भक्ति क्षेत्र मे भगवत् कृपा ही सब कुछ है। भगवान् साधन और साध्य दोनो है। भक्ति भी उनकी कृपा का फल है। इसे गो तुलसीदास ने कहा है– 'जा पर कृपा करहु जन जानी। कवि उर अजिर नचावहु बानी।'

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूँण।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौण ॥१४॥

शब्दार्थ–गरवा = (< सं गर्व या गुरु) भारी। गुरुत्व वाला। महत्त्वपूर्ण। रलि गया = घुलना-मिलना। नॉव = नाम। लूँण = नमक।

अर्थ–कबीरदास जी कहते है कि सद्‌गुरु अत्यत गभीर और गुरुत्व वाले मिल गये। उनकी कृपा से साधक और साध्य, भक्त और भगवान्, आत्मा और परमात्मा आटे-नमक के समान मिलकर एकाकार हो गये। इससे सासारिक जाति-पॉति तो मिट ही गयी। भक्त और भगवान् का अलगाव भी समाप्त हो गया। अब ये अलग-अलग दो नाम नहीं रह गये। क्यो कि भगति, भगत, भगवंत, गुरु नाम, रूप, वपु एक ही होते है। भक्ति के कारण भक्त भी भगवान् के जाति कुल का हो गया है।

अलंकार–प्रतिवस्तूपमा।

जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध[1]।
अंधा अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत ॥१५॥

शब्दार्थ–जाका = जिसका। अधला = अँधा। खरा = बिल्कुल। निरध = (नि = निरतर+ अध) सदा अधा रहने वाला।

अर्थ–जिसका गुरु भी अधा या अज्ञानी है। स्वाभाविक है कि उसका शिष्य सदा अधा होगा। बिल्कुल अधा। अधा गुरु अगर ऐसे अधे शिष्य को उपदेश करेगा तो वह उपदेश आत्मकल्याणकारी न होकर भवकूप मे गिराने वाला होता है। इस प्रकार के उपदेश से गुरु शिष्य दोनो का नुकसान होता है।

टिप्पणी–यहाँ 'ठेलिया' शब्द इस बात का सूचक है कि अधा गुरु उचित रास्ते की ओर न ले जाकर केवल धक्का देता है। शिष्य अपने अधेपन के कारण सुमार्ग पर न जाकर गुरु को ही धक्का देता है। फलत दोनो गलत रास्ते पर चले जाते है।

इस साखी मे योग्य गुरु पाने का उपदेश है। दूसरे, अज्ञानमूलक विकृत संप्रदायो की आलोचना है।

टिप्पणी–यह एक परपरित दोहा है। प्रसिद्ध सिद्ध सरहपाद (सरहपा) के नाम भी इसी भाव का दोहा प्रसिद्ध है–

जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव सिस्स करेइ।
अधे अध कढ़ावइ, तिम वेण्ण वि कूव पड़ेइ॥

---

1. गुरु चेला है जा चध।

नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दुन्यूँ बूडे धार मै, चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

शब्दार्थ—डाव = दाव (द का मूर्धन्यीकरण)। दुन्यूँ = दोनो।

अर्थ—न योग्य गुरु मिल। न उपयुक्त शिष्य की प्राप्ति हुई। गुरु और शिष्य दोनो लोभी थे। दोनो ने ज्ञानमूलक निष्काम भक्ति न कर फलाशा मे पत्थर के देवताओ (मूर्ति) की पूजा की। फलत दोनो लोभी गुरु शिष्य मुक्त न होकर भव सागर की धारा मे डूब गए। इसलिये कि उनकी नौका ज्ञान और भक्ति के काष्ठ की न होकर षड्विकारो के पत्थर की थी।

अलंकार– उपमा

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घरि किसकौ चानिणौं, जिहँ घरि गोबिन्द नाँहि ॥१७॥

शब्दार्थ—चौसठि दीवा =चौसठ दीपक चौसठ कलाओ का प्रतीक है। चौदह चदा = चौदह विद्या। चानिणौ = चाँदने। जिहँ = जिस। घरि = घर मे।

अर्थ—बाह्य या अनात्म शक्तियाँ चाहे कितनी भी बटोर ली जायें। किंतु उनसे आत्मप्रकाश नही हो सकता है। आत्मप्रकाश के लिये हृदय मे भगवान् की स्थापना आवश्यक है।

चौसठ कलाएँ और चौदह विद्याएँ अर्थात् सपूर्ण शास्त्रो का ज्ञान हो गया। फिर भी जिस हृदय मे भगवत्प्रकाश नही है, वहाँ अँधेरा ही रहेगा।

टिप्पणी—भक्ति के क्षेत्र मे अत साधना महत्त्वपूर्ण है। यहाँ कला और विद्या को स्थान नही है। गो तुलसीदास कहते है—

'कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।' १/९/८

यह गोस्वामी जी की नम्रता भी है। भक्ति का स्वीकृत सिद्धात भी है। कठोपनिषद् ने आत्मज्ञान के लिये प्रवचन का निषेध किया है। कठ का 'प्रवचन' गोस्वामी जी का 'वचन' है।

६४ कलाएँ- १ गीत, २ वाद्य, नृत्य, ४ नाट्य, ५. आलेख्य, ६. विशेषकच्छेद्य, ७ तडुलकुसुमवलिविकार, ८ पुष्पास्तरण, ९ दशनवसनागराग, १० मणि भूमिका कर्म, ११ शयन रचना, १२. उदकवाद्य, १३ दकघात, १४. अद्भुत दर्शनवेदिता, १५ माला ग्रन्थन-कल्प, १६ शेखरापीडयोजन, १७नेपथ्ययोग, '१८ कर्णपत्रभंग, १९ गधयुक्ति, २० भूषण योजना, २१ इन्द्रजाल, २२ कौचुमारयोग, २३ हस्तलाघव, २४ चित्रशाकापूपविकार क्रिया, २५ पानकरागासव योजन, २६ सूचीवापकर्म, २७ सूत्रक्रीडा, २८ वीणा डमरू वाद्य, २ प्रहेलिका प्रतिमाला, ३० दुर्वाचक योग, ३१ पुस्तकवाचन, ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शन, ३ काव्यसमस्यापूरण, ३४. पट्टिकावेत्र बाण विकल्प, ३५ तर्क कर्म, ३६ तक्षण, ३७ वास्तुविद्या, ३८. रूप्यरत्न परीक्षा, ३९ धातुवाद, ४० मणिरागज्ञान, ४१ आकरज्ञान, ४२ वृक्षायुर्वेद, ४३. मेषकुक्कुटलावक युद्ध विधि, ४४ शुकसारिका प्रलापन, ४५ उत्सादन, ४६ केशमार्जनकौशल, ४७ अक्षर मुष्टिका कथन, ४८ म्लेछित कवि कल्प, ४९ देशभाषा ज्ञान ५०. पुष्प शकटिका निमित्त ज्ञान, ५१ यत्र मातृका, ५२ धारण मातृका, ५३ सवाच्य सपाठ्य मानसी काव्यक्रिया, ५४ छलितक योग, ५५. अभिधान कोशच्छदोज्ञान, ५६ क्रिया विकल्प, ५७ ललित विकल्प, ५८ वस्त्रगोपन, ५९ द्यूत विशेष, ६० आकर्षक्रीडा, ६१ बाल क्रीडनक, ६२ वैनायिकी विद्या ज्ञान, ६३. वैजयिक विद्या ज्ञान, ६४ वैतालिकी विद्या ज्ञान।

ये ६४ कलाएँ शैवागम के अनुसार है।—मानस पीयूष १/९/८

१४ विद्या—१ षडग मिश्रिता वेदा धर्मशास्त्र पुराणव
मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश। -आप्टे कोश

२ पुराण न्यायमीमासा धर्म शास्त्राग मिश्रिता
वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश।
(याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात प्रकरण-१)

अर्थात् ब्रह्म आदि अठारह पुराण,तर्क विद्या न्याय, मीमासा (वेद वाक्य), धर्मशास्त्र (मनु स्मृति आदि), वेद के छह अग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छद) और चारो वेद- ये मिलकर १४ बिद्याएँ है। -मानस पीयूष १/९/८

३ अगानि वेदाश्चत्वारो मीमासा न्याय विस्तर ।
पुराणम् धर्मशास्त्र च विद्या ह्येताश्चतुर्दश, -विष्णु पुराण ३/६/२८

निस अँधियारी कारणै,चौरासी लख चंद ।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद ॥१८॥

अर्थ—जीवन रात्रि के अज्ञानाधकार को दूर करने के लिये ८४ लाख चद्रमा अत्यंत जल्दी-जल्दी उदित किये गये। तब भी ज्ञान-दृष्टि मद ही बनी रही। न दृष्टि खुली, न आत्माज्ञान हुआ।

यहाँ ८४ लाख चद का सकेत सभवत ८४ लाख योनियो से है। जीव ८४ लाख योनियो मे भटकता रहा। किंतु उसे ज्ञान नही प्राप्त हुआ। ज्ञान तो तभी प्राप्त होगा जब सद्‌गुरु की प्राप्ति हो।

अलंकार—विशेषोक्ति।

भली भई जु गुर मिल्या , नही तर होती हाँणि ।
दीपक दिष्टि[1] पतंग ज्यूँ, पड़ता पूरी[2] आँणि ॥१९॥

अर्थ—अच्छा हुआ कि सद्‌गुरु मिल गये। वरना बड़ा नुकसान होता। जैसे सामान्य जन फतिगे के समान माया की चमक-दमक मे पड़कर नष्ट हो जाते है वैसे मेरा भी नाश हो जाता। जैसे फतिगा दीपक को पूर्ण समझ लेता है। सामान्य जन माया को पूर्ण समझकर उस पर अपने को न्यौछावर कर देते है। वैसी ही दशा मेरी भी होती।

सकेत यह है कि पूर्ण (पूरा) माया नही, ब्रह्म है। इसीलिये केवल ब्रह्म सत्य है और मायानिर्मित जगत् मिथ्या है।

ब्रह्म की पूर्णता का श्लोक निम्नलिखित है-
ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

अलंकार—उपमा ।

माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत ।
कहै कबीर गुर ग्यान थै, एक आध उबरंत ॥२०॥

अर्थ—माया दीपक के समान चमक वाली है। मनुष्य अज्ञानवश फतिगे के समान है। अज्ञानी मनुष्य घूम-घूमकर या भ्रम मे पड़-पड़ कर फतिगे के समान माया के पीछे नष्ट होता रहता है। यहाँ भ्रमि का अर्थ बार-बार जन्म लेने से भी है।

सत कबीर कहते है कि कोई एकाध (बिरला) ही सदगुरु का ज्ञान पाकर माया से उबर पाता है। भ्रम के कारण जीव मे देहात्म बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

टिप्पणी—इसी प्रकार का रूपक गो० तुलसीदास के मानस मे भी है-
दीप सिखा सम जुवती तन मन जनि होसि पतग ।

---

१ युग-ज्योति।
२ आप।

भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग ।

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक ।
भावै त्यूँ प्रमोधि ले, ज्यूँ बंसि बजाई फूक ॥२१॥

शब्दार्थ—वपुरा = वेचारा। सिष = शिष्य। माँहि = मे। चूक = त्रुटि। भूल। भावै त्यूँ = जैसे भी हो। परमोधि ले = (स प्रवोध) अर्थ निकाले।

अर्थ—अयोग्य या साधना मे भूल करने वाले शिष्य को बेचारा गुरु कैसे प्रवोधित कर सकता है ? त्रुटियुक्त अयोग्य शिष्य अर्थ का अनर्थ कर देता है। जैसे कोई व्यक्ति वशी से वेसुरा राग निकलता है। इसमे वंशी का कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार गुरु भी निर्दोष है।

अलंकार—उदाहरण।

संसै खाया सकल जगु, संसा किन्हुँ न खद्ध ।
जे बेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥२२॥

शब्दार्थ—ससै = सशय। खद्ध = खाया । नष्ट किया। अष्षिरा = (स अक्षर) अक्षरो से। वेधे = विद्ध। प्रविष्ट।

अर्थ—संत कवीर कहते हैं कि सशय (जिसमे शब्द, आगम या गुरु बचनो के प्रति श्रद्धा का अभाव हो) ने सारे संसार को नष्ट कर दिया। किंतु सशय को कोई नही समाप्त कर सका। सशय को केवल वही भक्त चुन-चुन कर समाप्त करता है जिसका हृदय सद्गुरु के अविनाशी एव साधना प्रसूत उपदेशो से विद्ध है। वेधे का अर्थ है उपदेश का हृदयगम होना।

टिप्पणी—इस साखी पर गीता के 'सशयात्मा विनश्यति' का स्पष्ट प्रभाव है।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हाँ धीर ।
निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥२३॥

अर्थ—सत कवीर कहते है कि आत्मज्ञानरूपी चौकी पर बैठकर सद्गुरु ने शिष्य को धैर्य वँधाया। विपय व्याकुल या साधना पथ की कठिनाइयों से विचलित मन को स्थिरता प्रदान की। सदगुरु ने कहा कि तुम निर्भय और नि शक होकर भगवान् का भजन करो। किसी साधना के प्रारभ मे कठिनाइयाँ आती ही रहती है।केवल माने एक परमात्मा।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल ॥२४॥

शब्दार्थ– मनि = मन मे। पाडी = पड़ा। भोल = भूल। पासि = (<स पाशु) धूल। विनठा = विनष्ट। चोल = मजीठ रग।

अर्थ—सद्गुरु मिलने से ही क्या हुआ यदि शिष्य ने मन से विषयो को नही हटाया और विषयो मे ही भूला रहा। विषय मे भूले मन पर गुरुवचनो का कोई प्रभाव वैसे ही नही होता है जैसे धूल से भरे कपड़े पर मजीठ के रग का असर नही होता है अर्थात् धूल धूसरित वस्त्र पर मगीठ रग नही चढ़ता है।

अलंकार—दृष्टात।

बूड़े थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) उतरि पड़े फरंकि॥२५॥

शब्दार्थ—भेरा = एक प्रकार की नाव। जरजरा = (<स जर्जर) पुराना। फंरकि = फड़क कर। उछलकर।

अर्थ—मैं पुरानी और जर्जर नाव अर्थात् परपरागत रूढ आचार-विचार द्वारा ससार सागर की यात्रा मे करीब-करीव डूब चुका था। किंतु सद्गुरु के अनुग्रह भरे वचनो की लहर ने चमक कर मुझे वचा लिया। बस, मै उछलकर परंपरागत रूढ आचार-विचार की नाव से अलग हो

गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

गुरु गोविंद तो एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार ॥२६॥

शब्दार्थ—दूजा = दूसरा। दो। आकार = रूप। शरीर। आपा = अंहकार। अहता- ममता। करतार = परमात्मा। ईश्वर।

अर्थ—गुरु भगवान् ही है। गुरु और परमात्मा दोनो मूलत एक ही सत्ता के दो नाम हैं। केवल आकार या रूप की भिन्नता है। गुरुकृपा से जो जीवित मरता है अर्थात् जिसकी अहता-ममता समाप्त हो जाती है वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

अलंकार—विरोधाभास।

कबीर सतगुर नौं मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष ॥२७॥

शब्दार्थ—जती = (<स यती) संन्यासी। साधु। स्वाँग = बनावटी वेश।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि अगर सच्चा गुरु नही मिला और आध्यात्मिक शिक्षा अधूरी रही तो ऐसे मे सन्यासी का वेश भीख माँगने का बनावटी आवरण मात्र है।

सतगुर साँचा सूरिवाँ , तातै लोहिं लुहार।
कसणी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार ॥२८॥

शब्दार्थ—साँचा = सच्चा। ताते = तप्त। गर्म। लोहि = लोहा गर्म करने वाली आग ? कसनी = कसौटी। ताई = तप्त करना। ततसार = तत्त्व सार। सार तत्त्व।

अर्थ—सद्गुरु सच्चा सूरमा है जो लोहे के समान तामसिक वृत्ति से भरे शिष्य को भी साधना की आग मे गर्म कर आकार देता है। उसका तमस् दूर करता है। इसमे गुरु का दृष्टात लुहार (शूरमा) और शिष्य का तमस् भरे लोहे से दिया गया है।

दूसरे मे गुरु को सुनार कहा गया है जो सोने के समान शिष्य को साधना की आग मे गर्म कर शुद्ध करता है और ज्ञान कसौटी पर धिस कर उसकी शुद्धता प्रमाणित करता है।

अलकार— उपमा

थापणि पाई थिति[1] भई, सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बणजिया , मानसरोवर तीर ॥२९॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सद्गुरु के उपदेश से मन की चचलता समाप्त हो गयी और मन परमात्मा के ध्यान मे स्थिर हो गया है। साधक अब मानसरोवर अर्थात् आत्मचैतन्य के किनारे ज्ञानरूपी हीरे का व्यापार करता है।

यहाँ ज्ञान को हीरा कहने मे हीरे की उज्ज्वलता और मूल्यवत्ता द्वारा ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया। मानसरोवर मनस् का प्रतीक है। हीरा सार या मूल तत्त्व का भी सकेत है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

निहचल निधि मिलाइ तत,सतगुर साहस धीर।
निपजी मैं साझी घणों , बाँटै नहीं कबीर ॥३०॥

शब्दार्थ—निहचल = स्थायी। अक्षय। निपजी = उपजी। उत्पन्न हुई। तत = तत्त्व

अर्थ—सद्गुरु ने साहस और धैर्य द्वारा अक्षय तत्त्व परमात्मा से मिला दिया है। आत्मा और परमात्मा के इस मिलन से उत्पन्न आनद को लेनेवाले वहुत-से तैयार हो गये हैं। किंतु

---

1 युग-थिर।

कबीर (साधक) उस आंनद से इतना तदाकार है कि इस आत्मानंद की अनुभूति किसी दूसरे को कराने की स्थिति मे नही है।

टिप्पणी—बॉटै को भोजपुरी बाटे (स वर्तते) माना जाय तो अर्थ होगा 'कबीर है नही'। अहता-ममता छोड़ परमात्म मे लीन हो गये है। ऐसी तदाकारिता की अनुभूति दूसरो को देना असभव है,।

चौपड़ि माँडी चौहटै, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा राम जन, खेलौ संत विचार॥३१॥

शब्दार्थ—चौपडि = चौसर। एक प्रकार का खेल जो चार रग की गोटियो के आधार पर खेला जाता है। मॉडी = बिछाया। चौहटै = चौराहे पर। अरध उरध = (<स अध ऊर्ध्व) नीचे-ऊपर। बाजार = भीड़ भरी जगह। जहॉ लोग सासरिक क्रय विक्रय मे लगे है।

अर्थ—[**संत** कबीर की इस साखी को समझने के लिये उनके पूर्व के सत गोरखनाथ की निम्नलिखित बानी को ध्यान मे रखना होगा—

अरध उरध बिचि धरी उठाई, मधि सुनि मै बैठा जाई।
मतवाला की सगति आई, कथत गोरखनाथ परम गति पाई।

इसमे अरध-उरध तो कबीर की साखी से मिलता है।

सुनि (शून्य) का अर्थ है ब्रह्मरध्र।

मनुष्य शरीर मे नीचे से ऊपर तक कुल छह चक्र है। सबसे ऊपर आज्ञाचक है। आज्ञा चक्र का स्थान भौहो के मध्य है। इसे त्रिकुटी कहते है।

साधक इन चक्रो की साधना करता है। इन चक्रो को ही अरध उरध बाजार कहा गया है। आज्ञाचक्र चौराहा है जहॉ योगी चौपड़ बिछाये है अर्थात् ध्यान स्थिर करता है। सत कबीर कहते है कि राम भक्त विचार कर यह खेल खेलते है। साधना करते है।

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दॉव बताइया, खेलै दास कबीर॥३२॥

शब्दार्थ—सारी = जिस कपड़े पर चौसर की गोटियॉ बिछाकर खेल होता है। बिसात। पासा = हाथी दॉत या हड्डी से बने उँगलियो के बराबर छह गोटियॉ। इन पर बिदियॉ बनी होती है। खिलाड़ी इन्हे ही बार-बार फेकता है।

अर्थ—सत कबीर शरीर को बिसात बनाकर सद्गुरु के बताए ज्ञान के आधार पर प्रेम की गोटी फेककर चौसर खेल रहे है।

गुरु केवल दिशानिर्देश करता है। खुद खेल मे तटस्थ रहता है। यह परमात्मा की अकर्त्ता स्थिति की ओर सकेत है।

अलंकार—रूपक

सतगुर हम सूँ रीझि करि एक कह्या प्रसंग
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥३३॥

शब्दार्थ—रीझि करि = प्रसन्न होकर। प्रसग = प्रस्ताव। रहस्य। भीजि = प्रभावित होना।

अर्थ—सद्गुरु मुझ पर प्रसन्न हुए और उन्होने रहस्य से भरा भगवद्भजन या परमात्म ज्ञान की बात कही। इसे भक्ति तथा योगप्रसग कहना चाहिए। इस प्रस्ताव से प्रेम के बादल बरसने लगे और सभी अग भीग गये। अग भीगने का अर्थ है अत करण का प्रेम पूर्ण होना।

अलंकार—रूपक।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्माँ, हरी भई बनराइ॥३४॥

अर्थ—संत कबीर कहते है कि प्रेम के बादलो की वर्षा हो गयी। यह प्रेम गुरुकृपा का प्रेम है। ऐसी प्रेमवर्षा जिससे बरसानेवाला और जिस पर बरसाया जाता है दोनो भीगते है। बाहर भी भीगता है। भीतर भी भीगता है। जो जीवन वन वासना की आग मे जल रहा था वह भगवत् प्रेम वारि की वर्षा से हराभरा हो गया।

अलंकार—रूपक।

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख भेल्या दूरि ।
निर्मल कीन्ही आत्माँ तातैं सदा हजूरि ॥३५॥

शब्दार्थ—पूरे = पूर्ण ब्रह्म। परचा = परिचय। भेल्या = हुआ। ताथै = इस कारण या स्थापित। हजूरि = हाजिर।

अर्थ—भक्त का पूर्ण ब्रह्म से परिचय हो गया जिससे सारे दुख दूर हो गये। दुखो को दूर हटा दिया। इस परिचय से आत्मा पर पड़ी मैल दूर हो गयी। जो प्रभु हृदय से सदा दूर रहते थे वे अब इस निर्मलता के कारण सदा हृदय मे स्थित रहते है।

(२)

सुमिरण कौ अंग

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहि तर भला न होइ ॥१॥

अर्थ—संत कबीर कहते है। सभी लोग सुनते है। राम कहने से सब की भलाई होगी। जो राम नही भजेगा उसका कल्याण नही होगा।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥२॥

अर्थ—संत कबीर कहते है कि न केवल उन्होने कहा है बल्कि ब्रह्मा और महेश ने भी यही कहा है कि राम का नाम सार तत्त्व है। यह सभी का उपदेश है।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाँव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥

अर्थ—इस लोक मे ही नही तीनो लोको में राम नाम ही सार तत्त्व है। श्रेष्ठ तत्त्व है। तिलक लगाने से माथा सुशोभित होता है। किंतु राम छाप के तिलक से वह और सुंदर लगता है। मस्तक मे राम के तिलक को स्थान देने से मनुष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व सुंदर हो जाता है।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनाँ, कबीर सुमिरण सार ॥४॥

अर्थ—संत कबीर कहते है कि भगवान की भक्ति और भजन यही सार तत्त्व है। मन, वचन और कर्म से हरि स्मरण करते रहना चाहिए। संसार के दूसरे कार्यो मे अपार दुःख है। इसमे सर्वम् दु:खम् की ध्वनि है।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौ काल ॥५॥

अर्थ—संत कबीरदास कहते है, हमने आदि-अंत अथवा संसार के सभी लोक-वेद की खोज कर ली। अब स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि राम का स्मरण ही सारतत्त्व एवं सनातन है। शेष सभी सांसारिक प्रपंच तथा विनाशकारी काल है या काल द्वारा नष्ट खुद को भी नष्ट करते है तथा जो उनके पीछे रहता है उसे भी नष्ट कर देते हैं।

च्यंता तो हरि नाँव की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवै राम बिन, सोइ काल को पास॥६॥

अर्थ—दास (भक्त) को केवल हरिनाम स्मरण की चिंता है। वह और किसी कर्म-धर्म के बारे मे कभी नही सोचता है। जो व्यक्ति रामरहित होकर किसी चीज की चिता करता है वह काल के फँदे (पाश) मे पड़ता है।

पंच सँगी पिव पिव करै, छटा जु सुमिरे मन्न।
आई सूति[1] कबीर की, पाया राम रतन्न॥७॥

शब्द—पच सगी = ऑख, कान, नाक, जीभ, त्वचा पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ। सूति = स्मृति। स्मरण

अर्थ—सत कबीर कहते है कि परमात्मा की स्मृति भूली थी। गुरुकृपा से परमात्म तत्त्व का स्मरण हो आया। फलत ऑख, कान, नाक, जीभ, त्वचा ये पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ तथा छठा मन भी राम-राम रटने लगा। गुरुकृपा से भक्त को रामनाम का रत्न प्राप्त हो गया है। पॉचो इद्रियो का राम नाम स्मरण का अर्थ है ये इद्रियॉ अब राममयी हो गयी हैं। जो कुछ करती है राम के लिये करती है। तन्मयीभवन की स्थिति है।

अलंकार—रूपक।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं है रह्या, सीस नवावौं काहि ॥८॥

अर्थ—मेरा (भक्त) मन राम का स्मरण करता है। राम का स्मरण करता-करता स्वय राम हो गया है। जब मन स्वय राम हो गया तो वह अब किसके सामने सिर झुकाए ?

अलंकार—तद्गुण।

टिप्पणी—भक्ति के क्षेत्र मे तीन स्थितियॉ आती है—तस्यैवाह, ममैवासौ, स एवाहमिति त्रिधा। मै उसका हूँ। वह मेरा है। मै वही हूँ।

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥९॥

अर्थ—भगवान् का स्मरण तो तू तू करता हुआ प्रारंभ हुआ। अर्थात् प्रारंभ मे मैं तू का भेद बना था। कितु बार-बार स्मरण से मेरे मै की बलि हो गयी। मेरा हूँ (अहम्) समाप्त हो गया। अब केवल तू है। यह अहम् का त्वम् मे विसर्जन है। फलत अब सभी ओर केवल तू (ब्रह्म) ही दिखाई पड़ता है।

अलंकार—तद्गुण।

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति ।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति॥१०॥

शब्दार्थ—दीवै = शरीर। बाति = प्राण। तेल = शक्ति। सामर्थ्य।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जब तक शरीर मे शक्ति और प्राण है तब तक राम का स्मरण करो। जैसे तेल खत्म होने पर बत्ती बुझ जाती है उसी प्रकार शक्ति समाप्त होने पर चेतना समाप्त हो जायगी। फिर तो मृत्यु रूपी महानिद्रा मे सोना ही है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनाँ भी सोवणाँ, लंबे पाँव पसारि॥११॥

अर्थ—सत कबीर कहते हैं कि ससार के विषयो मे क्यो सोये हो अर्थात् विषयो मे क्यो

---

[1] गु-सुरति।

भूले हो ? जागो, विषय तृष्णा से मुक्त होकर भगवान का भजन करो। एक दिन तो ऐसा आयेगा ही जब पाँव फैला कर चिरनिद्रा मे पड़ जाना है।

अलंकार—पर्यायोक्ति।

कबीर सूता क्या करै काहे न देखै जागि।
जाका सँग तैं बीछुड़्या, ताही के सँग लागि ॥१२॥

अर्थ—सत कबीर ससार के अभक्त प्राणियो को सबोधित करते हुए कहते है कि विषयनिद्रा मे क्यो पड़े हो ? जागते या ज्ञान क्यो नही प्राप्त करते हो ? तुम्हारा दुख तो वियोगजन्य है। जिस परमात्मा से तुम अलग हुए हो, साधना द्वारा उसी की सगति करो।

यहाँ सग महत्त्वपूर्ण शब्द है। विषयो के संग से काम, क्रोध आदि षड्विकार पैदा होते है। परमात्मा के सग से मुक्ति मिलती है। दुख की निवृत्ति होती है।

यह साखी अद्वैत और अशाशी भाव का संकेत करती है। जीव उसी परमात्मा का बद्ध-रूप या अश है।

कबीर सूता क्या करै उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मै, सो क्यूँ सोवै सुक्ख ॥१३॥

शब्दार्थ—बासा = निवास। गोर = कब्र। क्यूँ = क्यो।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि अज्ञान निद्रा मे क्यो पड़े हो ? ससार के कष्टो को देखकर रोते क्यो नही ? ज्ञानी को रोना चाहिए। रोनेवाले को ही प्रभुकृपा प्राप्त होती है। जिसे कब्र मे जाना है वह कैसे सुख से सो सकता है ? क्योकि मृत्यु तो अटल है।

साख्यवादी मरण को प्रकृति और जीवन को उसकी विकृति मानते है—मरण प्रकृति जीवनम् विकृति प्राणिनाम्।

अलंकार—अर्थातरन्यास।

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिंद के गाइ ।
तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कदे का खाइ ॥१४॥

शब्दार्थ—कदे = कभी का। खरच खाइ = खर्च खाना। खाना खर्च। खाइ = खाद्य। गाइ = आओ। खरच = दैनिक भोजन।

अर्थ—संत कबीर कहते है कि अज्ञानरात्रि मे मत सोओ। उठो और भगवान का गुणानुवाद करो। देखते नही, हर प्राणी के सिर पर यम (मृत्यु) खड़ा है। वह सभी को दैनिक भोजन के रूप मे खा रहा या सभी उसके खाद्य बन रहे है।

टिप्पणी—खलक चबीना काल का कछु मुख मे कछु गोद।—कबीर

कबीर सूता क्या करै, सूताँ होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुनत काल की गाज ॥१५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि क्यो सो रहे हो ? सोने से बड़ा नुकसान होता है। सभी कालदेवता की गर्जना सुन रहे है। उस गर्जना की भयानकता से ब्रह्मा का आसन भी डगमगाने लगता है। काल ब्रह्मा जैसो को भी आसन या शासन से खिसका देता है।

टिप्पणी—सत कबीर के इस कथन मे वह पौराणिक मान्यता है जिसमे ब्रह्मा सोते है और सृष्टि प्रलय मे डूब जाती है।

अलंकार—अर्थातरन्यास।

केसौ कहि कहि कूकिये, नाँ सोइयै असरार।
राति दिवस कै कूकणौं, (मत)कबहूँ लगै पुकार ॥१६॥

शब्दार्थ—केसौ = केशव। ईश्वर। कूकिये = बोलिये। असरार = (< अ०इस्रार) हठ

करना। बार-बार कहना। लगातार।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हर समय दृढ़तापूर्वक भगवत् स्मरण तथा नाम जप करते रहो। कभी सोओ मत। रातदिन चिल्लाने-बोलने से कभी तो तुम्हारी पुकार उसे प्रभावित करेगी।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहि राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥१७॥

शब्दार्थ—फुनि = पुन , फिर। घटि = शरीर। हृदय। रसना = जीभ। षये = नष्ट हुए। मरे।

अर्थ—जिस व्यक्ति के हृदय मे भगवत्प्रेम तथा जीभ पर राम नाम नही है। अर्थात् जो जीभ से राम नाम का उच्चारण नही करता है वह व्यक्ति ससार मे व्यर्थ ही जन्मा और मरा। ऐसे व्यक्ति का जीवन निरर्थक है।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुणाँ, ज्यूँ आया त्यूँ जाव ॥१८॥

शब्दार्थ—साव = स्वाद। चषि = चाखकर। पाहुणॉ = (स प्राघूर्ण) अतिथि।

अर्थ—जिस व्यक्ति ने भगवत्प्रेम न चखा। चखकर उसका स्वाद नही लिया। वह व्यक्ति सूने घर के अतिथि के समान है। जिस अतिथि का कोई सत्कार नही होता है। जो उस घर के किसी गुण अवगुण से परिचित नही होता है। उसे निराश होकर व्यर्थ लौटना पड़ता है। अर्थात् मनुष्य जन्म का उद्देश्य भगवतभक्ति करना है।

अलंकार—दृष्टात।

पहली बुरा कमाइ करि, बाँधी विष[1] की पोट।
कोटि करम फिल पलक मै, (जब)आया हरि की ओट॥१९॥

शब्दार्थ—पोट = पोटली। गॉठरी। कोटि = करोड़। फिल = फिराकर। ओट = शरण।

अर्थ—पहले तो बुरे कर्मो की कमाई करके विष की गाँठरी बाँधी। तब सद्गुरु की कृपा पाकर करोड़ो कर्मो से मन को पल मे फिराकर भगवान् की शरण मे आया।

कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ॥२०॥

शब्दार्थ—क्रम = कर्म। पेलै = छोड़ता है। रचक = थोड़ा। नाउँ = नाम। पुन्नि = पुण्य।

अर्थ—थोड़ा भी राम नाम जीभ पर या हृदय मे आ जाए तो करोड़ो कर्मभोग तुरन्त समाप्त हो जाते है। अनेक जन्मो के पुण्य भी व्यर्थ हैं। राम ही सब की शरणागति है। राम के बिना ससार मे किसी का कोई स्थान नही है। राम नाम ही आधार है। राम नाम बिना सभी आधारहीन है।

अलंकार—चपलातिशयोक्ति।

जिहि हरि तैसा जाणियाँ, तिन कूँ तैसा लाभ।
ओसौ प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ ॥२१॥

शब्दार्थ—जिहि = जो। तिन = उसे। तैसा = वैसा। ओसौ = ओस से भी। भाजई = भागती है। आभ = (स आप) आव। पानी। धसै = प्रवेश करना।

अर्थ—जो ईश्वर को जैसा जानता या जैसे भजता है उसे वैसा लाभ होता है। कम भजने

---

[1] युग-विषय।

से कम लाभ होता है। अधिक से अधिक फल मिलता है (अधिकस्य अधिक फल)। ओस चाटने से किसी की प्यास नही बुझती है। प्यास बुझाने के लिये तो पानी मे प्रवेश करना होता है।

ईश्वर गहरे जल सा अथाह और अगाध है। इसलिये भक्ति मे पूरी तल्लीनता या डूबकर ही भक्ति का असली सुख प्राप्त होता है।

टिप्पणी—'जे यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्'-गीता।

अलंकार—निदर्शना।

राम पियारा छाड़ि करि, करै आन का जाप।
बेस्याँ केरा पूत ज्यूँ, कहे कौन सूँ बाप॥२२॥

अर्थ—जो व्यक्ति अनत अखड ब्रह्म राम को छोड़कर दूसरे की उपासना करता है वह वेश्यापुत्र के समान है। जैसे वेश्या पुत्र अपने असली पिता के बारे मे नही जानता है वैसे ही राम को न भजने वाला व्यक्ति परम पिता परमात्मा को नही जान सकता है।

अलंकार—उपमा।

कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥२३॥

शब्दार्थ—ऊचरे = उच्चारण होना। तिहि = उस।

अर्थ—व्यक्ति को स्वय तो राम कहना ही चाहिए। औरो से भी राम कहवाना चाहिए। जिसके मुख से राम नाम नही उच्चरित होता है उसे भी राम नाम उच्चारण के लिये फेर देना चाहिए।

जैसै माया मन रमै, यूँ जे राम रमाइ
(तौ)तारा मंडल छाँडि करि, जहाँ के सो तहाँ जाइ॥२४॥

अर्थ—मनुष्य का मन जैसे माया मे रमता है उसी तीव्रता से अगर राम की भक्ति मे रमे तो आकाशमंडल भेदकर भगवान् के पास पहुँचा जा सकता है।

लूटि सकै तौ लूटियो, राम नाम है लूटि ।
पीछें ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि॥२५॥

अर्थ—चारो ओर राशि-राशि राम नाम फैला है। इसलिये इसे सामर्थ्य भर लूटना चाहिए। अधिक से अधिक ग्रहण करना चाहिए। यह काम तभी तक हो सकता है जब तक यह मानव देह है। मानव देह की समाप्ति पर राम का भजन नही हो सकता है।

लूटि सकै तो लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहैगा, रूँधै दसूँ दुवार॥२६॥

अर्थ—ऐ मनुष्य, राम नाम का भडार पड़ा है। सद्गुरु लुटा रहे है। अच्छा अवसर है लूट सको तो लूट लो। जब काल या यम दसो द्वार बद कर देगे। कठ रुद्ध हो जायगा अर्थात् मृत्यु हो जाएगी तो कुछ नही कर सकोगे। यह सत्य है कि दरवाजे बद हो, वह भी काल के द्वारा तो लूट नही हो सकती है। लूट का माल भी भीतर नही जा सकता है। राम नाम लूटने का अर्थ है स्मरण, कीर्तन, ध्यान, धारणदि द्वारा राम को अपने हृदय मदिर मे स्थापित करना।

टिप्पणी—शरीर के दस द्वार—दो कान, दो ऑखे, दो नाके, मुख, गुदा, जननेद्रिय, ब्रह्मरंध्र।

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार ।
कहौ संतौ क्यूँ पाइये, दुर्लभ हरि दीदार॥२७॥

शब्दार्थ—मार = कामदेव। डाकू। बटमार। विकट = कठिन। दुर्गम। दीदार (फ़ा०) = दर्शन। कृपा।

अर्थ—ईश्वरप्राप्ति का मार्ग लबा है। ईश्वर का निवास स्थान भी बहुत दूर है। वहाँ पहुँचने का मार्ग भी कठिन है। रास्ते मे काम, क्रोध लोभ, मोह आदि बहुत से बटमार परेशान करते है।

सत कबीर पूछते है—हे सतो, ऐसे मे ऑखो के लिये दुर्लभ भगवान् को कैसे प्राप्त किया जा सकता है अथवा भगवान का दर्शन कैसे हो सकता है ?

'दुर्लभ हरि दीदार' का अर्थ दूसरे प्रकार से भी हो सकता है—भगवान की कृपादृष्टि दुर्लभ है। कठिन है। उसकी प्राप्ति कैसे सभव है ?

गुण गायें गुण ना कटै, रटै न राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूँ पावै दुलभ जोग ॥२८॥

अर्थ—केवल भगवान् के गुणो का कथन करने से त्रिगुण-माया नहीं कटती है। इसके लिये भगवत् विरह की पूरी व्याकुलता होनी चाहिए। उस विरह व्याकुलता मे भी जब तक पूरी तरह तन्मय होकर रामनाम न रटा जाय। दिन रात भगवान् का ध्यान हो तभी दुर्लभ प्रभु की प्राप्ति हो सकती है।

अलंकार—यमक।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतॉं हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूँ त नाहीं ठाम ॥२९॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि राम नाम के स्मरण मे अनेक प्रकार की सासारिक बाधाएँ आ खड़ी होती है। भगवत्भक्ति करना नटविद्या के समान कठिन है। थोड़ी भी असावधानी (लोभ, मोहादि) हुई कि साधना बेकार हो जाती है। इसीलिये भक्त को अपनी साधना मे नट के समान सावधान रहना चाहिए। वह चारो ओर से अपनी वृत्तियो को समेट कर केवल भगवत्साधना मे दृष्टि रखे।

टिप्पणी—

१ सूली ऊपर सेज पिया की केहि विधि मिलनो होय। —मीरा
२ होइ घुनाक्षर न्याय ते पुनि प्रत्यूह अनेक। —तुलसी।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत ।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत ॥३०॥

शब्दार्थ—छीलर =-छोटे छिछले तालाब आदि।

अर्थ—मनुष्य को चाहिए कि वह मन से राम के रूप का ध्यान करे और जीभ से राम नाम का स्मरण करे। ससार मे बहुत से प्रलोभन है। अनेक भूत-प्रेत, देवी-देवता छिछले तालाब के समान है। इनकी उपासना नहीं करनी चाहिए। राम समुद्र है। इसीलिये सनातन और संपूर्ण है। भक्त को कभी राम नाम नही भूलना चाहिए।

यावानर्थ उदपाने सर्वत. सप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषुवेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥—गीता

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूँ जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥३१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि राम नाम अमृत तुल्य है। इसलिये राम का स्मरण करो। उनके लीला गुणो का गान कर उन्हे प्रसन्न करो। राम नाम और तुम्हारे मन का संबध टूटे नग के समान है। दोनो एक थे। किंतु माया के कारण दोनों टूटकर अलग हो गये है। अब साधना और स्मरण द्वारा संधि को संधि से मिला पुन ऐक्य स्थापित कर लो। संधियों को ऐसे मिलाओ

जिससे जोड़ का निशान भी न रह जाय।

अलंकार—उपमा।

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिस लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूँ घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥३२॥

शब्दार्थ—चमकिया = चकमकाना। दुखी होना। लाइ = आग।

अर्थ—सत कबीर कहते हैं कि ससार मे चारो ओर षड्विकारो (काम,क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, मद) की आग जल रही है। इस आग की अनुभूति कर चित्त चकमका रहा है। दुखी है। यह आग भगवत्स्मरणरूपी घट जल से ही जल्दी से जल्दी बुझायी जा सकती है। हे मनुष्य, तुम ऐसा ही करो।

अलंकार—सागरूपक।

दंडवत गोविंद गुरु, बंदूँ अविजन सोय।
पहले भये प्रणाम तिन, नमो जो आगे होय ॥३३॥

शब्दार्थ—अविजन = (स अभिजन) श्रेष्ठ। सोय = सो । उस।

अर्थ—उस श्रेष्ठ पुरुष गुरु की वदना करता हूँ। दडवत करता हूँ। ये गुरु महाराज साक्षात् गोविद रूप है। भूत और भविष्य के सभी गुरुओ को बार-बार प्रणाम है।

गुरु को कीजे दण्डवत, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जानै भृंग को, यों गुरुकरि आप समान ॥३४॥

अर्थ—कीड़े के न जानते हुए भी उसे भ्रमर बना लिया जाता है। उसी प्रकार गुरु, शिष्य को अपने जैसा बना लेता है। ऐसे गुरु को कोटिश· प्रणाम है।

अलंकार –तद्गुण।

गुरु गोविंद करि जानिये, रहिये शब्द समाय।
मिलै तौ दण्डवत बंदगी, नहिं पल पल ध्यान लगाय ॥३५॥

अर्थ—गुरु को गोविद के समान जानना चाहिए। हर समय उनके बताए शब्दमंत्र मे ही डूबा रहना चाहिए। मिले तो प्रणाम करे। नही तो हर क्षण ध्यान लगाए रहे।

गुरु गोविंद दोनों खड़े, किसके लागों पांय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दिया बताय ॥३६॥

अर्थ—भगवान और गुरु दोनो पास-पास खड़े हैं। शिष्य दुविधा मे है कि पहले किसका पालागन करे ? निश्चय ही गुरु वह व्यक्ति है जिसने गोविद को बताया। गुरु ने न कृपा की होती तो गोविद कहाँ मिलते ? इसलिये शिष्य अपने को गुरुचरणो मे ही निछावर करता है।

अलंकार—अनुप्रास।

कबीर रामानंद को, सतगुरु भये सहाय।
जग मे जुगति अनूप है, सो सब दई बताय ॥३७॥

शब्दार्थ—सहाय = मददगार। जुगति = युक्ति। दई = दिया।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सद्गुरु रामानंद जी ने मदद की। उन्होने भगवान् को पाने की सभी अनुपम युक्तियाँ बता दी।

अलंकार—अनुप्रास।

सतगुरु के परताप तें मिटि गयो सब दुख द्वंद।

कहैं कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानंद ॥३८॥

अर्थ—सद्गुरु की कृपा से सभी सासारिक दुख द्वन्द्व समाप्त हो गये। आचार्य रामानद जैसे गुरु के मिलने से सारी दुविधा समाप्त हो गयी।

सतगुरु के उपदेश का, सुनिया एक विचार।
जो सतगुरु मिलता नहीं, जाता जम के द्वार ॥३९॥
यम द्वारे में दूत सब, करते ऐंचातानि ।
उन ते कभू न छूटता फिरता चारों खानि ॥४०॥

शब्दार्थ—ऐचातानि = खीचतान। खानि = जीवो की चार कोटियाँ।

अर्थ—यम के द्वार मे कोई यमदूत इधर खीचता, कोई उधर खीचता। उनसे छूटना कठिन था। सद्गुरु की कृपा न होती तो चार खान (अडज, पिंडज, ऊष्मज, उद्भिज) मे जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहता।

चारि खानि मे भरमता, कबहुं न लगता पार।
सो फेरा सब मिटि गया, सतगुरु के उपकार ॥४१॥

शब्दार्थ—फेरा = आवागमन। चारिखानि = जरायुज, अडज, ऊष्मज, उद्भिज चार योनियाँ।

भली भई जो गुरु मिला, जाते पाया ज्ञान ।
घटही मांहि चबूतरा, घटही मांहि दिवान ॥४२॥

शब्दार्थ—दिवान = दरवार। न्यायकर्त्ता। चवूतरा = जहाँ वैठकर न्याय किया जाता है।

अर्थ—सद्गुरु के कारण ज्ञान प्राप्त हुआ। इस ज्ञान से पता लगा कि न्याय पाने के लिये बाहर नही जाना है। हमारा हृदय ही दीवान के बैठने का स्थान (चवूतरा) है। ईश्वर-रूपी दीवान इसी चबूतरे पर बैठकर शासन करता है।

तुलनीय–ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।–गीता १८।६२

गुरु को मानुष जो गिनै, चरणामृत को पान।
ते नर नरकै जाहिगें, जन्म जन्म होय स्वान ॥४३॥

अर्थ—गुरु को मनुष्य समझकर जो व्यक्ति उनके चरणामृत का पान करता है वह निश्चय बार-बार नरक जायगा और कुत्ते की योनि ग्रहण करेगा।

गुरु मानुष करिजानते, ते नर कहिये अंध ।
होय दुखी संसार मे, आगे यम का फंद ॥४४॥

शब्दार्थ—अध = अज्ञानी। आगे = मरने पर। फद = फदा। फाँसी।

अर्थ—उस व्यक्ति को अज्ञानी कहना चाहिए जो सद्गुरु को मनुष्य समझता है। ऐसा व्यक्ति इस ससार मे तो दुखी रहता ही है, मरने पर यम द्वारा फाँसी का शिकार होता है।

कबीर ते नर अंध है, गुरु के कहते और।
हरि के रुठे ठौर है, गुरु रुठे नहि ठौर॥४५॥
कबीरा हरि के रूठते, गुरु के शरने जाय ।
कहै कबीर गुरु रूठते, हरि नहिं होत सहाय ॥४६॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि भगवान नाराज हो जायँ तो गुरु की शरण मे जाकर बचा जा सकता है। किंतु गुरु के नाराज होने पर भगवान् भी सहायता नही कर सकते है।

गुरु हैं बड़े गोविंद ते, मन में देखु विचारि।
हरि सिरजे ते वारहैं, गुरु सिरजे ते पार ॥४७॥

शब्दार्थ—वारहै = वर्जित है।

अर्थ—गुरु भगवान् से बड़े है इस बात को मन मे विचार कर देखो। भगवान् ने जिसको पैदा किया है वह मोक्ष से वर्जित रह जाता है यानी वह भगवान् को नही पा सकता है। किंतु गुरु द्वारा सृजित-शिक्षित ससार सागर के पार हो जाता है।

गुरु सों ज्ञान जो लीजिए, सीस दीजिए दान।
बहुतक भोंदू बहि गये, राखि जीव अभिमान ॥४८॥

शब्दार्थ—भोंदू = अज्ञानी।

अर्थ—गुरु से जो ज्ञान लीजिए उसके बदले अपना सिर दान कीजिए। सिर दान का अर्थ है अहकार छोड़ना। बहुत से अज्ञानी जीवात्मा के अभिमान रखने के कारण ससार सागर मे बह गये। विलीन हो गये।

अलंकार—परिवृति।

गुरु की आज्ञा आवई, गुरु की आज्ञा जाय।
कहै कबीर सो संत है, आवागमन नसाय ॥४९॥

अर्थ—ससार मे आवागमन निश्चित है। किंतु जो व्यक्ति गुरु के उपदेशानुसार आवागमन करता है, वह सत है और उसका आवागमन मिट जाता है। उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

तुलनीय—पुनरपि जननं पुनरपि मरण पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

—शकराचार्य (चर्पटपजरिका)

लक्ष कोस जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार है, क्षण आवै क्षण जाय ॥५०॥

शब्दार्थ—लक्ष = लाख। सुरति = ध्यान। स्मृति। तुरी = तुरग। घोड़ा।

अर्थ—गुरु तो लाख कोस अर्थात् दूर है। फिर भी गुरु का स्मरण करो। उनकी कृपा से साधक शब्द रूपी घोड़े पर सवार होकर क्षण मे कही भी आ-जा सकता है। मतलब यह कि शब्दरूप अश्व को साथ लेने से सारी सृष्टि सुलभ हो जाती है।

अलंकार-रूपक।

गुरु पारस गुरु परस है, गुरु चंदन सुख बास।
सतगुरु पारस जीव का, (जिन) दीया मुक्ति निवास ॥५१॥

शब्दार्थ—पारस = एक प्रकार का पत्थर। इसे मणि भी कहते है। परस = स्पर्श। बास = गध। निवास।

अर्थ—गुरु का स्पर्श पारसमणि के समान है, जो लौह जैसे तमोगुण युक्त शिष्य को सोना बना देता है। गुरु के पास बैठना चदन के वृक्ष के पास बैठने का सुख है या गुरु चंदन वृक्ष के समान है स्वय तो सुगधित रहता ही है ससार मे भी सुखगध प्रसारित करता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

गुरु पारस को अंतरो, जानत है सब संत।
वह लोहा कंचन करै, ये करि लेइ महंत ॥५२॥

अर्थ—सद्‌गुरु और पारसमणि का अतर सभी सत जानते है। पारस लोहे को सोना बना देता और सद्‌गुरु शिष्य को महत बना देते है।

अलंकार—व्यतिरेक।

गुरु समान दाता नहीं, जाचक शिष्य समान।
तीन लोक की संपदा, सो गुरु दीन्हीं दान ॥५३॥

अर्थ—गुरु के समान दाता नही है। शिष्य के समान मॉगनेवाला नहीं है। गुरु ने तीनो लोको की सम्पदा शिष्य को दे दी।

तुलनीय— जो सपत्ति दस सीस अरपि करि रावन शिवसन लीन्ही।
सोइ सम्पदा विभीषण कहँ अति सकुचि सहित हरि दीन्ही।

पहले दाता शिष्य भया, तन मन अरपा सीस।
पीछै दाता गुरु भए, नाम किया बखशीस ॥५४॥

शब्दार्थ—बखशीस = पुरस्कार। अरपा = अर्पण किया। दिया।

मन दीया जिन सब दिया, मन के संग शरीर।
अब देबे को क्या रहा, यों कथि कहै कबीर ॥५५॥

शब्दार्थ—कथि = कथा।

तन मन दिया तो क्या हुआ, निज मन दिया न जाय।
कहै कबीर ता दास सों कैसे मन पतियाय ॥५६॥

शब्दार्थ—पतियाय = विश्वास करना।

अर्थ—तन मन देने से क्या हुआ ? यदि निजत्व वाला मन, जिस मन मे अहकार या कर्त्तृत्व का बोध रहता है नही दिया तो सव देना व्यर्थ है। निजमन (अहकार) की समाप्ति न करने वाले व्यक्ति की भक्ति बेभरोसे की होती है। उस पर कोई विश्वास नही कर सकता है।

तन मन दीया आपना, निजमन ताके संग।
कहैं कबीर सदकै किया, सुनि सतगुरु परसंग ॥५७॥

अर्थ—अपना तन मन दे दिया किंतु निजत्व (अहकार) वाला मन अभी अपने पास रखा है। मतलब कि भक्ति मे भी अह बना है। सत कबीर कहते है कि जब सद्गुरु का ज्ञान प्रसग सुना तो अपने को पूर्णत न्यौछावर कर दिया।

निजमन मानां नाम सो, नजरि न आवै दास।
कहै कबीर सो क्यो करै, राम मिलन की आस ॥५८॥

अर्थ—अपना मन राम नाम मे लग गया। फलत दास अब भगवान से अलग नही दीखता है। जो मन देकर राम नाम मे मिल गया है। तदाकार हो गया है वह अब राम से मिलने की आशा क्यो करे ?

निज मन तो नीचा किया, चरन कमल की ठौर।
कहैं कबीर गुरुदेव बिन, नजर न आवै और ॥५९॥

अर्थ—भक्त ने भगवान के चरणकमल मे मन को लगा दिया है। और अपने को ही श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति से उतर कर सबसे नीचें प्रभुचरण मे स्थान (ठौर) पा गया है। अब गुरुदेव को छोड़कर कुछ दूसरा नही दीखता है।

तन मन दिया तो भल किया, सिर का जासी भार।
जो कभू कहै मैं दिया, बहुत सहे शिर मार ॥६०॥

शब्दार्थ—जासी = जायगी। भार = बोझ, अज्ञान। कभू = कभी।

अर्थ—तन मन देकर अच्छा किया। सिर का बोझ दूर हो गया। किंतु अगर कभी यह कहे, मै 'मैने दिया' तो उसे सिर पर यम की मार सहनी होगी। 'मैंने दिया' कहने से घमड का बोध होता है। ऐसे घमंडी तो अवश्य यम दंड के शिकार होते है।

तन मन ताको दीजिये, जाके विषया नाहिं।
आपा सबही डारिकै, राखै साहिब माहिं ॥६१॥

अर्थ—तन मन उस गुरु को समर्पित कीजिए जिसकी विषयासक्ति समाप्त हो गयी। आपा अर्थात् अहकार को हटाकर अपने भीतर साहब (भगवान्) को रखिए।

शिष्य खाँड़ा गुरू मसकला, चढ़ै शब्द खरसान।
शब्द सहे सन्मुख रहै, निपजे शिष्य सुजान ॥६२॥

शब्दार्थ—खाँड़ा = खड्ग। तलवार। मसकला = सिकलीगरो का एक औजार जिसके रगड़ने से धातुओ मे चमक आती है। निपजे = (स निष्पद्यते) उपजना। खरसान = अस्त्र-शस्त्र तेज करने का यत्र। सान धराना।

अर्थ—शिष्य रूपी नलवार को गुरुरूपी औजार चमकाने वाले ने शब्द सान पर चढ़ा दिया है। गुरुशब्द के सान पर चढ़नेवाला शिष्य सुजान होता है।

अलंकार—रूपक।

सब जग भरमा यों फिरै, ज्यों रामों का रोज।
सतगुरु सों सुधि भई, पाया हरि का खोज ॥६३॥

शब्दार्थ—रामों = (सं आराम = बगीचा) अरण्य। जगल। रोज = रोझ। नील गाय।

अर्थ—सारा ससार वन की नील गाय के समान विषयो मे भटकता फिरता है। सद्गुरु ने शब्द सुधि दिलाई तो हरि की खोज पूरी हुई। ईश्वर का ज्ञान हुआ।

अलंकार- उदाहरण।

कबीर हीरा बनीजिया, हिरदै प्रगटी खान।
पारब्रह कृपा करी, सतगुरू मिले सुजान ॥६४॥

अर्थ—भक्त सद्गुणरूपी हीरे की खोज कर रहा था। भगवत् कृपा से अच्छे गुरु मिल गये। उन्होने हदय मे ही सद्गुणरूपी हीरे की खान प्रगट कर दी।

टिप्पणी—हदय मे सद्गुण तो थे ही। किंतु वे माया से दीख नही रहे थे। सद्गुरु के शब्द ज्ञान से वे दीखने लगे। उन्मीलन हो गया।

सतगुरू साँचा सूरमा, नखशिख मारा पूर ।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर ॥६५॥

अर्थ—सद्गुरु सच्चे वीर है। उन्होने ऐसा शब्दबाण मारा कि बाहर से कुछ नही दीखता है। किंतु अत करण की सारी कुप्रवृत्तियाँ, सारे विकार नष्ट हो गये हैं।

सतगुरू मेरा सूरमा, बेधा सकल शरीर।
बान दुवासों फूटिया, (क्यो) जीवै दास कबीर ॥६६॥

शब्दार्थ—दुवा = दावा। दावाग्नि। वनाग्नि।

अर्थ—मेरे सद्गुरु बहादुर है। उन्होंने ऐसा शब्दबाण चलाया कि सारा शरीर विद्ध हो गया। शरीर में विषयो का जंगल जल रहा है क्योंकि बाण दावाग्नि के रूप मे फूटा है। अब दास का जीना कठिन है। अर्थात् दास अब विषयो मे नही रहेगा।

टिप्पणी—आचार्य शंकर ने शोकमोह को ससार बीज (ससार बीज भूतौ शोक मोहौ) कहा है। गुरुज्ञान से ये ससार बीज समाप्त हो जाते है। जब ससार नही तो मृत्यु कैसी? मृत्यु तो केवल ससार मे है। इसीलिये ससार का नाम मर्त्यलोक है।

सतगुरू मारा तानिके, शब्द सुरंगे बान।
मेरा मारा फिर जिये, तो हाथ न गहूँ कमान ॥६७॥

अर्थ—सद्गुरु ने सुदर शब्दो के तीखे बाण खीच कर मारे। कबीरदास जी कहते हैं कि

उनका मारा अगर विषयो में फिर जी जाय या रुचि रखने लगे तो वे फिर कभी हाथ में कमान नही लेंगे। उनका निशान अचूक होता है।

सतगुरु मारा बान भरि, टूटि गई सब जेब।
आप कहूँ आसा कहूं, तसबी कहूँ कि तेब ॥६८॥

शब्दार्थ—जेब = बधन। रस्सी। तसबी = माला। तेव = उसे। आप = अहंता।

अर्थ—सद्गुरु के बाण से अहता, आशा, माला, कितावो आदि के सारे बधन टूट गये।

सतगुरु मारा बान भरि, निरखि निरखि निज ठौर।
राम अकेला रहि गया, चित्त न आवै और ॥६९॥

अर्थ—जहॉ-जहॉ विषयो के ठिकाने थे वहॉ वहॉ सद्गुरु ने वाण मारा। फलस्वरूप सभी विषयो का नाश हो गया। अब चित्त मे राम के अतिरिक्त कुछ भी नही दीखता है।

तुलनीय—इद्रिय द्वार झरोखा नाना।
तँह तँह सुर बैठे करि थाना॥—**तुलसी**

कर कमान सर सॉधिकै, खैंचि जो मारा मांहें।
भीतर बंधे सो मरिहै, जीवै पै जीवै नाहँ ॥७०॥

अर्थ—हाथ मे धनुष-बाण साधकर गुरुदेव ने भीतर मारा। शब्दबाण के भीतर बिधने से साधक जीवित रहकर भी जीवित नही है। शरीर तो ससार मे है किंतु मन ससार से भर गया है। विषय विरक्त हो गया है।

जब ही मार्‌या खैंचिकै, तब मैं मूआ जानि।
लागी चोट जो शब्द की, गई कलेजे छानि ॥७१॥

अर्थ—सद्गुरु ने जब शब्दबाण खीचकर मारा तो मैने अपने को मरा जाना। शब्द की चोट ऐसी लगी कि विषयो से भरा अत करण छलनी हो गया। सारे विषय भाग गये। नष्ट हो गये।

सतगुरु मारी प्रेम की, रही कटारी टूटि ।
वैसी अनी न सालई, तैसी सालै मूठि ॥७२॥

अर्थ—सद्गुरु ने प्रेम की तलवार ऐसी चलायी कि वह लगकर टूट गयी। बाण की नोक वैसा दर्द नही पैदा करती थी जैसा दर्द तलवार की मूठ से हो रहा है।

दिल ही में दीदार है, बादि झखै संसार।
सतगुरु शब्द का मसकला, मुझे दिखावनहार ॥७३॥

शब्दार्थ—दीदार = दर्शन। झखै = दुखित होना। मसकला = एक औजार जो धातुओ को रगड़कर चमकाता है।

अर्थ—भगवत्‌दर्शन तो हृदय के भीतर ही होता है। सद्गुरु राम नामरूपी शब्द को चमकाकर शिष्य को दिखाता है। इसी कारण अपने भीतर ही भगवत्‌दर्शन होता है।

जो दीसे सो विनसि है, नाम धरा सो जाय।
कबीर सो ही तत्त्व गह्यो, सतगुरु दीन्ह बताय ॥७४॥

अर्थ—जो नाम रूपात्मक दृश्य ससार है वह नाशवान् है। उसका अवश्य नाश होगा। सद्गुरु ने भगवत्‌तत्त्व नामक ऐसे तत्त्व का दर्शन करा दिया है, जो अविनाशी है।

टिप्पणी—

अस्ति भाति प्रिय रूप नाम चेत्यर्थ पचकम्।
आद्यत्रय ब्रह्म रूप जगत् रूप ततो द्वय।

इनमे अस्ति (है), भाति (प्रकाश), प्रिय (सुन्दर) ये तीन ब्रह्म के सनातन रूप है। रूप–नाम जगत् है। ये ही नाशवान् है।

कुदरत पाई खरीसों, चित्र सो चित्त मिलाय।
भँवर विलम्बा कमल रस, अब कैसे उड़ि जाय ॥७५॥

अर्थ–ईश्वरी शक्ति प्राप्त हो गयी। अब चित्तवृत्तियो का निरोध हो गया है। चित्त-चित्त मे ही मिला हुआ है। अब चित्त विषयो की ओर नही है। फलत मनरूपी भौरा ब्रह्म कमल (परमात्मा के चरणारविद) मे लगा है। अब वह विषयो मे नही जायगा।

राम नाम छाँड़ू नही, सतगुरु सीख दई।
अविनासी सों परसि के, आत्मा अवर भई ॥७६॥

शब्दार्थ–अवर = अपर। दूसरी।

अर्थ–गुरुदेव ने राम नाम की शिक्षा दी। अब इसे कभी नही छोडूँगा। अविनाशी परमात्मा का स्पर्श कर आत्मा और कुछ (ब्रह्म जैसी) हो गयी है।

चित चोखा मन निर्मला, बुधि उत्तम मति धीर।
सो धोखा नही विरहिहीं सतगुरु मिले कबीर ॥७७॥

शब्दार्थ–विरहिही = अलग होना।

अर्थ–सद्गुरु के मिलने से चित्त चोखा, मन स्वच्छ, मति- बुद्धि उत्तम धैर्य वाली हो गयी। अब इनसे धोखे से भी अलग नही होगे।

सतगुरु बड़े जहाज हैं, जो कोई बैठे जाय।
पार उतारै औरको, अपनो पारस लाय ॥७८॥

अर्थ–सद्गुरु बड़े जहाज के समान है। जो कोई उनकी शरण मे जाता है उसे वे अपना स्पर्श (सहायता) देकर ससार सागर से पार कर देते है।

बिन सतगुरु बांचिहै नही, फिर बूड़े भव मांहि।
भवसागर की त्रास से, सतगुरु पकड़े बाँहि ॥७९॥

अर्थ–सद्गुरु ने बाँह पकड़कर भवसागर मे डूबने से बचा लिया। उन्ही की कृपा से बचा रहा जा सकता है वरना पुन डूब जाने का भय है।

सतगुरु बड़े सराफ हैं, परखें खरा अरु खोट।
भवसागर ते काढ़ि के, राखैं अपनी ओट ॥८०॥

शब्दार्थ–सराफ= सर्राफ। सोने, चाँदी एव रत्नो का व्यापारी। खरा = उत्तम। खोट = बुराई।

अर्थ–सद्गुरु सर्राफ है। रत्नो के व्यापारी है। उन्हे अच्छे-बुरे, शुद्ध-अशुद्ध की पहचान है।

भक्तरुपी रत्न भवसागर मे डूब रहा था। सद्गुरु ने कृपा कर उसे पहचाना और निकाल लिया। अब उसे अपनी आड़ मे रखते है। इससे भक्त को विषय वटमारो का कोई भय नही है।

कबीर महल बनाइया, ज्ञान गिलावा दीन्ह।
हरि देखन के कारने, शब्द झरोखा कीन्ह ॥८१॥

अर्थ–ज्ञान का गिलावा (गारा) देकर भक्ति का महल बनाया है। इसमे भगवद्दर्शन के लिये शब्दो की (राम नाम) खिड़की खोल दी है। राम नाम द्वारा ही परमात्मा का दर्शन होता है।

अलंकार–रूपक।

जन कबीर बन्दन करी, किस विध कीजै सेव।
वार पार की गम नही,नमो नमो गुरु देव ॥८२॥

अर्थ—सत कबीर कहते हैं कि भक्त गुरुदेव की वंदना करता है। उनकी सेवा कैसे की जाय इसका ज्ञान नही है। उनकी कृपा से आर-पार या जन्म-मृत्यु की चिता छूट गयी है। ऐसे गुरुदेव को बार-बार प्रणाम है।

जानीता जब बूझा नहीं, बूझि न कीया गौन।
अन्धे को अन्धा मिला पन्थ बतावै कौन ॥८३॥

अर्थ—जानता था तब समझ मे नही आया। समझा तो उसके अनुसार गमन नही किया। अब तो रास्ता बतानेवाला गुरु भी अज्ञानी (अधा) मिला। शिष्य तो अज्ञानी है ही। ऐसे मे परमात्मा की प्राप्ति का रास्ता कौन बताए ?

जानीता जब बूझिया, पैंडा दिया बताय।
चलता चलता जहाँ गया, तहां निरंजन राय ॥८४॥

शब्दार्थ—पैडा = रास्ता। निरजन = परमात्मा।

अर्थ—गुरु ने रास्ता बताया तब समझ मे आया। उनके बताए रास्ते पर चलते-चलते परमात्मा के यहाँ पहुँच गया।

माइ मूडूं उस गुरु की, जाते भरम न जाय।
आपुन बूड़े धार मे, चेला दिया बहाय ॥८५॥

अर्थ—उस गुरु की माँ को मूँद दूँ या मुडित कर दूँ, जिसके द्वारा भ्रम नही दूर होता है। यहाँ माइ माया है। अर्थ यह कि जो गुरु अभी माया मे पड़ा है। माया मे पड़ा गुरु स्वय तो वासना नदी की धारा मे डूबता ही है। चेले को भी डुबो देता है।

गुरु गुरु मे भेद है, गुरु गुरु मे भाव।
सोइ गुरु नित बंदिये, शब्द बतावै दाव ॥८६॥

अर्थ—गुरु गुरु मे अतर है। एक ज्ञानी और सद्गुरु है। दूसरा गुरु मायावी है। दभ वाला गुरु है। इसलिये दोनो के भावो मे भी अतर है। उसी गुरु की नित्य वदना करनी चाहिए जो शब्द-दाव अर्थात् शब्दसाधना बताता है।

पूरे सतगुरु के बिना, पूरा शिष्य न होय।
गुरु लोभी शिष्य लालची, दूनी दाझन सोय ॥८७॥

शब्दार्थ—दूनी = दोनो।

अर्थ—पूर्ण सद्गुरु के विना शिष्य पूर्णता नही प्राप्त करता है। लोभी लालची गुरु शिष्य दोनो जलाने योग्य है।

पूरा सहजे गुण करै, गुण ना आवै छेह।
सायर पोषे सर भरै, दान न मांगै मेह ॥८८॥

शब्दार्थ—पूरा = पूर्ण। छेह = छोटा। टुकड़ा। पोषै = पोषण करता। मेह = मेघ। बादल। सायर = सागर। सर = तालाब।

अर्थ—पूर्ण गुरु या साधना सहज गुणकारी है। छोटे गुरु या साधना से गुण नही होता। पूर्ण साधना समुद्र का पोषण करती है। तालाब को भरती है। वह कभी सासारिक बादलो से दान नही माँगती है।

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
निकसा था हरि मिलन को, चालि न सक्या बीख ॥८९॥

शब्दार्थ—सीख = शिक्षा। निकसा = निकलना। बीख = विष। विषय।

अर्थ—पूर्ण गुरु के अभाव मे शिष्य की शिक्षा अधूरी रही। कहाँ तो परमात्मा से मिलने निकला था। कहाँ विषय-विष को भी दूर नही कर सका।

सतगुरु मिलि निरभय भया, रही न दूजी आस।
जाय समाना शब्द मे, राम नाम विश्वास ।।९०।।

अर्थ—सद्गुरु से मिलकर विषयवासना के बटमारो से निर्भय हो गया। अब परमात्मा को छोड़ किसी दूसरे की आशा नही है। राम नाम के विश्वास को आधार बनाकर शब्दब्रह्म मे एकाकार हो गया।

गुरु किया है देह का, सतगुरु चीन्हाँ नाहिं ।
भव सागर के जाल मे, फिरि फिरि गोता खाहिं ।।९१।।

अर्थ—गुरु भी एक निर्गुण तत्त्व है। शरीर ही गुरु नही है। जो शरीर को गुरु समझते है। वे सद्गुरु को नही समझते। ऐसे लोग विषयो के भवसागर मे बार-बार गोता खाते है, डूबते है। देह नाशवान् है। इसका भरोसा नही करना चाहिए।

जा गुरु तें भ्रम ना मिटै, भ्रांति न जीव की जाय ।
गुरु तो ऐसा चाहिए, देई ब्रह्म बनाय ।।९२।।

अर्थ—वह गुरु व्यर्थ है जिससे भ्रम न मिटे। गुरु तो ऐसा चाहिए जो माया का भ्रम मिटाकर साधक को सिद्ध (ब्रह्म) बना दे।

कनफुक्का गुरु हद्द का, बेहद का गुरु और ।
बेहद का गुरु जब मिले, लहै ठिकाना ठौर ।।९३।।

शब्दार्थ—कनफुक्का = कानमे मत्र देनेवाला। हद्द = सीमा। ससार। बेहद = असीम। परलोक। लहै = प्राप्त करे।

अर्थ—कान मे मत्रदाता गुरु सासारिक होते है। निर्गुण-निराकार असीम ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाले गुरु दूसरे होते है। जब असीम की प्राप्ति कराने वाले गुरु मिलते है तब साधक लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

गुरु को तो गम्य नही, पाहन दिया बताय।
सिख सोधे बिन सेइया, पारि न पहुँचा जाय ।।९४।।

अर्थ—गुरु को तो कुछ पता नही, शिष्य को पत्थर पूजने के लिये बता दिया। शिष्य भी, अज्ञानी था। उसने गुरु की बातो का कोई शोध नही किया और पत्थर पूजने लगा। फलत ससारसागर मे ही भटकता रह गया। पार न जा सका।

सतगुरु ने तो गम कही, भेद दिया अरथाय।
सुरति कँवल के अन्तरै, निराधार पद पाय ।।९५।।

अर्थ—सद्गुरु ने तो समझदारी (गम) की बात कही। अतर्जगत के सारे रहस्यो को अर्थ सहित बता दिया। भेद भी बताये। फलत बिना किसी प्रतीक या मूर्त साधनो के शिष्य सुरति कमल मे ध्यान लगाए है।

सुरति कमल से मतलब है 'त्रिकुटी' जहाँ योगी ध्यान केंद्रित करता है।

गुरु नाम है गम्य का, शिष्य सीख ले सोय।
बिनु पदई मरजाद बिन गुरु शिष्य नहिं कोय ।।९६।।

शब्दार्थ—गम = पहुँच। ज्ञान।

अर्थ—ज्ञान को पहुँचे व्यक्तित्व को गुरु कहते है। शिष्य को ऐसे गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बिना मर्यादापद या पदमर्यादा की सेवा किये शिष्य गुरु नहीं होता है।

जाका गुरु है गिरही, गिरही चेला होय।
कीच कीच को धोवते, दाग न छूटे कोय।।९७।।

अर्थ—जो गुरु शिष्य गृहस्थ चित्तवाले है। उनमे सन्यास का भाव नही होता है। वे कीचड़ से कीचड़ धोने जैसा प्रयास करते हैं। इससे दाग नही छूटेगा। कीचड़ से कीचड़ धोने का अर्थ है बुराई से बुराई हटाना। दाग का अर्थ विषयवासना भोग से उत्पन्न विकर्म।

कुमति कीच चेला भरा, गुरुज्ञान जल होय।
जनम जनम का मूरचा, पल में डारे धोय।।९८।।

अर्थ—चेला दुर्बुद्धि के कीचड़ से भरा है। गुरु मे ज्ञानरूपी जल है। ऐसा गुरु शिष्य के जन्म जन्मातर के मुरचे को छण भर मे धो डालता है। जन्ममरण के चक्र को मिटा देता है। कर्म के भोग काल को समाप्त कर देता है।

अलंकार—रूपक।

गुरुआ तो ससता भया, पैसा केर पचास।
राम नाम धन बेचिके, करै शिष्य की आस ।।९९।।

अर्थ—गुरु इतना सस्ता हो गया है कि एक पैसे मे पचास के बराबर है। वह शिष्य को कुछ देगा तो क्या उलटे शिष्य से आशा करता है। राम नाम का मत्र साधना नहीं पैसे पर बेचता है।

टिप्पणी—मुहा० पैसा केर पचास = सस्ता।

गुरुवा तो घर घर फिरै, दीक्षा हमारी लेहु।
कै बूडो कै ऊछलौ, टका पर्दनी देहु ।।१००।।

शब्दार्थ—टका = पैसा। पर्दनी = (< स. कपर्दिका) कौड़ी।

अर्थ—सस्ते गुरु दीक्षा देने के लिये घर घर घूम रहे हैं। तुम डूबो चाहे निकलो, उन्हे पैसा कौड़ी कुछ भी दो। यह कथन लोभी गुरु के प्रति है।

घर में घर दिखलाय दे, सो गुरु चतुर सुजान।
पाँच शब्द धुनकार धुन, बाजै शब्द निसान ।।१०१।।

शब्दार्थ—घर मे घर = लौकिक घर मे पारलौकिक निवास। शरीर मे चैतन्यात्मा।

पाँच शब्द = १. प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान। २ परा, पश्यती, द्योतमना, मध्यमा, बैखरी। धुनकार = ध्वनि करनेवाला। धुन = रागात्मक ध्वनि। निसान = एक बाजा। नगाड़ा।

अर्थ—वह गुरु अत्यत चतुर है जो ससारमे रहते हुए परमात्मा की निवास भूमि (पारलौकिकता) से परिचित करा देता है। जो बिना किसी नगाड़े पर पड़ी चोट के भी अतःकरण मे परा, पश्यन्ती, द्योतमना, मध्यमा और बैखरी की अनाहत ध्वनि सुनाता है। पच प्राणो मे अनाहत स्वर पैदा करता है।

छीपा रंगे सुरंग रंग, नीरस रस कर लेय।
ऐसा गुरु पै जो मिले, शिष्य मोक्ष पुनि देय।।१०२।।

शब्दार्थ—छीपा = कपड़े पर बूटा बनानेवाला। छीट छापनेवाला।

अर्थ—गुरुरूपी छीपा सुरग रग से रगता है। नीरस को भी सरस बना देता है। गुरु रूपी

छीपा ही शिष्य को मोक्ष दे सकता है।

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजे बार।
पार न पावै शब्द का भरमें बारंबार।।१०३।।

अर्थ—असत्य का आचरण करनेवाले नकली गुरु को छोड़ते समय देर मत कीजिए। ऐसे गुरु के मत्रज्ञान से ससारसागर पार नही किया जा सकता है। बार-बार आवागमन बना ही रहता है।

सांचे गुरु के पक्ष में, मन को दे ठहराय।
चंचलते निश्चल भया, नहिं आवै नहिं जाय।।१०४

अर्थ—सच्चे गुरु के पक्ष मे मन को स्थिर कर देना चाहिए। चचलता समाप्त होने पर समाधि दशा की प्राप्ति होती है। फिर तो आवागमन समाप्त हो जाता है।

गुरु सिकिलीगर कीजिए, ज्ञान मसकला देइ।
मन का मैल छुड़ाई के, चित दर्पण करि लेइ।।१०५।।

अर्थ—गुरु धातुओ को चमकाने वाले के समान ज्ञानरूपी औजार से शिष्यरूपी लोहे की मैल या मन की कुवासना को छुड़ाकर चित्त को दर्पण जैसा स्वच्छ कर देता है। भाव यह कि इस स्वच्छ दर्पण मे साधक अपना स्वरूप देखता है। देखकर स्व मे स्थित होता है।

अलंकार- रूपक।

मैं उपकारी ठेठ का, सतगुरु दिया सुहाग।
दिल दरपन दिखलाय के, दूर किया सब दाग।।१०६।।

शब्दार्थ—ठेठ = निर्मल। सादा। सुहाग = सौभाग्य।

अर्थ—शिष्य निर्मलता की खोज मे था। गुरु ने सौभाग्य दिया। दिलरूपी दर्पण को दिखलाकर सारे दाग (वासना) को दूर कर दिया।

अलंकार—रूपक।

सतगुरु का सारा नहीं, शब्द न लागा अंग।
कोरा रहिगा सीदरा, सदा तेल के संग।।१०७।।

शब्दार्थ—सारा = सहारा। अग = हृदय। मन। कोरा = सादा। अप्रभावित। सीदरा = दुखी।

अर्थ—सद्गुरु का कोई सहारा न रहने से मत्र हृदय मे नही असर डालता है। हृदय खाली है। खाली होने से दुखी है। जैसे तेल के साथ कोई वस्तु नही चिपकती है उसी प्रकार हृदय मे ज्ञान असर नही कर रहा है। इस हृदय को वासना के तेल ने चिकना कर दिया है।

अलंकार—उदाहरण।

गुरु बतावै साधु कों, साधु कहै गुरु पूजि।
अरस परस के खेल में, भई अगम की सूझि।।१०८।।

शब्दार्थ—अरस-परस = मिलना-जुलना। अगम = परमात्मा।

अर्थ—गुरु साधु पुरुषो की सगति करने को कहते हैं। साधु पुरुष गुरु की पूजा करने को कहते है। इस मिलने-जुलने मे परमात्मा का दर्शन हो गया।

(३)

बिरह कौ अंग

रात्यूं रूँनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूँ कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥१॥

शब्दार्थ—बिरहनी = साधक। वचौ =(स वचिता) प्रिय वियुक्त। कुज = क्रौच। अतर = हृदय। अत करण। प्रजल्या = विरहाग्निदग्ध। पुज = ढेर।

अर्थ—साधक के हृदय मे प्रभु वियोग की आग जल रही है। इससे वह रात-रात भर वैसे रोता है जैसे क्रौच पक्षी प्रिय वियोग मे रोता है। रात के एकात मे साधना तीव्र हो जाती है।

तुलनीय—येहि जड़ माजिनि जागहिं जोगी। परमारथी परपच वियोगी। —तुलसीदास

अलंकार—उपमा।

अंयर कुंजाँ कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल॥२॥

शब्दार्थ—अवर = आकाश। मनाकाश। कुर्जों = क्रौच। कुरलियॉ = चिल्लाना। ताल = तालाब। अत करण। हवाल = हाल। दशा।

अर्थ—आकाश मे क्रौच पक्षी ने रो-रोकर, चिल्ला-चिल्ला कर पूरे ताल को भर दिया है। यह पक्षी तालाब के ऊपरवाले आकाश मे ही चिल्लाता है। जब अपने प्रिय से बिछुड़े पक्षी का यह हाल है तो जो व्यक्ति अखडानद परमात्मा से अलग हो गया है उसका क्या हाल होगा ?

चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूँ, ते दिन मिले न राति॥३॥

अर्थ—चकवी रात मे अलग होती है और सवेरे प्रिय से मिलती है। किंतु वासना लिप्त मनुष्य परमात्मा से सदा के लिये अलग हो जाता है। वह न रात को मिल सकता है; न दिन मे मिलता है।

बासुरि सुख नाँ रैणि सुख, ना सुख सुपिनै माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह॥४॥

शब्दार्थ—वासरि = दिन। रैणि = रात। मॉहि = मे।

अर्थ—प्रभु वियुक्त व्यक्ति को न रात में सुख होता है। न दिन मे, न सपने मे, न धूप मे, न छाया मे सुख होता है। अर्थात् वह हर समय दुखी रहता है। सर्व दु खम् का यही कारण है।

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलैंगे आइ॥५॥

शब्दार्थ—ऊभी = (स ऊर्ध्व)खड़ी। सिरि = सिरे पर। छोर पर। धाइ = दौड़कर। पक्षी = साधक। गुरु।

अर्थ—प्रभु विरह से व्याकुल जीव उस रास्ते पर चलनेवाले साधको से खड़ा होकर पूछता है—हे पथिक, प्रियतम परमात्मा का एक शब्द कहो। वे आकर मुझसे कब मिलेगे ?

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विश्राम॥६॥

शब्दार्थ—जोवती = इन्तजार करना। वाट = रास्ता। मनि = मन मे। विश्राम = शाति।

अर्थ—हे राम, बहुत दिनो से तुम्हारी प्रतीक्षा मे हूँ। रास्ते पर बैठकर तुम्हारे आने का इन्तजार कर रहा हूँ। तुमसे मिलने के लिये मन ललायित है। मन को किसी प्रकार से शाति नही मिल रही है।

बिरहिन ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवाँ पीछे देहुगे, सो दरसन किहिं काम॥७॥

अर्थ—हे राम, तुम्हारे वियोग मे पड़ी जीवात्मा उठती है। किंतु दुर्बलता के कारण फिर गिर पड़ती है। वह तुम्हारे दर्शन के लिये व्याकुल है। मृत्यु के बाद अगर तुम्हारा दर्शन हो भी गया तो वह दर्शन किस काम का होगा ? इस शरीर से ही तो धर्म साधना होती है। शरीर ही नही रहेगा तो दर्शन का क्या लाभ है ?

मूवाँ पीछै जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब,(तब) पारस कौणे काम॥८॥

अर्थ—मरने के बाद यदि राम का दर्शन हुआ तो वह दर्शन व्यर्थ है। जैसे लोहा अगर घटकर पत्थर हो जाय तो पारसमणि की क्या उपयोगिता रह जायगी ?

अलंकार—दृष्टात।

अँदेसड़ा न भाजिसी, संदेसो कहियाँ।
कै हरि आयाँ भाजिसी, कै हरि ही पासि गयाँ॥९॥

शब्दार्थ—अदेसड़ा = चिता। दुख। भाजिसी = भागेगी।

अर्थ—हे राम, केवल सदेसा कहने से दुख की निवृत्ति नही होगी। यह तो तभी समाप्त होगा जब या तो हरि ही आ जायें या भक्त ही उनके पास चला जाय। अर्थात् सँदेसा नही प्रत्यक्ष मिलन ही विरह-दुख की निवृत्ति का एक मात्र उपाय है।

आइ न सकौं तुझ पैं, सकूँ न तूझ बुलाइ।
जियरा यौही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥१०॥

अर्थ—मै तुम्हारे पास आ नही सकता। तुझे भी अपने पास बुलाना कठिन है। हे राम, ऐसा लगता है कि इसी तरह विरह की आग मे जलते जलते मेरी मृत्यु हो जायेगी।

यहु तन जालौ मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि॥११॥

शब्दार्थ—मसि = कालिख। मति = शायद।

अर्थ—साधक कहता है कि इस तन को जला कर कालिख करुँगा। इसका धुँआ स्वर्ग (जहॉ प्रिय परमात्मा का निवास है) तक जायगा। इस धुएँ से जो बादल बनेगा शायद परमात्मा कृपाकर उसी बादल को बरसा कर मेरे विरह की आग को बुझा देगा।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

यहु तन जालौं मसि करौ, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥१२॥

अर्थ—इस शरीर को जला कर स्याही और हाड्डियो की कलम बनाऊँगा। उस कलम से अपना वियोग पत्र लिखूँगा। यह वियोग पत्र राम के नाम होगा।

अलंकार—अतिशयोक्ति

कबीर पीर पिरावनी, पंजर पीड़ न जाइ।
एक जु पीड़ पिरीति की, रही कलेजा छाइ॥१३॥

अर्थ—सामान्य पीड़ा तो शरीर को कष्ट देती ही है। किंतु प्रेम की पीड़ा और गहरी हैं। यह हृदय मे छाई रहती है।

चोट सताँणीं बिरह की, सब तन जरजर होइ।
मारणहारा जाँणिहै, कै जिहिं लागी सोइ ॥१४॥

अर्थ—विरह का दर्द सता रहा है जिससे सारा शरीर जर्जर हो गया है। इस दर्द को तो मारने वाला प्रभु जानता है या तो जिसे यह दर्द होता है। यह रहस्यवादी प्रेम का दर्द है।

कर कमाण सर साँधि करि, खैंचि जु मारया माँहि।
भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीवै नाँहि ॥१५॥

अर्थ—सतगुरु ने धनुष-बाण साधकर खूब खीचकर मारा। हृदय मे मारा। इससे पूरा अंत कारण (मन, बुद्धि चित्त और अहकार) प्रभावित हुआ। अब साधक के पुन' जीने अर्थात् विषयो की ओर आने की सभावना नही है।

अलंकार—सदेह।

जबहूँ मारया खैंचि करि, तब मैं पाई जाँण।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छाँणि ॥१६॥

अर्थ—जब गुरुदेव ने खीचकर शब्द बाण मारा तभी मेरी समझ मे आया कि शब्द बाण की चोट क्या होती है। यह चोट मेरे मार्मिक स्थलो को पीड़ित करती हुई कलेजे को छेद गयी।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नही ॥१७॥

अर्थ—हे गुरुदेव जिस प्रेम बाण से आपने कल मारा था (उपदेश दिया था) वह मेरे मन मे बसा है। अत्यत अच्छा लगता है। वही प्रेम बाण आज पुन मारिए। बिना प्रेम बाण की चोट के सुख नही पाता हूँ।

तुलनीय—प्रेम बान अनियाले।

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥१८॥

अर्थ—विरह रूपी सर्प शरीर मे बसा है। अत कोई सांसारिक मत्र काम नही कर रहा है। राम का वियोगी या तो जीता नही है और अगर जीता है तो पागल होकर जीता है।

टिपण्णी—यहाँ मृत्यु और बावलापन(पागलपन) एक ही है। क्यो कि विषयो से विरक्ति ही मृत्यु भी है। पागलपन भी है।

अलंकार—रूपक।

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूँ भावै त्यूँ खाव ॥१९॥

अर्थ—विरह रूपी सर्प ने घुसकर कलेजे मे घाव कर दिया है। किंतु इससे साधु पुरुष घबराता नही है। जैसे अच्छा लगे वैसे खाओ। हम अपना अग नही मोडेगे। विरह ही तो जीवन है।

तुलनीय—विरह का जलजात जीवन।-महादेवी।

सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥२०॥

शब्दार्थ—रग = नस। तत = तन्त्री। तात। रबाब = एक बाजा।

अर्थ—विरह मे शरीर रबाब बाजा और नसे उस बाजे के तातो के समान है। इन्हे विरह नित्य बजाता रहता है। इनसे जो अनाहत ध्वनि निकलती है उसे दूसरा कोई नही सुन सकता है। या तो परमात्मा सुनता है या साधक चित्त मे उसकी ध्वनि सुन पड़ती है।

अलंकार—रूपक।

बिरहा बिरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिह घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥२१॥

अर्थ—विरह को बुरा मत कहो। विरह सुलतान है। जिस शरीर मे विरह का सचार नही है वह शरीर श्मशान जैसा है।

अंखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥२२॥

अर्थ—हे प्रभु, तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करते-करते ऑखो मे ॲधेरा छा गया। तुम्हारा नाम पुकारते-पुकारते जीभ मे छाले पड़ गये। दुख है तुम्हारा दर्शन अब तक नही हुआ।

इस तन का दीवा करौ, बाती मेल्यूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौ पीव ॥२३॥

अर्थ—साधना के लिये इस शरीर को दीपक और जीव को बत्ती बनाना चाहता हूँ। उसमे लहू (रक्त) रूप तेल डालना चाहता हूँ। ऐसे दीपक के प्रकाश से अज्ञानाधकार दूर कर प्रियतम परमात्मा का मुख देखूँगा।

अलंकार—उपमा।

नैनाँ नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौ, कबरु मिलहुगे राम ॥२४॥

अर्थ—ऑखे नित्य झरने और रहट के समान रात्रि-प्रहर मे बह रही है। जैसे पपीहा प्रिय से मिलने के लिये पिउ पिउ किया करता है उसी प्रकार साधक भी पिउ पिउ किया करता है।

अलंकार—उपमा।

अंखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाँणै दुखड़ियाँ।
साँई अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥२५॥

शब्दार्थ—कसाइयॉ = १ काषाय, रक्त वर्ण। २ दर्द होना। रतड़ियॉ = लाल।

अर्थ—विरह के कारण प्रेमी की ऑखे लाल और दर्द से युक्त हो गयी है। लोग समझते है कोई अन्य दुख है। हे स्वामी, आपके कारण ही रो-रोकर ऑखे लाल हो गयी है।

सोई आँसू सजणाँ, सोई लोक बिड़ाँहि।
जे लोइण लोही चुवै, तौ जाँणों हेत हियाँहि ॥२६॥

शब्दार्थ—बिड़ाहि = निकलता है। लोइण = लोचन। ऑंख। लोही = रक्त। हेत = प्रेम। हियॉंहि = हृदय मे। सजणॉ = स्वजन।

अर्थ—अपने लोगो और लोक के सुख-दुख मे एक ही प्रकार के ऑंसू बहते है। कितु हृदय मे सच्चा प्रभु प्रेम हो तो ऑखो से लहू टपकना चाहिए।

कबीर हसणाँ दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयाँ क्यूँ पाइये, प्रेम पियारा मित्त ॥२७॥

अर्थ—सत कबीरदास जी कहते है कि हँसना दूर कर अर्थात् विषयो से प्रीति न कर। विषय सुख को सुख न समझ कर उसे दुख की वस्तु समझ। यह समझ कर रो कि इन विषयो ने कितने ही व्यक्तियो का नाश किया है। बिना रोये या दर्द पैदा किये प्रिय परमात्मा नही मिलते है।

अलंकार—काव्यलिंग।

जौ रोऊँ तो बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मनही माँहि बिसूरणाँ, ज्यूँ घुंण काठहि खाइ॥२८॥

अर्थ—यदि रोता हूँ तो शक्ति क्षीण होती है। हँसता हूँ तो भगवान् को बुरा लगता है। इसलिये रोने का दिखावा न कर संत जन मन ही मन भगवत् वेदना की अनुभूति मे घुलते रहते है। जैसे काठ को घुन भीतर ही भीतर खा जाता है।

अलंकार—उदाहरण।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हाँसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ॥२९॥

शब्दार्थ—दुहागनि = घोर दुख। दुर्भागिन।

अर्थ—विषयो से हँसते हुए या प्रसन्न प्रेम करते हुए परमात्मा को नही प्राप्त किया जा सकता है। विरक्त होने पर ही परमात्मा मिलते है। यदि विषय भोग से परमात्मा की प्राप्ति हो जाय तो विरह मे जलने का कष्ट कोई नहीं उठाएगा।

अलंकार—अर्थातरन्यास।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णाँ तजै, ताहि मिलैं भगवान॥३०॥

शब्दार्थ—षरसान = तीक्ष्ण धार।

अर्थ—विषयो मे हँसते-खेलते यदि परमात्मा की प्राप्ति हो जाय तो कौन है जो तीक्ष्ण शान पर चढ़कर अपने शरीर की दुर्गति करायेगा ? काम, क्रोध, तृष्णा के त्याग से ही भगवत्प्राप्ति होती है।

अलंकार—अर्थातरन्यास।

पूति पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ॥३१॥

शब्दार्थ—गौहनि = संग। पीछे लगना। आपण = आत्मतत्त्व।

अर्थ—जीवात्मा परमात्मा का प्रिय पुत्र है। यह पुत्र परमात्मा के साथ-साथ या पीछे-पीछे चल रहा था। माया से यह नही देखा गया। उसने जीव को विषय लोभ की मिठाई थमा दी। जीव अपने पिता (परमात्मतत्त्व) को भूल कर माया के पीछे चलने गया।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

डारी खाँड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ॥३२॥

शब्दार्थ—डारी = फेक दी। खाँड़ = गुड़। मिठाई। अंतरि = हृदय। रोस = क्रोध। उपाइ = (<स उत्पद्यते) उत्पन्न करके।

अर्थ—साधक को जब ज्ञान हुआ तो उसे माया पर क्रोध हुआ। उसने माया द्वारा दी गयी लोभ मिठाई पटक कर फेक दी। पटकी इसलिये कि वह टूट जाय। बेकार हो जाय। अब वह प्रभु वियोग मे रोने लगा अर्थात् परमपिता परमात्मा के लिये व्याकुल हो गया। इस व्याकुलता ने उसे परमात्मा से मिला दिया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

नैना अंतरि आचरूँ, निस दिन निरषौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि॥३३॥

शब्दार्थ—आचरूँ = आचरण करूँ। रखूँ। निरषौ = देखूँ। तोहि = तुम्हे। निस = रात। सो

= वह।

अर्थ—हे प्रिय, तुम मेरी ऑखो के भीतर आ जाओ। तुम्हे ऑखो मे बद कर लूॅ। दिन-रात तुम्हे ही देखता रहूॅ। हे हरि, वह दिन मेरे लिये कब आयेगा जब तुम्हारा दर्शन होगा ?

तुलनीय—बसो मेरे नैननिमे नदलाल।—मीरा।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपैं माइ ॥३४॥

अर्थ—सत कबीरदास जी कहते है कि प्रिय परमात्मा की प्रतीक्षा करते-करते दिन बीत गया। रात भी बीत जायगी। विरहिणी प्रिय को नही प्राप्त कर रही है। वह हृदय के भीतर ही तड़प रही है।

कै बिरहिन कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणाँ, मोपै सह्या न जाइ ॥३५॥

अर्थ—हे प्रभु, या तो विरहिणी को मृत्यु प्रदान करो या आत्मतत्त्व का दर्शन करओ। वियोग की आग मे दिन-रात जलना अब मुझसे बिल्कुल नही सहा जा रहा है।

बिरहणि थी तौ क्यूँ रही, जली न पीव के नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि ॥३६॥

शब्दार्थ—नालि = साथ। मुगध = मुग्धा। मूढ। गहेलड़ी = गर्वीली। लाजूॅ मारि = लाज से मरना या दुखी होना।

अर्थ—ऐ साधक विरहिणी, अगर तेरा विरह सच्चा था तो रह क्यो गई ? प्रिय के साथ ही क्यो नही जल गयी ? ओ, मूढ गर्वीली (प्रिय के प्रेम पर गर्व करने वाली), अब क्यो लज्जित होती है ? दुखी होती है ? प्रेम को लज्जित क्यो करती हो ?

हौ बिरहा की लाकड़ी, समझि समझि धूँधाउँ।
छूटि पड़ौं यों बिरह तै, जे सारीही जलि जाउँ ॥३७॥

शब्दार्थ—सारी = १ पूरा। २ चिता।

अर्थ—साधक आत्मा प्रिय वियोग की लकड़ी के समान है। जैसे-जैसे सोचती है और धुआँ उठता है। पूरी धधकती नही धुँधुआती है। अगर चिता पर ही पूर्णत. जल जाऊॅ तो विरह मे धीरे-धीरे जलनेवाली यह पीड़ा समाप्त हो जाय।

कबीर तन मन यौं जल्या, बिरह अगनि सूँ लागि।
मृतक पीड़ न जाँणई, जांणैगी यहु आगि ॥३८॥

अर्थ—सत कबीरदास जी कहते है कि विरह की आग मे बिना किसी प्रकार की वेदना की अनुभूति और अभिव्यक्ति करते हुए मृतक के समान जल गई। उस पीड़ा को जलनेवाली नही जानती। आग जानती है।

टिप्पणी—यहॉ दो बाते है— एक यह कि मे विरही धैर्य और सहनशीलता से जलन को धारण करता है। दूसरी यह कि साधक चेतन से जड़ रूप हो जाता है। तभी उसकी पीड़ा से प्रभावित आग की अनुभूति होती है। साधक को जलने की अनुभूति नही होती है।

अलंकार—असगति।

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाउँ।
मो देख्याँ जलहरि जलै, संतौं कहाँ बुझाउँ ॥३९॥

शब्दार्थ—जलहरि = (< स जलगृह) जलाशय। विषय जलगृह।

अर्थ—मै विरह की आग से जल रही थी। इस जलन को बुझाने जलाशय गयी। किंतु मैने देखा कि जलाशय तो स्वयं जल रहा है। वहॉ विषयो की आग धधक रही है। अब मै अपनी

आग कहाँ बुझाऊँ ? ससार के सारे जलाशय व्यर्थ है। बिना आनदकद भगवान् के मेरी विरहपीड़ा दूर नही हो सकती है।

परबति परबति मैं फिर्‍या, नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥४०॥

अर्थ—साधक बड़े-बड़े साधको, संन्यासियो एव गुरुओ के पास गया। सच्चे तपस्वियो की खोज मे, वन-पर्वतो में भटका। रोता रहा। इतना रोया कि ऑखे चली गयी। कितु संजीवनी बूटी नही मिली।

यहाँ बूटी से सकेत भगवान् के लिये हे।

फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषौं हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ ॥४१॥

शब्दार्थ—फुटोला = पटोर, रेशमी वस्त्र। धज = टुकड़ा। कामलड़ी = कम्बल।

अर्थ—विलासिता द्वारा ईश्वर की प्राप्ति नही होती है। मै चाहता हूँ कि रेशमी वस्त्रो को त्याग कर टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ और कम्बल पहन लूँ (साधुओ का एक सम्प्रदाय कम्बल ही ओढ़े रहता है)। जिस वेश-भूषा द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होगी वही पहनूँगा।

नैन हमारे जलि गये, छिन छिन लोड़ैं तुझ।
नाँ तूँ मिलै न मैं खुसी, ऐसी बेदन मुझ ॥४२॥

शब्दार्थ—लोड़ैं = (लोरै) = लोर। आँसू।

अर्थ—हे प्रभु, तुम्हारा रास्ता देखते-देखते मेरी ऑखे जल गयी हैं। ये हर समय तुम्हारे लिये आँसू गिराया करती है। तुम्हारे न मिलने से मैं खुश भी नही हूँ। मुझमे गहरी वेदना है।

भेला पाया सरप का, भौसागर कै माँह।
जे छाँड़ौं तौ डूबिहौं, गहौं त डसिये बाँह ॥४३॥

शब्दार्थ—भेला = एक प्रकार की नाव। सरप = सर्प।

अर्थ—हमने भवसागर पार करना चाहा। कितु हमारा साधन गलत था। उसके लिये हमने विषयो को चुना। जैसे कोई व्यक्ति सर्प की नाव बनाकर नदी पार करना चाहे। अब उसे छोड़े तो डूबने का भय है। पकड़े रहे तो सर्प काट लेगा। कहना यह है कि काम को छोड़ना अत्यत कठिन है।

अलंकार—सागरूपक।

रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥४४॥

शब्दार्थ—रैणा = रात। बिछोहिया = बिछुड़ गया। सषम =शख। झूरि = सूखा। देवलि = देवालय। धाहड़ी = दौड़ना। देसी = दिखाई देगा।

अर्थ—हे जीवात्मा रूप शख तुम अज्ञानाधकार के कारण सागर प्रभु से दूर पड़ गये हो। अब दुखी (झूरि) होते रहो। सूर्योदय या ज्ञान प्रकाश होने पर भी तुम चेत नही रहे हो। इसलिये तुम शख के समान मदिर-मदिर मोक्ष के लिये दौड़ोगे और तुम्हे मोक्ष की प्राप्ति नही होगी। क्योकि मोक्ष मदिरो से नही मिलता है। मोक्ष तो आत्मज्ञान का विषय है।

अलंकार—अन्योक्ति।

सुखिया सब संसार है, खायै अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरू रोवै ॥४५॥

अर्थ—सारा ससार विषयासक्त है। विषयों मे आसक्त होकर खाता और सोता है। उसे अपने नाश की कोई चिता नही है। इस स्थिति को देख कबीरदास साधना मे जागे है। वे

प्रियतम प्रभु की प्राप्ति और अज्ञानी जीवो के उद्धार के लिये रो रहे है।

तुलनीय—मै विरहिणी वैठी जागूं, जगत सब सोवै री आली।—मीरा।

(४)

ग्यान बिरह कौ अंग

दीपक पावक आँणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूँ मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग॥१॥

शब्दार्थ—जोइया = ज्योतित किया। प्रज्वलित किया।

अर्थ—दीपक, तेल और आग तीनो साथ-साथ लाया। मतलब कि हृदय दीपक मे परमात्म स्नेह (प्रेम) के साथ तीव्र साधना की आग भी जला दी। इससे जो ज्ञान ज्योति जली तो वासना के कीड़े स्वय नष्ट होने लगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मार्‌या है जो मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै कालि॥२॥

अर्थ—गुरुदेव ने चिकनी-चुपड़ी बातो द्वारा नही बल्कि रूखे वचनो द्वारा शब्दबाण मारा है। किंतु इन वचनो मे साधना की शक्ति ऐसी है कि नुकीला (अनलकृत) न होने पर भी पूरा असर हुआ। अब साधक गुरुकृपा वृक्ष की छाया मे भगवान् को पुकार रहा है। संसार के प्रति जो थोड़ी बहुत असक्ति है वह भी आज कल मे समाप्त हो जायगी।

अलंकार—विभावना।

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूँवाँ प्रगट न होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ॥३॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि। जगल जलाने वाली आग। लाई = लगाई।

अर्थ—दावाग्नि (भगवत्प्रेम की आग) हृदय वन मे जल रही है। इसका धुआँ बाहर नही दीख रहा है। साधक शांत है। भगवत्प्रेम की आग जिसे लगती है वही जानता है या जो (गुरु) लगाता है वह जानता है।

अलंकार—विशेषोक्ति, विभावना।

झल ऊठी झोली, जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति॥४॥

शब्दार्थ—झल = ज्वला। लपट। झोली = साधु की झोली या शरीर।

अर्थ—भगवत्प्रेम की आग जली तो जिस हृदयरूपी झोली मे इच्छाओ का भडार था वह जल गयी। योगी खप्पर रखते है। जिस खप्पर (खोपड़ी, माथा) मे विषय चितन भरे थे वह भी नष्ट हो गया। योगी (चेतन आत्मा) परमात्मा मे रमण करने लगा। अब उसके स्थान पर राख है। उसकी विभूति (यश) चारो ओर फैली है।

टिप्पणी—ज्ञानाग्नि से केवल कर्म की समाप्ति होती है। प्रेमाग्नि से तदाकारिता प्राप्त होती है। यहाँ योगी तदाकार हो गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि॥५॥

शब्दार्थ—कदू = कर्दम। कीचड़। झारि = समूह।

अर्थ—विषयो की नदी मे ज्ञान की आग लग गयी। यह आग इतनी तीव्र है कि पानी तो पानी कीचड़ अर्थात् वासना के सभी आधार जल गये। यह कैसे हुआ इस पर दक्षिण और उत्तरमार्गी दोनो प्रकार के पडित विचार कर रहे है। उन्हे कुछ समझ मे नहीं आ रहा है। क्योकि यह पाडित्य का विषय नही है।

अलंकार—विरोधाभास।

दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाइ ॥६॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि। साइर = सागर। पषी = पक्षी। दाधी = दग्ध हुई। जली। पालवै = पलुहै। पल्लवित होना।

अर्थ—सतगुरु ने भगवत्प्रेम की आग लगा दी। इस आग से विषयो का अनत प्रवहमान समुद्र जलकर समाप्त हो गया। इस सागर मे रहनेवाले पक्षी (विषयो मे अनुरक्त जीव) सद्गुरु की शरण मे आ बैठे। जली देह पुन नही पल्लवित होगी। मतलब यह कि अब मन मे विषयो की उत्पत्ति नही होगी।

अलंकार—अन्योक्ति।

गुर दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्‌या, गलि पूरे कै लागि ॥७॥

अर्थ—गुरुदेव ने विरह की आग लगाई। इससे शिष्यज्ञान विरह की आग मे जलने लगा। आग मे सामान्यत सभी जलते है। तिनका तो अवश्य जलता है। कितु ज्ञान विरह की इस आग से तिनका (अकिचन भक्त) पूर्णब्रह्म से लगकर बच गया।

अलंकार—विरोधाभास।

आहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारै रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ॥८॥

शब्दार्थ—आहेड़ी = आखेटक। शिकारी। दौ = दावाग्नि। मृग = विषयासक्त मन। क्रीला = क्रीड़ा। दाझत = जलाता। बन = विषय वन। विषययुक्त मन।

अर्थ—शिकारी रूप गुरुदेव ने शिष्य मन के विषय-वन मे ज्ञान विरह की आग लगा दी। इससे विषयासक्त मन रो रहा है। विषयो के जिस वन मे क्रीड़ा करता था वह वन जल रहा है। सद्गुरु का सकेत है कि विषयो को छोड़ने मे बड़ी कठिनाई होती है। मोह लिप्त मन रागात्मक वेदना की अनुभूति करता है।

पाणीं माँहै प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥९॥

शब्दार्थ—प्रजली = प्रज्वलित हुई। अप्रबल = प्रबल। सलिता = सरिता। नदी। मछ = शुद्ध चेतन जीव। मन।

अर्थ—विषय नदी मे ज्ञान विरह की अत्यत प्रबल आग लग गयी। बहनेवाली विषय नदी जलती रही। कितु हृदय के भीतर का निवासी शुद्ध चैतन्य मन उससे अलग हो गया।

अलंकार—अन्योक्ति।

समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषाँ चढ़ि गईं ॥१०॥

अर्थ—विषययुक्त संसारसागर मे ज्ञान विरह की आग लग गयी। फलत विषय नदी जल

कर कोयला हो गयी। संत कबीर कहते है– देखो, मन मछली पेड़ अर्थात् ब्रह्माड (शून्य) पर पहुँच गयी।

(५)

परचा कौ अंग

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सूंदरी, कौतिग दीठा तेणि ॥१॥

शब्दार्थ—परचा = परिचय। अनंत = परमात्मा। सेनि = श्रेणी। कौतिग = विचित्रता कौतुक। दीठा = दीख पड़ा। तेनि = उसे।

अर्थ—अनत परमात्मा का प्रकाश अनेक सूर्य के एक साथ उगने जैसा है। कितु परमात्मा का यह प्रकाश केवल वही साधक सुदरी देख सकती है जिसने परमात्मा पति के साथ सोने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवाँही दास ॥२॥

अर्थ—ज्ञान प्रकाश से देह के बिना अर्थात् निराकार ब्रह्म का खेल दीखा है। ब्रह्मस्थान बिना किसी सूर्य-चद्रमा के प्रकाशित रहता है। इसे देखकर साहब ईश्वर की सेवा करनेवाला भक्त सदा निश्चित रहता है।

तुलनीय—न तत्र सूर्यो भाति न चद्र तारकम् —कठोपनिषद्।

टिप्पणी—साहब सेवा मे दास की बेपरवाही दो कारणो से है—एक, साहब के सेवक पर माया का प्रभाव नही होता है। दूसरा, साहब साधक के योग क्षेम का वहन करता है।

अलंकार—विभावना।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्याहीं परवान ॥३॥

शब्दार्थ—उनमान = अनुमान। मान। परवान = प्रमाण।

अर्थ—पारब्रह्म परमात्मा का प्रकाश कैसा और कितना है इसका पता अनुमान से नही लग सकता है। इस प्रकार शोभा को कहना कठिन है। देखनेवाला ही इसका प्रमाण पा सकता है। क्योकि यह शास्त्र नही आत्मानुभूति का विषय है।

टिप्पणी— प्रमाण के प्राय' चार आधार है—अनुमान, शब्द, उपमान, प्रत्यक्ष। इनमे तीन से भौतिक वस्तुओं का बोध होता है। ब्रह्म तो प्रत्यक्ष साक्षात्त्कार का विषय है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी, 'तहाँ' पाप पुन्य नहीं छोति ॥४॥

अर्थ—पारब्रह्म अगम है। इद्रियो के परे है। वहाँ किसी प्रकार गमन नही किया जा सकता है। वहाँ अखंड अनत का प्रकाश होता है। कबीर साहब इस ज्योति को प्रणाम करते है। इस प्रकाश के प्राप्ति स्थान मे पापपुण्य, छुआछूत कुछ भी नही है। यह ससार की सभी अनुभूतियो से भिन्न है।

टिप्पणी—ब्रह्म प्रकाश प्राप्त व्यक्ति की स्थिति निम्नलिखित है—

यदा पश्य पश्यते रुक्म वर्ण,
कर्त्तारमीश फुरुष ब्रह्म योनिम्।
तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय
निरजन परम साम्यमुपैति ।। (मुडकोपनिषद् ३/१/३)

जिस समय द्रष्टा सुवर्ण वर्ण और ब्रह्मा के उत्पत्ति स्थान सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को देखता है, उस समय वह पाप-फुण्य को त्याग कर निर्मल होकर परम साम्य को प्राप्त कर लेता है।

हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर बास।
कवल जू फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ।।५।।

अर्थ—साधक दृश्य प्रपच से मुक्त होकर अनत ब्रह्म मे जा मिला। वही उसका स्थायी निवास हो गया। वहाँ निर्गुण- निराकार कमल खिला है। सामान्यत गर्भ भी कमलाकार होता है। कितु सृष्टि कमल साकार न होकर निराकार है। इस कमल को दास (भक्त) ही देख सकता है।

अलंकार—विभावना।

कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरंतर बास।
कवल जू फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ।।६।।

अर्थ—मनरूपी भौरा निर्गुण-निराकार ब्रह्म कमल मे निरतर निवास कर रहा है। यह कमल बिना किसी जल के सदा फूला रहता है। इसको कोई भक्त ही देख सकता है।

अलंकार—विभावना।

अंतर कवल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहाँ होइ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया, जाँणैगा जन कोइ ।।७।।

अर्थ—हृदय मे ब्रह्म निवास का कमल प्रकाशित हो रहा है। मन भ्रमर उसी कमल मे लुब्ध है। इस बात को भक्त ही जान सकता है।

टिप्पणी—छादोग्य उपनिषद् मे—अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्म पुरे दहर पुण्डरीक वेश्म अर्थात् इस ब्रह्मपुर मे सूक्ष्म कमल जैसा वेश्म (निवास स्थल) है। ८/१/

अलंकार—रूपक।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वाति बूँद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ माँहिं ।।८।।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि शून्य शिखर अर्थात् सहस्रार चक्र मे सागर, सीप, स्वाति बूँद कुछ भी नही है। फिर भी वहाँ ज्ञान के मोती उपजते रहते है।

मोती गहरे समुद्र मे उपजता है। यहाँ शिखर पर उपजता है। यह विरोधाभास है।

अलंकार—विभावना।

घट माँहैं औघट लह्या औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ।।९।।

अर्थ—इस शरीर के भीतर ही निर्गुण-निराकार के मार्ग की प्राप्ति हो गयी। जहाँ घाट नही था या अत्यत विकट था वहाँ घाट की प्राप्ति हो गयी। परिचय होते ही गुरुदेव ने परमात्म प्राप्ति का रास्ता दिया।

टिप्पणी—घट शरीर का प्रतीक है। औघट = निर्गुण निराकार ब्रह्म है। घाट = साधना, भक्ति और भगवान तीनो है।

अलंकार—विरोधाभास।

सूर समाँणौं चंद मे, दहूँ किया घर एक।
मन का च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥१०॥

शब्दार्थ—सूर = सूर्य नाड़ी। दक्षिण नाड़ी। पगला नाड़ी। चद = इडा नाड़ी। वाम नाड़ी। चद्र नाड़ी। घर एक = सुषुम्ना नाड़ी।

अर्थ— योग की प्रक्रिया मे योगी इडा-पिगला दोनो को सुषुम्ना मे मिलता है। तब योगसिद्धि होती है। यह पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप होता है।

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥११॥

अर्थ—सीमित ससार को छोड़कर असीम मे पहुँच गया। शून्य सहस्रार चक्र मे पहुँचकर निरतर झरनेवाले अमृत मे स्नान किया। यह स्थान बड़े-बड़े मुनियो को दुर्लभ है। साधक यहॉ विश्राम करता है। ससार चक्र मे विश्राम नही मिलता है। ससार दुख है। सुख शाति यही है।

टिप्पणी—योगी लोग सिर के ऊपरी हिस्से मे एक रध्र मानते है। यह सूक्ष्म है। स्थूल से भिन्न है। यह रध्र सुषुम्ना के मध्य से होकर मूलाधार चक्र तक पहुँचता है। इस रध्र के ऊपरी भाग पर सहस्रदल कमल है। इसका नाम ब्रह्मरध्र है।

शून्य शिखर शून्यावस्था का दूसरा नाम है। गोरखनाथ ने इसे गगन शिखर कहा है— गगन शिखर मे बालक रोवै। ताका नाम धरहुगे कैसा।

अलंकार—सबधातिशयोक्ति।

देखौ कर्म कबीर का, कछु पुरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, (सो) दोसत किया अलेख ॥१२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जन्म के कर्म अर्थात् भाग्य का फल देखो। जिस इद्रियातीत प्रभु का स्थान मुनियो को भी दुर्लभ है उस अलक्ष्य के यहॉ कबीर ने अपना स्थान बना लिया है।

अलंकार—सबधातिशयोक्ति।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥१३॥

शब्दार्थ—पिजर = हड्डियोवाला शरीर। ससा = सशय। खूटा = (स खड ?) समाप्त हुआ।

अर्थ—योगसाधना द्वारा शरीर मे भगवत्प्रेम का प्रकाश हुआ। इससे भगवत्तत्त्व के प्रति सशय समाप्त हो गया। सशय समाप्त होते ही भगवत्प्राप्ति हो गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमही, बाँणी फूटी बास ॥१४॥

अर्थ—शरीर मे भगवत्प्रेम का प्रकाश हुआ। फलत अंतरग ज्ञान की उज्ज्वलता से भर गया। मुख और वचन से कस्तूरी की सुगध आ रही है।

टिप्पणी—यह कस्तूरी वही है जिसे भगवान् तिलक के रूप मे ललाट पर लगाते है। कस्तूरी तिलक ललाट पटले । सगुण उपासना मे कस्तूरी चदन स्थूल और बहिरग है। निर्गुण मे सूक्ष्म और अतरग है। दूसरे स्थान पर सत कबीर ने कहा है— 'कस्तूरी कुडल बसै मृग ढूँढ़ै बन माँहिं'। यह कस्तूरी भगवत्तत्त्व है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंदबिहूँणाँ, चाँदिणाँ, तहाँ अलख निरंजन राइ॥१५॥

अर्थ—ससार मे भटकनेवाला मन उन्मनी अवस्था (प्रभु चरणों) से लगकर आकाश (सहस्रार चक्र) मे पहुँच गया। यहाँ चद्रमारहित चाँदनी मे निर्मल प्रभु का दर्शन हुआ।

टिप्पणी—चन्दबिहूँणाँ, का अर्थ उस प्रकाश का कोई आधार नही है। वह स्वाधिष्ठान पर स्थित है। अलख निरजन का अर्थ त्रिगुणात्मक मल से रहित है।

अलंकार—विभावना।

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि बिलग।
लूँण बिलगा पाणियाँ, पाँणी लूँणा बिलग॥१६॥

शब्दार्थ—बिलग = विशेष लग्न। अधिक लगना। लूँण = नमक।

अर्थ—मन उन्मनी अवस्था मे पहुँच गया है। यह तब हुआ जब मन का मन मे विलय हो गया। मन ने अपना कार्य बद कर दिया है। जैसे पानी मे नमक घुलकर एक हो जाता है उसी प्रकार आत्मा-परमात्मा की एकता हो गयी है।

टिप्पणी—सत कबीर इसे मन ही मन समाना कहते है।

गीता इसे 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट या इद्रियानीन्दियार्थेभ्य ' कहती है।

अलंकार—निदर्शना।

पाँणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥१७॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सूक्ष्म और स्थूल, चेतन और जड़ मे मूल भेद न होकर स्थिति का भेद है। जैसे पानी बर्फ बनता है। बर्फ पुन पानी बन जाती है उसी प्रकार निर्गुण-निराकार सूक्ष्म ब्रह्म ही सगुण-साकार-स्थूल रूप ग्रहण करता है। फिर इसका निर्गुण-निराकार-सूक्ष्म मे प्रत्यावर्तन होता है। जीव के रूप मे बद्धआत्मा पुन अपने परमात्म रूप मे मिल गई है।

टिप्पणी—मूल एक है। वह जड़ चेतन दोनो रूप ग्रहण करता है। 'जड़ चेतनहिं ग्रथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।'—तुलसी।

'एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।'—प्रसाद।

भली भई जु भै पड्या, गई दशा सब भूलि।
पाला गलि पाँणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥१८॥

शब्दार्थ—भै = भय। दशा = जीव दशा। शरीर की छह दशाएँ है– जन्म, वृद्धि, परिणति (बदलना), अपक्षय, व्याधि और नाश। इन्हे षड् विकार भी कहते है। दे० विवेक चूड़ामणि, २५९।

अर्थ—अच्छा हुआ जो मुझे भविष्य का भय हुआ। यमदड का भय हुआ। जन्म-मृत्यु चक्र का भय हुआ। फलत मै संसार की छह दशाओं से मुक्त हो गया। क्योकि ये दशाएँ आत्म ज्ञानी को नही प्रभावित करती है। बर्फ जैसी मेरी जड़ता (देहात्म बुद्धि) समाप्त हो गयी है। मै परमात्मा मे मिल गया। परमात्मा ही सपूर्ण सृष्टि का किनारा है।

अलंकार—दृष्टांत।

चौहटै च्यंतामंणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीराँ मुझसूँ मिहर करि, इब मिलौ न काहू साथि॥१९॥

शब्दार्थ—चौहटै = चौरास्ता।

पंषि उडाणी गगन कूँ, प्यंड रह्या परदेस।
पाँणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस॥२०॥

शब्दार्थ—पषि = जीवात्मा रूपी पक्षी। गगन = सहस्रार चक्र। पिड = शरीर। चंच = चोच। इद्रियाँ। परदेस = ससार।

अर्थ—जीवात्मारूपी पक्षी कुडलिनी शक्ति के सहारे आकाश (सहस्रार चक्र) पहुँच गया। किंतु शरीर ससार मे ही रह गया। वहाँ पहुँचकर जीवात्मा ने विना किसी इद्रिय की सहायता के लगातार झरनेवाले अमृतरस का पान किया। यह रस इद्रियो से नही, इद्रियातीत होकर ही पीया जाता है। अब जीवात्मा इस वासनावाले प्रपची स्वदेश को भूल गयी है। यहाँ नही आना चाहती है।

अलंकार—विभावना।

पंषि उडानीं गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहँ सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान॥२१॥

अर्थ—जीवात्मारूपी पक्षी आकाश (सहस्रार चक्र) मे जा पहुँचा है। जीवात्मा के कान मे वह अनाहत नादरूपी बाण लग गया है, जिस बाण से ब्रह्मांड विद्ध है।

अलंकार—अन्योक्ति।

सुरति समाँणों निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार॥२२॥

शब्दार्थ—सुरति = १ स्मृति। २ श्रुति। शब्द। निरति = १ निरतर प्रेम। २ निर्ऋति। अशब्द। शून्य। आनद पद। स्यभ दुवार = स्वय द्वार या सिह द्वार।

अर्थ—भगवान् का स्मरण अटूट प्रेम मे परिणत हो गया। इस प्रेम का कोई स्थूल या भौतिक आधार नही है। निर्गुण- निराकार के प्रति स्थूल आधार रहित प्रेम है। स्मरणजन्य प्रेम जब निरतर प्रेम मे बदल गया तो प्रभु प्रेम का सिह दरवाजा या आत्मद्वार (आत्मज्ञान) खुला। शब्द से शब्दातीत की स्थिति आ गयी।

तुलनीय—डा० गोविद त्रिगुणायत ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है– सुरति (प्राप्त आत्मा) साधना करके निरति (प्रातव्य आत्मा) मे लीन हो जाती है। निरति (प्रातव्य आत्मा) शुद्ध, बुद्ध, मुक्त नित्य ब्रह्म होने के कारण निराधार रहती है। इस प्रकार जब सुरति और निरति तादात्म्य हो जाता है तभी स्यभु अर्थात् कल्याण और आनद के द्वार खुल जाते है।

सुरति समाँणी निरति मै, अजपा माँहै जाप।
लेख समाँणाँ अलेख मैं, यूँ आपा माँहै आप॥२३॥

अर्थ—प्रभु के प्रति स्मरण निरतर स्मरण मे वदल गया। नाम जप का बाह्य रूप अतर जप मे परिणत हो गया। अभ्यासवश योगी के अतर मे हर समय जप चलता रहता है। जब आत्मा को आत्मा मे पाया तो भाग्यलेख वदल गया या जो दृश्य जगत था उसके स्थान पर केवल अदृश्य, निराकार ब्रह्म का दर्शन होने लगा।

आया था संसार मै, देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत की, पड़ि गया नजरि अनूप॥२४॥

शब्दार्थ—अनूप = अनुपमेय। ब्रह्म।

अर्थ—सामान्यत लोग समझते है कि उसका जन्म इस बहुरुपिया ससार को देखने के लिये हुआ है। किंतु सतो की दृष्टि भिन्न है। साधना के कारण उनकी दृष्टि ससार की नाशवान् चीजो पर न पड़कर अनुपमेय एव निरजन प्रभु पर पड़ती है। पड़ गयी है।

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं माँहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूँ मिलैं, जब लग दोइ सरीर॥२५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि भगवान् से सच्चे प्रेम के लिये तन, मन, वचन की एकता

होनी चाहिए। द्वैतभाव से परमात्मा नही मिलते है। जिसके मन मे साधना का धैर्य है वही प्रभु को आलिगन कर पाता है।

सचु पाया सुख ऊपनाँ, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साँई मिल्या हजूरि ॥२६॥

शब्दार्थ—ऊपनॉ = उपजा।

अर्थ—परमात्मतत्त्व की अनुभूति होते ही सत्य की उपलब्धि हो गयी। सुख प्राप्त हुआ। हृदय नदी भगवत्प्रेम जल से पूर्ण हो गयी। सारे पाप सहज रूप मे नष्ट हो गये।

अलंकार—रूपक।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया, नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर बिचारा ॥२७॥

अर्थ—सत कबीर भगवान् के साथ ही भक्ति को अविनाशी मानते है। इसलिये कहते है कि सृष्टि प्रसार के पूर्व जब धरती, आकाश, हवा, पानी, तारा आदि पचभूतो तथा दूसरी भूत वस्तुओ का विकास नही हुआ था तव केवल भगवान् और उनके भक्त थे।

जा दिन कृतमनाँ ना हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ॥२८॥

शब्दार्थ—कृतमनॉ = सृष्टिकर्त्ता। ब्रह्मा। हट = बाजार। पट = सृष्टि रचना रूपी वस्त्र। हुता = था। औघट = टेढ़ा रास्ता। घाट = जहॉ पहुँचना है। गतव्य।

अर्थ—परमात्मा ब्रह्मा के भी रचयिता है। जब न ब्रह्मा थे। न ब्रह्मा के सृष्टि व्यापार का प्रसार हुआ था। न वस्त्र के समान यह ससार बुनकर तैयार किया गया था। भक्त उस समय भी था।जिसने सृष्टि निर्माण और भगवत्प्राप्ति के टेढ़े रास्ते को देखा है।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥२९॥

शब्दार्थ—थिति = स्थिर तत्त्व। प्रतिष्ठित तत्त्व। अनिन = अनन्य। तनि = तनमे। आचरी = आचरित हुई। सचरित हुई। राइ = राजा।

अर्थ—सद्गुरु की सहायता से, कृपा से चचल मन स्थिर हो गया है। उसने स्थिर तत्त्व को पा लिया है। हृदय मे प्रभु विराजमान है और शरीर अनन्य की कथा या भाव से भावित हो गया है।

हरि संगति सीतल भया, मिटा मोह की ताप।
निस बासुरि सुखनिध्य लह्या, जब अंतरि प्रकट्या आप ॥३०॥

अर्थ—भगवान् का सान्निध्य पाकर ससार के (त्रिविध) ताप ठडे हो गये। मोह का दुख भी दूर हुआ। सुखनिधि प्राप्त हो गयी। जब हृदय मे स्वय भगवान का प्राकट्य हुआ।

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥३१॥

शब्दार्थ—मानियॉ = माना। बलती = जलती। लाइ = (स अलात) आग।

अर्थ—शरीर के भीतर मन स्थिर हो गया। मन की चचलता दूर हो गयी। इसे बाहर नही कहा जा सकता है। आग से पुन पानी हो गया। अर्थात् वासना की ज्वाला ठडी हो गयी।

टिप्पणी—आग वासना और जल वासना नाश का प्रतीक है। वेदात दर्शन मे आग से जल की उत्पत्ति मानी गयी है। इसीलिये जल आग को बुझाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

तत पाया तन बीसर्‌या, जब मुनि धरिया ध्यान।

तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान ॥३२॥

शब्दार्थ—तत = तत्त्व। आत्मतत्त्व। परमात्म तत्त्व। सुनि = शून्य। सहस्रार चक्र। मुनि = मन मे।

अर्थ—जब मनमे ब्रह्म का ध्यान धारण किया तो परमात्म तत्त्व की प्राप्ति हो गयी और शरीर की चिता छूट गयी। जो मन विषय की आग मे तप रहा था वह ठढा हो गया। क्योकि शून्य स्थान सहस्रार चक्र मे झरनेवाले अमृत रस मे स्नान करने लगा। स्नान से ही तो तन-मन की गर्मी समाप्त हुई। ताप का अर्थ दैहिक, दैविक, भौतिक इन त्रितापो से भी है।

जिनि पाया तिनि सुगह गह्या, रसनाँ लागी स्वादि।
रतन निराला पाईंया, जगत ढढाल्या बादि ॥३३॥

शब्दार्थ—जिनि = जिन्होने। सुगह = (< स सुग्रह) सुदर ढग से पकड़ा। गह्या = पकड़ा। रसनाँ = जीभ। ढढाल्या = ढूँढा। बादि = व्यर्थ।

अर्थ—उस परमतत्त्व को जिस किसी विरल व्यक्ति ने पाया है उसकी जिह्वा को उसका स्वाद लग गया है। इस अनुपम तत्त्व को प्राप्त कर लेने के बाद अब जगत मे कुछ ढूँढ़ना व्यर्थ है।

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्थ।
सायर माँहि ढंढोलताँ, हीरै पड़ि गया हथ्थ ॥३४॥

शब्दार्थ—स्याबति = पूर्ण। साबूत। सम्रथ्थ = समर्थ। सायर = सागर। ढढोलताँ = ढूँढ़ना। हथ्थ = हस्त।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हृदय मे पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति हो गयी। पूर्ण ब्रह्म का समर्थ फल पा गया। ससार समुद्र मे ढूँढ़ रहा था। इसी खोज मे उसके हाथ हीरा पड़ गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि ॥३५॥

अर्थ—जब तक हृदय मे अह भाव था तब तक ईश्वर का बोध नही था। अब परमात्मतत्त्व का बोध होने पर ईश्वर है और मै नही हूँ। जब हृदय मे आत्म-ज्ञान का दीपक जला तो सारा अज्ञान (अँधियारा) समाप्त हो गया।

अलंकार—विरोधाभास।

जा कारणि मै ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव उजला, लागि न सकौं पाइ ॥३६॥

अर्थ—जिस प्रभु को मै ढूँढ़ रहा था वह आत्म प्रत्यक्षीकरण होते ही सामने दीख गया, किंतु कठिनाई यह है कि जीव (धन) वासनाओ की मैल से भरा है। रजोगुण और तमोगुण वाला है। किंतु प्रभु प्रिय सात्त्विक गुण वाला निर्मल है। इससे उसके पैर छूने मे कठिनाई होती है।

जा कारणि मै जाइ था, सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और ॥३७॥

अर्थ—जिस प्रभु को प्राप्त करने के लिये मै जा रहा था वह प्रभु पास ही मिल गया। वह फिर अपना हो गया। अब उसे अन्य कहने की जरूरत नही रह गयी।

टिप्पणी—यहाँ भक्ति की तीन स्थितियो का वर्णन है न—मैं उसका हूँ (तस्यैवाह), वह मेरा है (ममैवासौ), मै वही हूँ (स एवाहमिति त्रिधा)।

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैंनूं रहा समाइ ॥३८॥

अर्थ—ब्रह्म को एक अग या एकागी दृष्टि से देखने पर उसकी महिमा का ठीक-ठीक बोध नही हो सकता है। क्योकि जैसे ब्रह्म पूर्ण है वैसी ही दृष्टि भी पूर्ण होनी चाहिए। वह पूर्णब्रह्म अपने सपूर्ण तेज और पारसमणि के रूप मे मेरी ऑखो मे समाया है। भाव यह है कि उसका तेज तो दीख ही रहा है। उसके स्पर्श से मेरे भीतर परिवर्त्तन भी हो रहा है।

अलंकार—उल्लेख।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुक्ताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥३९॥

शब्दार्थ—मानसरोवर = सहस्रार चक्र। सुभर = खूब भरा। शुभ्र। केलि = क्रीड़ा। मुकताहल = मोती। मुकता = मुक्त पुरुप। अनत = अन्यत्र।

अर्थ—साधक जीव (मुक्तात्मा) सहस्रार चक्र मे पहुँचकर लबालब स्वच्छ अमृत जल का पान कर रहा है। मुक्त पुरुप मोक्ष (मुक्ता) का आनद ले रहा। अब वह यहाँ से अन्यत्र नही जायगा।

अलंकार—अन्योक्ति। यमक।

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली कवल प्रकास।
तहां कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥४०॥

शब्दार्थ—गगन = आकाश। कदली = केला। कवल = कमल। बदगी = नमन।

अर्थ—साधक सहस्रार चक्र मे पहुँच गया है। वहाँ निरतर अनाहत (अनहद) नाद हो रहा है और अमृत झर रहा है। कदली वन और कमल वन अर्थात् सहस्रार चक्र मे सूर्य-चंद्र नाड़ियो का प्रकाश हो रहा है। दास कबीर इस स्थिति को नमन करते है।

नीव बिहूंणां देहुरा, देह बिहूंणां देव।
कबीर तहां बिलंबिया, करे अलष की सेव॥४१॥

शब्दार्थ—बिहूणा = विना। देहुरा = देवालय। अलष = अलक्ष्य। निराकार।

अर्थ—सहस्रार चक्र या आकाश मे साधक एक ऐसे देवालय का साक्षात्कार करता है जो बिना किसी भौतिक आधार के टिका है। इसका देवता भी देहरहित, निराकार है। संत कबीर ऐसी जगह टिककर अलख निर्गुण निराकार पुरुष की सेवा करते हैं।

अलंकार—विभावना।

देवल मांहै देहुरी, तिल जेहै बिसतार।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहैं पूजणहार॥४२॥

शब्दार्थ—देवल = देवालय। देहुरी = देहली। दरवाजा। माहैं = मे। भीतर मे।

अर्थ—सब कुछ शरीर मे ही है। मदिर और उसकी देहरी भी भीतर ही है। है तो वह तिल जैसा छोटा या सूक्ष्म किंतु उसका विस्तार बहुत अधिक है। इसकी पूजा मे किसी बाहरी पत्ती और जल की जरूरत नही पड़ती। पूजा करनेवाला आत्मतत्त्व और पूजा के साधन सभी निर्गुण है। इसे मानसी पूजा कहते हैं।

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अँधियारी मिटि गई, बागे अनहद तूर॥४३॥

अर्थ—साधक सहस्रार चक्र मे स्थित है। यहाँ नाड़ी प्रकाश से सूर्योदय जैसा उजाला है। मन की सारी वासना मिट गयी है। भीतर अनाहत नाद हो रहा है।

अलंकार—अन्योक्ति।

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
अबिगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥४४॥

अर्थ—साधक प्रेम ध्यान मे लग गया है। फलत हृदय मे अनाहत नाद हो रहा है तथा सहस्रार चक्र मे अमृत झर रहा है। ब्रह्म का ज्ञान हो गया है। अव्यक्त ब्रह्म प्रगट हो गया है।

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ॥४५॥

शब्दार्थ—आकाशे = शून्य मे। कुआँ = सहस्रार चक्र। पाताले = मूलाधार मे। पनिहारि = कुडलिनी। हसा = शुद्ध मुक्त जीव। आदि = मूलतत्त्व।

अर्थ—आकाश अर्थात् शून्य मे सहस्रार चक्र एक कुएँ-सा है। कुडलिनी नाड़ी पनिहारिन के समान है। यह पनिहारिन (पानी भरनेवाली) मूलाधाररूपी पाताल मे है। यह कुडलिनी जागृत होकर सहस्रार चक्र की ओर जाती है। तब यहाँ अमृत जल निकलता है। इस जल को मुक्तात्मा पीती है। इस तत्त्व को कोई-ही समझ सकता है। इसे कुडलिनी जागरण भी कहते है। इसका एक दूसरा अर्थ भी लिया जाता है—योगियों के यहाँ मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य के कपाल विवर मे एक रस (अमृत) टपकता रहता है। किंतु अयोगी का यह रस मूलाधार चक्र मे स्थित सूर्य नष्ट कर देता है। इससे शरीर क्षीण होता है। साधक इस प्रक्रिया को रोक कर उस रस का पान करता है। खेचरी मुद्रा से पान करता है। खेचरी मुद्रा मे जीभ को उलट कर तालु मूल मे ले जाता है। यही सुषुम्ना का छिद्र (जिसे ब्रह्मरध्र कहते है) है।

शून्य कुआँ है। जीभ पनिहारिन है। पनिहारिन शून्य से टपकनेवाले रस का पान करती है।

सिव सकती दिसि कौंण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल मैं स्यंघ जु घर करै, मछली चढै खजूरि ॥४६॥

शब्दार्थ—सिव = पिंगला नाड़ी। सकती = इड़ा नाड़ी। जोवै = जोहना। प्रतीक्षा करना। पछिम दिसा = पृष्ठ भाग। सुषुम्ना। स्यघ = जीव। जल = मानस का उच्च स्वरूप। मछली = कुडलिनी या मन। खजूरि = शून्यचक्र।

अर्थ—यहाँ कुडलिनी जागरण की प्रक्रिया का वर्णन है। सुषुम्ना पृष्ठभाग (पश्चिम) मे उठी। इतनी तेज पछुवा हवा बही कि धूल उठने लगी। विषय-वासना उड़ने लगी। कुडलिनी या मनरूपी मछली शून्यचक्र खजूर मे पहुँच गयी। जीव सिह मानसरोवर मे स्नान करने लगा। मन उच्च भूमिका मे जा लगा। अब कोई इड़ा और पिंगला नाड़ियो की प्रतीक्षा नही करता है। दोनो नाड़ियाँ पीछे छूट गयी है।

अलंकार—विरोधाभास।

अंमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतर्‌या पार ॥४७॥

शब्दार्थ—हीरा = भगवत्सन्निधि। टकसाल = मानसतत्त्व। घटा = अनाहत नाद। जुलाहा = कबीर साहब। पारषू= परीक्षण करने वाला। पारखी अनभै = अनुभव। आत्मानुभूति। उतर्‌या पार = ससार मुक्त।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जीव हृदय मे परमतत्त्व की अनुभूति कर ससारसागर को पार कर गया है। वह टकसाल अर्थात् जहाँ द्रव्य (मूलतत्त्व) ढलते है वहाँ पहुँच गया है। यहाँ अनाहत नाद होता है। अमृत (आनद) की वर्षा होती है और भगवत्सन्निधि तत्त्व प्राप्त होता है।

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥४८॥

शब्दार्थ—पौलि = दरवाजा। दयाल = प्रभु। सूल = दुख। सौड़ि = सफेद चादर। सौरि।

अर्थ—ममता और मेरा का भाव समाप्त हो गया। प्रेम का दरवाजा खुल गया। भगवत्दर्शन से सुख हो गया और प्रेमानद की निर्मल-स्वच्छ चादर बिछ गयी है।

(६)

रस कौ अंग

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़हि चाकि॥१॥

शब्दार्थ—थाकि = (<स स्तोक) थोड़ा। कलस = घड़ा। कुँभार = कुभकार। ब्रह्मा।

अर्थ— सत कबीर कहते है कि भगवत्प्रेम रस को इस प्रकार पिया कि अब कुछ भी पीना शेष नही रह गया। इससे पूर्णतृप्ति हो गयी। अब पुन ब्रह्मारूपी कुम्हार द्वारा निर्मित संसारचक्र पर नही चढ़ना होगा। आवागमन से मुक्ति मिल गयी। अब मै घड़े के समान पक्का हो गया हूँ। मेरी साधना पूरी हो गयी है।

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, माँगै सीस कलाल॥२॥

शब्दार्थ—रसाल = रसीला। रसयुक्त। आम्रफल। मीठा। दुलभ = दुर्लभ। कठिन। सीस = अहकार। कलाल = कलवार। गुरु। रसाइन = १ जिसके खाने से काया कल्प होता है। २ एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ मे परिवर्तन होता है। जैसे ताँबा सोना हो जाता है।

अर्थ—राम नाम रूपी रसायन का सेवन और प्रेमरस पीना अत्यत रसीला है। रस से भरा है। इसका पीना अत्यत कठिन है क्योकि रामरस (भक्तितत्त्व) को पिलानेवाला गुरु सीस अर्थात् पूर्ण समर्पण चाहता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ॥३॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सतगुरुरूपी कलाल की भट्ठी या सान्निध्य मे बहुन से शिष्य आकर बैठ गए। किंतु जो अहकार का पूर्ण विसर्जन कर प्रणत होगा उसे ही गुरुकृपा से भगवतरस की प्राप्ति होगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति। व्यतिरेक।

हरि रस पीया जाँणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूँमत रहै, नाँही तन की सार॥४॥

शब्दार्थ—जे = जो। खुमार = नशा उतरने पर उत्पन्न आलस्य। मैमता = मतवाला मन। सार = सुधि। खयाल। (सबकर सार सभार गुसाई। करब जनक जननी की नाई—तुलसी॥)

अर्थ—साधक ने भगवत्तत्त्व का रस पी लिया है। वह भागवती चेतना मे मस्त घूमता है। वह ऐसे खुमार मे है जो कभी उतरनेवाला नही है। उसे अपने शरीर की कोई सुधि नही है। क्योकि अब वह देह की वासना से मुक्त है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मैंमंता तिण नाँ चरै, सालै चिता सनेह।
[1]बारि जु बाँध्या प्रेम कै, डारि रह्या सिरि येह॥५॥

---

[1] बारिज बधा कलाल के (दूसरी प्रतियो मे)।

शब्दार्थ—मैमता = १ मतवाला मन। २ हाथी। तिण = तृण। विषय। चरै = १ खाना। २ आचरण करना। चलना। सालै = चुभना। दर्द होना। बारि = द्वार। षेह = १ धूल। २ वैराग्य।

अर्थ—साधक मतवाले हाथी के समान है जो घास नही खाता है। घास नही खाने का अर्थ है विषयो मे न जाना। वह भगवत्प्रेम के द्वार पर बधा है और सिर पर धूल डाल रहा है अर्थात् वैराग्य धारण किये है। अथवा वह वारिज (कमल) से बधा है। कमल से मतलब है भगवत्चरणारविद मे लीन है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ॥६॥

शब्दार्थ—अविगत = जिसे इद्रियो से नही जाना जा सकता है। इद्रियातीत। रता = अनुरक्त। अकलप = अकल्पनीय। अमलि = नशा। माता = मतवाला। अतीति = विषयातीत। द्वद्वातीत।

अर्थ—जो मन पहले विषयो मे मतवाला था अब वह इद्रियातीत ब्रह्म मे अनुरक्त हो गया। अकल्पनीय आशा उसे दुख देती थी। उसने उस आशा को जीत लिया है। अब वह राम-भक्ति के नशे मे बुत्त रहता है। वह जीवन और विषय द्वद्व से मुक्त हो गया है।

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सूं, पंषि तिसाई जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—मैगल = मतवाला हाथी। सर = तालाब। देवल = मदिर। तिसाई = प्यासा।

अर्थ—जिस तालाब मे घड़ा नही डूबता है वहाॅ मतवाले हाथी मल-मलकर नहाते है। नहलाये जाते है। जिस जल मे मदिर का ऊपरी कलश तक डूब गया है उससे पक्षी प्यासा च जाता है अर्थात् जिस हृदय मे बिल्कुल प्रेम न था वहाॅ अब विषय मुक्त मन आनद कर रहा है। किंतु विषयो के जिस जल मे मदिर के ऊपरी शिखर तक डूबे है वहाॅ मुक्तात्मा पक्षी प्यासा ही रह जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सबै रसाइण मैं किया, हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सबतन कंचन होइ ॥८॥

अर्थ—यह कायाकल्प की प्रक्रिया की ओर सकेत है। कायाकल्प के लिये सारी दवाएँ कर चुका। किंतु परमात्मा जैसी और कोई दवा नही मिली। परमात्मा के प्रेम का एक छोटा कण भी शरीर मे सचरित हो जाय तो शरीर सोना हो जाता है। यहाॅ घट का अर्थ है शरीर (घट) मे रहने वाला मन। तन सोना होने का अर्थ है तनमन का शुद्ध और पवित्र होना। राम रसायन से मन वासना मुक्त होता है। शरीर मे नयी काति पैदा हो जाती है।

(७)

लांबि कौ अंग

कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी ससीर ॥१॥

शब्दार्थ—लाबि = लम्बाई। निर्मल नीर = स्वच्छ जल। भगवत्प्रेम। आनद। जोबन =

यौवन।

अर्थ—तन मन यौवन रस भर पीया, किंतु शरीर की प्यास कभी नही मिटी। अतृप्ति वनी ही रही। किंतु शरीररूपी कमडल भगवत्प्रेमानद से भर गया तो तृप्ति हो गयी।

अलंकार—रूपक, विशेषोक्ति।

मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हाँन।
थाहत थाह न आवई, तूँ पूरा रहिमान ॥२॥

शब्दार्थ—दरिया = गहरी नदी। रहिमान = दयालु।

अर्थ—मन को विषयो के छिछले नाशवान् प्रवाह से उलट दिया। फिर तो भगवत्प्रेम की गहरी नदी मिली। यहाँ स्थिर होकर स्नान करने या आनंद लेने लगा। क्योकि इस शाश्वत नदी के नाश या सूखने का भय नही है। इसमे ईश्वर की इतनी गहरी दया भरी है कि कभी इसकी थाह नही लगाई जा सकती।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥३॥

अर्थ—ईश्वर की खोज मे कीट भृग न्याय सी तदाकारिता हो गयी। प्रभु की खोज करते-करते कबीर स्वय खो गये, अर्थात् भक्त का अहकार समाप्त हो गया। व्यक्ति जो भगवत् समुद्रका अश था वह पुन उसीमे मिल गया। इसलिये अव उसकी खोज नहीं की जा सकती है।

टिप्पणी—अश-अशी, व्यष्टि-समष्टि, आत्मा-परमात्मा मे विलीन हो गयी।

अलंकार—दृष्टात। मीलित।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूँद मैं, सो कत हेर्‍या जाइ ॥४॥

अर्थ—परमात्मा को खोजते-खोजते खोजने वाले साधक का व्यक्ति उसी मे लय हो गया। खोजने पर साधक ने पाया कि विराट् प्रभु व्यक्ति के भीतर समाया है। ऐसी स्थिति मे उसे कही बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नही है।

अलंकार—मीलित।

टिप्पणी—परमात्मा सभी प्राणियो के अत करण मे स्थित है। कृष्ण कहते है— सब पदार्थो के भीतर मै ही हूँ। अर्जुन ने भगवान् से कहा— हे देव, आपकी देह के भीतर सभी देवताओ को, विभिन्न पदार्थो के सघो को, कमलासन पर बैठे ब्रह्म को, सभी ऋषियो और अलौकिक सर्पों को देख रहा हूँ।— गीता ११/१५ / यह है बूद मे समुद्र का समाना।

(८)

जर्णा कौ अंग

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जाँणौं राम कूँ, नैनूँ कबहुँ न दीठ ॥१॥

शब्दार्थ—जर्णा = जीर्ण। प्राचीन।

अर्थ—निर्गुण-निराकार ब्रह्म प्रमारहित है। उसे किसी नाप-तौल से नही बताया जा सकता

है। क्योकि सगुण-साकार रूप धारण कर वह सबसे भारी और निर्गुण रूप मे सबसे हल्का हो जाता है। इसलिये उसे भारी-हल्का कुछ भी नही कहा जा सकता है। वह ईश्वर (राम) आँखो से कभी दिखाई भी नही देता है।

टिप्पणी—उपनिषद् मे परमात्मा को जीवात्मा की हृदय गुफा मे रहनेवाला और अणु से भी सूक्ष्म तथा महत् से भी महान् बताया है—

अणोरणीयान्महतो महीया
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।—कठ०२/२/२०

दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तूँ हरिखि हरिखि गुण गाइ॥२॥

अर्थ—परमात्म तत्त्व का वर्णन कठिन है। जिसको देखा है अर्थात् जिसकी अनुभूति हुई है अपनी क्षुद्रतावश उस पर कोई विश्वास नही करेगा। इसलिये कहने की कोई जरूरत नही। ईश्वर को उसी रूप मे रहने दिया जाय। केवल प्रसन्नतापूर्वक उनका गुण गाया जाय। भजन हो।

ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौ गमि नहीं, कह्या न को पतियाइ॥३॥

शब्दार्थ—लुकाइ = छिपाकर। गमि नही = अगम्य। पता नही। पहुँच के बाहर। कह्यॉ = कहने पर।

अर्थ—परमात्म तत्त्व अत्यत अद्भुत है। इस अद्भुत तत्त्व को गुप्त रखना चाहिए। जो वेद-कुरान की पहुँच के बाहर है उस तत्त्व को कहने पर कौन विश्वास करेगा।

टिप्पणी—गीता कहती है कि भगवत्तत्त्व 'सर्व गुह्यतमम्' है। गुह्यात् गुह्यतरम् है। इसीलिये इसे तपस्याहीन, अभक्त, न सुनने की इच्छावाला या जो भगवत्निदक है उसे कभी नही सुनाना चाहिए।

इद ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्य न च मां यो ऽभ्यसूयति गीता १८/६७

करता की गति अगम है, तूँ चलि अपणै उनमान।
धीरै धीरै पाव दे, पहुँचैगे परवान॥४॥

शब्दार्थ—करता = ब्रह्म। अगम= जानने मे कठिन। अपणै = अपने। उनमान = अनुमान। पाव = पैर। परवान = प्रामाणिक जगह। उचित स्थान।

अर्थ—प्रभु अत्यत गोपनीय है। तुम अनुमान द्वारा ही धीर-धीरे उसके पास पहुँच सकते हो। भगवत्तत्त्व अनुमान-प्रमाण का विषय है। और किसी प्रमाण से इसकी प्राप्ति नही हो सकती है। न शास्त्र, न प्रत्यक्ष।

अलंकार—विरोधाभास।

पहुँचैगे तब कहैगे, अमड़ैगे उस ठाँइ।
अजहूँ बेरा समँद मै, बोलि बिगूचैं काँइ॥५॥

शब्दार्थ—अमड़ैगे = मडित होगा। ठहरेगा। ठॉइ = स्थान। बेरा = बेड़ा। नाव। समँद = समुद्र। बिगूचै = असम[illegible] कॉइ = क्यो।

अर्थ—परमात्मा [illegible] पर पहुँचकर अर्थात् भगवत्तत्त्व की [illegible]
तो तु [illegible] संसार सागर मे है। अभी क्यो [illegible]

—९५५

(९)

हैरान कौ अंग

पंडित सेती कहि रहे, कह्या न मानै कोइ।
ओ अगाध ए का कहैं, भारी अचिरज होइ॥१॥

अर्थ—पडितो को समझाता हूँ। कितु कोई पडित मेरी बात मानने को तैयार नही है। उस अगाध परमात्मा को ये (ए) लोग क्या (का) कहते है ? मतलब कि उसके असली तत्त्व को नही कहते है। यह भारी आश्चर्य का विषय है कि पडित होकर भी उन्हे ठीक-ठीक ज्ञान नही है।

टिप्पणी—आचार्य शकर तीन प्रकार का अध्यास मानते है– लोकवासना, देहवासना, शास्त्रवासना। शास्त्रवासना (अध्यास) वाले पडित भी सत्यको नही समझ पाते है। इसे हैरान या आश्चर्य का अग कहते है।

बसै अपिंडी पिंड मैं, ता गति लखै न कोइ।
कहै कबीर संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि॥२॥

शब्दार्थ—अपिडी = अशीरी। आत्मा। पिड = शरीर।

अर्थ—पिडरहित आत्मा का निवास स्थान शरीर है। कितु उसको कोई देख नही पाता है। सत कबीर कहते है कि सत होने पर भी बहुतो को समझ मे नही आता है। यह आश्चर्य की बात है।

अलंकार—विरोधाभास।

(१०)

लै कौ अंग

जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़े नहि जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ॥१॥

शब्दार्थ—लै = लव। सीह = सिह। अहकार। सचरै = सचरण। पषि = पक्षी। इद्रिय, मन। ल्यौ = लव। प्रेम। लाइ = लागि। लगा।

अर्थ—ससाररूपी जगल से भिन्न एक दूसरा जगल है। अतीन्द्रिय वन। निराकार वन। जहाँ अहकार रूपी सिह का सचार नही है। जहाँ इद्रिय रूप पक्षी नही पहुँच सकते। वहाँ रात-दिन नही होता अर्थात् वह काल की सीमा से भी परे है। सत कबीर ने ऐसे ही स्थान पर ध्यान लगा रखा है।

सुरति ढीकुली ले जल्यौ, मन नित ढोलन हार।
कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस, पीवै बारंबार॥२॥

शब्दार्थ—ढीकुली = एक यत्र जिसके द्वारा कुएँ से पानी निकाला जाता है। लेज = रस्सी। ल्यौ = प्रेम। ढोलनहार = ढोनेवाला।

अर्थ—सहस्रार चक्र कुआँ है। सुरति ढेकुली है। प्रेम की रस्सी ढेकुली से बधी है। मन सुरति ढेकुली में रस्सी (प्रेम) लगाकर भगवदानद का जल खीचती है। उसे बार-बार पीकर प्रसन्न होती है।

अलंकार—सागरूपक।

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट॥
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवै बाट॥३॥

अर्थ—संत कबीर बाह्यसाधना के विरोधी है। इसलिये वे कहते है, गगा-जमुना (इड़ा-पिगला) तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। शून्य शिखर (आकाश) मे घाट है। सत कबीर ने वही मठ मे डेरा डाल दिया है। अर्थात् परमात्म ध्यान मे मन है। मुनि लोग वहाॅ पहुॅच नही पाते है। वे पुस्तको मे वहाॅ पहुॅचने का रास्ता खोज रहे है।

अलंकार—व्यतिरेक।

(११)

निहकर्मी पतिब्रता कौ अंग

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हँसि बोलौ और सौं, तौ नील रंगाऊँ दंत॥१॥

शब्दार्थ—प्रीतड़ी = प्रीति। गुणियाले = गुणवाले। कत = प्रिय। प्रभु। नील रगाऊॅ दत (मुहा०) = धिक्कार। मुॅह काला। और सौ = और सो (यहाॅ) माया।

अर्थ—हे प्रभु, तुम सर्वगुणसपन्न हो। इसलिये प्रेम तो केवल तुमसे किया जा सकता है। और से या माया से हॅसकर बोलूॅ तो मुझे धिक्कार है। मेरा मुॅह काला हो।

नैनाँ अंतरि आव तूँ, ज्यूँ हौ नैन झँपेउँ।
नाँ हौं देखौं और कूँ, नाँ तुझ देखन देउँ॥२॥

अर्थ—हे प्रभु, तू मेरी ऑखो मे आकर निवास कर। तेरा रूप ऑखो मे भरकर ऑखे बंद कर लेना चाहता हूॅ। न मै दूसरे को देखूॅ। न तुझे दूसरे को देखने दूॅ।

तादात्य से भरा यह ऐकातिक प्रेम का उदाहरण है।

मेरा मुझ मे कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौपता, क्या लागै है मेरा॥३॥

अर्थ—मुझ मे मेरा कुछ नही है। सब कुछ तेरा यानी भगवान का है। 'मै' भी तेरा हूॅ। इसलिये मै (अहम्) को तुझे यानी ईश्वर को अर्पित करने मे क्या लगता है ?

टिप्पणी—अहम् अर्थात् व्यक्तित्व का समर्पण ही भक्ति है। इसमे 'त्वदीयम् वस्तु गोविद तुभ्यमेव समर्पये' की प्रतिध्वनि है।

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूँ रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥४॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सिदूर के स्थान पर काजल नही लगाया जा सकता है। उसी प्रकार जिन ऑखो मे राम बसे है वहाॅ विषयो के लिये कहाॅ स्थान है ? यह भी हो सकता है कि जिन ऑखो ने राम की साधना की उन ऑखो से दूसरे देवताओ की साधना नही हो सकती है।

राम रूप से दृष्टि बढ़ती है और विषय काजल से दृष्टिदोष पैदा होता है।

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समदहि तिणका करि गिणै स्वाँति बूंद की आस॥५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि समुद्र की सीपी प्यासी रटती है। समुद्र मे रहकर भी समुद्र

को तिनके के समान व्यर्थ गिनती है। स्वाति जल चाहती है। सीपी व्यक्ति है। समुद्र विषय ससार है। व्यक्ति विषय समुद्ररूपी ससार को कुछ नही समझता। वह भगवानूरूपी स्वाति को चाहता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर सुख कौ जाइ था, आगे आया दुख।
जाहि सुख घरि आपणैं, हम जाणौं अरु दुख ॥६॥

अर्थ—सुख खोजने पर दुख मिलता है। यह ससार का सामान्य नियम है। मै भी ससार सुख के चक्कर मे दौड़ रहा था। किंतु सद्‌गुरु की कृपा से नकली ससारिक सुख को हमने भगा दिया और अनत ब्रह्माड पति के प्रेम का सुख प्राप्त कर लिया।

दोजग तो हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥७॥

शब्दार्थ—दोजग = दोजख। नरक। अगिया = स्वीकार किया। भिस्त = बिहिश्त स्वर्ग। बाझ = वर्ज्य। छोड़कर।

अर्थ—हे प्रभु, तुम्हारे साथ नरक भी स्वीकार है। किंतु तुम्हारे बिना स्वर्ग मुझे नही चाहिए।

जे वो एकै न जाँणियाँ, तौ जाँण्याँ सब जाँण।
जे वो एक न जाँणियाँ, तौ सबहीं जाँण अजाँण ॥८॥

अर्थ—एक ईश्वर को ही जानने की कोशिश करो। उस एक को जानना सपूर्ण को जान लेना है। अगर जिस एक से सब हुए है तो सब जानने पर भी अज्ञान नही मिटेगा। क्योंकि प्रभु प्रज्ञान ब्रह्म है।

कबीर एक न जाँणियाँ, तौ बहु जाँण्याँ क्या होइ।
एक तै सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥९॥

अर्थ—एक प्रभु को न जाना तो बहुत से देवी-देवता और सासारिक वस्तुओ को जानने से क्या लाभ है ? एक से सब होते है। सबसे एक नही होता है।

टिप्पणी—उपनिषद् मे कहा है– 'एकोऽहम् बहुस्याम्।'

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति।–कठ०।

जब लग भगति सकाँमता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलै, निहकामी निज देव ॥१०॥

शब्दार्थ—सकॉमता = कामनायुक्त। इच्छा से भरा। निर्फल = निष्फल। व्यर्थ। सेव = सेवा। निहकामी = निष्कामी।

अर्थ—प्रभु कामनारहित है। इसलिये वह कामनारहित को ही मिलता है। जब तक ईश्वर से कुछ पाने की इच्छा है तब तक उसकी उपासना व्यर्थ है।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पाँणी माँहैं घर करै, ते भी मरै पियास ॥११॥

अर्थ—आशा केवल राम की है। और किसी देवी-देवता की आशा व्यर्थ है। यह आशा वैसी ही है कि आदमी पानी मे प्यासा मरे। क्योकि और सभी देवी-देवता विषयो की पूर्ति करने वाले है। केवल राम है विषय से उठाकर परम तत्त्व मे परिणत करते है।

तुलनीय—जल मे मीन पियासी–कबीर०

जे मन लागै एक सूँ, तौ निरबाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुखि बाजणाँ, न्याइ तमाचे खाइ ॥१२॥

शब्दार्थ—निरबाल्या = निस्तार। तूरा = बाजा।

अर्थ—दो की साधना ठीक नही है। एक परमात्मा मे मन लगाने से ही निस्तार है। जो दाजा दोनो ओर से बजाया जाता है वह उचित ही दोनो ओर से तमाचा खाता है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर कलि जुग आइ करि, कीये बहुतज मीत।
जिन दिल बंधी एक सूँ, ते सुखु सोवै नचींत ॥१३॥

अर्थ—मत कबीर कहते है कि कलियुग (विषय) ने मुझसे मित्रता करनी चाही। किंतु मेरा दिल तो एक परमात्मा से बध गया है। अब मै निश्चित सो रहा हूँ। कलियुग मेरा क्या करेगा?

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी जित खैचे तित जाउँ ॥१४॥

अर्थ—यह प्रपन्न भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है। कबीरदास जी कहते है कि मै (भक्त) राम का कुत्ता हूँ। मेरा नाम मुतिया (मुक्ति चाहने वाला) है। मेरे गले मे राम भक्ति की रस्सी पड़ी है। वह प्रभु जिधर खीचता है उधर ही जाता हूँ।

तो तो करै त बाहुड़ो दूरि दूरि करै तो जाउँ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौ, जो देवै सो खाउँ ॥१५॥

शब्दार्थ—बाहुड़ो = बहुरना। लौटना।

अर्थ—भक्त श्री राम का कुत्ता है। बिल्कुल उन्ही पर निर्भर। वे तू तू करते है तो लौट आता हूँ। दुर दुर करते है तो चला जाता हूँ। ईश्वर की इच्छा है जैसे चाहे रखे। जो दे वह खाऊँ। इसलिये कि भक्त ने सर्वस्व समर्पित कर दिया है। योग-क्षेम उसी प्रभु के अधीन है। भक्त की कोई निजी इच्छा नही होती है।

मन प्रतीति न प्रेम रस, नाँ इस तन मै ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूँ, कैसे रहसी रंग ॥१६॥

शब्दार्थ—रहसी = रहेगा। रग = व्यवहार।

अर्थ—भक्त अपनी नम्रता व्यक्त करते हुए कहता है कि मुझमे न तो पूर्ण विश्वास है। न पूरा भगवत्‌रस (प्रेम) है। न भक्ति का ठीक-ठीक ढग या पद्धति का ही ज्ञान है। पता नहीं प्रिय प्रभु मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगे। (जैसा भी हो मैने तो आत्म समर्पण कर ही दिया है।)

उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नाँगी रहै, तौ उसही पुरिस कौ लाज ॥१७॥

शब्दार्थ—सम्रथ = समर्थ। कदे = कभी। अकाज = नुकसान। नॉगी = नगी।

अर्थ—मै उस समर्थ पुरुष का दास हूँ जो सपूर्ण सृष्टि के उद्‌भव, पालन, प्रलय का स्वामी है। मेरा कभी अहित या नुकसान नही हो सकता। मै पतिव्रता स्त्री के समान हूँ। जैसे पतिव्रता नगी रहे तो उसके पुरुष के लिये लज्जा की बात है वैसे ही भक्त का दुख भगवान् का दुख है।

अलंकार—दृष्टात।

धरि परमेसुर पाँहुणाँ, सुणौ, सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूँ कदे न छाड़ै पास ॥१८॥

अर्थ—ओ प्रेमी भक्तो, सुनो। तुम्हारे मन मदिर मे परमेश्वर अतिथि रूप मे विराजमान है। छह रसो का भोजन उसे कराओ। अपने षड् रसो (काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, मोह) को छोड़ दो। ऐसी स्थिति मे प्रभु तुम्हे कभी नही छोड़ेगा।

टिप्पणी—गीता मे कहा गया है कि ईश्वर सभी भूतो के हृदय मे विराजमान है—

ईश्वर सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

पूर्वी भाषाओ मे पहुना दामाद और वहनोई को कहते हैं। यहाँ पाँहुणाँ पति के लिये आया है। राजस्थानी मे पहुणा पति को कहते है।

अलंकार—रूपक।

(१२)

चितावणी कौ अंग

कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पट्टन ए गली, बहरि न देखै आइ ॥१॥

शब्दार्थ—चितावणी = चेतना उत्पन्न करने के वाक्य। नोवति = दरवारो की ड्योढ़ियो पर वजने वाले वाजे। पट्टन = पत्तन। नगर। दिन दस = कुछ दिन।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि अपनी शक्ति एव ज्ञान का प्रदर्शन कुछ दिन कर लो। मृत्यु अनिवार्य है। उसके वाद इस पुर नगर और इन गलियो को देखने का अवसर नहीं मिलेगा। यह मूलत व्यग्य है। कहना यह है कि सरल और न्याय का जीवन विताओ।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नाँव बिन, गए जन्म सब हारि ॥२॥

अर्थ—सामान्य जन की तो वात ही क्या है? जिनके दरवाजे पर नौवत वजती थी। मत्त हाथी वँधे रहते थे, भगवान का नाम न जपने के कारण उनका मानव जन्म व्यर्थ हो गया।

ढोल दमामा दड़बडी, सहनाई सँगि भेरि।
औसर चल्या बजाइ करि, है कोइ राखै फेरि ॥३॥

अर्थ—ढोल, दमामा (धौसा, वड़ा नक्कारा), डुग्गी, शहनाई, भेरी (मृदग के समान एक वाजा) आदि वाजे वजाकर समय आने पर चले गये। मतलव यह कि राजपाठ की सारी शक्ति रहते हुये भी यमदूत उन्हे ले गये। अव कोई ऐसा नही है जो उनको लौटा कर ला सकता है।

चल्या मे व्यग्य है। जैसे किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को जाते समय अत्यत उपेक्षा होजाय। न चाहकर भी समय पूरा होने पर खेल खत्म कर देना पड़ा।

अलंकार—वक्रोक्ति।

सातो सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग ॥४॥

अर्थ—पहले व्यक्ति की दशा वताई। अव उस व्यक्ति के निवास महल की दशा वताते है। जिस मदिर मे सातो स्वर वजते थे। प्रत्येक घड़ी मे राग-रागनियो की ध्वनि उठती थी। वह मदिर खाली पड़ा है। उस पर कोए वैठने लगे है।

यह घर का वर्णन है और शरीर का भी। शरीर भी तो घर है। कोआ वैठना मुहावरा है जिसका अर्थ है घर का नाश होना।

कबीर थोड़ा जीवणाँ, माड़ै बहुत मँडाण।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलितान ॥५॥

शब्दार्थ—माड़े = मडित किये। मँडाण = निर्माण। ऊभा = ऊर्ध्व। ऊँचा। मेल्हि गया = मिट गया।

अर्थ—सत व्यग्य करते हैं कि थोड़े दिन की जिदगी मे कितने बड़े-बड़े भवन बनाए। किंतु मृत्यु देव ने राजा, रक और सुल्तान सब के भवनो को गिरा दिया। सभी नाशवान् है।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूँ पड़ै बिछोइ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ॥६॥

अर्थ—मृत्यु एक दिन अवश्य आयेगी। तब सब से बिछोह, अलगाव हो जायगा। ऐ राजा, राणा, छत्रधारी अभी क्यो नही सावधान हो जाते ? ऐसा करो जिससे बिछोह का दुख कम कष्ट दे।

कबीर पटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।
जम राँणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ॥७॥

शब्दार्थ—पटण = पत्तन। नगर। कारिवॉ = काफिला। पच चोर = पॉच इद्रियॉ और उनके विषय– रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द। दस द्वार = दो ऑखे, दो कान, दो नाके, मुख, मल द्वार, ब्रह्म रध्र,। भेलिसी = भेदन करेगा। करतार = सर्जक। ईश्वर।

अर्थ—यह शरीर एक नगर के समान है जिसमे लुटेरे तो पॉच है। कितु दरवाजे दस है। उन्हे दरवाजो से रोका भी नही जा सकता है। रक्षा का साधन कौन कहे उलटे अरक्षा की विशेष स्थिति है। यही कारण है कि जब यमराज इस शरीररूपी नगर पर चढ़ाई करता है तो यह शरीर जिसे चोरो ने बिल्कुल खोखला कर दिया है तुरन्त पराजित हो जाता है। ऐसे मे ईश्वर के स्मरण से ही जान बच सकती है। क्योकि ईश्वर सब का रक्षक है। स्वामी है।

अलंकार—रूपक।

कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि इस जीवन की कोई आशा मत करो। कोई गर्व न करो। यह जीवन पलाश फूल (टेसू) के समान चार दिन (बाल्यकाल, किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था) का है। चार दिन चमकने के बाद जैसे टेसू के लाल फूल सूख (खखर) जाते है वैसे ही यह जीवन समाप्त हो जाता है।

अलंकार—निदर्शना।

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूँ काँचली भुवंग ॥९॥

शब्दार्थ—सुरग = सुदर रग। देही = शरीर। कॉचली = केचुल। भुवग = भुजग। सर्प।

अर्थ—ऐ मनुष्य, इस शरीर की सुदरता को देख-देख कर क्यो घमड करते हो। यह शरीर जब आत्मा से अलग हो जायगा तब मिलना वैसे ही नही होगा जैसे केचुल सॉप से पुन नही मिल पाता है। यह शरीर केचुल के समान अलग होने वाला है।

अलंकार—उपमा।

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास।
काल्हि परयूँ भ्वैं लेटणाँ, ऊपरि जामै घास ॥१०॥

शब्दार्थ—अवास = अवास। निवास। भ्वै = भूमि।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ऊँचे-ऊँचे महलो को देखकर गर्व क्यो करते हो ? कल (भविष्य मे) जब ये भवन गिर जायँगे तो इन पर घास जम जायगी। कोई मनुष्य या जीव नही दिखाई पड़ेगा।

कबीर कहा गरबियौ, चाँम लपेटे हड्ड।
हैबर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खड्ड ॥११॥

शब्दार्थ–हैबर = श्रेष्ठ घोड़े। खड्डै = गड्ढा। कब्र। हड्ड = हड्डी।

अर्थ– सत कबीर कहते है कि हड्डियो पर चाम लिपटे शरीर पर गर्व क्यो करते हो ? वे राजा जिसके सिर पर क्षत्र रहते थे और जो श्रेष्ठ घोड़ो पर चढ़ते थे उन्हे भी कब्र के गड्ढे मे जाना पड़ा है।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नाँ जाँणौ कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस॥१२॥

अर्थ–सत कबीर कहते है कि गर्व क्यो करते हो ? काल सभी के केश (बाल) को पकड़े है। अपनी मुट्ठी मे किये है। सभी काल के वश मे है। वह अवश्य ही सबको मारेगा। यह भी पता नही कि मृत्यु घर मे होगी या परदेश मे ?

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैबल फूल।
दिन दस के ब्यौहार कौ, झूठै रंगि न भूल॥१३॥

अर्थ–यह ससार सेमल के फूल के समान सिर्फ देखने मे सुदर है। कितु यह नाशवान् तथा असुदर है। निस्तत्त्व है। ससार मे मात्र थोड़े (दस दिन) दिनो तक रहना है। कोई झूठे रगो को देखकर भ्रम न करे। क्योकि इस ससार की रचना रगहीन है।

तुलनीय–शून्य भीति पर चित्र रग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।–तुलसी

अलंकार–उपमा।

जाँमण मरण बिचारि करि, कूड़े काँम निवारि।
जिनि पंथूँ तुझ चालणाँ, सोई पंथ सँवारि॥१४॥

अर्थ–जीवन मरण के बारे मे अच्छी तरह सोच कर बुरे कर्मो को छोड़ो। तुम्हे भगवत्भक्ति के जिस रास्ते पर चलना है उस रास्ते को सुदर एव सरल बनाने की कोशिश करो।

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़ियैं खाया खेत।
आधा प्रधा ऊबरे, चेति सकै तो चेति॥१५॥

शब्दार्थ–रखवाले = रक्षक। आत्मा या गुरु। चिड़िया = विषय पक्षी। प्रधा = परार्ध। दिन का उत्तर पक्ष। खेत = क्षेत्र। जीवन।

अर्थ–बिना आत्मचैतन्य सा सद्गुरु की कृपा के विषयपक्षी तुम्हारे जीवन क्षेत्र को खा रहे है। दिन का पूर्वार्ध और परार्ध बीतने की स्थिति मे है। अब जीवन की सध्या आने ही वाली है। अब चेत सको तो चेतकर सद्गुरु या प्रभु की शरण मे जाओ।

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति।

हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलै ज्यूँ घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥१६॥

अर्थ–ऐ मनुष्य, देखो, मरने के बाद हड्डियॉ लकड़ी के समान जलती है। केश घास, जैसे जलते है। सारे शरीर को जलते देखकर सत कबीर दुखी हो गये। इस शरीर की क्यो इतनी सेवा की गयी ?

अलंकार–उपमा।

कबीर मन्दिर ढहि पड़या, सेन्ट भई सैबार।
कोई चेजारा चिणि गयो, मिल्या न दूजी बार॥१७

शब्दार्थ–मदिर = घर। शरीर। सेट = (स+ईट) ईट सहित। सैबार = (स शैवाल)। घास फूस। चेजारा = कारीगर। चिणि = चुनना। बनाना।

अर्थ–यह शरीर एक भवन के समान है। किसी विशेष कारीगर ने इसका निर्माण किया है। वह कारीगर दूसरी बार नही मिला कि इस गिरे शरीररूपी भवन का पुन निर्माण करे।

शरीर के हाड़-मॉस ही ईंटे और शैवाल है। ये पुन भवन निर्माण के काम मे नही आ सकते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैवार।
करि चेजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यौं ढहै न दूजी बार॥१८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि शरीररूपी मदिर गिर गया। ईंटे या शरीर के सारे तत्त्व जिन तत्त्वो के आधार पर शरीर मदिर खड़ा था ढहकर सेवार बन गये। ऐ लोगो, उस निर्माता (ईश्वर) से प्रेम करो। इसलिये कि यह शरीर भवन दूसरी बार न गिरे। दूसरा जन्म-मरण न हो। मुक्ति मिल जाय।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर मंदिर लाष का, जड़िया हीरैं लालि।
दिवस चारि का पेषणाँ, बिनस जाइगा कालि॥१९॥

अर्थ—यह शरीररूपी भवन लाखो का है। इसमे वासना के हीरे, लाल आदि जड़े है। किंतु इतने सुदर शरीर भवन को चार दिन (बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था) ही देखा जा सकता है। कल (भविष्य मे) इस शरीर का नाश हो जायगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति। श्लेष।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेषणाँ, अंति षेह का षेह॥२०॥

शब्दार्थ—सकेलि = सग्रह। षेह = धूल। पुड़ी = पुड़िया।

अर्थ—यह शरीर धूल को इकट्ठा कर बनाया गया था। जैसे किसी ने धूल की पुड़िया बॉधी हो। यह शरीरपुड़िया चार दिनो तक ही देखी जायगी। फिर तो पुड़िया नष्ट हो जायगी और रह जायगी केवल धूल।

कबीर जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नही।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नही॥२१॥

शब्दार्थ—धधै = धधा। कार्य। दौड़-धूप। कर्म। धूलै नही = साफ नही होता। बिनठे = विनष्ट हुए। ध्याया = ध्यान किया या दौड़े।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यदि कर्म मे लगते है तो धूलि लगती है। कर्मबधन बन जाता है। किंतु बिना कर्म मे लगे कर्मबधन समाप्त नही होता है। वह व्यक्ति तो निश्चित नष्ट हो गया, मूलत नष्ट हो गया जो कर्म निरत नही हुआ या कर्म का ध्यान नही किया या कर्म मे दौड़ा नही।

टिप्पणी—स्वामी सहजानद सरस्वती ने देहकर्म से लेकर कर्म के पॉच प्रकार बताये है। कर्म से बधन और मोक्ष दोनो की प्राप्ति होती है।—गीता हृदय।

कबीर सुपनै रैनि कै, ऊघड़ि आये नैंन।
जीव पड़्या बहु लूटि मै, जागै तौ लैण न दैण॥२२॥

अर्थ—यह जीवनस्वप्न के समान है। जैसे रात के सपने मे ऑखे खुलती है और जीव अपने को लुटता पाता है। किंतु जागने पर लूट से उसका कुछ लेना-देना नही है। कही कोई लूट नही देखता है। इसी प्रकार जीवन के सुख-दुख स्वप्नवत् है। सुख-दुख दोनो अज्ञान है।

अलंकार—समासोक्ति।

कबीर सुपनै रैनि कै, पारस जीय मै छेक।
जे सोऊँ तो दोइ जणाँ, जे जागूँ तौ एक॥२३॥

शब्दार्थ—पारस = स्पर्श। छेक = अतर। भेद।

अर्थ—व्यक्ति जब अज्ञान रात्रि मे सपना देखता है तो वह जीव-ब्रह्म मे भेद या अलगाव का स्पर्श या अनुभूति करता है। किंतु अज्ञान निद्रा से जागते ही आत्मा-परमात्मा, जीव और ब्रह्म एक दिखाई पड़ते है।

कबीर इस संसार मे, घणैं मनिष मतिहींण।
राम नाम जाँणौ नही, आये टापी दीन ॥२४॥

मुहा०—टापी दीन = पट्टी बॉधना। अज्ञानी होना।

अर्थ—ससार के अधिकतर (घणैं) मनुष्य बुद्धि-हीन है। मूर्ख है। ज्ञानचक्षु पर विषयो की पट्टी बॉधे रहते है। फलत राम नाम नही जान सकते है।

कहा कियौ हम आइ करि, कहा करैगे जाइ।
इत के भए न उत के, चाले मूल गँवाइ ॥२५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जीव इस ससार मे क्यो आया ? आया तो क्या किया ? अब यहॉ से जाकर क्या करेगा ? वह न यहॉ का हुआ न वहॉ का। यहॉ का साधक ही परमात्मा के यहॉ आदर पाता है। जिसका लोक नही उसका परलोक नही। उलटे उसने सचित कर्मो की मूल पूजी भी गॅवा दी।

आया अणआया भया, जे बहुरता संसार।
पड़्या भुलावाँ गाफिलाँ, गये कुबुधी हारि ॥२६॥

अर्थ—इस ससार मे आना, न आना बराबर हो गया। यह ससार तो बहुतो मे अनुरक्त है। वह भूल मे गाफिल था। कुबुद्धि के कारण उसकी पराजय हो गयी। ऐसा न होता तो वह भगवान् से जुड़ कर अपने जीवन को सुधार लेता।

कबीर हरि की भगति बिन ध्रिगि जीमण संसार।
धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥२७॥

शब्दार्थ—ध्रिगि = धिक्। जीमण = जीवन। धौलहर = धवल गृह। ऊँचा भवन। बार = देर।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि परमात्मा की भक्ति के बिना यह सासारिक जीवन व्यंर्थ (धिक्) है। इसे धिक्कार है। जैसे धुएँ का ऊँचा भवन क्षण मे नष्ट हो जाता है वैसे ही यह जीवन है। कहना यह है कि हरि भक्ति ही असली चीज है।

अलंकार—दृष्टात।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि ॥२८॥

अर्थ—जो व्यक्ति प्रभु के गुणो को भूलकर उनकी भक्ति से जी चुराता है। विधाता ने उसे बगुला बनाया है। वह केवल लोभ पर ध्यान रखता है। मुख झुकाकर मछली पर ध्यान करता है। वकृध्यान प्रसिद्ध है। यहॉ लोभी की निदा है। 'झूलि'मे ध्वनि यह है कि लोभ की पूर्ति कभी होती नही। वह सदा अतृप्ति के झूले मे झूलता रहता है।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा।

माटी मलणि कुँभार की, घणी सहै सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नही, चूका अब की घात ॥२९॥

शब्दार्थ—मलणि = मलना। गूथना। घणी = घना। बहुत अधिक। इहि = इस।

अर्थ—मिट्टी कुम्हार द्वारा मली जाती है। वह उसे लात से पीसता है। पीसने के बाद घड़ा बनता है। ऐसे ही मनुष्य अत्यत कष्ट से पैदा होता है। जनमते-मरते दुस्सह दुख होता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह चेत जाय। चेतकर प्रभुशरण मे जाय जिससे जन्म-मरण का चक्र छूट जाय।

इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूँ पाली देह।
राम नाम जाण्या नही, अंति पड़ी मुख षेह ॥३०॥

अर्थ—इहि औसरि अर्थात् ससार मे रहते हुए भागवत चेतना नही आयी। केवल जानवरो के समान आहार, निद्रा, मैथुन आदि मे मस्त रहा। देह मोटी हो गयी। राम नाम नही जाना। फलत अत समय मे मुख मे धूल पड़ेगी। मिट्टी मे मिलना होगा।

अलंकार—उपमा।

राम नाम जाण्यौ नही, लागी मोटी षोड़ि।
काया हाँडी काठ की, ना ऊ चढ़े बहोड़ि ॥३१॥

शब्दार्थ—षोडि = खोट। दोष। बहोड़ि = दुबारे।

अर्थ—राम नाम नही जाना। इससे बड़ा पाप लगा। यह शरीर काठ की हड़िया जैसा है। जैसे काठ की हड़िया दुबारे आग पर नही चढती वैसे ही मनुष्य को बार-बार राम भजने का अवसर नही मिलता है।

अलंकार—रूपक।

राम नाम जाण्यौ नही, बात बिनंठी मूलि।
हरत इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुख धूलि ॥३२॥

अर्थ—हे जीव, राम नाम नही जानने से तुम्हारा मूल ही बिगड़ गया। तुम मूलत नष्ट हो गए। ससार मे धन, यश आदि का हरण करने मे तुम स्वय हार गए। तुम्हारे पुण्यो का हरण हो गया। अत मे मिट्टी मे मिल गए।

राम नाम जाण्यौ नही, पाल्यो कटक कुटुंब।
धंधा ही मै मरि गया, बाहर हुई न बंब ॥३३॥

अर्थ—राम नाम से प्रेम न कर परिवार समूह (कटक) बढ़ाया। धधे (द्वन्द्व) मे ही मर गया। कभी अपने अहकार वामी (बब) से बाहर नही आ सका। अहकार मे भूला रहा।

मनिषा जनम दुलभ है, देह न बारंबार।
तरवर थै फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ॥३४॥

अर्थ—मनुष्य जन्म अत्यत कठिन है। मानव देह बार-बार नही मिलती है। जैसे पेड़ से गिरा फल पुन पेड़ मे नही लगता वैसे ही मनुष्य का शरीर छूट जाने पर पुन नही प्राप्त होता है।

अलंकार—दृष्टात।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज।
बार बार नही पाइए, मनिषा जन्म की मौज ॥३५॥

शब्दार्थ—चोज = हँसी ठट्ठा। मौज = आनद।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हे जीव, हरि भक्ति कर। विषयो का रस और हँसी ठट्ठा छोड़। मनुष्य जन्म का आनद बार-बार नही मिलेगा।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठाहर लाइ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोबिंद के गाइ ॥३६॥

शब्दार्थ—ठाहर = ठहराने वाला। ठहरने का स्थान। अधिष्ठान।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यह शरीर छूट रहा है। मृत्यु आ रही है। सभव हो तो किसी सहारे (अधिष्ठान) की खोज करो। यह अधिष्ठान या तो साधुओ की सेवा होगा या भगवान् का गुणानुवाद होगा।

कबीर यह तन जात है, सकै तौ लेहु बहोड़ि।
नागे हाथूँ ते गए, जिनके लाख करोड़ि॥३७॥

अर्थ—सत कवीर कहते है कि यह तन जा रहा है। मृत्यु आ रही है। इस शरीर को लौटा सको तो लौटा लो। कैसे लौटेगा यह शरीर ? भगवत्भक्ति से। क्योकि हरि भक्त की मृत्यु नही आती है। वाकी तो जिनके पास लाख करोड़ थे वे भी नगे हाथ चले गए। कुछ और कोई उनके साथ न जा सका। सब खाली हाथो गये।

यह तनु काचा कुंभ है,चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ॥३८॥

अर्थ—यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। चारो ओर से विषय-वासनाओ की चोट खाता है। प्रलय तो यदा कदा होता ही रहता है। इसलिये राम नाम का सहारा ले। राम नाम रूपी नाव के बिना यह कच्चा घड़ा प्रलय मे गल जायगा। जो घड़ा राम नाम की प्रेमाग्नि से पक गया है वह प्रलय मे भी वचा रहेगा।

अलंकार—विनोक्ति।

यह तन काचा कुंभ है, लियाँ फिरै था साथि।
ढबका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथि॥३९॥

शब्दार्थ—ढबका = चोट।

अर्थ—यह शरीर कच्चा घड़ा है। मै इसे साथ लिये घूम रहा था। किंतु काल की हल्की चोट से टूट गया। वह इतना बेकार था कि फूटने पर कुछ भी हाथ नही लगा। बहुत से टूटे वर्तन भी विक जाते है। किंतु शरीर-वर्त्तन टूटते ही व्यर्थ हो गया।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि॥४०॥

शब्दार्थ—कॉची = कच्चा। कारी = कर्म। साधि = साधो। भलीभॉति प्रयोग करना।

अर्थ—सत कवीर कहते है कि कच्चाकर्म मत करो। यह कर्म नाशवान् होता है। इस कर्म के करने से भव रोग की वृद्धि होती है। रामरूपी औषध मे तुम्हारी रुचि हो गयी है। इसी औषध का भलीभॉति प्रयोग करो।

तुलनीय—

करिहौ कोसलनाथ तजि जवहॅ दूसरी आस।
जहॉ तहॉ दुख पाइहौ तव ही तुलसी दास।—दोहा०७१

कबीर अपने जीवते, ए दोइ बातै धोइ।
लोभ बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोइ॥४१॥

शब्दार्थ—अछता = अक्षत। अछूता।

अर्थ—संत कबीर कहते हैं कि अपने जीवन से दो बाते धोकर निकाल दो। एक लोभ और दूसरी अपनी बड़ाई। इनके रहते मूलधन भी खो जाता है। अर्थ यह है कि प्रतिष्ठा बढ़ना तो दूर मूल प्रतिष्ठा भी नष्ट हो जाती है।

खंभा एक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधसि बारि।
मानि करै तो पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि॥४२॥

शब्दार्थ—गइद = गयन्द। हाथी। बारि =द्वार। मानि = अहता-ममता।

अर्थ—एक खभे मे दो हाथी नही बॉधे जा सकते हैं। इसी प्रकार अहता-ममता वालो को प्रभु प्राप्ति नही होती है। प्रभु को प्राप्त करना है तो अहता-ममता को छोड़ो।

अलंकार—अर्थातरन्यास। अन्योक्ति।

दीन गँवाया दुनीं सौ, दुनी न चाली साथि।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि॥४३॥

शब्दार्थ—दीन = धर्म। दुनी = ससार। गाफिल = असावधान। पाइ = पैर। पाइ कुहाड़ा मारिया = अपने से अपना नुकसान करना (मुहा)।

अर्थ—ऐ मनुष्य, तुमने जिस माया की दुनिया के लिये भक्तिधर्म छोड़ दिया वह तुम्हारे साथ नही गयी। तुमने स्वय अपने असावधान हाथो से अपने पैर मे कुल्हाड़ी मारी है। अर्थात् खुद अपना नुकसान किया है।

अलंकार—लोकोक्ति।

यह तन तो सब बन भया, करंम भए कुहाड़ि।
आप आप कूं काटिहे, कहै कबीर बिचारि॥४४॥

अर्थ—यह शरीर विषयो का जगल है। निष्काम कर्म की कुल्हाड़ी से इस जगल के पेड़-पौधो को काट दो। इसे दूसरा कोई नही काट सकता है। तुम्हे स्वय काटना होगा। इस बात को सत कबीर अत्यंत विचार कर कहते है।

अलंकार—रूपक।

कुल खोयाँ कुल ऊबरै,कुल राख्याँ कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेटि लै, सब कुल रह्या समाइ॥४५॥

शब्दार्थ—कुल = कुटुम्ब। कुल = पूर्ण। निकुल = बिना कुल का।

अर्थ—परिवार या सासारिक रिश्तो को छोड़ने से ही पूर्ण कल्याण होता है। परिवार मोह मे सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसलिये कि राम (ब्रह्म) का कोई परिवार नही है। वे पारिवारिक मोह से ऊपर है। क्योकि सपूर्ण सृष्टि कुल तो उसी राम के भीतर समाया है। जिसने ब्रह्म को पा लिया उसने सपूर्ण कुलो का कल्याण किया।

अलंकार—यमक। विरोधाभास।

दुनियाँ के धोखै मुवा, चलै जु कुल की कॉणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्या मसाँणि॥४६॥

अर्थ—दुनिया धोखा है। जीव इसी धोखे मे मरता रहा। कुल-कुटुम्ब की मर्यादा (कॉणि) के चक्कर मे हरि से प्रेम न कर सका। कितु जब मसान मे नगा जलेगा तब किसका कुटुम्ब लज्जित होगा, इस पर कभी नही सोचा। मतलब यह कि अत मे कुटुमब कोई काम नही आता है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

दुनियाँ भाँडा दुख का, भरी मुहाँमुह भूष।
अदया अलह राम की, कुरलै ऊँणी कूष॥४७॥

शब्दार्थ—भॉडा = वर्तन। मुहॉमुह = लबालब। अदया = दया बिना। ऊँणी = (< स ऊर्ण) कूष (< स कोष) = मकड़ी जाल। अलह = अप्राप्त। कुरलै = किलोल करना। भूष = (भूख) इच्छाएँ।

अर्थ—ससार दुख का वर्तन है। इसमे कभी न पूरी होनेवाली अनेक प्रकार की इच्छाएँ भरी है। कितु लोग राम की अकृपा प्राप्त कर रहे है। क्योकि वे मकड़े के समान स्वय अपना बधन बने है और उसी मे प्रसन्न है।

टिप्पणी—वेदात मे आत्मबधन की उपमा मकड़े के जाल से दी गयी है।

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तूँ जिनि बँधै कबीर।
ह्वैसी आटा लूँण ज्यूँ, सोना सँवाँ शरीर॥४८॥

अर्थ—काम, क्रोध आदि वासनाओ या माया की जिस रस्सी मे ससार के सभी प्राणी वधे है, हे कबीर, तुम कभी उसमे मत बँधना या माया मे मत पड़ना। तुम्हारा यह मानव देह लेना व्यर्थ हो जायगा। मायारूपी आटे मे नमक के समान मिलकर तुम्हारा व्यक्तित्व नष्ट हो जायगा। माया तुम्हे वर्बाद कर देगी।

अलंकार—उपमा। रूपकातिशयोक्ति।

कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझैं काल।
कबीर प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल ॥४९॥

अर्थ—ससार के सभी लोगो का समय एक दूसरे की निदा मे बीत रहा है। ऐसे विषयी लोगो को काल (यम) देवता नही दीखते है। केवल साधक ऐसा है जो निदा-स्तुति से अलग होकर राम प्रेम का प्याला भर-भर कर पीता है। पूरे मन से पीता है।

अलंकार—रूपक।

कबीर हद के जीव सूँ, हित करि मुखाँ न बोलि।
जे लागे बेहद सूँ, तिन सूँ अंतर खोलि ॥५०॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हद के जीवन अर्थात् सासारिक वासनाओ की सीमा मे वधे व्यक्ति से न बोलकर कल्याण कर। जो भक्त निस्सीम (वेहद) परमात्मा से जुड़ गया है उसके सामने अपने मन की सारी बाते कह दे।

टिप्पणी—किसी प्रकार का उपदेश ऐसे व्यक्ति को नही देना चाहिए जो भगवत्भक्त न हो।

कबीर केवल राम की, तूँ जिनि छाड़ै ओट।
घण अहरणि बिचि लोह ज्यूँ, घणी सहै सिर चोट ॥५१॥

शब्दार्थ—घन = हथौड़ा। अहरण = (< स आधारण) निहाई। घनी = खूब।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हे जीव, तुम कभी राम का भरोसा (ओट) मत छोड़ो। राम को छोड़ोगे तो जैसे निहाई पर रखा लोहा हथौड़े से पीटा जाता है वही दशा तुम्हारी होगी।

अलंकार—उदाहरण।

कबीर केवल राम कहि, सुध गरीबी झालि।
कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी काल्हि ॥५२॥

शब्दार्थ—सुध = शुद्ध। झालि = झेल। कूड़ = व्यर्थ। पड़सी = पड़ेगा। काल्हि = काल।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि केवल राम कहो। राम कहते हुए शुद्ध (पूर्णत) गरीबी बर्दाश्त करो। (क्योकि भक्ति अकिचन आन्दोलन है।) जब काल भारी पड़ेगा तो बड़ाई डूब जाती है।

काया मंजन क्या करै, कपड़ धोइम धोइ।
उजल हूवा न छूटिए, सुख नींदड़ीं न सोइ ॥५३॥

अर्थ—शरीर तो कपड़ा है। इसके धोने से विषयो की मैल नही धुलेगी। बिना विषय मैल दूर हुए सुख की नीद नही आयेगी। अत मन को स्वच्छ करो।

उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खाँहि।
एकै हरि का नाँव बिन, बाँधे जमपुरि जाँहि ॥५४॥

अर्थ—खूव अच्छा वस्त्र पहना। अन्य प्रकार की शौकीनी की। किंतु राम नाम को आधार न बनानेवाले सभी व्यक्ति बँध कर यमपुर जायेंगे।

अलंकार—विनोक्ति।

तेरा संगी कोइ नहीं, सब स्वारथ बंधी लोइ।
मनि परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ॥५५॥

अर्थ—ऐ जीव, ससार मे तुम्हारा कोई मित्र नही है। सभी लोग स्वार्थ से जुड़े है। यही कारण है कि कोई किसी की प्रतीति नही करता। किसी मे किसी का विश्वास नही है।

माँइ बिड़ाँणों बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ाँह।
दरिया केरी नाव ज्यूँ, संजोगे मिलियाँह ॥५६॥

शब्दार्थ—बिड़ॉणो = बीरानी।गैर। बिड़ = बीराना। मझि = मध्य। बिड़ॉह = पराया।

अर्थ—माता, पिता, पुत्र सब पराये है। कोई किसी के साथ न आया है। न जायगा। यह ससार नदिया नाव सयोग है। नदी मे नौका और नौका मे विभिन्न यात्री। ये सब साथ हुए। फिर अलग ही जायॅगे। न कोई मॉ रहेगी, न बाप होगा, न पुत्र होगा।

अलंकार—उपमा।

इत प्रघर उत घर, बड़जण आए हाट।
करम किराँणाँ बेचि करि, उठि जा लागे बाट ॥५७॥

शब्दार्थ—इत = यहॉ। प्रघर = पराया घर। बड़ जण = बहुत से लोग या वाणिज्य करण। किरॉणॉ = पसारियो के यहॉ मिलने वाला सौदा (स शब्दसागर)

अर्थ—यह संसार पराया अर्थात् माया का घर है। आत्मा का घर तो परम धाम है। यहॉ सासारिक बाजार मे बहुतेरे कर्म व्यापार करने आये। किंतु बाजार उठने पर सभी लोग उठ गये (मर गए)। अपने-अपने रास्ते लगे अर्थात् यम घर गये।

टिप्पणी—रवीन्द्रनाथ की कहानी 'होम कमिग' दो घरो के आधार पर है।

अलंकार—रूपक। रूपकातिशयोक्ति।

नान्हाँ काती चित दे, महँगे मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ ॥५८॥

अर्थ—जैसे जुलाहे की महीन कताई महँगी बिकती है उसी प्रकार जीव को चाहिए कि वह ससार मे श्रेष्ठ कर्म करे क्योकि राम राजा है। वे अच्छा सामान ही खरीदते है। बुरे सामानो को नजदीक भी नही आने देते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

डागल उपरि दौड़णाँ, सुख नींदड़ी न सोइ।
पुनैं पाए द्यौहड़े, ओछी ठौर न खोइ ॥५९॥

शब्दार्थ—डागल = ऊँची -खाली भूमि। पुनै = पुण्य से। द्यौहड़े = देवगृह या शरीर। ओछी = क्षुद्र। खराब।

अर्थ—यह ससार कठिन है। ऊँची-खाली भूमि पर दौड़ने के समान है। सुख की नीद सोनेवाला इस ससार के कठिन मार्ग को नही पार कर सकता। पूर्व पुण्य वश देवगृह जैसी पवित्र मानव देह मिली है। इसे क्षुद्र कार्यो मे लगा कर बर्बाद मत करो।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मै मै बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसी भाजि।
कब लग राखौ हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥६०॥

अर्थ—मै मै अर्थात् अहकार बहुत बुरी चीज है। मौका मिलते ही इसे छोड़ दो। भाग चलो। जैसे रूई मे लिपटी आग जला देती है उसी प्रकार अहकार व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है।

अलंकार—दृष्टात।

मै मै मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैंषड़ा, मेरी गल की पास ॥६१॥

शब्दार्थ—पैषड़ा = बधन। पास = पाश। फॉस। मै मै मेरी = अहकार।

अर्थ—मै मेरा का अहकार विनाशक है। विनाश का मूल है। यह मेरा है, भाव बधन है यह। मेरा है, यह गले की फॉसी है। अहता-ममता ही दुख का मूल है।

अलंकार—उल्लेख।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हलके हलके तिरि गए, बूड़े तिनि सिर भार॥६२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यह जीवन या देहरूपी नौका जर्जर है। नाशवान् है। खेनेवाले भी अज्ञानी है। फलत जो विषयो को छोड़कर हल्का हो गए वे तो भवसागर पार कर गए। किंतु विषयो और कामनाओ का बोझ उठाये लोग संसार सागर मे डूब गए।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति। अन्योक्ति।

(१३)

मन कौ अंग

मन कै मते न चालिये, छाड़ि जीव की बाँणि।
ताकू केरे सूत ज्यूँ, उलटि अपूठा आँणि॥१॥

अर्थ—सामान्य लोगो की आदत होती है कि वे मन के अनुसार चलते है। और मन तो विषयो मे दौड़ता है। चचल है। इसलिये इस आदत को छोड़ना चाहिए। जैसे ताकू मे लिपटे सूत को खोलकर कपड़ा बुनते है वैसे ही अपूठे (अपुष्ट) मन को खोलना चाहिए अर्थात् विषयो की ओर से उलटना चाहिए।

अलंकार—उपमा।

चिता चिति निबारिए, फिर बूझिए न कोइ।
इंद्री पसर मिटाइए, सहजि मिलैगा सोइ॥२॥

अर्थ—दो काम कीजिए। एक यह कि चित्त को विषय चितन से मुक्त कीजिए। दूसरा, विषयोसे इंद्रिय प्रसारको समाप्त कीजिए। इतना करनेसे वह प्रभु सहज ही प्राप्त हो जायगा।

आसा का ईंधण करूँ, मनसा करूँ बिभूति।
जोगी फेरी फिल करौं, यौ बिनवाँवैं सूति॥३॥

शब्दार्थ—ईधण = जलावन। विभूति = क्षार। फेरी = चक्कर। फिल = नष्ट। सूति = सूत्र। जीवन सूत्र। विनवॉ = बुनना।

अर्थ—आशा परम दुख है। अत योगी आशा को जलावन बनाता है और मनस्तत्त्व को राख। चक्कर लगानेवाले मन को नष्ट कर जीवन-सूत्र बुनना चाहिए।

अलंकार—सागरूपक।

कबीर सेरी साँकड़ी, चंचल मनवाँ चोर।
गुण गावै लैलीन होइ, कछू एक मन मै और॥४॥

शब्दार्थ—सेरी (फा०) = गली। सॉकड़ी = सॅकरी। सकीर्ण। लैलीन = अत्यत लीन।

अर्थ—प्रभु तक पहुँचने का रास्ता अत्यत सॅकरा है। पतला है। इसमे उच्चकोटि के साधक ही जा पाते है। जिनका मन चचल और चोर है वे इस सकीर्ण रास्ते पर नही जा सकते। इसलिये कि चोर भागता है और भागने के लिये चौड़ा रास्ता चाहिए। यह मन जब अत्यत

तन्मय होकर भी प्रभु गुण गाता है तो उसके मन मे वासना रहती है। सकाम उपासना करता है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

कबीर मारूँ मन कूँ, टूक टूक है जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥५॥

शब्दार्थ—लुणत = काटते हुए।

अर्थ—मन ही सारे बधन-मोक्ष का कारण है। अत दुख का कारण भी है। कबीर दास जी इस मन को मारना चाहते है। टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहते है। यह मन ही विषय-विष को उपजाता है। किंतु उसका फल भोगने मे अफसोस करता है। यह कैसे सभव है कि कर्म का फल न मिले ? कर्म फल तो सबको भोगना ही पड़ेगा।

इस मन कौं बिसमल करौ, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपणाँ, तौ पर सिरिज अँगीठ ॥६॥

शब्दार्थ—बिसमल = घायल। दीठा = दृष्ट।

अर्थ—इस चचल मन को गुरुवचन बाण से घायल कर दूँ। इससे दृश्य जगत के स्थान पर मन अदृश्य को देखने लगेगा। क्योकि सारा दृश्य प्रपच नाशवान् है। अब स्थिति उलटी हो जायगी, दृश्य अदृश्य और अदृश्य दृश्य हो जायगा। यह तभी होगा जब अपने, सिर अर्थात् अहकार का नाश हो। क्योकि अहम् ही सभी दुखो का कारण है।

मन जाँणे सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूँवै पड़ै ॥७॥

अर्थ—मन सभी बाते जानता-समझता है। फिर भी अवगुणो से भरा है। हाथ मे दीपक रहते हुए भी कुएँ मे पड़ना जैसी स्थिति है। ऐसे मनवाले व्यक्ति का कुशल कैसे हो सकता है? इसलिये मन को ही ठीक रखने की जरूरत है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणाँ न जाइ।
मुखु तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुबिधा जाइ ॥८॥

अर्थ— स्वच्छ हृदय ही दर्पण है। दर्पण के लिये किसी बाहरी तत्त्व की आवश्यकता नही है। किंतु हृदय की मलिनता के कारण मुख स्पष्ट नही दिखाई पड़ता है। मुख अर्थात् स्वरूप तो तभी दिखाई पड़ेगा जब मन विषयो और प्रभु भक्ति मे दुविधा को छोड़कर एकाग्र हो।

अलंकार—विशेषोक्ति।

मन दीयाँ मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूँ, अनल अकासाँ जोइ ॥९॥

अर्थ—उस प्रभु के प्रति जो मन लगाता है उसका मन स्वच्छ और पवित्र होकर स्वरूप ग्रहण करता है। मन को पवित्र किये बिना भागवत मन की प्राप्ति नही हो सकती है। सकेत यह भी है कि प्रभु मन अथवा कृपा के लिये मन का पूर्ण समर्पण आवश्यक है। जैसे अनल पक्षी आकाश मे अडा देता है उसी प्रकार उन्मनी अवस्था अथवा प्रभु प्रेम मे अनुरक्त मन ऊर्ध्वचेतना मे आनद की अनुभूति करता है। ऊर्ध्व चेतना मे मन वासना मुक्त रहता है। वासना ही दुख का कारण है। वासना मुक्ति ही सहजावस्था की प्राप्ति है।

टिप्पणी—सहज मे मन का लय करना सहज योग है। इसी लय की अवस्था को उन्मनावस्था भी कहा गया है। यह उन्मनावस्था समाधि की अवस्था है। हठयोग प्रदीपिका मे उन्मनी सहज का ही पर्याय है।—कबीर की विचारधारा पृ० २२६।

मन गोरख मन गोबिंदौ, मन हीं औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ ॥१०॥

अर्थ—मन ही गोरख (प्रसिद्ध साधक) है। मन ही भगवान है। मन ही औघड़ है। जो साधक मन को यत्नपूर्वक विषयो से अलग रखता है तो वह स्वय 'करता' (कर्त्ता) अर्थात् प्रभु रूप हो जाता है। ईश्वर और जीव मे एकता है। भेद का कारण विषयी मन है। विषयी मन प्रभु से अलग रहता है। विषय मुक्त होते ही भक्त और भगवान् मे तादात्म्य की स्थिति आ जाती है।

अलंकार—उल्लेख।

एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—कबाइ = (अरबी-कबा) चोगा। एक ढीलाढाला लबा पहनावा।

अर्थ—मन ही विषयो मे बहकता है। मन को प्रभु प्रेमी बनाना चाहिए। सत कबीर ने मन को प्रभु भक्त बनाकर उसके गले मे प्रेम का लाल चोगा पहना दिया है। अब सासारिक धोबियो अर्थात् विषयो का कितना भी साथ करेगा यह प्रभु प्रेमरूपी रग कभी धुल न सकेगा। ससार के सभी धोबी धोकर मर जायेगे।

टिप्पणी—लाल प्रेम का रग है। इसलिये प्रेम को अनुराग कहते है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

पाँणी ही तैं पातला, धूवाँ ही तैं झीण।
पवनाँ बेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह ॥१२॥

अर्थ—सत कबीर ने अत्यत सूक्ष्म तत्त्व ब्रह्म को अपना दोस्त बना लिया। यह ब्रह्म पानी से भी अधिक पतला और धुएं से भी अधिक झीना है। इसमे हवा से भी अधिक उतावला वेग है। कहना यह है कि वह पॉचो तत्त्वो से अधिक विशिष्ट है।

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर तुरी पलॉड़ियाँ, चाबक लीया हाथि।
दिवस थकाँ साँई मिलौं, पीछैं पड़िहैं राति ॥१३॥

शब्दार्थ—तुरी = घोड़ा। पलॉड़ियॉ = जीन कसा।

अर्थ—मन घोड़े के समान चचल है। सत कबीर ने उस पर रागहीनता या संयम का जीन कस दिया है। हाथ मे सावधानी का चाबुक ले रखा है। मोहरात्रि पीछे छूट गयी है और भगवत् ज्ञान रूपी दिन रुक गया है। अब रात नही आयेगी। यहॉ परमात्मा का अखड साथ बना रहेगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मनवाँ तौ अधर बस्या, बहुतक झीणाँ होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहूँ न न्यारा सोइ ॥१४॥

अर्थ—मन तो स्व आधार पर स्थित ब्रह्म पर जा टिका है। यह ब्रह्म बहुत ही झीना है। इसे देखने से सुख मिलता है। अब इस ब्रह्म तत्त्व से कभी अलग नही होना है।

मन न मार्या मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील साच सरधा नही, इंद्री अजहुँ उघारि ॥१५॥

अर्थ—ऐ साधक, आज भी तुमने दृढ़ मन से मन की प्रवृत्तियो को नष्ट नही किया। पॉचो इद्रियो और उनके विषयो पर चोट नही की। तुममे शील, सत्य और श्रद्धा का अभाव है। तुम्हारी इद्रियाँ विषयो मे उघड़ी है। विषय लिप्त है। इन्हे सयम से ढॅको।

कबीर मन बिकरै पड़्या, गया स्वादि के साथि।
गलका खाया बरजताँ, अब क्यूँ आवै हाथि॥१६॥

अर्थ—स्वाद के चक्कर मे पड़कर यह मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के विकारो मे पड़ गया। गले तक विषयों मे डूबा है। अब यह हाथ कैसे आयेगा ? (गुरु कृपा युक्त साधना से आयेगा।)

कबीर मन गाफिल भया, सुमिरण लागै नाहँ।
घणी सहैगा सासनाँ, जम की दरगह माहँ॥१७॥

शब्दार्थ—सासनॉ = सॉसत। कष्ट। दरगह = दरबार। माहॅ = मे। गाफिल = असावधान।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि भगवत्भजन के प्रति मन असावधान है। पूरा मन नही लग रहा है। इससे स्मरण, भजन आदि ठीक ढ़ग से नही हो रहे है। ऐ जीव, अभी सावधान हो जाओ, यम दरबार मे बड़ा कष्ट सहना होगा। भजनहीन प्राणी को यमराज अत्यत पीड़ित करते है।

कोटि कर्म पल मै करै, यहु मन बिषिया स्वादि।
सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि॥१८॥

शब्दार्थ—बादि = व्यर्थ।

अर्थ—विषयो के स्वाद मे चक्कर लगानेवाला मन करोड़ो कल्पना-कर्म क्षण मे कर डालता है। सद्गुरु का कहना न मानकर जन्म को बर्बाद कर दिया।

मैमंता मन मारि रे, घटही माँहैं घेरि।
जवही चालैं पीठि दै अंकुस दे दे फेरि॥१९॥

शब्दार्थ—मैमता = मदोन्मत्त। हाथी जैसा मतवाला। घट = घड़ा। शरीर। चालै पीठिदे = (पीठ देकर चलना) उपेक्षा करना।

अर्थ—ऐ जीव, मन मदोन्मत्त हाथी जैसा है। यह विषय-वन मे बहुत दूर निकले इसके पूर्व ही शरीर मे घेर लो। बहुत दूर वन मे जाने पर पकड़ मे नही आयेगा। जब यह तुम्हारी साधना की उपेक्षा करे तो इसे गुरुज्ञानरूपी अकुश से ठीक करो।

अलंकार—रूपक।

मैमंता मन मारि रे, नाँन्हाँ करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीसि॥२०॥

अर्थ—ऐ साधक, हाथी जैसे मतवाले मन को मारो। खूब महीन पीसो। विषयो मे विचरते वह अत्यत मोटा हो गया है। उसे अनन्य भक्ति मे लगाकर महीन करो। ऐसा करने पर साधक-सुन्दरी को सुख मिलता है। उसके शीश पर ब्रह्मज्योति का प्रकाश होता है। उसमे दिव्यता आ जाती है।

अलंकार—रूपक।

कागद केरी नाँव री, पाँणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग॥२१॥

अर्थ—यह शरीर कागज की नाव के समान नाशवान है। गगा अर्थात् ससार सागर मे विषयो की लहरे उठ रही है। साथ मे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर ये पॉच बुरे साथी है। विषय बुरे साथी है। जो विषयो मे डुबोना चाहते है। सत कबीर परेशान है। इनके साथ कागज की नाव द्वारा भवसागर कैसे पार होगा ?

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर यह मन कत गया, जो मन होता कालि।
डूँगरि बूठा मेह ज्यूँ, गया निबाँणाँ चालि॥२२॥

शब्दार्थ—कत = कहाँ। डूँगरि = ऊँचा टीला। ढूह। मेह = वर्षा। बूठा = वरसा। निवाँणाँ = निर्वाण। नीची जमीन। चालि = चला गया।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि विषयो मे रहनेवाला मन सद्गुरु की कृपा से नष्ट हो गया। जैसे वर्षा से ऊँचा टीला डूब जाता है वैसे ही मेरा मन जो अहकार का ढूह बना था वह गुरु उपदेश पाकर निर्वाण की ओर चला गया। उसका अहकार गल गया है।

अलंकार—उपमा।

मृतक कूँ धी जौ नहीं, मेरा मन बी है।
बाजे बाव बिकार की, भी मूवा जीवै॥२३॥

शब्दार्थ—धी = बुद्धि। वोध। वी = भी। वाव = वायु। विकार = विपय।

अर्थ—मेरा मन मुर्दे के समान हो गया है। उसका विपयराग छूट गया है। किंतु कभी जव विकारो की हवा का वाजा वजता तो मन जी उठता है और विपयो मे दौड़ने लगता है।

काटी कूटि माछली, छीकै धरी चहोड़ि।
कोइ एक अषिर मन बस्या, दह मै पड़ी बहोड़ि॥२४॥

शब्दार्थ-मछली = मन। छीकै = ब्रह्मरध्र। चहोड़ि = चढ़ाकर। अपिर = अक्षर। वासना की आवाज। दह (< स ह्रद) = तालाव। वहोरि = पुन । काटी कूटि =विषय मुक्त

अर्थ—विषय विरक्त मन ब्रह्मरध्र पर चढ़ा दिया गया। किंतु अनावधानता वश यदि वासनामूलक एक अक्षर भी मन मे वस गया तो वह कटी मन मछली पुन विषय तालाव मे गिर जायगी।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ़्या अकास।
उहाँ ही तै गिरि पड़्या, मन माया के पास॥२५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि मनरूपी पक्षी आकाश (ब्रह्मरध्र) मे पहुँच गया। किंतु अपूर्ण साधना के कारण पुन मन मे बसी माया के पास गिर गया।

अलंकार—रूपक।

भगति दुवारा सँकड़ा, राई दसवै भाइ।
मन तौ मैगल ह्वै रह्यो, क्यूँ करि सकै समाइ॥२६॥

शब्दार्थ—भाइ = भाव। समान। बराबर।

अर्थ—भक्ति साधना का दरवाजा अत्यत सकरा है। यह राई के दसवे भाग के बराबर है। विषयो मे पड़ा मन तो मदोन्मत्त हाथी है। भला यह मन-हाथी राई के दसवे भाग मे कैसे समा सकता है ?

करता था तौ क्यूँ रह्या, अब करि क्यूँ पछताइ।
बोवै पेड़ बँबूल का, अंब कहाँ तै खाइ॥२७॥

अर्थ—जब बुरे कर्म करता था तो क्यो किया? करने के वाद अफसोस (दुख) क्यो करता है ? जब बबूल का पेड़ बोया है तो आम कहाँ से खाएगा ? साधन साध्य के अनुरूप होना चाहिए।

काया देवल मन धजा, बिषै लहरि फरराइ।
मन चाल्याँ देवल चलै, ताका सर्बस जाइ॥२८॥

अर्थ—शरीर मदिर है। मन ध्वजा है। यह मन शरीर से ऊपर है। यह विषयो के कारण

लहर-लहर फहराता है अर्थात् विषयो मे आनन्द लेता है। मन जिधर जाता है शरीर भी उधर ही चला जाता है तो ऐसे व्यक्ति का सर्वस्व नाश हो जाता है।

अलंकार—सागरूपक।

मनह मनोर्थ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पाँणी मै घीव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ॥२९॥

अर्थ—मन मनोरथ करता है। अनेक भोगो की कल्पनाएँ करता है। हे जीव, इस मन को छोड़ दो वरना तुम कुछ नही कर सकोगे। जैसे पानी से घी निकलता तो कोई रूखा न खाता उसी प्रकार मनोरथो से कुछ नही होता है। मनोरथ भ्रम है। नाश के कारण है।

अलंकार—दृष्यात।

काया कसूँ कमाँण ज्यूँ, पंचतत्त करि बाँण।
मारौ तो मन मृग कौ, नहीं तौ मिथ्या जाँण॥३०॥

अर्थ—साधक कहता है शरीर को धनुष, पचतत्त्वो (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) को बाण बनाकर मनरूपी हिरण मारूँ तभी साधक जानो वरना सारी तपस्या झूठी है।

अलंकार—सागरूपक।

(१४)

सूषिम मारग कौ अंग

कौंण देस कहाँ आइया, कहु क्यूँ जाण्याँ जाइ।
उहु मार्ग पावैं नहीं, भूलि पड़े इस माँहि॥१॥

अर्थ—जीव ब्रह्म लोक का निवासी था। भूलकर मर्त्यलोक मे चला आया। क्यो और कैसे आया इसका भी उसे पता नही है। विषयो मे रहने के कारण ब्रह्मलोक का मार्ग भी नही पा रहा है। इस मर्त्यलोक मे भूला-भटका फिर रहा है।

उतीथै कोइ न आवई, जाकूँ बूझौं धाइ।
इतथै सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ॥२॥

अर्थ—वहाँ (परमधाम) से कोई लौटकर नही आता, जिससे दौड़कर वहाँ के बारे मे पूछूँ। केवल लोग इस लोक से कर्मो के भार से लद-लद कर जाते है।

सबकूँ बूझत मै फिरौ, रहण कहै नही कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूँ, रहण कहाँ थैं होइ॥३॥

अर्थ—सब से पूछता हूँ। कोई अमरता के बारे मे नही बताता है। राम से प्रेम ही मनुष्य को अमर बनाता है। बिना राम प्रेम के अमरता सभव नही है।

चलौ चलौ सबको कहै, मोहि अँदेसा और।
साहिब सूँ पर्चा नही, ए जाँहिगें किस ठौर॥४॥

अर्थ—सभी लोग चलने की बात करते है। सबको मरना है। सत कबीर के मन मे सदेह है कि जिसने भगवान् से परिचय नही किया वह मरने के बाद कहाँ जायगा ? कहना यह है उसका इसी ससार मे आवागमन होता रहेगा।

जाइबे कौ जागा नही, रहिबे कौ नही ठौर।
कहै कबीरा संत हौ, अविगति की गति और॥५॥

शब्दार्थ—जागा = जगह। और = दूसरा। अलग।

अर्थ—जाने की कोई जगह नही है। यहाँ भी रहने की जगह नही है। सत कबीर कहते है कि अविगत परमात्मा से प्रेम का ढग ससार के सभी कार्यो से अलग है। उसी ढग को अपनाने पर परमात्मा के यहाँ जगह मिलेगी।

कबीर मारिग कठिन है, कोइ न सकई जाइ।
गए ते बहुडे नहीं, कुसल कहै को आइ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मतत्त्व को पाने का मार्ग कठिन है। वहाँ कोई नही जा सकता है। जो गए वे लौटे नहीं। वहाँ की कठिनाइयो के बारे मे कौन बता सकेगा ?

अलंकार—वक्रोक्ति।

जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।
पाव न टिकै पपीलका, लोगनि लादे बैल॥७॥

शब्दार्थ—जन = भक्त। सिषर = शून्य शिखर। सलैली = शैलीवाली। पथरीली। फिसलनयुक्त। पपीलका = चीटी।

अर्थ—भक्त कबीर का घर शून्य शिखर (ब्रह्मरध्र) पर है। किंतु उसका रास्ता ऊँचा पहाड़ी है। पथरीला है। फिसलन भरा है। यहाँ चीटी (सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुएँ) के पैर भी डगमगाने लगते है। किंतु लोग वासनाजन्य कर्म सस्कारो का बोझ लेकर चलना चाहते है। यह कैसे सभव है ?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जहाँ न चीटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ।
मन पवन का गमि नही, तहाँ पहूँचे जाइ॥८॥

अर्थ—सत कबीर साधना के उस स्थान पर पहुँच गए है जहाँ चीटी नही चढ़ सकती है। राई भी नही ठहर सकती है। हवा और मन जैसे सूक्ष्म तत्त्व भी वहाँ नही पहुँच सकते है। चीटी और राई से मतलब यह है कि वासना का लघु अश भी इस चोटी पर पहुँचने मे असमर्थ है।

तुलनीय—नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा। वह परमात्मा वाणी, चक्षु, मन आदि किसी के द्वारा नही प्राप्त हो सकता है। कठो० २/३/१२

जेहि बण पवन न सचरइ, रवि ससि णाह पवेश।
तेहि वढ चित्त विसाम करु, सरहे कहिउ उएसु।—सरहपा।

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि।
तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की साषि॥९॥

अर्थ—ब्रह्मप्राप्ति का रास्ता अत्यत कठिन है। बड़े-बड़े मुनि भी थक कर बैठ गए। किंतु सद्‌गुरु को साक्षी बनाकर सत कबीर वहाँ पहुँच गए।

तुलनीय—गीता कहती है—

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मावेत्ति तत्त्वत ।-७/३

सुर नर थाके मुनि जनाँ, जहाँ न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ॥१०॥

शब्दार्थ—मोटे भाग = बड़ा भाग्य। सौभाग्यशाली।

अर्थ—जिस ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करने मे देवता, मुनि, नर आदि थक गये। कोई वहाँ पहुँच न सका। किंतु सत कबीर भाग्यशाली है। वहाँ पहुँच भी गये और वहाँ निवास भी कर रहे है। यह योग भक्ति के प्रभाव से हुआ।

(१५)

सूषिम जनम कौ अंग

कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जाँणैं जाल।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल ॥१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जीव सूक्ष्म ध्यान तत्त्व को नही जानता है। आत्म अदृष्टि को दूर करो। आत्मदृष्टि से देखो। तुम्हे तत्काल सब दीखेगा।

प्राण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहै सब कोइ।
जीव छताँ जाँमैं, मरै, सूषिम लखै न कोइ ॥२॥

शब्दार्थ—पड = पिण्ड। शरीर। मूवा = मरा। छतॉ (<स अस्ति) रहते। जामै = जन्मता है।

अर्थ—शरीर से पच प्राणो के निकलने पर लोग उसको मरा कहते है। किंतु विषयी प्राणी नित्य ही विषयभोग के सुख-दुख मे मरते रहते है। इसे सूक्ष्मदर्शी ही देख पाते है।

टिप्पणी—सुख भी वेदना है। सुख-दुख से अलग है अमृत तत्त्व। सुख-दुख दोनो को समान समझना चाहिए।

अलंकार—विरोधाभास।

(१६)

माया कौ अंग

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसाँ लाइ।
रामचरन नीकाँ गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥१॥

अर्थ—ससार एक बाजार है। यहाँ स्वादरूपी ठग घूमते रहते है। माया वेश्या है जो काम के स्वाद मे सबको भ्रम मे डालती है। जो राम की शरण मे आ गये है वे कभी ठगा नही सकते। क्योकि स्वाद से विरक्ति होने पर ही रामसेवा मिलती है। राम की शरण मे जा सकते है।

अलंकार—सॉगरूपक।

कबीर माया पापणी, फंध ले बैठि हाटि।
सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीरा काटि ॥२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि माया बड़ी पापिनी है। यह हाथ मे फदा लिये बैठी है। सारा ससार माया के फदे मे फॅस गया। किंतु सत कबीर ने गुरुकृपा से माया के फदे को काट दिया।

अलंकार—सॉगरुपक।

कबीर माया पापणीं, लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥३॥

र्थ—लालै = लालसा।

र्सत कबीर कहते है कि माया बड़ी पापिनी है। वह लोगो मे लालसा तो पैदा कर ज कोई व्यक्ति पूरा भोग नही पाता है। उसके पहले ही वस्तु से उसका वियोग हो

टिप्पणी—भर्तृहरि ने कहा है, भोग कभी नही चुकते। भोगनेवाला ही नष्ट हो जाता है—भोगा न भोक्तुम् वयमेव भुक्ता।

श्री मलिक मुहम्मद जायसी कहते है—

तन बूढ़ा मन बूढ न होई, बल न रहा पै लालच सोई।

कबीर माया पापर्णी, हरि सूँ करे हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥४॥

शब्दार्थ—हराम = विरुद्ध। विमुख। कड़ियाली = कड़ी। लगाम।

अर्थ—माया बड़ी पापिनी है। यह मनुष्य को प्रभु से विमुख करती है। लोगो मे विपरीत बुद्धि पैदा कर राम नाम लेने मे मुँह बद कर देती है। मुख पर विरुद्ध मति की लगाम लग जाती है।

अलंकार—रूपक।

जाणीं जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै अंतरा, माया बड़ी बिसास ॥५॥

शब्दार्थ—मो = मेरे। मनि = मन मे। घालै = डालती है। अतरा = भेद पैदा करना। बिसास = विश्वासघातिनी। जाणी = जानकर। विश्वास से।

अर्थ—जीव विश्वास के साथ हरि भजन करता है। कितु माया बीच मे भेद पैदा कर देती है। वह विश्वासघातिनी जीव को हरि भजन से रोकती है।

कबीर माया मोहनी, मोहे जाँण सुजाँण।
भागाँ ही छूटै नही, भरि भरि मारै बाँण ॥६॥

अर्थ—माया बड़ी लुभावनी है। समझदारो को भी मोह लेती है। भागने पर भी नहीं छोड़ती है। कस-कस कर मोह-ममता के बाण मारती है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाँड़।
सतगुर की कृपा भई, नही तौ करती भाँड़ ॥७॥

अर्थ—माया मीठा जहर है। देखने मे मीठी कितु प्रभाव मे जहर। सद्गुरु की कृपा न होती तो माया के प्रभाव से बड़ा नुकसान होता।

अलंकार—उपमा।

कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाँणि।
कोइ एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल की काँणि ॥८॥

शब्दार्थ—घाल्या = डाल दिया। घाँणि = घनी। अधिक। जन = भक्त। काँणि = मर्यादा।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि माया अत्यत मोहक है। सारे ससार को बहुत अधिक प्रभावित किये है। सब पर अपना प्रभाव डाल रखा है। एकाध भक्त जिन्होने लोक-वेद दोनो की मर्यादाएँ छोड़ दी है माया से मुक्त हो पाते है।

टिप्पणी—लोक-वेद की मर्यादाएँ (नियम) माया युक्त है। मीरा कहती हैं—'लोकवेद कुल की मर्यादा यहै गले की फाँसी।'

कबीर माया मोहनी, माँगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि ॥९॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि माया मोहिनी है। प्रार्थना करने पर यह वश मे नही है। इसे बिल्कुल झूठ समझ मन से बाहर कर दे तो अनुचरी हो जाती है।

टिप्पणी—इसमे तीन मुहावरे है—माँगी मिलै न हाथि = प्रार्थना से, अनुनय-विनय से

न होना। मनह उतारी = मन से छोड़ देना। विमन हो जाना। लागी डोलै साथि = अनुचर होना।

अलंकार—विरोधाभास।

माया दासी संत की, ऊँभी देई असीस।
बिलसी अरु लातौ छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस ॥१०॥

शब्दार्थ—ऊँभी = खड़ी। लातौ छड़ी = लात मारने पर।

अर्थ—माया जगदीश का स्मरण करनेवाले सत की दासी हो जाती है। उन्हे खड़ी होकर, जागृत होकर आशीर्वाद देती है। माया को लात मारने पर वह अनुकूल हो जाती है।

टिप्पणी—सत माया से मुक्त होकर सत से भगवत बन जाते है। अत माया उनके वश मे हो जाती है। वशीकृत माया से नुकसान नही फायदा होता है। सत कहते है कि माया छोड़ना नही उसे वश मे करना चाहिए।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णाँ नाँ मुई, यौ कहि गया कबीर ॥११॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि मन मे माया का, माया की शक्तियो (आशा, तृष्णा आदि) के अनत प्रवाह चलते रहते है। इसलिये ये तो शाश्वत है। केवल इन्हे भोगनेवाले शरीर का बार-बार नाश होता है।

टिप्पणी—वेदात दृष्टि मे पुरुष और प्रकृति दोनो अनादि है। माया ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति है।

प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादी उभावपि—गीता १३/१९

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।
सोइ मूबे धन सँचते, सो उबरे जा खाइ ॥१२॥

अर्थ—आशा सदा जीवित रहती है। मरते है सासारिक लोग, जिन्हे धन इकट्ठा करने का चसका लग गया है। वे ही लोग इससे मुक्त हो पाते है जो धन आदि भूत पदार्थो की लालसा को नष्ट (खाइ) कर देते है।

अलंकार—विरोधाभास।

तुलनीय—आशा पाशशतैर्बद्धा कामक्रोध परायणा ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ सचयान् ।—गीता १६/१२

कबीर सो धन संचिए, जो आगैं कूँ होइ।
सीस चढ़ाए पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥१३॥

अर्थ—धन के दो प्रकार है– एक धन है जो ससार मे ही रह जाता है। दूसरा परलोक मे भी साथ जाता है। सत कबीर कहते है कि अध्यात्म या परमात्मप्रेम के धन का सचय करो। यही धन इस ससार के बाद काम देता है। सासारिक धन को सिर पर ले जाते किसी को नही देखा गया है। इसीलिये ससार मे सत्कर्म करना चाहिए।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

त्रीया त्रिष्णाँ पापणी, तासूँ प्रीति न जोड़ि।
पैड़ी चढ़ि पाछाँ पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥१४॥

शब्दार्थ—त्रीया = स्त्री। तासूँ = उससे। पैड़ी = रास्ता। खोड़ि = खोट। दोष।

अर्थ—स्त्री की तृष्णा बड़ा भारी पाप है। इस तृष्णा से कभी प्रेम नही करना चाहिए। स्त्री की तृष्णा जिसके पीछे लग जाती है वह बड़े-बड़े दोषो से भर जाता है।

अलंकार—रूपक।

त्रिष्णाँ सींची नाँ बुझै, दिन दिन बढ़ती जाइ।
जवासा के रूष ज्यूँ, घण मेहाँ कुमिलाइ॥१५॥

शब्दार्थ—जवासा = (< स. यावासक) एक प्रकार का कॅटिदार पौधा जिसकी पत्तियॉ वर्षा पाकर कुम्हला जाती है। कुमिलाइ = कुम्हलाना। मेहॉ = मेघ। घन = घना।

अर्थ—विषय वासनाओ के भोग से तृष्णा नष्ट होने की अपेक्षा बढ़ती जाती है। किंतु प्रभु प्रीति का गहरा जल डालने पर नष्ट होती है। जैसे अधिक वर्षा से जवास नष्ट हो जाते है।

तुलनीय—अर्क जवास पात बिनु भयऊ।—तुलसी।

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।-मनु० २/९४

कबीर जग की को कहै, भौ जलि बूडै दास।
पारब्रह्म पति छाड़ि करि, करैं मानि की आस॥१६॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि इस ससार के बारे मे क्या कहा जाय ? यहाँ भक्त भी डूब जाते है जो परमात्मा की आशा छोड़ ससार मे सम्मान की आशा करते है।

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौ खाइ॥१७॥

अर्थ—यहाँ संत कबीर ने माया और मान मे भेद किया है। माया से अर्थ है सासारिक भोग। विशेषकर धन सबधी भोग। किंतु इस माया से भी महत्त्वपूर्ण है सासारिक मर्यादा की इच्छा। पहली को वित्तेषणा और दूसरी को लोकेषणा कहते है। लोकेषणा वित्तेषणा से अधिक भयानक है। लोकेषणा बड़े-बड़े साधु सतो को भी मोह मे डालकर नष्ट कर देती है। इसी को ध्यान मे रखकर सत ने कहा है—राजा दुखिया, परजा दुखिया, तपसी के दुख दूना।

राँमहिं थोड़ा जाँणि करि, दुनियाँ आगैं दीन।
जीवाँ कौ राजा कहैं, माया के आधीन॥१८॥

अर्थ—राम की महत्ता बहुत अधिक है। किंतु लोग राम को थोड़ा समझकर सासारिक लोगो के आगे दीन बने रहते है। दीनता केवल राम के आगे व्यक्त होनी चाहिए। राजा केवल राम है। कोई जीव राजा नही हो सकता है। क्योकि सभी जीव माया के अनुचर है।

रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
राँम नाँम बिन बूड़िहै, कनक काँमणी कूप॥१९॥

अर्थ—मनुष्य जीवन स्त्री रज और पुरुष वीर्य का प्रस्फुटन मात्र है। इस पर भी रूप सजाते है। किंतु राम नाम के अभाव मे सभी लोग स्त्री और धन के कुऍ मे गिरते है। नष्ट होते है।

अलंकार—रूपक।

माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नही, फल फीकौ तनि ताप॥२०॥

अर्थ—माया सत्त्व, रज, तम का पेड़ है। दुख इसकी शाखाऍ है। इस माया तरु के नीचे रहनेवाला कभी सुखी नही रह सकता है। ऐसा व्यक्ति सपना भी दुख का ही देखता है। इसका फल (परिणाम) तो दु खद होता ही है। शरीर भी तापो (दुखो) मे जलता रहता है।

टिप्पणी—ससार मे दैहिक, दैविक, भौतिक तीन प्रकार के दुख है।

अलंकार—सागरूपक।

कबीर माया ढाकणी, सब किसही कौ खाइ।
दाँत उपाणौं पापणीं, जे संतौ नेड़ी जाइ॥२१॥

शब्दार्थ—ढाकणी = डाकिनीं। राक्षसी। नेड़ी = नजदीक। उपाणौ = उखाड़ना।

अर्थ—माया राक्षसी है। यह सब को खाती है। किंतु भक्तो के पास पहुंचने पर प्रभुकृपा से भक्त उसका दॉत उखाड़ देते है। उसकी शक्ति खतम हो जाती है। मोह, मद, मत्सर आदि ही माया राक्षसी के दॉत है।

अलंकार—रूपक।

नलनी सायर घर किया, दौ लागी बहुतेणि।
जलही माँहे जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि॥२२॥

शब्दार्थ—नलनी = जीवात्मा। सायर = ससारसागर। दौ = (स दावाग्नि) यहॉ वाडवाग्नि या आग। लिषेणि = लिखने से।

अर्थ—जीवात्मा ने ससारसमुद्र मे घर बनाया है। मन लगाया। किंतु वासना की आग से परेशान है। वासना प्रवाह मे ही परेशान होती रही। जलती रही। यह प्रारब्ध के कारण हुआ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति। विरोधाभास।

कबीर गुण की बादली, तीतरबाणी छाँहिं।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर माँहँ॥२३॥

शब्दार्थ—तीतरवाणी = तीतरवर्णवाली अर्थात् मिश्रित रगवाली। छॉहि = प्रभाव।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ससार तीन गुणो वाला होने के कारण तीतर रग या कई मिश्रित रगो का भडार है। इसका प्रभाव भी वैसा ही रग-बिरगा है। इसके प्रभाव से दूर रहनेवाला मुक्त हो जाता है। किंतु इसके भीतर रहनेवाला वासना जल से भीग जाता है। वासना से प्रभावित हो जाता है।

अलंकार—रूपक। विरोधाभास।

कबीर माया मोह की, भई अँधारी लोइ।
जे सूते ते मुसि लिये, रहे बसत कूँ रोइ॥२४॥

शब्दार्थ—लोक = सृष्टि। ससार। मुसि = चुरा लिये गये। बसत = वस्तु। बसना। निवास।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ससार मे माया-मोह का ॲधेरा छाया है। इस अज्ञानजन्य ॲधेरे मे जो सोए उनका सब कुछ चुरा लिया गया। वे लूट लिये गये। अब वे अपनी आध्यात्मिक वस्तु के लिये रो रहे है।

अतिम पक्ति का दूसरा अर्थ बसत को क्रिया मान कर इस प्रकार होगा—सोने वालो का सब कुछ चला गया। अब वे ससार मे रहने (स्थिरता) के लिये भी रो रहे है। क्योकि जिनकी आध्यात्मिक वस्तु गायब हो गयी उन्हे कौन पूछेगा ?

संकल ही तै सबलहै, माया इहि संसार।
ते क्यूँ छूटै बापुड़े, बाँधे सिरजनहार॥२५॥

शब्दार्थ—सकल = बधन।

अर्थ—इस ससार मे रहनेवाले सभी लोग माया के बधन मे बधे है। वे बेचारे कैसे छूट सकते है जिन्हे स्वय विधाता ने बॉध रखा है ? भाव यह है कि विधाता की कृपा पाकर ही मुक्ति मिलती है।

अलंकार—व्यतिरेक।

बाड़ि चढंती बेलि ज्यूँ, उलझी, आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नही, भई ज बाचा बंध॥२६॥

शब्दार्थ—बाड़ि = घेरा। चढती = चढ़ती। बेलि = लता। आशा फध = आशापाश। तूटै टूटती है। पणि = परतु। बाचावध = वचनबद्ध। शास्त्रवचन। शब्दजाल।

अर्थ—मनुष्य आशा के बधन मे बॅधा उस लता के समान है जो क्रोध, काम आदि के घेरे

पर लिपटी चढ़ी है। आशारूपी बधन के टूटने पर भी बिल्कुल मुक्ति नहीं मिलती क्योकि शास्त्रो के शब्दजाल उसे माया मे बाँधे रहते है।

टिप्पणी—यहाँ शास्त्रो की निरर्थकता की ओर सकेत है। सत तुलसीदास कहते है—वाक्य ग्यान अत्यत निपुन भव पार न पावै कोई।

अलंकार— उपमा।

सब आसण आसा तणाँ, निवर्ति कै को नाहि।
निवरति कै निबहै नहीं, परिवर्ति परपंच माँहि ॥२७॥

शब्दार्थ—आसन = योगासन। आसातर्णां = आशा-तृष्णा। निवर्तिकै = निवृत्ति। को = कोई। निवरति = निवृत्ति। निबहै = निर्वाह। परिवर्ति = प्रवृत्ति। माँहि = मे।

अर्थ—योग के सारे आसन भी आशा तृष्णा वाले है। उनसे कोई निवृत्त नही हो सकता। निवृत्ति का निर्वाह कठिन है। प्रवृत्ति मे अनेक प्रपच है।

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बँधावणाँ, तिहि घरि तिता अँदोह ॥२८॥

शब्दार्थ—बँधावणाँ = बधावा। समारोह। तिहि = उस। घरि = घर मे। तिता = उतना। अँदोह = दुख।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि इस ससार के सारे माया मोह झूठे है। मिथ्या है। जहाँ समारोह और तड़क-भड़क जितना अधिक है वहाँ उतना ही अधिक दुख है।

अलंकार—विरोधाभास।

माया हमसौ यो कह्या, तू मति दे रे पूठि।
और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि ॥२९॥

अर्थ—माया ने हमसे कहा कि तुम मुझे पीठ मत दो। हमसे मत भागो। और सभी लोग हमारे बल के भीतर है। केवल कबीर हमसे रूठा है। रूठनेवालो पर माया का बस नही चलता है।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ्या कलंक।
और पँखेरू पी गए, हंस न बोवै चंच ॥३०॥

शब्दार्थ—बगुली = माया। नीर = पवित्रता। बिटालिया = गदा करना। सागर = भवसागर। कलक = गदगी। पँखेरू = जीवात्मा। हस = पवित्रात्मा। बोवै = डुबोना। चच = चोच।

अर्थ—मायारूपी बगुली ने सारे ससार-सागर के जल को गदा कर रखा है। वासना फैली है। वासना मे पड़ी अज्ञानी जीवात्माएँ वह पानी पी रही हैं। किंतु मुक्तात्मा (हस) उसे पीना तो दूर उसमे चोच भी नही डुबोती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियाँ दे बाँह।
नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसौ त्याँह ॥३१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सौ बार भी माया गलबाँही दे तो उससे मिलना ठीक नही है। भगवान् के साक्षात् पुत्र नारद का भी उसने नाश कर दिया। अब दूसरे किसका भरोसा किया जाय ?

माया की झल जग जल्या, कनक काँमणी लागि।
कहुँ धौ किहि बिधि राखिये, रुई लपेटी आगि ॥३२॥

अर्थ—धन (सोना) और स्त्री माया है। सारा ससार इन्ही की तृष्णा मे जल रहा है। यह

तृष्णा रूई मे लिपटी आग के समान है। मतलब यह कि माया के चक्कर मे पड़े व्यक्ति का कभी कल्याण नही हो सकता है। वह जलता ही रहेगा।

अलंकार—निदर्शना।

(१७)

चाँणक कौ अंग

जीव बिलंब्या जीव सौं, अलष न लखिया जाइ।
गोबिद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ॥१॥

शब्दार्थ—चॉणक = १ चाणक्य नीति। २ इसकी व्युत्पत्ति अचानक से भी मानी जा सकती है। अचानक स अज्ञानात् से व्युत्पन्न है। स आज्ञानात्। हि अचानक। चानक। चॉनक। बिलब्या = बिलमना। अलख = अलक्षित प्रभु। झल = (< स ज्वल) ज्वाला। तपन।

अर्थ—जीवात्मा दूसरी जीवात्मा या स्वय अपने मे बिलमी है। उलझी है। वह अलक्षित प्रभु के पास नही पहुँच पा रही है। उसे प्रभु के पास ही पहुँचना था। फलत उसकी विषय ज्वाला और बढ़ रही है। प्रभु मिले तो उसे शाति मिलेगी। चाहे कितनी भी कोशिश की जाय प्रभु के बिना शाति नही मिल सकती है।

इही उदर कै कारणै, जग जाँच्यौ निस जाम।
स्वामीं पणो जु सिर चढ्यौ, सर्या न एकौ काम॥२॥

शब्दार्थ—इही = इसी। जॉच्यौ = मॉगा। निसजाम = रात दिन। स्वामीपणो = अहकार। सर्या = सफल होना।

अर्थ—पेट के कारण सारे ससार के लोगो से दिन-रात याचना की मॉगता रहा। अपने आपको स्वामी समझने के कारण एक भी काम पूरा नही हुआ। न तो सासारिक तृप्ति हुई। न परम सत्ता का ही लाभ हुआ।

टिप्पणी—उदर निमित्तम् कृत बहु वेशम्। जाम (< स याम) का अर्थ है प्रहर। किंतु निस जाम मे रात-दिन वाला अर्थ उचित जान पड़ता है।

स्वामीं हूँणाँ सोहरा, दोद्धा हूँणाँ दास।
गाडर आँणीं ऊन कूँ, बाँधी चरै कपास॥३॥

शब्दार्थ—हूणॉ = होना। सोहरा = सुलभ। सरल। दोद्धा = कठिन। गाडर = भेड़। कूँ = को। के लिये।

अर्थ—स्वामी होना सरल है। दास होना कठिन है। जैसे कोई व्यक्ति ऊन के लिये भेड़ पाले। किंतु ऊन तो मिला नही उलटे भेड़ कपास की पौध भी चर जाय।

टिप्पणी—यह किसी महत साधु पर व्यग्य है। जिसने वैराग्य की साधना की। किंतु भगवत्प्राप्ति के स्थान पर मठ की सपत्ति का अधिकारी बन विषयासक्त हो गया। प्रभुप्राप्ति तो दूर रही। सन्यासी का सामान्य धर्म भी न अपना सका।

स्वाँमीं हूवा सीतका, पैकाकार पचास।
राम नाँम काँठै रह्या, करैं सिषाँ की आस॥४॥

शब्दार्थ—सीतका = सुखद। पैकाकार = खुदरा व्यापारी या पैरोकार। कॉठै = किनारा। सिर्षो = शिष्य।

अर्थ—स्वामी अर्थात् महत होना अत्यत सुखद है। क्योकि पचासो खुदरा व्यापारी अर्थात्

भक्ति का व्यापार करने वाले छोटे-छोटे शिष्य मिल जाते है। राम नाम तो दरकिनार हो जाता है और शिष्यो द्वारा प्राप्त दक्षिणा की आशा बढ़ जाती है।

कबीर तष्टा टोकणीं, लीए फिरै सुभाइ।
राम नाँम चीन्हैं नही, पीतलि ही कै चाइ॥५॥

शब्दार्थ—तष्टा = तसला। टोकनी = टोकना। एक वर्त्तन। सुभाइ = स्वभावत.। पीतलि = पैसा। चाइ = चाह। इच्छा।

अर्थ—सत कबीर सन्यासियो पर व्यंग्य करते कहते है कि जिन्हे करपात्री होना चाहिए वे तसला, टोकना आदि बर्त्तनो को स्वभावत. बेझिझक लिये घूमते है। राम नाम जानते भी नही हर समय पैसे की इच्छा करते है।

टिप्पणी—यह कविता उस समय की है जब पीतल के सिक्के चलते थे।

कलि का स्वाँमीं लोभिया, पीतलि धरी षटाइ।
राज दुबाराँ यौ फिरै, ज्यूँ हरिहाई गाइ॥६॥

शब्दार्थ—पीतलि धरी षटाइ = पीतल के बर्त्तन खट्टा रखने से खराब हो जाते है। हरिहाई = नटखट। बदमाश।

अर्थ—कलिकाल के महथ लोभी होते है। लोभ खटाई भक्ति के पीतलपात्र मे डालकर उसे भी खराब कर देते है। नटखट गाय के समान दरबारो मे फिरा करते है। भला संन्यासी को दरबार से क्या लाभ ?

अलंकार—उपमा।

कलि का स्वामीं लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
देहि पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करताँ जाइ॥७॥

अर्थ—कलिकाल के सन्यासी लोभी है। उनके मानस मे हर समय धन-दौलत आदि बढाते रहने की आशा रहती है। वे सूदखोर है। मूलधन तथा उसके ब्याज का लेखा रखते है।

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूँ आदर होइ॥८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि कलियुग खोटा है। बुरा है। इस युग मे कोई मुनि नही मिला। सभी लालची, लोभी और मसखरे मिलाते है। उन्ही का आदर भी होता है।

जो कह झूठ मसखरी जाना।
कल जुग सोइ गुनवन्त बखाना।—मानस।

चारिउ बेद पढ़ाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढैं खेत॥९॥

शब्दार्थ—बालि = बाल। अनाज के दाने।

अर्थ—चारो वेद पढ़ने से क्या हुआ यदि ईश्वर से प्रेम नही हुआ ? यह वैसा ही है जैसे खेत की उपज का सार भाग कोई ले भागे और पडित उसे शास्त्र के खेत मे ढूँढ़ते रहे। क्योंकि भगवत्प्रेम शास्त्रज्ञान से बाहर की चीज है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

टिप्पणी—गीता वेदो को त्रिगुणात्मक कहती है- त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।—२/४५

ब्राँह्मण गुरु जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउँ बेदाँ माहिं॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण सांसारिक जीवों का गुरु होता है। साधुओ का गुरु नहीं होता है। ब्राह्मण

चारो वेदो मे उलझ कर मर जाता है। उसे कभी मुक्ति नही मिलती है। क्योकि वेदाध्ययन भी भोग ही है।

टिप्पणी—शकराचार्य शास्त्रानुवर्तन को भी त्यागने को कहते है।—विवेक चूडामणि।

साषित सण का जेवड़ा, भीगाँ सूँ कठ्ठाइ।
दोइ अषिर गुरु बाहिरा, बाँध्या जमपुरि जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—साषित = शाक्त। जेवड़ा = रस्सी। कठ्ठाइ = कठोर होना। अषिर = अक्षर। बाहिरा = बिना।

अर्थ—शाक्त (भ्रष्ट आचारणवाला असाधु) सनकी रस्सी के समान है। विषयो मे भीग कर वह और भी कड़ा हो जाता है। उसके भीतर की नम्रता (प्रभुप्रेम) खत्म हो जाती है। गुरु द्वारा प्राप्त राम नाम के दो अक्षरो के बिना वह बँध कर यमपुर को जाता है।

पाड़ोसी सू रूसणाँ, तिल तिल सुख की हाँणि।
पंडित भए सरावगी, पाँणी पीवे छाँणि ॥१२॥

शब्दार्थ—सरावगी = श्रावक। जैन साधु।

अर्थ—आत्मा का पड़ोसी परमात्मा से विमुख होना छोटे से छोटे सुख की हानि है। पडितो का हाल जैन साधुओ जैसा हो गया है जो पानी तो छान कर पीते है किंतु शेष आचरण मे शुद्धता का ध्यान नही रखते है।

पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नाहिं।
औरूँ कौ परमोधताँ, गया मुहरकाँ माँहिं ॥१३॥

शब्दार्थ—भेद्या = भेदन होना। परमोधताँ = प्रबोधन करना। मुहरकाँ = (< अर० मुहर्रिक) अगुआई।

अर्थ—विद्या सपन्न व्यक्तियो को सतो की बाते समझ मे नही आती है। पडित को राम साधना का तत्त्व कितना भी समझाइए उसके भीतर कुछ धँसता ही नही। दूसरो का प्रबोधन करता है, शिक्षा देता है और स्वय मृत्युमुख मे जानेवालो की अगुआई करता है। अर्थात् सबसे पहले मरता है।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पँजर माँहिं।
फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझै नाहिं ॥१४॥

अर्थ—पढ़ने से चतुराई तो आ जाती है। जैसे सुग्गे को राम-राम बोलना आ जाता है। किंतु इससे उसके पिजड़े पर अर्थात् बदी जीवन पर कोई असर नही होता है। दूसरो को राम-राम रटने की शिक्षा देता है। किंतु स्वय अपने भीतर कुछ भी नही समझता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

रासि पराई राषताँ, खाया घर का खेत।
औरों कौ प्रमोधताँ, मुख मैं पड़िया रेत ॥१५॥

अर्थ—विद्वान् उस किसान के समान है जो दूसरे के खेत की रक्षा करते है। उनके घर का खेत जानवर खाते रहते है। अर्थ यह कि विद्वानो की विद्या उनकी अनुभूति या अत करण की न होकर दूसरो से उत्पन्न है। वे उसे प्राप्त कर केवल उसकी रखवाली करते है। उससे आत्मज्ञान का काम भी नही ले सकते है। दूसरो की विद्या द्वारा लोगो को ज्ञान भी देते है। किंतु स्वय उनके मुँह मे राख पड़ती है यानी यमराज के अधीन होते है। पराई और बाह्य विद्या उन्हे मृत्यु से नही बचा सकती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

तारा मंडल बैसि करि, चंद बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का, स्यूँ ताराँ छिपि जाइ ॥१६॥

अर्थ—ताराओ के बीच मे चद्रमा की प्रतिष्ठा होती है। किंतु सूर्योदय के वाद तारा सहित चद्रमा छिप जाता है। यही बात पडितो की है। पडित भी असाधको के बीच चमकता है। किंतु सच्चे ज्ञानी साधक को देखकर छिप जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

देषण के सबको भले, जिसे सीत के कोट।
रवि कै उदै न दीसही, बँधै न जल की पोट ॥१७॥

शब्दार्थ—जिसे = जैसे। सीत के कोट = ओस का किला। पोट = गॉठरी।

अर्थ—विद्वान और उनके आडवर वर्फ के किले के समान भड़कीले होते है। किंतु ज्ञानसूर्य वाले सत को देखते ही नष्ट हो जाते है। क्योकि जल की गॉठरी नही वॉधी जा सकती है।

अलंकार—उपमा।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूँघै पाँणी न्हाइ।
राँमहि राम जपंतडाँ, काल घसीट्याँ जाइ ॥१८॥

शब्दार्थ—डूँघै = गहरा।

अर्थ—लोग तीर्थों मे जाते है। गहरे तीर्थ जल मे स्नान करते है। राम-राम भी जपते है। किंतु फिर भी काल इन्हे घसीट ले जाता है। क्योकि इनका विश्वास राम नाम की अपेक्षा तीर्थो पर अधिक रहता है। ये राम नाम को द्वितीय स्थान देते है।

कासी काँठैं घर करैं, पीवै निर्मल नीर।
मुकति नही हरि नाँव बिन, यौं कहै दास कबीर ॥१९॥

अर्थ—काशी के किनारे काठ घर किया। गगा का निर्मल जल पीते है। किंतु भगवान् की भक्ति के बिना मुक्ति नही हो सकती है। यह दास कबीर कहते है।

कबीर इस संसार कौं, समझाऊँ कै बार।
पूँछ जू पकड़ै भेड़ की, उतर्या चाहै पार ॥२०॥

शब्दार्थ—भेड़ की पूँछ पकड़ना = गतानुगतिक होना। सासारिक भेड़ियाधसान मे शामिल होना।

अर्थ—सत कबीर इस ससार के लोगो को बार-बार समझाते हैं। किंतु कोई सुनना नही चाहता है। सभी लोग भेड़ियाधसान जैसे विषयो के पीछे भाग रहे है।

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रंम।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रंम ॥२१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि लोग फूले फिरते है अर्थात् अहंकार मे घूमते है कि मैं बड़ा भारी धर्म करता हूँ। किंतु धर्म के नाम पर वह कर्मो का बोझ सिर पर लादे रहता है। कभी अपने भ्रमो पर ध्यान नही देता है।

मोर तोर की जेवड़ी, बलि बंध्या संसार।
काँसिंकडूँबाँसुत कलित, दाझड़ बारंबार ॥२२॥

शब्दार्थ—जेवड़ी = रस्सी। वलि = बल पूर्वक। कॉसि = कॉस। कडूँबा = घास। कलित (सं कलत्र) = स्त्री। दाझड़ = जल्ना।

अर्थ—मेरा तेरा की रस्सी मे सारा ससार बॅधा है। किंतु स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्ब कास घास के समान है। जो बार-बार जलते है।

(१८)

करणीं बिना कथणीं कौ अंग

कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं नाँ ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूँ, देषतही ढहि जाइ॥१॥

शब्दार्थ—कालबूत = कच्चा ढाँचा जिसपर मेहराब बनाई जाती है।

अर्थ—आचरणरहित शास्त्र विचार व्यर्थ है। आचरण रहित विचार कालबूत या वह कच्चा ढाँचा है जो टिकाऊ नही होता है।

अलंकार—उदाहरण।

जैसी मुख तैं नीकसैं, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मै करै निहाल॥२॥

अर्थ—कर्म और वचन मे एकता रहनी चाहिए। जो बोले वही करे। इससे परब्रह्म का सामीप्य प्राप्त होता है। एक क्षण मे भी धन्य होने या सब कुछ पा जाने की स्थिति आ जाती है।

जैसी मुष ते नीकसैं, तैसी चालै नाहिं।
मानिष नही ते स्वान गति, बाँध्या जमपुर जाँहिं॥३॥

अर्थ—जैसा बोले वैसा कर्म न करे तो उस मनुष्य को कुत्ता समझना चाहिए। वह बँधकर यमपुर जाता है।

अलंकार—अपह्नुति।

पद गोएँ मन हरषियाँ , साषी कह्याँ अनंद।
सो तत नाँव न जाँणियाँ, गल मै पड़िया फंद॥४॥

शब्दार्थ—गोएँ = छिपाए। लगाए।

अर्थ—प्रभु चरणो मे मन लगाने से प्रसन्नता हुई। इसी आनद के साक्षी का कथन किया। जो उस तत्त्व का नाम नही जानते है उनके गले मे यम की रस्सी पड़ती है।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूँड।
जाँणै बूझै कुछ नही, यौ ही आँधाँ रूँड॥५॥

शब्दार्थ—तूँड = सिर। रूँड = धड़। बिना सिर का शरीर।

अर्थ—जो बिना भीतरी प्रेरणा के मुँह उठा-उठा कर कीर्तन करता है वह कुछ समझता नही। ऐसा अज्ञानी सिरविहीन शरीर के समान व्यर्थ प्रयास करता है। कीर्तन मे आत्मज्ञान आवश्यक है।

तुलनीय—

पडित ग्यानी षरतर बोलै सतिका सबद उछेदै।
काया के बलि करड़ा बोलै भीतरि तत्त न भेदै।—गोरख।

(१९)

कथणीं बिना करणीं कौ अंग

मै जान्यूँ पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग।
राँम नाँम सूँ प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग॥१॥

अर्थ—मैने समझा पढ़ना अच्छा है। किंतु पढ़ने की अपेक्षा मन का प्रभु प्रेम लगाना अधिक अच्छा है। राम नाम से प्रीति अच्छी चीज है। चाहे लोग कितनी ही निंदा क्यो न करे पढ़ने की अपेक्षा राम नाम से प्रीति अधिक अच्छी है।

कबिरा पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक दे बहाइ।
बाँवन आषिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ॥२॥

शब्दार्थ—ररै ममै = राम नाम।

अर्थ—पढ़ना छोड़ो। पुस्तके पानी मे बहा दो। पुस्तकी ज्ञान व्यर्थ है। बावन अक्षरो से उत्पन्न ज्ञान की अपेक्षा दो अक्षरो का राम नाम मन मे धारण करो। इसी से कल्याण होगा।

तुलनीय—

एक छत्रु एक मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के, बरन बिराजत रोउ।—मानस

कबीर पढ़िवा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार।
पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूँ करि करै पुकार॥३॥

शब्दार्थ—आथि = अस्त। नाश।

अर्थ—पुस्तके पढ़ना बेकार है। इससे नाश को नही रोका जा सकता है। पुस्तक पढ़नेवालो को आत्मज्ञान न होकर आत्मनाश होता है। इससे प्रभु प्रीति नही उपजती है। अगर पुस्तको के पढ़ने से प्रभु प्रेम होता तो कोई साधक वियोग व्याकुल होकर भगवान की पुकार क्यो करता ?

तुलनीय—षडित ग्यान भरौ क्या झूझि। औरै लेहु परमपद बूझि।—गोरख।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ॥४॥

अर्थ—ससार के सारे पडित पुस्तके पढ़-पढ़ कर मर गये। किंतु किसी को आत्मज्ञान नही हुआ। परब्रह्म के नाम का एक अक्षर भी पढ़ लिया तो असली पाडित्य आ गया।

(२०)

कामी नर कौ अंग

काँमणि काली नागणीं तीन्यूँ लोक मँझारि।
राम सनेही ऊबरे, विषई खाये झारि॥१॥

शब्दार्थ—झारि = ज्वाला।

अर्थ—कामिनी काली नागिन के समान तीनो लोकों मे फैली है। इससे राम भक्त ही छूट पाते है। विषयी लोग तो उसकी ज्वाला (कामाग्नि) मे जलते रहते है।

अलंकार—रूपक।

काँमणि मीनीं षाँणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ।
जे हरि चरणौं राचियौं, तिनके निकटि न जाइ॥२॥

शब्दार्थ—मीनी = मधुमक्खी। षाँणि = खान। राचियौं = अनुरक्त।

अर्थ—कामिनी मधुमक्खी की खान है। जो इसको छेड़ता है उसे काटती है। किंतु जो प्रभुचरणो मे अनुरक्त है उसके पास नही जाती है।

अलंकार—रूपक।

परनारी राता फिरै, चोरी बिढता खाँहिं।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जाँहिं ॥३॥

शब्दार्थ—राता = अनुरक्त। बिढता = कमाई। सरसा = आनद भरा।

अर्थ—पराई स्त्री मे अनुराग और चोरी की कमाई दोनो चार दिनो के आनद है। अत मे ऐसे व्यक्ति का नाश अवश्य होता है।

पर नारी पर सुंदरी, बिरला बंचै कोइ।
खाताँ मीठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ ॥४॥

अर्थ—परायी स्त्री के प्रति प्रेम से शायद कोई बचा हो। यह खाने मे (उपयोग) गुड़ जैसी है किंतु अत मे जहर बन जाती है।

अलंकार—उपमा।

पर नारी के राचणै, औगुण है गुण नाँहँ।
षार समंद मैं मंझला, केता बहि बहि जाँहँ ॥५॥

अर्थ—परायी स्त्री से प्रेम मे गुण एक भी नही, अवगुण बहुत से है। जैसे खारे समुद्र की मछली उस समुद्र मे सुख नही पाती है वैसे ही परनारी के विषय मे डूबा व्यक्ति ससारसागर मे व्यर्थ चक्कर लगाता है।

अलंकार—उपमा।

पर नारी कौ राचणौं, जिसी ल्हसण की षाँनि।
षूणैं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥६॥

शब्दार्थ—षाँनि = खाना। दिवानि = दीवानखाने मे। सार्वजनिक स्थान पर। षूणै = एकात।

अर्थ—परायी स्त्री से प्रेम छिपता नही है। यह लहसुन खाने की गध जैसी है। एकात मे भी लहसुन खाइए तो उसकी गध दूर-दूर तक जायगी।

अलंकार—उपमा।

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरै निहकाम ॥७॥

अर्थ—सकाम देह वाले स्त्री-पुरुष सभी नरक है। जो निष्काम भाव से भगवान् का स्मरण करते है वे ही राम के सच्चे भक्त है।

नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरे।
काँइ गमावे देह, कारिज कोई, नाँ सरै ॥८॥

अर्थ—स्त्री से प्रेम बुद्धि, विवेक आदि सबको नष्ट कर देता है। हे जीव, इससे केवल देह नष्ट होगी। कोई काम पूरा न होगा।

तुलनीय— **बुधि बल सत्य सील सब मीना।**
बंसी समतिय कहहि प्रबीना।—तलसी

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छाँड़ि पछताइगा, ह्वै है मूरति भंग ॥९॥

अर्थ—अनेक प्रकार के भोजनो मे स्वाद का सुख और स्त्री के साथ आनद इन्हे जल्दी छोड़ो। वरना पछताना होगा। शरीर नष्ट हो जायगा।

नारी नसावै तीनि सुख, जा नर पासै होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ ॥१०॥

अर्थ—स्त्री मे अनुरक्त मनुष्य की भक्ति, मुक्ति और ज्ञान तीनो समाप्त हो जाते है। ऐसा

व्यक्ति तीन मे किसी मे भी प्रवेश नही पा सकता है।

एक कनक अरु काँमनी, बिष फल कीएउ पाइ।
देखै ही थै विष चढ़ै, खाँयै सूँ मरि जाइ॥११॥

अर्थ—सोने और स्त्री को विष का फल समझो। इन्हे देखने से विष चढ़ता है। खाने से मृत्यु होती है।

टिप्पणी—यहाँ कनक का अर्थ धतूरा भी होने से कनक मे श्लेष है। इसी से मिलता दोहा बिहारी का है—

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वाखाये बौराय नर या पाये बौराय।

एक कनक अरु काँमनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखें ही तन प्रजले, परस्याँ है पैमाल॥१२॥

अर्थ—सोना और स्त्री आग की ज्वाला है। इन्हे देखते ही कामाग्नि जलती है। छूने पर तो नाश ही हो जाता है।

अलंकार—रूपक, व्यतिरेक।

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत।
केते अजहूँ जायसी, नरकि हसंत हसंत॥१३॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि स्त्री की प्रीति ने कितनो को बर्बाद कर दिया। आज भी कितने हँसते-हँसते नरक जायेगे।

टिप्पणी—कबीर साहब हँसने मे नही रोने मे विश्वास करते है- कबीर हँसना दूरिकर रोवण सो कर प्रीति।

जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहें, निकटि रहै तें नीच॥१४॥

अर्थ—स्त्री ससार मे जूठन के समान है। भले बुरे का फर्क इसी से होता है। उत्तम या भले लोग इससे अलग रहते है। किंतु नीच पुरुष इसके निकट रहते है।

अलंकार—रूपक।

नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरै, सब जग मूँवा लाग॥१५॥

शब्दार्थ—थभै = टोकना। बाग (स वल्गा) = लगाम। लाग = प्रेम कर। लगकर।

अर्थ—स्त्री नरक कुड है। इस नरक कुड मे लोग काम-अश्व को दौड़ाकर कूदते है। शायद कोई हो जिसने कामअश्व की लगाम पर काबू रखा हो। सभी लोग तो इस कुंड मे डूबकर मर गए। केवल भक्त इससे उबर सका है।

अलंकार—रूपक।

सुंदरि थै सूली भली, बिरला बंचै कोय।
लोह निहाला अगनि मै, जलि बलि कोइला होय॥१६॥

अर्थ—स्त्री को स्वीकार करने की अपेक्षा फाँसी पर चढ़ना अधिक अच्छा है। किंतु शायद कोई हो जो स्त्री से बचा हो। जैसे आग मे डाला लोहा जलकर कोयला हो जाता है। उसी प्रकार स्त्री वासना की आग मनुष्य को नष्ट कर देती है।

अलंकार—निदर्शना।

भगति बिगाड़ी काँमियाँ, इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि॥१८॥

अर्थ—कामी लोगो ने इद्रियो के स्वाद के कारण अपनी भक्ति बिगाड़ ली। भक्ति जैसे हीरे को खोकर नर जन्म को व्यर्थ बना लिया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कामी अमीं न भावई, विषई कौ ले सोधि।
कुबधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहो प्रमोधि॥१९॥

शब्दार्थ—अमी=अमृत। सोधि = खोजकर। स्यभ = स्वय। भावै = चाहे। प्रमोधि = प्रबोधन करना।

अर्थ—विषयी व्यक्ति को प्रभुप्रेम अच्छा नही लगता है। वह विषय की ही खोज करता रहता है। चाहे स्वय परमात्मा ही उसका प्रबोधन क्यो न करे किंतु उसकी दुर्बुद्धि नही जाती है। दुर्बुद्धि तो तब जायगी जब विषयो का साथ छोड़ दे। विषयो के सग से तो नाश अवश्यभावी है।

टिप्पणी—गीता की दृष्टि मे विषय सग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से समोह, समोह से स्मृति भ्रश, स्मृति भ्रश से बुद्धि नाश, बुद्धि नाश से पूर्ण नाश होता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

विषै विलंबी आत्माँ, ताका मजकण खाया सोधि।
ग्याँन अंकूर न ऊगई, भावै निज प्रमोधि॥२०॥

शब्दार्थ—मजकण१ (स मध्य कण) = सार भाग। २ (स मत्कुण) = खटमल।

अर्थ—जो आत्मा विषयो मे बिलमी है उसके सार भाग का नाश हो जाता है या विषय खटमल उसे चाट कर नाश कर देते है। ऐसे नष्ट व्यक्ति पर भगवान् के उपदेश का भी प्रभाव नही होगा।

अलंकार—रूपक।

विषै कर्म की कंचुली पहरि हुआ नर नाग।
सिर फोड़ै सूझै नही, को आगिला अभाग॥२१॥

शब्दार्थ— विषै = विषय-वासना। कचुली = केचुल। आगिला = पूर्व जन्म का।

अर्थ—विषयवासना युक्त कर्म की केंचुल पहन कर मनुष्य अधानाग (सर्प) बन गया। अब उस विषयाध को मुक्तिमार्ग नही दिखाई पड़ता है। चाहे कितना ही सिर पटके। यह सब पूर्व जन्म कृत पामो का परिणाम भी है।

अलंकार—सागरूपक।

कामी कदे न हरि भजै, जपै न कैसौ जाप।
राँम कह्याँ थै जलि मरै, को पूरिबला पाप॥२२॥

अर्थ—कामी पुरुष कभी हरि को नही भजता है। केशव की आराधना नही करता है। राम कहने मे जल मरता है। यह सब पूर्व जन्म के पाप से होता है।

काँमी लज्जा ना करैं, मन माँहै अहिलाद।
नीद न माँगै साँथरा, भूष न माँगै स्वाद॥२३॥

शब्दार्थ—अहिलाद = अह्लाद। साँथरा = रूखा बिछावन।

अर्थ—कामी को लज्जा नहीं होती है। वह मन मे आह्लादित रहता है। जैसे नीदवाला व्यक्ति रूखे बिछावन और भूखा स्वाद पर ध्यान नही देता है।

अलंकार—दृष्टात।

नारि पराई आपणीं भुगत्या नरकहि जाइ।
आगि आगि सबरौ कहै, तामै हाथ न बाहि॥२४॥

अर्थ—स्त्री चाहे अपनी हो या परायी। इनके अनावश्यक सेवन से नरक भोग होता है। काम का भी सम्यक् सेवन स्वीकृत है। सभी आग एक है। किंतु सीमित मे ही हाथ डालना चाहिए। अधिक आग हाथ क्या पूरे गॉव को जला देती है।

टिप्पणी—कालिदास ने रघुवश मे कहा है कि रधुवशी केवल सतानोत्पत्ति के लिये विषयो का सेवन करते है।

अलंकार—दृष्टात।

कबीर कहता जात हौं चेतै नहीं गाँवार।
वैरागी गिरही कहा, काँमी वार न पार॥२५॥

अर्थ—सत कबीर कहते जाते है किंतु विषय मे डूबे मूर्ख नही सुनते है। विरागी साधु हो या गृहस्थ अगर वह कामी है तो उसका उद्धार (वारपार) नही होगा।

ग्याँनी तो नींडर भया, मॉनै नाँही संक।
इंद्री केरे बसि पड़्या, भूँचे बिषै निसंक॥२६॥

शब्दार्थ—भूँचे = भोगना।

अर्थ—ज्ञानी का पतन हो गया। वह इद्रियो के वश मे हो गया। अब नि शक होकर विषय भोग करता है।

टिप्पणी—ज्ञान के पतन का कारण भक्ति या प्रपन्न स्थिति का अभाव है।

ग्याँनी मूल गँवाइया, आपण भये करंता।
ताथै संसारी भला, मन मै रहै डरंता॥२७॥

अर्थ—ज्ञानी का आत्मसमर्पण नही हो पाया। वह अपने को ही कर्त्ता मान रहा है। इससे तो ससारी लोग अच्छे है जिनके मन मे हर समय भगवान् का डर बना रहता है।

टिप्पणी—अहकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते।—गीता

(२१)

सहज कौ अंग

सहज सहज सबकौ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै विषिया तजी, सहज कहीजे सोइ॥१॥

अर्थ—यह सहजिया सप्रदाय के लोगो पर व्यग्य है। सभी लोग सहज-सहज की बात करते है। किंतु किसी को सहज की पहचान नही है। जिन्होने सहज ही विषय को छोड़ दिया उन्हे ही सहज साधक कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश।

सहज सहज सबकौ कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
पाँचू राखै परसती, सहज कहीजे सोइ॥२॥

अर्थ—सहज कथन मात्र से सहज की पहचान नही होती है। जो विषयो का स्पर्श करके भी इद्रियो को वश मे रखता है उसे ही सहज कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश।

सहजै सहजै सब गए, सुत बित कामणि काम।
एकमेक है मिलि रह्या, दास कबीरा राम॥३॥

अर्थ—साधक ने धीरे-धीरे पुत्र, स्त्री और धन की आसक्ति छोड़ दी। फलत वह राम से

एकाकार हो गया।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश।

सहज सहज सबको कहे, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कही जै सोइ॥४॥

अर्थ—सहज की बात सभी करते है किंतु सहज को कोई भी पहचानता नही है। जिस सहज साधना से प्रभु की प्राप्ति होती है उसे ही सहज कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश।

(२२)

साँच कौ अंग

कबीर पूँजी साह की, तूँ जिनि खोवै ष्वार।
खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार॥१॥

शब्दार्थ—ष्वार = ख्वार। खराब। बिगूचनि = असमजस।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यह मानव जीवन प्रभु की सपत्ति है। किसी जीव को इसे खराब करने का अधिकार नही है। जब प्रभु सासारिक यात्रा का लेखा-जोखा माँगने लगेगा तो खराब कर्मो द्वारा भगवत्सपत्ति के नाश के बारे मे क्या बताओगे ?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

लेखा देणाँ सोहरा, जे दिल साँचा होइ।
उस चंगे दीवाँन मैं, पला न पकड़ै कोइ॥२॥

शब्दार्थ—सोहरा = सरल। चगे दीवॉन = पवित्र दरबार। पला = पल्लू। दामन।

अर्थ—जिसका दिल सच्चा है उसके लिये भगवान् के सामने जीवन का लेखा-जोखा सरल है। जिसके दामन मे विषय दाग नही है उसका उस प्रभु के पवित्र दरबार मे कोई दामन नही पकड़ सकता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर चित्त चमकिया, किया पयाना दूरि।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि॥३॥

शब्दार्थ— चमकिया = चौंका। पयाना = प्रयाण। काइथि = चित्रगुप्त।

अर्थ—जीव ने दूर प्रयाण किया। वहाँ चित्रगुप्त उसके कर्मो का लेख-जोखा लेने लगे। जीव यह देखकर चौंक उठा कि यमराज के दरबार मे सारे कागज उसके विरूद्ध भरे हैं। क्योकि उसने जीवन मे कोई अच्छा काम नही किया है।

काइथि कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार।
जब लग साँस सरीर मै, तब लग राम सँभार॥४॥

अर्थ—ऐ जीव, जब तक शरीर मे सॉस है तब तक राम की कृपा को सँभालकर रखो। क्योकि रामकृपा के बिना चित्रगुप्त के कागज मे तुम्हारा कुछ भी ठिकाना न रहेगा। क्योकि तुमने जीवन मे कोई अच्छा काम नही किया है।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढ़ि काजी करै अकाज॥५॥

अर्थ—दिन मे पॉच बार नमाज और बदगी (प्रार्थना) ये सब झूठ है यदि तू सत्य का

आचरण न कर सत्य की हत्या करता है और झूठ पढ़ता है। आत्मज्ञान से ही कार्य होगा। काजी के ज्ञान से कार्य बिगड़ने की आशा है।

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साचा होइ ॥६॥

अर्थ—संत कबीर कहते है कि काजी स्वादवश जीव हत्या करता है। स्वाद भ्रम के कारण उसे 'जीवो ब्रह्मैव ना पर' का ज्ञान न होकर उलटे जीव और ब्रह्म के द्वैत का बोध होता है। वही काजी मस्जिदो मे 'लाइलाह इल्लिल्लाह' के द्वारा एकेश्वरवाद की घोषणा करता है। इस द्वैत मतिवाला काजी ईश्वर के दरबार मे किस सत्य को प्रमाणित करेगा ?

काजी मुलाँ भ्रमियाँ, चल्या दुनीं कै साथि।
दिल थै दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि ॥७॥

अर्थ—काजी और मुल्ला दोनो भ्रम मे पड़कर अज्ञानाश्रित सासारिक लोगो के साथ चलते है। दिल मे रहनेवाले धर्म(दीन) को भूले रहते हैं। विशेषत जब हलाल करने के लिये छुरी (करद) उनके हाथ मे होती है। छुरी उन्हे अपने दीन से डिगा देती है।

जोरी करि जिबै करै, कहते है ज हलाल।
जब दफतर देखैगा दई, तब हैगा कौण हवाल ॥८॥

अर्थ—जोर देकर जिबह करता है। उसे हलाल कहता है। किंतु ईश्वर के कार्यालय मे तेरी क्या दशा होगी ? क्या जवाब देगा ? क्योकि जिसे तू हलाल कहता है वह पूर्णत हिंसा है। जीव वध है।

जोरी कीयाँ जुलम है, माँगे न्याव खुदाइ।
खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहि खाइ ॥९॥

शब्दार्थ—खालिक = ईश्वर। खूनी = हत्यारा।

अर्थ—खूब जुल्म किया। अब ईश्वर के दरबार मे खड़ा होकर न्याय माँगता है ? इस हत्यारे का न्याय यही है कि यह बार-बार मुँह मे मार खाए।

साईं सेती चोरियाँ, चोराँ सेती गुझ।
जाँणेगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ ॥१०॥

शब्दार्थ—गुझ = घनिष्ठता। मित्रता।

अर्थ—भगवान् के साथ चोरी और चोरो से मित्रता यह ठीक नही है। हे जीव। इस, कार्य का फल तभी मालूम होगा जब तुझ पर यमदड का प्रहार होगा।

सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौ कहाँ खुदाइ ॥११॥

शब्दार्थ—सेष = शेख। सबूरी = सतोष। स्यावति = पूर्ण। सच्चा।

अर्थ—ऐ शेख, संतोष तो तुम्हारे भीतर है नहीं। फिर काबे मे हज को जाने से फायदा क्या है ? दिल द्वैत रहित पूर्ण नही है तो उस व्यक्ति को खुदा नहीं मिल सकता है।

खूब खाँड है खीचड़ी, माँहि पड़ै टुक लूँण।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौण ॥१२॥

अर्थ—स्वाद का चक्कर मनुष्य को बर्बाद कर देता है। खीचड़ी खाँड के समान मीठी है यदि उसमें थोड़ा नमक पड़ जाय। पेड़ा-रोटी खाकर कौन है जो गला कटावेगा ? अर्थात् सादा भोजन मुक्ति देता है। वैभववाला भोजन बधन बन जाता है।

पापी पूजा बैसि करि, भषै माँस मद दोइ।
तिनकी दष्या मुकित नही, कोटि नरक फल होइ ॥१३॥

अर्थ—पापी लोग(यहॉ शाक्त) पूजा मे बैठकर भी मॉस, मदिरा आदि खाते पीते है। उन्हे कभी मुक्ति नही मिल सकती है। वे करोड़ो बार नरक मे पड़ते है।

सकल बरण इकत्र है, सकति पूजि मिलि खाँहि।
हरि दासनि की भ्रांति करि केवल जमपुरि जाँहि ॥१४॥

अर्थ—सामान्यत वर्णव्यवस्था मे लोग अलग-अलग खाते पीते है। कितु शक्ति आराधना के नाम पर मॉस, मदिरा आदि का सेवन भेदभाव रहित होकर करते है। भगवान् की भक्ति का भ्रम फैलाकर ये लोग सीधे यमपुर जाते है।

कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नाँही साच।
जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़े काच ॥१५॥

अर्थ—बहुत नकली भक्त सच्चे मन से स्मरण न कर लोकलज्जा वश भगवान का स्मरण करते है। ऐसे लोग जान बूझकर सोने जैसी प्रभु भक्ति को छोड़ तत्त्वहीन काठ और शीशे को पकड़ते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर जिनि जिनि जाँणियाँ, करता केवल सार।
सो प्राणी काहे चलै, झूठे जग की लार ॥१६॥

शब्दार्थ—लार = लाड़। प्यार। प्रेम।

अर्थ—जो लोग जानते है कि सृष्टिकर्त्ता प्रभु ही सार तत्त्व है। वे ससार के झूठे प्रेम के पीछे क्यो दौड़ेगे ?

झूठे कौ झूठा मिलै, दूणाँ बधै सनेह।
झूठे कूँ साचा मिलै, तब ही तूटै नेह ॥१७॥

अर्थ—दो असत्य मे प्रेम होता है। दो सत्य मे प्रेम होता है। सासारिक प्रेम दो झूठो, नाशवानो के बीच है। इसलिये दोनो स्नेह के बधन मे बॅधते है। जब झूठे (नाशवान्) व्यक्ति को सत्य परमात्मा मिलते है तब ससार के प्रति उसका मोह भग होता है।

(२३)

भ्रम बिधौंसण कौ अंग

पांहण केरा पूतला, करि पूजै करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार ॥१॥

शब्दार्थ—बिधौसण = विध्वस। पाहन = पत्थर। पूतला = मूर्ति। कालीधार = भवनदी की भयानक धारा।

अर्थ—लोग पत्थर की मूर्ति बनाकर पूजते है। प्रस्तरमूर्ति को कर्त्ता मानकर जो उसके भरोसे रहते है वे भवनदी की भयानक धारा मे डूब जाते है। उन्हे कभी मुक्ति नही मिल सकती है।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट।
पाहनि बोई पृथमी, पंडित पाड़ी बाट ॥ २॥

शब्दार्थ—मसि = स्याही। कपाट = किबाड़। बोई = फैलाई। पृथमी = पृथ्वी। बाट पाड़ी (मु) नष्ट कर डाला।

अर्थ—यह ससार काजल की कोठरी के समान है। इसमे आनेवाले को कर्मवासना का दाग अवश्य लगता है। इसमे कर्म रूपी मसि का किबाड़ लगा है। मसि कर्म का अंर्थ है फलाकाक्षी

कर्म। सारे ससार मे पत्थर बिछा है। पडितो ने इसका रास्ता और भी खराब कर दिया है।

पाहिन कूँका पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आँधा नर आसामुषी, यौही खोवै आब ॥३॥

शब्दार्थ—जाब = जबाव। आसामुखी = आशामुखी। आब = मर्यादा। ऑधा = अधा।

अर्थ—पत्थर को क्यो पूजते हो ? यह पत्थर जन्म भर कभी तुम्हारे किसी प्रश्न का उत्तर नही देता है। आशा करनेवाला व्यक्ति अधा है। वह इसी प्रकार आशा मे निस्तत्त्व की पूजा करता है और अपनी प्रतिष्ठा समाप्त करता रहता है।

हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुर की कृपा भई, डारया सिर थैं बोझ ॥४॥

शब्दार्थ—रन = अरण्य। रोझ =जानवर। नील गाय।

अर्थ—सद्गुरु की कृपा से मेरे सिर से अज्ञान का बोझ उतर गया है। उनकी कृपा न होती तो हम भी पत्थर की पूजा करते और जगल के जानवर होकर इधर-उधर भटकते रहते।

जेती देषौ आत्मा, तेता सालिगरांम।
साधू प्रतषि देव हैं, नही पाथर सूकांम ॥५॥

अर्थ—जितनी आत्माओ (व्यक्तियो) को देखता हूँ सभी शालग्राम विष्णु जैसे पवित्र है। साधु प्रत्यक्ष-देवता है। जो इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा करता है उसे किसी पत्थर को पूजने की जरूरत नहीं है।

सेवै सालिगराम कूँ, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनैं नही, दिन दिन अधकी लाइ ॥६॥

अर्थ—जो लोग शालग्राम विष्णु की पूजा करते है कितु मन मे भ्रम बना रहता है उनको स्वप्न मे भी सुख-शाति नही मिलती है। उलटे दुख की आग (लाइ) बढ़ती जाती है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

सेवैं सालिगराम कूँ, माया सेती हेत।
वोढ़े काला कापड़ा, नाँव धरावैं सेत ॥७॥

अर्थ—शालग्राम की पूजा करते है और प्रेम माया से है। नाम के लिये श्वेत वस्त्र पहनते है या सत्य का आचरण करते है। कितु भीतर से काले है। असत्य आचरण वाले है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैवल सेविया, यौ जग चल्या निरास ॥८॥

शब्दार्थ—दीसै = दीखना। थोथरा = थोथा। वेसास = धोखा। सूवै = शुक पक्षी। सुग्गा। सैवल = सेमल।

अर्थ—जप और तपस्या थोथे है। तीर्थ धोखा है। ये वैसे ही है जैसे सुग्गा सेमल फूल की प्राप्ति की आशा मे रहता है कितु फ़टने पर उससे निस्तत्त्व रुई निकलती है। वह निराश हो जाता है। जप, तप, तीर्थो आदि से किसी आशा की पूर्ति नही होती है।

अलंकार—उदाहरण, भ्रातिमान्।

तीरथ त सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया, कोण हलाहल खाइ ॥९॥

अर्थ—सारे तीर्थ वल्लरी (लता) है। यह लता सारे ससार पर छाई है। इस लता मे केवल जहर फलता है। इसलिये सत कबीर ने इसकी जड़ उखाड़ दी। तीर्थों आदि को छोड़ सीधे प्रभु शरण मे पहुँच गये है।

अलंकार—रूपक।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाँणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा, तामै जोति पिछाँणि ॥१०॥

अर्थ—मन को मथुरा, दिल को द्वारका, शरीर को काशी जानो। वहाँ जाने की जरूरत नही। सब तुम्हारे शरीर मे ही है। दस द्वारो वाले देह मदिर मे प्रभु का निवास है। भीतर ही उस प्रभु ज्योति को पहचानो।

अलंकार—रूपक।

कबीर दुनियाँ देहुरै, सीस नवाँवण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तूँ ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि लोग व्यर्थ मदिरो मे जाकर सिर झुकाते है। भगवान् तो हृदय मे ही निवास करते है। हे मन, तुम उसी हृदयस्थ पुरुष से लग जाओ।

तुलनीय—ईश्वर सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।-गीता।

(२४)

भेष कौ अंग

कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल।
पग तौ पाला मै गिल्या, भाजण लागी सूल ॥१॥

अर्थ—हाथ मे राम नाम जप की माला जपता है और हृदय मे लोभ, मोह, कामादि का बवंडर बहता है। पैर तो बर्फ मे गल रहा है। भागना चाहता है तो शूल चुभता है।

कर पकरै अँगुरी गिनै, मन धावै चहुँ वोर।
जाहि फिराँयाँ हरि मिलै, सौ भया काठ की ठोर ॥२॥

अर्थ—हाथ की उँगलियो से माला के दाने गिनता है और मन विषयो मे चारो ओर दौड़ता है। जिस मन को विषयो से लौटाना चाहिए वह तो काठ स्थानी हो गया है अर्थात् वह प्रभु रस प्रभावित न होकर विषयो मे जम गया है।

माला पहरै मनमुषी, तार्थे कछू न होइ।
मन माला कौ फेरताँ, जुग उजियारा सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—मनमुषी = मन की ओर उन्मुख।

अर्थ—जो जप मन की ओर उन्मुख है। मन विषयो मे उन्मुख है उससे कुछ नही होगा। मनरूपी माला को विषयो से हटाकर प्रभु-प्रेम मे फेरा जाय तो पूरा युग प्रकाशित हो जायगा। युग का अर्थ दोनो लोक इह और पर ले तो दोनो लोको मे कल्याण होगा।

माला पहरै मनमुषी, बहुतै फिरै अचेत।
गाँगी रोलै बहि गया, हरि सूँ नाँही हेत ॥४॥

अर्थ—मन की ओर उन्मुख माला पहने बहुत से लोग अज्ञान मे घूमते है। ऐसे लोगो मे प्रभुप्रेम नही होता है। वे गगा की धारा मे बह जाते है। गगा की धारा मे बहने का अर्थ है प्रवाह पतित होना या मृत्यु को प्राप्त होना (गगालाभ)।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणो, कहा फिरावै मोहि ॥५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि काठ की माला तुमसे कहती है कि मन को विषयो से

लौटाकर प्रभु प्रेम मे घुमाओ। निरर्थक माला घुमाने से कोई फायदा नही है।

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहर्‌याँ हरि मिलै, तो अरहट के गलि देष॥६॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सच्ची माला तो मन वदलना है। मन वदले बिना माला जप ससारी वेश हो जाता है। माला पहनने मात्र से हरि मिले तो रहट की माला को देखो। उसे सबसे पहले मुक्ति मिल जाय।

टिप्पणी—रहट मे बहुत सी बाल्टियॉ मालाकार मे लगी रहती है।

माला पहर्‌याँ कुछ नहीं, रूल्य मुवा इहि भारि।
बाहरि ढोल्या हीगलू भीतरि भरी भँगारि॥७॥

शब्दार्थ—रूल्य = दबकर। ढोल्या = वहन किया। हीगलू = ईगुर। लाल रग। भगारि = कूड़ा।

अर्थ—माला पहनी किंतु मन शुद्ध नही है, तो ऐसी माला केवल दवाने वाली (वोझ) वन जाती है। वाहर लाल वस्त्र पहना और भीतर(मन मे) वासनाओ का कूड़ा भरा है। इस तरह के वाह्याडबर से कोई लाभ नही होता है।

माला पहर्‌याँ कुछ नही, काती मन कै साथि।
जब लग हरि प्रगटै नही, तब लग पड़ता हाथि॥८॥

अर्थ—माला तो शुद्ध आचरण ओर मन का प्रतीक है। किंतु मन मे तो छल की छुरी भरी है। ऐसी माला पहनने से क्या लाभ है ? जव तक हरि हृदय मे प्रकट नही होते तव तक हाथ घुमाना व्यर्थ ही समझना चाहिए।

माला पहर्‌याँ कुछ नही, गाँठि हिरदा की खोइ।
हरि चरनूँ चित्त राखिये, तौ अमरापुर होइ॥९॥

अर्थ—माला पहनने से कुछ नही होगा। हृदय मे पड़ी वासना की ग्रथि खोलो। भगवान् के चरणो मे चित्त लगाओ तो प्रभुधाम की प्राप्ति होगी।

माला पहर्‌या कुछ नही, भगति न आई साथि।
माथौ मूँछ मुँडाइ करि, चल्या जगत कै साथि॥१०॥

अर्थ—केवल माला पहन लेने से भक्ति नही मिलती है। सिर और मूँछ मुड़ाकर अगर ससारी प्राणियो जैसा ही आचरण किया तो फिर सन्यासी का वेश बनाने से क्या फायदा हुआ ?

साँई सेती साँच चलि, औराँ सूँ सुध भाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ॥११॥

अर्थ—अरे भाई, प्रभु के प्रति सच्चे बनो। दूसरे लोगो के साथ सिधाई का व्यवहार करो। अब चाहे लबे बाल रखो या पूरा मुडन करा दो। वाह्य भूषा से कोई फर्क नही पड़ता है।

केसौ कहा बिगाड़िया, जे मूँडे सौ बार।
मन कौ काहे न मूँड़िए, जामै विषै बिकार॥१२॥

अर्थ—वालो ने क्या विगाड़ा है जो उन्हे बार-बार मूड़ते हो ? वाल मूड़ने की अपेक्षा मन का सस्कार करना चाहिए। क्योकि विषय विकार बालो मे नही, मन मे रहते है। अत मन को शुद्ध करना चाहिए। अविकृत ही भगवान् को पाता है।

मन मैवासी मूँड़ि ले, केसौ मूँड़े काँइ।
जे कुछ किया सु मन किया, केसौ कीया नाँहि॥१३॥

शब्दार्थ—मैवासी = किले का नायक। कॉइ = क्यो।

अर्थ—मन ही बधन और मोक्ष का कारण है। अत मनरूपी गढ़नायक को ठीक करो। बालो को मूड़ने से क्या फायदा है ? बाल तो कुछ नही करते। जो कुछ भी करता है वह मन करता है।

मूँड़ मुँड़ावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम।
राम नाम कहु क्या करैं, जे मन के औरे काम ॥१४॥

अर्थ—सिर मुड़वाते-मुड़वाते जाने कितने दिन बीत गए। किंतु राम आज भी नही मिले। जब तक मन मे कामभाव बना है तब तक राम नाम से क्या होने वाला है ?

स्वाँग पहरि सोरहा भया, खाया पीया खूँदि।
जिहि सेरी साधु नीकले, सो तौ मेल्ही मूँद ॥१५॥

अर्थ—नाना प्रकार के स्वाँग बनाये। खूब कूद-कूदकर खाया पीया। किंतु जिस रास्ते से साधु-सत गमन करते है उस रास्ते को तो बद कर दिया है। कौन है वह रास्ता ? भगवत्प्रेम का रास्ता।

टिप्पणी—सोरहा का सबध सोलह श्रृगार से भी हो सकता है। सोलह का सोरह होना आसान है। १६ श्रृगार स्त्रियो के होते हैं। कभी उसका प्रयोग पुरुष के सदर्भ मे होता होगा। किसी सज्जन ने सोहदा पाठ कर दिया।

बैसनो भया तौ का भया, बूझा नहीं बिबेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥१६॥

अर्थ—वैष्णव होने मात्र से क्या हुआ विवेक तो आया नही? बिना विवेक के छापा तिलक लगाकर सन्यासी का वेश बनाया। किंतु अनेक लोको मे जलते-जलाते रहे। कही शाति नही मिली।

तन कौ जोगी सब करैं, मन कौं बिरला कोइ।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥१७॥

अर्थ—तन को योगी करने का अर्थ है तन को सन्यासी वेश मे सजाना। सभी लोग तन को सजाते है। आठो सिद्धियाँ सहज मिलती है यदि कोई व्यक्ति मन को योगी बनाता है।

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबहीं माँहि अलेष ॥१८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सभी जीव भीतर से एक है। भेद का कारण बाहरी वेश का पर्दा है। भ्रमात्मक कर्म को दूर करो। सब के भीतर उस अलक्षित परमात्मा का दर्शन होगा।

भरम न भागा जीव का, अनतहि धरिया भेष।
सतगुर परचे बाहिरा, अंतरि रह्या अलेष ॥१९॥

अर्थ—हृदयगत जीव ने नाना योनिवश तथा मनुष्य जीवन मे अनेक वेश धारण किये। किंतु मन का भ्रम नही भागा। जब तक वह सद्गुरु के ज्ञान से बाहर था तब तक हृदय स्थित प्रभु नही दीख रहा था। अब गुरुकृपा से वह प्रभु दीखता है।

जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज।
तन बिनसे कुल बिनसिहै, गह्या न राम जिहाज ॥२०॥

शब्दार्थ—जहदम = (< फा जहन्नुम) नरक।

अर्थ—संसाररूपी नरक की रचना हुई है। यहाँ जीव कुल की झूठी लज्जा मे पड़कर प्रभु विमुख हो रहा है। किंतु कुल तो शरीर सा बाहरी और नाशवान् है। हे जीव, नाश से बचना चाहते हो तो राम जहाज की शरण गहो।

पष ले बूड़ी पृथमी, झूठी कुल की लार।

अलष बिसार्‍यौ भेष मै, बूड़े काली धार ॥२१॥

अर्थ—सारे ससार के लोग कुल के झूठे प्रेम और पक्षपात मे डूब गये। नाना प्रकार का वेश बनाकर उस अलक्षित को भूल गये। फलत वासना की काली धारा में डूब गए।

चतुराई हरि ना मिले, ए बाताँ की बात।
एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ ॥२२॥

अर्थ—बौद्धिक व्यायाम तथा चतुराई से ईश्वर की प्राप्ति नही होती है। नि स्पृह, निराधार व्यक्ति यदि शरण मे जाय तो भगवान् गोपीनाथ उसे ग्रहण कहते है।

टिप्पणी—गोपीनाथ कहने का अर्थ है गोपियो की तरह सरलता और समर्पण होना चाहिए।

नवसत साजे काँमनी, तन मन रही सँजोइ।
पीव कै मन भावे नहीं, पटम कीये क्या होइ ॥२३॥

अर्थ—स्त्री ने १६ शृगार किये। तन-मन को सजाया। फिर भी प्रिय उसे पसद नही करता है तो ऐसी सजावट से क्या फायदा ? यही स्थिति जीव की है। जीव के कार्यो को अगर प्रभु पसद नही करता है सारी साधना व्यर्थ है। मतलब कि प्रभु को प्रसन्न करनेवाली अत साधना करनी चाहिए।

अलंकार—अन्योक्ति।

जब लग पीव परचा नही, कन्याँ कँवारी जाँणि।
हथलेवा होसै लिया, मुसकल पड़ी पिछाँणि ॥२४॥

अर्थ—साधक कुमारी कन्या के समान है। जब तक प्रभु-प्रिय से पूर्ण परिचय नही हो जाता है तब तक कुछ होनेवाला नही है। पाणिग्रहण (हथलेवा) तो उत्साहपूर्वक किया। स्पष्ट जान-पहचान कठिन है। असली परिचय तो पूर्ण समर्पण के बाद ही प्राप्त होगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर हरि की भगति का, मन मै परा उल्हास।
मैवासा भाजे नही, हूँण मते निज दास ॥२५॥

शब्दार्थ—उल्हास = उल्लास। मैवासा = किला। भाजै = भजन। हूँण = होना।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि प्रभुभक्ति का उल्लास मन मे छाया है। किंतु बिना पूर्ण समर्पण या दास भाव के वासना का किला नही टूट सकता है। जब तक मन मे रहनेवाले अहकार का नाश न हो जायगा तब तक दास होना कठिन है।

मैवासा मोई किया, दुरिजन काढ़े दूरि।
राज पियारे राम का, नगर बस्या भरिपूरि ॥२६॥

अर्थ—मनरूपी गढ से वासना के दुर्जनो को बाहर करो। यह राज्य राम का है। इस नगर मे राम ही पूर्णत बसते है। यहाँ वासना के लिये स्थान नही है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(२५)

कुसंगति कौ अंग

निरमल बूँद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार।
मूल विनंठा माँनवी, बिन संगति भठछार ॥१॥

अर्थ—परमात्मा का अश होने के कारण यह जीव (बूँद) मूलत अच्छा है। किंतु आकाश

से धरती पर आने के बाद वह विकारग्रस्त हो गया है। फलत मनुष्य का मूल ही नष्ट हो गया है। यह सब हुआ भ्रष्ट सगति के कारण। इसलिये बिना अच्छी सगति के सासारिक भ्रष्टाचार से मुक्ति सभव नही है।

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ।
कदली सीप भवंग मुष, एक बूँद तिहुँ भाइ॥२॥

अर्थ—मूर्ख का कभी साथ नही करना चाहिए। जैसे लोहा कभी पानी मे नही तैरता है वैसे ही तमोगुणी व्यक्ति का कभी उद्धार नही होता। केले, सीप और सर्प मुख मे एक ही पानी की बूँद गिरती है। किंतु सगति या ग्रहणशीलता के कारण केले मे कपूर, सीप मे मोती और सर्प मुख मे विष बन जाती है। इसलिये भले लोगो का साथ करना चाहिए।

अलंकार—उदाहरण—दृष्टात।

हरिजन सेती रूसणाँ, संसारी सूँ हेत।
ते नर कदे न नीपजै, ज्यूँ कालर का खेत॥३॥

शब्दार्थ—हरिजन = भक्त। सत। सेती = से। हेत = प्रेम। करे = कभी। नीपजै = उत्पन्न होना। सुखी होना। कालर = ऊसर।

अर्थ—जैसे ऊसर भूमि मे एक तृण भी नही जन्मता है उसी प्रकार सतो से विराग और ससारी लोगो मे प्रेम से कभी कल्याण नही होगा। सत सगति से ही भक्ति की पौध जमती है और पल्लवित. पुष्पित होती है।

मारी मरूँ कुसंग की, केला काँठै बेर।
बो हालै बो चीरिये, साषित संग न बेरि॥४॥

अर्थ—शाक्तो का साथ बड़ा भारी कुसग है। जैसे बैर के पास रहने वाला केला कभी सुखी नही रहता। बैर बराबर उसके पत्तो को चीरता रहता है उसी प्रकार शाक्त की सगति से बचना चाहिए। शाक्त सगति नुकसान करने वाली है।

अलंकार—निदर्शना।

मेर नसाँणी मीच की, की कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्राँणिया, बाँणी ब्रह्म सँभाल॥५॥

शब्दार्थ—मेर = मेरापन। ममत्व। मीच = मृत्यु। बॉणी = सद्गुरु वचन।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ममत्व मृत्यु की निशानी है। कुसगति ही काल है। ऐसे मे सद्गुरु की वाणी से ही ब्रह्मप्राप्ति की सँभाल हो सकती है।

माषी गुड़ मैं गड़ि रही, पंष रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनै, मीठे बाई माइ॥६॥

अर्थ—मक्खी गुड़ मे सन गयी। उसके पंख भी लिपट गए। फलत वह भाग नही सकती है। ताली पीटना का अर्थ है हाथ पैर पटकना। वह सिर धुनती है। सिर पटकती है। हाथ पैर पटकती है। मीठे से भर पाई। मीठा खाने की दशा देख ली।

यही दशा वासना मे डूबे मनुष्य की होती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

ऊंचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणीं ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरे भर्‌या साधूँ निंद्या सोइ॥७॥

अर्थ—ऊँचे कुल का जन्म महत्त्वपूर्ण नही है। ऊँचा कर्म महत्त्वपूर्ण है। जैसे शराब भरे सोने के घड़े की निंदा होती है वैसे ही वासना भरा शरीर निंद्य है।

अलंकार—दृष्टांत।

(२६)

संगति कौ अंग

देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचे छूटि।
विरला कोई ठाहरे, सतगुर साँमी मूठि॥१॥

अर्थ—देखा-देखी भक्ति (साधना) प्रभु से अपरिचय के कारण छूट जाती है। विना सद्गुरु स्वामी की मुट्ठी (शरण) मे गए शायद कोई है जो भक्ति के मार्ग मे ठहर सके।

देखा देखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग।
बिपति पड़या यूँ छाड़सी, ज्यूँ कंचुली भवंग॥२॥

अर्थ—साधनारहित देखा-देखी भक्ति का रग कभी नही चढ़ता है। यह रग कच्चा होता है। थोड़ी विपत्ति पड़ने पर भी यह भक्ति छूट जाती है। जैसे सॉप केचुल छोड़ देता है।

अलंकार—उपमा।

कहिए तौ करि जाँणिये, सारीषा सूं संग।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छाडै रंग॥३॥

शब्दार्थ—सारीषा = सरीखा। समानधर्मा। लीर-लीर = टुकड़ा-टुकड़ा। लोई = कम्वल। थई = स्थित।

अर्थ—कहिए तो कीजिए और जानिए भी। समानधर्मा सतो का साथ कीजिए। यह साथ लोई के रग जैसा कीजिए। जैसे टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी रग नही छोड़ती है।

भक्त को भी कितनी ही विपत्तियॉ आये। भगवत्प्रीति का रग नही छोड़ना चाहिए।

अलंकार—दृष्टात।

यहु मन दीजे तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ।
सिर ऊपरि आरा सहै, तऊ न दूजा होइ॥४॥

अर्थ—यह मन उस परमात्म तत्त्व को समर्पित कीजिए जिससे यह सुदर सेवक वन जाय। ऐसा सेवक जिसके सिर पर आरा भी चले तो वह द्वैत वुद्धिवाला न वने। भक्ति न छोड़े।

पाँहण टाँकि न तोलिए, हाडि न कीजे वेह।
माया राता मानवी, तिन सूँ किसा सनेह॥५॥

शब्दार्थ—पॉहण = पत्थर। छोटा तराजू। धातु। टॉकि = फोड़ना। हाडि = हाड़ी या हड्डी। वेह = वेध। छेद।

अर्थ—जैसे टॉकी मारने से धातुओ के वजन कम होते जाते है और हाड़ी या हाड़ मे छेद करने से उसके टूटने का भय रहता है उसी प्रकार मायालिप्त मनुष्य से प्रेम का निर्वाह नही हो सकता है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर तासूँ प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि।
बनिता विविध न राचिये, दीषत लागे षोड़ि॥१६॥

अर्थ—सत कवीर कहते है कि प्रेम उसी से करना चाहिए जो अत तक उसका निर्वाह कर सके। ऐसा प्रेम तो प्रभुप्रेम ही होगा। स्त्रीप्रेम से तो देखते ही खोरि (पाप) पैदा होती है।

कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करे, सौ तैसे फल खाइ॥७॥

अर्थ—तन पक्षी हो गया है। मन के साथ उड़ जाता है। सगति के अनुसार अच्छे-बुरे फल

मिलते है।

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि रे निकसणहार॥८॥

अर्थ—यह ससार काजल की कोठरी है। जो आया उसे कालिख लगती ही है। भक्त ही इसमे प्रवेश कर भी बेदाग निकल पाते हैं।

अलंकार—उदाहरण।

(२७)

असाध कौ अंग

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति, माँहैं महा असाध॥१॥

शब्दार्थ—अतीत = एक प्रकार का साधु। असाध = असाधु।

अर्थ—वेश तो अतीत सन्यासी का बनाया। किंतु कार्य अपराधी का करता है। बाहर से साधु दीखता है और मन मे बड़ी असाधुता भरी है।

उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूँ माँडै ध्यान।
धीरे बैठि चपेटसी, यूँ ले बूडैं ग्यान॥२॥

शब्दार्थ—धीजिए = विश्वास कीजिए। बग = बगुला। मॉडै = लगाता है। चपेटसी = चपेटा मारेगा।

अर्थ—केवल बाहरी सफाई देखकर कभी विश्वास नही करना चाहिए। साफ तो बगुला भी होता है। किंतु वह बड़ा गहरा ध्यान लगाकर धीरे-धीरे बैठता है और मौका पाते ही मछली को चपेट मे ले आता है। इसी प्रकार ढोगी और छली ज्ञान मे डूबे रहते है। धोखेबाजो के लिये वक ध्यान प्रसिद्ध है।

जेता मीठा बोलणाँ, तेता साध न जाँणि।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडै देसी आँड़ि॥३॥

शब्दार्थ—ऊँडै = गहरा।

अर्थ—जितना मीठा बोलता है उतना ही साधु होगा यह कभी मत समझना। होशियार लोग पहले कम पानी की थाह दिखाकर बाद मे गहरे मे फॅसा देते है।

(२८)

साध कौ अंग

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बाँवना, नीब न कहसी कोइ॥१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि साधु सगति कभी बेकार नही होती है। चदन का पेड़ अगर छोटा हो तो क्या लोग उसे नीम कहेगे ? कभी नही।

अलंकार—निदर्शना।

कबीर संगति साध की, बेगि करीजे जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सतो की सगति जाकर तुरन्त कीजिए। सत तुम्हारी दुर्बुद्धि

दूर करेगे। सुमति बताएँगे।

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ॥३॥

अर्थ—मथुरा, द्वारका या जगन्नाथ पुरी चाहे कही भी जाओ। किंतु साधु सगति तथा हरिभक्ति के अभाव मे कुछ भी हाथ आनेवाला नही है।

मेरे संगी दोइ जणाँ एक वैष्णो एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥४॥

अर्थ—मेरे सगी दो है—राम और वैष्णाव। राम मुक्ति देते है और वैष्णव राम स्मरण कराते है।

कबीरा बन बन मैं फिरा, कारणि अपणे राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम॥५॥

अर्थ—कबीर राम की खोज मे वन-वन घूमे। जब राम जैसे ही सतो से मुलाकात हुई तो उन्होने सारा कार्य पूर्ण कर दिया। अर्थ यह कि सत ने भगवान् से भेट करा दी।

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहि।
अंक भरे भरि भेटिया, पाप सरीरौ जाँहि॥६॥

अर्थ—वह दिन अच्छा है जब किसी सत से भेट होती है। सत से अँकवार भरकर भेंटिए। सारे शरीर का पाप चला जायगा।

कबीर चंदन का बिड़ा बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास॥७॥

शब्दार्थ—बिड़ा = विटप। बैठ्या = बेधा। आक = मदार। पलास = टेसू।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि चदन का पौधा या छोटा पेड़ यदि आक-पलाश के पास हो चदन आक-पलाश को सुगधित कर जाता है। यह बात सतो के लिये है। सतो के पास जो जाता है उसे वे सत बना देते है।

अलंकार—अन्योक्ति। तद्गुण।

कबीर खाईं कोट की, पाणी पीवे न कोइ।
आई मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ॥८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि किले के चारो ओर बनी खाई का पानी कोई नही पीता है। क्योकि वह गदा होता है। किंतु गगा मे मिलने पर वह पानी गगोदक हो जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

जाँनि बूझि साचहि तजै, करै झूठ सूँ नेहु।
ताको संगति राम जी, सुपिनै ही जिनि देहु॥९॥

अर्थ—जान बूझकर सत्य परमात्मा को छोड़ झूठी माया से प्रेम करता है। हे प्रभु, ऐसे व्यक्ति का साथ स्वप्न मे भी न हो।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तू बसै।
नहिं तर वेगि उठाइ, नित को गंजन को सहै॥१०॥

अर्थ—सत कबीर कहते हैं कि हे प्रभु, जिस सत के हृदय मे तुम स्वयं बसते हो उससे मिलाओ। ऐसा नही कर सकते तो उठा लो। नित्य दिन दुर्जनो के साथ रहने का दुख (गजन) कौन सहेगा ?

केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उलटी माँहि समाइ॥११॥

अर्थ—यह ससार विषय समुद्र है। इसमे कामनाओ की लहरे उठती है। गिरती है। वह भक्त धन्य है जो मछली के समान उलटी धारा मे चलता है। वासना मुक्त होकर प्रभु चरणो मे अनुरक्त हो जाता है।

काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहै राम की ओट॥१२॥

अर्थ—ससार बुराई से भरा है। यहॉ की कोठरी और किले भी काजल के है। वह भक्त धन्य है जो राम नाम का सहारा लेकर रहता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

भगति हजारी कपड़ा, तामें मल न समाइ।
साषित काली कॉवली, भावैं तहॉं बिछाइ॥१३॥

अर्थ—भक्ति बहुमूल्य वस्त्र है। इसमे गदगी नही प्रवेश कर सकती है। शाक्त साधना काले कम्बल-सी है। जहॉ चाहे इच्छानुसार बिछा ले। शाक्तो को पवित्रता अपवित्रता का ध्यान नही रहता है।

अलंकार—रूपक।

(२९)

साध साषीभूत कौ अंग

निरबैरी निहकॉंमता, सॉंईं सेती नेह।
विषिया सूँ न्यारा रहै, संतहि का अँग एह॥१॥

अर्थ—वैररहितता, कामनारहितता, ईश्वर से प्रेम, विषय से अलग रहना ये ही सतो के पक्ष है।

संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत।
चँदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत॥२॥

अर्थ—करोड़ो दुष्टो (असतो) के मिलने पर भी सत अपनी सज्जनता नही छोड़ते है। चदनपेड़ सर्पो से विद्ध रहता है। फिर भी वह कभी अपनी शीतलता नही छोड़ता है।

अलंकार—दृष्टात।

कबीर हरि का भॉंवता, दूरैं थैं दीसंत।
तन षीणा मन उनमनॉं, जग रूठड़ा फिरंत॥३॥

शब्दार्थ—भावॅत = भावना करनेवाला। प्रेमी। षीणा = क्षीण। उनमनॉ = उन्मत्त। रूठड़ा = रूठा।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हरि का प्रेमी भक्त दूरी से ही दीखता है। क्योकि वह शरीर से दुर्बल, मन से उन्मत्त और ससार से उदासीन रहता है।

कबीर हरि का भावता, झीणॉं पंजर तास।
रैणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मास॥४॥

शब्दार्थ—पजर = ठठरी।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हरि का प्रेम अस्थि-पजर से दुर्बल होता है। उसे रात मे नींद नहीं आती है। उसके अगो मे मुटापा नही होती है।

तुलनीय—या निशा सर्वभूताना तस्यां जागर्ति सयमी। (गीता २-६९)

अणरता सुका सीवणौं, रातै नींद न आइ।
ज्यूँ जल टूटै मंछली, यूँ बेलंत बिहाइ ॥५॥

अर्थ—अणरता अर्थात् भक्तिरहित व्यक्ति सुख से सोता है। अनुरक्त को नींद नहीं आती है। जैसे जल की धारा टूट जाने पर अर्थात् जल कम हो जाने पर मछली छटपटाती (वेलत) घूमती है।

अलंकार—उदाहरण।

जिन्य कुछ जाण्या नहीं तिन्ह, सुख नींदड़ी बिहाइ।
मैर अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ॥६॥

शब्दार्थ—बिहाइ = वीतता है।

अर्थ—जो प्रभु प्रेम के वारे मे कुछ नहीं जानते है वे सुख की नींद सोते हैं। मेरे जैसा अज्ञानी जव उसे समझने लगा तो वला (दुख) मे फँस गया। क्योकि भगवत्प्राप्ति मे कष्ट होता है।

अलंकार—विरोधाभास।

जाँण भगत का नित मरण, अणजाँणे का राज।
सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूँ काज ॥७॥

अर्थ—ज्ञानी भक्तो की नित्य मृत्यु है। अज्ञानी माया मे पड़ा राज करता है। अज्ञानी ऊँच-नीच कुछ नहीं समझता। उसे पेट भरने से मतलव है।

जिहि घटि जाँण बिनाँण है, तिहि घटि आवटणाँ घणाँ।
बिन षडै संग्राम है, नित उठि मन सौं झूझुणाँ ॥८॥

शब्दार्थ—घटि = शरीर। जाँण-विनाँण = ज्ञान-विज्ञान। आवटणाँ = उथल-पुथल। घणाँ = अधिक। षड़े = तलवार।

अर्थ—जो व्यक्ति ज्ञानी-विज्ञानी हैं उनमे भगवत्प्राप्ति और ससार चक्रादि के वारे में चिता है। उथल-पुथल है। वे विन तलवार का युद्ध करते है। नित्य उठकर अपने मन से ही जूझते है। इस कहते है समझदार की मौत।

विलोम—विभावना।

राम वियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्है कोइ।
तंबोली के पान ज्यूँ, दिन दिन पीला होइ ॥९॥

अर्थ—जो व्यक्ति प्रभु प्रेम मे व्याकुल है उसे कोई नहीं पहचानता। उसका शरीर तमोली के पान सा दिन-दिन पीला होता है। इसलिये कि वह ससार के हवा-पानी से दूर एकात मे रहता है।

अलंकार—उदाहरण।

पीलक दौड़ी साँइयाँ, लोग कहै पिंड रोग।
छाँनै लंघण नित करै, राम पियारे जोग ॥१०॥

शब्दार्थ—पीलक = पीलापन। पिंडरोग = पीलिया। पाडुरोग। छाँनै = प्रच्छन्न।

अर्थ—प्रभुप्रेम की साधना मे सारा शरीर पीला हो गया। लोग समझते है, पीलिया रोग हुआ है। वह तो प्रच्छन्न उपवास करता है जिससे प्रभु का शीघ्र दर्शन हो।

अलंकार—भ्रान्तिमान।

काम मिलावै राम कूँ, जे कोइ जांणै राषि।
कबीर बिचारा क्या करे, जाकीं सुखदेव बोले साषि ॥११॥

अर्थ—अगर कोई व्यक्ति काम का सही उपयोग जानता है तो काम रामप्रेम का साधन बन

जाता है। यह बात बेचारे कबीर नहीं कह रहे हैं। भागवत मे स्वय शुकदेव मुनि ने यह बात कही है।

टिप्पणी—भागवत मे कहा गया है कि भगवान् को क्रोध, लोभ, काम आदि किसी भाव से भजा जा सकता है। गोपियो ने कृष्ण भगवान को कामभाव से भजा था।

काँमणि अँग बिरकत भया, रत भया हरि नाँहि।
साषी गोरखनाथ ज्यूँ अमर भए कलि माँहि ॥१२॥

अर्थ—काम स्त्री के पास पहुँच कर विकृत हो जाता है। किंतु भगवान से जुड़कर मोछ साधन बन जाता है। गोरखनाथ ने प्रभु से कामप्रेम की साधना की, वे कलिकाल मे अमर हो गए।

जदि बिषै पियारी प्रीति सूँ, तब अंतर हरि नाँहि।
जब अंतर हरि जी बसै, तब विषिया सूँ चित नाँहि ॥१३॥

अर्थ—यदि विषयो से प्रेम है तो समझ लो ईश्वर तुम्हारे भीतर नहीं है। जब हृदय मे ईश्वर बसते है तो विषयो से विरक्ति हो जाती है।

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहि घटि राम न जोइ।
राम सनेही दास विधि, तिणाँ न संचर होइ ॥१४॥

अर्थ—जिसके शरीर मे सशय का निवास है उस शरीर मे परमात्मा नहीं रह सकते। राम प्रेमी के हृदय मे तृणवत् सशय भी नहीं रह सकता है। क्योकि सशयात्मा का विनाश होता है। भक्ति संशय नही निष्ठा का मार्ग है।

स्वारथ को सबको सगा, सब सगलाही जाँणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछाँणि ॥१५॥

अर्थ—सारे ससार के लोग स्वार्थवश प्रेम करते है। कोई नि स्वार्थ प्रेमी तभी होता है जब उसकी प्रीति प्रभु से हो जाती है।

तुलनीय—सुर नर मुनि कै यह सब रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती॥—तुलसी।
स्वार्थमय ससार की अति है अनोखी रीति,
कौन किससे सर्वदा करता यहाँ पर प्रीति?—आरसी प्रसाद सिह।

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूँ छाँनाँ होइ।
जतन जतन करि दाबिए, तऊ उजाला सोइ ॥१६॥

अर्थ—जिस हृदय मे प्रभु का वास होगा वह कैसे छिपेगा? कोशिश करके भी छिपाइए तो उजाला हो ही जायगा। जैसे सूर्य को नहीं छिपाया जा सकता है। वह जहाँ रहेगा प्रकाश रहेगा ही। वैसे ही ज्ञानस्वरूप प्रभु की उपस्थिति मे अज्ञान का अँधेरा नहीं रह सकता है।

फाटै दीदै मैं फिरी, नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि मेरा साँइयाँ, सो क्यू छाना होइ ॥१७॥

शब्दार्थ—दीदै = आँख। छाना = छिपा।

अर्थ—मै आँखे फाड़-फाड़ कर देखताहूँ। कहीं कोई भक्त नहीं दिखाई देता है। भला बताओ जिस शरीर मे भगवान् का वास होगा वह छिपा रहेगा? कहना यह है कि जागृत प्रभु भक्त शरीर मे अनोखी चमक भर देते है। उसका व्यवहार भी बदल जाता है।

सब घटि मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोइ।
भाग तिन्हौ का हे सखी, जिहि घटि परगट होइ ॥१८॥

अर्थ—प्रत्येक हृदयशय्या पर प्रभु विराजमान है। कोई हृदय शय्या प्रभुरहित नहीं है। किंतु भाग्यवश ही उसका प्रत्यक्षीकरण हो पाता है।

पावक रूपी राप है, घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, तायै धुँवा ह्वै ह्वै जाइ॥१९॥

अर्थ—प्रभु अग्नि के रूप मे सभी प्राण-घट मे समाया है। चित्त तो चकाचौंध मे रहता है। ठीक ढग से एकात भाव से नहीं लगता है। इसी से प्रभु का साक्षात्कार नहीं हो पाता है।

धुएँ से प्रभु की उपस्थिति का बोध तो होता है किंतु चित्तरूपी चकमक पत्थर पर सही चोट न पड़ने के कारण प्रेमाग्नि नहीं धधक पाती है। केवल आह, ऊर्ध्व श्वास आदि रूप धुएं से सकेत होता है।

अलंकार—सांगरूपक।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै जागै बिनसई विष भर्या, कै दास बंदगी होइ॥२०॥

अर्थ—केवल सृष्टिकर्त्ता ईश्वर जागता है और सभी सोते हैं। फिर या तो विषयुक्त विषयी जागते है या प्रार्थना मे स्थित भक्त जागता है।

तुलनीय—येहि जड़ जामिनि जागहिं जोगी।—तुलसी

कबीर चलया जाइ था आगैं मिलया खुदाइ।
मीराँ मुझ सौ यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ॥२१॥

शब्दार्थ—मीराँ = स्वामी। गाइ = गाकर।

अर्थ—सत कबीर चले जा रहे थे। आगे ईश्वर से भेट हो गयी। स्वामी ने मुझसे कहा कि गाकर सुनाओ। तभी से मे अपनी भागवती अनुभूतियो को गाकर सुना रहा हूं।

(३०)

साध महिमां कौ अंग

चंदन की कुटकी भली, नाँ बंबुर कौ अवराँऊँ।
वैसनो की छपरी भलो, नाँ सापत का बड गाउँ॥१॥

अर्थ—ववूल की अमराई (वगीचे) की अपेक्षा चदन का टुकड़ा (सुगध के कारण) अच्छा है। उसी प्रकार वसने के लिये शाक्तो के गाव की अपेक्षा वैष्णव द्वारा डाले गये छप्पर का एकात ही काफी है।

तुलनीय— सतन की झुगिया भली मठि कुसती गाँव।
आगि लगो तिह धउलहर,जह नाहीं हरिनाव॥—गुरुग्रथ साहब।

अलंकार—दृष्टात।

पुरपाटण सुयस बसै, आनँद ठाँये ठाँइ।
राम सनेही बाहिरा, ऊँजड़ मेरे भाँइ॥२॥

अर्थ—नगर और गँव अच्छी तरह वसे हैं। जगह-जगह आनंद भी हो रहा है। किनु अगर वहां भगवान् का भक्त नहीं है तो मेरे विचार से वह उजाड़ के समान है।

सकेत यह है कि भगवत्भक्ति के अभाव मे समृद्धि स्थायी नहीं रह सकती है।

जिहँ घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाँहि।
ते घर मुड़हट सारषे, भूत बसै तिन माँह॥३॥

अर्थ—जिस घर मे साधु की पूजा नहीं होती है। जहाँ ईश्वर की सेवा नहीं होती है। वह घर मरघट के समान है। वहाँ भूत का निवास होता है।

अलंकार—उपमा।

है गै गैवर सघन घन, छत्र धजा फहराइ।
ता सुख थै भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ॥४॥

शब्दार्थ—है = घोड़ा। गै = हाथी। गैवर = श्रेष्ठ हाथी।

अर्थ—घोड़ा, हाथी, धन दौलत वाले राजा की स्त्री उसके मुकाबले व्यर्थ है जो हरिभक्त की पनिहारिन है।

अलंकार—व्यतिरेक।

क्यूँ नृप नारी नीदये, क्यूँ पनिहारी कौ माँन।
ब माँग सँवारै पीव कौ, बा नित उठि सुमिरै राम॥६॥

अर्थ—क्यो रानी की निदा और पनिहारिन का मान हो? जो प्रभुपति के वामाग अर्थात् आराधिका होती है। राम उसी का स्मरण करते है।

कबीर धनि ते सुंदरी, जिन जाया बैसनौ पूत।
राम सुमरि नरिभै हुवा, सब जग गया अऊत॥७॥

अर्थ—वह स्त्री धन्य है, जिसने वैष्णव पुत्र पैदा किया। इससे रामनाम का स्मरण कर यम के भय से निर्भर हुआ। बाकी ससार के प्राणी तो अपुत्र (अऊत) रहे।

तुलनीय— पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुवर भगतजासु सुत होइ॥
नतरु बॉझ भलि बदि बियानी। राम विमुख सुत ते बड़िहानी॥—तुलसी।

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजे दास।
जिहि कुल दास न ऊपजे, सो कुल आक पलास॥८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जिस परिवार मे राम दास पैदा होते है वही कुल धन्य है। जिस परिवार मे भक्त नहीं उत्पन्न हुआ वह परिवार आक और पलाश के समान बेकार है।

अलंकार—उपमा।

साषत बाँभण मति मिले, बैसनौं मिले चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये, माँनो मिले गोपाल॥९॥

अर्थ—शाक्त ब्राह्मण की अपेक्षा वैष्णव चाडाल अधिक अच्छा है। वैष्णव चाडाल मिले तो अँकवार भर कर ऐसे मिलिए जैसे भगवान से भेट हो गयी हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

राम जपत दालिद भला, टूटी घर की छाँनि।
ऊँचे मंदिर जालि दे, जहाँ भगति न साँरगपाँनि॥१०॥

अर्थ—राम की उपासना करते हुए दरिद्रता भी ठीक है। घर का टूटा छप्पर अच्छा है। वह ऊँचा भवन जला दो जिसमे भगवान् के भक्त नहीं रहते है।

कबीर भया है केतकी, भवर भये सब दास।
जहाँ जहाँ भगति कबीर की, तहाँ तहाँ रामनिवास॥११॥

अर्थ—सत कबीर केतकी पुष्प जैसा है और सब भक्त भ्रमर के समान है। जहॉ जहॉ कबीर की भक्ति होती है वहॉ-वहॉ राम का निवास होता है।

अलंकार—रूपक।

(३१)

मधि कौ अंग

कबीर मधि अंग जेको रहै, तौ तिरत न लागै बार।
दुइ दुइ अंग सूँ लागि करि, डूबत है संसार॥१॥

शब्दार्थ–मधि = बौद्धो मे यह मध्यमा प्रतिपदा के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है दो अतिवादो के बीच का मध्यममार्ग। मधि = हृदय के मध्य जहाँ परमात्मा का निवास है।

अर्थ–सत कबीर कहते है कि जो राग-विराग के बीच मे रहता है उसे ससारसागर पार करने मे देर नहीं लगती है। प्रवृत्ति और निवृत्त, भोग और मोक्ष के द्वन्द्वो मे पड़कर ससार डूब रहा है।

कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंक है लागि।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिय आगि॥२॥

अर्थ–सत कबीर कहते है कि दुविधा दूर करो। प्रभु प्रेम मे लगो। ससार की सभी ये वे वस्तुएँ या तो अत्यत शीतल है या अत्यत आग। प्रभु दोनो के बीच शाति देनेवाला है।

अनल अकाँसाँ घर किया, मधि निरंतर बास।
बसुधा ब्योम बिरकत रहै बिनठाहर बिसवास॥३॥

अर्थ–अनल पक्षी ने आकाश के बीच मे घर बनाया। क्योकि धरती और आकाश दोनो मे विकृति है। धरती और आकाश के बीच कोई ठाहर (स्थान) नहीं है। किंतु विश्वास के बल टिका है। मतलब कि शून्य मे टिका है।

बासुरि गमि न रैणि गमि नाँ सुपनै तरगंम।
कबीर तहाँ बिलंबिया, जाँहँ छाहड़ो न घंम॥४॥

अर्थ–न रात, न दिन, न सपने मे सुख है। इसलिए सत कबीर कहते हैं कि जहाँ धूप न हो। छाया नहीं हो। सुख-दुख के द्वन्द्वो से परे या बीच मे रहना चाहिए।

जिहि पैडे पंडित गए, दुनिया परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहि चढ़ि रह्या कबीर॥५॥

अर्थ–जिस रास्ते से शास्त्रज्ञ पडित गए। बहरी दुनिया चल रही है। किंतु सत कबीर इन दोनो से भिन्न गुरु के बताये औघट रास्ते पर चल रहे है।

श्रग नृकथैं दुँर रह्या, सतगुर के फसादि।
चरन कवँल की मौज मैं, रहिस्यूँ अंतिरु आदि॥६॥

अर्थ–मै (कबीर) सद्‌गुरु की कृपा (प्रसाद) से स्वर्ग, नरक से दूर रहा। प्रभु चरण कमल के आनद मे आदि से अत तक सदा रहूँगा।

हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुइ मै कदे न जाइ॥७॥

अर्थ–हिंदू राम कहते है। मुलसमान खुदा। किंतु कबीर दोनो से अलग रहते है। मतलब कि कबीर के राम हिंदू के राम और मुसलमान के खुदा से भिन्न है।

दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख को झूरि।
सदा अनंदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि॥८॥

अर्थ–दुखिया दुख से मरता है। सुखी सुख से सूखता है। सबसे अच्छे राम भक्त है, जिनके सुख दुख दूर हुए।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राम सनेही यूँ मिले, दुन्यूँ बरन गँवाइ ॥९॥

अर्थ—हल्दी पीली और चूना सफेद होता है। दोनो अपने-अपने रग छोड़कर मिलते है। इसी प्रकार दो राम प्रेमियो को अपनी जाति और अहकार छोड़कर मिलना चाहिए।

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥१०॥

अर्थ—आग्रहो को छोड़ दीजिए तो काबे, काशी, राम, रहीम मे वैसे ही भेद नहीं है जैसे मोटा चूर्ण मैदा बन जाता है। वस्तु एक ही है। केवल मुटाई-महीनी का फर्क है। कबीर दास दोनो का उपयोग (जीम) करते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूँबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़्या, अरु चौरासी सिध ॥११॥

शब्दार्ता—दोइ तूँबड़ा = सूर्यचद्र नाड़ियॉ इड़ा पिगला नाड़ियॉ। अबध = अबाधित। षट दरसन = साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमासा, उत्तर मीमासा।

अर्थ—धरती और आसमान के बीच मे सूर्य-चद्र ये दो तुम्बे खड़े है। यह देखकर षट्दर्शन और ८४ सिद्ध के मन मे सशय हो गया।

(३२)

सारग्राही कौ अंग

षीर रूप हरि नाँव है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जाँणणहार ॥१॥

अर्थ—ईश्वर नाम दूध है। अन्य व्यवहार पानी है। तत्त्व को जाननेवाला हस रूप साधु पुरुष दूध और पानी अलग-अलग कर लेता है।

अलंकार—रूपक।

कबीर साषत को नहीं, सबै बैशनों जाँणि।
जा मुखि राम न ऊचरै, ताही तन की हाँणि ॥२॥

अर्थ—शाक्त नहीं, सभी वैष्णव है। जिस मुख से राम का उच्चारण नहीं होता है, उस शरीर का नाश समझना चाहिए।

कबीर औगुँण ना गहैं, गुण ही कौ लै बीनि।
घट घट महु क मधुप ज्यूँ, पर आत्म ले चीन्हि ॥३॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि अवगुण का ग्रहण मत करो। गुणो को ही चुन लो। जैसे भौरा हर फूल से शहद निकाल लेता है। उसी तरह सभी जीवो मे स्थित आत्मतत्त्व को पहचानो।

अलंकार—उपमा।

बसुधा बन बहु भाँति है, फूल्यो फल्यौ अगाध।
मिष्ट सुबास कबीर गहि, विषम कहै किहि साध ॥४॥

अर्थ—यह पृथ्वी एक जगल है, जिसमे नाना प्रकार के फूल फूले है। सुवास और मीठी गध

वालो को सत कबीर स्वीकार करते है। विषम (दूषित) को कोई साधु कहो क्यो स्वीकार करेगा ?

अलंकार—अन्योक्ति।

(३३)

विचार कौ अंग

राम नाम सब को कहै, कहिबे बहुत बिचार।
सोई राम सती कहै, सोई कौतिग हार ॥१॥

अर्थ—राम नाम सभी कहते है। किंतु सबके विचार भिन्न-भिन्न है। उसी बात को सत्य पुरुष (सती) कहता है और उसी को निष्ठारहित तमाशबीन कहता है। दोनो के कहने मे स्पष्ट अतर होता है। दोनो का प्रभाव भी भिन्न है।

आगि कह्याँ दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ।
जब लग भेद न जाँणिये, राम कह्या तौ काइ ॥२ ॥

अर्थ—पैर से दबने पर ही आग जलाती है। केवल नाम लेने से नहीं जलाती है। इसी प्रकार जब तक राम तत्त्व को निष्ठापूर्वक न जाने, केवल नाम कहने से कुछ होनेवाला नहीं है।

कबीर सोचि बिचरिया, दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जब चीन्हिया, तब उलटि समाना माँहि ॥३॥

अर्थ—सत कबीर ने सोचा विचारा। उन्हे ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं दिखाई पड़ा। आत्मतत्त्व और परतत्त्व को जब पहचाना तो सासारिक विषयो से मन हटाकर अपने भीतर ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया। इद्रियॉ जो विषयो के चक्कर मे बहिर्मुखी थीं उन्हे अन्तर्मुखी किया।

पाणी केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नाँनाँ बाँणी बोलिया, जोति धरी करतारि ॥४॥

अर्थ—यह जीवन पानी के पुतले जैसा है। इसे पचप्राणो (हवा) ने सजाया है। इसमे सृष्टिकर्त्ता का प्रकाश (आग) है। इसीलिए यह नाना प्रकार के शब्दो का उच्चारण करता है। शब्द आकाशोत्पन्न है।

सत कबीर इस शरीर को पॉच तत्वो से निर्मित बताते है। पानी, पवन, आग, आकाश, पृथ्वी।

छिति जल, पावक गगन, समीरा।
पचरचित यह अधम शरीरा ॥—तुलसी।

नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़े जिनि जाणीं भगति मुरारि ॥५॥

शब्दार्थ—नौमण सूत = कर्मजाल। बारि = द्वार।

अर्थ—ससार कर्मजाल से भरा है। ये कर्म उलझनो से भरे है। शायद कोई घर का दरवाजा हो जहाँ उलझनो का प्रवेश न हो। इन उलझनो को वे ही सुलझा पाते है जो भगवान् के भक्त है।

आधी साखी सिरि कटै, जोर बिचारा जाइ।
मनि परतीति न ऊपजे, तौ राति दिवस मिलि गाइ ॥६॥

शब्दार्थ—सिरि कटै = वासना विनाश।

अर्थ—वासना क्षय के लिये आधी साखी ही पूर्ण है। मन मे विश्वास नहीं है तो रात दिन मिलकर गाते रहिए, कुछ होनेवाला नहीं है।

सोई अषिर सोई बैयन, जन जू जू बाचवंत।
कोई एक मेलै लवणि अमी रसाइण हुंत॥७॥

शब्दार्थ—जू जू = भिन्न भिन्न। बैयन = वचन। बाचबत = वाचक। लवणि = सौदर्य। नमक। अमी = अमृत। हुत = होता है।

अर्थ—वही अक्षर, वही वचन। कितु लोग अपनी भावनाओ के अनुसार पढ़ते है। कोई उसमे अपने मन का सौदर्य मिलाकर और भी अमृत बना देता है। जैसे कोई भोजन मे उचित नमक डालकर उसे अमृत बना देता है।

हरि मोत्याँ की माल है, पोई काचै तागि।
जतन करि झंटा घँणा, टूटेगी कहूँ लागि॥८॥

अर्थ—हरि भक्तिरूपी मोती माला प्रेम के एक सामान्य धागे मे गुथी है। इसे तर्को और शास्त्रो के गहरे झटके से बचाओ। प्रेम और-विश्वास का यह सूत टूट सकता है। इसलिये कि भक्ति तर्क का विषय नहीं है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया—कठ०

अलंकार—रूपक।

मन नहीं छाड़ै विषै, बिषै न छाड़ै मन कौ।
इनकौ इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौ॥
खंडित मूल बिनास कहौ किम बिगतह कीजै।
ज्यूँ जल मे प्रतिब्यंब, त्यूँ सकल रामहि जाँणीजें॥
सो मन सो तन सो बिषै, सो त्रिभुवन पति कहूँ कस।
कहै कबीर ब्यंदहु नरा, ज्यूँ जल पूर्या सकल रस॥९॥

अर्थ—मन विषय और विषय मन नहीं छोड़ते। इनका यही स्वभाव है। ये स्वभावत मनुष्य के पीछे लग जाते है। खडित साधना मूल का नाश है। जो इद्रियो से परे या विगत है उसे कैसे पाया जाय? उसका एक ही उपाय है। सबको राम जाना जाय। ससार सीता राममय है। जैसे एक ही सूर्य या चद्र सभी जलो मे प्रतिविम्बित है, उसी प्रकार एक ही प्रभु सभी प्राणियो मे प्रतिविम्बित है।

अवतारवाद का खडन करते हुए सत कबीर कहते है कि जिसका मन, तन, विषय मनुष्य जैसा है उसे ईश्वर कैसे कहा जा सकता है? जैसे जल मे सभी रस व्याप्त है उसी प्रकार रसरूप उस प्रभु की वदना करो जो सर्वत्र व्याप्त है।

(३४)

उपदेश कौ अंग

हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर मै जीव है, जे कोई पकड़ै तीर॥१॥

अर्थ—प्रभु ने अत्यत विचार कर कबीर को साखी का उपदेश किया। इससे भवसागर मे डूबते जीव को किनारे पर आने मे सुविधा होगी।

कली काल ततकाल है, बुरा करै जिनि कोइ।
अनबावै लोहा दाहिणै बोवै सुलुणता होइ॥ २॥

अर्थ—कलिकाल तत्काल (सद्य) फल देता है। इसलिये किसी की बुराई मत करो। दाहिने हाथो मे हल (लोहा) और बाएँ मे अन्न लेकर जो बोता है वही काटता है।

कबीर संसा जीव मै, कोई न कहै समझाइ।
विधि विध बाणीं बोलता, सो कत गया बिलाइ॥३॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जीव के सशय का कोई जवाव नहीं है। नाना प्रकार की वाणी बोलनेवाले अर्थात् शास्त्री और शब्द चमत्कारी कहाँ चले गए, पता नहीं। मतलब कि भक्ति असली चीज है। विद्या और शास्त्र व्यर्थ है।

कबीर संसा दूरि करि, जाँमण मरण भरंम।
पंचतत तत्तहि मिले, सुरति समाना मन॥४॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि सशय को दूर करो। जन्म और मृत्यु दोनो भ्रम है। आत्मा जन्म–मृत्यु-विहीन है। पच महाभूतो से बना यह शरीर पुन पचमहाभूतो (क्षिति, जल, पावक, गगन समीर) मे विलीन हो जाता है। स्मृति (सुरति) मन मे विलीन होती है।

ग्रिही तौ च्यांता घणीं, बैरागी तौ भीष।
दुहुँ कात्याँ बिचि जीव हैं, दौ हमै संतौ सीष॥५॥

अर्थ—गृहस्थ और विरागी साधु दोनो चितित है। एक को दुनियादारी की चिता है। दूसरा भिक्षा पाने की आशा मे परेशान है। जीव दो कैचियो के बीच मे फँसा है। क्या करे? ऐसे मे सतो की शिक्षा ही कल्याण कर सकती है।

बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार।
दुहे चूकाँ रीता पड़ै, ताकूँ वार न पार॥६॥

अर्थ—वैरागी को विरक्त और गृहस्थ को उदार चित्त होना चाहिए। अगर दोनो चूक गये। अपने धर्म से रिक्त हो गए तो उनका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा।

जैसी उपजे पेड़ सूं, तैसी निबहै ओरि।
पैका पैका जोड़ताँ, जुड़िसा लाष कोरोडि॥७॥

शब्दार्थ—ओर = अत। पैका-पैका = थोड़ा-थोड़ा। पैसा-पैसा।

अर्थ—पेड़ से फल जैसे उपजता है वैसा निर्वाह कठिन है। थोड़ा-थोड़ा जोड़ने पर बहुत हो जाता है। भाव यह है कि जो ज्ञानमान मिला है उसे सम्हाल कर रखो। अत मे वही काम देगा॥ थोड़ा-थोड़ा इकट्ठा करने पर भी लाखो करोड़ो जुड़ जाते है।

कबीर हरि के नाँव सूँ, प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तै मोती झड़ै, हीरे अंत न पार॥८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि प्रभु नाम से कभी न टूटनेवाला प्रेम बना रहना चाहिए। एक दिन ऐसा आयेगा जब साधक भी ज्ञान की बाते कहने लगेगा। हीरे का आदि अत नहीं है। भावार्थ कि, उसका व्यक्तित्व हीरे सा मूल्यवान् हो जायगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसी बाँणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौ सुख होई॥९॥

अर्थ—अहकार (आपा) को छोड़ कर ऐसी वाणी बोलिये जिससे अपने को सुख मिले और दूसरे भी प्रसन्न हो।

कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि।
बरतन बासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि ॥१०॥

अर्थ—चैतन्य के प्रहरे मे जागकर सावधान होकर चरित्र की रखवाली करनी चाहिए। ऐसे मे कोई कुछ चुरा नहीं सकता है। बासन-बर्तन भी बचे रहेगे।

अलंकार—अन्योक्ति।

(३५)

बेसास कौ अंग

जिनि नरहरि जठरॉह, उदिकै थै षंड प्रगट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रषियौ।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तै अनल न चषियौ ॥
इहि भाँति भयानक उद्र मे, न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपालन क्यों करै ॥१।

शब्दार्थ—नरहरि = प्रभु। जठरॉह = शरीर स्थित आग। उदिकैथै = रज वीर्य रूपी जल से। पड = पिड। शरीर। छछरै = खाली। कृसन = कृष्ण। चषियौ = चसना। नष्ट होना। जरै = पचना।

अर्थ—जिस नरहरि प्रभु ने शरीरपिड को रज वीर्य जल से पैदा किया। कान, हाथ पैर जीभ, प्राण, मुँह दिये। नीचे पैर, ऊपर सिर देकर बीस पक्ष (दस मास) मा के उदर मे रक्षा की। जिस उदर की आग से तुम्हारा नुकसान नहीं हुआ, क्योकि उसमे अन्नादि सब पच जाते है। इस भयानक उदर मे कभी तुम्हारे पेट को खाली नहीं रहने दिया। तुम कभी भूखे नहीं रहे। प्रभु ने तुम्हारा पोषण किया। भगवान् कृष्ण कृपालु है। सबका पालन करते है। योग क्षेम का वहन करते है।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँडा घड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग ॥२॥

शब्दार्थ—भॉडा घड़ि = बरतन गढ़ना।

अर्थ—भूख-भूख क्या करते हो? किसे सुनाते हो? जिसने यह शरीररूपी भाड बनाया है वह भूख की पूर्ति भी करेगा॥

रचनहार कूँ चीन्हि लै, खैबे कूँ कहा रोइ।
दिल मंदिर मैं पैसि करि, ताँणि पछेवड़ा सोइ ॥३॥

अर्थ—सृष्टिकर्त्ता को पहचानो। खाने को क्यो रोते हो? अपनी वृत्तियो को अतर्मुखी कर लो। भगवान पर विश्वास कर आराम से चादर तान कर सोओ।

रमा नाम करि बोहड़ा, बोहो बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाई ॥४॥

शब्दार्थ—बोहड़ा = बीज। बाहो = बोओ। अघाइ = भरपूर। खड = अखड। सम्पूर्ण।

अर्थ—राम नाम का बीज भरपूर ससार मे बो दो। समूचे ब्रह्माड मे सूखा पड़ने पर भी यह फसल कभी बेकार नहीं होगी।

अलंकार—रूपक, विशेषोक्ति।

घ्यंतामणि मन मे बसै, सोई चित मै आणि।
बिन घ्यंता घ्यंता करै, इहै प्रभु की बाणि ॥५॥

शब्दार्थ—च्यतामणि = पुराणो मे एक काल्पनिक मणि जिससे इच्छा पूर्ति होती है।

अर्थ—प्रभु ही चितामणि है। उस प्रभु को चित्त मे स्थान दो। विना तुम्हारे चिता किये वह प्रभु तुम्हारी चिता करेगा। यह प्रभु का स्वभाव है।

अलंकार—विभावना, यमक।

कबीर का तूँ चितवै, का तेरा घ्यंत्या होइ।
अणघ्यंत्या हरिजी करै, जो तोहि घ्यंत न होइ ॥६॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि तुम क्या देखते हो? तुम्हारे द्वारा चिता करने से कुछ नहीं होगा। जो स्वय अपनी चिता नहीं करता है उसकी चिता भगवान् करते है। तुम्हे किसी बात की चिता नहीं होनी चाहिए।

करम करीमाँ लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ।
मासा घटै न तिल बधै, जो कोटिक करै उपाइ ॥७॥

शब्दार्थ—करीमाँ = कृपालु ईश्वर। मासा = एक पुराना वजन।

अर्थ—दयालु परमात्मा ने भाग्य मे जो लिख दिया है उसमे न एक मासे की वृद्धि तथा न तिल भर की घटती हो सकती है। चाहे कोई कितनी भी कोशिश क्यो न करे।

अलंकार—विशेषोक्ति।

जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ।
रती घटै न तिल बधै, जो सिर कूटै कोइ ॥८॥

अर्थ—जिसके भाग्य मे जो निर्मित है वही होगा। इसमे रत्ती भर घटेगा नहीं। तिल भर बढ़ेगा नहीं। कोई कितना ही सिर पटके।

अलंकार—विशेषोक्ति।

घ्यंता न करि अघ्यंत रहु, साईं है संम्रथ।
पसु पंषरू जीव जंत, तिनको गाँडि किसा ग्रंथ ॥९॥

शब्दार्थ—पषरू = पक्षी। गाँडि = गाँठरी। ग्रथ = बाँधना।

अर्थ—चिता मत करो। निश्चित रहो। सब का स्वामी ईश्वर सर्वसर्मथ है। वही सबकी व्यवस्था करता है। पशु, पक्षी आदि जीव जतुओ को देखो। उनके लिये किसने बाँधकर गाँठरी गाड़ी है? जैसे उनका काम चलता है वैसे ही तुम्हारा भी काम चलेगा।

संत न बाँधै गाँठड़ी, पेट समाता लेइ।
साँई सूँ सनमुख रहै, जहाँ माँगै तहाँ देइ ॥१०॥

अर्थ—सत के आगे-पीछे ईश्वर खड़ा है। वही देनेवाला है। उसके अतिरिक्त ससार मे कौन दे सकता है? इसलिये सत इकट्ठा नहीं करता। खाने भर को लेता है। पेट ही उसका भडार है।

द्रष्टव्य— यावत् भ्रियते जठर तावत् स्वत्वहि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तनो दण्डमर्हति ॥—भागवत ७/१४/८

राम राम सुँ दिल मिली, जम सो पड़ी बिराई।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाई ॥११॥

अर्थ—मेरा मन राम से मिल गया है। अब मेरा यम से पूरा अलगाव हो गया है। मुझे अपने इष्टदेव राम का भरोसा है। अब मै नरक नही जा सकता हूँ।

कबीर तूँ काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भूसैं जु लाख ॥१२॥

अर्थ—अब किसी बात का डर नहीं है क्योकि मेरे सिर पर प्रभु का हाथ है। मै प्रभु सरक्षण मे हूँ। लाख कुत्ते भूँके किन्तु हाथी पर चढ़ा व्यक्ति कभी विचलित नहीं होता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

मीठा खाँण मधुकरी, भाँति भाँति को नाज।
दावा किसही का नहीं, बिन बिलाइति बड़ राज ॥१३॥

शब्दार्थ—खाँण = खाँड़ या खाना। मधूकरी = भिक्षान्न। नाज = अनाज।

अर्थ—भिक्षा मे जो तरह-तरह के अनाज मिले उन्हे ही मीठा गुड़ समझ कर खाओ। अगर तुम पर किसी का दावा या अधिकार नहीं है तो बिना विलायत का राज पाये तुम अपने को राजा समझो।

अलंकार—विभावना।

माँनि महातम प्रेम रस, गरवातण गुण नेह।
ए सबही अह लागया, जबहिं कह्या कुछ देह ॥१४॥

शब्दार्थ—गरवातण = गुरुत्व। माहात्म्य। अह (स अथ) = अंत।

अर्थ—किसी व्यक्ति से ज्यो ही याचना की, त्योही प्रतिष्ठा, माहत्स्य, प्रेमरस, गुरुत्व, गुण, स्नेह आदि सभी का अत हो जाता है।

माँगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ।
कहै कबीर रघुनाथ सूँ, मतिर मँगावै मोहि ॥१५॥

अर्थ—माँगना मृत्यु के समान है। कोई बिरला ही इस मृत्यु से बच सकता है। सत कबीर कहते है कि ईश्वर से भी माँगना न पड़े।

भावार्थ यह कि भक्त को भगवान् से कुछ भी माँगने की जरूरत नहीं पड़ती। भगवान् स्वय देते है।

पाँडल पंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास।
राम नाम सींच्या अँमी, फल लागा बेसास ॥१६॥

शब्दार्थ—पाडल = कुद पुष्प। पजर = शरीर। अरथ = मनोरथ। अनूपम = विचित्र। असामान्य। अँमी = अमृत। बेसास = विश्वास।

अर्थ—शरीर कुद पुष्प है। मन भौरा है। मनोरथ असामान्य गध है। इस प्रकार मन भ्रमर चक्कर लगाता है। इसमे विश्वास के फल लगते है। इस कुद पुष्प का वृक्ष रामनाम रूपी अमृत से सींचा जाता है।

अलंकार—सागरूपक।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥१७॥

अर्थ—'मै' का भाव मिट गया। अहम् का इदम् मे विसर्जन हो गया। मै से मुक्ति का विश्वास होते ही ब्रह्म की प्राप्ति हो गयी या विश्वासरूपी ब्रह्म को पा गया। अब मेरा दूसरा कोई नहीं है। हे प्रभो, अब केवल तुम्हारी आशा है।

टिप्पणी—गो० तुलसीदास ने ईश्वर को 'श्रद्धा विश्वास रूपीणौ' कहा है। यहाँ ब्रह्म को केवल विश्वास रूप कहा गया है। अर्थ समान है।

जाकी दिल में हरि बसै, सो नर कलपै काँइ।
एक लहरि समंद की, दुख दलिद्र सब जाँइ ॥१८॥

शब्दार्थ—कलपै = दुखी होना। कॉइ = क्यो। दलिद्र = दारिद्रय।

अर्थ—जिसके हृदय मे प्रभु का निवास है वह व्यक्ति क्यो दुखी हो? भगवान् का एक अनुग्रह भी आनद समुद्र की लहर के समान है। इससे जीवन भर की दरिद्रता समाप्त हो जाती है।

पद गाये लैलीन है, कटी न संसै पास।
सबै पिछीड़े थोथेरे, एक बिनाँ येसास॥१९॥

शब्दार्थ—लैलीन = तन्मय। ससै = सशय। पास = पाश। बधन। पिछीड़े = पछोरना। थोथरे = थोथे। व्यर्थ। बेसास = विश्वास।

अर्थ—रामभक्ति के पद तन्मय होकर गाते है। फिर भी सशय का बंधन नहीं कटता है। बिना पूर्ण विश्वास के सारी सफाई व्यर्थ है। सफाई अर्थात् वासनारहित हृदय के सशय पाश कटते है वरना सशयात्मा का नाश होता है।

गावण हीं मैं रोज है, रोवण ही मैं राग।
इक बैरागी ग्रिह मैं, इक गृही मैं बैराग॥२०॥

शब्दार्थ—रोज = रोग। राग = प्रभुप्रेम। ग्रिह = गृह।

अर्थ—ससार की माया मे जो सुख मानता है। गाता है। वही रोगी हैं और माया को देखकर जो रोता है वही असली भगवत प्रेमी है। रागवाला है। एक वैराग्य मे रहकर भी घर की माया मे बँधा है। दूसरा घर मे रहकर भी विरागी है।

अलंकार—विभावना, निदर्शना।

गाया तिनि पाया नहीं, अणगाँयाँ थैं दूरि।
जिनि गाया बिसवास सूँ, तिन राम रह्या भरिपूरि॥२१॥

अर्थ—जिन्होने केवल गाने के लिये या दिखावे के लिए गाया वे ईश्वर को नहीं पा सकते। जिन्होने नहीं गाया प्रभु उनसे भी दूर है। जिन्होने विश्वासपूर्वक रामनाम का सकीर्तन किया राम उसके हृदय मे पूर्ण रूप से विराजते है।

(३६)

पीव पिछाँणन कौ अंग

संपटि माँही समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल माँड मैं रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ॥१॥

शब्दार्थ—सपटि = सपत्ति। मॉड = मडप। ब्रह्माड।

अर्थ—सपत्ति या वैभव मे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ईहवर तो सम्पूर्ण ब्रह्मांड के कण-कण मे व्याप्त है। कुछ भी ईश्वर रहित नहीं है।

रहै निराला माँड थै, सकल माँड ता माँहि।
कबीर रोवै तास कूँ, दूजा कोई नाँहि॥२॥

अर्थ—ईश्वर सपूर्ण ब्रह्माड से अलग भी है। सपूर्ण ब्रह्माड उसी मे समाहित भी है। यह विश्वरूप भी है। विश्व से अलग भी है। ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है। कबीर उसी प्रभु के प्रेम मे रो रहे है।

टिप्पणी—गीता कहती है—मया ततमिद सर्व जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेष्ववस्थित । /९/४

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।

सत्‌गुर गुरु बताइया, पूरिबला भरतार॥३॥

अर्थ–मै माया के कारण अपने असली स्वामी को भूला था। मैने इस भूल के द्वारा बड़ा व्यभिचार किया। सद्‌गुरु ने कृपा कर मेरे पूर्व जन्म के स्वामी (ईश्वर) को बता दिया।

जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रूप कुरूप।

पुहुप बास थै पतला ऐसा तत अनूप॥४॥

अर्थ–ईश्वर रूपरहित है। उसके न मुँह है। न माथा। न वह रूपवाला है। न कुरूप है। वह पुष्प की गध से भी सूक्ष्म है। वह बड़ा ही विचित्र तत्त्व है। किसी प्रकार की भौतिक उपमा से परे है।

तुलनीय–फूल मे है गन्ध जैसे और बाहर पवन मे भी,

तू कभी मेरे हृदय मे और बाहर गगन मे भी–आरसी०

(३७)

बिर्कताई कौ अंग

मेरे मन मैं पड़ि गई, ऐसी एक दरार।

फटा फटक पषाँण ज्यूँ, मिलाया न दूजी बार॥१॥

अर्थ–मेरे मन मे ससार की वासनाओ के बारे मे दरार पड़ गयी है। मेरा मन सासारिक विषयो से अलग हो गया। अब वह नहीं जुड़ेगा। जैसे फटा स्फटिक नहीं जुड़ता है वैसे ही मेरा मन अब कभी सासारिक वासना मे नहीं जायगा।

अलंकार–उपमा।

मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक।

जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक॥२॥

शब्दार्थ–वाइक = वाक्य। सगाई = सबध। बुरै = बुरी तरह से। अत्यत। साक = साख। तिवास = तीन दिन का। ऊकटि = खराब होना। हूवा = हुआ। आक = मदार।

अर्थ–सद्‌गुरु के वाक्यो को सुनकर मेरा मन ससार से अत्यत विरक्त हो गया है। वैसे ही मेरा मनोभाव ससार के प्रति विकृत हो गया है।

चंदन भाँगा गुण करै, जैसे चोली पंन।

दोइ जनाँ भागाँ न मिलै, मुकताहल अरु मंन॥३॥

शब्दार्थ–भाँगा = भग्न। टूटना। चोली = कपड़ा। पन = पान। मुकताहल = मोती।

अर्थ–चदन घिसने से गुणवान् हो जाता है। जैसे कपड़े मे लिपटा मान पलटते रहने से ठीक रहता है। किंतु मोती और मन टूट जाने पर कभी नहीं जुड़ते है।

पासि बिनंठा कपड़ा, कदे सुराँग न होइ।

कबीर त्याग्या ग्यान करि, कनक कामनी दोइ॥४॥

अर्थ–नष्ट हुआ कपड़ा कभी रगा नहीं जा सकता है। कबीर ने देखा कि स्त्री और सोने के पासवाले मन पर कभी भगवत्प्रेम का रग नहीं चढ़ेगा। अत उन्होने ज्ञानपूर्वक दोनो को छोड़ दिया।

चित चेतनि मैं गरक है, चेत्य न देखैं मंत।

कत कत की सालि पाड़िये, गल बल सहर अनंत॥५॥

शब्दार्थ—गरक = डूबकर। सालि = कॉटा। बुराई। गलबल = गड़बड़। सहर = ससार।

अर्थ—चेतना मे डूबकर देखो। गुरु मत्र पर विचार करो। ससार मे अनत गड़बड़ियाँ है। तुम किसकी-किसकी गड़बड़ी ठीक करते फिरोगे?

जाता है सो जाँण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यूँ, घणों मिलेंगे आई॥६॥

अर्थ—ससार अगर विषयो मे नष्ट हो रहा है तो नष्ट होने दो। तुम उसे नहीं बचा सकते हो। यह ससार नाव की यात्रा है। यहाँ बहुत से पार जानेवाले मिलते है। तुम केवल अपनी साधना की चिता करो। तुम्हारी साधना ठीक रहेगी तो बहुत से लोग साथ देनेवाले मिल जायेंगे।

अलंकार—उपमा।

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि।
जो त्रिषावंत होइगा, तो पिवेगा झष मारि॥७॥

अर्थ—घर-घर घूमकर क्या उपदेश देते फिरते हो? ईश्वर और ईश्वर सबधी ज्ञान तो सर्वत्र फैला है। किंतु कोई इसका उपयोग करना चाहे तब न? जो प्यासा (ज्ञानपिपासु) होगा तो वह झख मारकर सद्गुरु द्वारा बताए तरीके से अपने ही भीतर के ज्ञानसागर का उपयोग करेगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

सत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक।
राम अमलि माता रहै, ते गिणैं इंद्र कौ रंक॥८॥

अर्थ—साधुओ का कौपीन फटा है। सात गाँठोवाला है। यह फटा-पुराना कौपीन ही उसकी सत्य साधना की गाँठ है। इससे सतो को जरा भी सकोच नहीं होता। वे रामप्रेम मे मस्त रहते है। इद्र को भी कुछ नहीं समझते है।

टिप्पणी—सतो की लगोटी को कौपीन कहते है।

अलंकार—व्यतिरेक।

दावै दाझण होत है, निरदावै निरसंक।
जे नर निरदावै रहै, ते गणै इंद्र कौ रंक॥९॥

अर्थ—अगर किसी चीज का दावा या अहकार है तो उससे दाझण या दुख होगा। जो दावामुक्त है वह नि शक रहता है। जो व्यक्ति किसी चीज पर अधिकार नहीं रखना चाहता है (निरदावै) वह इद्र को भी दरिद्र समझता है।

अलंकार—व्यक्तिरेक।

कबीर सब जग हँडिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपनों को नहीं, देखे ठोकि बजाइ॥१०॥

शब्दार्थ—हँडिया = खोजा। मदिल = मदिर मुहा०-मदिल को कधा चढ़ाना = स्थिर निवास की खोज। ठोकि बजाइ = भलीभाँति।

अर्थ—सारे ससार मे स्थिर निवास की खोज की। मदिर को हर समय कधे पर लिये घूमता रहा। पता चला कि ईश्वर ही अपना है। वही स्थायी निवास दे सकता है। यह हमने भलीभाँति समझ लिया है।

(३८)

सम्प्रथाई कौ अंग

नाँ कुछ किया न करि सक्या, ना करणे जोग सरीर।
जे कछु किया सु हरि किया, तार्थे भया कबीर कबीर ॥१॥

अर्थ—सत कबीर अपनी नम्रता व्यक्त करते है कि कर्त्ता तो केवल प्रभु है। व्यक्ति तो उस प्रभुकर्म का साधन मात्र है। व्यक्ति ने न तो कुछ किया है। न कर सकता है। न उसका शरीर ही कुछ करने लायक है। प्रभु जिसे माध्यम बनाकर करता है। वह कबीर हो जाता है।

अलंकार—यमक।

कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है, तो करता औरै कोइ ॥२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि करने या कर्त्तापन के अहकार से कुछ नहीं होता है और जिसमे अकर्त्तापन का भाव है उसी का करना सफल है। मनुष्य के किये अगर कुछ होता तो कर्त्ता कोई दूसरा नहीं होता। मनुष्य स्वय अपना कर्त्ता हो जाता।

अलंकार—विरोधाभास, भेदकातिशयोक्ति।

जिसहि न कोई तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी साँइयाँ, नाँमहरूम न होइ ॥३॥'

शब्दार्थ—नॉमहरूम = नाउम्मीद। अभागा। (नॉ स्वार्थे है)।

अर्थ—हे प्रभु, जिसका कोई नहीं है उसका तुम हो। जिसके तुम हो उसका सब कोई है। हे स्वामी तुम्हारे दरबार मे कोई भी नाउम्मीद या आभागा नहीं होता है।

एक खड़े ही लहै, और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलषना, सूता देइ जगाइ ॥४॥

शब्दार्थ—विललाइ = बिलबिलाना। रोना, चिल्लाना। सुलषना = अच्छे लक्षणोवाला।

अर्थ—कोई खड़ा-खड़ा ही प्राप्त करता है। कोई खड़ा बिलबिलाता है। भगवान् भले है। ये अज्ञानाधकार मे सोये को अपनी अहेतुकी कृपा से जगा देते है।

अलंकार—व्यतिरेक।

सात समँद की मसि करौ, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ॥५॥

अर्थ—सातो समुद्रो के जल की स्याही बनाऊँ। सभी जगलो को कलम बना दूँ। पूरी धरती कागज बना दी जाय। तब भी ईश्वर के गुण-विस्तार का लेखन सभव नहीं है।

अलंकार—अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति।

तुलनीय— असित गिरि समस्यात् कज्जल सिधुपात्रे।
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी।—शिवमहिम्नस्तोत्रम्।'

अबरन कौ का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥६॥

शब्दार्थ—अबरन = अवर्ण। निराकार। बाना = ढग। बाहिया = आरोपित करना। दाहना।

अर्थ—जो अवर्ण या रूप-रग रहित निराकार आवर्णनीय है। उसको न तो लक्ष्य किया जा सकता है। न उसका वर्णन ही हो सकता है। फिर भी लोगो ने अपने-अपने ढंग से उसका

वर्णन करना चाहा। किंतु किसी को सफलता नहीं मिली। सभी थक गए। श्रम व्यर्थ रहा।

अलंकार—अवरन मे श्लेष, विशेषोक्ति।

झल बाँवे झल दाँहिनै, झलहि माँहि ब्यौहार।
आगै पीछे झलमई, राखै सिरजनहार ॥७॥

शब्दार्थ—झल = ज्वाला। बाँवै = बाएँ।

अर्थ—दाये-बाये वासना की आग जल रही है। सारा सासारिक व्यवहार भी वासना, लालसा की आग के बीच हो रहा है। आगे-पीछे सर्वत्र आग है। भगवान् ही इस वासना आग से मनुष्य की रक्षा कर सकते है।

साँई मेरा बाँणियाँ सहजि करै व्यौपार।
बिन डाँडी बिन पालड़ै, तोलै सब संसार ॥८॥

अर्थ—भगवान् एक अच्छा व्यापारी है। वह सहज साधना का व्यापार करता है। विना किसी तराजू के सारे ससार के लोगो के कर्मो को तौलता रहता रहता है।

अलंकार—विभावना।

कबीर बारचा नाव परि, कीया राई लूंण।
जिसहि चलावै पंथ तूँ, तिसहि भुलावै कौंण ॥९॥

अर्थ—अशुभ निवारण के लिये सरसो (राइ) नमक छिड़ककर मैने अपने को प्रभु को नौका पर छोड़ दिया। पूर्ण समर्पण कर दिया। अब वही प्रभु मुझे रास्ते मे चलाएगा। पथप्रदर्शक होगा। हे प्रभु, तुम जिसके पथ-प्रदर्शक हो उसे कौन भुलावे मे डाल सकता है?

कबीर करणी क्या करै, जे राम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ ॥१०॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि मनुष्य के करने से कुछ नहीं होता हैं। यदि ईश्वर की सहायता न हो, तो मनुष्य जिस जिस डाल पर पैर रखेगा वही-वही डाल झुक जायगी। भावार्थ कि बिन प्रभु की कृपा के सफलता असभव है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जदि का माइ जनमियाँ, कहूँ न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौ, पातौं पातौं दुख ॥११॥

अर्थ—जब से माँ ने जन्म दिया है। कभी सुख नहीं पाया। डाल-डाल चलता हूँ और दुख पात-पात चलता है। दुख सदा मुझसे आगे रहता है।

टिप्पणी—यह बौद्धो के 'सर्व दु खम्' का प्रभाव है।

अलंकार—लोकोक्ति।

साँई सूँ सब होत है, बंदे थै कछु नाहिं।
राई थै परबत करे, परबत राई माँहि ॥१२॥

अर्थ—ईश्वर कर्तुम् अकर्तुम् सर्वथा कर्तुम् समर्थ है। व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता है। ईश्वर छोटी से छोटी वस्तु (राई) को पर्वत और पर्वत को राई कर देता है।

टिप्पणी—स्वय ईश्वर अणु से भी छोटा और महान् से महत् है।

अलंकार—लोकोक्ति।

(३९)

कुसबद कौ अंग

अणी सुहेली सेल की, पड़तौ लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरु मैं दास ॥१॥

अर्थ—अणी = नोक। सुहेली = भलीभाँति प्रवेश करनेवाली। सेल = भाला। उसास = ऊर्ध्व श्वास। सहारै = सहन करे।

अर्थ—भाला भलीभाँति धँसता है। उसकी नोक की चोट पड़ते ही जोर-जोर से उसाँस लेता है। किंतु जो व्यक्ति शब्द की चोट सहता है वह मेरा गुरु है और मै उसका दास हूँ। मतलब कि शब्द की चोट भाले की नोक की चोट से भी अधिक भयकर है।

अलंकार—व्यतिरेक।

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥२॥

अर्थ—लोग पृथ्वी खोदते है। धरती उसे सहती है। वन बाढ़ बर्दाश्त करता है। चाहे कितनी भी बाढ़ आये वह बहता नहीं। बाढ़ के वेग को भी रोकता है। किंतु भक्त (हरिजन) उससे भी श्रेष्ठ है क्योकि वह कुशब्द को भी सहता है। कुशब्द किसी दूसरे से बर्दाश्त नहीं हो सकता है।

अलंकार—तुल्ययोगिता।

अर्थ—शात प्रकृति का आदमी उसे जानना चाहिए जिसमे मानापमान सहने की क्षमता है। जो किसी का पक्ष न ले। निष्पक्ष रहे। जिसका एक शब्द भी दूषण के योग्य न हो।

तुलनीय—सुख-दुख सरिस प्रसस। गारी।—तुलसी

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ॥४॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से मै शीतल हो गया। वासना की जिस आग (बैंसदर) से सारा संसार जल रहा है। प्रभुकृपा से वह मेरे लिये पानी (उदक) के समान हो गयी है।

(४०)

सबद कौ अंग

कबीर सबद सरीर मैं बिनि गुण बाजै तंति।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, तातै छूटि भरंति ॥१॥

शब्दार्थ—गुण = रस्सी। डोरी। तति = तन्त्री। तार। तारवाला बाजा। भरति = भ्रांति। भ्रम।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि शरीर मे सद्‌गुरु द्वारा बताए मार्ग से बिना किसी डोरी या तार के बाजा बज रहा है। बाहर और भीतर एक प्रकार का नाद हो रहा है। बाहर जो गुरु शब्द है। भीतर वही अनाहत नाद है। किंतु यह बिना गुण के निर्गुण शब्द है। यह शब्द बाहर-भीतर भर गया है जिससे ससार को सत्य समझने का भ्रम दूर हो गया है।

अलंकार—विभावना।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थैं, सहज सील मत सार ॥२॥

अर्थ—सत्य पर निष्ठा रखनेवाला, सतोषी, सावधान, शब्द के भेदोपभेद पर अच्छी तरह विचार करनेवाला सद्गुरु की कृपा से सहज ही सभी विश्वासो (मत) के सारतत्त्व शील को समझ लेता है। कहने का अर्थ है कि सद्गुरु की कृपा से बहुत से मतो की खोज न कर सहज ही शील की प्राप्ति हो जाती है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ॥३॥

शब्दार्थ—सिकलीगर = सान धरानेवाला। मसकला = सान धराने का औजार।

अर्थ—सद्गुरु को सान धरानेवोले के समान होना चाहिए जो शब्दरूपी मसकले पर फेरकर शिष्य के तन-मन को दर्पण सा चमका दे। शिष्य आत्मबोध के लिए अन्यत्र न जाकर उसे अपने भीतर से ही प्राप्त करे।

अलंकार—रूपक।

सतगुर साच सूरिवॉ, सवद जु बाह्या एक।
लागत ही मे मिलि गया, पड़्या कलेजे छेक।।

यह साखी १/७ मे आ चुकी है।

हरि रस जे जन बेधिया, सतुगुरु सी गणि नॉहि।
लागी चोट सरीर मे, करक कलेजे मॉहि ॥४॥

अर्थ—हरि रस (या शर) से जो जन विद्ध हुए उनके सामने सैकड़ो गुणो (शतगुण) की गणना नहीं हो सकती है। हरि रस (या शर) की चोट लगती है शरीर मे। किंतु दर्द कलेजे मे होता है। मतलब कि तन-मन विद्ध हो जाता है।

अलंकार—असगति।

ज्यूँ ज्यूँ हरिगुण साभलूँ, त्यूँ त्यूँ लागै तीर।
सॉठी सॉठी झड़ि पड़ी, झलका रह्या सरीर ॥५॥

शब्दार्थ—सॉठी-सॉठी = १ सानठी, २ सरकडा। झलका = १ चोट का निशान, २ फफोला।

अर्थ—जैसे-जैसे विषयो से सम्हलकर अलग होता हूँ। हरिगुण मे प्रवेश करता हूँ। त्यो त्यो प्रभु प्रेम के तीर लगते है। इन तीरो की सनाठी या सरकडे तो गिरजाते है किंतु शरीर पर (झलका) फफोला हो आता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

ज्यूँ ज्यूँ हरिगुण सॉभलौ, त्यूँ त्यूँ लागै तीर।
लागै थै भागा नहीं, साहणहार कबीर ॥६॥

अर्थ—ज्यो-ज्यो हरिगुण मे सम्हलता हू। त्यो-त्यो अनियारे प्रेम वाण लगते है। तीर लगने से भागा नहीं। सत कबीर उसे सहनेवाले है।

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥७॥

शब्दार्थ—सारा = १ चिता। २ सभी।

अर्थ—चित पर चढ़ा व्यक्ति या चिता के पास खड़े लोग दुख प्रगट करते है। भगवत्प्रेम की पीड़ा उससे भिन्न और विशिष्ट होती है। जब किसी को सद्गुरु के शब्दो की चोट लग जाती तो

उसकी विपय चचलता समाप्त हो जाती हे। वह व्यक्ति स्थिरतत्त्व प्रभु के पास पहुँच जाता हे।

अलकार—भेदकाशयोक्ति।

(४१)

जीवन मृतक कौ अंग

जीवन मृतक हे रहे, तजे जगत की आस।
तव हरि सेवा आपण करे, मति दुख पावे दास।।१।।

अर्थ—विपयो से अलग रहना ही जीवित मृत्यु हे। जो व्यक्ति जगत को छोड प्रभु की आशा करता हे वह जीवित रहकर भी मृत्यु का आनद प्राप्त करता हे। इसलिये कि सासारिक विषयो से सुख की आशा ही दुख का कारण हे।

द्रष्टव्य—आशा हि परम दुख नेराशा हि परम सुखम्। शास्त्रो मे निराशी को पिगलावत् सुखी कहा हे।

कबीर मन मृतक भया, दुरवल भया सरीर।
तब पेडे लागा हरि फिरे, कहत कबीर कबीर।।२।।

शब्दार्थ—पडे = रास्ता। पेडे लगना (मुहा०) पीछे लगना।

अर्थ—जव मन विपयो के प्रति मर जाता है। विपय विरक्ति के कारण शरीर दुर्वल हो जाता हे। तो भगवान् भक्त के पीछे चलने लगता हे। भक्त के स्थान पर स्वय भगवान् उसे पुकारने लगता हे।

तुलनीय— निरपेक्ष मुनि शात निर्वेर समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यह नित्य पूयेयेत्यड्घ्रि रेणुभि।—भागवत ११/१४/१६

कबीर मरि मडहट रह्या, तब कोइ न बूझे सार।
हरि आदर आगे लिया, ज्यूँ गउ बछ की लार।।३।।

शब्दार्थ—मडहट = श्मशान। सार = सुधि। खवर। लार = लाड। प्यार।

अर्थ—सत कवीर कहते हे कि जव मन ने विपयो को छोड दिया। सभी स्वार्थवश ही पूछते हैं। विपय विरक्ति के कारण मन किसी की स्वार्थपूर्ति नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे भगवान् आगे वढकर स्वागत करते है। जैसे गाय वछडे को प्यार करती है।

जव लोग पूछते थे तव प्रभु नही और जव प्रभु पूछते हैं तो ससार के लोगो ने पूछना छोड दिया। भगवान् गाय हे ओर भक्त वछडा।

अलकार—उपमा।

घर जालौं घर ऊबरे, घर राखो घर जाइ।
एक अचभा देखिया, मुआ काल को खाइ।।४।।

शब्दार्थ—घर = सासारिक घर। आध्यात्मिक घर। मुआ = मृत। खाइ = खाता है।

अर्थ—जिसने वासना भरे सासारिक घर जला दिया, नप्ट कर दिया। उसका घर उवर गया। उसे मुक्ति मिल गयी। किंतु जो सासारिक घर को ठीक करने के चक्कर मे रहा उसका आध्यात्मिक (पारलौकिक) निवास नष्ट हो गया। एक आश्चर्य देखा जाता हे कि मृत व्यक्ति काल को खाता हे। भाव यह कि जो विपयमुक्त हो गया हे काल उसका कुछ विगाड नही सकता। भक्तो पर काल का प्रभाव नही पडता हे। भगवान् के समान ही भक्त कालचक्र से परे हे।

तुलनीय— घर राखे घर जात हे घर राखे घर जाइ।
तुलसी घर वन वीच ही राम प्रेमपुर छाइ।।—दोहावली।

अलकार—यमक, विरोधाभास।

मरताँ मरताँ जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसे मरि मुवा, ज्यूँ बहुरि न मरना होइ ॥५॥

अर्थ—ससार मे सभी लोग बार-बार मरते है। किंतु ससार मे रहते हुए वासना मुक्ति का अवसर पाकर भी जल्दी कोई नहीं मरता अर्थात् वासना नहीं छोड़ता। सत कबीर ने वासना से मुक्ति पा ली। अब उन्हे पुन नही मरना होगा। उनका भवचक्र पूरा हो गया।

बैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल संसार।
एक कबीर ना मुवा, जिनि के राम अधार ॥६॥

अर्थ—ससार मरणधर्मा है। रोगी तो मरता ही है। वैद्य भी मरते है। सारा ससार मरना है। एक भक्त नही मरता है। जिसका आधार विषय न होकर भगवान् है। मृत्यु से अमृत गमन ही भक्ति है।

टिप्पणी—गीता मे भगवान कहते है—

कौतेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति। ९/३१

मन मारया ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥७॥

अर्थ—भक्त ने पहले विषयो मे दौड़नेवाले चचल मन का विरोध किया। इससे विषयो के प्रति होनेवाला भाव नष्ट हो गया। इससे अहकार या कर्त्तापन का भाव भी छूट गया। आत्मप्रधान योगी तो परमात्मा मे रमण करने लगा। उसके स्थान पर केवल ज्वलनशील शरीर रह गया या जले शरीर की राख रह गयी। विभूति का अर्थ यश भी है। मरने के बाद भी योगी का यश रह गया। रूप जल गया। नाम रह गया।

तुलनीय— झल ऊठी झोली जली खपरा फूटिम फूटि।
जो सो था गी रमि, रहा, आसनि रही विभूति ॥—(कबीर (साखी ४/४)

टिप्पणी—सत गोरखनाथ ने ममड़ी, दमड़ी और चमड़ी इन तीनो से बचने का उपदेश किया है।

जीवन थै मरिबो भलौ, जौ मरि जानै कोइ।
मरनै पहली जे मरे, तौ कलि अजरावर होइ ॥८॥

अर्थ—अनित्य ससार के दुख मे बार-बार मरनेवाले जीवन से तृष्णा मुक्ति की मृत्यु अच्छी है। किंतु यह मृत्यु तो तभी प्राप्त हो सकती है जब कोई ऐसी मृत्यु को जाने। सासारिक मृत्यु के पूर्व जो व्यक्ति आध्यात्मिक मृत्यु को वरण करता है वह कलिकाल मे भी अमर हो जाता है।

अलंकार—विरोधाभास।

खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोइ।
राम कसौटी सो टिकै, जौ जीवन मृतक होई ॥९॥

अर्थ—रामभक्ति की कसौटी कठिन है। जिस व्यक्ति मे जरा भी विषयो का खोटापन है वह यहाँ नहीं टिक सकता है। रामभक्ति की कसौटी पर वही टिक सकता है जो जीते जी मरा हो या विषयो से मुक्त हो।

आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न को पत्याइ ॥१०॥

शब्दार्थ—आपा = अहकार। अपनापन।

अर्थ—अहंकार मिटने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है। किंतु हृदय से ईश्वर को निकाल देने से सब कुछ चला जाता है। ईश्वर प्रेम की कहानी अकथनीय है। कहने पर कोई विश्वास नहीं करेगा। क्योकि यह कहानी सासारिक पद्धति की न होकर उलटी पद्धति की है।

निगुसाँवाँ वहि जाएगा, जाके थाघी नही कोइ।
दीन गरीबी बंदिगी, करता होइ सु होई ॥११॥

शब्दार्थ—निगुसॉवॉ = गुसाईरहित। जिसका कोई मालिक न हो। थाघी = सहारा। दीन = दैन्य। बदगी = वदना।

अर्थ—जिसका कोई गोस्वामी न हो यानी प्रभुरहित व्यक्ति वासना के प्रवाह मे बह जायगा। क्योकि उसका कोई सहारा नहीं है। वासना तो स्वय सहारा चाहती है। वह किसका सहारा बन सकती है? दीनता, गरीबी और वदना आदि करने से शायद कुछ हो सकता है।

दीन गरीबी दीन कौं, दुंदर कौ अभिमान।
दुंदुर दिल विष सूँ भरी, दीन गरीबी राम ॥१२॥

शब्दार्थ—दीन = दिया। दुँदर = द्वन्द्ववाला या झगड़ालू। दीन = अकिचन। दैन्ययुक्त।

अर्थ—जो दैन्ययुक्त है उसे गरीबी दी। झगड़ालू को अभिमान दिया। झगड़ालू का दिल जहर से भरा होता है। दीनता और गरीबी मे ही राम का निवास है।

टिप्पणी—अकिचनता और दीनता भगवत्प्राप्ति के महत्त्वपूर्ण साधन है। गोस्वामी जी ने कहा है—

तु दयालु दीन हौ
दू दानि हौ भिखारी।—विनय पत्रिका।

श्रीमद्भागवत मे भगवान् कृष्ण ने कहा है—

त भ्रश्यामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्। १०/२७/१६

कबीर घेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसे है रह्या, ज्यूँ पाऊँ तलि घास ॥१३॥

शब्दार्थ—चेरा = चेला। परदास = परमदास। पाऊॅ = पॉव। तलि = नीचे।

अर्थ—कबीर सतो के चेले है। भगवान् के दास के दास है। सत कबीर कहते है कि भक्त को पैर के नीचे की घास के समान नम्र तथा सेवक बनकर रहना चाहिए। दासानुदास।

टिप्पणी—असली भक्त दासो का दास है। भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

ये मे भक्तजना पार्थ! न मे भक्ताश्च ते जना ।
मद्भक्तानाच ये भक्ता मम भक्तास्ते नरा ।—आदि पुराण।

रोड़ा है रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान।
ऐसा जे जन है रहै, ताहि मिलै भगवान ॥१४॥६३२॥

शब्दार्थ—रोड़ा = ठीकरा। बाट = रास्ता।

अर्थ—मनुष्य को चाहिए कि वह अभिमान छोड़कर इतना नम्र हो जाय जैसे वह रास्ते का ठीकरा हो। ऐसे व्यक्ति को ही भगवान मिलते है।

(४२)

चित कपटी कौ अंग

कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जालूँ कली कनीर की, तन रातौ मन सेत ॥१॥

शब्दार्थ—हेत प्रेम। कनीर = एक फूल।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जहॉ प्रेम मे कपट हो वहॉ कभी मत जाइए। कपटी प्रेम के

प्रतीक उस कनेर की कली को जला दूँ जिसका बाहर (तन) प्रेम रग मे लाल और भीतर (मन) प्रेमहीन (श्वेत) हो।

तुलनीय—मन कपटी तन सज्जन चीन्हा॥—तुलसी।

संसारी सायत भला, कँवारी के भाइ।
दुराचारी वैश्नों बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ॥२॥

शब्दार्थ—कँवारी = माया।

अर्थ—माया मे अनुरक्त शाक्त दुराचारी वैष्णव की अपेक्षा अधिक अच्छा है। भक्तो को ऐसे वैष्णवो से अलग रहना चाहिए।

निरमल हरि का नाव सों, कै निरमल सुध भाइ।
कै ले दूणी कालिमा, भावै सौ मण सावण लाइ॥३॥

अर्थ—ईश्वर का नाम स्मरण मन को शुद्ध करता है। इसलिये नाम जप के द्वारा मन को शुद्ध करना चाहिए। ऐसा न करने से कालिमा (पापभाव) और बढ़ती जायगी। चाहे सौ मन साबुन क्यो न लगाओ।

अलंकार—यमक।

(४३)

गुरुसिष हेरा कौ अंग

ऐसा कोई ना मिले, हम कौं दे उपदेस।
भौसागर मैं डूबता, कर गहि काढ़े केस॥१॥

अर्थ—ससार मे सद्गुरु को छोड़कर कोई ऐसा नहीं मिला जो हमे ठीक-ठीक उपदेश करे। जिसके उपदेश द्वारा भवसागर मे डूबता व्यक्ति मुक्त हो जाय। जैसे आकंठ डूबते व्यक्ति को कोई चोटी पकड़कर पानी से बाहर खींच लेता है।

तुलनीय— सतगुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमै।
तब कछु बनहि उपाय, कर्मचोर आवत रुकै। —एक जैन रचना

अलंकार—रूपक।

ऐसा कोई न मिले, हम कौं लेइ पिछानि।
अपना करि किरपा करे, ले उतारे मैदानि॥२॥

अर्थ—ऐसा कोई नहीं मिलता है जो मेरे भीतर की सद्बुद्धि को पहचानकर कृपापूर्वक अपना ले और भवसागर से बाहर कर ज्ञान के स्थिर और प्रशस्त मैदान मे स्थापित कर दे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसा कोई ना मिले, राम भगति का गीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूँ, सुनै बधिक का गीत॥३॥

अर्थ—हिरण अपने प्राणो पर आए सकट को भूलकर बधिक का सगीत सुनता है। उसी प्रकार मनुष्य को सद्गुरु की जरूरत है जो रामभक्ति का गीत सुनाए। भक्तिनाद ब्रह्म (भक्ति सगीत) मे इतना तन्मय हो जाय कि उसे मृत्युभय न हो।

अलंकार—उपमा।

ऐसा कोई ना मिले, अपना घर देइ जराइ।
पंचूँ लरिका पटिक करि, रहै राम ल्यौ लाइ॥४॥

अर्थ–ससार मे ऐसा कोई नही है जो विषय भरे इस सासारिक घर को जला दे। छोड़ दे। ज्ञानेन्द्रियो के विषय अर्थात् पॉचो बच्चो को पटक कर राम से लग जाय।

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति।

ऐसा कोई ना मिले, जासौ रहिये लागि।
सब जग जलता देखिये, अपणी अपणीं आगि ॥५॥

अर्थ–ससार मे सभी दुखी है। ऐसा कोई नहीं है जिससे लगकर रहा जा सके। सारे ससार के लोग अपनी-अपनी आग, अपने-अपने दुख से दुखी है। क्योकि सभी लोग विषयो मे फसे है और विषयाग्नि से जल रहे है।

तुलनीय– चिता सॉपिनि काहि न खाया।
को जग जाहि न व्यापी माया ॥–तुलसी।

ऐसा कोई ना मिले, जासूँ कहूँ निसंक।
जासूँ हिरदे की कहूँ, सो फिरि माडै कंक ॥६॥

शब्दार्थ–माडै = बनाता है। कक = बगुला।

अर्थ–ससार मे सभी स्वार्थी है। ऐसा कोई नहीं मिलता है जिससे दिल की बात की जाय। जिससे बात कीजिए वही बगुला भगत जैसा वेश बनाए दीखता है।

ऐसा कोई न मिले, सब विधि देइ बताइ।
सुंनि मंडल मै पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥७॥

शब्दार्थ–विधि = तरीका। ज्ञान। सुनिमडल = आकाश। सहस्रार। मै = मे। पुरिष = ब्रह्म। परमात्मा। ल्यौ = ध्यान। लाइ = लगा। शून्य मडल मे जो अविनाशी परमात्मा विराजमान है उससे ध्यान लग जाता। कोई ऐसा गुरु मिलता जो परमात्मा प्राप्ति की विधि बता देता।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाँह।
ऐसा कोईना मिले, पकड़ि छुड़ावे बाँह ॥८॥

अर्थ–सत समझता है कि विषयो मे डूबा यह ससार नष्ट हो रहा है। ससार की दृष्टि मे विषयमुक्त फक्कड़ भक्त पागल है। नष्ट हो गया है। ऐसा कोई नहीं है जो ससार के प्राणियो को जो विषयो मे लगे है, विषयो की बॉह पकड़े है उन्हे बॉह पकड़कर छुड़ा दे। अर्थात् विषयो से मुक्ति दिला दे।

तीनि सनेही बहु मिले, चौथे मिले न कोइ।
सबे पियारे राम के, बैठे परबसि होइ ॥९॥

अर्थ–तीन के बहुत से अर्थ है–तीन एषणाऍ (सुत, वित्त, लोक), तीन पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम) आदि। इन तीनो के प्रेमी बहुत से है। किंतु इन तीनो मे मुक्ति चाहनेवाले नहीं मिलते है। सभी जीव राम प्यारे है। किंतु सभी माया मे लिप्त है।

राम के प्यारे को मुहावरा मानकर अर्थ होगा–सभी माया के वश मे होकर मृत्यु के मुख मे जा रहे है।

टिप्पणी–भगवान् स्ववश है। जीव परवश है–
परबस जीव स्ववस भगवता
जीव अनेक एक श्रीकता ॥–तुलसी

गोरखनाथ ने–दमड़ी, चमड़ी ममड़ी इन तीनो को त्यागने को कहा है।

माया मिले महोबंती, कूड़े आखै बैन।
कोई घायल बेध्या ना मिलै साईं हंदा सैण ॥१०॥

शब्दार्थ–कूड़े = व्यर्थ। आखै = अक्षर। बैन = वचन। बोल। हंदा = से। सैण = सकेत।

अर्थ–माया मोहती है। जब कोई सत्गुरु के शब्दो से घायल, बिधा हुआ तथा सकेत प्राप्त

करता है तो माया की बाते व्यर्थ जान पड़ती है।

सारा सूरा बहु मिलै, घाइल मिले न कोइ।
घाइल ही घाइल मिले, तब राम भगति दिढ़ होइ ॥११॥

अर्थ—माया के बहादुर बहुत मिलते है। किंतु प्रेम मे घायल कोई नहीं मिलता है। घायल को ही घायल मिलता है। अर्थात् भक्त को जब भक्त से भेट होती है तो भक्ति दृढ़ होती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

प्रेमी ढूँढत मै फिरौ, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौ प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ ॥१२॥

अर्थ—भगवत्प्रेमी को खोजता फिरता हूँ, किंतु कोई भगवत्प्रेमी नहीं मिलता है। भगवत्प्रेमी उसी को मिलते है जो स्वय भगवत्प्रेमी हो। भगवत्प्रेमी मिलने से ससार का वासनारूपी जहर भी अमृत हो जाता है। भावार्थ यह कि फिर विषयवासना से कुछ नुकसान नहीं होता उलटे वह सहायक बन जाती है। प्रवृत्तियो के उलटने से वासना का फल भी उलटा हो जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

हम घर जाल्या आपणाँ, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौ तास का, जे चलै हमारे साथि ॥१३॥

अर्थ—साधक ने विषयासक्त अपना घर जला दिया। अब वह लुकाठी लिये घूम रहा है। जो उसके साथ चलेगा। उसका अनुयायी होगा। उसका भी वासनामूलक घर जल जायगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(४४)

हेत प्रीति सनेह कौ अंग

कमोदनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥१॥

अर्थ—भक्त और भगवान् की दूरी महत्त्वहीन है। असली चीज है प्रेम। प्रेम से भक्त और भगवान् की दूरी समाप्त हो जाती है। जैसे तालाब मे रहनेवाली कुमुदिनी आकाश के चद्रमा को देखकर खिल उठती है। प्रेम असली तत्त्व है। प्रेम के कारण दूर की वस्तुएँ भी पास आ जाती है।

यहाँ कुमुदिनी से मतलब मूलाधार चक्र स्थित कमल से भी है। इसके पास ही कुडलिनी होती है जिसका जागरण ऊर्ध्व की ओर होता है। साधना की स्थिति को कुमुदिनी और चद्रमा का मिलन कहते है। क्योकि चद्रमा प्रभु आकाश (ब्रह्मरध्र) = मे स्थित है।

तुलनीय—

(क) जल महि वसै कमोदणी, चद उबसइ अगासि।
ज्यॉही ज्यॉही कइमनि बसइ, सउ त्यों ही कह पासि। —ढोलामारू रा दूहा।

कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदाँ तीर।
बिसार्‍या नहीं बीसरै, जे गुँण होई सरीर ॥२॥

अर्थ—वाराणसी या शिवपुरी का अर्थ शून्य भी है। इस प्रकार अर्थ होगा कि गुरु प्रभु का वास ब्रह्मरध्र मे है और साधक शिष्य साधना के निम्न पीठ—सासारिक स्थिति (जो साधना का प्रारभ भी है) मे रहता है। यही वासनारूपी समुद्र के किनारे की धरती है। इसे आधार चक्र भी

कहते है। आधार चक्र गुरु के पास होता है (दि० डा नागेद्रनाथ उपाध्याय कृत नाथ और सत साहित्य) ऐसा साधक कभी गुरु को नहीं भूलता है।

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।
जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छाँड़ि न जाइ॥३॥

अर्थ—जो जिसको अच्छा लगता है वह कभी न कभी अवश्य आ कर मिलेगा। जिसको तुम तन मन सौप दोगे वह तुम्हे कभी छोड़कर नहीं जायगा।

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मै मिलि जाइ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ॥४॥

अर्थ—भक्त और भगवान् एक मत होकर मन मे मिलते है। भगवान् की प्राप्ति का आधार चतुराई नहीं है। मन को भावपूर्वक समर्पित करने से भगवत्प्राप्ति होती है।

(४५)

सूरा तन कौ अंग

काइर हुवाँ न छूटिये, कछु सूरातन साहि।
भरम भलका दूरि करि, सुमिरण सेल सँबाहि॥१॥

शब्दार्थ—काइर = कायर। सूरातन = शूरत्व। साहि = साधो। भलका = गॉसी। सेल = भाला। सॅबहि = सवाहन। चलाना।

अर्थ—कायर होने या भागने से मुक्ति नहीं मिलेगी। मुक्ति वीरकर्म है। इसलिये वीरत्व साधो। भ्रम की जो गॉसी चित्त मे घुसी है उसे निकालकर भगवत्स्मरणरूपी भाले का सवाहन (प्रवेश) कराओ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

षूँणै पड़्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान मै, करि इंद्र्याँ सूँ झूझ॥२॥

शब्दार्थ—षूणै = कोने मे। मैदान = युद्धभूमि।

अर्थ—ऐ अज्ञानी जीव! सुनो। कोने मे रहकर यमराज से नहीं बच सकते हो। विषयवासनारूपी यमराज, इद्रियॉ जिनकी सेना है उनसे युद्धभूमि मे युद्ध करो। तभी तुम्हे मुक्ति मिल सकती है। अर्थात् दृढ़तापूर्वक इद्रियो के विषयो को मार डालो।

कबीर साईं सूरिवाँ, मन सूँ माँडे झूझ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज॥३॥

अर्थ—वही सच्चा बहादुर है जो मन से युद्ध करता है। पॉचो इन्द्रियो और उनके विषयो (रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द) को गिरा दे तथा अपने भीतर के द्वैतभाव को हटा कर ब्रह्म से अद्वैत हो।

सूरा झूझै गिरद सूँ, इक दिसि सूर न होइ।
कबीर यौं बिन सूरिवाँ, भला न कहिसी कोइ॥४॥

शब्दार्थ—गिरद = चारो ओर।

अर्थ—बहादुर भक्त चारो ओर जूझता है। सभी प्रकार के विषयो का नाश करता है। एकाध विषय का नाश करने से कोई बहादुर नहीं होता है। चौतरफा युद्ध न करनेवाले योद्धा को कोई भला नहीं कहेगा॥

कबीर आरणि पैसि करि, पीछैं रहै सु सूर।
साँई सूँ साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ससाररूपी जगल मे प्रवेश कर जो पीछे रहता है वही बहादुर है। ऐसे ही व्यक्ति ईश्वर के साथ सच्चे रहते है। और ईश्वर इनकी सहायता करता है।

गगन दमाँमाँ बाजिया, पड़्या निसानै घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिवै, मुझ मरणे का चाव ॥६॥

शब्दार्थ—दमाँमाँ = नक्कारा। धौसा। निसानै = एक प्रकार का बाजा। घाव = चोट। घात। चाव = इच्छा। चाह।

अर्थ—आकाश यहा ब्रह्मरध्र मे धौसा (अनाहत नाद) बज रहा है। सद्गुरु के शब्दो की चोट खाकर साधक विषयो से लड़ने के लिये मैदान मे डट गया है। उसमे मरने की इच्छा या मुक्ति की इच्छा उत्पन्न हो गयी है। मरने की इच्छा का अर्थ है विषयो से मुक्ति की इच्छा।

कबीर मेरे संसा को नहीं, हरि सूँ लागा हेत।
काँम क्रोध सूँ झूँझणाँ, चौड़े माँड्या खेत ॥७॥

शब्दार्थ—ससा = सशय। हेत = प्रेम। खेन = युद्धभूमि।

अर्थ—भक्त कहता है कि मेरे मन मे अब किसी प्रकार का सशय नहीं है। प्रभुप्रेम के प्रति पूर्ण निष्ठा हो गयी है। अब चौड़ी युद्धभूमि मे काम, क्रोध आदि से युद्ध होगा।

सूरै सार सँबाहिया, पहर्‌या सहज संजोग।
अब कै ग्याँन गयंद चढ़ि, खेत पड़न का जोग ॥८॥

शब्दार्थ—सार = लोहा। सँवाहिया = सभाला। सजोग = कवच। गयद = हाथी खेतपड़न = युद्धभूमि मे मृत्यु।

अर्थ—साधक ने लोहा ले लिया है। उसने सहज साधना का कवच धारण कर लिया है। अब वह ज्ञानरूपी हाथी पर है। इस बार युद्धभूमि मे मरने का योग बैठा है।

टिप्पणी—साधक युद्धभूमि मे तो मरना चाहता है। क्योकि गीता के अनुसार मरेगा तो स्वंग प्राप्त करेगा। जीने पर धरती का राज्य प्राप्त करेगा।

सत कबीर अन्यत्र भी ज्ञान हाथी की चर्चा करते है।

हाथी चढ़िया ज्ञान का सहज दुलीचा डार। स्वान रूप ससार है भूकन दे झख मार।

अलंकार—सागरूपक।

सूरा तबही के परषिये, लडै धणीं कै हेत।
पुरिजा, पुरिजा ह्वै पड़े, तऊ न छाड़े खेत ॥९॥

शब्दार्थ—धर्णी = प्रभु। हेत = प्रेम। लिये।

अर्थ—बहादुर की परीक्षा ईश्वर प्रेम के लिये युद्ध करने मे है। ससार के विषय या विषयी जीवन चाहे उसके शरीर को टुकड़ा-टुकड़ा कर दे तो भी वह युद्धक्षेत्र में न भागे। अपनी साधना पर अटल रहे।

अलंकार—श्लेष।

खेत न छाड़ै सूरिवाँ, झूझै द्वै दल माँहि।
आसा जीवन मरण की, मन मैं आँणै नाहि ॥१०॥

अर्थ—बहादुर कभी मैदान नहीं छोड़ते है। वे सत्-असत् द्वन्द्वमूलक दल मे घुसकर मार करते है। वे कभी जीवन मरण की आशा नहीं करते। द्वन्द्वरहित होकर लड़ते है।

अब तौ झूझ्याँ ही बणैं, मूढ़ि चाल्यां घर दूरि।
सिर साहिब कौ सौपता, सोच न कीजै सूरि ॥११॥

अर्थ—अब तो विषयो से लड़ना ही होगा। मुड़कर भागने से काम नहीं चलेगा। क्योंकि वासनामूलक जिस घर को छोड़ा था अब बहुत पीछे छूट गया है। हे बहादुर, भगवान को अपना अहकार (सिर) सौपने मे सोच-विचार मत करो।

अब तो ऐसी है पड़ी, मनका रुचित कीन्ह।
मरनैं कहा डराइये, हाथि स्यँधौरा लीन्ह ॥१२॥

अर्थ—अब तो मन का रुचिकर विषय अर्थात् जो बहुत दिनो से मन चाह रहा था वही हो रहा है। अब सती हाथ मे सिधौरा लेकर पति के साथ सती होने के लिये तैयार है।

जिस मरनै थै जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमांनद ॥१३॥

अर्थ—मृत्यु तो शरीर की होती है। आत्मा तो अमर है। इसलिये सत कहते है कि जिस मृत्यु अर्थात् वासनात्मक देह के छूटने से संसार डरता है वह मेरे लिये आनद का विषय है। मै (साधक) तो चाहता हूँ कि मरूँ (विषय मुक्त होकर) और पूर्ण प्रभु का साक्षात्कार करूँ।

कायर बहुत पमाँवहीं, बहकि न बोलैं सूर।
काँम पड़्याँ ही जाँणिहै, किसके मुख परि नूर ॥१४॥

शब्दार्थ—पमाँवही = बहकना। नूर = काति। चमक।

अर्थ—कायर बहुत बोलता है। बहादुर कभी बहकर नही बोलते है। काम पड़ने पर ही समझ मे आता है कि उनके चेहरे पर काति रहती है या वे लज्जित होते है।

तुलनीय—सूर समर करनी करहि, कहि न जनावहि आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहि प्रतापु॥—तुलसी।

अलंकार—लोकोक्ति।

जाइ पूछौ उस घाइलै, दिवस पीड निस जाग।
बाँहणहारा जणिहै, कै जाँणै जिस लाग ॥१५॥

अर्थ—प्रभुप्रियतम के प्रेम मे घायल साधक से पूछो जो दिन रात उसके दर्द मे जागता है। प्रेम की पीड़ा को मारनेवाला समझता है या जिसे उसकी चोट लगी हो।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

घाइल घूँमे गहि भर्त्या, राख्या रहै न ओट।
जतन कियाँ जीवै नहीं, बणीं मरम की चोट ॥१६॥

शब्दार्थ—गहिभर्त्या = गह्वर। व्याकुल। बणी = बन गयी। लग गयी।

अर्थ—प्रेम मे घायल। जिसे शब्द ब्रह्म की चोट लग गयी है वह व्याकुल होकर घूमता है। वह किसी सासारिक वस्तु के सहारे नहीं रह सकता है। सासारिक यत्नो से तो वह कभी बच नहीं सकता। उसका जीवन तो प्रभु मिलन मे ही सुरक्षित है।

ऊँचा बिरष अकासि फल, पंषेरू मूए झूर।
बहुत सयाँने पचि रहे, फल निरमल परि दूरि ॥१७॥

अर्थ—साधना का वृक्ष अत्यत ऊँचा है। इसका फल आकाश (सहस्रार) मे लगता है। किंतु जीवात्म पक्षी साधना के अभाव मे इस फल तक न पहुँच कर दुखी होता है। जिन्होने बुद्धि-विद्या द्वारा इस तत्त्व को पाने की कोशिश की वे विफल रहे। क्योकि आकाश-फल असाधक की पहुँच के बाहर है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

दूरि भया तो का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपै नहीं, कारिज सिधि न होइ ॥१८॥

अर्थ—जीवात्मा या साधक ईश्वर से दूर है तो क्या है? अहकार (सिर) को समाप्त कर नजदीक (नेड़ा) हो सकता है। जब तक सिरसीपे नहीं, कार्यसिद्धि नहीं हो सकती है।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहि ॥१९॥

शब्दार्थ—खाला = खाला का बहुप्रचलित अर्थ मौसी है। किंतु डिंगल कोश मे इसका अर्थ वेश्या भी है। हाथिकरि सीस उतारना = अहम् का विसर्जन। घर = साधना मदिर।

अर्थ—भगवान् का घर तो प्रेम से भरा है। यहाँ प्रेमी ही प्रवेश पा सकते है। वे प्रेमी जो अपना अहकार छोड़ दे। अहकार छोड़ना ही सीस उतारना है।

टिप्पणी—भगवत्प्रेम और मौसी के घर के प्रेम मे मुख्य अतर अहकार का किया जा सकता है। मौसी के घर मे अहकार शायद चल जाय। किंतु अहकार तो किसी प्रेम मे सभव नहीं।

वेश्या का घर प्रेम का नहीं, काम और अर्थ का होता है। अत प्रेम से उसका विरोध ठीक बैठता है।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥२०॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि अपनी साधना का घर प्रेम से भरा है। इस साधना का मार्ग अगम्य और अगाध है। जब कोई व्यक्ति अपने अहकार (सिर) को गुरुचरणो के नीचे रख देता है तभी उसे प्रेम के स्वाद की अनुभूति होती है।

प्रेम न खेतौ नींपजे, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२१॥

शब्दार्थ—नींपजे = उपजना। हाटि = बाजार।

अर्थ—प्रेमतत्त्व खेत मे नहीं उपजता। मतलब कि यह सामूहिक उत्पादन नहीं है। न तो इसे कोई उपजाता है, न बाजार मे बेचता है, न किसी के द्वारा यह खरीदा जा सकता है। यह हृदय के एकात का भाव है। जो अहकार समाप्त कर पाया जा सकता है। सिर उतारने या अहकार समाप्त करनेवाले मे भेदभाव नहीं है। वह चाहे राजा हो चाहे प्रजा। भक्ति का क्षेत्र समानता का क्षेत्र है।

सीस काटि पासँग दिया, जीव सरभरि लीन्ह।
जाहि भावे सो आइ ल्यो, प्रेम हाट हँम कीन्ह ॥२२॥

शब्दार्थ—पासग = पसघा। सरभरि = बराबरी।

अर्थ—विषय वासना या माया तथा राम ये तराजू के दो पल्ले हैं। माया का पलड़ा भारी है। क्योकि ससार के अधिकतर विषय उसी मे है। लोग भी उसी के साथ है। जब साधक ने अपना सिर उतार कर (अहकार समाप्त कर) दूसरे पलड़े पर पासग रूप मे रख दिया तो दोनो पलड़े बराबर हो गये। अब इससे दूसरो का भी फायदा होगा। जिसकी इच्छा हो सत कबीर के बाजार मे आकर ठीक-ठीक तौला हुआ सौदा (भक्ति) ले ले।

तुलनीय—महँग बड़ा गथ काम न आवै। सिर के मोल बिकाय—भीखा॥

अलंकार—रूपक।

सूर सीस उतारिया, छाड़ा तन की आस।
आगे थै हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ॥२३॥

शब्दार्थ—मुलकिया = प्रसन्न हुआ।

अर्थ—इस नश्वर शरीर की आशा छोड़कर शूर (भक्त) ने शीश उतार दिया। अह छोड़कर प्रभु शरण मे चला गया। फलत आगे बढ़कर प्रभु ने प्रसन्न होकर स्वागत किया। जब उन्होने

दास (भक्त) को आते देखा।

भगति दुहेली राम की, नहि कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम ॥२४॥

शब्दार्थ—दुहेली = दुख।

अर्थ—ईश्वर का भजन करना आसान काम नहीं है। भक्ति दुख से भरा कठोर प्रयत्न है। इसे कायर नहीं कर सकते है। जिसने अपना मान एकदम खत्म कर दिया है वही सच्चा भक्त हो सकता है।

तुलनीय—सीस उतारै हाथ से, सहज आसिकी नाहि।—पलटू।

भगति दूहेली राम की, जैसि खाड़े की धार।
जे डोलै तो कटि पड़े, नहीं तौ उतरै पार ॥२५॥

अर्थ—भक्ति तलवार की धार के समान कठिन है। कष्टकर है। उससे अलग होने पर कटना पड़ता है वरना भवसागर पार हो जाता है।

अलंकार—उपमा।

भगति दुहेली राम की, जैसी अगनि की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार ॥२६॥

अर्थ—रामभक्ति अग्नि की ज्वाला के समान गर्मी पैदा करती है। जो कूद कर निकले वे बच गये। तमाशबीन जल गये।

अलंकार—असगति। विरोधाभास।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यॉन षड्ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥२७॥

अर्थ—चेतन साधक भगवत्प्रेम के घोड़े पर सवार हुआ। उसने ज्ञान की तलवार हाथ मे ले ली और कालदेवता के सिर पर मारने लगा। मतलब यह कि जिस साधक मे प्रेम और ज्ञान दोनो का समन्वय है।काल उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता है।

अलंकार—सागरूपक।

कबीर हीरा वाणजिया, महँगे मोल अपार।
हाड़ गला माटी गली, सिर साटैं ब्यौहार ॥२८॥

शब्दार्थ—हीरा = भक्ति। सात्त्विक ज्ञान। साटै = सट्टा।

अर्थ—सत कबीर ने महगे हीरे अर्थात् सात्त्विक ज्ञानमूलक भक्ति का व्यापार किया। इसमे बड़ा परिश्रम पड़ा। साधना के कारण हड्डियॉ गल कर मिट्टी हो गयीं। वह मिट्टी भी गल गयी। वह व्यापार सिर का सट्टा करनेवाला है। भक्ति के लिये सिर देना होता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जेते तारे रैणि के, तेते बैरी मुझ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौ तुझ ॥२९॥

अर्थ—हे प्रभु रात्रि मे जितने तारे है उतने ही मेरे दुश्मन है। मै तुझे कभी नहीं भूल सकता। चाहे मुझे फॉसी चढ़ा कर मेरा शरीर कँगूरे पर क्यो नही लटका दिया जाय? क्योकि ससार मे प्रभु को छोड़ और कोई मित्र नहीं है।

जें हारया तौ हरि सवाँ, जे जीत्या तो डाव।
पारब्रह्म कूँ सेवता, जे सिर जाइ तो जाव ॥३०॥

अर्थ—हार-जीत का दॉव ईश्वर से ही होना चाहिए। परब्रह्म की सेवा मे सिर भी देना पड़े तो कोई हर्ज नहीं।

सिर साटै हरि सेविए, छाड़ि जीव की बाँणि।
जे सिर दीना हरि मिलै, तब लगि हाँणि न जाणि॥३१॥

शब्दार्थ—साटै = (स सत्रम्) चढ़ावा। आहुति। बनि = स्वभाव।

अर्थ—सिर चढ़ाकर भी भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। विषयो मे जानेवाले जीवको स्वाभाव छोड़ देना चाहिए। सिर देने पर भी ईश्वर मिल जायें तो किसी प्रकार की हनि नहीं है।

टूटी बरत अकास थै, कोई न सकै झड़ झेल।
साध सती अरु सूर का, अँणी ऊपिला खेल॥३२॥

शब्दार्थ—बरत = रस्सी। अणी = नोंक। ऊपिला = ऊपर।

अर्थ—आकाश या निराधार मे लगे झूले की रस्सी टूट गयी। उसके कष्ट को साधु (भक्त), सती और वीर ये तीनही झेल सकते है। क्योकि इनमे भाले पर खेलने की क्षमता है।

अलंकार—निदर्शना।

सती पुकारै सालि चढ़ी, सुनी रे मीत मसाँन।
लोग बटाऊ चलि गए, हम तुझ रहे निदाँन॥३३॥

अर्थ—साधक (सती) चिता पर चढ़कर पुकारता है। ऐ मसान मित्र, सुनो। रास्ते के पथिक सभी चले गए। अत मे केवल हम तुम बच रहे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणा, चहुँ दिसि अगनि लगाइ॥३४॥

अर्थ—सती हर समय प्रेमाग्नि मे जला करती है। उसने सत्यव्रत ठाना। काठ की शय्या बनाई। सबको छोड़ प्रिय परमात्मा को साथ लेकर मो गयी। चारो दिशाओ से आग जला ली। अर्थ यह कि उसकी सासारिक वासनाऐं जल गयी। आध्यात्मिक प्रेम की व्याकुलता का आरंभ हुआ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती सूरातन साहि करि, तन मन कीया घाँण।
दिया महौला पीव कूँ, तब मड़हट करै बषाँण॥३५॥

शब्दार्थ—सती = साधक। सूरातन = शूरत्व। साहिकरि = साधकर। घांण = घात।

अर्थ—साधक के शूरत्व को समझकर गुरु ने साधकर तन-मन मे शब्दबाण का आघात किया। फलत सारा माहौल प्रियतममय हो गया। तब मरघट भी साधक की प्रशसा करने लगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती जलन कूँ नीकली, पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुन जीव निकल्या, भूलि गई सब देह॥३६॥

अर्थ—साधक प्रिय के विरह मे निकला। प्रिय परमात्मा का स्नेह स्मरणकर जिस अनाहत शब्द को सुना उससे जीवभाव समाप्त हो गया। देहदशा भूल गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती जलन कूँ नीकली, चित्त धरि एकबमेख।
तन मन सौंप्या पीव कूँ, तब अंतर रही न रेख॥३७॥

अर्थ—साधक प्रिय प्रेम मे जलने को निकला। चित्त से विकारो को हटाकर केवल प्रिय का ध्यान था। तन-मन प्रिय को सौप दिया। तब आत्मा-परमात्मा, जीव और ब्रह्म मे अतर की रेखा भी नहीं रह गयी।

हौ तोहि पूछौं है सखी, जीवत क्यूँ न मराइ।
मूँवा पीछे सत करै, जीवत क्यूँ न कराइ ॥३८॥

अर्थ—सत कबीर पूछते है कि हे साधक, जीवित मृत्यु को क्यो नहीं ग्रहण करते? जिस सत्य की साधना मरने पर चाहते हो उसे अभी क्यो नहीं करते हो? क्योकि शरीर के बाद कोई साधना नहीं हो सकती है। इस शरीर के भीतर ही मन से पर जाओ।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर प्रगट राम कहि, छाँनै राम न गाइ।
फूस क जौंड़ा दूरि करि, ज्यूँ बहुरि न लागै लाइ ॥३९॥

शब्दार्थ—छॉने = प्रच्छन्न। फूस = तिनका। क = का। जोड़ा = समूह। लाइ = आगि।

अर्थ—छिपकर राम कहने की अपेक्षा प्रत्यक्ष राम कहो। वासनारूपी तिनको के समूह को हटा दो। क्योकि तिनके नाशवान है। तुरन्त धधक उठते है। इन तिनको के हटने के बाद फिर कभी आग नहीं लगेगी। वासना नहीं सताएगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर हरि सबकूँ भजै, हरि कूँ भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥४०॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि भगवान् सब का ध्यान रखते है। किंतु भगवान् का ध्यान कोई नहीं करता है। भगवान् को छोडकर जब तक शरीर की आशा बनी है तब तक दासत्व नहीं आ सकता है।

आप सवारथ मेदनी, भगत सवारथ दास।
कबीर राम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस ॥४१॥

शब्दार्थ—आप सवारथ = आत्मस्वार्थ। मेदनी = धरती। ससार।

अर्थ—सारे ससार के लोग आत्मस्वार्थी है। भक्त दासभाव का स्वार्थी है। कबीर को केवल राम का स्वार्थ है, जिसने शरीर की आशा छोड़ दी है।

(४६)

काल कौ अंग

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणाँ काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥१॥

शब्दार्थ—खलक = ससार। चबीणॉ = चने का जलपान।

अर्थ—लोग क्षणभगुर सुख को कहते है। मन मे प्रसन्न रहते है। ससार के सभी प्राणी कालदेवता के चने का जलपान है। कुछ उसके मुँह मे है। कुछ गोद मे है। ध्वनि यह कि गोद के बालक भी कालग्रस्त है।

आजक कालिक निस हमैं, मारगि माल्हंता।
काल सिचाणाँ नर चिड़ा, औझड़ आच्यंताँ ॥२॥

शब्दार्थ—निसह = रात। माल्हता = मारेगा। मै = मे। मारगि = मार्ग मे। सिचाणॉ = बाज। चिड़ा = चिड़िया। औझड़ = अवझट। शीघ्र। औच्यतॉ = अचानक।

अर्थ—आजकल, रात या रास्ते मे कालरूपी बाज मनुष्यरूपी चिड़िया को शीघ्र अचानक मारेगा।

अलंकार—रूपक।

काल सिहाणै यौं खड़ा, जागि पियारो म्यंत।
राम सनेही बाहिरा, तूँ क्यूँ सोवै नच्यंत ॥३ ॥

अर्थ—प्यारे भाई जागो। तुम्हारे सिरहाने काल खड़ा है। प्रेमी राम बाहर है। क्योकि तुम्हारे भीतर तो वासना भरी है। राम के निवास का स्थान कहाँ है? आश्चर्य है इस पर भी तुम निश्चित सो रहे हो। राम के बिना काल से तुम्हारी रक्षा कौन करेगा?

सब जग सूता नींद भरि, संत न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूँ तोरणि आया बींद ॥४॥

शब्दार्थ—तोरणि = तोरण। स्वागतद्वार। बींद = दूल्हा।

अर्थ—वासनायुक्त ससार के सभी लोग अज्ञानरात्रि मे सो रहे है। किंतु सतो को नींद नहीं आती है। क्योकि उन्हे ससार की नश्वरता का ज्ञान है। कालरूपी दूल्हा स्वागतद्वार पर खड़ा है। अब वह जीवात्मा दुल्हन को अपने साथ ले जायगा।

अलंकार—उपमा।

आज कहै हरि कालि भाजौगा, कालि कहै फिरि कालि।
आज हीं कालि करंतडाँ, औसर जासी चालि ॥५॥

अर्थ—लोग कहते है कि हरि को कल भजूँगा। कल फिर कल कहते है। इसी-प्रकार आज कल करते-करते समय बीत जायगा।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै कालि का साज।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूँ तीतर को बाज ॥६॥

अर्थ—मनुष्य को एक क्षण का भी ज्ञान नही है। इस क्षण मे क्या हो रहा है? किंतु वह कल के लिये जुटाता है। काल अचानक हमला कर देगा। जैसे तीतर पर बाज का हमला होता है।

अलंकार—उपमा।

कबीर टग टग चोघताँ, पल पल गई बिहाइ।
जीव जँजाल न छाड़ई, जम दिया दमामा आइ ॥७॥

शब्दार्थ—चोघतॉ = ऊँघता।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि अज्ञानरात्रि मे टकटक ऊँघता एक-एक क्षण बीत गया। कभी साधना नहीं की। जजाल से तो कभी मुक्ति मिलनेवाली नहीं है। किंतु अब तो यम ने नगाड़ा बजा दिया है। जाना ही होगा।

मै अकेला ए दोइ जणाँ, छेती नाँहीं काँइ।
जे जम आगै ऊबरौं, तो जुरा पहूँती आइ ॥८॥

अर्थ—जीव अकेला है और मृत्यु दो है। उनमे किसी प्रकार अछूतापन का भेद नहीं है। ऐसे मे जीव मृत्यु से मुक्त भी हो जाय तो वृद्धावस्था से मुक्त होना कठिन है। जरा और मरा के युग्म को ही मृत्यु कहते है।

टिप्पणी—देवता अमर है। साथ ही अजर भी है।

बारी बारी आवणीं चले पियारे म्यंत।
तेरी बारी रे जिया, नेडी आवै पित ॥९॥

अर्थ—अपने-अपने समय से सभी प्यारे मित्र जा रहे है। ऐ जीव, तुम्हारी बारी भी निकट आ रही है।

दौं की दाधी लाकड़ी, ठोढ़ा करे पुकार।
मति बसि पड़ौ लुहार कै, जालै दूजी बार ॥१०॥

अर्थ—दावाग्नि या भावचक्र मे जल लकड़ीरूपी जीव खड़ा पुकारता है। मै कालचक्र (लुहार) के हाथ न पड़ूँ। नही तो मुझे पुन जलना होगा। भवचक्र का कष्ट भोगना होगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियाँ सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥११॥

शब्दार्थ—ऑथवै = अस्त होना। चिणियॉ = चुना गया।

अर्थ—जो उगा है, जन्मा है वह अस्त होगा। मरेगा। फूला कुम्हलाएगा। जो भवन चुना गया है वह ढहेगा। जो ससार मे आया है उसे जाना होगा। मर्त्यलोक का यही नियम है।

जो पहरया सो फाटिसी, नाँव धरया सो जाइ।
कबीर सोइ तत्त गहि, जो गुरि दिया बताइ ॥१२॥

अर्थ—जो वस्त्र पहना है वह फटेगा। यह शरीर भी वस्त्र है। ससार भी वस्त्र है। सब नाशवान है। जिस रूप का नाम है उसका भी नाश होगा। हे साधक, गुरु ने जिस तत्त्व को बताया है उसी को ग्रहण करो।

निधड़क बैठा राम बिनु, चेतनि करै पुकार।
यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार ॥१३॥

अर्थ— हे जीव, रामनाम के बिना निश्चित बैठा है। चेतकर राम नाम को पुकारो। यह शरीर जल के बुलबुले के समान है। नाश होते देर नहीं लगती है।

अलंकार—रूपक।

पाँणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनाँ छिप जाँहिगे, तारे ज्यूँ परभाति ॥१४॥

अर्थ—मनुष्य जाति बुलबुला और तारो जैसी है। एक दिन सब का नाश हो जायगा।

अलंकार—उपमा।

कबीर यहु जग कुछ नहीं, षिन खारा षिन मीठ।
कालि जु बैठा माड़िया, आज नसाँणाँ दीठ ॥१५॥

अर्थ—यह ससार और कुछ नहीं, थोड़ा मीठा और थोड़ा खारा है। कल जो मडित था उसे आज नष्ट देखते है।

कबीर मंदिर आपणे, नित उठि करती आलि।
मड़हट देष्याँ डरपती, चौड़े दीन्हीं जालि ॥१६॥

शब्दार्थ—मदिर = घर। देह। आलि = आलोक्ति।

अर्थ—व्यक्ति अपने शरीर और घर मदिर जैसा नित सजाता, चमकाता और आलोकित करता है। मरघट का नाम सुन के डरता है। किंतु एक विस्तृत मैदान मे जला दिया जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

मंदिर माँहि झबूकती, दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौं घर की छोति ॥१७॥

शब्दार्थ—झबूकती = चमकती। दीवा = दीपक। दीप। बटाऊ =- बटोही। छौति = छूत। अपवित्र।

अर्थ—गृह मे दीपक के समान देदीप्यमान शरीर चमकता था। किंतु जीवात्मारूपी बेटोही के निकलते ही सभी लोग इस शरीर को अपवित्र समझते है। घर से निकाल देते है।

हस बटाऊ मे रूपक।

ऊँचा मंदर धौलहर, माटी चित्री पौलि।
एक राम के नाँव बिन, जम पाड़ैगा रौलि॥१८॥

अर्थ—ऊँचे भवन जिनमे चित्रकारी के दरवाजे सजे थे। ऊँचाई और चमक के बावजूद एक राम नाम के अभाव मे यमराज का हमला (रौलि) हो गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहे कर केस।
नाँ जाँनै कहाँ मारिसी, कै घर कै परदेश॥१९॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि क्या गर्व करते हो? सब के बालो को तो काल ने पकड़ लिया है। सभी काल की मुट्ठी मे है। पता नहीं मृत्यु घर मे होगी या परदेश मे। मृत्यु की जगह निर्धारित नहीं होती है।

कबीर जंत्र न बाजई टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावणहार॥२०॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यह शरीर यत्र अब नहीं बजेगा। इसके सारे तार टूट गये। नसे, नाड़ियाँ सब बेकार हो गयीं। बेचारा यत्र क्या करे जब बजानेवाले ने इस शरीर से विदाई ले ली।

टिप्पणी—गीता के १८वे अध्याय के ६१वे श्लोक मे शरीर को यत्र कहा है जिसे हृदय मे स्थित भगवान चलाते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

पंथी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बाँध्या पूठि।
मरणाँ मुह आगै खड़ा, जीवन का सब झूठ॥२१॥

शब्दार्थ—पथी = जीवात्मा। ऊभा = खड़ा। बुगचा = गॉठरी। कर्मो की गॉठरी। पूठि = पृष्ठ या पुष्ट।

अर्थ—जीवात्मा अब चलने की स्थिति मे है। जाने को प्रस्तुत है। उसकी पीठ पर कर्मो की गॅठरी बॅधी है। इसीलिये फिर आना होगा। मृत्यु ही सत्य है और सारा जीवन झूठा है।

यहु जिव आया दूर थै, अजौं भी जासी दूरि।
बिच कै बासै रमि रह्या, काल रह्या सर पूरि॥२२॥

अर्थ—यह जीवात्मा दूर से आयी है। आज भी दूर जायगी। बीच मे रमी है। किंतु काल के बाणो से विद्ध है।

राम कह्या तिनि कहि लिया, जुरा पहूँती आइ।
मंदिर लागै द्वार पै, तब कुछ काढणाँ न जाइ॥२३॥

अर्थ—जिसने समय रहते राम कहा उसने कह लिया। जब वृद्धावस्था (जरा) आयी तो मदिर (देह) के सारे दरवाजे जरा आग से घिर गये। अब कुछ नहीं कहा जा सकता है। न तो कुछ काढ़ा जा सकता है।

अलंकार—दृष्टात।

बरियाँ बीती बल गया, बरन पलट्या और।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै, कर छिटक्याँ कत ठौर॥२४॥

अर्थ—समय बीता। बल भी घट गया। शरीर का रग बदल गया। जो बात बिगड़ गयी वह

पुन ठीक नहीं हो सकती है। जो चीज हाथ से छूट गयी वह पुन हाथ मे नही आ सकती। वृद्धावस्था मे वस्तु पकड़ रखने की क्षमता भी समाप्त हो गयी है।

बरिया बीती बल गया, अरु बुरा कमाया।
हरि जिन छाड़ै हाथ थै, दिन नेड़ा आया ॥२५॥

अर्थ—समय बीत गया। बल घट गया। अब तक तुमने बुरे कर्म ही किये। अब ईश्वर को पकड़ो। मृत्यु का समय नजदीक आ गया है। ऐसे मे ईश्वर ही सहायक है। उन्हे मत छोड़ो।

कबीर हरि सूँ हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव।
बाँध्या बार षटीक कै, तापसु किती एक आव ॥२६॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हरि से प्रेम करो। वासना के कूड़ो मे चित्त मत लगाओ। जो पशु खटीक के द्वार पर बधा है उसकी आयु बहुत कम होती है। इसी प्रकार ईश्वर से प्रेम न करनेवाले की आयु बहुत कम होती है।

अलंकार—दृष्टात।

विष के बन मैं घर किया, सरप रहे लपटाइ।
ताथै जियरै डरै गह्या, जागत रैणि बिहाइ ॥२७॥

अर्थ—मैने विषय वन मे जहॉ षडविकारो (काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, मत्सर) के सर्प लिपटे है, घर बनाया है। इससे हर समय डर बना रहता है। जागते ही रात बीतती है।

तुलनीय—डासत की सब बीति गयो निसि कबहूँ न नाथ नींद भर सोओ।—विनयपत्रिका।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर सब सुख राम है, और दुखाँ की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि ॥२८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि रामभजन मे ही सारा सुख है और सभी दुख के भडार है। देवता, नर, मुनिवर, असुर सभी काल के बधन मे पड़े रहते है।

काची काया मन अथिर, थिर थिर कॉम करंत।
ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै, त्यूँ त्यूँ काल हसंत ॥२९॥

शब्दार्थ—काची = कच्चा।

अर्थ—यह शरीर कच्चा है। अत नाशवान है। मन अस्थिर है। चचल है। फिर भी हमारे सारे कार्य इस जीवन को स्थिर समझ कर होते है। आदमी निर्भय घूमता है। उसे निर्भय घूमते देखकर कालदेवता हॅसते है। हॅसते इसलिये है कि मूर्ख मनुष्य अपने नाश पर ध्यान नहीं दे रहा है।

अलंकार—विरोधाभास।

रोवणहारे भी मुए, मुए जलॉवणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार ॥३०॥

अर्थ—जो दुख से रोते थे वे भी मरे। दुख देनेवाले भी मरे। वे सभी हाहाकार करते मर गये। जब सभी मरणधर्मा है तो यह मरणधर्मा व्यक्ति अपने दुख से मुक्ति के लिये किससे कहे?

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालणहार।
जे हमको आगै मिले, तिन भी बंध्या भार ॥३१॥

अर्थ—जिन्होने हमे पैदा किया वे मरे। हमे भी चलना है। मरना है। हमारी भावी पीढ़ी भी मरणशील है।

(४७)

सजीवनी कौ अंग

जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ।
चलि कबीर तिहि देसड़े, जहाँ वैद विधाता होइ॥१॥

अर्थ—जिस देश मे स्वय ईश्वर वैद्य है। हे साधक, तुम वहीं चलो। जहाँ बुढ़ापा, मृत्यु आदि नहीं है। जहाँ किसी ने मृत्यु का नाम भी नहीं सुना है।

टिप्पणी—भक्त इस स्थान को 'अमरलोक' कहते है। आवागमन के चक्र से मुक्त अवस्था।

कबीर जोगी बनि बस्या, षणि खाये कँद मूल।
नाँ जाणौ किस जड़ी थै, अमर भए असथूल॥२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि योगी वन मे बसता है। कदमूल खोद कर खाता है। पता नहीं किस जड़ी से अमर हो जाता है। भक्ति ही सजीवनी बूटी है।

कबीर हरि चरणौ चल्या, माया मोह थै टूटि।
गगन मंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि॥३॥

अर्थ—सत कबीर ने प्रभुचरणो मे ध्यान लगाया। माया-मोह से उसका सबध टूट गया। सहस्रार मे ध्यान लगाया। यह देखकर काल सिर पटकने लगा। क्योकि सहस्रार मे स्थित योगी को काल कुछ नहीं बिगाड़ सकता है।

यह मन पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ।
पगलु है पिव पिव करै, पीछौ, काल न खाइ॥४॥

अर्थ—इस मन को पटक पछाड़ो। अहभाव को मिटा दो। वासना मे दौड़नेवाले मन के पैर तोड़ दो। हर समय नाम स्मरण करो। ऐसे व्यक्ति को काल कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।

कबीर मन तीषा किया, बिरह लाइ षरषाँन।
चित धरणूँ मै चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल का पाण॥५॥

शब्दार्थ—षरसॉन = मसकला। शान चढानेवाला यत्र। पाण = परिणति।

अर्थ—मैने विरहरूपी मसकले को लाकर मन को शान धराकर तीखा (तीक्ष्ण) किया। फलत मेरा चित्त प्रभुपद मे चुभ गया। तल्लीन हो गया है। वहाँ काल की परिणति नहीं है।

अलंकार—रूपक।

तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
सीतल छाया गहर फल, पंषी केलि करंत॥६॥

अर्थ—सनातन प्रभु वृक्ष के पास ठहरिए। यह पेड़ सदा फलता है। कभी निष्फल नहीं रहता है। इसकी छाया शीतल होती है। जहाँ ससार के विविध तापो का असर नहीं होता है। इसका फल भी गभीर होता है। यहाँ सदा मुक्तात्मारूपी पक्षी क्रीड़ा करता रहता है।

तुलनीय—द्वा सुपर्णा सखाया समान वृक्ष परिषस्व जाते। ऋग० १/१६४/४६

अलंकार—अन्योक्ति।

दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत।
पंषा चले दिसावराँ, बिरषा सुफल फलंत॥७॥

शब्दार्थ—दिसावरॉ = विदेश।

अर्थ—सद्गुरु दयारूपी फल देनेवाले वृक्ष के समान है। वे अत्यत उपकारी है। जब जीवात्मा विषयो के देश मे चली जाती है तब भी वे सुदर फल देते है अर्थात् शिष्य का

कल्याण करते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

(४८)

अपारिष कौ अंग

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि।

जोड़ी बिछुटी हंस की, पड्या बगाँ के साथि ॥१॥

शब्दार्थ—पाइ = प्राप्त। पदारथ = पदार्थ। परमात्मा। पेलि = छोड़कर। ककर = माया और नाशवान् वस्तुऐं। हस = आत्मा-परमात्मा। बगॉ = बगुला। आकर्षक लगने वाला नाशवान् तत्त्व। इद्रियॉ और उनके विषय।

अर्थ—परख हीन या अज्ञानी व्यक्ति ने हृदय मे, सहज रूप से प्राप्त परमात्मा रूपी पदार्थ को छोड़कर माया की नाशवान् विषय वस्तुओ को उठा लिया है। हस्तगत किया है। फलत आत्मा और परमात्मा जो हस है। हस के समान विवेकी है। सदा ही ज्ञान सरोवर मे तैरते है। उनका साथ छूट गया। अब अज्ञानी व्यक्ति का, बुगलो का। विषयो का। विषयासक्त इद्रियो और व्यक्तियो का साथ हो गया है।

टिप्पणी—दो हंस 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुडक० ३१९) की ओर सकेत है।

एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।

परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदले जाइ ॥२॥

शब्दार्थ—हीरा = भगवद् भक्ति। परमात्मा। हाटि = ससार मे। परिषणहारे = ज्ञानी। भक्त। बाहिरा = बाहर। अनुपस्थित। कौड़ी = नाशवान् ससारिक सुख। इद्रियो के विषय।

अर्थ—एक आश्चर्य देखा। ससार मे हीरा बिक रहा है। मतलब कि भगवान् और भक्ति को बिना समर्पण के खरीदने, प्राप्त करने की कोशिश हो रही है। यह सब इसलिये हो रहा है कि ज्ञानी भक्तो का अभाव है। असल भक्त अनुपस्थित है। असल भक्त के अभाव मे लोग भक्ति के बदले मे नाशवान् सासारिक सुख खरीद रहे है। प्राप्त कर रहे है।

कबीर गुदड़ी बीषरी, सौदा गया बिकाइ।

खोटा बाँध्याँ गाँठड़ी, इब कुछ लिया न जाइ ॥३॥

शब्दार्थ—गुदड़ी = शरीर या जीवन। बीषरी = बिखर गई। नष्ट हो गयी। सौदा = परमात्मा को प्राप्त करने के साधन। भक्ति। खोटा = विषयासक्ति। गॉठड़ी = सचित कर्म।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि शरीर या जीवन नष्ट हो गया है। परमात्मा की भक्ति करने के अवसर बीत चुके है। मनुष्य जीवन भर विषयासक्त रहा। विषयो की ही गठरी बॉधता रहा। अब कुछ करने का अवसर नही रह गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

पैडै मोती बिखर्या, अंधा निकस्या आइ।

जोति बिनाँ जगदीस की, जगत उलंघ्या जाइ ॥४॥

शब्दार्थ—पैडै = रास्ते मे। कदम मे। अध = अज्ञानी। जोति = ज्ञान। कृपा।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि परमात्मा या गुरु की कृपा रूपी मोती रास्ते मे या मनुष्य के कदमो मे पड़ा है। किंतु अज्ञानी व्यक्ति को भगवान् का ज्ञान या कृपा के बिना कुछ दिखाई नही पड़ता है। जगत मे आकर परमात्मा की कृपा रूपी मोती का उल्लघन, उपेक्षा कर वह ससार को व्यर्थ बनाए जा रहा है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया, ऊभी चाँम चटाइ ॥५॥७३७॥

शब्दार्थ—अभी = खड़ी।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ससार के लोग अधे है। अज्ञानी है। अधी गाय के समान है। जिसका बच्चा मर गया। किंतु खड़ी होकर उसका चाम चाटती है। बच्चे का चाम चाट उसके जीवित रहने के भ्रम मे रहती है।

टिप्पणी—गाय यहाँ विषयासक्त जीवन का प्रतीक है। विषयासक्त जीव भगवत् सत्ता शून्य विषयो को चाटता रहता है। विषयासक्त रहता है। विषयो से सतुष्ट होना चाहता है।

(४९)

पारिष कौ अंग

जब गुण कूँ गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौ गाहक नही, तब कौड़ी बदले जाइ ॥१॥

अर्थ—जब गुणो का पारखी मिलता है तो गुण लाखो मे बिकता है। पारखी ग्राहक के न रहने पर वही कौड़ी द्वारा बदला जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर लहरि समंद को, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझन जाँणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि समुद्र की लहरो ने मोती फैला दिया। ससार मे अच्छी चीजे फैली हैं। किंतु विषयी पुरुष उनका महत्त्व नही जानता। बगुलारूपी विषयी मोती को मझन या मादन फेन समझकर उन्हे छोड़ देता है। किंतु मुक्तात्मा हस उसे चुन चुन कर खाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

हरि हीराजन जौहरी, ले ले माँडिय हाटि।
जवर मिलैंगा पारिखु, तब हीराँ की साटि ॥३॥

अर्थ—प्रभु हीरा है। भक्त जौहरी है। हाट मे विक्रय के लिये बैठा है। जब पारखी मिलेगे तब हीरे का सट्टा होगा। पारखी ही प्रभुभक्त होगे।

अलंकार—रूपक।

(५०)
उपजणि कौ अंग

नांव न जाँणौं गाँव का, मारगि लागा जाँऊँ।
कालिह जु काटा भाजिसी, पहिली क्यों न खड़ाऊँ॥१॥

अर्थ—साधना के क्षेत्र मे अपरिचय है। केवल रास्ते पर चल रहा हूँ। जो कॉटा कल गड़ेगा उसके लिये पहले ही खड़ाऊॅ क्यो नही पहन लेता? मतलब कि साधना समय रहते करनी चाहिए।

सीक भई संसार थै, चले जु साँई पास।
अविनासी मोहि ले चल्या, पुरई मेरी आस॥२॥

अर्थ—ससार मे पूरी शिक्षा मिल गयी। अब मै प्रिय प्रभु के पास जा रहा हूँ। अविनाशी सद्गुरु मुझे लिये जा रहे है। मेरी आशा-पूरी हो गयी है।

इंद्रलोक अचरिज भया, ब्रह्मा पड्या बिचार।
कबीर चाल्या राम पैं, कोतिगहार अपार॥३॥

अर्थ—सत कबीर को राम के पास जाते देख इन्द्रलोक आश्चर्यचकित रह गया। ब्रह्मा विचार मे पड़ गये। अपार कौतुक हुआ। इसलिये कि जिस राम को मुनि महात्मा नही पा सके उसे कबीर कैसे पा गया।

ऊँचा चढ़ि असमान कू, मेरु ऊलंघे ऊड़ि।
पसू पंषेरू जीव जंत, सब रहे मेर में बूड़ि॥४॥

अर्थ—'मेरा' का भाव महत्त्वपूर्ण है। यह या ममता उड़कर आकाश पहुॅचती है। सुमेरु पर्वत को भी लॉघ जाती है। मनुष्य ही नही पशु पक्षी आदि जीवो मे भी ममता का भाव इतना प्रबल है कि सभी उसी मे डूब रहे है।

सद पाँणी पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
बासी पावस पड़ि मुए, बिषै बिलंबे जीव॥५॥

शब्दार्थ—सद = शुद्ध। स्वच्छ। पाताल = मूलाधार चक्र।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ऐ साधक, पाताल का स्वच्छ जल पीओ। क्योकि अन्यत्र जल स्वच्छ नही है। पाताल का अर्थ है मूलाधार जहॉ कुडलिनी है। कुडलिनी को ऊपर की ओर जागृत करना स्वच्छ ताजा जल पीना है। बासी पावस का अर्थ विषयो से भरा गदा जल। जीव व्यर्थ विषयो मे भटक रहा है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूताँ लिया जगाइ।
आषि न मीचौ डरपता, मति सुपिनौं है जाइ॥६॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि प्रभु से सपने मे भेट हुई। उन्होने अज्ञानांधकार के स्वप्न से जगा दिया। अब ऑखे बद करने से डरता हूँ। कही सब स्वप्न न हो जाय। पुन अज्ञान मे न पड़ जाऊॅ। इसलिये ज्ञान नेत्र खुले है।

गोब्यंदक के गुँण बहुत है, लिखे जु हिरदै माँहि।
डरता पाँणी ना पिऊँ, मति वै धोये जाँहि॥७॥

अर्थ—भगवान् के बहुत से गुण है जो हृदय मे लिखे है। पानी पीने से भी डरता हूँ कि

कहीं गोविद गुण के लिखे अक्षर हृदय से मिट न जायें।

कबीर अब तो ऐसा भया, निरमोलिक निज नाऊँ।
पहली काच कबीर था, फिरता ठाँवे ठाऊँ ॥८॥

शब्दार्थ—निरमोलिक = अमूल्य। काच = कच्चा। कॉच। कथीर = रॉगा।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि पहले मै कच्चा था। कॉच और रॉगे जैसा मूल्यहीन था। व्यर्थ इधर-उधर भटकता फिरता था। गुरु कृपा से, साधना से अब अमूल्य हो गया हूँ। अब मैने अपने नाम को सार्थक कर दिया है।

भौ समंद विष जल भर्‌या, मन नहीं बाँधै धीर।
सबल सनेही हरि मिले, तब उतरे पारि कबीर ॥९॥

अर्थ—यह ससार-सागर विष से भरा है। मन मे विश्वास नहीं है कि इसे पार कर सकूँगा। जब भगवान् जैसा प्रबल प्रेमी मिलेगा तभी पार उतर जा सकता हूँ।

भला सुहेला ऊतर्‌या, पूरा मेरा भाग।
राम नाँव नौका गह्या, तब पाँणी पंक न लाग ॥१०॥

अर्थ—मै बड़ा भाग्यशाली हूँ। मेरा भाग्यपूर्ण है। ससारसागर से अच्छी तरह पार हो गया। रामनामरूपी नौका को पकड़ा तो ससार का वासना कीचड़ छू भी न सका। क्योकि मै उस कीचड़ से दूर रहा।

कबीर केसौ की दया, संसा घाल्या खोइ।
जे दिन गए भगति बिन, ते दिन साले मोहि ॥११॥

अर्थ—केशव की कृपा से मेरे सारे सशय नष्ट हो गये। मुझे प्रभु मे पूर्ण विश्वास हो गया। जितने दिन भगवत्भक्ति के बीते वे सभी दुख के दिन थे।

कबीर जाचण जाइया, आगै मिल्या अंच।
ले चाल्या घर आपणै, भारी खाया संच ॥१२॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि मै सासारिक लोगो से मॉगने के लिये जा रहा था। किंतु आगे प्रभु मिल गये। वे पूर्ण है। वे मुझे अपने धाम (घर) ले गये। वहॉ उस पूर्ण ने मुझे सचित भारी भडार खाने को दे दिया। मेरी इच्छा पूरी हो गयी।

टिप्पणी—सचय की इच्छा मे ही याचने की प्रवृत्ति है। सचय के पीछे अभाव की अनुभूति है। ईश्वर को प्राप्त मनुष्यके अभाव की अनुभूति समाप्त हो जाती है।

(५१)

दया निरबैरता कौ अंग

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझै जल थल झोल।
बस नही गोपाल सौ, बिनसै रतन अमोल ॥१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ससार सागर मे विषयो की आग लगी है। जल, थल, झील आदि सभी जल रहे है। इस आग का प्रभाव केवल भगवान् और उनके भक्तो पर नहीं है। वरना अमूल्य रत्न आत्मा का नाश हो जाता है। किंतु सारी आग के बावजूद चेतन आत्मा सुरक्षित है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऊँनमि बिआई बादली, बर्सण लगे अंगार।
उठिक कबीरा धाह दे, दाझत है संसार ॥२॥

शब्दार्थ—ऊँनमि = उमड़कर। धाह = आग की गर्मी। दाझत = जलना।

अर्थ—विषयो के बादल उमड़े है। लोभ, मोह, क्रोधादि प्रवृत्तियो की आग बरस रही है। ऐ कबीर, इस भवज्वाला से विरत हो जाओ। इसमे सारा ससार जल रहा है।

अलंकार—अन्योक्ति, विरोधाभास।

दाध बलीता सब दुखी, सुखी न देखौ कोइ।
जहाँ कबीरा पग धरे, तहाँ टुक धीरज होइ ॥३॥

शब्दार्थ—दाध = ज्वाला। बली = बलवान्।

अर्थ—सभी प्राणी भयकर विषयाग्नि से जल रहे है। कोई सुखी नहीं है। जहाँ भक्त पैर रखते है वहाँ थोड़ा सुख होता है।

टिप्पणी—सुख और समर्पण का अन्योन्याश्रय सबध है। समर्पण जितना गहरा होगा सुख उतना ही तीव्र होता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

(५२)

सुंदरी कौ अंग

कबीर सुंदरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजाँण।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं पराँण ॥१॥

अर्थ—भक्त (सुदरी) कहता हैं कि हे प्रभु (सुजान) जल्दी दर्शन दो वरना प्राण दे दूँगा और प्राण न रहने पर साधना नहीं हो पायगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर जाकी संदरी, जाणि करे बिभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार ॥२॥

अर्थ—जो भक्त दूसरे देवो की आशा छोड़ भगवान् को भजता है उसे भगवान् मानते है और पलभर के लिये भी उसे नहीं छोड़ते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

इस मन कौ मैदा करौं, नान्हाँ करि करि पीस।
तब सुख पावै सुंदरि, ब्रह्म झलकै सीस ॥३॥

अर्थ—वासना भरे इस मन को मैदे के समान खूब महीन पीस दो। मन को मारो। तभी भक्त शाति पाएगा। तभी उसके सिर पर अलौकिक ज्योति होगी।

दरिया पारि हिडोलना, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणी, नित प्रति झूलण जाइ ॥४॥

अर्थ—ससार नदी के पार झूला है। यहाँ झूले के दो अर्थ है आनदपूर्ण स्थान और वह स्थान जिसका कोई भौतिक आधार न होकर प्रभु आधार हो। ऐसी जगह प्रभु के साथ सौभाग्यशक्ति सम्पन्न साधक ही झूल सकता है। जो अद्वैत अवस्था को पहुँच चुका है। फिर वह झूलना नित्य (सनातन) हो जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

(५३)

कस्तूरियाँ मृग कौ अंग

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन माँहि।
ऐसै घटि घटि राम है, दूनियाँ देखै नाँहि ॥१॥

अर्थ—यहाँ अतर और बाह्य साधना के अतर का सकेत है। जैसे हिरण की नाभि मे कस्तूरी होती है। किंतु वह भ्रमवश उसे वन मे खोजता है। वैसे ही भगवान् मनुष्य के भीतर हैं किंतु वह उसे बाहरी दुनिया मे खोजता है। बाह्य साधनाओ मे लगा रहता है।

अलंकार—उपमा।

कोइ एक देखै संत जन, जाँकै पाँचूँ हाथि।
जाके पाँचूँ बस नहीं, ता हरि संग न साथि ॥२॥

अर्थ—प्रभु को अपने भीतर वही देख पाता है, जिसकी पाँचो इद्रियाँ अपने वश मे हो। जिनका इद्रियो पर अधिकार नहीं है उनका प्रभु से सग साथ नहीं हो सकता। क्योकि प्रभु प्राप्ति के लिये इद्रिय वृत्तियो का निरोध आवश्यक है।

सो साँई तन मैं बसै, भ्रम्यो न जाणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूँ, फिर फिर सूँघै घास ॥३॥

अर्थ—वह प्रभु शरीर मे बसता है। किंतु इस तथ्य को लोग भ्रमवश नहीं जानते है। जैसे कस्तूरी रखनेवाला मृग अपनी नाभि न देखकर बार बार घास सूँघता है। क्योकि सुगन्ध उसकी नाभि से निकलकर घास पर गिरती है।

टिप्पणी—कस्तूरी आत्मशक्ति और घास ससार की तुच्छता को सकेतित है।

कबीर खोजी राम का, गया जु सिंघल दीप।
राम तो घट भीतर रमि रह्या, जौ आवै परतीत ॥४॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि साधक राम की खोज मे सिघलद्वीप तक गया। किंतु राम नहीं मिले। जब उसे विश्वास हुआ तो राम हृदय मे ही दीख पड़े।

टिप्पणी—पुरा काल को योगियो मे सिद्धि के लिये सिहलद्वीप जाने की प्रथा थी। पदमावत का रत्नसेन भी सिहलद्वीप जाता है।

घटि बधि कही न देखिए, ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिनि जान्या तिनि निकट है, दूरि कहै थे दूरि ॥५॥

अर्थ—ईश्वर सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है। ऐसा नहीं कि कहीं कम है और कहीं ज्यादा है। जाननेवाले के निकट है। अज्ञानियो के लिये दूर है।

मै जाण्याँ हरि दूरि है, हरि रह्या सकल भरपूरि।
आप पिछाँणै बाहिरा, नेड़ा की थै दूरि ॥६॥

अर्थ—हरि तो सर्वत्र मौजूद है। मै अज्ञानवश उसे दूर समझता था। जिस व्यक्ति को आत्मतत्त्व की पहचान या ज्ञान नहीं है उसके लिये प्रभु निकट रहकर भी दूर है। क्योंकि प्रभु तो मूलत परप्रत्यय का नही आत्मप्रत्य का विषय है।

तिणकै आल्है राम है, परबत मेरैं भांइ।
सतगुर मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट माँहि ॥७॥

शब्दार्थ—ओल्है =पर्दा। भाइ = भाव। जैसा।

अर्थ—पर्वत जैसा विराट् प्रभु एक तिनके के पर्दे मे रहता है। क्योकि वह अत्यत विराट् और अत्यत सूक्ष्म है। सद्गुरु की कृपा से प्रभु से परिचय हुआ। तब पता लगा कि विराट् सृष्टि को चलानेवाला प्रभु हमारे शरीर मे विद्यमान है।

राम नाम तिहूँ लोक मैं, सकलहु रह्या भरपूरि।
यह चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलैं दूरि॥८॥

अर्थ—राम तो सारे विश्व (तीनो लोको) मे फैले है। किंतु वे चतुराई से नहीं मिलते है। क्योकि बुद्धिमान ज्ञानी उनको अपने भीतर न खोजकर शास्त्रो की ऊँची उड़ानो मे देखता है।

तुलनीय—सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति।—गीता १३/१३

अर्थ—जैसे ऑखो मे पुतलियाँ है तो छोटी किंतु वही देखने का काम करती है। वैसे ही शरीर मे प्रभु है तो अगुष्ठमात्र ही। किंतु है पूर्ण पुरुष। अज्ञानी जीव इस पूर्ण पुरुष को शरीर मे न खोज कर बाहर खोजते है। आत्मज्ञान का सहारा न लेकर बाहरी मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि का सहारा लेते है।

अलंकार—उपमा।

(५४)

निंद्या कौ अंग

लोग विचारा नींदई, जिन्ह न पाया ग्याँन।
राम नाँव राता रहै, तिन्हुँ न भावै आँन॥१॥

अर्थ—जिन्हे ज्ञान नहीं प्राप्त है वे भक्ति तथा भक्तो की निदा करते है। किंतु जो व्यक्ति रामनाम मे अनुरक्त है उन्हे रामनाम को छोड़कर कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।

दोख पराये देखि करि, चल्या हसंत हसंत।
अपने च्यँति न आवई, जिनकी आदि न अंत॥२॥

अर्थ—लोग दूसरो के दोषो को देखकर हँसते है। किंतु आदि अत रहित अपने असख्य दोषो की चिता कभी नही करते है।

निंदक नेड़ा राखिये, आँगणि कुटी बँधाइ।
बिन साबण पाँणी बिना, निरमल करै सुभाइ॥३॥

अर्थ—निदक को अपने समीप रखिए। उसके लिये अपने ही ऑगन मे एक मड़ई बनवा दीजिए। जिससे वह आपके कार्यो पर नजर रखे। उसकी निदात्मक आलोचना पानी और साबुन के बिना भी स्वभाव को साफ करती है।

अलंकार—विभावना।

न्यंदक दूरि न कीजिए, दीजे आदर माँन।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आँनहिं आँन॥४॥

अर्थ—निदक को आदर मान से पास रखिये। जो बाते व्यर्थ समझते है उन तथाकथित बातो को कह-कह कर वह आपके तन-मन को शुद्ध करता है।

जे को नींदे साध कूँ, संकटि आवै सोइ।
नरक माँहि जाँमे, मरैं मुकति न कबहूँ होइ॥५॥

अर्थ—साधु निदा करनेवाले पर सकट आता है। उसे नरक मे; जन्म-मरण के चक्र मे पड़ना होता है। उसकी मुक्ति कभी नहीं होती है।

कबीर घास न नींदिये, जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़े जब आँखि मे, खरा दुहेली होइ ॥६॥

अर्थ—सत कवीर कहते है कि घास अर्थात् छोटी से छोटी चीज की भी निंदा नहीं करनी चाहिए। जैसे पैरो तले की घास ऑखो मे पड़कर वहुत कष्ट देती है उसी प्रकार सामान्य आदमी भी कभी-कभी कष्ट देने लगता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

आपन यौ न सराहिए, और न कहिये रंक।
नाँ जाँणौ किस ब्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक ॥७॥

अर्थ—अपनी सराहना मत कीजिए और दूसरे को बुरा मत कहिए। पता नहीं किस स्थान पर जाकर यह हड्डी कूड़ा बन जाय। अथवा तुच्छ कूड़ा मूल्यवान् हड्डी बन जाय। काल के परिवर्त्तन से सब सभव है।

कबीर आप ठगाइये और न ठगिये कोइ।
आप ठग्याँ सुख ऊपजैं, और ठग्याँ दुख होइ ॥८॥

अर्थ—स्वय धोखा खाना अच्छा है। दूसरो को धोखा देना ठीक नहीं। स्वय धोखा खाने से सुख मिलता है। दूसरो के धोखा देने से दुख होता है।

अब कै जे साँईं मिलै, तौ सब दुख आपौ रोइ।
चरनूँ ऊपर सीस धरि, कहूँ न कहणाँ होइ ॥९॥

अर्थ—इस बार अगर प्रभु मिलें तो उनसे अपने दुख रोकर कह दूँगा। चरणो पर सिंर रखकर जो कुछ निवेदन करना होगा कर दूँगा।

(५५)

निगुणाँ कौ अंग

हरिया जाँणै रूँषड़ा उस पाँणी के नेह।
सूका काठ न जाणई, कबहू बूठा मेह ॥१॥

शब्दार्थ—रुँषड़ा = वृक्ष। पेड़। सूका = सूखा। वूठा = वृष्ट। वरसा। मेह = मेघ।

अर्थ—हरे पेड़ ही पानी के प्रेम की अनुभूति कर सकते है। सूखा काठ (काष्ठ) जो कभी पानी से गीला नही हुआ वह पानी की सरसता को क्या समझेगा।

भाव यह है कि सहृदय भक्त ही प्रभु प्रेम के महत्त्व को समझ सकता है। भक्तिहीन शुष्क बुद्धि व्यक्ति भक्ति रस को क्या समझेगा?

अलंकार—अन्योक्ति।

झिरमिरि झिरमिरि बरषिया, पाँहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैजल भई, पाँहण बोही तेह ॥२॥

शब्दार्थ—पॉहण = पत्थर। सैजल (सजल) = जल युक्त। कीचड़। वोही तेह = वैसा का वैसा ही।

अर्थ—पत्थर पर धीरे-धीरे वर्षा होती है। इससे उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता। किंतु मिट्टी गल कर कीचड़ बन जाती है और पत्थर वैसा का वैसा ही रहता है।

सहृदय भक्त-मिट्टी के समान है और साधनारहित अभक्त का हृदय पत्थर सा कठोर है। उस पर भगवत्भक्ति के रस की वर्षा का कोई प्रभाव नही पड़ता है।

अलंकार—अन्योक्ति। विशेषोक्ति।

पार ब्रह्म बूठा मोतियाँ, बाँधी सिषराँह।
सगुराँ सगुराँ चुणि लिया, चूक पड़ी निगुराँह ॥३॥

शब्दार्थ—बूठा = वृष्टि हुई। सिषरॉह = शिखर। सगुरॉ = गुरु युक्त। निगुरॉह = गुरु रहित।

अर्थ—पारब्रह्म के मोतियो की वृष्टि से शिखर बन गया। या शिखर अर्थात् ब्रह्मरघ्र मे परब्रह्म द्वारा कृपा मोतियो की वर्षा हुई। गुरु कृपा प्राप्त ने चुन लिया और गुरु रहित चुनने से रह गये। मतलब कि भगत्भक्ति रूप मोती गुरु द्वारा ज्ञान वाले को ही मिलता है।

टिप्पणी—मोती सात्त्विकता का प्रतीक है। सत्त्व गुण मोती सा मूल्यवान है। निर्मल है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूँगर सिषराँह।
नीर मिबाणाँ ठाहरै, नाऊँ छापरड़ाँह ॥४॥

शब्दार्थ—गिर = पहाड़। डूँगर = टीला। सिषरॉह = शिखर। मिवाणॉ = नीचे का भाग। छापर डॉह = छप्पर पर।

अर्थ—सत कबीर कहते है हरि रस पहाड़, टीलो आदि के शिखरो पर बरसा। कितु नीचे के भाग मे ठहरा और छप्पर वाली जगह पर उसका कोई प्रभाव नही हुआ।

भाव यह कि पहाड़, टीले, शिखर जैसे अहकारी व्यक्तियो पर भगवत्भक्ति रस की वर्षा का प्रभाव नही होता है। कितु नम्रता की गहरी भूमि रस से भर जाती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर मूँडठ करमियाँ, नष सिष पाषर ज्याँह।
बाँहणहारा क्या करै, बाँण न लागै त्याँह ॥५॥

शब्दार्थ—मूॅडठ = मूढ। मूर्ख। करमिया = कम। आहि = है। बॉहनहारा = बाण चलानेवाला।

अर्थ—मूर्ख के कर्म नख से शिख अर्थात् पूर्णत पत्थर जैसे कठोर होते है। बाण चलानेवाले अर्थात् ज्ञानदाता गुरु क्या करे ? ऐसे व्यक्ति पर ज्ञान उपदेश बाण का कोई प्रभाव नही पड़ता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन।
कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहूँ सुपहला दिन ॥६॥

अर्थ—गुरु द्वारा ज्ञान कहते-सुनते पूरा जीवन बीत गया। कितु विषयो मे उलझा मन आज भी नही सुलझा। सत कबीर कहते है आज तक चेतना नही आई। प्रथम दिन के समान ही अज्ञान मे पड़ा है।

कहै कबीर कठोर कै, सबद न लागै सार।
सुधबुध कै हिरदै भिदै, उपजि विवेक विचार ॥७॥

शब्दार्थ—सार = १ लोहा। बाण। २ तत्त्व। सुधबुध = चेतना। भिदै = बिधता है।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि जिसका हृदय कठोर है उसके हृदय मे शब्द रूपी बाण या तत्त्व मूलक शब्दो का कोई प्रभाव नही होता है। जिसका हृदय चेतना युक्त है उसी के हृदय मे विवेक और विचार की उत्पत्ति होती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सीतलता के कारणै नाग विलंबे आइ।
रोम रोम विष भरि रह्या, अमृत कहा समाइ॥८॥

अर्थ—चदन की शीतलता के कारण सर्प चदन पेड़ो मे आकर लिपट गये। किंतु वे सर्प तो सर्वांग मे जहर से भरे है। अब चदन का शीतल प्रवेश के लिये कहाँ स्थान है ?

भाव यह है कि अपने स्वभाव को न वदलनेवाले दुष्ट व्यक्तियो पर सत्सग का कोई प्रभाव नही पड़ता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

सरपहि दूध पिलाइये, दूधै विष है जाइ।
ऐसा कोई नाँ मिले, स्यूँ सरपै विष खाइ॥९॥

अर्थ—सर्प को दूध पिलाने पर दूध भी जहर हो जाता है। ऐसा कोई नही मिला जो सॉप के विष को खा जाय अथवा नष्ट कर दे।

टिप्पणी—सर्प का अर्थ है दुष्ट व्यक्ति। ऐसा व्यक्ति अच्छे कार्यो को भी वुरा वना देता है। विष का अर्थ है दुष्टता। दूध का अर्थ है अच्छा उपदेश। 'कोई' मे श्रेष्ठ गुरु का सकेत है।

तुलनीय— पय पान भुजगानाम् केवल विष वर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाण प्रकोपाय न शान्तेय।

अलंकार—अन्योक्ति।

जालौं इहै बड़पणाँ, सरलै पेड़ि खजूरि।
पंखी छाँह न बीसवैं, फल लागे ते दूरि॥१०॥

शब्दार्थ—सरलै = सीधा। बीसवै = विश्राम।

अर्थ—सीधे और ऊँचे खजूर के पेड़ जैसी महानता व्यर्थ है। क्योकि जैसे खजूर के पेड़ से किसी पक्षी को न तो छाया मिलती है, न तो ऊँचाई के कारण उसका फल ही आसानी से सभी प्राप्त कर सकते है।

कहना यह है कि जिस ज्ञान सपत्ति द्वारा सामान्यजन का लाभ कठिन है वह व्यर्थ है।

अलंकार—अन्योक्ति।

ऊँचा कुल के कारणै, बंस बध्या अधिकार।
चंदन बास भेदै नहीं, जाल्या सब परिवार॥११॥

शब्दार्थ—बस = बॉस। वध्या = वढ़ा। वास = गध। भेदै = प्रभावित होना।

अर्थ—ऊँचे कुल के कारण वॉस अधिकता से बढ़ता जाता हैं। किंतु चदन के पास रहने पर भी उस पर चदन का कोई प्रभाव नही पड़ता है। इसके उलटे आपसी रगड़ से आग उत्पन्न होती है और जल जाता है।

भाव यह कि श्रेष्ठ कुल मे जन्म और बड़प्पन ही सब कुछ नही है। सरलता और सहृदयता द्वारा गुण ग्राहकता भी आवश्यक है। गुण ग्राहकता के अभाव मे आपसी द्वन्द्व और नाश का खतरा रहता है।

अलंकार—श्लेप-वश मे। अन्योक्ति।

कबीर चंदन के निड़ै, नींब भि चंदन होइ।
बूड़ा बंस बड़ाइताँ, यौ जिनि बूड़ै कोइ॥१२॥

शब्दार्थ—निड़ै = नजदीक। नियर। निकट। बुड़ाइताँ = बड़े। बूड़ा = नष्ट हो गया। बस = बॉस।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि चदन के पास रहने वाला नीम भी चदन के समान हो जाता

है। किंतु बाँस व्यर्थ हो गया। क्योंकि वह चदन से प्रभावित नही होता है। ऐसा नाश किसी का नही होना चाहिए।

उपदेश है कि नीम जैसे तीते या तुच्छ को देखो। साधु सगति (चदन) के कारण भी चदन जैसे भले हो जाते है। किंतु वश मर्यादा मे डूबे व्यक्ति इससे कोई शिक्षा न लेकर अप्रभावित रहते है। उलटे आपसी द्वेष मे रगड़ कर नष्ट हो जाते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

(५६)

बीनती कौ अंग

कबीर साँई तौ मिलहगै, पूछिहिंगे कुसलात।
आदि अंति की कहूँगा, उर अंतर की बात ॥१॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि स्वामी (प्रभु) से मिलने पर वे ससार यात्रा का कुशलक्षेम पूछेगे। ऐसे अवसर पर हृदय की सभी बाते आदि से अत तक कहूँगा।

मतलब यह कि सभी दुख-सुख को सुनने का अधिकारी एक मात्र प्रभु है। दूसरो से कहना व्यर्थ है।

कबीर भूलि बिगाड़िया, तूँ नाँ करि मैला चित।
साहिब गरवा लोड़िये, नफर बिगाड़ैं नित ॥२॥

शब्दार्थ—गरवा (< स गर्व) = गभीर। नफर = दास। मैला चित = दुखी होना।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हे मनुष्य, तुमने भूलवश ससार यात्रा के उद्देश्यो को नष्ट कर दिया। किंतु इससे डरो मत। मन मे दुखी मत हो। हमारा प्रभुअत्यत गभीर पुरुष है। वह दास द्वारा होनेवाली नित्य की गलतियो पर ध्यान नही देता है। दास का तो स्वभाव है गलती करना। प्रभु का स्वभाव है माफ करना। इस तुम निष्कपट भाव से अपनी गलती स्वीकार करो।

करता करै बहुत गुँण, औगुँण कोई नाँहि।
जे दिल खोजौ आपणीं, तौ सब औगुण मुझ माँहि ॥३॥

शब्दार्थ—करता = ब्रह्मा। प्रभु। औगुण = अवगुण। मॉहि = मध्य। मे। भीतर।

अर्थ—प्रभु मे बहुत से गुण है। अवगुण एक भी नही है। अगर अपने-अपने दिलो मे टटोलो तो देखोगे कि सारे अवगुण अपने भीतर मौजूद है।

औसर बीता अलपतन, पीव रह्या परदेश।
कलंक उतारी केसवाँ, भाँनौ भरंम अँदेश ॥४॥

शब्दार्थ—अलपतन = १ जीवन के समय की अल्पता २ युवावस्था के पूर्व की स्थिति। बाल्यावस्था। का अभाव। भॉनौ = नष्ट करूँ। अँदेस = सदेह। संशय।

अर्थ—साधक रूप विरहणी कहती है कि जीवन के समय अल्प है। या यह कि बाल्यावस्था बीत रही है। ऐसे मे प्रिय का परदेश रहनाठीक नही। यौवन मे कलक लगने का भय है। ऐसे मे हे केशव (प्रियतमा का केश गहनेवाले प्रिय), मुझे किसी प्रकार के कलक (तम प्रवृत्ति) से बचाओ। मै अपना भ्रम और सदेह सब दूर करता हूँ। क्योकि सशय या भ्रम के रहते प्रिय नही रह सकता है।

सशयात्मा विनश्यति की ओर सकेत है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर करत है बीनती, भोसागर के ताँई।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जँम कूँ बरिज गुसाँई॥५॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हे प्रभु, मै तुमसे ससार सागर से मुझे पार करने की प्रार्थना करता हूँ। तुम्हारे इस भक्त पर यम का, माया का जोर जुल्म हो रहा है। तुम यम को जुल्म करने से रोको।

भाव यह कि मुझे मुक्ति दो।

हज काबै है है गया, केती बार कबीर।
मीरां मुझ मै क्या खता, मुखाँ न बोले पीर॥६॥

शब्दार्थ—हज (अ०) = मुसलमानो द्वारा कादे का दर्शन के लिये मक्के की यात्रा। काबा = मुसलमानो का एक धर्म नगर। खता = गलती। अपराध। पीर (फा०) = धर्मगुरु।

अर्थ—हज ओर काबा तीर्थाटन वाह्य साधना है। बार-दार तीर्थाटन से कोई फायदा नही है। सत कबीर कहते हे कि हे प्रभु, मेरा कौन सा अपराध है कि ससारिक धर्म गुरु पीर भी मुझसे नही बोलते ? जब सासारिक गुरु नही बोलते तो ईश्वर से कृपा की आशा तो व्यर्थ है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

ज्यूँ मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यो मिले, संधि न लखई कोइ॥७॥

शब्दार्थ—सधि = जोड़। ताता (< स तप्त) = गर्म।

अर्थ—सत कबीर गीता के उस सिद्धात की ओर ईशारा करते हे जिसमे कहा गया है कि 'ये यथा मा प्रपद्यते तासृतथैव भजाम्यहम्' (जो मेरे को जैसा भजता है मैं उसको वैसे ही भजता हूँ)। हे प्रभु, जेसे मेरा मन तुम मे लगा हे वेसे ही तुम्हारा मन भी मेरे मे लगना चाहिए। भक्त और भगवान् का सवध गर्म लोहे के समान है। दोनो मिलकर इस प्रकार से एक हो जाते हैं कि जोड़ भी नही दिखाई पड़ता है। मतलब कि भक्त भगवान हो जाता है और भगवान् भक्त मे अवतरित हो जाते है।

(५७)

साषीभूत कौ अंग

कबीर पूछै राम कूँ, सकल भवनपति राइ।
सबही करि अलगा रहौ, सो विधि हमहिं बताइ॥१॥

शब्दार्थ—राइ = राजा।

अर्थ—भगवान् से साक्षात्कार के बाद सत कबीर प्रभु से पूछते है हे सकल सृष्टि के स्वामी राम, मुझे वह तरीका बताइए जिससे मे आपके समान ही सब करके भी सबके ममत्व से अलग रहूँ। कर्त्तापन के अहकार और फलासक्ति से अलग रहूँ। क्योकि आप सारी सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करके भी इनसे अलग रहते हैं। आप पर इनका कोई प्रभाव नही पड़ता है।

जिहि बरियाँ साँई मिलै, तास न जाणै और।
सबकूँ सुख दे सबद करि, अपणीं अपणीं ठौर॥२॥

अर्थ—प्रभु जिस समय मिलता है उसे दूसरा नही जान सकता है। यह केवल प्रभु ही जानता है। अनाहत शब्द द्वारा वह सबको अपने-अपने स्थान पर रहते हुए सुख देता है।

'अपणी-अपणी ठौर' का अर्थ अपने स्वभाव या स्वरूप मे स्थित होने से है। मतलब यह कि साधना द्वारा मन को विषयो से हटा कर अपने स्वरूप या मनमुखी होने पर ही अनाहत प्रभु की प्राप्ति होती है। अनाहत प्रभु शब्दातीत है।

कबीर मन का बाहुला, ऊँडा बहै असोस।
देखत हीं दह मैं पड़े, दई किसा कौ दोस ॥३॥

शब्दार्थ—बाहुला = बाहुल्य। ऊँडा = ऊँचा। असोस = अशोष्य। देह = जलाशय। दई = दैव।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि मन बाहुल्य वाला है। बड़ी-बड़ी और ऊँची उड़ानोवाली कल्पना करता है। वह बिना रुके ऊँचे को बहता है। किंतु विषयो को देखते ही विषय जल मे कूद जाता है। इसमे किसे दोष दिया जाय या दैव का क्या दोष है ?

अलंकार—रूपक।

(५८)

बेलि कौ अंग

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नाँ तूँ बड़ी न बेलि।
जालण आँणीं लाकड़ी, ऊठी कूँपल मेल्हि ॥१॥

शब्दार्थ—बेलि = विषयलता या इच्छा। कूँपल = नये पत्ते। तूँबड़ी = तुबा या वासना समूह।

अर्थ—अब ऐसा हो गया है कि न तो तुम हो या न वासना है, न वासना की लहराती लता है। जब वासना लता ही नही तो फल कैसा ? किंतु इसके बावजूद जलाने के लिये लाई गयी लकड़ी मे भी कोपल दिखाई पड़ती है। कहना यह है कि यह समझना गलत है कि हम वासना रहित हो गये है। वृद्ध या मरकर जलने के लिये लकड़ी बने व्यक्ति मे भी भीतर ही भीतर वासना बनी रहती है। समय पाकर वह कोपल फेक देती है। इसलिये वासना को कभी समाप्त मत समझो।

अलंकार—भ्रातिमान।

आगै आगै दौं जलै, पीछै हरिया होइ।
बलिहारी ता विरष की, जड़ीं काट्याँ फल होइ ॥२॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि। ता = उस। हरिया = हरा। प्रसन्न।

अर्थ—ससार एक जगल है जिसमे आगे-आगे साधना की आग जल रही है। इससे पीछे-पीछे हरियाली होती है। कैसी हरियाली ? प्रभु प्रीति की हरियाली। इससे मन प्रसन्न होता है। यह ससार वृक्ष धन्य है जिसका जड़ काट देने पर भी फल देता है। ससार वृक्ष की जड़ वासना और माया मोह अहता ममता है। इन्हे समाप्त कर देने पर मुक्ति फल की प्राप्ति होती है। ससार वृक्ष है भी तो 'ऊर्ध्वमूलमध. शाखावाला'।

तुलनीय— ससार कातार अति घोर गभीर घन गहन तरु कर्म सकुल मुरारी।
वासना बल्लि खरकटकाकुल विपुल निविड विटपाटवी कठिन भारी।—तुलसी।

अलंकार—जड़ काटे फल होइ मे विरोधाभास। व्यक्तिरेक।

जे काटौ तौ डहडही, सींचौं तौ कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुँण कह्याँ न जाइ ॥३॥

अर्थ—ससार एक लता के समान है। इसे असगशस्त्र द्वारा विषयो से काट देने पर यह और पूर्ण होता हैं। विषय-वासनो से सीचने या विषयो की पूर्ति की कोशिश करने पर कुम्हलाने लगता है। तीन गुणो (सत्, रज, तम) वाले इस ससार की विशेषता अवर्णनी है। भावार्थ यह कि विषयो से मुक्ति ही ससार यात्रा की पूर्णता है।

तुलनीय— पल्लवत फूलत नवल नित ससार बिटप नमामहे। —मानस।

अलंकार—व्यतिरेक, विरोधाभास, गुणवती मे श्लेष।

आँगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बाँझ का पूत ॥४॥

शब्दार्थ—अण ब्यावर = विना ब्याई। ससा = खरगोश। धूनहड़ी = छोटा धनुष। बॉझ = बध्या। पूत = पुत्र। ऑगणि = लोक का विस्तार।

अर्थ—यह ससार उलटा है। इसकी लता तो लोक लोकातर मे नीचे की ओर फैली है। किंतु इसका कर्मफल ईश्वराधीन (आकाश में) है। आकाश अर्थात् शून्य ही प्रभु का निवास स्थान है। निर्गुण-निराकार प्रभु की निवासभूमि भी शून्य मे है। ईश्वर रूपात्मक न होकर केवल नाम वाला है। जैसे बिना ब्यायी का दूध, खरगोश की सीग का धनुष और बध्या पुत्र का रमण वस्तु या रूप सत्य न होकर केवल नाम है। ऐसे ही ईश्वर के नामात्मक है।

टिप्पणी—सगुण मार्ग ने ईश्वर की नाम-रूप ये दो उपाधियॉ मानी है। निर्गुणमार्ग वाले रूप को नही, केवल नाम उपाधि को ही स्वीकार करते है।

गीता मे ऊर्ध्वमूलमध शाखम् तथा ससार वृक्ष की बढ़ी शाखाऍ नीचे-ऊपर फैली है। इसका कोई रूप नही है (न रूपमस्येह तथोपलभ्यते)। इसे असगशस्त्र से काटा जा सकता है। दे० गीता १५/१,२,३।

अलंकार—असगति।

कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ।
साँध नाँव तब पाइए, जे बेलि बिछौहा होइ ॥५॥

शब्दार्थ—बिछौहा =- वियोग। अलगाव।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यह ससार लता अत्यत कडुई है। इसका फल (अतिम प्राप्ति) भी कड़ुआ है। जब ससार के विषयो से अलगाव हो जाता है तभी सत्य या साधु नाम की उपलब्धि होती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सींध भइ तब का भया, चहूँ दिसि फूटी बास।
अजहूँ बीज अंकूर है, भीऊगण की आस ॥६॥

अर्थ—सिद्ध होने से क्या हुआ ? केवल चारो ओर ख्याति फैल गई है। किंतु अकुरित होने वाले वासना बीज आज भी हृदय मे मौजूद है। आशा है वे कभी भी उग आ सकते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(५९)

अबिहड़ कौ अंग

कबीर साथी सो किया,जाके सुख दुख नहीं कोइ।
हिलि मिलि है करि खेलिस्यूँ, कदे बिछोह न होइ ॥१॥

अर्थ–सत कबीर कहते है कि मैने सत या परमात्मा को अपना साथी बनाया है। जो सुख दुख के द्वन्द्वो से मुक्त है। अब उनसे ही हिलमिल कर खेलूँगा। यहाँ विच्छेद (अलगाव) का भय भी नही है। क्योकि परमात्म तत्व अमर है।

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ।
गुण औगुण बिहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ॥२॥

शब्दार्थ–लोइ = लोग।

अर्थ–सत कबीर कहते है कि ईश्वर के बिना मेरा हित करनेवाला कोई नही है। अन्य लोग गुण तथा अवगुण मे भेद नही करते। सभी स्वार्थ मे बँधे है।

आदि मधि अरु अंत लौ, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग॥३॥

अर्थ–सत कबीर कहते है कि ईश्वर आदि, मध्य और अत सदा अविभाज्य एव अभग है। उस कर्त्ता का सग सेवक (भक्त) कभी नही छोड़ेगा।

अंकुर ते बीज बीज ते अंकुर अंकुर बीज सँभारे।
काया ते कर्म कर्म ते काया कोई बिरला जना निखारे॥४॥

अर्थ–अकुर से बीज और बीज से अकुर दोनो मे परस्परता है। दोनो एक दूसरे के सहारे है। जैसे शरीर से कर्म और कर्म से शरीर का निर्माण होता है। इस तथ्य को कोई बिरला व्यक्ति ही जान पाता है। देह रहने पर कर्म होता है। कर्म से वासना और वासना से पुन देह की प्राप्ति का चक्र चलता है।

टिप्पणी–इसी को कामायनी मे प्रसाद ने कहा है–

कर्म का भोग, भोग का कर्म।
यही जड़ का चेतन आनद॥

अपनी कहे मेरी सुने सुनि मिलि एकै होय।
हमरे देख जग जात है ऐसा मिला न कोय॥५॥

अर्थ–कोई गुरु या शिष्य कहता है कि अपना कहै, दूसरे का भी सुने। फिर दोनो का सामजस्य बैठाए। हमारे जानते ससार मे ऐसा कोई नहीं है। नहीं मिलता है।

अमृत की मोटरी सिर सो धरे उतारि।
जाहि कहौं मै एक सो कहे मोहि चारि॥६॥

अर्थ–मुक्ति की कामना अमृत की गठरी के समान है। अमृत होकर भी वह है गठरी ही। इसीलिये पहुँचा साधक मुक्ति प्राप्ति की कामना से भी मुक्त हो जाता है। यही है अमृत की गठरी को सिर से उतारना। पहुँचा साधक अब केवल एक ब्रह्म की बात करता है तो दूसरे लोग सालोक्य, सायुज्य,सारूप्य, सामीप्य इन चार प्रकार की मुक्तियो या पुरुषार्थ चतुष्टय की बात करते है।

अर्ब खर्ब लौ द्रव्य है उदे अस्त लौं राज।
भक्ति महातम न तुले ई सब कौने काज॥७॥

अर्थ–अरबो, खरबो की सपत्ति और सूर्य के उदय से अस्त का राज्य प्राप्त है। कितु अगर प्रभु की भक्ति का ज्ञान नहीं है तो सब व्यर्थ है।

असून्य तखत आसन अडिग पिंड झरोखे नूर।

जाके दिल मे हौ बसौ सेना लिये हुजूर ॥८॥

अर्थ—वेदात बौद्धो के शून्यवाद को अस्वीकार करता है। इसीलिये कवीर साहव कहते है कि ईश्वर का आसन (तखत) अशून्य है। आधारयुक्त और अडिग है। पिड अथवा शरीर मे वैठे पुरुष की चमक इद्रियो के झरोखे से देखी जा सकती है। किंतु यह वही कर सकता है जिसके हृदय मे अपनी पूरी सात्त्विक सेना (अहिसा, सत्य, अक्रोध आदि) लिये प्रभु वसते हैं।

अहिरहुँ तजी खसमहुँ तजी बिना दाँत का ढोर।
मुक्ति बिना बिललात है वृंदावन की ओर ॥९॥

शब्दार्थ—ढोर = जानवर। पशु। अहिरहुँ = कृष्ण।

अर्थ—मानव पशु जव विना दॉत का अर्थात् वृद्ध हो जाता है तो उसे कृष्ण ओर पति ने भी छोड़ दिया। इसलिए कि इस अवस्था तक उसने मुक्ति की साधना नहीं की। अव व्याकुल होता है। प्रभु को पाने के लिये वृदावन की ओर दौड़ता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

आगि जु लागि समुद्र मे धूआँ प्रगट न होय।
सो जाने जो जरि मुआ जाकी लाई होय ॥१०॥

शब्दार्थ—आगि = प्रेमाग्नि। समुद्र = हृदय। धूआँ - चिह्न। लाई = लगाई।

अर्थ—हृदय रूपी समुद्र मे भगवत्प्रेम की आग लग गयी है। भीतर-भीतर वासनाएँ जल रही है किंतु जैसे बडवाग्नि वाहर नहीं दीखती है वैसे ही यह आग भी नहीं दीख रही है। इस आग को वही जानता है जो इसमे जलकर मर गया, मलायन चित्त। दूसरा वह जानता है जिसने यह आग लगाई हे अर्थात् गुरुदेव या स्वय प्रभु।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

आगि जो लागि समुद्र महै टूटि टूटि खसे झोल।
रोबै कबिरा डंफिया हीरा जरे अमोल ॥११॥

शब्दार्थ—हृदय रूपी समुद्र मे आग लग गयी है। फलत वासनाओ के जाले टूट-टूट कर गिर रहे है। सत कवीर कहते है कि वासना मे फँसा जीव यह देखकर रो रहा है कि जिन वासनाओं को वह हीरे सा अमूल्य समझे था वे वासनाएँ जल रही है।

आगि जो लागि समुद्र महँ जरे जौ काँदो झारि।
पूर्व पछिम के पंडिता मुए विचारि विचारि ॥१२॥

शब्दार्थ—कॉदो = कीचड़। झारि = सपूर्ण। पूर्व-पश्चिम = सभी दिशाओ के विद्वान। मुए = मरे।

अर्थ—अत करण मे भगवत्प्रेम की आग लग गयी है। वासना कर्दम पूर्णत जल रहे है। सभी दिशाओ के किताबी पडित विचार करके-करके मर गए। किंतु समझ मे कुछ नहीं आया कि वासना का नाश कैसे हो गया।

अलंकार—रुपकातिशयोक्ति।

आगे सीढी साँकरी पीछे चकनाचूर।
परदा तर की सुंदरी रही धकी ते दूर ॥१३॥

अर्थ—आगे ब्रह्म साधना के सोपान सँकरे है। पीछे लौटा नहीं जा सकता। लौटने पर और भी दुर्दशा होगी। भक्त पर्दे के भीतर रहनेवाली स्त्री के समान धक्के से दूर ही रहना चाहता है। भीड़ से अलग एकात साधना मे रत है।

आगे-आगे ही बरे पाछे हरियर होय।
बलिहारी तेहि वृक्ष की जरि काटे फल होय ॥१४॥

अर्थ—देह वृक्ष वड़ा विचित्र है। इसकी जड़ विषयी जगत मे है। इसलिये विषय निवृत्ति

होता है। आध्यात्मिक प्रसन्नता बढ़ती है और वासना के झाड़ जलते है।

अलंकार—विभावना।

आजु काल दिन कइक में स्थिर नाहि शरीर।
केतिक दिन नल (र) राखिहौ काचे बासन नीर॥१५॥

अर्थ—इस शरीर का नाश होना है। आज, कल या कुछ दिनो बाद जब भी नाश हो जाय। यह शरीर स्थिर नहीं है। जैसे कच्चे वर्तन मे पानी चिरकाल तक नहीं रखा जा सकता वैसे ही कच्चे वर्तन रूपी शरीर मे जीवात्मा को बहुत दिनो तक नहीं रखा जा सकता है। जीवात्मा भी शरीर बदलता रहता है।

अलंकार—दृष्टात।

आधी साखी सिर खँडे जो निरुवारी जाय।
काह पंडित की पोथियाँ राति दिवस मिलि गाय॥१६॥

अर्थ—यदि चित्त सुलझा या स्वच्छ हो तो आधी साखी अर्थात् रामनाम की आधी मात्रा भी सिर के बोझ का नाश कर सकती है। आधी मात्रा वह काम कर सकती है जो पडितो द्वारा रात-दिन गायी जाने वाली पुस्तको से नहीं हो सकता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

आपनि आपनि शीर की सभनि लीनो मान।
हरि की बात दुरन्तरे परी न काहू जान॥१७॥

शब्दार्थ—शीर= शीर्ष। मान = अभिमान।

अर्थ—सभी लोग अपना-अपना सिर ऊँचा कर अभिमान करते है। किंतु ईश्वर की बात दूर पड़ जाती है। कोई नहीं जानता। जब उसके सामने सब का सिर नीचे है।

आपा तजे हरि भजे नखसिख तजे विकार।
सब जीवन से निर्बैरता साधुमता है सार॥१८॥

शब्दार्थ—आपा = अहकार।

अर्थ—अहकार छोड़कर, पूरे शरीर से काम, क्रोधादि विकार को छोड़कर ईश्वर को भजना चाहिए। सभी प्रकार के जीवो से वैरभाव का त्याग करना चाहिए। यह साधुमतो का मूल है। सार है।

आस्ति कहौ तो कोइ न पतीजे बिआस्ति का सिद्धा।
कहहि कबीर सनहु हे सन्तो हीरी हीरहि विद्धा॥१९॥

शब्दार्थ—आस्ति (अस्ति) = है। विआस्ति = बिना अस्ति का। हीरी = ज्ञान। आत्मा।

अर्थ—अगर यह कहा जाय कि ईश्वर है तो उसे सिद्ध करने की कठिनाई से कोई उस पर विश्वास नहीं करेगा और अगर यह कहा जाय कि ईश्वर नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है तो यह असिद्ध बात होगी। झूठी होगी। सत कबीर कहते है कि परमात्मा रूपी हीरा आत्मज्ञान से ही जाना जा सकता है। यही है हीरे का हीरे से विद्ध होना।

अलंकार—यमक।

इह ई शंबल करि लेउ आगे विषमी वाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले जहँ बनिया नहि हाट॥२०॥

शब्दार्थ—इस ससार मे रहकर ही परलोक सुख की व्यवस्था कर लो। पुण्य कर्म कर लो। क्योकि स्वर्ग का रास्ता अत्यत कठिन है। वहाँ सौदैबाजी नहीं होती है। वहाँ न व्यापारी है। न हाट लगता है। इसलिये जो कुछ करना है ससार मे रहते ही कर लो।

ई जग तो जहड़े गया भया जोग नहि भोग।
तील झारि कबिरा लिया तिलठी झारे लोग ॥२१॥

शब्दार्थ—जहड़े = धोखा। व्यर्थ। तील झारि = सार तत्त्व। तिलठी = तिल का नीरस भाग।

अर्थ—साधना के अभाव मे यह जग जीवन तो माया के धोखे मे व्यर्थ वीत गया। न योग किया। न भोग की ही पूर्ति हुई। केवल सन कबीर ने बुद्धिमानी की। लोगो को तिल का नीरस भाग लेते देखकर स्वय सारतत्त्व प्रभुभक्ति को प्राप्त कर लिया। और लोग माया मे ही रह गये।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ई मन चंचल ई मन चोर ई मन शुद्ध ठगहार।
मनमन कहत सुर नर मुनि जहड़े मन के लक्ष दुआर॥२२॥

अर्थ—मन चचल है। चोर है। ठग है। ऐसे मन के अनुसार चलते हुए सुर, नर, मुनि सब धोखा खा गये। मन के लाखो दरवाजे है। वासनाएँ उनमे से प्रवेश कर जाती है।

ई माया है चूहड़ी औ चुहड़े की जोय।
बाप पूत अरुझावे संग न काहुक होय॥२३॥

शब्दार्थ—जोय = स्त्री।

अर्थ—माया चुहिया है। चूहे की स्त्री है। यह पिता-पुत्र दोनो को उलझाकर रखती है। और किसी के साथ नहीं जाती है। माया सबद्ध सारी चीजे यहीं रह जाती है।

ऊपर की दोऊ गई हिय की गई हिराय।
कहहि कबीर जाके चारो गई तासो कहा बसाय॥२४॥

अर्थ—दो प्रकार की ऑखे है—स्थूल बाह्य और आतरिक सूक्ष्म। किंतु माया मे पड़े व्यक्ति को स्थूल बाहरी ऑखो से तो कुछ दीखता नहीं। भीतर के ज्ञान नयन भी समाप्त है। जिनकी चारो ऑखे चली गयी है उनका ससार मे क्या वश है? वे तो स्वय माया के वश मे है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऊपरि की दोऊ गई हिय हु कि फूटी आँखि।
कबीर बिचारा क्या करे जो जिवहि नाहीं झाँकि॥२५॥

इससे मिलते दोहे का अर्थ आ चुका है।

एक एक निरुवारिये जो निरुवारी जाय।
दुई मुख के बोलना घना तमाचा खाय॥२६॥

अर्थ—यदि सभव होतो एक-एक कर सभी विषयो को छोड़ दीजिए। जैसे दो मुँह वाला ढोलक बाजा दोनो ओर से तमाचा खाता है वैसे ही माया और ब्रह्म, शरीर और आत्मा के द्वैत (दुविधा) मे रहनेवाले का दोनो ओर से नुकसान होता है।

एक कहौं तो है नहीं, दुई कहौ तो गारि।
है जैसा तैसा रहो कहहि कबीर पुकारि॥२७॥

अर्थ—ईश्वर को एक बताऊॅ तो उसे समझाना कठिन है। दो कहूॅ तो वह बिल्कुल झूठा गाली देने योग्य है। इसलिये जैसा-तैसा ही कह पाते है। उसका ठीक-ठीक वर्णन कठिन है।

एक ते अनंत एक हो आया।
परिचय भया जु एक ते अनंत एकहि माँह समाया॥२८॥

अर्थ—एक से अनत और अनत एक हो गया। एक से परिचय होने पर पता चला कि एक मे ही अनत समाया है।

टिप्पणी—यह विश्वरूप की ओर सकेत है। इसलिए भगवान् की उपमा कछुए से दी गयी

है। वह फेलकर अनत और समेटकर एक होता है। एक और अनत दोनो उसी के खेल है।

एक बात की बात है कोई कहे बनाय।
भारी परदा बीच क ताते लखी न जाय॥२९॥

अर्थ—परमात्मा एक ही है। इसी बात को लोग अनेक प्रकार से बना कर कहते है। सभी शास्त्रो ने भी यही कहा है। किंतु माया के पर्दे के कारण तथा शास्त्रो की भिन्नता के कारण वह परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता है।

ए गुणवन्ती वेलरी तव गुण वर्णि न जाय।
जे काटे सो हरियरी सींचे ते कम्हलाय॥३०॥

अर्थ—ऐ विषय लता, तुम्हारे बारे, मे कुछ कहा नहीं जा सकता है। तुम्हारी जड़ काट दी जाय तो प्रज्ञा का पौधा लहलहाता है। तुम्हारी सेवा करे तो प्रज्ञा का पौधा सूखने लगता है।

अलंकार—विभावना।

ए मरजीवा ते अमृत पीवा का धसि मरसि पताल।
गुरु की दया साधु की संगति निकलि आव एहि द्वार॥३१॥

अर्थ—इस मरणशील शरीर मे अमृत का निवास है। यहाँ ही उसे साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। व्यर्थ पाताल साधना अर्थात् किताबो आदि की साधना से क्या फायदा? गुरु की कृपा और साधु संगति के रास्ते माया से निकलकर भगवत्तत्त्वरूपी अमृत का पान करो।

एक शब्द गुरुदेव को तामे अनन्त विचार।
थाके मुनिवर ज्ञानी वेद न पावे पार॥३२॥

अर्थ—जिस परमात्मत्त्व को पाने मे ज्ञान सपन्न मुनि समुदाय और वेद विफल रहे, नेति नेति कहा। उस तत्त्व को गुरुदेव के एक शब्द से जिसमे अनंत विचार भरे है पा लिया गया।

एक साधे साधिया सब साधे एक जाय।
उलटी सींचे मूल को फूले फरे अघाय॥३३॥

अर्थ—एक परमात्मा की साधना करो। ससार की अन्य वस्तुओ के फेर मे मत पड़ो। एक परमात्मा से ही सब उत्पन्न होते है। उसी मे विलीन होते है। वही प्रभु उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। यह प्रभुवृक्ष उलटा (ऊर्ध्वमूलमध शाख) रूप मे स्थित है। इसके मूल को सींचने, सेवा करने से सारे सुख भलीभाँति प्राप्त हो जाते है।

औरनि के समुझावते जिभ्या परिगौ रेत।
राशि बिरानी राखते खायिनि घर का खेत॥३४॥

अर्थ—दूसरो को समझाते-समझाते जीभ सूख गयी है। रस निकलकर रेत रह गया। ये विद्वान लोग दूसरो की सम्पत्ति अपने पास रखते है। इनके खेत को माया पशु चर गया। सारी विद्या के बावजूद ये माया के शिकार हो गए।

कनक कामिनी देखिके तू मत भूल कुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा केचुलि तजे भुजंग॥३५॥

अर्थ—ऐ मनरूपी मृग, सोना और स्त्री को देखकर तुम भ्रम मे मत पड़ो। मिलना और बिछुड़ना कठिन काम है। जैसे साँप केचुल छोड़ता है वैसे ही यह शरीर बार-बार छूट जाता है।

कबीर का घर शिखर पर जहाँ सलहली गैल।
पाय न टिके पीपिलिका तहाँ खलको लादा बैल॥३६॥

अर्थ—साधक सत कबीर साहब ब्रह्मरध्र मे निवास कर रहे है। यह रास्ता अत्यत फिसलन भरा है। यहाँ चींटी को भी चढ़ने मे कठिनाई होती है। किंतु लोग है कि कर्मो का बोझ लेकर यहाँ पहुँचना चाहते है।

बैल अज्ञान का प्रतीक है। लोग बैल जैसा व्यवहार करते है। जैसे बैल दूसरो का लदा ढोता है वेसे ही मनुष्य बैल माया का लदा ढोता है।

अलंकार—रूपकतिशयोक्ति।

कबीर जात पुकरिया चढ़ि चंदन के डार।
बाट लगाए ना लगे फिर का लेत हमार॥३७॥

शब्दार्थ—चदन की डार = शास्त्र।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ससार से चलते समय चदनडार (शास्त्रो) पर चढ़कर पुकारा। कितु इससे रास्ता नहीं कटा। अब हमारा क्या होगा? कोई खोज-खवर नहीं लेता है शास्त्रो ने कोई सहायता नहीं की।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कबीर भर्म न भाजिया बहुविधि धरिया भेष।
साँई के परचै विना अन्तर रहा न लेख॥३८॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि चाहे कितना भी वेश धारण करो विना सद्गुरु की कृपा के अज्ञानजन्य भ्रम नहीं भाग सकता है। स्वामी से परिचये नहीं हुआ और भीतर (अतरात्मा) मे प्रभु की प्राप्ति का कोई लक्षण नहीं दीखा।

कर बंदगी विवेक की भेष धरे सब कोय।
सो बन्दगी बहि जान दे शब्द विवेक न होय॥३९॥

अर्थ—विवेक महत्त्वपूर्ण है। वेश धारण करने से क्या होगा। वेश सभी लोग धारण करते है। विवेक की प्रार्थना करो। उस नमस्कार को नष्ट हो जाने दो जिससे गुरु शब्द का विवेक नहीं होता है।

टिप्पणी—आचार्य शकर ने इसलिये 'विवेक चूड़ामणि' की रचना की। गो० तुलसीदास ने लिखा—बिनु विवेकु ससार घोर निधि पार न पावै कोई।

कुरु बहियाँ बल आपनी छाँड़ु बिरानी आसु।
जे (घर) अँगना नदिया बहे सो कस मरत पियास॥४०॥

अर्थ—प्रयत्न करो। दूसरो की आशा छोड़ो। दूसरो के सिखाए रास्ते से भगवतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। तुमहारे आँगन मे प्रभु प्रेम की नदी बहती है। कितु अज्ञान के कारण तुम्हे समझ मे नहीं आता। तुम प्रेम प्यासे हो।

अलंकार—दृष्टात।

कलि काठी काले घुना जतन जतन घुन खाय।
काया मध्ये काल बसत हे मर्म न कोई पाव॥४१॥

शब्दार्थ—कलि = कलियुग। काठी = काष्ठ। शरीर।

अर्थ—यह शरीर कलियुग का काष्ठ है। इसमे कलि के सारे पाप भरे है। इसे काल घुन अनेक प्रकार से खा रहा है। यह काल घुन शरीर मे ही रहता है। कितु इस तथ्य को कोई नहीं जानता है।

कलि खोटा जग आँधरा शब्द न माने कोय।
जाहि कहो हित आपना सो उठि बैरी होय॥४२॥

अर्थ—कलियुग बुरा है और कलियुग के लोग अज्ञानाधकार से अधे हो रहे है। कोई भी सद्गुरु का उपदेश मानने को तैयार नहीं है। जिसको भी उसके अपने हित की बात कहिए वही दुश्मन बन जाता है।

कहंता तो बहु मिला गहंता मिला न कोय।
सो कहंता वहि जान दे जो न गहंता होय॥४३॥

अर्थ—खाली खाली कथनी वाले बहुत मिलते है। किंतु आचरण करनेवाले नहीं मिलते है। कहनेवालो को विषयसागर मे बहने दो। प्रभु को गहनेवाली को सम्मान दो।

काजर की ही कोठरी काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई रही सो ओट हि ओट॥४४॥

शब्दार्थ—कोठरी = अतर हृदय।कोट = शरीर।

अर्थ—अतर भी काला है। अशुद्ध है। शरीर भी अशुद्ध है। किंतु इनमे रहनेवाली जीवात्मा (नुद) मे विकार नहीं आया क्योकि वह प्रभु नाम की ओट मे है।

काजर की ही कोठरी बुड़ता ई संसार।
बलिहारी ताहि पुरुष की पैठि जु निकल निहार॥४५॥

अर्थ—यह ससार वासनाभरी काजल की कोठरी के समान है। इसमे जो भी आया उसे दाग लग जाता है। वह पुरुष धन्य है जो वासनापक मे बिना डूबे निकल आता है।

काल खड़ा सिर ऊपरै जागि विराने मीत।
जाके घर है गेल मे सो कैस सोवे निर्चीत॥४६॥

अर्थ—ऐ मित्र, तुम्हारे सिर पर काल खड़ा है। तुम इस ससार के लिए पराए हो। तुम्हे तो जाना ही होगा। जिसका घर गली मे है वह निश्चित कैसे सो सकता है। किसकी गली? यम या मृत्यु की गली।

काला सर्प शरीर मे खाई सब जग झारि।
बिरला ते जन बाँचिहें जो रामहि भजे विचारि॥४७॥

शब्दार्थ—झारि = समूह।

अर्थ—इस शरीर मे मृत्यु रूप काला नाग प्रविष्ट है। यह सारे ससार को खा रहा है। केवल राम को भजनेवाला कोई बिरला ही इससे बच सकता है।

कासी गति संसार की ज्यो गाडर के ठाट।
एक परे जेहि गाड़ मे सबै गाड़ में जाय॥४८॥

शब्दार्थ—गाडर = भेड़। गाड़ = कुआँ।

अर्थ—काशी मे मरने से मुक्ति मिलती है। (कास्या मरणान्मुक्ति) यह विश्वास भेड़िया धसान जैसा है। एक कुएँ मे गिरा तो सभी कुएँ मे गिरते है।

अलंकार—उपमा।

काह बड़े कुल ऊपजे जो बड़ि बुद्धिहि नाहिं।
जैसे फूल उजारि के मिथ्या लाल झरि जाहिं॥४९॥

शब्दार्थ—उजारि = उजड़।

अर्थ—उच्च कुल मे उत्पन्न होने से क्या यदि तदनुकूल बुद्धि भी ऊँची नहीं हुई? जैसे ऊजड़ स्थान का फूल व्यर्थ खिलता है और झड़ जाता है।

तुलनीय—

ऊँचे कुल का जनमिया करनी ऊच न होय।

काहे हरिणी दुर्बली चरे हरियरे ताल।
लक्ष्य अहेरी एक मृग केतिक टारे भाल॥५०॥

अर्थ—ऐ हरिणीरूपी जीव तुम दुबले क्यो हो? हरेभरे ताल अर्थात् वासना की हरियाली के भोग से कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता है। क्योकि वासनायुक्त जीव प्रवृत्तिरूप व्याध के

शिकार होते है। जीवरूपी मृग एक है। प्रवृत्तियाँ बहुत है। जीव विषय काल के भाले को कितना टाल सकता है अर्थात् उसे काल का भाला लगना अनिवार्य है।

कृष्ण समीपे पांडवा गले हिमालय जाय।
लोहा के पारस मिले तो काहे काई खाय॥५१॥

अर्थ—कृष्ण के समीप ही पाडव हिमालय मे गल गये। लोहा (वासनायुक्त व्यक्ति) को पारस प्रभु मिल जाते तो काई (मृत्यु) नहीं खा पाती। किंतु कृष्ण पारस नहीं थे। अवतारी होने के कारण वे स्वय नाशवान् थे।

केतिक दिन एही गए अनरूचे का नेह।
ऊसर बोये नहि जमे जो घन बरसे मेह॥५२॥

अर्थ—जीव के जाने कितने दिन बीत गये। उसका प्रेम माया से था। माया के रहते कितनी कोशिश कीजिए, ज्ञान नहीं हो सकता है। जैसे मेघ कितना भी बरसे किंतु ऊसर मे बोया हुआ नहीं जम सकता है। माया का क्षेत्र ज्ञानोत्पत्ति की दृष्टि से ऊसर है।

तुलनीय—ऊसर बरसहि तृण नहि जामा।

केला तबहि न चेतिया जब ढिग लागा बेर।
अब के चेते क्या भया जब काँटेनि लिया घेर॥५३॥

अर्थ—केलारूपी व्यक्ति के पास जब बुराइयाँ बेर गयी तभी क्यो नहीं समझ मे आया था। अब तो माया की बुराइयो मे फँस गए। बहुत से पापो से घिर गए हो। अब चैतन्य होने से क्या फायदा है?

अलंकार—अन्योक्ति।

कोठी तो यह काठ की ढिग ढिग दीन्ही आगि।
पंडित पढ़ि गुणि झोली भये साकत उबरे भागि॥५४॥

शब्दार्थ—कोठी = शरीर। ढिग-ढिग = जगह-जगह। झोली = ज्वाला।

अर्थ—यह शरीर काठ की कोठी है। इसमे जगह-जगह वासना की आग जल रही है। पढ़ने लिखनेवाले पडित तो उस आग मे जल गये। किंतु शाक्त भाग निकला।

खेत भला बीज भला बोइन मुठिका फेर।
काहे बिरवा रूखरा हैं गुण खेतहि खेर॥५५॥

शब्दार्थ—खेत = शरीर। वीज = चिदात्मा। बोइन = बोया। मुठिका फेर = मुट्ठी घुमा। फिर सत्सग द्वारा। विरवा = मानवमन। खेर = घास। पुआल।

अर्थ—यह शरीर और उसमे स्थित चिदात्मा दोनो अच्छे है। इनमे मुट्ठी भर-भरकर सत्सग का बीज बोया गया। उससे जो मन वृक्ष तैयार हुआ वह विषय रूखा है। खेत मे त्रिगुण के घास, पुआल पड़े है।

गही टेक नहि छोड़ई चोच जीभ जरि जाय।
ऐसे तप्त अँगार हे ताहि चकोर चबाय॥५६॥

अर्थ—चकोर अगार खाता है। अपनी इस आदत को वह कभी नहीं छोड़ता है। चाहे चोच, जीभ जल क्यो न जायँ। इसी प्रकार भक्त अनेक कष्टो के बावजूद भगवत् प्रेम मे एकनिष्ठ रहता है। एकनिष्ठ प्रेम प्रकाशन के लिये चकोर की उपमा अत्यत प्रसिद्ध है।

अलंकार—अन्योक्ति।

गावे कथे विचारे नाहीं अनजाने का दोहा।
कहहिं कबीर पारस परसे बिना ज्यो पाहन भीतर लोहा॥५७॥

अर्थ—वहुत लोग नासमझी से भक्ति दोहो को गाते है। कहते है। किंतु विचार नहीं करते

है। लोहा तो पत्थर मे रहता ही है। जब तक वह पारस से नहीं र्स्पश करता उसमे परिवर्तन नहीं होता। यहाँ पारस गुरु वाक्य है।

गुणिया तो गुण ही कहे निगुर्ण गुणहि घिनाय।
बैलहि दीजे जामफल का बुझे का खाय॥५८॥

अर्थ—गुणवान् व्यक्ति ही गुणो को समझता है। निर्गुणिया केवल घिनाता है। गालियाँ देता है। निर्गुणिया के लिये गुण वैसे ही है जैसे बैल को कोई जायफल दे दे। वह न तो समझेगा। न खाएगा।

गुरु की भेली जिव डरे काया छीजनिहार।
कुमति कमाई मन बसे लागु जु वाकी लगार॥५९॥

शब्दार्थ—भेली = एक प्रकार की नाव। लागु = लागो। लगार = प्रेम। वाकी = उसकी।

अर्थ—गुरुदेव की नाव पर चढ़ते या शरण मे जाते डर लगता है। शरीर नष्ट होनेवाला है। मन मे बुराइयाँ ही इकट्ठी है। कभी अच्छा काम तो किया नहीं। हे जीव, अब भी समय है। उसके प्रेम मे लग जाओ।

गुरु बिचारा क्या करे जो शिष्यहि मे है चूक।
शब्द बाण बेधे नहीं बाँस बजावे फूँक॥६०॥

अर्थ—असमर्थ शिष्य को गुरु कैसे ठीक कर सकता है? शिष्य स्वय प्रयत्न न करे तो गुरु के शब्द बाण का उस पर कोई असर नहीं होगा। जैसे वशी को फूँककर बजाने से कोई ध्वनि निकलती है वैसे ही कोशिश करने से शायद कुछ प्रभाव पड़ जाय।

गुरु माथे से उतरे शब्द विमूखा होय।
वाको काल घसीटि है राखि सके नहिं कोय॥६१॥

अर्थ—जो व्यक्ति गुरु के सिर से अलग है। अर्थ यह कि जिसे गुरु का ध्यान नहीं है या जिसने अपने दिमाग से सद्गुरु के उपदेश को निकाल दिया है शब्दसाधना से भी विमुख है, उस व्यक्ति को काल अवश्य घसीटेगा। कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है।

गुरु सिकलीगर करि लेहु मनहि मसकला देइ।
शब्द बोलना छोलिके चित्त दर्पण करि लेइ॥६२॥

अर्थ—गुरु लोहे (अज्ञानी) को मन मसकले (शान धराने का यत्र) पर रखकर शब्द द्वारा छीलता है। छीला चित्त दर्पण के समान स्वच्छ हो जाता है जिसमे सम्पूर्ण ब्रह्मसत्ता प्रतिबिम्बित होती है।

अलंकार—उपमागर्भित रूपक।

गृह तज के भये उदासी वन खँड तप के जाय।
चोली थाके मारिया बरई चुनि चुनि खाय॥६३॥

शब्दार्थ—चोली = पान की डिबिया जिसमे पान रख जाता है। बरई = पान का धधा करनेवाली एक जाति विशेष। यहाँ काल भी।

अर्थ—घर छोड़ उदासी हुए। तपस्या के लिए वन खड गये। किंतु उससे क्या हुआ? जैसे डिबिया मे पान सड़ता है और बरई उससे छाँटकर खाता है।उसी प्रकार काल ऐसे व्यक्तियो को चुन-चुनकर खाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

गोरख रसिया योग के मुये न जारे देह।
मांस गलि माटी मिला कोरो माँजरि देह॥६४॥

अर्थ—गोरखनाथ योग के प्रेमी थे। योग के कारण उनकी मृत्यु नहीं हुई। यद्यपि देह जल

गयी। देह का मॉस गलकर मिट्टी मे मिल गया। किंतु फिर भी देह कोरी ही रही। अशुद्ध नहीं हुई।

अलंकार—विशेषोक्ति।

ग्राम ऊँचे पहाड़ पर और मोटे की बाँह।
ऐसा ठाकुर सेइये उबरिय जाकी छाँह ॥६५॥

अर्थ—ऐसे प्रभु की आराधना करनी चाहिए जिसका स्थान बहुत ऊँचा हो। जो अधिक शक्तिशाली (मुहा० मोटी बॉह) हो। ऐसे ही प्रभु की छाया मे जाकर मुक्ति मिल सकती है।

घाट भुलाना बोट बिनु बेष भुलानी कानि।
जाकी मांडी जगत महँ सो न परा पहिचानि ॥६६॥

शब्दार्थ—घाट = गतव्य। कानि = मर्यादा। माडी = मडित।

अर्थ—गतव्य स्थल गलत रास्ते पर जाने के कारण भूल गया। वेश के कारण मर्यादा बिगड़ गयी। सारा ससार जिसके द्वारा बनाया गया है। मडित है। वह पहचाना नही गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

घुंघुची भर के बोये उपजी पसेरी आठ।
डेरा परा काल का साँझ सकारो जाय ॥६७॥

अर्थ—ससार मे कुछ पुण्य कर्म नहीं किया। कर्म तो बहुत किया। किंतु मुक्ति का कर्म न कर बधन का कर्म् किया। जैसे कोई घुघुची (एक पदार्थ विशेष) बोये और वह आठ पसेरी अर्थात् खूब हो। किंतु उसका उपयोग क्या है? जब काल का डेरा पड़ता या काल आता है तो सब बेकार हो जाता है। घुघुची जैसे कर्मबाधा ही बनते है। सहायता नहीं करते।

चंदन वास निवारहु तुझ कारण वन काटिया।
जिवता जीव जनि मारेहु मूये सबै निपातिया ॥६८॥

अर्थ—चदन अर्थात् लोभ-मोह के निवास का निवारण करो। जैसे चदन के लोभ मे वन कटता है वैसे ही लोभ-मोह जीवन वन को बर्बाद कर देते है। प्रभुप्रेम से उसकी जड़ काट देते है। जीवित जीव की हत्या नहीं करनी चाहिए। मरने पर तो सभी निपात हो ही जाते है।

चंदन सर्प लपेटिया चंदन काह कराय।
रोम-रोम विष भीनिया अमृत कहाँ समाय ॥६९॥

अर्थ—चदन के पेड़ मे सर्प लिपटा है। चदन क्या करे? रोम-रोम मे विष भरा है, अब अमृत के सामने की गुजाइश नही है।

चदन जीव है। सर्प विषय है। अमृत गुरु उपदेश है।

अलंकार—अन्योक्ति।

चकोर भरोसे चंद के निगले तप्ताँगार।
कहहि कबीर दाधे नहीं ऐसी वस्तु लगार ॥७०॥

अर्थ—चकोर चन्द्रमा के भरोसे अगार निगलता है। प्रेम मे बड़ा विश्वास होता है। इसी विश्वास के बल वह जलता नहीं है।

चलती चक्की हो देखा मेरे नयन आया रोय।
दो पाटन के अन्तरे सालिम बचा न कोय ॥७१॥

शब्दार्थ—सालिम = साबित। पूर्ण।

अर्थ—ससार मे आवागमन, सुख-दुख, ऋतु चक्र एवं धरती आकाश आदि की चक्कियॉ देख सत कबीर रो पड़े। दो पाटन और जगत द्वन्द्व मे कोई भी जीव साबित नहीं बचा। सबको पिसना है। काल रूपी चक्की सबको पीसती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

चलते-चलते पगु थका नगर रहा नव कोस।
बीचहि में डेरा पड़ा कहो कवन का दोस॥७२॥

अर्थ—ससार मे चलते-चलते पैर थक गया। अभी नव कोस के बास गतव्य है। नव इद्रियो को पार करने के बाद ही प्रभु से भेंट होगी। किंतु विषयो मे लगाव ने इतना कमजोर कर दिया है कि बीच मे ही रुकना पड़ा। इसमे किसका दोष है? अपना ही दोष है।

चार चोर चोरी चले पग पनही उतारि।
चारों दर थूनी रही पंडित करहु बिचारि॥७३॥

अर्थ—चार चोर (मन, चित्त, बुद्धि और अहकार) चारो ने अपने पैर को बधनमुक्त कर नि सकोच होकर चोरी करना चाहा! वासना मे लिप्त हुए। किंतु चारो अवस्थाओ (बाल, किशोर, युवा और वृद्ध) की थूनी (खंभा) गिर गयी। फलत वे कुछ नहीं कर सके। पडित इस पर विचार करे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

चारमास घन बर्षिया अति अपूर जल नीर।
पेन्हे घढ़त न बखतरी चुभे न एको तीर॥७४॥

अर्थ—चार मास अर्थात् बाल्य, किशोर, युवा एव वृद्धावस्था मे धन खूब कमाया। पूरा सुख भोगा। फिर भी सतोष नहीं हुआ। अतत बखतरी पहनी नहीं गयी। अर्थात् शरीर की सुरक्षा नहीं हो सकी और न तो एक भी ज्ञान तीर का प्रवेश ही हो सका।

चौगोड़ा के देखते व्याधा भागो जाय।
एक अचंभा हो देखा मरा काठ को खाय॥७५॥

शब्दार्थ—चौगोड़ा = १ पशु। २ यहाँ शुद्ध अत करण। व्याधा = काल। मरा = विषययुक्त जीव। काठ=वह लकड़ी जिससे मृतक का दाह होता है।

अर्थ—अत करण की शुद्धता को देखकर कालरूपी व्याधा भाग गया। फलत मृतक प्राणी (विषय मुक्त) को काठ क्या जलाएगा? काठ (विषय) ही मृतक (विषय मुक्त) का भोज्य बन गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

छव दर्शन मे जो प्रमाणा तासु नाम बनवारी।
कहहि कबीर ई खलक सयाना इनमे हमहि अनारी॥७६॥

अर्थ—षड्दर्शन मे जो कुछ भी प्रामाणिक है वह सब ईश्वर का नाम है। केवल प्रभु ही प्रमाण है। यह ससार होशियार है। केवल हमीं बेवकूफ है।

टिप्पणी—षड्दर्शन—न्याय, साख्य, वेदात, वैशेषिक, मीमासा, योग।

जंत्र बजावत हो सुना टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करे गए बजावनहार॥७७॥

अर्थ—इस शरीर रूपी यत्र को बजाते सुना था। किंतु अब उसके सारे तार टूट गए। बेचारा यत्र क्या करे? कैसे बजे? जबकि सबका सचालक जीवात्मा ने उस शरीर को छोड़ दिया है।

अलंकार—रूपकतिशयोक्ति।

जब लगि ढोला तब लगि बोला तब लगि धन व्यवहार।
ढोल फूट धन गया कोई न झाँके द्वार॥७८॥

अर्थ—जब तक यह शरीररूपी ढोल है तब तक आवाज है। तब तक धन का व्यवहार है।

ढोल फूटा। शरीर नष्ट हुआ। अब कोई दरवाजे पर झाँकने भी नहीं आता है।

जब लगि तारा जगमगे तब लगि उगे न सूर।
जब लगि जीव कर्म बस डोले तब लगि ज्ञान न पूर॥७९॥

अर्थ—जब तक तारे टिमटिमाते है, तब तक सूर्योदय नहीं होता है। जब तक जीव कर्मवश घूमता है, तब तक ज्ञान पूर्ण नहीं होता है।

जरा मरण बालापना चारि अवस्था आह।
जस मुसवहि तके विलाइया अस जम घात लगाय॥८०॥

अर्थ—चार अवस्थाएँ है बाल, युवा, वृद्ध, मृत्यु। मनुष्य रूप चूहे को बिल्लीरूपी काल घात मे है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जहँ गाहक तहँ हौ नहीं हौ तहँ गाहक नाहिं।
बिनु विवेक भरमत फिरे देखि शब्द की छाँहि॥८१॥

अर्थ—जहाँ प्रेम ग्राहक है वहाँ मै नहीं हूँ। जहाँ मै प्रेम करना चाहता हूँ वहां हमारे प्रेम को स्वीकार करनेवाला कोई नहीं है। विवेक के अभाव मे घूमते है। माया मे घूमते है। शब्द का मूल नहीं छाया पकड़ते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जहर जिमीदे रोपिया अमि सींचे सत बार।
कबीर खलक नाहीं तजे जामहँ जोन विचार॥८२॥

अर्थ—लोग धरती मे जहर बोते है। खराब कर्म करते है। उसे पुण्य कर्म से सींचते है। सौ बार सींचते है। किंतु उस दुनिया को नहीं छोड़ देते जिसमे विकार बसता है।

चौपाई—

जहाँ बोल तहँ अक्षर आया। जहँ अक्षर तहँ मनहि डिढाया॥
बोल अबोल एक है सोई। जिन एक लाखा सो बिरलो होई॥८३॥

अर्थ—जहाँ कुछ कथन करना है वहाँ अक्षर अवश्य होगा। जहाँ अक्षर है, लिखावट और विद्या है वहाँ मन दृढ़ नहीं होता है। वह प्रभु बोल और अबोल के मध्य है। वह गुप्त और थोड़ा प्रत्यक्ष है। सगुण निर्गुण है। जो एक देखता है वह कोई बिरला है।

तुलनीय—सर्व भूतेषु येनैक भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्त्विकम्॥ —गीता १८/२०

जहिया जन्म मुक्ते होता तहिया होत न कोय।
छठी तुम्हारी हौ जगा तू कहँ चला बिगोय॥८४॥

अर्थ—जब यह सृष्टि जन्ममुक्त थी तब कोई नहीं था। केवल शून्य था। पाँच महाभूत के बाद छठा यह ससार बना। ऐ जीव, इस छठी दुनिया को छोड़कर तुम कहाँ जा रहे हो? इस छठी मे ही पाँचो महाभूत है। और भी चीजे है।

जाकी जिह्वा बंद नहि हृदये नाँही सांच।
ताके संग न लागिये घाले बटिया मांझ॥८५॥

अर्थ—जो बहुत बोलता है और उसके हृदय मे सच्चाई नहीं है, उसके साथ कभी नहीं जाना चाहिए। यह रास्ते मे ही धोखा दे देगा।

जाके चलते खदे परा धरती होइ बेहाल।
सो सावन्त घर में जरे पंडित करहु विचार॥८६॥

शब्दार्थ—खदे = खताई। स्वामीपन। सावन्त = सामन्त।

अर्थ—जिसका मालिकपन खूब चला। धरती जिसके स्वामीपने के भार से बेहाल हो गई, वह सामन्त घर में ही जालाया गया है। उसे कोई गगा ले जानेवाला भी नही मिला। पडित, वैभव की क्षणभगुरता पर विचार करो।

जाके मुनिवर तप करे वेद थके गुण गाय।
सोई देव सिखापनो कोई पतियाय॥८७॥

अर्थ—जिस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मुनिवर तपस्या करते है, जिनके गुणो को गाकर वैद्य थक गये, मै उसी प्रभु को प्राप्त करने की शिक्षा देता हूँ। कोई विश्वास नहीं करता है।

जाके सद्गुरु नहि मिला व्याकुल चहुँ दिसि धाव।
आँखि न सूझे बावरे घर जर घूर बताव॥८८॥

अर्थ—जिसे सद्गुरु नही मिले, वह व्याकुल होकर चारो दिशाओ मे दौड़ रहा है। आँखो से सत्य नही दिखाई पड़ता है। जलते घर की रक्षा न कर घूर की आग बुझाता है। भावार्थ यह कि माया मे पड़ा है।

जागृत रूपी जीव है शब्द सुहागा सेत।
जलज विंदु जलकुक्कुटी कहहि कबीर कोइ देख॥८९॥

अर्थ—प्रभु साधना मे जागृत जीव के लिये गुरुदेव का शब्द सफेद सुहागा है। यह सात्त्विक सुहागा जीव को ब्रह्म से जोड़ता है। ऐसा जीव ससार मे कमलपत्र पर रखे जलविंदु तथा जलकुक्कुटी सा ससार सागर मे अलिप्त रहता है।

जानि बूझि जड़ होय रहो बल तजि निर्बल होय।
कहहि कबीर तेहि संत के पला न पकरे कोय॥९०॥

अर्थ—सत साधक जानबूझकर जड़ बना रहता है। बल छोड़कर निर्बल बना रहता है। वही सत महत्त्वपूर्ण है जो किसी का पल्ला नही पकड़कर अपने पर भरोसा रखता है।

जासों दिल नहि मिलिया शब्द बेधा अंग।
कहहि कबीर पुकारि के हंस बके का अंग॥९१॥

अर्थ—जिसका हृदय सत-हृदय के अनुकूल नहीं है, जिसके हृदय मे सत शब्द का प्रवेश नहीं हुआ, जो सत वचनो के प्रभाव से हीन है। सत कबीर कहते है कि ऐसा व्यक्ति हस नहीं होकर बगुला है। क्योकि हंस तो तत्त्व को पहचानता है।

जाहि खोजत कल्पे बीते घटहि मे सो मूल।
बाढे गर्व गुमान ते ताते परिगो दूर॥९२॥

अर्थ—जिस परब्रह्म तत्त्व को खोजते युग बीत गये वह तो घट के भीतर ही प्राप्त है। किंतु बढ़े अहंकार के कारण वह अब तक दूर था।

जिनि जिनि शंबल नहि किया ऐसो पुर पठ (त्त) न पाय।
झालि परे दिन आथये शंबल कियो न जाय॥९३॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति यात्री है। सबको दूर प्रभु के पास पहुँचना है। किंतु रास्ते का सहारा (शम्बल) नहीं है। ऐसा कोई पुरपत्तन (गाँव) नहीं जहाँ टिका जा सके। अब जीवन लीला

समाप्त होनेवाली है। इतनी देर हो चकी है कि अब कोई सहारा भी नहीं खोजा जा सकता है। इसलिये समय रहते ही सब कर लेना चाहिए।

जिव बिनु जीव जिवे नही जिव को जीव अधार।
जीव दया के पालिये पंडित करहु विचार ॥९४॥

अर्थ—जीव ही दूसरे जीव का सहायक है। एक दूसरे की सहायता से ही जीवन चलता है। इसलिए सभी जीवो पर दया करनी चाहिए।

जिह्वा बंद देवहु बोलना निवारु।
सार थी (सो) संगु कुरु गुरुमुख शब्द विचार ॥९५॥

अर्थ—जीभ बद करो। बोलना छोड़ो। मूल तत्त्व का साथ करो। गुरुमुख से शब्द का विचार करो॥

जीव घात नहि कीजिए बहुरि लेत वै कान।
तीरथ गए न बाँधिहु कोटि हीरा देहु दान॥९६॥

अर्थ—जीव हत्या मत कीजिए। मरा जीव बदला देता है। जीव हत्यारा तीर्थ जाए या करोड़ो हीरो का दान करे कितु उसे मुक्ति नहीं मिल सकती है।

जीव जनि मारहु बापुरा सब एकहि प्राण।
हत्या कबहूँ न छूटि है कोटिक सुनउ पुराण॥९७॥

अर्थ—सभी प्राणी एक ही है। सब मे एक ही प्राण है। इसीलिये कभी किसी जीव की हत्या नहीं करनी चाहिए। क्योकि जीवहत्या का पाप करोड़ो पुराण सुनने पर भी नहीं छूटता है।

जीव मरण जानै नहीं अन्धा भया सब जाय।
वादी द्वारे दाद नहि जन्म जन्म पछिताय॥९८॥

अर्थ—जीव की मृत्यु को समझता नहीं। अधा बने लोग जीव हत्या करते है। कितु ऐसा वादी यम के दरवाजे पर जाकर बार-बार पछताता है।

जेते पत्र वनस्पति औ गंगा के रेणु।
पंडित विचारा क्या कहे कबीर कहा मुख वेणु॥९९॥

अर्थ—पेड़ो मे जितने पत्ते है, गगा मे जितने बालूकण है, उतनी ही इच्छाएँ है, उतने ही विचार है। इसमे पडित क्या करेगा? पडित को कुछ भी समझ मे नहीं आता है। कबीर ने किसी किताब से नही, लिखकर नहीं,मौखिक जो बात बता दी उसे कोई पडित नहीं बता सकता है।

जेहि गए पंडित ताते ही गई बहीर।
ऊँची घाटी राम की तेहि चढ़ि गया कबीर॥१००॥

शब्दार्थ—बहीर = (स वधिर) अज्ञानी।

अर्थ—पडित और अज्ञानी की राह एक ही है। दोनो बाह्य साधना मे विश्वास करते है। कबीर साहब राम नाम की ऊँची घाटी पर चढ़कर गये। साधना की ऊच्च भूमिका पर पहुँचे। वह स्थान जहाँ विरले ही जा सकते है।

जेहि मारग सनकादि गे ब्रह्मा विष्णु महेश।
कहहिं कबीर सो मारग थाकिया मै काहि कहौ उपदेश॥१०१॥

अर्थ—भक्ति साधना का वह मार्ग व्यर्थ (थाकिया) हो गया है जिस मार्ग से सनक, सनदन, सनत्कुमार तथा सनातन एव ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ने साधना की थी। कबीर साधना के दूसरे मार्ग का उपदेश देते है।

जेहि वन सायर मुक्त ते रसिया लाल करहि।
अब कबीर पाँजी करी पंथी आवहि जाहिं ॥१०२॥

अर्थ—जिस वन-सागर मे रसिक प्रेम (लाल) करते थे। विषय मे लगे थे, उसी वनसागर के रास्ते का सतुगुरु ने पॉजी (पैदल) के लिये बना दिया है। अब पथिक आते-जाते रहते है। संत कबीर ने भक्ति के मार्ग को सरल बनाया।

जेहि वन सिंघ न संचरे पक्षी नहि उड़ि जाय।
सो वन कबिरन्हि डीँडिया शून्य समाधि लगाय ॥१०३॥

अर्थ—जिस वन (सहस्रार) मे सिह नहीं जाते है, मनपक्षी उड़कर नहीं जा सकते है, उस वन मे कबीर ने शून्य समाधि लगाई है।

अलंकार—व्यतिरेक।

जैसी कहे करे जो तैसी राग द्वेष निरुवारे।
ता महँ घटै बढ़ै रतियो नहिं यहि विधि आपु समारे ॥१०४॥

अर्थ—मनुष्य की कथनी करनी मे एकता होनी चाहिए। राग-द्वेष से अलग रहे। छोटा-बड़ा कोई लोभ नहीं करे। ऐसा व्यक्ति ही आत्मतत्त्व को पा सकता है।

जैसी गोली गुमज की नीच परे ठहराय।
ऐसा हृदया मुर्ख का शब्द नहीं ठहराय ॥१०५॥

अर्थ—जैसे नीचे से चली गोली गुम्बज पर नहीं ठहर सकती है वैसे ही मूर्ख हृदय मे शब्द (गुरु उपदेश) नहीं ठहर सकता है।

जैसी लागी पेड़ की तैसी निबहै छोर।
कोड़ी क़ोड़ी जोरि के कीन्हो लक्ष करोर॥१०६॥

अर्थ—जैसा पेड़ होगा वैसा ही उसका ओर छोर होगा। कौड़ी-कौड़ी जोड़ने से लाख करोड़ होता है।

जो घर रहे सर्प का ता घर साधु न होय।
सकल संपदा ले गया विषहर लागे सोय ॥१०७॥

अर्थ—जिस घर मे वासना का सर्प रहता है वहाँ साधु नहीं रह सकता है। किंतु विषधर सोया रहा और सारी सपत्ति यमराज लेकर चले गये।

जो जन झीने राम रस विकसित कबहूँ न रूख।
अनुभव भाव न दरसये ते नल (र) दुःख न सुख॥१०८॥

शब्दार्थ—झीने = (सं जीर्ण, प्रा जिण्ण) दुर्बल। रूख = रुक्ष।

अर्थ—जो दुर्बल या साधनाहीन व्यक्ति रामरस मे डूबा नहीं, सदा उस रस से अलग रहता है। रामानुभव के भावो का स्पर्श नहीं किया,वह व्यक्ति सुख नहीं दुख पाता है।

जो जान्हु जगजीवना जो जान्हु तो जीव।
पान पयायेहु आपना पनिया मागि न पीव ॥१०९॥

अर्थ—सारे ससार के जीवो को अपना समझो। सारा जग जीवन एक जीव है। अपनापन का भाव रखने पर किसी से पानी मॉगकर पीने की जरूरत न पड़े । भावार्थ यह कि सपत्ति सबधी झगड़े मिट जायें।

जो जान्हु जिव आपना करहु जीव का सार।
जियरा ऐसा पाहुना मिले न दूजी बार॥११०॥

शब्दार्थ—सार = खोज खबर। पहुना = अतिथि।

अर्थ—सभी जीवो को अपना समझकर उनकी खोज खबर लो। जीव ऐसा अतिथि है जो

किसी को दुवारे नहीं मिलता है। इसलिये सबसे सबध बनाए रखना चाहिए।

जो ते साँचा बानिया साँची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइ के कूरा दूरि बहाव॥१११॥

अर्थ—यदि तुम सच्चे व्यापारी हो तो अपने हृदय मे हाट लगाओ। सत्य का व्यापार करो। भीतर साफ करो। हृदय की सारी वासना (कूड़ा) को दूर कर दो।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जो मिला सो गुरु मिला शिष्य मिला नहि कोय।
छो लाख छानबे सहस रमैति जीव पर होय॥११२॥

अर्थ—कोई व्यक्ति शिष्य बनकर सीखना नहीं चाहता है। अज्ञानी होकर भी नकली ज्ञान के अहकार मे डूबा है। छह लाख छियानवे हज़ार ग्रथो को पढ़ने के बाद भी सारे शास्त्रो का ज्ञान राम इति (रमैति) पर ही निर्भर है। रमैति द्वारा जीव का कल्याण होगा।

ज्ञान रत्न की कोठरी चुपक दिया है ताल।
पारखु आगे खोलिये कुंजी वचन रसाल॥११३॥

अर्थ—हृदय रूपी कोठरी मे ज्ञानरत्न भरा है। उस पर मोन का ताला लगा है। इस ताले को मीठे वचनो की कुजी लगाकर अधिकारी पुरुष (पारखू) के सामने खोलिये। अर्थ यह कि ज्ञान की वाते ज्ञानी के सामने ही करनी चाहिए।

ज्यो दर्पण प्रतिबिम्ब देखिए आप दुनो महँ सोई।
या तत्त्व ते वा तत्त्व याही मे पुनि होई॥११४॥

अर्थ—जीव और ब्रह्म का सबध विम्ब प्रतिविम्ब भाव वाला है। जैसे दर्पण मे पड़ा प्रतिबिम्ब और विम्ब दोनो एक ही है। ब्रह्म का प्रतिविम्ब प्रकृति दर्पण मे पड़ता है। यही जगत् है, जीव भी है।

ज्यो मुदराद समशान ज्यो शील सबरूप समान।
कहहि कबीर सावज गती तबकी देखि झुकाहि॥११५॥

अर्थ—जैसे मुदद पत्थर अपने साथ रहनेवाले सामने की वस्तुओ समान रूपशील (गुण) का बना लेता है। वैसे ही शिकार (सावज) अर्थात जीव अपने दुश्मनो को भी झुका कर अपने जैसा बना लेता है। साधुता से साधुता विकसित करता है।

झालि परे दिन आथये अन्तर परिगो साँझ।
बहुत रसिक के लागते वेश्या रहि गइ बाँझ॥११६॥

अर्थ—जीवन का सूर्य अस्त हो गया। वृद्धावस्था रूपी संध्या आ गयी। बहुत से शास्त्रो और मतवादो के चक्कर मे रहने से कुछ नहीं मिला। आत्मज्ञान नही हो सका। जैसे बहुत से पुरुषो के चक्कर मे वेश्या सतान पैदा नहीं कर पाती है।

अलंकार—दृष्टात।

झिलिमिलि झगरा झूलते बाकी छुटी न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावे साहु॥११७॥

अर्थ—सभी लोग नाना प्रकार के विवादो मे फँसे है। कोई उससे मुक्त नही है। गोरखनाथ जैसे साधक भी कालपुर मे (यमराज के यहाँ) अटके है। कोई भी व्यक्ति साधु कहलाने की स्थिति मे नहीं है।

टिप्पणी—यह दोहा गोरखनाथ का हो सकता है।

झूला सो झूला बहुरि के चेतना।
शब्द की छुरी से संशय को रेतना॥११८॥

शब्दार्थ—रेतना = काटना।

अर्थ—वासना के झूले मे झूले-सो झूले। अब तो चेतो। सद्गुरु के शब्द की छूरी से अज्ञान-जन्य सशय को काटो। क्योकि सशयात्मा का नाश होता है।

तुल०—सशयात्मा विश्यति।

ढाढस देखहु मरजीवा को धह जोरि पैठा पाताल।
जीव के अटक माने नहीं ले गहि निकसा लाल॥११९॥

शब्दार्थ—मरजीवा = जीवन्मुक्त। धह = धँसना। पाताल = मूलाधार चक्र। लाल = मुक्ति। परमतत्त्व।

अर्थ—जीवन मुक्त साधक का साहस देखने योग्य है। उसने साधना द्वारा मूलाधार चक्र मे प्रवेश किया। वहाँ से कुडलिनी जागरण का कार्य प्रारभ किया। कहीं अँटके बिना शून्य शिखर तक चला गया। वहाँ से परमतत्त्व को प्राप्तकर शरीर से बाहर आया। भावार्थ यह कि जो जीव निम्नगामी था वहीं ऊर्ध्वमुख होकर मुक्त हो गया।

ढिग बूडे उछले नहीं इहै अंदेसा मोहि।
सलिल मोह की धार मे का निदिआई तोहि॥१२०॥

अर्थ—मोह रूपी जल की धारा मे क्या तुम्हे नींद आ गयी? लोभ मे गये। फलत किनारे (ढिग) मे ही डूब गये। निकल न सके। मुझे पूरी आशका है कि यह इसलिये हुआ कि मोह मनुष्य की चेतना को समाप्त कर देता है।

तन संशय मन सुनहा काल अहेरी नीत।
एक हि डांग बसेउबा कुशल पूछहु काहू मीत॥१२१॥

शब्दार्थ—सुनहा = कुत्ता। भूँकनेवाला। डाग = लाठी। बसेउबा = बसना। लगना।

अर्थ—शरीर सशयग्रस्त है। मन कुत्ते जैसा लोभी, खुशामदी और दूसरो को देखकर भूँकनेवाला है। किंतु इस कुत्ते को कालरूपी शिकारी की एक लाठी भी लग गयी तो इस मित्र का कुशल क्यो पूछा जाय। अकुशलदग्ध का कुशल क्यो?

तहिया कृत्रिम न होता धरती होति न नीर।
उतपति परले नहिं होता तब की कही कबीर॥१२२॥

अर्थ—सृष्टि के पूर्व की बात कबीर जानते है। उस समय की बात कहते है जब यह कृत्रिम ससार, यह धरती, यह पानी नहीं थे। उत्पत्ति प्रलय के चक्र भी नहीं थे।

ताकी पूरी का परे गुरु न लखाई बाट।
ताके बेरा बूड़ही फिरि औघट घाट॥१२३॥

अर्थ—जिसे सद्गुरु का ज्ञान नही प्राप्त हुआ उसका कार्य कभी पूरा नहीं हो सकता है। उसकी नाव बीच मे ही डूबेगी। वह ससार सागर पार नहीं कर सकता है।

तामस केरे तीन गुण भँवर लेहि तहँ बास।
एकहि डारे तीन फल भाटा ऊख कपास॥१२४॥

अर्थ—तामसिक वृत्तियाँ अर्थात् सासारिकता सत्त्व, रज, तम से भरी है। वहाँ चचल-चित्त लोग निवास करते है। केवल एक मन की चचलता छोड़ दी जाय तो भाटा (बैगन) का तमोगुण, ऊँख का रजो गुण और कपास का सत्त्व गुण सभी से मुक्ति मिल जायगी।

इसका दूसरा अर्थ है कि धर्म, अर्थ, काम तीनो पुरुषार्थ उचित ढग से काम करने लगते है। सबका लगाव छूट जाता है।

ताहि न कहिए पारखू पाहन लखे जो कोय।
नर नग या दिल जो लखे रतन पारखू सोय ॥१२५॥

अर्थ—पत्थर की परख करनेवाला जौहरी नहीं है, जो मनुष्य रूपी नग या दिल को समझता है उसे असली रत्नपारखी कहना चाहिये।

अलंकार—नरनग मे रूपक।

तीनि लोक टीड़ी भया उड़े मन के साथ।
हरि जाने बिनु भटके परे काल के हाथ ॥१२६॥

अर्थ—जीव चचल मन के साथ टिड्डी बना तीनो लोको मे घूमता रहा। भगवान् को जाने बिना भटकता रहा और काल के हाथ पड़ गया। क्योकि माया मे भटकनेवाले की काल से मुक्ति नहीं है।

तीनि लोक चोरी भया सर्वस सब का लीन्ह।
बिना मूँड़ का चोरवा परा न काहू चीन्ह ॥१२७॥

अर्थ—तीनो लोको मे चोरी हुई। सबका सर्वस्व चला गया। बिना सिरवाला मायारूपी चोर को किसी ने नहीं पहचाना।

तीनि लोक भो पींजरा पाप पुण्य भो जाल ॥
सकल जियरा सावज भया एक अहेरी काल ॥१२८॥

अर्थ—तीन लोक पींजड़ा है। पाप-पुण्य जाल है। सभी जीव शिकार है। काल सबका शिकारी है।

अलंकार—रूपक।

तीरथ गए ते बहि मुए जूड़े पाणि नहाय।
कहहि कबीर पुकारि के राक्षस होय पछताय ॥१२९॥

शब्दार्थ—जूड़े = ठड।

अर्थ— जो तीर्थो मे गए वे ठडे पानी मे नहाकर मर गये। अल्पायु के कारण वे राक्षस योनि मे जन्म लेगे। न तीर्थ जाते, न यह दशा होती।

तीरथ गए द्व जना चित चंचल मन चोर।
एको पाप न काटिया मन दस लादे और ॥१३०॥

अर्थ—तीर्थ जाने से कोई फायदा नहीं है। क्योंकि वहाँ चित्त की चचलता और मन की चोरी बनी है। . . . कटना तो दूर और भी दस मन पाप लादे आ गये।

तीर्थ भई विष बेलरी रही जुगन जुग छाय।
कबिरनि पेड निकंदिया क्यो न हलाहल खाय ॥१३१॥

अर्थ—तीर्थ जहर है। विष की लता है। यह लता युग-युगो से छायी है। सत कबीर ने तीर्थ रूपी जहरीले पेड़ को उखाड़ दिया। क्यो न इस हलाहल को खाया जाय। किंतु तीर्थ हलाहल से भी भयकर है।

दर्पण के गुफामहँ सोनहा पैठे धाय।
देखे प्रतिमा आपनी भूँकि भूँकि मरि जाय ॥१३२॥

अर्थ—दर्पण रूपी गुफा मे कुत्ता दौड़कर बैठ गया। अपनी ही प्रतिमा को देखकर भूँक-भूँककर मर रहा है। माया दर्पण है। जीव कुत्ता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

दुर्मति दुर्मति दूर करि अच्छा जनम बनाव।
काग गमन बुधि छोड़ दे हंस गमन चलि आव ॥१३३॥

अर्थ--विषयवासना की दुर्बुद्धि दूर करो। अपने जन्म को अच्छा बना लो। कौए की चाल छोड़कर हस की चाल चलो।

दूहरा तो नूतन भया तदपि न चीन्हे कोय।
जिहि यह शब्द विवेकिया छत्र धनी है सोय ॥१३४॥

शब्दार्थ--दुहरा = दोहा।

अर्थ--लोग नये-नये दोहो के चक्कर मे है। किंतु पद या प्रभुपद का विचार नहीं करते। जो शब्दो का विचार करता है वही धनी है। वही क्षत्रधारी है। वही ज्ञानी है।

देश विदेश हम फिरे मन ई भरा सुकाल।
जाके ढूँढत मैं फिरौं ताके परा दुकाल ॥१३५॥

अर्थ--मै देश-विदेश घूमता रहा। मन सुकाल को खोजता है। किंतु मै जिसको ढूँढ़ता हूँ उसका अकाल पड़ गया है। वह कहीं नहीं है।

दोहरा कतर कहहि कबीर प्रतिदिन समो जु देखि।
मुई गये न बहुरे बहुरि न ऐहै फेरि ॥१३६॥

अर्थ--सत कबीर कहते है कि जो लोग दिन प्रतिदिन दोहा कहते है, वे केवल दुहराते है। अपनी अनुभूति नहीं, परानुभूति कहते है। मरने पर फिर लौटना नहीं होगा। इसलिये इस शरीर के रहते कुछ कर लो।

द्वारे तेरे रामजी मिलहुँ कबीरा मोहि।
तै तो सब मे मिलि रहा मैं न मिलूँगा तोहि ॥१३७॥

अर्थ--सत कबीर कहते है कि भगवान् सबके दरवाजे के भीतर है। हृदय मे है। हृदय द्वार खोलो वे तुरन्त मिलेगे। हे प्रभु, तुम तो सब मे मिले हो किंतु मै जीव अज्ञानवश तुमसे नहीं मिल पा रहा हूँ।

धरती जानति आप गुण कबहुँ न होती डोल।
तिल तिल बढ़ि गरहु होती ठीकहु के मोल ॥१३८॥

अर्थ--धरती का गुण है धैर्य। धरती अपने इस गुण को जानकर कभी भी धैर्य नहीं छोड़ती है। तिल तिल धीरे-धीरे बढ़कर भारी (गरहु) होती है। ठीक मूल्य पर पहुँचती है।

टिप्पणी--गीता मे कहा है--

शैनै शैनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृति गृहीतया।
आत्मसस्थ मन कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ६/२५।

धव की डाढी लाकरी ओभी करे पुकार।
अब जो परेउ लोहार घर डाढ़े दूजी बार ॥१३९॥

शब्दार्थ--धव = धूप। डाढ़ी = जली। ओभी = खड़ी। लोहारघर = काल या यमघर। दूजी = दूसरी। अनेक।

अर्थ--जिस जीव ने अपना सारा जीवन धूप मे अर्थात् व्यर्थ खड़ा बिताया। वह पुकार रहा है। अब तो काल के गाल में चला गया हूँ। दूसरी बार या बार-बार जलाया गया हूँ। जन्म-मरण चक्र मे फँसा हूँ।

नग पषाण जग सकल है लखवैया सब कोय।
नर नग उत्तम पारखू जग महँ बिरलै होय ॥१४०॥

अर्थ--ससार मे नग पत्थर या ज्ञान विज्ञान के जानकार (परीक्षक) बहुत से है। सभी को लगता है कि वे सब समझते है। किंतु नर रूपी नग का पारखी विरला ही रहै।

नित खरसान लोह धन फूटे।
नित के गुष्टि माया मोह टूटे॥१४१॥

शब्दार्थ—खरसान =हथियार तेज करनेवाला यत्र। गुष्टि = गोष्ठी। लोह = हथियार। धन = शक्ति।

अर्थ—नित्य खरसान पर चढ़ाने से हथियार की शक्ति प्रगट होती है। नित्य की गोष्ठी से, सन्‌सगति से, माया मोह के बधन टूट जाते है।

नयन के आगे मन बसे पलक पलक कर दौर।
तीनि लोक मन भूप है मन पूजा सब ठौर॥१४२॥

अर्थ—मन ऑखो से आगे चलता है। पल-पल दौड़ता है। मन तीनो लोको का राजा है। सर्वत्र मन की ही पूजा होती है। इस मन का पूर्ण होना आवश्यक है।

नव मन दुग्ध बटोरिक टिपके भया विनास।
दूध फाटि काँजी भया घृतहु को नास॥१४३॥

अर्थ—नव मन दूध बटोरा। पवित्र साधना की। किंतु उसमे वासना का एक बूँद खट्टा पदार्थ गिर गया। फलत दूध का विनाश हो गया। थोड़ा भी लोभ साधना सिद्धि को नष्ट कर देता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

नष्टा का ई राज है नफरत वरते तेज।
सार शब्द टकसार है हृदये माँहि विवेक॥१४४॥

अर्थ—यह ससार राज्य नष्ट होनेवाला है। माया राज्य है। यह सबको घृणा सिखलाता है। इसमे मूलतत्त्व विवेक है। यही शब्द टकसार भी है। इसे हृदय मे स्थान दो।

नहिं हीरा की बोरियां नहि हंसन की पाँति।
सिंघहु के लेहड़ा नहीं साधु न चले जमात॥१४५॥

अर्थ—हीरो की बोरियाँ, हसो की पक्ति, सिहो का झुड, साधुओ की जमात नहीं होती है। ये सभी अकेले-अकेले ही महत्त्वपूर्ण होते है। विरले मिलते है। हीरा, हस, सिह या साधु इकट्ठे बहुत से नहीं मिल सकते है।

नाना रंग तरंग है मन मकरंदु असूझ।
कहहि कबीर पुकारि के अकलि कला ले बूझ॥१४६॥

अर्थ—ससार मे अनेक प्रकार के शास्त्र ज्ञान है। मन इतना बेवकूफ है कि वह शास्त्र के वचनो मे भूल जाता है। अक्ल की कला द्वारा ही शास्त्रो को समझना चाहिए। नासमझ के लिये शास्त्र भटकानेवाले रग बिरगे फूल है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

नाम न जाने ग्राम को भूली मारग जाय।
काल्हि गड़ेगा कण्टक अगुमन कस न खुराय॥१४७॥

अर्थ—जिस परमधाम रूपी गॉव जाना है उसका रास्ता तो भूल गये। विषयो मे भटकते रहे। किंतु कल जब यमराज के कॉटे गड़ेगे तो क्या होगा? इसलिए अभी से ही क्यो नहीं सँभलकर चलते हो?

पंच तंत्त ले या तन कीन्ह सो तन कहाँ ले कीन्ह।
कर्महि वश जीव कहत है कर्महि के जिव दीन्ह॥१४८॥

अर्थ—यह शरीर पॉच तत्वो से बना है। किंतु इसे बनानेवाला शरीर कहॉ से और किन तत्वो से बना है? कर्म से जीव धारण करते है। इसी तरह कर्म को ही जीव रूप दिया गया

है।

पंच तत्व को पूतरा मानुष धरिया नाम।
एक कल के बीछुरे बिकल भया सब ठोम ॥१४९॥

अर्थ—पच तत्त्व (पृथ्वी, जल, आकाश, आग, हवा) का पुतला मनुष्य नाम से जाना जाता है। एक कल (कला = अश) के अलग हो जाने से सर्वत्र दुखी होना पड़ता है।

पंचतत्त के भीतरे गुप्त वस्तु अस्थान।
बिरले मर्म कोई पाइहै गुरु के शब्द प्रमाण ॥१५०॥

अर्थ—इस पच तत्त्व वाले शरीर मे आत्मतत्त्व का स्थान है। इस बात को कोई कोई समझता है। गुरुदेव के शब्दो को प्रमाण मानकर ही कोई आत्मतत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

पंच तत्व को पूतरा जुक्ति रची मै कीव।
मै तोंहि पूछौ पंडिता शब्द बड़ा की जीव ॥१५१॥

अर्थ—यह शरीर पच तत्त्वात्मक है। यह शरीर रूपी काव्य अत्यत युक्तियो से रचा गया है। ऐ पडितो, बताओ कि शब्द (ज्ञान) और जीव मे कौन बड़ा है?

पक्षापक्षी कारणे सब जगत भुलाना।
निरपेक्ष होय के हरि भजे सोई सन्त सुजाना ॥१५२॥

अर्थ—ससार के लोग पक्ष-विपक्ष मे फँसे है। पक्षो को छोड़ जो हरि भजता है वही सच्चा सत है।

परदे पाणी दाधिया संतो करहु विचार।
सरमा सरमी पचि मुवा काल घसीटनिहार ॥१५३॥

अर्थ—पर्दे या अनके प्रकार के रक्षाकवचो के भीतर बद प्राणी को भी जलना पड़ा। शर्मा-शर्मा शास्त्रो के चक्कर या लोभ, मोहादि मे मर गए। सबको काल घसीट ले गया।

पर्वत ऊपर हर बसे घोरा चढ़ बसि ग्राम।
बिनु फूल भंवरा रस चहै कहु बिरवा को नाम ॥१५४॥

अर्थ—सहस्रार पर पहुँच कर चैतन्यात्मा हल जोतता है। घोड़ा पर चढ़कर गॉव बसाता है। यहाँ बिना फूला आत्म भ्रमर रस का पान करता है। कहो उस पेड़ का क्या नाम है?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

पल मे परले बीतिया लोगहि लागु तिवारि।
आगिल सोच निवारि के पाछिल करहु गुहारि ॥१५५॥

अर्थ—पलभर मे प्रलय होगा या जीवन बीत जायगा। लोगो को समझाने मे देर (अतिवार/तिवार) लगती है। आगे के बारे मे सोचो और उसका निवारण करो। पीछे जो कर्म कर आये हो उसके लिये प्रार्थना करो। तुम्हे पाप से मुक्ति मिल जाय।

पाँवहि पहुमी नापते दरिया करते फाल।
हाथन्हि पर्वत तोलते तेहि धरि खायो काल ॥१५६॥

शब्दार्थ—पहुमी = पृथ्वी। फाल = फाड़। दरिया = नदी।

अर्थ—काल सभी को खाता है। उनको भी खा गया जो अपने पॉवो से धरती नापते थे, नदियो को फाड़ देते थे, हाथो से पर्वत तौलते थे।

टिप्पणी—पृथु ने धरती को बराबर किया था। सगर पुत्रो ने सागर को फाड़ा था। रावण अपने हाथो से सुमेरु पर्वत को तौलता था।

पाणि पियावत का फिरो घर घर सागर बारि।
तृषावंत जन होहिगे पीवहिगे झख मारि ॥१५७॥

इसको अर्थ अन्यत्र देखिये।

पाणी भीतर घर किया सेज्या किया पताल।
पासा परा करीम का तेमे पेन्ही जाल ॥१५८॥

अर्थ—जिन्होने आकाश पाताल एक कर दिया। पानी मे घर बनाया। पाताल मे सोए। कितु दयालु ईश्वर का पासा पड़ते ही मृत्यु के जाल मे फँस गए।

टिप्पणी—पानी अविद्या है। देहाभिमान शय्या है। पाताल कर्मलोक है।

पानी ते अति पातला धूम्र ते अति छीन।
पवनुहु ते उतावला दोस्त कबीरनि कीनि ॥१५९॥

अर्थ—सत कबीर ने जिस परमात्म तत्त्व को अपना दोस्त बनाया है वह पानी से अति पतला, धुएँ से क्षीण और हवा से भी अधिक वेगवान है।

पारस परसि ताम्र भो कंचन बहुरि न ताँबा हो।
परिमल बास परासहि बेधे काठ कहै नहि कोय ॥१६०॥

अर्थ—परमात्म रूप पारसमणि के स्पर्श से ताँबा सोना हो गया। जीव का तमोगुण समाप्त होकर सत्त्व गुण रह गया। अब सोना पुन ताँबा नहीं होगा। परिमल की गध ने पलाश को भी बेध दिया है। अब पलाश को कोई काठ न कहे। सामान्य जीव भी गुरुकृपा से भगवत्कृपा का पात्र हो गया है।

पारस रूपी जीव है लोह रूप संसार।
पारस ते पारस भया परस भया टकसार ॥१६१॥

अर्थ—साधक जीव पारसमणि है। ससार लोहा है। साधक जीव लोहे को स्पर्श कर सोना बना दिया। स्पर्श टकसाल है। गुरु के स्पर्श को पाकर सब ठीक हो जाता है।

पाव पलक की गमि नहीं करे काल के साज।
बीच अचानक मारिहे ज्यों तीतर पर बाज ॥१६२॥

शब्दार्थ—पाव पलक = क्षण का छोटा भाग।

अर्थ—छोटे से छोटे क्षणो का भी भरोसा नहीं है। काल सजा है। जैसे बाज तीतर पर अचानक झपट्टा मारता है उसी प्रकार मनुष्य मृत्यु रूपी बाज का तीतर है।

पीपर एक महा गभान वाकी मर्म कोई नहि जान।
डार लँबाये कोइ नहीं खाय ससम अक्षत बहु पीपरे जाय ॥१६३॥

अर्थ—यह जीव पीपल पेड़ सा गर्वीला है। इसकी शक्ति कोई नहीं जानता है। डाल झुकाए नहीं झुकती है। वह पूर्णत नष्ट हो जाता है। अहकारी व्यक्ति झुकता नहीं, उसका समूल नाश होता है।

टिप्पणी—इस ससार को भी पीपल वृक्ष कहा गया है।

पूर्व उगे पश्चिम विशवे भखे पवन को फूल।
ताको काल गरासे मानुष काहे भूल ॥१६४॥

अर्थ—सूर्य पूर्व मे उगता है। पश्चिम मे अस्त होता है। हवा मे झूमते फूल का भक्षण करता है। उसे भी काल ग्रस लेता है। ऐ मनुष्य, काल की इस शक्ति को कभी मत भूलो।

पैठा है घर भीतरे बैठा है सब चेत।
जब जैसी गति चाहिए तब तैसी मति देत ॥१६५॥

अर्थ—सूर्य पूर्व मे उगता है। पश्चिम मे अस्त होता है। हवा मे झूमते फूल का भक्षण करता है। उसे भी काल ग्रस लेता है। ऐ मनुष्य, काल की इस शक्ति को कभी मत भूलो।

पैठा है घर भीतरे बैठा है सब चेत।
जब जैसी गति चाहिये तब तैसी मति देत॥१६६॥

अर्थ—वह ईश्वर घर (हृदय) मे प्रविष्ट है। सारी चेतना के बीच बैठा है। जब जिसकी जो गति होनेवाली होती है तब उसे वैसी बुद्धि प्रदान करता है।

प्रगट कहौं तो मारिया परदा लखे न कोय।
सहना छपा पुवार तर को कह बैरी होय॥१६७॥

अर्थ—उस ब्रह्म तत्त्व को सगुण (प्रगट) कहूँ तो लोग मारेगे। क्योकि उसे स्थूल रूप मे दिखाया नहीं जा सकता है। पर्दे मे निर्गुण रूप मे उसे कोई देख नहीं सकता है। जब सबको पुआल की छाया के नीचे रहना है तो किसी से बैर लेना ठीक नहीं। क्योकि पुआल की छाया आग, पानी, हवा सभी खतरो से भरी है।

प्रथम एक जो हौं किया भया सो बारह बान।
कसत कसौटी ना टिका पीतर भया निदान॥१६८॥

अर्थ—ईश्वर ने तो बारह बान का शुद्ध सोना बनाया था। किंतु कसौटी पर कसने पर वह पीतल प्रमाणित हुआ। जीव ने अपने को सोना से मिट्टी बना लिया।

प्राणी तो जिभ्या डिगो क्षण क्षण बोले कुबोल।
मन घाले भरमत फिरे कालहिं देत हिंडोल॥१६९॥

अर्थ—जो मनुष्य जीभ पर सयम न रखकर डिगता फिरता है। हर समय कुबोल बोलता है। मन को विषयो मे गिराकर चक्कर लगाता है। वह काल को अपने शरीर पर झूलने का न्यौता देता है अर्थात् उसका शरीर काल का झूला बनेगा।

प्रेम पाट का चोलना पहरि कबीरा नाच।
पानप दीन्हों ताहि को जो तन मन बोले साँच॥१७०॥

अर्थ—संत कबीर प्रेम का पाट वस्त्र पहनकर नाचते हैं। प्रतिष्ठा उसी को मिली जो तन मन से सच बोलता है।

फहम आगे फहम पीछे फहम बायें डेरे।
फहम पर जो फहम करे सोइ फहम है मेरे॥१७१॥

शब्दार्थ—फहम = ज्ञान।

अर्थ—ज्ञान ही ज्ञान है। आगे-पीछे दाएँ-बाएँ सर्वत्र ज्ञान है। ज्ञान को ज्ञान से प्राप्त करना ही ज्ञान है।

बनते भागा बिछुड़े परा करहा अपने बाने।
करहा बेदन कासो कहे को करहा को जाने॥१७२॥

अर्थ—जीवात्मा ससार बन मे अकेले बिछुड़ गया है। ऊँट का बच्चा जीवात्मा रूपी अपना दुख किससे कहे? उसके दर्द को कौन समझेगा? यहाँ इस वन मे तो सभी दुखी है।

बना बनाया मानवा बिना बुद्धि के शूल।
कहा लाल ले कीजिए बिना बास का फूल॥१७३॥

अर्थ—बिना बुद्धि का आदमी काँटे के समान है। वह आत्मनिर्माण मे तो अक्षम है ही दूसरो का भी नुकसान करता है। वह गधहीन फूल के समान केवल लाल होता है। रूप नहीं गुण महत्त्वपूर्ण है।

बलिहारी तेहि दूध की जामे निकला घीव।
आधी साखी कबीर की चारि वेद को जीव॥१७४॥

अर्थ—वह दूध धन्य है जिससे घी निकलता है। वह प्रभु धन्य, जिससे यह सृष्टि विकसित

होनी है। कबीर की आधी साखी चारो वेदो का मूल तत्व है। जैसे प्रणव मूल है। वैसे कबीर की आधी साखी मूल और महत्त्वपूर्ण हैं।

बलिहारी तेहि पुरुष की जो परथित पेखनहार।
साई दीन्हो खाँड के खारी बूझे गँवार ॥१७५॥

अर्थ—वह सद्गुरु धन्य है जिसने द्रष्टा और दृश्य का परिचय कराया है। या जो द्रष्टा प्रभु से परिचित कराता है। प्रभु ने सबको आतमतत्त्व रूपी गुड़ दिया है। किंतु अज्ञानी उसे खारा (व्यर्थ का नीखा) समझता है।

बड़ा तो बड़पने गए रोम रोम हंकार।
सद्गुरु के परचे बिना चारो वर्ण चमार ॥१७६॥

अर्थ—अहकारी के रोम-रोम मे बड़प्पन और अहकार भरा है। ऐसे अहकारी अपने को बड़ा समझनेवाले चौपट है। सद्गुरु द्वारा प्रभु से परिचय कराए बिना चारो वर्णो के लोग चमार है। कोई श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ वह हैं जो सद्गुरु की शरण मे जाकर आत्मतत्त्व को जानता है। अहकारमुक्त है।

बहुत दिवस ते हींडिया शून्य समाधि लगाय।
करहा पड़ा गाड़ मे दूरि परे पछिताय ॥१७७॥

शब्दार्थ—हींडिया = खोजना। करहा ऊँट का बच्चा। जीवात्मा। गाड़ = गड्ढा।

अर्थ—जीवात्मा बहुत दिनो से शून्य तत्त्व की प्राप्ति के लिये ध्यान लगाये है। परमतत्त्व से उसका सबध छूट गया है। ऊँट का बच्चा रूपी जीवात्मा वासना के गड्ढे मे गिरकर अफसोस कर रहा है। विषयो मे गिरकर अपना कितना अधिक नुकसान किया है।

बहुबंधन के बंधिया एक विचारा जीव।
के छूटे बल आपने के छुड़ावे पीव ॥१७८॥

अर्थ—जीव अकेला है। माया मोह के बहुत से बधनो से बधा है। कोई भी व्यक्ति अपने बल से इस बधन से नहीं छूटता है। वधन से वही छूटता है जिसे प्रभु कृपाकर छुड़ाता है।

बाँह मरोरे जात है सोवत लिया जगाय।
कहहि कबीर पुकारि के पिण्ड रहौ के जाय ॥१७९॥

अर्थ—हे प्रभु, तुमने मुझे (जीव को) अज्ञान निद्रा से जगा लिया। अब बॉह मरोड़कर छोड़ रहे हो। सत कबीर पुकार कर कहते कि शरीर रहे या जाय। शरीर की चिता नहीं है। तुम्हारी कृपा बनी रहनी चाहिए।

वाजन दे बाजन्तरी कलि कुकुरी मति छेर।
तुझे बिरानी क्या परी अपनी आप निबेर ॥१८०॥

अर्थ—कलि रूपी कुतिया बुद्धि को छेड़ रही है। ऐसे मे आत्मा मे होनेवाले अनाहत को बजने दो। तुम्हें दूसरो की क्या चिता है? अपने आप को विषयो से निवृत्त करो।

बिनु डाँडे जग डाँडिया सोरठि परिया डाँड।
बाट निहारा लोभिया गुड़ ते मीठी खाँड ॥१८१॥

शब्दार्थ—डाँडै = दड। डडा। डॉडिया = दडित किया। सोरठि = सुराष्ट्र। डॉड = डडा। गुड़ = ज्ञान (प्रनीक)। खाड = कामादि अज्ञान (प्रतीक)।

अर्थ—चेतन तत्त्व विना डडे के सबको दडित कर रहा है। उसने डडे से सुदर स्थान बनाया है। लोभी केवल लोभ का रास्ता देखते है। उन्हे ज्ञान गुड़ की अपेक्षा कामादि खाड अच्छा लगता हे। किंतु उस सुदर प्रदेश मे जाना नहीं चाहते जहॉ ईश्वर का डडा सबकी रक्षा करता है।

बिनु रसरी गृह खल बँधा तासू बंधा अलेख।
दीन्ह दर्पण हस्त मधे चसम बिना का देख ॥१८२॥

अर्थ—सारा ससार बिना रसरी (गुण) के माया मे बधा है। यह माया अदृश्य है। जब गुरुदेव ने हाथ मे ज्ञान दर्पण दिया तो भौतिक ऑखो के बिना भी सब दीखता है। असली चीज है आत्मज्ञान।

विष के बिरवहिं घर किये रहा सर्प लपटाय।
तातें जियरहि डर भया जागत रैन बिहाय ॥१८३॥

अर्थ—विषयो के विष को हृदय मे स्थान दिया। इससे माया-मोह का सर्प लिपटा है। उससे हृदय मे डर बना है। पूरी अज्ञानमूल रात जागते ही बीतती है। कभी सुख की नींद नहीं सोसके।

तुल० डासत ही सब बीति गयो निसि कबहूँ न नाथ नींद भर सोयो।—विनय०

बूँद जो परा समुद्र में यह जाने सब कोय।
समुद्रक समाना बूँद मे बुझे बिरला कोय ॥१८४॥

अर्थ—बूँद (व्यष्टि) समुद्र (समष्टि) मे गिरा यह सभी जानते है, देखते है। किंतु सपूर्ण समुद्र -समष्टि या विराट् सृष्टि छोटी बूँद मे हो इस बात को कोई-कोई ही समझता है।

बेढा दीहहो खेत का बेढा खेतहि खाय।
तीनि लोक संशय परी काहि कहौं बिलगाय ॥१८५॥

शब्दार्थ—बेढा = घेरा। बाधा। बाड़। बिलगाय = अलग। खेत = शरीर।

अर्थ—यह शरीर विषयो के घेरे मे घिरा है। विषय शरीर को नष्ट कर रहे है। तीनो लोको मे सशय है। किससे अलगकर कहा जाय? सभी तो इस सशय मे डूबे है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

बेरा बाँधिनि सर्प का भव सागर अतिमाह।
छोड़े तो बूड़े नहीं गहे तो डसे बाँह ॥१८६॥

शब्दार्थ—बेरा = बेड़ा। भेला।

अर्थ—संसार सागर मे विषय सर्प का बेड़ा है। यह सागर अत्यत विस्तृत है। भयानक है। छोड़ दे तो डूबने का भय है। पकड़े रहने पर डँसने का खतरा है। दोनो ओर से कठिनाई है।

अतिम पक्ति यह भी हो सकती है—छोड़ दो तो डूबने का भय नहीं है। विषय सागर से मुक्ति मिल जायगी। किंतु पकड़े रहने पर तो अवश्य नाश होगा।

बेलि कुढंगी फल निफरो फुलवा कुबुधि गँधाय।
ओर बिनष्टी तुंबिका सरो पात करुवाय ॥१८७॥

अर्थ—इस ससार रूपी लता का फल बेढगा और व्यर्थ (निफर) है। इसमे कुबुद्धि रूपी फूल महकता है। इसके तुम्बे भी नाश करनेवाले है। सरपत (घासपात) आदि भी कडुवे है। अर्थ यह कि इस ससार की माया लता सबको नष्ट कर रही है। इसकी कोई चीज अच्छी नहीं है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

बैठा रहे सो बनिया खड़ा रहे सा ग्वाल।
जागत रहे सो पाहरु तिहि धरि आयो काल ॥१८८॥

अर्थ—बोली से साधु और चोर की पहिचान होती है। मनुष्य जो अपने भीतर करता है, सोचता है, वही उसके मुख के रास्ते से निकलता है।

बोलना है बहु भाँति का नैनन नहि कछु सूझ।
कहहिं कबीर पुकारि के घट की बानी बूझ ।।१८९।।

अर्थ—बहुत प्रकार की बोली है। अनेक शास्त्र है। फलत. कुछ समझ मे नहीं आता है। सत कबीर पुकार कर कहते है कि प्रत्येक शरीर मे रहनेवाली चैतन्यत्त्मा की वाणी को समझने की कोशिश करो।

बोली हमारी पूर्व की हमे लखे नहिं कोय।
हमे लखे सो जना जो धुर पूर्वीआ होय॥१९०॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हमारी वोली पूर्व की है। इसलिये हमे कोई समझ नहीं पाता है। हमे तो वही समझेगा जो अत्यत पूर्वी हो। यहाँ पूर्व का अर्थ दिशा से भी है। पूर्व का अर्थ पूर्वकाल भी है। पूर्वी साधना भी है। इस बात का भी सकेत है कि पहले भी लोगो ने ऐसी बाते कही है। पूर्व ऋग्वेद भी है।

भंवर जाल बग जाल है बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचिहैं जाके हृदय विवेक॥१९१॥

शब्दार्थ—बग = वक्र।

अर्थ—यह ससार वक्र (टेढ़ा) भ्रमर जाल है। इसमे बहुत से लोग अचेत होकर डूब रहे हैं। सत कबीर कहते है कि इससे वही बचेगा जिसके हृदय मे विवेक है।

भंवर विलम्बे बाग मे बहु फूलन की बास।
ऐसे जिव बिलमे विषय महँ अन्तहु चले निरास॥१९२॥

अर्थ—मन भ्रमर बहुत से फूलो की गध से भरे बाग अर्थात् विषय सुख मे रुक गया है। विषयो मे ठहरे जीव को अत मे निराश होना पड़ता है।

भक्ति पियारी राम की जैसी प्यारी आगि।
सारा पट्टन जरि गया फिर फिर ल्यावे मागि॥१९३॥

अर्थ—भक्ति आग है जो विषयो के नगर को जला देती है। आग राम को अत्यत प्यारी है। भक्तगण सद्गुरु के यहाँ से इस आग को बार-बार माँग लाता है। विषय ग्राम को जलाता है।

भक्ति बिगारीक कबिरन्हि कंकर पत्थर धोय।
अंदर मे विष राखि के अमृत डारिन खोय॥१९४॥

अर्थ—विषयी एव शृगार कवियो ने काम, क्रोधादि के पत्थरो को धोया। हृदय से भगवत्प्रेम के अमृत को निकालकर काम विषय को स्थान दिया।

भर्म मरा तिहुँ लोक मे भर्म बसे सब ठाम।
कहहि कबीर कैसे बाचिहौ जब बसे भर्म के ग्राम॥१९५॥

अर्थ—मायाजन्य अज्ञान का भ्रम तो सर्वत्र फैला है। कोई भी व्यक्ति कैसे बचेगा जबकि वह भ्रम के गॉव मे ही निवास करता है।

मच्छ बिकाने सब गये धीमर के दरबार।
अँखियाँ तेरी रतनारी तुम क्यो पैन्हीं जाल॥१९६॥

शब्दार्थ—धीमर = मछुआ। रतनारी = लाल।

अर्थ—सभी मछलियॉ (जीव) मछुए के दरबार मे अपने को बेचने गयीं। यहाँ मछुआ यम है। उस मछुए ने पूछा—ऐ मछली, तुम्हारी ऑखें तों प्रभु वियोग के जागरण मे लाल है। फिर भी तुम विषयो के जाल मे कैसे फॅस गयी?

मन कहे कहाँ जाइये चित्त कहो कहाँ जाउँ।
छव मास के हींडते आध कोस पर गाँउ॥१९७॥

अर्थ—मन कही ले जाता है। चित्त कहीं और ले जाना चाहता है। जिस आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचना है वह मात्र आधे कोस पर है अर्थात् नजदीक है। किंतु उसे छ मास अर्थात् बहुत दिनो से खोज रहे है।

मन काग तन वोहित लक्ष जोजन उड़ि जाय।
कबहुँक भरमे आगम दरिया कबहूँ गगन समाय॥१९८॥

अर्थ—मन कौआ है। शरीर जहाज है। मन कौआ वासना प्रवाह मे लाखो योजन उड़कर जाता है। कभी अगम्य वासना दरिया मे भटकता है। कभी आकाश (शून्य) मे समाधिस्थ हो जाता है।

अलंकार—रूपक।

मन गयन्द माने नहीं चले सुरति के साथ।
महावत बिचारा क्या करे जो अंकुश नहि हाथ॥१९९॥

अर्थ—मन हाथी मानता नहीं सुरति अर्थात् विषय स्मृति के साथ चला जाता है। जीवात्मा महावत क्या करे? मन को वश मे रखनेवाला सयम (अकुश) उसके पास नहीं है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मन भर के बोये घुंघुची परिपूरन नहि होय।
कहा हमारे माने नहीं अन्तहु चला विगोय॥२००॥

शब्दार्थ—घुघुची = एक फल। विगोय = नष्ट।

अर्थ—घुँघुची विषय कर्म मन भर अर्थात् खूब तल्लीनता से बोये। किंतु उससे पूर्णता आनेवाली नहीं है। गुरु का कहा नहीं माना। फलत सब नष्ट कर चले।

अलंकार—मन मे श्लेष।

मन मसलन्द गयन्द है मनसा भो संचार।
मन्त्र माने नहीं उड़ि उड़ि लाने खान ॥२०१॥

अर्थ—मन हाथी है। हाथी का मसनद है। मन का ही सचरण हुआ। मन ही सबार है। मन ही सब कुछ है। यत्र मत्र कुछ नही लग रहा है। मन पक्षी उड़कर विषयो के खाने मे गिर रहा है।

अलंकार—रूपक।

मन स्वारथी आपु रस विषम लहरि फहराय।
मन के चलाये तन चले ताते सरबस जाय ॥२०२॥

अर्थ—मन स्वार्थी है। स्वय विषय की भयानक लहरो मे फहराता रहता है। मन के चलाने से ही तन चलता है। इसी से मनुष्य का सर्वस्व समाप्त हो जाता है।

मनुष्य जन्म दुर्लभ है होय न दूजी बार।
पक्का फल जो झरि परै बहुरि न लागै डार ॥२०३॥

अर्थ—मनुष्य जीवन अत्यत दुर्लभ है। दूसरी बार यह जीवन मिलना कठिन है। जैसे पका फल गिरने के बाद पुन डाल मे नहीं लगता है।

अलंकार—दृष्टात।

मानुष का गुण ही बड़ा माँस न आवे काज।
हाड न होते आभरण त्वचा न बाजन बाज॥२०४॥

अर्थ—मनुष्य अपने गुणो के कारण महान् है। वरना उसका माँस किसी काम का नहीं होता है। उसके हाड़ के गहने नहीं बनते है और चमड़ी बाजे पर नहीं मढ़ी जाती है।

मानुष के अथाइया मति कोइ पैठे धाय।
एकहि खेत चरत है बाघ गदहरा गाय॥२०५॥

शब्दार्थ—अथाइया = बैठका। पचायत। समूह।

अर्थ—मनुष्य की पचायत मे बिना समझे दौड़कर मत घुसो। एक ही खेत मे वाघ, गधा और गाय चरते है। मनुष्य अविवेकी होता है। उसे उत्तम, मध्यम, नीच की पहचान नहीं होती है।

मानुष ते बड़ पापिया अक्षर गुरुहिं न मान।
बार-बार बके कूकरी गर्भ धरे औधान॥२०६॥

अर्थ—मनुष्य से बड़ा पापी कोई नहीं है। यह गुरु के अक्षर (आज्ञा उपदेश) को नहीं मानकर कुतिया के गर्भ के समान बार-बार बकता रहता है।

दोनो की बहुलता एव निरर्थकता स्पष्ट है।

माया के बस परे ब्रह्मा विष्णु महेश।
नारद सारद सनक सनन्दन गौरी और गनेश॥२०७॥

अर्थ—सभी देवता, ऋषि आदि माया के वश मे है।

माया जग सापिनि भई विष ले बैठी आधि।
सब जग फंदे फन्दिया चले कबीर की काछि॥२०८॥

अर्थ—माया रूपी सॉपिन विष लेकर बैठी है। सारा ससार माया के फदे मे फँसा है। केवल कबीर है जो उससे वचकर निकल सके।

मारग तो अति कठिन है तहँ कोई मति जाय।
गया होत बहुरा नही कुशल कहै को आय॥२०९॥

अर्थ—साधना का मार्ग अत्यत कठिन है। जो इस रास्ते पर गया वह कभी लौटकर नहीं आया। कौन कुशल कहे?

मुख की मीठी जो कहै हृदये है मति आन।
कहहि कबिर तेहि लोकनि ऐसो राम सयान॥२१०॥

अर्थ—जिसके हृदय मे कुछ अन्य है यानी बुराई भरी है। वह मुँह से चाहे जितना मीठा कहे ऐसे लोगो को राम ही ठीक कर सकते है।

मूढ कर्मिया नख शिख पाखर आहि।
बाहनहारा का करे जो बाण न लागे ताहि॥२११॥

अर्थ—मूढ़ नखसे शिख तक पत्थर से भरा है। उसका कर्म कठोर है। पत्थर जैसा है। ऐसे मे शब्द सयोजक सद्गुरु के उपदेशो का प्रभाव न हो तो गुरु का क्या दोष है?

मूरख को समुझावते ज्ञान गाँठ का जाइ।
कोयला होइ न ऊजरो नव मन साबुन लाइ॥२१२॥

अर्थ—मूर्ख को समझाने से अपने पास का ज्ञान खत्म हो जाता है। कितना भी साबुन लगाइए कोयला उजला नहीं होगा। मूर्ख को कितना भी समझाइये उसे ज्ञान नहीं होगा।

अलंकार—दृष्टात।

तुल०—सूरदास खल कारी कमर चढ़ै न दूजो रग।

मूरख सो का कहिए सठ सो कहा बसाय।
पाहन मे का मारना चोखे तीर नसाय॥२१३॥

अर्थ—मूर्ख को क्या समझाया जाय? शठ पर किसका अधिकार है? यह वैसे ही है जैसे पत्थर पर तीर मारने से तीर का नाश हो जाता है।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा।

तुल०—पाहन कठिन बान नहि भेदत रीतो करत निषग।

मूवा है मरि जाहुगे बिनु सर थोथे भाल।
परहु करायल वृक्ष तल आज मरहु के काल॥२१४॥

अर्थ—मर्त्य हो। मरोगे। बिना बाण, थोथे भाले से मरोगे। भयानक लोभ वृक्ष के नीचे पड़े हो। आज या कल मरना होगा।

मै रोवों एहि जगत को मोको रोवे न कोय।
मोको रोवे सो जना जो शब्द विवेकी होय॥२१५॥

अर्थ—मै ससार के लिये रोता हूँ। मेरे लिये कोई नहीं रोता है। मेरे लिये शब्द विवेकी ही रोता है। मतलब कि परमतत्त्व के ज्ञाता गुरुदेव ही दूसरो की चिता करते है।

मानुष बिचारा क्या करे जाके कहे न खुले कपाट।
सोनहाचौक बैठाइए फिर फिर एपन चाट॥२१६॥

अर्थ— वह मनुष्य क्या करे जिसके ज्ञान की किवाड़ नहीं खुली है। उसकी दशा उस कुत्ते की है जो चौक पूरित स्थान पर बैठाया जाय। फिर भी वह स्वभाववश ऐपन चाटे। ऐसे मनुष्य को कितना ज्ञान-मान दिया जाय। किंतु वह बुराइयो मे चला जाता है।

मानुष बिचारा क्या करे जाके हृदया शून।
सोनहा चौक बिठाइये फिरि फिरि चाटे चून॥२१७॥

अर्थ—जिस मनुष्य का हृदय साधनाशून्य है वह क्या करेगा? कुत्ते को चौक बैठाइए वह बार-बार चूर्ण (आटा) चाटेगा।

मानुष बिचारा क्या करे जाके शून्य शरीर।
जो जिव झाखि न ऊपजे तो काहे पुकार कबीर॥२१८॥

अर्थ—साधना शून्य मनुष्य क्या करेगा? यदि जीव को अपने मे झाँखकर देखने पर भी ज्ञान नहीं उपजता है तो वह कबीर को क्यो पुकारता है? कबीर अर्थात् सद्गुरु को पुकारने का उद्देश्य आत्मज्ञान की प्राप्ति है। यदि आत्मज्ञान नहीं होता है तो व्यर्थ की प्रार्थना या नाम जप से क्या फायदा?

मानुष है के नहिं मुवा मुवा सो डाँगर ढोर।
एकौ जीवहिं ठौर नहिं लागा भये सो हाथी घोर॥२१९॥

अर्थ—जिसने मनुष्य देह पाकर मनुष्यता का पूर्ण आदर्श नहीं प्राप्त किया। वह व्यर्थ है जानवरो-सा जन्मा मरा। हाथी घोड़े के समान एक जगह इकट्ठा हुए। केवल दूसरो की सवारी के साधन बने। वैसे ही मनुष्य योनि मे पैदा होकर केवल विषयो का साधन बना।

मन सायर मनसा लहरि बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बाँचिहै जाके हृदय विवेक॥२२०॥

अर्थ—मन ही सागर है। मन मे ही वासना की लहरे उठती है। इसी मन मे बहुत अचैतन्य इच्छाएँ डूब-उतरा रही है। सत कबीर कहते है, इस डूबने से वह बचता है जिसके हृदय मे विवेक है। इसलिए जीवन मे ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है।

मन माया एक है माया मनहि समाय।
तीनि लोक संशय परे काहि कहौं बिलगाय॥२२१॥

अर्थ—मन और माया एक हो गये है। मन मे माया समायी है। माया के कारण तीनो लोको मे सशय पड गया है। किससे कहा जाय कि तुम मन को माया से अलग कर दो?

मन माया की कोठरी तन संशय को कोट।
विषहर मंत्र न माने काल सर्प का चोट॥२२२॥

अर्थ—मन माया की कोठरी है। शरीर सशय का किला है। इन पर काल सर्प की चोट पड़ रही है। ऐसे मे सद्गुरु रूपी मात्रिक (विषहर) के मत्र का असर नहीं हो रहा है।

बाजीगर के बानरा जियरा मन के साथ।
मन सायर समुद्र है बहि कतहूँ जानि जाय॥२२३॥

अर्थ—हे जीव, काम को मूल के रूप मे मत पकड़ो। भ्रम मे मत भूलो। यह मन विषय समुद्र मे कहीं बह न जाय। काम के द्वारा ससार समुद्र से किसी की रक्षा नहीं हो सकती है।

मलयागिरि के बास में वृक्ष रहे सबभोय।
कहिबे को चंदन भए मलयागिरि नहि होय॥२२४॥

अर्थ—यह ससार देखने मे मलयागिरि के समान जान पड़ता है। सारे वृक्ष इस भ्रम मे डूबे है कि वे मलयागिरि के निवासी है। किंतु यह मलयागिरि नहीं है। मलयागिरि तो प्रभु चरणारविद मे स्थान पाना है।

मलयागिरि के बास महँ बेधो अर्क पलास।
वेणा कबहुँन बेधिया जुगजुग रहते पास॥२२५॥

अर्थ—मलयागिरि के बास मे आक-पलाश भी प्रभावित होते है। भावार्थ यह कि सद्गुरु के पास सामान्य साधक को भी ज्ञान हो जाता है। किंतु बाँस के समान जड़ व्यक्ति सदा सद्गुरु के पास रहकर भी उनके वचनो को ग्रहण नहीं करता है।

हो तो सब ही की कही मेरी कहे न कोय।
मेरी कहे सो जना जो मुझ ही सा होय॥२२६॥

अर्थ—मै तो सबकी कहता हूँ। सभी प्रवृत्तियो के चक्कर मे रहता हूँ। किंतु कोई प्रवृत्ति मेरे बारे मे नहीं सोचती। मेरी भला तो वही सोचेगा जो मेरे जैसा हो। मतलब कि प्रवृत्तियो से मुक्त हो।

ये कबीर ते उतरिहहु समल परोहन साथ।
शंबल घटे पगु थका जीव विराने हाथ॥२२७॥

शब्दार्थ—समल = सम्बल। परोहन = सवारी।

अर्थ—जीव सोचता है कि सवारी का सम्बल है। पार उतरने मे कठिनाई नहीं होगी। किंतु जीवन मे जिसका भरोसा किया वह शरीर सम्बल समाप्त हो रहा है। पैरो ने भी जबाब दे दिया। अब जीव वृद्धावस्था के हाथ मे है। आगे क्या होगा समझ मे नहीं आता है।

रंगहि ते रँग उपजे सब रँग देखी एक।
कवन रँग है जीव को ताकर करहु विवेक॥२२८॥

अर्थ—यहाँ रग का अर्थ है चैतन्य। चैतन्य ही चैतन्य उत्पन्न करता है। इसलिये सारा चैतन्य एक है। जीव मे रगभेद या वर्णभेद नहीं है। यह रंग मूलत निराकार है। निर्गुण है। इसलिये इसको ठीक-ठीक वताया नही जा सकता है।

टिप्पणी—रग का अर्थ माया भी है। माया भी अनिर्वचनी है। इसलिये माया के रंग को भी नहीं वताया जा सकता है। 'विनय पत्रिका' मे तुलसीदास जी ने लिखा है–

सून्य भीति पर चित्र रग नहि तन बिनु लिखा चितेरे।

रतन का जतन करि माटी का सिंगार।
आया कबीरा फिरि गया फीका है संसार॥२२९॥

अर्थ—यह शरीर मिट्टी का है। इसमे आत्मज्ञान रूपी रत्न को प्राप्त करने की कोशिश

करनी चाहिए। ससार अत्यत बेस्वाद है। ज्ञानरत्न का आस्वादन किये बिना लौटना नही चाहिए।

रतन लराइन रेत में कंकर चुनि चुनि खाय।
कहहि कबीर पुकारिके बहुरि चले पछिताय ॥२३०॥

अर्थ—ज्ञानरूपी रत्न को व्यर्थ मे मैदान मे गिरा दिया। विषय-वासना के ककड़ो को चुन-चुनकर खाते रहे। सत कबीर पुकारकर कहते है फिर अफसोस होता है।

रही एक की भइ अनेक की विश्वा बहु भर्तारी
कहहि कबिर काके सँग जरिहै बहुत पुरुष की नारी ॥२३१॥

शब्दार्थ—विश्वा = माया। ससार।

अर्थ—इस सृष्टि के जीवो को एक ब्रह्म ने बनाया था। किंतु सृष्टि मे आकर जीव ने माया रूप काम, क्रोध लोभ आदि अनेक को अपना पति बना लिया। जीव अनेक पुरुष की स्त्री हो गया है। अत मे वह किसके साथ सती होगा। क्योकि उसके सारे स्वामी तो नाशवान् है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

रामनाम जिन चीन्हिया झीने पंजर तासु।
रैनि न आवे नींदरी अंग न चढ़िया माँसु ॥२३२॥

अर्थ—जो साधक रामनाम के महत्व को जान गया है वह रामवियोग मे दुर्बल हो गया है। उसे रात मे नींद नहीं आती है। उसके शरीर पर मास नही चढ़ता है। वह मोटा नहीं हो सकता है।

राउर के पिछुवारे गावें चारों सैन।
जीव परा बहु लूट में नहिं कुछु लेन न देन ॥२३३॥

शब्दार्थ—राउर = राजकुल। सैन = सेना। काम, क्रोध, लोभ मोह।

अर्थ—बड़े से बड़े राजाओ के यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह की सेना काम कर रही है। राजा को उनकी बाते ही सुनाई पड़ती है। जीव चोरो द्वारा चारो ओर लूटा जा रहा है। उसे इससे कुछ भी लेना देना नहीं है।

राम बियोगी विकल तन इन दुखवै मति कोय।
छूवत ही मरि जाहिंगे तालाबेली होय ॥२३४॥

शब्दार्थ—तालाबेली = व्याकुलता। मति = नहीं।

अर्थ—राम के प्रति वियोग वाला विकल है। यह दुख किसी को न हो। इसे वासना न छूये। छूते ही यह व्याकुल होकर मर जायगा।

राह बिचारी क्या करै जो पन्थि न चले सुधारि।
अपनी मारग छाँड़ि के फिरे उजारि उजारि ॥२३५॥

अर्थ—सासारिक राहो का क्या दोष है अगर चलनेवाला ठीक ढग से नहीं चलता है? यहाँ तो सभी लोग सन्मार्ग छोड़कर भगवत्प्रेम के मंदिर को उजाड़ चलते है।

लाई लावनहार की जाकी लाई पर जरे।
बलिहारी लावनहार की छप्पन बाचे घर जरे ॥२३६॥

शब्दार्थ—लावनहार = सद्गुरु। छप्पर = रक्षक चैतन्यात्मा। लाई = आग।

अर्थ—लावनहार सद्गुरु ने प्रभु प्रेम की आग लगा दी, जिससें सारे विषय जल रहे है। वह गुरु धन्य है जो घर (विषयों का निवास = इच्छा) तो जलाता है किंतु छप्पर (आत्मचैतन्य) को सुरक्षित रखता है।

अलंकार—विरोधाभास।

लोग भरोसे कवन के बैठ रहे अरगाय।
जियरहि लूटत जम फिरे मेढ़हिं लुटै कसाय॥२३७॥

शब्दार्थ—अरगाय = चुप होकर। मेढहि = एक प्रकार का जानवर। भेंड़ा।

अर्थ—लोग पता नहीं किसके भरोसे चुप बैठे है? भगवान् की शरण मे नहीं जाते। यम जीव को लूट रहा है। यह कसाई के हाथ मे पड़ गया है।

लोभे जान गमाइया पापे खाया खून।
आधी से आधी कहै ता पर मेरा खून॥२३८॥

अर्थ—लोग लोभवश जान लेते-देते है। खून कर पाप करते है। विद्वान लोग अनुभवहीन ज्ञान के कारण अधूरे है। अधूरी जानकारी वाले विद्वान अधूरी बाते ही कहता है। ऐसे व्यक्तियो से भ्रम फैलता है। ऐसे लोगो पर मुझे खून अर्थात् गुस्सा आता है।

लोहा केरी नावरी पाहन गरुहा भार।
सिर पर विष की पोटरी उतरन चाहे पार॥२३९॥

अर्थ—मनुष्य पापो से लदा है। उसके साधन भी ठीक नहीं है। तमोगुणी लोहे की नाव है। पत्थर का भार उस पर लदा है। सिर पर विष (काम, क्रोधादि विषय) की गठरी है। आश्चर्य तो यह कि सारी विरुद्धताओ के बावजूद लोग ससार सागर पार करना चाहते है।

विरह की ओदी लाकरी सपचे औ धुँधुवाय।
दुख ते तब ही बाँचिहो जब सकलो जरि जाय॥२४०॥

इससे मिलते दोहे का अर्थ दिया है।

विरह बाण जेहि लागिया ओषधि लगे न ताहि।
सुशुकि सुशुकि मरि मरि जिवे उठे कराहि कराहि॥

अर्थ—जिस साधक को सद्गुरु के शब्दो द्वारा प्रभु विरह का बाण लग गया है। वह चैतन्य हो गया है। उसे कोई सासारिक दवा नहीं लग रही है। वह बार-बार रोता है। कराहना है।

विरहिनि साजी आरती दर्शन दीजे राम।
मूये दर्शन देहुगे आवत कवने काम॥२४१॥

अर्थ—अत्यंत सरल है।

शब्द हमारा आदि का शब्दे पैठा जीव।
फूल रहन की टोकरी धोरे खाया घीव॥२४२॥

अर्थ—सृष्टि विकास प्रक्रिया मे आकाश मूल है। आकाश की मूल विशेषता शब्द है। यह शब्द ही आदि है। यह जीवरूप मे नरदेह मे प्रविष्ट है। यह शरीर वासना की टोकरी जैसा है। इसी मे स्थूल जीव पड़ा है।

शब्द हमारा आदि का पल-पल करहू याद।
अंत फलेगी माहली ऊपर की सब बाद॥२४३॥

शब्दार्थ—माहली = सेवक। बाद = व्यर्थ।

अर्थ—शब्द ब्रह्म ही मूल है। यह विचार कर देखो। सेवक होने पर ही अत मे फल मिलेगा और सारे प्रयत्न व्यर्थ है।

शब्द बिना श्रुति आँधरी कहो कहाँ के जाय।
द्वार न पावै शब्द को फिरि फिरि भटका खाय॥२४४॥

अर्थ—सद्गुरु के शब्द से ही ज्ञान होता है। शब्द के अभाव मे शास्त्र अधा है। शब्द-ज्ञान

हित शास्त्र पता नहीं कहाँ चला जाय? अंधा शास्त्र शब्द का दरवाजा नहीं पाता है औ
र-बार ससार सागर मे भटकता रहता है।

शब्द मारा गिर पड़ा शब्दे छोड़ा राज।
जिन्हि यह शब्द विचारिया ताको सगरा काज॥२४५॥

अर्थ—गुरुदेव के द्वारा दिया शब्द साधना का ज्ञान ही मनुष्य को वासना से अलग करता है। वैभव और राज छोड़ने को प्रेरित करता है। जिन्होने शब्द,ब्रह्म पर विचार किया उनके सारे कार्य पूर्ण हो गये।

शब्द शब्द बहु अंतरे सार शब्द मत लीजे।
कहहि कबिर जेहि सार शब्द नहि धृग जीवन सो जीजे॥२४६॥

अर्थ—सद्गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान भी शब्द है। शास्त्रो के भी शब्द है। किंतु दोनो शब्दो मे महान अतर है। अपनी बुद्धि से मूल शब्द को ग्रहण करना चाहिये। जिन्होने मूल शब्द नहीं ग्रहण किया उनके जीवन को धिक्कार है।

शब्द हमारा तूँ शब्द का सुनि मति जाहु सरिक्क।
जो चाहहु निज तत्त्व को शब्दहु लेहु परक्खि॥२४७॥

अर्थ—शब्द ब्रह्म का है। सारे जीव शब्द रचित है। इस सत्य को सुनकर भागो मत। ल तत्त्व को जानना चाहते हो तो शब्द साधना के महत्त्व को समझो।

शेष तकी मैं बन्दा तेरा झगरा एक निबेरहु मेरा।
प्रगट कहौं की परदा मुरगी के जो अण्डा होते अविरत की है मरदा॥२४८॥

अर्थ—ऐ शेख तकी, मै तुम्हारा दास हो जाऊँगा यदि तुम एक झगड़े का निपटारा कर दो। मुर्गी का अडा स्त्री होता है या पुरुष?

श्रोता तो घर में नहीं वक्ता बके सो वादि।
श्रोता वक्ता एक घर कथा कहावे आदि॥२४९॥

अर्थ—चाहे कितना ही शास्त्र वचन बोलो। आत्मचैतन्य के अभाव मे उसे कोई सुननेवाला नहीं है। कहनेवाली आत्मा और सुननेवाला दोनों एक ही अत करण मे है। फिर कथा किससे कही जाय?

संगति के सुख ऊपजे कुसंगति से दुक होय।
कहहि कबिर तँह जाइये जँह अपनी संगति होय॥२५०॥

अर्थ—साधु सगति से सुख और असाधु सगति से दुख होता है। संत कबीर कहते है कि वहाँ ही जाइए जहाँ अपने जैसे साधक रहते हो।

संसय सब जग खंढिया संशय खंदे न कोय।
संसय खधे सो जना जो शब्द विवेकी होय॥२५१॥

अर्थ—सशय ने ससार के सभी प्राणियो को नष्ट करने दिया। किसी ने संशय का नाश नहीं किया। सशय को नष्ट करनेवाला ही शब्द तत्त्व को समझता है।

संसारी समय विचारी कोई विरही कोई जोग।
अवसर मारे जात है ते चेतु बिराने लोग॥२५२॥

अर्थ—ससार मे कोई विरही है। कोई योगी है। समय रहते विचार को। लोग मारे जा रहे। ऐ पराये व्यक्ति चेतो। तुम जिसे अपना समझते हो वे पराए लोग है।

सज्जन तो दुर्जन भयो सुनि काहु के बोल।
काँसा ताँबा होय रहा हता हिरण के मोल॥२५३॥

शब्दार्थ—हिरण = (स हिरण्य) सोना। हता = था।

अर्थ—माया की वातो मे पड़कर सज्जन दुर्जन हो गया। जो पहले सोना सा मूल्यवान् था वह कॉसा और तॉबा सा तुच्छ हो गया। अपना मूल्य खो बैठा।

सद्गुरु वचन सुनहु सन्तो मति लेहू शिर भार।
हो हजूर ठाड़ कहते हौं तै सँभार सँभार॥२५४॥

अर्थ—ऐ सतो, सद्गुरु के वचनो को सुनो। सिर पर पाप का वोझ मत उठाओ। और पाप मत करो। प्रभु खड़ा होकर सम्हलने को कह रहा है।

सन कागद छूवो नहीं कलम धरो नहि हाथ।
चारिहुँ युग को महातम मुखहि जनाई बात॥२५५॥

अर्थ—स्याही, कागज और कलम नहीं छूने पर भी सत-साधक आत्मानुभव से चारो युगो की बाते मौखिक वताते है। वे सार्वकालिक और सार्वदेशिक प्रभाव की होती है।

टिप्पणी—प्रथम पक्ति मे सन के स्थान पर मसि पाठ अधिक स्पष्ट है। कितु सन पाठ प्राप्त है। सन की व्युत्पत्ति और अर्थ ठीक-ठीक समझ मे नहीं आता है। हो सकता है, सन रोशनई का अपभ्रष्ट हो। अन्यत्र के पाठो मे मसि शब्द ही है।

सपने सोवा मानता खोलि न देखे नैन।
जीव परा बहुलूट में ना कुछ लेन न देन॥२५६॥

अर्थ—जीव इस ससार मे सोकर सपना देखता है। कितु इसे ऑखे खोलकर नहीं देखता है। यह जीव लूट मे पड़ गया है। काम, क्रोध आदि उसे लूट रहे है। ज्ञान होने पर उसे समझ मे आयगा कि सब स्वप्न है। व्यर्थ है। उसे किसी से कुछ लेना देना नहीं है।

सबको उत्पति धरती जीवन को प्रतिपाल।
धरती न जाने आप गुण ऐसो गुरू विचार॥२५७॥

अर्थ—धरती माता है। सबको पैदा भी करती है। सवका पालन भी करती है। कितु वह अपने गुणो के प्रति अहकाररहित उदासीन रहती है। मनुष्य को ऐसा ही उदार होना चाहिए।

सब ते साँचा ही भला जो दिल साँचा होय।
साँच बिना सुक है नहीं कोटि करे जो कोय॥२५८॥

अर्थ—दिल को सच्चा रखना चाहिए और सबके प्रति सत्य का व्यवहार करना चाहिए। सत्य मे जो सुख है वह कहीं नहीं है। कोई चाहे कितना भी उपाय क्यो न कर ले।

सब ही ते लघुता भली लघुता ते सब होय।
ज्यों द्वितीय के चंद्रमा शीश नवावै सब कोय॥२५९॥

अर्थ—लघुता (नम्रता) सबसे अच्छी चीज है। लघुता से ही सब होता है। जैसे द्वितीया के छोटे चद्र को सभी सिर झुकाते है। (वह शिव के सिर पर रहता है)।

समुझे की गति एक है जिहि देखी सब ठौर।
कहहि कबिर ये बीच के कहै और की और॥२६०॥

अर्थ—जिन्होने साधना द्वारा सभी जगहो को देख लिया है, समझ लिया है, उनकी बाते और है। वे ठीक जानते है। कितु जिन्होने अधकच्चरा ज्ञान प्राप्त किया है वे और का और कहते है।

समुझाये समुझे नहीं पर हथ हाथ बिकाय।
मै खीचत हौ आपु को चला जमपुर जाय॥२६१॥

अर्थ—मनुष्य को कितना भी समझाइये वह विषयो के हाथ मे विका है। मै उसे साधना और मुक्ति द्वारा अमरता की ओर खींचता हूँ। कितु वह तो नाशवान् विषयो के चक्कर मे यम नगर की ओर वढ़ रहा है।

सर्ग पताल के बीच मे हुई तुंबिका विद्ध।
षट दर्शन संशय परे लक्ष चौरासी सिद्ध ॥२६२॥

अर्थ—स्वर्ग और पाताल के बीच मे यह जीव (तुम्बिका) वासनाविद्ध है। षड् दर्शन (योग, न्याय, मीमासा, वेदात, साख्य, वैशेषिक) तथा चौरासी लाख सिद्ध भ्रम मे पड़े है कि इस जीव का उद्धार कैसे हो? क्योकि इनके पास जीव के उद्धार का कोई उपाय नहीं है।

साँचा शब्द कबीर का हृदया देखि बिचारि।
चित दे समुझे नहि मोहि कहत भए जुग चारि ॥२६३॥

अर्थ—महात्मा कबीर साहब चार युगो से कह रहे है। कितु कोई ध्यान से सुनता नहीं है। उनकी वाणी ही सत्य है। इस बात को बुद्धि नहीं हृदय से विचार कर देखो। क्योकि सत की वणी हृदय से हृदय के लिए होती है।

साँप बिछी मंत्र है महुरो झारा जाय।
विकट नारि पाले परे काढि करो जो खाय ॥२६४॥

शब्दार्थ—महुरो = विष। जहर। झारा = मत्र द्वारा सर्प काटे आदि की जहर लहर को हटाना।

अर्थ—सॉप और विच्छू के मत्र से जहर का प्रभाव भी उतारा जा सकता है। कितु जो किसी स्त्री के वश मे हो गया उसकी लहर को कोई नहीं उतार सकता है। स्त्री तो कलेजा ही निकालकर खाती है। मतलब यह कि स्त्री सॉप, बिच्छू और जहर से भी भयानक है।

साखी कहे गहे नहि चाल चली नहि जाय।
सलिल मोह नदिया बहे पाँव कहाँ ठहराय ॥२६५॥

अर्थ—साखी कहा कितु उसे हृदय मे ग्रहण नहीं किया। साखी के उपदेशो को जीवन व्यवहार मे नहीं उतारा। उसके अनुसार आचरण नहीं किया। फलत मोह नदी के जल मे बह रहे है। कहीं पॉव टिकाने का भी स्थान नहीं मिल रहा है।

सायर बुद्धि मान बाए बिचक्षण चौर।
सारी दुनिया जहड़े गया कोइ न लागा ठौर ॥२६६॥

शब्दार्थ—जहड़े = धोखा खाया।

अर्थ—बुद्धि का विशाल सागर बनाया। चारो ओर विलक्षण रूप मे बुद्धि को फैलाया। कितु इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। धोखा ही हुआ। ससार समुद्र मे कहीं भी टिकने का ठिकाना नहीं लगा। वासना विकल घूमते रहे।

सावन केरा सेहरा बूँद परे असमान।
सब दुनिया वैष्णव भया गुरु नहि लागा कान ॥२६७॥

अर्थ—आसमान से गिरनेवाली बूँदे सावन का सेहरा (मुकुट) बनीं अर्थात् गुरुदेव के वचन सावन की तरह बरस रहे है। सारी दुनिया वैष्णव हो गयी। फिर भी गुरुदेव की बातो पर ध्यान नहीं देता है। सभी दिखावटी वैष्णव है।

साहु चोर चीन्हे नहीं अन्धा पति के हीन।
पारख बिना बिना सहे करि विचार हो भिन्न ॥२६८॥

अर्थ—साधु और चोर मे अतर को बुद्धिरहित अज्ञानाध नहीं समझते है। पारख गुरु देव के बिना, विना साधना का कष्ट सहे। लोग भिन्न-भिन्न विचारो मे मग्न है।

साहू से भे चोखा चेरन्हि ते भए शुद्ध
तब जानिहुगे जीयरा जबहि परेगा तुज्झ ॥२६९॥

अर्थ—साह से चोर और चोर से फिर शुद्ध सात्त्विक वृत्तिवाले हुए। ऐ जीव, इस बात को

तब समझोगे जब तुम स्वय इसमे पड़ोगे। साधना करोगे।

साहेब साहेब सब कहे मोहि अँदेशा और।
साहेब से परचा नहीं बैठहुगे केहि ठौर॥२७०॥

अर्थ—सभी लोग साहेब, साहेब कहते है। किंतु मुझे इन कथनो मे सच्चाई नहीं दीखती है। ये लोग साधक नहीं है। शास्त्र की सुनी बाते कहते है। किसी का साहेब (प्रभु) से परिचय नहीं है। बिना परिचय के ये बेचारे कहाँ जायँगे?

सिह अकेला बन रवे पलक पलक करे दौर।
जैसे बन है आपना तैसा बन है और॥२७१॥

शब्दार्थ—रवे = रमे। दौर = दौड़।

अर्थ—जीवात्मा सिह विषय वन मे अकेले और पल-पल दौड़ता है। अपनी दुनिया के समान और भी दुनिया है। इसमे दौड़ना व्यर्थ है। परमात्मा की दुनिया मे दौड़ने की कोशिश करनी चाहिए।

सुकृत वचन माने नहीं आपु न करे विचार।
कहहि कबीर पुकारि कै स्वप्न भया संसार॥२७२॥

अर्थ—लोग पुण्यात्मा (सुकृते) पुरुषो की बातो को मानते नहीं। स्वय विचार कर नहीं पाते है। यह ससार स्वप्न जैसा सुखद लगता है। किंतु यह भ्रम है। इसमे कोई सुख नहीं है।

सुगना सेमर बेगि तजि घने विगूची पाँच।
ऐसा सेमर सेइया जाके हृदय न आँख॥२७३॥

शब्दार्थ—सुगना = पक्षी। जीव। विगूची = नष्ट हुआ। पॉच = पॉच इद्रियाँ। हृदय ऑख = दिव्य चक्षु। ज्ञान।

अर्थ—ऐ जीव, सेमल जैसे निस्तत्व वस्तुओ को जल्दी छोड़ दो। पॉचो ज्ञानेद्रियो के विषयो (रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द) ने तुम्हारा बड़ा विनाश किया। विषय सुख सेमल फूल के समान भ्रामक है। इनका सेवन वही करता है जिसके हृदय मे ज्ञान नहीं होता है।

सुगना सेमर सेइया दुई ठेठि की आस।
ठेठी फूटि चनाक दे सुगना चले निरास॥२७४॥

शब्दार्थ—ठेठि = पत्ररहित फल। ठूँठा फल। चनाक = चटाक।

अर्थ—ऐ जीव, तुमने सेमल के दो सारहीन फलो की आशा मे उसका सेवन किया। भावार्थ कि सारहीन वासना विषय वाले लौकिक एव पारलौकिक दो फलो की आशा की। किंतु सेमल फल फूटने पर, कर्म परिपाक होने पर तुम्हे निराशा हुई। ससार विषय मे कोई सुख नहीं है।

सेमर का सुगना छिहुले बैठा जाय।
चंचु संवारे सिर धुनै वोए उसी का भाय॥२७५॥

शब्दार्थ—छिहुले = छिछला। छितराया। भाय = भाव।

अर्थ—सेमल जैसे निस्तत्व विषयो मे मन लगानेवाला जीव खूब छितरी डाल पर जाकर बैठा। चोच सँभाला। फल पक रहा है। खाएगा। किंतु सेमल फल की रुई उड़ गयी। जीव रूप पक्षी निराश हो गया। क्योकि विषयो से किसी की आशा पूर्ति नहीं हो सकती है।

सोना सज्जन साधुजन टूटि जुरहि शत बार।
दुर्जन भाँड कुलाल का एकहि धके दरार॥२७६॥

शब्दार्थ—भॉड = बर्तन। कुलाल = कुम्हार।

अर्थ—सज्जन और साधु सोने के समान है। सौ बार टूटकर भी मिल जाते है। दुर्जन कुम्हार के मिट्टी के बर्त्तन के समान है। मिट्टी का बर्तन जरा धक्का खाकर टूट जाता है। फिर कभी नहीं जुड़ता है।

हंस बक दिखिये एक रँग चरे हरियरे ताल।
हंस क्षीर ते जानिये बक उधरेगे काल॥२७७॥

अर्थ—हस और बगुला एक रग के है। दोनो हरियर तालाब मे चरते है। किंतु नीर क्षीर विवेक से जब बगुले का भेद खुलता है तब दोनो का भेद स्पष्ट होता है।

हंसा तू तो सबल था हलकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया किये और लगवार॥२७८॥

अर्थ—ऐ हस, तुम अपनी हल्की चाल से मजबूत थे। किंतु बुरे रग मे रगने से, बुरा कार्य करने से तुम ऐय्याश हो गए।

हंसा ते घट भीतरे बसे सरोवर खोट।
एकौ जीव ठौर नहि लागा रहा सो ओटहि ओट॥२७९॥

अर्थ—हस (आत्मा) शरीर के भीतर वासनायुक्त तालाब मे निवास करता है। इसलिये यहॉ एक भी जीव के लिए जगह नहीं है। सब ओट (आड़) मे रहते है। किसी को उचित स्थान नहीं मिल पाता है।

हंसा ते सुवरण वरण कहा वरण को तोहि।
तरुवर पाप पहेलहु तबहि सराहौ तोहि॥२८०॥

अर्थ—हे हस, तुम स्वर्ण वर्ण हो। तुम्हे और किसी सुंदर वर्ण की आवश्यकता नहीं है। पाप के पेड़ को हटाओ तो तुम्हारी सराहना होगी।

हंसा मोति बिकानिया कंचन थार भरे।
जो जस मर्म न जाने सो तस काह करे॥२८१॥

अर्थ—हस (आत्मा) सोने की थाली मे मोती बेचते है। पवित्र हृदय मे पवित्र विचार रखते है। किंतु जो सुवर्ण, मोती और हस के महत्त्व को नहीं जानता वह क्या करेगा?

हंसा सरवरि तजि चले देही परिगौ सून।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो ते दर तेई थून॥२८२॥

अर्थ—आत्मा रूप हस शरीर सरोवर को छोड़कर चले। देह सूना हो गया। सत कबीर कहते है कि आत्मा के आभाव मे शरीर के सारे अग खभे (थून) के समान निर्जीव हो गए है।

हद चले ते मानवा बेहद चले से साधु।
हद बेहद दोनो तजे ताकी मती अगाधु॥२८३॥

अर्थ—मनुष्य सीमा मे रहता है। साधु पुरुष सीमा तोड़कर चलते है। जिनकी बुद्धि अगाध है ऐसे प्रभु या सत्गुरु सीमा और असीमा दोनो से परे है; वे नि सीम हैं।

हरि हीरा जन जौहरी सबनि पसारी हाट।
जब आए जन पारखी तब हीरा की साट॥२८४॥

अर्थ—अन्यत्र देखिए।

हाड़ जरत जैसे लाकरी केस जरे जैसे घास।
कबिरा जरे रामरस कोठी जरे कपास॥२८५॥

अर्थ—हड्डियॉ लकड़ी सी जलती है। केश घास सा जलता है। शरीर कोठी के कपास सा जलता है। कबीर राम प्रेम मे जलते है।

हाथ कटोरा खोवा भरा मग जोवत दिन जाय।
कबिरा उतरा चित्त सो छाँछ दियो नहि जाय ॥२८६॥

अर्थ—जिनके लिये खोवे का कटोरा लिये दिनभर प्रतीक्षा होती थी वे व्यक्ति जब मन से उतर जाते है तब उन्हे छॉछ (मट्ठा) भी नही दिया जाता है।

टिप्पणी—'चित्त से उतरना' का अर्थ है उदासीन होना। किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम समाप्त होना।

हिलगी भाल शरीर मँह तीर रहा है टूट।
चुम्बक बिनु निकसै नही कोटि पाहन गौ छूट ॥२८७॥

अर्थ—शरीर मे राम प्रेम का भाला घुसाकर उसका तीर टूट गया है। लाख पत्थर मारो किंतु बिना मुक्ति चुम्बक के वह शरीर से निकलनेवाला नही है।

हीरा तहाँ न खोलिए जहँ हो खोटी हाट।
सहज कि गाँठी बाँधिये लगिए अपनी बाट ॥२८८॥

अर्थ—खराब लोगो के बीच मे हीरा की गॉठ खोलना व्यर्थ है। अगर खोला भी हो तो तुरत बॉध लो और अपने रास्ते चले जाओ।

हीरा सोई सराहिये सहे जो घन का चोट।
कपट कुरंगी मानवा परखत निकला खोट ॥२८९॥

अर्थ—उसी हीरा की सराहना करनी चाहिए जो हथौड़े की चोट बर्दाश्त करे। कपट से भरा, कुरगी मानव परीक्षण करते ही खराब निकलता है।

हृदय भीतर आरसी मुख देखा नहि जाय।
मुख भी तब ही देखिए जब दिलकी दुविधा जाय ॥२९०॥

अर्थ—हृदय मे दर्पण है। किंतु उसमे मुँह नही देखा जा सकता है। क्योकि बिना हृदय की दुविधा मिटाए स्पष्ट नही दीखेगा। ज्ञान और अज्ञानमूलक वस्तुओ की दुविधा के कारण हृदय मलिन हो गया।

हौ जाना कुलहंस हौ ताते कीन्हा संग।
जो जानत बगु बावरा छुये न देतेऊँ अंग ॥२९१॥

अर्थ—मैने तो कलहस समझकर साथ किया था। यदि जानता कि बावला बगुला है तो एक अग को भी छूने न देता।

हौ तो सब ही की कही मो कहँ कोइ न जान।
तब भी अच्छा अब भी अच्छा युग-युग होऊँ न आन ॥२९२॥

अर्थ—चैतन्यात्मा का कहना है कि मैने तो सबका कहा। मुझे कोई नही जानता है। तब भी अच्छा था। अब भी अच्छा है। हर युग मे अच्छा रहेगा। मै कभी दूसरा नही होता हूँ।

(६०) निगुरा नर को अंग

जो निगुरा सुमिरन करै, दिन मे सौ सौ बार ।
नगर नायका रात करै, जरै कौनकी लार ॥ १ ॥
गुरु बिन अहि निस नाम ले, नही संतका भाव ।
कहै कबीर ता दासका, परै न पूरा दाव ॥ २ ॥
गर्भ योगेश्वर गुरु बिना, लागे हरिकी सेव ।
कहै कबीर बैकुण्ठते, फेर दिया शुकदेव ॥ ३ ॥
गुरु बिन माला फेरते, गुरु बिन देते दान ।
गुरु बिन दान हराम है, पूछौ वेद पुरान ॥ ४ ॥
कोटिक चन्दा ऊगवै, सूरज कोटि हजार ।
सतगुरु मिलिया बाहिरे, दीसे घोर अँधियार ॥ ५ ॥
दारुका मे पावक बसै, घुनका घर किया जाय ।
यो हरि संग बिमुख निगुरु को, काल ग्रासिही खाय ॥ ६ ॥
पूरे को पूरा मिलै, पूरा परसी दाव ।
निगुरा तो कुबट चलै, जब तब करै कुदाव ॥ ७ ॥
सावन छूटा मेघ ज्यो, बूँद परी असमान ।
सब जग तो गुरुमुख भया, गुरु नहि लागे कान ॥ ८ ॥
गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तनताप ।
हरश शोक व्यापै नही, तब हरि आपै आप ॥ ९ ॥
जो कामिनी परदा रहै, सुने न गुरु मुख बात ।
सोतो होगी शूकरी, फिरै उघारे गात ॥ १० ॥

(६१) गुरु शिष्य हेरा को अंग

सतगुरु हम सौ रीझिकै, एक दिया उपदेस ।
भवसागरते बूडता, कर गहि काढे केस ॥ १ ॥
कबीर ऐसा तौ सतगुरु मिला, जासों रहिया लाग ।
सब जग तो शीतल भया, मिटी आपनी आग ॥ २ ॥
गुरु तुम्हारा कहाँ है चेला कहाँ रहाय ।
क्यो कर तो मिलना भया, क्यो बिछुरै आवै जाय ॥ ३ ॥
गुरु हमारा गगन में, चेला है चित माँहि ।
शब्द सुरति में लीनहै, बिछुरत कबहूँ नाँहि ॥ ४ ॥
ऐसा कोई नामिला, समुझै सैन सुजान ।
ढोल बाजता ना सुने, सुरति बिहूना कान ॥ ५ ॥
ऐसा कोई ना मिलै, हमको ले पहिचानि ।
अपना करी कृपा करै, ले उतार मैदान ॥ ६ ॥
ऐसा कोई ना मिलै, राम भजन का मीत ।
तन मन सौपे मृगज्यों, सुनै बधिक का गीत ॥ ७ ॥

ऐसा कोई ना मिलै, जासो कहूं दुख सुख रोय।
जासो कहिये भेदकी, सो फिर बैरी होय॥ ८॥
जैसा ढूंढत मे फिरूँ, तैसा मिलै न कोय।
तत्ववेता तिरगुन रहित, निरगुनसो रत होय॥ ९॥
माया डोलै मोहती, बोलै कडुआ बैन।
कोई घायल ना मिलै, सांई हिरदा सैन॥ १०॥
सर्पहि दूध पिलाइये, सोई - विष हो जाय।
ऐसा कोई ना मिले, आपेहि विष खाय॥ ११॥
नादी वादी बहु मिले, करत कलेजे छेद।
कोइ तख्त तरे का ना मिलै, जासों पूछूँ भेद॥ १२॥
तख्त तरेकी सो कहै, तख्त तरेका होय।
मंझ महलकी को कहै, बांका परदा सोय॥ १३॥
मंझ महलकी गुरु कहै, देखा सब घर बार।
कूँची दीन्ही हाथ कर, परदा दिया उघार॥ १४॥
बांका परदा खोलिकै, सनमुख लै दीदार।
बास सनेही सांइयां, आदि अंतका यार॥ १५॥
आदि अंत सबको नही, निज बाने का दास।
सब संतन मिलि यो रमे, ज्यो पुहुपनमे बास॥ १६॥
पुहुपन केरी बास ज्यो, व्यापि रह्या सब ठांहि।
बाहिर कबहू न पाइये, पावे संतो मांहि॥ १७॥
प्रगट कहूँ तो मारिया, परदा लखै न कोय।
सहना छिपा पयालमे, कोकहि बैरी होय॥ १८॥
या पयाल को फूँकिय, तनियक लाई आग।
सहना पाया ढूँढता, धन्य हमारा भाग॥ १९॥
बोलता कहां बसै कहु, केतिक रूप सरूप।
कै पँखुरी की सुरति है, केतिक वस्तु अनूप॥ २०॥
बोलता मध्ये मे बसै, हरा बरन स्वरूप।
सात पंखुरी सुरति है किंचित वस्तु अनूप॥ २१॥
वस्तु कहूँ ढूंढे कही, किहि विधि आवै हाथ।
कहै कबीर तब पाइये, भेदी लीजे साथ॥ २२॥
भेदी लीन्हां साथकरि, दीन्ही वस्तु बताय।
कोटि जनमका पंथ था, पल मे पहुँचा जाय॥ २३॥
विरछा पूछै बीज को, बीज वृक्षके मांहि।
जीव जो ढूँढे ब्रह्मको, ब्रह्म जीवके पांहि॥ २४॥
डाल जो ढूँढे मूल को, मूल डालके मांहि।
आप आपको सब चले, (कोई) मिलै मूल सो नाहि॥ २५॥
मूल कबीरा गहि चढे, फल खाये भरि पेट।
चौरासी की गम्य नही, ज्यो जाने त्यो लेट॥ २६॥
आदि हती सब आपमे, सकल हती ता मांहि।
ज्यो तरवरके बीजमे, डार पात फल छांहि॥ २७॥

जिन ढूँढ्या तिन पाइयां, गहरे पानी पैठि।
मै बैरा बूडन डरा, रहा किनारे बैठि॥ २८॥
हेरत हेरत हेरिया, रहा कबीर हिराय।
बुन्द समानी समुद्रमें सो कित हेरी जाय॥ २९॥
बुन्द समाना समुद्रमें यह जानै सब कोय।
समुद्र समाना बुन्दमें, बूझै बिरला कोय॥ ३०॥
समुद्र समाना बुन्दमें, गोखुरके अस्थान।
इच्छा रूप समाइया, कबहुँ न पावै जान॥ ३१॥
कहाँ बुन्द सायर मिली, किहि विधि कौन सनेह।
यह मनमे संशय भई, समझि अरथ कहि देह॥ ३२॥
गगन बुन्द सायर मिली, उत्तम परम सनेह।
मन की संशय दूरि करि, समझि अरथ यह लेह॥ ३३॥
एक समाना सकलमे, सकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझमे, तहाँ दूसरा नाहि॥ ३४॥

(६२) सेवकको अंग

सेवक सेवामे रहै, अंत कहूं नहि जाय।
दुख सुख शिर ऊपर सहै, कहै कबीर समुझाय॥ १॥
सेवक सेवामे रहै, सेवक कहिये सोय।
कहै कबीर सेवा बिना, सेवक कबहुँ न होय॥२॥
सेवक मुखे कहावई सेवा मे दृढ़ नाहि।
कहै कबीर सो सेवका, लख चौरासी माहि॥ ३॥
सेवक सेवामें रहे, सेवा करे दिन राति।
कहै कबरी कुसेवकहि, सन्मुख ना ठहराति॥ ४॥
फलकारन सेवाकरे, निशि दिन जांचे राम।
कहै कबीर सेवक नही, चाहे चौगन दाम॥ ५॥
राम धनी जाचै नही, सेव करे दिनरात।
कहै कबीर ता सेवकै, काल करे नहि घात॥ ६॥
सेवक स्वामी एक मत, मतमे मत मिलिजाय।
चतुराई रीझै नही, रीझे मनके भाय॥ ७॥
सब कुछ गुरुके पास है, पाइय अपुनै भाग।
सेवक मन सों प्यार है, निशि दिन चरणों लागि॥ ८॥
शिष्य को ऐसा चाहिये, गुरुको सर्वस देय।
गुरु को ऐसा चाहिये, शिष्यका कछू न लेय॥ ९॥
सतगुरु शब्द उलंघि करि, जो कोई शिष्य जाय।
जहाँ जाय तहाँ काल है कहै कबीर समझाय॥ १०॥
सतगुरु बरजै शिष्य करे, क्यों कर बाचौ काल।
दुहुं दिशि देखत बहि गया, पानी फूटी पाल॥ ११॥
सतगुरु कहै सो शिष्य करे, सब सिद्ध कारज होय।

अमर अभय पद पाइये, काल न झांकै कोय॥ १२॥
आस करै बैकुण्ठकी, बांछित है तिहु काल।
शुक कही बालि ना करी, तिहिते गयो पताल॥ १३॥
साहिब को भावै नहीं, सो हमसो जनि होय।
सतगुरु लाजै आपना, साधु न मानै कोय॥ १४॥
द्वार धनीके परि रहै, धका धनीका खाय।
कबहुक धनी निवाजि है, जो दर छाड़ि न जाय॥ १५॥
साहबकै दरबारमे, कमी कहुकी नाहि।
बन्दा मौज न पावही, चूक चाकरी मांहि॥ १५॥
धूम धाम सहता रहै, कबहु न छाडे संग।
पाहा विना लागै नही, कपड़ा के बहुरंग॥ १७॥
मेरा मुझमे कुछ नही, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौपता क्या लगेगा मोर॥ १८॥
तेरा तुझमे कुछ नही, जो कुछ है सो मोर।
मेरा मुझको सौंपता, जीव धरकैगा तोर॥ १९॥

(६३) दासातनको अंग

दासातन हृदये नही, नाम धरावै दास।
पानीके पीये बिना, कैसे मिटै पियास॥ १॥
नांव धरावै दास सो, दासा तन मे लीन।
कहै कबीर लौलीन बिन, स्वान बुद्धि कहि दीन॥ २॥
दासातन हृदय बसै, साधन सों आधीन।
कहै कबीरा दाससो, दास लक्ष लौलीन॥ ३॥
कबीर हरि सबको भजै, हरिको भजै न कोय।
जब लगि आस शरीर की, तब लग दास न होय॥ ४॥
निरबन्धन बंधा रहै, बंध्या निरबन्ध सोय।
कर्म करै करता नही, दास कहावैं सोय॥ ५॥
भुक्ति मुक्ति मांगू नही, भक्ति दान दै मोहि।
और कोई जांचू नही, निस दिन जांचू तोहि॥ ६॥
राम धनी सिर पर खड़ा, कहा कमी तोहि दास।
ऋद्धि सिद्धि सेवा करे, मुक्ति न छाड़े पास॥ ७॥
दास दुखी तो हरि दुखी, आदि अंत तिहुँ काल।
पलक एकमे परगटे पलमे करै निहाल॥ ८॥

(६४) यतीको अंग

सदा कपाल दुख परहरन, बैर भाव नहिं दोय।
क्षमा ज्ञान सत भाषिये, हिंसा रहित जो सोय॥ १॥
दुख सुख एक समान है, हरष शोक नहि व्याप।
पर उपकारि निष्कामता, उपजे छोह न ताप॥ २॥

इंद्रिय दमन निगरह करन, हृदया कोमल होय।
सदा शुचि आचारसो, रहि विचारसों सोय॥ ३॥
और देव नहिं चित्त बसै, बिन प्रतीति भगवान।
मिलि अहार भोजन करै, तृष्णा चलै न जान॥ ४॥
सदा रहै संतोषमें, धरम आप दृढ़ धारि।
आश एक भगवानकी, और न चित्त विचारि॥ ५॥
सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित जानि।
निर्विकार गम्भीर मत, धीरजवान बखानि॥ ६॥
घटहि विकार शरीरके, तिनको चित्त न लाय।
शोक मोह प्यासहि क्षुधा, जरा मृत्यु नशिजाय॥ ७॥
मान अपमान न चित धरै, औरन को सनमान।
जो कोई आशा करै, उपदेशै तेहि ज्ञान॥ ८॥
कपट कुटिलता छाँडिकै, सबसो मित्रहि भाव।
कृपावान सस ज्ञानवंत, बैर भाव नहि काव॥ ९॥
निश्चय भक्ति अरु दृढ़मती, ये सब लक्षण जान।
सोइ साधु है जगतमे, जो यह लक्षणवान॥ १०॥
ऐसा साधुन खोजिकै, रहिये चरणों लाग।
मिटै जनम की कल्पना, जाके पूरण भाग॥ ११॥

(६५) सतीको अंग

शीलवंत शूर ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदय सोय॥ १॥
दयावंत धरमके ध्वजा, धीरजवान प्रमान।
संतोषी सुखदायक रु, सेवक परम सुजान॥ २॥
चतुर विवेकी धीरमत, क्षमावंत बुद्धिवान।
आज्ञावान परमत लिया, मुदित प्रफुल्लित जान॥ ३॥
ज्ञानी अभिमानी नही, सब काहूँ सों होत।
सत्यवान परस्वारथी, आदर भाव सहेत॥ ४॥
षट दर्शन कों प्रेम करि, असन बसन को पोष।
सेवा करे हरिजननकी, हर्षित परम संतोष॥ ५॥
ऐसी भांति जो सती है, सो निज मुक्ति प्रमान।
मुक्ति देत संसारको, सोई सती तू जान॥ ६॥
यह सब लक्षण चित धरै, अपलक्षण सब त्यागि।
सावधान सम ध्यान है, हरि चरणन रहे लागि॥ ७॥

(६६) उपदेशको अंग

अंतर याहि विचारिया, साखी कहो कबीर।
भवसागरमें जीव है, सुनिकै लागे तीर॥ १॥
काल काल तत्काल है, बुरा न करिये कोय।

अनबावे लुनता नही, बावै लुनता होय॥ २॥
जो तोको काँटा बुवै, ताको बो तू फूल।
तोहि फूलके फूल है, वाको है त्रिशूल॥ ३॥
दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीवकी स्वाँससे, लोह भस्म है जाय॥ ४॥
या दुनियाँ में आइके, छाड़ि देइ तू ऐंठि।
लेना होय सो लेइले, उठी जातु है पैठि॥ ५॥
खाय पकाय लुटायले, यह मनुवा मिजमान।
लेना होय सो लेइलै यही गोय मैदान॥ ६॥
लेना होय सो लेइलै, कही सुनी मत मान।
कही सुनी युग चली, आवागमन बँधान॥ ७॥
सतहीमे सत बाँटई, रोटीमे ते टूक।
कहै कबीर ता दासको, कबहुँ न आवे चूक॥ ८॥
देह धरेका गुण यही, देह देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देह सो देह॥ ९॥
कहै कबीर पुकारिके, दोय बात लखिलेय।
कै साहबकी बंदगी, कै भूखो को कछु देय॥ १०॥
कहै कबीर देइ तू, जब लगि तेरी देह।
देह खेह हो जायगी, तब कौन कहेगा देह॥ ११॥
हाड़ बड़ा हरि भजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देह।
अकल बड़ी उपकार कर, जीवनका फल येह॥ १२॥
गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सो देह।
आगे हाट न बानिया, लेना होय सो लेह॥ १३॥
इहां बिसाहनकरि चलो, आगै विषमी वाट।
स्वर्ग बिसाहन ना मिलै, ना बनिया ना हाट॥ १४॥
धर्म किये धन ना घाटै, नदी न घट्टै नीर।
अपनी आँखें पेखिये, यो कथि कहै कबीर॥ १५॥
कबीर तहां न जाइये, जहाँ जो कुलको हेत।
साधुपनौ जानै नही, नाम बाप को लेत॥ १६॥
कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ सिद्ध को गाम।
स्वामी कहै न बैठना, फिरि फिरि पूछै नाम॥१७॥
इष्ट मिलै और मन मिलै, मिलै सकल रस रीति।
कहै कबीर तहँ जाइये, यह संतन की प्रीति॥ १८॥
ऐसी बानी बोलिये, मनका आपा खोय।
औरन को शीतल करै, आपुहि शीतल होय॥ १९॥
जगमे बैरी कोइ नही, जो मन शीतल होय।
या आपा को डारि दै, दया करै सब कोय॥ २०॥
कहते को कह जान दै, गुरु की सीख तु लेय।
साकट एक स्वानको, फेरि जवाब न देय॥ २१॥
कबीरा काहेको डरै, सिरपर सिरजनहार।

हस्ती चढि दुरिये नहीं, कूकर भुसे हज़ार॥ २३ ॥
आवत गारी एकहै, उलटत होय अनेक।
कहै कबीर नहि उलटिये, वाही एककी एक॥ २३ ॥

सोरटा

गारी मोटा ज्ञान, जो रंचक उरमें जरै।
कोटि सँवारे काम, बैरी उलटि पांयन परै॥ २४ ॥

साखी

गारीहीसों ऊपजै, कलह कष्ट औ मीच।
हारि चलै सो साधु है, लागि मरे सो मीच॥ २५ ॥
हरिजन तो हारा भला, जीतन दे संसार।
हारा तौ हरि सो मिलै, जीता यमकी लार॥ २६ ॥
जेता घट तेता मता, घट घट और स्वभाव।
जा घट हार न जीत है, ता घट ब्रह्म समाव॥ २७ ॥
गीरही तो चिन्ता घनी, बैरागी तो भीख।
दोनों का तिहिबिच जीव है, देहु न संतों सीख॥ २८ ॥
बैरागी तो विरक्त भला, गिरही चित्त उदार।
दोऊ चुकि खाली परै, ताको वार न पार॥ २९ ॥
घरमे रहै तो भक्ति करु, नातर करु बैराग।
बैरागी होय बन्धन करै, ताका बड़ा अभाग॥ ३० ॥
धारा तो दोही भली, गिरही कै बैराग।
गिरही दासातन करै, बैरागी अनुराग॥ ३१ ॥
अजर धान्य अतीत का, गृही करै जो अहार।
निश्चयही हो दरिद्री, कहै कबीर विचार॥ ३२ ॥
जैसा अन्न जल खाइये, तैसाही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय॥ ३३ ॥
माँगन मरन समान है, सीख दई मै तोहि।
कहै कबीर सतगुरु सुनौ, मति रे मगावो मोहि॥ ३४ ॥
उदर समाता माँगिलै, ताको नाही दोष।
कहे कबीर अधिका गहे, ताका गती न मोष॥ ३५ ॥
उदर समाता अन्न लै, तनहि समाता चीर।
अधिकहि संग्रहा ना करै, तिसका नाम फकीर॥ ३६ ॥
अनमाँगा मिले अति भला, माँगि लिया नहि दोष।
उदर समाता कहि मिले, तो निश्चय पावै मोष॥ ३७ ॥
भीख तीन प्रकारकी, सुनहु संत चित लाय।
दास कबीर प्रकट कहै, भिन्न भिन्न अरथाय॥ ३८ ॥
अनमाँग्या उत्तम कह्यो, मध्यम माँगि जो लेय।
कहै कबीर निकृष्ट सो, परघर धरना देय॥ ३९ ॥

उत्तम भीख जो अजगरी, सुनि लीजो निज बैन।
कहै कबीर ताके गहे, महा परम सुख चैन॥ ४०॥
भँवर भीख मध्यम कही, सुनो संत चितलाय।
कहै कबीर जाको गही, मध्यम माँहि समाय॥ ४१॥
भीखहि गदहाकी कहूँ, निकृष्ट कहावै सोय।
कहै कबीर इस भीखमे, मुक्ति न कबहूँ होय॥ ४२॥
कथा कीरतन कलि विषे, भवसागर की नाव।
कहै कबीर या जगतमें, नाही और उपाव॥ ४३॥
कथा कीरतन करनकी, जाके निसि दिन रीति।
कहै कबीर वा दास सो, निश्चय कीजे प्रीति॥ ४४॥
कथा कीरतन छाँडिके, करै जो और उपाव।
कहै कबीर ता साधुके, पास कोई मति जाव॥ ४५॥
कथा कीरतन रात दिन, जाके उद्यम एह।
कहै कबीर ता साधुके, चरण कमल की खेह॥ ४६॥
कथा करो करतार की, निसि दिन साँझ सकार।
काम कथा को परिहरो, कहे कबीर विचार॥ ४७॥
काम कथा सुनिये नही, सुनिकै उपजै काम।
कहै कबीर विचारिके, विसरि जाय हरि नाम॥ ४८॥
कथा करो करतारकी, सुनो कथा करतार।
आन कथा सुनिये नही, कहै कबीर विचार॥ ४९॥
अन्य कथा अन्तर परै, ब्रह्म जीवमे सोय।
कहै कबीर यह दोष बड, सुन लीजो सब कोय॥ ५०॥
कथा कीरतन कलि विषे, तरबेको उपकार।
सुने सुनावै और को, यहि उपदेश हमार॥ ५१॥
कथा कीरतन सुननको, जो कोइ करै सनेह।
कहै कबीर ता दासके, मुक्तिमें नही सँदेह॥ ५२॥
कबीर संगी साधुका, दल आया भरपूर।
इन्द्रियो को तब बाँधिया, या तन कीया चूर॥ ५३॥
बहतेको बह जान दे, मत पकड़ावे ठौर।
समझाया समझै नहीं, देइ धका दो और॥ ५४॥
बहते को न बहन दे, गह पकरायो ठौर।
कह्यो सुन्यो माने नहीं, शब्द कहो द्वै और॥ ५५॥
बन्दे तू कर बन्दगी, जो पावै दीदार।
औसर मानुष जन्मका, बहुरि न बारम्बार॥ ५६॥
बारबार तो सो कह, सुनरे मनवा नीच।
बनजारेके बैल ज्यो, पैडा मांहीं मीच॥ ५७॥
बनजारेके बैल ज्यो, टाँडो उतरयो आय।
एकनके दूना भया, एक चला मूल गँवाय॥ ५८॥
मन राजा नायक भयो, टाँडो लादा जाय।
है है है है है रही, पूँजी गई बिलाय॥ ५९॥

बनजारे को बैल ज्यों, भरमि फिरयो चहुँ देश।
खांड़ लादि भुस खात है, बिन सतगुरु उपदेश ॥ ६० ॥
जीवत कोई समुझे नहीं, मुआ न कह संदेश।
तन मन से परिचय नहीं, ताको क्या उपदेश ॥ ६१ ॥

(६७) अथ सुमरन को अंग

सुमरन मारग सहजका, सतगुरु दिया बताय।
स्वाँसहि स्वाँस जो सुमिरता, एक दिन मिलसी आय ॥ १ ॥
माला स्वाँस उस्वाँसकी, फेरेगे निजदास।
चौरासी भरमै नही, कटै करमकी फाँस ॥ २ ॥
ज्ञान कथे बकि बकि भरै, काहे करै उपाय।
सतगुरु हमसों यो कह्यो, सुमरन करो समाय ॥ ३ ॥
निजसुख आतम राम है, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा कर्मना, कबिरा सुमिरन सार ॥ ४ ॥
दुखमें सुमिरन सब करै, सुखमे करै न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करै, तौ दुख काहेको होय ॥ ५ ॥
थोड़ा सुमिरन बहुत सुख, जो करि जानै कोय।
सूत न लगै बिनावनी, सहज तन सुख होय ॥ ६ ॥
सुमिरन सो सुख होत है, सुमिरन सों दुखजाय।
कहै कबीर सुमिरन किये, स्वामी माँहि समाय ॥ ७ ॥
साँई सुमिर मति ढील कर, जा सुमिरे ते लाह।
इहाँ खलक खिदमत करै, उहाँ अमर पुरजाह ॥ ८ ॥
साँई यो मति जानियो, प्रीति घटै मम चित्त।
मरूँ तो तुम सुमिरत मरूँ, जीवत सुमरूँ नित्य ॥ ९ ॥
साँईको सुमिरन करै, ताको बन्दे देव।
पहली आप उगावही, पाछे लागै सेव ॥ १० ॥
जप तप संयम साधना, सब सुमिरन के माँहिं।
कबिरा जानें रामजन, सुमिरन सम कुछ नाहि ॥ ११ ॥
सह कामी सुमिरन करै, पावै उत्तम धाम।
निहकामी सुमिरन करै, पावै अविचल राम ॥ १२ ॥
राजा राना राव रंक, बड़ा जो सुमिरे राम।
कहै कबीर बंदा बड़ा, जो सुमिरे निष्काम ॥ १३ ॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे कामी काम।
कहै कबीर पुकारिके, खुशी होय तब राम ॥ १४ ॥
सुमिरन की सुधि यों करो, ज्यों गागरि पनिहार।
बोलत डोलत सुरति मे, कहै कबीर विचार ॥ १५ ॥
सुमिरन की सुधि यों करो, ज्यो सुरभी सुत मांहि।

कहै कबीर चारो चरत, बिसरत कबहूँ नांहि॥ १६॥
सुमिरन की सुधि यो करो, जैसे दाम कंगाल।
कहै कबीर बिसरै नही, पल पल लेत संभाल॥ १७॥
सुमिरन सों मन लाइये, जैसे नाद कुरंग।
कहै कबीर बिसरै नहीं, प्रान तजै तिहि संग॥ १८॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे कीट रु भृंग।
कबीर बिसारै आपको, होय जाय तिहि रंग॥ १९॥
सुमिरन सो मनलाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजै छिन एकमे, जरत न मोरै अंग॥ २०॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे पानी मीन।
प्रान तजै फल बीसरे, दास कबीर कहि दीन॥ २१॥
सुमिरन मन लागै नही, विषहि हलाहल खाय।
कह कबीर हटका न रहै, करि करि थका उपाय॥ २२॥
सुमिरन सो मन जब लगै, ज्ञानांकुश दै शीस।
कहै कबीर डोले नही, निश्वय विश्वाबीस॥ २३॥
सुमिरन माँहि लगाय दै, सुरति आपनी सोय।
कहै कबीर संसार गुन, तुझे न व्यापै कोय॥ २४॥
सुमिरन सुरति लगायके, मुखते कछू न बोल।
बाहर के पट देइके, अन्तरके पट खोल॥ २५॥
जो बोलै तो राम कहु, अनत कहूँ मति जाय।
दास कबीर निस दिन कहे, सुमिरन सुरति लगाय॥ २६॥
कबीरा हरि हरि सुमिरले, प्राण जाहिगे छूट।
घरके प्यारे आदमी, चलते लेइँगे लूट॥ २७॥
लूटि सकै तौ लूटिले, राम नाम है लूटि।
पाछे फिरि पछिताहुगे, प्राण जायँगे छूटि॥ २८॥
लूटि सकै तौ लूटिलै, राम नाम है लूटि।
नाम जो निर्गुन के गहो, ना तर जैहो खूटि॥ २९॥
कहै कबीरा लूटिलै, राम नाम भंडार।
काल कंठ जब गहैगा, रोकै दसहू द्वार॥ ३०॥
कबिरा निर्भय राम जपु, जबलगि दीवे बाति।
तेल घटे बाती बुझे, तब सोवोगे दिन राति॥ ३१॥
कबिरा सूता क्या करे, उठि न भजो भगवान।
जम घर जब लै जायँगे, पड़ा रहै गा म्यान॥ ३२॥
कबिरा सूता क्या करै, जगनकी करि चौप।
ये दम हीरा लाल है, गिन गिन हरिको सौप॥ ३३॥
अपने पहरै जागिये, ना परि रहिये सोय।
ना जानौ छिन एकमे, किसका पहरा होय॥ ३४॥

नीद निसानी मीचकी, उठू कबीरा जागि।
और रसाइन छाँडिके, राम रसाइन लागि॥ ३५॥
सोया सो निष्फल गया, जागा सो फल लेय।
साहिब हक्क न राखसी, जब माँगे तब देय॥ ३६॥
जैसे माया मन रमै, तैसे राम रमाय।
तारा मंडल छाँडिके, जहँ केशव तहँ जाय॥ ३७॥
कबीर क्षुधा है कूकरी, करत भजनमे भंग।
याकू टुकडा डारिके, सुमिरन करूँ सुसंग॥ ३८॥
ग्रीहीका टुकडा बुरा, द्वै द्वै आँगुल दांत।
भजन करै तो ऊबरै, नार काटै आंत॥ ३९॥
कबीर चित चंचल किया, चहुँ दिशि लागी लाय।
हरि सुमिरन हाथे घड़ा, लीजे बेगि बुझाय॥ ४०॥
कबीर मेरी सुमिरनी, रसना ऊपर राम।
आदि युगादी भक्ति है, सबको निज विश्राम॥ ४१॥
जबही नाम हृदया धर्‍यो, भयो पापको नास।
मानो चिनगी अग्निकी, परी पुराने घास॥ ४२॥
नाम जो रत्ती एक है, पाप जो रती हजार।
आध रती घट संचरै, जारि करै सब छार॥ ४३॥
कोटि कर्म फिरे पलकमे, जो रंचक आवै नाँव।
अनेक युग जो पुन्य करै, नहीं नाम विनु ठाँव॥ ४४॥
कबीर हरिके नाममें, सुरति रहै करतार।
ता मुखतें मोती झरैं, हीरा अनंत अपार॥ ४५॥
कबीर हरिके नाममें, बात चलावै और।
तिस अपराधी जीवकूं तीन लोक कित ठौर॥ ४६॥
राम नामको सुमिरताँ, उधरे पतित अनेक।
कहै कबीर नहि छाँडिये, राम नामकी टेक॥ ४७॥
राम नामको सुमिरतां, अधम तरै संसार।
अजामेल गनिका सुपच, सदना सिवरी नार॥ ४८॥
सप्नहिमे बररायके, जोरे कहैगा राम।
वाके पगकी पाँवड़ी, मेरे तनको चाम॥ ४९॥
नाम जपत कन्या भली, साकट भला न पूत।
छेरीके गल गलथना, जामें दूध न मूत॥ ५०॥
राम जपत कोढ़ी भला, चुइ चुइ परै जो चाम।
कंचन देह किस कामकी, जा मुख नाही राम॥ ५१॥
राम जपत दरिद्री भला, टूटी घरकी छान।
कंचन मंदिर जारिदे जहाँ, भगति न सारंग पान॥ ५२॥
टोटा माही हरि भजे, तिनका नावै सूपत।

मायाधारी मसखरा, केता गया अऊत॥ ५३ ॥
कबीर सब जग निर्धना, धनवंता नहि कोय।
धनवंता सोइ जानिये, राम नाम धन होय॥ ५४ ॥
जाकी गाँठी राम है, ताके है सब सिद्धि।
कर जौरे ठाढी सबै, अष्ट सिद्धि नव निद्धि॥ ५५ ॥
कबीर प्रगट हि राम कहि, छानै राम न गाय।
फूसक जोड़ा दूरि करु, बहुरि न लागै लाय॥ ५६ ॥
कबीर मुख सोही भला, जामुख निकसै राम।
जामुख राम न नीकसै, सो मुख है किस काम॥ ५७ ॥
गोविदके गुन गावता, कबहूँ न कीजै लाज।
यहि पद्धति आगे मुकति, एक पंथ द्वै काज॥ ५८ ॥
गुन गाये गुन ना कटै, रटै न नाम वियोग।
अहनिसि हरि ध्यायो नही, क्यो पाणै दुर्लभ योग॥ ५९ ॥
मारग चलता जो गिरै, ताको लगै न दोष।
कहै कबीर बैठा रहै, ता सिर करडी कोस॥ ६० ॥
कबीर हरिके मिलनकी, बात सूनी हम दोय।
कै कछु हरिको नामले, करै कर ऊँघा होय॥ ६१॥
तू तू करता तू भया, तुझमे रहा समाय।
तुझ माही मन मिलि रहा, अब मन अनत न जाय॥ ६२ ॥
रग रग बोले रामजी, रोम रोम ररंकार।
सहजे ही मुनि होत है, सोही सुमिरन सार॥ ६३ ॥
सहजेही पुनि लगि रही, कहै कबीर घट माँहि।
हृदये हरि हरि होत है, मुखकी हाजत नाँहि॥ ६४॥
अजपा सुमिरन घट विषय, दीन्हा सिरजन हार।
ताही सो मन लगि रहा, कहै कबीर विचार॥ ६५ ॥
कबिरा माला काठकी, बहुत यतनका फेर।
माला फेरो स्वांसकी, जामे गाँठि न मेर॥ ६६ ॥
माल जपूं न कर जपूं, मुकासे कहूँ न राम।
मन मेरा सुमिरन करै, कर पाया बिसराम॥ ६७॥
माला तौ करमे फिरै, जीभ फिरै मुख मांहि।
मनुवा तौ चहुँ दिशि फिरै, यह तो सुमिरन नांहि॥ ६८ ॥
राम नामको सुमिरता, हंसि कर भावे खीज।
उलटा सुलटा नीपजै, ज्यो खेतनमे बीज॥ ६९ ॥
स्वाँस सुफल सो जानिये, हरि सुमिरन मे जाय।
और स्वाँस योही गये, करि करि बहुत उपाय॥ ७० ॥
जाकी पूंजी स्वाँस है, क्षण आवै क्षण जाय।
ताको ऐसा चाहिये, रहे राम लौलाय॥ ७१ ॥

कहा भरोसो देहको, विनसि जाय छिन मांहि।
स्वाँस स्वाँस सुमिरन करो, और यतन कछु नाहिं॥ ७२॥
कहता हूँ कहिजात हूँ, कही बजाए ढोल।
स्वाँस खाली जात है, तीन लोकका मोल॥ ७३॥
ऐसे महँगे मोलका, एक स्वाँस जो जाय।
चौदा लोक नहि पटतरे, काहे धूरि मिलाय॥ ७४॥
जिवना थोराही भला, जो हरिका सुमिरन होय।
लाख बरसका जीवना, लेखे धरै न कोय॥ ७५॥
कबीर सुमिरन अंगको, पाठ करै मन लाय।
विद्या हीन विद्या लहै, कहै कबीर समुझाय॥ ७६॥
जो कोई सुमिरन अंगको, पाठ कर मन लाय।
भक्ति ज्ञान मन ऊपजै, कहै कबीर समुझाय॥ ७७॥
जो कोइ सुमिरन अंग को निसिवासर करे पाठ।
कहै कबीरा संतसो, संधै औघट घाट॥ ७८॥

(६८) अथ बेअकलीको अंग

अकिल बिहूना आबदी, जानै नही गँवार।
जैसे कपि परबस पर्‍यौ, नाचै घर घर बार॥ १॥
अकिल बिहूना सिह ज्यो, गयो शासाकै संग।
अपनी प्रतिमा देखिके, भयो जो तन को भंग॥ २॥
अकिल बिहूना आंधरा, गल पर्‍यौ फंदे आय।
ऐसे सब जग बंधिया, कहा कहूँ समुझाय॥ ३॥
पंख छता परबस पर्‍यौ, सूबाके बुद्धि नाहि।
अकिल बिहूना आदमी, यो बंधा जग माहि॥ ४॥

(६९) अकल को अंग

अकिल अरश सो ऊतरी, विधिना दीन्ही बांटि।
एक अभागी रह गया, एकन लई उ छांटि॥ १॥
अलच्छ अकिल जानै नही, जीव जहन्नम लोय।
हरदम हरि जान्या नही, भिश्त कहांते होय॥ २॥
बिना वसीले चाकरी, बिना बुद्धिकी देह।
बिना ज्ञानका जोगनां, फिरै लगाये खेह॥ ३॥
जल परमाने मांच्छली, कुल परमाने बुद्धि।
जाको जैसा गुरु मिलै, ताको तैसी सुद्धि॥ ४॥

(७०) अथ प्रमोध को अंग

मनहीको परबौधिले, मनहीको उपदेश।

जो या मनको बस करै, शिष्य होय सब देश ॥ १ ॥
बात बनाई जग ठग्यो, मन परमोधा नाहि।
कह कबीर मन लग गया, लख चौरासी माहि ॥ २ ॥
अजहूँ तेरा सब मिटै, जो मानै गुरु सीख।
जब लगि तू घरमे रहै, मति कहूँ मांगे भीख ॥ ३ ॥

(७१) अथ भक्तिको अंग

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट करी कबीरने, सात द्वीप नव खंद ॥ १ ॥
भक्ति भाव भादो नदी, सबै चली घहराय।
सरिता सोई जानिये, जेठमास ठहराय ॥ २ ॥
हरष बड़ाई पेखिके, भक्ती कर संसार।
जब कछु देखै हीनता, अवगुण धरै गंवार ॥ ३ ॥
जबलग नाता जातिका, तब लगि भक्ति न होय।
माता तोरे हरि भजे, भक्त कहावै सोय ॥ ४ ॥
भक्ति बीज बिनसै, नही, आय परै जो झोल।
जो कंचन विष्टा परै, घटै न ताको मोल ॥ ५ ॥
रामनाम हल जोतिये, सुमिरन बीज जमाय।
खंड ब्रह्माण्ड सूखा परे, भक्ति वृथा नहि जाय ॥ ६ ॥
जलज्यौ प्यारा माछरी, लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका, भक्ति पियारी राम ॥ ७ ॥
भक्ति तो प्रणसो होत है, मन दै कीजे भाव।
परमारथ परतीतमे, यह तन जाय तो जाय ॥ ८ ॥
भाग बिना नहि पाइये, प्रेम प्रीतिकी भक्त।
विना प्रेम नहि भक्ति कछु, भक्ति भयो सब जक्त ॥ ९ ॥
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दम्भ विचार।
उदर भरनके कारने, जन्म गँवाँयो सार ॥ १० ॥
भक्ति बिनावै नाम बिन, भेष बनाये होय।
भक्ति भेष बहु अंतरा, जानै बिरला कोय ॥ ११ ॥
भक्ति भेष बहु अंतरा, जैसे धरनि अकास।
भक्त सुमिरि भगवंतको, भेष जगतकी आस ॥ १२ ॥
जहां भक्ति तहँ भेष नहि, वर्णाश्रम हू नाहि।
नाम भक्ति जो प्रेम सो, सो दुर्लभ जग माहि ॥ १३ ॥
भक्ति स्वरूप भगवंतकी, भेष आहि कछु और।
भक्त स्वरूप भगवंत है, भेष जो मनकी दौर ॥ १४ ॥
भक्ति कठिण अति दुर्लभ, भेष सुगम निज सोय।
भक्ति जो न्यारी भेषते, यह जानै सब कोय ॥ १५ ॥

भाव बिना नहि भक्ति जग, भक्ति बिना नहि भाव।
ये दोऊ जो परस्पर, दोय मिलि एक सुभाव॥ १६॥
भक्ति सर्वहि ऊपर अहै, भागि न पावै सोय।
कहै पुकारे संतजन, सत सुमिरत सब कोय॥ १७॥
भक्ति पदारथ जब मिले, तब प्रभु होत सहाय।
प्रेम भक्तिकी भक्ति जो, पूरन भाग मिलाय॥ १८॥
भक्ति सोई जो भावसो, इक मन चितको राखि।
सांच शील सो खेलिये, मै तै दोऊ नाखि॥ १९॥
विष्णु भक्ति है दुर्लभ, ज्यो खांडेकी धार।
बिना सांच पहुँचै नही, महा कठिन व्यवहार॥ २०॥
भक्ति दुवारा मोकला, सुमिरि सुमिरि समाय।
मनको तौ मैदा किया, निर्भय आवै जाय॥ २१॥
भक्ति दुहेली रामकी, नहि कायरको काम।
निस्प्रेही निरधारको, आठ पहर संग्राम॥ २२॥
कामी क्रोधी लालची, इनपै भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ शूरमां, जाति बरण कुल खोय॥ २३॥
जाति बरन कुल खोयकै, भक्ति करै चितलाय।
कहै कबीर सतगुरु मिले, आवागमन नसाय॥ २४॥
कबीर हरिकी भक्तिका, मनमे बहुत हुलास।
मेवासा भाजै नहीं, होन चहै निजदास॥ २५॥
मेवासा मोही किया, दुर्जन काढा दूरि।
राज पियारे रामका, नगर बसै भरपूर॥ २६॥
आरतसो हरि भक्ति कर, सब सिधि कारज होय।
कूपा माग्या राछ है, सदा न फबसी कोय॥ २७॥
भक्ति निसेनी मुक्तिकी, चढै संत सब ध्याय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम जहँडाय॥ २८॥
निर्पक्षीको भक्ति है, निर्मोहीको ज्ञान।
निर्द्वन्दीको मुक्ति है, निर्लोभी निर्बान॥ २९॥
विषय त्याग वैराग्य है, समता कहिये ज्ञान।
सुखदाई सब जीवसों, यही भक्ति परमान॥ ३०॥

(७२) अथ स्वारथको अंग

जो कोई करै सो स्वारथी, अरस परस गुन देत।
बिन किय करै सो शूरमां, परमारथ के हेत॥ १॥
स्वारथका सब कोई सगा, जग साराही जान।
बिनु स्वारथ आदर करै, हरिकी प्रीति पिछान॥ २॥

सबै सगाई अर्थकी, परमारथ की नाहि।
कहे कबीर परमारथी, कोई कोई कलिमांहि॥ ३॥
मेरा संगी कोइ नही, सबै स्वारथी लोय।
मन परतीति न ऊपजे, जीव विश्वास न होय॥ ४॥
सुखके सगे है स्वारथी, दुखमे रहे जो दूरि।
कहे कबीर परमारथी, दुख सुख सदा हजूरि॥ ५॥

(७३) परमारथ को अंग

मरू पर मांगो नही, अपने तनके काज।
परमारथके कारने, मोहि न आवे लाज॥ १॥
परमारथके कारने, कबहूँ न दाजै पीठि।
स्वारथ सेमल फूल है, कली अपूठी पीठ॥ २॥
तरुवर सरवर संत जन, चौथा बरषै मेह।
परमारथके कारणे, चारुन धारी देह॥ ३॥
वृक्ष कबहूं नहि फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथके कारने, साधुन धर्‍यौ शरीर॥ ४॥
साधु बड़े परमारथी, घन ज्यो बरषै आय।
तपनि बुझावे औरकी, अपनो पौरुष लाय॥ ५॥

(७४) अथ प्रेमको अंग

शीश उतारै भुइं धरै, ऊपर राखै पाँव।
दास कबीरा यो कहे, ऐसा होय तो आव॥ १॥
प्रेम भक्तिको है घर, ऊँचा बहुत इकंत।
शीश काटि पगतर धरे, तव जाय पहुँचै संत॥ २॥
प्रेम पियाला सो पिये, शीस दक्षिणा देय।
लोभी शीस न दे सकै, नाम प्रेमको लेय॥ ३॥
प्रेम पियाला भरि पिया, राचिरह्या गुरु ज्ञान।
दिया नगारा शब्दका, लाल खड़ा मैदान॥ ४॥
छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥ ५॥
आया प्रेम कहां गया, देखैया सब कोय।
पलमे रोवै पल हँसे सो तो प्रेम न होय॥ ६॥
सागर उमड़ा प्रेमका, खेवटिया कोइ एक।
सब प्रेमी मिलि बूड़ता, यह नहि होती टेक॥ ७॥
यही प्रेम निरवाहिये, रहनि किनारे बैठि।
सागरतें न्यारा रहा, गया लहरिमे पैठि॥ ८॥
प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्हे कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय॥ ९॥

प्रेम प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्हे कोय।
जौन प्रेम साहिब मिलै, प्रेम कहावै सोय॥१०॥
पहले प्रेम ना चाखिया, मुक्ति निरासी आय।
पीछे तन मन बाँटिया, गया चकमका लाय॥११॥
पहले प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया स्वाद।
सूना घरका पाहुना ज्यो आवै त्यो बाद॥१२॥
प्रेम पियारे लालसो, -मन दै कीजे भाव।
सतगुरु के परतापते, भला बना है दाब॥१३॥
जाघट प्रेम न संचरे, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लुहारकी, स्वाँस लेत बिन प्रान॥१४॥
प्रेम बनिज नहि करि सकै, चढै न नामकै गैल।
मानष केरी खोलरी, ओढ़े फिर ज्यो बैल॥१५॥
प्रेम बिकाता मै सुना, माथा साटै हाटि।
पूछत बिलम्ब न कीजिये, ततक्षण दीजे काटि॥१६॥
प्रेम बिना धीरज नही, विरह बिना वैराग्य।
सतगुरु बिना मिटै नही, मन मनसाका दाग॥१७॥
जहां प्रेम तहँ नेम नहि, तहां न बुधि व्यवहार।
प्रेम मगन मन भया, कौन गिने तिथि बार॥१८॥
प्रेम भक्ति मे रुचि रहै, मोक्ष मुक्ति फल पाय।
शब्दमाहि जब मिलि रहै नहि आवै नहि जाय॥१९॥
प्रेम पांवरी पहरिकै; धीरज कज्जल देय।
शील सिदूर भरायकै, पुनि पियका सुख लेय॥२०॥
प्रेमी ढूढत मै फिरा, प्रेमी मिला न कोय।
प्रेमी सो प्रेमी मिलै, राम भक्ति दृढ़ होय॥२१॥
प्रेम छिपाया ना छिपे, जा घट उपजा होय।
जो पै मुख बोले नही, तो नैन देत हैं रोय॥२२॥
प्रेम बिना नहि भेष कछु, नाहक करे सुबाद।
प्रेमवाद जबलग नही, तबलग भेष सब बाद॥२३॥
प्रेम भाव इक चारिये, भेष अनेक बनाय।
भावे रहो जो गृहहिमे; भावे वनमे जाय॥२४॥
योगी जंगम सेवरा, संन्यासी दरवेश।
बिना प्रेम पहुँचे नही, दुर्लभ हरिका देश॥२५॥
जो तू प्यासा प्रेमका, शीश काटि करि गोय।
जब तू ऐसी करैगा, तब कछु होय सो होय॥२६॥
पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहे मान।
दोय खग इक म्यानमे, देख्या सुना न कान॥२७॥

(७५) अथ विरहको अंग

विरहिन देय संदेहरा, सुनो हमारे पीव।

जल बिन मछरी क्यो जिये, पानीमेका जीव॥ १॥
बिरहिन देय संदेसरा, सुनहू राम सुजान।
बेगि मिलौ तुम आयके, नहिं तर तजिहो प्रान॥ २॥
बिरह तेज इनमे तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीवमे, मौत ढूंढि फिरि जाय॥ ३॥
सांई सेवत जरिगई, मांस न रहिया देह।
सांई जब लग सेयही, या तन होइ है खेह॥ ४॥
बिरहा पूत लुहारका, धुवै हमारी देह।
कोइला किया न छूटि है, जबलग होय न खेह॥ ५॥
बिरहिन बिरह जलाइया, बैठि ढूँढे छार।
मति कोइ कोइला ऊबरै, जारै दूजी बार॥ ६॥
तन मन जोबन जारिकै, भसम किया सब देह।
उठी कबीरा बिरहिनी, अंजहूं ढूँढे खेह॥ ७॥
बिरह जलाई मे जलूँ, मोहि बिरहको दुःख।
छांह न बैठूं डरपती, मति जलि ऊठे रूख॥ ८॥
बिरहिनि जलती देखिकै, सांई आवै धाय।
प्रेम बूंद सूं छिरकिकै, जलती लेइ बुझाय॥ ९॥
लकरी जरि कोइला भई, मोतन अजहूँ आगि।
बिरहकी ओदी लाकरी, सिलग सिलग उठि जागि॥ १०॥
निस दिन दाझै बिरहिनी, अंतर गतिकी लाय।
दास कबीरा क्यो बुझे, सतगुरु गये लगाय॥ ११॥
तन मन जोबन यो जला, बिरह अग्नि सुं लागि।
मृतक जो पीर न जानही, जानैगी वा आगि॥ १२॥
बिरह कमंडल भरि लिया, बैरागी दोउ नैन।
मांगें दरस मधूकरी, छका रहै दिन रैन॥ १३॥
बिरह बिथा बैरागकी, कही न काहू जाय।
गूंगा सपना देखिया, समझि समझि पछिताय॥ १४॥
बिरही प्रानी बिरहकी पिंजर पीर न जाय।
एक पीर है प्रीतिकी, रही कलेजे छाय॥ १५॥

साखी

बिरह राम पठाइया, कोइ साधन को परमोधि।
जा घट ताला मेलि है, ताको लावो सोधि॥ १६॥
बिरहा आया दरद सो, कड़वा लागा काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा राम॥ १७॥
हसूँ तो दुःख न बीसरूँ, रोऊँ तो बल घटिजाय।
मनही माँहि बिसूरनां, ज्यो घुन काठहि खाय॥ १८॥
कीड़े काठ जु खाइया, खाया किनहू दीठ।
छोत उपाय देखिया, भीतर जमिया चीठ॥ १९॥

भीठर जमिया धूनका, बैरी बिरहा खद्ध।
बिछुरीया सो साजना, बेद न काहू लद्ध॥ २०॥
तूं मति जानै बीसरो, प्रीति घटै मम चित्त।
मरूं तो तुम सुमिरत मरूं, जिऊं तो सुमिरूं नित्त॥ २१॥
गलौं तुम्हारे नाँव पर, ज्यो आंटा मे लौन।
ऐसा बिरहा मेलिकै, नित दुःख पावै कोन॥ २२॥
बिरहा कहै कबीरकों, तू मति छाँडि मोहि।
पार ब्रह्मके तेजमे, जहाँले राखूं तोहि॥ २३॥
मो बिरहनिका पीउ मुआ दाग न दीया जाय॥
मासहि गलिगलि भूईपरा, करंक रही लपटाय॥ २४॥
भली भई जो पिव मुआ, नित उठि करता रार।
छूटी गलकी पाँसरी, सोऊँ पांव पसार॥ २५॥
कागा करंक ढँढोरिया, मूठि यक रहिया हाड़।
जिस पिजर बिरहा बसै, मांस कहारे राड़॥ २६॥
मांस गया पिंजरा रहा, तमकन लागा काग।
साहब अजहुँ न आइया, कोई मंद हमारा भाग॥ २७॥
कागा कर कंकन चूंथिरे, उडिरे परेरो जाय।
मै दुख दाझी बिरहकी, तू दाधा मांस न खाय॥ २८॥
रंगत मांस सब भखि गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागो हाड चबान॥ २९॥
बिरहा सेती मति अडै, रे मन मोर सुजान।
हाड मांस रग खात है, जीवत करै मसान॥ ३०॥
मै तुमको ढूढत फिरूँ, तुम कहुँ न मिलिया राम।
हिरदा मांहि उठि मिले, कसल तुम्हारे काम॥ ३१॥
सो दिन कैसा होयगा, राम गहैगे बांह।
अपना करि बैठायसी, चरन कमल की छाँह॥ ३२॥
जीव बिलंबा जीव सो, पिय जो लिया मिलाय।
लेख समाना अलेख में, अब कछु कहा न जाय॥ ३३॥
जो जन बिरही नामके, तिनकी गति भइ एह।
देही सूं उद्यम करै, सुमिरन करै बिदेह॥ ३४॥
जो जन बिरही नामके, सदा मगन मन मांहि।
ज्यो दरपनकी सुन्दरी, कोई न पकरै बाहिं॥ ३५॥
सब कोइ विरहिनि पीयरी, तू बिरहिन क्यों लाल।
अविनाशी की सेजपर, मौजी भया निहाल॥ ३६॥
अविनाशीकी सेज पर, केलि करै आनन्द
कहै कबीर वा सेजपर, बिलसत परमानन्द॥ ३७॥

(७६) अथ ज्ञान बिरह को अंग

कबीर चिनगी बिरहकी, मो तन परी उडाय।

तन जरिके धरती जरी, अम्बर जरिया जाय ॥ १ ॥
आगि लगी आकाशमे, झरि झरि परै अंगार।
कबिरा जरि कंचन भया, काच भया संसार ॥ २ ॥
लाई लावन हार की, जा लाई पर जलै।
बलिहारी लावन हार की, छप्पर बांधै घर जलै ॥३॥
जल दाह्या चीखल जल, भिरहा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊबरा, गल पूरा के लागि ॥ ४ ॥

साखी

विरह अग्नि तनमन जला, लगि रह्या तत जीव।
कै वा जानै विरहिनी, कै जिन भेटा पीव ॥ ५ ॥
विरह कुहारी तन बहै, घाव न बांधै रोह।
मरनेका संशय नही, छूटि गया · भ्रम मोह ॥ ६ ॥

(७७) अथ परचाको अंग

अगवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक।
पीछै हरि भी आयँगे, सारी सोज समेक ॥ १ ॥
काया सीप संसार मे, पानी बन्दू शरीर।
बिना सीपके मोतिया, प्रगटे दास कबीर ॥ २ ॥
कबिरा मोतिन की लरी, हीरन को परकाश।
चांद सुरजकी गम नही, तहँ दरसन पावै दास ॥ ३ ॥
कछु करनी कछु करमगति, कछु पुरबीला लेख।
देखो भाग कबीरका, दोसत किया अलेख ॥ ४ ॥
जकलागी जोगी हुआ, मिटि गई ऐंचा तान।
उलटि समाना आपमे, अब भया ब्रह्म समान ॥ ५ ॥
उनमुनि लागी शून्यमे, निसिदन रहै गलतान।
तन मनकी कछु सुधि नही, पद पाया निरबान ॥ ६ ॥
उनमुनि चढ़ी अकासकू, गई धरनिसू छूटि।
हंस चला घर आपने, काल रहा सिरकूटि ॥ ७ ॥
ऊंचा चढ़ि असमानको, मेरु उलंघि ऊडि।
पशु पक्षी जीव जन्तु सब, रहा मेरुमे गूडि ॥ ८ ॥
मेरी मिटी मुक्ता भया, पाया ब्रह्म विश्वास।
मेरे दूजा को नही, एक तुम्हारी आस ॥ ९ ॥
पाया था सो गहि रहा, रसना लागी स्वाद।
रतन निराला पाइया, जगत टटोरा बाद ॥ १० ॥
जब मै था तब हरि नही, अब हरि है मै नाहि।

कबिरा नगरी एकमे, राजा दो न समाहि॥ ११॥
मै जाना मै और था, मै तो भया अब सोय।
मै तै दोऊ मिटि गई, रही कहनको दोय॥ १२॥
गगन गरजे बरखै अमी, बादल गहर गँभीर।
चहुँ दिस दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥ १३॥
गगन कमण्डल के बीचमे, तहवाँ झलकै नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुंचैगे गुरुपुर॥ १४॥
गगन मण्डलके बीच मे, महल परा एक चीन्ह।
कहै कबीर ते पावही, जिहि गुरु परीक्षा दीन्ह॥ १५॥
गगन मंडल के बीचमे, बिना कमलकी छाप।
पुरुष एक तहाँ रमिरहा, नही मंत्र नहि जाप॥ १६॥
गगन मंडलके बीचमे, तुरी तत्त्व एक गाँव।
लक्ष निसाना रूपका, परखि देखाया ठाँव॥ १७॥
गगन मंडलके बीच मे, जहाँ सुहंगम डोरि।
शब्दहि अनहद डोल है, सुरति लगी तहां मोर॥ १८॥
चाँद नही सूरज नही, हता न वो ओकार।
तहां कबीरा रामजन, को जानै संसार॥ १९॥
नही हाट नहि बाट है, नहि धरती नहि धीर।
असंख्य युग परलै गया, तबकी कहै कबीर॥ २०॥
धरती हती पग धरौ, नीर हता नहि न्हाँव।
माता नौ जन्म्या नही, क्षीर कहाँते खाँव॥ २१॥
पवन नही पानी नही, नही धरती आकास।
एक निरंजन देवका, कबिरा दास खवास॥ २२॥
अन्न नही जहां तप करूं, नीर नही तहाँ न्हाव।
धरती नही जहाँ पग धरूं, गगन नही तहाँ जाव॥ २३॥
पाँच तत्त्व गुन तीनिकै, आगे मुक्ति मुकाम।
तहाँ कबीरा घर किया, जहाँ गोरख दत्त न राम॥ २४॥
सुरनर मुनिजन औलिया, ये सब बैले तीर।
अलह रामकी गम नही, तहां घर किया कबीर॥ २५॥
सुरनर मुनिजन देवता, ब्रह्मा विष्णु महेश।
ऊंचा महल कबीरका, पार न पावै शेश॥ २६॥
हम वासी वा देशको, जहाँ अविनाशी की आन।
दुख सुख कोइ व्यापै नही, सब दिन एक समान॥ २७॥
हम वासी उस देशको, जहाँ बारा मास बिलास।
प्रेम झरै बिलसै कँवल, तेजपुंज परकास॥ २८॥
हम वासी उस देशको, जहँवाँ नहि मास बसंत।
नीझर झरै महा अमी, भीजत है सब संत॥ २९॥
हम वासी उस देशको, जहां जाति बरन कुल नाहि।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नांहि॥ ३०॥
हम वासी उस देशके, जहां गगनि धरनि दोऊ नांहि।

भँवरा बैठा पंख बिनु, देखा पलको मांहि ॥ ३१ ॥
हम वासी वा देशके, जहां पार ब्रह्मका खेल।
दीपक जरै अगम्यका, बिन बाती बिन तेल ॥ ३२ ॥
हम वासी उस देशके, जहाँ पार ब्रह्मका कूप।
अविनाशी विनशै नही, आवै जाय सरूप ॥ ३३ ॥
कबिरा दिल दरिया मिला, बैठा दरगह जाय।
जीव ब्रह्म मेला भया, अब कछु कहा न जाय ॥ ३४ ॥
जब दिल मिला दयालसो, फांसी परी बिलाय।
मोहि भरोसा इष्टका, बंदा नरक न जाय ॥ ३५ ॥
जब दिल मिला दयालसो, तब कछु अनन्तर नाहि।
पाला गलि पानी भया, यो हरिजन हरिमाहि ॥ ३६ ॥
दीपक जोया ज्ञानका, देखा अपरम देव।
चारि वेदकी गम नही, जहाँ कबीरा सेव ॥ ३७ ॥
कबिरा जब हम गावते, तब ब्रह्म जाना नाहि।
अब ब्रह्म दिलमे देखिया, गावन कूं कछु नाहि ॥ ३८ ॥
शून्य सरोवर मीन मन, नीर निरंजन देव।
सदा समूह सुख विलसिया, बिरला जानै भेव ॥ ३९ ॥
कबिरा कंचन प्रकासिया, ब्रह्म बास जहां होय।
मन भँवरा जहाँ लुबधिया, जानैगा जन कोय ॥ ४० ॥
संशै करूं न मै डरूं सब दुख दिया निवारि।
सहज शून्य मे रमि रहा, माया देवमुरारि ॥ ४१ ॥
लून गला पानी मिला, बहुरि न भरिहै गून।
हरिजन हरि सो मिलि रहा, काल रहा सिर घून ॥ ४२ ॥
ध्वजा फरक्के शून्यमे, बाजै अनहद तूर।
तकिया है मैदान मे, पहुंचेगे कोई शूर ॥ ४३ ॥
उलटि समाना आपमें, पलटी ज्योति अनंत।
साहिब सेवक एक सँग, खेले सदा बसंत ॥ ४४ ॥
शून्य मण्डलमे घर किया, बाजै शब्द रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ॥ ४५ ॥
हिल मिल खेला ब्रह्मसो, अनन्तर रही न रेख।
समझे का मत एक है, क्या पण्डित क्या शेख ॥ ४६ ॥
जब लगि पिय परिचय नहीं, कन्या कुँवारी जानि।
हथ लेवो हूँ सालियो, मुसकिल परि पहिचानि ॥ ४७ ॥
पूरे सो परचा भया, दुख सुख मेला दूरि।
यम सो बाकी कटि गई, सांई मिला हजूर ॥ ४८ ॥
जैसे सूती रंगरहा, भाग ना मान गुनान।
हथ लेवो हरिसूं जुरयो, अखै अमर बरदान ॥ ४९ ॥
पिय परिचय तब जानिये, पिय सो हिल मिल होय।
पियकी लाली मुख पर, प्रगटहि दीसै सोय ॥ ५० ॥
लाली मेरे लालकी, जित देखो तित लाल ॥

लाली देखन मै गई, मै भी भई निहाल॥ ५१॥
सुरति उड़ानी गगन को, चरन बिलंबी जाय।
सुख पाया साहब मिला, तब आनंद अंग न माय॥ ५२॥
मकरतार सो नेहरा, झलकै अधर विदेह।
सुरति सुहंगम मिलि रही, पल पल जुरै सनेह॥ ५३॥
धरति समानी अधरमे, अधर धराकै मांहि।
अधर धरा जब देखिया, दीसे दूसर नांहि॥ ५४॥
अबिगति की गति कहा कहूँ, जाकै गांव न ठाँव।
ऐसा अबिगति अलख है, अलख लखा नहि जाय।
ज्योति सरूपी राम है, सबमें रह्यो समाय॥ ५५॥
अलख लखा लालच लगा, कहत न आवे बैन।
निज मन धर्‍यो स्वरूप मे, सत गुरु दीन्ही सैन॥ ५६॥
मिलि गया नीर कबीर सों, अंतर रही न रेख।
तीनूं मिलि एकै भया, नीर कबीर अलेख॥ ५७॥
नीर कबीर अलेख मिलि, सहज निरंतर जोय।
सत्य शब्द और सुरति मिलि, हंस हृदयकाश होय॥ ५८॥
जिन पांयन भू बहु फिरा, देखा देश विदेश।
तिन पायन थिति पाइया, आंगन भया विदेश॥ ५९॥
गुन इंद्री सहजे गई, सतगुरु करी सहाय।
घट मे ब्रह्म विराजिया, बकि बकि मरै बलाय॥ ६०॥
कहना था सो कहि दिया, अब कछु कहना नाहि।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माहि॥ ६१॥
साखी शब्दी कब कही, मौन रहै मन मांहि।
बिछुरा था कब ब्रह्मसो, कहिबे को कछु नांहि॥ ६२॥
साखी शब्दी जब कही तब कछु जाना नाँहि।
बिछुरा था तबही मिला, अब कुहु कहना काहि॥ ६३॥
या देखा वा देखिया, या देखा या थीर।
यह वह दोउ एकै भया, जब सतगुरु मिले कबीर॥ ६४॥

(७८) अथ रसको अंग

पिया पियाला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम मे रमिरहा, और अमल क्या खाय॥ १॥
कबिरा हरि रस जिन पिया, अंतरगत लौलाय।
रोम रोम मे रहिरहा, और अमल क्या खाय॥ २॥
हरि रस महँगा जन पिये, देवै सीस कलाल।
घट ओछा दिन दूबला, बंछैगा बहुकाल॥ ३॥
हरिरस महँगा पीविये, छांडि जीवकी बानि।
शिरके सांटे हरि मिलै, तबलगि सुँहुँगा जानि॥ ४॥
शिर दिये जो पाइये, देत न कीजे कानि।

शिर के सांटे हरि मिलै, तब लगि सुँहुगा जानि ॥ ५ ॥
मोह मता अविगत रता, आसा अकल अजीत।
नाम अमल माते रहै, जीवन मुक्त अतीत ॥ ६ ॥
मोह मता नहि संचरै, सालै चित्त सनेह।
बारिज बंधा कलालके, डारि रहा शिर खेह ॥ ७ ॥
आठ गांठ कोपीनके, साधु न मानै शंक।
नाम अमल माता रहै, गिनै इंद्रको रंक ॥ ८ ॥
दावै दाझन होत है, निरदावै रहै निशंक।
जो जन निरदावै रहै, कहै इंद्र नहि रंक ॥ ९ ॥
थोरोहीसो छाकिया, भांडा पीया धोय।
फूल पियाला जिन पिया, रहै कलालां सोय ॥ १० ॥
राता माता नामका, पिया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, मांगे मुक्ति बलाय ॥ ११ ॥
राता माना नामका मदका माता नाहि।
मदका माता जो फिरै, ते मतवाला काहि ॥ १२ ॥
मतवाला घूमत फिरै, रोम रोम रस पूरि।
छांडे आस शरीरकी, तब देखै राम हजूरि ॥ १३ ॥
प्रेम पियाला भरिपिया, जरा न किया जतन।
आवै छक तब जानिये, रंका घड़ा रतन ॥ १४ ॥
कबिरा हरिरस भर पिया, कोइ न पीवै नीर।
भाग बड़ा सो पीवसी, भरि भरि पीवे कबीर ॥ १५ ॥

(७९) अथ हैरानको अंग

घटमे रहै सूझे नही, करसो गहा न जाय।
मिला रहै और ना मिलै, तासो कहा बसाय ॥ १ ॥
आठ पहर चौबीस घड़ी, मोमन यही अंदेश।
या नगरी प्रीतम बसै, मैं जानो परदेश ॥ २ ॥
प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो कहूँ होय विदेश।
तनमे मनमे नैनमे, ताको कहा सँदेश ॥ ३ ॥

(८०) अथ भेदी नरको अंग

कबिरा भेदी भगतसो, मेरा मन पतियाय।
सेरी पावे शब्दकी, निर्भय आवै जाय ॥ १ ॥
भेदी जानै सर्वगुण अनभेदी क्या जानि।
कै जानै गुरु पारखी, कै जाके लागा बान ॥ २ ॥
भेद ज्ञान तौलो भलो, जौलौ मुक्ति न होय।
परम ज्योति प्रगटै जहाँ, तहाँ विकल्प नहि कोय ॥ ३ ॥
भेद ज्ञान सायुन भया, सुमिरन निर्मल नीर।

अंतर धोई आत्मा, धोया निर्गुन धीर ॥ ४ ॥

(८१) अथ जरनाको अंग

जो देखै सो कहै नही, कहै सो देखै नाहि ।
सुनै जो समुझावै नही, रसना दृग शरवन काहि ॥ १ ॥
जो पकरै सो चलै नही, चलै सो पकरै नाहि ।
कहै कबीर या साखिकौ, अरथ समुझ मनमाहि ॥ २ ॥
जो पकरै सो चलै नही, चलै सो पकरै नाहि ।
कर पदको तुम कहत हो, समुझि लीन मनमाहि ॥ ३ ॥
जानि बूझि जड़ होय रहै, बल तजि निर्बल होय ।
कहै कबीर वा दासको, गंजि सकै नहि कोय ॥ ४ ॥
जानिकै अनजान हुआ, तत्त्व न लीया छानि ।
गुरु किया नफा होयगा, चेला किया न हानि ॥ ५ ॥
बाद विवादे विष घना, बोलै बहुत उपाधि ।
मौनि गहि हरि सुमिरिये, जो कोई जानै साधि ॥ ६ ॥

(८२) अथ लौको अंग

सुरति ठीक लीनै जलौ, मन नीत डोलनहार ।
कमल कूप मे ब्रह्म जल, सांचौ बारम्बार ॥ १ ॥
लौलागी लौ ना परै, आप बिसरजन देह ।
अमृत पीवै आतमा, हरि सों जुरै सनेह ॥ २ ॥
लै पाऊं तौ लै रहौ, लैन कहूँ नहि जाँव ।
लै बूढे सो लै तिरे, लै ले तेरो नाँव ॥ ३ ॥
लौ लागी तब जानिये, छूटि न कबहूँ जाय ।
जीवत लौ लागी रहै, मूवा मांहि समाय ॥ ४ ॥
जैसी लौ प्रथमहि लगै, तैसी निबहै ओर ।
अपनी देहकी को गिनै, तारे पुरुष करोर ॥ ५ ॥
जैसी लौ प्रथमहि लगै, तैसी ही रहि जाय ।
जाके हृदये लौ बसे, सो मोहि माहि समाय ॥ ६ ॥
और सुरति बिसरी सकल, लौ लागी रहै संग ।
आव जाव कासे कहूँ, मन राते हरि रंग ॥ ७ ॥
लौ लागी अंतर कसा, आप बिसरजन देह ।
अमृत पीवे आत्मा, हरि सो लागा नेह ॥ ८ ॥
जब लगि कथनी हम कथी, दूरि रहा जगदीस ।
लौ लागी कल ना परै, अब बोलना नाहिह दीस ॥ ९ ॥
ग्रंथ माहि अर्थ पाइया, अर्थ माहि है भूल ।

लौ लागी निर्मल भया, मिटि गई संशय शूल॥१०॥

(८३) अथ पतिव्रताको अंग

पतिव्रताके एक है, व्यविचारिनके दोय।
पतिव्रता व्यभिचारिणी, कहु क्यो मेला होय॥१॥
पतिव्रताको सुख घना, जाकै पति है एक।
मन मैली व्यभिचारिणी, ताके खसम अनेक॥२॥
पतिव्रता मैली भली, गलै काचकी पोत।
सब सखियनमें यो दिखे, ज्यूं सूरजीकी जोत॥३॥
पतिव्रता मेली भली, काली कुचल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, बारों कोटि स्वरूप॥४॥
पतिव्रता तब जानिये, रती न खंडे नैन।
अंतर तो सूची रहै, बोलै मीठा बैन॥५॥
पतिव्रता पतिको भजै, पति भजि धरै विश्वास।
आन दिशा चितवै नही, सदा पीवकी आस॥६॥
पतिव्रता पतिकों भजै, और न अन्य सुहाय।
सिह बचा जो लंघना, तौ भी घास न खाय॥७॥
पतिव्रता ऐसे रहै, जैसे चोली पान।
जब सुख देखे पीवका, चित्त न आवे आन॥८॥
पतिव्रता व्यभिचारिणी, एक मंदिरमे बास।
वह रंग राती पीवकै, वह घर घर फिरै उदास॥९॥
हरि न रटा तौ क्या हुआ, जो अन्तर है हेत।
पतिव्रता पतिको भजै, मुखहिं नाम नहिं लेत॥१०॥
सुरति समानी नाममे, नाम किया परकास।
पतिव्रता पतिको मिली, पलक न छांडै पास॥११॥
सांई मेरा सुलछना, मैं पतिव्रता नार।
देहु दीदार दया करौ, अपने निज भरतार॥१२॥
प्रीति रीति तुझ सो मेरे, बहुगुनियाला कन्त।
जो हँसि बोलूँ ओर सूँ तो नील रंगाऊँ दंत॥१३॥
मोचित पलहु न बीसरूं, तुम परदेशहि जाय।
यह अंग और न मेलसी, जदितदि तुम मिलि आय॥१४॥
सांई मेरा एक तू, और न दूजा कोय।
दुजा सांई जो करूं, जो कलि दूजा होय॥१५॥
बार बार क्या आखिये, मेरे मनकी सोय।
कलि तो ऊखल होयगी, सांई और न होय॥१६॥
एकै साधे सब सधै, सब साधै यक जाय।
जौ तू सीचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥१७॥
सब आये इस एक मे, डार पात फल फूल।
कबिरा पीछै क्या रहा, गहि पकरा निजमूल॥१८॥

एक रामको जानिकै, दूजा देइ बहाय।
तीरथ व्रत जप तप नही, आतम तत्त्व समाय॥ १९॥
मै अबला पिव पिव करूं, निगुर्ण मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिन, और न देखू जीव॥ २०॥
घर परमेश्वर पाहुना, सुनो सनेही दास।
षट्रस भोजन भक्ति करि, कबहुँ, छाडे पास॥ २१॥
भौरे भूली खसमके, कबहुँ न किया विचार।
सतगुरु साहिब बताइया, पूरबला भरतार॥ २२॥
कबिरा भैरे बैठिकै, सबसे कहूँ पुकारि।
धरा धरै सो घर कुटी, अधर धरै सो नारि॥ २३॥
धरिया कूं धीजूं नही, गहूं अधर की बाहिं।
धरिया अधर पहिचानियां, तौ कछु धरावहि नाहि॥ २४॥
कबिरा सीप समुद्रकी, रटै पियास पियास।
सकल बूँदको ना गिनै, स्वाति बूंदकी आस॥ २५॥
कबिरा सीप समुद्र की खारा जल नहि लेय।
पानी पीवै स्वातिका, शोभा सागर देय॥ २६॥
ऊंची जाति पपीहरा, नवै न नीचा नीर।
कै जांचै सुरपतिहिको, कै दुख सहै शरीर॥ २७॥
परा पपिहरा सुरसरी, लगा बधिकका बान।
मुख मूंदै श्रुति गगनमे, योहि निकसि गये प्रान॥ २८॥
पपिहाका प्रण देखता, धीरज रहै न रंच।
मरती बेर जलमे परा, तऊ न बोरै चंच॥ २९॥
पपिहा प्रण कबहूं न तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटै तो कछु नही, प्रण छूटै तो लाज॥ ३०॥
चातक सुतहि पढ़ावई, आन नीर मति लेय।
मम कुल येहि स्वभाव है, स्वाति बूँद चित्त देय॥ ३१॥
चातक चित्तहि चुबिगया, सुत सपूतकी बात।
आन नीर परसै नही, सुनौ तात यह बात॥ ३२॥
सुखके माथै सिल परौ, हरि हिरदा सो जाय।
बलिहारी वा दुःखकी, पल पल राम कहाय॥ ३३॥
मै सेवक समरत्थका, कबहुँ न होय अकाज।
पतिबरता नंगी रहै, वाही पतिकी लाज॥ ३४॥
मै सेवक समरत्थका, कोई पूरिबले भाग।
सूती जागी सुन्दरी, साँई दिया सुहाग॥ ३५॥
पतिव्रता कही एक तू, और न दूजा कोय।
अष्ट पहर निरखत रहै, सोही सुहागिनि होय॥ ३६॥

(८४) अथ व्यभिचारिणीको अंग

कबिरा कलियुग आयकै, कीया बहुत ज मीत।

जिन दिल बाँधा एक से, ते सुख सोवे निषित ॥ १ ॥
गुरु मरजाद न भक्तिपन, नहि पियका अधिकार।
कहै कबीर व्यभिचारिणी, आठ पहर भरतार ॥ २ ॥
व्यभिचारिणि व्यभिचारिमे, आठ पहर हुशियार।
कहै कबीर पतिव्रत बिन, क्यों रीझे करतार ॥ ३ ॥
व्यभिचारिणिके बस नही, अपनो तनमन सोय।
कहैं कबीर पतिव्रत बिन, नारी गई बिगोय ॥ ४ ॥
नारि कहावे पीवकी, रहै और संग सोय।
जार सदा मनमे बसै, खसम खुशी क्यो होय ॥ ५ ॥
सेज बिछावे सुन्दरी, अन्तर परदा होय।
तन सौंपे मन दै नहीं, सदा सुहागनि सोय ॥ ६ ॥
कबिरा मन दीया नही, तन करि डारया जेर।
अन्तर्यामी लखि गया, बात कहनका फेर ॥ ७ ॥
राम राम रटिबौ करै, निस दिन साधन संग।
कहा धो कौन कुफेरते, नैना लागा रंग ॥ ८ ॥
मन दीया कहि औरही, तन साधन के संग।
कहै कबीर कोरी गजी, कैसे लागै रंग ॥ ९ ॥
कबिरा पंथ निहारता, आन परी है सांझ।
जन जनको मन राखता, वेश्या रह गई बांझ ॥ १० ॥

(८५) अथ आनदेवको अंग

सौ बरसां भक्ति करै, एक दिन पूजै आनि।
सौ अपराधी आत्मा, परै चौरासी खानि ॥ १ ॥
राम नामको छांडिके, करै आन को जाप।
ताके मुहडे दीजिये, नौसादरको बाप ॥ २ ॥
राम नाम को छाँड़िकै, करै अन्यकी आस।
कहै कबीर ता दासका, होय नरकमे बास ॥ ३ ॥
राम नाम को छांडिकै, राखै करवा चौथि।
सोतो होयगी सूकरी, तिन्है राम सो कौथि ॥ ४ ॥
राम नामको छाँडिके, राति जगावन जाय।
साँपिनि है कर औतरे, अपना जाया खाय ॥ ५ ॥
आन भजे सो आँधरा, राम भजे सो साध।
तत्त्व भजै सो वैष्णव, तिन का मता अगाध ॥ ६ ॥
राति जगावे राँडिया, गावै विषियां गीत।
मारै लौदा लापसी, राम न आवे चीत ॥ ७ ॥
करै सुहाली लापसी लाय आनकी जात।
ज्वारा हँसै मलकता आया मेरी घात ॥ ८ ॥
कामी तरै क्रोधी तरै लोभी तरै अनंत।
आन उपासी कृतघ्नी, तिरै न राम कहंत ॥ ९ ॥

काज कनागत कारटा, आन देव को खाय।
कहै कबीर समुझै नही, बांधा यम्पुर जाय॥ १०॥
देवी देव मानै सबै, अलख न मानै कोय।
जा अलखेका सब किया, तासो बेमुख होय॥ ११॥
देवी देव ठाढे भए, हमको ठौर बताय।
जो मुझ सो बेमूख है, तिन कों लूटो खाय॥ १२॥
पन छूटै छूटा फिरै ते नर भूत खवीस।
भूतनै पीडा राखका पडा पटक्के सीस॥ १३॥
मांइ मसानी सेढि सीतला, भैरु भूत हनुमंत।
साहिब से न्यारा रहै, जो इनको पूजंत॥ १४॥

(८६) अथ चितावनीको अंग

ऊजड़ खेड़े टेकरी, घड़ि घटि गये कुम्हार।
रावण जैसा चलिगया, लंकाको सरदार॥ १॥
ऊँचा दीसै धोलहरा, मांडी चीती पौलि।
एकै हरिके नाम बिन, जम पारैगे रोलि॥ २॥
ऊँचा मंदिर मैरियां, चूना कली ढुलाय।
एकै हरिके नाम बिन, जदि तदि परलै जाय॥ ३॥
ऊँचा महल चिनाइया, सुबरन कली झुलाय।
ते मंदिर खाली परै, रहै मसाना जाय॥ ४॥
कबिरा देवल हाड़का, माटी तना बंधान।
खरहर ता पाया नही, देवलका सहिदान॥ ५॥
कहा चुनावे मेड़िया, चूना माटी लाय।
मीच चुनैगी पापिनी, दौरा कलैगी आय॥ ६॥
कहा चुनावे मेडिया लंबी भीत उसारि।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तो पवने चारि॥ ७॥
पाकी खेती देखिके, गरवे कहा किसान।
अजहूँ झोला बहुत है, घर आवे तब जान॥ ८॥
पांच पहर धंधे गया, तीन पहर रहा सोय।
एक पहर हरि ना जप्यो, मुक्त कहां ते होय॥ ९॥
धूम धाम मे दिन गया, सोचत होगई सांझ।
एक घरी हरि ना भजा, जननी जनि भई बांझ॥ १०॥
रति गवांई सोय के, द्योस गवांया खाय।
हीरा जनम अमोल है, कौड़ी बदले जाय॥ ११॥
कबिरा सुपनै रैनके, भरा जीवमें छेक।
जैसे हूतो द्वै जनां, जो जागूं तो एक॥ १२॥
आज कालकी पांच दिन, जंगल होयगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरैगे घास॥ १३॥
मरोगे मरिजावोगे, कोई न लेगा नाम।

उजडजाय बसाओगे, छाड़ि बसंती गाम॥१४॥
मौत बिसारी बावरी, अचरज किया कौन।
तन माटीमे मिल गया, ज्यो आटामे लैन॥१५॥
जनम मरन विचारिके, कोरे काम निवारि।
जिन पंथा तोहि चालना, सोई पंथ संभारि॥१६॥
कबिरा खेत किसानका, मिरगन खाया झार।
खेत विचारा क्या करै, घनी करै नहि वार॥१७॥
बिन रखवारे बाहरी, चिड़िया खाया खेत।
आधा परधा ऊबरै, चेत सकै तो चेत॥१८॥
कबिरा जो दिन आज है, सो दिन नाही काल।
चेत सकै तो चेतियो, मीच परी है ख्याल॥१९॥
कबिरा यह चितामनी, जनि संसारी जाय।
जो पहली सुख भोगिया, तिनका गुड़लै खाय॥२०॥
राम नाम जाना नही, ता मुख आन धरम।
के मूसा के कातरा, खाता गया जनम॥२१॥
राम नाम जाना नही, हुआ बहुत अकाज।
बूड़ोगे रे बापुरो, बड़े बड़ोकी लाज॥२२॥
राम नाम जाना नही, मेला मना बिसार।
ते नर हाली बालदी, सदा पराये बार॥२३॥
माटी कहै कुम्हार को, क्या तू रुंदे मोहि।
एक दिन ऐसा होयगा, मै रुंधूँगी तोहि॥२४॥
कबिरा अन हूआ हुआ, बहु रीता है संसार।
परा भुलाया गाफला, गया कुबुद्धी हार॥२५॥
कबिरा वा दिन, यादकर, पग ऊपरि तल सीस।
मृतु मंडलमे आयके, बिसरि गया जगदीस॥२६॥
कबिरा हरिके नाम बिन, राजा रासभ होय।
मांटी लदे कुंभारकै, घास न नीरै कोय॥२७॥
कबिरा हरिके नाम बिन, नारी कूकरि होय।
गली गली भूँकति फिरै, टूक न डारै कोय॥२८॥
जग जहदामे राचिया, झूटे कुल की लाज।
तन छीजै कुल बिनशिहै, रटै न राम जिहाज॥२९॥
कबिरा पानी हौजका, देखत गया बिलाय।
ऐसे जिवरा जायगा, दिन दस ढोली लाय॥३०॥
यह तन काचा कुंभ है, मांहि किया रहवास।
कबिरा नैन निहारिया, नही पलककी आस॥३१॥
कबिरा यह तन जात है, सके तौ ठौर लगाय।
कै सेवा कर साधुकी, कै गोविन्द गुण गाय॥३२॥
कबिरा यह तन बन भया, कर्म जो भया कुहारि।
आप आपको काटि है, कहै कबीर बिचारि॥३३॥
दुनियाँ के मै कुछ नही, मेरे दुनियाँ कात।

जात ॥ ३४ ॥
साहब दर देखे खड़ा, दुनियाँ दोजख
दुनियाँ सेती दोसती, होय भजनमे भंग।
एकाएकी राम सू, के साधन के संग ॥ ३५ ॥
दुनियाँके धोखे मुआ, चला कुटुम्बकी कानि।
तब कुलका क्या लाज है, जब ले धरा मसानि ॥ ३८ ॥
कुल करनी के कारने, हंसा गया बिगोय।
तब कुल काको लाज है, चारि पांवको होय ॥ ३९ ॥
कुल करनी के कारने, ढिगहि रहि गया राम।
तब कुल काको लाजि है, जब यम की धूमाधाम ॥ ४० ॥
कहत सुनत जग जात है, विषय न सूझै काल।
कहै कबीर सुन प्रानिया, बानी ब्रह्म सम्हाल ॥ ४१ ॥
कबिरा केवल राम की, तू मति छाड़ै ओट।
घन अहरनबिच लोह ज्यो, घनी सहै शिरचोट ॥ ४२ ॥
कबिरा केवल राम कह, शुद्ध गरीबी लाज।
कूर बड़ाई बूड़सी भारी परसी काज ॥ ४३ ॥
मलमल खासा पहरते, खाते नागर पान।
टेढ़ा होकर चालते, करते बहुत गुमान ॥ ४४ ॥
महलन मांही पौढते, परिमल अंग लगाय।
ते सुपने दीसै नही, देखत गये विलाय ॥ ४५ ॥
महलन मांही पौढते, परिमल अंग लगाय।
छत्र पती की छारमे, गदहा लोटे जाय ॥ ४६ ॥
जंगल ढेरी राखकी, उपरि उपरि हरियाय।
ते भी होते मानवी, करते रंग रलियाय ॥ ४७ ॥
मेरा संगी कोई नही, सबै स्वारथी लोय।
मन परतीति न ऊपजै, जीव विश्वास न होय ॥ ४८ ॥
थली जो जरता मिरगला, बेधा एकज सौन।
हम तो पंथी पंथ सिर, हरा चरेगा कौन ॥ ४९ ॥
जिसको रहना उत घर, सो क्यो तोडै मित्त।
जैसे पर घर पाहुना, रहै उठाये चित्त ॥ ५० ॥
ज्यो कोरी रेजा बुनै, नीरा आवै छोर।
ऐसा लेखा मीचका, दौरि सकै तौ दौर ॥ ५१ ॥
कोठे ऊपर दौरना, सुख नीदरी न सोय।
पुण्ये पाया है देहरा, ओछी ठौर न खोय ॥ ५२ ॥
मोर तोर की जेवरी, बल बंधा संसार।
कायस कूटै वस्तु खल, दाझिन बारंबार ॥ ५३ ॥
मोर तोर की जेवरी, गल बंधा संसार।
दास कबीरा क्यो बँधे, जाके राम अधार ॥ ५४ ॥
नान्हा करि तू चित्त दे, ज्यो महँगे मोल विकाय।
गाहक राजा राम है, और न नीरा जाय ॥ ५५ ॥
कबिरा नावन झांझरी, भरी विराने भार।

खेवट सो परिचय नही, क्यो कर उतरै पार॥ ५६॥
लेखा देना सोहरा, जो दिल सांचा होय।
सांईके दरबारमे, पला न पकरै कोय॥ ५७॥
कबिरा रसरी पांवमे, कहँ सोवै सुख चैन।
स्वास नकारा कूंचका, बाजत है दिन रैन॥ ५८॥
तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय।
को काहू, को है नही, सब देखा ठोकि बजाय॥ ५९॥
राम कहेते खिज मरै, कुष्ट होय गलि जाय।
शूकर है करि अवतरै, नाक बूंडता खाय॥ ६०॥
पुर पट्टन काया पुरी, पांच चोर दश द्वार।
यम राजा गढ भेलसी, सुमिरि लेहु करतार॥ ६१॥
पीपर रूना फूल बिन, फल बन रूनी राय।
एकाएकी मानुषा, टप्पा दीया आय॥ ६२॥
राज द्वारा बंधिया, मूंडी धुनै गयंद।
मनुष्य जन्म कब पयाहूं कब भजि हो गोविन्द॥ ६३॥
आये है ते जायंगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढि चले, इक बांधे जात जंजीर॥ ६४॥
या मन गहि जो थिर रहे, गहरी थूंनी गाड़ि।
चलती बिरिया उठि चला, हस्ती घोड़ा छांडि॥ ६५॥
तू मति जानै बावरे, मेरा है सब कोय।
पिंड प्रान सौ बँधि रहा, सो अपना नहि होय॥ ६६॥
ऐसा संगी कौन है जैसा जिवरा देह।
चलती बिरियां रे नरा डारि चला करि खेह॥ ६७॥
धरती तो रोटी भई, कागा लिया जाय।
पूछौ अपने गुरुको, कहाँ बैठिके खाय॥ ६८॥
धीरज तो रोटी भई, कुबुधि काग लैजाय।
कहै कबीरा बैठिके, बाद वृक्ष पर खाय॥ ६९॥
शेष नागके सहस्र फन, फन फन जिह्वा दोय।
नरके एकै जीभहै, ताही मे रह सोय॥ ७०॥

(८७) अथ मनको अंग

मनके मते न चालिये, मनका मता अनेक।
जो मनपर असवार है, ते साधू कोइ एक॥ १॥
खैचूं तौ आवै नही, जो छांडूँ तो जाय।
कबीर मनको पूछरे, मान टटीवा खाय॥ २॥
चिंता चित्त बिसारिये, फिरि बूझियन आन।
इंद्री पसारा मेटिये, सहज मिलै भगवान॥ ३॥
चंचल मनुवा चेत रे, सोवै कहा अजान।
यम घर जब लेजायगा, पड़ा रहेगा ग्यान॥ ४॥

मन को मारूँ पटकि करि, टूक टूक होजाय।
टूटे पाछे फिर जुरै, बीच गाँठि परि जाय॥ ५॥

साखी

मन तो यह मिरगा भया, खेत बिराना खाय।
सूला करि करि सेकसी, धनी पहुँचे आय॥ ६॥
मन तो मैगल भया, यामे बहुत बिकार।
या मन कैसे धोइये, संतो करो, विचार॥ ७॥
गुरु धोबी शिष्य कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरति शिला पर धोइये, निकसै रंग अपार॥ ८॥
तन माही जो मन धरै, मन धरि उज्जवल होय।
साहब सो सन्मुख रहे, तो अमरापुर जोय॥ ९॥
पै पानी की प्रीतिरी, परा जो कपटी लौन।
खंड खंड करि रमिगया, ताहि मिलावै कौन॥ १०॥
मन मोटा मन दूबला, मन पानी मनलाय।
मनको जैसीही ऊपजे, तैसी ही है जाय॥ ११॥
मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक।
जो यह मन हरि सो मिलै, तो हरि भी मिलै निशंक॥ १२॥
कबहुँक मन गगनहि चढै, कबहूँ गिरै पताल।
कबहुँक मन उनमन लगै, कबहुँ जावै चाल॥ १३॥
मनके बहुते रंग है, छिन छिन मध्ये होय।
एके रंगे जो रहे, ऐसा बिरला कोय॥ १४॥
कोटि करम करे पलकमे, या मन विषिया स्वाद।
सतगुरु शब्द मानै नही जनम गवाँवे बाद॥ १५॥
या मन फटकि पिछौरि लो, सब आपा मिटि जाय।
पिगला होय पिय पिय करै, ताको काल न खाय॥ १६॥
मन पाँचोके बसि परा, मनके बसि नहि पाँच।
जित देखो तित दौ लगी, जिन भागो तित आँच॥ १७॥
निश्चित होय के हरि भजै, मनमे राखे साँच।
इन पांचन को बशि करै, ताहि न आवे आँच॥ १८॥
पांचो बैरी जीवके, दलै इनै इक चित्त।
एक देखै एक ध्यावही, औगुन बहुत अमित्त॥ १९॥
पांच सहाई जीवके, जो सतगुरु मेरा होय।
कोइ ध्यान धरे सुमिरन करै, काजन बिगरे कोय॥ २०॥
इन पाँचन सो बंधि करी, फिरि फिरि धरै शरीर।
जो यह पांचौ बसि करै, सोही लागै तीर॥ २१॥
कबिरा बैरी सबल है, एक जीव रिपु पांच।
अपने अपने स्वादको, बहुत नचावै नाच॥ २२॥
इन्द्री पोषत चाहसो, मनमे शंका नाहि।

भाव भक्तिको यो कहे, निहकरमा के मांहि ॥२३॥
मन पछी जब लग उड़े, विषय वासना माहि।
ज्ञान बाजकी झपट मे, तब लग आया नाहि ॥२४॥
मनकी घाली हूँ गई, मनकी घाली जांव।
संग जो परी कुसंगके, हाटे हाट बिकांव ॥२५॥
काया कजरीवन अहै, मन कुंजर महंमंत।
अंकुश ज्ञान रतन है, फेरे साधू संत ॥२६॥
कबिरा मनहि गयंद है, आंकुस दै दै राखि।
विष की वेली पर हरो, अमृत के फल चाखि ॥२७॥
मन कुंजर महमंत था, फिरता गहर गंभीर।
दोहरी तेहरी चौहरी, परिगई प्रेम जंजीर ॥२८॥
कबिरा मन मरकट भया, कहूँ न नेक ठहराय।
राम नाम बांधे बिना, जित भावे तित जाय ॥२९॥
कबिरा मन तो एक है, भाव तहां लगाय।
भावै हरिकी भक्ति कर, भावै विषै कमाय ॥३०॥
मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।
कहै कबीर हरि पाइये, मनहीकी परतीत ॥३१॥
कबिरा मन मेवासी भया, बसि करि सकै न कोय।
सनकादिक ऋषि सारिखे, तिनके गया बिगोय ॥३२॥
मनके मारे बन गये, बन तजि बस्ती मांहि।
कहै कबीर क्या कीजिये, या मन ठहरे नाहि ॥३३॥
मन गया तो जानदे, दृढ़ करि राख शरीर।
बिनु जो चढे कमानके, कैसे लागै तीर ॥३४॥
विना सीसका मृग है, चहुँ दिशि चरने जाय।
बांधि लाओ गुरु ज्ञानसूं, राखो तत्त्व लगाय ॥३५॥
तीन लोक चोरी भई, सबका धन हरि लीन्ह।
विना सीसका चोरवा, परा न काहू चीन्ह ॥३६॥
चोरवा भल हम चीन्हिया, चोरवा हमे न चीन्ह।
कहै कबीर विचारिके, हमही दीक्षा दीन्ह ॥३७॥
चोर भरोसे साहुके, लाया वस्तु चोराय।
पहिले बांधो साहुको, चोर आप बँधि जाय ॥३८॥
चोर भरोसे साहुके, वस्तु पराई लेय।

जब लग साह न बाँधिये, चोर वस्तु नहि देय ॥३९॥
अपने अपने चोरको, सब कोइ डारै मार।
मेरा चोर मुझको मिलै, सर्वस डारूं वार ॥४०॥
जो यह मन चलै तो, फिरि फिरि नाम लगाय।
तन मन दोऊ हाथ करि, ताको कछू न जाय ॥४१॥
मन चलता तन भी चलै, ताते मनको घेरि।
तन मन दोऊ बसि करै, होय राई सुंमेरि ॥४२॥
तन तुरंग असवार मन, कर्म पयादा साथि।
तृष्णा चली शिकारको, विषै बाज लिए हाथि ॥४३॥
कबीरा यह मन लालची, समझे नही गँवार।
राम भजन का आलसी, खाबे को हुशियार ॥४४॥
कबिरा यह मन मसखरा, कहूँ तो माने रोस।
जा मारग साहब मिलै, तहाँ न चालै कोस ॥४५॥
कबिरा मनका मांहिला, अबला बहै असोस।
देखतही दहमें परै, देय कसीको दोस ॥४६॥
मन निर्मल हरि नामसूं, कै साधनकै भाय।
कोइला दूनी कालमां, सौ मन साबुन लाय ॥४७॥
कहत सुनत सब दिन गये, उरझि न सुरझा मन।
कहै कबीर चेता नहीं, अजहूँ पहला दिन ॥४८॥
यह मन साधू लै मिलो, नहि तो लेगा जान।
मन मुन्सिफ को पूछि लै, नीकी होय तो मान ॥४९॥
यह मन नीचा मूल है, नीचा करम सुहाय।
अमृत छांडे, मान करि, विषहि प्रीति करि खाय ॥५०॥
मन नाही छांड़े विषय, विषय न मन को छाँड़ि।
इनका यही स्वभाव है, पूरी लागी आड़ि ॥५१॥
पण्डित मूल विनासिया, कह क्यो बिगरह कीज।
ज्यो जल मे प्रतिबिम्ब है, त्यो सकल राम जानीज ॥५२॥
हो मन सोनो सो विषय, सो त्रिभुवनपति कहु कस।
कहै कबीर बैदानरा ज्यो, जल पूरा सकल रस ॥५३॥
मन मुरीद संसार है, गुरु मुरीद सोइ साध।
जो मानै गुरु वचनको, ताका मता अगाध ॥५४॥
सो सो सोग। हूँ तकों, जो जो मूंदी आव।
नख सिख पाखरि मनहिके, करूं कहाँ जो घाव ॥५५॥
अकथ कथा या मनहिकी, कहै कबीर समुझाय।
जाको या समझा परै, ताको काल न खाय ॥५६॥
जेती लहरी समुद्रकी, तेती मन की दौरि।
सहजे हीरा ऊपजे, जो मन आवै ठौरि ॥५७॥
समुद्र लहरि जो थोरिया, मन लहरे घनियाय।
केती आय समाय है, केती जाय बिसराय ॥५८॥
कबिरा लहरि समुद्रकी, केती आवै जाहि।

बलिहारी वा दास की, उलटि समावै माँहि ॥५९॥
दौरत दौरत दौरिया, जहाँ लगि मनकी दौर।
दौर थकी मन थिर भया, बसा ठौर की ठौर ॥६०॥
या तनमे मन कहँ बसे, निकसि जाय केहि ठौर।
गुरु गम हो तो पेखिले, नहि तो गुरु कर और ॥६१॥
नैना माही मन बसै, निकसि जाय तब ठौर।
गुरु गम भेद बताइया, सब संतान शिर मौर ॥६२॥
दूध काढ़ि घृत कहा गयो, कासा फूटा नाद।
तन छूटै मन कहाँ गया, जानै बिरला साध ॥६३॥
दूध फाटि घृत दूधे मिला, नाद जो मिला अकास।
तन छूटै मन तहां गया, जहां धरी मन आस ॥६४॥
कबिरा यह गति अटपटी, चटपट लखी न जाय।
जो मनकी खटपट मिटै, अघट भये ठहराय ॥६५॥
अघट भया खटपट मिटै, रहै निरंतर होय।
कहै कबीर तब जानिये, अंतर पट नहि दोय ॥६६॥

(८८) अथ अमनको अंग

पहले यह मन काग था, जीवन करता घात।
अब यह मन हंसा भया, मोती चुगि चुगि खात॥ १ ॥
यह मन तो पर्वत हता, अब मै पाया जानि।
टांकी लागी शब्दकी, निकसी कंचन खानि॥ २ ॥
भँवरा बारी परहरी, मेवा विलम्बा जाय।
वा वन चन्दन घर किया, भूलि गया वनराय॥ ३ ॥
मेरा मन मकरंद था, करता बहुत बिगार।
सूधा होय मारग चला, हरि आगै हम लार॥ ४ ॥
पुहुप बासते पातला, सूक्ष्म जाको रंग।
कबिरा तासो मिलि रहा, कबहूँन छाडै संग॥ ५ ॥
मन सो मन मिलता नही, होता तनका भंग।
अब मन भया जो कामरी, चढै न दूजा रंग॥ ६ ॥

(८९) अथ पवनको अंग

कौन पवन घर संचरै, कहाँ किया परकास।
नाद बिंद जब ना हता, तब कहाँ किया निवास॥ १ ॥
हुसल पवन घर संचरै, पंचम किया प्रकास।
नाद बिंद जब ना हता, तत्त्वहि किया निवास॥ २ ॥
सकल पसारा पवनका, सात द्वीप नव खण्ड।
कहा नाम उस पवनका, जो गरजे ब्रह्मंड॥ ३ ॥
सकल पसारा पवनका, सात द्वीप नव खण्ड।
सोहं नाम उस पवनका, जो गरजे ब्रह्मण्ड॥ ४ ॥

कौन पवन धरती बसे, कौन पवन अकाश।
कौन पवन मध्ये बसे, कौन पवन परकाश॥ ५॥
धीर पवन धरती बसे, अकह पवन आकाश।
मधुर पवन मध्ये बसे, अग्र पवन परकाश॥ ६॥
कौन पवन लै आवही, कौन पवन लै जाय।
कौन पवन भरमत फिरै, सो मोहि देहु बताय॥ ७॥
सहज पवन लै आवही, सुरति पवन लै जाय।
जीव पवन भरमत फिरै, सतगुरु कहै समुझाय॥ ८॥
तनका मंजन नीर है, नीरहि मंजन पौन।
कहै कबीर सुन पण्डिता, पवन का मंजन कौन॥ ९॥
तनका इंद्री मैल है, मन पवना- लै धोय।
ज्ञान गुरूते पाइये, पवनका मंजन सोय॥ १०॥

(९०) अथ सूक्ष्म मारगको अंग

अब हम चले अमरापुरी, टारे टूरे टाट।
आवन होय सो आइयो, सूली ऊपर बाट॥ १॥
सूली ऊपर घर करे, विषका करे अहार।
तिनका काल कहा करै, जो आठ पहर हुशियार॥ २॥
गागर ऊपर गागरी, चोली ऊपर हार।
सूली ऊपर साथरा, जहाँ बुलावै यार॥ ३॥
यार बुलावै भावसो, मोपै गया न जाय।
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कों पाय॥ ४॥
जिस कारण मै जाय था, सो तो मिलिया आय।
सांई ते सनमुख भया, लागि कबीरा पाय॥ ५॥
जो आवे तो जाय नहि, जाय तो कहाँ समाय।
अकथ कहानी प्रेमकी, बूझे ही बूझी जाय॥ ६॥
नाव न जानै गाँवका, बिन जाने कित जाँव।
चलता चलता युग भया, पाव कोसपर गाँव॥ ७॥
सतगुरु दीन दयाल है, दया करी मोहि आय।
कोटि जनम का पंथ था, पलमे पहुँचा जाय॥ ८॥
अगम पंथ मन स्थिर रहै, बुद्धि करै प्रवेश।
तन मन धन सब छाँडिकै, तब पहुँचे वा देश॥ ९॥
अगम हता सो सुगम किया, तस गुरु दिया बताय।
कोटि कल्पका पंथ था, पलमें पहुँचा जाय॥ १०॥
उतते सतगुरु आइया, जाकी बुद्धि है धीर।
भवसागर के जीवको [illegible] लगावै तीर॥ ११॥
चलूँ चलूँ सब [illegible] पहुँचे बिरला कोय।
एक कनक अरु [illegible]भ घाटी दोय॥ १२॥
जहाँ कालकी गम [illegible] न सुनिये कोय।

कहै कमाली विप्रसो, तहाँ होय तो होय॥ १३ ॥
जहाँ न चीटी चढि सकै, राई ना ठहराय।
मनुवा तहँ लै राखिया, तेही पहुँचे जाय॥ १४ ॥
सुर नर थाके मुनिजना, थाके विष्णु महेश।
तहां कबीरा चढ़ि गया, सतगुरुके उपदेश॥ १५ ॥
कबिरा हरि हथियार कर, कूरा गली निवारि।
जो जो पंथा चालना, सो सो पंथ सँभारि॥ १६ ॥
बह मारग कितको गया, मारग पहुँचे साद।
मै तो दोऊ गहि रहा, लोभ बड़ाई बाद॥ १७ ॥
अगमहुते अगम है, अपरम पार अपार।
तहँ मन धीरज क्यो धरै, पंथ खरा निरधार॥ १८ ॥
बिन पावनकी राह है, बिन बस्ती का देश।
बिना पिण्डका पुरुष है, कहै कबीर संदेश॥ १९ ॥
घाटहि पानी सब भरै, औघट भरै न कोय।
औघट घाट कबीरका, भरे सो निर्मल होय॥ २० ॥
जहाँ चतुरकी गम नही, तहां मूरख किमि जाय।
वाह विधाता नाथ है, काग कपूरहि खाय॥ २१ ॥
चलतां चलतां पग थकै, निपट करारी कोस।
बिना दयाल झलका परै, काको दीजै दोस॥ २२ ॥
बाट बिचारी क्या करै, पंथि न चलै सुधारि।
राह आपनी छांडिकै, चलै उजारि उजारि॥ २३ ॥
कहाँते तुम जो आइया, कौन तुम्हारा ठाम।
कौन तुम्हारी जाति है, कौन पुरुषको नाम॥ २४ ॥
अमर लोकते आइया, सुखके सागर ठाँम।
जाति हमारी अजाति है, अमर पुरुषको नाम॥ २५ ॥
कौन तुम्हारी जाति है, कौन तुम्हारी नाम।
कौन तुम्हारा इष्ट है, कौन तुम्हारा गाँव॥ २६ ॥
जाति हमारी आतमा, प्रान हमारा नाम।
अलख हमारा इष्ट है, गगन हमारा ग्राम॥ २७ ॥
कहाँते जीवहि आइया, कहवाँ जाय समाय।
कौन डोरि धरि संचरै, मोहि कहो समुझाय॥ २८ ॥
सरगुनते जीव आइया, निर्गुन जाय समाय।
सुरति डोरि धरि संचरै, सतगुरु कहै समुझाय॥ २९ ॥
कौन सुरति ले आवई, कौन सुरति ले जाय।
कौन सुरति है अस्थिरै, सो गुरु देहु बताय॥ ३० ॥
वास सुरति धरि आवई, शब्द सुरति धरि जाय।
परिचय सुरति है अस्थिरे, सो गुरु दई बताय॥ ३१ ॥
ना वहाँ आवागमन था, नहि धरती अकास।
कबिरा जन कहवाँ हते, तब था कोइ न पास॥ ३२ ॥
नाही आवा गमन था, नहि धरती आकास।

हतो कबीरा राम जन, साहब पास खवास ॥ ३३ ॥
पहुँचेंगे तब कहेंगे, वही देश की सीच।
अबहि कहाँ तिगाड़िये, बेड़ी पायन बीच ॥ ३४ ॥

(९१) अथ सूक्ष्म जनमको अंग

सूक्ष्म सुरतिका मरम है, जीव न जानत जाल।
कहै कबीरा दूरि करि, आतम आदिही काल ॥ १ ॥
अंतःकरण मन मही, मनही मनोरथ माँहि।
उपजत उपजत जानिये, बिनशत जानै नाँहि ॥ २ ॥
प्राण पिंडको तजि चलै, मूवा कहै सब कोय।
जीव छतौ जामे मरै, सूक्षम लखै न सोय ॥ ३ ॥
मरिये तो मरि जाइये, छूटि परै जंजार।
ऐसा मरना को मरै, दिनमे सौ सौ बार ॥ ४ ॥

(९२) अथ आशाको अंग

आशा एक जो रामकी, दूजी आश निवारि।
दूजी आशा मारसी, ज्यो चौपरकी सार ॥ १ ॥
आशा आश जग फंदियो, रहै उरध लपटाय।
राम आश पूरन करै, सकल आस मिटि जाय ॥ २ ॥
आशा एकहि रामकी, युग युग पुरवै आस।
ज्यो पंडल कोरो रहै, बसै जो चंदन पास ॥ ३ ॥
आसा बेली कर्म बन, गरजे मनके साथ।
तिसना फूल चमकना, फल करताके हाथ ॥ ४ ॥
आसा तृष्णाही नदी, तहाँ न मन ठहराय।
इन दोनोको लंघि करि, घौड़े बैठे जाय ॥ ५ ॥
घौड़े बैठे जायके, नाँव धरा रनजीति।
साहब न्यारा देखियां, अंतर्गतिकी प्रीति ॥ ६ ॥
आसा तर्क सवादियां नैनै गये सुजान।
घने पखेरू मरिया, जाजरी जोरि कमान ॥ ७ ॥
कबिरा जोगी जगत गुरु, तजै जगतकी आस।
देखा चाहै जगतकौ, जगत गुरु को दास ॥ ८ ॥
योगी होय जग जीतता, बहिरत है संसार।
एक अंदेशा रहि गया, पीछै परा अहार ॥ ९ ॥
बहुत पसारा जनि करै, कर थोरेकी आस।
बहुत पसारा जिन किया, तेई गये निरास ॥ १० ॥
जो तू चाहै मुझहिको, मन कछू राखै आस।
मुझहि सरीखा है रहो, सब कुछ तेरे पास ॥ ११ ॥
करी बांहुबल आपनी, छाँडि बिरानी आस।
जाके आँगन नदी बहै, सो क्यो मरै पियास ॥ १२ ॥
आसन मारे कहा भयो, मरी न मनकी आस।

तेली केरे बैल ज्यो, घरही कोस पचास॥ १३॥

(९३) अथ मायाको अंग

कबिरा माया पापिनी, माँगी, मिलै न हाथ।
मना उतारी झूंठ करि, तब लगि डोले साथ॥ १॥
माया छाया एकसी, बिरला जाने कोय।
भगताके पाछे फिरै, सनमुख आगे होय॥ २॥
कबिरा माया बेसवा, दोनूं की एक जात।
आवत कौ आदर करै, जात न बूझे बात॥३॥
माया मनकी मोहिनी, सुर नर रहे लुभाय।
इन माया सब खाइया, माया कोइ न खाय॥ ४॥
माया तो ठगनी भई, ठगती फिरे सब देश।
जा ठगने माया ठगी, ता ठग को आदेश॥ ५॥
मीठा सब कोइ खात है, विष होय लागे धाय।
नीव न कोई गटकई, सबै रोग मिटि जाँय॥ ६॥
जलमें अनजो ना धुरै, घृतमे पाक न होय।
कहै कबीर या साखिको, अर्थ करे सब कोय॥ ७॥
माया कालकी खानि है, धरै त्रिगुन विपरीत।
जहाँ जाय तहाँ सुख नहीं, या मायाकी रीति॥ ८॥
तीन गुननको बादली, ज्यो तरुवर की छाँह।
बाहर रहे सो ऊबरे, भीजै मन्दिर माँहि॥ ९॥
मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगंबर ओलिया, झीनी सबको खाय॥ १०॥
शंकरहूते सबल है, माया या संसार।
अपने बल छूटै नही, छुड़ावे सिरजन हार॥ ११॥
माया आगे जीव सब, ठाढ़े रहै करजोरि।
जिन सिरजे जल बुंद सो, तासो बैठा तोरि॥ १२॥
या मायाके कारने, हरि सो बैठा तोरि।
माया करक कदीम है, केता गया चंघोरि॥ १३॥
माया करक कदीम है, या भवसागर माँहि।
जंबुक रूपी जीव है, खेंचतही मरि जाहि॥ १४॥
माया झोली मारिया, नाभि न बैठे स्वाँस।
जीवरा लौ संसै गला, राम कहनकी आस॥ १५॥
मोती उपजै सीपमें, सीप समुन्दर जोय।
रंचक संधर रहगया, ना कछु हुआ न होय॥ १६॥
माया सेती मति मिलो, जो सो वरिया देहि।
नारदसे मुनिवर गले, क्या भरोसा तेहि॥ १७॥
भूले थे संसार में, मायाके संग आय।
सतगुरु राह बताइया, फेरि मिले तिहिं जाय॥ १८॥
कबिरा तू तो सबल है, हलकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया, किया और लगवार॥ १९॥
रंग तो कुरंग हुआ, अंग न खाये बाँन।

केते मारे जाँहिगे, इस जाजरी कमान॥ २० ॥
जिनको साँई रंग दिया, कबहुँ न होय कुरंग।
दिन दिन बानी आगरी, चढ़ै सवाया रंग॥ २१ ॥
सब रंग पानी ते भया, सब रंग पानी सोय।
जा रंग ते पानी भयो, सो रंग कैसो होय॥ २२ ॥
सौ पापन को मूल है, एक रुपैया रोक।
साधू जन संग्रह करैं, हारे हरि से थोक॥ २३ ॥
साधू ऐसा चाहिये, आई देइ चलाय।
दोष न लागै तासु को, सिरकी टरै बलाय॥ २४ ॥
कबिरा माया रुखड़ा, दो फलकी दातार।
खावत खर्चत मुक्ति गये, संचत नरक दुवार॥ २५ ॥
खान खरच बहु अन्तरा, मनमें देखि विचार।
एक खवाई साधुको, एक मिलाई छार॥ २६ ॥
माया दोय प्रकारकी, जो कोई जानै खाय।
एक मिलावै रामको, एक नरक लै जाय॥ २७ ॥
कबिरा माया जात है, सुनो शब्द निज मोर।
सखियोके घर संतजन, सूमाके घर चोर॥ २८ ॥
सन्तो खाई रहत है, चोरा लीन्ही जाय।
कहै कबीर विचारि के, दरगह मिलिहै आय॥ २९ ॥
माया मेरे रामकी, मोदी सब संसार।
जाको चीठी ऊतरी, सोई खरचन हार॥ ३० ॥
कबिरा माया सूमकी, देखनहीका लाड़।
जो वामें कौडी घटै, तो हरि तौड़े हाड़॥ ३१ ॥
माया संचै संग्रहै, वह दिन जानै नाहि।
सहस बरसकी सब करैं, मरै, मुहूरत माहि॥ ३२ ॥
कबिरा सो धन सांचिये, जो आगेको होय।
मूड़ चढ़ाया गाँठरी, जात न देखा कोय॥ ३३ ॥
सुकृत लागै साधुकी, बादि बिमुखकी जाय।
केतो तल गाडी रहे, के कोइ औरै खाय॥ ३४ ॥
आँधी आई ज्ञानकी, ढही भरमकी भीति।
माया टाटी उड़ि गई, लगी नामसों प्रीति॥ ३५ ॥
ऐसी ब्याई सो तुई, वेश्या सो रहि पेट।
सगो स्वसुर पाँयन पर्‌यो, भई सतगुरुसों भेंट॥ ३६ ॥
तिलसमान तो गाय है, छौना नौ नौ हाथ।
मटकी भरि भरि दूहिये, पूंछ अठारह हाथ॥ ३७ ॥

(१४) अथ मानको अंग

मान बड़ाई कूकरी, धरम राम दर्बार।
दीन लकुटिया बाहिरे, सब जग खाया फार॥ १ ॥
मान बड़ाई कूकरी, संतन पाई जानि।
पाण्डव यज्ञ पावन भई, सुपच बिराजै आनि॥ २ ॥
मान बड़ाई जगतमें, कूकर की पहिंचानि।
प्यार किया मुख चाटई, बैर किये ते हानि॥ ३ ॥

मान बड़ाई ऊरमी, ये जगका व्यौहार।
दीन गरीबी बंदगी, सत गुरुका उपकार॥ ४॥
काला मुख कर मान का, आदर लावो आगि।
मान बड़ाई छांडिके, रहो राम लौ लागि॥ ५॥
अहं अगनि हृदये दहे, गुरु सो चाहै मान।
तिनको यम नेवता दिया, हो हमरे जिजमान॥ ६॥
अहं भई जो स्त्री, माया हूआ मान।
यो बशि परे खटिकके, पकरी आनी कान॥ ७॥
खंभा एकहि गयन्द दो, क्यो करि बंधू वारि।
मान करूं तो पीव नहि, पीव तौ मान निवारि॥ ८॥
कबिरा अपने जीव ते, ये दोह बाताँ धोय।
मान बड़ाई कारने, अछूता मूल न खोय॥ ९॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जो रे बड़ मति नाहिं।
जैसे फूल उजारका, मिथ्याही झरि जाहि॥ १०॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसी पेड़ खजूर।
पंथी छाँह न बैठही, फल लागै तो दूरि॥ ११॥
बड़ी बड़ाई ऊंटकी, लदै जहां लगि स्वांस।
मोहकम सलीता लादिके, ऊपर चढै फिरास॥ १२॥
प्रभुताको सब कोउ भजे, प्रभुको भजै न कोय।
कहै कबीर प्रभुको भजै, प्रभुता चेरी होय॥ १३॥
भक्त भगवंत एक है, बूझत नही अजान।
सीस नँवावै संतको, बड़ा करे अभिमान॥ १४॥
हरिजनको ऊंचा नवै, ऊंट जन्मका होय।
तीन जगह टेढ़ा भया, ऊंचा ताके सोय॥ १५॥
कबिरा ऊंची नाकको, ऐठत है संसार।
जाते हरि हाथी किया, नाक दिया गज चार॥ १६॥
ऊंचे कुलकी कामिनी, भजै न शरंगपानि।
कुलहि लजावन अवतरी, सूधी सांपनी जानि॥ १७॥
ऊंचे कुल कहा जनमिया देह धरी अस्थूल।
पारब्रह्मको ना चढै, बास विहूना फूल॥ १८॥
ऊंचा कुल नीचा मता, नाही हरि सो हेत।
हीन गिनै हरि भक्तको, खासी खता अनेक॥ १९॥
ऊंचा कुलके कारणे, भूला सब संसार।
तब कुलको लाज है, ये तन ह्वै है छार॥ २०॥
हस्ती चढिके जो फिरे, ऊपर चँवर दुराय।
लोग कहै सुख भोगवै, दीसै दोजख जाय॥ २१॥
कबिरा हरि जान्या नही, बहुत कुटुम्ब परिवार।
गदहा ह्वै के अवतरै, भाड़ा भरै कुंभार॥ २२॥
नर मूरखते खर भला, जिहि मुख नाही राम।
शकुन बतावै औरको, पंथ चलन्ता गाम॥ २३॥

जहां आप तहां आपदा, जहां संशय तहँ सोग।
कहै कबीर यह क्या मिटे, चारो दीरघ रोग॥ २४॥

(९५) अथ दीनताको अंग

दीन गरीबी बंदगी, साधन सो आधीन।
ताके संग हरि यो रहै, ज्यो जल संगहि मीन॥ १॥
दीन लखै मुख सबनको, दीनहि लखै न कोय।
भली विचारी दीनता, नरहू देवता होय॥ २॥
जल थल जीव जिते तितै, रहे सकल भरपूर।
जो दिल आवे दीनता, तो सांई मिलै हजूर॥ ३॥
यक बानी जो दीनता, सब कछू हरि दरबार।
यही भेट जगदीशकी, संतन कियो विचार॥ ४॥
दीन गरीबी दीनको, द्वंदरको अभिमान।
द्वंदर तो विषसो भरा, दीन गरीबी जान॥ ५॥
दीन गरीबी बंदगी, सब सो आदर भाव।
कहै कबीर तेही बड़ा, जामे बड़ा स्वभाव॥ ६॥
नही दीन नहि दीनता, संत नही मिजवान।
ता घर जम डेरा किया, जीवत भया मसान॥ ७॥
ऊंचे पानी ना टिके, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिये, ऊंचा पियासा जाय॥ ८॥
नीचे नीचे सब तिरै, जिहि तिहि बहुत अधीन।
चढ़ि बोहित अभिमानकी, बूड़े जात कुलीन॥ ९॥
लेनेको हरि नाम है, देनेको अनदान।
तरबेको आधीनता, बूड़नको अभिमान॥ १०॥
दरसनको तो साधु है, सुमिरन को ब्रह्मज्ञान।
तरबे को आधीनता, बूड़नको अभिमान॥ ११॥

(९६) अथ चानकको अंग

कै खाना कै सोवना, और न कोई चित्त।
हरिसा प्रीतम बीसरा, बालापनका मित्त॥ १॥
इस उदरके कारने, जग जाँच्यो निशि याम।
स्वामीपनो शिरपर चड्यो, सर्यो न एको काम॥ २॥
राजद्वारे रामजन, तीनि वस्तुको जाय।
कै मीठा कै मान को, कै माया की चाय॥ ३॥
कबिरा कलियुग कठिन है, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनको आदर होय॥ ४॥
हरि सुमिरन सांची कथा, कोई सुनि है कानि।
कलियुग पूजा दम्भकी, बाजारी का मानि॥ ५॥

नाचे गावे पद कहै, नाहीं हरि सो हेत।
कहे कबीर क्यो नीपजे, बीज बिहूना खेत॥ ६॥
शिष्य खासा संसार गति, सेवक प्रत्यक्ष काल।
बैरागी छावै मढ़ी, ताको मूल न डाल॥ ७॥
जाके हिरदय हरि नही, शिषि शाखा की भूख।
सो नर ऊभा सूकसी, ज्यो वन दाधा रूख॥ ८॥
शिष्य शाखा बहुतहि किया, माधो किया न मित्त।
चाले तो हरि मिलन को, बीचहि अटका चित्त॥ ९॥
पंडित केरी पोथियाँ ज्यो तीतरका ज्ञान।
औरन शकुन बतावही, अपना फंद न जान॥ १०॥
चतुराई क्या कीजिये, जो नहि शब्द समाय।
कोटिक गुन सुगना पढ़ै, अंत बिलाई खाय॥ ११॥
पढ़ना गुनना चातुरी, ये तो बात सहेल।
काम दहन मन बसिकरन, गगन चढत मुसिकेल॥ १२॥
गगन दुवारे मन गया, करै अमृत रसपान।
रूप सदा झलकत रहै, गगन मंडल गलतान॥ १३॥
पंडित और मसालची, दोनू सूझै नाहि।
औरनको करै चांदना, आप अंधेरा माहि॥ १४॥
संस्कृताहि पण्डित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ अज्ञान॥ १५॥
कबिरा संस्कृत संसारमे, पण्डित करै बखान।
भाषा भक्त दृढावही, न्यारा पद निर्बान॥ १६॥
कबिरा संस्कृत कूप जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सत्य है, संतमत गहर गंभीर॥ १७॥
पूरन बानी वेदकी, सोहत परम अनूप।
आधी भाषा नेत्र बिन, को लखि पावै रूप॥ १८॥
बानी तो पानी भरै, चारू बेद मजूर।
करनी तो गारा करै, साहब का घर दूर॥ १९॥
बानी तो पानी भरै, चारू वेद मजूर।
चूक्यो सेवा बंदगी, किया चाकरी दूर॥ २०॥
वेद कहै मै कछू न जानो, स्वाँसाका सँग आय।
दर्शन कारन करूँ बंदगी, गुन अनेक मै गाय॥ २१॥
पढि पढि तो पत्थर भया, लिखि लिखि भया जो ईंट।
कबिरा अन्तर प्रेमकी, लगी न एको छीट॥ २२॥
पढि पढि तो पत्थर भया, लिखि लिखि भया जो चौर।
जिस पढ़ते साहब मिले, तो पढ़ना कछु और॥ २३॥
पंडित पुस्तक बांधि के, दै सिरहाने सोय।
वह अक्षर इनमे नही, हँसि दे भावे रोय॥ २४॥

शूल।
पढै गुनै सीखै सुनै, मिटै न संशय मूल ॥२५॥
कहै कबीर कासो कहूँ, एही दुःखका सोय।
नहिं कागद नहि लेखनी, नहि अक्षर है सोय ॥२६॥
बाँचहि पुस्तक छाड़िके, पंडित कहिये पास।
धरती अम्बर ना हतो, कौन था पंडित आकास ॥२७॥
कौन महूरत थापिया, चांद सूर कुरान।
पंडित तो वोरो पतरा, काजी छाडि असमान ॥२८॥
वह तारीख बताइ दे, हता न जमी जाय।
ब्राह्मण गदहा जगतका, तीरथ लादा खाय ॥२९॥
यजमान कहै मैं पुनि किया, वह मिहनत का कुत्ता।
ब्राह्मण ते गदहा भला, आन देवते सुत्ता ॥३०॥
मुलनाते मुरगा भला, शहर जगावे नाव।
कबिरा ब्राह्मण की कथा, सो धारों की जाव ॥३१॥
सब अंधा मिलि बैठहीं, भावै तहां ले जोरि।
कबिरा ब्राह्मण बूड़िया जनेऊ केरे तोरि ॥३२॥
लख चौरासी मांगि लई, पारब्रह्म सो दान।
कलिका ब्राह्मण मसखरा, ताहि न दीजै यजमान ॥३३॥
कटुंब सहित नरकै चला, साथ लिया जानि।
पढ़ै पढ़ाये कछु नही, ब्राह्मण भक्ति न तानि ॥३४॥
व्याहे श्राद्धे कारणे, बैया सूंडा

(९७) अथ कथनीको अंग

सार।
कथनी कांची होगई, करनी करी न अपार ॥१॥
श्रोता वक्ता मरि गया, मूरख अनंत तीर।
कबिरा कमान सूरा भला, थोथा बांधे शरीर ॥२॥
जिनको चोट है बिरहको, तिनका बिकल लोय।
कथनी मीठी खांड सी, करनी विषकी होय ॥३॥
कथनी कथि करनी करै, विषसे अमृत चितलाय।
कथनी बदनी छांड़िदे, करनी सूं जाय ॥४॥
नर को नीर प्याये बिना, कबहूं प्यास न उचार।
कथनी कथि फूला फिरै, मेरे हृदय गँवार ॥५॥
भाव भक्ति समुझे नही, अंधा मूढ सार।
कथनी थोथी जगतमें करनी उत्तम पार ॥६॥
कहै कबीर करनी भली, उतरे भवजल ज्ञान।
कूकस कूटै कन बिना, बिन करनी का आन ॥७॥
ज्यो बंदूक गोली बिना, भडक न मारे अकराथि।
आपा राखि प्रमोधिये, ज्ञान सुने हाथि ॥८॥
तुष कूटै कन बाहरी, कछू न आवै रोस।
पद जोरै साखी कहै, साधन परि गई होस ॥९॥
काढा जल पीवै नही, काढ़ि पियनकी काटि।
साखी लाय बनायकै, इत उत अक्षर

कहै कबीर कबलग जिये, जूटी पाताल घाटि ॥१०॥
पढ़ि पढ़ि औरन समुझावई खोजे न आपशरीर।
रोटीका संशय परा, यो कहे दास कबीरा ॥११॥
चतुराई चूल्हे परो, ज्ञानी नै जारा खाय।
भाव भक्ति जाने विना, ज्ञानपनो जरजाय ॥१२॥
रहनी कारज मानही, कथनी मेरु समान।
कथता बकता मरि गया, मूरख मूढ अंजान ॥१३॥
कथनी कूं धीजूं नही, करनी मेरा जीव।
कथनी करनी दोऊ थकी, तव महल पधारे पीव ॥१४॥
कथते है करते नही, मुखके वडे लवार।
मुहँडा काला होयगा, साहवके दरवार ॥१५॥
कथते है करते सही, सांच शरोतर होय।
साहिबके दरवार मे आठ पहर सुख सोय ॥१६॥

(९८) अथ करनीको अंग

कबिरा करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा परै, मिलै अगाऊ आय ॥१॥
जो करनी अन्तर बसे, निकसे मुखकी बाट।
बोलतही पहिचानिये, चोर साहु को घाट ॥२॥
चोर चुराई तूँबड़ा, गाडे पानी माँहि।
वह गाडे ते ऊछलै, यो करनी छानी नाँहि ॥३॥
करनी कारज मानही, कथनी कथै अपार।
इन बातन क्यो पाइये, साहव का दीदार ॥४॥
विन करनी कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यो भुँकता फिरै, सुनी सुनाई बात ॥५॥
जैसी मुखते नीकसे, तैसी चालै नाहि।
मनुष्य नही वे स्वान गति बाँधे यमपुर जांहि ॥६॥
जैसी मुखते नीकसै, तेसी चालै चाल।
पारब्रह्म नियरा रहे, पलमे करै निहाल ॥७॥
करनी करनी सव कहै, करनी माँहि विवेक।
वा करनी बहि जान दे, जो नहि परखै एक ॥८॥
कथनीको तो भानिके, करनी देइ बहाय।
दास कबीरा यो कहै, ऐसा होय तो आय ॥९॥

(९९) अथ कामको अंग

कामीका गुरु कामिनी, लोभीका गुरु दाम।
कबिरा का गुरु संत हे, संतनका गुरु राम ॥१॥
रंचक लावनके फिरै, आँधा होय भुवंग।
कबिरा तनकी कौन गति, नित नारीसो रंग ॥२॥

इक नारी इक नागिनी, अपना जाया खाय।
कबहूँ सरपटि नीकसे, उपजै नाग बलाय॥३॥
सहकामी दीपक दशा, सोखै तैल निवास।
कबिरा हीरा संत जन, सहजै सदा प्रकास॥४॥
दीपक सुन्दरता देखि करि, जरि जरि मरै पतंग।
बढ़ी लहरि जो विषयकी, जरत न मोरै अंग॥५॥
परनारी पैनी छुरी, मति कोइ लावो अंग।
रावण के दश शिर गये, परनारी के संग॥६॥
परनारी पैनी छूरी, विरला बंचै कोय।
ना वह पेट संचारिये, जो सोनाकी होय॥७॥
परनारीके राचने, साधो नरकै जाय।
यम तिनको छोडे नही, कोटिन करे उपाय॥८॥
नारी निरखि न देखिये, निरखि न कीजै दौर।
देखतहीते विष चढै, मन आवै कछु और॥९॥
जो कबहूँ कै देखिये, बीर बहिनके भाय।
आठ पहर अलगा रहै, ताको काल न खाय॥१०॥
देखत ही दहमे परै, कनक कामिनी भाय।
कहै कबीर कौतुक भया, मनको रहा समाय॥११॥
सर्व सोनाकी सुन्दरी, आवै बास सुबास।
जो जननी है आपनी, तौहु न बैठे पास॥१२॥
पर नारी पर सुंदरी, जैसे सूली साल।
नित कलेश भुगते सही, तोहु न छोडे खाल॥१३॥
नारी केरे राचने, औगुन है गुन नाहि।
खार समुन्दर माछली, केती वहि बहि जाहि॥१४॥
नारि रचंते पुरुष हे, पुरुष रचंते नार।
पुरुष पुरुषते राचते, ते विरलै संसार॥१५॥
नर नारी सब नर कहै, जब लग देहि सकाम।
कहै कबीर सो रामका, जो सुमिरे निष्काम॥१६॥
नारि पुरुष जो कौन है, सुनि सतगुरुकी साखि।
विष फल फले अनेक है, मति कोइ देखो चाखि॥१७॥
जिन खाया सोही मुआ, गुण गंधरव बड़ भूप।
सतगुरु कहै कबीर सो, जगमे युगति अनूप॥१८॥

सोरठा

नारी सेती नेह, बुद्धि विवेक सबही हरै॥
वृथा गमावै देह, कारज कोई ना सरै॥१९॥

साखी

नारी कहूँ कि नाहरी, नख सिख सो यह खाय।

जल बूड़ा तो ऊबरै, भग बूड़ा बहि जाय॥२०॥
भग भोगै भग ऊपजे, भगते बचै न कोय।
कहे कबीर भगते बचै, भक्त कहावे सोय॥२१॥
जगमे भक्त कहावई, चुटकी चून न देय।
शिष्य जोरूका ह्वै रहा, नाम गुरुका लेय॥२२॥
सेवक अपना करि लिया, आज्ञा मेटे नाहिं।
भगहि मंत्र दै गुरु भई, शिष्य ह्वै सबै कमाहिं॥२३॥
फाटे कानों बाघिनी, तीन लोकको खाय।
जीवत खाय कलेजरा, मुये नरक लेजाय॥२४॥
नारी नाहीं नाहरी, करै नैनकी चोट।
कोइ कोइ साधू ऊबरे, पार ब्रह्मकी ओट॥२५॥
नैनो काजल पायके, गाढ़ा बांधे केश।
हाथों मेहदी लायके, बाघिनि खाया देश॥२६॥
गाय रोय हँसि खेलिकै, हरत सबनके प्रान।
कहै कबीर या घातको, समुझै संत सुजान॥२७॥
नारी कूडी नरककी, विरला थांमे बाग।
कोई साधु जन ऊबरा, सब जग मूवा लागि॥२८॥
सुंदरिते सूली भली, विरला बांचै कोय।
लोह लुहाले अगिनमे, जलि बलि कोयला होय॥२९॥
नारी नाही यम अहै, तू मति रांच जाय।
मंजारी ज्यौं बोलिके, काढि कलेजा खाय॥३०॥
नारी नदिया सारखी, वहे अपरबलपूर।
साहबसे न्यारा रहै, अंत परे मुख धूर॥३१॥
नारी नदी अथाहजल, बूड़ि मुआ संसार।
ऐसा साधू ना मिलै, जासो उतरे पार॥३२॥
गाय भैस घोडी गधी, नारी नाम है तास।
जा मदिर में ये बसे, तहाँ न कीजे बास॥३३॥
एक कनक और कामिनी, ये लंबी तरवारि।
चाले थे हरि मिलनको, बिचही लीन्हा मारि॥३४॥
चलूँ चलूँ सबकोइ कहै, पहुँचे विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्लभ घाटी दोय॥३५॥
जो या घाटी लंघही, सो जन उतरे पार।
या घाटीते आखडै, ताको वार न पार॥३६॥
एक कनक अरु कामिनी, विष फल किया उपाय।
देखतहीते विष चढ़ै, चाखतही मरिजाय॥३७॥
एक कनक अरु कामिनी, तजिये भगिये दूर।
हरि बिच पारै अंतरा, यम देसी मुख धूर॥३८॥
कामीकूं तो तीस दिन, अंतर होय उदास।
कामी नरको तो सदा, छव ऋतु बारह मास॥३९॥
जहाँ काम तहाँ राम नहि, राम तहां नही काम।

दोऊ कबहूँ ना रहै, काम राम एकठाम ॥४०॥
कामी तो निर्भय भया, करै न काहू शंक।
इंद्री केरे बशि परा, भुगतै नरक निशंक ॥४१॥
कबिरा कामी पुरुषको, संशय कबहुं न जाय।
साहिब सूँ अलगा रहै, वाके हृदये लाय ॥४२॥
कामी कबहुं न हरि भजै, मिटै न संशयशूल।
और गुनह सब बखशिहै, कामी डाल न मूल ॥४३॥
कामी क्रोधी लालची, इनते भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमां, जाति बरन कुल खोय ॥४४॥
कामी से कुत्ता भला, ऋतु शर खोले कांच।
राम नाम जाना नही, बावी जाय न बांच ॥४५॥
कहता हूं कहजात हूं, समुझे नही गँवार।
बैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥४६॥
कामी कर्म की कांचली, पहिरि हुआ नर नाग।
शिर फोरै सूझै नही, कोइ पूरबला भाग ॥४७॥
काम कहर असवार है, सब कोइ मारै ध्याय।
कोइक हरिजन ऊबरा, जाके राम सहाय ॥४८॥
काम काम सब कोइ कहै, काम न चीन्हे कोय।
जेती मनकी कल्पना, काम कहावै सोय ॥४९॥
नारि पराई आपनी, भुगतै नरकै जाय।
आगि आगि सब एकसी, देत हाथ जरि जाय ॥५०॥
जहर परायो आपना, खाय सही मरि जाय।
अपनी इच्छा ना करे, कहै कबीर समुझाय ॥५१॥
कूप पराया आपना, गिरै बूडि जो जाय।
ऐसा भेद विचारिके, कुमतिहि गोता खाय ॥५२॥
छूरी पराई आपनी, मारे दरद जो होय।
बहुविधि कहूँ पुकारिकै, कर छुओ मति कोय ॥५३॥
जहाँ जराई सुंदरी तू जनि जाय कबीर।
ऊडि भस्म जो लागसी, सूना होय शरीर ॥५४॥
बूंद खिरी नर नारिकी, जैसी आतम घात।
अज्ञानी मानै नही, एही बात उतपात ॥५५॥
केता बहाया बहि गया, केता बहि बहि जाय।
ऐसा भेद बिचारिकै, तू मति गोता खाय ॥५६॥
नारी तौ हमभी करी, पाया नही विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा बिकार ॥५७॥
काम क्रोध मद लोभकी, जबलग घटमे खानि।
कहा मूर्ख कहा पंडिता, दोनो एक समानि ॥५८॥
काम क्रोध सूतक सदा, सूतक लोभ समाय।
ये सूतक संग देहके, कहो कैसे करि जाय ॥५९॥
काम क्रोध सूतक सदा सूतक लोभ समाय।
शील सरोवर न्हाइये, तब यह सतक जाय ॥६०॥

छोटी मोटी कामिनी, सबही विषकी बेल।
बैरी सारे दाव दै, यह मारै हँसि खेल॥६१॥
नागिनके तो दोय फन, नारीके फन बीस।
जाको डस्यो न फिरि जिये, मरि है बिस्वा बीस॥६२॥
नारीसे नजरि न जोरिये, अंश खीस ह्वै जाय।
जाके चित नारी बसे, चारि अंश ले जाय॥६३॥
नारी नदिया सारखी, और जो प्रगटे काल।
सब कालनते बाचि है, नारी यमका जाल॥६४॥
जगमे डोडी कामिनी, पीवे सब संसार।
सोफी होयके सो पिये, ताडि उतारूं पार॥६५॥
दीपक झोला पवनका, नरको झोला नारि।
साधू झोला शब्दका, बोले नही विचारि॥६६॥
नारि पुरुषकी स्त्री, पुरुष नारिका पूत।
यही ज्ञान विचारिकै, छांडि चला अवधूत॥६७॥
अविनाशी बिच धार तिन, कुल कंचन अरु नार।
जो कोइ इनते बचि चले, सोई उतरै पार॥६८॥

(१००) अथ शीलको अंग

शील क्षमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि जब होय।
बिना शील पहुंचे नही, लाख कथै जो कोय॥१॥
शीलवंत सबसो बड़ा, सब रतनोकी खानि।
तीन लोक की संपदा, रही शील मे आनि॥२॥
शील गहै कोइ सावधान, चैतन पहरै जागि।
बासन बासन के खिसे, चोर न सकई लागि॥३॥
शील मिलावे रामको, जो कोइ जानै राखि।
कहै कबीर मै क्या कहूं, शुकदेव बोलै साखि॥४॥
शील राखि विरक्त भये, हरिके मारग जांहि।
साखी गोरख नाथ जो, अमर भये कलि माहि॥५॥
घायल ऊपरि घावले, टोटे त्यागी सोय।
भर जोबन मै शीलवंत, बिरला होय तो होय॥६॥
ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत है, शीलवंत कोइ एक॥७॥
शीलवंत निर्मल दशा, पा परि है घहुँ खूंट।
कहै कबीर ता दास की, करै आस वैकुंठ॥८॥
सूम सदाही उद्धरै, दाता जाय नरक।
कहै कबीर ये साख मुनि, मति कोई जाव सरक्क॥९॥
दाता नरक सम वैकुंठ, मच्छर अजर जरै।
कबीर साखी कठिन है, हृदय रसै तब अर्थ करै॥१०॥
बैसन्दर जाडै मरै, पानी मरै पियास।
भोजन तौ भूखा मरै, पाथर मरै हगास॥११॥

विषय पियारी प्रीतिसो, तब अंतर हरि नाहिं।
जब अंतर हरिजी बसै, विषयासो रुचि नाहि ॥१२॥
सुखका सागर शील है, कोइ न पावै थाह।
शब्द बिना साधू नही, द्रव्य बिना नहि साह ॥१३॥

(१०१) अथ लोभको अंग

जब मन लागै लोभसो, गया विषयमें भोय।
कहै कबीर विचारिकै, केहि प्रकार धन होय ॥१॥
भेष भभूत जटाधरी, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दर्शन की कहा परै, एक लोभकी लार ॥२॥
आब गया आदर गया, गया नैनका नेह।
ये तीनों तबही गये, जबहीं कहा कछु देह ॥३॥
कबिरा ओधी खोपरी, कबहूँ धापै नाँहि।
तीन लोककी संपदा, कब आवै घर माँहि ॥४॥
कबिरा तृष्णा पापिनी, तासो प्रीति न जोरि।
पैड़ पैड़ पाछे पड़ै, लागै मोटी खोरि॥

(१०२) अथ सन्तोषको अंग

गो धन गज धन बाजि धन, और रतन धन खानि।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समानि ॥१॥
साधु संतोषी सर्वदा, निर्मल जिनके बैन।
तिनके दर्शन परसतें, जिय उपजै सुख चैन ॥२॥
निज आसन संतोषमें, सहज रहनि की ठौर।
हरि भजने आज्ञा भई, ताते कछू न और ॥३॥
संतोषहि सहिदान है, शब्द भेद बीचार।
सतगुरुके परतापते, सहज शील मत सार ॥४॥
चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
तिनको कछू न चाहिये, सब साहब पति साह ॥५॥

(१०३) अथ क्रोधको अंग

दसों दिशासो क्रोधकी, उठी अपरबल आगि।
शीतल संगति साधुकी, तहां उबरिये भागि ॥१॥
यह जग कोठी काठकी, चहुँ दिशि लागी आगि।
भीतर रहै सो जरि मुये, साधू उबरे भागि ॥२॥
क्रोध अग्नि घर घर बढ़ी, जरै सकल संसार।
दीन लीन निज भक्त है, तिनके निकट उबार ॥३॥
बहुत यतन करि कीजिये, सब फल जाय नसाय।
कबिरा संचै सूम धन, अंत चोर लै जाय ॥४॥
कोटि कर्म लागे रहै, एक क्रोधकी लार।
किया कराया सब गया, जब आया अहँकार ॥५॥

जग माही धोखा घना, आहि कुबुधि अरु काल।
पौरी पहुँचा मारिये, ऐसा यमका जाल॥६॥
गारि अँगारा क्रोध जल, निन्दा धूँआं होय।
इन तीनहुँ को बसि करै, साहब मिलाऊँ तोय॥७॥

(१०४) अथ क्षमाको अंग

क्षमा क्रोध को क्षय करे, जो काहू पर होय।
कहै कबीर ता दासकूं, गंजि न सकि है कोय॥१॥
क्षमा बड़नको चाहिये, छोटनको उतपात।
कहा विष्णुको घटि गयो जो भृगु मारी लात॥२॥
भली भली सब कोउ कहै, रही क्षमा ठहराय।
कहै कबीर शीतल भया, गई जो अग्नि बुझाय॥३॥
जहां दया तहँ धर्म है, जहां लोभ तहँ पाप।
जहां क्रोध तहँ काल है, जहां क्षमा तहँ आप॥४॥

(१०५) अथ मोहको अंग

मोह फंद फंदिया, कोइ न सकै निरुवार।
कोइ साधुजन पारखी, विरला तत्व विचार॥१॥
प्रथम फंदे सब देवता, सुख विलसै स्वर्ग वास।
मोह मगन सुख पाइया, मृत्युलोककी आस॥२॥
दूजे ऋषि मुनिवर फन्दे, तासो रुचि उपजाय।
स्वर्गलोक सुख मानही, (फिर) धरनि परत है आय॥३॥
मोह मगन संसार है, कन्या रही कुमार।
काहु सुरित जो ना करी, ताते फिरि अवतार॥४॥
कुरु क्षेत्र सब मेदिनी, खेत करे करसान।
मोह मृग सब चरि गया, आसन रहि खलिहान॥५॥
इन काहु युगति न जानिया, केहि विधि बचै सुखेत।
नहि बंदगी नहि दीनता, नहि साधु संगति हेत॥६॥
जब घर मोह समाइया, सर्व भया अँधियार।
निर्मोही ज्ञान बिचारिके, कोइ साधू उतरे पार॥७॥
जहां लग सब संसार हे, मृग सबन को मोह।
सुर नर नाग पताल सब, ऋषि मुनिवर सब जोह॥८॥
अष्ट सिद्धि नौ सिद्धि लौ, तुम सो रहे निवार।
बांधि मृगहि बिडारि हूं, कहै कबीर विचार॥९॥
सलिल मोहकी धार मे, बहिगये गहर गँभीर।
सुक्षम मछली सुरति है, चढ़िहै उलटे नीर॥१०॥

(१०६) अथ विवेकको अंग

प्रगटै प्रेम विवेक दल, अभय निशान बजाय।

उग्र ज्ञान उर आवतौं, यह सुनि मोह दुराय ॥१॥
फूटी आँख विवेककी, लहै न संत असंत।
जाके लार दश बीस है, ताका नाम महन्त ॥२॥
साधू मेरे सब बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेककी पारखी, वो माथेके मौर ॥३॥
कहै कबीर पुकारिके, कोइ संत विवेकी होय।
जामे शब्द विवेक है, छत्र धनी है सोय ॥४॥
जीव जन्तु जलहर बसै, गये विवेक जो भूल।
जलके जलचर यो कहैं, हम उड़गन समतूल ॥५॥
प्रात कालके जालमे, आय गये तिहि माहि।
जलके जलघर यो कहैं, उडगनपति आयो नाहि ॥६॥
जब लगि नाहि विवेक मन, तब लग लगै न तीर।
भवसागर नाही तर, सतगुरु कहै कबीर ॥७॥
हरिजन ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलतासो मिलै, अंतर सबसो एक ॥८॥
राम नाम सब कोइ कहै, कहिबे माहि विवेक।
एक अनेकै फिरि मिलै, एक समाना एक ॥९॥

(१०७) अथ सहजको अंग

सहजै सहजै सब गया, मन इंद्रीका नास।
निष्कामी सुमिरन मिला, कटी कर्मकी फाँस ॥१॥
काहेको कलपत फिरै, दुखी होत बेकाम।
सहजै सहजे होयगा, जो कछु रचिया राम ॥२॥
जो कछु आवै सहजमे, सोई मीठा जानि।
कडुवा लागै नीमसा, जामें ऐंचातानि ॥३॥
सहज मिलै सो दूध सम, माँगा मिलै सो पानि।
कहै कबीर वह रक्त सम जामैं ऐंचातानि ॥४॥

(१०८) अथ सांचको अंग

सांच बराबर तप नहीं, झूंठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है, ताके हृदये आप ॥१॥
झूँठे बात नहि बोलिये, जब लगि पार बसाय।
अहो कबीरा सांच गहु, आवागमन नसाय ॥२॥
सांचै कोइ न पतीजई, झूँठे जग पतियाय।
पांच टका की डावटी, सात टकै बिकजाय ॥३॥
सांचै कोइ न पतीजई, झूंठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय ॥४॥
सांच कहै तौ मारि हैं, यह तुरकानी जोर।
बात कहूं परलोक की, करिकै पकरै चोर ॥५॥

सांच कहूं तो मारि है, झूंठे जग पतियाय।
ये जग काली कूकरी, जो छेरे तो खाय॥६॥
सांच कहूं तो मारि है, यूं झूंठहि धरै अपार।
हम शिर ढारै ढीकुली, सीचे औरकी क्यार॥७॥
सांच न कोइ पतीजई, झूंटेके संग जाय।
झूंठे झूंठे मिलि रहे, अहमक खेहा खाय॥८॥
झूंठाको झूंठा मिलै, अधिका बढै सनेह।
झूंठे को सांचा मिलै, तवही टूटै नेह॥९॥
कविरा लज्जा लोककी, बोलै नाही सांच।
जानिबूझि कंचन तजि, क्यो तू पकरै कांच॥१०॥
जिन नर साँच पहँचानियां, कर्ता केवल सार।
सो प्रानी काहे चलै, झूंटे कुलकी लार॥११॥
साधू ऐसा चाहिये, साँची कहै वजाय।
की टूटै कि फिरि जुरै, कहे विन भ्रम न जाय॥१२॥
सांचे शाप न लागई, सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिलै, सांचे माहि समाय॥१३॥
तेरे अन्दर साँच जो, वाहर कछु न वनाव।
जाननहारा जानि है, अंतर्गतिका भाव॥१४॥
जाकी सांची सुरति है, ताका सांचा खेल।
आठ पहर चौसठ घरी, है सांई सो मेल॥१५॥
प्रेम प्रीतिका चोलना, पहिरि कवीरा नांच।
तन मन ता पर वारहूं, जो कोइ बोलै सांच॥१६॥
सांच शब्द हृदये गहा, अलख पुरुष भरपूर।
प्रेम प्रीतिका चोलना, पहिरे दास हजूर॥१७॥
सांच विना सुमिरन नही, भय विन भक्ति न सोय।
पारसमे परदा रहै कंचन किहि विधि होय॥१८॥
अब तो हम कंचन भये, तव हम होते कांच।
सतगुरुकी किरपा भई, दिल अपनेका सांच॥१९॥
कंचन केवल हरि भजन, दूजा काथ कथीर।
झूंठा आल जंजाल तजि, पकडा सांच कवीर॥२०॥
सांचै सौदा कीजिये, अपने जियमे जानि।
सांचे हीरा पाइये, झूँठे मूलहु हानि॥२१॥
जो तू सांचा बानिया, सांची हाट लगाय।
अन्दर झारू देइके, कूरा दूरि बहाय॥२२॥
जाके बोली बंध नही, सांच नही मन माहि।
ताके संग न चालिये, छांडे पैड़ा माहि॥२३॥

(१०९) अथ भ्रमविध्वंसको अंग

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मै पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली, पीसि खाय संसार॥१॥

घर गिरिवर कर्ता किया, सो क्यो रहे अपूजि।
पाहन फोरि देवल रचा, परमेश्वर सो दूजि ॥२॥
मूरित धरि धंधा रचा, पाहनका जगदीस।
मोल लिया बोलै नही, खोटा विश्वावीस ॥३॥
पाथरहीका देहरा, पाथरहीका देव।
पूजनहारा आंधरा, क्यों करि माने सेव ॥४॥
पाहन पानी पूजिके, सेवा जासी वाद।
कि सेवा कर साधुकी, कि हरि सुमिरनकी याद ॥५॥
पाथर पानी पूजिके, पचि पचि मुआ संसार।
भेद अलहदा रहि गया, भेदवन्त सो पार ॥६॥
कविरा पूजै शालिग्रामको, मनकी भ्रांति न जाय।
शीतलता सपने नही, दिन दिन अधिकी लाय ॥७॥
कविरा शालिग्रामका, मोहिं भरोसा नाहि।
काल कहर की चोट मे, विनसि जाय छिन माहि ॥८॥
पाथर ले देवल चुना, मोटी मूरति माहि।
पिण्ड फूटि परवश रहे, सो लै तारै काहि ॥९॥
कविरा पाहन पूजिके होन कहै भव पार।
भीज पानि बेधे नदी, बूड़े जिन सिर भार ॥१०॥
लोहा केरा नावरी, पाहन गरुवा भार।
कहे कबीर विचारि कै, भव बूडा संसार ॥११॥
कबिरा दुनिया देहरे, सीस नवावे जाय।
हिरदा मांहीं हरि बसें, तू ताही लौलाय ॥१२॥
कांकर पाथर जोरिकै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढि मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय ॥१३॥
मुल्ला चढि किलकारिया, अलख न बहरा होय।
जिस कारण तू बंग दै, सो दिलही अन्दर जोय ॥१४॥
तुरक मसीते देहरे हिन्दू, आप आपको ध्याय।
अलख पुरुष घट भीतरे, ताका पार न पाय ॥१५॥

(११०) अथ भ्रमनको अंग

जप तप दीखै थोथरा, तीरथव्रत विश्वास।
सूआ सेभल सेइया, यो जग चला निरास ॥१॥
न्हाये धोये कहँ भया, मनका मैल न जाय।
नीम न कडुआपन तजै, जल में सदा रहाय ॥२॥
मछरी तुरकै पकरिया, बसै गंगके तीर।
धोये कुलाधिन भाजहीं, राम न कहै शरीर ॥३॥
निर्मल हरिके नाम सो, कै निर्मल साधू भाय।
कोइला होय न ऊजला, सो मन साबुन लाय ॥४॥
मनतीमें फूला फिरै, करता हूं जो धर्म।
कोटि धर्म शिरपर चढ़ै, चेत न देखे मर्म ॥५॥

और धरम सब करम है, भक्ति धरम निहकर्म।
नदी हत्यारीको कहै, कुआ बावरी भर्म ॥६॥
कर्म हमारे काटि है, कोइ हरिजन कलि माहि।
कहै हमारी बासना, सो हरिजन कहिये नाहि ॥७॥
अहिरन मारै काँखमें, करै सुईका दान।
ऊँचे चढिकै देखई, केतिक दूरि विमान ॥८॥
मरती बिरियाँ दान दे, जीवन बड़ा कठोर।
कहैं कबीर क्यो पाइये, खाँडा कावै घोर ॥९॥
बहुत दान जो देत है, करि करि बहुतै आस।
काहूके गज होयँगे, खइहै सेर पचास ॥१०॥
मुफ्त दान जो देत हैं, मुफतहि लेत असीस।
ऊंट काहुके हाहिंगे, लादेंगे मन बीस ॥११॥
सब बन तो तुलसी भई, सब परवत शालग्राम।
सब नदियाँ गंगा भई, जाना आतमराम ॥१२॥
पाँच तत्त्वका पूतला, रज बीरजकी बूंद।
एकै घाटी नीसरा, ब्राह्मण क्षत्री शूद ॥१३॥
कबिरा या संसारको, समुझायो कइ बार।
पूँछ जो पकड़े, भेड़की, उतरा चाहै पार ॥१४॥

(१११) अथ भेषको अंग

तत्त्व तिलक तिहुँ लोकमे, राम नाम निजसार।
जन कबीर मस्तक दिया, शोभा अमित अपार ॥१॥
त्रिकुटीही निज मूल है, भृकुटी मध्य निशान।
ब्रह्म दीप अस्थूल है, अगर तिलक निर्बान ॥२॥
अगर तिलक सिर सोहई, वैसाखी उनिहारि।
शोभा अविचल नामकी, देखो सुरति बिचारि ॥३॥
जैसे तिलक उनहार है, तस शोभा अस्थीर।
खंभ ललाटे सोहई, तत्त्व तिलक गंभीर ॥४॥
तत्त्व तिलकको खानि है, महिमा है निज नाम।
अक्षै नाव वा तिलकको, रहे अक्षय विश्राम ॥५॥
मध्य गुफा जहँ सुरति है, उपरि तिलकका धाम।
अमर समाधि लगावई, जहँ दासै निर्गुन नाम ॥६॥
द्वादश तिलक बनावही, अंग अंग अस्थान।
कहै कबीर विराजही, उज्ज्वल हंस अमान ॥७॥
तत्त्व तिलक माथे दिया, सूरति श्रवनी कानि।
करनी कंठी कंठमे, परसा पद निर्वान ॥८॥
मन माला तन सुमिरनी, हरिजी तिलक दियाय।
दुहाई राजा रामकी, दूजा करि कियाय ॥९॥
मन माला तन मेखला, भयकी करै भभूत।
राम मिला सब देखतां, सो जोगी अवधूत ॥१०॥

क्रिया करै अंगुली गिनै, मन धावै घहुँ ओर।
जिहि फेरे सांई मिले, सो भया काठ कठोर॥११॥
माला फेरत युग गया, पाया न मनका फेर।
करका मनका छाड़िकै, मनका मनिका फेर॥१२॥
माला फेरे मनमुखी, वहुतक फिरे अचेत।
गांगी रोले यहि गया हरिसों किया न हेत॥१३॥
माला फेरे कछु नही, डारि मुआ गल भार।
ऊपर ढोलाहीं गला, भीतर भरा भंगार॥१४॥
कबिरा माला काठकी, बहुत यतन का फेर।
माला स्वाँस उस्वाँस की, तामें गाँठि न मेर॥१५॥
कबिरा माला काठकी, पहिरी मुगद डुलाय।
सुमिरन की सुधि है नही, ज्यों डिगर बांधी गाय॥१६॥
शीतल जल पातालका, साठि हाथ पेर मेख।
माला के परतापते, ऊपर आपा देख॥१७॥
माला फेरे कहा भयो, गांठि न हृदय की खोय।
हरि चरना चित राचिये, तो अमरा पुर जोय॥१८॥
माला तिलक पहीरिकै, हूआ घोटम घोट।
मनुवा क्यों ना मूँड़िये, जामें सारा खोट॥१९॥
मूँड मुडाये हरि मिलै, सब कोइ लेहु मुँडाय
बार बार के मूँड़ने, भेड़, वैकुण्ठ न जाय॥२०॥
दाढ़ी मूछ मुडाय के, हूआ घोटम घोट।
मनुवा क्यों ना मूँडिये, जा मे सारा खोट॥२१॥
मला फेरे कुछ नहीं, काती मन के हात।
जब लगि हरि परसै नही, तब लगि थोथी बात॥२२॥
केशे कहा बिगारिया, जो मूँडो सौ बार।
मन को क्यों नहि मूँडिये, जामें विषै विकार॥२३॥
मन मेवासी मूँडिये, केशहि मूँडे काहि।
जो कछु किया सो मन किया, केशां किया कछु नांहि॥२४॥
मूंड़ मुड़ावत दिन गया, अजहुं न मिलिया राम।
राम नाम कहो क्या करै, मनके औरे काम॥२५॥
भूला भसम लगायके, मिटी न मनको चाहि।
जब लग सिका न साँचका, तब लगि योगी नाँहि॥२६॥
ऐसी ठाठाँ ठाठिये, बहुरि न यह तन होय।
ज्ञान गूदरी ओढिये, काढि न सकिहै कोय॥२७॥
बाना पहरै सिहका, चलै भेड़की लार।
बोली बोले श्यालकी, कुत्ता खाये फार॥२८॥
हम तौ योगी मनहिके, तनके है ते और।
मन को योग लगावतां, दशा भई कछु और॥२९॥
भर्म न भागै जीयका, बहुतक धरिया भेख।
सतगुरु मिलिया बाहिरे, अंतर रहिगा लेख॥३०॥

कबिरा वह तो एक है, परदा दीया भेख।
भरम करम सब दूरि कर, सबही महि अलेख ॥३१॥
पहले बूडी पृथ्वी, झूठे कुलकी लार।
अलख बिसार्‍यौ भेषमे, बूडे काली धार ॥३२॥
चतुराई हरि ना मिलै, ये बातो की बात।
निस्नेही निरधारको, गाहक दीनानाथ ॥३३॥
नौसत साजे सुंदरी, तन मन रही सँजोय।
पियके मन मानै नही, पटम किये क्या होय ॥३५॥

(११२) अथ कुसंगतिको अंग

कबिरा कुसंग न कीजिये, जाका नावँ न ठांव।
ते क्यों होसी बापरा, साधु नही जिहि गांव ॥१॥
उज्ज्ल बून्द अकाशकी, परिगई भूमि बिकार।
मूल विनट्या मानई, बिन संगति भव छार ॥२॥
गिरिये पर्वत शिखरते, परिये धरनि मँझार।
मूरख मित्र न कीजिये, बूडो काली धार ॥३॥
मूरखको समुझावता, ज्ञान गाठिका जाय।
कोयला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय ॥४॥
कोयलाभी होय ऊजला, जरिबरि होय जो श्वेत।
मूरख होय न ऊजला, ज्यो कालरका खेत ॥५॥
मारी मरे कुसंगकी, ज्यो केला ढिग बेर।
वह हाले वह चीरई, साकट संग निबेर ॥६॥
केला तबहि न चेतिया, जब ढिग जागी बेरि।
अबके चेते क्या भया, कांटो लीन्हा घेरि ॥७॥
कबिरा कहते क्यो बनै, अनबनतीके संग।
दीपकके भावे नही, जरि जरि मरै पतंग ॥८॥
मेरे निसानी मीचकी, कुसंगतिही है काल।
कहै कबीर सुनी प्रानियां, बानी ब्रह्म सँभाल ॥९॥
जानि बूझि सांची तजै, करै झूँठ सो नेह।
ताकी संगति रामजी, सपनेहूँ मति देह ॥१०॥
काचा सेती मति मिलै, पाका सेती बानि।
काचा सेती मिलतही, होय भक्ति मे हानि ॥११॥
तोहि पीर जो प्रेमकी, पाका सेती खेल।
काचा सरसों पेरि के, खली भया ना तेल ॥१२॥
कुल टूटे काची परी, सरा न एको काम।
चौरासी बासा भया, दूरि परा हरि नाम ॥१३॥

दाग जु लाग नीलका, सौ मन साबुन धोय।
कोटि जतन कर बोधिये, कागा हंस न होय॥१४॥
सतगुरु का यक देश है, जो बसि जाने कोय।
कागा ते हंसा करै, जाति वरण कुल खोय॥१५॥
जगसो आपा राखिकै, ज्यो विषहरिसो अंग।
करो दया जो खूब है, बुरा खलकका संग॥१६॥

(११३) अथ संगतिको अंग

कबिरा संगति साधुकी, नित प्रति कीजै जाय।
दुर्मति दूरि बहावसी, देसी सुमति बताय॥१॥
संगति सो सुख ऊपजै, कुसंगति सो दुख जोय।
कहै कबीर तहँ जाइये, साधु संग जहँ होय॥२॥
कबिरा संगति साधुकी, कबहुँ न निष्फल जाय।
जोपै धोवै भूनिकै, फूलै फलै अघाय॥३॥
कबिरा संगति साधुकी, हरै और की व्याधि।
संगति बुरी कुसाधुकी, आठों पहर उपाधि॥४॥
कबिरा संगति साधुकी, जौकी भुसी जो खाय।
खीर खाँड भोजन मिलै, साकट सभा न जाय॥५॥
कबिरा संगति साधुकी, कबहुँ न निष्फल जाय।
होसी चंदन बांवनां, नीम न कहसी काय॥६॥
संगति कीजै संतकी, निजका पूरा मन।
अन ताल ही देत हैं, राम सरीखा धन॥७॥
कबिरा संगति साधुकी, ज्यों गांधीका पास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास॥८॥
एक घरी आधी घरी, आधी सो भी आध।
कबिरा संगति साधुकी, कटै कोटि अपराध॥९॥
साधु संगति अन्तर परै, यह मति कबहूं होय।
कहे कबीर तिहुँलोकमे, सुखी न देखा कोय॥१०॥
कलह काल औ कल्पना, सत संगति सो जाय।
दुखवा सो भाजा फिरै, सुखमें रहै समाय॥११॥
कबिरा वन वन में फिरा, कारण अपने राम।
राम सरीखा जन मिले, तिन सारे सब काम॥१२॥
कबिरा सो दिन निर्मला, जा दिन संत मिलाय।
अंक भरे भरि भेटिये, पाप देहका जाय॥१३॥
राम राम रटिबो करै, निसि दिन साधुन संग।
कहो जो कौन बिचार ते, नहि नैना लागत रंग॥१४॥
मन दीया कहुं औरही, तन साधुन के संग।

कहै कबीर कोरी गजी, कैसे लागै रंग॥१५॥
साखी शब्द बहुतै सुना, मिटा न मनका दाग।
संगति में सुघरा नही, ताका बड़ा अभाग॥१६॥
कबिरा संगति साधुकी, जो कर जानैं कोय।
चंदनते बन चंदन भया, बाँस न चंदन होय॥१७॥
कबिरा चन्दन के बिषे, बेधा आक पलास।
आप सरीखा करि लिया, जो होते उन पास॥१८॥
मलयागिरि के बास मे, वृक्ष रहै सब गोय।
कहिबेकूँ चंदन भये, मलयागिरि नहिं होय॥१९॥
मलयागिरिकी बासमे, बेधा आक पलास।
बांस न कबहूं बेधिया, रहै युगोयुग पास॥२०॥
मलयागिरिके पेडसौं, सरप रहैं लपटाय।
रोम रोम विष भीनिया, अमृत कहां समाय॥२१॥
चंदन जैसा सन्त है, सरप जैस संसार।
बाके अंग लपटा रहै, भागै नहीं बिकार॥२२॥
चन्दन डर लहसुन करै, मति रे बिगारै बास।
सुगुरा डरपै निगुरु सो, यो जगसे डरपै दास॥२३॥
कबिरा घड़ीकी आधी घडी, भाव भक्तिमें जाय।
सत संगति पलही भली, यमका धका न खाय॥२४॥
जा पल दर्शन साधुका, ता पलकी बलिहारि।
राम नाम रसना बसै, लीजै जन्म सुधारि॥२५॥
ते दिन गये अकारथी, संगति भई न संत।
प्रेम विना पशु जीवना, भक्ति विना भगवन्त॥२६॥
जा घर हरि की भक्ति नहिं, संत नही मिहमान।
ता घर यम डेरा दिया, जीवत भये मसान॥२७॥
ऋद्धि सिद्धि मांगूँ नही, हरि सो मांगूँ एह।
नित प्रति दर्शन साधुका, कहैं कबीर मोहिं देह॥२८॥
मेरा मन हंसा रमै, हंसा गमनि रहाय।
बगुला मन मानै नही, घर आंगन फिरि जाय॥२९॥
कबिरा तासो संग कर, जो रे भजै हैं राम।
राजा राना छत्रपति, राम बिना बेकाम॥३०॥
राम बुलाया भेजिया, दिया कबीरै रोय।
जो सुख साधूसंग मे, सो वैकुंठ न होय॥३१॥
कबिरा खाई कोटका, पानी पिये न कोय।
जाय परै जब गंग मे, सब गंगोदक होय॥३२॥
कबिरा मन पक्षी भया, मन माने तहँ जाय।
जो जैसी संगति करै, सो तैसा फल खाय॥३३॥

(११४) अथ असाधुको अंग

बांबी कूटै बावरे, सर्प न मारा जाय।
मूरख बांबी ना डसै, सरप जगत को खाय ॥१॥
कबिरा सौ मन दूधका, टपक किया बिनाश।
दूध फाटि कांजी भया, हुआ जो घृतका नाश ॥२॥
रैनि पुरै बासर घटै, बन अँधियारा होय।
लागि रहा फूलां फला, पथ नहि काटा कोय ॥३॥

(११५) अथ साधको अंग

सब बन तो चन्दन नही, शूराके दल नाहि।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधू जग मांहि ॥१॥
सिहनके लेहँड़ा नही, हंसन की नहि पाँति।
लालनकी ओबरी नही, साधु न चले जमाति ॥२॥
स्वांगी सब संसार है, साध समझि भये पार।
अनलपक्ष कोइ एक है, पक्षी कोटि हजार ॥३॥
साधू जन सबमें रमैं, दुःख न काहू देहि।
अपने मत गाढ़ा रहै, साधुन का मत एहि ॥४॥
साधु ऐसा चाहिये, दुखै दुखावै नाँहि।
पान फूल छेरै नहीं, बसै बगीचा मांहि ॥५॥
साधु हजारी कापड़ा, तामें मल न समाय।
साकट काली कामली, भावै तहां बिछाय ॥६॥
हांसी खेल हराम है, जो जन राते राम।
माया मन्दिर इस्तरी, नही साधुका काम ॥७॥
साधू भौरा जग कली, निस दिन फिरै उदास।
टुक इक तहां बिलंबिया, जहाँ शीतल शब्द निवास ॥८॥
सिह साधूका एक मत, जीवतही को खाय।
भावहीन मृत्तक दशा, ताके निकट न जाय ॥९॥
कमल पत्र है साधु जन, बसे जगतके मांहि।
बालक केरी धाय ज्यों, अपना जानत नांहि ॥१०॥
उडुगन मीन सुधाकरा, बसत नीरकी संघ।
यो साधू संसार में, कबिरा परत न फंद ॥११॥
तीन लोक उनमान में, चौथो अगम अगाध।
पंचम दिशा है अलख की, जानैगा कोइ साध ॥१२॥
साध सिद्ध बड़ अंतरा, जैसे आम बबूल।

बाकी डारी अमी फल, वाकी डारी शूल ॥१३॥
रविको तेज घटै नही, जो घन जुरै घमंड।
साधु वचन पलटै नही, जो उलटि जाय ब्रह्माण्ड ॥१४॥
साधु कहावन कठिन है, आगेकी सुधि नांहि।
सूली ऊपर खेलना, गिरै तो ठोरहि काहि ॥१५॥
साधु कहावन कठिन है, ज्यों खाँडे की धार।
डगमगाय तौ गिरि परै, निश्चल उतरै पार ॥१६॥
साधु कहावन कठिन है, ज्यो लम्बी पेड़ खजूर।
चढै तौ चाखै प्रेम रस, गिरै तो चकनाचूर ॥१७॥
जौन भाव ऊपर रहै, भीतर बसावे सोय।
भीतर और न बसावई, ऊपर और न होय ॥१८॥
जौन चाल संसारकी, तौन साधुकी नांहि।
दम्भ चाल करनी करै, साधु कहो मति ताहि ॥१९॥
साधु चाल जो चालई, साधु कहावै सोय।
बिन साधन जो सुधि नही, साधु कहाँ ते होय ॥२०॥
साधू सोई जानिये, चलै साधु की चाल।
परमारथ राता रहै, बोलै वचन रसाल ॥२१॥
तन मे शीतल शब्द है, बोले वचन रसाल।
कहै कबीर ता साधुको, गंजि सकै ना काल ॥२२॥
गांठी दाम न बाधहा, नाहि नारिसो नेह।
कहै कबीर वा दासके, चरण कमलका खेह ॥२३॥
साधु सती अरु शूरमाँ, इन पटतर कोइ नाहि।
अगम पंथको पग धरै, गिरे तो कहा समाहि ॥२४॥
अगम पंथको मन गया, सुरति भई अनुबानि।
तहां कबीरा मँडि रहा, बेहदके मैदान ॥२५॥
बहता पानी निर्मला, बँधा गाँधीला होय।
साधू जन रमते भले, दाग न लागे कोय ॥२६॥
बंधा पानी निर्मला, जो टुक गहरा सोय।
साधू जन बैठा भला, जो कछु साधन होय ॥२७॥
कौन साधुका खेल है, कौन सुरतिका दाव।
कौन अमृतका कूप है, कौन वज्रका घाव ॥२८॥
क्षमा साधुका खेल है, सुमति सुरति का दाव।
कर्ता अमृत कूप है, शब्द वज्र का घाव ॥२९॥
धरती अम्बर जायँगे, बिनसैंगे कैलास।
एकमेक हो जायगे, तब कहां रहैगे दास ॥३०॥
एकमएका होन दै, बिनसन दै कैलास।
धरती अम्बर जान दै, मोमे मेरे दास ॥३१॥

(११६) अथ साक्षीभूतको अंग

कबिरा पांच बलधिया, ऊजर ऊजर जांहि।
बलिहारी वा दासकी, पकरि जो राखे बांहि ॥१॥
कबिरा जिन कछु जानिया, सुख नीदरी बिहाय।
मेरे अबूझी बूझिया, परी परी बिललाय ॥२॥
पील कँदौरी साँइया, कवल कहै इस रोग।
छौने लंघन नित करूं, राम पियारे जोग ॥३॥
जा घट मे सांई बसै, सो क्यो छाना होय।
जतन जतन करि दाबिये, तौ उजियारा सोय ॥४॥
सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घाट की, जा घट परगट होय ॥५॥
राता राता सब कहै, अनराता कहै न कोय।
राता सोही जानिये, जा तन रक्त न होय ॥६॥
राता रक्त न नीकसे, जो तन चीरे कोय।
जो राता हरि नाम सो, ता तन रक्त न होय ॥७॥
जो भाजौ तौ भय नहीं, सनमुख रहा न जाय।
सूता सिंह न जगाइये, जे छैरे तेहि खाय ॥८॥
राम राम जिन उच्चरयौ, छन छन बारंबार।
ते मुख भय जो ऊजला, कहै कबीर विचार ॥९॥

(११७) अथ साधुमहातमको अंग

साधू आवत देखिकै, चरनूं लागो धाय।
क्या जानौ इस भेषमें, हरि ही जो मिलि जाय ॥१॥
साधू आवत देखिके, हंसी हमारी देह।
माथा का ग्रह ऊतरा, नैना बढ़ा सनेह ॥२॥
साधू आवत देखिकै, मनमे करै मरोर।
सो होवैगा चूहडा, बसै गाँवकी ओर ॥३॥
आवत साधू न हरषिया, जात न दीया रोय।
कहै कबीर ता दासकी, मुक्ति न कबहूँ होय ॥४॥
साधू भूँखा भावका, धनका भूँखा नाहि।
धनका भूँखा जो फिरै, सो तो साधू नाहि ॥५॥
साधू आया पाहुना, माँगे चार रतन्न।
धनी पानी साथरा, शरधा सेती अन्न ॥६॥
छाजन भोजन प्रीतिसो, दीजै साधु बुलाय।

जीवत यश होय जगतमें, अंत परमपद पाय ॥७॥
हो साधुके संग हौ, अंत कहूं नहि जांव।
जो मोहि अरपै प्रीतिसों, साधुन मुख होय खांव ॥८॥
साधु हमारी आतमा, हम साधुके जीव।
साधुन मध्ये यो रहो, ज्यो पय मध्ये घीव ॥९॥
ज्यो पय मध्ये घीव है, त्यो रमि रहा सब ठौर।
वक्ता श्रोता बहु मिले, मथि काढे ते और ॥१०॥
साधु नदी जल प्रेम रस, तहां पर छालो अंग।
कहे कबीर निर्मल भया, हरि भक्तन के संग ॥११॥
कबिरा सोई दिन भला, जादिन संत मिलाय।
अंक भरे भरि भेटिये, पाप शरीरा जाय ॥१२॥
साधु मिले साहिब, मिले अंतर रही न रेख।
मनसा वाचा कर्मना, साधू आप अलेख ॥१३॥
निराकार की आरसी, साधुनहीकी देह।
लखा जो चाहे अलखको, इनहीं में लखि लेह ॥१४॥
साधुन केरी दयाते, उपजे बहुत अनंद।
कोटि विघ्न पल में टरै, मिटै सकल दुख द्वंद ॥१५॥
सुख देना दुख मेटना, दूर करन अपराध।
कहे कबीर वे कब मिले, परम सनेही साध ॥१६॥
हरि दरबारी साधु है, इनते सब कछु होय।
वेगि मिलावै, रामको, इन्है मिलै जो कोय ॥१७॥
साधू खोजा रामके, धसे जो महलन माहि।
औरन को परदा लगै, इनको परदा नाहि ॥१८॥
गिरही सेवे साधुको, साधू सुमिरे राम।
यामे धोखा कछु नही, सरै दोऊका काम ॥१९॥
साधुनकी कुतिया भली, बुरी साकटकी माय।
वा बैठी हरि यश सुनै, वा निन्दा करने जाय ॥२०॥
भली भई जो भय मिटा, टूटी कुलकी लाज।
वे परवाही है रहा, बैठा राम जहाज ॥२१॥
साधु समुन्दर जानिये, मांही रत्न भराय।
मंद भाग मूठी भरै, कर कंकर चढ़िजाय ॥२२॥
साधू तो हीरा भया, ना फूटै घन खाय।
ना वह बिनसै कुंभ ज्यो, ना वह आवे राय ॥२३॥
साधु सीप साहिब समुद्र, निपजत मोती माहि।

वेही ठिकाने पाइये, नाल खालमे नाहि ॥२४॥
हरि दरिया सुभरा भरा, साधुनका घट सीप।
तामे मोती नीपजै, चढै दिसावर द्वीप ॥२५॥
चंदनकी घुटकी भली, कहा बबूल वनराव।
साधुनकी छपरी भली, बुरो असाधुको गाँव ॥२६॥
जाति न पूछौ साधुकी, जो पूछौ तो ज्ञान।
मोल करो तरवारका, परा रहन दो म्यान ॥२७॥
कहा अकासका फेर है, कहा धरतीका तोल।
कहा साधुकी जाति है, कहा पारसका मोल ॥२८॥
साधु वृक्ष हरिनाम फल, शीतल शब्द बिचार।
जगमें साधु होते नही, जलि मरता संसार ॥२९॥
तीरथ न्हाये एक फल, साधु मिले फल चार।
सतगुरु मिले अनेक फल, कहै कबीर बिचार ॥३०॥
साधु सिद्धका एक मत, साधु मता परचंड।
सिद्ध तारै तन आपना, साधु तारे नवखंड ॥३०॥
यही बडाई संतकी, करनी देखो आय।
रज हूं ते झीना रहै, लौलिन ह्वै गुनगाय ॥३१॥
हरि सेती हरिजन बड़े, समुझि देखु मन मांहि।
कबिरा सब जग हरि विषै, सो हरि हरिजन मांहि ॥३२॥
परमेश्वर ते सँत बड़े, ताका कहा उनमान।
हरि माया आगे धरै, संत रहै निवान ॥३३॥
सन्त बड़े संसारमें, हरितें अधिकी सोय।
बिन इच्छा पूरन करै, साधू साहिब होय ॥३४॥
नीलकंठ कीडा भखै, मुख वाके है राम।
औगुन वाके लगै नही, दर्शनहीसे काम ॥३५॥
साधूको उठि भेंटिये, मुखते कहिये राम।
नातो साधु स्वरूपको, करनी सो नहि काम ॥३६॥
काहूको नहि निंदिये, सबको कहिये संत।
करनी अपनी ते तरै, मिलि भजिये, भगवंत ॥३७॥
अवैष्णव कोई नही, सबै वैष्णव जानि।
जेता हरिको ना भजै, तेता ताको हानि ॥३८॥
आप साधु करि देखिये, असाधू देखु न कोय।
जाके हिरदै हरि नहीं, हानि उसी को होय ॥३९॥
कबिरा दर्शन साधुका, करत न कीजै कानि।
ज्यो उद्यमते लक्ष्मी मिलै, आलसमें नित हानि ॥४०॥
कबिरा दर्शन साधुके, साहब आवै यादि।
लेखामें सोही घरी, बाकीका दिन बादि ॥४१॥
दर्शन कीजे साधुका, दिनमे कई एक बार।
आसोजाका मेह ज्यो, बहुत करै उपकार ॥४२॥
कई बार नहि करि सकै, दोय वक्त करि लेय।
कबिरा साधू दरस सो, काल दगा नहि देय ॥४२॥

दोय बखत नहि करि सकै, दिनमें कर इक बार।
कबिरा साधु दरसतै, उतरै भवजल पार ॥४४॥
एक दिना नहि करि सकै, दूजे दिन करि लेय।
कबिरा साधू दरसतै, पावै उत्तम देह ॥४५॥
दूजे दिन नहि करि सकै, चोथे दिन कर जाय।
कबिरा साधू दरसते, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥४६॥
चोथे दिन नहि करि सकै, बार वार कर जाय।
यामे विलम्ब न कीजिये, कहै कबीर समुझाय ॥४७॥
बार वार नहि करि सकै, पक्ष पक्ष करै सोय।
कहै कबीर ता दासको, जनम सुफलही होय ॥४८॥
पक्ष पक्ष नहि करि सकै, मास मास कर धाय।
यामे भेद न कीजिये, कहै कबीर समुझाय ॥४९॥
मास मास नहि करि सके, छठे मास अलबत्ति।
यामें ढील न कीजिये, कह कबीर अविगत्ति ॥५०॥
छठे माँस नहि करिसके, बरस दिना करि लेय।
कहे कबीर सो संतजन, यमे चुनौती देय ॥५१॥
बरस बरस नहि करि सकै, ताको लागै दोष।
कहै कबीरा वा जीव सों, कबहुँ न पावै मोष ॥५२॥
मात पिता सुत इस्तरी, आलस बंधू कानि।
साधु दरसको जब चले, ये अटकावै आनि ॥५३॥
इनका अटकाया ना रहे, साधु दरस को जाय।
कबिरा सोई संतजन, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥५४॥
साधु चलत रोय दीजिये, कीजे अति सनमान।
कहै कबीर भेट धरु, अपने वित्त अनुमान ॥५५॥
खाली साधु न विदा करु, सुन लीजी सब कोय।
सुनो कबीरा भेट धरु, जो तेरे गृह होय ॥५६॥
मोहर रुपैया पईसा, छाजन भोजन देय।
कहै कबीर सो जगतमे, जनम सफल करि लेय ॥५७॥
बेटा वेटी इस्तिरी, साधु चाहे सो देय।
सिर साधुके अर्पही, जन्म सफल करि लेय ॥५८॥
हाथी घोड़ा गाय भैस, अरथ रु गाडी भवन।
कबीर दीजे साधुकौ, कीया चाहे गवन ॥५९॥
कबिरा दरशन साधुके, खाली हाथ न जाय।
यही सीख बुद्धि लीजिये, कहै कबीर समुझाय ॥६०॥
सुनिये पार ते पाइया, छाजन भोजन आनि।
कहै कबीरा साधु को, देत न कीजै कानि ॥६१॥
कबिरा लौग इलायची, दातुन माटी पान।
कहे कबीरा साधुको, देत न कीजे कान ॥७२॥
टूका माहि टूक दै, चीर मांहि सो चीर।
साधू देत न सकुचिये, यो कहै दास कबीर ॥६३॥
कंचन दीया करणने, द्रोपदी दीया चीर।

जो दीया सो पाइया, ऐसे कहै कबीर ॥६४॥
निराकार निज रूपहै, प्रेम प्रीति सो सेव।
जो चाहे आकार को, साधु प्रत्यक्षहि देव ॥६५॥
जा सुखको मुनिवर रटै, सुमिरन करै बिलाप।
सो सुख सहजे पाइया, संतो संगति आप ॥६६॥
मेरा मन पक्षी भया, उड़िकै चढा अकास।
बैकुंठहि खाली परा, साहब संता पास ॥६७॥
पर्बत पर्बत मै फिरा, कारन अपने राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम ॥६८॥
कबिरा शीतल जल नहीं, हेम न शीतल होय।
कबीर शीतल संत जन, नाम सनेही सोय ॥६९॥
भली भई हरिजन मिले, कहने आयो राम।
सुरति दशौ दिशि जाय थी, अपने अपने काम ॥७०॥
संत मिला जनि बीछरो, बिछरो यह मम प्रान।
राम सनेही ना मिले, प्रान देह मति आन ॥७१॥
कोटि कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि कर धाम।
जब लगि सन्त न सेवई, सरे न एकहु काम ॥७२॥
आसा वासा संतका, ब्रह्मा लखै न बेद।
षट दरशन खटपट करै, बिरला पावै भेद ॥७३॥
ऊँडा चित्त रु सम दशा, साधू गण गंभीर।
जो धोखा बिरचै नहीं, सोही संत सधीर ॥७४॥

(११८) अथ देखादेखीको अंग

देखा देखी भक्तिका, कबहुँ न लागै रंग।
बिपति परै यो छांड़सी, जिमि कांचली भुवंग ॥१॥
ज्ञान संपूरन ना बिधा, हिरदा नही खुदाय।
देखा देखी पकरिया, रंग नही ठहराय ॥२॥
देखा देखी पकरिया, गई छिनक मे छूटि।
कोइ बिरला जन ठाहरै, जाकी ठाको री पूठि ॥३॥
देखा देखी सब कहै, भोर भये तें राम।
आधरात कोइ जन कहै, खानाजाद गुलाम ॥४॥
यह मन ताको दीजिये, जो साचा सेवक होय।
शिर ऊपर आरा सहै, तौहु न दूजा सोय ॥५॥
करिये तो करि जानिये, जो सरीखा सेती संग।
झिर झिर जिमि लोई भई, तऊ न छांडे रंग ॥६॥

(११९) अथ मध्यको अंग

साखी आंखी ज्ञानकी, समझि देखु मन मांहि।
विन साखी संसारका, झगरा चूकै नाहि ॥१॥

जो मन समुझे ज्ञान में, ज्ञानहि होय सहाय।
सो फिर ताही ना रुचै, ताते कहा बसाय॥२॥
समुझेका घर और है, अन समझेका और।
जा घटमें साहिब बसै, सो विरला जानै ठौर॥३॥
समझेका मत और है, अन समुझेका और।
समुझे पीछे जानिये, राम बसै सब ठौंर॥४॥
मोमें तोमें सरब में, जहँ देखूं तहँ राम।
राम बिना क्षण एकही, सरे न एको काम॥५॥
अनल पंख आवै नही, सुत अपनेको लेन।
वह अलीन यह लीन है, उलटि मिलेते चैन॥६॥
अनलपक्ष कै चीतवै, गिरते किया विचार।
सुरति बांधि चेतन भयो, जाय मिला परिवार॥७॥
जाय मिला परिवारमे, सुखसागरके तीर।
बरन पलटि हंसा किया, सतगुरु शब्द कबीर॥८॥
नरक स्वर्ग ते मैं रहा, सतगुरुके परसादि।
चरण कमलकी मौजमें, रहसी अंतर आदि॥९॥
दास कबीर काढी भली, दोऊ राह बिच राह।
अंधे लोग अचरज करै, सारे करैं सराह॥१०॥
सुरति निरति दोऊ तूंबरी, आवा गमन अबद्ध।
अनसमझा धोखे परा, समझा सोई सिद्ध॥११॥
प्रगट गुप्तकी संधि में, जो यह अस्थिर होय।
ज्यो देवल का दीवला, अंदर बाहर सोय॥१२॥
पाया कहै ते बावरे, खोया कहैं ते कूर।
पाया खोया कछु नही, ज्यो का त्यो भरपूर॥१३॥
भंजू तो कोहै भजन को, तंजू तो कोहे आन।
भजन तजन के मध्य मे, सो कबीर मन मान॥१४॥
लेऊ तो महा प्रतिग्रह, देऊँ तो भोगंत।
लेन देन के मध्यमे, सो कबीर निज संत॥१५॥
दुआ देऊँ तो दोजख जाऊँ, वह दुआ भी नाँहि।
दुआ बद्दुआ किसको देऊँ, साहब है सब माँहि॥१६॥
मँडि रहना मैदानमे, सन्मुख सहना तीर।
जमरा और जगदीशके, मध्यमे बसै कबीर॥१७॥
गुरु नही चेला नही, मूरीदहु नहिं पीर।
एक नही दूजा नही, मूरीदहु नहि पीर॥१८॥
हिदू ध्यावै देहरा, मुसल्मानहू मसीत।
दास कबीर तहां ध्यावही, जहां दोनों की परतीत॥१९॥
हिदू तुरक के बीचमे, मेरा नाम कबीर।
जीव मुक्तावन कारनै, अविगति धरा शरीर॥२०॥
हिन्दू तुरक के बीचमे, शब्द कहूँ निर्वान।
बंधन काटूँ जगतको, मै रहता रहमान॥२१॥

हिन्दू कहूँ तौ मैं नही, मुसलमान भी नाहि।
पाँच तत्वका पूतला, गैबी खेले माहिं॥२२॥
गैबी आया गैबते, इहां लगाया ऐब।
उलटि समाना गैब में, तब कहां रहैगा ऐब॥२३॥
गैबी तो गलिया फिरै, अजगैबी कोइ एक।
अजगैबी हू जो लखे, जाके हृदय विवेक॥२४॥
आगे खोजी पचि मुआ, पीछे रहा भुलाय।
मध्य माहि बासा करै, ताको काल न खाय॥२५॥
सांच कोई न मानई, झूठ कहा नहि जाय।
साँच झूँठके मध्यमें, रहा कबीर समाय॥२६॥
अतिका भला न बोलना, अतिकी भली न चूप।
अतिका बला न बरसना, अतिकी भली न धूप॥२७॥

(१२०) अथ समझावनको अंग

समझे को सेरी धनी, अन समझे को नाहि।
द्वार न पावै शब्द का, फिरि फिरि गोता खाहि॥१॥
समझा समझा एक है, अन समझे सब एक।
समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक॥२॥
कोटि सायने पचि मुये, कथै बिचारे लोय।
समझा घट तब जानिये, रहित विकार जो होय॥३॥
समुझा समुझा एक है, अन समुझे से मौन।
बाते बहुत मिलावई, तासों झीखे कौन॥४॥
समुझा सोही जानिये, समुझि समानी माहि।
जब लग कछू न आवही, तब लग समुझा नाहि॥५॥
साखी आंखी ज्ञानकी, समुझि देखु मन माहि।
बिन साखी संसारको, झगरा चूकै नाहिं॥६॥

(१२१) अथ विचारको अंग

राम नाम सब कोइ कहे, कहने माहि बिचार।
सोइ राम जो सती कहै, सोई कोतिक हार॥१॥
आगि कहै दाझै नही, पांव न दीजै मांहि।
जोपै भेद न जानई, राम कहा तौ काहि॥२॥
कबिरा सोचि बिचारिया, दूजा कोई नाहि।
आपा पर जब चीन्हिया, उलटि समाना माहि॥३॥
राम भजो मन बसि करो, येही वडा अरथ।
काहे को पढि पढि मरो, कोटिक ज्ञानहि ग्रँथ॥४॥
एक शब्द मे सब कहा, सबही अर्थ विचार।
भजिये निर्गुन नामकों, तजिये विषै विकार॥५॥
कबिरा भूला दगामे, लोग कहै यह भूल।

कर्महि बाट बतावही, कै भूलत भूला भूल ॥६॥
नौ मन सूत अरुझिया, कबिरा घर घर बारि।
तिन सुलझाया बापरे, जानी मुक्ति मुरारि ॥७॥
बोल तो अनमोल है, जो कोई जानै बोल।
हिये तराजू तोलिके, तब मुख बाहर खोल ॥८॥
ज्यो आवै त्योही कहै, बोलै नही विचारि।
हते पराई आतमा, जीभ लेइ तरवारि ॥९॥
बोलै बोल विचारिकै, बैठे ठौर सँभारि।
कहै कबीर वा दासकी, कबहुँ न आवै हारि ॥१०॥
बोली हमारी पलटिया, या तन याही देश।
खारी सो मीठी करी, सतगुरुके उपदेश ॥११॥
कबिरा हम सबकी कहै, हमारी कही न जाय।
पूरबकी बातां कहै, पश्चिम जाय समाय ॥१२॥
अपनी अपनी सब कहै, हमारी कहै न कोय।
हम अपनी आपहि कहै, करता करै सो होय ॥१३॥
आजाको घर अमर है, बेटाके शिर भार।
तीन लोक नाती ठगा, पण्डित करौ विचार ॥१४॥
घारि घोर घोरी गये, पग पाहनी उतार।
घारूं दर धूनी हनी, पण्डित करौ विचार ॥१५॥
गुरु पशु कुल पशु नारि पशु, बेद पशु संसार।
मानुष सोई जानिये, जाके हृदय विचार ॥१६॥
उलटा ज्ञान विचारिके, देखो अपना देश।
हरदी धून मिलायके, रहै न दूजी लेश ॥१७॥
कबीरा उलटा ज्ञान का, कैसे करूं विचार।
अस्थिर बैठा पँथ कटै, चला घली नहि पार ॥१८॥
सोइ अक्षर सोई भनै, सोई जन जीवंत।
अकिलमन्द कोइक मिलै, अमिमहारसहि पिवंत ॥१९॥
हाथ पाँव मुख शीश धरि, बेगर बेगर नाम।
कहै कबीर विचारिकै, तोर नाम कहाँ ठाम ॥२०॥
हाथ पाँव मुख शीश धरि, बेगर बेगर नाम।
कहै कबीर विचारिकै, मोर नाम सब ठाम ॥२१॥

(१२२) अथ असारग्राहीको अंग

कबिरा कीट सुगंधि तजि, नरक गहै दिन रात।
असारग्राही मानवा, गहै असार जो बात ॥१॥
बूटी बाटी पान करि, कहै दुःख जो जाय।
कहै कबीर सुख ना गहै, यही असार सुभाय ॥२॥
मच्छी मल कूं, गहत है, निर्मल वस्तु जो छाँडि।
कहै कबीर असार मत, माँडि रहा मन माँडि ॥३॥
आटा तजि भूसा गहै, चलनी, देखु निहारि।

कबीर सार जो छांड़िके, गहै असार असार ॥४॥
पापी पुण्य न भावई, पापहिं बहुत सुहाय।
माखी सुगंध परहरै, जहां दुर्गंधि तहां जाय ॥५॥
रस छांड़ि, छोही गहै, कोलू परगट देख।
गहै असार असार को, हृदये नाहिं विवेक ॥६॥
दूध त्यागि रक्त गहै, लगी पयोधर जोक।
कहै कबीर असार मत, लक्ष न राखै कोक ॥७॥
निर्मल छाड़ै मल गहै, जनम असारी खोय।
कहै कबीरा सार तजि, आपुन गये बिगोय ॥८॥

(१२३) अथ सारग्राहीको अंग

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहे, थोथा देइ बहाय ॥१॥
सत संगति है सूप ज्यो, त्यागै फटकि असार।
कहै कबीर हरि नाम लै, परसै नाहि बिकार ॥२॥
पहलै फटकै छाजकै, थोथा सब उड़िजाय।
उत्तम भांडे पाइये, फटकंता ठहराय ॥३॥
वसुधा बन बहु भांति है, फूलै फूल अगाध।
मिष्ट सुवास कबिरा गहै, विषम गहे कोइ साध ॥४॥
औगुन को तो ना गहै, गुनहीको ले बीन।
घट घट महकै मधुप ज्यो, परमातम लै चीन ॥५॥
कबिरा सब घट आतमा, सिरजी सिरजन हार।
राम कहै सो राम सम, रहता ब्रह्म विचार ॥६॥
क्षीर रूप हरि नाम है, नीर रूप व्यवहार।
हंस रूप कोइ साधु है, तत्त्वका छानन हार ॥७॥
चुंबक काढ़ै सार कूं, जोरे मिला है रेत।
साधू काढै जीवको, उर अंतर के हेत ॥८॥
पारा कंचन काढ़िले, जोरि मिलावे आन।
कहै कबीरा सार मत, परगट किया बखान ॥९॥
रक्त छाँड़ि पै क्यों गहै, जोरे गऊका बच्छ।
औगुन छांड़ि गुनही गहै, सारगराही लच्छ ॥१०॥

(१२४) अथ पीवपिछानको अंग

अविगति पीसै पीसना, गौसा बिनै खुदाय।
निरंजन तो रोटी करै, गैबी बैठा खाय।
अक्षै पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
त्रिदेवा शाखा भये, पात भया संसार ॥२॥
तीन देवको सब कोइ ध्यावै, चौथा देवका मरम न पावै।
चौथा छांडि पँचम धावै, कहै कबीर सो हमरे आवै ॥३॥

तीन गुनन की भक्ति में, भूलि पर्यौ संसार।
कहै कबीरा निज नाम बिन, कैसे उतरै पार॥४॥
जो ओंकार निश्चय किया, यह कर्त्ता मति जानि।
सांचा शब्द कबीर का, परदा माहि पहिचानि॥५॥
हरा होय सूखै सही, यो त्रिगुन बिस्तार।
प्रथमहिं ताकों सुमिरिये, जाको सकल पसार॥६॥
अलख अलख सब कोउ कहै, अलख लखै नहिं कोय।
अलख लखा जिन सब लखा, लखा अलख नहि होय॥७॥
लखने हारे लखलिया, जाको है गुरुज्ञान।
शब्द सुरति के अन्तरे, अलख पुरुष निर्वान॥८॥
हम तो लखा तिहुँ लोकमे, तुम क्यो कहो अलेख।
सार शब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख॥९॥
कथत कथत युग थाकिया, थाकी सबै खलक।
देखत नजर न आइया, हरिके कहा अलक॥१०॥
बेघूने जग राँचिया, साहब नूर निनार।
आखिर केरे वक्त को, किसका करै दीदार॥११॥
तीन लोक सब राम जपत है, जान मुक्ति को धाम।
रामचन्द्र वसिष्ठ गुरु किया, तिन कहि सुनायो नाम॥१२॥
जगमे चारो राम है, तीन राम व्यवहार।
चौथ राम निज सार है, ताका करो विचार॥१३॥
एक राम दशरथ घर डोलै। एक राम घट घट में बोलै।
एक रामका सकल पसारा। एक राम त्रिभुवन ते न्यारा॥१४॥
कौन राम दशरथ घर डोलै। कौन राम घट घटमें बोलै॥
कौन राम का सकल पसारा। कौन राम त्रिभुवन ते न्यारा॥१५॥
आकार राम दशरथ घर डोले। निराकार घट घटमें वोले॥
बिंदु रामका सकल पसारा। निरालम्ब सबहीतें न्यारा॥१६॥
राम कृष्ण अवतार है, इनकी नाहीं मांड।
जिन साहब संसार किया, सो किन्हु न जनम्यां रांड॥१७॥
जाकी धामकी मांड है, ताकी करहू सेव।
जो थापा है मांडका, सो नही हमारा देव॥१८॥
साहिब मेरा एक हे, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय॥१९॥
चार भुजाके भजनमे, भूलि परे सब संत।
कबिरा सुमिरे तासु को, जाके भुजा अनंत॥२०॥
निबल सबल जो जानिकै, नाम धरा जगदीश।
कहै कबीर जन्मे मरै, ताहि धरूं नहि सीस॥२१॥
जन्म मरनसे रहित है, मेरा साहब सोय।
बलिहारी उस पीवकी, जिन सिरजा सब कोय॥२२॥
समुद्र पाटि लंका गये, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त मुनि अचै गयो, इनमे को करतार॥२३॥

गिरवर धार्‌यो कृष्णजी, द्रोणागिरि हनुमंत।
शेष नाग सब सृष्टि सहारी, इनमेंको भगवंत॥२४॥
काटे बंधन विपति में, कठिन किया संग्राम।
चीन्हों रे नर प्राणियां, गरुड बडो की राम॥२५॥
कह कबीर चित चेतहू, शब्द करौ निरुवार।
रामहि कर्ता कहत है, भूलि पर्‌यो संसार॥२६॥
राम कृष्णको जिन किया, सो तो करता न्यार।
अंधा ज्ञान न बूझई, कहै कबीर बिचार॥२७॥
जाहि रोग उत्पन्न भया, औषधि देइ जो ताहि।
वैद्य ब्रह्म बाहर रहा, भीतर धसा जो नांहि॥२८॥
असर रोग उत्पति भया, अवतार औषधि दीन्ह।
कहै कबीर या साखि को, अर्थ जो लीजौ चीन्ह॥२९॥
कबिरा कारज भक्ति के, भक्तिहि दीन्ह पठाय।
कहै कबीर बिचारिके, ब्रह्म न आवे जाय॥३०॥

(१२५) अथ विश्वासको अंग

सिरजन हारे सिरजिया, आटा पानी लौन।
देनेहारा देत है, मेटन हारा कौन॥१॥
जो कलपै तो दूरि है, अन कलपै है सोय।
सतगुरु मेटी कल्पना, सहजै होय सो होय॥२॥
सांई इतना दीजिये, जितना कुटुंब समाय।
ता मैं भूँखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥३॥
राम नाम करि बहु डरो, बाहो बीज अघाय।
खंड ब्रह्मण्ड सूखा परै, तऊ न निष्फल जाय॥४॥
कर्म करीमाँ लिखि रहा, अब कछु लिखा न होय।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो शिर पटकै कोय॥५॥
चिंता न करु अचिन्त रहु, देनहार समरत्थ।
पसू पखेरू जंतु जिव, तिनकी गाँठि न गरत्थ॥६॥
कर्म करीमाँ लिखि रहा, नर शिर भाग अभाग।
जो कबहूँ चिंता करै, तो उन आगै आग॥७॥
अंडा पालै काछबी, विन तन राखै पोक।
यो कर्ता सबकी करै, पालै तीन्हु लोक॥८॥
पौ फाटी पगरा हुआ, जागे जीवा जून।
सब काहूको देत है, चोच समाना चून॥९॥
जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।
कोटि काल झक झोलही, तऊ न होय चितभंग॥१०॥
खोज पकरि विश्वास गहु, धनी मिलैगे आहि।
अजया गजमस्तक चढ़ी, निरभय कोंपल खाय॥११॥
घटमें ज्योति अनूप है, रिज्क मौत जिव साथ।
कहा सार है मनुषका, कलम धनीके हाथ॥१२॥

सांई दीया सहजमें, सोई रिज्क हलाल।
हैवाँ सबै हराम है, तजि संशय जिय साल॥१३॥
आगे पीछे हरि खडा, आप सहारै' भार।
जनको दुःखी क्यों करै, समरथ सिरजनहार॥१४॥
भक्त भरोसे रामके, निधरक ऊंची दीठ।
तिनको करम न लागई, राम ठकोरी पीठ॥१५॥
सौदा कीजे राम सो, भरिये गुन हलाय।
जा कबहूँ टांड़ा, लुटै, पूजी विलय न जाय॥१६॥
राखनहारा राम है, जाय जंगल में बैठि।
हरि कोपे नहि ऊबरै, सात पताले पैठि॥१७॥
डौरी लागी भय मिटा, मन पाया विश्राम।
चित घहूंटा राम सो, याही केवल धाम॥१८॥
विश्वासी होय हरि भजै, लोहा कंचन होय।
राम भजैं अनुरागते, हरष शोक नहि दोय॥१९॥

(१२६) अथ धीरजको अंग

धीरा ह्वै धमका सहै, ज्यो अहरन शिर घाव।
मेवा पर्वत होय रहै, इत उत कहूँ न जाव॥१॥
धीरै धीरै रे मना, धीरै सब कछु होय।
माली सीचै केवरा ऋतु आये फल होय॥२॥
कबिरा धीरजके धरे, हस्ती सवामन खाय।
टूक एकके कारने, श्वान घरै घरै जाय॥३॥
कबिरा भैरै वैठिके, भैचक मना न जोय।
बूड़नका भय छांड़ि दे, करता करै सो होय॥४॥

(१२७) अथ विरक्ताईको अंग

कवीर वाजन दे वै जंत्री, जग जंत्री ना छेर।
तुझे विरानी क्या परी, आपनि आप निबेर॥१॥
कबिरा हमारा कोइ नही, हम काहू के नाहि।
पारे पहुंची नाव ज्यो, मिलिके बिछुरी जाहि॥२॥
आज कालके लोग है, मिलिकै विछुरी जाहि।
लाहा कारण आपने, सोगंद रामको खांहि॥३॥
कबिरा सब जग हेरिया, मेलेउ कंध घढाय।
हरि बिन अपना कोइ नहीं, सब देखा ठोकि बजाय॥४॥
खलक मिला खाली रहा, वहुत किया वकवाद।
वांझ झुलावे पालना, तामे कौन सवाद॥५॥
निसरा पै विसरा नही, तौ निसरा ना काहि।
पहली खाय उखालिया, सो फिरि खाना नाहि॥६॥
जो विभूति साधुन तजी, ताहि विभूति लपटाय।

ज्यों बवन करि डारिया, श्वान स्वाद करि खाय ॥७॥
राम बिना बेकाम है, छप्पन भोग बिलास।
कहाँ इंद्रको बैठनो, कहाँ बैकुंठ को बास ॥८॥
मन फाटे चित ऊचटै, नैना नाहि समाय।
पलकाँकी टाटी दई, टेढ़ा टेढ़ा जाय ॥९॥
बड़ा बड़ाई ना तजै, छोटा बहुत इतराय।
ज्यों प्यादा फरजी भया टेढ़ा टेढ़ा जाय ॥१०॥
मन मानिक जब ऊचटे, नेक नहीं ठहराय।
जो कंचनकी भूमि ह्वै, तो हरियल धरै न पांय ॥११॥
धरती फाटै मध मिलै, कपड़ा फाटै और।
तन फाटै को औषधी, मन फाटै नहि ठौर ॥१२॥
मोती भाग्यो बेधतां, मन भाग्यो कूबोल।
बहुत सयाना पचि गया, परिगई, गांठी गोल ॥१३॥
बैरागी बिरकत भला, गिरा परा फल खाय।
सरिता को पानी पिये, गृही द्वार न जाय ॥१४॥
गृहस्थ द्वारे जायके, उदर समाता लेइ।
पीछै लागे हरि फिरै, जब चाहे तब देइ ॥१५॥

(१२८) अथ सामर्थाईको अंग

साहब सों सब होत है, बंदे ते कछु नाहि।
राई ते पर्वत करै, पर्वत राई माहि ॥१॥
बहन बहता स्थिर करै, थिरता करै बहेन।
साहब हाथ बडाइया, जिस भावै जिस दैन ॥२॥
हरि सा समरथ कोइ नही, गरुआ गहर गँभीर।
औगुन छांडे गुन गहै, पनक उतारै तीर ॥३॥
धनि धनि सांई तू बड़ा, तेरी अनूपम रीति।
सकल भवनपति सांइयां, ह्वै कै रहै अतीति ॥४॥
सांई मै तुझ बाहरा, कौडीहू नहि पांव।
जो सिर ऊपर तुम धनी, महँगे मोल बिकाँव ॥५॥
बाटरिया दूभर भई, मत कोइ काइर होय।
जिन यह भार उठाइया, निरवाहेगा सोय ॥६॥
हाथी अटक्यो कीचमे, काढै को समरत्थ।
की बल निकलै आपने, कि सांई पसारै हत्थ ॥७॥
ना कछु किया न करि सका, ना कछु करना योग।
मै मेरी जो ठानिकै, दूजी थापे लोग ॥८॥
जो कुछ किया सो तुम किया, मै कछु कीया नाहि।
कहूँ कहो जो मै किया, तुमही थे मुझ मांहि ॥९॥
जिस नहि कोई तिसहि तू, जिस तू तिस सब होय।
दरगह तेरी सांईया, मेटि सकै नहि कोय ॥१०॥
औगुनहारा गुन नही, गनका बड़ा कठोर।

ऐसा समरथ सांईया, ताहि लँघावो ठौर ॥११॥
तुम तौ समरथ सांइया, दृढ़ करि पकरो बांहि।
धूरिहीलौ पहुँचाइहो, जनि छाँडो मग मांहि ॥१२॥
समरथ धोरी कंध दै, रथको दै पहुँचाय।
मारग मांहि न छांडिये, पिय बिन बिरद लजाय ॥१३॥
इत कूआ उत बावडी, इतऊत थाह अथाह।
दुहुँ दिशि सो फनाफन करै, समरथ पार निवाह ॥१४॥
घट समुद्र लखि न परै, उठै जो लहरि अपार।
दिल दरिया समरथ विना, कौन उतारै पार ॥१५॥
बुरा जो देखन मै चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजों आपना, तो मुझसा बुरा न जोय ॥१६॥
कबिरा सबते हम बुरे, हमते भला सब कोय।
जिन ऐसा करि बूझिया, मित्र हमारा सोय ॥१७॥
मुझमें इतनी शक्ति क्या, गाऊं गला पसार।
बंदेको इतनी घनी, परा रहौ दरबार ॥१८॥
जबका माई जनमिया, किते न पाया सुक्ख।
डारी डारी मै फिरो, पात पात मे दुःख ॥१९॥
कबिरा मै तो तवहि डरौ, जो मुझही मे होय।
मीच बुढापा आपदा, सव काहूको जोय ॥२०॥
सात द्वीप नवखंडमे, तीन लोक ब्रह्मंड।
कहै कवीर सबको लगे, देह धरेको दंड ॥२१॥
देह धरेको दंड है, सब काहूको होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, अज्ञानी भुगते रोय ॥२२॥
भूप दुखी अवधूत दुखि, दुखी रंक बिपरीत।
कह कबीर ये सब दुखी, सुखी संत मन जीत ॥२३॥
वारी हरिके नाम पर, कीया राई लौन।
जिसे चलावै पंथ तू, तिसे भुलावै कौन ॥२४॥

(१२९) अथ कुशब्दको अंग

कुबुधि कमाना चढि रहै, कुटिल वचन का तीर।
भरि भरि मारै कान मे, सालै सकल शरीर ॥१॥
कुटिल वचन सबते बुरा, जारि करै सब छार।
साधु वचन जल रूप है, बरसै अमृत धार ॥२॥
करगडण दुर्जन बचन, रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्रमे, कहा सकैगी जारि ॥३॥
शीतलता तब जानिये, समता रहै समाय।
बिष छाडै निर्विष रहै, सब दिन दूखा जाय ॥४॥
कबिरा शीतलता भई, उपज्यो तब ब्रह्मज्ञान।
जिहि बैसंदर जग जलै, सो मेरै उदक समान ॥५॥
कबिरा कुशब्द न बोलिये, सज्जन बिरचै चीन।

गंगा जल शीतल भया, पर्वत फोरा तीन॥६॥
जिह्वा में अमृत बसै, जो कोइ जाने बोलि।
विष वासिक का ऊतरै, जिह्वा तनै हिलोलि॥७॥
जिह्वा शक्कर दूध जिभ, जिह्वा प्यारी जागि।
जिह्वा साजन रलि मिलै, जिह्वा लावै आगि॥८॥
सहज तराजू आनिकै, सब रस देखा तौलि।
सब रस मांही जीभरस, जो कोई जानै बोलि॥९॥
बोली तो अनमोल है, जो कोइ जानै बोलि।
हिये तराजूं तौलिके, तब मुख बाहर खोलि॥१०॥

(१३०) अथ सुशब्दको अंग

सरस सरजन बेधिया, सरबिन गम कछु नाहि।
लागी चोट जो शब्दकी, करक करेजे मांहि॥१॥
लागी लागी क्या कहै, लागी नाही एक।
लागी तबही जानिये, परे करेजे छेक॥२॥
लागी लागी क्या करै, लागत रही लगार।
लागी तबही जानिये, निकसी जाय दुसार॥३॥
लागी लागी क्या करे, लागत रही लगाहि।
लागी तबै सराहिये, उठै कराहि कराहि॥४॥
विन शर और कमान बिन, मारा है जो कसीस।
बाहर घाव न दीसई, बेधा नख सिख सीस॥५॥
ऐसा मारा शब्दका, मुआ न दीसै कोय।
कहै कबीर सो ऊबरै, धड़ पर सीस न होय॥६॥
सायर माही शर गया, मच्छी खाया सोय।
सो मच्छी तरुवर चढी, बूझै बिरला कोय॥७॥
शब्दे मारा मरि गया, शब्दे छांडा राज।
जिन जिन शब्द विचारिया सरिया तिनका काज॥८॥
बीजक वित्त बताय दे, जो धन गुप्ता होय।
शब्द बतावै ब्रह्मको, चीन्हे बिरला कोय॥९॥
शब्द बराबर धन नही, जो कोइ जानै बोलि।
हीरा तौ दामो मिलै, शब्दहि मोल न तोल॥१०॥
शब्द कहै सो कीजिये, बहुते गुरु लबार।
अपने अपने लोभको, ठौर ठौर बटवार॥११॥
शब्द न करै मुलाहिजा, शब्द फिरै चहुँधार।
आपा पर जब चीन्हिया, तब गुरु शिष व्यवहार॥१२॥
शब्द हमारा एक है, जब तक कीजो यादि।
अंत फलैगी मांहिली, ऊपरकी सब बादि॥१३॥
शब्द हमार हम शब्दके, शब्द ब्रह्मका कूप।
जो चाहै दीदारको, तो परख शब्दका रूप॥१४॥

शब्द हमार हम शब्दके, शब्दहि लेहु परखि।
जो तू चाहे मुक्तिको अब मति जाहु सरक्कि ॥१५॥
शब्द दुराया ना दुरै, कहूं जो ढोल बजाय।
जो जन होयगा जौहरी, लैहे शीश चढ़ाय ॥१६॥
शब्द विना सुरति आँधरी, ना जानूँ कित जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिरि फिरि झटका खाय ॥१७॥
शब्द पाय सुरति राखै, सो पहुँचै दरवार।
कहै कवीर तहाँ देखई, जहाँ वैठे पुरुष हमार ॥१८॥
औरै दारु सब करी, पै स्वभाव की नाँहि।
सो दारु सतगुरु करी, रहै शब्दके माँहि ॥१९॥
एक शब्द गुरुदेवका, जाका अनंत विचार।
पण्डित थाके मुनिजना, वेद न पावे पार ॥२०॥
मै कलिका कुतवाल हौ, लेहू शब्द हमार।
जो या शब्दहि मानिहै, सो उतरै भौ पार ॥२१॥
शब्दोपदेश जो मै कहूँ, जो कोई माने संत।
कहै कवीर विचारिके, ताहि मिलाऊं कंत ॥२२॥
मता हमारा मंत है, हमसा होय सो लेय।
शब्द हमारा कल्प धन, जो चाहे सो देय ॥२३॥
रैन समाना भानुमे, भानु अकाशे माहि।
अकाश समाना शब्द मे, शब्द परे कछु नाहि ॥२४॥
शब्द कहांते उठत है, कहां को जाय समाय।
हाथ पांव वाके नही, कैसे पकरे जाय ॥२५॥
नाभि कमलते उठत है, शून्यहि जाय समाय।
हाथ पांव वाके नही, सुरति ते पकरा जाय ॥२६॥
शब्द कहांते आइया, कहां शब्दका भाव।
कहां शब्दका शीश है, कहां शब्द का पांव ॥२७॥
शब्द ब्रह्माण्डते आइया, मध्य शब्दका भाव।
ज्ञान शब्दका शीश है, अज्ञान शब्द का पांव ॥२८॥
नाद नही था विंदु नही था, कर्म नहीं था काय।
अलख पुरुषके जीभ नही थी, शब्द कहां ते आय ॥२९॥
नाद नही था, विंदु नही था, कर्म नही था काय।
अलख पुरुषके जीभ नही थी, शब्द शून्यते आय ॥३०॥
कौन शब्दकी नाव री, कौन शब्द असवार।
कोन शब्दकी डोर है, कौन उतारै पार ? ॥३१॥
सत्य शब्दकी नावरी, अकह शब्द असवार।
सुरति शब्दकी डोर है, तुझे उतारै पार ॥३२॥
शब्द शब्द सव कोइ कहै, शब्दके हाथ न पांव।
एक शब्द औषधि करै, एक शब्द करै घाव ॥३३॥
शब्द शब्द सव कोइ कहै शब्द के हाथ न पांव।
सार शब्द औषधि करै, और शब्द करै घाव ॥३४॥
शब्द शब्द वहुत अंतरा, शब्द सारको सीर।

शब्द शब्दका खोजना, शब्द शब्दका पीर ॥३५॥
शब्द शब्द बहु अंतरा, सार शब्द चित देय।
जा शब्द साहब मिलै, सोइ शब्द गहि लेय ॥३६॥
शब्द शब्द सब कोइ कहै, शब्दका करौ विचार।
एक शब्द शीतल करै, एक शब्द दे जार ॥३७॥
एक शब्द सुख खानि है, एक शब्द दुख रासि।
एक शब्द बन्धन कटै, एक शब्द गल फांसि ॥३८॥
सबको सुख दै शब्दका, अपनी अपनी ठोर।
जा घटमें साहिब बसै, ताहि न चीन्हे ओर ॥३९॥
शीतल शब्द उचारिये, अहं आनिये नाहि।
तेरा प्रीतम तुझहिमें, दुशमनभी तुझ माहि ॥४०॥
कोई आवै भाव ले, कोई आवै अभाव।
साध दोऊको पोखि दै, भाव न गिनै अभाव ॥४१॥
हरिजन सोई जानिये, जिह्वा कहै न मार।
अष्ट प्रहर चितवत रहै, गुरुका ज्ञान विचार ॥४२॥
शब्द भेद तब जानिये, रहै शब्दके माहि।
शब्दै शब्द प्रगट भया, दूजा दीखै नाहि ॥४३॥
खोजी हूआ शब्दका, धन्य संत है सोय।
कहै कबीरा शब्दगहि, कबहुँ न जाय बिगोय ॥४४॥
सारहि शब्दहि बिचारिये, सोई शब्द सुख देय।
अन समझा शब्द कहै, कछू न लाहा लेय ॥४५॥
टीला टीली ढाहिके, फोरि करै मैदान।
समझ सफा करता चलै, सोई शब्द निर्वान ॥४६॥
शब्दका गुरु शब्द है, कायका गुरु काय।
भक्ति करौ निष्कर्म है, सतगुरु यो समुझाय ॥४७॥
सोई शब्द निजसार है, जो गुरु दिया बताय।
बलिहारी वा गुरुकी, शिष्य बिगोय न जाय ॥४८॥
सार शब्दकी यही बड़ाई, जैसे चुंबक भाय।
बिना शब्द नहि ऊबरै, केता करौ उपाय ॥४९॥

(१३१) अथ दुबिधाको अंग

दुबिधा जाके दिल बसै, दयावंत जिव नाहि।
कबिरा त्यागू ताहिको, भूलि देउ जनि वाहि ॥१॥
राम नाम कड़ुआ लगै, मीठा लागै दाम।
दुबिधामें दोऊ गया, माया मिली न राम ॥२॥
हृदयेमे है आरसी, मुख देखा नहि जाय।
मुख तौ तबही देखई, दुविधा देइ बहाय ॥३॥
चीटी चावल ले चली, बिचमे मिलि गई दारि।
कहै कबीर दोउ ना मिले, एक ले दूजी डारि ॥४॥
कै तू लौरै मुक्दमी, कै तू साहिब लोर।

दो - दो घोरा मति चढै, तेरा घर है घोर॥५॥
आगा पीछा दिल करै, सहजा मिलै न आय।
सो बासी यमलोकका, बांधा यम्पुर जाय॥६॥
तकत तकावत रहि गया, सका न बेझी मार।
सबै तीर खाली परा, चला कमाना डार॥७॥
बेझा मारै स्थिर रहे, खरा महीना खाय।
साहबके दरबारते, भागि न कबहूँ जाय॥८॥

(१३२) अथ ऐक्यताको अंग

अलख इलाही एक है, नाम धराया दोय।
कहै कबीर दो नाम सुनि, भरम परो मति कोय॥१॥
राम रहीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहै कबीर दो नाम सुनि, भर्मि परौ मति कोय॥२॥
कृष्ण करीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहै कबीर दो नाम सुनि, भर्मि परौ मति कोय॥३॥
काशी काबा एक है, एकै राम रहीम।
मैदा इक पकवान बहु, बैठि कबीरा जीम॥४॥
एक वस्तुके नाम बहु, लीजै वस्तु पहिचान।
नाम पक्ष नहि कीजिये, सार तत्त्व ले जान॥५॥
नाम अनन्त जो ब्रह्मका, तिनका वार न पार।
मन मानै सौ लीजिये, कहे कबीर बिचार॥६॥
सब काहूका लीजिये, सांचा शब्द निहार।
पक्षपात ना कीजिये, कहै कबीर विचार॥७॥
राम कबीरा एक है, दूजा कबहु न होय।
अंतर टाटी कपटकी, ताते दीखे दोय॥८॥
राम कबीरा एक है, कहन सुननको दोय।
दो करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय॥९॥
हरिका बना स्वरूप सब, जेता यह आकार।
अक्षर अर्थ यों भाषिये, कहे कबीर बिचार॥१०॥
देखनही की बात है, कहनेको कछु नाहि।
आदि अंतको मिलि रहा, हरिजन हरिही माहि॥११॥
नगर चैन तब जानिये, जब एकै राजा होय।
याहि दुराजी राजमे, सुखी न देखा कोय॥१२॥
सबै हमारे एकहै, जो सुमिरे हरि नाम।
वस्तु लही पहिचानिकै, वासन सो क्या काम॥१३॥

(१३३) अथ पछतावाको अंग

अच्छा दिन पाछे गया, हरिसो किया न हेत।
अब पछिताये होत क्या, चिरिया खाया खेत॥१॥

जब रंग था तब ना रंगा, हरि रंग मन मजीठ।
अब पछिताये क्या हुआ, जब रंग दीन्ही पीठ॥२॥
सुमिरन का संशय रहा, पछितावा मन माहि।
कहै कबीरा राम रस, सगरा पीया नाहि॥३॥
कबिरा दरदीवान जो, क्यौकर पावै दाद।
पहली बुरा कमायकै, पीछै करै फरियाद॥४॥

(१३४) अथ कालको अंग

ढालै दूलै दिन गया, ब्याज बढंता जाय।
ना हरि भजा न खत कटा, काल पहुँचा आय॥१॥
कालि करै सो आज कर, सब सौज तेरे साथ।
कालि कालि तू क्या करै, कालि कालके हाथ॥२॥
काल करै सो आज करु, आज करे सो अब्ब।
पलमे परलै होयगी, बहुरि करेगा कब्ब॥३॥
पाव पलककी सुधि नही, करै कालका साज।
काल अचानक मारि है, ज्यो तीतरको बाज॥४॥
पाव पलक जो दूर है, मोपै कहो न जाय।
क्या जानूँ क्या होयगा, पलके चौथे भाय॥५॥
जरा आय जोरा किया, पिय अपना पहिचानि।
अंत कछू पल्ले परै, ऊठत रे खलिहानि॥६॥
जरा आय जोरा किया, नेत्रन दीन्ही पीठि।
आंखों ऊपरि आंगुली, बीख भरै पचिनीठि॥७॥
जोबन सिकदारी तजी, घला निसान बजाय।
सिरपर सेत सिरायचा, दिया बुढापे आय॥८॥
कान लगी सुनहां कहे, कालै मानी हारि।
राज बिराजा होत है, सकै, तो राम सँभारि॥९॥
राम कहा जिन कहि लिया, जरा पहूँची आय।
मंदर लागी द्वार सौ, अब कछु कही न जाय॥१०॥
जरा कुत्ता जोबन शसा, काल अहेरी नित्त।
दो बैरी बिचि झोपरा, कुशल कहां से मित्त॥११॥
कुशलहि कुशल जो पूछतां, जग मे रहा न कोय।
जरा मुई ना भय हुआ, कुशल कहांते होय॥१२॥
घरी जो बाजै राजदर, सुनता है सब कोय।
आयु घटै जोबन खिसै, कुशल कहांते होय॥१३॥
कै कुशल अन जानकै, अथदा नाम जपंत।
जनम मरन होता नही, तो बूझो कुशलंत॥१४॥
कुशल जो पूछै असलकी, आशा लागी लोय।
ाम बिहूना जग मुआ, कुशल कहांते होय॥१५॥
री बारी आपनी, घलै पियारे मित्त।
ी बारी जीवरा, नियरे आवै नित॥१६॥

माली आवत देखिकै, कलियां करे पुकार।
फूली फूली चुनि लई, काल्हि हमारी बार॥१७॥
बढई आवत पेखिके, तरुवर रुदन कराय।
मै अपंग संशय नही, पक्षी बसते आय॥१८॥
फागन आवत देखिके बन रोता मन माहि।
ऊंची डारी पात था, पीरा ह्वै ह्वै जाहि॥१९॥
पात जो तरुवरसौ कहे, बिलम्ब न मानैं मोर।
आई ऋतु जो बसंत की, जहां जाओ तहां तोर॥२०॥
तरुवर पातसों यौ कहे, सुनो पात एक बात।
यह घर याही रीति है, इक आवत इक जात॥२१॥
पात झरंता यो कहे, सुनु तरुवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिलै, दूरि परेगे जाय॥२२॥
कहै पात वा झारसों, कहा परी अब तोहि।
ज्यो वा तरुवरही तज्यो, चलौ जान दे मोहि॥२३॥
पीपल पान झरंतिया, हँसी आईकौ घेरि।
याही बसिवा होयगा, अपनी अपनी बेरि॥२४॥
धौकी दाधी लाकरी, ठाढीकरै पुकार।
मति बसिपरो लुहारके, जारै दूजीबार॥२५॥
मेराबीर लुहारिया, तू मति जारै मोहि।
इक दिन ऐसा होयगा, मैं जारौगी तोहि॥२६॥
जो पहरा सो फाटिया, जो खाया सो जाय।
कबिरा रामानंदका, दीया ही रहिजाय॥२७॥
कबिरा पांच पखेरूआ, राखा पोख लगाय।
एक जो आयो पारधी, लेगयो सबै उड़ाय॥२८॥
कबिरा जीवन कछु नही, खिन खारा खन मीठ।
काल्हि अल्हजा मारिया, आज मसाना दीठ॥२९॥
कबिरा मंदिर आपने, निति उठि करता आलि।
मरहट देखी डरपता, चौड़े दीया जालि॥३०॥
परदा रहती पद्मिनी, करती कुलकी कांन।
छड़ी जो पहुँची कालकी, डेरा हुआ मैदान॥३१॥
मछली दह छूटै नही, झीवर मेरा काल।
जेहि जेहि डाबर घर करो, तहँ तहँ मेले जाल॥३२॥
पानी महँकी माछली, क्यो तै परक्यो तीर।
कडी खड़की जालकी, आप पहूंचा कीर॥३३॥
हे मतिहीनी माछली, क्यो सूती घन घोरि।
तेरे कारन कीरकै, लंबी बांटी डोरि॥३४॥
हे मतिहीनी माछली, झीवर मीत कियाय।
करि समुद्रसो रूठना, छीलर चित्त दियाय॥३५॥
हे मतिहीनी माछली, ते छीलर मॉड़ी आलि।
डावरियां छूटै नही, सकै तो समुद्र संभालि॥३६॥

मछली फिरि फिरि बाहुरी, ताकि समुंदरतीर।
दरिया भीतर घरकिया, कहा करैगा कीर॥३७॥
आँखडिया रतनालिया, घेजा करै पताल।
मैं तोहि बूझों माछली, तू क्यों बंधी जाल॥३८॥
तीन लोक पिंजरा भया, पाप पुन्य दोउ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल॥३९॥
सूखन लागे केवरा, टूटन लागी डार।
पानीकी कल जानतो, घला सो सींचन हार॥४०॥
कबिरा हरिनी दूबली, ये हरियाली ताल।
लाख अहेरी एकजिव, केतिक टारै भाल॥४१॥
कबिरा पगरा दूरि है, बीचि परी है राति।
ना जानौ क्या होयगा, ऊगंता परभाति॥४२॥
कबिरा गाफिल क्या फिरै, आया काल नजीक।
कान पकरिकै ले घला, ज्यों अजाको खटीक॥४३॥
कबिरा हरिसों हेत कर, कोरे चित्त न लाय।
बांध्यो बारि खटीकके ता पशु केतिक आय॥४४॥
साँझपरी दिन अंथिया, बाघन घेरो गाय।
गाय बिचारी ना मरै, बाघ न भूखा जाय॥४५॥
काल जीवको ग्रासई, बहुत कह्यो समुझाय।
कहै कबीर मैं क्या कहूँ, देखत नही पतियाय॥४६॥
काल हमारे सँग रहै, कस जीवनकी आस।
दिन दस राम सँभारि लै, जब लगि पिंजरा स्वांस॥४७॥
आठ पहर यों ही गया, माया मोह की आल।
राम नाम हृदये नही, जीति लिया यमजाल॥४८॥
हम जाने थे खाहिंगे, बहुत जमी बहुमाल।
ज्यों का था त्योंही रहा, पकरि लैगया काल॥४९॥
चहुँदिशि पाका कोट था, मंदिर नगर मँझार।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बंधा दरबार॥५०॥
चहुँदिशि तो योद्धा खड़े, हाथ लिए हथियार।
सबही यह तन देखता, काल ले गया मार॥५१॥
आस पास योद्धा खड़े, सबै बजावैं गाल।
मंझ महलते लै घला, ऐसा परबल काल॥५२॥
धरती करते एक पग, करते समुन्दर फाल।
हाथो परबत तोलते, तेभी, खाये काल॥५३॥
हाथो परबत फाडते, समुंदर घूंट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, कह कोई गर्व कराय॥५५॥
ताजी छूटा सहरते, कसबे परी पुकार।
दर्वाजा जडाही रहा, निकसि गया असवार॥५६॥
बेटा जाये क्या हूआ, कहा बजावै थाल।
आवन जावन ह्वै रहा, ज्यौ कीरीका नाल॥५७॥
जाया जाया सब कहै, आया कहै, न कोय।

जाया नाम जनमका, रहन कहां ते होय॥५८॥
हम जाये ते भी मुआ, हम भी घलने हार।
हमरे पीछे पूगरा, तिन भी बांधा भार॥५९॥
बालपनो भोलो गयो, और जवानी महमंत।
वृद्धपने आलस भयो, घला जरंते अंत॥६०॥
साथी हमरे घलि गये, हम भी घालन हार।
कागद मे बाकी रही, तातें लागी बार॥६१॥
काया काठी काल घुन, जतन जतन घन खाय।
काया मांही काल है, काहू मरम न पाय॥६२॥
संशय काल शरीरमे, विषम काल है दूरि।
जाको कोइ जानै नही, जारि करै सव धूरि॥६३॥
जारि बारि मिस्सा करै, मिसि करि करि है छार।
कहै कवीर कोइला करे, फिरि देहै अवतार॥६४॥
ऐसे सांच न मानई, तो तिलही देखो जोय।
जारि बारि कोइला करै जमता देखा सोय॥६५॥
कौन सरोवर पानि विन, कौन मीच विनकाल।
कौन सो परिमल बासविन, कौन वृक्ष विन डाल॥६६॥
मान सरोवर पानि विन, नीद मींच विन काल।
ज्ञान सो परिमल वास विन, सुरति वृक्ष विन डाल॥६७॥
घाट जगाती धरमराय, सवका झारा लेय।
सत्य नाम जापे बिना, उलटि नरकमे दये॥६८॥
जिनके हाथ निशान है, तिन्हे अटकावै कौन।
पुरुष खजाना पाइया, मिटि गया आवागौन॥६९॥
घाट जगाती धरमराय, गुरुमुख ले पहिचानि।
छाप विना सतनामके, सांकट रहा निदान॥७०॥
गुरु जहाज हम पावनां, गुरुमुख पारि परै।
गुरु जहाज जाने विना, रोवै घाट खरै॥७१॥
खुलि खेलो संसारमे, बांधि न सक्के कोय।
घाट जगाती क्या करै, शिर पर पाट न होय॥७२॥
जम न जाय पुकारिया, डंडा दिया डारि।
संत मवामी ह्वैरहा, फांसि न परै हमारि॥७३॥
जाता है जिस जान दै, तेरी दशी न जाय।
खेवटिया का नाव ज्यों, घना चढैगा आय॥७४॥
घलती घाकी देखिकै, दिया कवीरा रोय।
दो पाटन विच आयके, सावत गया न कोय॥७५॥
आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला सौ लागा रहै, ताको विघ्न न होय॥७६॥
घाकी घली गुपाल की, सब जग पीसा झारि।
रूढा शब्द कवीर का, डारा पाट उखारि॥७७॥
कौन कसै कौन कसावै, कौन जो लेइ छुडाय।
यह संशय जिव होरही, साधु कहो समुझाय॥७८॥

काल कसै कर्म कसावै, सतगुरु लेइ छुडाय।
कहै कबीर बिचारिकै, सुनौ संत चित लाय॥७९॥
माटी में माटी मिली, मिली पौन सो पौन।
मै तोहि बूझों पंडिता दोमें मूआ कौन॥८०॥
कुमति हती सो मिटि गई, मिट्यो वाद अहंकार।
दोनूँका भेला मुवा, कहै कबीर बिचार॥८१॥

(१३५) अथ सजीवनको अंग

जरा मीच व्यापै नही, मुआ न सुनिये कोय।
चलौ कबीर वा देशरै, जहां वैद्य रमैया होय॥१॥
भवसागरते यों रहों, ज्यौं जल कमल निराल।
मनवा जहाँ ले राखिया, तहाँ नही यमकाल॥२॥
कबिरा योगी बन बसा, खनि खाया कंद मूल।
ना जानो किस जरी सों, अमर भया अस्थूल॥३॥
कबिरा तो हरिपै चला, माया मोह सो तोरि।
गगन मंडल आसन किया, काल रहा मुखमोरि॥४॥
कबिरा मन तीखा किया, लाइ बिरह खुरसान।
चित चरनों से चिपटिया, नही कालका बान॥५॥
काची कारी मति करौ, दिन दिन बधै वियाधि।
राम कबीर रुचि भई, याही औषधि साधि॥६॥
रामनाम निजु औषधी, कोटिक कटे बिकार।
विषबारी विरकत रहै, काया कंचन सार॥७॥
रामनाम निज औषधी, सुतगुरु दई बताय।
औषधि खाय अरु पथ्य रहै, ताकी वेदन जाय॥८॥
यह औषधि अंगहि लगी, अनेक उधरी देह।
कोऊ फेर कुपथ्य करै, नहि तो औषधि येह॥९॥
कबिरा बैद बुलाइया, जो भावै सो लेय।
जिहि जिहि औषधि हरि मिलै, सो सो औषधि देय॥१०॥
कबिरा बैद बुलाइया, पकडि दिखाई बांहि।
बैद न बेदन जानई, करक कलेजा माहि॥११॥
बैद जाहु घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या बेदन निरमई, भला करैगा सोय॥१२॥
मनवा भया दिसंतरी, बोलै शब्द रसाल।
बात दिसावतकी कहै, तहां नही यमकाल॥१३॥
ऐसी तीखी सुरति है, फोरि गई ब्रह्मंड।
राम निराला देखिया, सप्त द्वीप नव खण्ड॥१४॥
राम रमत अस्थिर भया, ज्ञान कथत भया लीन।
सुरति शब्द एकै भया, जलही ह्वैगा मीन॥१५॥
[illegible]म मरै तो हम मरै, ना तर मरै बलाय।
[illegible]अविनासीका धीटवा, मरै न मारा जाय॥१६॥

कबिरा संशय जीवमे, कोइ न कहे समुझाय।
विधि विधि बानी बोलता, सो कित गया विलाय॥१७॥
कबिरा संशय दूर करु, जनम मरन अरु भरम।
पांच तत्त्व ततां मिला, सून्य समाना मरम॥१८॥
यम जोरा तौ है नही, सबै रामका रूप।
संशय खाई जो पृथ्वी, रहा कबीरा कूक॥१९॥
सब जग डरपै कालसो, ब्रह्मा विष्णु महेश।
सुर नर मुनि औ लोक सब, तप्त रसातल शेश॥२०॥
चंद्र सूर्य घर पवनलौं, खण्ड ब्रह्मण्ड प्रवेश।
यम डरे काल कबीर सो, जेजे तू आदेश॥२१॥
जाको राखै साँइया, मारि न सकिहै कोय।
बाल न बंका करि सकै, जो जग वैरी होय॥२२॥

(१३६) अथ साक्षीभूतको अंग

कबिरा पूछे रामसो, सकल भवन पतिराइ।
सबही करि न्यारा रहे, सोई देहु बताइ॥१॥
पारस रूपी राम है, लोहा रूपी जीव।
जब जाय पारस भेटि है, तब जिव है सीव॥२॥
दया कौन पर कीजिये, कापर निरदइ होय।
हम तो भये तमासगी, नाटक बाजी जोय॥३॥

(१३७) अथ चित कपटीको अंग

कबिरा तहाँ न जाइये, जहाँ जो नाना भाव।
लागेही फल ढह परै, बाजे कोइ कुबाव॥१॥
कबिरा तहां न जाइये, जहाँ न चोखा चित्त।
परपूठा अवगुन घना, मुहँडे ऊपर मित्त॥२॥
कबिरा तहाँ न जाइये, जहाँ कपटको हेत।
नव मन बीज जो बाहिके, खाली रहिगा खेत॥३॥
हेत प्रीति सों जो मिलै, ताकों मिलिये धाय।
अतर राखै जो मिलै, तासो मिलै बलाय॥४॥
दिल पर दिल जो मिलै, तो दिल दगा नहि होय।
सो दिल कब्हुँ न बीसरे, कोटि करे जो कोय॥५॥
टीकलीका नमनां कहा, यह ना बहुरे बीर।
पहले घरनो लागिके, पीछे सोखै नीर॥६॥
कपटीका गुरु चातुरी, हरिगुन क्षण क्षण जाय।
औगुन केरी काँकरी, रही कलेजे छाय॥७॥
बहुत दिन ऐसे गया, अन रुचतीका नेह।
ऊसर बीज न जामई, अति घन बरसै मेह॥८॥
संसारी साकट भला, कन्या क्वारी भाय।

वैष्णव दुराचारी बुरा, हरिजन तहाँ न जाय ॥९॥
वैष्णव भया सो क्या, माला पहिरी धार।
ऊपर कली लपेटिकै, भीतरि भरी भंगार ॥१०॥
नमनि नवा तो क्या हुआ, सूधा चित्त न ताहि।
पारधिया दूना नवैं, मृगही ढूकै जाहि ॥११॥
कबिरा नमन बहु अंतरा, नमनत बहुत निनान।
ये तीनों बहुतै नवैं, चीता चोर कमान ॥१२॥
केसूभँवर न बैठई, जो अति फूलै फूल।
खार कपट हृदये बंसै, मधुकर तजै समूल ॥१३॥
कहा बतावै बाहिरे, भीतरिया सो काम।
छानै छिपिकै तू करै, सारा जानै राम ॥१४॥
धित कपटी सब सों मिलै, माँही कुटिल कठोर।
इक दुरजन इक आरसी, आगे पीछे ओर ॥१५॥
आगे दरपन ऊजला, पीछे बिषम बिकार।
आगै पीछै आरसी, क्यो न परै मुखछार ॥१६॥

(१३८) अथ समदृष्टीको अंग

समदृष्टी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
भया उजियारा ज्ञानका, ऊगा निर्मल सूर ॥१॥
समदृष्टी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
दूजा कोइ दीखै नही, राम रहा भरपूर ॥२॥
समदृष्टी सतगुरु किया, दीया अविचल ज्ञान।
जहँ देखी तहँ एकही, दूजा नाही आन ॥३॥
समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम बिकार।
जहां देखों तहां एकही, साहबका दीदार ॥४॥
समदृष्टी सतगुरु किया, पाया मन विश्राम।
जो हमको दिन घालती, सो गयो ब्रह्मके धाम ॥५॥
समदृष्टी तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवनकी आतमा, लखै एकसी सोय ॥६॥

(१३९) अथ हेतप्रीतिको अंग

अधिक सनेही माछरी, दूजा अलप सनेह।
जबही जलते बीछुरे, तबही त्यागै देह ॥१॥
हरि सो तू जनि हेत कर, कर हरि जनसो हेत।
माल मुल्क हरि देत है, हरिजन हरिही देत ॥२॥
जैसी प्रीति कुटुम्ब सों, तैसी हरि सो होय।
दास कबीरा यो कहै, काज न विगरे कोय ॥३॥
कबिरा तासो प्रीति करु, जो निरवाहै ओर।
वनै तौ विविध न रांचिये, देखत लागै खोर ॥४॥

गुरुवंता अरु द्रव्यको, प्रीति करै सब कोय।
कबिरा प्रीति सो जानिये, इनते न्यारी होय॥५॥
प्रीति बहुत संसार में, नानाविधि की जोय।
उतर प्रीति सो जानिये, हरिजन हरि सो होय॥६॥
हेत मांहि परदो नही, शब्द मांहि नहि राय।
हेत प्रीति तब जानिये, बोलै एकहि भाय॥७॥
हम तुम्हरो सुमिरन करैं, तुम मोहि चितवत नाहि।
सुमिरन मनकी प्रीति है, सो मन तुमही माहि॥८॥
मेरा मन जो तुझहिसों, तेरा मन कहि और।
कहै कबीर कैसे बनै एक जीव द्वै ठौर॥९॥
ज्यो मेरा मन तुझ सो, यो तेरा जो होय।
अहिरन तातां लोह ज्यो, संधि लखै ना कोय॥१०॥
दिलमाही जो दिल रहै, तौ दिल दूरि न जाय।
जो दिल दिल सो बाहरा, सो दिल कहां समाय॥११॥
सोऊँ तो सपुनै मिलै, जागौ तो मन माहि।
लोइन राता शुभ घरी, बिछुरत कबहूँ नाहि॥१२॥
कहा भयो तन बीछुरै, दूरि बसे जे बास।
नैनाहि अंतर परा, प्रान तुम्हारे पास॥१३॥
सौ कोसौ साजन बसे, जानो हृदय मँझारि।
कुसनेही घर आंगना, जान समुद्रां पारि॥१४॥
जो है जाका भावता, जब तब मिलिहै आय।
तन मन ताको सौपिये, जो कब्हु छांडि ना जाय॥१५॥
तन दिखलावे आपना, कछू न राखै गोय।
जैसी प्रीति कमोदिनी, ऐसी प्रीति जो होय॥१६॥
प्रीतम वाके दोजनां, इक मधुकर इक भान।
रैन जबै ह्वै संपुटे, बिगसत होय बिहान॥१७॥
सही हेत है तासका, जाके, सतगुरु टेक।
टेक निबाहै देह भरि, रहे शब्द मिलि एक॥१८॥
गही टेक छांडे, नही, जीभ चोच जरि जाय।
मीठो कहा अंगार जो ताह घकोर घुगाय॥१९॥
घकोर भरोसे चंदके, ताता गिलै अंगार।
कहै कबीर छाडै नही, ऐसी बस्तु लँगार॥२०॥

(१४०) अथ कायरको अंग

कायरको कौतुक भला, काहे कैसे सनाह।
भीर परे भगि जायगा, जीवनका है लाह॥१॥
कायर भागा पीठि दै, सूर रहा रन माँहि।
पटा लिखाया रामकै, खरा खजीना, खाँहि॥२॥
कायरका घर फूसका, भभकी घहूँ पछीत।
शूराके कछु डर नही, गजगीरीकी भीत॥३॥

कायर सेरी ताकवै, शूरा माँडे पाँव।
सीस जीव दोऊ दिया, पीठ न आया घाव॥४॥
भागंता सो जूझिया, पीठ जो लागो घाव।
जागीरी सब ऊतरी, धनी न कहसी आव॥५॥
राग . बाग . टोपी कसी, रनही चढे बजाय।
फिरि फिरि भवन जो चित धरै, तो बाना वृद्ध लजाय॥६॥
सती जो डरपै अगिनते, शूरा शरहि डराय।
हरिजन भागै भक्ति सो, देश दुनीते जाय॥७॥

(१४१) अथ शूरातनको अंग

कबिरा सोई शूरमां, जिन पांचों रांखी धूरि।
जिनके पांचूं, मोकली, तिनसूं, साहब दूर॥१॥
कबिरा सोई शूरमां, जाके पांचूँ हाथ।
जाके पांचूं वश नही, तो हरि संग न साथ॥२॥
गगन दमामा बाजिया, पडै निशाने चोट।
कायर भागै कछु नही, शूरा भागै खोट॥३॥
गगन दमामा बाजिया, हनहनियाके कान।
शूरां घरां बधावना, कायर तजिहैं प्रान॥४॥
घायलकी गति और है, औरनकी गति और।
लागा मान जो प्रेमका, रहा कबीरा ठौर॥५॥
ऊँचा तरुवर गगनफल, पक्षी मुआ बिसूर।
अनेक सयाना पचि गया, फल निर्मल पर दूर॥६॥
दूर भया तो क्या भया, शिर दै नियरा होय।
जब लग शिर सौंपै नही, कारज सिद्ध न कोय॥७॥
चित चेतन ताजी करै, लौ की करैं लगाम।
शब्द गुरुका ताजना, पहुँचे संत सुजान॥८॥
हरि घोडा ब्रह्मा कडी, बसाय पीठि पलान।
चांद सुरज दोउ पायडा, चढसी संत सुजान॥९॥
ढोल दमामा गडगडी, सहनाई औ तूर।
तीनौ निकसि न बाहुरै, साधु सती और शूर॥१०॥
साधु सती औ शूरमाँ, ज्ञानी औ गजदंत।
एते निकसि न बाहुरै, जो युग जाहि अनंत॥११॥
साधु सती औ शूरमाँ, कबहुँ न फेरै पीठ।
तीनों निकसि जो बाहुरै, ताको मुँह मति दीठ॥१२॥
साधु सती औ शूरमां, दई न मारै मूँह।
ये तीनों भागा बुरा, साहबजीकी सूँह॥१३॥
साधु सती औ शूरमां, इन पटतर कोइ नाहि।
अगम पंथको पंग धरै, डिगै तो कहां समाहि॥१४॥
सती डिगै तो नीच घर शूर, डिगै तौ कूर।
साधू डिगैतो शिखर तै, ह्वै परनूंकी धूरि॥१५॥

साधु सती औ शूरमाँ, राखा रहै न ओर।
माथा बांधि पताकसो, नेजा घालैं घोर॥१६॥
साधु सती औ सिंहको, ज्यों लंघन त्यों शोभ।
सिंह न मारै मींडका, साधु न बांधे लोभ॥१७॥
साधु सती औ शूरमाँ, इनकी बात अगाध।
आशा छोडै देहकी, तिनमे अधिका साध॥१८॥
भाव भलका सुरति शर, धर धीरज करतान।
मनकी मूठी जहां लगि, घोट तहँहीं जान॥१९॥
कहै दरबारी बातरी क्यो पावै वह धाग।
शीश उतारै संचरै, नाहि और को काम॥२०॥
शिर राखे शिर जात है, शिर काटै शिर होय।
जैसे बाती दीपकी, कटि उजियारा जोय॥२१॥
शीतलता संजोगलै, शूर चढा संग्राम।
अबकै भाजन परत है, शिर साहबके काम॥२२॥
धर सों शीश उतारिके, डारि देइ ज्यो ढेल।
कोई शूरको सोहसी, घर जानेका खेल॥२३॥
शूरा के तो शिर नही, दाता के धन नाहि।
पतिव्रता के तन नहीं, सुरति बसै पिय माहि॥२४॥
दाता के तो धन घना, शूराके शिर बीस।
पतिबरता के तन सही, पत राखै, जगदीस॥२५॥
शीश खिसै सांई लखै, भलवाँका असवार।
कदम कबीरा किलकिया, केता किया शुभार॥२६॥
लालच लोभ न मोह मद, एकल भला अनीह।
हरिजन ऐसा चाहिये, जैसा बनका सीह॥२७॥
सांई सेत न पाइये, बाता मिलै न कोय।
कबीर सौदा राम सो, शिर बिन कदै न होय॥२८॥
भागा भली न होयगी, कहा धरोगे पाँव।
शिर सोपै सीधा लरो, काहे करो कुदाव॥२९॥
भागा भला न होयगी, मुँह मोरा घर दूर।
सांई आगै शीसदै, सोच न कीजै शूर॥३०॥
शूरा सन्मुख बाहता, कोई न बाँधे धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर॥३१॥
शूर सनाह न पहरई, मरता नही डराय।
कायर भाजै पीठि दै, शूर मुँडीमुँह खाय॥३२॥
शर सनाह न पहरई, जब रन बाजा तूर।
माथा काटै धर लडै; तब जानीजे शूर॥३३॥
जोग ते जौहर भला, घरी एकका काम।
आठ पहरका जूझना, बिना खांडे संग्राम॥३४॥
खांडा तिसको बाहिये, जो फिरि खांडेकी देय।
कायरको क्या बाहिये, दांतो तिनका लेय॥३५॥

तीर तुपक बरछी बहैं, विगसि जायगा घाम।
शूराके मैदानमे, कायरका क्या काम ॥३६॥
शूराका मैदान मे कायरका क्या काम।
शूरा सै शूरा मिलै, तब पूरा संग्राम ॥३७॥
शूराके मैदान में, कायरका का क्या काम।
कायर भाजे पीठि दै, शूर करै संग्राम ॥३८॥
शूराके मैदान मे, कायर वेधा आय।
ना भाजै ना लडि सकै, मनही मन पछिताय ॥३९॥
शूरचला संग्राम को, कब्हुँ न देई पीठ।
आगा घलि पीछा घलै, ताको मुँह मति दीठ ॥४०॥
शूरा लरै कमन्द ह्वै घरसो शीहा उतारि।
कहे कबीर मारा मुआ, कहे जो मारहि मारि ॥४१॥
आगि आंच सहना सुगम, सुगम खड्गकी धार।
नेह निबाहन एक रस, महा कठिन व्यवहार ॥४२॥
नेह निबाहे ही बनै, सोचै बने न आन।
तन दै मनदै शीस दै, नेह न दीजै जान ॥४३॥
बिन पाऊँका पंथ है, मंझि शहर अस्थान।
बिकट बाट औघट घनां, पहुँचै सन्त सुजान ॥४४॥
पंच असमाना जब लिया, तब रन धसिया शूर।
दिल सौपा शिर ऊबरा, मुजरा राम हजूर ॥४५॥
रन धसिया ते ऊबरा, आया गरह निवास।
घरूं बधावा बाजिया, औ जोवन की आस ॥४६॥
जब लग धर पर सीस है, शूर कहावै कोय।
माथा टूटै धर लरै, कमद कहावै सोय ॥४७॥
शूरन सेरी ताकई, नेजा घालै घाव।
सब दल पाछा मोड़िके माड़ी सेती चाव ॥४८॥
शूरा तौं सांचे मते, सहै जो सन्मुख धार।
कायर अनी चुभायकै, पीछै झखै अपार ॥४९॥
भाजि कहाँलौ जाइये, भय भारी घर दूर।
बहुरि कबीरा खेतरह, दल आया भरपूर ॥५०॥
इक मरियो इक मारिवो, येही विषमा सिद्धि।
ता वे कायर मरैगे, जो चाले तरकस बिद्धि ॥५१॥
रन रोही अतिही हुआ, साजन मिला हुजूरि।
शूरा शूरा ठाहरा, भाजिगई, भक भूमि ॥५२॥
शरा थोराही भला, सतका रोपै पग्ग।
घना मिला किहि कामका, सावन का सा बग्ग ॥५३॥
बसही साथ कलतरो, धीर न बंधै कोय।
भागा पीछे बाहुरे, ठाठ गुसांई सोय ॥५४॥
सार वहे लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
जम ऊपरि साटैकरी, चढिया दास कवीर ॥५५॥
सार वहे लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।

अविनाशीकी फौजमे, मांडी दास कबीर ॥५६॥
लडनेको सवही चला, शस्त्रहु बाँधि अनेक।
साहब आगै आपना, जूझैगा कोइ एक ॥५७॥
जूझैंगे तब कहेगे, अब क्या कहे बनाय।
भीर परै मन मसकरा, लडे किधौ भगिजाय ॥५८॥
शूरा नाम धरायके, अब क्यो डरपै बीर।
मंडि रहिना मैदान मे, सन्मुख सहना तीर ॥५९॥
तीर तुबक सो जो लड़ै, सो तो शूरा नाहि।
शूरा सोइ सराहिये, बांटि बांटि धन खाहिं ॥६०॥
तीर तुबक सों जो लडे, सो तो शूर न होय।
माया तजि हरिको भजै, शूर कहावै सोय ॥६१॥
शूरा सोइ सराहिये, अंग न पहरे लोह।
जूझे सब बंद खोलिकै, छांडे, तनका मोह ॥६२॥
ज्ञान कामना लौ गुनां, तन तरकस मन तीर।
भलका बहे हैं सारका, मारे हदफ कबीर ॥६३॥
कठिन कमान कबीरकी, पड़ी रहे मेदान।
केता योद्धा पचि गया, खैचे संत सुजान ॥६४॥
बाँकी तेग कबीरकी, अनी परे द्वे टूक।
मारे मीर महाबली, ऐसी मूठि अचूक ॥६५॥
बांका गढ बांका मता, बांकी गढकी पौलि।
कढि कबिरा नीकसा, यम सिर घाली रौलि ॥६६॥
कबिरा तोरा मान गढ, लूटी पांचो खान।
ज्ञान कुहाड़ी कर्म बन, काटि किया मैदान ॥६७॥
कबिरा तोरा मान गढ, मारा पांच गनीम।
सीस नँवाया धनीको, साधी बड़ी महीम ॥६८॥
राम झरोखै बैटिके, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाको चाकरी, तेसी मुनसब देय ॥६९॥
चोपड़ माँडी चौहटे, अरध उरध बाजार।
कबिरा खेलै रामसो, कबंहु न आवै हार ॥७०॥
हारौ तो हरि मान है, जो जीतूं तो दाव।
पारब्रह्मसो खेलतां, जो शिर जाय तो जाव ॥७१॥
खेलजु मांड़ा, खिलाड़िसौ, आँनद बढा अघाय।
अब पासा काहूपरो, प्रेम बंधा युग जाय ॥७२॥
घटी वढी जानै नही, मनमे राखे जीत।
गाडर लडै गयन्दसा, देखो उलटी रीत ॥७३॥
कूकरा बहु जुरिमुआ, सलसै चढी सियार।
रोवत आवै गदहड़ा, प्रमोधत आय बिलार ॥७४॥
मा मारी घी घर करै, गऊसो बच्छा खाय।
ब्राह्मन मारै मदपिये, तो स्वर्गापुर जाय ॥७५॥
माता मुये एक फल, पिता मुये फल चार।
भाई मूये हानि है, कहै कबीर विचार ॥७६॥

अधर धरै धर पर रहै, मरै न धारै जाय।
बारह मास बिलोधनां, घूमे एकै भाय ॥७७॥

(१४२) अथ सतीको अंग

अब तौ ऐसी ह्वै परी, मन अति निर्मल कीन्ह।
मरनेका भय छांडिकै, हाथ सिधोरा लीन्ह ॥१॥
ढोल दमामा बाजिया, शब्द सुना सब कोय।
जो सल देखि सती भगै, दो कुल हाँसी होय ॥२॥
सती न पीसै पीसना, जो पीसै सो राँड।
साधू भीख न मांगई, जो मांगे सो भाँड ॥३॥
कबिरा सतियाँ कुसयाँ, जरे मरकी लार।
सतिया सोई जानिये, जरे संभारि संभारि ॥४॥

(१४३) अथ व्यापकको अंग

जेता घट तेता मता, बहु बानी बहु भेख।
सब घट व्यापक ह्वै रहा, सोई आप अलेख ॥१॥
पारब्रह्म सुभर भरा, जाका वार न पार।
खालिक बिन खाली नही, सुई जेता संचार ॥२॥
जाति जाति के पाहुने, जाति जाति के जाय।
साहब जाति सुजाति है, सब घट रहो समाय ॥३॥
बालक रूपी साइयाँ, खेलै सब घट माहि।
जो चाहे सो करत है, भय काहू का नाहि ॥४॥
भूला भूला क्या फिरै, शिर पर बंधि गई वेल।
तेरा सांई तुझहि में, ज्यो तिल माही तेल ॥५॥
ज्यों तिल माही तेल है, चकमक माही आगि।
तेरा सांई तोहिमे, जागि सके तो जागि ॥६॥
पावक रूपी राम है, सब घट रह्यो समाय।
चित चकमक लागे नही, ताते बुझि बुझि जाय ॥७॥
काया कफ चित चकमकै, झारो बारंबार।
तीन बार धूंआ भया, चौथे परा अँगार ॥८॥
जैसी लकडी ढाककी, ऐसा यह तन देख।
वामें केसू छिपि रहा, यामें पुरुष अलेख ॥९॥

(१४४) अथ जीवत मृतकको अंग

कबीर काया समुद्र है, अंत न पावे कोय।
मृतक होयकै जो रहै, मानिक लावै सोय ॥१॥
तन समुद्र मन मर्जिवा, एक बार धसि लेय।
की तो लाल ले नीकसे, कि लालच जिय देय ॥२॥
मोती निपजै सीपमे, सीप समुन्दर माहि।

कोई मरजीवा काढ़सी जीवनकी गम नाहि ॥३॥
हरि दरिया सुभर भरा, जामै मुकता लाल।
मरजीवा ले नीकसे, पहरि क्षमाकी खाल ॥४॥
मै मरजीवा समुद्रका, पैठा सप्त पताल।
लाज कानि कुल मेटिकै, गहि लै निकसा लाल ॥५॥
मै मरजीवा समुद्रका, डुबकी मारी एक।
मूठी लाया ज्ञानकी, तामै वस्तु अनेक ॥६॥
डुवकी मारी समुद्रमे, जाइ निकसा आकास।
गगन मंडलमें घर किया, हीरा पाया दास ॥७॥
हरि हीरा क्यो पाइहै, जिन जीवेकी आस।
हरि दरिया सो काढिसी, कोइ मरजीवा दास ॥८॥
शून्य शहरमे पाइया, जहां मरजीवा मन्न।
कबिरा चुनि चुनि लैगया, भीतर राम रतन्न ॥९॥
ऊंचा तरुवर गगन फल, विरला पक्षी खाय।
इस फलको तो सो भखै, जीवतही मरि जाय ॥१०॥
जब लगि आस शरीरकी, मृतक हुआ न जाय।
काया माया मन तजै, तब चौडे रहै बजाय ॥११॥
राम कहो तो मरि रहो, जीवत बन्दूँ न राम।
जब लग जीवत राम है, तब लग काँचा काम ॥१२॥
कबीर कसौटी रामकी, खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै, जो जीवत मृतक होय ॥१३॥
मनको मृतक देखिके, मति मानै बिसवास।
साधू अजहूँ भय करै, जब लग पिंजर स्वास ॥१४॥
मृतकको धीज्यो नही, मेरो मन वह बाज।
बाजै - बाव विकारकी, कब फिरि जीवै आज ॥१५॥
मृतकको दावा किसा, अहाँ रहै नहि कोय।
मुआ मसाना परज्वले, यह कछु अचरज होय ॥१६॥
मै जानूं मन मरिगया, मरकर हूआ भूत।
मूआ पीछै उठि लगै, ऐसा मेरा पूत ॥१७॥
मन मनसा ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
गगन मंडलमे घर किया, काल रहा सिर कूटि ॥१८॥
मोहि मरनेका चाव है, मरुं तो राम दुवारि।
मति हरि बूझै बातरी, कोई दास मुआ दरबारि ॥१९॥
मोहि मरनेका चाव है, मरुं तो राम दुवारि।
की तनका कुटका करूं की ले उतरो पारि ॥२०॥
मूआको क्या रोइये, जो अपने घर जाय।
रोइये बन्दीवानको, जो हाटै हाट विकाय ॥२१॥
मरना भली विदेशका, जहां अपना नहि कोय।
जीव जन्तु भोजन करै, सहज महोत्सव होय ॥२२॥
पैडा मांही परि रहो, दुर्बल मिरतक होय।

जेहि पेंडे यम लूटिया, बात न बूझे कोय ॥२३॥
जिन पावन भू बहुफिरा, देखा देस विदेस।
तिन पावन थित पकरिया, आँगन भया विदेस ॥२४॥
रोडा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यों राहकी खेह ॥२५॥
खेह भई तो क्या भया, उडि उडि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिये, पानी का सा रंग ॥२६॥
पानी भया तो क्या भया, ताता सीरा सोय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरिभजि निर्मल होय ॥२७॥
निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल मांगै ठौर।
मल निर्मल सूं रहित है, ते साधू कोइ और ॥२८॥
पापीको दोजख नही, धरमी दोजख जाइ।
यह परमारथ बूझि, जनि कोइ धरम कमाइ ॥२९॥
पांच पचींसूं मारिया, पापी कहिये सोय।
या परमारथ बूझिके, पाप करो सबकोय ॥३०॥
आपा मेटै हरि मिलै हरि मेटै सब जाय।
अकथ कहानी प्रेमकी, कहै न कोइ पतियाय ॥३१॥

(१४५) अथ जीवनमुक्तिको अंग

बंधा को बंधा मिले, छूटै कौन उपाय।
कर संगति निरबंधकी, पलमें लेइ छुड़ाय ॥१॥
दुनिया बंधन परिगई, साधू है निरबंध।
राखै खड्ग जो ज्ञान को, काटत फिरै जो फंध ॥२॥
मुक्ता बाँवे दाहिनै, मुक्ता आगै पीठि।
मुक्ता धरनि अकास में, मुक्ता सेरी दीठि ॥३॥
मुक्ता पैडा जब भया, प्रान मुक्ति निरबान।
रूप मुक्ति तब जानिये, जब देखै दृष्टि पिछान ॥४॥

(१४६) अथ मांसाहारीको अंग

मांस अहारी मानई, प्रत्यक्ष राक्षस जानि।
ताकी संगति मति करै, होइ भक्ति मे हानि ॥१॥
मांस खांये ते ढेड़ सब, मद पीवै सो नीच।
कुलकी दुरमति पर हरै, राम कहै सो ऊंच ॥२॥
मांस मछलिया खात है, सुरापान से हेत।
ते नर नरकै जाहिंगे, माता पिता समेत ॥३॥
मांस मछलिया खात है, सुरा पान सो हेत।
ते नर नरकै जाहिंगे, ज्यो मूरीका खेत ॥४॥
मांस भखै औ मद पिये, धन वेश्या सो खाय।
जूआ खेलि चोरी करै, अंत समूला जाय ॥५॥

मांस मांस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।'
आंखि देखि नर खात है, ते नर नरकहि जाय॥६॥
यह कूकर को भक्ष है, मनुष्य देह क्यों खाय।
मुखमे आमिख मेलिके, नरक परंते जाय॥७॥
ब्राह्मन राजा बरनका, और पवनी छत्तीस।
रोटी ऊपर माछली, सब बरन भये खबीस॥८॥
कलियुज केरा ब्राह्मना, मांस मछलिया , खाय।
पांय लगे सुखमानई, राम कहे जरि जाय॥९॥
पापी पूजा बैठिकै, भखै मांस मद दोइ।
तिनकी दीक्षा मुक्ति नहि, कोटि नरक फल होई॥१०॥
सकल बरन एकत्र ह्वै, शक्ति पूजि मिलि खाहि।
हरि दासन की भ्रांति करि, केवल जम्पुर जाहि॥११॥
विष्ठाका चौका दिया, हांडी सीझै हाड।
छूति बचवै चासकी तिनहूं का गुरु राड॥१२॥
जीव हनै हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
पाप सबै जो देखिया, पुन्य न देखा कोय॥१३॥
जीव हनै हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
निगम पुनि ऐसे पाप ते, भिस्त गया नहि कोय॥१४॥
हन्या सोही हत्रसी, भावै जानि बिजान।
कर गहि चोटी तानसी, साहबके दीवान॥१५॥
तिलभर मछली खायके, कोटि गऊ दै दान।
काशी करवट लै मरै, तौ भी नरक निदान॥१६॥
काटि कूटि जबह करै, या पाप संगका भेस।
निश्चै राम न जानही, कहै कबीर सँदेस॥१७॥
बकरी पाती खात है, ताकी काढी खाल।
जो बकरी को खात है, तिनका कौन हवाल॥१८॥
आठ बाट बकरी गई, साँस मुलां गये खाय।
अजहूँ खाल खटीकै, भीस्त कहांते जाय॥१९॥
अंडा किन बिसमिल किया, घुन किया किन हलाल।
मछली किन जबह करी, सब खाने का ख्याल॥२०॥
मुल्ला तुझै करीमका, कब आया फरमान।
घट फोरा घर घर किया, साहब का नीसान॥२१॥
काजीका बेटा मुआ, उरमैं सालै पीर।
वह साहब सबका पिता, भला न मानै वीर॥२२॥
पीर सबनको एकसी, मूरख जानैं नाहि।
अपना गला कटायकै, भिश्त बसै क्यो नाहि॥२३॥
मुरगी मुल्लासो कहै, जबह करत है मोहि।
साहब लेखा मांगसी, संकट परिहै तोहि॥२४॥
कबिरा काजी स्वाद बस, जीव हते तब दोय।
चढ़ि मसीत एको कहै, क्यो दरगह सांचा होय॥२५॥

काजी मुल्लां भरमिया, चले दुनीके साथ।
दिल सो दीन नियारिया, करद लई तद हाथ॥२६॥
काला मुँह करि करदका, दिल सूं दई निवार।
सब सूरति सुवहानकी, अहमक मुला न मार॥२७॥
जोरी करि जबह करै, मुखसो कहै हलाल।
साहब लेखा मांगसी, तब होसी कौन हवाल॥२८॥
जोर कीयां जुलूम है, मागै ज्याब खुदाय।
खालिक दर खूनी खडा, मार मुही मुँह खाय॥२९॥
गला काटि कलमा भरै, कीया कहै हलाल।
साहब लेखा मांगसी, तब होसी कौन हवाल॥३०॥
गला गुसाकों काटिये, मियां कहरकौ मार।
जो पांचू विस्मिल करै, तब पावै दीदार॥३१॥
ये सब झूठी बंदगी, बेरिया पांच निमाज।
सांचहि मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज॥३२॥
दिनको रोजा रहत है, रात हनत हैं गाय।
यह खून वह वंदगी, कहुं क्यो खुशी खुदाय॥३३॥
कबिरा तेई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानि है, सो काफिर बेपीर॥३४॥
कहता हूं कहि जात हूं, कहा जो मान हमार।
जाका गला तुम काटि हो, सो फिर काटै तुम्हार॥३५॥
हिन्दू के दाया नहीं, मिहर तुरके नाहि।
कहै कबीर दोनूं गया, लख चौरासी माहि॥३६॥
मुसलमान मारै करदसो, हिदू मारे तरवार।
कहै कबीर दोनूं मिलि, जैहै यमके द्वार॥३७॥

(१४७) अथ अमल अहारीको अंग

कलयुग काल पठाइया, भाँग तमाखू फीम।
ज्ञान ध्यानकी सुधि नही, वसै इन्द्रीकी सीम॥१॥
गऊ जो विष्ठा भक्षई, विप्र तमाखू भंग।
शस्तर बांधै दरसनी, ये कलियुगके रंग॥२॥
भाँग तमाखू छतरा, आफू और शराव।
कौन करेगा बंदगी, येतो भये खराव॥३॥
अमल माहि औगुन कहा, कहो मोहि समुझाय।
उत्तर प्रश्नहिमे सुनो, मनकी संशय जाय॥४॥
भांग भखे बल बुद्धिको, आफू अहिमुख होय।
दोइ अमल औगुन कहा, ज्ञानवंत सुनि लेय॥५॥
औगुन कहूं शरावका, ज्ञानवंत सुनिलेय।
मानुषसो पशुया करै, द्रव्य गांठिको देय॥६॥
काम हरक्कत बल घटत, तृष्णा नाहीं ठौर।
ढिग होय बैठे दीनके, एक चिलम भरि और॥७॥

पानी पिरथी के हते, धूंआं सुनिके जीव।
हुक्के में हिसा घनी, क्योकर पावै पीव ॥८॥
छाजन भोजन हक्क है, और अनाहक लेइ।
आपन दोजख जात है, और दोजख देइ ॥९॥
अमल अहारी आतमा, कव्हुँ न पावै पार।
कहै कबीर पुकारिकै, त्यागो ताहि विचार ॥१०॥
तन मद मनमद मायामद, विद्यामद उनमद्द।
एता मद जब परहरै तब सुनै ज्ञान अनहद्द ॥११॥

(१४८) अथ अपारख को अंग

चंदन गया विदेसड़े, सब कोई कहै पलास।
ज्यो ज्यो चूल्हे झोकिया, त्यो त्यो अधिकी बास ॥१॥
चंदन रोया रात भरि, मेरा हित्त न कोय।
जिसने राख्यो पेटमे, सो फिर वैरी होय ॥२॥
चंदन काटा जड खनी, बांधिलिया शिर मार।
कालि जो पंछी वसि गया, तिसका यह उपकार ॥३॥
पांय पदारथ पेलिया, कॉकर लीन्हां हाथ।
जोडी विछुरी हंस की, चला वुंगाके साथ ॥४॥
हंसा तो महाराणका, आया थलियां माहि।
वगुला करि करि मारिया, मरम जो जानै नाहि ॥५॥
हंस बुगांके पावना, कोइक दिनका फेर।
बगुला कहा गरविया, बैटा पंख विखेर ॥६॥
वगुला हंस मनाइलै, नीरां रूकां बहोर।
या बैठा तू ऊजला, तासो प्रीति न तोर ॥७॥
एक अचंभो देखिया, हीरा हाट विकाय।
परखन हारा वाहरी, कौड़ी वदलै जाय ॥८॥
पायो पर पायो नही, हीरा हड्डी मार।
कहै कवीर योही गयो, परखे विना गँवार ॥९॥
कविरा चुनता कन फिरै, हीरा पाया बाट।
ताको मरम न जानिया, ले खलि खाई हाट ॥१०॥
हीरा को कछु ना घटा, घटा जो बेचन हार।
जन्म गमायो आपनौ, अंधे पशू गँवार ॥११॥
हिरदै हीरा ऊपजे, नाभि कमलके वीच।
जो कवहूँ हीरा लखै, तो कदे न आवै मीच ॥१२॥
हीरा हरिको नाम है, हिरदै भीतर देख।
बाहर भीतर भरि रहा, ऐसा आप अलेख ॥१३॥
वाद बके दमजात है, सुरति निरतिले बोल।
नित प्रति हीरा शव्दका, गाँहक आगै खोल ॥१४॥
मान उनमान तोलिये, शव्दा मोल न तोल।
मूरख लोग न जानही, आपा खोयो वोल ॥१५॥

कबिरा गुदरी बीखरी, सौदा गया विकाय।
खोटा बाँधा गांठरी, खरा लिया नहि जाय॥१६॥
राम रतन धन पाइकै, गांठ बांधि ना खोल।
नही पटन नहि पारखी, नहि ग्राहक नहि मोल॥१७॥
राम रतन धन मुक्ति मे, खान खुली घट माहि।
सेतमेतही देतहो, ग्राहक कोई नाहि॥१८॥
जहँ गाँहक तहँ में नही, मैं तहाँ गाहँक नाहि।
परिचय विन फूला फिरै, पकरि शब्दकी बाहि॥१९॥
पप्पासों परिचय नही, दादा रहि गा दूर।
लल्ला लौ लागी रहै, नन्ना सदा हजूर॥२०॥
कबिरा खाँडहि छाँडिकै, काँकर चुनि चुनि खाय।
रत्न गँवाया रेतमें, फिर पाछे पछिताय॥२१॥
पैंडे मोती बीखरा, आधा निकरा आय।
ज्योति विना जगदीशकी, जगत उलांडा जाय॥२२॥
कबिरा ये जग आंधरा, जैसी अंधी गाय।
बछरा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाय॥२३॥
सागरमे मानिक बसै, चीन्हत नाही कोय।
या मानिक कों सो लखे, जाको गुरुगम होय॥२४॥
अनजानेका कूकना कूकर कासा शोर।
ज्यो अंधियारी रैनमे, साह न चीन्हें चोर॥२५॥
मैं भारन सब ज्ञानिया, कथत बकत दिन जाय।
साह चोर चीन्है नही, कागा हंस लगाय॥२६॥
हंस कागकी पारिखा, सतगुरु दई बताय।
हंसा तो मोती चुगै, काग नरक परिजाय॥२७॥
अपने अपने सिरपर, सबहिन लीन्हा मानि।
हरिकी बात दुर्लभ अहै, काहू परी न जानि॥२८॥

(१४९) अथ पारखको अंग

जब गुनको गाहक मिलै, तब गुन लाख विकाय।
जब गुनको गाहक नही, तब कौडी बदले जाय॥१॥
हरि हीरा जन जौहरी, लै लै मांडी हाट।
जब रे मिलैगा पारखी, तब हीरा का साटि॥२॥
संशय नहि साधू मिले, मिलि मिलि करै विचार।
बोला पीछे जानिये, जो जाको व्यवहार॥३॥
कबिरा देखि परखिले, परखिके मुखां बुलाय।
जैसी अंतर होयगी, मुख निकसैगी आय॥४॥
जो जैसा उनमानका, तैसो तासो बोल।
पोता को गाहक नहीं, हीरा गाठि न खोल॥५॥
पहले शब्द पहचानिये, पीछे कीजे मोल।
पारख परख न पटतरा, शब्दे मोल न तोल॥६॥

राम रसायन प्रेमरस, अमृत शब्द अपार।
गाहक विना न नीकसै, मानिक कनक कुठार॥७॥
हरि हीरा सन मे हटा, पट्टन प्राण सुभट्ट।
गाहक बिना न खोलिये, हीरा केरी हट्ट॥८॥
हीरा तहाँ न खोलिये, जहां खोटी है हाट।
कस करि बाँधो गांठरी उठकरि घालो बाट॥९॥
एकहि बार परखिये, ना वा बारमबार।
बालू तौहू किरकिरी, जो छानै सो बार॥१०॥
राम रतन घट को थली, गाहक आगे खोल॥
जब रे मिलैगा पारखी, तब लेगा महँगे मोल॥११॥
तन सन्दूक मन रतन है, घुपकी दै हटताल।
गाहक विन नहि खोलिये, पूंजी शब्द रसाल॥१२॥
हरि हीरा मन जौहरी, परखि निरखि हिय लेय।
लै लुहार करि गहनमे, ज्ञान घोट घन देय॥१३॥
हरि मोतियनकी माल है, पोई काचे धागि।
यतन करो झटका घनां, टूटैकी कहुं लागि॥१४॥
पारख कीजे साधुकी, साधुहि परखे कोन।
गगन मंडलमे घर करे, अनहद राखे मोन॥१५॥
हीरा परखै जौंहरी, शब्दहि परखै साध।
कबिरा परखै साधुको, ताका मता अगाध॥१६॥
ज्ञानी जन है जौंहरी, करमी सकल मजूर।
देह भारका टोकरा, ताके सीस न धूर॥१७॥
हम है जगमे जौहरी, घटकी आँखी खोल।
तुला सवारि विवेककी, शब्द जुहार जो तोल॥१८॥
कै रत्ती भर सुरति है, कै रत्ती भर काम।
माया कै रत्ती भरी है, कै रत्ती भर नाम॥१९॥
सोलह रत्ती सुरति है, छत्तिस रत्ती काम।
माया सहस रती भरी, आध रती निजनाम॥२०॥
हड्डी मारि हीरा लहा, नौ करोडको हीर।
जा मारग हीरा लहा, सो क्यो तजै कबीर॥२१॥
हीरा पाया परखि के, घनमे दीया आनि।
घोट सही फूटा नही, तब पाई पहचानि॥२२॥
जो हंसा मोती चुगै, काँकर क्यो पतिआय।
काँकर माथा ना नवै, मोती मिलै तो खाय॥२३॥
मोती है विन सीपका, जगर मगर उजियार।
कहै कवीर तव पावई, जव भोजन मिलै हमार॥२४॥
वे मोती मति जानियो, जो पोवै पोतके साथ।
येतो मोती शब्दका, वेधि रहा सव गात॥२५॥
हंसा देश सुदेशका, परे कुदेसा आय।
जाका चारा मोतिया, घूंघे क्यो पतियाय॥२६॥

हंसा बगला एकसा, मान सरोवर माहि।
बग ढिंढोरे माछरी, हंसा मोती खाहि ॥२७॥
उत्तर दक्षिन पूरब पश्चिम, चारो दिशा प्रमान।
उत्तम देश कबीर का, अमरापुर अस्थान ॥२८॥
गांवनीयाके मुख बसौं, श्रोता के मै कान।
ज्ञानीके हृदये बसौ, भेदीका निज प्रान ॥२९॥
कीर्तनियां सौं कोस बिस, संन्यासी सौं तीस।
गृहीके हृदये बसौ, बैरागीके सीस ॥३०॥
जो कछु होय तो कुछ, कहौ तो झगरा सोह।
दो अंधों का नाचना, कहौ काकों मोह ॥३१॥

(१५०) अथ निन्दाको अंग

लोग बिचारा निन्दही, जिन्हु न पाया ज्ञान।
राम नाम जानै नही, बकै आन ही आन ॥१॥
निन्दक एकहु मति मिलै, पापी मिलौ हजार।
एक निन्दकके सीसपर, हजार पापको भार ॥२॥
निदकते कुत्ता भला, हठ करि माडै रारि।
कूकर तैं क्रोधी बुरा, गुरु दिवावै गारि ॥३॥
निन्दक न्हाय गहन कुरुखेत, अपरै नारि सिंगार समेत।
चौसठ कूआ बाय दिवावै। तौभी निदक नरकहि जावै ॥४॥
अडसठि तीरथ निन्दक न्हाई। देह पलोसे मैल न जाई।
छप्पन कोटि धरती फिरि आवै। तो भी निन्दक नरकहि जावै ॥५॥
निन्दक नियरै राखिये, आंगन कुटी बँधाइ।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाइ ॥६॥
निन्दक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मान।
निर्मल तन मन सब करै, बकै आनही आन ॥७॥
निन्दक हमरा जनि मरौ, जीवो आदि युगादि ॥
कबिरा सतगुरु पाइया, निन्दकके परसादि ॥८॥
कबिरा निन्दक मरि गया, अब क्या कहिये जाइ।
ऐसा कोई ना मिलै, बीडा लेइ उठाइ ॥९॥
जो कोइ निन्दे साधु को, संकट आवै सोइ।
नरक माहि जन्मै मरै, मुक्ति न कबहूँ होइ ॥१०॥
कबिरा मेरे साधुकी, निन्दा करौ मति कोइ।
जोपै चन्द कलंक है, तऊ उजियारा होय ॥११॥
निन्दक तो है नाक विन, सोहै नकटा माहि।
साधू सिरजनहारका, तिनमे सोहै नाहि ॥१२॥
सांतू सायर मे फिरा, जंवु द्वीप दै पीठि।
निन्दा पराई ना करै, सो कोइ बिरला दीठि ॥१३॥

(१५१) अथ अनिन्दाको अंग

काहूको नहि निन्दिये, सिर हीनता होय।
फिरि फिरि ताको वंदिये, साधु लक्ष है सोय॥१॥
ऐसा जन कोइ एक है, दूजा भेष अनेक।
निन्दा बिन्दा क्या करे, जो नहि हृदय एक॥२॥
दोष पराया देखिकै, चलै हसंत हसंत।
अपना यादि न आवई, जाकी आदि न अंत॥३॥
तिनका कबहु न निन्दिये, जो पांव तले है सोय।
कबहूँ उडि आंखो परै, तौ पीर घनेरी होय॥४॥
आपन को न सराहिये, पर निन्दिय न कोय।
अजहूं लंबा धौहरा, ना जानौ क्या होय॥५॥
आपन पौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
क्या जानो किहि रूख तर, कुरा होइ रंक॥६॥

(१५२) अथ साकटनरको अंग

साकटका मुख बिब है, निकसत वचन भुवंग।
ताकी औषधि मोन है, विष नहि व्यापै अंग॥१॥
साकट कहा न कहि चले, सुनहा कहा न खाय।
जो कोआ मठ हगि भरे, तो मटको कहा नसाय॥२॥
साकट सूकर कूकरा, तीनोकी मति एक।
कोटि यतन परामोधिये, तऊ न छांडे टेक॥३॥
टेक न कीजै बावरे, टेक मांहि है हान।
टेक छांड़ि मानिक मिलै, सतगुरु वचन प्रमान॥४॥
मै तोही कब कह्या, तू साकटके घर जाव।
बहती नदी जो डूबि मरु, साकट संग न खाव॥५॥
कबिरा साकटकी सभा, तू मति बैठे जाय।
एक गुवाडे कदि बडे, रोज गदहरा गाय॥६॥
साकट संग न बैठिये, अपनो अंग लगाय।
तत्त्व शरीरा झरि परे, आप रहै लपटाय॥७॥
साकट संग न बैठिये, करन कुवेर समान।
ताके संग न चालिये, पडि है नरक निदान॥८॥
साकट ब्राह्मण मत मिलौ, वैष्णव मिलो चंडाल।
अंग भरे भरि भेटिये, मानो मिले दयाल॥९॥
साकट सनका जेवरा, भीजे सो करराइ।
दो अक्षर गुरु बाहरा, बांधा यमपुर जाइ॥१०॥
साकटसे सूकर भला, सूचौ राखै गाँव।
बूडो साकट बापरा, बाइस भरमी नाँव॥११॥
साकट हमरे कोउ नही, सबै वेष्णव झारि।
संशयते साकट भया, कहे कवीर विचारि॥१२॥

साकट ब्राह्मण सेवरा, चौथा योगी जान।
इनको संग न कीजिये, होइ भक्तिमे हान॥१३॥
साकट संग न जाइये, दे मांगा मोहिदान।
प्रीति संगाती ना मिलै, छाडै नहि अभिमान॥१४॥
संगति सोई बिगुचई, जो है साकट साथ।
कंचन कटोरा छोड़िकै, सनहक लीन्ही हाथ॥१५॥
सूता साधु जगाइये, करै ब्रह्मको जाप।
ए तीनों न जगाइये, साकट सिंह रु साँप॥१६॥
आँखो देखा घी भला, ना मुख मेला तेल।
साधू सो झगड़ा भला, ना साकट सो मेल॥१७॥
घरमे साकट इस्तरी, आप कहावै दास।
वो तो ह्वैगी शूकरी, वह रखवाला पास॥१८॥
खसम कहावै वैष्णव, घरमें साकट जोय।
एक घरां में दोमता, भक्ति कहांते होय॥१९॥
साकट नारी छांडिये, गनिका कीजै नारि।
दासी ह्वै हरि जननकी, कुल नहि आवै गारि॥२०॥
एक अनुपम हम किया, साकटसो व्यवहार।
निन्दा साटै उजागरो, कीयो सौदा सार॥२१॥
साकट ते संत होत है, जो गुरु मिलै सुजान।
राम नाम निज मंत्र दै, छुड़ावै चारू खान॥२२॥
शब्दार्थ–साकट = विषयासक्त

(१५३) अथ दयाको अंग

दया दया भाव जानै नही, ज्ञान कथे बेहद्द।
ते नर नरकहि जाहिगे, सुनि सुनि साखी शब्द॥१॥
दाया दिलमे राखिये, तू क्यो निरदइ होइ।
सांईके सब जीव है, कीडी कुंजर सोइ॥२॥
दया कौन पर कीजिये, कापर निरदइ होइ।
हम तो भये तमाशगी, नाटक बाजी जोइ॥३॥
भावै जाओ बादरी, भावै जावहु गया।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, सबतें बड़ी दया॥४॥
कबिरा दरिया परज्वाला, दाझे जल थल झोल।
बस नाही गोपाल सो, दाझे रतन अमोल॥५॥
ऊनै आई बादरी, बरसन लगा अँगार।
ऊठि कबीरा धाह दै, दाझत है संसार॥६॥
दाध कलापी सब दुखी, सुखी न देखा कोय।
को पुत्र को बान्धवा, को धन हीना होय॥७॥
दाध कलापी सब दुखी, सुखी न देखा जाय।
जहँ जहँ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ धीरज होय॥८॥
बाग विछूट मिरगला, ताहि न मारो कोय।
आपेही मरि जायगा. डांवा डोला होय॥९॥

हम रोवै संसारको, हमको रोवे न कोय।
हमको तो सो रोइ है, जो शव्द सनेही होय॥१०॥

(१५४) अथ कुदयाको अंग

बैरागी ह्वै तजि, पग पहिरे पैजार।
अन्तर दया न ऊपजे, घनी सहैगा मार॥१॥
बैरागी ह्वै गृह तजि, अपना रांधा खाय।
जीव हतै जोहर करै, बांधा यम्पुर जाय॥२॥
आगि जलावे अन दहे, मोटा आरंभ एह।
दीख जम की घोटमे, कीट पतंगा देह॥३॥
पाकी ते डाकी भला, तिथि त्योहारां लेय।
जीव सतावै रामका, निति उठि चौका देय॥४॥
पाकी को मन पानरै, कै गोवर कै गार।
और जनम कहा पाइये, यह तो घाला हार॥५॥
चौके चीठी चुल्है घन, किस्म वहुत जो जान।
कहै कवीर आचर यह, जीवको होय अकाज॥६॥
आचारी सव जग मिला, विचारी मिला न कोय।
कोटि अचारी वारिये, एक वियारी होय॥७॥

(१५५) अथ स्वादीको अंग

मूँड मुडाया मुक्तिको, सालन कूं पछिताय।
गोडा फूटे योग विन, लोगनसो शयलाय॥१॥
खाटा मीठा चरफरा, जिह्वा सव रस लेय।
चोरो कुतिया मिलिगई, पहरा किसका देय॥२॥
खाटा मीठा देखिके, रसनां मेलै नीर।
जब लग मन पाको नही, काँचो निपत कवीर॥३॥
जिह्वा स्वादके कूपमे, जहाँ हलाहल काम।
अंग अविद्या ऊपजे, जाइ हृदयते राम॥४॥
अहार करै मन भावता, जिह्वा केरा स्वाद।
नाके लगि पूरण भरै, को कहिहैं परसाद॥५॥
माखी गुडमें गड़ि रही, पंखरही लपटाय।
तारी पीटै सिर धुने, मीठे वोरी माँय॥६॥

(१५६) अथ अनस्वादीको अंग

रूखा सूखा खाइके, ठंढा पानी पीव।
देखि विरानी चोपड़ी, मत ललचावे जीव॥१॥
आधी अरु रूखी भली, सारी सोग संताप।
जो चाहैगा चोपडी, तौ बहुरि करैगा पाप॥२॥
कविरा सांई मुझको, रुखी रोटी देय।

घुपडी माँगत मैं डरूँ, मत रूखी छिन लेय॥३॥
अँन पानी का अहार है, स्वाद संग नहि जाय।
जो चाहे दीदार को, तो चुपडी चरे बलाय॥४॥
जिह्वा कर्म कचेटरी, तीनों गृहमें त्याग।
कबिरा पहले त्यागिकै, पीछै लै बैराग॥५॥
जिह्वा कर्म कछोटरी, जो तीनों बसि होय।
राजा प्रजा औ यम्पुरी, गंजि सकै नहि कोय॥६॥
जूवा चोरी मुखबिरी, ब्याज बिरानी नार।
जो चाहै दीदार की, इतना बस्तु निवार॥७॥

(१५७) अथ सुन्दरीको अंग

कबिरा सुन्दरि यों कहै, सुनियो कन्त सुजान।
बेगि मिलै तुम आइकै, ना तर तजिहौं प्रान॥१॥
कबिरा जो कोइ सुंदरी, जानि करै व्यभिचार।
ताहि न कबहूं आदरै, परम पुरुष भरतार॥२॥
सुंदरि तो सांई भजे, तजे आन की आस।
ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छांडै पास॥३॥
मन मनसा को मारि के, नान्हा करि कै पीस।
तब सुख पावै सुंदरी, पदम झलक्कै सीस॥४॥
नवसत साजै सुंदरी, तन मन रही संजोइ।
पियके मन मानै नही, तो पदम किया क्या होइ॥५॥
मै मेरी सब जायगी, तब आवैगी और।
जबही यह निश्चल रहे, तब पावैगा ठौर॥६॥
घढ़ी अखारै सुंदरी, माडा पीवसो खेल।
दीपक जोया ज्ञानका, काम जरै ज्यो तेल॥७॥
कबिरा सेरी सांकरी, माही चूरम घूर।
कारनवन्ती सुन्दरी, रहै धका सो दूर॥८॥

(१५८) अथ उपजनको अंग

नाम न जानै गांवका, पीछे लागा जाय।
काल्हि जो काटा भांगसी, पहली क्यो न खुराय॥१॥
सीख भई संसार सो, चला जो सांई पास।
अविनासी मोहि ले चला, पुरई मेरी आस॥२॥
इन्द्रलोक अचरज भयो, ब्रह्मा परा विचार।
कबिरा चाला राम पै, केतिकहार अपार॥३॥
सदपानी पातालका, काढि कबीरा पीव।
बासी पावक परि मुआ, विष बिलंबा जीव॥४॥
कबिरा हरिका डरपता, ऊन्हा धान न खाव।
हिरदा भीतर हरि बसे, झनते जडराव॥५॥

गोविद केरे बहुत गुन, लिखा जो हिरदा मांहि।
पानी न पीऊँ डरपता, मत वै धोया जांहि॥६॥
अब तो मै ऐसा भया, निरमोलिक निजनाम।
पहले काच कथीर था, फिरता ठामहि ठाम॥७॥
भवसागर जल विष भरा, मन नहि बांधे धीर।
सबल सनेही हरि मिला, उतरा पार कबीर॥८॥
भला सुहेला ऊतरा, पूरा मेरा भाग।
राम नाम बांका गहा, पानी पग नहि लाग॥९॥
सपनामें सांई मिला, सोवत लिया जगाय।
आँखि न मीचौ डरपता, मत सपना ह्वै जाय॥१०॥
कबिरा केशवकी दया, संशय मेला खोहि।
जो दिन गया हरि भजन विन, सो दिन साले मोहि॥११॥
कबिरा जाँचन जाय था, आगे मिला अजाच।
आप सरीखा करि लिया, भारी पाया साँच॥१२॥
कबिरा बेटीको भाटी ले गई बेटाको ले गई, भँगार।
माताको लोई लेगई, कबीर सिरजन हार॥१३॥

(१५९) अथ कस्तूरिया मृगको अंग

कस्तूरी कुंडल बसै, नावि कमल हरिनाम।
नर ढूंढै पावै नही, गुरु विन ठामहि ठाम॥१॥
तेरा सांई तुझीमे, ज्यों, पुहुपनमे बास।
कस्तूरीके मिरग ज्यो फिरि फिरि ढूंढे घास॥२॥
कबिरा बहुत भटक्किया, मनलै विषै विराम।
ढूंढत ढूंढत जग फिरा, तिनका ओटे राम॥३॥
राम नाम तिहुँ लोकमे, सकल रहा भरपूर।
जो जानै तो निकट है, अनजाने ते दूर॥४॥
जा कारण जग ढूँढ़िया, सो तो घटही माहि।
परदा दीया भरमका, ताते सूझै नाहि॥५॥
समझा तो घरमे रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साहिब तुझहि मे, अन्त काहू मत जाय॥६॥

(१६०) अथ निगुरानरको अंग

संगति भई तो क्या भया, हिरदय भयो कठोर।
नौ नेजा पानी चढै, तऊ न भीजै कोर॥१॥
कबिरा हृदय कठोरके, शब्द न लागै सार।
सुधि बुधिके हृदय विधे, उपजै ज्ञान विचार॥२॥
हरिया जानै रूखडा, उस पानी का नेह।
सूखा काठ न जानिहै, कितहूं बूड़ा मेह॥३॥
पारब्रह्म बूडो मोतिया, झड़ी, बांधि सिखर।

सुगरां सुगरां घुनिलिया, घूक परी निगुर ॥४॥
कबिरा हरिरस बरसिया, गिरिपर्वत शिखराय।
नीर निवानूं ठाहरै, नाबह छापर डाय ॥५॥
कबिरा मूढ़क प्रानियां, नख शिख पाखर आहि।
बाहनहारा क्या करै, बान न लागै ताहि ॥६॥
बेकामी कों सिरजि निवावै, सांटी खोवै भालि गमावै॥
दास कबीर ताहिको भावै, रारि समै सनमुख सरसावै ॥७॥
पसुवा सौ पानौ पर्‌यौ, रहु रहु हिया न खीज।
ऊसर बीज न ऊगसी, भावै दूना बीज ॥८॥
चन्दन परसा बावना, विष न तजै भुवंग।
वा याहै गुन आपना, कहा करै सतसंग ॥९॥
सारा लशकर ढूँढिया, सारदूल नहि पाय।
गीदड को शर बाहिके, नामे काम गमाय ॥१०॥

(१६१) अथ विनतीको अंग

बिनवत हूं कर जोरिकै, सुनु गुरु कृपा निधान।
संतन में सुख दीजिये, दया गरीबी ज्ञान ॥१॥
कबिरा करता है बीनती, सुनौ संत चितलाय।
मारग सिरजनहार का, दीजै मोहि बताय ॥२॥
कबिरा करत है बीनती, भवसागरके ताँइ।
बंदे पर जोरा होत है, यमको बरजु गुसांइ ॥३॥
सांई तेरै जोर जुलम है, मेरा होय अकाज।
बिरद तुम्हारो लाजि है, शरण परे की लाज ॥४॥
क्या मुख ले बिनती करूँ, लाज आवत है मोहि।
तुम देखत अवगुन किया, कैसे भाऊँ तोहि ॥५॥
बनजारी विनती करै, नरियल लायी हाथ।
बाडा था सो लदि गया, नायक नाहीं साथ ॥६॥
तुझ मे औगुन तुझहि गुन, तुझ गुन औगुन मुझ्झ।
जो मै विसरूं तुझ्झकौं, तू मति विसरै मुझ्झ ॥७॥
साहब तुम जनि बीसरौ, लाख लोग मिलिजाहि।
हमसे तुमकूं बहुत हैं, तुमसे हमको नाहि ॥८॥
तुम्हे बिसारे क्यो बनै, मै किस शरने जाउँ।
शिव विरंचि मुनि नारदा, तिनके हृदय न समाउँ ॥९॥
कबिरा भूलि बिगारिया, तू ना कर मैला चित्त।
साहब गरुवा चाहिये, नफर बिगारो नित्त ॥१०॥
कबिरा भलि बिगारिया, करि करि मैला चित्त।
नफर भि ऐसा चाहिये, साहबसे राखै हित्त ॥११॥
औगुन किया तो बहु किया, करत न मानी हारि।
भावै बंदा बखशियो, भावै गरदन मारि ॥१२॥
औगुन मेरा बापजी, बखश गरीब निवाज।

जो मै पूत कपूत हो, तोहि पिताको लाज ॥१३॥
सांई केरा बहुत गुन, औगुन कोई नाहि।
जो दिल खोजो आपना, तो सब औगुन मुझ माहिं ॥१४॥
मुझ मे गुन एकौ नही, जान राय शिर मौर।
तेरे नाम प्रताप सो, पाऊँ आदर ठौर ॥१५॥
मै खोटा सांई खरा, मै गाधा मैं गार।
मै अपराधी आतमा, सांई शरन उबार ॥१६॥
मैं अपराधी जनमका, नख शिख भरो बिकार।
तुम दाता दुख भंजना, मेरी करो संभार ॥१७॥
सुरति करौ मम साइयाँ, हम है भवजल माहि।
आपेही मर जाँयँगे, जो नहि पकरो बाहि ॥१८॥
और पतित तो कूप है, मै हो समुद्र समान।
मोहि टेक तोह नाम की, सुनियो कृपा निधान ॥१९॥
औसर बीता अल्पतन, पीव रहा परदेश।
कलंक उतारो रामजी, भानो भरम अंदेश ॥२०॥
सांई मेरा सावधान, मैं ही भया अचेत।
मन बच करम न हरि भजा, ताते निष्फल खेत ॥२१॥
अबकी जो सांई मिले, सब दुख आँखो रोइ।
धरणो ऊपर शिर धरो, कहूँ जो कहना होइ ॥२२॥
कबिरा सांई तो मिलैगे, पूछेगे कुशलात।
आदि अंतकी सब कहूँ, उर अंतरकी बात ॥२३॥
अंतरजामी एक तू, आतमके आधार।
जो तुम छाँडो हाथतै, तो कौन उतारै पार ॥२४॥
भवसागर भारी भया, गहरा अगम अथाह।
तुम दयाल दाया करो, तब पाऊँ कछु थाह ॥२५॥
सतगुरु बडे दयाल हैं, संतन के आधार।
भवसागर अथाह सो, खेइ उतारै पार ॥२६॥

(१६२) अथ वेलिको अंग

कविरा कड़वी बेलड़ी, कड़वाई फल जोय।
सिद्ध नाम तब पाइये, जब बेलि बिछोहा होय ॥१॥
सिद्ध भई तौ क्या हुआ, चहुं दिस फूटी बास।
अजहूँ बीज अंकूर मै, फिर जामनकी आस ॥२॥
जो मनमे तो ब्रह्ममे, अनत न कहूँ समाय।
हरिरस सीची बेलडी, कदे न निर्फल जाय ॥३॥
सिद्ध सहजहि खिर पड़ी, अग्नि जो लागी माहि।
सिद्धि बोलि दोऊ जरी, अब फिरि ऊगै नाहि ॥४॥
मूल जला बेली जली, हुआ बीजका नास।
सूरति समानी शब्द मे, नहि जामन की आस ॥५॥
अब तो ऐसी ह्वै परी, नां तूंबरी ना बेलि।

जारन आनी लाकरी, ऊठी कोपल मेलि ॥६॥
आगै आगै दौ बैर, पीछैं हरिया होय।
बलिहारी ता वृक्षकी, जड़ काटै फल सोय ॥७॥
आंगन बेलि अलख है, फल करता अभिलाख।
गगन मण्डलमे शोधिलै, सतगुरु बोले साख ॥८॥
अनब्याही आकाश है, सुषुमनि सुरति बिलोय।
अहनिसि तो तारी लगी, जहां प्रेम दूध झर होय ॥९॥
छाया माया रहित है, सूक्षम है अनसूत।
आवागमनसे रहित है, सोई बांझका पूत ॥१०॥
शशा सिहँके धनुषका, पाया शब्द विवेक।
भय छूटा निर्भय भया, सब घट देखा एक ॥११॥

(१६३) अथ अविहड़को अंग

साथी तो सोई किया, दुख सुख जाहि न कोय।
हिलि मिलि ह्वैके खेलई, कबहुँ न बिछोहा होय ॥१॥
आदि अंत और मध्य लौ, अभय औ सदा अभंग।
कबिरा उस करतारका, कदी न छाडै संग ॥२॥
अबिहड अखंडित पीव है, ताका निरभय दास।
तीनौं गुनको पेलिके, चौथे किया निवास ॥३॥

(१६४) अथ बेहदको अंग

कांसे ऊपर बीजुरी, परै अचानक आय।
तातै निर्भय ठीकरा, सतगुरु दिया बताय ॥१॥
हद्द छांड़ि बेहद गया, लिया ठीकरा हाथ।
भया भिखारी दीनका, दर्शन भया सनाथ ॥२॥
हद्द छांडि बेहद गया, अबरन किया मिलान।
दास कबीरा मिलि रहा, सो कहिये रहमान ॥३॥
बेहद बिचारौ हद तजौ, हद तजि मेलो आस।
सबै अलिगन मेटिकै, करौ निरन्तर वास ॥४॥
निरन्तर बासी निरमला, शून स्थूल सो निनार।
पूरब गंगा पश्चिम बहावै, पेखे बहु उजियार ॥५॥
बेहद अगाधी पीव है, ये सब हदके जीव।
जे नर राते हद्दसो, ते कदी न पावै पीव ॥६॥
हदमे पीव न पाइये, बेहदमे भरपूर।
हद बेहदकी गम लखै, तासौ पीव हजूर ॥७॥
हद बँधा बेहद रमै, पल पल देखै नूर।
मनवा तहाँ ले राखिया, जहां बाजै अनहद तूर ॥८॥
हद्द मांहि हदका घनां, लीया जीव तुराय।
रिंगसि बिगसि बेहद गया, मरै न आवै जाय ॥९॥

हद छांडि बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहदके मैदान मे, रहा कवीरा सोय॥१०॥
हद्द छाडि बेहद गया, तासों राम हजूर।
पारब्रह्म परचा भया, अब नियरे तब दूर॥११॥
हदमे बैठा कथन है, वेहदकी गम नाहि।
बेहदकी गम होयगी, तव कछु कथना काहि॥१२॥
कविरा हदके जीव सो, हित करि मुखै न बोल।
जो राचे बेहद सों, तिनसो अन्तर खोल॥१३॥
हदिया सेतो हद रहो, बेहदिया बेहद्द।
जो जैसा तहा रोगिया, तहा तैसी औषद्द॥१४॥
हदमें रहैं सो मानवी, बेहद रहै सो साधु।
हद बेहद दोनो तजै, तिनका मता अगाध॥१५॥
हद बेहद दोनौ तजी, अबरन किया मिलान।
कहै कवीर ता दास पर, वारौं सकल जहान॥१६॥
अगह गह अकह कहै, अनभेदा भेद लहाइ।
अनभै वाणी अगमकी, लेगई संग लगाइ॥१७॥
जहां शोक व्यापै नही, चल हंसा उस देस।
कहै कवीर गुरगम गहो, छांडि सकल भ्रम भेस॥१८॥
अंग अठोत्तरसौ कहा, परम पुरुष उपदेश।
कहै कवीर अव हरि मिलै, मानौं साख संदेश॥१९॥
जन कवीर बंदन करै, किस विधि कीजै सेव।
बार पारकी गम नही, नमो नमो निज देव॥२०॥

परिशिष्ट साखी

(अ)

कबीर सब जग यों भ्रम्या फिरै ज्यूँ रामे को रोज।
सतगुरु थें सोधी भई, तब पाया हरि का षोज ॥१॥

शब्दार्थ—रामे = जगल। रोज (रोझ) = जानवर। थे = से। सोधी = सुधि।

अर्थ—संत कबीर कहते है कि मै जगली पशु सा ससार के विषयो मे भटक रहा था। सतगुरु ने सुधी दिलायी तब ईश्वर की खोज पूरी हुई।

कबीर सतगुर ना मिल्या, सुणी अधूरी सीष।
मुँड मुँडावै मुकति कूँ, घालि न सकई बीख ॥२॥

शब्दार्थ—सुणी = सुनी। सीष = शिक्षा। कूँ = को। बीख = विष। विषय।

अर्थ—अच्छे गुरु के अभाव मे अचकचरी शिक्षा सुनी। फलत मुक्ति के लिये सिर तो मुड़ा लिया। किंतु ज्ञान के अभाव मे विषयो का नाश सभव नही।

कबीर हीरा बणजिया हिरदे उकठी खालि।
पारब्रह्म क्रिया करी सतगुर भये सुजाँण ॥३॥

शब्दार्थ—उकठी = १ उत्कृष्ट। २ सूखना। अलग होना।

अर्थ—सत कबीर ने हीरे का। भक्ति साधना का व्यापार किया। हृदय मे ही हीरे का उत्कृष्ट खान है। सुज्ञानी को सतगुरु के कारण पारब्रह्म की कृपा प्राप्त हुई। उकठी का सूखना अर्थ ले तो अर्थ होगा हृदय मे वासनाओ का खान सूख कर समाप्त हो गया।

मो चित तिलाँ न बीसरौ, तुम्ह हरि दूरि थयाँह।
इहि अंगि औलू भाइ जिसी, जदि तदि तुम्ह म्यलियाँह ॥४॥

शब्दार्थ—मो = मेरा। तिलॉ = थोड़ा भी। थॅयाह = स्थित। इहि = यह। औलू = जलना। भाइ = भाव। म्यलियॉह = मिलने के लिये। जिसी = जिसके। जदि तदि = जैसे तैसे।

अर्थ—हे हरि, यद्यपि तुम दूर स्थित हो। किंतु मेरा मन थोड़ा सा एक क्षण के लिये भी आपको नही भूलता है। हर समय आपके ध्यान मे है। मेरे ये अग जिसके भाव मे जलते रहते है। जैसे तैसे आप से मुलाकात (मिलन) हो जाय।

बिरह जलाई मै जलौ, मो बिरहिन के दूष।
छाँह न बैसों डरपती, मति जलि ऊठे रूष ॥५॥

शब्दार्थ— रूष = वृक्ष।

अर्थ—हे प्रभु, मै तुम्हारे विरह मे जल रहा हूँ। मै दुखी विरहिन हूँ। किंतु इस दुख मे किसी पेड़ (व्यक्ति) का सहारा नही लेती। कही हमारी आग से वह भी न जल उठे। व्यक्ति के पक्ष में यह कि वह भी हमारे दुख से दुखी हो जायगा। सहानुभूति जन्य दुख हो जायगा। मुझ जैसा वियोगी हो जायगा।

बिरहा कहै कबीर कौ तू जनि छाँड़े मोहि।
पारब्रह्म के तेज मै, तहाँ ले राखौ तोहि ॥६॥

अर्थ—परमात्मा की प्राप्ति का विरह कबीर से कहता है। तुम कभी मुझे मत छोड़ना। मै तुम्हे पारब्रह्म के तेज से मिलाऊँगा। भाव यह हैं कि विरह का तेज और परमात्म मिलन का तेज एक है। तेज से तेज की प्राप्ति होती है।

आसा एक ज राम की दूजी आस निवारि।
आसा फिरि फिरि मारसी, ज्यूँ चौपड़ि का सारि ॥७॥

अर्थ—केवल राम की आशा करो। राम के अतिरिक्त की आशा निराश करने वाली है। दूसरे की आशा छोड़ दो। आशा से वार-वार जन्म मृत्यु होती है। जैसे शतरज के पात्र जीते-मरते है।

आसा एक ज राम की जुग जुग पुरवे आस।
जै पाडल क्यो रे करै, बसैहि जु चंदन पास॥८॥

शब्दार्थ—जै = जय। आशापूर्ण पाडल = पाटल। एक वृक्ष विशेष।

अर्थ—केवल राम की आशा करनी चाहिए। इससे युग-युग की आशा पूर्ण होती है। अर्थात् जन्म जमातर की सभी आशाएँ पूर्ण होती है। पाटल वृक्ष यद्यपि चदन के पास रहे। फिर भी उससे चदन जैसी सुगध नही आ सकती है।

ऊजड खेड़े ठीकरीं, घड़ि घड़ि गए कुँभार।
रावण सरीखे चलि गए, लंका के सिकदार॥९॥

शब्दार्थ—ऊजड = उजाड़। खेड़े = छोटा गॉव। ठीकरी = मिट्टी के वर्तन के टुकड़े। घडि घडि = गढ-गढ कर। कुँभार = वर्तन वनाने वाला। रचयिता। सिकदार (अ फा. शिकदार) = किसी क्षेत्र विशेष का पदाधिकारी।

अर्थ—जिन्हे रचयिता ने खूब अच्छी तरह गढ़-गढ़ कर वनाया था। वे गॉव (व्यक्ति) भी उजड़ गए। टूट-टूट कर ठीकरा हो गये। ठीकरा अर्थात् उपेक्षित हो गए। पैर से ठुकराए जाते है। रावण वसती लोइ लका का क्षेत्रपति था। वह भी नष्ट हो गया। सव नाशवान् है।

मीति विसारी बावरे, अचिरज कीया कौण।
तन माटी मै मिलि गया, ज्यूँ आटे मैं लूण॥१०॥

अर्थ—ओ विषयासक्त पागल मनुष्य, मृत्यु ने सव भुला दिया या तुमने मौत को भुला दिया। तुम्हारा यह शरीर मिट्टी मे मिल गया। जैसे आटे मे नमक मिलता है। मतलव कि मौत आटे सा व्यक्ति नामक सा है।

आजि कि कालिह कि पचे दिन, जंगल होइगा बास।
ऊपरि ऊपरि फिरहिंगे ढोर चरंदे घास॥११॥
मरहिगे मरि जाहिगे, नॉव न लेवा कोइ।
ऊजड़ जाइ बसाहिगे, छाड़ि बसंती लोइ॥१२॥

शब्दार्थ—वसती लोइ= वस्ती के लोग।

कवीर खेति किसाण का, म्रगौ खाया झाड़ि।
खेत विचारा क्या करे, जो खसम न करई बाड़ि॥१३॥

अर्थ—सत कवीर कहते है कि यह शरीर किसान (परमात्मा) का खेत है जिसे वासना जानवरो ने झाड़ कर अर्थात् इतना खाया कि वह समाप्त हो गया। इसमे खेत, शरीर का क्या दोष है ? जव खसम ने उसकी रक्षा नही की। यहॉ खसम का अर्थ है परमात्मा।

मडा जलै लकड़ी जलै, जलै जलावणहार।
कौतिगहारे भी जलै, कासनि करौं पुकार॥१४॥
कबीर देवल हाड़ का, मारी तण बधॉण।
खडहडतां पाया नहीं, देवल का सहनॉण॥१५॥

शब्दार्थ—देवल = मदिर। शरीर। हाड़ = अस्थि। हड्डी। मारी = माटी का अपभ्रश। तण = से। देह खडहडता = खडहर। सहनॉण = सहिदान। सह और नॉण को अलग माने तो सह का अर्थ साथ और नॉण का नाम होगा।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि यह शरीर हाड़ का है। मिट्टी से बॉधा गया है। अथवा मिट्टी मे मिल जाने वाले, नाशवान् तत्त्वो से निर्मित है। इसीलिये नाश के बाद शरीर मदिर के खडहर का भी सबूत या नाम नही पाया जाता है।

कबीर इहै चितावणी जिन संसारी जाइ।
जे पहिले सुख भोगिया, तिनका गुड ले खाइ ॥१६॥

अर्थ—सत कबीर ससार मे जाने वालो, ससार के विषयो मे आसक्तो को चिताते है। जिसने पहले सुख भोगा। सुख के चक्कर मे रहा। उसे गुड़ रूप लोभ खा जाता है। वे परमात्मा को नही प्राप्त कर पाते है।

पीपल रूनी फूल बिन, फल बिन रूनी गाइ।
एकाँ एकाँ माणसाँ टापा दीन्हा आइ ॥१७॥

शब्दार्थ—पीपल = एक वृक्ष विशेष। यह वृक्ष ससार मे स्थायीत्व का प्रतीक है। रूनी = रोयी। माणसॉ = मनुष्य। टापा = घोड़े का खुर। टापा देना मुहावरे का अर्थ है व्यर्थ आवागमन।

अर्थ—जो पीपल वृक्ष के समान मजबूत थे। विशाल थे। उन्हे अफसोस है कि उन्हे ससार आने का कोई फल नही मिला। वृक्ष की विशालता के मुकाबले पीपल मे फल नही लगता है। गायो में फल नही लगता। वह भी रोती है। गाय अर्थात् सज्जन। सभी मनुष्य एक-एक कर आये और धरती पर पैर पटकते व्यर्थ चले गए।

राम नाम लाण्यां नहीं, मेल्या मनहि बिसारि।
ते नर हाली बादरी, सदा पराए बारि ॥१८॥

अर्थ—राम नाम को नही जाना। भगवान् को मन से भूल गए। ऐसे व्यक्ति-शीघ्र (हाली) बरसने वाले बादल से जन्म लेते है। मरते है। ये सदा पराए को पानी देते है। इनका अपना कुछ नही होता।

राम नाम जाण्यां नही, त मुखि आनहि आन।
कै मूसा कै कातरा, खाता गया जनम ॥१९॥

अर्थ—जिन्होने राम नाम की साधना न कर मुख मे अन्य-अन्य नाम रखे। वे चूहे के समान कुतर-कुतर कर खाकर (पेट पालने में) जन्म समाप्त कर देते है।

राम नाम जाण्यौ नही, हूवा बहुत अकाज।
बूड़ा लौरे बापुरा, बड़ा बूटा की लाज ॥२०॥

शब्दार्थ—हूवा = हुआ। नुकसान। बूडा = डूबा। नष्ट हुआ। लौरे = लकुट, लाठी सा। बूटा = छोटा वृक्ष।

अर्थ—राम नाम का ज्ञान न प्राप्त करने से बड़ा नुकसान हुआ। बेचारा लाठी के समान नष्ट हो गया। उससे किसी का लाभ नही हुआ। छोटे वृक्षो को फलते-फूलते देख लज्जा भी आई।

अलंकार—अन्योक्ति।

पानी ज्यौर तालाब का, दह दिसी गया बिलाइ।
यह सब यौ ही जायगा, एकै तो ठाहर लाइ ॥२१॥

शब्दार्थ—ज्यौर = इकट्ठा। दह = दश। ठाहर = ठहराना। रोकना।

यह तन काचा कुंभ है, माँहि किया ढिग बास।
कबीर नैण निहारियाँ, तौ नहीं जीवण की आस ॥२२॥
दुनियाँ कै मै कुछ नही, मेरे दुनी अकथ।
साहिब दरि देखौं खड़ा, सब दुनिया दोजग जंत ॥२३॥

शब्दार्थ—मेरे दुनी अकथ = मेरी दुनिया (आध्यात्मिक दुनिया) अकथनी है। दरि = द्वार पर। दोजग = दोजख। नरक। जत = जाते है।

कबीर साषत की सभा तू मत बैठे जाइ।
एकै बाड़ै क्यूँ बड़े, रीझ गदहड़ा गाइ ॥२४॥

शब्दार्थ—बाड़ै = बाड़ा। घेरा। रीझ = रीछ। गदहड़ा = गधा।

थली चरंतैं म्रिघ लै, बीघ्या एक ज सौण।
हम तो पंथी पंथ सिरि, हरया चरैगा कौण ॥२५॥

शब्दार्थ—थली =- धरती। म्रिघ = मृग। वासना। तृष्णा। वीघ्या = वेध किया। ज = जो। सौण = १ शून्य। २ श्वान। ३ मन। पथी = साधक। पथसिरि = पथ के सिरे पर। हरया = हरा।

अ

शून्य था

से अल

सुखकर

शब

वुनता।

अ

सबको

कर भा

अ

(कलित

होता है

श

क्रोधादि

अ

(मृत्यु)

श

परमात्म

मन को मन मिलता नहीं, तौ होता तन का भँग।
अब है रहु काली काँवली, ज्यौं दूजा चढै न रंग॥३२॥

अर्थ—मन से मन की शुद्धि नही हो रही है। मन शुद्ध होगा तो शरीर सुख की इच्छा नष्ट हो जाती। ऐ साधक, साधना द्वारा शरीर एक रग काला कम्बल जैसा बना लो। जिससे विषय वासनाओ का रग दुवारे न चढ़े।

जा तन माँहे मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।
साहिब सो सनमुख रहै, तो फिरि बालक होइ॥३३॥

अर्थ—तन मे रहने वाले मन को विषय कालिमा छुड़ा कर साफ कर लो। तब परमात्मा (साहिब) का साक्षात्कार होने पर बालक जैसी निर्मलता बनी रहेगी।

मूवा मन हम जीवत देख्या जैसे मड़िहट भूत।
मूवाँ पीछे उठि उठि लागै, ऐसा मेरा पूत॥३४॥
मूवे कौधी जौ नही, मन का किया विनास।
साधू तब लग डर करै, जब लग पंजर सास॥३५॥
माया काल की खाँणि है, धरि त्रिगुणी विपरीति।
जहाँ जाइ तहाँ सुख नही, यह माया की रीति॥३६॥
माया मन की मोहनी, सुर नर रहे लुभाइ।
इहि माया जग खाइया, माया को कोई न खाइ॥३७॥
ब्राँह्मण गुरु जगत का, भर्म कर्म का पाइ।
उलझि पुलझि करि मरि गया, चार्‍यौं बेदा माँहि॥३८॥
कलि का ब्राह्मण मसकरा, ताहि न दीजे दान।
स्यौ कुटंउ नरकहि चलै, साथ चल्या जजमान॥३९॥

शब्दार्थ—मसकरा = मसखरा। स्यौ = साथ या सौ। कुटउ = कुटुम्ब।

ब्राह्मण बूडा बापुड़ा, जेनेऊ के जोरि।
लख चौरासी माँ गेलई, पारब्रह्म सों तोड़ि॥४०॥
कबीर साषत की सभा, तू जिनि बैसे जाइ।
एक दिबाड़े क्यूँ बड़े, रीझ गदेहड़ा गाइ॥४१॥

शब्दार्थ—दिबाड़ै = देने वाला। रीझ = रीछ। गदेहड़ा = गधा। गाइ = गाय। साषत = १ शाक्त। २ विषयासक्त।

साषत ते सूकर भला, सूचा राखे गाँव।
बूड़ा साषत बापुड़ा, वैसी सभरणी गाँव॥४२॥

शब्दार्थ—सूचा = शुद्ध। बापुड़ा = वेचारा। सभरणी = आभरण युक्त। सज्जित।

साषत ब्राह्मण जिनि मिलै, वैसनो मिलै चांडाल।
अंकमाल दै भेटिए, मानूँ मिले गोपाल॥४३॥

शब्दार्थ—अंकमाल = ॲकवार। भेटिए = मिलिये। साषत = विषयासक्त।

कबीर कहे पीर कूँ, तूँ समझावे सब कोइ।
संसा पड़गाआपको, तौ और कहै का होइ॥४४॥
सुणत सुणावत दिन गए, उलझि न सुलझया मान।
कहै कबीर चेत्यौ नही, अजहुँ पहलौ दिन।४५॥
जहाँ जलाई सुंदरी, तहाँ तूँ जिनि जाइ कबीर।

भसमी ह्वै करि जासिसी, सोना सवाँ सरीर ॥४६॥
नारी नाहीं नाहरी, करै नैन की घोट।
कोई एक हरिजन ऊबरै, पारब्रह्म की ओट ॥४७॥
राम कहतां जे खिजैं, कोढी ह्वै गलि जाँहि।
सूकर होइ करि औतरै, नाक बूड़ते खाँहि ॥४८॥
कामी थै कुतौ भलौ, खोले एक जू काछ।
राम नाम जाणौ नहीं, बाँबी जेही बाच ॥४९॥

शब्दार्थ—काछ = जननेद्रिय के आस-पास का भाग। बॉबी = बिल। सॉप का विल। बाच = बचना।

काम काम सबको कहैं, काँम न चीन्हे कोइ।
जेती मन मे कामना, काम कहीजे सोइ ॥५०॥
पाथर ही का देहुरा, पाथर ही का देव।
पूजणहारा अंधला, लागा खोटी सेव ॥५१॥

शब्दार्थ—देहुरा = देहली। मदिर पाथर = पत्थर। सेब = सेवा।

कबीर गुड को गमि नही, पांहण दिया बनाइ।
सिष सोधी बिन सेविया, पारि न पहुँच्या जाइ ॥५२॥

शब्दार्थ—गुड = गुरु। गमि = समझदारी। सोधी = १ सद्गुरु। २ शुद्धि। ज्ञान। सुधि।

कबीर माला काठ की, मेलही मुगधि झुलाइ।
सुमिरण की सोधी नहीं, जाँणौ डीगरि घाली जाइ ॥५३॥

शब्दार्थ—मेल्ही = पहना। मुगधि = अज्ञानी। सोधी = सुधि। डीगरि = १ डीग हॉकने वाला। २ वह काठ जो नटखट चौपायो के गले मे बॉधा जाता है। घाली = धारण करना।

अर्थ—कबीर दास कहते है। अज्ञानी के गले मे पड़ी काठ की माला ऐसी ही है जैसे नटखट जानवरो के गले मे काठ लटका दिया गया हो। उन्हे परमात्मा का नाम स्मरण की सुधि नही है।

माला फेरत जुग भया, पाय न मन का फेर।
कर का मनका छाँडि दे, मन का मनका फेर ॥५४॥

अर्थ—माला फेरते युग बीत गया। किंतु मन की चचलता नही समाप्त हुई। इसलिये हाथ की माला छोड़ कर मन की माला फेरो। मन शुद्ध करो। अतर्साधना करो।

माला पहर्‌या कुछ नही, बाह्मण भगत न जाण।
व्याह सराँधाँ कारटाँ ऊँभूँ बैसे ताणि ॥५५॥

शब्दार्थ—भगत = भक्ति। कारटॉ = कौआ। ऊॅभू = १ उभय। २. उत्थित होकर।

अर्थ—माला पहनने से क्या ? ब्राह्मण भक्ति नही जानता है। वह व्याह और श्राद्ध दोनो मे कौए सा उचक कर बैठता है।

कबीर कोहनै क्या बणौ, अरामिलता सो संग।
दीपक कै भावै नही, जलि जलि परै पतंग ॥५६॥
पंच बलधिया फिरि कड़ी, ऊझड़, उजड़ि जाइ।
बलिहारी ता दास की, बबीक अणाँ बैठाइ ॥५७॥

शब्दार्थ—पच वल धिया = पॉच इद्रियॉ। ऊझड़ उजड़ि = नष्ट होना। बबीक = विवेक। ठाइ = अपने स्थान पर।

सार संग्रह सूप ज्यूँ, त्यागै फटकि असार।

कबीर डरि डरि नाँव ले, पसरै नहीं बिकार ॥५८॥
कबीर सब घटि आत्मा सिरजी सिरजनहार।
राम कहै सो राम में, रमिता ब्रह्म बिचारि ॥५९॥
कबीर भूला दंग में, लोग कहै यहु भूल।
कै रमइयौं बाट बताइसी, कै भूलत भूलैं भूल ॥६०॥

शब्दार्थ—दंग = चकाचौंध। सासारिक आडंबर। रमइयौ = राम।

जीवन को समझै नहीं, मुवा न कहै सँदेस।
जाको तन मन सौ परचा नहीं, ताकौ कौन धरम उपदेस ॥६१॥
करीम कबीर जु विह लिख्या, नरसिर भाग अभाग।
जेहूँ च्यंता चितवै, तऊ स आगै आग ॥६२॥
हसती घढ़िया ज्ञान कै सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, पड्या भुसौ झषि मारि ॥६३॥

शब्दार्थ—सहज = सहज साधना। सहज योग। दुलीचा = गलीचा। डारि = बिछाकर। स्वान = काम, क्रोधादि। भुसौ = भूँकना। झषि मारि = व्यर्थ मे।

अर्थ—ज्ञान की उपलब्धि हाथी पर बैठने जैसी है। साधक को चाहिए कि ज्ञान रूप हाथी पर सहज साधना का गलीचा बिछा कर ध्यानस्थ हो। काम, क्रोधादि प्रवृत्तियाँ कुत्ते सी व्यर्थ भूँकती रहे। कुछ भी असर होने वाला नही है।

कबीर मरौं पै मांगौ नहीं, अपणौ तन कै काज।
परमारथ कै कारणै, मोहि माँगत न आवै लाज ॥६४॥
भगत भरोसे एक कै, निधरक नीची दीठि।
तिनकू करम न लागसी, राम ठकोरी पीठि ॥६५॥
चत्र भुजा कै ध्यान मे, ब्रिजबासी सब संत।
कबीर मगन ता रूप मैं, जाकैं भुजा अनंत ॥६६॥

शब्दार्थ—चत्र भुजा = चार हाथ। ब्रिजबासी = ब्रजवासी।

मोती भागाँ बीघताँ, मन मै बस्या कबोल .
बहुत सयानाँ पचि गया, पड़ि गइ गाठि गढोल ॥६७॥

शब्दार्थ—मोती = मन। भागाँ = भग्न। कबोर = कठोर वचन। सयानाँ = शास्त्र ज्ञानी। पचि गए = नष्ट हो गए। गाठि = गाँठ। गढोल = गढ़वासी।

मोती पीवत बीगस्या, सानौ पाथर आइ राइ।
साजन मेरी नीकल्या, जाँमि बटाऊँ जाइ ॥६८॥

शब्दार्थ—बीगस्या = विकृत हुआ। साजन = परमात्म प्रेमी। बटाऊँ = साधना हीन।

अर्थ—सुख की खोज करने वाले नष्ट हो गए। पत्थर जैसे कठोर व्यक्तित्व मे तेजी (सान) आ गयी है। परमात्म प्रेमी निकल गए। साधना रहित व्यक्ति यम के फदे मे पड़ गए।

बाजण देह बजंतणी, कुल जंतड़ी न बेड़ि।
तुझे पराई क्या पड़ी, तूँ आपनी निबेडि ॥६९॥
सहज तराजू आणि करि, सन रस देख्या तोलि।
सब रस माँहे जीभ रस, जे कोइ जाँणे बोलि ॥७०॥

अर्थ—सहज समाधि के तराजू पर सोने जैसे वचनो को तौल कर देखा। सभी रसो मे जीभ का रस महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई भली भाँति बोलना जानता हो।

जिन पाँऊँ सैं कतरी, हाँड़त देस बदेस।

तिन पाऊँ तिथि पाकड़ी, आगण भया बदेस ॥७१॥

शब्दार्थ—कतरी = कोल्हू का पाट जिस पर बैठ कर आदमी बैल को हॉकता है। हॉड़त = घूमना। बदेस = विदेश। तिथि = स्थिति। ठहरना।

कबीर नवे स आपको, पर कौ नवे न कोइ।
घालि तराजू तोलिये, नवै स भारी होइ ॥७२॥
बुरा बुरा सब को कहै, बुरा न दीसे कोइ।
जे दिल खोजौं आपणी, मुझ सा बुरा न कोइ ॥७३॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमी की खेह ॥७४॥

शब्दार्थ—जिसी = जैसी। जिमी = जमीन। खेह = धूल।

खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए, पाणी जैसा अंग ॥७५॥
पाणी भया तो क्या भया, ताता सीता होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, जैसा हरिही होइ ॥७६॥
हरि भया तो क्या भया, जैसौ सब कछु होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, हरि भजि निरमल होइ ॥७७॥
नवणि नयौ तौ का भयौ, चित्त न सूधौ ज्यौह।
पराधिया दूणां नवे मिग्राटक ताह ॥७८॥

अर्थ—चित्त की शुद्ध या मन का सीधापन ही नम्रता है। शिकारी (पारधिया) दुगना नवता है। तब उसे माया मृग (मिग्राटक) के शिकार मे सफलता मिलती है।

ऐसा कोई ना मिले, बूझै सैन सुजान।
ढोल बजंता ना सुणौं, सुरति बिहूँणा कांन ॥७९॥

अर्थ—ईशारे (सैन) से समझने वाले बुद्धिमान नहीं मिलते। बहुत चिल्लाने वाले (ढोल बजता) नही सुन पाते है। उनके कान मे सुनने की शक्ति (सुर अपि) नही होती है।

जाणौ ईधूँ क्या नही, बूझि न कीया गौन।
भूल्यौ भूल्या मिल्या, पंथ बतावै कौन ॥८०॥
कबीर जानीदा बूझिया, मारग दिया बताइ।
चलता चलता तहाँ गया, जहाँ निरंजन राइ ॥८१॥
ढोल दमामा बाजिया, सबद सुणां सब कोइ।
जैसल देखि सती भजे, तौ दुहु कुल हासी होइ ॥८२॥

शब्दार्थ—जैसल = जश्न। उत्सव। दुहु कुल = लोक-परलोक। हासी = हँसी।

जुरा कूती जोवन ससा, काल अहेड़ी बार।
पलक बिना मै पाकड़ै, गरब्यौ कहा गँवार ॥८३॥

शब्दार्थ—जुरा = जरा। बुढ़ापा। कूतीं = कुत्ती। ससा = खरगोश। बार = मार। हमला। पलक बिना = पलक झपने के पहले।

मालन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुणि लिये, काल्हि हमारी बार ॥८४॥

शब्दार्थ—मालन = काल। मृत्यु। कलियॉं = बालक। फूले फूले = वृद्ध। वार = बारि।

बाढ़ी आवत देखि करि, तरवर डोलन लाग।
हँम कटे की कुछ नही, पँखेरू घर भाग ॥८५॥

शब्दार्थ—बाढ़ी = बढ़ई। तरवर = मानव देह। डोलन लाग = भयभीत होना। पँखेरू = पक्षी। आत्मा। हस।

फागुण आवत देखि करि, बन रुना मन माँहि।
ऊँची डाली पात है, दिन दिन पीले थाँहि ॥८६॥

शब्दार्थ—फागुण = वृद्धावस्था। बन = शरीर। रुना = रोना। ऊँची डाली पात = बड़े लोग। पीले = पकना। मृत्यु के निकट पहुँचना। थाँहि = होना।

पात पडंता यौं कहे, सुनि तरबर बनराइ।
अब के बिछुड़े ना मिले, कहि दूरि पडैगे जाइ ॥८७॥

शब्दार्थ—पात पडता = मृत्यु की ओर जाता व्यक्ति। बनराइ = ससार सुख।

मेरा बीर लुहारिया, तू जिनि जालै मोहि।
इक दिन ऐसा होइगा, हूँ जालौगी तोहि ॥८८॥

शब्दार्थ—मेरा से मतलब यहाँ लकड़ी या कोयले से है।लुहारिया = यम।

कबीर पंच पखेरूवा, राखे पोष लगाइ।
एक जु आया पारधी, ले गयौ सबे उड़ाइ ॥८९॥

शब्दार्थ—पच पखेरूवा = पच प्राण। पाँच ज्ञानेद्रियाँ। पाँच विषय। पारधी = शिकारी।

काएँ चिणांवे मालिया, घुनैं माटी लाइ।
मीच सुणौगी पायणी, उधोरा लैली जाइ ॥९०॥

शब्दार्थ—काएँ = क्यो। चिणावै = निर्माण। उधोरा = उघड़ा। उजड़ा। लैली = लालायित।

काए चिणांवै मालिया, लाँबी भीति उसारि।
घर तौ साढी तीनि हाथ, घरणौ तो पौणा चारि ॥९१॥
ऊँचा महल चिणाँइयां, सोवन कलसु घढाइ।
ते मंदिर खाली पडया, रहे मसाणौ जाइ ॥९२॥

शब्दार्थ—सोवन = सुवर्ण।

इहर अभागी माँछली, छापरि माँणी आलि।
डाबरड़ा छूटै नहीं, सकै त समँद सभालि ॥९३॥

अर्थ—अभागे व्यक्ति ने मछली के समान क्षिप्र (छापरि) पानी को ओट (आलि) बनाया। संसार की बहती तेज वासना नदी का भरोसा किया। कितु यह डाबर, गड़ही प्रमाणित हुआ। बिना परमात्मा समुद्र को सभाले कल्याण नही है।

मँठी हुआ न छूटिए, झीवर मेरा काल।
जिहि जिहिं डाबर हूँ फिरौ, तिहि तिहि माँडे जाल ॥९४॥

शब्दार्थ—झीवर = धीवर। मछुआ। डाबर = तलैया। माँडै = फेकता है। हूँ = मै।

पाँणी माँहि ला माँछली, सका तौ पाकड़ि तीरि।
कड़ी कदू की काल की, आइ पहुँता कीर ॥९५॥

शब्दार्थ—ला = की। तीरि = भगवत् शरण। कदू = कर्दम। कीचड़। कीर = १ सुगा। यहाँ बगुला अर्थ भी है। २ काला।

मंछ बिकंता देखिया, झीबर के दरबारि।
ऊँखडियां रत बालियाँ, तुम क्यूँ बँधे जालि ॥९६॥

अर्थ—धीवर, मछुआ। माया के यहाँ मन मछली को बिकता, फँसा देख कर गुरुदेव ने पूछा—ऐ मानव मन, तुम सासारिक अनुराग (रतबालियाँ) या सासारिक रुतबे मे थे। फिर जाल

मे क्यो फँसे ?

पाँणी माँ है घर किया, चेजा किया पतालि।
पासा पड़्या करम का, यूँ हम बींधे जालि ॥९७॥

अर्थ—साधक कहता है—मैने भगवत्प्रेम जल मे घर बनाया। पाताल कुडलिनी नाड़ी मे उसकी रचना (चेजा) की, कर्म का खेल (पासा) डाला। कर्म लीला की। इस प्रकार हम कर्म जाल से मुक्त (बीधे) हुए।

सूकण लागा केवड़ा, तूटीं अरहर माल।
पाँणीं की कल जाणताँ, गया ज सींचणहार ॥९८॥

शब्दार्थ—केवड़ा = वासनात्मक जीवन। तूटी = टूट गयी। अरहर माला = विषयो की माला। कल = नल। सींचणहार = वासनात्मक मन।

कबीर हरणी दूबली, इस हरियालै तालि।
लख अहेड़ी एक जीव, कित एक टालौ भालि ॥९९॥

शब्दार्थ—हरणी = जीव। हरियाले तालि = वासना का ससार। लख = लाख। अहेड़ी = कामनाएँ। भालि = भाला। बाण का नोक। कित्त = किस प्रकार।

जिसहि न रहणां इत जगि, सो क्यूँ लौडैं मीत।
जैसे पर घर पाहुणाँ, रहैं उठाए चीत ॥१००॥

शब्दार्थ—लौडै = इकट्ठा करना।

कबीर गाफिल क्या फिरै, सोवै कहा नचीत।
एवड़ माहि तै ले चल्या, भज्या पकड़ि परीस ॥१०१॥

शब्दार्थ—गाफिल = असावधान। नचीत = निश्चित।

साँई सू मिसि मछीला के, जा सुमिरै लाहूत।
कबहीं उझंके कटिसी, हुँण ज्यौ बगमंकाहु ॥१०२॥
बेटा जायातो का भया, कहा बजावै थाल।
आवण जाणा है रहा, ज्यौ कीड़ी का नाल ॥१०३॥

शब्दार्थ—कीड़ी का नाल = जैसे नली मे कीड़ा आता जाता है।

चंदन रूस बदेस गयौ, जण जण कहै पलास।
ज्यौ ज्यौ चूल्है झोकिए, त्यूँ त्यूँ अधिक की बास ॥१०४॥
हंसड़ौ तौ महारांण कौ, उड़ि पड़्यो थलि याँह।
बगुलौ करि करि मारियो, सझ न जाँणे त्याँह ॥१०५॥

अर्थ—हस महाराज उड़ कर विषयासक्त धरती पर आ गए। विषय प्रतिनिधि उसे बगुला समझ कर मारते है। उस सत्य को नही जानते।

हंस बगाँ कै पाहुँगां, कहीं दसा कै फेरि।
बगुला काँई गरबियाँ, बैठा पाँख पखेरि ॥१०६॥
बगुला हंस मनाइ लै, नेड़ो थकाँ बहोड़ि।
त्याँह बैटा तू उजला, त्यौ हंस्यौं प्रीति न तोड़ि ॥१०७॥
कबीर मनमाना तौलिए, सबदाँ मोल न तोल।
गौहर परषठा जाँणहीं, आपा खोवै बोल ॥१०८॥

शब्दार्थ—गौहर = मोती। परषठा = परख।

अर्थ—सत कबीर कहते है। मनमाना तौल करो। शब्द से कोई मोल तोल नही होता। कितु मोती (आत्म तत्त्व) की पहचान तो अहकार (आपा) को खोकर प्राप्त की जाती है। अहकार-

नाश मीठे बोल से ही सभव है।

कबीर सपनहीं साजन मिले, नइ नइ करै जुहार।
बोल्याँ पीछे जाँणिए, जो जाको ब्यौहार ॥१०९॥

अर्थ—परमात्मा ने स्वप्न मे दर्शन दिया। खूब झुक-झुक कर प्रणाम (जुहार) हुआ। बोलने पर ही व्यवहार का ज्ञान होता है।

मेरी बोली पूरबी, ताइ न चीन्है कोइ।
मेरी बोली सो लखै, जो पूरब का होइ ॥११०॥

शब्दार्थ—पूरबी बोली = १ पूर्व प्रदेश की बोली। २ परपरा प्राप्त बोली। ३ पूर्व दिशा मे ले जाने वाली बोली। ४ विषया सक्त सृष्टि मे आने के पूर्व की बोली। ५ ज्ञान सूर्य को प्रगट करने वाली बोली। ६ सहस्रार की आवाज।

कबीर हरि का डर्पता, ऊन्हां धाँन न खाँउं।
हिरदय भीतर हरि बसै, ताथै खरा डराउँ ॥१११॥
दाध बलीता सब दुखी, सुखी न दीसै कोइ।
को पुत्रा को बंधवाँ, को धणहीना होइ ॥११२॥

शब्दार्थ—दाघ = दग्ध। बलीता = पलीता। को = कोई।

हूँ रोऊँ संसार कौ, मुझे न रोवै कोइ।
मुझको सोई रोइसी, जे रांम सनेही होइ ॥११३॥
मूरो कौं का रोइए, जो अपणौ घर जाइ।
रोइए बंदीवान को, जो हाटैं हाट बिकाइ ॥११४॥

शब्दार्थ—मूरो = मुर्दा। बदीवान = विषयासक्त। हाटै हाट = सासारिक बाजार।

बाग बिछिटे मिग्र लौ, तिहि जिने मारै कोइ।
आपै ही मरि जाइसी, डावां डोला होइ ॥११५॥

अर्थ—बाग (परलोक) से बिछुड़े व्यक्ति को कष्ट न दो। ससार मे डोलता-डोलता वह स्वयं मर जायगा।

कबीर बहुत दिवस भटकत रह्या, मन मे विषै विसाम।
ढूँढत ढूँढत जग फिर्‍या, तिणाकै ओल्है रांम ॥११६॥

शब्दार्थ—विसाम = विषम। ओल्है = रक्षा करना।

हरि दरिया सूभर भरिया, दरिया वार न पार।
खालिक बिन खाली नहीं, जेवा सूई संचार ॥११७॥

अर्थ—ससार समुद्र परमात्मा से पूर्णत. भरा है। इस परमात्म समुद्र का आर-पार नही है। सभी जगहे ईश्वर पूर्ण है। कोई जगह खाली नही है। सूई के सचार का भी स्थान नही है।

निदक तौ नाँकी, बिना, सोह न कहाँ माँहि।
साधू सिरजनहार के, तिनमै सोहै नाँहि ॥११८॥

अर्थ—निदक हर चीज की निदा करता। निदा की काट के विना उसकी शोभा नही है। साधु पुरुष रचता है। सृजन करता है। निदको मे उसकी शोभा नही है।

आपण यौ न सराहियै, पर निंदिए न कोइ।
अजहूँ लाँबा घौहडा, ना जाणौ क्या होइ ॥११९॥

शब्दार्थ—घौहडा = दिवि गृह। भगवान् का स्थान। भगवत्प्राप्ति।

बेकाँमी को सर जिनि बाहै, साठी खोबै मूल गँवावै।
दास कबीर ताहि को बाहै, गलि सनाह सनमुख सरसा है ॥१२०॥

अर्थ—वेकार की वस्तुओ को सिर नही चढ़ाना चाहिए। इससे श्रेष्ठता और मूल तत्त्व का नाश होता है। सत कवीर कहते है कि उसका वहन कौन करेगा जो गले मे सनाह (कवच) डाल कर विषयो के सामने युद्ध करता है।

पसुवा सौ पानौ पडो, रहि रहि यामै खीजि।
ऊसर बाह्यौ न ऊगसी, भावै दूणाँ बीज॥१२१॥

अर्थ—पशु से पाला (पानौ) पड़ा है। इसीलिये रह रह कर खीझ होती है। ऊसर मे वोने पर कुछ उत्पन्न नही होता। चाहे दूना वीज क्यो न डाला जाय। कोई गुरु जड़ शिष्य के वारे मे कह रहे है।

बरियाँ बीती बल गया, अरु बुरा कमाया।
हरि जिनि छाड़ै हाथ थैं, दिन नेड़ा आया॥१२२॥
सिधि जु सहजै फुकि गई, आगि लगी बन माँहि।
बीज बास दून्यूँ जले, ऊगण कौं कछु नाँहि॥१२३॥

अर्थ—संसार सिधु मे सहज साधना की आग फूँक दी गई है। वासना वन मे आग फैल गयी है। इससे पुनर्जन्म के वीज (कर्म सस्कार) एव ससार निवास दोनो जल गए। अव कुछ ऐसा नही है जिससे ससार मे पुन आना (उगना) पड़े।

अब मैं राम सकल सिधि पाई, आनकहूँ तौ राम दुहाई॥टेक॥
इहि विधि बासि एवै रस दीठा, रांम नांम सा और न मीठा।
और रस ह्वै है कफ गाता, हरि रस अधिक अधिक सुख दाता।
दूजा वणजा नही कछु बाषर, रांम नांम दोऊ तत आषर।
कहै कबीर हरिरस भोगी, तांको मिल्या नरंजन जोगी॥१२४॥
राम न जपहु कवन भ्रम लागे।
मरि जाहुगे कहा कहा करहहु अभागे।
रांम रांम जपहु कहा करो वेसे, भेड कसाई कै घर जैसे।
रांम न जपहु कहा गरवाना, जम के घर आगै है जाना।
रांम न जपहु कहा मुसकौ रे, जम के मुदगिरि गणि गणि खहुरे।
कहै कबीर चतुर के राइ, चतुर बिना को नरकहि जाइ॥१२५॥
कहु पाँडे कैसी रुचि कीजै, सुचि कीजै तौ जनम न लीजै।
जा सुचि केरा करहु बिचारा, भिष्ट भए लीन्हा औतारा।
जा कारणि तुम्ह धरती काटी, तामै मूए जीव सौ माटी।
जा कारणि तुम्ह लीन जनेऊ, थूक लगाइ काते सब कोऊ।
एक खाल घृत केरी साखा, दूजी खाल मैले घृत राखा।
सो घृत सब देवतनि चढ़ायौ, सोई घृत सब दुनियाँ खायौ।
कहै कबीर सुचि देहु बताई, रांम नांम लीजो रे भाई॥१२६॥

परिशिष्ट साखी

(ब)

आठ जाम चौसठि घरी तुअ निरखत रहै जीव।
नीचे लोइन क्यो करौ सब घट देखौ पीउ ॥१॥
ऊँच भवन कनक कामिनी सिखरि धजा फहराइ।
ताते भली मधूकरी संग संग गुन गाइ ॥२॥
अंबर घनहरु छाइया बरषि भरे सर ताल।
चातक ज्यो तरसत रहै तिनकौ कौन हवाल ॥३॥
अल्लह की कर बंदगी जिह सिमरत दुख जाइ।
दिल महि साँई परगटै बुझै बलंती लाइ ॥४॥
अवरह कौ उपदेस ते मुख मै परिहै रेतु।
रासि बिरानी राखते खाया घर का खेतु ॥५॥
कबीर आई मुझहि पहि अनिक करे करि भेसु।
हम राखे गुरु आपने उन कीनो आदेसु ॥६॥
आखी केरे माटुके पल पल गई बिहाइ।
मनु जंजाल न छाड़ई जम दिया दमामा आइ ॥७॥
आसा करियै रांम की अवरै आस निरास।
नरक परहि ते मानई जो हरिनाम उदास ॥८॥
कबीर इहु तनु जाइगा सकहु त लेहु बहोरि।
नागे पावहु ते गये जिनके लाख करोरि ॥९॥
कबीर इहि तनु जाइगा कवनै मारग लाइ।
कै संगति करि साध की कै हरि के गुन गाइ ॥१०॥
एक घड़ी आधी घड़ी आधी हूँ ते आध।
भगतन सेटी गासटे जो कीने सो लाभ ॥११॥
एक मरंते दुइ मुये दोइ मरंतेहि चार।
चारि मरंतहि छहि मुये चारि पुरिष दुइ नारि ॥१२॥
ऐसा एक साधु जो जीवत मृतक होइ।
निरभै होइ कै गुन रवै जत पेखौ तत सोइ ॥१३॥
कबीर ऐसा को नहीं इह तन देवै फूकि।
अंधा लोगुन जानई रह्यौ कबीरा कूकि ॥१४॥
ऐसा जंतु इक देखिया जैसी देखी लाख।
दीसै चंचलु बहु गुना मति हीना नापाक ॥१५॥
कबीर ऐसा बीजु बोइ बारह मास फलतं।
सीतल छाया गहिर फल पंखी केल करंत ॥१६॥
ऐसा सतगुर जे मिलै तुट्ठा करे पसाउ।
मुकति दुआरा मोकला सहजे आवौ जाउ ॥१७॥
कबीर ऐसी होइ परी मन को भावतु कीन।
मरने ते क्या डरपना जब हाथ सिधौरा लीन ॥१८॥

कंचन के कुंडल बने ऊपर लाख जड़ाउ।
दीसहि दाधे कान ज्यो जिन मन नाहीं नाउ॥१९॥
कबीर कसौटी रांम की झूठा टिका न कोइ।
रांम कसौटी सो सहै जो मरि जीवा होइ॥२०॥
कबीर कस्तूरी भया भँवर भये सब दास।
ज्यो ज्यो भगति कबीर की त्यों त्यो रांम निवास॥२१॥
कागद केरी ओबरी मसु के कर्म कपाट।
पाहन बोरी पिरथमी पंडित पाड़ी बाट॥२२॥
काम परे हरि सिमिरयै ऐसा सिमरौ नित्त।
अमरपुर बासा करहु हरि गया बहोरे बित्त॥२३॥
काया कजली बन भया मन कुंजर मयमंतु।
अंक सुज्ञान रतन्न है खेवट बिरला संतु॥२४॥
काया काची कारवी काची केवल धातु।
साबतु रख हित रांम तनु नाहि त बिनठी बात॥२५॥
कारन बपुरा क्या करै जौ रांम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरौ सोई मुरि मुरि जाइ॥२६॥
कबीर कारन सो भयो जौ कीनो करतार।
तिसु बिनु दूसर को नही एकै सिरजनुहार॥२७॥
कालि करंता अबहि करु अब करता सुइ ताल।
पाछै कछू न होइगा जौ सिर पर आवै काल॥२८॥
कीचड़ आटा गिरि पर्या किछू न आयो हाथ।
पीसत पीसत चाबिया सोई निबहया साथ॥२९॥
कबीर कूकरु भौकता कुरंग पिछै उठि धाइ।
कर्मी सति गुर पाइया जिन हौ लिया छड़ाइ॥३०॥
कबीर कोठी काठ की दह दिसि लागी आगि।
पंडित पंडित जल मुये मूरख उबरे भागि॥३१॥
कोठे मंडप हेतु करि काहे मरहु सवारि।
कारज साढ़े तीन हाथ घनी त पौने चारि॥३२॥
कौडी कौडी जोरि कै जोरे लाख करोरि।
चलती बार न कछु मिल्या लई लँगोटी छोरि॥३३॥
खिथा जलि कोयला भई खापर फूटम फूट।
जोगी बपुड़ा खेलियो आसनि रही बिभूति॥३४॥
खूब खाना खीचरी जामै अंमृत लोन।
हेरा रोटी कारने गला कटावै कौन॥३५॥
गंगा तीर जु घर करहि पीवहि निर्मल नीर।
बिन हरि भगति न मुकति होइ यो कहि रमे कबीर॥३६॥
कबीर राति होवहि कारिया कारे ऊभे जंतु।
लै नाहे उठि धावते सिजानि मारे भगवंतु॥३७॥
कबीर गरबु न कीजियै चाम लपेटे हाड़।
हैवर ऊपर छत्र तर ते फुन धरती गाड़॥३८॥
कबीर गरबु न कीजियै ऊँचा देखि अवासु।

आजु कालि भुइ लेटना ऊपरि जामै घासु ॥३९॥
कबीर गरबु न कीजियै रंकु न हसियै कोइ।
अजहु सुनाउ समुद्र महि क्या जानैं क्या होइ ॥४०॥
कबीर गरबु न कीजियै देही देखि सुरंग।
आजु कालि तजि जाहुगे ज्यों काँचुरी भुअंग ॥४१॥
गहगच पर्‍यौ कुटुंब कै कंठै रहि गयो राम।
आइ परे धर्मराइ के बीचहि धूमा धाम ॥४२॥
कबीर गागर जल भरी आजु कालि जैहै फूटि।
गुरु जुन चेतहि आपुनो अधमाझली जाहिगे लूटि ॥४३॥
गुरु लागा तब जानिये मिटै मोह तन ताप।
हरष सोग दाझे नही तब हरि आपहि आप ॥४४॥
कबीर घाणी पीड़ते सति गुरु लिये छुड़ाइ।
परा पूरबली भावनी परगति होई आइ ॥४५॥
चकई जौ निसि बीछुरै आइ मिले परभाति।
जो नर बिछुरे रांम स्यो ना दिन मिले न राति ॥४६॥
चतुराई नहि अति घनी हरि जपि हिरदै माहि।
सूरी ऊपरि खेलना गिरै त ठाहरि नाहि ॥४७॥
चरन कमल की मौज को कहि कैसे उनमान।
कहिबे को सोभा नही देखा हो परवान ॥४८॥
कबीर चावल कारने तुषको मुइली लाइ।
संग कुसंगी बैसते तब पूछे धर्मराइ ॥४९॥
चुगै चितारै भी चुगै चुगि चुगि चितारे।
जैसे बच रहि कुंज मन माया ममता रे ॥५०॥
चोट सहेली सेल की लागत लेइ उसास।
चोट सहारे सबद की तासु गुरू मैं दास ॥५१॥
जग काजल की कोठरी अंध परे तिस माँहि।
हो बलिहारी तिन्न की पैसि जू नीकसि जाहि ॥५२॥
जग बाँध्यो जिह जेवरी तिह मत बँधहु कबीर।
जैहहि आटा लोन ज्यों सोन समान शरीर ॥५३॥
जग मै चेत्यो जानि कै जग मै रह्यौ समाइ।
जिनि हरि नाम न चेतियो बादहि जनमे आइ ॥५४॥
कबीर जहँ जहँ हौ फिरयो कौतक ठाओ ठाँइ।
इक राम सनेही बाहरा ऊजरु मेरे भाँइ ॥५५॥
कबीर जाको खोजते पायो सोई ठौर।
सोइ फिरि कै तू भया जाकी कहता और ॥५६॥
जाति जुलाहा क्या करे हिरदैं बसे गुपाल।
कबीर रमइया कठ मिलु चूकहि सब जंजाल ॥५७॥
कबीर जा दिन हो मुआ पाछैं भया अनंद।
मोहि मिल्यो प्रभु आपना संगी भजहि गोबिंद ॥५८॥
जिह दर आवत जातहू हटके नाही कोइ।
सो दरु कैसे छोड़िये जौ दरु ऐसा होइ ॥५९॥

जीय जो मारहि जोरु करि कहते हहि जु हलालु।
दफतर दई जब काढिहै होइगा कौन हवालु ॥६०॥
कबीर जेते पाप किये राखे तलै दुराइ।
परगट भये निदान सब जब पूछै धर्मराइ ॥६१॥
जैसो उपजी पेड़ ते जो तैसी निबहै ओड़ि।
हारा किसका बापुरा पुजहि न रतन करोड़ि ॥६२॥
जो मै चितवौं ना करै क्या मेरे चितवे होइ।
अपना चितव्या हरि करै जोरे चित्त न होइ ॥६३॥
जोर किया सो जुलुम है लेइ जवाब खुदाइ।
दफतर लेखा नीकसै मार मुहै मुह खाइ ॥६४॥
जो हम जंत्र बजावते टूटि गई सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै चले बजावनहार ॥६५॥
जौ गृह कर हित धर्म करु नाहि त करु बैरागु।
बैरागी बंधन करै ताकौ बड़ौ अभागु ॥६६॥
जौ तुहि साध पिरम्म की सीस काटि करि गोइ।
खेलत खेलत हाल करि जौ किछु होइ त होइ ॥६७॥
जौ तुहि साध पिरम्म की पाके सेती खेलु।
काची सरसो पेलि कै ना खलि भई न तेलु ॥६८॥
कबीर झंखु न झंखियै तुम्हरौ कह्यौ न होइ।
कर्म करीम जु करि रहे मेटि न साकै कोइ ॥६९॥
टालै टोलै दिन गया ब्याज बढंतौ जाइ।
नाँ हरि भज्यो ना खत फट्यौ काल पहुँचो आइ ॥७०॥
ठाकुर पूजहि मोल ले मन हठ तीरथ जाहि॥
देखा देखी स्वाँग धरि भूले भटका खाहि ॥७१॥
कबीर डगमग क्या करहि कहा डुलावहि जीउ।
सर्व सुख की नाइ की राम नाम रस पीउ ॥७२॥
डूबहिगो रे बापुरे बहु लोगन की कानि।
परोसी के जो हुआ तू अपने भी जानि ॥७३॥
डूबा था पै उब्बरयौ गुन की लहरि झबक्कि।
जब देख्यो बेड़ा जरजरात तब उतरि परयौ हौं फरक्कि ॥७४॥
तरवर रूपी रांम है फल रूपी बैरागु।
छाया रूपी साधु है जिन तजिया बादु बिबादु ॥७५॥
कबीर तासौ प्रीति करि जाको ठाकुर राम।
पंडित राजे भूपती आवहि कौने काम ॥७६॥
तूँ तूँ करता तूँ हुआ मुझ मे रही न हूँ।
जब आपा पर का मिटि गया जित देखौं तित तूँ ॥७७॥
धूनी पाई थिति भई सति गुरु बंधी धीर।
कबीर हीरा बनजिया मानसरोवर तीर ॥७८॥
कबीर थोड़े जल माछली झीवर मेल्यौ जाल।
इहटौ घनै न छूटिसहि फिरि करि समुद सम्हालि ॥७९॥
कबीर देखि कै किह कहौ कहे न को पतिआइ।

हरि जैसा तैसा उही रहौ हरखि गुन गाइ ॥८०॥
देखि देखि जन ढूँढिया कहूँ न पाया ठौर।
जिन हरि का नाम न चेतिया कहा भुलाने और॥८१
कबीर धरती साध की तरकस बैसहि गाहि।
धरती भार व्यापाई उनकौ लाहू लाहि॥८२॥
कबीर नयनी काठ की क्या दिखलावहि लोइ।
हिरदै राम न चेतही इह नयनी क्या होइ॥८३॥
जा घर साध न सोवियहि हरि की सेवा नाहि।
ते घर मरहट सारखे भूत बसहि तिन माहि॥८४॥
ना मोहि छानि न छापरी ना मोहि घर नही गाउ।
मति हरि पूछै कौन है मेरे जाति न नाउ॥८५॥
निर्मल बूँद अकास की लीनी भूमि मिलाइ।
अनिक सियाने पच गये ना निरवारी जाइ॥८६॥
नृपनारी क्यो निंदियै क्यो हेरि चेरी कौ मान।
ओह माँगु सवारै बिषै कौ ओह सिमरै हरिनाम॥८७॥
नैन निहारौ तुझको स्रवन सुनहु तुव नाउ।
बैन उचारह तुव नाम जो चरन कमल रिद ठाउ॥८८॥
परदेसी कै घाघरै चहु दिसि लागी आगि।
खिथा जल कुइला भई तागे आँच न लागि॥८९॥
परभाते तारे खिसहिं त्यो इहु खिसै सरीरु।
पै दुइ अक्खर ना खिसहि सो गहि रह्यो कबीरु॥९०॥
पाटन ते ऊजरु भला राम भगत जिह ठाइ।
राम सनेही बाहरा जमपुर मेरे भाइ॥९१॥
पापी भगति न पावई हरि पूजा न सहाइ।
माखी चंदन प्ररहरै जहँ बिगंध तहँ जाइ॥९२॥
कबीर पारस चंदनै तिन है एक सुगंध।
तिहि मिलि तेउ ऊतम भये लोह काठ निरगंध॥९३॥
पालि समुद सरबर भरा पी न सकै कोइ नीरु।
भाग बड़े ते पाइयो तू भरि भरि पीउ कबीरु॥९४॥
कबीर प्रीति इकस्यो किए आनँद बद्धा जाइ।
भावै लाँबे केस कर भावै घररि मुडाइ॥९५॥
कबीर फल लागे फलनि पाकन लागे आँब।
जाइ पहुँचै खसम कौ जौ बीचि न खाई काँब॥९६॥
बाम्हन गुरु है जगत का भगतन का गुरु नाहि।
उरझि उरझि कै पच मुआ चारहु बेदह माहि॥९७॥
कबीर बेड़ा जरजरा फूटे छेक हजार।
हरुये हरुये तिरि गये डूबे जिनि सिर भार॥९८॥
भली भई जौ भौ पत्या दिस गई सब भूलि।
ओरा गरि पानी भया जाइ मिल्यौ ढलि कूलि॥९९॥
कबीर भली मधूकरी नाना बिधि को नाजु।
दावा काहू को नही बड़ो देस बड़ राजु॥१००॥

भाँग माछली सुरापान जा जो प्रानीं खाँहि।
तीरथ बरत नेम किये ते सबै रसातल जाँहि॥१०१॥
भार पराई सिर धरै चलियो चाहै बाट।
अपने भारहि ना डरै आगै औवट घाट॥१०२॥
कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।
पाछै लागो हरि फिरहि कहत कबीर कबीर॥१०३॥
कबीर मन पंखी भयो उड़ि उड़ि दह दिसि जाइ।
जो जैसी संगति मिलै सो तैसी फल खाइ॥१०४॥
कबीर मन मूड़या नही केस मुडाये काइ।
जो किछु किया सो मन किया मुंडामुंड अजाइ॥१०५॥
मया तजी तौ क्या भया जौ मानु तज्या नही जाइ।
मान मुनि मुनिवर गले मानु सबै को खाइ॥१०६॥
कबीर महदी करि घालिया आपु पिसाइ पिसाइ।
तैसेई बात न पूछियै कबहु न लाई पाइ॥१०७॥
मोई मूढ़हु तिहि गुरु जाते भरम न जाइ।
आप डूबे चहु बेद महि चेले दिये बहाइ॥१०८॥
माटी के हम पूतरे मानस राक्यो नाउ।
चारि दिवस के पाहुने बड़ बड़ रुधहि ठाउ॥१०९॥
मानस जनम दुर्लभ है होइ न बारै बारि।
जौ बन फल पाके भुइ गिरहि बहुरि न लागै डारि॥११०॥
कबीर माया डोलनौ पवन झकोलनहारु।
संतहु माखन खाइया छाछि पियै संसारु॥१११॥
कबीरा माया डोलनी पवन बहै हिवधार।
जिन बिलोया तिन पाइया अवन बिलोवनहार॥११२॥
कबीर माया चोरटी मुसि मुसि लावै हाटि।
एकु कबीरा ना मुसै जिन कीनी बारह बाटि॥११३॥
मारी मरौ कुसंग की केले निकटि जु बेरि।
उह झूलै उह चीरियै साकत संगु न हेरि॥११४॥
मारे बहुत पुकारिया पीर पुकारै और।
लागी चोट मरम्म की रह्यो कबीरा ठौर॥११५॥
मुकति दुआरा' संकुरा राई दसएँ भाइ।
मन तौ मैगल होइ रह्यो निकस्यो क्यों कै जाइ॥११६॥
मुल्ला मुनारे क्या चढ़हि साँई न बहरा होइ।
जाँ कारन तूँ बाँग देहि दिल ही भीतरि जोइ॥११७॥
मुहि मरने का चाउ है मरौ तौ हरि के द्वार।
मत हरि पूछै को है परा हमारैं बार॥११८॥
कबीर मेरी जाति की सब कोइ हँसनेहारु।
बलिहारी इस जातिकौ जिह जपियो सिरजनहारु॥११९॥
कबीर मेरी बुद्धि को जमु न करै तिसकार।
जिन यह जमुआ सिरजिया सु जपिया परबदिगार॥१२०॥
कबीर मेरी सिमरनी रसना ऊपरि रामु।

आदि जगादि सगस भगत ताकौ सुख बिस्राम ॥१२१॥
जग का ठेगा बुरा है ओह नहि सहिया जाइ।
एक जु साधु मोहि मिलो तिन लीया अंचल लाइ ॥१२२॥
कबीर यह चेतानी मत सह सारहि जाइ।
पाछै भोग जु भोगवै तिनकी गुड़ लै खाइ ॥१२३॥
रस को गाढ़ो चूसिये गुन को मरियौ रोइ।
अवगुन धारै मानसै भली न कहिये कोइ ॥१२४॥
कबीर राम न चेतिये जरा पहुँच्यौ आइ।
लागी मंदर द्वारि ते अब क्या काढ्यो जाइ ॥१२५॥
कबीर राम न चेतियो फिरिया लालच माहि।
पाप करंता मरि गया औध पुजी खिन माहि ॥१२६॥
कबीर राम न छोड़िये तन धन जाइ त जाउ।
चरन कमल चित्त बेधिया रामहि नामि समाउ ॥१२७॥
कबीर राम न ध्याइयो मोटी लागी खोरि।
काया हाड़ी काठ की ना ओह चढै बहोरि ॥१२८॥
राम कहन महि भेदु है तामहि एकु बिचारु।
सोइ राम सबै कहहि सोई कौतुकहारु ॥१२९॥
कबीर राम मैं राम कहु कहिये माहि बिबेक।
एक अनेकै मिलि गया एक समाना एक ॥१३०॥
रामरतन मुख कोथरी पारख आगै खोलि।
कोइ आइ मिलैगो गाहकी लेगो महँगे मोलि ॥१३१॥
लाटी प्रीति सुजान स्यो बरजै लोगु अजाणु।
तास्यो टूटी क्यो बनै जाके जीय परानु ॥१३२॥
बाँसु बढ़ाई बूड़िया यों मत डूबहु कोइ।
चंदन कै निकटे बसे बाँसु सुगंध न होइ ॥१३३॥
कबीर बिकारह चितवते झूठे करते आस।
मनोरथ कोइ न पूरियो चाले ऊठि निरास ॥१३४॥
बिरहु भुअंगम मन बसै मंतु न मानै कोइ।
राम वियोगी ना जियै जियै त बौरा होइ ॥१३५॥
बैदु कहै हौं ही भला दारू मेरै बस्सि।
इह तौ बस्तु गोपाल की जब भावै ले खस्सि ॥१३६॥
बैष्णव की कूकरि भली साकत की बुरी माइ।
ओह सुनहि हर नाम जस उह पाप बिसाहन जाइ ॥१३७॥
बैष्णव हुआ त क्या भया माला मेली चारि।
बाहर कंचनवा रहा भीतरि भरी भँगारि ॥१३८॥
कबीर संसा दूरि करु कागह हेरु बिहाउ।
बावन अक्खर सोधि कै हरि चरनो चित लाउ ॥१३९॥
संगत करियै साध की अंति करै निर्बाहु।
साकत संगु न कीजियै जाते होइ बिनाहु ॥१४०॥
कबीर संगति साध की दिन दिन दूना हेतु।
साकत कारी काँवरी धोए होइ न सेतु ॥१४१॥

संत की गैल न छाँड़िये मारगि लागा जाउ।
पेखत ही पुन्नीत होइ भेटत जपियै नाउ॥१४२॥
संतन की झुरिया भली भठी कुसत्ती गाउ।
आगि लगै तिह धौलहरि जिह नाही हरि को नाँउ॥१४३॥
संत मूये क्या रोइयै जो अपने गृह जाय।
रोव्हु साकत बापुरो जु हाटै हाट बिकाय॥१४४॥
कबीर सति गुरु सुरमे बाह्मा बान जु एकु।
लागत ही भुइ गिरि पर्या परा कलेजे छेकु॥१४५॥
कबीर सब जग हौ फिर्यौ माँदलु कंध चढ़ाइ।
कोई काहू को नही सब देखी ठोक बजाइ॥१४६॥
कबीर सब ते हम बुरे हम तजि भलो सब कोई।
जिन ऐसा करि बुझिया मीतु हमारा सोइ॥१४७॥
कबीर समुंद न छोड़िये जौ अति खारो होइ।
पोखरि पोखरि ढूँढते भली न कहियै कोइ॥१४८॥
कबीर सेवा कौ दुइ भले एक संतु इकु रामु।
राम जु दाता मुकति को संतु जपावै नामु॥१४९॥
साँचा सति गुरु मै मिल्या सबद जु बाह्मा एकु।
लागत ही भुइ मिलि गया पर्या कलेजे छेकु॥१५०॥
कबीर साकत ऐसा है जैसी लसन की खानि।
कोने बैठे खाइयै परगट होइ निदान॥१५१॥
साकत संगु न कीजियै दूरहि जइये भागि।
बासन करा परसियै तउ कछु लागै दागु॥१५२॥
साँचा सतिगुरु क्या करै जो सिक्खा माही चूक।
अँधे एक न लागई ज्यो बासु बजाइयै फूँक॥१५३॥
साधू की संगति रहौ जौ की भूसी खाउ।
होनहार सो होइहै साकत संगि न जाउ॥१५४॥
साधु को मिलने जाइये साथ न लीजै कोई।
पाछे पाउँ न दीजियै आगै होइ सो होइ॥१५५॥
साधु संग परापति लिखिया होइ लिलाट।
मुक्ति पदारथ पाइयै ठाकन अवघट घाट॥१५६॥
सारी सिरजनहार की जाने नाही कोई।
कै जानै आपन धनी कै दास दिवानी होइ॥१५७॥
सिखि खासा बहुते किये केसी कियो न मीतु।
चले थे हरि मिलन को बीचै अटको चीतु॥१५८॥
सूपने हू बरड़ाइकै जिह मुख निकसै रांम।
ताके पा की पानही मेरे तन को चाम॥१५९॥
सुरग नरक ते मै रहया सति गुर के परसादि।
चरन कमल की मोजि महि रहौ अंति अरु आदि॥१६०॥
कबीर सूख न एह जुग करहि जु बहुतै मीत।
जो चित राखहि एक स्यो ते सुख पावहि नीत॥१६१॥
कबीर सूरज चाँद के उदय भइ सब देह।

गुरु गोबिद के बिन मिले पलटि भई सब खेह ॥१६२॥
कबीर सोई कुल भलो जा कुल हरि का दास।
जिह कुल दासु न ऊपजै सो कुल ढाकु पलासु ॥१६३॥
कबीर सोइ मारिये जिहि मूये सुख होइ।
भलो भलो सब कोइ कहै बुरो न मानै कोइ ॥१६४॥
कबीर सोइ मुख धन्नि है जा मुख कहिये राम।
देही किसकी बापुरी पवित्र होइगो ग्राम ॥१६५॥
हंस उड़यौ तनु गाड़ियो सोझाई सैनाह।
अजहूँ जीव न छाड़ई रंकाँई नैनाह ॥१६६॥
हज काबे हौं जाइया आगे मिल्या खुदाइ।
सांई मुझस्यो लर पस्या तुझै किन फुरमाई गाइ ॥१६७॥
हरदी पीर तनु हरे चून चिन्ह न रहाइ।
बलिहारी इहि प्रीति कौ जिह जाति बरन कुल जाइ ॥१६८॥
हरि का सिमरन छाड़िकै पाल्यौ बहुत कुटुंब।
धंधा करता रहि गया भाई रहा न बंधु ॥१६९॥
हरि का सिमरन छाड़िकै राति जगावन जाइ।
सर्पनि होइकै औतरे जाये अपने खाइ ॥१७०॥
हरि का सिमरन छाड़िकै अहोई राखे नारि।
गदही होइ कै औतरे भारु सहै मन चारि ॥१७१॥
हरि का सिमरन जो करै सो सुखिया संसारि।
इत उत कतहु न डोलई जस राखै सिरजनहारि ॥१७२॥
हाड़ जरे ज्यो लाकरी केस जरे ज्यो घासु।
सब जग जरता देखिकै भयो कबीर उदासु ॥१७३॥
है गै बाहन सघन धन छत्रपती की नारि।
तासु पटतर ना पुजै हरि जन की पनहारि ॥१७४॥
है गै बाहन सघन धन लाख धजा फहराइ।
या सुख ते भिक्खा भली जौ हरि सिमरन दिन जाइ ॥१७५॥
जहाँ ज्ञान तहँ धर्म है जहाँ झूठ तहँ पाप।
जहाँ लोभ तहँ काल है जहाँ खिमा तहँ आप ॥१७६॥
कबीरा तुही कबीरु तू तेरो नाउ कबीर।
राम रतन तब पाइयै जो पहिले तजहि सरीर ॥१७७॥
कबीरा धूर सकेल कै पुरिया बाँधी देह।
दिवस चारि को पेखना अंत खेह की खेह ॥१७८॥
कबीरा हमरा कोइ नही हम किसहू के नाहि।
जिन यहु रचन रचाइया तितही माहि समाहि ॥१७९॥
कोई लरका बेचई लरकी बेचै कोइ।
साँझा करे कबीर स्यो हरि सँग बनज करेइ ॥१८०॥
जहँ अनभौ तहँ भै नही जहँ भौ तहँ हरि नाहि।
कह्यौ कबीर बिचारिकै संत सुनहु मन माँहि ॥१८१॥
जोरी किये जुलम है कहता नाउ हलाल।
दफतर लेखा माँगिये तब होइगौ कौन हवाल ॥१८२॥

ढूँढत डोले अंध गति चीनत नहीं संत।
कहि नामा क्यो पाइये बिनत भगतहँ भगवंत ॥१८३॥
नीचे लोइन कर रहौ जे साजन घट माँहि।
सब रस खेलो पीय सौं कियो लखावौ नाहि ॥१८४॥
बूड़ा बंस कबीर का उपज्यो पूत कमाल।
हरि का सिमरन छाड़िकै घर ले आया माल ॥१८५॥
मारग मोती बीथरे अंधा निकस्यो आइ।
जोति बिना जगदीस की जगत उलंघे जाइ ॥१८६॥
राम पदारथ पाइ कै कबिरा गाँठि न खोल।
नहीं पाहन नही पारखू नहीं गाहक नही मोल ॥१८७॥
सेख सबूरी बाहरा क्या हज काबै जाइ।
जाका दिल साबत नहीं ताको कहाँ खुदाइ ॥१८८॥
सुनु सखी पिउ महि जिउ बसै जिउ महि बसै कि पीउ।
जीव पीउ बूझौ नही घट महि जीउ कि पीउ ॥१८९॥
हरि है खाँडू रे तुमहि बिखारी हाथो चुनी न जाइ।
कहि कबीरा गुरु भली बुझाई चीटी होइ के खाइ ॥१९०॥
गगन दमामा बाजिया पर्‍यो निसानै घाउ।
खेत जु मार्‍यो सूरमा जब जूझन को दाउ ॥१९१॥
सूरा सो पहिचानिये जु लरै दीन के हेत।
पुरजा पुरजा कटि मरै कबहु न छाड़ै खेत ॥१९२॥

पद

(राग गौड़ी)

दुलहनि गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।।टेक।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरें पाँहुनैं आये मैं जोबन मैं माती।।
सरीर सरोवर बेदी करिहु, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सँगि भाँवरी लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार।।
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस उठ्यासी।
कहै कबीर हँम ब्याहि चले है, पुरिष एक अबिनासी।।१।।

शब्दार्थ—दुलहनि = साधक। सत समान। भरतार = भर्त्ता। पति। तत्त = तत्त्व। पच महाभूत। पॉहुनै = अतिथि। पति (पूर्वी प्रयोग)। कौतिग = कौतुक। तमाशा।

पति (पूर्वी प्रयोग)। कौतिग = कौतुक। तमाशा।

संदर्भ—साधक जीव कुमारी कन्या है। भगवान् होने वाले पति है। यह पति बारात लेकर आया है। यहॉ सवाल है, दुलहिन कौन है? अगर साधक को दुलहिन माना जाय तो दुलहन तो गाती नहीं है। वह तो मौन रहती है। किंतु यह साधक भी गाता है और सगी-साथी सत भी गाते है। इसीलिये दुलहन मे दोनो का बोध है।

अर्थ—ऐ, साधक साधिकाओ, राजाराम (सामान्य राम नही) मेरे दरवाजे पर बारात लेकर उपस्थित है। ये मेरे पति है। मै साधक इस राजाराम के प्रेममे तन-मनसे अनुरक्त हूँ। राम जीकी बारातमे पॉच तत्त्व, पच महाभूत (पॉच विषय-रूप, रस गध, स्पर्श, शब्द है। राम की बारात मे आने का अर्थ है राम के साथ सम्बद्ध। और राम के साथ सम्बद्ध विषय।राममय होकर बाधा रहति हो जाते हैं) भी पधारे है। मै मत्त यौवन (पूर्ण साधक) उनका स्वागत करने को तैयार हूँ। मै अपने शरीर रूपी तालाब को वेदी बनाऊँगा। ब्रह्म (ब्राह्मण) वेदोच्चार करेगे। मेरा धन्यभाग है। मै रामदेव के साथ भॉवर (सप्तपदी) फिरूँगी। इस महत्त्वपूर्ण बारात को देखने के लिये तैतीस कोटि देवता और अट्टासी हजार मुनि उपस्थित है। मुझे शाश्वत पुरुष ने ब्याहा है। पत्नी बनाया। इस शाश्वत पुरुष से कभी किसी प्रकार के वैधव्यादि का खतरा नहीं है। इस अविनाशी से ब्याह के उपलक्ष्य मे दुलहिन भी मगल गीत गाएँ।

टिप्पणी—'सरीर सरोवर ' मे सरोवर का रूपक ठीक नहीं मालूम पड़ता है। सरोवर को सरवर = समतल माना जाय तो अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। क्योकि सरोवर मे वेदी नहीं बनती है। वेदी का स्थान तो समतल होना चाहिए। जैसे कारबार कारोबार वन जाता है। उसी प्रकार सरवर से सरोवर बना जान पड़ता है।

अलंकार—रूपक।

बहुत दिनन थै मै प्रीतम पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये।।टेक।।
मंगलचार माँहि मन राखौ, राम रसाँइण रसना चाषौ।
मंदिर माँहि भयो उजियारा, ले सुती अपना पीव पियारा।।
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहाँ यह तुमहि बड़ाई।
कहै कबीर मै कछु न कीन्हा सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा।।२।।

अर्थ—साधक सखी कहती है कि बहुत दिनो की साधना के बाद प्रियतम परमात्मा को घर बैठे पाया। घर बैठे का अर्थ कहीं तीर्थादि बाह्य साधनाओ मे बिना गये पाया है। उनके आगमन मगलाचार की गीतादि कवाईयॉ मन मे है। जीभ राम रसायन का स्वाद ले रही है। प्रिय के आने से मन मदिर का अज्ञानाधकार दूर हो ज्ञान का प्रकाश हो गया। इस प्रकाशमे अपने प्यारेको साथ लेकर सो रही हूँ। प्रभुमे अनुरक्त होकर मैने यह निधि पाई है। इसमे मेरा कुछ प्रयत्न नहीं है। हे प्रभु, यह तुम्हारा बड़प्पन है कि तुमने मुझपर कृपा की। मुझसे कुछ हो भी नहीं सकता है। ऐ साधक सखियो, सुनो। फिर भी प्रभु ने मुझे सुहाग (सौभाग्यवती के सारे लक्षण और लाभ) दिया।

टिप्पणी—इस कविता की प्रथम पक्ति मे प्रतीक्षा है। प्रभु की कृपा है। दूसरी मे 'राम रसायन' श्रृगार रस के विरुद्ध भक्ति रस है। इसमे तीर्थ, यज्ञ, दान, वेदाध्ययन का विरोध है। समर्पण मुख्य भाव है।

अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे, ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे ॥टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
चरननि लागि करौ बरियायी, प्रेम प्रीति राखौ उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषैं, कहै कबीर करमु मति घोषै ॥३॥

अर्थ—हे प्रियतम, अब मै तुम्हे जाने न दूँगी। जैसे भी हो तुम मेरे बनो। बहुत दिनो का वियोग दूर हुआ। प्रिय घर बैठे ही आ गया। प्रेमिका (साधक) के प्रेम हठ की जीत हुई। चरणो मे लग कर अर्थात् विनम्र सेवा करूँगी। बलपूर्वक सेवा करूँगी। प्रेम मे उलझा लूँगी। मन मदिर को सदा शुद्ध रखना चाहिए। क्योकि अशुद्ध मन मे प्रभु का बास नहीं होता है।

अलंकार—रूपक।

मन के मोहन बिठुला, यह मन लागौ तोहि रे।
चरन कँवल मन मानियाँ, और न भावै मोहि रे ॥टेक ॥
षट दल कँवल निवासिया, चहु कौ फेरि मिलाइ रे।
दहुँ के बीचि समाधियाँ, तहाँ काल न पासैं आइ रे।
अष्ट कँवल दल भीतरा, तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तो पाइए, नहिं तो जन्म अक्यारथ जाइ रे।
कदली कुसुम दल भीतराँ, तहाँ दस आँगुल का बीच रे।
तहाँ दुवादस खोजि ले जनम होत नहिं मीच रे।
बंक नालि के अंतरै पछिम दिसाँ की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे ॥
त्रिवेणी मनाह न्हावाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
गगन गरजि मघ जोइये तहां दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घर बरसि है तहाँ भीगत हैं सब संत रे।
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री बनवारि रे।
जुरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे।
गुर गमि तै पाईये, झंषि मरे जिनि कोई रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या सहज समाधी सोई रे ॥४॥

अर्थ—ऐ मनमोहन विष्णु (बिठुला), मेरा मन तुम्हारे ध्यान मे लग गया है। तुम्हारे चरण कमलो को छोड़कर और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। मै चारो योनियो (अडज, पिडज, स्वेदज, उद्भिज) के फेरे को पूराकर स्वाधिष्ठान चक्र मे स्थित हूँ। दोनो (इड़ा-पिगला) के बीच

मे मेरी समाधि है। यहॉ काल नहीं आ सकता है। भगवान आठ कमलो (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रदल और सुरति)—मे क्रीड़ा करते है। सतगुरु की कृपा से ही प्रभु की प्राप्ति हो सकती है वरना जन्म व्यर्थ बीत जाता है। केले के फूल के समान तहॉ भरी सृष्टि चक्रो मे दस अगुल प्रमाण उस प्रभु तत्त्व का निवास है। वही द्वादश कमल (अनाहत चक्र) मे भी बैठा है। यहॉ पहुॅचकर जन्म मृत्यु दोनो की समाप्ति हो जाती है। मेरु दण्ड (बकनाली) के भीतर सुषुम्ना (पश्चिम दिशा) का मार्ग है। यहॉ सहस्रार से अमृत रस प्रवाहित होता रहता है। त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी के घाट पर मन सुरति के हाथो स्नान करता है। मन को भागवत्स्मृति या ध्यान होता है। यहॉ कोई रास्ता नही जोहना पड़ता है। यहॉ सनकादि (सनक, सनातन, सनत्कुमार, सनद) जैसे भक्त सतो का साथ होता है।

(मघ का अर्थ माघ मास ले तो अर्थ होगा माघ मास की प्रतीक्षा किये बिना साधु समागम होता है। त्रिवेणी का माघ मेला तब भी प्रसिद्ध रहा होगा) उस साधना पथ पर प्रेम के बादल घिरे गरजते है। (बादल के इस अधकार मे भी तारे दीखते है।

अनत तारे। साधक को अनत प्रभु से तार मिलते देखा जाता है। यहॉ प्रभु रूप की बिजली चमकती है। बादल बरसते है। सत जन भींगते है। सोलहो कलाओ से सपन्न प्रभु जब चेतन होते है तो प्रभु का दर्शन होता है। फिर तो जन्म मृत्यु का भ्रम दूर हो जाता है। पुनर्जन्म से भी निवृत्ति हो जाती है। कितनी भी कोशिश करो इस तत्त्व को गुरु कृपा के बिना नहीं पा सकते हो। यहॉ सत कबीर सहज समाधि लगाकर रमे है।

टिप्पणी—त्रिवेणी सगम का रूपक महत्त्वपूर्ण है। माघ मेला वर्षासहित उपस्थित है।

गोकुल नाइक बीठुला, मेरौ मन लागौ तोरि रे।
बहुतक दिन बिछुरे भये, तेरी औसेरि आवै मोहि रे।।टेक।।
करम कोटिकौ ग्रेह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे।
आपहि आप बँधाइया, द्वै लोचन मरहि पियास रे।।
आपा पर संमि चीन्हिये, दीसै सरब समांन।
इहि पद नरहरि भेटिये, तूं छाड़ि कपट अभिमांन रे।
नां कतहुं चलि जाइये, नां सिर लीजै भार।
रसनां रसहि बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे।।
साधैं सिधि ऐसी पाइये, किबा होइम होइ।
जे दिठ ग्यांन न ऊपजै, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे।।
एक जुगति एकै मिलै, किबा जोग कि भोग।
इन दून्यूँ फल पाइये, रांम नांम सिधि जोग रे।।
प्रेम भगति ऐसी कीजिये, मुखि अंमृत बरिषै चंद।
आपही आप बिचारिये, तब केता होइ अनंद रे।।
तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे।।
चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे।।५।।

शब्दार्थ—बीठुला = विष्णु। औसेरि = (<स अवसर) अवसेरना। याद। ग्रेह = गृह। अहटि = १ आहत। दुखी। २ चमत्कार। ससा = सशय।

अर्थ—हे गोकुल नायक कृष्ण, मेरा मन आप मे लगा है। आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म तो एक ही है। किंतु फिर भी बहुत दिनो से वियोग हो गया है। मुझे आपकी याद आती है। मेरा

ससार तथा शरीर गृह अनेक कामनाओ से भरा है। मै आपके पास प्रेम की आशा से गया हूं। मै स्वय अपने ही कर्मो से माया के बधन से बधा हूँ। मेरी दोनो ऑखे आपके दर्शन की प्यासी है। पराये को भी अपने समान देखने पर समत्व बुद्धि विकसित होती है। सब मे समता दीखती है। ऐ मेरे मन, कपट और अभिमानको छोड़कर प्रभु चरणोका दर्शन करो। इसी से कल्याण होगा। कहीं तीर्थादि मे जाने और पूजा-पाठ आदि का भार सिर पर उठाने की जरूरत नहीं है।

भगवत्रस को अपने आस्वादन का विषय बनाओ। भगवान् विष्णु को अपने मन मे धारण करो। जो होना होगा सो हो। इस प्रकार की साधना से सिद्धि मिलेगी। अगर प्रभु के प्रति ज्ञान दृढ़ नहीं है तो बेकार दुखी होने या चक्कर लगाने से कोई फायदा नहीं है।

ससार मे एक युक्ति से एक ही चीज मिलती है। भोग की युक्ति से बधन और योग युक्ति से मोक्ष मिलेगा। किंतु राम नाम की उपासना से भुक्ति मुक्ति दोनो की प्राप्ति होती है। प्रेम भक्ति ऐसी करनी चाहिए कि मुख चद्र से अमृत की वर्षा हो। आत्मा मे ही आत्म तत्त्व का विचार कीजिए तो आनद की प्राप्ति होती है।

यह कविता नहीं। यह ब्रह्म सबधी विचार दर्शन है। आत्म साधना या स्व साधन ही मूल तत्त्व है। भगवान् के चरण कमलो मे चित्त को लगाओ। राम नाम के गुणो को गाओ। इसमे कोई सशय नहीं है। इससे भक्ति और मुक्ति दोनो की प्राप्ति होगी।

अब मै पाइबो ब्रह्म गियान,
सहज समाधे सुख मे रहिबो, कोटि कलप विश्राम।।टेक
गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कँवल बिगासा।।
भागा भ्रम दसौं दिस सुझ्या, परम जोति प्रकासा।।
मृतक उठ्या धनक कर लीयै, काल अहेड़ा भागा।।
उदय सूर निस किया पयाँनाँ, सोवत थै जब जागा।।
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहताँ कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगै जाँनि मिठाई।।
पहुप बिनाँ एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिनाँ नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया।।
देखत काँच भया तन कंचन, बिन बानी मन माँनाँ।
उड़्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूँ जल जलहि समाँनाँ।।
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न नाँऊँ।
भागा भ्रम ये कहीं कहताँ, आये बहुरि न आँऊँ।।
आपै मैं तब आपा निरष्या, अपन पै आपा सुझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपनाँ, अपन पै आपा बूझ्या।।
अपनै परचै लागी तारी, अपन पै आप समाँना।
कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जाँना।।६।।

अर्थ—अब मुझे (साधक को) ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होगा। मै सहज समाधि के सुख मे रहूँगा। करोड़ो कल्पो (युगों) के विश्राम का सुख प्राप्त करूँगा। कृपालु गुरुदेव की कृपा से हृदय कमल विकसित हो गया। फलत अज्ञानजन्य भ्रम का नाश हो गया। सभी दिशाओ मे प्रभुज्योति दिखाई पड़ रही है। विषयो के द्वारा जो मन भर गया था वह उठकर धनुष लेकर काल रूपी शिकारी को भगा रहा है। ज्ञान सूर्य के उदय से अज्ञान रात्रि जा रही है। मोह निद्रा मे पड़ा जीव जाग रहा है। जागने पर अविगत अखड, अनुपम दीख रहा है। इसके बारे मे कहते हुए भी कुछ कहा नहीं जा रहा है।

साधक को जिस तत्त्व का बोध हुआ है उसे ईशारे से कहता है। मन ही मन प्रसन्न होता है। जैसे गूँगा मिठाई के स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता है वैसे ही भगवत्तत्त्व अनुभूति का विषय है।

उस अनुभूति मे अलौकिकता है। बिना किसी फूल के पेड़ मे आनद फल फला है। बिन तुरही के बाजा बज रहा है। पनिहारिन के बिना भी शरीर या हृदय घट मे पानी भर रहा है। देखते ही देखते कच्चा शरीर स्वर्ण सा हो गया। मन बिना वाणी के भीतर ही भीतर आनदित हो रहा है।

आत्म चैतन्य रूप पक्षी उड़ गया। अब वह खोजने पर भी नहीं मिलेगा। जैसे पानी मे मिले पानी की खोज नहीं हो सकती है। अब किसी देव की पूजा और तीर्थो आदि मे स्नान की आवश्यकता नहीं है। अब पुन ससार मे नहीं आना है। यह कहानी कहते हुए भ्रम दूर हो गया। परमात्मतत्त्व का दर्शन आत्मा मे ही हुआ है। अब किसी से कुछ कहना सुनना नहीं है। सब आप मे ही दीखता है। आत्म तत्त्व से एक तार ध्यान लग गया। सत कबीर कहते है कि जो इस आत्मतत्त्व पर विचार करता है उसका आवागमन मिट गया है।

अलंकार—विरोधाभास, रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

नरहरि सहजै ही जिनि जाना।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसाँनाँ॥टेक॥
प्रकट प्रकास ग्यान गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससिहरि सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मै सुरति समाँनी॥७॥

अर्थ—ईश्वर को जिसने सहज भाव से जान लिया वही उस तत्त्व को समझता है।

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने वाले साधक के लिए ससार वृक्ष, उससे उत्पन्न कर्म, कर्मफल आदि का नाश हो गया। पुनर्जन्म के बीज एव अकुर भी नष्ट हो गए। साधक ने गुरुकृपा से ज्ञान प्राप्त किया है। सारी विषय वासनाएँ ब्रह्म अग्नि मे जल गयी है। सूर्य-चन्द्रमा (इडा-पिगला नाड़ियाँ) जो दूर थे अब दोनो एक तार हो गये है। मिल गये है। शरीर स्थित प्राणो (पवन) की गति उलटी हो गयी है। शरीर स्थित षट्चक्रो (मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा) को बेधती सुप्त कुडलिनी सहस्रार तक चली जाती है। मन शून्याकाश मे समा गया है। अनाहत बाजा बज रहा है।

सत कबीर सुमति के स्वामी है। त्रिकुटी रूप सगम के स्वामी है। अर्थात् त्रिकुटी साधना (इडा, पिगला और सुषुम्ना का सधिस्थल) पर उनका पूर्ण अधिकार है। जो इस आनद पद को सुनता है वह सुख की स्मृति मे समाकर काल से मुक्त हो जाता है।

मन रे मन ही उलटि समाँना।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौ नहीं तर था बेगाँना॥टेक॥
नेड़ै थै दूरि दूर थै नियरा, जिनि जैसा करि जाना।
औलौतीका चढ़्या बलीडै, जिनि पीया तिनि माना॥
अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी॥
अनभै कथा कवन सो कहिये, है कोई चतुर बिवेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी॥८॥

शब्दार्थ—बेगॉना = दूसरा। पराया। नेड़ै = नजदीक। नियरा = नजदीक। औलैती = ओलती। बलीडै = छाजन के बीचोबीच का सबसे ऊँचा स्थान। लै = लव। झल = झलक। ज्वाला।

अर्थ—मन विषयो से हटकर मन मे ही स्थिर हो जाता है। विषयो के पीछे ही चचलता थी। अब मन आतमन्ये आतमना तुष्ट हो गया है। यह गुरु कृपा से हुआ वरना। मन तो समझनेवालो के लिए दूर है। पानी बड़ेरी से ओलती की ओर आता है। कितु योग की पक्रिया उलटी है। यहॉ विषयो मे भटकता मन बाहर से भीतर आ जाता है। षट् चक्रो का भेदन करती उदान वायु से प्रेरित कुडलिनी जाग कर शून्य मे मिल जाती है।

सत कबीर कहते है कि ऐ मेरे विरागी मन, उस तत्त्व की खोज करो जो अमर है, जो जन्म मरण रहित है। यह अनुभव से प्राप्त होता है। अनुभव का विषय है। कोई चतुर विवेकी ही इस तथ्य को समझ सकता है।

सद्गुरु ने ज्ञान का पलीता दिया है। इसे कोई विरला ही समझ सकता है।

अलंकार—दृष्टात, वक्रोक्ति, विशेषोक्ति।

इहि तत रांम जपहु रे प्रांनी, बूझौ अकथ कहांणीं।
हरि कर भाव होई जा ऊपरि जाग्रत रैनि बिहांनीं ॥टेक॥
डांइन डारै सुनहां डोरै स्यंघ रहै बन घेरे।
पंच कुटंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरैं।
रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै।
सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै।
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै ॥९॥

शब्दार्थ—डाइन = माया। सुनहा = मन। स्यघ = अह। बन = जीवन। पचकुटब = पॉचो ज्ञानेद्रियॉ। सघैरै = समूह मे। रोहै = रोध। अवरोध उत्पन्न करना। मृग = तृष्णा। ससा = वासना। वन = जीवन। पारधी = शिकारी। जीव। सायर = शरीर। दाझै =जलना। मछ= मछली। मन। अहेरा = शिकार। भाव = भावना। प्रेम। डोरा डालना = लोभ पैदा करना।

अर्थ—हे प्राणी, ससार का मूलतत्त्व राम नाम है। इस बात को समझो। जिसका हृदय प्रभु प्रेम से पूर्ण होता है वही इस कहानी को समझता है। प्रभु वियोग मे उसकी रात जागते ही बीतती है। माया डायन मन को प्रभावित करती है। लालच पैदा करती है। अहकार सिह जीवन वन को घेरे रहता है। पॉचो ज्ञानेद्रिया अनेक प्रकार के शास्त्रो के शब्दो की ध्वनियो के बीच जूझती है। तृष्णा मृग एव वासना खरगोश ने जीवन वनको घेर रखा है। शरीर तालाब जल रहा है। सारे जीवन वन मे आग लगी है। मन मछली शिकार खेल रही है। विषयो मे ही आनद मना रही है।

सत कबीर कहते है कि वही पडित एव तत्त्वज्ञ है जो इस पद पर विचार करता है। वही मेरा गुरु है जो स्वय भवसागर तैरता है और मुझे भी भवसागर मुक्त करता है।

अलंकार—विरोधाभास।

अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णां षांडी ॥टेक॥
बन के ससै समंद घर कीया, मंछा बसै पहाड़ी।
सुई पीवै ब्राम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी॥
षाड बुणै कोली मै बैठी, मै खूंटा मैं गाड़ी।
तांणै बाणै पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढी

कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अगम ग्यांन पद माहीं।
गुरु प्रसाद सुई कै नांकै, हस्ती आवै जांही ॥१०॥

शब्दार्थ—अवधू = अवधूत योगी। धुनि = ध्वनि। मॉडी = फैली। मडित। षाडी = खडित। बन = देह। ससै = मन। समद = ब्रह्मनाड़ी। मछा = चैतन्य। पहाड़ी = शून्य शिखर। सुई = सो। वह । ब्राम्हण = ब्रह्मा को जानने वाला। फल = परमतत्त्व। बाड़ी = बगीचा। षाड = खात। गड्ढा। कोली = बुनकर। जीव। गाड़ी = गहराध्यान। हस्ती = जीव। सुई कै नाकै = सूक्ष्म मार्ग। सूत = उपासना। ध्यान।

अर्थ—ऐ अवधूत, देखो न, चारो ओर सभी दिशाएँ ज्ञान की ध्वनिलहरो से मडित हो रही है। ज्ञान प्राप्ति एक ऐसी अवस्था है जिसमे चारो ओर आनद ही आनद दीखता है। मन के भीतर इद्रियातीत अनाहत ध्वनि हो रही है। तृष्णा खडित (समाप्त) हो रही है। देह जीवन का मन शशक ब्रह्वतत्त्व मे लीन जीवन का साधक अमृत रस का पान रहा है। बिना किसी बगीचे के चारो फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) या परमतत्त्व का फल फल गया है। जीव जुलाहा गड्ढे मै बैठकर 'मै का खूँटा गाड़े है। ताना-बाना नाश रहित है। ध्यान या उपासना सूत का कहना है कि मुझे गाढ़ा करो। खूब ध्यान लगाओ। यही जीवन वस्त्र का ठोस आधार है।

सत कबीर कहते है कि हमारा ध्यान प्रभु के अगम्य चरणो का भक्ति ज्ञान के अगम पदो मे लगा है। सदगुरु की कृपा से साधना के अत्यत सूक्ष्ममार्ग अर्थात् सुई की नोक से जीव हाथी आता जाता है।

अलंकार—विभावना, विरोधाभास।

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।।टेक।।
पहलै पूत पीछे भइ मॉई, चेला के गुरु लागै पाई।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकरि बिलाई मुरगै खाई ॥
बैलहि डारि गूँनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई ॥
तलिकर साषा ऊपरि करि मूल बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बुझै, ताँकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै ॥११॥

शब्दार्थ—अचभा = आश्चर्य। ठाढ़ा = खड़ा। सिह ओकार। ज्ञान। गाई = इद्रियॉ। पहले = सृष्टि पूर्व। मॉई = माया। पूत = चेतन जीव। चेला = निर्विकार चित्त। गुरु = मन। जल की मछली = माया मे रहने वाला मन। तरवर = ब्रह्मरध्र। ब्याई = ज्ञान प्रकाश किया। बिलाई = दुर्मति। मुर्गा = सुमति। बैल = अज्ञान। शरीर गूँनि = थैला। मन। कुत्ता = भोगवृत्ति। बिलाई = साधक मन।

अर्थ—साधक सिद्ध कबीर दास जी कहते है कि मैने एक आश्चर्य देखा। सब उलटा हो रहा है। ज्ञान सिह लोलुप इद्रिय को खड़ा होकर चरा रहा है। लोलुप इद्रियॉ ज्ञान सिह के अधिकार मे है। सृष्टि मे सर्वप्रथम चैतन्य विकसित हुआ तब माया माता का विकास हुआ। जब सारे चेतन भी माया रचित है। इसलिये माया अनिवर्चनी है। विकार युक्त मन जो पहले चित्त को गुरु जैसी शिक्षा देता था वही अब निर्विकार चित्त की वदना कर रहा है। क्योकि चित्त की वृत्तियो का पूर्ण निरोध हो गया है। माया स्थित मन साधना द्वारा ब्रह्मरध्र पर स्थित हो ज्ञान प्रकाश कर रहा है। दुर्मति को सुमति ने दबोच लिया है। अज्ञानी शरीर का मोह खतम हो गया है। भोगवृत्ति रूप कुत्ते को साधक मन बिल्ली ने पकड़ लिया है।

यह ससार एक वृक्ष के समान है। इस वृक्ष की शाखाएँ नीचे, जड़ ऊपर है। इसमे सुख-दुख के अनेक प्रकार के फूल लगे है।

सत कबीर कहते है कि जो इस पदको समझता है उसे तीनो लोकोका ज्ञान होता है।

टिप्पी—मूल तत्त्व ब्रह्मरध्र एव चेतनतत्त्व मस्तिष्क मे है। शेष नाड़ी शाखाएँ नीचे है।
गीता मे—
ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहरव्ययम।
छदासि यस्य पार्णानि यस्त वेद स वेदावित् १५/१/
अलंकार—रूपकतिशयोक्ति। मूल मे श्लेष।

हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि पाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ता जनमि जनमि डहकाए ।।टेक।।
धौल मँदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गादह नाचै भैसा निरति करावै ।।
स्यंध बैठा पान कतरै, घूँस गिलौरा लावै।
उँदरी बपुरी मंगल गावै, कछु एक आनंद सुनावै।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परबत खावा।
चकवा बैसि अँगारे निगले, समंद आकासा धावा।।१२ ।।

शब्दार्थ—षारे = कड़ुआ। खरा। वड़े = एक भोज्य पदार्थ। लोई = लोग। डहकाए = धोखा खाते रहे। जलते रहे। धौल = धवल। मॅदलिया = मर्दल। रवावी = रबाव वादक। ताल = मॅजीरा। निरति = नृत्य। घूॅस = चूहे की जाति का एक जीव। गिलौरा = पान का बीड़ा। उॅदरी = चुहिया। वपुरी = वेचारी। गडरी = भेड़। चोल = वस्त्र।

अर्थ—ईश्वर ने विषयो से भरा यह ससार वड़ा बनाया है। जिन्होने अपने को साधना की आग मे जलाया है वे इस ससार को ठीक ढग से समझते है। कितु ज्ञानहीन लोग जन्म जन्मातर तक धोखा खाते है। विपयो मे जलते रहे।

ससार मे जानवरो का राज्य है। पशु प्रवृत्ति है। पशु वाजा वजाते है। प्रसन्न होते है। समझदार इसे देख परेशान रहता है।

धौला वैल मर्दल और सामान्य वैल रवावी वजाते है। कौआ मॅजीरा वजाता है। गदहा वस्त्र पहनकर नाचता है। भैसा नृत्य करता है। राजा सिह पॉन खाता है। घूॅस गिलौरा वॉधता है। चुहिया मगलगीत गाती है। कछुआ आनद गान सुनाता है।

सत कवीर कहते है कि ऐ सतो, सुनो भेड़ ने पर्वत खा लिया। चकवा अगार निगल रहा है। समुद्र आकाश की ओर बढ़ रहा है। प्रलय आने वाला है। जानवरो का यह राज्य अधिक दिनो तक नहीं चल सकेगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।

चरखा जिनि जरे। कातौगी हजरी का सूत नणद के भइया की सौं ।।टेक।।
जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप ।।
बाबल मेरा ब्याह करि, बर उत्यम ले चाहि।
जब लगि बर पावै नहीं, तब लग तूँ ही ब्याहि ।।
सुबधी के घरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ।
चूल्हे अगनि बताइ करि, फल सौ दीयो ठठाइ ।।
सब जगही मर जाइयौ, एक बड़इया जिनि मरै।
सब राँडनि कौ साथ चरषा को धरै ।।
कहै कबीर सो पंडित ज्ञाता जो या पदहि बिचारै।

पहलै परचै गुर मिलै तो पीछै सतगुरु तारे ॥१३॥

शब्दार्थ—चरखा = जीवन चक्र। हजरी = एक प्रकार का महीन सूत। लगता है अत्यत महीन सूत को हजरी का सूत कहते थे। आज भी सूतो के नम्बर है। नणद के भइया = प्रियतम प्रभु। बिटिया = माया। बाप = जीवात्मा। जायौ = उत्पन्न हुआ। बाबल = गुरु। सुबधी = सम्यक् बुद्धि। लुबधी = लोभी बुद्धि। आन बहू के भाई = अविचार। कुबुद्धि। चूल्हे = हृदय। बताइ = बुझाना। बड़इया = ईश्वर। राडनि = प्रवृत्तियॉ। ठठाना = हॅसना।

अर्थ—चार अवस्थाओ वाला यह जीवन चक्र बना रहे। मै साधक प्रियतम प्रभु के साथ ससार मे मोक्ष प्राप्ति का महीन सूत कातूॅगा। जल थल मे उपजकर नगर मे स्वय आए है। यहॉ एक आश्चर्य दीखता है। माया बेटी जीवात्मा पिता के साथ ब्याही गयी है। दोनो का गहरा सबध हो गया है।

ऐ पिता गुरु, मेरा भी उत्तम वर (परमात्मा) से सबध करा दो। और जब तक प्रभु प्रियतम की प्राप्ति नहीं हो जाती तुम मेरे साथ सबध कर लो। क्योकि गुरु और गोविन्द मे भेद नहीं है।

दुर्भाग्यवश सुबुद्धि के निवास घर मे दुबुर्द्धि और अविचार का अधिकार हो गया है। हृदय की सारी वासनाएँ समाप्त हो गयी है। इसलिये कर्मफलो या चतुर्वर्ग फलो को देखकर हॅसी आती है। सारे ससार के लोग मर जायॅगे कितु एक परमात्मा (बढ़ई, चरखे का निर्माता) नहीं मरेगा। यही परमात्मा सारी प्रवृत्तियो और जीवो के साथ देह चरखे को धारण किये है।

सत कबीर कहते है कि वही पडित है जो इस पद पर विचार करता है। पहले गुरु से परिचय हो तभी सद्गुरु सब को मुक्त करते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनै देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा ॥टेक॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानाँ।
सातौ बिरही मेरे नीपजै, पंचूँ मोर किसानाँ ॥
कहै कबीर यह अकथ कथा है कहताँ कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजे, ते रमि रहै समाई ॥१४॥

शब्दार्थ—नणद के बीर = परमात्मा। पचनि = पॉच इद्रियॉ। बदेसा = विदेश। गग = इडा। जमुन = पिगला। सातौ विरही = कफ, पित्त, वायु, रक्त, मज्जा, मास, वीर्य। पचू = पॉच कमेद्रियॉ। भाइ = भाव।

अर्थ—हे प्रभु, अब तुम मुझे अपने देश मे ले चलो। सालोक्य मुक्ति दो। मै विदेश (पृथ्वी) मे इद्रियो के कुसग मे पड़ गया हूॅ। मै इडा गगाके किनारे साधनाकी खेती करता हूॅ। पिगला यमुना के किनारे खलिहान लगाता हूॅ। कफ, पित्त, वायु, रक्त मज्जा, मास वीर्य सब मेरे शरीर से उत्पन्न है। कितु मुझ (आत्मा) से अलग है। पॉच कमेद्रियॉ किसानो का मेरा साथ है।

सत कबीर कहते है कि इस अकथनी बात को कहते नहीं बनता है। जो सहज भाव से राम की साधना करता है उसे ही यह समझ मे आता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

अब हम सकल कुसल करि माँनाँ, स्वाँति भई तब गोब्यंद जाँनाँ ॥टेक॥
तन मे होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
जम थै उलटि भये है राम, दुःख बिसरया सुख किया विश्राँम ॥
बैरी उलटि भये है मीता साषत उलटि सजन भये चीता ॥

आपा जानि उलटि ले आप, तौ नहीं ब्यापै तीन्यूँ ताप ॥
अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जाँनाँ जीवत मूवा ॥
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ, आपन डरौं न और डराऊँ ॥

शब्दार्थ—स्वाँति = शांति। उपाधि = उपद्रव। तीनताप = देह, दैव, भूत संबंधी दुख। विश्रांम = शांत। समाप्त।

अर्थ—जब मन विषयो से अलग होकर शांत हुआ तब सामने भगवान को जाना और हमारा कुशल हुआ। अभी तक शरीर मे विषयो ने अनेक उपद्रव कर रखे थे। प्रभु दर्शन से सुख की समाधि लग गयी। पहले यम का भय था। अब उसे उलटे राम की निर्भयता है। दुख-सुख की वेदना समाप्त हो गयी है। विषय दुश्मन थे। प्रभु कृपा से वे मित्र बन गए है। शक्त सज्जन हो गए है। यदि व्यक्ति आत्मा मे ही आत्मा को विषयो से मुक्त कर ले तो तीनो प्रकार के दुख समाप्त हो जाते है।

अब मन शाश्वत हो गया है। जीवित मृत्यु अर्थात् विषय मुक्ति हो गयी है। क्योंकि विषय मे अनुरक्ति ही मृत्यु है। अब न मै किसी को डराऊँगा। न किसी से डरूगा।

अलंकार— विरोधाभास।

संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडाँणी, माया रहै न बाँधी ।।टेक।।
हिति चित की द्वैथूनी गिराँनी, मोह बलीडा तूटा।
त्रिस्नाँ छाँनि परि घर ऊपरि, कुबधि का भाँडाँ फूटा।
जोग जुगति करि संतो बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी।
कूड कपट काया का निकस्या हरि की गति जब जाँणी ॥
आँधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भींनाँ।
कहै कबीर भाँन के प्रगटे उदित भया तम षींनां ॥१६ ॥

शब्दार्थ—टाटी = बाँस आदि की टटिया। द्वै = दो। थूँनी = खभा। द्वैथूनी = विषय और वासना। राग द्वेष। सुख-दुख। बलिडा = बल्ली। तूटा = टूटा। छानि = छप्पर। भाँडा = भांड। निरचू = थोड़ा भी चूनेवाला। बूठा = वृष्टि। भाँन = सूर्य। षींनाँ = क्षीण।

अर्थ—सतो भाई, प्रभु ज्ञान की आंधी आयी है। फलत भ्रम की सारी टट्टियाँ, पर्दे उड़ गये। माया उन्हे बाँधकर नहीं रख सकी। चित्त मे राग-द्वेष के दो खभे प्रेम बने खड़े थे वे गिर गये। जिस बल्लीपर तृष्णाका छप्पर बाँधा है। वह भी टूट गया। कुबुद्धि का भडा फूट गया है। अब थोड़ा भी चूने वाला पानी नही चूता है। शरीर के कपट का कूड़ा निकल गया, जब प्रभु की गति का ज्ञान हो गया।

इस ज्ञान आँधी के बाद आनद जल की वृष्टि हो गयी। उससे प्रभु प्रेमी लोग भींग गए। ज्ञान सूर्य के उदय से अज्ञान तम क्षीण हो गया।

अलंकार—सागरूपक।

अब घटि प्रगट भये राम राई, साधि सरीर कनक की नाई ।।टेक।।
कनक कसोटी जैसे कसि लेई सुनारा, सोधि सरीर भयो तन सारा ॥
उपजत उपजत बहुत उपाई, मन थिर भयो तबै तिथि पाई ॥
बाहरि षोजत जनम गँवाया, उनमनीं ध्यान घट भीतरि पाया।
बिन परचे तन काँच कथीरा, परचै कंचन भया कबीरा ॥१७॥

अर्थ—अब हृदय घट मे राजाराम प्रगट हो गये। इस शरीर को सोने के समान साधो। निखारो। जेसे सुनार सोने को कसौटी पर कसकर उसकी अच्छाई पहचानता है वेसे ही सारे शरीर का शोधन (शुद्ध) करो। बहुत बार जन्म हुआ। बहुत से उपाय भी किये। किंतु जब मन

स्थिर हुआ तभी सभी प्रकार की स्थिरता आई।

प्रभु को व्यर्थ बाहर खोजता रहा। उन्मनी अवस्था प्राप्त होने पर उन्हे हृदय के भीतर ही पाया। प्रभु से परिचय के बिना यह शरीर कॉच (कच्चा) है। परिचय होने के बाद सोने जैसा मूल्यवान् बन जाता है।

अलंकार—कॉच मे श्लेश।

हिडोलनॉं तहॉं झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिडोलना, सब संतन कौ विश्राम ॥टेक॥
चंद सूरे दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियॉं, तहॉं झूलै जीय मोर॥
द्वादस गम के अंतरा, तहॉं अमृद कौ ग्रास।
जिनि यह अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ गगन मंडल सिरमौर॥
दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलै हिडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट॥
नाद ब्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइ ले गुर गॉंमि उतरौ पार॥१८॥

शब्दार्थ—आतमराम = आत्मा-राम शुद्ध चैतन्य। चद सूर = इडा, पिगला नाड़ी। बक नालि = एक वक्र नाड़ी जो मेरुदड के भीतर स्थित है। इसे सहस्रार और कपाल कुहर के बीच भी कहा गया है। कुडलिनी। पच पियारियॉ = प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। गगा जमुना = इडा-पिगला। द्वादसगम = सहस्रार। हृदय से द्वादश अगुल की दूरी पर सहस्रार मे चिति है। यह शिव द्वादशात भी कहलाता है। गगनमडल = सहस्रार। अगरी = श्रेष्ठ। मूल कवल = मूलाधार चक्र। त्रिवेणी = आज्ञा चक्र। नाद-व्यद = इनके अनेक अर्थ है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व मे व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति मे होता है, तो उसे नाद और बिदु कहते है।' श्री गोविद त्रिगुणायत के अनुसार नाद से कबीर का अभिप्राय अधिकतर अनाहत नाद से होता है। बिदु का यह साधारण अर्थ ब्रह्मचर्य पालन ही लेते है। कही-कही पर नाथपथियो के अनुसरण पर उन्होने नाद को परमात्मा और बिदु को जीवात्मा के कर्ता मे प्रयुक्त किया है—कबीर पृ०—३२३ कनिहार = कर्णधार।

अर्थ—शुद्ध चेतन जीव प्रेम-भक्ति भावित देह के झूले मे झूल रहा है। इस झूले मे सभी सतो को शाति मिलती है। चॉद और सूर्य (इडा-पिगला) इसके खभे है। वक्रनाड़ी कुडलिनी की रस्सी लगी है। इसमे पॉच प्राण प्यारे झूलते है। वहीं मेरा मन भी झूल रहा है। हृदय से बारह अगुल की दूरी पर सहस्रार मे चिति है। वहॉ अमृत झर रहा है। जिसने इस अमृत को चखा वह गुरु और मै उसका दास हूँ।

गगन मडल का सिरमौर सहस्रार मेरा नैहर है। दोनो कुलो (इहलोक परलोक) मे प्रधान है। जो मेरे साथ झूलेगी वह भी मुझ जैसी ही हो जायगी।

इडा-पिगला नाड़ियॉ ऊॅचे-नीचे है। वहीं त्रिकुटी त्रिवेणी मे तीनो नाड़ियो का सगम है। यहॉ नाद-बिदु (परमात्मा-जीवात्मा) की नाव और राम-नाम केवट है। कबीरदास कहते है, प्रभु के गुण गाओ और गुरु को प्राप्त कर पार उतरो।

अलंकार—सागरूपक।

कौ बीनै प्रेम लागी री माई कौ बीनै। राम रसाइण मातेरी, माई को बीनैं ॥टेक॥

पाई पाई तूँ पुतिहाई पाई की तुरियाँ बेचि खाई री, माई को बीनै
ऐसै पाई पर बिथुराई, त्यूँ रस आँनि बनायौ री, माई को बीनै।
नाचै ताँनाँ नाँचै बाँनाँ, नाचै कूँच पुराना री माई, की बीनै ॥१९॥

शब्दार्थ—पुतिहाई = पुत्र जैसा। तुरियॉ = १ तूल जैसी। २ तुरीयावस्था। बिथुराई = बिखराना। कूँच = जिससे सूत पर माड़ी चढ़ाते है

अर्थ—इन सासारिक सवध रूप वस्त्र को कौन बुने? साधक बुनने से रहा। क्योकि मन तो राम रसायन पीकर मत्त है। पाई पाई पुत्र प्रेम जैसा पाला उस रूई को ससार सवधो को पाई मे बेच दिया। तुरीयावस्था की स्थिति समाप्त कर दी। इस प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रगति को विखेर दिया है। राम रस मे मत्त है। इडा-पिगला के ताने वाने तथा सुषुम्ना का कूँच नाच रहे है।

साधना पूरी हुई जन्ममरण चक्र छूटा। अव इस शरीरा वस्था को कौन बुनेगा? कोई नही

मै बुनि करि सिराँनाँ हो राम, नालि करम नहीं ऊबरे ॥टेक॥
दखिन कूट जब सुनहाँ भूँका तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत है हम घरि चोर पसारा हो राम॥
ताँनाँ लीन्हाँ बाँनाँ लीन्हाँ, लीन्हे गोड के पऊवा।
इत उत चितबन कठवन लीन्हाँ, माँड चलवना डऊवा हो राम।
एक पग दोई पग त्रेपग, सँधे हि संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बँधि आये, किलिकिलि सबै मिटाई हो राम॥
ताँनाँ तनि करि बाँनाँ बुनि करि, छाक परी मोहि ध्याँन।
कहै कबीर मै बुंनि सिराँना जानत है भगवाँनाँ हो राम ॥२०॥

शब्दार्थ—सिरॉना = शात। नालि = बुनकर की नली। दखिन कूट = दाहिनी ओर। सुनहॉ = सशय। कठबन = कठवत। कठौती। किलकिल = किचकिच। छाक पड़ना = मत्त होना। डऊवा = कलछुल। मोट = गॉठरी। नालिकर्म = वच्चा पैदा होते समय नाल काटने का कर्म। चोर = मृत्यु।

अर्थ—हे राम, मै सासारिक धधो को वुनता, तारतम्य बिठाता थक गया हूँ। मेरा जुलाहे का नाल कर्म या जन्म-मृत्यु कर्म समाप्त नहीं हो रहा है। सशय मेरे दाहिने है। मै सशय मे पड़ा हूँ। इस सशय को छोड़कर आपकी शरण मे नहीं आ पा रहा हूँ। सशय की अनुभूति ने मुझे विचार करने पर मजबूर किया। तभी देखा कि मेरे असद् विचार जाग रहे है और तभी मृत्यु का प्रवेश हो गया है।

मैने ताने बाने और कपड़ा बुनने के काम मे आने वाले लकड़ी के पावा को लिया। उस कठौती को लिया जिसमे मॉड घोलते है। कलछुल से कपड़े और मॉड़ को मिलाया। भावार्थ कि ससार के कर्मो मे लिप्त हूँ।

जीवन की चार अवस्थाऐँ है। उनमे तीन पग चलने तीसरी अवस्था की सधि से सधि यानी इन अवस्थाओ को एक दूसरे से जोड़ा। किंतु इससे केवल प्रपच की गठरी ही भारी होती रही। अब मैने तो अपनी ओर से सभी किचकिच (झझट) मिटा दिया। ताना-बाना बुन लिया। ससार कार्य पूरा कर लिया। अब प्रभु ध्यान मे मत्त हूँ। मै बुनि सिराना अर्थात् आवागमन समाप्त हो गया। इस बात को भगवान् राम भलीभॉति जानते है।

तननाँ बुनता तज्या कबीर, राम नाम लिखि लिया शरीर ॥टेक॥

ठाड़ी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाइ।
कहै कबीर सुनहुँ री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राइ॥२१॥

अर्थ–साधक ने जीवन की माया का तानना-बुनना काम, क्रोध, लोभादि को छोड़ दिया। अब वह पूर्णत राममय हो गया। जब तक वह इद्रियो के छिद्रो को भरने मे, पूरा करने मे लगा था। तब तक राम के प्रति स्नेह टूटा था। इद्रिय विषयो के स्नेह ने राम से उसे अलग कर रखा था।

साधक की इस स्थिति को देखकर माया माँ रो रही है। माया से उत्पन्न यह साधक जीव माया युक्त प्रवृत्तियो को छोड़कर कैसे जीवित रहेगा? साधक सत कबीर कहते है, ऐ माया, सुनो। सब की पूर्ति तो भगवान् करते है। तुम तो नाश करने वाली हो।

अलंकार–सागरूप।

जुगिया न्याइ मरै मरि जाई।
घर जाजरौ बलीडौ टेढ़ौ, औलोती अरराइ॥टेक॥
मगरी तजौ प्रीति पाषे सूँ डाँडी देहु लगाई।
छींको छोडि उपरहि डौ बाँधा, ज्यूँ जुगि जुगि रहै समाई।
बैसि परहडी द्वार मुँदावौं, ल्यावो पूत घर घेरो।
जेठी धीय सासरे पठवौ ज्यूँ बहुरि न आवै फेरी॥
लहुरी धीई सबै कुल धोयौ, तब ढिग बैठन पाई।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलिकिलि सबै चुकाँई॥२२॥

शब्दार्थ–न्याइ = नहीं। जाजरौ = जर्जर। बलौड़ी = बल्ली। औलोती = अगरी। मगरी = लकड़ी। पाषे = पक्ष। दीवार। डाडी = खभा। डौ = राम। रस्सी। परहडी = परभक्ति। किलकिल = किचकिच। झझट।

अर्थ–सब मर जायेंगे। किंतु योगी नहीं मरेगा। यह सासारिक घर जर्जर हो गया है। शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त हो गया है। जिन आधारो पर यह शरीर रूपी घर सुरक्षित था उनकी बल्लियॉ टेढ़ी, अगरी अररा कर गिर रही है। मकान के सहारे के खभो को गिरने दो प्रीतिपक्ष का डॉडी लगा दी। जिस छीके पर वासना रहती थी उसे खोल दिया है। प्रेम की रस्सी बॉध दी है। जैसे युगो-युगो से इस रस्सी मे बधी थी।

यह शरीर पराये का है। नाशवान् है। विषयो के सभी प्रवेश द्वारो को बद कर दो। ज्ञान पुत्र को घेर कर घर ले आओ। माया को ससार मे भेजकर आवागमन से मुक्ति मिल गयी। भक्ति छोटी कन्या ने सभी कुल को पवित्र कर दिया। तभी वह पास बैठी है। बेचारी का भाग्य कहिए। उसने विषयो के सारे किचकिच को समाप्त कर दिया।

मन रे जागत रहिये भाई।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई॥टेक॥
षट चक्र की कनक कोठरी, बस्त भाव है सोई।
ताला कूँजी कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई॥
पंच पहरवा सोइ गये है, बसतै जागण लागी।
करत बिचार मनहीं मन उपज्यो, नाँ कहीं गया न आया॥
कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया॥२३॥

शब्दार्थ–गाफिल = असावधान। बसत = वस्तु। चोर माया के प्रतिनिधि काम, क्रोधादि। जाई = जाकर। षट चक्र = मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध। पहरवा = कामेद्रियॉ। बसतै = वस्तुएँ। ससा = सशय।

अर्थ–ऐ मन भाई, जागते रहो। असावधान मत होना। तुम्हारे घर मे काम, क्रोधादि माया-मृत्यु चोर घुस गए है। तुम्हारा शरीर छह चक्रो वाली सोने की कोठरी है। इसमे इद्रियो के ताले आदि भी लगे है। किंतु मृत्यु चोर सब को खोलकर घुस जायगा। अतिभोग के कारण इद्रियॉ शिथिल हो गयी है। किंतु कामनाएँ जागी है। कामनाएँ मन से पैदा होती है। मन मे विषय चितन करने से पैदा होती है। इसके लिए कहीं आने-जाने की जरूरत नहीं पड़ती है।

सत कबीर कहते है कि मेरा तो सारा भ्रम दूर हो गया। मैने राम रत्न पा लिया है।

चलन चलन सब को कहत है, नाँ जाँनौ बैकुंठ कहाँ है ।।टेक।।
जोजन एक प्रमिति नहिं जानै बातन ही बैकुंठ बषानै।
जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नाहीं हरि चरन निवासा।।
कहैं सुने कैसे पतिअइये, जब लग तहाँ आप नहि जइये।
कहै कबीर बहु कहिये काहि, साध संगति बैंकुंठ हि आहि।।२४।।

अर्थ–सभी लोग बैकुठ जाने की बात करते है। किंतु बैकुठ कहॉ है यह कोई नहीं जानता है। एक योजन प्रमाण कहा जाता है। किंतु यह बातो का बखान है। कोई जानता नहीं। जब तक बैकुठ की आशा है तब तक प्रभु चरणो मे भक्ति नहीं हो सकती है। कहने सुनने से कौन विश्वास करेगा? जब तक स्वय प्रत्यक्षीकरण न हो। सत कबीर कहते है। किससे क्या कहा जाय? मै तो साधु सगति को ही बैकुठ मानता हूँ।

अपने विचारि असवारी कीजे, सहज कै पाइड़े पाव जब दीजे।।टेक।।
दै मुहरा लगाँम पहिराँऊँ, सिकली जीन गगन दौराऊँ।
चलि बैकुंठ तोहि लै तारो, थकहि त प्रेम ताजनै मारूँ।।
जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेब दहूँ थै न्यारा।।२५।।

शब्दार्थ–सहज = सहज साधना। पाइड़े = पायदान। मुहरा = घोड़ेके मुँह का साज। सिकली = दृढ। ताजनै = कोड़ा। गगन = सहस्रार। नियारा = अलग।

अर्थ– अपने विचार रूपी अश्व पर सवारी कीजिए। सहजसाधना रूप पायदान पर पॉव रखकर घोड़े के मुँह मे साज के साथ सयम की लगाम लगाकर समाधि रूपी दृढ़ जीन कसकर सहस्रार (आकाश) तक दौड़ाओ। गगन दौड़ने का अर्थ है तेज दौड़ाना। बैकुठ को भी चलकर तार दो। विचार अश्व शिथिल हो तो प्रेम के कोड़ो से मार कर ठीक करो। वेद और कुरान से अलग से अलग वाले भक्त कबीर ऐसे ही सवार है।

अलंकार–सागरूपक, रूपकातिशयोक्ति।

आपनै मै रागि आपनपो जानूँ, जिहि रंगि जाँनि ताही कूँ माँनूँ।।टेक।।
अभिअंतरि मन रंग समानाँ, लोग कहै कबीर बौरानाँ।
रंग न चीन्हे मूरखि लोई, जिह रँगि रंग रह्या सब कोई।।
जे रंग कबहुँ न आवै न जाई, कहै कबीर तिहि रह्या समाई।।२६।।

अर्थ–आत्मतत्त्व के रग मे रँगने पर आत्म तत्त्व का बोध होता है। जो इस आत्म तत्त्व के रग मे रगा है मै उसी को मानता हूँ। सत कबीर का मन अतरग रग मे डूबा है। लोग समझते है कि कबीर पागल हो गया है। मूर्ख लोग आतरिक आनद (रग) को नहीं पहचानते। असली आतरिक ही है। सभी लोग किसी न किसी प्रकार इस रग मे रगे है।

किंतु कबीर दास एक ऐसे आनद मे है जो आवागमन मुक्त, परमानद एव सनातन रग है।

झगरा एक नवेरो राम, जे तुम्ह अपने जन सूँ काँम।।टेक।।
ब्रह्म बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहाँ थै आया।।
यह मन बड़ा कि जहाँ मन मानै, राम बड़ा कि रामहि जानै।

कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास॥

अर्थ—हे भगवान्, मेरे मन मे एक द्वन्द्व चल रहा है। हे प्रभु, मै तुम्हारा भक्त हूँ। यदि तुम्हे अपने भक्त का कुछ भी काम करना है तो इस द्वन्द्व का निपटारा करो। प्रश्न यह है कि ब्रह्म और ससार कर्त्ता मे कौन बड़ा है? वेद और कर्त्ता मे कौन बड़ा है? मन और जिसे मन चाहता है उनमे कौन बड़ा है? राम और राम ज्ञान मे कौन बड़ा है? मै इसे न समझने के कारण बिल्कुल उदास हूँ। तीर्थ बड़े है या भक्त बड़े है?

टिप्पणी—सत कबीर की दृष्टि मे ससार का कर्त्ता (जो ब्रह्म का भी कर्त्ता है) बड़ा है। क्योकि वह सभी नाम रूप का कर्त्ता है। वेद कर्त्ता, जिसे मन चाहता है, रामज्ञान एव भक्त बड़े है।

गोस्वामी तुलसी जी ने कहा है–

राम ते अधिक राम कर दासा। दासानुसदास ही बड़ा है।

दासानुसदास ही बड़ा है।

अलंकार—वक्रोति।

दास रामहि जानिहै रे, और न जानै कोई॥टेक॥
काजल देह सबै कोई, चषि चाहन माँहि बिनाँन।
जिनि लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवाँन॥
बहुत भगति भौसागरा, नानाँ विधि नाँनाँ भाव।
जिहि हिरदै श्रीहरि, भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठाउँ॥
दरसन सँमि का कीजिये, जौ गुननहि होत समाँन।
सींधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिल पखाँन॥२८॥

अर्थ—भक्त तो केवल राम को जानता है। और किसी को नहीं जानता है। काजल तो सभी लगाते है किंतु जिस ऑख मे विज्ञान की चाह है, जिन ऑखो ने मन को मोह लिया है वे ऑखे की प्रमाण है। सौदर्य का प्रमाण है। ससार मे अनेक प्रकार की भक्त है। भक्ति के अनेक विधि विधान और भाव है। किंतु जिस हृदय मे भगवान् है वह हृदय कहीं-कहीं है। स्वामी (राम) का दर्शन करो। दर्शन तब होता है जब भक्त मे भी भगवान् के समान गुण विकसित होते है। सैधव नमक पानी मे मिल जाता है। किंतु वैसा ही पत्थर जल मे नही मिलता है। भाव यह है कि एकता बाहर की नहीं भीतर की होनी चाहिए।

कैसे होइगा मिलावा हरि सनाँ, रे तू विषै विकारन तजि तजि मनाँ॥टेक॥
रे तै जोग जुगुति जान्याँ नहीं, तै गुर का सबद मान्याँ नाहीं।
गंदी देही देखि न फूलिये, संसार देखि न भूलिये॥
कहै कबीर मम बहु गुँनी, हरि भगति बिनाँह दुख फुनफुनी॥२९॥

अर्थ—प्रभु से मिलन कैसे होगा? अरे मन, तू तो विषय विकारो से भरा है। उनको छोड़े बिना प्रभु से कैसे भेट होगी? योग की युक्ति को जानता नहीं। गुरुदेव के शब्दो को मानता नहीं। विषयो के सेवन से देह मैली है। इस गदी देह का अहकार मत कर। नाशवान ससार को देख भूल न कर। सत कबीर ने बार-बार मन मे मनन किया। विचारा। बिना प्रभु भक्ति किये आवागमन का दुख बार-बार होगा।

कासूँ कहिये सुनि रामा, तेरा मरम न जानै कोई जी॥
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानाँ होई जी॥टेक॥
एक सकल ब्रह्मड तैं पूरिया, अरु दूजा महि थान जी॥
राम रसाइन रसिक हे अद्भुत गति बिस्तार जी॥

भ्रम निसा जो गति करे, ताहि सूझै संसार जी।
सिव सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज बास जी।
कहै कबीर पद पंक्यजा, अब नेड़ा चरण निवास जी॥३०॥

अर्थ—किससे क्या कहा-सुना जाया? हे प्रभु, कोई व्यक्ति आपके तत्त्व को नहीं जानता है। आप रहस्य भरे है। सभी विवेकी बनते है। परतु आपका भेद समझने मे कौन समर्थ है। यह किसी से छिपा नहीं है। या आपका भेद कोई खोज (छान) नहीं पाता है।

सारी सृष्टि मे तो प्रभु तुम ही हो। कोई दूसरा स्थान नहीं जो प्रभु रहित हो। जो राम प्रेमी है उनकी अद्भुत शक्ति है। वे तुम्हारी अद्भुत स्थिति को समझते है। जिसने इस भ्रम रात्रि से मुक्ति पाली है उसे ससार दिखाई पड़ता है। शिव सनाकादि, नारद, ब्रह्म ने ठीक ही तुम्हारे चरणो मे निवास किया है। तुम्हारा पद पकज अब सबके नजदीक हो गया है। सबने वहीं स्थान बनाया है।

मै डोरै जाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि जाऊँगा॥टेक॥
सूत बहुत कुछ थोरा, ताथै, लाइ ले कंथा डेरा।
कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा॥
जहाँ सूत कपास ने पूनी, तहाँ बसै इक मूनी।
उस मूनी सूँ चित्त लाऊँगा, तौ मै बहुरि न भौजलि आऊँगा॥
मेरे डंड इक छाजा, तहाँ बसै इक मूनी।
उस मूनी सूँ चित्त लाऊँगा, तौ मै बहुरि न भौजलि आऊँगा॥
मेरे डंड इक छाजा, तहाँ बसै इक राजा।
तिस राजा सूँ चित्त लाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा॥
जहाँ बहु हीरा धन मोती, तहाँ तत लाई लै जोती।
तिस जोतिहि जोति मिलाऊँगा,तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा॥
जहाँ ऊगै सुर न चंदा, तहाँ देख्या एक अनंदा।
उस आनँद सूँ लौ लाऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा॥
मूल बंध इक पावा, तहाँ सिध गणेश्वर रावाँ।
तिस मूलहि मूल मिलाऊँगा तौ मै बहुरि न भौजलि आऊँगा॥
कबीरा तालिब तेरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा।
तहाँ हेत हरि चित लाऊँगा, तो मै बहुरि न भौजलि आऊँगा॥३१॥

अर्थ—मै साधक, डोरे-डोरे, साधना के सूक्ष्ममार्ग से जाऊँगा तो पुन भवार्णव मे आना न होगा। बहुत थोड़ी साधना से समाधि की कथा तैयार की है। जब साधना की डोर समाधि कथा मे लगी तो जरा मृत्यु का भय (भौ) समाप्त हुआ। सूत, कपास, पूनी अर्थात् इद्रिय शून्य उन्मन मुनि का निवास है। उस मुनि मे ध्यान लगाने से भवार्णव मे नहीं आना होता है। जहॉ मेरुदड स्थित है वहॉ आत्मानुभव राजा रहता है। उस आत्मानुभव राजा मे ध्यान लगाने से पुन ससार मे आना नहीं होगा। जिस सहस्रार मे ज्ञान धन के मोती तथा तत्त्व की ज्योति जलती है। वह ध्यान लगने पर पुन ससार मे आना नहीं होता है। क्योकि आत्मप्रकाश से आत्म प्रकाश की भेट होती है। जहॉ सूर्यचद्र नहीं मिलते। उनका प्रकाश नहीं होता। फिर भी सदा प्रकाशानद रहता है। उस आनदके प्रति लौ लगाने पर ससारमे पुनरागमन नहीं होगा। मूलाधार चक्र के राजा गणेश है। उस मूल से मूल तत्त्व को मिलाऊँगा। तो मै पुन ससार मे नहीं आऊँगा। गुप्त या गोपीनाथ हरि मेरा गुरु और मै उसका तालिब (चाहने वाला, प्रेमी) हूँ। हरि के प्रेम मे चित्त लगाऊँ तो पुन ससार मे आना नहीं होगा।

संतौं धागा टूटा गगन बिनसि गा, सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहि निस दिन ब्यापै, कोई न कहै समझाई।।टेक।।
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुंनि नाँहि, पंचतत भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुखमन नाँही, ए गुण कहाँ समाहीं।।
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं, तहियाँ, रचनहार पुनि नाँहीं।
जीवनहार अतीत सदा संगि, ये गुण तहाँ समाँहीं।।
तूटै बँधे बँधै पनि तूटै, तब तब होई बिनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा।
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमाँनाँ।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहि समाँना।।३२।।

अर्थ—सत कबीर साहब कहते है कि ऐ सतो, जीवन श्वास का सूत्र टूट गया। साँस छूट गयी। साधना का ध्यान टूट गया। अब शब्द (नाद तत्त्व) के लिये कोई स्थान नहीं रहा। शरीर और श्वास के रहने पर ही साधना होती है तथा शब्द रहता है। जीवन के बिना शब्द की स्थिति भी नहीं है। ब्रह्माड, पिड, पचतत्त्व (पच महाभूत), इडा, पिगला, सुषुम्ना आदि भी समाप्त हो जाते है। ऐसे मे गुणो के लिए भी स्थान नहीं रहता है। घर, द्वार सृष्टिकर्ता, जीवन हरने वालो, विषयातीत, सदा सग करने वालो मे गुणो की स्थिति रहती है। विनाश के बाद भी जन्म-मृत्यु समाप्त नहीं होती। मुक्ति और बधन चलता रहता है।

ब्रह्म जो स्वामी था जीव रूप मे सेवक बन जाता है। किसी का विश्वास नहीं। कब कौन क्या बना जायगा? यदि ध्यान का धागा उन्मनी स्थिति से जुड़ जाय तो आकाश तत्त्व का कभी नाश नहीं होगा। आकाश तो शून्य है। जरा-मरणरहित है। इसलिये शून्य नित्य है। पढ़ने-लिखने से कुछ नहीं होता है। असल है भगवत्चरणो या पद साधना मे लीन होना।

ता मन कौ खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।।टेक।।
सनक सनंदन जैदेव नाँमा भगति करी मन उनहुँ न जानीं।
सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानी, मन कर गति उनहूँ नही जानी।।
धू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतर मन उनहुँ न देषा।
ता मन का कोई जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव।।
गोरष भरतरी गोपीचंदा, ता मन सौ मिलि करै अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा ता पन सौ मिलि रहा कबीरा।।३३।।

विशेष—मन ही मुख्य है। मन भी दो प्रकार का है–समना और उन्मना। समना सासारिक धधो मे फँसा मन है। पवन का प्रवेश जब सुषुमना मे होता है तब मन भी उसमे प्रवेश करता है जिससे उन्मना की सिद्धि होती है।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि उस मन की खोज करनी चाहिए जो शरीर मे रहकर भी शरीर मुक्त हो। शरीर छूटने पर अर्थात् मृत्यु के बाद भी जिसका नाश न हो। उन्मना का कभी नाश नहीं होता है। सनक, सनदन, जयदेव, नामदेव आदि ने भक्ति की। किंतु उस मन को वे भी नहीं जान सके। शिव, ब्रह्मा, नारद आदि ज्ञानी मुनियो को भी उस मन का पता न लगा। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, शेषनाग ने भी तन के भीतर रहने वाले मन को नहीं देखा है। उस मन को जानने मे थोड़ी सफलता मुनि शुकदेव को मिली।

गोरखनाथ, गोपीचन्द आदि योगी उस मन से मिलकर आनद करते है। वह आनद करते है। अखड, असीम एव विषयो की कालिमा से मुक्ति ही संत कबीर का ध्येय है। वे उससे मिल गये है।

टिप्पणी—सत कबीर ने मन के समान ही साधको के दो भेद किये है। एक सगुण और शास्त्रवद्ध साधक भक्त है। उन्हे मन की गति समझ मे नहीं आती है। दूसरे निगुण योगी है जो मन की गति और भेद को समझते है।

भाई रे बिरले दोसत कबीर के, यहु तत बार बार कासों कहिए।
भानण घड़ण सँवारण संम्रथ, ज्यूँ राषै त्यूँ रहिए ॥टेक॥
आलम दुनों सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानाँ।
छह दरसन छ्यनवै पाषंड, आकुल किन्हुँ न जानाँ॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरनाँ।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानाँ, मनहीं मन न समानाँ॥
कहै कबीर जोगी अरु, जंगम ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा ॥३४॥

शब्दार्थ—घड़ण = गढ़ना। भानण = भग्न करना। आलम = ससार। अयानॉ = अज्ञान। छहदरसन = षट्दर्शन = साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा (पूर्व), वेदात (उत्तर मीमासा)। छ्यानबै पाषड = योगी १२, जगम १६,, शेवड़ा २४, सन्यासी १०, दरवेश १४, ब्राह्मण १८। जोतिग = दीपक जलाना या ज्योतिष। योगी = नाथपथी (?)। जगम = कर्नाटक के लिगायतो का एक सप्रदाय। यह लिगोपासक होता है। चात्रिग = चातक। निहचै = निश्चय।

अर्थ—बिरले ही व्यक्ति कबीर की साधना के साथी होगे। यह बात इतनी कठिन और सूक्ष्म है कि कोई समझने वाला नहीं है। जो प्रभु, नाश, निर्माण और सजाने मे समर्थ है वह जैसे चाहे वैसे रहना होगा। इसलोक एव परलोक सर्वत्र खोज लिया, भगवान के बिना सब कुछ अज्ञान भरा है। छह दर्शन और छियानवे साधना-सम्प्रदाय सब पाखड है। ये सभी ईश्वर को जानने के लिए आकुल है अवश्य। किंतु ईश्वर को कोई जानता नहीं।

ससार के सारे लोग जप, तप, सयम, पूजा, अर्चना, आरती करते है। उसी मे पागल है। शास्त्र लिखकर भूले है। किंतु मन को मन मे समाहित नहीं करते है।

सत कबीर कहते है, योगी और जगम इनसे किसी आशा की पूर्ति झूठी आशा है। सद्गुरु की कृपा से चातक के समान प्रभु की अखड भक्ति करो।

अलंकार—चात्रिक ज्यूं मे उपमा।

कितेक सिव संकर गए ऊठि, राम समाधि अजहूँ नहि छूटि ॥टेक॥
प्रलै काल कहूँ कितेक भाष, गये इंदरो अगणित लाष।
ब्रह्मा खोजि पर्‍यो गहि नाल, कहै कबीर वै राम निराल ॥३५॥

अर्थ—राम ब्रह्म है। शिव-शकर देवता है। कितनी ही बार शिव-शकर आये-गये। किंतु ब्रह्म राम आज भी समाधिस्थ है। क्योकि वे सनातन है। प्रलय के बारे मे क्या कहा जाय? केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अनगिनत लाखो इद्र प्रलय मे विलीन हो गये। ब्रह्मा कमल नाल मे राम को खोजते रहे। किंतु निराले राम से कहॉ भेट होती?

अव्यंत व्यंत ए माधौ, सो सब माँहि समानाँ।
ताहि छाड़ि जे आँन भजत है, ते सब भ्रंमि भुलाँनाँ ॥टेक॥
ईस कहै मै ध्यान न जानूँ, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणाँ कारणि केसो, नाम धारण कौ तोहीं॥
कहौ धौ सबद कहाँ थै आवे, अरु फिर कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यंड मुकति कहाँ ले कीजै, जो पद मुकति न होई।

प्यैडे मुकति कहतेहै मुनिजन, सबद अतीत था सोई॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट,सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमानंद मनाये, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥३६॥

शब्दार्थ—ईस = ईश्वर। शिव। थै = से। ए = यह।

अर्थ—अचितनीय एव चितनीय प्रभु सब के भीतर है। इस प्रभु को छोड़कर जो दूसरे का भजन करते है वे सभी भ्रम मे है। शकर जी कहते है कि निज (अपने) प्रभु के चरण मेरे लिये दुर्लभ है। मै उनका ठीक ध्यान नहीं जानता हूँ। प्रभु की थोड़ी से दया के कारण ही मै उनका नामस्मरण करता हूँ।

शब्द कहॉ से आता है? कहॉ समाता है? प्रभु तो इस शब्द से भी अतीत है। उनका रहस्य कोई नहीं जानता है। सारी दुनिया भ्रम मे है।

शरीर की मुक्ति व्यर्थ है। जब तक प्रभु चरण मे लीनता रूप मुक्ति न हो जाय। मुनि लोग पिड की मुक्ति ही कहते है। किंतु यह तो शब्दो से नहीं जाना जा सकता है। जो गुप्त और प्रगट है वह कैसे छिपकर रहेगा। बिना ईश्वरकी कृपाके अकथनी कथनी नहीं हो सकती है।

सो कछू विचारहु पंडित लोई, जाकै रूप न रेष बरण नहीं कोई॥टेक॥
उपजै प्यंड प्रान कहाँ थै आवै, मूवा जीव जाई कहाँ समावै।
इंद्री कहाँ करिहि विश्रामा, सो कत गया जो कहता रामा॥
पंचतत तहाँ सबद न स्वादं, अलख निरंजन विद्या न बादं।
कहै कबीर मन मनहि समानाँ, तब आगम निगम झूठ करि जानाँ॥३७॥

अर्थ—पडित लोग उस तत्त्व पर विचार करो जिसके रूप, वर्ण, रेखा आदि नहीं है। जो निराकार है। यह शरीर पिड कैसे उपजता है? जड़ शरीर मे प्राण कहॉ से आता है? मृत्यु के बाद जीव कहॉ जाता है? इद्रियॉ कहॉ विश्राम करती है? राम कहने वाली वाक्‌शक्ति कहॉ चली गयी? अलख निरजन प्रभु वहॉ बसता है? जहॉ न पचतत्त्व है। न शब्द है, न स्वाद है, न विद्या है, न वाद है। सत कबीर कहते है कि जब मन मन मे समाहित होता है तब आगम-निगम झूठ लगने लगते है।

जौं पै बीज रूप भगवाना, तौ पंडित का कथिसि गियाना॥टेक॥
नहीं तन नहीं मन अहंकारा नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा।
विष अमृत फल फले अनेक, बेद रु बोधक है तरु एक॥
कहै कबीर इहै मन माना, कहिधूँ छूट कवन उरझाना॥३८॥

अर्थ—मूल तो भगवान् है। फिर पडित लोग और किससे ज्ञान की बात कहते है? तन, मन, अहकार, सत्, रज, तम ये सब मूल नहीं है। वेद कहते है कि सब एक वृक्ष (भगवान्) के विकास है। इसमे बुरे-अच्छे (विष अमृत) फल लगे है। मन इस वृक्ष की माया मे उलझा है। कहो, कैसे करके छूट सकेगा?

पाँडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी॥टेक॥
वेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसे भरा।
राम नाम तत समझत नाँहीं, अंति पड़ै मुखि छारा॥
वेद पढ्याँ का यहु फल पाँडे, सब घटि देखै रामा।
जन्म मरन थै तो तूँ छूटै, सुफल हूँहि सब काँमाँ॥
जीव बधत अरू धरम कहत हौ, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहो कसाई॥
नारद कहै व्यास यौ भाषै, सुखदेव पूछो जाई।

कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ राम ल्यौ लाई ॥३९॥

अर्थ–सत कबीर कहते है कि हे पडित, तुम कुमति मे पड़े हो। इसी से राम नाम जैसा सीधा मत्र न जप कर बिना वेद-पुराण पढ़ते हो। वेद-पुराण तुम पर भार बने है जैसे गधे पर चदन लदा हो। वेद तत्त्व और रामतत्त्व दोनो तुम नहीं समझते हो। फलत अत मे तुम्हारे मुँह मे धूळ पड़ेगी। वेद पढ़ने का फल हरएक मे राम का दर्शन है। तभी जन्म-मरण छूटते है। कामनाएँ फलती है। जीब हत्याको धर्म कहते हो तो अधर्म क्या है? स्वय तो मुनि हो तो कसाई कौन है? नारद, व्यास, शुकदेव से जाकर पूछो। वे बताते है कि राम मे लव लगाओ। तभी कुमति छूटेगी।

टिप्पणी–नारद (भक्ति सूत्र) व्यास (पुराण) आर शुकदेव (भागवत) तीनो के आचार्य है।

पंडित बाद बदंते झूठा। राम कह्याँ दुनियाँ गति पावै, षाँड कह्याँ मुख मीठा ॥टेक॥

पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ॥
नरक के साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाई जंगल मे, बहुरि न सूरतै आनै ॥
साची प्रीति विषै माया सूँ, हरि भगतनि सूँ हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यो बाँध्यो जमपुरि जासी ॥४०॥

अर्थ–पडित झूठी बात बोलते हो। मात्र राम कहने से मुक्ति नहीं मिलती है। जैसे मीठा कहने से मुँह नहीं मीठा होता है। आग कहने से पैर नहीं जलता। जल नाम लेने से प्यास नहीं बुझती है। भोजन कहने से भूख नहीं भागती है। ऐसा होता तो सभी मुक्त हो जाते। मनुष्य के साथ सुग्गा भी राम-राम रटता है। किंतु वह प्रभु की महिमा नहीं जानता है। जब कभी जगल मे उड़ जाता है तो कभी ईश्वर का नाम ध्यान मे हीं आता है।

जिनके हृदय मे विषयो के प्रति सच्चा प्रेम है वे सतो एवं हरिभक्तो को मजाक समझते है। सत कबीर कहते है कि प्रभु प्रेम न होने के कारण मनुष्य सीधा यमपुर जायगा।

जे पै करता बरण बिचारै, तौ जनमत तीनि डाँड़ि किन सारै ॥टेक॥
उतपति व्यंद कहाँ थै आया, तो धरी अरु लागी माया।
नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।
जे तूँ बाभन बभनी जाया, तो आँनबाट ह्वै काहे न आया।
जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया ॥
कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सौ मधिम जा मुखि राम न होई ॥४१॥

शब्दार्थ–तीनि डॉड़ि = भस्म की तीन लकीरे। रारना = बनाना। पूरा करना। व्यद = वीर्य। को = कोई। प्यड = शरीर। सींचा = सिचित। जाया = उत्पन्न। ऑन = अन्य। जा = जिसके। मधिम = छोटा।

अर्थ–ईश्वर के यहॉ वर्ण व्यवस्था नहीं है। अगर ईश्वर ने वर्ण व्यवस्था बनायी होती तो द्विजो के माथे पर जन्म से ही तीन रेखाओ का तिलक होता। जिस वीर्य से मनुष्य की उत्पत्ति होती है वह कहॉ से आया है? उसमे माया का प्रवेश कैसे हुआ। न कोई नीचा है। न कोई ऊँचा है। सभी शरीर ईश्वर के वीर्य से सिचत है। क्योकि सारे शरीर उसी के है

अगर ब्राह्मण ब्राह्मणी से उत्पन्न है तो वह भी वैसे ही पैदा हुआ है जैसे दूसरी जातियाँ। मुसलमान जन्म से होता तो उसका खतना गर्भ मे ही हो जाता।

ससार मे कोई छोटा नहीं है। छोटा वह है जिसके मुँह मे राम-रोम का उच्चारण नहीं है।

कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई ।।टेक।।
जैसे अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूँ दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यान विचार ।।
देही माटी बोलै बवनाँ, बूझि रे ज्ञानी मूवा स कौनाँ।
मुई सुरति बाद अंहकार, वह न मुवा जो बोलणहार।
जिस कारनि तटि तीरथि जाँहीं, रतन पदारथ घटहीं माहीं।
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद वषाँणै, भीतरि हुती बसत न जाँणै ।।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जरता नजरि न आया ।।४२।।

अर्थ–कहने बोलने और सुनने से नहीं, आत्म विचार से ज्ञानी होता है। जैसे आग और हवा एक दूसरे को प्रभावित करते है वैसे ही यह ससार चचल बुद्धि का खेल है। इस शरीर मे सामान्यत नव छिद्र (दरवाजे) है। दशम ब्रह्मरध्र है। इसे विचारक ज्ञानी ही समझते है।

मिट्टी के शरीर मे हवा (प्राण) बोलती है। अब सवाल है, इसमे मृत्यु किसकी होती है? मिट्टी वाली देह की या पवन प्राण की? सुरति (स्मृति) एव अहकार वाद की मृत्यु हो गयी किंतु वह नहीं मरा जा बोल रहा था। जो मूल तत्त्व था।

जिस ईश्वर के लिये तुम तीर्थो, नदी किनारे मे जाते हो वह प्रभु तो तुम्हारे हृदय मे ही विराज रहा है। विद्वान लोग पढ़-पढ़ कर वेदो का वर्णन करते है किंतु भीतर के परम तत्त्व से अपरिचित है। मै नहीं मरा। मेरी बला मरी। वह जो हमारे भीतर है उसकी मृत्यु नहीं हुई।

सत कबीर कहते है कि गुरु ने ब्रह्म का दर्शन करा दिया। अब न कोई मरता है। न जलता है। क्योकि मरना जलना दोनो माया के खेल थे।

हम न मरै मरिहै संसारा, हँम कूँ मिल्या जियानवहारा ।।टेक।।
अब न मरौ मरनै मन माँना, ते नर मुए जिनि राम न जाँना।
साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि राम रसाइन पीवै ।।
हरि मरिहै तौ हमहूँ मरिहै, हरि न मरै हँम काहे कूँ मरिहै।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा ।।४३।।

अर्थ–हम भक्त की मृत्यु नहीं होगी। बावजूद इसके कि यह ससार नाशवान् है। ससार मे मुझे जिलाने वाले प्रभु मिल गए है। मै अब नहीं मरूँगा। मन ने विषयो से मृत्यु प्राप्त कर ली है। विषयो के प्रति मन का लगाव समाप्त होकर राम के प्रति लग गया है। मरते वे है जो राम को नही जानते हैं। शाक्त विषयासक्त मरता है। सत जीते है। सत राम रसायन (जीवित रहने की औषधि) पीते है। खूब पीते है। राम रसायन के सेवन से भक्त भगवान् हो गया। भगवान् तो मरते नहीं, तो भक्त कैसे मरेगा।

जो मन को मत्त मे मिला देता है वह अमर हो जाता है। वह सुख का समुद्र पा जाता है।

कौन मरै कौन जनमै आई, सरग नरक कौने गति पाई ।।टेक।।
पंचतत अविगत थै उतपनाँ, एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समाँनाँ, रेख रही नहीं आसा ।।
जल मै कुंभ कुंभ मै जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समानाँ, यह तत कथौ गियानी ।।
आदे गगनाँ अंतै गगना मधे गगनाँ भाई ।।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी सकं उपाई ।।४४।।

अर्थ–सत कबीर कहते है कि जन्म, मृत्यु, स्वर्ग-नरक प्राप्ति ये सब किसके होते है? वह कौन तत्त्व है? पाँचो तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) एक ही अविगत प्रभु मे स्थित

है। वे उसी से उत्पन्न होते है। वे फिर उसी मे विलीन होते है। ऐसे विलीन होते है कि उनका चिह्न भी दिखाई नही पड़ता है। ब्रह्म और तत्त्व एक है।

जैसे घड़े और नदी का पानी अलग दीखता है। बावजूद इसके भरा घड़ा पानी मे ही है। किंतु घट फूटते ही दोनो पानी एक हो जाते है। जल जल मे मिल जाता है। आदि, मध्य, अत सर्वत्र ही आकाश तत्त्व फैला है। उसी प्रकार सर्वत्र परमात्म तत्त्व विराज रहा है। शुद्ध चैनन्य को कोई कर्म बधित नहीं करता है। ये जन्म, मरण, सुख, दुख कर्म के अग है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कौन मरै कहू पंडित जनाँ, सो समझाइ कहौ हम सनाँ ॥टेक॥
माटी माटी रही समाइ, पवनै पवन लिया सँग लाइ।
कहे कबीर सुंनि पंडित गुनी, रूप मूवा सब देखै दुनीं ॥४५॥

अर्थ—पडित जन मुझे समझाकर कहो कि मृत्यु किसकी होती है? मिट्टी, हवा आदि पॉच तत्त्वो से बना यह शरीर पुन इन्हीं मे विलीन हो जाता है। दुनिया देखती है कि रूप मरता है। न कि रूप के पीछे रहने वाली आत्मा का नाश होता है।

जे को मरै मरन है मीठा, गुरु परसादि जिनहीं मरि दीठा ॥टेक॥
मुवा करता मुई ज करनी, मुई नारि सुरति बहु घरनी।
मूवा आपा मूवा माँन, परपंच लेइ मूवा अभिमाँन॥
राम रमे रमि जे जन मूवा, कहै कबीर अविनासी हुआ ॥४६॥

अर्थ—मरना अत्यत मीठा है। यदि किसी ने गुरु की कृपा से मृत्यु को देख लिया है। कर्त्तापन का अहकार मरता है। कर्म भावना मरती है। शरीर और ससार के प्रति लगाव की स्मृति मरती है अथवा सुदर घरनी का सौदर्य मरता है। अहकार, मान, प्रपच के साथ अभिमान मरता है। राम मे रमण कर जो व्यक्ति मरता है वह नाशरहित अविनाशी प्रभु हो जाता है।

तुल०—श्याम सम सुकुमार तुम प्रियतम मरण हे, मरण मेरे।—आरसी।

जस तूं तस तोहि कोइ न जान, लोग कहै सब आनहि आँन ॥टेक॥
चारि बेद चहुँ मत का विचार, इहि भ्रंमि भूलि पर्‌यो संसार।
सुरति सुमृति दोई कौ बिसवास, बाझि पर्‌यौ सब आसा पास॥
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मै बपुरौ धूँका मै का कर।
जिहि तुम्ह तारौ सोई पै तिरई, कहै कबीर ताँतर बाँध्यौ मरई ॥४७॥

अर्थ—हे प्रभु, तुम्हारे सही रूप को कोई नहीं जानता है। लोग दूसरा ही दूसरा कहते है। चारो वेदो के चार मत है। सारा ससार इन्हीं मे भूला है। श्रुति-स्मृति के आशा-विश्वास मे लोग फॉस लिए गये है। ब्रह्मादि, सनकादि, सुरनर सब बेचारे कहते है कि मै क्या कर सकता हूँ? हे प्रभु, जिसे कृपा कर तारते हो वह तरता है। वरना बधा मरता है।

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन कहौ धुं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहाँ थो रे ॥टेक॥
अबिनासी उपजे नहि बिनसै, संत सुजस कहै ताकौ रे॥
लष चौरासी जीव जंत मै भ्रमत नंद थाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताकौ रे ॥४८॥

अर्थ—लोग कृष्णको नदका पुत्र कहते है। यह बताओ कि नद किसके पुत्र है? जब धरती और आकाश की भी सृष्टि नहीं हुई थी तब यह नद कहाँ थे? जिसका नाम निरजन है वही जन्मता है और मरता है। अविनाशी जन्म मृत्यु विहीन है। इसीलिये कृष्ण को नद बालक कहना

ठीक नहीं। नद बालक कहने से कृष्ण की भगवत्ता खडित होती है। चौरासी लाख जीव योनि मे घूमते-घूमते नद थक गए है। कबीर दास के प्रभु ऐसे अजन्मा और अविनाशी है कि हरि भी उसकी भक्ति करते है।

निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई, अविगति की गति लखी न जाई ।।टेक।।

चारि बेद जाकै सुमृत नौ व्याकरनाँ मरम न जाँनाँ।।
चारि वेद जाकै गरड समाँनाँ, चरन कवल कँवला नहीं जाँनाँ।।
कहै कबीर जाकै भेदै नाँही, निज जन बैठे हरि की छाहीं।।४९।।

अर्थ—अरे भाई, निर्गुण राम की उपासना करो। जिस अविगत प्रभु की गति देखी नही जा सकती है। चार वेद, स्मृतियाँ, पुराण, नौ व्याकरण आदि जिसके मर्म को नहीं जानते है। जिस भक्त के हृदय मे भेद नहीं है। अद्वैत भाव है वह प्रभु की छाया मे बैठता है।

मै सबनि मै औरनि मै हूँ सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ।।टेक।।
ना हम बार बूढ नाही हम ना हमरै चिलकाई हो।
पठए न जाऊँ अरवा नहीं आऊँ सहजि रहूँ हरिआई हो।।
बोढ़न हमरे एक पछेवरा, लोक बोलै इकताई हो।।
जुलहे तनि बुनि पाँनि न पावल, फार बुनी दस ठाँउ हो।।
त्रिगुँण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नाँउ राम राई हो।
जग मै देखौ जग न देखे मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो।।५०।।

शब्दार्थ—चिलकाई= बच्चा। इकताई = एक तार का बुना।

अर्थ—सब मे मै ही हूँ। औरो मे भी हूँ। लोग मुझे अलग-अलग ढग से कहते है। कोई कबीर, कोई राम कहता है। मै बच्चा बूढ़ा नहीं हूँ। मेरे बच्चे भी नहीं है। भेजने पर नहीं जाता। यो ही नहीं आता। सहज प्रसन्न रहता हूँ। शरीर ही मेरा एक मात्र ओढ़ना है। लोग इसे एक तार का बुना कहते है। एक ही तत्त्व से बना है। जुलाहे (प्रभु) ने जब इसे तानबुन कर भी बाजार (पण्य > पॉनि) न पाकर इसे दस स्थान से फाड़ कर बुन दिया। शरीर के दस छिद्र है। हम त्रिगुण के फल से मुक्त है। अर्थात् त्रिगुण का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं है। इसी से हम राजा राम कहलाते है।

मै द्रष्टा सारे ससार को देखता हूँ। किंतु ससार मुझे नहीं देखता है। सत कबीर ने ऐसा ही ज्ञान पाया है।

लोगा जानि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक मै खलिक, सब घट रह्यौ समाई।।टेक।।
अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थै सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा।।
ता अला की गति नहीं जाँनी गुरि गुड़ दीया मीठा।
कहै कबीर मै पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा।।५१।।

शब्दार्थ—खालिक = ईश्वर। खलक = सृष्टि। ससार। नूर = ज्योति। कुदरत। प्रकृति। बदे = दास। सेवक। दीठा = दृष्ट। देखा।

अर्थ—लोगो, भूलो मत। ईश्वर और उसकी सृष्टि एक दूसरे से सम्बद्ध है। सृष्टि ईश्वर और ईश्वर सृष्टि मे है। व्यष्टि और विराट् का सबध है। सभी शरीर और हृदय मे ईश्वर है। ईश्वर

के हृदय मे सब है। अल्लाह की एक ज्योति से सब पैदा हुए है। इसमे किसी की कैसी निंदा? सभी एक ही प्रकाश से उत्पन्न है। न कोई भला और न बुरा है। सृष्टि कर्त्ता की गति को कोई नहीं जानता है। गुरुदेव के शिक्षाप्रद मीठे उपदेशो द्वारा ही वह जाना जा सकता है। सत कबीर कहते है कि मैने पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है। सभी शरीरो मे राम का दर्शन हो रहा है।

राम मोहीं तारि काहाँ लै जैहो।
सौ बैकुंठ कहौ धूँ कैसा, करि पसाव मोहि देहौ ॥टेक॥
जे मेरे जीव दोई जाँनत हौ, तो मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं, तौ काहे भरमावौ ॥
तारण तिरण जबै लग कहिये, तब लग तत्त न जाना ॥
एक राम देख्या सबहिन मै कहै कबीर मन माँनाँ ॥५२॥

अर्थ—हे राम, मुझे मुक्त करके कहाँ ले जाओगे? जिस बैकुंठ को कृपाकर (पसाव) तुम मुझे देना चाहते हो वह पता नही कैसा है? मुक्ति तो मुझे तब चाहिए थी जब मेरा जीव और आप एक नही थे। तरने-तारने की बात तभी तक होगी जब तक तत्त्वबोध न हो। सभी प्राणियो मे एक ही राम विराजमान हैं। कबीर के मन मे यह विश्वास हो गया है।

सोहं हंसा एक समान, काया के गुँण आँनही आन ॥टेक॥
माटी एक सकल संसारा, बहुविधि भाँडे घड़ै कुँभारा।
पंचा बरन दस दुहिये गाई, एक दूध देखो पतिआई ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि त्रिभुवननाथ रह्या भरपूर ॥५३॥

अर्थ—हस और स' अहम् (सोहऽम्) एक ही है और शरीर से भिन्न है। शरीर के अलग अलग गुण है। विधाता ने सारे ससार को एक ही प्रकार की मिट्टीसे बनाया है। सब एक हैं।

क्या पाँच वर्णो की गाये अलग-अलग रग का दूध देगी? जैसे सभी गायो का दूध एक रग का होता है वैसे ही सभी मनुष्यो मे आतरिक समानता है।

सत कबीर कहते है कि सशय दूर करो। सारे ससार मे प्रभु विराजमान है।

प्यारे राम मनहीं मनौं, कासू कहूँ कहन कौं नाहीं, दूसरा और जनाँ ॥टेक॥
ज्यूँ दरपन प्रतिब्यंब देखिये आप दवासूँ सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै, महा प्रलै जब होई ॥
जो रिझऊँ तौ महा कठिन है, बिन रिझयै थै सब खोटी।
कहै कबीर तरक दोइ साधैं, ताकी मति है मोटी ॥५४॥

अर्थ—ईश्वर को मन मे ही समझना है। किससे कहूँ और कौन है? सब तो राममय है। जैसे एक ही रूप शीशे मे दूसरा दीखता है उसी प्रकार एक ही प्रभु सृष्टि दर्पण मे भिन्न-भिन्न दीखता है। महाप्रलय मे यह विभिन्नता पुन एकता मे बदल जाती है। प्रभु को प्रसन्न करना अत्यत कठिन है। कितु बिना प्रसन्न किये भी बुराई है।

सत कबीर कहते है कि दो का तर्क ठीक नहीं है। सारी सृष्टि मे एक ही प्रभु का तर्क ठीक है। खोटी बुद्धि वाले दो (अनेक) का तर्क देते है।

अलंकार—उपमा।

हम तौ एक एक करि जाँनाँ।
दोइ कहै तिनहीं कौ दोजग, जिन नाँहनि पहिचाना ॥टेक॥
एकै पवन एक ही पानी, एक जाति संसारा ॥
जैसी बाढ़ी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई ॥
सब घटि अंतरि तूँहीं व्यापक धरै सरूपै सोई।

माया मोहे अर्थ देखि करि, कहै कूँ गरबाँनाँ।
निरभै भया कछू नाहीं ब्यापै, कहै कबीर दिवाँनाँ ॥५५॥

अर्थ–हमने प्रभु को एक ही जाना। सारी सृष्टि उसी एक का विस्तार है। सबक मे वही एक है। दो (अनेक) कहने वाला नरक जायगा। वे लोग सत्य को नहीं पहचानते है। हवा, पानी आदि सब एक ही है। सब की जाति एक है। एक ही विधाता ने एक ही मिट्टी से सारे लोगो का निर्माण किया है। जैसे बढ़ई लकड़ियॉ काटता है। आग नहीं काटता है।

हे प्रभु, सभी लोगो मे तुम्हीं हो। तुमने ही स्वरूप धारण किया है। धन और माया मोह को देखकर गर्व नहीं करना चाहिए। सत कबीर दीवाने है। अभय है। दुख-सुख मुक्त है।

उदाहरण–

अरे भाई दोई कहा सो मोहि बतायौ; बिचिही भरम का भेद लगावौ ॥टेक॥
जोनि उपाई रची द्वै धरती दीन एक बीच भई करनीं।
कहै कबीर चेतहु रे भौंदू, बोलनहारार तुरक न हिंदू ॥५६॥

अर्थ–भ्रम फैलानेवाले लोग द्वैत की बाते करते है। यौनियॉ, दो धरती और अलग-अलग धर्म (दीन) ये सब बीच के काम है। मूलत राम रहीम एक है। जैसे माला और तसबी एक है।

सत कबीर कहते है कि भोदू (मूर्ख), समझो। बोलनेवाला प्रभु न हिदु है। न मुसलमान है।

ऐसा भेद बिगूचन भारी, बेद कतेब दीन अरु दुनियाँ, कौन पुरिष कौन नारी ॥टेक॥

एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थै सब उतपनाँ, कौन बाँह्मन कौन सूदा ॥
माटी का प्यंड सहजि उतपनाँ, नाद रु ब्यंद समाँनाँ।
बिनसि गयाँ थै का नाँव धरिहौ, पढ़ि गुनि हरि भ्रँम जाँना ॥
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई।
कहै कबीर एक राम जपहुँ रे, हिंदु तुरक न कोई ॥५७॥

शब्दार्थ–बिगूचन = विकुचन। बाधा। कतेब = कुरान। उतपनॉ = उत्पन्न। सूदा = शूद्र। प्यड = शरीर। नादरु व्यद = रज और वीर्य।

अर्थ–वेद और कुरान ने बाधा उत्पन्न की है। ये ग्रथ मानवी एकता मे बाधक है। मनुष्य एक वीर्य, एक मल-मूत्र, चाम, गूदा वाला है। ये सभी वस्तुऍ एक से उत्पन्न है। रजवीर्य की समानता है। मृत्यु के बाद नाम भी नहीं धरा जाता। नाम उसी का रखते है जो रूप मे जीवित है। पढ़ने-लिखने मे भ्रम होता है।

ब्रह्मा रजोगुणी, रुद्र तमोगुणी और विष्णु सतो गुणी है। कबीर के राम गुणो से परे निर्गुण है। भगवान् का कोई सप्रदाय नही है। हिदू-मुसलमान का भेद भी नकली है।

हँमारे राम रहीम करीमा केसो, अलाह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ॥टेक॥
इनकै काजी मुलाँ पीर पैकंबर रोजा पछिम निवाजा ॥
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा ॥
तुरकक मसीति देहुरै हिंदू, दहूठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं, तहाँ काकी ठकुराई ॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।

अरध उरध दसहुँ दिस जित तित, पूरि रह्या राम राई॥
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
हिंदु तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥५८॥

शब्दार्थ—रहीम = दयालु। करीम = कृपायुक्त । सति = सत्य। बिसमिल = भगवान्। ईश्वर। बिसभर = विश्वभर। मुर्ला = मुल्ला। पीर। काजी = न्याय करने वाला। पैकदर = पैगम्बर। रोजा निवाज = व्रत तथा नमाज। दिवाजा = आरती। दीपार्चना। देहुरै = दरवाजा। दूहँठा। = दोनो स्थानो पर। काकी = किसकी। रह = राह। तूटी = त्रुटि। कनराई = किनारेवाली।

अर्थ—राम, रहीम, करीम, केशव, अलाह आदि सभी सत्य है। विसमिल्लाह और विश्वभर एक है। दूसरा कोई नहीं है। काजी, मुल्ला, पीर पैगम्बर रोजा, पश्चिम दिशा मे नवाज आद करना तथा पूर्व मे पूजा, एकादशी व्रत, गगा मे दीपदान या स्वर्गिक पूजा सब एक है। मुसलमान मस्जिद और हिंदू मदिर जाते है। दोनो स्थानो पर ईश्वर है। किंतु उस निराकार स्थान का विचार करो, जहॉ न मदिर है, न मस्जिद है। वहॉ का मालिक कौन है?

नीचे ऊपर दसो दिशाओ मे राम का राज्य है। सारी सृष्टि प्रभु पूर्ण है। फकीर अपने प्रभु की राह पर चलते है।

हिंदू मुसलमान का सृष्टिकर्त्ता एक ही प्रभु है। उस प्रभु की गति लखी नहीं जा सकती है।

काजी कौन कतेब बषाँनै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जांनै॥टेक॥
सकति सेनेह पकरि करि सुंनति, बहु नबदूँ रे भाई।
और षुदाई तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई॥
हौ तौ तुरक किया करि सुंनति औरति सौ का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये।
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी, खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति को, काजी रहै झष मारी॥५९॥

शब्दार्थ—सकति = शक्ति। सुनति = ख़तना।

अर्थ—ऐ काजी, किस किताब की वात करते हो? इतने दिनो से पढ़ रहे हो। किंतु अभी तक उसका तत्त्व समझ मे नहीं आया है। शक्ति और प्रेम से सुन्नत और अनेक प्रकार की वदना करते हो। समझते हो कि इससे कोई व्यक्ति मुसलमान हो जाता है। यदि पभु ने मुझे मुसलमान बनाया होता तो खतना स्वय हो जाता। पुरुष का तो सुन्नत कर दोगे। किंतु स्त्री तो हिंदू ही रह जायगी। क्योकि उसका खतना नहीं हो सकता है।

ऐ काजी, किताब और जिबह करना छोड़ो। हत्या करना धर्म नहीं है। सत कबीर ने भक्ति की टेक पकड़ी है। काजी माथा पटक रहा है।

अलंकार—विशेषोक्ति, वक्रोक्ति।

मुलाँ कहाँ पुकारै दूरि, राम रहीम रह्या भरपूरि॥टेक॥
यहु तौ अलह गूँगा नाँहीं देखै खलक दूनीं दिल माँहीं।
हरि गुँन गाइ बंग मै दीन्हाँ, काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हाँ।
कहै कबीर यह मुलना झूठा, राम रहीम सबनि मै दीठा॥६०॥

अर्थ—ऐ भाई, मुल्ला क्यो दूर पुकारते हो? राम-रहीम तुम्हारे भीतर भरे है। अल्लाह गूँगा नहीं है। उस प्रभु को सृष्टि, ससार और दिल मे देखो। मै कबीर प्रभु के गुण गाकर बॉग पूरा करता हूँ। जिबह के स्थान पर काम, क्रोध दोनो की बलि चढ़ाता हूँ। यह मुल्ला झूठा है। राम रहीम सभी मे दिखाई पड़ते है।

पढ़ि ले काजी बंग निवाजा, एक मसीति दसौ दरवाजा ।।टेक।।
मन करि मका कबिला करि देही बोलनहार जगत गुर येही ।।
उहाँ न दोजग भिस्त मुकाँमाँ, इहाँ ही राम इहाँ रहिमाँना ।।
बिसमल ताँमस भरम कै दूरी, पँचूँ भयि ज्यूँ होई सबूरी ।।
कहै कबीर मैं भया दिवाँनाँ मनवाँ मुसि मुसि सहज समानाँ ।।६१।।

अर्थ—ऐ काजी, तुम केवल बॉग और नमाज का अध्ययन करो। एक मस्जिद (देह) के दस दरवाजे (इद्रियॉ) है। उसमे मन मक्का है और देह को पश्चिम दिशा बनाकर उपासना करता हूँ। गुरुदेव ही बोलते है। साधना की उच्चभूमिका पर पहुँचने पर स्वर्ग-नरक दोनों नहीं है। राम-रहीम का द्वन्द्ध दुनिया मे ही है। बलि तामस है। यह पूजा है। इस भ्रम को दूर करो। इस पॉचो (काम, क्रोध, लोग, मोह, मद) का भ्रम दूर हो जायगा।

सत कबीर रामप्रेम मे दीवाने है। मन पुस्कुरा-मुस्कुरा कर सहज समाधि मे समा गया है। समाधिस्थ है।

मुलाँ करि ल्यौ न्याव खदाई; इहि बिधि जीव का भरम न जाई ।।टेक।।
सरजी आँनै देह बिनासै, माटी बिसमल कीता।
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता ।।
बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा झूठा जोन बिचारै ।
सब घटि एक एक करि जाँनै, भौ दूजा करि मारै ।।
कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक हक करि बोलै।
सबै जीव साइं के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै ।।
दिल नहीं पाक नहीं चीन्हाँ, उसदा षोज न जाँनाँ ।।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजग ही मन माँनाँ ।।६२ ।।

शब्दार्थ—मुलॉ = मुल्ला। ल्यौ = लौ। सरजी = सृजी। रची। आनै = अन्य। बिसमल = हलाल। बलि। कीता = किया। कृत । माटी = शरीर। हलाल = शास्त्र या प्रभु समत। भौ = भय। कुकड़ी = मुर्गी। हक हक = ईश्वर, ईश्वर। भिसति = बिहिश्त। दोजग = नरक।

अर्थ—ऐ मुल्ला, खुदा के न्याय पर चलो। इस प्रकार की चाल से जीवका भ्रम नहीं खतम होगा। तुम प्रभु द्वारा रचित पशु काया का वध करते हो। किंतु इससे प्रकाश रूप प्रभु हाथ नहीं आयेगा। फिर हलाल क्यो किया?

वेद और कुरान झूठे नहीं हैं। झूठा वह है जो इनके उपदेशो पर विचार नहीं करता है। सभी शरीर मे एक ही प्रभु है, दूसरे का भय ही मृत्यु का कारण है।

लोग मुर्गी, बकरी मारते है और प्रभु समत की चर्चा करते है। सारे जीव प्रभु के प्यारे है।

क्या कहकर तुम्हारा उबार होगा? दिल पवित्र नहीं है। पवित्रको पहचानते भी नहीं। उसकी खोज भी नहीं जानते हो।

सत कबीर कहते है, बाह्य साधना से स्वर्ग नहीं, नरक ही मिलेगा।

या करीम बलि हिकमति तेरी। खाक एक सूरति बहु तेरी ।।टेक।।
अर्ध गगन मे नीर जमाया, बहुत भाँति करि नूरनि पाया ।।
अवलि आदम पीर मुलाँनाँ, तेरी सिफति करि गये दिवाँनाँ ।।
कहै कबीर यहु हेत बिचारा, या रब या रब यार हमारा ।।६३।।

अर्थ—हे ईश्वर, तुमहारी चतुराई थी, तारीफ है। तुमने एक ही मिट्टी से अनेक सूरते बनाई है। तुमने आकाश के नीचे पानी जमाया और वहीं अनेक प्रकार के सूर्य-चॉद तारो की ज्योति पैदा की है। सर्वप्रथम आदम, पीर, मुल्ला, तुम्हारी खूबी पर पागल बने थे।

काहे री नलनी तूँ कुम्हिलाँनी; तेरे ही नालि सरोवर पानी ।।टेक।।
जल मै उतपति जल मै बास, जल मैं नलनी तोर निवास ।।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हँमारे जान ।।६४।।

अर्थ—नलनी अर्थात् जीव। हे जीव कमल, तुम मुरझाये क्यो हो? तुम्हारी नाल (कमल डठल) तालाब के पानी मे है। जीव की नलिका सासारिक माया मोह मे है। कमल पानी मे पैदा होता है, पानी मे रहता है। पानी ही उसका निवास स्थान है। ऐसे ही जीव का ससार नदी मे जन्म, स्थिति और निवास है।

अब कवि साधक जीव से पूछता है। ऐ जीव, नीचे गर्मी और ऊपर आग नहीं है। फिर किसी के प्रति प्रेम जागने के कारण तुम परेशान हो। सत कबीर कहते है, जो प्रभु प्रेम के जल मे समा गया उसकी कभी मृत्यु नहीं होगी।

अलंकार—अन्योक्ति।

इब तूँ हसि प्रभु मै कुछ नाँहि, पंडित पढ़ि अभिमान नसाहीं ।।टेक।।
मैं मैं मै जब लग मैं कीन्हा, तब लग मै करता तही चीन्हाँ ।।
कहै कबीर सुनहु नरनाहा, ना हम जीवत न मुँवाले माहाँ ।।६५।।

अर्थ—हे प्रभु, अब तुम्हीं हो। मै कुछ नहीं है। संसार का डर प्रभु मे विलीन हो गया। जब तक मै और तुम (अहम् त्वम्) को नहीं पहचाना था तब तक माया का डर था। मै और तुम का भेद समाप्त होने पर डर खत्म हो गया। द्वैत ही भय का कारण है। अद्वैत को किसका और कैसा भय? द्वैत भय मे बार-बार गमनागमन का दुख हुआ। निगम आगम से परे यय निगम के लिये भी अगम्य प्रभु के साथ ऐक्य ज्ञान के बाद मन की चचलता समाप्त हो गयी। सासारिक मन विशिष्ट मन मे समा गया।

जब तक ऊँच-नीच का भेद रहता है, लोग पशु के समान विषयो मे घूमते है। नाना प्रकार के भ्रम होते है। जब मै और मेरी को त्वम् मे विलीन कर दिया तो राम के अतिरिक्त दूसरा कौन रह गया? अब राम को कैसा भय होगा? राम से तो दूसरे भीत रहते है।

बोलनाँ का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत नसाई ।।टेक।।
बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्याँ क्यूँ होई बिचारा ।।
संत मिलै कछु कहिये कहिये, मिलै असंत मष्टि करि रहिये ।।
ग्यानी सूँ कहिये कहिये, मिलै असंत मष्टि करि रहिये ।।
कहै कबीर आधा घट डोलै, भर्‌या होइ तौ मुषाँ न बोलै ।।६७।।

अर्थ—साधक को मौन रहना चाहिए। मूल तत्त्व अकथनीय है। बोलने से तत्त्व का नाश हो जाता है। अनेक प्रकार के विकार बढ़ते है। किंतु बिना बोले विचार भी नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति मे केवल सत के सग मे ही बोलना उचित है। असत को देख मौन रहना चाहिए। ज्ञानी से बात करना हितकर है और अज्ञानी मिले तो वह कितनी भी कोशिश करे मौन रहना चाहिए।

जब तक साधना अधूरी है तभी तक बोला जाता है। पूर्ण साधना होने पर ऐसी भीतरी शाति आती है कि कुछ बोला नहीं जाता। जैसे अधजल गगरी छलकती है। पूर्ण स्थिर रहती है।

अलंकार—अनुप्रास, दृष्टात एव लोकोक्ति।

बागड़ देश लूवन का घर है, तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ।।टेक।।
सब जग देखौ कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा ।।

न तहाँ तरवर न तहाँ पाँणी, न तहाँ सतगुर साधू बाँणी ॥
न तहाँ कोकिला न तहाँ सूवा, ऊँचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ॥
देश मालबा गहर गंभीर डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहैं कबीर घरहीं मन मान्याँ, गूँगै का गुड़ गूँगै जानाँ ॥६८॥

शब्दार्थ—बागड़ = एक प्रदेश विशेष। जहाँ सदा सूखा रहता है। कोई इसे हरियाना और कोई गुजरात मानते है। लूवन = लू। दाझन = जलना।

अर्थ—यह ससार बागड़ देश है। विषयो के कारण यह अनेक प्रकार के दुखो (लू) से भरा है। यहाँ नही जाना चाहिए। वासना से दग्ध होने का भय है। पूरे ससार मे सभी अधीर हो रहे है। उनके सिर पर धूल गिरती है। किंतु उस धूल को अबीर कहते हैं। यहाँ कोई स्थायी छाया (पेड़) नहीं है। सुग्गे भी नहीं है। हस जीव ऊँची-ऊँची लालसाओ मे चढ़कर मर रहे है।

ऐ मन, इस बाह्य ससार से अतर्जगत् मे चलो। अतर्जगत् मालवा है। माल वाला है। यहाँ सुख ही सुख है। डग डग पर रोटी और पग-पग पर पानी मिलता है। प्रभु अपने भक्त के योग-क्षेम का ख्याल रखता है। यह आतरिक घर है। यह गूँगे के गुड़ के स्वाद सा अकथनीय है।

अवधू जोगी जग थै न्यारा; मुदा निरति सुरति करि सींगीं, नाद न षंडै धारा ॥टेक॥

बसै गगन मै दुनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै पीवै महारस मीठा ॥
परगट कंथाँ माहे जोगी दिल मैं दरपन जोवै।
सहंस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पीवै ॥
ब्रह्म अगनि मै काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥६९॥

शब्दाथ—मुदा = मुद्रा पचमकारो मे है। किंतु सत मत की मुद्रा भिन्न है। यहाँ मुद्रा का प्रयोग योग अगो की विशेष स्थिति के अर्थ मे है। सुरति = सामान्य प्रेम साधना। निरति = प्रेम की चरमावस्था। सींगीं = तुरही। गगन = सहस्रार। दुनीं = दुनिया। कथा = गुदड़ी। जीवै = जोहता है। सहँस = हससहित। श्वास प्रश्वास द्वारा सोहऽम् आजपाजप। हजार। निहचल = स्थिर। त्रिकुटी सगम = आज्ञा चक्र। सहज शून्य = सहस्रार।

अर्थ—अवधूत योगी ससार से भिन्न है। वह दूसरे योगियो से भी भिन्न है। उसके सारे कार्य भीतर होते है। वह निरति की मुद्रा और सुरति की श्रृगी बनाता है। वह नाद की अखड धारा का कभी खडन नहीं करता है। मतलब कि सदा अनाहत नाद सुनाता रहता है। सहस्रार मे बास करता है। ससार को दृष्टि से दूर रखता है। चेतना की चौकी पर बैठता है। आकाश (शून्य) मे पहुँच कर भी कभी योगासन नहीं छोड़ता है। सदा सहस्रार से निकला महारस का पान करता है। बाहर तो वह गुदड़ी पहने रहता है। वह दिल के दर्पण मे देखता रहता है।

सोहऽम् का अजपाजाप २१६०० श्वास-प्रश्वास के धागो मे करता है। ये नाक से निकले श्वास-प्रश्वास है। वह काठ की धुनी न बनाकर ब्रह्माग्नि मे काया जलाता है। त्रिकुटी (आज्ञा चक्र) मे जागरण करता है। सत कबीर कहते है कि वह योगी है जो सहस्रार मे ध्यान लगाता है।

अलंकार—सागरूपक विरोधाभास, सहस = श्लेष।

अवधू गगन मंडल घर कीजै, अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै ॥टेक॥

मूल बाँधि सर गगन समाना, सुखमन यो तन लागी।

काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तह जोगणी जागी॥
मनवाँ जाई दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाँही, सबद अनाहद बागा॥७०॥

अर्थ—हे अवधूत, ब्रह्मरध्र, सहस्रार मे निवास करो। वहाँ अमृत झरता है। सदा सुख रहता है। चक्र नाली से रस निकलता है। इस रस को पीजिए। मूल अर्थात् मूलाधार चक्र से कुडलिनी सुषुम्ना को आधार बनाकर ब्रह्मरध्र तक जाकर समाहित हो जाती है। यह कुडलिनी काम, क्रोध को नष्ट करने पर ही जागती है। मन सहस्रार की खिड़की पर स्थित हो गया है। वहाँ सहस्रार से चूने वाला सोम रस का पान करता है। हृदय से सशय की समाप्ति हो गयी। अनाहत शब्द बज रहा है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

कोई पीवै रे रस राम नाम का, जो पीवै सो जोगी रे।
संतौ सेवा करौ राम की, और न दूजा भोगी रे॥टेक॥
यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, राम तनीं मतिवारी रे॥
चंद सूर दोइ भाठी कीन्ही सुषमनि चिगवा लागी रे।
अंमृत कूँ पी साँधा पुरया, मेरी त्रिष्णाँ भागी रे॥
यहु रस पीवै गूँगा गहिला, ताकी कोई न बूझै सार रे।
कहै कबीर महा रस महँगा, कोई पीवेगा पीवणहार रे॥७१॥

शब्दार्थ—परजारी = प्रज्वलित। ईश्वर-गौरी = शिव-पार्वती। तनीं = ओर। मे। चिगवा = नाली। गहिला = गभीर। सार = महत्त्व।

अर्थ—राम नाम का रस योगी ही पी सकता है। सतो, राम की सेवा करो। ससार मे राम नाम के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज भोग करनेलायक नहीं है। ब्रह्माग्नि अर्थात् प्रभु से स्नेह के बाद ससार के सभी रस फीके हो जाते है। इस रामरस को पीकर शिव-पार्वती भी मतवाले है। चद-सूर्य नामक इडा-पिगला नाड़ियो की भट्टी मे सुषुमना की नाली से जो महारस पैदा हुआ उसे पीकर सारी तृष्णा दूर हो जाती है।

इस राम रस को गभीर गूगा अर्थात् जो साधना मे गभीर है पीता है। दूसरे लोग इसके महत्त्व को नहीं समझते है। इस महँगे महारस को कोई विशिष्ट व्यक्ति ही पी सकता है।

अलंकार—रूपक, काकुवक्रोक्ति।

अवधू मेरा मन मतिवारा; उन्मनि चढ़्या मगनरस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा॥टेक॥
गुड़ करि ग्यान ध्याँन कर महुवा भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समानी, पीयै पीवनहारा॥
काम क्रोध दोइ किया पलीता, छुटि गई संसारी॥
सुंनि मंडल मै मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनाँ काछै॥
पूरा मिलया तबै सुष उपज्यौ, तन की तपनि बुझानी।
कहै कबीर भवबंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥७२॥

अर्थ—साधक ससार से परम वैराग्य और भागवती सत्ता की पूर्ण अनुभूति की दशा का वर्णन कर रहा है। हे अवधूत, मेरा मन रामरस मे मतवाला है। मन भागवती स्थिति को पहुँच गया है। वहाँ आनद की अनुभूति कर रहा है। तीनो लोक प्रकाशित हो गया है। साधक को

तीनो लोक दिखने लगे।

यह मतवालापन जिस रस (शराब) के पीने से बना उसके बनने की प्रक्रिया है। ज्ञान को गुड, ध्यानको महुआ (मधूक), ससारको भट्टी का भार (जो भट्टी मे झोका जाता है) बनाया। इडा-पिगला नाड़ियो जिनमे सुषुम्ना सह ढग से समायी है, की भट्टी बनाई। काम, क्रोध को पलीता बनाकर आग धधकायी। फलत ससार के आकर्षक बधन समाप्त हो गये।

अब शून्यमडल (सहस्रार) मे नादरूपी मर्दल की आवाज होती है। वहाँ साधक का मन प्रसन्न होकर नाचता है। गुरुदेव की कृपा से सुषुम्ना के किनारे (काछै) अमृत फल पाया है। पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति हो गयी। ससार विषयो से जल रहे शरीर की ज्वाला शात हो गयी। ससार बधन छूट गया। प्रकाश प्रकाश से मिल गया। अश अशी मे समाहित हो गया।

टिप्पणी—अवधू का अर्थ—वह सन्यासी है जिसने सासारिक बधनो तथा विषय-वासनाओ को त्याग दिया है।

योविलघ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थित पुमान्।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूत स उच्यते।—आप्टेकोश।

छाकि परय्यो आतम मतिवारा, पीवत राम रस करत विचारा ॥टेक॥
बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा लै कसाब रस राम चुवावा ॥
कहै कबीर फाबी मतिवारी, पीवत राम रस लगी खुमारी ॥७३॥

शब्दार्थ—छाकि पर्‌यो = छक गया। तृप्ति। आतम = आत्मा। कसाब = कसैलापन। पाटन = नगर। फाबी = फबना। लाभ होना। खुमारी = नशा उतरने पर आलस्य।

अर्थ—रामरस पीकर आत्मा तृप्त हो गयी। अब उसके सारे विचार रामरस की आनदावस्था मे हो रहे है। भक्ति-ज्ञान का अमूल्यवान् गुड़ पाया है। विषयो का कसैलापन निकालकर मीठा एव स्वादिष्ट राम रस चुलाया है। यह रस शरीर रूपी नगर मे फैल गया है। साधक माँग माँग कर इस रामरस को पी रहा है। उसे मतवालेपन की प्राप्ति हो गयी है। रामरस की खुमार मे डूबा है।

अलंकार—तनपाटन मे रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

बोलौ भाई राम की दुहाई,
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई ॥टेक॥
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससि हर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उल्टी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चवाई ॥
पंच पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी ॥
दास कबीर इही रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई ॥७४॥

अर्थ—हे भाई, रामजी का यश गाओ। उनहीं की कृपा से राम रस पीने को मिला है। शिव सनकादि भक्त देवता तथा ऋषि उस राम रस को पी रहे हैं। किंतु पीकर कभी सतुष्ट होकर उसे छोड़ना नहीं चाहते है। इडा एव पिगला नाड़ियो की भट्टी बनाई। ब्रह्मध्यान की आग जलाई। सूर्य-चद्र (इडा-पिगला) नाड़ियो ने दसो दरवाजे (दो आँखे, दो नाक, एक मुँह, दो कान, लिग, गुदा, ब्रह्मरध्र) बद कर विषयो का प्रवेश वर्जित कर दिया है। योग मे लीनता आ गयी है। अब मन रामरस पीने मे लीन है। दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। कुडलिनी के जागृत होने से जो उच्च रस नीचे को व्यर्थ बह रहा था वह अब खेचरी मुद्रा की यौगिक प्रक्रिया से अमृत (प्राणावान) धारा मे बदल गया है। पाँचो ज्ञानेद्रियो का साथकर लिया है। (अब तक ये इद्रियाँ

विषयो मे थी) अब हर समय (राह चलते भी) राम प्रेम का नशा रहता है। प्रेम रस का प्याला पीने की कुडलिनी जो सर्पाकार पड़ी थी, अब जाग गयी है। (साधना मे कुडलिनी जागरण महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है) सतगुरु की कृपा से सहज शून्य (सहस्रार) मे जिसने इस प्रेम रस को पीया है उसे कभी इससे तृप्ति नहीं होगी। वह सदा उस मे मत्त रहेगा।

अलंकार—रूपक।

रामरस पाइया रे, ताथै बिसरि गये रस और।।टेक।।
रे मन तेरा को नही खैंचि लेइ जिनि भार।
बिरषि बसेरा पंषि का, ऐसा माया जाल।।
और मरत का रोइए, जो आपा थिर न रहाइ।
जो उपज्या सो बिनसिहै ताथै दुख करि मरै बलाइ।
जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे, पीवत मरदन लाग।।
कहै कबीर चित चेतिया, ताथै राम सुमरि बैराग।।७५।।

शब्दार्थ—को = कोई। विरपि = वृक्ष। पेड़। मरदन = मर्दन। लाग = लिये।

अर्थ—भक्त राम रस पाकर अन्य सासारिक रस को भूल गया। ऐ मन, ससार मे तुम्हारा कोई नहीं है। तुम अपने को सासारिक बोझ से अलग रखो या जो तुम्हारा सासारिक बोझ खींच सके ऐसा कोई नहीं है। यह ससार वृक्ष है। तुम इस पर बसने वाले पक्षी हो। माया जाल पक्षी को फँसाने के लिये है।

दूसरो को मरते देख क्यो रोते हो? तुम्हे भी तो मरना होगा। जो पैदा हुआ है उसका नाश होना है। इसलिये रोना व्यर्थ है। जैसे ही पैदा हुए माता के स्तन को पीते हुए उसका मर्दन करते है।

अब चेत जाओ और राम का स्मरण करो। ससार से विराग ग्रहण करो।

राम चरन मनि भाए रे।
अस ढरि जाहु राँड के करहा, प्रेम प्रीति ल्यौ लाये रे।।टेक।।
अँब चढ़ी अँबली रे अँबली बबूर चढ़ी नगबेली रे।
द्वै रथ चढ़ी गयौ राँड कौ करहा, मनह पाट की सैली रे।।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी कान्ह पियासा जाई रे।
एक दहिड़िया दही जमायौ, दुसरी परि गई साई रे।
न्यूँति जिमाऊ अपनी करहा छार मुनिस कौ डारी रे।।
इहि बँनि खेले राही रूकमनि, उहि बनि कान्ह अहीरा रे।
आसि पासि तुलसी कौ बिरवा, माँहि द्वारिका गाँऊ रे।
तहाँ मेरो ठाकुर राम राइ है, भगत कबीरा नाऊँ रे।।७६।।

शब्दार्थ—अस = इस प्रकार। राँड का करहा = मायाच्छन्न जीव। करहा = ऊँट का बच्चा। अब = आम। मेरुदड। अबली = एक लता। बकनाल। बबूर = मेरूदड। नगबेली = नागलता। वक नाल। द्वै रथ = इडा पिगला। मनहपाट = मन का पात्र। मन। सैली = विचरण। कुई = कूप। कुऑ। सहस्रार। पाताल = मूलाधार। पनियॉ = पनिहारी। कुडलिनी। मधुरा = शरीर। बजरपरौ = नाश हो। कान्ह = कृष्ण। जीवात्मा। प्यासा = अतृप्त। दहिड़िया = दही जमाने का वर्तन। मन। दही = भोग। साई = मलाई। वासना का सस्कार। मुनिस = मुनि लोग। श्रेष्ठ मुनि। राही रुकमनि = माया। कान्ह अहीरा = प्रभु। तुलसी = पवित्र पेड़। द्वारिका = पवित्र स्थान। हृदय।

अर्थ—मेरे मन को प्रभुचरण भा गए है। अच्छे लग रहे है। हे माया जन्य मन, भगवान से

प्रेम करो। जैसे आम के पेड़ पर लता चढती है। बबूलपर नागबेली चढ़ती है वैसे ही मेरुदड के सहारे वक्रनाल ऊपर जा रही है। अभी तक मन विषयो मे विचरता था। अब इडा-पिगला दो रथ पर सवार है। ककड़ भरा कुऑ ऊपर है। कुंडलिनी पनिहारिन नीचे है। कुएँ से सोने के मूल्य बिकने वाला पानी निकलता है। इस शरीर मथुरानगरी का नाश हो। इस शरीर से कृष्ण जैसे प्राणी की भी तृप्ति नहीं हो सकती है। इस मन मे वासना जमी है। जिसकी साढी अगले जीव जन्म मे भी काम करती है।

हम है कि माया बद्ध को आदर देकर भोजनादि कराते है और सन्यासी के मुँह पर राख फेकते है।

इस ससार वन मे मर्दल और भेरी बजता है। परलोक मे भगवान् की आनंद क्रीड़ा है। चारो तरफ तुलसी के पेड़ की पवित्रता है और बीच मे प्रभु का निवास द्वारका है। यही स्वामी राम है। कबीर उन्हीं के नाम की भक्ति करता है।

अलंकार—४ रूपकातिशयोक्ति।
१ दृष्टात (अब चढ़ी अबली)
२ असगति (एक दहिड़िया)
३ विशेषोक्ति कर कूई, पताल पानिया

थिर न रहै चित थिर नर है, च्यंतामणि तुम्ह कारणि हो।
मन मैले मै फिर फिर आहौ, तुम सुनहु न दुख बिसरावन हो ।।टेक।।
प्रेम खटेलवा कसि कसि बाँध्यो, बिरह बान तिहि लागू हो।
तिहि चढ़ि इंदऊ करत गवँसिया, अंतर जमवा लागू हो।
महरू मछा मारि न जाँनै, गहरै पैठा धाई हो ।।
दिन इक मगरमछ लै खैहै, तब का रखिहै बंधन भाई हो।
महरू नामहरइये जाँनै, सबब न बूझै बौरा हो।
चारै लाइ सकल जग खायो, तऊ न भेट निसहुरा हो।
जौ महराज चाहौ महरईये, तो नाथौ ए मन बौरा हो।
तारी लाइकै सिष्टि बिचारौ, तब गहि भेटि निसहुरा हो ।।
टिकुटि भइ कौन्ह के कारणि, भ्रमि भ्रमि तीरथ कीन्हाँ हो।
सो पद देहु मोरि मदन मनोहर, जिहि पदि हरि मै चीन्हाँ हो।
दास कबीर कीन्ह अस गहरा, बूझै कोई महरा हो।
यह संसार जात मै देखौ, ठाढ़ौ रहौ कि निहुरा हो ।।७७।।

शब्दार्थ—च्यतामणि = इच्छित वस्तु देने वाली मणि। आहौ = है। इदऊ = इद्र। इद्रियॉ गवॅसिया = रखवाली। महरू = मछुआरा। मछा = मछली। निसहुरा = बेवकूफ। टिकुटि = तकली। महरा = महत्त्वपूर्ण व्यक्ति। निहुरा = झुका। नम्र।

अर्थ—ऐ चितामणि, तुम्हारे कारण चित्त मे स्थिरता नहीं है। बार-बार लोभ उत्पन्न होता है। मेरा मन बार-बार लोभ की मैल से भर जाता है। हे दुख समाप्त करने वाली तुम सुनती ही नहीं हो। इस शरीर रूपी खटोले को कस कर बॉधा। इसे प्रभु का विरहवाण लग गया है। इस खटोले पर चढकर इद्र या इद्रियॉ रखवाली करती है। कितु भीतर यम का प्रवेश हो गया है। रखवाली व्यर्थ हो जायगी। साधक मछुआरा अनाड़ी है। गुरुज्ञानरहित है। इसलिये मन मछली को मारना नहीं जानता है। कितु दौड़कर गहराई मे मन मछली मारने को प्रविष्ट कर गया है। एक दिन काल-मगरमच्छ इसे पकड़कर नष्ट कर देगा। तब मेरे सारे जाल के बधन व्यर्थ हो

जायँगे। यह मन-मछुआ अज्ञानी है। गुरु शब्दो को नहीं समझता है।

प्रभु प्रेम मे तकुली के समान तीर्थो मे चक्कर लगाने से आवागमन नहीं छूटेगा। क्योकि तकुली का चक्र कभी समाप्त नहीं होता है। हे प्रभु, मुझे वह पद बताओं जिस पद से हरि की पहिचान हो सके। यह इतना गहरा तत्त्व है कि इसे कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ही समझ सकता है। इस ससार मे खड़ा और झुका सभी चले जाते हैं।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

बीनती एक राम सुनि मोरी; अब न बचाइ राखि पति मोरी॥टेक॥
जैसे मंदला तुमहि बजावा, तैसै नाचत मै दुख पावा॥
जे मसि लागी सबै छुड़ावौ, अब मोहि जानि बहु रूपक छावौ॥
कहे कबीर मेरी नाच उठावौ, तुम्हारे चरन कवल दिखलावौ॥७८॥

अर्थ—हे राम, मेरी एक प्रार्थना सुन लो। अव मुझे प्रतिष्ठा रखने से वचित मत करो। मेरी इज्जत रखो। मै तुम्हारे वाजे की धुन पर ही नाचता हूँ। कितु यह दु खद है। ससार विषयो के दाग छुड़ाओ। अब वहुत रूप बदलने मत दो। विषयो के प्रति मेरा दौड़ना (नाच) समाप्त करो। चरण-कमल का दर्शन कराओ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मन थिर रहै न घर है मेरा; इन मन घर जारे बहुतेरा॥टेक॥
घर तजि बन बाहरि कियौ बास, घर बन देखौ दोऊ निरास॥
जहाँ जाऊँ तहाँ सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक बियाप॥
कहै कबीर चरन तोहि बदा, घर मै घर दे परमानंदा॥७९॥

अर्थ—मेरा मन घर का होकर स्थिर नही रहता है। इस मन ने अनेक घर जलाये। घर का अर्थ है शरीर। घर (गृहस्थी) को छोड़कर जगल गया, विराग लिया। कितु घर-वन दोनो को देखकर निराशा हुई। सर्वत्र दुख है। वृद्धावस्था और मृत्यु है। हे परमानद प्रभु, तुम्हारा चरण ही असली घर है। इस घर मे ही तुम मुझे स्थान दो। घर दो।

कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी॥टेक॥
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ॥
मकड़ी धारि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलाइया, मीडक सोवै साप पहरइया॥
निति उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥८०॥

शब्दार्थ—नगरि = शरीर। कुटवारी = कोतवाल का काम। पुरिष = जीव। नारी = माया। बैल = अविवेक। गाइ = सद्‌बुद्धि। बछरा = इन्द्रियाँ। तीन्यूँ साँझ = हर समय। मकड़ी = माया जाल फैलाने वाली। माषी = सचरणशीलता। अस्थिरता। छछिहारी = छाछ की रखवाली करने वाली। मास = विषय। चील्ह = लोभ। मूसा = चूहा। काम। खेवट = मल्लाह। नाव = जीवन। विलइया = बुद्धि। मीढक = मेढक। ज्ञान। साप = सर्प अज्ञान। स्याल = सियार। तृष्णा। सिघ = जीव।

अर्थ—जिस नगर मे रहने वाला जीव विलक्षण माया के प्रभाव से चचल है। अस्थिर है। उस नगर (देह) की रक्षा कैसे की जा सकती है? इस माया नगर (देह) के सारे कार्य विचित्र है। यहाँ बैल (अविवेक) ब्याता है और गाय। सद् बुद्धि) वध्या रहती है। इद्रियाँ रूपी वछड़े इस अविवेक को हर समय दुहते रहते है। माया मकड़ी के घर मे अस्थिरता की मक्खी दही बिलोने और उसे रखने का कार्य करती है। विषय (माँस) फैले है। उनकी रखवाली लोभ चील द्वारा होती है। जीवन की बुद्धि-नाव को काम-नाविक खे रहा है। ज्ञान-मेढक सो रहा है।

अज्ञान-सर्प पहरे पर है।
नित्य दिन तृष्णा-सियार जीव-सिंह को खा रहा है।

भाई रे चूँन बिलूँटा खाई; बाघनि संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ॥टेक॥

सब घर फोरि बिलूँटा खायौ, कोई न जानैं भेव।
खसम निपूतौ आँगणि सूतौ, राँड न देई लेव॥
पड़ोसनि पनि भई बिराँनी, माँहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिली मंगल गाँवै, यह दुख याकौं सालै॥
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जाया, मंदिर सदा अँधारा॥
घर घेहर सब आप सावरथ, बाहरि किया पसारा॥
होत उजाड़ सबै कोई जानै, सब काहू मनि भावै॥
कहै कबीर मिलै जो सतगुर, तौ यहु चूँन छुड़ावै॥८१॥

शब्दार्थ—चूँन = चूर्ण। आटा। बिलूँटा = विलुठित। इधर-उधर भटकने वाला। अस्थिर। बाघिन = चित्त। राड = दुर्बुद्धि। पडोसनि = सद्‌बुद्धि। पनि = पुन। बिरानी = दूसरी। परायी। पचसखी = पॉच ज्ञानेंद्रियॉ। द्वै द्वै दीपक = सूर्य चन्द्रमा। जोया = जलाया।

अर्थ—ऐ भाई, आटे (मूलतत्त्व) को भटकते चित्त रूप बाघिन खा गयी। यह बाघिन सबको, सब घर को खा रही है। गृहपति (जीवात्मा) को भी यह भेद समझमे नहीं आता है। ज्ञानरहित जीव सोया है। दुर्बुद्धि उसे कुछ करने (लेने-देने) नहीं देती है। सद्‌बुद्धि पड़ोसिन सी परायी हो गयी है। दुर्बुद्धि हृदय के भीतर रहकर घर नष्ट कर रही है। पॉचो ज्ञानेद्रियॉ मगलगीत गाती है। यह बात दुर्बुद्धि को अच्छी नहीं लगती है।

चद्रमा, सूर्य (इडा, पिगला) रूप दीपक जलने के बावजूद हर घर (देह, हृदय) मे अधेरा (अज्ञान) है। बाहरी प्रसार बढ़ गया है। नाश हो रहा है। यह सभी लोग जानते है। सबको शायद यह अच्छा लगता है।

सत कबीर कहते है कि सद्‌गुरु ही शिष्य को इस स्थिति से बचा सकते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

विषिया अजहू सुख आसा, हूँण न देइ हरि के चरन निवासा ॥टेक॥
सुख माँगै दुका पहली आवै, तातै सुख माँग्याँ नहीं भावै।
जा सुख थै सिव बिरंचि डराँनाँ, सो सुख हमहु साच करि जाना॥
सुखि छ्याड्या तब सब दुख भागा, गुर के सबद मेरा मन लागा।
निस बासुरि विषैतनाँ उपगार विषई नरकि न जाताँ बार।
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल राम नाम ल्यौ लागी॥८२॥

अर्थ—आज भी विषय से आशा बनी है। विषय से लाभ की आशा के कारण हरि चरणो मे प्रेम नहीं हो पाता है। विषयो मे सुख नहीं, दुख मिलता है। इसलिए सुख मॉगना अच्छा नहीं लगता है। जिस मायामय सुख से शिव, ब्रह्मादि डरते है उस सुख को हमने सच्चा मान लिया है। विषय का सुख छोड़ा तभी दुख भागा। गुरु के शब्दो मे मन लगा।

रात-दिन विषयो मे डूबे को नरक जाते देर नहीं लगती है। सत कबीर कहते है कि बुद्धि की चचलता को त्याग दो। केवल राम मे ध्यान लगाओ।

तुम्ह गारडू मै विष का माता, काहे न जिवावौ मेरे अमृतदाता ॥टेक॥
संसार भवंगम डसिले काया, अरू दुखदारन व्यापै तेरी माया॥

सापनि क पिटारै जागे, अह निसी सोवै ताकूँ फिरि फिरि लागैं।
कहै कबीर को को नहीं राखे, राम रसाँइन जिनि जिनि चाखे ॥८३॥

अर्थ—हे अमृत मत्र दाता गुरुदेव, मै विषय-सर्प विष से ग्रस्त हूँ। आप सर्प विष उतार वाले है। मुझे कृपाकर क्यो नहीं जिला लेते है? एक तरप ससार सर्प ने डसा है। दूसरी ओ राम की माया परेशान कर रही है। इस शरीर-ससार पिटारे मे काल सर्प जगा है। रात-दिन सो वालो को वार-वार डॅसता है। जन्म-मृत्यु के चक्र चलते है। सत कबीर कहते है कि जिन्होने रा रसायन चखा उनमे कौन है जिसकी रक्षा भगवान् ने नहीं की है?

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

माया तजूँ तजी नही जाइ; फिर फिर माया मोहि लपटाइ ।।टेक।।
माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियाँन ॥
माया रस माया कर जाँन, माया कारनि तजै परान ॥
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग ॥
माया जल थलि माया अकासि माया व्यापि रही चहुँ पासि ॥
माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता ॥
माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार ॥८४॥

अर्थ—माया के विविध रूप है। इसीलिए माया के छोड़ना चाहता हूँ कितु वह छोड़ी नह जाती है। माया मनुष्य को पकड़ती है। आदर, मान माया है। जहाँ ब्रह्मज्ञान है वहाँ माया न रहती है। माया का आनद भी माया के कारण समझो। माया मृत्यु का भी कारण बनती है योग, जप तपस्या आदि सब माया है। माया के कारण समझो। माया मृत्यु का भी रखा है जल, थल आकाश, सर्वत्र माया है। माया सर्व व्यापक है। माता-पिता स्त्री पुत्र सब माया है माया मृत्यु का व्यवहार करती है। कबीर को केवल राम पर भरोसा है।

अलंकार—विशेपोक्ति।

ग्रिह जिनि जाँनौ रूड़ौ रे।
कंचन कलस उठाई सबहिन के, काहू कौ पर्‌यौ न पूरौ रे ॥
राजा राणाँ राव छत्रपति, जरि भये भसम कौ कूरौ रे ॥
सबथे नीकौ संत मँघडलिया, हरि भगतनि कौ भेरौं रे ॥
गोविद के गुन बैठे गैहे, खैहे टूकौ टेरौ रे ॥
ऐसौ जानि जापौ जगजीवन, जग सूँ तिनका तोरौ रे ॥
कहे कबीर राम भजबे कौ, एक आध कोई सूरौ रे ॥८५॥

शब्दार्थ—ग्रिह = गृह। जिनि = मत। नहीं। रूड़ौ = सुदर। धूरौ = धूल। डहके = जले कूरौ = कूड़ा। भैरौ = एक प्रकार की नाव। तिनका तोड़ना = सवध तोड़ना।

अर्थ—घर को सुदर मत समझो। सोने का कलश रखा मदिर भी राम की मूर्ति के विन मिट्टी है। उसी प्रकार शरीर वह जो राम कहे। इस घर (शरीर) ससार मे सभी के मन जले है किसी को पूर्ण सतोप नहीं हुआ। राजा, राव, क्षत्रपति सभी जलकर राख का कूड़ा हो गए।

सत मडली अच्छी है। भक्तो को ससार पार करने की नाव है। वहाँ, सतमडली मे भगवा का गुण गाऊँगा और जो भी रूखा सूखा टुकड़ा मिल जायगा खाकर सतुष्ट रहूँगा। ससार सवध तोड़कर राम जपता हूँ। राम भजने मे कोई एकाध ही वीर होते है।

रंजसि मीन देखी बहु पानी; काल जाल की खबरि न जानी ।।टेक।।
गारै गरव्यौ औघठ घाट, सो जल छाड़ि बिकानौ हाट ॥
बँध्यो न जानै जल उदमादि, कहै कबीर सब मोहे स्वादि ॥८६॥

शब्दार्थ—रजसि = प्रसन्न हुआ। उदमादि = उन्माद। गारै = गहरे।

अर्थ—मछली (जीव) बहुत पानी (धन) देखकर प्रसन्न हुई। किंतु इस पानी की समृद्धि मे काल के जाल की खबर न थी। जब उसे गहरा गर्व हुआ तो जाल मे फॅसी और बाजार मे बिकने लगी। जल (समृद्धि) की पूर्णता के उन्माद मे कुछ नहीं समझा और बध गयी यम के फेरे मे बॅध गयी। सत कबीर कहते है कि सबको स्वाद ने मोह लिया है। स्वाद मोह नाश है।

अलंकार—अन्योक्ति।

काहे रे मन दह दिस धावै; विषिया संगि संतोष न पावै ॥टेक॥
जहाँ जहाँ कल्पै तहाँ तहाँ बंधनाँ, रतन कौ थाल कियौ तैं रधनाँ ॥
जौ पै सुख पइयत इन माँही, तौ राज छाड़ि कत बन कौ जाँहीं ॥
आनँद सहित तजा विष नारी, अब क्या झीषै पतित भिषारी ॥
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि, तजि विषिया भजि चरन मुरारि ॥

शब्दार्थ—दह = दस। रधनॉ = रसोई। भीषै = झखना।

अर्थ—हे मन, व्यर्थ दसो दिशाओ मे क्यो दौड़ते हो? विषय सग से कभी सतोष नहीं होगा। सारी कल्पनाएँ बधन है। जीवन रत्न की थाल विषय रसोई के लिये नहीं है। अगर विषयो मे सुख होता तो अनेक लोग राज्य छोड़कर भिखारी क्यो होते? प्रसन्नतापूर्वक विषरूप स्त्री को त्याग दो। उसके लिये झखो मत। माया या ससार सुख चार दिनो (बाल, किशोर, युवा, वृद्ध) का है। विषयो को छोड़कर प्रभु चरणो मे लगो।

जियरा जाहिगौ मै जाँनाँ; जो देखा सो बहुरि ने पेष्या, माटी सूँ लपटाँना ॥टेक॥
बाकुल बसतर किया पहरिबा, का तप बनखंडि बासा ॥
काह मुगध रे पाँहन पूजै, का जल डारै गाता ॥
कहै कबीर सुर मुनि उपदेसा, लोका पंथि लगाई ॥
सुनौ सतौ सुमिरौ भगत जन, हरि बिन जनम गवाई ॥८८॥

अर्थ—ऐ जीव, तुम ससार से जाओगे यह मै जानता हूँ। सभी दृश्य नाशवान है। जो देखा गया वह पुन नहीं देखा गया। सभी मिट्टी मे लीन हो गये। बल्कल वस्त्र पहनो या वन मे जाकर तपस्या करो। पत्थर पूजो या शरीर पर पानी डालने से क्या? सत मुनियो के उपदेश है कि लोक मार्ग पर मत चलो। सतो का स्मरण करो। राम बिना जन्म व्यर्थ जा रहा है॥

हरि ठग जग कौ ठगौरी लाई; हरि के वियोग कैसे जीऊँ मेरी माई ॥टेक॥
कौन पुरिष कौ कारी नारी, अभिअंतरि तुम्ह लेहु बिचारी ॥
कौन पूत को काको बाप, कौन मरै कौन करै संताप ॥
कहै कबीर ठग सौ मन माना, गई ठगौरी ठग पहिचना ॥८९॥

अर्थ—भगवान् ही सब की माया ठगौरीं द्वारा ठगते है। भगवान् वियोग मे जीआ भी नहीं जा सकता है। साधक किस पुरुष की स्त्री है? इस बात को तुम मन ही मन विचार करो। कौन पुत्र और कौन पिता है? कौन मरता है, कौन दुखी होता है? कहते है, ये सारे भेद मायाठग के कारण है। माया के हटते ही ईश्वर ठक पहचान लिये जाते है। क्योकि साधक का मन तो भगवान मे लगा है।

अलंकार—रूपक।

साँईं मेरे साजि दई एक डोली, हस्त लोक अरु मै तै बोली ॥टेक॥
इक झंझर सम सूत खटोला, त्रिस्ना बाद चहुँ दिसि डोला ॥
पाँच कहार का भरम न जाना, एकै कह्या एक नहीं माना ॥

भूभर घाम उहार न छावा, नैहर जात बहुत दुख पावा ॥
कहे कबीर बर बहु दुख सहिये, राम प्रीति करि संगही रहिये ॥९०॥

शब्दार्थ—सॉई = प्रभु। डोली = शरीर। हस्त लोक = हाथियो से घिरी दुनिया वाद = वात। हवा। पॉच कहार = ज्ञानेन्द्रियॉ भूभर = गर्म। उहार = पर्दा।

अर्थ—मेरे प्रभु ने शरीर की डोली सजायी है। जिसके कारण मै हाथियो से घिरे ससार या हाथ द्वारा काम होने वाली दुनिया मे मै और तुम का भेद कर रहा हूँ। यह शरीर खटोला सूत (नसो आदि) का बना है। यह हजारो छिद्रो से झझड़ है। यह तृष्णा की हवा से चारो दिशाओ मे चक्कर खाता है। पॉच ज्ञानेद्रियॉ कुछ भी नहीं जानतीं। इन इद्रियो मे आपसी एकता नहीं है। कोई किसी की वात नहीं माना चाहती है।

यह ससार विषयो की हवा से गर्म है। कोई उहार, पर्दा भी नहीं है। पर्दा तो तभी होता यदि अच्छा काम किया होता । नैहर (राम के यहॉ जहॉ से जीव आता है) जाने मे बड़ा कष्ट होता है। सत कवीर कहते है, चाहे जितना कष्ट हो, राम की प्रीति अवश्य कीजिए।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

बिनसि जाइ कागद की गुड़िया, जब लग पवन तबै लग उड़िया ।।टेक।।
गुड़िया कौ सबद अनाहद बौले खसम लियै कर डोरी डोलै।
पवन थक्यो गुड़िया ठहरानी, सीस धनै धुनि रोवै प्रॉनी ॥
कहे कबीर भजि सॉरगपानी, नाहीं तर है है खैचातानी ॥

अर्थ—यह कागज की गुड़िया जैसा शरीर तभी तक उड़ता है, सक्रिय रहता है जव तक हवा (प्राण) है। गुड़िया के भीतर अनाहत नाद होता है। उसकी डोरी उसके पति के हाथ मे है। वह जेसे चाहता है वैसे गुड़िया डोलती है। पवन (प्राण) के स्थगित होते ही गुड़िया ठहर जाती है। इस स्थिति को देखकर लोग सिर धुनते है। दुखी होते हे। रोते है।

ऐ मन, ईश्वर का भजन करो वरना यमदूत खींचातानी करेगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूँद बिनसि जाई छिन मे, गरब करै क्या इतना ।।टेक।।
माटी खोदहि भीत उसारै, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बाँधि लै चाले, बहुरि न करिहै फेरा ॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्‍यो, लै धरती मैं गाड़्यौ।
रोक्यौ घटि साँस नही निकसै, ठौर ठौर सब छाड़्यौ।
कहै कबीर नट नाटिक थाकै, मदला कौन बजावै ॥
गये पषनियाँ उझरी बाजी, कौ काहू कै आवै ॥९२॥

शब्दार्थ—उसरै = ओसारा या उठाना। तलव = बुलावा। नाटिक = नर्त्तक। पषनियॉ = पखावज बजाने वाले। उझरी बाजी = बाजा बजना समाप्त।

अर्थ—यह शरीर कागज का पुतला है। जल की एक बूँद भी पड़ जाय तो यह शरीर नष्ट हो जायगा। इस शरीर पर इतना गर्व व्यर्थ है। मिट्टी को खोदकर घर उठाया। अज्ञानी अधे इसे अपना घर कहते है। कितु जब यम राजा का बुलावा आएगा उनके दूत बॉधले जायॅगे तब तुम इस घर मे पुन नहीं आ सकोगे। बेईमानी से धन इकट्ठा किया। धरती मै गाड़कर रखा। जब सॉस रुक जायगी तब सारा धन यही रह ज़ायगा। सत कवीर कहते है कि नट और नर्त्तक थक गये। अब मर्दल कौन बजाएगा? पखावज बजानेवाले सभी चले गए। सारे बाजे बद हो गए। अव कौन किसके पास आएगा?

अलंकार—रूपक, रूपकतिशयोक्ति।

झूठे तन कौ कहा रखइये, मरिये तौ पल भरि रहण न पइये।।टेक।।
षीर षाँढ़ घृत प्यंड सँवारा, प्राँन गये ले बाहिर जारा।।
चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरै काठ के संगा।।
दास कबीर यहु कीन्ह बिचारा, इक दिन ह्वैहै हाल हमारा।।९३।।

अर्थ—यह शरीर झूठा (नाशवान्) है। इसकी इतनी रखवाली क्यो करते हो? मरने पर एक क्षण के लिए भी इस शरीर या ससार मे रहना न होगा। इस शरीर को दूध, शक्कर, घी, चोवा, चदन लगाकर खूब मजबूत और सुदर बनाया। प्राण निकलते ही यह शरीर बाहर कर दिया जाता है और काठ के साथ जलने लगता है।

दास कबीर ने विचारा कि एक दिन हमारा भी यही हाल होगा।

देखहु यह तन जरता है, घड़ी पहर बिलँबै रे भाई जरता है।।टेक।।
काहे कौ एता किया पसारा, यह तन जरि करि ह्वै है छारा।।
नव तन द्वादस लागी आगी, मुगध न चैतै नख सिख जागी।।
काम क्रोध घट भरे बिकारा, आपहि आप जरै संसारा।।
कहै कबीर हम मृतक समाँना, राम नाम छूटै अभिमाना।।९४।।

अर्थ—देखो, यह शरीर जल रहा है। थोड़ी देर विलब लगे फिर तो इसे जलना ही है। व्यर्थ इतना प्रसार किया। यह शरीर जलकर राख हो जायगा। शरीर के नौवो द्वारो तथा बारहो अगों (हाथ, पैर गुदा, लिग, ऑख, कान, नाक, मुँह, जीभ, पेट, छाती, कठ) मे आग लग गयी है। किंतु मूर्ख मनुष्य पूर्णत चेतन नहीं हो रहा है। शरीर मे काम, क्रोध के विकार भरे है। सारा ससार विकार से जल रहा है। जिनका राम नाम के कारण अहकार छूट गया है वे जीकर भी विषयभोग की दृष्टि से मृत है।

अलंकार—रूपकतिशयोक्ति।

तन राखनहारा को नहीं; तुम्ह सोच विचारि देखौ मन माँही।।टेक।।
जो कुटुंब आपनौ करि पारयौ, मुंड ठोकि ले बाहरि जारयौ।।
दगाबाज लूटै अरु रोवै, जारि गाडि पुर षोजहि षोवै।।
कहत कबीर सुनहुँ रे लोई, हरि बिन राखनहार न कोई।।९५।।

शब्दार्थ—षोजहि षोवै = निशान मिटाना।

अर्थ—इस शरीर की रक्षा करने वाला कोई नहीं है। तुम सोच विचार कर देखो। जिस कुटुम्ब को अपना समझ कर पाला था वही सिर पर मार कर बाहर ले जाकर जला देता है। लूटते है और रोते भी है। जलाकर या गाड़कर निशान तक मिटा देना चाहते है। सत कबीर कहते है कि ये लोगो, सुनो भगवान के बिना कोई मददगार नहीं है।

अब क्या सोचै आइ बनी, सिर पर साहिब राम धनी।।टेक।।
दिन दिन पाप बहुत मै कीन्हा, नहीं गोब्यंद की संक मनीं।।
लेटयो भोमि बहुत पछितानै, लालचि लागौ करत धनीं।।
छूटी फौज आँनि गढ़ घेरयौ, उड़ि गयौ गूडर छाड़ि तनीं।।
पकरयौ हंस जम ले चाल्यौ, मंदिर रोवै नारि धनी।।
कहै कबीर राम कित सुमिरत, चीन्हत नाहिन एक घिनी।।
जब जाइ आई पड़ोसी घेरयौ, छाँड़ि चल्यौ तजि पुरिष पर्नी।।९६।।

शब्दार्थ—आइबनी = लाभ का अवसर आना। सक = डर। भोमि = भूमि। गूडर = पक्षी जीव।

अर्थ—अब क्या सोचते हो? तुम्हे लाभ का अवसर मिला है। तुम्हारे ऊपर राम की कृपा है। जीवन भर नि शक होकर पाप किया। अब जमीनपर गिरनेपर अफसोस करते हो? पहले लोभ मे बड़ा पाप किया। यम की फौज ने शरीर गढ़ को घेर लिया है। जीवपक्षी शरीर छोड़कर उड़ गया। हस-जीवात्मा को यम लिये जा रहा है। घर मे स्त्री रो रही है। राम को चीन्हो और उनका स्मरण करो। जब पड़ोसी (यम) ने घेरा तो पुरुषत्व छोड़कर उसके साथ चले।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई॥
तीनि बार रूँधे इक दिन मै, कबहुँ कै खता खवाई।टेक॥
या मंजारी मुगध न माँनै, सब दुनियाँ डहकाई॥
राणाँ राव रंक कौ व्यापै, करि करि प्रीति सवाई॥
कहत कबीर सुनहुँ रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाषौ माँहि तै लेत अचानक, काहू न देत दिखाई॥९७॥

अर्थ—ऐ जीव रूपी सुग्गे, मन मे डरते रहो। काल बिल्ली तुम्हे डराती रहती है। दिन के तीन भागो मे रोकती है। कभी न कभी तुम्हारी भूल (खता) से वह तुम्हे खा जायगी। इस काल बिल्ली ने सारे ससार को परेशान कर रखा है। धनी से धनी, राजाराव सब प्रेम करके देख चुके। सबको खा गयी।

सत कबीर कहते है कि ऐ जीव रूपी सुग्गे, सुनो। प्रभु शरण मे जाने पर ही उबार है। काल बिल्ली लाखो के बीच जीव को उठा लेती है। कोई देख भी नही पाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

का माँगूँ कुछ थिर न रहाई; देखत नैन चल्या जग जाई।टेक॥
इक लष पूत सवा लष नाती, ता रावन घरि दिया न बाती॥
लंका सी कोट समंद सी खाई, ता रावन का खबरि न पाई॥
आवत संग न जात संगाती, कहा भयौ दरि बाँधे हाथी॥
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी॥९८॥

अर्थ—रामजी से भी क्या माँगे? ससार तो नाशवान् है। कुछ स्थिर नही है। आँखो के सामने सब जा रहा है। एक लाख पुत्र, सवा लाख नाती वाले रावण के घर मे कोई दिया बत्ती दिखाने वाला नही रह गया। जिसके पास लका का किला और समुद्र की खाई थी वह रावण चला गया। कोई खबर लेने वाला नही रहा। दरवाजे पर हाथी बाँधने से क्या हुआ? आना जाना अकेला होता है। यह ससार जुए का खेल है। जहाँ हार निश्चय है। जो भी जुआरी यहाँ आता है हाथ झाड़कर सब गँवा कर जाता है।

राम थोरे दिन कौ का धन करना, धंधा बहुत निहाइति मरना।टेक॥
कोटी धज साह हस्ती बँध राजा, क्रिपन को धन कौनें काजा॥
धन कै गरबि राम नही जाना, नागा ह्वै जंम पै गुदराँनाँ॥
कहै कबीर चेतहु रे भाई, हंस गया कुछ संगि न जाई॥९९॥

अर्थ—हे राम, थोड़े दिनो के लिये धन का क्या करना है? द्वन्द्व बहुत है। मरना तय है। करोड़ो ध्वजाओ के साथ हाथी बाँधने वाले राजा या कृपण का धन किस काम का है?

धन के अहकार मे राम को नही जाना। नगा होकर यम को प्रार्थना करते है। किंतु वह सुनना नही। सत कबीर कहते है कि हे जीव, चेतो, केवल हस जायगा और उसके साथ कुछ भी नही जायगा।

काह कूँ माया दुख करि जोरी; हाथि चूँन गज पाँच पछेवरी ॥टेक॥
नाँ को बंध न भाई साँथी, बाँधे रहे तुरंगम हाथी ॥
मैड़ी महल बावड़ी छाजा, छाड़ि गये सब भूपति राजा ॥
कहे कबीर राम ल्यौ लाई धरी रही माया काहू खाई ॥१००॥

अर्थ–इतनी माया (धन) क्यो इकट्ठी की ? केवल थोड़ा आटा और पॉच गज का वस्त्र काफी था। अत मे न कोई भाई, न साथी, न बॉधे गये घोड़े हाथी ही काम आए। मडित (मैडी) महल, सज्जित तालाब आदि को धरती के सभी राजा छोड़कर चले गये।

सत कबीर कहते है कि राम मे ध्यान लगाओ। माया रखी रह गयी। उसे कोई खा न सका।

माया का रस षाण न पावा; तह लग जम बिलवा है धावा ॥टेक॥
अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू साँची काहू खाई ॥
तिल तिल करि यहु माया जोरी, चलति बेर तिणाँ ज्यूँ तोरी।
कहै कबीर हूँ ताँका दास, माया माँहै रहै उदास ॥१०१॥

अर्थ– अभी माया रस खा भी नही पाया था कि तब तक यम पक्षी पर बिल्ली होकर दौड़ा। ससार मे धन को गाड़ कर छिपाया, किसी ने इकट्ठा किया। किसी ने खाया। तिलतिल कर माया (सपत्ति) इकट्ठी की। किंतु चलते समय (मृत्यु के समय) तृण तोड़ लिया। सबध भग कर लिया। सत कबीर उसके दास है जो माया मे रहकर भी माया के प्रति लगाव रहित एव उदासीन रहता है।

अलंकार–रूपक

मेरी मेरी दुनिया करते, मोह मछर तन धरते,
आगै पीर मुकदम होते, वै भी गये यौ करते ॥टेक॥
किसकी ममा चचा पुनि किसका, किसका पंगड़ा जोई ॥
यहु संसार बजार मंड्या है, जानैगा जग कोई ॥
मै परदेसी काहि पुकारौ, इहाँ नही को मेरा ॥
यह संसार ढूँढ़ि सब देख्या, एक भरोसा तेरा ॥
खाँहि हलाल हराँम निवारै, भिस्त भिस्त तिनहू कौ होई ॥
पंच तत का मरम न जानै दोजगि पड़िहै सोई ॥
कुटंब कारणि पाप कमावै, तू जाँणै घर मेरा ॥
ए सब मिले आप सवारथ, इहाँ नही को तेरा ॥
सायर उतरौ पंथ सँवारौ, बुरा न किसी का करणा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूँ भरणा ॥१०२॥

शब्दार्थ–मछर = मत्सर। पीर = सिद्ध। मुकदम = प्रधान। पगड़ा = लगड़ी। पगुल। जोई = योषिता। को = कोई। सायर = सागर। ज्वाब = जबाव। आगै = पहले।

अर्थ–लोग सपत्ति के लिये मेरी मेरी करते है। जैसे मोह, मत्सर ने ही शरीर धारण कर लिया है। पहले सिद्ध और प्रधान भी मेरी मेरी करते चले गए। मामा, चाचा, स्त्री आदि के सबध व्यर्थ है। यह ससार एक बाजार है। इसे कोई कोई ही जान सकता है। जीव (मैं) परदेशी है। यहॉ उसका कोई नही है। सब को पुकार कर देख लिया। कोई काम नही आया। अब एक प्रभु का भरोसा है। जो हलाल खाते है, हराम को रोकते है। उन्हे ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। किंतु पचतत्त्व के मर्म को न जानेवालो को नरक होता है।

लोग परिवार के लिये पाप करते है। लोग समझते है कि यह मेरा घर है। ये सभी स्वार्थी

है। यहाँ तुम्हारा कोई नही है।

ससार सागर को पार करो। रास्ता ठीक करो। किसी की बुराई मत करो। क्योकि पति परमेश्वर को जवाब देना होगा।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति

रे यामै क्या मेरा क्या तेरा, लाज न मरहि कहत घर मेरा ॥टेक॥
चारि पहर निस भोरा, जैसे तरवर पंखि बसेरा ॥
जैसे बनिये हाट पसारा, सब जग का सो सिरजनहारा ॥
ये ले जारे वै ले गाडे, इनि दुखिइनि दोऊ घर छाड़े।
कहउ कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई ॥१०३॥

अर्थ—अरे भाई, तुम्हे इस घर को मेरा कहते लज्जा नही आती। यह न मेरा है। न तुम्हारा। यहाँ चार पहर रहना है। भोर होते ही जैसे पेड़ के पक्षी उड़ जाते है वही हालत जीव की है। सृष्टि कर्त्ता बनिया है। अपना बाजार फैलाया है। कभी यह बाजार उठ जायगा। हिंदू जलाता है। मुसलमान गाड़ते है। इन दुखियो ने दोनो घर (इहलोक, परलोक) छोड़ दिये।

सत कबीर कहते है, लोगो सुनो। जीव नष्ट हो जायगा। परमात्मा रह जायगा।

अलंकार—उपमा

नर जाँणै अमर मेरी काया; घर घर बात दुपहरी छाया ॥टेक॥
मारग छाड़ि कुमारग जीवै, आपण मरै और कूँ रोवै।
कछू एक किया कछू एक करणा, मुगध न चेतै निहचै मरणाँ ॥
ज्यूँ जल बूँद तैसा संसारा उपजत, बिनसत लागैं न बारा।
पंच पँषुरिया एक सरीरा, कृष्ण कवल दल भवर कबीरा ॥१०४॥

अर्थ—आदमी अपनी देह को अमर समझता है। किंतु घर और घर की बात दोनो दुपहरिया की छाया के समान है। थोड़ी देर मे मिट जाते है। जो व्यक्ति मार्ग छोड़ कुमार्ग पर जाता है वह खुद तो मरता ही है। दूसरो को भी मारता है। मृत्यु निश्चित है। इसलिये जो किया और जो करना है उसे करो। ससार जल बूद सा उपजता है और क्षण भर मे नष्ट हो जाता है। पॉच तत्त्वो (पच पपुरिया) से बना एक शरीर है। भगवान कृष्ण कमल दल है और कबीर भ्रमर है।

अलंकार—उपमा तथा रूपक

मन रे अहरषि बाद न कीजे; अपनाँ सुकृत भरि भरि लीजे ॥टेक॥
कुँभार एक कमाई माटी, बहु विधि जुगति बणाई।
एकनि मै मुकताहल मोती, एकनि ब्याधि लगाई ॥
एकनि दीना पाट पटंबर एकनि सेज निवारा।
एकनि दीनो गरै गूदरी, एकनि सेज पयारा ॥
सांची रही सूँम की संपति, मुगध कहै यहु मेरी ॥
अंत काल जब आइ पहूँचा, छिन मे कीन्ह निबेरी।
कहत कबीर सुनौ रे संतो, मेरी मेरी सब झूठी ॥
चड़ा चीथड़ा चूहड़ा ले गया तणी तणगती टूटी ॥१०५॥

शब्दार्थ— अहरषि = (<स अहर्षित) व्यर्थ। बाद = तर्क। विवाद। सुकृत = पुण्य कर्म। कुभरा = सृष्टि कर्त्ता। कमाई = धधा। मुक्ताहल = मोती। व्याधि = रोग। जुगति = युक्ति। पाट पटबर = रेशमी वस्त्र। निवारा = निवार। गरैकू = गड़ने को। पयारा = १ पुआल। २ प्यारा। निबेरी = निबटारा। सॉची = सचय। चड़ा चीथड़ा = फटा चिरकुट। चूहड़ा = चोर।

तणी तनी = तनकी। चोली। अगिया। तागड़ी = करधनी।

अर्थ—रे मन व्यर्थ विवाद मत करो। अपने पुण्य को भरने, प्राप्त करने की कोशिश करो। सृष्टि कर्त्ता कुभकार ने मिट्टी को रगड़ कर युक्तिपूर्वक अनेक चीजे बनाई। कही मोती और कही रोग लगाया। एक को रेशमी वस्त्र और एक को निवार का बिस्तर दिया। एक को गड़नेवाली दरी दी और एक को पुआल या प्यार का बिस्तर दिया। सूम को सग्रह दिया और वह सपत्ति को अपनी कहता है। अतकाल आने पर क्षण मे फैसला होता है।

सत कबीर कहते है कि मेरी-मेरी सब नाशवान् है। किसी का कुछ नही है। फटा पुराना भी यम चोर ले गया। अगिया और करधनी भी नष्ट हो गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

हड़ हड़ हड़ हड़ हसती है, दीवाँनपनाँ क्या करती है।
आड़ी तिरछी फिरती है, क्या च्यौ च्यौ म्यौ म्यौ करती है॥
क्या तूँ रंगी क्या तूँ चंगी, क्या सुख लौड़े कीन्हाँ।
मीर मुकदम सेर दिवाँनी, जंगल केर षजीना॥
भूले भरमि कहा तुम्ह राते, क्या मदुमाते माया।
राम रंगि सदा मतिवाले, काया होइ निकाया॥
कहत कबीर सुहाग सुंदरी, हरि भजि है निस्तारा।
सारा षलक खराब किया है, माँनस कहा बिचारा॥१०६॥

शब्दार्थ—दीवॉनपनॉ = पागलपन। रग = रग वाली। चगी = सुदरी। लौड़े = लोढना। खोजना। मीर = धार्मिक आचार्य। सरदार। मुकदम = प्रधान। सेर = तृप्त। षजीना = निधि। निकाया = पवित्र। स्वच्छ। षलक = ससार।

अर्थ—यह माया बहुत हड़हडाती हुई हसती है। दीवानापन (मतवालापन) व्यक्त करती है। टेढ़ी-टेढ़ी फिरती है। च्यौ च्यौ म्यो म्यौ हल्ला भी करती है। तेरा ही रग है क्या? सुन्दरी है क्या? सुख इकट्ठा करके क्या करेगी? सुख खोजती फिरती है। मीर, मुकदम, तृप्त, दीवान एव जगल की सपत्ति ये सभी माया है। लोग झूठ मूठ मे इसके पीछे है। अरे लोगो, राम के रग मे रगो। शरीर सुदर हो जायगा। राम कहना सौभग्य है। इससे ससार सागर का निस्तार होता है। माया ने तो सारे ससार को नष्ट किया है। बेचारा मनुष्य क्या है? उसे नष्ट करना तो आसान है।

अलंकार—माया का मानवीकरण

हरि के नाँइ गहर जिनि करऊँ; राम नाम चित मुखा जु धरऊँ॥टेक॥
जैसे सती तजै स्यंगार, ऐसै जियरा करम निवार।
राग दोष दोहूँ मै एक न भाषि, कदाचि ऊपजै चिता न राषि॥
भूले विसरय गहर जौ होई कहै कबीर क्या करिहो मोहि॥१०७॥

शब्दार्थ— नॉइ = नाम। गहर = देर। स्यगार = श्रृगार।

अर्थ—राम नाम स्मरण मे देर नही करनी चाहिए। जैसे सती स्त्रियॉ श्रृगार छोड़ देती है वैसे ही कर्मो (ससारं कर्म) को दूर करो। राग द्वेष मे एक बात बोलो। समान रहो। कभी चिता का भडार न उत्पन्न हो। भूल चूक से कभी स्मरण मे देर भी हो तो उससे कुछ होने वाला नहीं है। क्योकि चित्त तो हर समय राममय है।

अलंकार—उपमा

मन रे कागद कीर पराया; कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारै, कल तर बढ़े सवाया॥टेक॥
बड़े बौहरे साँठो दीन्हौ कलतर काढ्यो खोटै।

घार लाख अरु असी ठीक दे जनम लिष्यो सब चोटै ॥
अबकी बेर न कागद कीस्यौ, तौ धर्म राई सूँ तूटै।
पूँजी बितड़ि बंदि ले दैहै, तब कहै कौन के छूटै ॥
गुरुदेव ग्याँनी भयौ लगनियाँ, सुमरिन दीन्हौ हीरा।
बड़ी निसरनी नाव राम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥१०८॥

शब्दार्थ—कागद = भाग्य लेख। कीट = कृत। किया। कलतर = मशीन से बना सिक्का। वैहरे = महाजन। ईश्वर। सॉठी = पूँजी। बुद्धि। चोट = दड। तूटै = टूटै। बितड़ि = वितरित कर। लगनियॉ = लगानेवाले। निसरना = निसेनी। सीढी। धर्मराइ = यमराज।

अर्थ—ऐ मन, तुमने अपने व्यापार (कर्म व्यापार) का कागज दूसरो को (माया के प्रतिनिधियो को) लिख दिया। तुम्हारा व्यापार क्या हुआ ? रुपयो से सवाया वढा। बड़े महाजनो (भगवान) ने तुम्हे पूँजी दी। कितु इस पुण्य की पूजी को तुमने खोटे सिक्को मे वदल दिया। फलत अव ८४ लाख योनियो मे मार खाते भटकते रहोगे। अव भी जन्म मे किसी प्रकार कागज मत करना तभी यमराज से मुक्त हो सकेगा।
पुण्य पूजी समाप्त होने पर यमदूत तुम्हे वदी बना लेगे। अव तुम्हे कौन छुड़ा सकेगा ?
सद्गुरु ज्ञानी है। पूजी लगानेवाले लगनशील है। उन्होने तुम्हे प्रभु स्मरण का हीरा दिया है। यह हीरा कलतर से वहुत अधिक मूल्य का है। राम नाम की निसेनी बड़ी है। इस पर सुकर्म कृत कवीर चढ गये। या कवीर का आत्मपक्षी राम नाम के सहारे प्रभु पास पहुँच गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

धागा ज्यूँ टूटै त्यूं जोरि; तूटै तूटनि होयगी, नाँ ऊँ मिलै बहोरि ।।टेक।।
उरझ्या सूत पाँन नही लागै, कूच फिरे सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरौ कहा बसाई ॥
सुरझयौ सूत गुढ़ी सब भागो, पवन राखि मन धीरा।
पचूँ भईया भये सनमुखा, तब यहु पान करीला ॥
नाँन्ही मैदा पीसि लई है, छाँणि लई द्वै बारा।
कहै कबीर तेल जब मेल्या, बुनत न लागी बारा ॥१०९॥

शब्दार्थ—पाँन = माँड़ी। कूच = कूची। गुढी = गाँठ।

अर्थ—प्रभु से प्रीति का सवध सूत्र टूटे तो उसे पुन जोड़ लो। एक बार टूटने पर मिलना कठिन है। उलझे सूत पर माड़ी नही चढ़ती है, चाहे कूँची चारो ओर क्यो न चलाई जाय। यानी विषयो मे उलझे मन पर प्रभु प्रीति का प्रभाव नही होता है।

विषयो की हवा के झोके से जब जीवन या भगवत् प्रेम के तार छूट जायेगे तब जीव वेवश हो जायगा। जब प्रेम सूत्र सुलझ जाय और कर्म की गॉठ समाप्त हो जाय तब श्वास प्राण वायु पर नियत्रण रखना चाहिए। श्वास, प्राणवायु पर नियत्रण से इद्रियॉ वश मे, हो जाती है। तव ध्यान सूत्र पर प्रेम की मॉड़ी चढ़ती है। सच्चा प्रेम पैदा होता है।

वासना वाले मन को मैदे के समान पीस कर उसे विषयमुक्त कर लिया है। वासना वाला मन नष्ट हो गया है। उसी मैदे को दो बार ज्ञान-भक्ति से छान कर तेल मिलाया है। इससे कपड़ा वुनने मे देर नही लगेगी। स्नेह से ही प्रेम का जीवन खड़ा होता है।

अलंकार—साग रूपक

ऐसा औसर बहुरि न आवै; राम मिलै पूरा जन पावै ।।टेक।।
जनम अनेक गया अरु आया की बेगारि न भाड़ा पाया ॥

भेष अनेक एकधूँ कैसा, नाँनाँ रूप धरै नट जैसा।
दाँन एक माँगो कवलाकंत, कबीर के दुख हरन अनंत ॥११०॥

अर्थ—ऐसा अवसर, मानव देहधारण का मौका फिर नही मिलेगा। राम के मिलने से भक्त की भक्ति पूर्ण हो गयी है। अनेक जन्मो मे व्यर्थ बेगार होता रहा। व्यर्थ की बेगार का किराया तक नही पाया। एक ने ही अनेक वेश बनाये जैसे नट नाना वेश बनाता है।

हे भगवान् एक ही दान मॉगता हूँ। आप अनत दुख दूर करने वाले है। मेरा दुख, भी दूर कीजिए।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, उपमा

हरि जननी मै बालिक तेरा; काहे न औगुण बकसहु मेरा ॥टेक॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहै न तेते ॥
कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता ॥
कहै कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥१११॥

अर्थ—हे प्रभु, तुम मॉ हो और तुम्हारा बालक हूँ। फिर मेरे दोषो को क्यो नही क्षमा कर देते हो ? माता पुत्र के अपराधो का कभी खयाल नही करती है। बच्चा माता के बालो को पकड़कर मारे तो भी मॉ कभी अपना प्रेम नही समाप्त करती है।

सत कबीर एक बुद्धि से विचार कर कहते है। बालक के दुख से मॉ भी दुखी होती है।

टिप्पणी— मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी। —तुलसी

गोब्यंदे तुम्ह थै डरपो भारी; सरणाई आयौ क्यूँ गहिये,
यहु कौन बात तुम्हारी ॥टेक॥
धूप दाझते छाँह तकाई, मति तरवर सचपाऊँ।
तरवर माँहे ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ ॥
जे बन जलै त जल कुँ धावै, मति जल सीतल होई।
जलही माँहि अगनि जे निकसै, और न दूजा कोई ॥
तारण तिरण तिरण तूँ तारण, और न दूजा जानौ।
कहै कबीर सरनाँई आयौ, अपनाँ देव नही मानौ ॥११२॥

अर्थ—हे प्रभु, मै तुमसे बहुत डरता हूँ। शरण मे आया हूँ। फिर भी तुम किस प्रकार (अत्यत तिरस्कार पूर्वक) मुझे स्वीकार करते हो। यह क्या बात है ? तुम्हारी आदत ही है शरणागत को कष्ट देकर शरण मे लेना। धूप से जलता व्यक्ति छाया के लिये पेड़ के नीचे जाता है। किंतु पेड़ से ही आग निकले तो वह आग कैसे बुझे ?

जलता वन को देख पानी को दौड़ा। शायद ठढा पानी हो। किंतु पानी से आग निकले तो दूसरा और कौन है जो आग बुझा दे ?

आप ही तरने, तारने वाले है। दूसरा कोई नही है। मै आपकी शरण मे हूँ। मै किसी अन्य देवता को अपना नही मानता हूँ। केवल गोविद प्रभु ही अपने है।

अलंकार—वक्रोक्ति, उदाहरण

मै गुलाँम मोहि बेचि गुसाँई; तन मन धन मेरा रामजी के ताँई ॥टेक॥
आँनि कबीरा हाटि उतारा, साँई गाहक बेचनहारा।
बेचै राम तो राखै कौन राखै राम तो बेचै कौन।
कहै कबीर मै तन मन जारया, साहिब अपनाँ छिन न बिसारया ॥११३॥

अर्थ—मै राम का गुलाम हूँ। हे राम, तुम मुझे बेच दो। मेरा धन, मन, तन सब राम का

है। राम के लिये है। राम ही मुझे ससार हाट मे लाये है। वे ही बेचते है। वे ही ग्राहक है। क्योकि राम के अतिरिक्त कोई नही है। राम बेचे तो कोई रख नही सकता। राम रखे तो कोई बेच नही सकता है।

सत कबीर कहते है कि मैने राम साधना मे तन-मन जला दिया है। अपने राम को एक क्षण के लिये भी नही भूला हूँ।

अलंकार—रूपक

अब मोहि राम भरोसा तेरा,
जाके राम सरीखा साहिब भाई, सो क्यूँ अनत पुकारन जाई।
जा सिरि तीनि लोक को भारा, सो क्यूँ न करै जन को प्रतिपारा॥
कहे कबीर सेवौ बनवारी, सीचौ पेड़ पीवै सब डारी॥११४॥

अर्थ—अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया। जिसे राम जैसा मालिक मिले है वह दूसरो से क्यो याचना करेगा ? जो तीनो लोको के पालन का भार उठाए है वह अपने भक्त का भार क्यो नही उठाएगा ? वनवारी (वनमाली) की सेवा करो। प्रभु पेड़ को सींचो और जीव जो उसकी डालियाँ है उन्हे भी सुख मिले।

अलंकार—वक्रोक्ति, दृष्टात, परिकराकुर

जियरा मेरा फिरै रे उदास, राम बिन निकसि न जाई साँस,
अजहूँ कौन आस॥टेक॥
जहाँ जहाँ जाँऊँ राम मिलावै न कोई, कहौ संतौ कैसे जीवन होई।
जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै, अनल दहै निस नीद न आवै॥
चंदन घसि घसि अंग लगाऊँ, राम बिना दारुन दुख पाऊँ।
सतसंगति मति मनकरि धीरा, सहज जाँनि रामहि भजै कबीरा॥११५॥

अर्थ— मेरा जीव उदास घूम रहा है। राम के विना कही साँस न निकल जाय। आज भी क्या आशा है? जहाँ भी जाता हूँ कोई राम से नही मिलाता है। ऐसे मे सतो, बताओ कैसे जीवन रहेगा ? राम वियोग मे शरीर जल रहा है। कोई इस शरीर को शात नही कर रहा है। आग के मारे नीद नही आती है। चदन घिस-घिस कर शरीर मे लगाता हूँ कितु राम के बिना भयानक दुख होता है। सतो की सगति मे मन और बुद्धि को शात करो। धैर्य धरो। सहज समझ कर राम को भजो।

राम कहौ न अजहूँ केते दिना; जब ह्वै है प्राँन तुम्ह लीनाँ॥टेक॥
भौ भ्रमत अनेक जन्म गया, तुम्ह दरसन गोब्यंद छिन न भया।
भ्रम्य भूलि पर्‌यो भव सागर, कछु न बसाइ बसोधरा॥
कहै कबीर दुखभंजना, करौ दया दुरत निकंदना॥११६॥

अर्थ—हे राम, अब कितने दिन बाकी है जव प्राण तुम मे लीन होगे। भव (ससार) मे आवागमन करते अनेक जन्म हो गये। किंतु हे गोविद, एक क्षण के लिये भी आपका दर्शन नही हुआ। मै भ्रम मे भूला भव सागर मे पड़ा हूँ। हे वसुधर, मेरा कुछ भी वश नही है।

सत कबीर कहते है कि हे दुख भजन, दु ख निकदन, दु ख दूर करनेवाले स्वामी, अब तो दया करो।

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव; हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥टेक॥
हरि मेरा पीव मै हरि को बहुरिया, राम बड़े मै छुटक लहुरिया।
किया स्यंगार मिलन कै ताँई, काहे न मिलौ राजा राम गुसाँई॥
अब की बेर मिलन जो पाँऊँ, कहै कबीर भौ जलि नही आँऊँ॥११७॥

अर्थ—साधक कबीर कहते है कि भगवान् मेरे पति है। राम बड़े है और मै छोटी हूँ। हरि बिना जीना नही हो सकता है। ऐ राजा राम स्वामी, मैने तुम्हारे लिये ही भावनाओ का श्रृगार किया है। तुम मुझसे क्यो नही मिलते हो ? अबकी बार प्रभु से मिल जाऊँ तो पुन ससार मे आना नही होगा।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति

राम बान अन्ययाले तीर; जाहि लागे सो जाँनै पीर ॥टेक॥
तन मन खोजौ चोट न पाँऊँ, ओषद मूली कहाँ घसि लाँऊँ॥
एकही रूप दीसै सब नारी, नाँ जानौ को पियहि पियारी॥
कहै कबीर जा मस्तिक भाग, नाँ जानूँ काहु देह सुहाग॥११८॥

शब्दार्थ—अन्याले = अनीवाले।

अर्थ—राम प्रेम का बाण अत्यत नुकीला है। जिसे लगता है वही इस दर्द को जानता है। किंतु इस चोट के स्थान का पता नही है। तन मन मे कही निशान नही है। बिना निशान के जड़ी की दवा घिस कर कहाँ लगाई जाय, यह समझ मे नही आता है।

सभी नारियाँ (जीव) एक प्रकार की दीखती है। ऐसे मे प्रभु की प्यारी कौन होगी कहना कठिन है। सत कबीर कहते है कि जिसके भाग्य मे लिख होगा भगवान् प्रियतम उसे ही सुहाग देगे।

अलंकार—व्यतिरेक, विशेषोक्ति

आस नही पूरिया रे, राम बिन को कर्म काटणहार ॥टेक॥
जद सर जल परिपूरिता, चात्रिग चितह उदास।
मेरी विषय कर्म गति है परा, तावै फ्यास पियास॥
सिध मिले सुधि नाँ मिलै, मिलै, मिलावै सोइ।
सूर सिध जब भेटिये, तब दुख न व्यापे कोइ॥
बोछै जलि जैसै मछिका, उदर न भरई नीर।
त्यूँ तुम्ह कारनि केसवा, जन ताला बेली कबीर॥११९॥

अर्थ—राम की कृपा के बिना किसी की आशा पूरी नही हो सकती है। भगवान् के बिना कर्म बधन को समाप्त करने वाला दूसरा कोई नही है। सारे ससार के तालाब जल भरे है किंतु चातक का चित्त उदास है। क्योकि चातक तो केवल स्वाती नक्षत्र का जल पीता है। मेरी कर्मगति भी चातक नही के समान ही विषम (कठिन) है। इसीलिये ससार जल से मेरी प्यासबुझ रही है।

जो सिद्ध प्रभु से मिला सकते है उसे सिद्ध के मिलने की कोई खबर नही है। जब श्रेष्ठ सिद्ध से भेट होती है तो दुख नही व्याप्त होता है। कम पानी मे जैसे मछली को तृप्ति नही होती है उसी प्रकार हे केशव, तुम्हारे बिना तुम्हारा भक्त तड़प (ताला बेली) रहा है।

अलंकार—दृष्टात

राम बिन तन की ताप न जाई; जल मै अगनि उठी अधिकाई ॥टेक॥
तुम्ह जलनिधि मै जल कर मीनाँ, जल मै रहौ जलहि बिन षीनाँ।
तुम्ह प्यंजरा मै सुवनाँ तोरा, दरसन देहु भाग बड़ मोरा॥
तुम्ह सतगुर मै नौतम चेला, कहै कबीर राम रमूं अकेला॥१२०॥

अर्थ—भगवान् के विना शरीर से तृष्णा की गर्मी शात न होगी। ससार सागर मे भयानक आग उठी है। हे प्रभु, तुम सागर और मै उसकी मछली हूँ। किंतु जल मे रहकर भी जल के अभाव मे क्षीण हूँ। तुम पिजड़ा और मै तुम्हारा सुग्गा हूँ। किंतु तुम्हारे पिजड़े मे रहने पर भी

भाग्यवश ही दर्शन होता है।

सत कबीर कहते है कि हे प्रभु, तुम सद्‌गुरु हो और मै तुम्हारा नवीनतम शिष्य हूँ। मै राम मे अकेला रमण करता हूँ।

अलंकार—विभावना, रूपक

गोब्यंदा गुँण गाईये रे; ताथै भाई पाईये परम निधान ॥टेक॥
ऊंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ करि रह्यो गगन मठ छाइ॥
झूठै जग डहकाइया रे क्या जीवण की आस।
राम रसाँइण जिनि पीया, तिनकौ बहुरि न लागी रे पियास॥
अरध षिन जीवन भला, भगवत भगति सहेत।
कोटि कलप जीवन ब्रिथा, नाँहिन परि सूँ हेत॥
संपति देखि न हरषिये, बिपति देखि न रोइ।
ज्यूँ संपति त्यूँ बिपति है, करता करै सु होइ॥
सरग लोक न बाँछिये, डरिये न नरक निवास।
हूँणा थाँ सो है रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस॥
क्या जप क्या तप संजमाँ, क्या तीरथ ब्रत स्नान।
जो पै जुगति न जाँनिये, भाव भगति भगवान॥
सुंनि मंडल मै सीधि लै, परम जोति परकास।
तहूँवा रूप न रेष है, बिन फूलनि फूल्यौ रे आकास॥
कहै कबीर हरि गुँण गाइ लै, सत संगति रिदा मँझारि।
जो सेवग सेवा करै, ता सँगि रमै रे मुरारि॥१२१॥

अर्थ—ईश्वर के गुणो को गाओ। इसी से परम तत्त्व की प्राप्ति होगी। सारा ससार ओकार से उत्पन्न है। विकार होने पर ससार नष्ट हो जाता है। इसी लिये सत अनाहत शब्द की वशी बजाकर आकाश मे मठ बनाए है। ध्यान लगाए है।

जीवन भर आशा रहित जीवन के लिये व्यर्थ जलते रहे। जिसने रामरस को पी लिया उन्हे फिर कभी प्यास नही लगती है। भगवान् की भक्ति करते हुए आधे क्षण का जीवन भी अच्छा है। करोड़ो युगो का जीवन व्यर्थ है। यदि भगवान् की भक्ति नही की।

सपत्ति को देख कर प्रसन्न और विपत्ति मे दुखी नही होना चाहिए। प्रभु ही सपत्ति देनेवाला कर्त्ता है। वही जो करता है। वही होता है।

स्वर्ग की इच्छा (वाछा) मत करो। नरक से डरो मत। जो होना है वह होगा। मन मे झूठी आशा नही करनी चाहिए।

जप, तप, तीर्थ, सयम, व्रत, स्नान आदि व्यर्थ है यदि भावपूर्वक भगवान् को जानने की युक्ति नही जानते है।

शून्य मडल मे प्रभु के प्रकाश का साक्षात्कार करो। उस शून्य मे न कोई रूप है न रेखा है। बिना फूल के आकाश फूला है।

हृदय मे प्रभु के गुणो को गाओ और सत सगति करो। जो सेवक सेवा करता है भगवान् उसके साथ रमण करते है।

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नाँही, ता दिन राम सहाई ॥टेक॥
तंत न जानूँ मंत न जानूँ, जानूँ सुंदर काया।

मीर मलीक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया॥
वेद न जानूँ, भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रामाँ।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हाँ, मुख कीन्हौं जित नामा॥
राजा अंबरीक कै कारणि, चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ, भगत की सरन उबारै॥१२२॥

अर्थ–मन रे, हरि को भजो। बार-बार भजो। जबं तुम्हारा कोई नही था राम तुम्हारे सहायक थे। तत्र, मत्र, सुदर शरीर कुछ नही जानता हूँ। मीर, मलिक, क्षत्रपति राजा इन सब को माया खा गयी। वेद एव रहस्य नही जानता। केवल राम को जानता हूँ।

ज्ञानी पडित की ओर पीठ कर दी अर्थात् विद्या को इनकार कर दिया। प्रभु को स्वीकार किया। उस प्रभु को स्वीकार किया जो भक्तो का रक्षक है। जिसने दुर्वाशा के क्रोध से राजा अम्बरीष की रक्षा के लिये चक्र सुदर्शन चालित किया था।

सत कबीर दास के स्वामी प्रभु शरणागत भक्त की रक्षा करते है।

राम भणि राम भणि राम चिंतामणि, भागे बड़े पायौ छाड़ै जिनि॥टेक॥
असंत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ, साध संगति मिलि हरि गुँण गाइ॥
रिदा कँवल मे राखि लुकाइ, प्रेम गाँठि दे ज्यूँ छूटि न जाइ॥
अठ सिधि नव निधि नाँव मँझारि, कहै कबीर भजि चरन मुरारि॥१२३॥

अर्थ–बड़े भाग्य से इच्छितफल दाता (चितामणि) राम को पाया है। उन्हे ही बार-बार भजो। कभी छोड़ना मत। भूल कर भी असाधु की सगति मे मत जाना। साधु सगति मे जाकर हरि गुण गाओ। भगवान् को हृदय कमल मे छिपा लो और प्रेम से बॉध दो जिसमे बधन खुल न जाय।

अष्ट सिद्धियो (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व), नव निधि (पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुद, कुद, नील, खर्व) के बीच मे नाम को ध्यान कर हरि चरणो को भजो। राम भजन से ही सिद्धि, निधि सब की प्राप्ति होगी।

निरमल निरमल राम गुण गावै; सो भगता मेरे मनि भावै॥टेक॥
जे जन लेहिं राम को नाँउँ, ताकी मै बलिहारी जाँउँ॥
जिहिं घटि राम रहे भरपूरि, ताकी मै चरनन की धूरि॥
जाति जुलाहा मति कौ धीर, हरषि हरषि गुँण रमै कबीर॥१२४॥

अर्थ–जो भक्त शुद्ध मन से परमोज्वल राम के गुणो को गाता है वह भक्त मुझे अच्छा लगता है। जो राम नाम जपता है मै उस पर अपने को बलिदान करता हूँ। जिसके शरीर मे राम नाम भरा है मै उसके चरणो की धूल हूँ। उसका भक्त हूँ। जुलाहा जाति का कबीर प्रसन्न हो होकर राम का भजन करता है।

जा नरि राम भगति नही साधी; सो जनमत काहे न मूवौ अपराधी॥टेक॥
गरभ मुचे मुचि भई किन बाँझ, सूकर रूप फिरै कलि माँझ॥
जिहि कुलि पुत्र न ग्याँन बिचारी, वाकी विधवा काहे न भई महतारी।
कहै कबीर नर सुंदर सरूप, राम भगति बिन कुचल करूप॥१२५॥

अर्थ–जिस मनुष्य ने राम की भक्ति नही की वह अपराधी जन्म लेते ही क्यो नही मर गया ? गर्भ गिरा गिरा कर ऐसी माता वध्या क्यो नही हो गयी ? भक्ति हीन व्यक्ति सूअर होकर ससार मे घूमता है। जिस कुल के पुत्र ने प्रभु ज्ञान पर विचार नही किया उसकी मॉ विधवा क्यो नही हो गयी ?

सत कबीर कहते है कि मनुष्य सुदर होकर भी रामभक्ति के अभाव मे वस्त्र सहित गदा

और कुरूप है।

राम बिनाँ ध्रिग ध्रिग नर नारी; कहा तै आइ कियौ संसारी ।।टेक।।
रज बिनाँ कैसौ रजपूत, ग्यान बिना फोकट अवधूत ।।
गनिका कौ पूत कासौ कहै, गुर बिन चेला ग्यान न लहै ।।
कबीर कन्याँ करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार ।।
कहै कबीर हूँ कहता डरूँ, सुषदेव कहै तौ मै क्या करूँ ।।१२६।।

अर्थ–राम भक्ति न करनेवाले स्त्री-पुरुष को धिक्कार है। पता नही तुमने ससार मे आकर क्या किया ? राजस् शक्ति के बिना कैसा राजपूत ? ज्ञान के बिना व्यर्थ अवधूत कहलाए। ये सब वेश्या पुत्र के समान पिता का नाम नही जानते। गुरु के बिना ज्ञान नही होता है। कुमारीका श्रृगार पतिके बिना व्यर्थ है। कबीर दास इतनी कटुवात कहते है। किंतु इसी वात को मुनि शुकदेव (भागवत) कहते है तो कबीर क्या करे ?

अलंकार–दृष्टात

जरि जाव ऐसा जीवनाँ, राजा राम सूँ प्रीति न होई।
जन्म अमोलिक जात है, चेति न देखै कोई ।।टेक।।
मधुमाषी धन संग्रहै, मधुवा मधु ले जाई रे।
गयौ गयौ धन मूँढ जनाँ, फिरि पीछै पछिताई रे।।
विषिया सुख कै कारनै, जाइ गनिका सूँ प्रीति लगाई रे।
अंधे आगि न सूझई, पढ़ि पढ़ि लोग बुझाई रे।।
एक जनम कै कारणै, कत पूजौ देव सहँसौ रे।
कहि न पूजौ राम जी, जाकौ भगत महेसौ रे।।
कहै कबीर चित चंचला, सुनहु मूढ मति मोरी।
विषिया फिर फिर आवई, राजा राम न मिले बहोरी ।।१२७।।

अर्थ–वह जीवन जल जाये जिस जीवन मे भगवान से प्रेम न हो। मानव जन्म अनमोल है। यह बीत रहा है। कोई चेत कर देखना नही चाहता है। मधुमक्खी मधु का सग्रह करती है। मधु निकालने वाला मधु निकाल ले जाता है। वैसे ही मूढ़ो का धन चला जाता है। वे अफसोस करते है।

विषय सुख के कारण लोग वेश्या से प्रेम करते है। इन अधो को आग नही दिखाई पड़ती है। आग को मत्र पढ़कर बुझाना चाहते है।

एक जन्म के कारण अनेक देवता की पूजा करते है। क्यो नही राम जी की पूजा करते स्वय शिव जिनके भक्त है। ऐ चचल मन के मूढ लोगो सुनो, विषयो से बार-बार भेट होगी। किंतु राम पुन नही मिलेगे। इसलिये राम की आराधना करो।

अलंकार–दृष्टात, रूपकातिशयोक्ति

राम न जपहु कहा भयौ अंधा राम बिना जँम मेले फंधा ।।टेक।।
सुत दारा का किया पसारा, अंत की बेर भये बटपारा ।।
माया ऊपरि माया माड़ी, साथ न चले षोषरी हाँड़ी ।।
जपौ राम ज्यूँ अंति उबारै, ठाढ़ी बाँह कबीर पुकारै ।।१२८।।

अर्थ–तुम अँधे क्यो हो ? राम क्यो नही जपते हो ? राम के बिना यम फदे मे डालेगा। स्त्री, पुत्रादि का प्रसार किया। अत मे सभी डाकू सिद्ध हुए। तुमने माया के ऊपर माया को स्थापित किया। किंतु साथ मे खाली हाड़ी भी नही चल सकी। हाथ उठा कर कबीर कहते है कि अत मे उवारने वाले राम को क्यो नही जपते हो ?

अलंकार—दृष्टात और रूपकातिशयोक्ति

डगमग छाड़ि दै मन बौरा।
अब तौ जरे बरे बनि आवै, लीन्हों हाथ सिंधौरा।।टेक।।
होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ।।
सूरौ कहा मरन थै डरपै, सती न संचे भाड़ौ।।
लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गलै मै पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै ह्वै है जग मै हाँसी।।
यह संसार सकल है मैला, राम कहै ते सूचा।
कहै कबीर नाव नही छाँड़ौ, गिरत परत चढ़ि ऊँचा।।१२९।।

अर्थ—ऐ बावला मन, चचलता छोड़ दो। अब तो हाथ सिधौरा ले लिया। अब तो जलना-मरना ही होगा। नि शक हो मगन होकर नाचो, लोभ, मोह, भ्रम छोड़ो। बहादुर मृत्यु से नही डरते है। सती वर्तनो का सयय नही करती है। लोक वेद कुल की मर्यादा यह गले की फॉसी है। पीछे पड़ गयी है। भक्ति के आधे रास्ते पर चल कर पीछे नही लौटा जा सकता है। इससे ससार मे हॅसी होगी।

यह ससार अत्यत गदा है। राम नाम जपने वाला ही शुद्ध (शुचि) है। कबीर दास कहते है, मै राम नाम नही छोड़ूँगा। गिरते पड़ते ऊँचा चढ़ना है।

अलंकार—दृष्टात, मानवीकरण

का सिधि साधि करौ कुछ नाही, राम रसाँइन मेरी रसनाँ माँही।।टेक।।
नही कुछ ग्याँन ध्याँन सिधि जोग, ताथै उपजे नाना रोग।
का बन मै बसि भये उदास, जे मन नही छाड़ै आसा पास।।
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार।।१३०।।

अर्थ—सिद्धियो की साधना करना व्यर्थ है। राम रसायन मेरी जीभ मे है। ज्ञान, ध्यान, सिद्धि, योग कुछ मत करो। इनसे नाना प्रकार के रोग होते है। आशा के बधन तोड़ने के पूर्व वन मे उदास होकर बैठने से कोई फायदा नही है।

ससार के सारे कार्य कच्चे (काच) है। नाशवान है। केवल प्रभु प्रेम ही सार तत्त्व है। सत कबीर कहते है कि ससार का व्यवहार छोड़ो।

जौ तै रसना राम न कहियो; तौ उपजत बिनसत भरमत रहियौ।।टेक।।
जैसी देखि तरवर की छाया, प्राँन गये कहु काकी माया।।
जीवत कछु न कीया प्रवानाँ, मूवा मरम को काँकर जाना।।
संधि काल सुख कोई न सोवै, राजा रंक दोऊ मिलि रोवै।।
हंस सरोवर कँवल सरीरा, राम रसाइन पीवै कबीरा।।१३१।।

अर्थ—ऐ मनुष्य, तुम्हारी जीभ अगर राम नाम नही कहेगी तो तुम्हारा आवागमन नही छूटेगा। यह ससार पेड़ की छाया जैसा है। प्राण चले जाने पर कोई किसी के प्रति ममता नही दिखाता है।

जीते जी कुछ उचित कार्य नही किया। मरने के बाद के मर्म को कौन जानता है ? सबके जीवन मे काल सेध (सधि) डाल रहा है। ऐसे मे कोई व्यक्ति सुख से कैसे सो सकता है ? राजा रक दोनो रो रहे है।

जैसे तालाब मे हस और कमल रहते है वैसे ही शरीर मे भगवान् है। काल से बचने की एक मात्र औषध राम रसायन का सेवन है।

अलंकार—उपमा, वक्रोक्ति, रूपक

का नाँगे का बाँधे षाम; जौ नही चीन्हसि आतम राम ।।टेक।'
नागे फिरै जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई ।।
मूँड़ मुड़ायै जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ।।
ब्यंद राखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरै कौण परँम गति पाई ।।
पढ़ै गुनै उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न पारा ।।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई ।।१३२।।

अर्थ–कवि नगा रहनेवाले और मृग चर्मादि बॉधने वाले व्यक्तियों और सम्प्रदायो पर व्यग्य करते कहता है कि यदि आत्मतत्त्व की पहचान नही हुई तो नगा रहने और चाम लपेटने से क्या होगा ? (यहॉ दो जैन सप्रदाय है– एक नगा रहता है। दूसरा सफेद वस्त्र लपेटे रहता है। दोनो शरीर (चर्म) नियत्रण पर जोर देते है।

यदि नगा घूमने से योग होता हो वन मे नगे घूमने वाले मृगो की मुक्ति हो जाती। सिर मुड़ाने से मुक्ति होती तो भेड़ो के बाल अक्सर कटते है उनकी मुक्ति हो जाती। वीर्य की रक्षा से ही यदि परम गति (मोक्ष) होती हो तो बधिया जानवरो (पुरुष) को भी मोक्ष मिलना चाहिए था।

पढ़ने लिखने से अहकार पैदा होता है। ऐसा व्यक्ति बीच मे ही डूब जाता है। सत कबीर कहते है कि राम नाम के स्मरण के बिना मुक्ति नही होती है।

हरि बिन भरमि बिगूते गंदा।
जापै जाऊँ आपनपौ छुडावण, ते बीधे बहु फंधा ।।टेक।।
जोगी कहैं जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई ।।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, ऐ जु कहै सिधि पाई ।।
जहाँ का उपज्या तहाँ बिलाना, हरि पद बिसरया जबहीं ।।
पंडित गुँनी सूर कवि दाता, ऐ जु कहै बड़ हँमही ।।
वार पार की खबरि न जाँनी, फिर्यौ सकल बन ऐसै ।।
यहु मन बोहि थके कउवा ज्यूँ, रह्या ठग्यौ सो वैसै ।।
तजि बावै दाँहिणै बिकार, हरि पद दिढ करि गहिये ।।
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बूझै तौ का कहिये ।।१३३।।

शब्दार्थ–बिगूते = नष्ट हुए। आपनर्पौ = अपनापा। आत्माहकार। लुचित = बल नोचनेवाले जैन।। मुडित = सिर मुड़ानेवाले बौद्ध। मौनि = मौन साधु।

अर्थ–भगवान् के बिना अर्थात् प्रभु भक्ति के बिना लोग गदगी में नष्ट हो गये। ससार मे जिसके पास भी आत्माहकार से मुक्ति के लिये जाता हूँ वह स्वय फदे मे बधा दीखता है। योगी कहते है कि योग की सिद्धि ठीक है और दूसरी ठीक नही है। जैनी, बौद्ध, मौन, जटाधारी आदि ने क्या सिद्धि पाई ? हरिपदको भूलनेसे जहॉ जन्मे थे वहीं विला गये। नष्ट हो गये। पडित, गुणी, बीर, कवि दाता ये सभी अपने को बड़ा समझते है। इस पार और उस पार का कोई ज्ञान नही है। व्यर्थ ससार वन मे भटक रहे है। यह मन जहाज के थके कौए सा है। जैसे जहाज का कौआ थक कर पुन जहाज पर आता है वैसे ही ससार मे कही सुख न देख कर मन गुरु चरणो मे आता है। दक्षिण और वाम के विकारो को छोड़ कर प्रभु चरणो मे दृढ़ अनुराग करो। प्रभु प्रेम गूँगे के गुड़ के स्वाद सा अकथनीय है।

अलंकार–दृष्टात

चलौ बिचारी रहौ सँभारी, कहता हूँ ज पुकारी।
राम नाम अंतर गति नाही, तौ जनम जुवा ज्यूँ हारी ।।टेक।।

मूँड़ मुड़ाइ फूलि का बैठे, काँननि पहरि मजूसा।
बाहरि देह षेह लपटानी, भीतरि तौ घर मूसा॥
गालिब नगरी गाँव बसाया, हाँम काँम हंकारी।
घालि रसरिया जब जँम खैचे, तब का पति रहै तुम्हारी॥
छाँड़ि कपूर गाँठि विष बाँध्यौ, मूल हुवा ना लाहा।
मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा॥१३४॥

शब्दार्थ—मजूषा = शीशे का कुडल। मुद्रा। खेह = धूल। भस्म। गालिब = जीतकर। घालि = डालकर। पति = प्रतिष्ठा। लाह = लाभ। अभौ = अभय।

अर्थ—विचार कर चलो। सम्हल कर रहो। यह बात मै पुकार कर कहता हूँ। हृदय मे राम नाम नही है तो यह जन्म व्यर्थ गया। जैसे जुए का खेल हार जाता है।

साधुओ के एक सप्रदाय की ओर सकेत करते हुए सत कबीर कहते है कि सिर मुड़ा कर कानो मे मोटा कुडल पहन कर अहकार मे क्यो बैठे हो ? बाहर से देह मे भस्म लपटाए हो। किंतु भीतर तो माया लूट रही है। जीत कर गॉव-नगर बसाया। अहम् और काम का अहकार पाला। किंतु जब यमराज रस्सी से बॉध कर खींचेगा, ले जायगा। तब तुम्हारी कौन सी प्रतिष्ठा रह जायगी ? कपूर जैसी प्रभु भक्ति को छोड़ विषय विष को गॉठ मे बॉध लिया। लाभ होना तो दूर मूल पूँजी (आत्म ज्ञान) भी नष्ट हो गयी। सत कबीर कहते है कि मेरे राम की नगरी भय-रहित पद देने वाली है। यही सबको आना चाहिए।

अलंकार—उपमा, वक्रोक्ति, रूपकातिशयोक्ति

कौन बिचारि करत हौ पूजा; आतम राम अवर नही दूजा॥टेक॥
बिन प्रतीतै पाती तोड़ै, ग्यॉन बिनाँ देवलि सिर फोड़ै॥
लुचरी लपसी आप संघारै, द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै॥
पर आत्म जौ तत बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै॥१३५॥

शब्दार्थ—देवलि = मदिर। लुचरी = पूड़ी। लपसी = एक प्रकार का पतला हलवा। सघारै = (व्यग्य मे) खाना।

अर्थ—क्या सोच कर पूजा करते हो ? आत्मा के रूप मे राम सबके भीतर है। उसे ही पूजो। दूसरा कोई पूजनीय नही है। बिना विश्वास के पत्ती तोड़ते हो। मदिर मे सिर फोड़ते हो। सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ तो स्वय खाते हो। राम तो तुम्हारे हृदय मदिर के दरवाजे पर भूखे पुकार रहे है। राम का भोजन तो मात्र प्रेम-भक्ति है। परमात्म तत्त्व पर जो विचार करता है उस पर अपने को निछावर करना है।

कहा भयौ तिलक गरै जपमाला, मरम न जानै मिलन गोपाला॥टेक॥
दिन प्रति पसू करै हरिहाई, गरै काठ बाकी बाँनि न जाई।
स्वाँग सेत करणी मनि काली, कहा भयौ गलि माला घाली॥
बिन ही प्रेम कहा भयौ रोये, भीतरि मैल बाहरि का धोये॥
गल गल स्वाद भगति नही धीर, चीकन चँदवा कहै कबीर॥१३६॥

अर्थ—गले मे माला, माथे पर तिलक व्यर्थ है। यदि प्रभु से मिलने का मर्म (तत्त्व) नही जानते हो। पशु दिन रात ऊधम (हरिहाई) मचाते है। उनके गले मे काठ बॉध दिया जाता है। फिर उनकी आदत नही जाती है।

मनुष्य के वस्त्र तो सफेद किंतु कर्म काले है। अत गले मे माला पहनने से क्या हुआ ? प्रेम के अभाव मे रोने से क्या फायदा होगा ? इस रोने से भीतर की मैल (वासना) नही समाप्त होगी।

भक्ति गलगल स्वाद, चिकने और चँदोवा वस्त्र के समान आसान नही, धैर्य का कार्य है। ऐसा सत कबीर कहते है।

अलंकार—दृष्टात

ते हरि आवेहि किहि कॉमाँ; जे नहीं चीन्है आतम रामाँ ॥टेक॥
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगता मिलैं अपारा ॥
भाव न चीन्है हरि गोपाला, जानि क अरहट कै गलि माला।
कहै कबीर जिनि गया अभिमाना, सो भगता भगवंत समानाँ ॥१३७॥

अर्थ—वे प्रभु के किस काम के है जिन्हे आत्म तत्त्व का बोध नही है। ससार के अधिकतर लोगो मे भक्ति तो थोड़ी कितु भक्ति का अहकार बहुत अधिक है। भगवान् के प्रतिभाव नहीं रखते है। ऐसे मे माला पहनना वैसा ही है जैसे रहट के गले की कुडियॉ।

सत कबीर कहते है कि जिनका अभिमान चला गया वे भक्त भगवान् के समान है।

कहा भयौ रचि स्वाँग बनायौ; अंतरिजामी निकट न आयौ ॥टेक॥
विषई विषे ढिढावै, गावै, राम नाम मनि कबहूँ न भावै ॥
पापी परलै जाहि अभागे, अमृत छाड़ि बिषै रसि लागे ॥
कहै कबीर हरि भगति न साधी, भग मुषि लागि मूये अपराधी ॥१३८॥

अर्थ—अगर अतर्यामी प्रभु के पास नही आए तो केवल भक्ति का स्वॉग बनाने से क्या फायदा हुआ ? विषयी लोग विषय मे दृढ रहते है। उसे ही गाते है। मन मे कभी राम नाम नही लाते। ऐसे पापी प्रलय मे नष्ट हो जाते है। क्योकि ये रामनाम की भक्ति को छोड़कर विषय रस मे लिपटे रहते है।

सत कबीर कहते है कि जिसने भक्ति की साधना नही की वे भगोन्मुख (भग की ओर उत्सुख) व्यक्ति अपराधी है। वे मरेगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

जौ पै पिय के मनि नाही भाये; तौ का परोसनि कै हुलराये ॥टेक॥
का चूरा पाइल झमकाये, कहा भयौ बिछुवा ठमकाये ॥
का काजल स्यंदूर कै दीयैं, सोलह स्यंगार कहा भयौ कीयै ॥
अंजन मंजन करै ठगौरी, का पचि मरै निगोड़ी बौरी ॥
जौ पै पतिब्रता है नारी, कैसे ही रही सो पियहिं पियारी ॥
तन मन जीवन सौपि सरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा ॥१३९॥

शब्दार्थ—परोसनि = काम-वासना या दूसरे देवता। चूरा = चूड़ी। निगोड़ी = निगोत्री। वौरी = पागल। पचिमरना = मिहनत करना।

अर्थ—यदि जीवात्मा प्रभु के मन को आकर्षित नही कर सकती है तो काम-वासना या दूसरे देवो को प्रसन्न करने से क्या फायदा होगा ? चूड़ी, पायल, बिछुवा आदि गहने का चमका, झमका कर, काजल, सिदूर लगा कर सोलह श्रृगार करने से क्या फायदा ? अजन मजन तो ठगने के लिये है। ये पागल निगोड़ी स्त्रियॉ क्यो मिहनत करती है ? अगर स्त्री पतिव्रता हो तो वह कैसी भी रहे प्रिय को प्यारी होगी। जो स्त्री प्रिय को तन-मन जीवन सौपती है वही सुहागिन है।

भक्ति पूर्ण समर्पण है। सत कबीर सुहागिन के रूपक द्वारा उसी की ओर सकेत करते है। भक्त को केवल समर्पण करना चाहिए। सभी धर्मो (श्रृगारो) को छोड़ केवल भगवान् की शरण मे जाओ।

अलंकार—अन्योक्ति

दूभर पनियाँ भर्‍या न जाई; अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई ।।टेक।।
उपरि नीर लेज तलि हारी, कैसे नीर भरे पनिहारी ।।
उधर्‍यौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी ।।
गुर उपदेश भरी ले नीरा, हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ।।१४०।।

शब्दार्थ—दूभर = कठिनाई से भरा जाने वाला। त्रिषा = तृषा। प्यास। लेज = रस्सी। कूप = सहस्रार। पच पनिहारी = कुडलिनी।

अर्थ—ऊपर सहस्रार मे उलटा कुऑ है। इसका भारी घाट है। इसके पानी को भरना कठिन है। प्यास इतनी है कि बिना भगवान् की कृपा के प्यास बुझाई नहीं जा सकती है। पानी ऊपर और पानी भरने वाली कुडलिनी रस्सी नीचे मूलाधार मे स्थित है। ऐसे मे कैसे पानी भरा जा सकेगा ? घाट उघड़ गया और घाट भारी हो गया। पॉचो इद्रियॉ परेशान है।

सद्गुरु के उपदेश जल को भर कर कबीर उसे हर्षित होकर पी रहे है।

अलंकार—विरोधाभास

कहौ भइया अंबर काँसूँ लागा; कोई जाँणैंगा जाँननहारा ।।टेक।।
अंबरि दीसे केता तारा कौन चतुर ऐसा चितरनहारा ।।
जे तुम्ह देखौ सो यहु नाँही, यहु पद अगम अगोचर माँहीं ।।
तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौ रे भाई ।।
कहै कबीर जे अंबर जाने, ताही सूँ मेरा मन माँनै ।।१४१।।

शब्दार्थ—चितरनहारा = चित्रकार।

अर्थ—ऐ भाई, आकाश किससे लगा है ? इसे कोई जानकार ही बता सकता है। इस आकाश मे बहुत से तारे दीखते है। वासनाऍं दीखती है। किसी अत्यत चतुर चितेरे ने इसका निर्माण किया है। जिस प्रत्यक्ष आकाश को सभी देखते है उस आकाश की बात नही हो रही है। यह तो अगम अगोचर पद मे समाया आकाश है। पद पैर भी है और कविता की वाणी भी है। यह आकाश साढ़े तीन हाथ के शरीर मे समाया है। देह स्थित इस आकाश को समझना है। सत कबीर का मन उसी से मानता है।

अलंकार—वक्रोक्ति

तन खोजी नर करौ बड़ाई; जुगति बिना भगति किनि पाई ।।टेक।।
एक कहावत मुलाँ काजी, राम बिना सब फोकटबाजी ।।
नव ग्रिह बाँभण भणता रासी, तिन्हूँ न काटी जम कौ पासी ।।
कहै कबीर यहु तन काचा, सबद निरंजन राम नाम साचा ।।१४२।।

अर्थ—युक्ति के बिना भक्ति नही होती है। तन भी आवश्यक है। अत भक्ति करने वाले शरीर की खोज करो। मनुष्य योनि मे पैदा होना बड़ाई की कोई बात नही है। मुल्ला और काजी एक है। किंतु राम की उपासना के बिना सब व्यर्थ है। ब्राह्मण नवग्रह और बारह राशियो की पूजा करते है। वे भी यम का बॅधन न काट सके।

सत कबीर कहते है कि राम नाम एव निरजन शब्द सच्चा है। यह देह तो नाशवान् है।

जाइ परौ हमरौ का करिहै; आप करै आप दुख भरिहै ।।टेक।।
ऊभड़ जाताँ बाट बतावै, जौ न चलै तौ बहुल दुख पावै।
अंधे कूप क दिया बताई, तरकि पड़े पुनि परि न पत्याई ।।
इंद्री स्वादि विषै रसि बहिहै, नरकि पड़े पुनि राम न कहिहै ।।
पंच सखी मिलि मतौ उपायौ, जंम की पासी हंस बँधायौ ।।
कहै कबीर प्रतीति न आवै, पाषंड कपट इहै जिय भावै ।।१४३।।

अर्थ—चले जाओ। मेरा क्या करोगे ? स्वय करोगे। अपने कियेका भोगोगे। मरोगे। ऊबड़ अर्थात् ऊँचे खाले रास्ते मे जाते जो बताता है वह चल नही पाता। दुख पाता है। अंधे को कुऑ वता दिया। वह तड़क कर गिर गया। या तर्क करता है। भगवान मे विश्वास नही करता है। इद्रियो के वश मे पड़े लोग नरक जायेगे। किंतु राम नही कहते है। पॉच सखियो अर्थात् पॉचो इद्रियो का एक मत होकर ऐसा कर्म किया जिससे यम ने जीवात्मा को बॉध लिया। सत कवीर कहते है कि विश्वास नही होता है। पाखड और कपट यही मन को अच्छा लगता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

ऐसे लोगनि सूँ का कहिये।
जे नर भये भगति थै न्यारे, तिनथै सदा डराते रहिये ।।टेक।।
आपँण देही चरवाँ पाँनी ताहि निंदे जिनि गंगा आनी ।।
आपण बूड़े और कौ बोड़े, अगनि लगाइ मंदिर मै सोवै ।।
आपण अंध और कूँ काँनाँ, तिनकौ देखि कबीर डराँनाँ ।।१४४।।

अर्थ—ऐसे लोगो को क्या कहा जाय ? जो मनुष्य जीवन मे भक्ति से अलग है। उनसे सदा डरते रहिए। स्वय तो चुल्लूभर (चरवॉ) पानी नही देते। किंतु पूरी गगा को नीचे उतारनेवाले की निदा करते है। आप तो डूबते ही है। दूसरो को भी डुबो देते है। ऐसे लोग आग लगाकर घर मे सोने जैसा काम करते है।

स्वय तो अधे है। सब तरह से बुरे है। किंतु दूसरा जो कम वुरा (काना) है उसकी निदा करते है। सत कबीर कहते है कि ऐसे व्यक्तियो से डरना चाहिए।

अलंकार—लोकोक्ति, रूपकातिशयोक्ति

तुल०—गारी देत नीच हरिचद हूँ दधीचहू को।

आपने चाना चबाइ हाथ चाटियतु है।— तुलसी०

हैं हरिजन सूँ जगत लरत है, फुँनिगा कैसे गरड़ भषत है ।।टेक।।
अचिरज एक देखह संसारा सुनहाँ खेदै कुंजर असवारा ।।
ऐसा एक अचंभा देखा जंबक करै केहरि सूँ लेखा ।।
कहै कबीर राम भजि भाई, दास अधम गति कबहुँ न जाई ।।१४५।।

शब्दार्थ—हरिजन = भक्त। सुनहाँ = कुत्ता। कुजर = हाथी। जवक = गीदड़। सियार। केहरि = शेर। सूँ = से। लेखा = हिसाब। दास = भक्त।

अर्थ—ससार अर्थात् ससार की-वासनाएँ भक्त से लड़ती है। भक्त को भ्रष्ट करना चाहती है। किंतु भक्त भगवान् की सवारी गरुड़ है और वासनाएँ भुनगा है। वासनाएँ कुत्ता है। भक्त हाथी का सवार है। कुत्ता इस सवार से लड़ने चला है। यह ससारका आश्चर्य है। एक और आश्चर्य है सियार (वासनाएँ) शेर (भक्त) से हिसाव मॉगता है।

सत कबीर कहते है कि हे भाई, राम भजो। भक्त कभी अधोगति को नही प्राप्त होता है।

अलंकार—वक्रोक्ति, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति।

है हरिजन थैं चूक परी; जे कछु आहि तुम्हारो हरी ।।टेक।।
मोर तोर जब लग मै कीन्हाँ, तब लग त्रास बहुत दुख दीन्हाँ ।।
सिंध साधिक कहैं हम सिधि पाई, राम नाम बिन सबै गँवाई ।।
जे बैरागी आस पियासी, तिनको माया कदे न नासी ।।
कहै कबीर मै दास तुम्हारा, माया खंडन करहु हमारा ।।१४६।।

अर्थ—हे प्रभु, भक्त से गलती हो गयी है। किंतु जो कुछ है सब तुम्हारा है। जब तक मैं तुम का भेद वना था तब तक आपने बहुत दुख दिया। सिद्ध, साधक कहते है कि हमने सिद्धि

पाई है। किंतु राम नाम के बिना सब खो दिया। विरागी होकर भी जो आशा के प्यासे है उनकी माया का कभी नाश नही होगा।

सत कबीर कहते है कि हे प्रभु, मै आपका दास हूँ। आप मेरी माया का नाश करे।

सब दुनी सयाँनी मैं बौरा; हँम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ।।टेक।।
मै नही बौरा राम कियो बौरा, सतगुर जारि गयौ भ्रम मोरा ।।
विद्या न पढूँ बाद नही जानूँ हरि गुँन कथत सुनत बौराँनूँ ।।
काँम क्रोध दोऊ भये विकारा, आपहि आप जरे संसारा ।।
मीठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर राम गुँन गावै ।।१४७।।

अर्थ—सारा ससार बुद्धिमान् है। मै ही पागल हूँ। मै तो बिगड़ ही गया हूँ। और कोई न बिगड़े।

अरे भाई, मै पागल नही हूँ। राम भक्ति ने मुझे पागल बना रखा है। सतगुरु ने मेरा भ्रम जला दिया है। मै विद्या नही पढ़ता हूँ। तर्क नही जानता हूँ। केवल प्रभु गुण गान मे पागल हूँ। सारा ससार काम क्रोध इन दो विकारो मे जल रहा है। मीठा वही है जिसको जो अच्छा लगे। किसी को वासना मीठी लगती है। किसी को राम भजन ही मीठा लगता है।

अलंकार—वक्रोक्ति

अब मैं राम सकल सिधि पाई; आँन कहूँ तौ राम दुहाई ।।टेक।।
इहि चिति चाषि सबै रस दीठा, राम नाम सा और न मीठा ।।
औरे रसि ह्वै है कफ गाता, हरि रस अधिक अधिक सुखदाता ।।
दूजा बणिज नही कछु बाषर, राम नाम दोऊ तत आषर।
कहै कबीर जे हरि रस भोगी, ताकूँ मिल्या निरंजन जोगी ।।१४८।।

शब्दार्थ—आँन = अन्य। दुहाई = कसम। चिति = चित्त। बाषर = बखरी। घर तत= तत्त्व। आषर = अक्षर। दीठा = देखा।

अर्थ—हे राम, अब मैने सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली। अन्य किसी देवता का नाम नही लूँगा। यह बात राम शपथ खाकरे कहता हूँ। इस चित्त से सभी रसो को चख कर देखा। किंतु राम नाम के रस के समान और कोई रस मीठा नही मिला। अन्य रसो से शरीर का कफ बढ़ता है। हरि रस सुख देने वाला होता है। राम नाम को छोड़ न मेरा कोई व्यवसाय है, न घर है। राम नाम के दो तत्त्व पूर्ण अक्षर ही मेरे लिये महत्त्वपूर्ण है।

सत कबीर कहते है कि जो व्यक्ति हरि रस का भोग करने वाला है उसे निरजन योगी की कृपा मिलती है।

अलंकार—रामनाम सा और न मीठा – प्रतीप
औरे रस ह्वै है कफ जाता – भेदकातिशयोक्ति।

रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै; अब न कोई तेरे अंकुस लावै ।।टेक।।
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा, हरि पद चीन्हि कियौ विश्रामा।
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यो ग्याँन जहाँ तहाँ सोई ।।
लीन निरंतर बपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया ।।१४९।।

अर्थ—साधना पूर्ण हुई। अब मन राममय है। इसलिये हे मन, अब तुम कही इच्छानुसार जा सकते हो। अब तुम्हे रोकनेवाला कोई नही है। जहाँ जाओगे वहाँ राम को देखोगे। हरि चरणो को देख विश्राम किया। जब तक शरीर मे मोह था तब तक भेद दिखाई पड़ता था। ज्ञान होने पर अब सर्वत्र प्रभु ही दीखते है। सुख सागर राम की प्राप्ति होने पर उसके ध्यान मे सदा लीन है और शरीर की चिता भूल गयी।

बहुरि हम काहे कूँ आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत्त की रचना, तब हम रामहि पावहिंगे।।टेक।।
पृथी का गुण पाँणी सोष्या, पाँनी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे।।
जैसे बहु कंचन के भूषन, एकहि गालि तवावहिगे।।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे, सुंनिहि माँहि समावहिंगे।।
जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसैं हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे।।१५०।।

अर्थ—हम पुन इस ससार मे क्यो आयेगे ? पचतत्त्व रचनावाले शरीर से मुक्ति मिल गयी। अब हम राम को प्राप्त करेगे। पृथ्वी के गुणो को पानी, पानी के गुण अग्नि, अग्नि के हवा, हवा के शब्द और शब्द गुण सहज समाधि मे मिल गये।

सोने के भिन्न-भिन्न आभूषणो को गर्मकर एक मे ही गलाया जाय तो सभी नाम रूप छोड़ जायेगे। इसी प्रकार सारी सृष्टि लोकवेद द्वारा प्राप्त नाम रूप को छोड़कर शून्य तत्त्व मे विलीन हो जायगी।

आत्मा-परमात्मा का सबध जलतरगवत् अशाशी का है। सत कबीर कहते हैं कि सुख सागर प्रभु की कृपा से आत्माहस परमात्मा परमहस मे मिल जायगा।

अलंकार—उदाहरण

कबीरा संत नदी गयो बहि रे,
ठाढ़ी माइ कराड़े टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे।।टेक।।
बादल बाँनी राम घन उनयाँ, बरिषै अंमृत धारा।
सखी नीर गंग भरि आई, पीवै प्रांन हमारा।।
जहाँ बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे।।
सूर्य प्रकास आनंद बमेक मैं घर कबीर ह्वै पैठे।।१५१।।

अर्थ—सत कबीर, सत्य या सतो द्वारा बताई गयी नदी मे बह गये है। भक्ति नदी में डूबे है। भक्ति से अलग उसके किनारे पर खडी माया मा (जीव उसी माया से उत्पन्न है) पुकार कर कहती है कि क्या किसी मे शक्ति है कि वह भक्त कबीर को पुन भक्ति प्रवाह से निकाल कर माया मे ले आये? बादल वर्णी राम रूपी बादल उमड आये है। उन बादलो मे अमृत की धारा बरस रही है। भक्त बहती भक्ति नदी से प्रेम जल भर ले आया है जिसे भक्त के प्राण पी रहे है। जिस अगम अगोचर स्थान पर सनक, सनदन बहकर लगे है और रुद्र ध्यान लगाकर बैठे है। जहाँ विवेक और आनद के सूर्य का प्रकाश हो रहा है। कबीर दास ने उसी घर मे प्रवेश किया है।

अलंकार—सागरूपक

अवधू कामधेन गहि बाँधी रे।
भाँड़ा भंजन करे सबहिन का, कछू न सूझै आँधी रे।।टेक।।
जौ ब्यावै तौ दूध न देई, ग्याभण अंमृत सरवै।
कौली घाल्यौं बीड़रि चालै ज्यूँ घेरौ त्यूँ दरबै।
तिहि धेन थैं इंछ्या पूगी पाकड़ि खूँटै बाँधी रे।
ग्वाड़ा माँहै आनँद उपनो, खूँटै दोऊ बाँधी रे।।
साँई माइ सास पनि साँई, साइ बाकी नारी।।
कहै कबीर परम पद पाया, संतौ लेहु बिचारी।।१५२।।

शब्दार्थ—काम धेनु = माया। भाँड़ा = बर्तन। साधना। कौली = (< स क्रोड) गोद।

घाल्यॉ = देना। बीडरि = बिदकना। दरवै = द्रवित होती है। पूगी = पूरी हुई। ग्वाड़ा = गाय बॉधने का स्थान। ससार। खूँटै दोऊ = ज्ञान, वैराग्य या ज्ञान, भक्ति। साई = स्वामी।

अर्थ—हे अवधू, मैने माया काम धेनु को, कस कर बॉध लिया है। यह माया गाय (गृह शरीर घर मे प्रवेश कर) बर्त्तनो को तोड़ती है। ऐसी अधी है कि इसे कुछ भी दिखाई नही पड़ता है। सब तोड़ती चलती है। पात्र, सुपात्र, अपात्र सबको समान भाव से नष्ट करती है। सत असत का भेद भी नही करती है।

माया गाय बयाने पर, प्रसार होने पर मुक्ति या ज्ञान रूप दूध नही देती है। कितु माया को छोड़कर माया निर्मित शरीर जब ज्ञान गर्भित होता है तब आत्मतत्त्व (दूध) का बोध होता है। गोद मे लेने की कोशिश मे भागती है। घेरने पर (नियत्रित करने पर) द्रवित होती है। माया गाय को पकड़कर बॉधने पर, नियत्रण मे रखने पर मनुष्य की इच्छा पूर्ण होती है। क्योकि माया निर्मित शरीर ही धर्मसाधना का आधार है। कितु यह तब होता है जब माया गाय को ज्ञान के खूँटे से बॉध दिया जाय। ससार मे अत्यत हर्ष उत्पन्न हुआ जब यह गाय ज्ञान-वैराग्य के दो खूँटो मे बॉधी गयी।

प्रभु ही इस माया गाय के सब कुछ है। माया स्वामी की मा, सास और स्त्री आदि सब कुछ है।

सत कबीर कहते है कि जो इसको समझता है वह परमपद की प्राप्ति करता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास, यमक

(राम रामकली)

जगत गुर अनहद कीगरी बाजे, तहाँ दीरघ नाद ल्यौ लागे।।टेक।।
त्री अस्थांन अंतर मृगछाला, गगन मंडल सीगीं बाजे।
तहुँआँ एक दुकाँन रच्यो है, निराकार व्रत साजे।।
गगन ही भाठी सींगीं करि चुंगी, कनक कलस एक पावा।
तहुँवा चबै अमृत रस नीझर, रस ही मैं रस चुवावा।।
अब तौ एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन मै एकै जोगी, कहौ कहाँ बसै राजा।।
बिनरे जानि परणऊँ परसोतम कहि कबीर रँगि राता।
यहु दुनिया काँई भ्रमि भुलाँनी, मैं राम रसाइन माता।।१५३।।

शब्दार्थ—कीगरी = किन्नरी वीणा। ल्यौ = लय। त्री = तीन। अस्थान = त्रिकुटी। दीरघ नाद = महत् ध्वनि। चुगी = रस टपकाने की नली। चबे = चूता है। टपकता है।

अर्थ—हृदय मे भगवान् का अनहद बाजा बज रहा है। उस महत् ध्वनि मे मन का लय हो गया है। अतर की त्रिकुटी का स्थान ही बैठने का आसन (मृगछाला) है। सहस्रार मे शृगीनाद हो रहा है। त्रिकुटी मे योगी ने एक साधना की दुकान बनाई है। यह कलाल की दुकान है। वहाँ निराकार की उपासना हो रही है। आकाश मडल, कपाल कुहर को भट्ठी, श्रृगी को रस टपकाने वाली नली और शुद्ध मन का स्वर्ण कलश है। उससे अमर करने वाला (अमृत) रस टपक रहा है। यह रस ब्रह्मानद रस है। इसलिये यह रस से रस को प्राप्त होता है। भावार्थ यह कि इस रस का आनद वही ले सकता है जिसमे भक्ति रस पहले से उपस्थित है।

अब एक और बात हो गयी। पच प्राणो के प्याले मे यह रस ढल रहा है। तीनो भुवनो (तन, मन, प्राण) मे एक ही महा योगी है। अब राजा (इन तीनो भुवनो का स्वामी) कहाँ

निवास करता है ? यह महा योगी ही तीनो लोको का स्वामी है।

बिना जाने ही इस पुरुषोत्तम योगी के प्रति परिणत हूँ। वह योगी (मैं) प्रभु प्रेम मे रगा है। पता नही क्यो ससार के लोग भ्रम मे भूले है ? मै साधक राम रसायन मे मत्त हूँ।

अलंकार—सागरूपक

ऐसा ग्यान विचारि लै, लै लाइ लै ध्यांनाँ।
सुंनि मंडल मैं घर किया, जैसे रहै सिचाँनाँ।।टेक।।
उलटि पवन कहाँ राखिये, कोई मरम विचारै।
साँधै तीर पताल कूँ, फिरि गगनहि मारै॥
कंसा नाद बजाव ले, धुंनि निमसिले कंसा।
कंसा फूटा पंडिता, धुंनि कहाँ निवासा॥
प्यंड परे जीव कहाँ रहै, कोई मरम लखावै।
जीवत जिस घरि जाइये, ऊंधे मुषि नही आवै॥
सतगुर मिलै त पाइये, ऐसी अकथ कहाँणी।
कहै कबीर संसा गया, मिले सारंगपाँणी॥१५४॥

अर्थ—ऐ लोगो, जैसा मै कहता हूँ वैसे ज्ञान पर विचार कर ध्यान लगाओ। शून्य मडल मे ऐसे घर किया जैसे श्येन (बाज पक्षी) आकाश मे रहता है। प्राणवायु को उलटना योग की क्रिया है। इस वायु को उलटा कर कहाँ रखा जायगा ? इस प्रकार कोई विचार करे प्राण-अपान को विरुद्ध कर सुषुम्ना मे स्थिर करे। इसे पवन लय कहते है। पहले मूलाधार (पाताल) से कुडलिनी को सीधे तीर के समान चलाये और सहस्रार मे जाकर स्थिर करे।

कासे का बाजा बजाने पर उससे निकली ध्वनि फिर उसी मे समा जाती है। उसी प्रकार कासे के बाजे के फूटने पर भी ध्वनि कहाँ जाती है ? पडितो, शरीर नष्ट होने पर जीव कहाँ जाता है ? इस रहस्य को देखो। जैसे कासे की आवाज काँसे मे मिलती है उसी प्रकार जीव जिस परमात्म तत्त्व से उत्पन्न होता है उसी मे जाकर पुन मिल जाता है।

ऐ साधक, जीते जी उस प्रभु के घर जाओ जिससे पुन औधा होकर गर्भ मे न आना पड़े। आवागमन का चक्र पूरा हो जाय।

किंतु यह ज्ञान सतगुरु की कृपा से ही प्राप्त होगा। भगवान विष्णु मिल गये है। सशय दूर हो गया है।

अलंकार—यमक, उपमा, विरोधाभास

टिप्पणी— हठयोग प्रदीपिका मे वायु साधन की प्रक्रिया इस प्रकार बतायी गयी है—

इडा च पिगला बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि।
अनेनैन विधानेन प्रयाति पवनोलयम्

है कोई संत सहज सुख उपजै, जाकौ जप तप देउ दलाली।
एक बूँद भरि देइ राम रस, ज्यूँ भरि देई कलाली।।टेक।।
काया कलाली लाँहनि करिहूँ, गुरु शब्द गुड़ कीन्हाँ।
काँम क्रोध मोह मद मंछर, काटि काटि कस दीन्हाँ॥
भवन चतुरदस भाटी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी।
मूँदे मदन सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी॥
नीझर झरै अँमी रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका॥
कहै कबीर यहु बास बिकट अति, ग्याँन गुरु ले बाँका॥१५५॥

शब्दार्थ—दलाली = सामान बिकवाने और खरीदवाने वाले मध्यस्थ को दी जाने वाली

रकम। लाहनि = वह पदार्थ जिसकी खमीर उठती है और शराब बनती है। कस = कसैलापन। मछर = मत्सर। भाटी = भट्ठी। पुरई = तैयार किया। अँमी = अमृत। रावल = जीवात्मा। छाका = मस्त। बाका = बहादुर। विकट = कठिन। पोतनहारी = वह कपड़ा जो नली पर लगाया जाता है।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि क्या कोई सत ऐसा है जो सहजानद की अनुभूति करा सके? मै ऐसे सत साधक को अपना जप, तप दलाली के रूप मे दे दूँगा। अर्थात् वह मेरे पुण्यो और साधनाओ के फल को भी प्राप्त करे।

इसके बाद सत कबीर ने पूरी कलाली का रूपक बाँधा है। जैसे कलाल शराब देता है वैसे ही यह सत राम रस का भाग एक ही बूद दे। (एक बूँद का भी वह प्रभाव होगा जो बहुत पीने से होता है)। मैने अपने शरीर को कलाल की खमीर उठानेवाली वस्तु के रूप मे सौप दिया है। गुरुदेव का शब्द गुड़ है। काम, क्रोध, मोह, मत्सर, मद आदि को टुकड़े काट कर कस बनाने के लिये दिया है। चौदहो भुवनो की भट्ठी बनायी या शरीर के विभिन्न कोशो को भट्ठी बनाया। ब्रह्म तत्त्व को अग्नि रूप मे जलाया। मदन को मूँदकर सहज ध्वनि अर्थात् अनाहत नाद पैदा किया। सुषम्ना को उस कपड़े के रूप मे प्रयोग किया जिससे नली ढँकी जाती है।

अब उससे अमृत रस का झरना झरता है। इस रस को जीवात्मा रावल पीता है। यहाँ का निवास अत्यत कठिन है। किसी सिद्ध गुरु के ज्ञान द्वारा ही इस कलाली मे निवास और इस शराब का आस्वादन सभव है।

अलंकार—सागरूपक, वक्रोक्ति, श्लेष, व्यतिरेक

अकथ कहाँणी प्रेम की, कछु कही न जाई;
गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसुकाई ॥टेक॥
भोमि बिनाँ अरु बीज बिन तरवर एक भाई।
अनँत फल प्रकासिया, गुर दीया बताई।
मन थिर बैसि बिछारिया, रामहिं ल्यौ लाई।
झूठी अनभै बिस्तरी सब थोथी बाई।
कहै कबीर सकति कछु नाही, गुरु भया सहाई ॥
आँवण जाँणी मिटि गई, मन मनहि समाई ॥१५६॥

शब्दार्थ—सरकरा = शर्करा। लौ। ध्यान। भोमि = भूमि। बैसि = बैठकर। बिछारिया = विचार किया। बाई = वायु। थोथी = खोखला। बिस्तरी = फैली। सकति = शक्ति।

अर्थ—प्रेम कहानी कहना कठिन है। यह गूँगे के गुड़ के समान है जिसका स्वाद लिया जा सकता है। उसे अभिव्यक्त नही किया जा सकता है। बैठा-बैठा खाता है, मुस्काता है। किंतु बोल नही सकता है। बिना धरती, बिना बीज के यह ईश्वर, ससार या शरीर रूपी पेड़ खड़ा है। इसमे अनत फल लगे है। गुरु ने कृपा कर यह फल बता दिया है। मन को स्थिर कर बैठने पर राम मे ध्यान लगाने पर ज्ञान होता है। ऐसे मे सासारिक अनुभव झूठे और थोथे लगने लगते है। ये अनुभव थोथी बातो पर टिके है। या ये थोथे छिलके वायु मे उड़ जाते है। मनुष्य मे कोई शक्ति नही है। गुरु की सहायता से ही उक्त तत्त्व की अनुभूति और प्राप्ति हो सकती है। अत गुरु सहायक हुए। फलत मेरा ससार चक्र समाप्त हो गया। अब मन विषयो मे न जाकर मन मे ही समाहित हो गया है।

अलंकार—दृष्टात, विभावना

संतो सो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमल ताकूँ सदा विचारत रहिये।।टेक।।
सो काजी जाकौ काल न ब्यापैं, सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म विचारै, सो जोगी जग सूझै।।
उदै न अस्त सूर नही ससिहर, ताको भाव भजन करि लीजै।
काया थै कछु दूरि बिचारै, तास गुरू मन धीजै।
जार्‌ये जरै न काट्यो सूकै, उतपति प्रलै न आवै।।
निराकार अषंड मंडल मै, पाँचौ तत्त समावै।।
लोचन अछित सबै अँधियारा, बिन लोचन जग सूझै।
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकूँ, जो या अरथहि बूझै।।
आदि अनंत उभै पख निरमल, द्रिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई।।
एकनि गंध बासनाँ प्रगटै जग थै रहै अकेला।।
प्रॉन पुरिस काया थै बिछुरे, राखि लेहु गुर चेला।
भागा भर्म भया मन अस्थिर, निद्रा नेह नसाँनाँ।।
घट की जोति जगत प्रकाष्या, माया सोक बुझाँनाँ।।
बंकनालि जे संमि करि राखै, तौ आवागमन न होई।।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई।।१५७।।

शब्दार्थ—अनभै = अनुभव। कल = टुकड़ा। ससिहर = शशधर। चद्रमा। सूकै = सूखना। पॉचो तत्त = आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। अछित = रहते। पख = पक्ष। अस्थिर = स्थिर। समि =समान। ब्रह्मा = ब्राह्मण।

अर्थ—सतो, उस पद को ग्रहण करो। जो अखड, आदि रहित, निर्मल निधि है। हर समय उसी पर विचार करो। वही काजी है जिस पर काल प्रभाव नही पड़ता है। जो अनुभव पद को समझता है वही पडित है। वह ब्राह्मण है जो ब्रह्म पर विचार करता है। वह योगी है जिसे सारे ससार का बाहर-भीतर दीखता है। उस स्थान या तत्त्व का भाव भाजन करो जहॉ सूर्य और चद्रमा का उदय अस्त नही होता है। जो इनके प्रभाव से मुक्त है। जो शरीर से कुछ दूर का विचार करता है। उस गुरु को मन देना चाहिए।

परमतत्त्व जलाने पर जलता नही, काटने पर सूखता नही, उत्पत्ति प्रलय मे आता नही। अखडित रहता है। जिसके निराकार अखड मडल मे पॉचो तत्त्व समाहित हो जाते है।

ऑखे रहते (भौतिक ऑखें) कुछ नही दीखता है। जिसने भीतरी ऑख (प्रज्ञा) प्राप्त कर ली है उसे सब दिखाई पड़ता है। जो इस अर्थ को समझता है। उससे प्रभु पर्दा हटाकर मिलता है। जो आदि-अत के दोनो पदो से निर्मल है। जो ऑखो से देखा नही जा सकता है। साधनाकी आग जली है। ब्रह्मरध्र जल रहा है। पूरे शरीरमे शीतलता समा गई है।

प्रभु प्राप्ति की एक मात्र गध की एक वासना फूटी है। यह वासना (गध) ससार की अकेली गध है। प्राण पुरुष शरीर से अलग हो रहे है। गुरु-चेले मे क्षमता हो उस पुरुष को रख ले। जाने से रोक दे।

भ्रम दूर हुआ। मन स्थिर हो गया। ससार प्रेम की नींद नष्ट हो गया। शरीर के भीतर की आत्म ज्योति से सब कुछ प्रकाशित हो गया है। माया का दुख दूर हो गया। वक नालि को सुषुम्ना मे प्राण-अपान के समान रखा जाय तो ससार चक्र समाप्त हो जाये। सत कबीर कहते है कि हमारे भीतर अनाहत ध्वनि लहरी उठी है। अब स्वामी का दर्शन सहज हो गया है।

तुलनी— १ न तत्र सूर्योभाति न चद्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
—कठो०

२ नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक ।
न चैन केलदयन्त्यापो न शोषयति मारुत. ।
— गीता २। २३

अलंकार—विभावना, रूपक, विरोधाभास, असगति

जाइ पूछो गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरौं कौन गुरू चेला।
अपणें रूप को आपहि जाँणे, आपै रहे अकेला ।।टेक।।
बाँझ का पूत बाप बिना जाया, बिन पाऊँ तरबरि चढ़िया ।।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षडे संग्राम जुड़िया ।।
बीज बिन अंकुर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पुहुप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया ।।
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा बिन पाँषाँ भवर बिलंबया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया ।।
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतनाँ होई सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंगि लागा ।।१५८।।

शब्दार्थ—अस = अश्व। पाषर = लोहे की झूल। कवच। षडै = तलवार। खड्ग। जुड़िया = जुटा है। साषा = शाखा। परमल = परिमल। देहुरा = मदिर। बागा = बाजा। गुड़िया = हौदा।

अर्थ—ऐ शास्त्रज्ञ पडितो, तुम लोग जाकर भगवान् से पूछो कि हे प्रभु, आप का कौन चेला है और कौन गुरु है। निराकार प्रभु दोनो से रहित है। वह अपने रूप को स्वय जानता है। वह अकेला रहता है। वह वध्या का पुत्र के समान असभव कल्पना है। वह उत्पन्न है या पिता रहित है। बिना पाँव के पेड़ पर चढ़ता है। वह अपाणिपादौ है। उसकी स्थिति बिना घोड़े के झूले, बिना हाथी के हौदे और बिना अस्त्र के योद्धा जैसी है।

वह बीज एव अकुर रहित पेड़ है। शाखा रहित फलदार पेड़ है। अरूप स्त्री है। फूल नही किंतु उसकी गध है। जलरहित भरा तालाब है। देव रहित मंदिर, पत्र रहित पूजा, पखरहित घूमने वाला भौरा है। बहादुर परमपद पाते है। बाकी लोग कीट-पतगो के समान वासनाग्नि मे जलते है। परतत्त्व दीपक बिना प्रकाश और प्रकाश रहित दीपक है। निस्सीम अनाहत ध्वनि होती रहती है।

सत कबीर कहते है कि जो प्रभु के साथ लग गया वह समझदार सारी स्थितियो को समझता है।

अलंकार—विभावना, उल्लेख

पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरिष नाँहिन बूझै।
बिन हाथनि पाँइन बिन काँननि, बिन लोचन जग सूझै ।।टेक।।
बिन मुख खाइ चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नही छाड़ै, दह दिसिहीं फिरि आवै ।।
बिनही तालाँ ताल बजावै, बिन मंदल षट ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला ।।

बिनाँ बोलनै बिनाँ कंचुकी, बिनहीं संग संग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या, जाँनैगा जस कोई ॥१५९॥

अर्थ—पंडित (अध्यात्म शास्त्र का ज्ञाता) पद पर विचार करेगा। किंतु मूर्ख को कुछ नहीं सूझेगा। बिना हाथ, पैर, कान, ऑख, मुख, जीभ के क्रमश करता, चलता, सुनता, देखता, बोलता, चखता है। सदा एक जगह रहता है। कभी जगह नही छोड़ता है। किंतु दसो दिशाओ मे घूमता है। बिना ताली के ताल देता है। बिना मर्दल के षट् ताल बजाता है। बिना शब्द ध्वनि के अनाहत बजता है। वहाँ कृष्ण नाचते है। बिना शरीर, कचुकी तथा बिना सग के साथ होता है।

इस नृत्यवाद्य के अवसर को कोई-कोई ही जानता है।

अलंकार—विभावना

है कोई जगत गुर ग्याँनी, उलटि बेद बूझै।
पाँणीं मे अगनि जरै, अँधरे को सूझै ॥टेक॥
एकनि दादुरि खाये, पंच भवंगा।
गाइ नाहर खायौ, काटि काटि अंगा॥
बकरी बिघार खायौ, हरनि खायौ चीता।
कागि लगर फाँदिया, बटेरै बाज जीता।
मूसै मँजार खायो, स्यालि खायौ स्वाँनाँ।
आदि कौ आदेश करत, कहै कबीर ग्याँनाँ ॥१६०॥

शब्दार्थ—पाणी = प्रपच। अगनि = प्रभु प्रेम की आग। दादुर = भ्रम। पॉच भुवग = पॉच ज्ञानेद्रियॉ। गाय = अविद्या। नाहर = जीव। बकरी = कुबुद्धि। बिघार = वृक। सद्बुद्धि। लगर = एक शिकारी पक्षी। विवेक। कागि = अविवेक। बटैरै = बटेर। अज्ञान। बाज = ज्ञान। मूसा = विषया सक्ति। मजार = बिल्ली। बुद्धि। स्याल = चित्त की चचलता। श्वान = चरित्र।

अर्थ—क्या ससार मे कोई ऐसा गुरु है जो इस उलटे वेद (ज्ञान) को समझ सकता है ? आग पानी मे जलती है। प्रभु प्रेम की आग ससार प्रेम के पानी मे नष्ट हो रही है। वासना विमुख ऑखो को अतर्ज्ञान हो गया है।

भ्रम मेढक ने पॉच ज्ञानेद्रिय सर्पो को खा डाला। भ्रम से ज्ञान समाप्त हो गये। अविद्या गाय जीव नाहर को खा रही है। अगो को काट-काट कर खा रही है। मनुष्य के सभी कर्म अविद्या जन्य हो रहे है। कुबुद्धि बकरी सद्बुद्धि बृक को खा रही है। अविवेक कौआ विवेक लगर फॉद गया। अज्ञान बटेर ने ज्ञान बाज को जीत लिया है। विषयसक्ति चूहे ने बुद्धि बिल्ली को खाया। चित्त की चचलता सियार ने चरित्र श्वान को नष्ट कर दिया। सब जानकर सत कबीर-आदि पुरुष को प्रणाम (आदेश) करते है।

अलंकार—विरोधाभास

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उमेषै।
मूसा हसती सौ लड़ै, कोई बिरला पेषै ॥टेक॥
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई।
चींटी परबत ऊषण्याँ, ले राख्यौ चौड़ै॥
मुर्गी मिनकी सूँ लड़ै, झल पाँणी दौड़ै।
सुरहीं चूँषै बछतलि, बछा दूध उतारै॥
ऐसा नवल गुँणा भया, सारदूलहि मारै।

भील लूक्या बन बीझ मे ससा सर मारै ॥
कहै कबीर ताहि गुर करौ, जो या पदहि बिचारै ॥१६१॥

शब्दार्थ—उमेषै = उन्मेष। मूसा = साधक जीव। हसती = माया। पेषै = देखता है। सापणि = सर्पिणी। विषय। चींटी = शुद्ध चित्त। परबत = विषय। चौड़े = मैदान। मुर्गी = निवृत्ति। मिनकी = बिल्ली। वासना। झल = ज्वाला। प्रभु प्रेम की आग। पाणी = प्रपंच। सुरही = गाय। अविद्या। चूषै = चूसै। वछतलि = वासना। नवल = नेवला। साधक चित्त। सारदूल = सिह। वासना। भील = मोह। बीझ = बीच। ससा = खरगोश। साधक। सर = ज्ञान। बाण।

अर्थ—मेरे गुरु ने जो कहा उससे मेरे छिपे ज्ञान का उन्मेष हो गया। इस उन्मेष के बाद मैने देखा कि साधक जीव मूसा वासना हाथी से लड़ रहा है। इस बात को कोई बिरला ही समझता है। साधक जीव मूषा ने विषय सर्पिणी को निगल लिया। शुद्ध चित्त चीटी ने विषय वासना के पर्वत को उखाड़ डाला। उखाड़ मैदान ससार मे रख दिया। निवृत्ति मुर्गी वासना बिल्ली से लड़ती है। प्रपच पानी मे प्रभु प्रेम की आग दौड़ रही है। वासना बछिया से भोग का दूध उतर रहा है और अविद्या गाय वासना वछिया के तल को चूस रही है। साधक चित्त नेवला वासना सिह को मार रहा है। मोह भील वासना वन के बीच साधक के ज्ञान बाण की चोट खा रहा है।

सत कबीर उसे गुरु मानते है जो इस पद को समझता हो।

अलंकार—विरोधाभास। उल्लेख।

अवधू जागत नीद न कीजै।
काल न खाइ कलप नही व्यापै देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल में ब्यंब प्रकासै।
डाल गह्या थैं मूल न सूझै मूल गह्याँ फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौ लागी, धरणि महा रस खावा।
बैठ गुफा मै सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यौ यहु अचिरज कोइ बूझै ॥
औधा घड़ा न जल मै डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौ यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया ॥
अंबर बरसै धरती भीजै, बूझै जाँणौ सब कोई
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥
गाँवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनाँ पेषै, अनहद बेन बजावै ॥
कहणीं रहणीं निज तत जाँणैं यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रग्रासै, यहु पुरिसाँ की बाँणी ॥
बाझ पियलै अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या ॥१६२॥

शब्दार्थ—कलप = कल्प। ब्रह्मा का एक दिन जो चौदह मन्वन्तर अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षो का होता है। जुरा = जरा। वृद्धावस्था। गरासै = ग्रसता है। ग्रिह = ग्रह। ब्यब = विब। बबई = बॉबी। धनकि = धनुष। पारधी = पार्थ। शिकारी। मन। सूधा = सीधा। पेषनौं = प्रेक्षण। तमाशा। निजतत = आत्म तत्त्व। बाझ = बिना। देही = जीवात्मा।

अर्थ—हे अवधू, जागते रहो। सोओ मत। जागते रहने पर जीवात्मा को काल नही खा पाता है। कल्पो के परिवर्त्तनो का भी उस पर प्रभाव नही पड़ता है। वृद्धावस्था से भी देही क्षीण नही होता है। कुडलिनी गगा ऊपर को चढ़ती है। सहस्रार तक जाती है। इस प्रक्रिया से विषय समुद्र सूख जाते है। इडा (चद्रमा) और पिंगला (सूर्य) नाड़ियो मे सुषुम्ना प्रवेश (ग्रास) होता है। नव ग्रहो (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एव अतकरण चतुष्टय) को रोगी जीव प्रभावित कर लेता है। शुद्ध हृदय जल मे चैतन्य बिंब प्रकाशित होता है। मेरुदड डाल को पकड़ने से सहस्रार मूल नही दीखता है। सहस्रार मूल है। उसे ग्रहण करने से अमृत फल की प्राप्ति होती है। सहस्रार बॉबी कुडलिनी सर्प को ढँक लेती है। कुडलिनी धरती महारस मूलाधार चक्र का भोजन करती है। सहस्रार गुफा मे बैठ कर सारा ससार दीखता है। किंतु सहस्रार गुफा से बाहर रहने वाले को कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता है। जीव धनुष उलट कर मन शिकारी को मारता है। इस आश्चर्य को कोई-कोई ही समझ सकता है। औंधा घड़ा अर्थात् विषयासक्त मन ज्ञान सागर मे नही डूबता है। किंतु शुद्ध मन मे ज्ञान जल का पूर्ण प्रवेश होता है। जिस साधना मार्ग को लोग पहले घृणा से देखते थे बाद मे उसी से उनका उद्धार होने लगा। सहस्रार अदर मे रस की वर्षा होती है। किंतु कुडलिनी धरती से रसस्राव होता है और सहस्रार आकाश भीगता है। इस बात को विरले लोग ही जानते हैं।

गानेवाला शरीर कभी नही गाता है। किंतु साधक की अनबोली जीवात्मा सदा गाती है। भीतर ही भीतर भजन करती है। श्रेष्ठ योगी नटवर वेश बनाकर नित्य जगत तमाशा देखता है। भीतर ही भीतर अनाहत वेणु बजाता है। उसका आनद लेता है। योगी का कथन और रहना कैसा होता है इसे वही जानता है। यह सब अकथनीय कहानी है। धरती मूलाधार स्थित कुडलिनी उठकर सहस्रार मे पहुँच जाती है। यह विद्वान योगी बताते हैं।

यद्यपि योगियो की हृदय नदी मे पानी भरा है। किंतु योगी बिना प्याले के सहस्रार से नि सृत अमृत का रसास्वादन करता है। सत कबीर कहते हैं कि वह योगी विरल है जिसने इस ज्ञानरस पृथ्वी का पान किया हो।

अलंकार—विरोधाभास, विभावना, रूपकातिशयोक्ति

राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जाँणीं।
जातिसरूप न छाया जाके, बिरध करैं बिन पाँणीं ।।टेक।।
बेलड़िया द्वे अणीं पहूँती गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जल फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही।।
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पाणी मेल्ही।।
काटत बेली कूपले मेल्हीं, सींचताड़ी कुमिलाँणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जाँणीं ।।१६३।।

शब्दार्थ—बेलड़ी = बेल। लता। बिरध = वृद्धि। अणी = शाखा। पहूँती = पहुँची। सैली = स्वैरी। स्वच्छद। कूपल = कोपल। मेल्ही = पनपी। बाडी = वाटिका। बगीचा। बिलब्या = ठहर गया। बाही = प्रेरित किया। पयप्या = प्रकपित किया। उत्तेजित किया।

अर्थ— राम के गुणो की लता को अवधूत गोरखनाथ जानते है। उसके न तो रूप है, न छाया है। बिना पानी के बढ़ती है। इडा-पिंगला नामक उसकी दो लताएँ सहस्रार-आकाश मे पहुँच गयी है। सहज साधना की भक्ति लता जल मे फूलने लगी है। इसमे आनद की कोपले निकलने लगी है। मन-हाथी जाकर भक्ति-वाटिका मे ठहर गया है। इस भक्ति लता को प्रेरित किया है। पाँचो ज्ञानेद्रियो रूपी सखियो ने मिलकर प्राण-पवन को उत्तेजित किया है। भक्ति

वाटिका मे रस का सचार किया है।

भक्ति बेलि को विषयो से काटने पर यह और अधिक कोपले फेकती है। विषयो द्वारा पोषण करने से भक्ति लता का नाश होने लगता है।

सत कबीर कहते है कि निरतर सहज साधना मे लगा बिरला योगी ही इस तथ्य को समझ पाता है।

टिप्पणी—इस छद मे गोरखनाथ के महत्त्व का वर्णन है। अत गोरख का प्रभाव भी स्वाभाविक है। जैसे—

तत बेली लो तत बेली लो, अवधू गोरषनाथ जाँणी।
डाल न मूल पहुप नहिं छाया बिरधि करै बिन पाँणी।
काया कुजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुर बलि रुपार्णी।
काटत बेली कूपल मेल्ही सींचतड़ा कुमलाये।

—गोरखबानी

अलंकार—विभावना, व्यतिरेक, रूपक, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति

राम राइ अबिगत बिगति न जानै; कहि किम तोहि रूप बषानै ॥टेक॥
प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू प्रथमे पवन कि पाँणीं।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौन बिनाँणीं॥
प्रथमे प्राँण कि प्यंड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रक्त कि रेत।
प्रथमे पुरिष की नारि प्रथमे प्रभू, प्रथमे बीज की खेत॥
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुन्य॥
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आहि कि सुन्यं॥१६४॥

अर्थ—हे राजा राम, तुम्हारे व्यक्ताव्यक्त स्वरूप को जानना कठिन है। जानना कठिन है तो वर्णन और भी कठिन है।

हे प्रभु, बताओ। पहले आकाश हुआ या पृथ्वी ? पहले हवा या पानी हुआ ? प्राण और शरीर मे प्रथम कौन हुआ ? रक्त और वीर्य, स्त्री-पुरुष मे, खेत-बीज, दिन-रात, पाप-पुण्य मे प्रथम कौन हुआ ?

सत कबीर कहते है कि हे निरजन प्रभु, यह बताओ कि तुम जहाँ वसते हो उस स्थान पर कुछ है या वह शून्य स्थान है ?

अवधू सो जोगी गुर मेरा; जो या पद का करै नबेरा ॥टेक॥
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलाँ फल लागा।
साखा पत्र कछू नही वाकै अष्ट गगन मुख बागा॥
पैर बिन निरति कराँ बिन बाजै, जिभ्या हीणाँ गावै।
गायणहारे के रूप न रेखा, सतगुर होई लखावै॥
पंषी का षोज मीन का मारग, कहै कबीर बिचारी।
अपरंपार पर परसोतम, वा मूरति बलिहारी॥१६५॥

अर्थ—हे अवधू, वह योगी मेरा गुरु है जो इस पद को ठीक समझ सके।

एक वृक्ष पेड़ अर्थात् बिना किसी पिंड (तने) के खड़ा है। (सवाल है यह वृक्ष कौन है? यह वृक्ष प्रकृति, परमात्मा, आत्मा और ससार कोई हो सकता है। सभी हो सकते हैं)

इस पेड़ मे बिना फूल के फल लगता है। (यहो फल से कर्म फल तथा परिणाम का सकेत है। क्योंकि सारा विश्व प्रकृति परिणाम है)। इस पेड़ मे डाल, पत्ते भी नहीं है। इसका मुँह आठो दिशाओ मे फैला है। सर्वत्र व्याप्त है। पैर के विना नृत्य, हाथ के बिना बाजा, जीभ के

बिना गाना होता है। गानेवाले की रूप-रेखा भी नही है। सतगुरु ही बता सकते है कि वह क्या है ?

निर्गुण निराकार परमतत्त्व को पाने की दो पद्धतियॉ है। एक विहगम मार्ग और दूसरा मत्स्य मार्ग।

पक्षी के मार्ग का अर्थ जीवात्मा को उड़ कर आकाश तत्त्व, जहॉ प्रभु का निवास है, जाना होता है। सहस्रार मे पहुॅचकर ही प्रभु प्राप्ति होती है। यह दो तरीको से होती है। गुरु कृपा से अचानक सिद्धि मिल जाती है। दूसरी यह कि चीटी की तरह धीरे-धीरे चलते रहना चाहिए और गुरु कृपा की प्रतीक्षा करनी चाहिए। दयालु गुरु की कृपा अवश्य होगी। साधक चीटी की लघुता और श्रम को देख महात्मा गुरु अवश्य प्रभावित होते है।

अलंकार—विभावना

अब मै जॉणिबौ रे केवल राइ कौ कहॉणी।
मंझा जोति राम प्रकासै, गुर गमि बॉणी ॥टेक॥
तरवर एक अनंत मूरति, सुरतॉं लेहु पिछॉणी।
साखा पेड़ फूल फल नॉंही, ताको अंमृत बॉणी ॥
पुहुप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया।
सहज समाधि बिरष यह सीच्या, धरती जल हर सोष्या।
कहै कबीर तास मै चेला, जिनि यहु तरुवर पेष्या ॥१६६॥

अर्थ—अब मुझे केवलाद्वैत की कहानी का ज्ञान हुआ। केवल का अर्थ है अकेला। अद्वैत। उसी केवल के मध्य राम ज्योति का प्रकाश होता है। यह बात गुरु कृपा से समझ मे आती है।

उसी केवलाद्वैत ब्रह्म की अनत मूर्तियो मे यह सृष्टि फैली है। स्मृति से या भली भॉति अनुरक्त इस तत्त्व को पहचानते है। इस वृक्ष मे शाखा, तना, फूल, फल आदि कुछ भी नही है। निराकार पेड़ है। इससे अमृत की धारा बहती है। यहॉ कमल फूल की गध आती है जिसमे मन भ्रमर अनुरक्त है। उस कमल मे बारह (बारा) पखुडियॉं हैं जिन्हे जीव भौरा हृदय मे धारणा किये है। या श्रेष्ठ को हृदय मे धारण किये है। सोलह पखुडियो वाले कमल मे सिद्धि की हवा झकझोर रही है। (प्राणशक्तियॉ भी सोलह है– पॉच ज्ञानेद्रियॉ, पॉच कर्मेंद्रियॉं, पॉच प्राण, एक मन)। सहस्रार आकाश मे ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति का फल फला है।

सहज समाधि के द्वारा जब यह वृक्ष सींचा जाता है तो मूलाधार (धरती) की सभी वासनाऍ (जलहर) सूख जाती है।

सत कबीर उसके शिष्य है जिन्होने इस पेड़ को देखा है।

अलंकार—व्यतिरेक, रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।

राजा राम कवन रंगे; जैसे परिमल पुहुप संगे ॥टेक॥
पंचतत ले कीन्ह बँधॉन, चौरासी लष जीव समॉन।
बेगर बेगर राखि ले भाव, तामै कीन्ह आपको ठॉव ॥
जैसे पावक मंजन का बसेष, घन उनमॉन कीया प्रवेस ॥
कह्यो चाहूॅ कछु कह्या न जाइ, जल जीव ह्वै जल नहीं बिगराइ ॥
सकल आतमॉं बरते जे, छल बल को सब चीन्हि बसे ॥
चीनियत चीनियत ता चीन्हिलै से, तिहि चान्हिअत धूॅका दरके ॥
आपा पर सब एक समान, तब हम पावा पद निरबॉण ॥
कहै कबीर मन्य भया संतोष, मिले भगवंत गया दुख दोष ॥१६७॥

शब्दार्थ—भजन = पात्र। उनमॉन = अनुमान। चीन्हि = चिह्न। रूप।

अर्थ— राजा राम का रग किस प्रकार का है, जैसे पुष्प के साथ गध है। देह (मनुष्य) पुष्प है और आत्मन् गध है। पॉच तत्त्वो से यह शरीर-सृष्टि की रचना हुई है। चौरासी लाख जीवो की योनियो मे समाए है। अलग-अलग भावो मे भी उन का ही स्थान है। जैसे आग पात्र के अनुसार प्रवेश करती है वैसे ही अनुमान कीजिए। प्रभु सभी शरीरो मे उनकी पात्रता के अनुसार प्रविष्ट है।

कहना चाहता हूँ तो कुछ कहा नही जाता है। प्रभु जलजतु होकर जल मे फैले है। (कच्छप, मत्स्य अवतार मे यही कल्पना है)। जल उस परमात्मतत्त्व से अलग नही है। दोनो एक-दूसरे से अलग नही है। यहाँ कवि प्रकृति पुरुष की अद्वैत स्थिति का सकेत करता है। जो सभी आत्माओ मे वर्तमान है और छल बल वाले सभी रूपो मे बसे है।

उनकी पहचान मे अक्सर धोखा हो जाता है। पहचानते-पहचानते वे पहचान मे आते है। आत्मतत्त्व और परतत्त्व का बोध समाप्त हो जाने पर निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। सत कबीर कहते है कि मनमे सतोष हुआ। भगवान् मिल गये। सारा दोषदुख दूर हो गया।

अंतर गति अनि अनि बाँणी।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जाँणो॥टेक॥
त्रिगुण त्रिबिध तलपत तिमरातन, तंती तं मिलानीं।
भागे भरम भोइन भए भारी, बिधि बिरंचि सुधि जाँणीं॥
बरन पवन अवरन बिधि पावक, अनल अमर मरै पाँणी।
रबि ससि सुभग रहे भरि सब घट, सबद सुनि तिथि माँही॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदित मथित सब हारे।
कहै कबीर अगम पुर पाटण, प्रगटि पुरातन जारे॥१६८॥

अर्थ—जो हृदय मे है वह वाणी मे नही आ सकता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति मे भिन्नता है। गुप्त आकाश मे चेतनात्मा अमृत रस का पान करती है। इस सुगति को शेष और शिव ही जानते है। त्रिगुण (सत्, रज, तम) से बना यह अधकार (अज्ञान) भरा आयतन (शरीर) दैहिक, दैविक, भौतिक दुखो मे तड़पता है। तत्री मे तत्री मिल रही है। साधक परम तत्त्व की आवाज सुन रहा है। भ्रम भाग गया। भोग भारी लगने लगा है। विधाता और ब्रह्मा इस सुख को जानते है। वर्णगुण वाली हवा, अवर्ण गुणवाली आग। यह आग पानी मे विषय ससार प्रवाह मे मर रहा है। सूर्य चद्रमा (इडा-पिंगला) सभी शरीर मे है।

सभी शरीर मे शून्य (आकाश) की स्थिति है। सकट मे शक्ति और सुख समाप्त हो गए जैसे सागर मथन करने मे सब हार गये हो। सत कबीर कहते है कि पुर-नगर अगमपुर, आनद नगर की कहानी अगम्य है। पुराने जल गए और नये दिखाई पड़ रहे है। भौतिक नगर नष्ट हो रहा है। आध्यात्मिक आनद बढ़ रहा है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

लाधा है कछू लाधा है, ताकि पारिष को न लहै।
अबरन एक अकल अविनासी, घटि घटि आप रहै॥टेक॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणंती ग्यॉन न होई।
नाँ सो भारी नाँ सो हलका, ताकी पारिष लखै न कोई॥
जामैं हम सोई हम ही मैं, नीर मिले जल एक हूवा।
यौं जाँणै तो कोई न मरिहैं, बिन जाँणे थैं बहुत मूवा॥

दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवणहार न पाऊँ।
बिधनाँ बचन पिछाँड़त नाही, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ ॥१६९॥

शब्दार्थ—लाधा = प्राप्त किया। पारिष = परख। को = कोई।

अर्थ—प्राप्त किया है। उस परम तत्त्व की परख किसी को नही है। अवर्ण, एक, अखड, अविनाशी हर शरीर का निवासी है। वह तत्त्व न तौला जा सकता है। न उसका मोल, न माप, न गिनती होती है। वह न भारी, न हलका है। कोई उसकी परीक्षा नही कर सकता है।

आत्मा और परमात्मा एक है। जैसे अलग-अलग पानी एक ही पानी है। जो आत्मा मे हो वही परमात्मा मे है। जो परमात्मा मे है वही आत्मा मे है। परमात्म तत्त्व को जानने वाले कभी नही मरते। न जाननेवाले बहुत से मर गये।

सत कबीर ने प्रेम रस पाया। किंतु उसे पीने वाले साधको का अभाव है। इस विधि वाक्य को जब पहचानते नही तो तुम्हे क्या काढ़ कर दिखाया जाय कि विश्वास हो ?

हरि हिरदे रे अनत कत चाहौ, भूलै भरम दूनी कत बाहौ ॥टेक॥
जग परबोधि होत नर खाला, करते उदर उपाया।
आत्म राम न चीन्है संतौ, क्यूँ रमि लै राम राया॥
लागै प्यास नीर सो पीवै, बिन लागै नहीं पीवै।
खोजै तत मिलै अविनासी, बिन खोजैं नहीं जीवै।
कहै कबीर कठिन यह करणी जैसी षंडे धारा।
उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरु हमारा ॥१७०॥

अर्थ—प्रभु तो हृदय मे ही है। अन्यत्र कहाँ खोजते हो ? भ्रम मे भूल कर दुनिया में क्यो बह रहे हो ? संसार को उपदेश देकर खाली होनेवाले लोग भोजन की व्यवस्था मे लग जाते है। आत्मतत्त्व को नही पहचानते। ऐसे लोग राजा राम मे कैसे मिलेगे ? प्यास लगने पर पानी पीते है। विना प्यास के पानी की जरूरत नही पड़ती है। खोजने पर अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति होती है। बिना खोजे जीवन नही है। यह साधना तलवार की धार पर दौड़ना है, सांसारिक नही। संसार से उलटी चाल द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। उलटा चलनेवाला ही हमारा गुरु है।

अलंकार—वक्रोक्ति, उपमा, दृष्टात

रे मन बैठि कितै जिनि जासी; हिरदै सरोवर है अविनासी ॥टेक॥
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
माया कधे कवलापति, काया मधे बैकुंठबासी॥
उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंगतट बासी॥
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूची लागि किवारा।
कहैं कबीर भई उजियारा, पंच मारि एक रह्यै निनारा ॥१७१॥

अर्थ—ऐ मन, अन्यत्र मत जाओ। तुम्हारे हृदय तालाब मे प्रभु का वास है। तुम्हारे शरीर मे करोड़ो तीर्थ हैं। उस मे काशी है। माया और शरीर मे विष्णु मिलते हैं। प्राण वायु को उलटा कर षट् चक्रो का भेदन कर त्रिकुटी, प्रयाग राज मे गगातट (पिंगला नाड़ी) पर साधक रहता है। सहस्रार मे रवि-शशि (इडा-पिंगला) उलटी कुजी के दो किवाड के रूप मे लगे है।

संत कबीर कहते है कि प्रकाश हुआ और पाँच ज्ञानेंद्रियो की प्रवृत्तियो को समाप्त कर (मारकर) योगी सबसे अलग हो गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

राम बिन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिद्ध सूर अरु सुरपति भ्रमत भ्रमत गये हारी ॥टेक॥

व्यंद भाव म्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
श्रवण सुनि रवि ससि सिव, पलक पुरिष पल नारी॥
अंतर गगन होत अंतर धुँनि बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद सुमंगल सब घटि, व्यंदत ब्यंदे कोई।
पाणी पवन अवनि नभ पावक, तिहिं सँग सदा बसेरा।
कहे कबीर मन मन करि बेध्या, बहुरि न कीया फेरा॥१७२॥

अर्थ—राम की कृपा के बिना जन्म-मृत्यु दोनो कठिन हो गए। साधक, सिद्ध, सूर, इन्द्र आदि घूमते-घूमते थक गये। किसी को मुक्ति नही मिली। वीर्य (ब्यद) रक्षा के भाव तथा मृग के समान यत्रक तत्त्व को जानकर ही सब सुखकर होगे। श्रवण शून्य ब्रह्म रध्र मे सूर्य नाड़ी, चद्रनाड़ी तथा सुषुम्ना (शिवनाड़ी) प्रवाहित होती है। इसमे प्रकृति-पुरुष क्षण-क्षण मे दीखते है। सहस्रार मे अतर्ध्वनि होती है। वह स्वामी श्वासरहित है। सभी शरीरो मे सुदर शब्द घोलता है। विदु मे विदु कोई-कोई समाहित कर पाते है। पानी, पवन, धरती, आकाश, आग इन तत्त्वो के साथ सदा रहना होता है। मन मन से विध्य है। अब पुन ससार मे नही आना है।

नर देही बहुरि न पाईये; ताथै हरषि हरषि गुँण गाईये॥टेक॥
जब मन नही तजै बिकारा, तौ क्यूँ तरिये भौ पारा॥
जे मन छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई॥
ज्यूँ जीमण त्यूँ मरणाँ, पछितावा कछु न करणाँ।
जाँणि मरै जे कोइ, तो बहुरि न मरणाँ होई॥
गुर बचनाँ मंझि समावै, तब राम नाम ल्यौ लावै॥
जब राम नाम ल्यौ लागा, तब भ्रम गया भौ भागा॥
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा॥
जब अनहद बाजा बाजै, तब साई संगि बिराजै॥
होत संत जनन के संगी, मन राचि रह्यो हरि रंगी॥
धरो चरन कवल बिसवासा, ज्यूँ होइ निरभै पदबासा॥
यहु काचा खेल न होई, जन षरतर खेलै कोई॥
जब षरतर खेल मचावा, तब गगनमँडल मठ छावा॥
चित चंचल निहचल कीजै तब राम रसाइन पीजै॥
जब राम रसाइन पीया, तब काल मिट्या जन जीया॥
ज्यूँ दास कबीरा गावै, ताथै मन को मन समझावै॥
मन ही मन समझाया, तब सतगुर मिलि सचु पाया॥१७३॥

अर्थ—नर शरीर पुन नही मिलेगा। इस लिये मौका है। हर्षित हो होकर प्रभु के गुणो को गाओ। बिना विकार छोड़े मन भव सागर पार नही कर सकता है। मन से कुटिलता दूर हो तो भगवान् स्वय मिलते है। जीवन, मरण समान है। इससे पछताने की कोई बात नही है। जान बूझ कर प्रभु भक्ति मे अगर कोई मरे तो पुन ससार मे मरना नही होगा।

सद्गुरु के वचनो को समाहित करता है तो राम नाम मे ध्यान लगा। भ्रम भागा। भय दूर हुआ। भय तो अज्ञानजन्य है। जब सूर्य-चद्रमा (इडा-पिगला) मिले तो अनाहत ध्वनि हुई।

अनाहत बाजा बजने पर ही स्वामी साथ मे विराजता है। सत जनो के संग मे ही मन हरि रग मे रजित होता है। प्रभु के चरण कमलो मे विश्वास करो। इससे निर्भय पद वास होगा। यह कच्चा खेल नही है। कोई कोई व्यक्ति ही इस कठिन खेल को खेल सकते है। इस कठिन खेल के बाद ही आकाश मडल मे निवास होता है। चित्त की चचलता दूर कीजिए तब राम रस

पीया जा सकता है। राम रसायन पीने पर काल मिट जाता है और भक्त जीवित हो जाता है। दास कबीर गाकर मन को मन मे समझाते है। विषयो को छोड़कर जब मन मन मे समाहित हो जाता है तब सतगुरु से मिलकर सुख प्राप्त होता है।

अलंकार—रूपक

अवधू अगनि जरै के काठ।
पूछौ पंडित जोग संन्यासी, सतगुर चीन्है बाट ॥टेक॥
अगनि पवन मै पवन कवन मै, सबद गगन के पवनाँ।
निराकार प्रभु आदि निरंजन, कत रवंते भवनाँ॥
उतपति जोति कवन अँधियारा, धन बादल का बरिषा।
प्रगट्यो बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म नही देखा॥
मरनाँ मरै न मरि सकै, मरनाँ दूरि न नेरा।
द्वादस द्वादस सनमुख देखै, आपै आप अकेला॥
जे बाँध्या ते छुछंद मृकुता, बाँधनहारा बँध्या।
बाँध्या मुकता मुकता बाँध्याँ, तिहि पारब्रह्म हरि लाँघा॥
जे जाता ते कौण पठाता, रहता ते किनि राख्या।
अँमृत समाँनाँ, बिष मै जानाँ, बिष मै अमृत चाख्या॥
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मै मेर समाँनाँ।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुर तब भेटाँनाँ॥१७४॥

अर्थ—हे अवधूत, यह पता लगाओ कि आग जलती है या काष्ठ जलता है ? यह बात मै पडित, योगी, सन्यासी आदि से पूछता हूँ। इस रास्ते को सदगुरु ही जानते है। अग्नि पवन मे मिलती है। पवन किसमे मिलता है ? शब्द आकाश मे मिलता है या पवन मे ? आदि निरजन निराकार प्रभु किस भवन मे रमण करते है ? प्रभु रूप मे उत्पन्न होकर अधकार को दूर करते है। (जिस हृदय मे प्रभु है वहाँ अज्ञान का अधकार नही रह सकता है)।

घने बादल हो तो वर्षा निश्चित है। धरती मे अत्यधिक बीज प्रगट होने पर क्या तुमने ब्रह्म को नही देखा है ? प्रभु भक्ति मे मरनेवाला मर नही सकता है। उसके लिये मृत्यु न दूर है न नजदीक। द्वादश कमलो के सामने वह अपना अकेला रूप देखता है। उस जैसा दूसरा कौन है ?

बधन मे पड़ी आत्मा मुक्त हो जाती है और स्वय प्रभु भक्ताधीन होकर बँधता है या आकार ग्रहण कर बँधता है। जो बधन मे मुक्ति और मुक्ति मे बधन की अनुभूति करता है वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जाने वाले को कौन भेजता है और रहनेवाले को कौन रखता है ? जिसने अमृत तत्त्व को वासना विष से युक्त देखा उसने विष को भी अमृत बनाकर चख लिया।

सत कबीर विचार कर कहते है कि आत्मा तिल मे मेरुपर्वत जैसा परमात्मा समाया है। अनेक जन्मो के प्रयत्न से गुरुदेव की कृपा से इस तत्त्व से भेट होती है।

अवधू ऐसा ग्यान बिचार;
भेरै चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं॥टेक॥
ऊबट चले सु नगरि पहूँचे, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटाँने के बाँधे के छूटे॥
मंदिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका।

सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा॥
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा॥१७५॥

शब्दार्थ—भेरै = एक प्रकार की नाव। बेड़ा। अधधर = बीच धारमे। आधीधार मे। ऊबट = (< उद्वाट) अटपट रास्ता। सूका = सूखा। जेबड़ी = रस्सी। दूषा = दुखी। धधा = द्वन्द्व।

अर्थ—हे अवधू, इस ज्ञान पर विचार करो। यह क्या हो रहा है ? जिन्होने ससार की वस्तुओ को आधार बनाकर ससार सागर पार करना चाहा वे बीच मे ही डूब गये। किंतु जिन्होने इसका आधार छोड़ दिया वे ससार सागर पार हो गये। जो ससार मार्ग के उलटे चले वे प्रभु नगर मे पहुँच गए। जो लोकवेद की मर्यादा से बँधे रहे उन्हे वासना के बटमारो ने लूट लिया।

जिन्होने सपूर्ण ससार को एक ही माया की रस्सी मे देखा वे बंधन मुक्त हो गये। जो मन मदिर के भीतर रहे वे भगवत् रस से सराबोर हो गये। किंतु जिन्होने बाहर की साधना की वे सूखे रह गये।

जिन्हे गुरु शब्दो के बाण लगे वे सुखी है जिन्हे यह बाण नही लगा वे दुखी है।

जिन्होने बाह्य ऑखे बद कर ली है उन को सब दीखता है। किंतु ऑखवाले जगत्नाश नही दीख पाते है।

सत कबीर कहते है कि अब समझ मे आया और कुछ नही, यह ससार स्वय द्वन्द्व मे पड़ा है।

अलंकार—विरोधाभास और विभावना

जग धंधा रे जग धंधा, सब लोगनि जाँणौ अंधा।
लोभ मोह जेवड़ी लपटानी बिनही गाँठि गह्यो फंदा॥टेक॥
ऊँचे टीबे मंछ बसत है, ससा बसे जल माँहीं।
परबत ऊपरि डूबि मूला नीर मूवा धूँ काँही॥
जलै नीर तिण षड़ उबरै, बैसंदर ले सींचै।
ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि, जिनि जान्यौ तिनि नीकै॥
कहै कबीर जाँनही जाँनै, अनजानत दुख भारी।
हारी बाट बटाऊ जीत्या, जानत की बलिहारी॥१७६॥

अर्थ—यह ससार धधा है। सभी लोग अधे है जो इस तथ्य को नही समझते है।

सभी लोग मोह की रस्सी मे बँधे है। बिना किसी गाँठ का फँदा है। (प्रभु की ओर से कोई गाँठ नही है। यह माया का फंदा है) इस उलटवाँसी मे मन मछली ऊपर सहस्रार टीले पर चढ़ गयी है और चित्त खरगोश प्रभु प्रीति के जल मे निवास कर रहा है। शास्त्रो के ऊँचे-ऊँचे पर्वतो पर पहुँचकर लोग डूब कर मर रहे है और पता नही जल मे कौन डूबा ? हृदय पानी की चेतना जल रही है और तृण खर जैसे सामान्य साधक आग (बैसदर) से सीचने का काम ले रहे है।

मूल ऊपर है। फूल, तृण भीतर है। इसे जो जानते है वे ठीक है।

जाननेवाले इसे भली भाँति जानते है। न जाननेवाले के लिये यह अत्यत दुख का विषय है। रास्ता संसार जिसमे आवागमन होता था हार गया। भव चक्र मे फँसा साधक राहगीर जीत गया। अब उसे आवागमन से मुक्ति मिल गयी है। इसे जाननेवाले धन्य है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति एव विभावना

टिप्पणी—इसमे आग से सींचने की बात कही गयी है। यह वाक्य के लक्षण आए सामर्थ्य

का खडन है। क्योकि आग से सीचने मे योग्यता (सामर्थ्य) का अभाव है। किंतु उलटवाँसी मे आग से ही सीचने का कार्य होता है।

अवधू ब्रह्म मतै घरि जाइ;
काल्हि जू तेरी बँसरिया छीनी कहा चरावै गाइ ।।टेक।।
तालि धुगे बन तीतर लउवा, पवति चरै सौरा मछा।
बन की हिरनी कूवै बियानी, ससा फिरै अकासा।
ऊँट मारि मै चारै लावा, हस्ती तरंडबा देई।
बबूर की डरियाँ बनसी लैहूँ सींयरा भूँकि भूँकि षाई ।।
आँव के बौरे चरहल करहल, निबिया छोलि छोलि खाई।
मोरे आगनिदाष दरीबल, कहै कबीर समझाई ।।१७७।।

अर्थ—हे अवधूत, ब्रह्मानद मे मत्त होकर घर जाओ। अतर्मन मे प्रवेश करो। कल तुम्हारी बाँसुरी, भगवान को प्रसन्न करने के लिये बजती थी छीन ली गयी। अब बिना बाह्य साधन के तुम सासारिक लोगो (गायो) को कैसे समझा पाओगे ? सहस्रार-पर्वत शिखर तीतर, लावा, मूलाधार चक्र मे स्थित है और सहस्रार-पर्वत शिखर पर साधक मन सौरी मछली पहुँची है। कामनाएँ (वन की हिरणी) प्राणमय कोश कूप मे कल्पनाशील है। ध्यान सहसार मे पहुँच गया है। लोभ ऊँट जो पेड़ो पर मुँह मारा करता था उसे मार कर आचार (चारे) सपन्न कर दिया है। सतोष हाथी सागर तर (तरडवा) गया।

दुख जो बबूल डाल जैसा था वह अब वशी वाद्य सा सुखद हो गया है। ससार शृगाल भूँक भूँक प्रसन्न हो होकर, उसका उपयोग करेगा। आम की डालियो मे ससार वृक्ष मे चारफल और कर्मफल लगे है। (दुख) नीम फल (नबौरी) दुख को छील कर खाते है। भक्तो ने दुख को सुख बना लिया। (दुख) नीम को छील छील कर खाने का परिणाम हुआ कि भक्त के आगन मे द्राक्षा और दाडिम के स्वाद का आनद आ गया। सत कबीर इस बात को समझा कर कहते हैं।

अलंकार—विरोधाभास

कहा करौ कैसै तिरो, भौ जल अति भारी।
तुम्ह सरणागति केसवा राखि राखि मुरारी ।।टेक।।
घर तजि बन खडि जाइए, खनि खनि खइए कंदा।
विषै बिकार न छूटई ऐसा मन गंदा ।।
विष विषिया कौ बाँसनाँ, तजी तजी नहीं जाई।
अनेक जतन करि सुरझिलों, फुनि फुनि उरझाई ।।
जीव अछित जीबन गया, कछु कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका ।।
कहै कबीर सुनि केसवा, तूँ सकल बियापी।
तुम्ह समाँनि दाता नही हँम से नहीं पापी ।।१७८।।

अर्थ—हे प्रभु, यह ससार सागर अत्यत गहरे जल से भरा है। क्या करूँ ? इस को कैसे पार करूँ ? मै आपकी शरण मे हूँ। हे प्रभु, मेरी रक्षा करो। घर को छोड़ जगल जाकर, कद मूल खोदकर खाने पर भी विषय विकार नही छूटते है। मन गदा ही रहता है। वासना विष जल्दी छोड़ा नही जाता है। अनेक प्रयत्न से सुलझाना चाहता हूँ किंतु बार-बार उलझता जाता है।

यौवनावस्था बीत गयी। कुछ उत्तम कार्य (पुण्यकर्म) न कर सका। यह हीरा जैसा मूल्यवान् जन्म कौड़ी के भाव बिक गया। नष्ट हो गया।

सत कबीर कहते है कि हे केशव, तुम सर्व व्यापी हो। सर्वत्र हो। तुम्हारे जैसा दान देनेवाला नही है। मेरे जैसा पाप मे लिप्त व्यक्ति नही है। कृपा कर मुझे ससार सागर से तरने के लिये भक्ति का दान दो।

अलंकार—अनुप्रास, विशेषोक्ति, रूपकातिशयोक्ति

बाबा करहु कृपा जन मारगि, लावो ज्यूँ भव बंधन षूटै।
जरा मरन दुख फेरि करँन सुख, जीव जनम थै छूटै।।टेक।।
सतगुरु चरन लागि यों बिनऊँ, जीवनि कहाँ थै पाई।।
जा कारनि हम उपजै, बिनसै क्यूँ न कहौ समझाई।।
आसा पास षंड नही पाँड़ै यौ मन सुंनि न लूटै।
आपा पर आनंद न बूझै, बिन अनभै क्यूँ छूटै।।
कहाँ न उपजै उपज्याँ नहीं जाणैं, भाव अभाव बिहूनाँ।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाही, सहजि राम ल्यौ लीनाँ।।
ज्यूँ बिंबहि प्रतिबिंब समाँनाँ, उदिक कुंभ बिगराँनाँ।
कहै कबीर जाँनि भ्रम भागा, जीवहिं जीव समाँनाँ।।१७९।।

शब्दार्थ—षूटै = नष्ट हो। पॉड़ै = पड़ना। बिगरॉनॉ = अलग होना।

अर्थ—हे प्रभु, कृपाकर भक्त को रास्ते पर लगाओ। जिससे जीव भव बधन से मुक्त हो। जीव के जन्म, वद्धावस्था तथा मरण के सुख-दुख छूटजायॅ। श्री गुरु के चरणो मे प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु, बताओ कि यह जीवन हमने कहॉ से प्राप्त किया है ? जिस कारण जन्म-मृत्यु के चक्र चलते है उन्हे समझा कर कहे।

आशा के पाश (बधन) को खडित न कर पाने के कारण मन शून्य का आनंद नही ले पाता है। आत्मतत्त्व का परानद नही समझता है। जब तक उस परमतत्त्व का अनुभव न हो जाय तब तक भव बधन से मुक्ति कैसे मिल सकती है ? कहने पर वह परमात्मतत्त्व उत्पन्न नही होता है। उपजने पर भी उसका ज्ञान नही होता है। वह परमतत्त्व भाव-अभाव रहित है। वहॉ न उदय अस्त, न मति-बुद्धि है। वहॉ सहजभाव से राम मे लीन होना है।

जैसे विम्ब और प्रतिविम्ब समान है वैसे ही घड़े का पानी और नदी का पानी एक ही है। अतर अज्ञान जन्य है।

सत कबीर कहते है कि ज्ञान से भ्रम दूर हुआ। जीव जीव मे समाहित हो गया।

जीव को वासना-विषय से मुक्ति मिल गयी। आत्मतत्त्व आत्मतत्त्व मे विलीन हो गया।

अलंकार—उपमा।

संतो धोखा कासूँ कहिए।
गुँण मै निरगुँण निरगुँण मैं गुँण है, बाट छाँड़ि क्यूँ वहिए।।टेक।।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई।।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई।।१८०।।

अर्थ—सतो, धोखे की बात किससे कही जाय ? गुण और निर्गुण दोनो एक मे मिले है। गुण निर्गुणयुक्त है। निर्गुण को गुण का आधार चाहिए। इस रास्ते को नही छोड़ना चाहिए।

सभी लोग अलख, अमर, अजर (जरा रहित) की बात करते है। कितु उनका कथन नही हो सकता है। वह अकथनीय है। जिसका कोई स्वरूप, वर्ण नही है। जो घट-घट हर शरीर मे समाया है। पिड ब्रह्माड की बात सभी लोग करते है। कितु ब्रह्म को छोड़ कर जिसे कहा जाय

वही हरि है। भगवान् है।

पषा पषी के पेषणै, सब जगत भुलानाँ;
निरपष होइ हरि भजे, सो साध सयाँनाँ ।।टेक।।
ज्यूँ षर सूँ षर बँधिया, यूँ बँधे सब लोई ।।
जाके आत्मद्रिष्टि है, साचा जन सोई ।।
एक एक जिनि जाणियाँ, तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया ।।
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समूझि न परई, या कछू बात अलेखै ।।१८१।।

शब्दार्थ—पषा = पक्ष। पेषणै = प्रेक्षण। निरपष = निष्पक्ष। षर = क्षर।

अर्थ—सारा ससार किसी न किसी पक्ष को देखने मे भूला है। पक्ष रहित होकर जो ईश्वर की उपासना करता है वही सयाना साधु है। सभी लोग जैसे-तैसे क्षर (नाशवान्) से बँधे है। आत्मदृष्टि वाला ही सच्चा भक्त (जन) है।

जिन्होने परमतत्त्व को एक ही समझा है उन्होने ही सत्य को पाया है।

जिन का मन भगवत् प्रेम मे लीन है वे पुन ससार मे नही आते हैं। पूर्ण को पूर्ण दृष्टिवाला ही देख पाता है। सत कबीर कहते है कि यह बात कुछ अलक्षय है। कुछ समझ मे नही आता है।

अजहूँ न संक्या गई तुम्हारी; नाँहि निसंक मिले बनवारी ।।टेक।।
बहुत गरब गरबे संन्यासी, ब्रम्हचरित छूटी नहीं पासी।
सुद्र मलेछ बसे मन माँही, आतमराम सु चीन्ह्या नाहीं ।।
संक्या डाँइणि बसै सरीरा; ता करणि राम रमै कबीरा ।।१८२।।

अर्थ—इतनी साधना या ज्ञान की बाते सुनने पर भी तुम्हारा मन नि शक होकर प्रभु प्रीति मे नही लगा है। सन्यासी होकर भी अहकार करते हो। ब्रह्म जैसा आचरण के बावजूद बधन नही समाप्त हो रहा है।

तुम्हारा मन किसी को शूद्र, किसी को म्लेछ मान कर चल रहा है। किंतु आत्मतत्त्व को नही पहचानता है। शका रूपी डायन शरीर मे रहती है। इसी से कबीर शरीर मे न रम कर राम मे रमण करते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

सब भूले हो पाषंडि रहे; तेरा बिरला जन कोई राम कहै ।।टेक।।
होइ आरोगि बूँटी घसि लावै, गुर बिना जैसे भ्रमत फिरै।
है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसे परताप धरै।
ज्यूँ सुख त्यूँ दुख द्रिढ़ मन राखै एकादसी एकतार करै।
द्वादसी भ्रमे लष चैरासी, गर्भ बास आवै सदा मरै ।।
मैं तै तजै तजै अपमारग, चारि बरन उपराति चढ़ै।
ते नही डूबै पार तिरि लंघै, निरगुण अगुण संग करै।
होइ मगन राम रँगि राचै, आवागमन मिटै धापै।
तिनह उछाह सोक नही ब्यापै, कहै कबीर करता आपै ।।१८३।।

शब्दार्थ—धापैं (स धावन) = दौड़ना। उछाह = उत्साह।

अर्थ—सभी लोग पाखड मे भूले है। बिरला व्यक्ति ही राम कहता है। आरोग्य (स्वास्थ्य) तभी हो सकता है जब गुरु ज्ञान की बूटी को घिसकर लगाये। उसके बिना भटकता फिरेगा।

हृदय मे उपस्थित प्रभु पर विश्वास नही होता है। ऐसा व्यक्ति प्रभु के प्रताप पर कैसे विश्वास करेगा ? सुख-दुख को समान समझे। लगातार उपासना (एकादशी) करे। द्वादशी (दो-द्वैत) मे पड़ने पर चौरासी लाख योनियो मे भटकता होगा। गर्भ मे आना और मरना होगा। मै तू तथा निम्न मार्ग का भाव त्याग दे। चारो वणो से ऊपर रहे। ऐसा व्यक्ति ससार सागर मे नही डूबता हे। पार उतर जाता है। निर्गुण-अगुण का सग करना चाहिए। प्रसन्न होकर राम प्रेम मे अनुरक्त रहे।

ससार मे उसकी बार-बार आने जाने की दौड़ खतम हो जायगी।

ऐसे व्यक्ति को उत्साह-शोक कुछ भी नही होता है। सत कबीर कहते है कि वह स्वय कर्त्ता (ईश्वर) हो जाता है।

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ बिबर्जित, हरिपद चीन्है सोई ।।टेक।।
राजस ताँमस सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
चौथै पद कौ जे जन चीन्है, तिनहि परम पद पाया ।।
असतुति निंद्या आसा छाँड़े, तजै माँन अभिमानाँ।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवानाँ ।।
च्यंते तौ माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमै उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमाँन रहित है, कहै कबीर सो दासा ।।१८४।।

अर्थ—हे प्रभु कोई एकाध व्यक्ति आपका भक्त है। काम, क्रोध, लोभ से मुक्त हरिपद की पहचान किसी किसी को है। सत, रज, तम तीनो गुण आपकी माया है। इन तीनो से परे चतुर्थ मुक्ति पद को जो पहचानता है वह परम पद का अधिकारी है। स्तुति, निंदा दोनो की आशा छोड़ देता है। मान अभिमान से मुक्त रहता है। लोहे और सोने को जो व्यक्ति समान समझता है उसे प्रभु की मूर्ति समझना चाहिए।

चिंता करे तो केवल माधव की चिंता करे। विषयो से उदास होकर हरिपद मे रमण करे।

तृष्णा और अभिमान दोनो से मुक्त रहे वही भगवान का दास है।

हरि नाँमै दिन जाइ रे जाको; सोइ दिन लेखै, लाइ राम ताकौ ।।टेक।।
हरि नाम मै जन जागै, ताकै गोब्यंद साथी आगै ।।
दीपक एक अभंगा, तामै सुर नर पड़ै पतंगा।
ऊँच नीच सम सरिया, ताथै जन कबीर निसतरिया ।।१८५।।

अर्थ—जो राम नाम मे दिन व्यतीत करता है उसका दिन सफल है। जो व्यक्ति राम नाम मे ही जागरण करता है भगवान उसके साथी रूप मे आगे रहते है। माया कभी नाश न होने वाला दीपक है। इस दीपक मे सुरनर फतिंगे के समान गिरते है।

ऊँच नीच सम सरिया अर्थात् भेद रहित समान भाव से देखनेवाला ही इस ससार सागर को पार करता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

जब थै आतम तत्त बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थै, काम क्रोध गहि डारा ।।टेक।
व्यापक ब्रह्म सबनि मै एकै, को पंडित को जोगी।
राँणाँ राव कवन सूँ कहिये, कवन बैद को रोगी ।।
इनमैं आ॰ आप सबहिन मैं, आप आप सूँ खेलै।
॰ है सब भाँड़े, रूप धरे धरि मेलै ।।

सोधि बिचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुँणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै॥१८६॥

अर्थ—जब आत्मतत्त्व का विचार प्राप्त हुआ है। तब से सब से निर्वैर हुआ हूँ। काम, क्रोध आदि को पकड़कर फेंक दिया है।

सभी व्यक्ति ब्रह्म व्याप्त है। न कोई पडित है। न योगी है। राणा, राजा, वैद्य रोगी सब एक ही है। सब मे ईश्वर है। ईश्वर मे सब है। ईश्वर अपनी इच्छा से अपने ही साधनो (वस्तुओं) से खेलता है। कुम्हारके समान उस ने नाना प्रकारके वर्तन बनाये है। अनेक प्रकार के रूप धरे है। धर रखे है। बहुत सोच-विचार कर देखा। कोई व्यक्ति निर्गुण तत्त्व को नही बताता है। गुणी और पडित सभी मिल कर भगवान् की लीला के पद गाते है।

तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़े।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड़्या नेड़े।।टेक॥
मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूँरे फिरे बलिवंती।
वेद पढंता बाँम्हण मारा, सेवा करताँ स्वामी।
अरथ करंताँ मिसर पछाड्या, तूँरे फिरे मैंमंती॥
साषित कै तू हरता करता, हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर राम के सरनैं, ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी॥१८७॥

शब्दार्थ—अहेड़े = शिकार। चिकारे = हिरण की जाति का एक जानवर। मुनियर = मुनिवर। डिगबर = दिगम्बर। जगम = शैव सन्यासी। वीर शैव। एक शैव सप्रदाय। मेमती = मदमत्त। तोड़ना।

अर्थ—सत कबीर माया को रघुनाथ की बताते है। यह माया शिकार पर चली है। इस शिकार मे यह चतुर मृगो को चुन-चुन कर मारती है। बुद्धिमान और हिरण के समान उछलने वाले माया के जल्द शिकार हो जाते है। माया ने अपने निकट गये किसी को नही छोड़ा। छूटता वही है जो माया से दूर रहता है। मुनिवर, पीर, दिगम्बर को मारा तथा साधना लीन योगी को मारा। जगल मे तपस्या करते शैव सन्यासी। ऐ माया, तुम बलवती हो। तुम वेद पढ़ते ब्राह्मण, मूर्तियो की सेवा करते स्वामियो को मारती हो। शास्त्रो का अर्थ करने वाले मिश्र को पराजित कर तुम निश्चित घूमती हो।

तुम शाक्त, विषयासक्त के यहाँ क्रियाशील हो। हरण भी करती हो। किंतु हरि भक्तो की दासी हो सत कबीर प्रभु राम की शरण म हे। माया उनसे जैसे ही लगती है वे तोड देते ह।

अलंकार—मानवीकरण

जग सूँ प्रीति न कीजिए, सँमझि मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरा।।टेक॥
एक कनक अरु कामनी, जग मे दोइ फंदा।
इनपै जो न बँधावई, ताका मै बंदा॥
देह धरे इन माँहि बास, कहु कैसे छूटै।
सीव भये ते ऊबरे, जीवन ते लूटै॥
एक एक सूँ मिलि रह्या, तिनही सधु पाया।
प्रेम मगन लैलीन मन, सो बहुरि न आया॥
कहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया॥
संसा ता दिन का गया, सतगुर समझाया॥१८८॥

अर्थ–ऐ मेरे मन, ससार से प्रीति नही करनी चाहिए। सभी लोग स्वाद मे लिपटे रहते है। कोई एकाध बहादुर निकल पाता है। सोना और स्त्री संसार के दो फदे है। इन दो फदो से जो नही बधा है, सत कबीर उसी के शिष्य है। जीव ने देह धारण किया है। इस देह मे विषयो का निवास है। इससे कैसे मुक्ति मिले ? विषय जीवन को लूटते है। कोई शिव के समान योगी इससे बच सकता है। एक आत्मा जब एक परमात्मा से मिलती है तभी सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। जो प्रभु प्रेम मे मग्न है, लवलीन है वह पुन ससार मे नही आता है। सत कबीर कहते है कि स्थिर हुआ। अभय पद पाया। सशय गया। सतगुरु ने समझाया।

राम मोहि सतगुर मिलै अनेक कलानिधि, परम तते सुखदाई।
काम अगनि तन जरत रही है, हरि रसि छिरकि बुझाई ।।टेक।।
दरस परस तैं दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यौ आई।
पाषँड भरँम कपाट खोलि कै अनभै कथा सुनाई ।।
यहु संसार गँभीर अधिक जल को गहि लावै तीरा।
नाव जिहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा ।।१८९।।

अर्थ–हे राम, मुझे अनेक गुण युक्त परम सुखदायी सद्गुरु का दर्शन हुआ। मेरा शरीर कामाग्नि मे जल रहा था। सद्गुरु ने हरिरस छिड़क कर बुझा दिया।

दर्शन स्पर्श से दुर्बुद्धि नष्ट हो गयी और रामनाम की विनम्र रट लग गयी है। गुरु देव ने पाखड और भ्रम का दरवाजा खोलकर अनुभव कथा सुनाई। यह ससार विषयो के गभीर अनत जल से भरा है। इससे पार कौन कर सकता है ? नाम का जहाज बना कर साधु सद्गुरु जब नाविक बनते है तभी दास कबीर पार लगते है।

दिन दहूँ चहूँ कै कारणै, जैसे सैबल भूले।
झूठी सूँ प्रीति लगाइ करि साँचे कूँ भूले ।।टेक।।
जो रस गा सो परहर्‌या, बिड़राता प्यारे।
आसति कहूँ न देखिहूँ, बिन नाँव तुम्हारे ।।
साँची सगाई राम की, सुनि आतम मेरे।
नरकि पड़े नर बापुड़े, गाहक जम तेरे ।।
हंस उड़्या चित चालिया, सगपन कछू नाहीं।
माटी सूँ माटी मेलि करि, पीछै अनखाँही ।।
कहै कबीर जग अँधला, कोई जन सारा।
जिनि हरि मरम न जाँणिया, तिनि किया पसारा ।।१९०।।

शब्दार्थ–बिड़राता = फैलता। चक्कर लगाता। आसति = आसक्ति। अनखाँही = क्रोध करना। अधला = अधा। सारा = सार तत्त्व का जानकार!

अर्थ–ससार का सुख सेमल फूल सा निस्सार है। चार दिनो तक चमकता है। संसार से झूठी प्रीति कर सत्य को भूले है। व्यर्थ चक्कर लगाते रहे। रस तो सारे छूट गये। हे राम, तुम्हारे नाम के अतिरिक्त कही आसक्ति का आधार नही देखता हूँ। तुम्हारे यम ग्राहक है। वे मनुष्य को नरक मे डाल देते है। जीव (हस) उड़ गया। चित्त का नाश हो गया। किसी सबध ने काम नही किया।

मिट्टी से मिट्टी मिल गयी। पीछे क्रोध से क्या फायदा ? सत कबीर कहते है कि सारा ससार विषयाध है। सारतत्त्व को कोई-कोई ही समझता है। जिन्होने प्रभु तत्त्व को नही जाना वे ही ससार मे अपने सबधो को फैलाते है।

माधौ मै ऐसा अपराधी; तेरी भगति हेत नहीं साधी ।।टेक।।
कारनि कवन जाइ जग जनम्याँ, जनमि कवन सचु पाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया।।
पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादै सूरा।
ताथै आवागावन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा।।
कान क्रोध माया मद मंछर, ए संतति हम माँही।
दया धरम ग्यान गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनै नाँहीं।।
तुम्ह कृपाल दयाल दामोदर, भगत बछल भौ हारी।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी ।।१९१।।

अर्थ—हे प्रभु, मै ऐसा अपराधी हूँ जिसने आपकी भक्ति से प्रेम नही किया। पता नही मेरा जन्म किस कारण से हुआ और जन्म लेकर कौन सा सुख पाया ? आपके चरण चितामणि के समान भव सागर से पार करने वाले हैं। उन चरणो का ध्यान एक क्षण के लिये भी नही किया।

मै दूसरो की निदा सुनता रहा। दूसरो के और स्त्री धन के चक्कर मे रहा। दूसरो को बदनाम करने मे बहादुर रहा। इसी से आवागमन बार-बार होता है। अब भी विषयो का सग नही छूटा है। काम, क्रोध, माया, मद, मत्सर ये और इनकी सततियॉ मेरे भीतर है, या ये सब मेरे भीतर है। दया, धर्म, गुरु सेवा ये सब स्वप्न मे भी मै नही सीख सका।

हे दामोदर, तुम कृपालु हो, भक्त वत्सल हो, भयहरण करने वाले हो।

सत कबीर कहते है कि मेरी बुद्धि मे धैर्य रखो अर्थात् मेरा धैर्य कभी समाप्त न हो। मेरा शासन (शास्ति। सासति) करो।

राम राइ कासनि करौ पुकारा; ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ।।टेक।।
इंद्री सबल निबल मै माधो, बहुत करै बरियाई।
लै धरि जाँहि तहाँ दुख पइये बुधि बल कछु न बसाई।।
मै बपरौ का अलप मूढ़ मति, कहा भयो जे लूटे।
मुनि जन सती सिध अरु साधिक तेऊ न आयै छूटे।।
जोगी जती तपा संन्यासी, अह निसि खोजै काया।
मै मेरी करि बहुत बिगूते, बिषै बाघ जग खाया।।
ऐकत छाँड़ि जाँहि घर घरनी, तिन भी बहुत उपाया।
कहै कबीर कछु समझि न पाई, विषम तुम्हारी माया ।।१९२।।

अर्थ—हे प्रभु, किसको पुकारा जाय ? तुम साहब हो। सब कुछ जानते हो। हे माधव, इद्रियॉ मुझसे शक्ति प्रदर्शित करती है। ये जहॉ जाती है मुझे ले जाती है। इनके कारण बहुत दुख पाता हूँ। इन पर बुद्धि और बल का कोई बस नही चलता है।

मै बेचारा हूँ, अल्प बुद्धि का हूँ मूढ बुद्धि का भी हूँ। क्या हुआ जो मैं लूट लिया गया? मुनिजन, सती, सिद्ध और साधक भी स्वय न छूट सके। योगी, यती, तपस्वी, सन्यासी रात-दिन शरीर सुख की खोज करते है। मै हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार के सबधो मे बहुत से समय नष्ट हुए। विषयबोध ने सारे-ससार को नष्ट कर डाला। जो स्त्री पुरुष पूर्णत (ऐकत) छोड़ कर चले जाते है वे भी बहुत से लाभ-लोभ पैदा करते रहते है।

सत कबीर कहते है कि हे प्रभु, कुछ समझ मे नही आता है। आपकी माया अत्यत विचित्र है।

अलंकार—रूपक।

माधो चले बुनाँवन माहा; जग जीतै आइ जुलाहा ।।टेक।।
नव गज दस गज गज उनईसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहुतरि, पाट लगी अधिकाई ।।
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सेर अढ़ाई।
अढ़ाई मै जैं पाव घटे तो करकस करै बजहाई ।।
दिन की बैठि खसम सूँ कीजै अरज लगी तहाँ ही।
भागी पुरिया घर ही छाड़ी चले जुलाह रिसाई ।।
छोछी नली काँमि नहीं आवै लपटि रही उरझाई।
छाँड़ि पसारा राम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ।।१९३।।

शब्दार्थ–माहा = (स मुग्धा ?) माया। पुरिया = पुटी। साड़ी। गड = गडा। गाँठ बहत्तर = १६ मोटी नसे, १६ सूक्ष्म नसे, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थिसघात, १४ सीमात, १ त्वचा। पाट = ताने की मँजाई। तुलह = तौल। पहजन = राहखर्च। करकस = (कर्कशा) माया। बजहाई = (< स वज्रहता) दुष्टता। बदमाशी। अरज = निवेदन। खसम = प्रभु। पति। भागी = भग्न। पुरिया = शरीर। घर = ससार।

अर्थ–माया और जुलाहे के द्वन्द्व को व्यक्त करता हुआ कवि कहता है कि माया हमसे जगत् वस्त्र बुनवाती है। किंतु कबीर जुलाहा इस जगत्-वस्त्र को छोड़कर आगे जाता है। नव द्वार और दस इद्रियो के उन्नीस गजे को एक शरीर पुटी (साड़ी) बनायी। बहत्तर गंड़ा अर्थात् ३६० नाड़ियो वाले शरीर मे ताने की मँजाई अधिक हुई। इसमे (रक्त, रस, मज्जा, मास, वसा, अस्थि, शुक्र) सात सुत । यह न तौला गया न गज से मापा गया। रास्ते के लिये ढाई सेर खर्च ले लिया। (ढाई बराबर है दस पाव के अर्थात् दस इद्रियाँ)। इस ढाई से पाव (एक इन्द्रिय) भी घट जाती है तो माया झगड़ा करने लगती है। दिन भर बैठ कर प्रभु पति से प्रार्थना करो, वहाँ तुम्हारी प्रार्थना सुनी जायगी। भग्न (नष्ट) होते शरीर को छोड़ कर जीव जुलाहा माया पर क्रोध करके जा रहा है। ऐसे मे छूँछी (खाली) नली (शरीर) व्यर्थ है। अब यह किसी काम की नही है। नली पर लिपटे सूत उलझ गये है।

सत कबीर समझा कर कहते है कि अरे भाई, इस जगत प्रसार के प्रति आसक्ति को रोक कर राम भजो।

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति

बाजै जंत्र बजावै गुँनी, राम नाँम बिन भूली दुनीं ।।टेक।।
रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तत्त से साज्या बींन ।।
तीनि लोक पूरा पेखनाँ, नाँच नचावै एकै जनाँ।
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभवननाथ रह्या भरपूरि ।।१९४।।

अर्थ–शरीर यत्र बजता है और गुणवालाजीव उसे बजाता है। किंतु राम नाम के बिना सभी लोग मूल तत्त्व को भूले है। यह शरीर वीणा तीन गुणो (सत्,रज, तम), पाँच तत्त्वो (आग, पानी, हवा, पृथ्वी, आकाश) से बनी है। तीनो लोक प्रेक्षागृह (नाटय-शाला) है। एक पुरुष (परमात्मा) सबको नचाता है।

सत कबीर कहते है कि सशय दूर करो। त्रिभुवननाथ सर्वत्र विराजमान है।

तुलनीय–जग पेखन तुम देखन हारे।
विधि हरि सभु नचावन हारे।–तुलसी

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति

जंत्री जंत्र अनूपम बाजे; ताको सबद गगन मैं गाजै।।टेक।।
सुर की नालि सुरति का तूँबा, सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक गुर बिन तिन्हूँ न पाया।।
जिभ्या ताँति नासिका करहीं, माया का मैण लगाया।
गमाँ बतीस मोरणाँ पाँचौ, नीका साज बनाया।।
जंत्री जंत्र तजै नही बाजै, तब बाजै जब बावै।
कहै कबीर सोई जन साँचाँ जंत्री सूँ प्रीति लगावै।।१९५।।

शब्दार्थ—यत्री = बजानेवाला। प्रभु। गध्रप = गधर्व। करही = विशेष यत्राग। मैण = मोम। गर्मा = ग्राम। क्रम से सात स्वरो का समूह। सप्तक। मोरणॉ = मूर्च्छना। बावै = बजाता है। बत्तीस = प्रधान योगासन (नाथ और सिद्ध साहित्य, पृ २३५)

अर्थ— प्रभु यत्री या यत्रस्थ जीव देह रूपी यत्र बजाता है। यत्र बजने का स्वर आकाश मडल (सहस्रार) मे गूजता है। श्वास नलिका से ली गयी सॉस स्वरो को निकालने वाली नली है। सुरति (स्मृति या ध्यान) का तूबा बनाया है। इस बाजे का साज सद्‌गुरु ने सजाया है। सुर नरगण, गधर्व, ब्रह्मादि किसी को बिना गुरु के ज्ञान नही है।

जीभ इस बाजे की तॉत, नाक यंत्राग, माया का मोम लगा है। बत्तीस प्रमुख योगासन सप्त स्वरो के समूह है। पॉचो तन्मात्राएँ मूर्च्छनाएँ है। जब तक यत्रस्थ परमात्मा इस शरीर को छोड़ नही देता है तब तक यह शरीर यत्र बजता है। फिर तब बजता है जब वह बजाता है।

सत कबीर कहते है कि वही भक्त सच्चा है जो यत्री से प्रेम करता है।

तुलनी— ईश्वर सर्वभूताना यद्देशऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यत्रारूढानि मायया।
गीता १८/६१

अलंकार—रूपक

अवधू नादै व्यंद गगन गाज सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा, ढूँढत बन बन डोलै।।टेक।।
सालिगराम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोड़ि नीर मुकलाऊँ, कुंवाँ सिला दे पाटौं।।
चंद सूर दोइ तूँबा करिहूँ, चित चेतनि की डाँड़ी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णाँ षाँड़ी।।
परम तत्त आधारी मेरे सिव नगरी घर मेरा।।
कालहि षंडूँ मीच बिहंडूँ, बहुरि न करिहूँ फेरा।।
जपौं न जाप हतौं नही गूगल पुस्तक ले न पढ़ाऊँ।
कहै कबीर परम पद पाया, नही आऊँ नहीं जाऊँ।।१९६।।

शब्दार्थ—नादै व्यद = परमात्मा और जीवात्मा। अनहदनाद एव ब्रह्मचर्य पालन। (नाद से कबीर का अभिप्राय अधिकतर अनहद नाद से होता है। विन्दु का यह साधारण अर्थ ब्रह्मचर्य पालन से ही लेते हैं। कही-कही पर नाथपथियो के अनुसरण पर उन्होने नाद को परमात्मा विदु को जीवात्मा के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया है।—गोविद त्रिगुणायत, कबीर की विचारधारा, पृ. ३२३) नेड़ा = नजदीक। सायर = सागर। मुकलाऊँ = मुक्त करूँ। दिहंडूँ = दिखंडन। गूगल = गुग्गुल।

अर्थ—ऐ अवधूत, नाद-विदु, परमात्मा, जीवात्मा दो गगन मे गरज रहे है। इनका गर्जन ही अनाहत शब्द बोलना है। मनुष्य परमतत्त्व की खोज मे व्यर्थ वन-वन घूमता है। अपने नजदीक

भीतर की स्थिति नही देखता है। अब शालग्राम को छोड़कर, ब्रह्मा का भी सिर काट कर केवल शिव की उपासना करूँगा। अर्थात् किसी प्रतीक की उपासना तथा पुस्तक ज्ञान को छोड़ कर केवल आनद तत्त्व शिव की उपासना करूँगा। स्थिर मूलाधार सागर को फोड़ जल बहा कर आनद लूँ। सहस्रार स्थित औधे कुएँ को उलट कर अमृत का झरना बद कर दूँ। चद्रमा (इडा) सूर्य (पिगला) को तुबा, चित्त की चेतना को लकड़ी, सुषुम्ना को तॉत बना कर बाजा बजाऊँगा। इस प्रकार तृष्णा को खडित करूँगा। परमतत्त्व को आधारी के रूप मे लूँगा। शिव नगरी (सहस्रार) मेरा निवास स्थान है।

इससे काल खडित हो जायगा और नीचे मूलाधार नष्ट हो जायगा। पुन: ससार मे आना जाना नही होगा।

किसी प्रकार के जप, हवन गुग्गुल, पुस्तक पाठ की जरूरत नही है। परमपद (परमात्मा) की प्राप्ति हो गयी है। कही आना जाना अर्थात् विषयो का भटकाव समाप्त हो गया है।

बाबा पेड़ छाड़ि सब डाली लागे मूँढे जंत्र अभागे।
सोइ सोइ सब रैणि बिहाँणी, भोर भयो तब जागे।।टेक।।
देवलि जाऊँ तौ देवी देखौ, तीरथि जाँऊँ त पाणी।
ओछी बुधि अगोचर बाँणी, नहीं परम गति जाँणी।।
साध पुकारैं समझत नाँहीं, आन जन्म के सूते।
बाँधे ज्यूँ अरहट की टीडरि, आवत जात बिगूते।।
गुर बिन इहि जग कौन भरोसा, काके संग है रहिए।
गनिका के घरि बेटा जाया, पिता नाँव किस कहिए।
कहै कबीर यहु चित्र बिरोध्या, बूझौ अंमृत बाँणीं।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आवण जाँणी।।१९७।।

शब्दार्थ—पेड़ = मूलतत्त्व। डाली = विषय। बाह्याचार। मूँढे = मुग्ध। जत्र = शरीर। अरहट = रहट। टीडरि = बाल्टी। भोर = मृत्यु का समय। बिगूते = नष्ट होना। चित्र = विचित्र।

अर्थ—सभी लोग परमतत्त्व पेड़, को छोड़ कर उसकी विषय शाखा के सेवन मे लगे है। शरीर रूप इस यत्र पर मुग्ध हो रहे है। ससार रात्रि को सो-सोकर व्यतीत कर रहे है। मृत्यु के समय जागते है। कितु कुछ कर नही पाते। साधना का समय तो रात ही है। तब कुछ किया नहीं।

मंदिर मे जाता हूँ तो देवी-देवताओ की मूर्तियॉ और तीर्थो मे पानी देखता हूँ। मनुष्य की बुद्धि छोटी है। दूसरी ओर प्रभु वचन और इद्रियो से परे है। ऐसी स्थिति मे परम तत्त्व नही जाना जा सकता है। साधु पुरुषो के कहने पर भी समझ मे नही आ रहा है। क्योकि जीव अपने क्रर्मो के कारण कई जन्मो से अज्ञान निद्रा मे सो रहा है। रहट की बाल्टियो के समान आता जाता नष्ट हो रहा है। बाल्टियॉ पानी लाती है और गिरा कर चल देती है।

बिना गुरु के कोई भरोसा नही। ससार मे और किसके साथ रहिएगा ? भक्ति के अभाव मे माया मे पड़ा व्यक्ति परम पिता परमात्मा को नही जानता है।

सत कबीर कहते है कि यह विचित्र विरोध है। मैने सद्गुरु की अमृतवाणी समझ ली है। खोजते खोजते सद्गुरु को पा लिया। अब आवागमन समाप्त हो गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, वक्रोक्ति, दृष्टांत

भूली मालिनी, है गोब्यंद जागतौ जगदेव; तूँ करै किसकी सेव ।।टेक।।
भूली मालिन पाती तोड़ै, पाती पाती जीव।

जौं मूरति कौ पाती तोड़े, सो मूरति नर जीव।
टाँघणहारे टाँचिया, दै छाती ऊपरि पाव।
जे तू मूरति सकल है, तौ घड़णहारे कौ खाव॥
लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारी ले गया, दे मूरति के मुहिं छार।
पाती ब्रह्म पुहपै विष्णु, फूल फल महादेव।
तीनि देवौ एक मूरति, करै किसकी सेव॥
एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा॥
एक न भूला दास कबीरा, जाकै राम अधारा॥१९८॥

शब्दार्थ—भूली = भोली। मालिनी = पुजारी। टॉचण हारे = बनानेवाला। घड़णहारे = निर्माता। सकल = पूर्ण। सत्य। पुहुप = फूल।

अर्थ—भोले पुजारी, किस प्रभु की सेवा करते हो ? कहाँ नही है प्रभु ? पत्ती, पत्ती मे जीव है। हर जीव मे प्रभु है। जिस मूर्ति के लिये पत्ती तोड़ते हो उस नर मूर्ति मे प्रभु है। मूर्तिकार छाती (पत्थर) पर पॉव देकर मूर्ति बनाता है। किंतु अगर मूर्ति सत्य और पूर्ण है तो निर्माता को खाजाओ। लड्डू, नमकीन, हलवा आदि पूजा मे चढ़ाते है। किंतु पूजा करके पुजारी ले जाता है। मूर्ति को कुछ नही मिलता है। पत्ते मे ब्रह्मा, फूल मे विष्णू, फूल फल मे महादेव है। तीनो देवता एक है। किसकी सेवा की जाय ? क्योकि, ये तो फल, पत्र पुष्प मे मौजूद है। एक दो नही सारा ससार ही देव पूजन मे भूलकर रहा है। केवल दास कबीर ने भूल नही की है। क्योकि स्वय राम उसके आधार है।

तुलनीय— पत्रे ब्रह्मा कली बिसनो फल मद्धे रुद्रम देवा।
तीनि देव का छेद किया, तुम्हे करहु कोन की सेवा।

अलंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास।

सेइ मन समझि संमर्थ सरणाँगता, जाकी आदि अंति मधि कोई न पावै।
कोटि कारिज सरै देह गुँण सब जरै, नेक जो नाँव पतिब्रत आवै॥टेक॥
आकार की ओट आकार नहीं ऊबरै, सिव बिरंचि अरु बिष्णु ताँई।
जास का सेवक तास कौ पइहें, इस्ट को छाड़ि आगे न जाहीं॥
गुँण मई मूरति सेइ सब भेष मिलि , निरगुण निज रूप बिश्राम नाहीं।
अनेक जुग बंदिगी विविध प्रकार की, अंति गुँण का गुँणहीं समाहीं॥
पाँच तत तीनि गुण जुगति करि साँनिया, अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया।
पाप पुन बीज अंकूर जाँमें मरै. उपजि बिनसै जेती सर्ब माया॥
क्रितम करता कहे परम पद क्यूँ लहै, भूलि मै पड़्या लोक सारा।
कहै कबीर राम रमिता भजै, कोई एक जन गए उतरि पारा॥१९९॥

अर्थ—ऐ मन, शरणागत, समर्थ, रक्षक, जिसके आदि, मध्य, अत को कोई नही जानता है उसे समझने का प्रयत्न करो।

उससे करोड़ो कार्यो की पूर्ति होती है। देहके सारे गुण (वासना) जल जाते है। थोड़ी भी प्रभु के प्रति भक्ति और नाम गान हो तो कल्याण हो जाता है। सगुण से सगुण, आकार से आकार का कल्याण सभव नही है। चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव की शरण मे क्यो नही रहे। जो जिसका सेवक है वह उसे ही पायेगा। इष्ट देव को छोड़कर आगे नही जा सकता है।

सगुण मूर्ति की सेवा करने से तुझे अनेक वेश मिले है। अनेक योनियो मे जाना पड़ा है।

अपने निर्गुण रूप मे आज तक विश्राम नही मिला। अनेक युगो तक अनेक प्रकार से प्रार्थना की। किंतु अत मे गुण गुण में ही समाहित हुआ।

पाँच तत्त्व, तीन गुण को सानकर, 'मिला कर बनाया गया है। इन आठो के बिना शरीर कर्म का निर्वाह नही होता है। पाप और पुण्य, बीज अकुर है। किसके ? जीवन-मरण के। जन्म और मृत्यु दोनो माया के खेल है।

जो रचयिता को कृत्रिम समझता है वह परमपद कैसे प्राप्त कर सकता है ? सारा संसार भूल मे पड़ा है। सत कबीर कहते है कि राम मे रमण करता हुआ भजने वाला कोई एकाध व्यक्ति पार उतर सका है।

राम राइ तेरी गति जाँणीं न जाई।
जो जस करिहैं तो तस पइहै, राजा राम नियाई ।।टेक।।
जैसीं कहै करै जो तैसीं, तो तिरत न लागै बारा।
कहता कहि गया सुनता सुणि गया, करणी कठिन अपारा।
सुरही तिण चरि अंमृत सरवै, लेर भवंगहि पाई।
अनेक जतन करि निग्रह कीजै, बिषै बिकार न जाई ।।
संत करै असंत की संगति, तासूँ कहा बसाई।
कहै कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे रांम ल्यौ लाई ।।२००।।

अर्थ—हे राम, आपका स्वभाव जाना नही जाता है। आप न्यायी राजा है। अत जो जैसा करेगा वैसा पायेगा। जैसा कहते है वैसा करते तो पार उतरने (मुक्त होने) मे जरा भी देर नही लगती है। कहनेवाले कह गये। सुनने वाले सुन गये। किंतु करना अत्यंत कठिन है।

गाय घास खा अमृत चुआती है और साँप ने लेर (विष का घोल) पाई है। अनेक प्रकार से इंद्रियो को रोकिए। किंतु विषय का विकार नही जाता है। सत्त कबीर कहते है कि असत की संगति मे कभी नही रहना चाहिए। जो राम का ध्यान करता है उसका ससार भ्रम दूर हो जाता है।

कथणीं बदणी सब जंजाल; भाव भगति अरु राम निराल ।।टेक।।
कथै बदै सुणैं सब कोई, कथै न होई कीयें होई ।।
कूडी करणी राम न पावै, साच टिकै निज रूप दिखावै।
घट मे अग्नि घट जल अवास, चेति बुझाइ कबीरा दास ।।२०१।।

अर्थ— कहना-बोलना सब झझट है। निराले राम की भाव भक्ति करो। कूड़े के समान काम करने से राम नही मिलते है। सत्य ही टिक पाता है। सत्य को ही राम अपना असली रूप दिखाते है। घट (शरीर) मे आग है, घट का निवास जल मे है। सत कबीर कहते है कि इसे समझ कर बुझा लो।

(राग आसावरी)

ऐसी रे अवधू की बाणी, ऊपरि कूवटा तलि भरि पाँणीं ।।टेक।।
जब लग गगन जोति नहीं पलटै, अबिनासा सुँ चित नहीं चिहुटै।
जब लग भँवर गुफा नहीं जानैं, तौ मेरा मन कैसे मानैं ।।
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं, ससिहर कै घरि सूर न आनैं।
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै, तौ हीरै हीरा कैसे बेधै ।।
सोलह कला संपूरण छाजा, अनहद के घरि बाजैं बाजा।

सुखमन कै घरि भया अनंदा, उलटि कबल भेटे गोय्यंदा॥
मन पवन जब परचा भया, ज्यूँ नाले राँपी रस मइया॥
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी, औघट घाट सींचि ले क्यारी॥२०२॥

शब्दार्थ—चिहुटै = चिपकना। भंवर गुफा = ब्रह्म रध्र।

अर्थ—अवधूत की वाणी ऐसी है। ऊपर सहस्रार मे कुआं है और मूलाधार चक्र मे पानी है। जब तक सहस्रार मे ज्योति नही पलटती है तब तक अविनाशी प्रभु के प्रति चित्त नही चिपकता है। जब तक ब्रह्म रध्र का ज्ञान न हो जाय तब तक मन को सतोष नही होता है। जब तक त्रिकुटी अर्थात् इडा, पिगला और सुषुम्ना नाड़ियो का सयोग न हो जाय और चद्रमा (इडा नाड़ी) के घर सूर (पिगला नाड़ी) का मेल न हो जाय और जब तक नाभि कमल (मणिपूर चक्र) की खोज न कर ली जाय तब तक हीरे (आत्मा) को हीरा (आत्मा) कैसे बेध सकता है ?

सोलह कलाओ से पूर्ण विशुद्ध चक्र और अनाहत चक्र मे बाजे बजते है। सुषुम्ना के घर आनद हो रहा है। यहाँ कुडलिनी की निम्न गति उलट कर ऊर्ध्व हो गयी है। अत प्रभु का साक्षात्कार हो रहा है। मन और प्राणो की गति भी उलटी तब प्रभु से परिचय हुआ। तब जैसे साथ मे रसमत्ता (रसमइया) प्राप्त हुई। सत कबीर कहते है कि हृदय मे विचार कर देख लो। साधना के इस विचित्र घाट के जल से जीवन की क्यारी को सीच ले।

मन का भ्रम मन ही थैं भागा; सहज रूप हरि खेलण लागा॥टेक॥
मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाही, आपै अकल सकल घट माँहीं।
जब थैं इनमन उनमन जाँनाँ, तब रूप न रेष तहाँ ले बाँनाँ॥
तन मन मन तन एक समाँनाँ, इन अनभै माहै मनमाँनाँ॥
आतमलीन अषंडित रामाँ, कहै कबीर हरि माँहि समाँनाँ॥२०३॥

अर्थ—मन का भ्रम मन से दूर हो गया। सहज रूप प्रभु खेल रहे हैं। मै और तुम, तुम और मै, यह द्वैत भाव समाप्त हो गया। सभी शरीरो मे वह अखड प्रभु विराजमान है। जब इस मन ने उन्मनी भाव को प्राप्त किया तब ईश्वर के रूप, रेखा और वर्ण के भेद समाप्त हो गए। तन और मन, मन और तन दोनो मिलकर एक हो गये। मन मे इस अनुभव की अनुभूति हुई। आत्मलीन अखडित राम की प्राप्ति आत्मा का परमात्मा मे तदाकारिता है।

आत्माँ अनंदी जोगी; पीवै महारस अंमृत भोगी॥टेक॥
ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उनमानी तारी॥
त्रिकुट कोट मैं आसण माँड़ै, सहज समाधि विषै सब छाँड़ै॥
त्रिवेणी बिभूति करै मन मंजन, जन कबीर प्रभु अलष निरंजन॥२०४॥

अर्थ—योगी आत्मा मे ही आनद करता है। उसे आनद के लिये और कही नहीं जाना होता है। वह अपने भीतर ही निरतर झरने अमृत महारस का पान करता है। त्रिकुटी के किले मे आसन जमाता है। विषयो को छोड़कर सहज समाधि लगाता है। जहाँ इडा, पिगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ मिलती है उस त्रिवेणी मे मन को नहलाता है। सत कबीर कहते है कि यही अलख निरजन प्रभु का निवास है।

अलंकार—रूपक।

या जोगिया की जुगति जु बूझै; राम रमै ताकौं त्रिभुवन सूझै॥टेक॥
प्रकट कंथा गुपत अधारी, तामैं मूरति जीवनि प्यारी।
है प्रभु नेरै खोजै दूरि, ग्याँन गुफा में सींगी पूरि॥
अमर बेलि जो छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो जुगि जुगि जीवै॥२०५॥

अर्थ—इस योगी की युक्ति को जो समझता है वह राम मे रमण करता है तथा उसे त्रिभुवन दिखाई पड़ता है। प्रत्यक्षत कथा (गूदड़) किंतु जिसके आधार पर यह शरीर कथा स्थित है वह लकड़ी की आधारी (परमात्मा) गुप्त है। प्रभु की प्यारी मूर्ति इसी मे है। प्रभु तो नजदीक है। किंतु लोग उसे दूर खोजते है। ज्ञान गुफा मे श्रृगनाद करो अर्थात् जागरण नाद करो। इससे अमर बेलि अमृत की प्राप्ति होती है जिस अमृत को पीकर साधक युग युगो तक जीवित रहता है।

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा; रात दिवस न करई निद्रा ॥टेक॥
मन मै आँसण मन मै रहणाँ, मन का जप तप मन सूँ कहणाँ ॥
मन मैं षपरा मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी।
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सौ लहसै लंका ॥२०६॥

शब्दार्थ—भूका = भौतिकता। लहसै = जलाता है।

अर्थ—सत कबीर अत साधना की ओर सकेत करते हुए कहते है कि असली योगी वह है जो मन मे आसन जमा कर मन मे ही रहता है। मन का जप तप कर मन से ही सब कुछ कहता है। खप्पर, श्रृगी, वेणा, वादन आदि सब मन के भीतर ही है। जो साधक पाँचों तत्त्वो को जला कर तथा भौतिकता को भस्म कर देता है वह ससार लका के सभी विषयो को जला देता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

बाबा जोगी एक अकेला; जाके तीर्थ व्रत न मेला ॥टेक॥
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै ॥
माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर अँगना फिरि आवै ॥
पाँच जना का जमाति चलावै, तास गुरू मै चेला ॥
कहै कबीर उनि देसि सिधाय, बहुरि न इहि जगि मेला ॥२०७॥

अर्थ—ऐ बाबा, योगी तो अकेला होता है। उसे किसी तीर्थ, व्रत या मेले की जरूरत नही है। वह आतरिक साधना मे विश्वास करता है। इसीलिये झोली, पत्र, विभूति (भस्म) का बटुआ आदि नही रख कर भी अनाहत वेणु बजाता है। न माँग कर खाता है, न भूखा सोता है। घर-आगन मे घूमता आता है। पाँच जनो की जमात (परिवार) का भरण-पोषण करता है। मै (कबीर) ऐसे ही योगी गुरु का शिष्य हूँ। मै उन्मन देश को चला गया। अब पुन इस (वासना-विषय) संसार में नही मिलना है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ; ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ ॥टेक॥
तत करि ताँति धर्म करि डाँड़ि, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसँण निहचल, रसनाँ रस उपजाइ ॥
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमै भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पाँच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ ॥
हिरदै सींगी ग्यान गुणि बाँधौ, खोजि निरंजन साँचा।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनाँ प्यंड काचा ॥२०८॥

अर्थ—योगी शरीरका यत्र बजाओ। इससे तुम्हारा ससार आवागमन समाप्त हो जायगा। पाँच तत्त्वो की तात, धर्म की डडी (दड लकड़ी), सत्त्व की सार (राल) लगाओ। मन को स्थिर कर आसन पर बैठो तथा जीभ मे (खेचरी मुद्रा से) रस उत्पन्न करो। चित्त को बटुआ, त्वचा को मेखला (मृग चर्म) तथा भस्म होने वाले शरीर पर भस्म लेप करो। पाखड को छोड़ पाँचो

इद्रियो का निग्रह करो। परम पद राज की खोज करो। हृदय मे ज्ञान गुणो की श्रृगी बाध कर निरजन सत्य की खोज करो।

निरजन को युक्ति से पाये बिना यह शरीर कच्चा है। नश्वर है।

अलंकार—साग रूपक।

अवधू ऐसा ज्ञान बिचारी; ज्यूँ बहुरि न है संसारी ॥टेक॥
ध्यँत न सोच बिन चितवै, बिन मनसा मन होई।
अजपा जपतते सुंनि अभिअंतरि, यहू तत जानै सोई॥
कहै कबीर स्वाद जब पाया, बंक नालि रस खाया।
अमृत झरै ब्रह्म परकासै तब ही मिलै राम राया॥२०९॥

अर्थ—हे अवधूत, ऐसा ज्ञान विचारो जिससे पुन ससार मे न आना पड़े। बिना चित्त के चितन होना चाहिए। बिना मन की मानसिकता होनी चाहिए। शून्य हृदय मे अजपाजप हो। इस तत्त्व को वही जानता है जो योग मे रहता है।

सत कबीर कहते है कि जब बकनालि (सुषुम्ना) का रस मिला तव स्वाद पाया। सुषुम्ना साधना से सहस्रार मे अमृत रस झरता है तथा ब्रह्म का प्रकाश होता है तब राजा राम मिलते है।

गोब्यंदे तुम्हारे बन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै॥
बपु बाड़ी अनंगु मृग, रचिही रचि मेलै ॥टेक॥
चित तरउवा पवन षेदा, सहज मूल बाँधा।
ध्याँन धनक जोग करम, ग्याँन बाँन साँधा॥
षट चक्र कँवल बेधा, जारि उजारा कीन्हाँ।
काम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हाँ॥
गगन मंडल रोकि बारा, तहाँ दिवस न राती।
कहै कबीर छाँड़ि चले, बिछुरे सब साथी॥२१०॥

शब्दार्थ—कदलि = कदरा या कदली। बाड़ी = घेरा। अनगु = अनग। काम। तरउवा = जानवर। खेदा = हॉका। शिकार पशु को आखेट स्थल की ओर भगाने के लिये हल्ला मचाना आदि। हाकि = खेदा। स्यावज = जानवर। बारा = द्वार।

अर्थ—हे गोविद, आपके कदली वन मे मेरा मन शिकार खेलता है। शरीर का घेरा बनाकर, कामदेव हिरण को रच रच कर रखा है। चित्त वह जानवर है जिसका शिकार करना है। इस जानवर को फॅसाने के लिये सहज साधना के मूल मे काम मृग को बॉधा है। ध्यान का धनुष, योग कर्म और ज्ञान का वाण साधा है। षट् चक्र कमल को विध्य किया। विषयो की आग जला कर उजाला किया। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जानवरो को हॉक कर शिकार स्थल की ओर भगाया। गगन मडल के द्वार पर रोक दिया। वहॉ न रात है न दिन है। उस शून्य मे पहुँचने पर जैसे जानवरो के साथी छूट गये वैसे ही मनुष्य के साथ भी छूट जाते हैं। मनुष्य (जीवात्मा) साधक अहेरी का शिकार हो जाता है।

अलंकार—रूपक।

साधन कंचू हरि न उतारै;
अनभै है तौ अर्थ बिचारै ॥टेक॥
बाँणी सुरँग सोधि करि आणै आणौं नौ रँग धागा।
चंद सूर एकंतरि कीया, सीवत बहु दिन लागा॥
पंच पदार्थ छोड़ि समाँनाँ, हीरे मोती जड़िया।

कोटि बरख लूँ क्यूँ सीयाँ, सुर नर धधैं पाड़या॥
निस बसुर जे सोवै नाहीं, ता नरि काल न खाई।
कहै कबीर गुर परसादें सहजै रह्या समाई॥२११॥

शब्दार्थ—कचू = कचुक। शरीर। साधन = धर्म-कर्म का आधार। बाणी = वर्णिका वस्त्र। शरीर का वर्ण। नौ रग धागा = नव ग्रहो का धागा। चद सूर = इडा पिगला। पॉच पदार्थ = पच विकार। छोड़ि = छोर। हीरै-मोती = जन्म मृत्यु।

अर्थ—धर्म साधन के इस शरीर को हरि ने उतारा है। बनाया है। अनुभव हो तो इसे समझो। शरीर रूपी इस सुदर वस्त्र को नौ प्रकार के धागो अर्थात् नव ग्रहोसे निर्मित किया है। ग्रहो की चेतना ही इस शरीर के धागे है। दो नाड़ियो रूप चद्र सूर्य को एकत्र किया है। इसे सीते बहुत दिन व्यतीत हो गए। इसके किनारे पॉच विकार तथा उसमे जन्म-मृत्यु के हीरे मोती जड़े है।

इस शरीर को रख कर जो कभी सोता नही। सदा साधना मे जागता है उसे काल कभी नही खाता है। सत कबीर कहते है कि गुरुदेव की कृपा से सहज साधना मे समाया हूँ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै,
मास बिहूँणाँ घरि मत आवै हो कंता॥टेक॥
उर बिन खुर बिन चंच बिन, बपु बिहूँना सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाके रगत मांस न होई॥
पैली पार के पारधी, ताकी धनुहीं पिनच नहीं रे।
ता बेली को ढूँक्यो मृग लौ, ता मृग कैसी सनहीं रे॥
मारया मृग जीवता राख्या, यहु गुरु ग्यॉन कही रे॥
कहै कबीर स्वॉमी तुम्हारे मिलन की, बेली है पर पात नहीं रे॥२१२॥

शब्दार्थ—स्यावज = जगली पशु। रगत = रक्त। पैली = परली। उस पार। पिनच = पणच। वेली = झाड़ी। स्वानुभूति। ढूँक्यो = घुसा।

अर्थ—हे कत, जीवित को मत मारो। मरे को मत लाओ। मॉस के बिना घर मत आओ। वह शिकार हृदय रहित है, खुर रहित है। चचु नही है। शरीर नही है। हे कंत, उस जानवर को भी मत मारना जिसके रक्त और मॉस न हो। उस पार का शिकारी है। उसके धनुष मे पणच (डोरी) नही है। मृग (शिकार) झाड़ी मे घुस गया। इसके शीश नही है। इसे मार कर भी जीवित रखा जाता है। गुरुदेव ने ऐसा ही ज्ञान कहा है। सत कबीर कहते है कि हे स्वामी, तुम्हारे मिलन की स्वानुभूति लता मे पत्ते नही है। प्रभु मिलन स्वत पूर्ण है। इससे और किसी विकास की आशा नही है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

धरी मेरे मनवाँ तोहि धरि टाँगौ,
तै तौ कीयौ मेरे खसम सूँ षाँगौ॥टेक॥
प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बाधूँ, तहाँ लै जाँउ जहाँ मेरौ माधौ।
काया नगरी पैसि किया मै बासा, हरि रस छाड़ि बिषै रसि माता॥
कहै कबीर तन मन का ओरा भाव भकति हरि सूँ गठजोरा॥२१३॥

अर्थ—हे मन, मैने तुम्हे धर लिया है। पकड़ लिया है। तुम्हे धर कर टॉग देता हूँ। तुमने मेरे पति प्रभु से बुराई (षॉगी) की है।

तुम्हारे गले मे प्रेम की रस्सी बॉधूँगा। तुम्हे माधव के पास ले जाऊँगा। मैने शरीर नगर मे

प्रवेश कर बास लिया। हरि रस छोड़ विषय रस मे मत्त हो गया। सत कबीर कहते है कि तन-मन का अत (ओरा) कर प्रभु के भक्ति भाव से गॉठ जोड़ी है।

अलंकार—मानवीकरण

परब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली, फल लागा बडहूली।
सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिकहारी भूली ॥टेक॥
द्वादस कूँवा एक बनमाली, उलटे नीर चलावे ॥
सहजि सुषमनाँ कूल भरावै, दह दिसि बाड़ी पावै ॥
ल्यौकी लेज पवन का ढीकू, मन मटका जु बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुलकाया ॥
त्रिकुटी चढ़्यौ पावढौ ढारे, अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोऊ पाँणति करिहै, गुर मुषि बीज बिचारी ॥
भरी छावड़ी मन बैकुंठा, साँई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, हरि हँम एकै संगा ॥२१४॥

शब्दार्थ—तत = तत्त्व। बडहूली = बड़े बड़े। सदाफल = हमेशा फलने वाले फल। द्वादस कुवॉ = दस इद्रियॉ, मन और बुद्धि। पॉणति = प्रणत। छावडी = टोकरी

अर्थ—परब्रह्म को देखकर तत्त्व की वाटिका फूलने लगी। बड़े बड़े फल लगे। सदा फलने वाले बिजौर और द्राक्षा को देखकर कौतुकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। कुऍ बारह है (दस इद्रियॉ, मन और बुद्धि) और माली (जीवात्मा) एक है। यह साधक जीवात्मा पानी को उलटता है। मूलाधार स्थित कुडलिनी को उलट का उत्थित करता है। फलत जो रस सर्पिणी पी जाती थी उसे साधक पीता है। फलत सुषुम्ना का किनारा भरने लगता है। दसो दिशाओ की वाटिकाओ अर्थात् सभी दिशाओ मे तत्त्व ज्ञान का आनद फैल गया। ल्यौ को रस्सी और पवन को ढ़ेकुल और मन को मटका (मिट्टी का पात्र) बनाया। सत का पाटा, सुरति का चाठा उस पर सहजावस्था का पानी गिराया। त्रिकुटी पर चढ़ा कर नीचे ऊँचे के चक्रो की क्यारियो मे पावड़ा ढाल कर चद्र सूर्य दोनो नाड़ियो को प्रणत करूँगा। गुरु मुख की वाणी बीज बनेगी। भरी टोकरी को देख मन आनदित (बैकुठ) हो गया। उससे स्वामी का हृदय रग उठा।

सत कबीर कहते है कि हे सतो, हम और हरि एक ही सग है। एक ही है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

राम नाम रँग लागौ, कुरंग न होई;
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥टेक॥
और सबै रंग इहि रंग थै छूटै, हरि रंग लागा कदे न खूटै।
कहै कबीर मेरे राम रॉई, और पतंग रंग उड़ि जाई ॥२१५॥

अर्थ—राम नाम का रग लग गया है। यह रग कभी खराब नही होता है। प्रभु के रग जैसा और कोई रग नही है। और सभी रग इस प्रभु रग से छूट जाते है। हरि रग कभी समाप्त नही होता है। सत कबीर कहते है कि मेरे मन मे राम राजा का रग लग गया है और रग पतग सा उड़ जायगा।

अलंकार—रूपक

कबीरा प्रेम कूल ढरै, हँमारे राम बिना न सरै।
बाँधि ले धौरा सीचि लै क्यारी ज्यूँ तूँ पेड़ भरै ॥टेक॥
काया बाड़ी महै माली, टहल करै दिन राती।
कबहूँ न सोवै काज सँवारे, पाँणतिहारी माती ॥

सेझै कूवा स्वाति अति सीतल, कबहूँ कुवाबनही रे।
भाग हँमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे॥
गुर बीज जमाया किरखिनिपाया, मन को आपदा खोई।
औरे स्यावढ़ करै षारिसा, सिला करै सब कोई॥
जो घरि आया तौ सब ल्याया, सबही काज सँवार्‌या।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, थकित भया मै हार्‌या॥२१६॥

शब्दार्थ—धौरा = एक प्रकार का पेड़। पॉणतिहारी = प्रणतिहारी। प्रणति वाला। सेझै = शीतल। कुवाब = कुवायु। गर्म। किरखि = कृषि। निपाया = उपजाया। स्वयावढ = स्वामी। षारिसा = एकाधिकार। सिला = बचा हुआ। गिरा हुआ।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हमारा मन राम प्रेम के किनारे ढल रहा है। राम के बिना हमारा काम नही चलेगा। धौरा बॉध कर क्यारी की सिचाई कर ले जिससे पेड़ भर जाय। माली शरीर वाटिका मे ही है। वह दिन-रात टहल मे लगा रहता है। वह कभी नही सोता है। कार्य मे लगा रहता है। प्रणति वाला मत्त हो रहा है। उस मे नम्रता नही है। ठॅडा कुऑ स्वाति जैसा ही शीतल है। यह कुऑ कभी खराब नही होता है। हमारा भाग्य है कि इसके रक्षक प्रभु है। उजड़ने की कोई बात नही है। गुरु ने बीज जमाया (जनमाया)। कृषि उपजायी। मन का दुख दूर हुआ। मूल भाग तो दूसरे एकाधिकारी स्वामी के हाथ लगा। किंतु गिरे अन्न की इच्छा सभी करते है। जो घर आया। वह तो सब लाये। सबने अपना कार्य सम्हाला। यह देख मै (कबीर) श्रान्त हो कर हार गया।

अलंकार—रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति

राजा राम बिना तकती धो धो।
राम बिना नर क्यूँ छूटौगे, जम करै नग धो धो धो॥टेक॥
मुद्रा पहर्‌या जोग न होई, घूँघट काढ़्या सती न कोई।
माया कैं सँगि हिलि मिलि आया, फौकट साटै जनम गँवाया।
कहै कबीर जिनि हरिपद चीन्हाँ, मलिन प्यंड थै निरमल कीन्हा॥२१७॥

शब्दार्थ—तकती = ताकत। धो धो = धू धू। व्यर्थ। नग = नग्नता। नगापन। फौकट = मुफ्त। साटै = व्यापार।

अर्थ—राजा राम के बिना सारी ताकत धू धू है। व्यर्थ है। राम के बिना विषयो से कैसे छूटा जा सकता है ? विषयी जीव के प्रति यम नगापन करता है। कबीर कनफटे साधुओ की ओर ईशारा कर कहते है कि मुद्रा पहननें से योग नही होता है। जैसे कोई केवल घूॅघट निकालने से सती नही होती है। जीव तो माया के साथ है। माया से हिला मिला है। व्यर्थ व्यापार मे जीवन नष्ट कर रहा है।

सत कबीर कहते है कि जिन्होने प्रभु पद की पहचान की है उन्होने मलिन शरीर को निर्मल बना लिया है।

है कोई राम नाम बतावै; वस्तु अगोचर मोहि लखावैं॥टेक॥
राम नाम सब कोइ बखाँनै, राम नाम का मरम न जाँनैं॥
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावैं तौ सुख पावै।
कहै कबीर कछू कहत न आवै, परचै बिनाँ मरम को पावै॥२१८

अर्थ—कौन है जो मुझे राम नाम बताएगा ? उस इद्रियातीत वस्तु का दर्शन कराएगा ? सभी लेग राम नाम कहते है किंतु राम नाम के मर्म को नही जानते है। ऊपर (स्वर्ग) की बात मुझे अच्छी नही लगती है। हम देख-सुन कर ही सुख पाते है। सत कबीर कहते है कि कुछ

कहते नही आता है। बिना परिचय के प्रभु की शक्ति का मर्म कोई नही पा सकता है।

गोब्यंदे तूँ निरंजन तूँ निरंजन राया।
तेरे रूप नहीं रेख नाही, मुद्रा नही माया ॥टके॥
समद नाहीं सिषर नाही, धरती नाहीं गगनाँ।
रबि ससि दोउ एकै नाँहीं, बहता नाँही पवनाँ॥
नाद नाँही ब्यँद नाँही काल नही काया॥
जब तै जल ब्यंब न होते, तब तूँही राम राया॥
जप नाही तप नाही, जोग ध्यान नही पूजा।
सिव नाँहीं सकती नाँही देव नही दूजा॥
रुग न जुग न स्याँम अथरबन, बेद नहीं ब्याकरनाँ।
तेरी गति तूँहि जाँने, कबीरा तो सरनाँ ॥२१९॥

अर्थ—हे गोविद, तुम्ही निरजन और निरजन राज हो। तुम्हारी कोई रूप रेखा नही है। माया-मुद्रा नही है। समुद्र-शिखर नही है। जब धरती और आकाश नही थे। रवि शशि एक भी नही था। बहती हवा भी नही थी। नाद-बिदु, काल, काया नही थे। जल मे बिम्ब नही पड़ते थे। तब हे राम केवल तुम थे। जब जप, तप, योग, ध्यान, पूजा, शिव, शक्ति, दूसरे देव, ऋक्, यजु, साम, अथर्व वेद, व्याकरण आदि नही थे तब भी तुम थे। तुम्हारी गति को कोई नही जानता है। सत कबीर कहते है कि हे प्रभु, मै तुम्हारी शरण मे हूँ।

राम कै नांइ नीसाँन बागा, ताका मरम न जानै कोई।
भूख त्रिषा गुण वाकै नाँही, घट घट अंतरि सोई ॥टेक॥
बेद बिबर्जित भेद बिबर्जित, बिबर्जित पाप रु पुंन्यं।
ग्याँन बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुंन्यं।
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जित ड्यंभक रूपं।
कहै कबीर तिहूँ लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं ॥२२०॥

अर्थ—राम के नाम का निशान (डका) बज रहा है। उस राम नाम के मर्म को कोई नही जानता है। भूख, तृष्णा, गुण उसे नही है। वह सभी लोगो के शरीरो मे समाया है। वह वेद, भेद, पाप-पुण्य, ज्ञान, ध्यान, स्थूल, शून्य, वेश, भीख, डिभ भेद के रूप से रहित है। सत कबीर कहते है कि वह अनुपम तत्त्व तीनो लोको से मुक्त है।

राम राम राम रमि रहिए; साषित सेती भूलि न कहिये ॥टेक॥
का सुनहाँ को सुमृति सुनाये, का साषित पै हरि गुन गाँये।
का कऊवा कौ कपूर खवाँये, का बिसहर कौं दूध पिलाँयें॥
साषित सुनहाँ दोऊ भाई, वो नींदे वौ भौंकत जाई।
अंमृत ले ले नींव स्यँचाई, कत कबीरा बाकी बाँनि न जाई ॥२२१॥

शब्दार्थ—सुनहाँ = श्वान। सुमृति = समृति।

अर्थ—राम नाम मे रम रहिए। शाक्त से कुछ मत कहिए। कुत्ते को स्मृति सुनाना व्यर्थ है। इसी प्रकार शाक्त के समाने हरि गुण गाना व्यर्थ है। कौए को कपूर खिलाना, साँप को दूध पिलाना व्यर्थ है। विषयासक्त शाक्त और कुत्ते दोनो भाई है। एक निदा करता है। दूसरा भूँकता है। नीम को अमृत से भी सीचा जाय तो उसका कड़ुआपन नही जाता है। ऐसी स्थिति कुत्ते, विषयासक्त और शाक्त की है। वे भी अपनी आदत से बाज नही आते है।

अलंकार—दृष्टात

अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाँई; तेरे नेवगी खरे सयाँने हो राम ।।टेक।।
नगर एक तहाँ जीवधरमहता, बसै जु पंच किसानाँ।
नैनूँ निकट श्रवनूँ रसनूँ, इंद्री कह्या न मानै हो राँम ।।
गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम ।।
खोटी महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरी दिवाँन दादि नहि लागै, इक बाँधै इक मारै हो राम ।।
धरमराई जब लेखा माँग्या, बाकी निकसी भारी।
पाँच किसानाँ भाजि गये हैं, जीव धर बाँध्यौ पारी हो राम ।।
कहै कबीर सुनुहु रे संतौ, हरि भजि बाँधौ भेरा।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं, सब खेत करौ नबेरा ।।२२२।।

शब्दार्थ—नेवगी = नेगी। कर या लगान उगाहने वाले कर्मचारी। नेपै = नापता है। जेवरी = रस्सी। खेत नापने की रस्सी। बलाहो = (सं वलाधिकृत) बलवान। कसदम = शक्तिशाली। दिवाँन = मत्री। दादि = न्याय। पारी = हाथी का पैर बाँधने वाला रस्सा। वकसि = क्षमा करो। महतौ = प्रधान। काइथ = हिसाव रखने वाला। निबैरा = निपटारा। गाँइ = ग्राम।

अर्थ—हे प्रभु, अब इस शरीर रूपी गाँव मे नही रहना चाहता हूँ। यह शरीर एक नगर है जहाँ जीवधर महता (प्रधान) है। उनके पाँच कर्मचारी है। ये है आँख, नाक, कान, जीभ, और त्वचा। ये इन्द्रियाँ प्रधान का कहना नही मानती है। गाँव का मुखिया मन खेत नापता है। यह घटती बढ़ती का खयाल रखता है। काइथ, खेत का हिसाब रखने वाला कर्म का कोई लेखा-जोखा नही है। कर्म और भोग दोनो बढ रहे है। न कर्मो का अत है। न भोगो का। तीनो गुणो की रस्सी के जोड़ से अर्थात् तीनो गुण सयुक्त होकर सारे शरीर को नाप रहे है। मेरे सिर पर शक्तिशाली प्रहार करते है।

प्रवृत्तियाँ रूपी मत्री किसी की सुनते नही है। एक बार बाँधते है, पुन छोड़ते है।

धर्म राज ने जब जीवन कर्म का हिसाब माँगा तो पता लगा कि इन कर्मचारियो ने मरे सारे पुण्य फल रूपी लगान को समाप्त कर दिया है। मेरे नाम कुछ भी नही चढ़ा है। बकाया भी बहुत हो गया है। पाँचो किसान तो भाग गये। जीव के रूप मे मै ही बाँधा गया हूँ।

सत कबीर कहते है कि हरि भजन का बेड़ा बाँधो। भगवान, अब की बार क्षमा करे। अगली बार सारे क्षेत्रो का लगान निपटा दिया जायगा।

अलंकार—सागरूपक।

ता भै थैं मन लागौ राम तोही;
करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ।।टेक।।
जननी जठर सह्या दुख भारी, सो संक्या नहीं गई हमारी ।।
दिन दिन तन छीजै जरा जनावै, केस गहै काल बिरदंग बजावै ।।
कहै कबीर करुणामय आगै,
तुम्हारी क्रिपा बिना यहु बिपति न भागै ।।२२३।।

अर्थ—हे राम, उसी भय से तुम मे मन लगा है। कृपा करो। मुझे भुला मत दो। माता के पेट की आग मे भारी दुख सहा है। वह आशका अभी भी नही गयी है। कही पुन. वह दुख न सहना पड़े। शरीर दिन व दिन क्षीण हो रहा है। बुढापा आ रहा है। काल ने मेरा केश पकड़ लिया है। वह मृदंग बजा रहा है।

सत कबीर करुणामय प्रभु के सामने कहते है कि हे प्रभु, तुम्हारी कृपा के बिना मेरी

विपत्ति कभी नही भागेगी।

अलंकार—मानवीकरण

कब देखूँ मेरे राम सनेही;
जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वाँमी, कब र मिलहुगे अंतरजाँमीं।
जैसे जल बिन मीन तलपै, ऐसे हरि बिन मेरा जियरा, कलपै।
निस दिन हरि बिन नींद न आवै, दरस पियासी राम क्यूँ सचु पावै।
कहै कबीर अब विलंब न कीजै, अपनौ जाँनि मोहि दरसन दीजै ॥२२४॥

अर्थ—हे राम, तुम्हे कव देखूँगा ? तुम्हे देखे विना मेरी आत्मा दुखी होती है। हे स्वामी, सदा तुम्हारा रास्ता देखता रहता हूँ। हे अतर्यामी प्रभु, कव मिलोगे ? जैसे पानी के विना मछली तड़पती है वैसे प्रभु दर्शन के अभाव मे मेरा मन तड़पता है। हरि के विना कभी नीद नही आती है। दर्शन की प्यासी आत्मा को सुख नही मिल सकता है।

सत कवीर कहते है कि अव देर मत कीजिए। अपना समझ कर मुझे दर्शन दीजिए।

सो मेरा राम कबै घरि आवै; ता देखे मेरा जिय सुख पावै ॥टेक॥
बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूँ होइ सराई ॥
निस बासुर मन रहै उदासा, जैसैं चातिग नीर पियासा ॥
कहै कबीर अति आतुरताई, हमकौं बेगि मिलौ राम राई ॥२२५॥

अर्थ—वह मेरा प्रभु राम कव घर आयेगे ? जिसे देख कर हृदय सुख प्राप्त करेगा। विरह की आग ने शरीर जला दिया है। विना दर्शन के कैसे शीतल हो सकेगा ? रात-दिन मन उदास रहता है। जैसे चातक स्वाती जल के लिये प्यासा रहता है। सत कवीर कहते है कि हे प्रभु हमे अत्यत अतुरता है। हे प्रभु आकर जल्दी मिलो।

मै सासरे पीव गौहनि आई।
साँई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनाँ की नाँई ॥टेक॥
पंच जना मिलि मंडप छायौ, तीन जनाँ मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गावै, सुख दुख माथै हलद चढाई ॥
नाँना रंगै भाँवरि फेरी, गाँठि जोरि बावै पति तांई।
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्यो सगौ भाई ॥
अपने पुरिष मुख कबहूँ न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरिहूँ, तिरौ कंत ले तूर बजाई ॥२२६॥

शब्दार्थ—गौहनि = पीछे। साथ। साध = इच्छा। पूगी = पूरी। हलद चढाई = विवाह की तैयारी के क्रम मे होना वाला हल्दी चढाने की रस्म। वावै = पिता। ताई = लिये। सारा = चिता।

अर्थ—मै प्रिय प्रभु के पीछे-पीछे ससुराल आ गयी। किंतु जीव (मैं) की इच्छा पूरी नही हुई। ससार की यौवनावस्था स्वप्न देखते वीत गयी। (इच्छाएँ तो अनत है। पूरा होना कठिन है। इसलिये मनुष्य का जीवन केवल इच्छा पूर्ति का स्वप्न देखते वीत जाता है)। पॉच तत्त्वो से मेरा यह शरीर मडप वना। तीन गुणो ने विवाह का लग्न लिखाया है। वासना उन्मुख सखी-सहेलियॉ विवाह का गीत गाती है। माथे पर सुख-दुख की हल्दी चढाने का काम करती है। नाना रगो की कामनाओ की भॉवरे फेरी जा रही है। पिता गुरु ने राम पति से मेरी गॉठ जोड़ दी है। पूर्ण सुहाग के अवसर पर ही मेरा प्रभु से वियोग होगा। मै ससार सुखो मे फॅस कर प्रभु पति रहित हो गयी। चौक के रग ही मै भाई मन के वश मे हो गयी। उसके कहने पर

चलने लगी।

फलस्वरूप प्रभु पति का मुख कभी नही देखा। गुरुदेव ने मुझे सती होने के लिये समझाया। संत कबीर कहते है कि तूर्य बाजा बजा कर परमात्मा पति को साथ लेकर चिता रचकर मरूँगी। विषय मुक्त हूँगी।

अलंकार—विभावना, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति

धीरै धीरै खाइबौ अनत न जाइबौ; राम राम राम रमि रहिबौ ।।टेक।।
पहली खाई आई माई, पीछै खैहूँ सगी जवाई।
खाया देवर खाया जेठ, सब खाया ससुर का पेट।
खाया सब पटण का लोग, कहै कबीर तब पाया जोग ।।२२७।।

शब्दार्थ—आई = आर्या। बुढिया। ससुर का पेट। ससुराल के सभी लोगो को। पटण = नगर।

अर्थ—साधक कहता है कि मुझे सारे सबध छोड़ने है। सबधो को नष्ट कर देना है। इसे ही सत कबीर खाना कहते है।

धीरे-धीरे खाऊँगा। अन्यत्र नही जाऊँगा। राम नाम मे रहूँगा।

पहले हमने बुढिया माई को खाया। पीछे माया से उत्पन्न अपने जमाई को खाऊँगी। उसके पीछे देवर (विषयो से उत्पन्न) तथा जेठ (जो पहले पैदा हुआ था) को खाऊँगी। ससुर से उत्पन्न सारे नगर को खाऊँगी। ससार के सारे सबधो को खत्म कर दूँगी तब योग को प्राप्त करूँगी।

योग का अर्थ है परमात्मा से मिलना और संसार से टूटना, मुक्त होना।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

मन मेरौ रहटा रसनाँ पुरइया; हरि कौ नाउँ लैं लै काति बहुरिया ।।टेक।।
चारि खूँटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई ।।
सासू कहै काति बहू ऐसैं, बिन कातै निसतरिबौ कैसैं ।।
कहै कबीर सूत भल काता, रहटाँ नहीं परम पद दाता ।।२२८।।

शब्दार्थ—रहटॉ = चर्खा। रसनॉ = जीभ। पुरइया = तकली। बहुरिया = जीव। चारि खूँटी = अत करण के चार तत्त्व (मन, चित्त, बुद्धि और अहकार)। चमरख = चमड़े के वे टुकड़े जिनमे से होकर तकुआ घूमता है। प्रेम-विरह। सास = इच्छाएँ। सूत = साधना करना।

अर्थ—मेरा मन चर्खा और जीभ तकली है। मै जीव बहू प्रभु पति का नाम ले-लेकर साधना सूत कातती हूँ। इस चर्खे मे अत करण की चार खूँटियॉ, प्रेम विरह के दो चमरख लगे है। सहज साधना का चर्खा चल रहा है। इच्छाएँ कहती है कि हे जीव, कातो। बिना साधना सूत काते मुक्ति मिलने वाली नही है।

सत कबीर कहते है, अच्छा सूत काता, अच्छी साधना की। यह साधना रहटा परम पद देने वाला है।

अलंकार—सागरूपक

अब की घरी मेरी घर-करसी; साध संगति ले मोकौ तिरसीं ।।टेक।।
पहली को घाल्यौ भरमत डाल्यौ, सच कबहूँ नहीं पायौ।
अब की धरनि धरी जा दिन थै सगलो भरम गमायौ ।।
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मानैं ।।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिव कौ मरम न जाँनैं ।।

अब की घरनि घरी जा दिन थे, पीव सूँ बाँन बन्यूँ रे।
कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ रु राम सुन्यूँ रे॥२२९॥

शब्दार्थ—घरी = वार। दफा। करसी = करेगी। तिरसी = तिरेगी। धाल्यौ = गिराया। सच = सुख। थैं = तुमने। सगलो = सकल। सभी। बॉनबन्यूँ = वर्ण दनना। बात वन गयी है। वपुरी = वेचारी। आइ रु = आकर। सुन्यूँ = सुना।

अर्थ—अब की बार मेरा घर करेगी या वसायेगी। साधुओ की सगति लेकर मुझे पार उतारेगी। पहली (माया) द्वारा गिराये जाने पर भरमता डोलता हूँ। कभी सुख नही पाया है। अब की स्त्री (भक्ति) को जब से पकड़ा है सभी भ्रम दूर हो गये। पहली स्त्री (माया) अत्यत कुलवती थी। सास ससुर अर्थात् मासारिक सवधो वाली थी। यह देवर, जेठ, सब की प्यारी है। (दिवर जेठ की प्यारी का अर्थ है सासारिक प्रवृत्तियो मे फॅसी)। किंतु यह माया स्त्री प्रिय प्रभु के मर्म को नही समझती थी। इस वार की पत्नी को जब से पकड़ा है, प्रिय से खूब बन रही है। सत कबीर कहते है कि यह वेचारी का भाग्य है कि प्रिय प्रभु राम शून्य (एकात) मे (आकाश) मे आकर मिलते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मेरी मति बौरी राम विसार्यौ, किहि बिधि रहनि रहूँ हो दयाल॥
सेजै रहूँ नैंन नही देखौं, यहु दुख कासौ कहूँ हो दयाल॥टेक॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सुहेली गरब गहेली, देवर कै बिरह जरौ हो दयाल॥
बाप सावको करै लराई, माय्‌या सद मतिवाली।
सगौ भइया लै सलि चढ़िहूँ, तब है हूँ पीयहि पियारी॥
सोचि बिचारि देखौ मन माँहीं, औसर आइ बन्यूँ रे।
कहै कबीर सुनहुँ मति सुंदरि, राजा राम रमूँ रे॥२३०॥

शब्दार्थ—रहनि = रहने का ढग। जीवन यापन। सासु = अस्मिता। ससुर = अविद्या। जेठ = अज्ञान। तरसि = त्रास। भय। नणद = ममता। सुहेली = सहेली। मोहादि। गहेली = गर्वीली। देवर = ज्ञान। भइया = मन। सलि = चिता। बाप = अभिनिवेश। सावको = पूर्व जैसा। सद = आदत।

अर्थ—मेरी वुद्धि भ्रमित हो गयी है। मेने राम को भुला दिया है। हे दयाल, अब कैसे रहना होगा यह समझ मे नही आता है ? राम जी के साथ शय्या पर रहती हूँ (सदा प्रभु का साथ रहता है) किंतु ऑखो से उन्हे कभी देख नही पाती हूँ। यह सुख दुख किससे कहूँ ? राम के अतिरिक्त और कौन है जो मेरा दर्द सुनेगा ?

मै अविद्या श्वसुर को प्यारी हो जाने के कारण अस्मिता सास द्वारा दुख पाती हूँ। यही कारण है कि द्वेष जेठ का डर बना रहता है। मोहादि कामनाएँ गर्व मे फूली है। ज्ञान देवर के अभाव मे जलती रहती हूँ। अभिनिवेश बाप पहले जैसा ही झगड़ा करता है। माया मतवाली है। वह हमे भी अपने जैसा बनाना चाहती है। मन रूपी सगे भाईको लेकर चिता पर चढूँगी। तभी मै प्रिय की प्यारी हूँगी।

हे मन, सोच-विचार कर देखो। यह अवसर आ बना है। सत कबीर कहते हैं कि हे बुद्धि सुंदरी सुनो। राजा राम के साथ रमण करो।

अलंकार—विरोधाभास, विशेषोक्ति

अवधू ऐसा ग्याँन बिचारी; तायै भई पुरिष थै नारी॥टेक॥
ना हूँ परनी नाँ हूँ क्वारी, पूत जन्यूँ द्यौ हारी।

काली मूँड को एक न छोड़्यौ, अजहूँ अकन कुवारी ॥
बाम्हन के बम्हनेटी कहियौ, जोगी के घरि चेली।
कलमाँ पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी, अजहूँ फिरौ अकेली ॥
पीहरि जाँऊँ न सासुरें आऊँ, पुरषहि अंगि न लाऊँ।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अंगहि अँग न छुवाँऊँ ॥२३१॥

शब्दार्थ—परनी = परिणीता। द्यौहारी = दिविहारी। सुदर। अकन = अकन्या। कन्या।

अर्थ—हे अवधूत, इस ज्ञान पर विचार करो कि परम पुरूष से माया नारी कैसे पैदा हुई ? माया स्वय अपना परिचय देती है। न मै परिणीता, न कुमारी हूँ। किंतु सुदर पुत्र पैदा करती हूँ। काले केश वाले (युवक) को कभी नही छोड़ती हूँ। युवक माया मे फँस जाते है। फिर भी मै कुमारी कन्या हूँ।

मै ब्राह्मण के घर मे ब्राह्मणी, योगी के घर मे चेली बनकर रहती हूँ। कलमा पढ पढ कर मुसलमानिन होती हूँ। आज भी अकेली घूमती हूँ। कभी नैहर नही जाती हूँ। न कभी ससुराल मे प्रिय प्रभु को अग लगाती हूँ। मै निराकार भी हूँ। इसलिये किसी के अंग से अग को नही छुआती हूँ।

अलंकार—मानवीकरण

मीठी मींठी माया तजी न जाई।
अग्याँनी पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ॥टेक॥
निरगुण सगुण नारी, संसारि पियारी, लषमणि त्यागी गोरषि निवारी।
कीड़ी कुंजर मैं रही समाई, तीनि लोक जीत्या माया किन्हुँ न खाई ॥
कहै कबीर पद लेहु बिचारी,
संसारि आइ माया किनहूँ एक कही खारी ॥२३२॥

अर्थ—मीठी-मीठी माया छोड़ी नही जाती है। अज्ञानी पुरुष को भुला-भुला कर खाती है। माया निर्गुण और सगुण दोनो है। इसे ससार प्रिय है या ससार के लोगो को यह प्रिय है। लक्ष्मण ने इसका त्याग किया था। गोरख ने निवारण किया। किंतु यह छोटे-बड़े सभी जीवो मे समाई रहती है। मायाने तीनो लोको को जीत लिया है। माया को कोई कभी नही खा पाता है। नष्ट नही कर पाता है। सत कबीर कहते है कि इस का विचार करो। ससार मे माया को किसी एक ने ही (बुरी) खारी कहा है।

अलंकार—मानवीकरण

मन के मैलौ बाहरि ऊजलौ किसौ रे,
खाँडे की धार जन कौ धरम इसौ रे ॥टेक॥
हिरदा कौ बिलाव नैन बगध्यानी, ऐसी भगति न होइ रे प्रानीं ॥
कपट की भगति करै जिन कोई, अंत को बेर बहुत दुख होई ॥
छाँड़ि कपट भजौ राम राई, कहै कबीर तिहँ लोक बड़ाई ॥२३३॥

अर्थ—हे साधक, तुम मन से मैले और बाहर से साफ लगते हो। यह तुम्हारा कैसा चरित्र है ? भक्त का धर्म तो तलवार की धार पर चलने जैसा साहस भरी कठिनाई का है। हृदय बिलाइ और आँखो का वकध्यानी होने पर भक्ति नही हो सकती है। किसी को कपट भरी भक्ति नही करनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति को अंत मे बड़ा दुख होता है। कपट को छोड़कर राजा राम को भजो। सत कबीर कहते है कि ऐसे व्यक्ति की तीनो लोको मे बड़ाई होती है।

अलंकार—उपमा

चोखो बनज ब्यौपार करीजै,
आइनै दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै ।।टेक।।
जब लग देखौं हाट पसारा, उठि मन बणियों रे, करि ले बणज सबारा।
बेगे ही तुम्ह लाद लदाँनो, औघट घाटा रे चलनाँ दूरि पयाँनाँ ।।
खरा न खोटा नाँ परखानाँ, लाहौ कारनि रे सब मूल हिराँनाँ ।।
सकल दुनीं मैं लोभ पियारा, मूल जे राखै रे सोई बनिजारा ।।
देस भला परिलोक बिराँनाँ, जन दोइ चारि नरे पूछौ साध सयाँनाँ ।।
सायर तीर न वार न पारा, कहि समझावै रे कबीर बणिजारा ।।२३४।।

शब्दार्थ—चोखो = खरा। बढिया। बनज = वाणिज्य। दिसावरि = देशातर। दूसरे देश का। लाहौ = लाभ। सवारा = सभी। दुनी = दुनिया। वार न पारा = अत्यंत चौड़ा तथा गहरा। औघट घाटा = खराब रास्ता। सयाना = बुद्धिमान।

अर्थ—हे जीव, अच्छा व्यापार करो। देशातर मे आये हो तो राम जप का लाभ कमाओ। जब तक बाजार फैला देखते हो, तभी तक व्यापार होगा। इसलिये उठकर व्यापार करो। जल्दी ही लाद लो। रास्ता खराब है। जाना तुम्हे दूर है। तुमने अभी खरे-खोटे (अच्छे -बुरे) की पहचान नही की। लाभ के कारण मूल भी खो जाना चाहता है। (प्रभु से रिश्ता टूटना चाहता है। प्रभु भक्ति ही मूल पूजी है)। सारे ससार के लोगो को लाभ प्यारा है। किंतु असली व्यापारी कभी मूलधन को नष्ट नही होने देता है। परलोक अच्छा देश है। दो चार बुद्धिमान साधुओ से पूछो।

इस ससार सागर का आर पार नही है। इसीलिये कबीर व्यापारियो को समझा कर कहते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

जौ मैं ग्याँन बिचार न पाया; तौ मैं यौं हीं जन्म गँवाया ।।टेक।।
यहु संसार हाट करि जाँनूँ सबको बणिज न आया।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गँवाया ।।
थाके नैन बैंन भी थाके, थाकी सुंदर काया।
जाँमण मरण ए दै थाके, एक न थाकी माया।
चेति चेति मेरे मन चंचल, जब लग घट मैं सासा।
भगति जाव परभाव न जाइयौ, हरि के चरन निवासा ।।
जे जन जाँनि जपै जग जीवन, तिनका ग्याँन न नासा।
कहै कबीर वै कबहूँ न हारै, जाँनि न ढारै पासा ।।२३५।।

अर्थ—यदि तत्त्व ज्ञान विचार नही कर सके तो यह जन्म व्यर्थ गँवाया। यह ससार एक हाट (बाजार) है। सभी लोग यहाँ व्यापर करने आए है। ऐ भाई, समझ सको तो समझो। मूर्खों ने मूल धन (जिस धन से उसे मानव देह मिली थी) भी खो दिया। (पहले पुण्य किया था तब साधना के लिये मानव देह मिली थी। इस देह को पाकर कुछ नही किया)। ऑखे, वचन सुदर शरीर तथा जीवन-मरण के चक्र भी थक रहे हैं। माया नही थकती है। ऐ चचल मन, जब तक शरीर मे श्वास है तव तक सम्हल जाओ। भक्ति जाए तो जाए किंतु भावना सदा हरि चरणो की करनी चाहिए। यह समझ कर जो भगवान् का भजन करता है उसके ज्ञान का कभी नाश नहीं होगा। सत कवीर कहते है कि वे भी कभी नही हारते है जो जान कर पासा नही डालते हैं।

अलंकार—रूपक

लावौं बाबा आगि जलावौं घरा रे; ता कारनि मन धंधै परा रे ।।टेक।।
इक डाँइनि मेरे मन में बसै रे, तिन उठि मेरे जिय को डसै रे।
या डाँइन्य ले लरिका पाँच रे, निस दिन मोहि नचावैं नाच रे।
कहै कबीर हूँ ताकौ दास, डाँइनि कै सँगि रहे उदास ।।२३६।।
बंदे तोडि बंदिगी सौ काँम, हरि बिन जानि और हरौंम।
दूरि चलणाँ कूँच बेगा, इहाँ नहीं मुकाँम ।।टेक।।
इहाँ नहीं कोई यार दोस्त, गाँठि गरथ न दाम।
एक एकै संगि चलणाँ, बीचि नहीं बिश्राँम ।।
संसार सागर बिषम तिरणौं, सुमरि लै हरि नाँम।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणौं, नगर बसत निधाँन ।।२३७।।

अर्थ—ऐ बाबा, योगाग्नि लाकर मेरे वासनायुक्त देह घर मे आग लगा दो। इसी देह घर के कारण मन धधे मे पड़ा है। वासना डायन मेरे मन मे बसती है। नित्य ही उठ कर मेरे मन को डॅसती है। इस वासना डायन की पॉच सताने (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर) है। ये बच्चे मुझे नित्य नचाया करते है। सत कबीर कहते है कि मै उसका दास हूँ जो वासना डायन से अप्रभावित रहता है।

ऐ बदे, तुम केवल बंदगी करो। ईश्वर को छोड़ कर और को हराम समझो। जल्दी कूच करो। दूर जाना है। यहॉ (इस ससार मे) ठहरने का स्थान नही है। यहॉ कोई किसी का यार दोस्त है। न गॉठ मे मूल्य (गरथ) और दाम है।

अकेला ही जाना है। बीच मे विश्राम नही है। यह ससार सागर विषम है। इसे पार करना कठिन है। हरि के नामो का स्मरण करो। सत कबीर कहते है कि वहॉ जाकर रहना जिस नगर मे दया निधान प्रभु बसते है।

झूठा लोग कहैं घर मेरा।
जा घर माँहे बोलै डोलैं, सोई नहीं तन तेरा ।।टेक।।
बहुत बँध्या परिवार कुटुंब मैं, कोई नहीं किस केरा।
जीवित आँषि मूँदि किन देखौ, संसार अंध अँधेरा ।।
बस्ती मै थैं मारि चलाया, जंगलि किया बसेरा।
घर कौ खरच खबरि नही भेजी, आप न कीया फेरा ।।
हस्ती घोड़ा बैल बाँहणी, संग्रह किया घणेरा।
भीतरि बीबी हरम महल मै, साल मिया का डेरा ।।
बाजी की बाजीगर जाँनैं कै बाजीगर का चेरा।
चेरा कबहूँ उझकि न देखै चेरा अधिक चितेरा ।।
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक राम भजहु रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ।।२३८।।

अर्थ—लोग झूठ कहते है कि यह शरीर, घर या ससार मेरा है। जीव जिस शरीर घर मे बोलता, डोलता है वह तुम्हारा नही है। जीवन भर परिवार कुटुम्ब मे बॅधे रहे। किंतु कोई किसी का नही है। जीते जी आँखे बद कर देखो। संसार अध और अँधेरा है। बस्ती से भाग कर जगल मे गये। वही निवास बनाया। घर मे कोई खर्चा नही भेजा। खबर नही ली। स्वय नही आए। हाथी, घोड़ा, बैल, वाहन बहुत सग्रह किये। किंतु भीतर महल मे रहने वाली वासना बीवी आनद करती है और जीवात्मा मियॉ बाहरी दुनिया मे फॅस कर मर रहे है।

इस बाजी के खेल को वाजीगर (सतगुरु) ही जान सकते है या जो उनका असली शिष्य

हो। चेला अधिक चित्रकार है। यह ससार प्रवाह से कभी बाहर उझक कर नही देखता है। फलत नौ मन सूत अर्थात् पॉचो इद्रियॉ, तीनो गुण और मन आपस मे उलझ गए है। इस उलझन से मुक्त नही हो रहे है। यह उलझन जन्म जन्मातर की है। सत कबीर कहते है कि हे भाई, राम भजो। राम भजने से पुन आवागमन नही होगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

हावड़ि धावड़ि जनम गवावै; कबहुँ न राम चरन चित लावै ।।टेक।।
जहाँ जहाँ दाँम तहाँ मन धावै, अँगुरी गिनतौं रैंनि बिहावै।
तृया का बदन देखि सुख पावै, साध की संगति कबहूँ न आवै ।।
सरग के पंथि जात सब लोई सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई।
कहै कबीर हरि कहा उबारे, अपणैं पाव आप जो मारै ।।२३९।।

अर्थ—दौड़ धूप अर्थात् जल्दी मे सारा जीवन बिता दिया। कभी स्थिर होकर राम के चरणो का ध्यान नही किया। जहॉ-जहॉ आमदनी (दाम) है मन वही वही दौड़ता है। रात को ॅउगलियो पर गिनता बिताता है। रात को भी आराम से नही सोकर कल की चिता मे जागता रहता है। कैसे दिन हो और कैसे व्यापार करे। स्त्री का मुख देख कर सुख पाते हो और साधुओ की सगति मे कभी नही जाते हो। सभी लोग स्वर्ग के रास्ते पर जाते है। किंतु सपत्ति की गठरी (पोट) लेकर कोई नही गया।

सत कबीर कहते है कि ईश्वर क्या मुक्त करेगे ? मुक्त वह होता है जो स्वय अपने पैरो मे मारता है अर्थात् अपने को कुपथ का राही नही बनाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

प्राँणी काहे कै लोभ लागि, रतन जनम खोयौ।
बहुरि हीरा हाथि न आवै, राम बिना रोयौ ।।टेक।।
जल बूंद थै ज्यानि प्यंड बाँध्या, अगनि कुंड रहाया।
दस मास माता उदरि राख्या, बहुरि लागी माया ।।
एक पल जीवन की आसा नाही, जम निहारे सासा।
बाजीगर संसार कबीरा, जाँनि ढारौ पासा ।।२४०।।

अर्थ—ऐ प्राणी, तुमने क्यो लोभ के कारण मूल्यवान् (रतन) जन्म को खो दिया ? यह मानव देह रूप हीरा पुन हाथ मे नही आयगा। राम के बिना रोना होगा। जल बूँद (वीर्य) से जीना ओर पिड (देह) का निर्माण (बॉध्या) किया। माता के गर्भ अग्नि कुड मे दस मास रहे। पुन ममता लगी रही। तुम्हारे जीवन की एक पल आशा नही थी। यम तुम्हारा श्वास देख रहे थे। कब श्वास टूटे और ले चले। सत कबीर कहते है कि प्रभु ही इस ससार का बाजीगर है। पासे को समझ कर फैलाओ।

अलंकार—साग रूपक, रूपक

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ।
जब दस मास उरध मुखि होते,सो दिन काहे भूल्यौ ।।टेक।।
जौ झारै तौ होई भसम तन, रहत कृम है जाई ।।
काँचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई ।।
ज्यूँ माखी मधु संचि करि, जोरि जोरि धन कीनो ।।
मूय पीछै लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूँ दीनो ।।
ज्यूँ घर नारी संग देखि करि, तब लग संग सुहेली ।।
मरघट घाट खेंचि करि राखे, वह देखिहु हंस अकेली ।।

राम न रम्हु मदन कहा भूले, परत अँधेरैं कूवा।
कहै कबीर सोई आप बँधयौ, ज्यूँ नलनी का सूवा॥२४१॥

शब्दार्थ—उरध = ऊर्ध्व। झारै = जारै। जलाये। कृम = क्रीड़ा।

अर्थ—क्यो अहकार मे फूले फिरते हो ? वह दिन क्यो भूल गये जब दस मास माता के गर्भ मे ऊर्ध्व मुख पड़े थे। यह शरीर जलाने पर भस्म बन जाता है। गाड़ कर रखने पर कीड़ा हो जाता है। इस शरीर की क्या प्रशंसा की जाय ? यह तो कच्चे घड़े के समान है जिसमे पानी कुछ ही क्षणो मे बह कर निकल जाता है। ऐसे प्राण शरीर से चल देते है।

जैसे मधु मक्खी मधु सचित करती है वैसे कितना भी संचय करो। मरते ही लोग तुम्हे भूत कह बाहर लाओ लाओ करने लगते है। जैसे स्त्री घर मे ही देखी जाती है। तभी तक साथी मित्र भी रहते है। किंतु मरघट पहुँचने पर पता चलता है कि हस (आत्मा) अकेला है।

मदन (कामदेव) के पीछे क्यो भूले हो ? राम को क्यो नही जपते ? मदन तो अधकूप सा भयानक है।

हे जीव, तुम्हारी स्थिति उस सुग्गे के समान है जो लोभ मे स्वय ही बॉस की चरखी मे बध जाता है।

टिप्पणी— सुग्गे को पकड़ने के लिये बॉस की चर्खी बनायी जाती है। सुग्गा उस पर आकर बैठता है और नली से बॅध जाता है।

सूरदास जीने भी नलिनी के सुअटा का प्रयोग किया है—

सूरदास नलिनी कौ सुअटा, कहि कौनै पकर्यौ —सुर०

जाइ रे दिन हीं दिन नेहा; करि ले बौरी राम सनेहा॥टेक॥
बालापन गयौ जोबन जासी, जुरा मरण भौ संकट आसी।
पलटे केस नैन जल छाया, मूरिख चेति बुढ़ापा आया॥
राम कहत लज्या क्यूँ कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै।
लज्या कहै हूँ जम की दासी, एकैं हाथि मूदिगर दूजै हाथि पासी॥
कहै कबीर तिनहूँ सब हारया, राम नाम जिनि मनहु बिसारया॥२४२॥

अर्थ—ऐ जीव, तेरा यह शरीर दिन ब दिन नष्ट हो रहा है। अभी मौका है। ऐ पगले, राम से स्नेह कर लो। बचपन गया। यौवन भी जायगा। वृद्धावस्था और मृत्यु का सासारिक सकट आएगा। बालो का कालापन समाप्त हो गया है। ऑखो से (स्नेह के स्थान पर) पानी झरने लगा है। ऐ मूर्ख, चेत जा, बुढ़ापा आ गया है। राम नाम लेने मे लज्जा क्यो करता है ? शरीर क्षीण हो रहा है और पल-पल आयु घट रही है। लज्जा कहती है कि यम की दासी हूँ। मेरे एक हाथ मे मुद्गर और दूसरे हाथ मे रस्सी है। सत कबीर कहते है कि वे सब कुछ हार गए जिन्होंने मन से राम नाम को भुला दिया है।

अलंकार—मानवीकरण

मेरी मेरी करतौं जनम गयौ; जनम गयौ पर हरि न कह्यौ॥टेक॥
बारह बरस बालापन खोयौ, बीस बरस कछु तप न कयौ।
तीस बरस कै राम न सुमिरयौ, फिरि पछितानौं बिरध भयो॥
सूकै सरवर पालि बँधावे, लुणैं खेत हठि बाड़ि करै।
आयौ चोर तुरंग मुसि ले गयौ, मोरी राखत मुगध फिरै॥
सीस चरन कर कंपन लागे, नैन नीर असराल बहै।
जिभ्या बचन सूध नही निकसै, तब सुकरित की बात कहै॥

कहै कबीर सुनहु रे संतो धन संच्यौ कछु संगि न गयौ।
आई तलब गोपाल राइ की, मैडी मंदिर छाड़ि चल्यौ ॥२४३॥

शब्दार्थ—पालि = बाँध। लुणी = कटी फसल वाला। वाड़ि = घेरा। मोरी = घोड़े के मुख पर पहराने वाला साज। मुगध = मूढ। असराल = (अ० अस्रार) लगातार। सूध = सीधा। सुकरित= सुकृति। तलव = वुलावा। मैडी = मडित। मदिर = मकान। घर।

अर्थ—सत कवीर लोगो को चेतावानी देते हुए कहते है कि सपत्ति और सवधो के वारे मे मैं मेरी का भाव प्रवल रहा। सबको अपना समझते समझाते जीवन वीत गया। कभी भगवान् का भजन नही किया।

वारह वर्ष तक वचपन रहा। बीस वर्षो तक भी तपस्या नही की। तीस वर्षों तक राम नाम का स्मरण नही किया। वृद्धावस्था मे पछताने लगे। जैसे सूखे तालाव मे बाँध वनाना, कटे खेत को घेरना व्यर्थ है वैसे ही समय वीतने पर स्मरण सभव नही है। काल रूप चोर जवानी रूप घोड़े को चुरा ले गया। मूढ पुरुष घोड़े की मोरी अर्थात् जवानी का भाव लिये घूमता है। अव तो सिर, पैर, हाथ कॉपने लगे है। आँखो से लगातार पानी वह रहा है। जीभ से सीधी आवाज नही निकलती है। अव सुकृति की वात कहने से क्या फायदा है ? वहुत धन इकट्ठा किया। किंतु कुछ भी साथ नही गया। भगवान का वुलावा आ गया है। अव मडित (सजे) घर को छोड़ कर जाना होता है।

अलंकार—दृष्टात

जाहि जाती नाँव न लीया; फिरि पछितावैगी रे जीया ।टेक॥
धंधा करत चरन कर घाटे, आउ घटी तन खीना।
बिषै बिकार बहुत रुचि मौंनी, माया मोह चित दीन्हौं॥
जागि जागि नर काहे सोवै, सोइ सोइ कब जागैगा।
जब घर भीतरि चोर पड़ैगे, अब अंचलि किसके लागैगा॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, करि ल्यौ जे कछु करणौं।
लख चौरासी जोनि फिरौगे, बिना राम की सरनौं ॥२४४॥

अर्थ—जाते समय तक प्रभु का नाम स्मरण नही किया। ऐ जीव, फिर पछ्ताना होगा। धधा करते हाथ पैर घट गये। आयु खतम हुई। शरीर क्षीण हो गया। तुमने सदा विषय विकारो मे रुचि ली। माया मोह के कार्यो मे चित्त दिया। ऐ मनुष्य जागो, जागो। क्यो सो रहे हो ? सो सो कर कव जागोगे ? जव घर मे काल चोर घुसेगा तव किसका अचल पकड़ोगे ? अर्थात् किसका सहारा लोगे ?

सत कबीर कहते हैं कि जो करना है कर लो। राम की शरण गये बिना चौरासी लाख योनियो मे भटकना होगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

माया मोहि मोहि हित कीन्हौं; तामैं मेरो ग्यॉन ध्यॉन हरि लीन्हौं ।टेक॥
संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीवन सुपिन समॉन।
सॉच करि नरि गाँठि बाँध्यौ, छाड़ि परम निधॉन॥
नैन नेह पतंग हुलसै, पसू, न पेखै आगि।
काल पासि जु मुगध बाँध्या, कलंक कॉमिनी लागि।
करि बिचार बिकार परहरि, तिरण तारण सोइ।
कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दूजा नाँही कोइ ॥२४५॥

अर्थ—मैंने माया से मोहित होकर प्रेम किया। उससे उसने ज्ञान-ध्यान सब हरण कर

लिया। यह ससार स्वप्न जैसा है। उस स्वप्न को सच मान कर उसे गाँठ मे बॉध लिया और परम निधान को छोड़ दिया। तुम्हारी ऑखे फतिगो के समान विषयो को देख कर प्रसन्न होती है। पशु के समान आग को नही देखती है। ऐ मूढ़, तुम तो काल के बधन मे बँधे हो। तुम्हे कामिनी का कलक लग गया है। विकार छोड़ कर विचार करो तभी तरना होगा। सत कबीर कहते है कि रघुनाथ को भजो। दूसरा कोई नही है।

अलंकार—रूपक तथा उपमा

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा; तातै साचे सूँ मन भागा ॥टेक॥
झूठे के घरि आया, झूठे खान पकाया।
झूठी सहन क झूठा बाह्या, झूठै झूठा खाया॥
झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठो सबै सगाई।
झूठे के घरि झूठा राता, साचे को न पत्याई॥
कहै कबीर अलह का पंगुरा, साँचे सूँ मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन बंछित फल पावौ॥२४६॥

अर्थ—हे माया, तेरा झूठ इतना मीठा लगा कि मन उसी झूठ मे लग गया। सत्य से भाग गया। झूठे के घर झूठा आया। झूठे का भोजन तैयार किया। झूठी सहन की बाहर भी झूठा है। झूठे ने झूठा ही खाया। उठना, बैठना और समस्त अपनापन सब झूठे है। झूठे के घर झूठा अनुरक्त है। सच पर किसी का विश्वास नही है।

सत कबीर कहते है कि ओ अल्लाह के बच्चो (पगुरा), साँच (सत्य) से मन लगाओ। झूठे का साथ छोड़ दो। तभी मन बॉछित फल की प्राप्ति होगी।

कौंण कौण गया राम कौण कौंण न जासी,
पड़सी काया गढ़ माटी थासी॥टेक॥
इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी, पाँचो पाँडौ सरिषी जोड़ी।
धूअबिचल नही रहसी तारा, चंद सूर की आइसी बारा॥
कहै कबीर जग देखि संसारा, पड़सी घट रहसी निरकारा॥२४७॥

अर्थ—हे राम, कौन कौन गया और कौन कौन जायेगा ? अर्थात् सभी जायँगे। यह शरीर गिरेगा और मिट्टी हो जायगा। इद्र के समान शक्ति सपन्न कोड़ियो (२० की गिनती) लोग चले गये। पॉचो पाडवो के समान जोड़ियॉ भी चली गयी। ध्रुव विचलित होगे। तारे भी नही रहेगे। चद्रमा और सूर्य की भी बारी आयेगी।

सत कबीर कहते है कि जाग कर ससार को देखो। यह शरीर घट गिर पड़ेगा और निराकार रह जायेगा।

अलंकार—उपमा

तातैं सेविये नारॉइणॉं प्रभु मेरो दीनदयाल दया करणॉं॥टेक॥
जौ तुम्ह पंडित आगम जॉंणौ, बिद्या व्याकरणॉं।
तंत मंत सब ओषदि जाणौ, अंति तऊ मरणॉं।
राज पाट स्यंघासण आसण, बहु सुंदर रमणॉं।
चंदन चीर कपूर विराजत, अंति तऊ मरणॉं।
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणॉं।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणॉं॥
सोधि बिचारि सबै जग देख्या, कहूँ न ऊबरणॉं।
कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणॉं॥२४८॥

अर्थ—इसलिये दीन दयालु प्रभु नारायण की सेवा करनी चाहिए। जो तुम पंडित आगम, व्याकरण विद्या, तत्र, मत्र, सारी ओषधियॉ जानते हो किंतु अत मे मरना ही होगा। राज पाट, सिहासन, आसन, सुदर रमणी, चदन, वस्त्र, कपूर आदि के प्रयोगों से क्या, अत मे तो मरना ही होगा।

योगी, यती, तपस्वी, सन्यासी बहुत से तीर्थो मे घूमते है। वाल नोचने वाले जैनी, सिर मुड़ाए बौद्ध, मौन, जटाधारी साधु सभी मरते है। सोच विचार कर सारा ससार देख लिया। कही उबार नही है। किसी प्रकार से मौत से वचा नही जा सकता है।

सत कवीर कहते है कि प्रभु की शरण मे आया हूँ। मृत्यु से वचने का यही एक रास्ता है। हे प्रभु, मेरे जन्म-मरण को मिटा दो।

पॉड़े न करसि बाद बिबादं; या देही बिना सबद न स्वादं ॥टेक॥
अंड ब्रह्मंड खंड भी माटी माटी नवनिधि काया।
माटी खोजत सतगुर भेट्या, तिन कछू अलख लखाया॥
जीवत माटी मूवा भी माटी, देखौ ग्यान बिचारी।
अंति कालि माटी मैं बासा लेटे पॉव पसारी॥
माटी का चित्र पवन का थंभा, ब्यंद संजोगि उपाया।
भॉनै घड़ै सँवारै सोई यहु गोब्यंद की माया।
माटी का मंदिर ग्यान की दीप पवन बाति उजियारा।
तिहि उजियारै सब जग सूझै कबीर ग्यॉन बिचारा॥२४९॥

अर्थ—ऐ पाडे, विवाद मत करो। इस देह के न रहने पर न शब्द रहता है। न इद्रियो के स्वाद रह जाते है। अड, ब्रह्माड, खड तथा नव निधियो युक्त शरीर सभी मिट्टी हो जाते है। जीते जी भी मिट्टी थे। मरने पर भी मिट्टी होगी। इसे ज्ञान से विचार कर देखो। अत मे माटी मे ही पैर फैला कर लेटना होगा। यह ससार या देह चित्र मिट्टी का वना है। इसमे हवा का खभा लगा है। विन्दु के सयोग से उत्पन्न किया है। भगवान की माया शरीर को वनाती है और मिटाती है।

यह शरीर मिट्टी का मदिर है। इसमे ज्ञान का दीपक जलता है। इस मे हवा की वत्ती लगी है। उसी प्रकाश मे सारा ससार दिखाई पड़ता है। यह ज्ञान सत कवीर ने दिया है।

मेरी जिभ्या बिस्न नैन नारॉइन, हिरदै जपौ गोबिंदा।
जम दुवार जब लेख मॉग्या, तब का कहिसि मुकंदा ॥टेक॥
तूँ ब्राह्मण मै कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।
तै सब मॉगे भूपति राजा, मोरे राम धियाना॥
पूरब जनम हम ब्रॉह्मन होते, वोछे करम तप हीनॉं।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हॉं॥
नौमी नेम दसमी करि संजम, एकादसी जागरणॉं।
द्वादसी दॉन पुन्नि की बेलॉं, सर्व पाप छयौ करणॉं॥
भौ बूड़त कछू उपाय करीजै, ज्यूँ तिरि लंघै तीरा।
राम नाम लिखि भेरा बॉधौ, कहै उपदेस कबीरा॥२५०॥

अर्थ—भक्त की जीभ मे विष्णु, ऑखो मे नारायण, हृदय मे गोविद का जप होता है। यम के रवाजे पर जब हिसाव मॉगा जायगा तव मुकुद क्या कहेगे ?

तुम ब्राह्मण और काशी का जुलाहा हूँ। काशी के इस जुलाहे का ज्ञान समझो। तुम लोगो विधाता से राज पाट मॉगा। मैने राम का ध्यान मॉगा। अर्थात् प्रभु भक्ति मॉगी।

पूर्व जन्म मे मै ब्राह्मण था। कितु ओछा (घटिया) कर्म किया। तप हीन हुआ। राम देव की पूजा मे चूक की। फलस्वरूप मुझे पकड़ कर जुलाहा बना दिया गया।

लोग नवमी को नियम रखते है। दशमी को सयम, एकदाशी को जागरण, द्वादशी को दान पुण्य की बेला मे सारे पाप नष्ट करना चाहते है। भव मे डूबते हुए कुछ उपाय कीजिए जिससे तैर कर किनारे लगा जा सके। इस ससार सागर को पार करने का एक ही उपाय है राम नाम के लेख का भेरा (नाव) बॉधो। राम नाम जपो।

यही सत कबीर साहब का उपदेश है।

कहु पाँडे सुचि कवन ठाँव; जिहि घरि भोजन बैठि खाऊँ।।टेक।।
माता जूठा पिता पुनि जूठा जूठे फल चित लागे।।
जूठा आँवन जूठा जाँनाँ, चेतहु क्यूँ न अभागे।।
अन्न जूठा पाँनी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया।।
जूठी कड़छी अन्न परोस्या, जूठे जूठा खाया।।
चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढोकारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहि बिकारा।।२५१।।

शब्दार्थ—ढोकारा = टोकरा।

अर्थ—ऐ पाडे, बताओ, पवित्र ठौर कहॉ है जिस घर मे बैठ कर भोजन करूँ?

माता पिता सब जूठे है। जूठ मे जूठ का फल लगता है। अन्न, पानी आदि सब जूठ है। जूठे मे ही पकाया जाता है। कलछी, परोसा अन्न, सब जूठे से जूठा खाना है। चौका, गोबर, टोकरा आदि सब जूठे है।

सत कबीर कहते है कि वे जन सच्चे है जो प्रभु को भजते है और विकारो को छोड़ देते है।

हरि बिन झूठे सब ब्यौहार; केते कोऊ करौ गँवार।।टेक।।
झूठा जप तप झूठा ग्याँन, राम नाम बिन झूठा ध्याँन।
विधि नखेद पूजा आचार, सब दरिया मैं वार न पार।।
इद्री स्वारथ मन के स्वाद, जहाँ साच तहाँ माँडै बाद।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ।।२५२।।

शब्दार्थ—नखेद = निषेध।

अर्थ—बिना भगवान् के सारे व्यवहार झूठे है। और कोई कितना भी क्यो न करे ? सब गॅवारपन है। राम के बिना जप, तप, ज्ञान, ध्यान सब झूठे है। विधि-निषेध, पूजा, आचार इन सब के द्वारा ससार सागर पार नही किया जा सकता है। सभी इद्रियो और मन के स्वाद मे लीन है। सत्य के लिये विवाद बने है।

सत कबीर दास सदा प्रभु का ध्यान करते है। भ्रम, कर्म सब को बहा दिया है।

चेतनि देखै रे जग धंधा,
राम नाम का मरम न जाँनै, माया कै रसि अंधा।।टेक।।
जनमत हीरू कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी।
जैसे तरवर बसत पँखेरू, दिवस चारि के बासी।।
आपा थापि अवर कौ निंदै, जन्मत हो जड़ काटी।
हरि को भगति बिना यहु देही, घब लौटै हो फाटी।।
काँम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणिये।
कहै कबीर साध की संगति, राम नाम गुण भणिये।।२५३।।

अर्थ—चेत कर देखो, यह ससार एक धधा है। राम नाम मर्म नही जानते और माया के रस मे अधे हो रहे हो।

क्या तुम जन्म के समय हीरा लेकर जन्मे थे या मरते समय क्या लेकर जाओगे ? जैसे पेड़ के पक्षी बसते है। किंतु चार दिनो मे उड़ जाते है वैसे ही जीव (पक्षी) ससार या शरीर वृक्ष पर चार दिनो अर्थात् बाल, किशोर, युवा और वृद्ध अवस्था के लिये आता है। अपने अह की स्थापना कर दूसरे की निदा करते हो जन्म से ही प्रभु मे अपनी जड़ को काट डालते हो। प्रभु की भक्ति के बिना यह शरीर फट कर धरा पर लौटेगा।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर तथा दूसरे की निदा कभी मत सुनिए। सत कबीर कहते है कि साधु की सगति कीजिए और राम नाम गुण को भजिए।

अलंकार—उपमा

रे जम नाँहि नवै व्यापारी; जे भरै जगाति तुम्हारी ॥टेक॥
बसुधा छाड़ि बनिज हम कीन्हो, लायो हरि को नाँऊँ।
राम नाम की गूँनि भराऊँ, हरि कै टाँडै जाँऊँ॥
जिनकै तुम्ह अगिवानी कहियत, सो पूँजी हँम पासा।
अबै तुम्हारी कछु बल नाँही कहै कबीरा दासा ॥२५४॥

शब्दार्थ—जगाति = चुगी। जकात। गूँनि = बोरा। टाडै = व्यापारिक खेप।

अर्थ—ओ यम, मै नया व्यापारी नही हूँ जो तुम्हारी चुगी भरूँ। धरती को छोड़ कर हमने व्यापार किया। प्रभु नाम का सामान लादा। राम नाम की ही बोरी भरी। प्रभु व्यापारी खेप ले जाऊँगा।

सत कबीर कहते है कि अब तुम्हारा कुछ भी बस नही है। क्योकि यहाँ सारा व्यापार प्रभु सबधी है। प्रभु तो मालिक है। उसके आदमी से तुम चुगी नही ले सकते हो।

अलंकार—रूपक

मीयाँ तुम्ह सौ बोल्याँ बणि नही आवै।
हम मसकीन खुदाई बंदे, तुम्हारा जस मनि भावै ॥टेक॥
अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।
मुरिसद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँ थै आया॥
रोजा करै निवाज गुजारै, कलमैं भिसत न होई।
संतरि काबे इक दिल भीतरि, जे करि जानै कोई॥
खसम पिछाँनि तरस करि जिय मै माल मनी करि फीकी।
आपा जाँनि साँई कूँ जाँनै, तब ह्वै भिस्त सरीकी॥
माटी एक भेष धरि नाँनाँ, सब मै ब्रह्म समानाँ।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन मानाँ ॥२५५॥

शब्दार्थ—बणि = बनना। मसकीन = दुखी। दीन। खुदाई बदे = प्रभु सेवक। मनि = मन मे। अवलि = अव्वल। सर्व प्रथम। दीन = धर्म। फुरमाया = फरमाया। आदेश। मुरसिद = पथ प्रदर्शक। गुरु। पीर = धर्म गुरु। गुजारै = गुजारिश करना। निवेदन करना। कलमै = इस्लाम के मत्र। भिस्ति = स्वर्ग। कांबा = मक्का मे एक महत्त्वपूर्ण धर्म स्थल। सतरि = सत्तर। खसम = पति। पिछाँनि = पहिचान। तरस = दया। मनी = मणि। फीकी = मद। सरीकी = शामिल होने वाला। दोजग = नरक।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ऐ मियाँ, तुमसे बात करते भी नही बनता है। मै दुखी तो खुदा का सेवक हूँ। तुम्हारे मन मे जो अच्छा लगे। अर्थात् तुम चाहे जो समझो। अल्लाह तो

सर्व प्रथम धर्म प्रभु है। यह धर्म प्रभु किसी के साथ जबर्दस्ती करने की इजाजत नही देता है। तुम्हारे धर्म गुरु कौन है ? ये कहाँ से आए है ? मतलब कि ये भी प्रभु सेवक है। ये रोजा रखते है। नमाज अदा करते है। कलमा पढ़ते है। कितु इन क्रियाओ से स्वर्ग नही मिलेगा। यदि कोई अपने दिल मे एक नही सत्तर काबा भी बसा ले तो उसे प्रभु पति को पहचानना होगा। हृदय मे दया भाव लाना होगा। मन मे सपत्ति को व्यर्थ समझना होगा। अपने को (आत्म तत्त्व) जान कर ईश्वर का ज्ञान पैदा करे तब वह स्वर्गमे प्रवेश पा सकता है। एक ही मिट्टी ने नाना वेश धारण किया है। मूलत सब एक है। ब्रह्म सभी प्राणियो मे समान रूप से समाया है। समानता के इस तथ्य को जान कर कबीर ने स्वर्ग सुख छोड़ कर नरक से ही मन को मना लिया। क्योकि स्वर्ग और नरक मे कोई भेद नही है।

अलह ल्यौ लाँये काहे न रहिये; अह निसि केवल राम नाम कहिये ।।टेक।।
गुरमुखि कलमा ग्याँन मुखि छुरी, हुई हलाहल पचूँ पुरी ।।
मन मसीति मै किनहूँ न जाँनाँ, पंच पीर मालिम भगवानाँ ।।
कहे कबीर मै हरि गुन गाऊँ, हिदू तुरक दोऊ समझाऊँ ।।२५६।।

शब्दार्थ—मालिम = (अ० मुअल्लिम) ज्ञान देने वाला।

अर्थ—अल्लाह का ध्यान क्यो नही करते है ? रात-दिन केवल राम नाम कहिए। गुरु कृपा के लिये कलमा पढ़िए। ज्ञान धुरी से पॉचो इद्रियो के विषयो को हलाल करना चाहिए। मन मस्जिद को कोई नही जानता है। पॉचो इन्द्रियो का ज्ञान प्रभु को समर्पित है। सत प्रभु के गुणो का गान करते है और बताते है कि हिदू-मुसलमान दोनो एक है।

अलंकार—रूपक

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नाँ परि परेसाँनीं माँहि।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूँ नाँहि ।।टेक।।
पीराँ मुरीदाँ काजियाँ, मुलाँ अरू दरबेस।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस ।।
कुराना कतेबाँ अस पढ़ि पढ़ि फिकरि या नही जाइ।
टुक दम करारी जे करै, हाजिराँ सुर खुदाइ ।।
दरोगाँ बकि बकि हूँहि खुसियाँ, बे अकलि बकहि पुमाहि।
इक साच खालिक खालक म्यानै, सो कछू सच सूरति माँहि ।।
अलह पाक तूँ नापाक क्यूँ, अब दूसर नाँही कोइ।
कबीर करम करीम का, करनी करै जाँनै सोइ ।।२५७।।

शब्दार्थ—दिलहर = दिलधर। अजीज = प्रिय। दस्तगीरी = सहायक। पीरॉ = गुरु। मुरीदॉ = शिष्य। काजियॉ =न्यायाधीश। मुलॉ = मौलवी। दरबेस = सिद्ध साधु। नेस = नष्ट। टुक दम = थोड़ा सा। करारी = धैर्य। हाजिरॉ = उपस्थित। सुर = सूर। दरोगॉ = असत्य। पुमाहिं = प्रमत्त होना। खालिक = सृष्टि कर्त्ता। खालक = ससार। म्यानै = मे। सूरति = रूप। करीम = दयालु। करम = कृपा।

अर्थ—ऐ दिल, खोजो। दिल वाले को खोजो। जिसके पास पूरा दिल हो। परेशानी मे मत पड़ो। धन दौलत, प्रिय स्त्री कोई सहायक नही है।

पीर, मरीद, काजी, मुल्ला, दरवेश आदि को किसने बनाया है ? तुम्हारी बुद्धि नष्ट है। कुरान, किताब आदि पढ़ने से चिता दूर नही होगी। जो अपनी वृत्तियो को थोड़ी देर के लिये भी स्थिर कर लेता है खुदा उस पर प्रसन्न होता है।

लोग झूठ बोल-बोल कर खुश होते है। वेअक्ल के लोग अहकार मे बकते है। इस सृष्टि

मे सृष्टि कर्त्ता ही एक सच्चा है। वह सभी रूपो मे विद्यमान है। अल्लाह पाक, तब नापाक (अपवित्र) तुम क्यो हो ? अल्लाह के अतिरिक्त अब दूसरा कोई नही है।

दयालु प्रभु की दया को वह जानता है जो दया कर्म मे लीन है।

खालिक हरि कही दर हाल।
पंजर जसि करद दुसमन मुरद करि पैमाल ॥टेक॥
भिस्त हुसकाँ दोजगाँ दुंदर दराज दिवाल।
पहनाम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल।
हम रफत रहबरहु समाँ, मै खुर्दा सुमाँ बिसियार।
हम जिमी असमाँन खालिक, गुद मुँसिकल कार ॥
असमाँन म्याने लहँग दरिया, तहाँ गुसल करदा बूद।
करि फिकर रह सालक जसम, जहाँ स तहाँ मौजूद ॥
हँम चु बूँदनि बूँद खालिक, गरक हम तुम पेस।
कबीर पहन खुदाइ की, रह दिगर दावानेस ॥२५८॥

शब्दार्थ—दर = ठिकाना। हरि = प्रत्येक। हाल = अवस्था। करद = चाकू। मुरद = मुर्दा। पैमाल = बर्बाद। भिस्त = स्वर्ग। हुसकाँ = उसका। दुदर = झगड़ालू। दराज = भारी। अधिक। पहनाम = विस्तार।

अलह राम जीऊँ तेरे नाईं; बंदे ऊपरि मिहर करौ मेरे साँईं ॥टेक॥
क्या ले माटी भुँइ सूँ, मारै क्या जल देइ न्हवाये।
जो करै मसकीन सतावै, गूँन ही रहै छिपाये ॥
क्या तू जू जप मंजन कीये, क्याँ मसीति सिर नाँये।
रोजा करै निमाज गुजारै, क्या हज काबै जाँये ॥
ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसो, काजी महरमजाँन।
ग्यारह मास जुदे क्यू कीये, एकहि माँहि समाँन ॥
जौ रे खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति राम निवासा, दुहु मै किनहूँ न हेरा ॥
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकाँमा।
दिल ही खोजि दिलै भीतरि, इहाँ राम रहिमाँनाँ ॥
जेती औरति मरदाँ कहिये, सब मै रूप तुम्हारा।
कबीरा पंगुड़ा, अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा ॥२५९॥

शब्दार्थ—नाई = नाम। मिहर = कृपा। मसकीन = दीन। विनम्र। निमाज गुजारै = नमाज पढना। पगुड़ा = (< स पौगड) बालक। पीर = धर्म गुरु।

अर्थ—हे प्रभु, मै तुम्हारा नाम लेकर जीता हूँ। हे प्रभु, मेरे ऊपर कृपा करो। धरती से मिट्टी उठा कर मूर्ति बनाने और उस मूर्ति को स्नान कराने से क्या फायदा है ? सता कर दीनता नही दिखाई जा सकती है। गुण छिपाने की चीज है। जप और मजन करने और मस्जिद मे सिर झुकाने से क्या ? रोजा रखने, नमाज अदा करने, हज के लिये काबा जाने से क्या ? ब्राह्मण चौबीस एकादशी करता है। काजी एक माह रमजान मनाता है। तब ग्यारह मास प्रभु को अलग क्यो रखते हो ? क्या पूरा वर्ष एक मास मे ही सिमट आता है ?

अगर खुदा मस्जिद मे निवास करता है तो अन्य स्थानो मे कौन है? तीर्थो और मूर्तियो मे राम का निवास है, यह भी ठीक नही। दोनो मे किसी ने राम को नही देखा है। हरि पूर्व मे और अल्लाह पश्चिम मे रहते है, यह ठीक नही। ईश्वर को दिल मे खोजो। राम, रहीम दोनो

यही है। जितने स्त्री-पुरुष हे सब मे प्रभु का रूप विद्यमान है। सत कबीर प्रभु के बालक है। हरि ही हमारे धर्म गुरु हे।

अलंकार—वक्रोक्ति

मै बड़ मैं बड़ मै बड़ मॉटी; मण दसना जट का दस गाँठी ॥टेक॥
मै बाबा का जोध कहाँऊँ, अपणी मारी गींद चलाऊँ।
इनि अहंकार घणे घर घाले, नाचत कूदत जमपुरि चाले॥
कहै कबीर करता ही बाजी, एक पलक मै राज बिराजी॥२६०॥

अर्थ—मै बड़ा हूँ। मै सब से बड़ा हूँ। यह कहना व्यर्थ है। यह वैसे ही है जैसे जाट अपने को दस मन तथा दस गॉठो वाला कहता है। मै बाबा का योद्धा हूँ। अपने ही मारे गेद को फेकता हूँ। इस अहकार ने अनेक घरो को नष्ट किया। ऐसे लोग नाचते-कूदते यमपुर चले गये।

कबीर कहते है कि कर्ता(प्रभु) की बाजी है। वे एक पलक मे राजा बना देते है।

काहे बीहो मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख मै, सो च्यंत करेगा मेरा॥टेक॥
कहौ कौन खिवै कहौ कौन गाजे, कहा थैं पाँणी निसरै।
ऐसी कला अनंत है जाके,सो हँम कौं क्यूँ बिसरै॥
जिनिब्रह्मांड रच्यौ बहु रचना,बाब बरन ससि सूरा।
पाइक पंच पुहिम जाकै प्रकटे, सो क्यूँ कहिये दूरा॥
नैन नासिका जिनि हरि सिरजे, दसन बसन बिधि काया।
साधू जन कौ क्यूँ बिसरै, ऐसा है राम राया॥
को काहू मरम न जानैं, मै सरनाँगति तेरी।
कहै कबीर बाप राम राया, हुरमति राखहु मेरी॥२६१॥

शब्दार्थ—बीहो = भय। बाब = वायु। बरन = वरुण। पाइक = पावक। आग। पुहमि = धरती। दसन = दॉत। बसन = वस्त्र। हुरमति = इज्जत। प्रतिष्ठा। खिवै = नष्ट होता है।

अर्थ—ऐ मेरे साथी, क्यो डरते हो ? मै हरि का हाथी हूँ। चौरासी लाख योनियॉ जिस प्रभु के मुख मे है (यहॉ ईश्वर के विराट् रूप की ओर सकेत है) वही प्रभु मेरी चिता करेगा।

कहो कौन नष्ट होता है ? कौन गरजता है ? पानी कहॉ से निकलता है ? इस प्रकार की जिसकी अनत कलाएँ है वह प्रभु हमे कैसे भूल जायगा ? जिसने ब्रह्माड मे बहुत प्रकार की रचना की है। वायु, वरुण, चद्रमा, सूर्य, पचाग्नि, पृथ्वी आदि जिसने बनाये है उसे अपने से दूर कैसे कर कहा जाय ?

वह हमसे बहुत नजदीक है। ऑख, नाक, दॉत, वस्त्र, विविध प्रकार के शरीर जिसने बनाये। वह राजा राम साधु पुरुषो को क्यो भूल जायगा ? वह प्रभु कौन है ? उसके तत्त्व को कोई नही जानता है। हे प्रभु, मै तेरी शरण मे हूँ।

सत कबीर कहते है कि हे पिता राजा राम इज्जत रख लो। अर्थात् मुझे वासना मे जाने से रोको।

(राग सोरठि)

हरि को नाम न लेइ गँवारा; क्या सोचे बारंबारा॥टेक॥
पंच चोर गढ़ मंझा गढ़ लूटै दिवस रे संझा॥

जौ गढ़पति मुहकम होई, तौ लूटि न सकै कोई ॥
अँधियारे दीपक चहिए, तब बस्त अगोचर लहिये ॥
जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ॥
जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मंजत रहिये ॥
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ॥
का पढ़िये का गुनिये, का बेद पुराना सुनिये ॥
पढ़े गुने मति होई मै सहजै पाया सोई ॥
कहै कबीर मै जाँनाँ, मै जाँनाँ मन पतियाँनाँ ॥
पतियाँनाँ जो न पतीजै, तौ अंधै कूँ का कीजै ॥२६२॥

शब्दार्थ—गॅवारा = मूर्ख। पॉच चोर = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर। गढ़ = शरीर। मुहकम = दृढ। पतियॉनॉ = विश्वास करना। अधा = अज्ञानी।

अर्थ—अरे मूर्ख, ईश्वर का नाम क्यो नही लेते हो ? प्रभु नाम स्मरण मे क्यो बार-बार सोचते हो ? काम, क्रोध, लोभ, मत्सर ये पॉच चोर शरीर के भीतर ही शरीर को दिन-रात लूट रहे है। इस शरीर का मालिक जीवात्मा यदि दृढ हो तो कोई नही लूट सकता है। माया के अधेरे मे ज्ञान का दीपक मिले तो अगोचर (इद्रियो द्वारा न प्राप्त होने वाला) वस्तु तत्त्वो का भी ज्ञान होता है।

अगोचर वस्तु की प्राप्ति होने पर जिस ज्ञान दीपक से उसकी जानकारी होती है व्यक्तित्त्व उसी मे समा जाता है। (ज्ञात, ज्ञान और ज्ञेय तीनो का लय हो जाता है)।

अगोचर तत्त्व को देखना चाहते हो तो अत करण को पवित्र रखो। जैसे काई लगे दर्पण मे वस्तु नही दीखती है वैसे ही अशुद्ध चित्त मे अगोचर प्रभु का दर्शन नही होता है।

वेद-पुराण पढ़ने, सुनने, गुनने से क्या ? पढ़ने, सुनने, गुनने से बुद्धि होती है। वह बुद्धि भक्त को सहज साधना से मिल गयी है। सत कबीर कहते है कि मैने उस परम तत्त्व को ज़ान लिया। जान कर विश्वास करता हूँ। यदि विश्वासनीय पर भी विश्वास न हो तो उस अधे व्यक्ति को क्या कहा जाय ?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति विरोधाभास, वक्रोक्ति

अंधे हरि बिन को तेरा; कवन सूँ कहत मेरी मेरा ॥टेक॥
तजि कुलाक्रम अभिमाँनाँ, झूठे भरमि कहा भुलानाँ ॥
झूठे तन की कहा बड़ाई जे निमष माँहि जरि जाई ॥
जब लग मनहि बिकारा, तब लगि नही छूटै संसारा ॥
जब मन निरमल करि जाँनाँ, तब निमल माँहि समानाँ।
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ॥
जब पाप पुँनि भ्रँम जारी, तब भयो प्रकास मुरारी।
कहै कबीर हरि ऐसा, जहाँ जैसा तहाँ तैसा ॥
भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा राम करै सौ होई ॥२६३॥

अर्थ—ओ अज्ञान मूलक अधे, ईश्वर के बिना तुम्हारा कौन है ? किससे मेरी, मेरी कहते हो ? तुम कुलाभिमान मे व्यर्थ ही पड़े हो। इसे छोड़ दो। इस झूठे शरीर की क्या तारीफ करते हो ? यह तो क्षण भर मे जल जायगा। जब तक मन मे विषय विकार है तब तक इस ससार से मुक्ति नही हो सकती है। जब मन विषय मुक्त होता है तो मन शुद्ध-बुद्ध परमात्मा मे अतर्भुक्त हो जाता है। ब्रह्म अग्नि मे केवल ब्रह्म है। उस हरि के अतिरिक्त और कोई नही है। जब पाप-पुण्य के भ्रम नष्ट होते है तभी ईश्वर का प्रकाश होता है। सत कबीर कहते है कि

हरि के अलग-अलग स्थानो के अलग-अलग रूप मे कोई भ्रम मे न रहे। राजा राम जो करते है वही होता है।

मन रे सर्‌यौ न एकौ काजा; तातै भज्यौ न जगपति राजा ।।टेक।।
बेद पुराँन सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि गुन मरम न पावा।
संध्या गायत्री अरु षट करमाँ, तिन थैं दूरि बतावा ।।
बनखंडि जाइ बहुत तप कीन्हाँ, कंद मूल खनि खावा।
ब्रह्म गियाँना अधिक धियाँनी, जंम कै पटै लिखावा ।।
रोजा किया निवाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा।
हिरदै कपट मिलै क्यूँ साँई, क्या हल काबै जावा ।।
पहर्‌यौ काल सकल जग ऊपरि, माँहिं, लिखे सब ग्याँनी।
कहै कबीर ते भये षालसे, राम भगति जिनि जाँनी ।।२६४।।

अर्थ—अरे मन एक काम भी पूरा नही हुआ। इसलिये कि जगत् पति राजा राम की उपासना नही की। वेद, पुराण, स्मृति आदि पढ़, गुण करके भी प्रभु तत्त्व का मर्म नही पाया। सध्या, गायत्री तथा षट् कर्म आदि से भी प्रभु दूर है। जगल जाकर बहुत तपस्या की। कद, मूल खोद कर खाये। ब्रह्म ज्ञान के बहुत ध्यानी है। फिर भी यम ने पट्टा लिखा ही लिया। (यम का अधिकार हो ही गया) रोजा रखा, नमाज बिताया, बाग देकर लोगो को सुनाया। हृदय मे ही कपट भरा है। ऐसे मे काबा जाने से क्या फायदा है ? समस्त ससार पर काल का पहरा पड़ रहा है। सभी ज्ञानियो के नाम उस काल के खाते मे लिखे है। सत कबीर कहते है कि वे ही शुद्ध (षालसे) हुए जिन्हे राम की भक्ति का ज्ञान है।

टिप्पणी—षट् कर्म सबके लिये अलग-अलग है। सत कबीर का सकेत सभी ओर हो सकता है उदाहरण के लिये—

१ नित्य कर्म सबके लिये है— स्नान, ध्यान, पूजा, तर्पण, होम, जप।
२ योगी नित्य—नेति, धौति, वस्ति, नौलि, त्राटक, कपालभा क्रियाएँ करते है।
३ ब्राह्मण के लिये— यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह।

मन रे जब तैं राम कह्यौ; पीछै कहिबे कौ कछू न रह्यौ ।।टेक।।
का जोग जगि तप दाँनाँ, जौ तै राम नाम नही जाँना ।।
काँम क्रोध दोऊ भारे, तायैं गुरु प्रसादि सब जारे ।।
कहै कबीर भ्रम नासी, राजा राम मिले अबिनासी ।।२६५।।

अर्थ—ओ मन, जब राम कह लिया तो अब कुछ भी कहना शेष नही रह गया। अगर राम नाम नही जानते हो तो योग, यज्ञ, तप, दान करने से क्या फायदा ? गुरुदेव की कृपा से काम, क्रोध दोनो भार जल गये। भ्रम नष्ट हो गये। अविनाशी प्रभु का दर्शन हुआ।

राम राइ सो गति भई हमारी, मो पै छूटत नहीं संसारी ।।टेक।।
यूँ पंखी उड़ि जाइ अकासाँ, आस रही मन माँहीं ।।
छूटी न आस टूट्यौ नही फंधा उडिबौ लागो काँहीं ।।
जो सुख करत होत दुख तेही कहत न कछु बनि आवै।
कुंजर ज्यूँ कस्तूरी का मृग, आपै आप बँधावै ।।
कहै कबीर नही बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इन भैभीत डरौ जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी ।।२६६।।

अर्थ—हे प्रभु, मेरी ऐसी गति हो गयी है कि मुझ से ससार नही छूट रहा है। मन आकाश मे उड़ने वाले पक्षी के समान आशा मे दौडता है। आशा के कारण बधन नही छूटता है। आशा

का फदा कठिन है। अब कैसे उड़ना होगा ? जिसे लोग सुख समझते है उसमे वह दुख है। किंतु यह किसी को समझ मे नही आता है।

जैसे हाथी, हथिनी और कस्तूरी मृग अपनी गध के कारण पकड़े जाते हैयही हाल मनुष्य का है। मनुष्य भी काम, मद के कारण बँधता है।

सत कबीर कहते हैं कि हे प्रभु, मेरा कुछ भी वश मे नही है। मै यम दूतो के डर से आपकी शरण मे आया हूँ।

राम राइ तूँ ऐसा अनभूत अनूपम, तेरी अनभै थै निस्तरिये ॥
जे तुम्हं कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूँ न भूलि न परिये ॥टेक॥
हरि पद दुरलभ अगोचर, कथिया गुर गमि बिचारा।
जा कारँनि हम ढूँढत फिरते, आथि भर्‌यो संसारा ॥
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जम दुख द्वारा।
प्रगटे बिस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत बिचारा ॥
देख्यत एक अनेक भाव है, लेखत जात अजाती।
बिह कौ देव तजि ढूँढत फिरते मंडप पूजा पाती ॥
कहै कबीर करुँणामय किया, देरी गलियाँ बह बिस्तारा।
राम कै नाँव परम पद पाया छूटै बिघन बिकारा ॥२६७॥

अर्थ—हे राजा राम, तू अननुभूत और अनुपम है। तेरे अनुभव से ही निस्तार है। हे प्रभु, तेरी कृपा हो तो कभी भूल न हो। प्रभु चरण, दुर्लभ, अगम्य, इंद्रियातीत है। गुरुदेव ने विचार कर कहा। जिस कारण को मै ढूँढ़ता फिरता हूँ वह ससार मे भरा है।

उस प्रभु की ज्योति प्रगट हुई। हृदय कपाट खुल गये। यम द्वारा उत्पन्न सारे दुख समाप्त हो गए। जगज्जीवन विश्वनाथ प्रभु प्रगटे। मैंनें उन्हे विचार करते ही प्राप्त किया। वे एक हैं। लोग भिन्न-भिन्न भावो से देखते है। वह जाति रहित अनेक जातियो मे दीखता है। इस देवता को छोड़ कर मदिरो की पूजा पत्ती मे देवता को ढूँढ़ते है।

सत कबीर कहते है कि हमारे प्रभु दयालु है। आवागमन की दरी (नदी) गली का बड़ा विस्तार है। राम नाम का परम पद पाया है। इससे विकारो के विघ्न दूर हो जायेंगे।

रांम राइ को ऐसा बैरागी,
हरि भजि मगन रहै विष त्यागी ॥टेक॥
ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नांव कुलाल धराया।
बहु बिधि भांडै उनही घड़िया, प्रभू का अंत न पाया ॥
तरवर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा।
भौजलि भूलि रया रे प्रांणी, सौ फल कदे न चाखा ॥
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी।
माटी का तंन मांटी मिलिहै, सबद गुरू का साथी ॥२६८॥

अर्थ—हे राम, ऐसा कौन वैरागी है जो विषयो को त्याग कर हरि भजन मे मग्न रहता है? ब्रह्मा रूपी कुम्हार ने सृष्टि बनाई। उसका नामकरण किया। अनेक प्रकार के शरीर (भाड) उन्होने ही बनाए। प्रभु का कही अत नही है। एक पेड़ नाना फलो मे फला है। उस पेड़ के न मूल है, न शाखा है। सारा ससार भव जाल मे भूला है। उस फल को कभी नही चखा है। सत कबीर कहते है कि गुरु के वचनो से प्रेम करो। ससार मे तुम्हारा और कोई नही है। मिट्टी का यह शरीर मिट्टी मे मिलेगा। केवल गुरु वचन ही साथ रहेगा। मददगार होगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

नैक निहारी हो माया बीनती करै,
दीन बचन बोले कर जोरै, फुनि फुनि पाइ परै।।टेक।।
कनक लेहु जेता मनि भावै, कामिन लेहु मन हरनी।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी राजा लेहु सब धरनी।।
अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनाँ नवैं निधि है तुम्ह आगैं।।
सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मागैं।।
तै पापणी सबै संघारे काकौ काज सँवार्यौ।।
जिनि जिनि संग कियौ है तेरो को बेसासि न मार्‌यौ।।
दास कबीर राम कै सरनै छाड़ी झूठी माया।।
गुर प्रसाद साध की संगति, तहाँ परम पद पाया।।२६९।।

अर्थ—माया भक्तो से प्रार्थना करती है कि जरा मेरी ओर भी देख। वह दीनता भरी बात बोलती है। बार-बार हाथ जोड़कर पैरो पर गिरती है। कहती है कि जितना चाहे सोना ले। मन हरण करने वाली स्त्री ले। विद्वान् पुत्र ले। समस्त धरती का राज्य ले। आठ सिद्धियॉ, नव निधियॉ ले। सुर नर सकल भुवन के राजाओ को माँगने पर भी जो नही मिलता है वह सब ले। उत्तर मे कबीर कहते है—तू माया पापिनी ने किसका काम बनाया है? सब को नष्ट कर दिया है। जिस जिस ने तेरा विश्वास कर सग किया उन सबको धोखा हुआ।

सत कबीर राम की शरण मे है। झूठी माया को छोड़ो। गुरु कृपा साधु की सगति से परम पद पाया है।

अलंकार—मानवीकरण

तुम्ह घरि जाहू हँमारी बहनाँ; बिष लागै तुम्हारे नैना।।टेक।।
अंजन छाड़ि निरंजन राते नाँ किसही का दैनाँ।
बलि जाऊँ ताकी जिनि तुम्ह पठई एक माइ एक बहनाँ।।
राती खाँडी देख कबीरा, देखि हमारा सिगारौ।।
सरग लोक थै हम चलि आई, करन कबीर भरतारौ।।
सर्ग लोक मै क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलि माँही।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहुँ पतीजौ नाँही।।
तहाँ जाहु जहाँ पाट पंटबर, अगर चंदन घसि लीनाँ।
आइ हमारै कहाँ करौगी, हम तौ जाति कमीनाँ।।
जिन हँम साजे साँज्य निवाजे बाँधे काचै धागै।
जे तुम्ह जतन करो बहुतेरा, पाँणी आगि न लागै।।
साहिब मेरा लेखा मागै लेखा क्यूँ करि दीजे।
जे तुम्ह जतन करो बहुतेरा,तौ पाँहण नीर न भीजे।
जाकी मै मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू।
टूक एक तुम्हारे हाथ लगाऊँ, तो राजाँ राम रिसालू।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौ उदासी।
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसो, एक माउ एक मासी।।२७०।।

शब्दार्थ—अजन = त्रिगुण। निरजन = गुण रहित ईश्वर। राते = रत होना। खॉडी = खडिता। (खडिता वह नायिका है जिसका पति रात को दूसरी नायिका के पास रहा हो और सबेरे उसके पास आया हो) पतीजौ = प्रतीति। पटब = पीताबर।

अर्थ—संत कबीर माया से कहते है कि हे बहन, तुम घर चली जाओ। तुम्हारी ऑखो मे जहर भरा है। मैने त्रिगुण (अजन) को छोड़ कर परमात्मा (निरजन) से प्रेम कर लिया है। मुझे किसी से लेना-देना नही। मै उस पर बलि जाता हूँ जिसने तुम्हे भेजा है। एक नाते, देह के नाते तुम मेरी मॉ हो और दूसरी जीवात्मा के नाते बहन हो (देह मायोत्पन्न एव नाशवान् है। किंतु आत्मा अविनाशी और अश है)।

माया ने उत्तर दिया हे कबीर, मुझ खडिता को देखो (पति कबीर प्रभु मे अनुरक्त हैं) तथा मेरा श्रृगार देखो। मै तुम्हे पति बनाने आई हूँ। सत कबीर ने पूछा—स्वर्ग लोक मे क्या दुख पड़ा कि तुम्हे कलि मे आना पड़ा है ? कबीर जाति का जुलाहा है। आज भी उसे तुम्हारे ऊपर विश्वास नही है। हे देवि, तुम वहॉ जाओ जहॉ पीताम्बरधारी, अगर चदन लगाने वाले अर्थात् जहॉ सज्जा और आडबर है। कबीर के यहॉ आकर क्या करोगी ? मै कमीना अर्थात् कम कर जाति का हूँ। जिस प्रभु ने हमे सजाया है। साज कर कृपा की है, उन्होने हमे कच्चे धागे मे बॉध भी रखा है। तुम कितनी भी कोशिश करो। किंतु पानी मे आग नही लग सकती है। जब साहब मुझसे ससार के कार्यो का हिसाब मॉगेगा तब मै हिसाब कैसे दे सकूँगा ? मैने तो उसका कोई कार्य किया नही है। (मै साहब का गुलाम हूँ) तुम चाहे कितना भी प्रयत्न करो पत्थर पानी से नही भीग सकता है। मै जिसकी मछली हूँ वही मेरा मछा है। वही रखवाला भी है। तुम्हे छू भी दूँ तो राजा राम को गुस्सा आ जायगा। जुलाहा जाति का कबीर अकेला ही वन-वन घूमता है। इतना कहने पर भी तुम बार-बार आस-पास बैठ रही हो। तुम मेरी देह पैदा करने वाली मॉ और दूसरे जीवो की देह पैदा करने के नाते मौसी भी हो।

अलंकार—मानवीकरण

ताकूँ रे कहा कीजै भाई;
तजि अंमृत बिषै सूँ ल्यौ लाई ॥टेक॥
बिष संग्रह कहा सुख पाया, रंचक सुख कौं जनम गँवाया ॥
मन बरजै चित कह्यो न करई, सकति सनेह दीपक मैं परई ॥
कहत कबीर मोहि भगति उमाहा, कृत करणी जाति भया जुलाहा ॥२७१॥

अर्थ—अरे भाई, उसका क्या कीजिएगा जिसने अमृत को छोड़ विष से प्रेम कर लिया है ? विष के सग्रह मे कौन सा सुख मिला ? जरा सुख के लिये जन्म बर्बाद कर दिया। मन के मना करने पर भी चित्त नही मानता है। शक्ति पर स्नेह दीपक मे (फतिगे सा) गिरता है। सत कबीर कहते है कि मुझे भक्ति का उत्साह हुआ है। यद्यपि पूर्व कर्मो के कारण मै जुलाहा जाति मे पैदा हुआ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

रे सुख इब मोही बिष भरि लगा।
इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ॥टेक॥
उपजै बिनसै जाइ बिलाई संपत्ति काहु के संगि न जाई ॥
धन जोबन गरब्यौ संसारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा।
चरन कमल मन राँखि ले धीरा, राम रमत सुख कहै कबीरा ॥२७२॥

अर्थ—सुख सपत्ति से मुझे दुख लगता है। इन सुखो मे मोटे-मोटे राजा जल गये। सपत्ति उपजती है, विनाश को प्राप्त हो जाती है, बिल्कुल ही लुप्त हो गयी। यह सपत्ति किसी के भी साथ नही जाती है। ससार धन, यौवन का अहकार करता है। यह शरीर जल-बल कर क्षार बन जायगा। प्रभु के चरण कमलो मे मन को स्थिर रखो। राम से रमने मे ही सुख है। ऐसा कबीर दास कहते है।

इब न रहूँ माटी के घर मैं; इब मै जाइ रहूँ मिलि हरि मै ।।टेक।।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपै मेरी छाती ।।
दसवै द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयो भारी ।।
चहुँ दिसि बैठे चारि पहरिया जागत मुसि गये मोर नगरिया ।।
कहै कबीर सुनहु रे लोई भाँनड़ घड़ण सँवारण सोई ।।२७३।।

अर्थ—अब मै इस मिट्टी वाले शरीर मे नही रहूँगा। अब जाकर प्रभु से मिलूँगा। यह घर छेदो वाला (छिनहर) और इसमे हवा प्रवेश करे (झिरहर), ऐसी टाटी लगी है। यम दूत बादल गरज रहा है और मेरी छाती कॉप रही है। डर लग रहा है। दसवे द्वार ब्रह्म रंध्र मे ताली लगी है। ध्यान लगा है। दूर जाना है। आना कठिन है। चार पहरेदार (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) चारो ओर से घेरे है। किंतु जागते समय ही भरे नगर में चोरी हो गयी। वासना ने नगर को मूस लिया।

सत कबीर कहते है कि लोगो, सुनो, गढ़ने, मिटाने और सॅवारने वाला वही प्रभु है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

कबीर बिगरया राम दुहाई; तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई ।।टेक।।
चंदन कै ढिग बिरख जु भैला, बिगरि सो चंदन ह्वैला ।।
पारस कौ जे लोह छिवैगा, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला ।।
गंगा मै जे नीर मिलेगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ।।
कहै कबीर जे राम कहैला, बिगरि बिगरि सो रामहि ह्वैला ।।२७४।।

अर्थ—राम की दुहाई है। कबीर बिगड़ चुका है। हे भाई, तुम मत बिगड़ो। चदन के पास पेड़ बिगड़-बिगड़ कर चदन हो जाते है। पारस को जो लोहा छू देगा वह बिगड़-बिगड़ कर सोना होता है। गगा मे मिलने वाला पानी गगोदक होता है। सत कबीर कहते है कि राम कहने वाला बिगड़ कर राम ही होता है।

राम राइ भई बिकल मति मोरी; कै यहु दुनी दिवानी तेरी ।।टेक।।
जे पूजा हरि नाही भावै सो पूजनहार चढ़ावै ।।
जिहि पूजा हरि भल मॉनैं, सो पूजनहार न जॉनै ।।
भाव प्रेम की पूजा, तायै भयो देव थै दूजा ।।
का कीजै बहुत पसारा, पूजी जे पूजनहारा ।।
कहै कबीर मैं गावा, मैं गावा आप लखावा ।।
जो इहि पद मॉहि समाना, सो पूजनहार सयॉना ।।२७५।।

अर्थ—हे राम राजा, मेरी बुद्धि परेशान है या यह ससार ही पागल हो गया है। जो पूजा प्रभु को अच्छी नही लगती है वही पूजने वाला चढ़ाता है। जो पूजा हरि अच्छी मानता है वह पूजा लोग नही जानते है। भाव प्रेम की पूजा देव दूसरा अर्थात् विशिष्ट अनुग्रह वाला हो गया है। वही पूजा करनी चाहिए। बहुत फैलाने से क्या फायदा ? जो पूज्य है उसे ही पूजा जाय। मैने प्रभु का गुणगान किया। प्रभु गुणगान से आत्म तत्त्व का बोध हुआ। जो इस पद मे लीन होते है उस पुजारी को बुद्धिमान् कहना चाहिए।

राम राइ भई बिगूचन भारी; भले इन ग्यॉनियन थैं संसारी ।।टेक।।
इक तप तीरथ औगाहै इक मानि महातम चाँहै ।।
इक मैं मेरी मै बीझै; इक अहंमेव मै रीझै ।।

इक कथि कथि भरम जगांवै, संमिता सी बस्त न पावै॥
कहै कबीर का कीजै, हरि सूझै सो अंजन दीजै॥२७६॥

अर्थ—हे राजा राम, बड़ा बुरा हुआ। ज्ञानियो से भले तो सासारिक लोग हैं। एक ज्ञानी तपस्या करता है। एक तीर्थो का अवगाहन करता है। एक मान और महात्म्य के चक्कर में रहता है। एक मै, मेरी मे फॅसा है। एक अपने अहकार पर रीझा है। एक कह कह कर (शास्त्र वचनो को बोलकर) भ्रम पैदा करता है। समता जैसी वस्तु नही प्राप्त करता है।

सत कबीर कहते है क्या कीजिएगा ? ऐसा अजन दीजिए जिसके प्रयोगसे ईश्वर दीखे।

काया मंजसि कौन गुनाँ; घट भीतरि है मलनाँ॥टेक॥
जौ तूँ हिरदै सुध मन ग्याँनीं, तौ कहा बिरौले पाँनी।
तूँबी अठसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाँई॥
कहै कबीर बिचारी, भवसाँगर तारि मुरारी॥२७७॥

अर्थ—शरीर धोने से क्या ? शरीर के भीतर तो मैल जमी है। यदि तेरा हृदय शुद्ध और मन ज्ञानी है तो पानी क्यो बिलोते हो ? अर्थात् तीर्थो मे जाना व्यर्थ है। तुम्बी अड़सठ तीर्थ नहा ले तो क्या उसका तीतापन जायगा ? मनुष्य का राग-द्वेष तीर्थ स्थान से ही नही जाने वाला है। सत कबीर कहते है, विचार कर देखो। हे मुरारी, ससार से मुक्त करो।

कैसे तूँ हरि कौ दास कहायौ, करि बहु भेषर जनम गँवायौ॥टेक॥
सुध बुध होइ भज्यौ नहि साँई काछ्यो ड्यंभ उदर कै ताईं॥
हिरदै कपट हरि सूँ नहीं साँचो, कहा भयो जे अनहद नाच्यौ॥
झूठे फोकट कलू मँझारा, राम कहै ते दास नियारा॥
भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा॥२७८॥

शब्दार्थ—अनहद = बहुत अधिक। ड्यंभ = दंभ। नियारा = न्यारा। दूसरा।

अर्थ—कैसे तुम प्रभु दास कहाये ? तुमने तो अनेक वेश धारण कर (कही स्थिरता नही रखी) जन्म नष्ट कर दिया। सुधी और बुद्धिमान् होकर ईश्वर को नही भजा। पेट भरने के लिये दभ का बाना बनाया। हृदय मे कपट है। ईश्वर के प्रति भी सच्चे नही हो। क्या हुआ जो बहुत नाचते रहे ?कालिकाल मे झूठे और मुफ्त वाले निरर्थक भक्त बहुत है। राम कहने वाले दास दूसरे हं। सत कबीर का शरीर नारद द्वारा बताये भक्ति मार्ग मे मग्न हे। इसी प्रकार भव सागर से मुक्ति होगी।

राम राइ इहि सेवा भल माँनैं; जै कोई राम नाम तत जाँनै॥टेक॥
रे नर कहा पषाले काया, सो तन चीन्हि जहाँ थै आया॥
कहा बिभूति जटा पट बाँधे, का जल पैसि हुतासन साधे॥
राम्म माँ दोई अषिर सारा, कहै कबीर तीहूँ लोक पियारा॥२७९॥

अर्थ—राम नाम के तत्त्व को जानना राम की सेवा है। प्रभु इसी से प्रसन्न रहते हैं। ऐ मनुष्य, शरीर को क्यो धोते हो ? उस शरीर को पहचानो जहाँ से यह शरीर आया है। भस्म लगाने और जटा समूह बाँधने से क्या फायदा है ? जल मे प्रवेश कर या आग मे पचाग्नि की साधना से क्या लाभ है ? दो अक्षर राम मे सब है। यह तीनो लोको को प्रिय है।

इहि बिधि राम्म सूँ ल्यौ लाइ।
चरन पाषें निरति करि, जिभ्या बिना गुँण गाइ॥टेक॥
जहाँ स्वाँति बूँद न सीप साइर सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मे नीर पीयौ, पवन अंबर धोइ॥
जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चंद सूरज मेल।

दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करता हंसा केलि ॥
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ॥
जहाँ बिछट्यौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठीं जाइ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ ॥२८०॥

अर्थ–इस प्रकार राम से प्रेम करो। चरण को पख जैसे नचाओ। बिना जीभ के गुण गाओ। जहाँ स्वाति बूद, सीप, सागर नही है वहाँ सहज मोती होता है। अर्थात् शून्य मे पहुँचने पर मुक्ति मिलती है। उन मोतियो, मुक्ति अवस्थाओ मे आनद जल भरा है। इस मोती को पवन(प्राण वायु) और आकाश मे धोया है। जहाँ मूलाधार धरती की वर्षा होती है और सहस्रार भीगता है। (कुडलिनी मूलाधार से उठकर सहस्रार मे पहुँचती है)। इडा, पिगला (सूर्य चद्र) नाड़ियो का मिलन होता है। ये दोनो जहाँ मिलती है वही मुक्तामा की क्रीड़ा होती है। सुषुम्ना-वृक्ष के भीतर (प्राण शक्ति) नदी बह रही है। यह नदी सहस्रार रूपी स्वर्ण कलश मे प्रविष्ट होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी पाँच सुग्गे विषय विरक्त होकर उपस्थित है। इनसे अन्त करण रूपी वन मे प्रकाश (उदय) फैल गया है। आनद ज्योति जागी है। इस प्रकार आत्मा-परमात्मा का जिस सहस्रार से अलगाव हुआ था वही पुन आ मिले है।

सत कबीर प्रभु पथ के पथिक है जिन्होने उत्साह के साथ इस प्रभु को ग्रहण किया है।

जिभ्याँ बिनागुँण गाइ– **विभावना**

धरनि बरषै– **विरोधाभास**

एक बिरष वनराइ– **रूपकातिशयोक्ति**

तातैं मोहि नाचयो न आवै; मेरो मन मंदला न बजावै ॥टेक॥
ऊभर था ते सूभर भरिया, त्रिष्णाँ गागरि फूटी।
हरि चिंतित मेरो मंदला भीनौ, भरम भोयन गयौ छूटी ॥
ब्रह्म अगनि मैं जारी जु ममिता, पाखंड अरु अभिमानाँ।
काम चोलना भया पुराना, मोपै होइ न आना ॥
जे बहु रूप कीये ते किये, अब बहु रूप न होई।
थाकी सोज संग के बिछुरे, राम नाँम मसि धोई ॥
जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते बाद बिबादं।
कहे कबीर मै पूरा पाया, भया राम परसादं ॥२८१॥

अर्थ–मेरा मन नाचना नही जानता है। वह मर्दल नही बजाता है। (मुझे ससार कर्म मे अज्ञानी ही समझो)। जो चित्त ऊपर मुख (या बाह्योन्मुख) था वह सुभर होकर भर गया। तृष्णा की गगरी फूट गयी। तृष्णा समाप्त हो गयी। हरि का चितन करते-करते मेरा मर्दल भीग गया है। भ्रम का मोयन (वह आटा जो मर्दल पर ध्वनि तेज करने के लिये लगाया जाता है) छूट गया है। ब्रह्माग्नि (ज्ञानाग्नि) मे ममता, पाखड, अभिमान सब जल गये। काम जन्य यह शरीर पुराना हो गया। मुझसे अब दूसरा नही बजाया जा रहा है। अब बहुत से रूप बनाये सो बनाए। अब बहुत रूप नही बन पाएँगे। सारी सजावट पूरी हो गयी। सगी बिछुड़ गये है। रामनाम से मेरी कालिमा धुल गयी है। चंचल चल हो गया। अर्थात् मन की चचलता समाप्त हो गयी। वह पहले तर्क वितर्क करता था। चचलता समाप्ति के बाद विवाद समाप्त है। सत कवीर कहते है कि मैने पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है। सब राम कृपा से पूरा हो गया है।

अलंकार–रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति

अब क्या कीजै ग्यान बिचारा; निज निरखत गत ब्यौहारा ।।टेक।।
जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया ।।
कोई ले भरि सकै न मूका, औरनि पै जानाँ चूका।
तिस बाझ न जीब्या जाई, वो मिलै त घालै खाई ।।
वो जीवन भला कहाहीं, बिन मूवाँ जीवन नाही ।।
घसि चंदन बनखंडि बारा, बिन नैननि रूप निहारा ।।
तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया ।।
जौ जीवत ही मरि जाँनै तौ पंच सयल सुख मानै।
कहै कबीर सो पाया, प्रभु भेटत आप गँवाया ।।२८२।।

शब्दार्थ—निज = आत्म तत्त्व। गत ब्यौहारा = सासारिक व्यवहार चलागया। मोह समाप्त हो गया। जाचिग = याचक। मूका = मुट्ठी। चूका = चुक जाना। समाप्त हो जाना। वाझ = वर्ज्य। बिना। बारा = जलाया। सयल = प्रवाह। आप = आत्म।

अर्थ—अब ज्ञान का विचार क्या करे ? आत्म तत्त्व का दर्शन लेने पर ससार के सारे व्यवहार समाप्त हो गये। याचक और दाता दोनो एक हो गये है। भाव यह है कि साधनात्मक ऐक्य ने भेद को समाप्त कर दिया है। प्रभु प्राप्ति रूप धन को भोगा नही जा सकता है। उस अतहीन धन ने याचकता समाप्त कर दी है। इस धन को कोई मुट्ठी मे नही रख सकता है। अब दूसरो को माँगने की जरूरत समाप्त हो गयी है।

प्रभु प्राप्ति रूप धन के बिना जीया नही जा सकता है। वह मिल जाय तो वह सासारिकता अर्थात् मोहादि के बधनो को खा डालता है। भगवत् प्राप्ति का जीवन ही भला जीवन है। बिना मरे, विषय विरक्त हुए जीवन का आनद नही है।

चदन घिसने अर्थात् प्रेम की गहरी साधना करने से ज्ञानाग्नि प्रकट होती है। यह ज्ञानाग्नि सपूर्ण वासना वन को जला देती है (ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा गी०४।३७)। आँखो के बिना भी सपूर्ण सृष्टि का अतर्वाह्य रूप दीखता है। उस साधक पुत्र ने ज्ञान पिता को उत्पन्न किया है।(ज्ञान जीव से पूर्ववर्त्ती होने के कारण पिता और जीव द्वारा प्राप्त करने के कारण उससे उत्पन्न है।) इसी साधक ने स्थान (ठाहर) के बिना अर्थात् बिना किसी भौतिक आधार के भक्त, भगवान्, भक्ति और गुरु की दुनिया बसाई है।

जो साधना मे जीते जी मोह मुक्त (मरना) होता है तो इद्रियो के पॉचो प्रवाह सुखी होते है। ईश्वर को तभी प्राप्त होता हे जब अहकार दूर हो जाय।

अलंकार—वक्रोक्ति, विशेषोक्ति, विरोधाभास, विभावना

अब मै पायौ राजा राम सनेही; जा बिनु दुख पावै मेरी देही ।।टेक।।
वेद पुरान कहत जाकी साखी, तीरथि व्रति न छूटै जंम की पासी ।।
जाथै जनम लहत नर आगै, पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागै ।।
कहे कबीर सोई तत जागा, मन भया मगन प्रेम सर लागा ।।२८३।।

अर्थ—अब मैने प्रेमी राजा राम को प्राप्त कर लिया है। जिसके बिना मेरा मन दुखी रहता था। वेद, पुराण जिसका साक्ष्य देते हुए कहते है कि तीर्थ-व्रत से यम का बन्धन नही कटता है। जिस प्रभु के कारण मनुष्य आगे दिव्य जीवन पाता है। पाप-पुण्य दोनो भ्रमो से मुक्त हो जाता है। सत कबीर कहते हैं कि उसके भीतर प्रेम तत्त्व जागा है। प्रेम शर से मन विध्य हो गया है।

बिरहिनी फिरै है नाम अधीरा,
उपजि बिनाँ कछू समझि न परई, बाँझ न जानै पीरा ।।टेक।।

या बड़ बिथा सोई भल जाँनै राम बिरह सर मारी।
कैसो जाँनै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी॥
सँग की बिछुरी मिलन न पावै सोच करै अरु काहे।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै राम कूँ चाहै॥
दीन भई बूझै सखियन कौ, कोई मोही राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूँ तलपै मिलै भलैं सचु पावै॥२८४॥

अर्थ–प्रभु विरह मे राम नाम की प्राप्ति के लिये अधीर विरहिणी घूमती है। जिसमे यह विरह उत्पन्न नही हुआ है उसे कुछ समझ मे नही आ सकता है। जैसे वध्या प्रसव के दर्द को नही समझती है। इस भारी व्यथा को वही अच्छी तरह जानता है जिसे राम विरह का बाण लगा है। या तो वह जानता है जिसने यह चोट की है या जिसने यह चोट सही है। प्रभु के सग से अलग हो जाने पर मिलना कठिन हो रहा है। चिता और कराह व्याप्त है। यत्न करती है और युक्तियो पर विचार करती है। राम-राम रटती है। राम को चाहती है। दुखी होकर भक्तो (सखियो) से पूछती है कि क्या कोई मुझे राम से मिला सकता है ? दास कबीर कहते है कि मछली के समान तड़पना है। मिलने पर ही सुख होगा।

अलंकार–रूपक

जा तनि बेदन जानैगा जन सोई,
सारा भरम न जानै राम कोई॥टेक॥
चषि बिन दिवस जिसी है संझा, ब्यावन पीर न जानै बंझा॥
सूझै करक न लागै कारी, बैद बिधाता करि मोहि सारी॥
कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये, अपनै तन की आपै ही सहिये॥२८५॥

शब्दार्थ–करक = बिजली। कारी = काली घटा।

अर्थ–जिसके शरीर मे विरह का दर्द हुआ है वही जन उस दर्द को समझ सकता है। जिसका सारा समय भ्रम मे ही बीता है हे राम वह उस दर्द को नही जान सकता है। ऑखो के अभाव मे जिसके लिए दिन भी रात है। बॉझ ब्याने का दर्द नही जानती है। जिसे बिजली नही दिखती है और काली घटा का बोध नही होता है। प्रभु (विधाता) वैद्य ही मेरा सपूर्ण कल्याण कर सकते है। सत कबीर कहते है कि यह दुख किससे कहा जाय ? अपने तन का दुख आप ही सहना होगा।

अलंकार–उपमा

जन की पीर हो राजा राम भल जाँनै; कहूँ काहि को मानै॥टेक॥
नैन का दुःख बैन जाँनै बैन को दुख श्रवना॥
प्यंड का दुख प्रान जानै, प्रान का दुख मरनाँ॥
आस का दुख प्यासा जानै, प्यास का दुख नीर॥
भगति का दुख राम जाँनै, कहै दास कबीर॥२८६॥

अर्थ–भक्त की पीड़ा राजा राम ही भली भॉति जानते है। कहनेपर कौन मानेगा ? ऑखो का दर्द जीभ, जीभ का कान, पिड का दुख प्राण जानते है। प्राणो का दुख मरण जानता है। आशा का दुख प्यास जानती है। प्यास का दुख पानी को ज्ञात है।
दास कबीर कहते है कि भक्ति (भक्त) का दुख राम जानते है।

तुम्ह बिन राम कवन सौं कहियै;
लागी चोट बहुत दुख सहियै॥टेक॥
बेध्यौ जीय बिरह कै भालै, राती दिवस मेरे उर सालै॥

को जानै मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा।
तुम्ह से बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवे बियोगी॥
निस बासरि मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले राम राई॥
कहत कबीर हमको दुख भारी, बिन दरसन क्यूँ जीवहि मुरारी॥२८७॥

अर्थ—हे राम, तुम्हारे प्रेम की चोट लगी है। वहुत दुख सह रहा हूँ। यह दुख दर्द तुम्हारे सिवा किससे कहा जाय ? जीव विरह के भाले से वेधा गया है। रात-दिन मेरा हृदय टीसता है। सद्गुरु ने शब्द का जो बाण वेधा उससे उत्पन्न मेरे शरीर के दर्द को कौन जानता है ?

हे राम, तुम्हारे जैसा वैद्य नही, मेरे जैसा रोगी नही। ऐसी विरह व्यथा जागी है कि उसमे वियोगी का जीना कठिन है। मेरा रात-दिन ध्यान मे ही वीतता है। आज तक राजा राम आकर नहीं मिले।

हे मुरारी, हमे भारी दुख है। विना तुम्हे देखे मे विरहिणी कैसे जी सकूँगी ?

तेरा हरि नाँमै जुलाहा; मेरे राम रमण को लाहा॥टेक॥
दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चंद सूर दोइ साखी।
अनत नाँव गिनि लई मजूरी हिरदा कवल मै राखी॥
सुरति सुमृति दोइ खूँटा कीन्ही आरँभ कीया बमेकी।
ग्यान तत की नली भराई बुनित आतमा पेषी॥
अबिनासी धन लई मँजूरी, पूरी थापनि पाई।
रन बन सोधि सोधि सब आये, निकटै दिया बताई॥
मन सूधा को कूच कियौ है, ग्यान बिथरनि पाई।
जीव की गाँठि गुढी सब भागी, जहाँ की तहाँ ल्यौ लाई॥
बेठि बेगारि बुराई थाकी, अनभै पद परकासा॥
दास कबीर बुनत सच पाया, दुख संसार सब नासा॥२८८॥

शब्दार्थ— लाहा = लाभ।

अर्थ—हे प्रभु, तुम्हारा ही नाम जुलाहा है। मुझे तो रामनाम का लाभ है। दस सौ सूतो की पुरिया (पुरी अर्थात् देह) बनाई। चद्रमा और सूर्य (इडा-पिगला) को साक्षी बनाया। तुम्हारे अनत नामो (सिक्को) को गिन कर (जप कर) मजदूरी प्राप्त की। हृदय (कमल) मे इस मजदूरी को रखा। श्रुति, स्मृति इन दो खूँटो से विवेकारभ किया। ज्ञान रूपी तात की नली भराई। आत्म को वुनते देखा। अमृत्यु रूप धन को मजदूरी के रूप मे लिया। पूर्ण स्थापना प्राप्त की। जगलो, वनो मे खोज-खोज आया। किंतु परम तत्त्व को पास मे ही वता दिया। शुद्ध मन ने यात्रा कर दी है। ज्ञान फैला मिला है। यात्रा उसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये है। जीव के कर्म फल की गॉठ-गुत्थी जब खुली तो सारे विषय भाग गये। जहॉ का तहाँ ध्यान लग गया है। अनुभव पद के प्रकाशन से वैठी बेगारी और बुराई दोनो थक गयी है।

दास कबीर कहते है ससार वस्त्र को वुनना सुख प्राप्त करना है। दुख का सारा ससार, नष्ट हो गया।

अलंकार—रूपक

भाई रे सकहु त तनि बुनि लेहु रे;
पीछै रामहि दोस न देहु रे॥टेक॥
करगहि एकै बिनाँनी, ता भीतरि पंच परानी॥
तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी॥
जे तूँ चौसठि बरिया धावा, नही होइ पंच सूँ मिलाँवा॥

जे तै पाँसै छसै ताँणी, तौ सुख सूँ रह पराँणी ॥
पहली तणियाँ ताणाँ पीछ बुणियाँ बाँणाँ ॥
तणि बुणि मुरतब कीन्हाँ, तब राम राइ पूरा दीन्हाँ ॥
राछ भरत भइ संझा, तारुणी त्रिया मन बंधा ॥
कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हँमारी ॥२८९॥

शब्दार्थ—राछ = करघे मे एक यत्र जिससे ताने का धागा ऊपर-नीचे होता है।

अर्थ—अरे भाई, हो सके तो भक्ति का शरीर (संसार) रूपी वस्त्र तन-बुन लो। बाद मे (आयु पूर्ण हो जाने पर) राम को दोष न देना कि राम ने तुम्हे बहुत कम अवसर दिया है। यह शरीर करघा है। विनानी आत्मा भी एक ही है। उसके भी पॉच ज्ञानेद्रियॉ है। उस करघे मे एक उदासीन बैठा है। यह उदासीन ही तान-बुन कर सबको मिटा देता है। यदि तू ६४ घड़ी भी दौड़ता रहे तो भी पॉचो ज्ञानेद्रियो से मिलना मतलब उन्हे सतुंष्ट करना कठिन है। यदि तू पॉचो प्राणो को छह (मूलाधार) चक्रो से उत्थित करे तो तानना पूरा होता है। तभी प्राणी सुख से रह पाते है। पहले ताना ताना फिर बाना बुना। तान-बुन कर वस्त्र तैयार (मुरतब) किया तब राजा राम ने उसकी पूरी कीमत चुकाई। किंतु यहॉ तो राछ भरते शाम हो गयी अर्थात् ऊपर-नीचे करते ही आयु समाप्त हो गयी। मन तो सदा तरुणी स्त्रियो से बधा रहा।

सत कबीर विचार कर कहते है कि अब हमारी नली (करघा यत्र) खाली है। मतलब कि इस शरीर से कोई भला काम नही हो सका। भक्ति का शरीर भी नही बुना जा सका।

अलंकार—रुपकातिशयोक्ति

वै क्यूँ कासी तजैं मुरारी,
तेरी सेवा चोर भये बनवारी, ।।टेक।।
जोगी जती तपी संन्यासी, मठ देवल बसि परसै कासी ॥
तीन बार जे नित प्रति न्हावै, काया भीतरि खबरि न पावै ॥
देवल देवल फेरी देहीं, नाँव निरंजन कबहुँ न लेहीं ॥
चरन बिरद कासी कौ न देहूँ, कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ ॥२९०॥

अर्थ—संत कबीर जब काशी छोड़ने की बात कहते है तो बताते है कि कौन काशी नही छोड़ने की शक्ति रखता है ?

हे प्रभु, वे काशी कैसे छोड़ सकते है जो तुम्हारी सेवा के चोर है। अर्थ कि तुम्हारी सेवा नही करना चाहते है। (सेवा चोर काम चोर जैसा है)। योगी, यती, तपस्वी, सन्यासी आदि सभी मठ मदिर मे बस कर काशी का स्पर्श करते है। जो रोज त्रिकाल स्नान करते है वे कभी शरीर के भीतर की खबर नही लेते है। मतलब कि भीतर की शुद्धता पर ध्यान नही देते है। मदिर-मदिर मे फेरी देते है किंतु प्रेम पूर्वक भगवान का कभी नाम नही लेते है।

सत कबीर कहते है कि तुम्हारे चरणो की महत्ता मै काशी को कभी नही दूँगा। भले ही मुझे नरक जाना पड़े। (भगवान् से वड़ा स्थान कैसे हो सकता है ?)

तब काहे भूलौ बनजारे; अब आयौ चाहै संगि हँमारे ।।टेक।।
जब हँम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी।
जब हम बनजी परमल कस्तूरी, तब तू काहे बनजी कूरी ॥
अंमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूँल गँवाया।
कहै कबीर हँम बनज्या सोई, जाँथै आवागमन न होई ॥२९१॥

अर्थ—ऐ व्यापारी, तब क्यो भूल की ? अब क्यो हमारे साथ आना चाहते हो ?

जब हमने लौंग सुपारी (भक्ति) का व्यापार किया तो तुमने खारी वस्तु (वासना) का

व्यापार क्यो किया ? जब हमने परिमल और कस्तूरी का व्यापार किया तब तुमने कूड़े का व्यापार क्यो किया ?

अमृत (भक्ति = राम रस) को छोड़ कर वासना जहर का भक्षण किया। लाभ के चक्कर मे मूल धन (प्रभु स्मरण) को भी खो बैठे। सत कबीर कहते है कि हमने उसका व्यापार किया है जिससे पुन आवागमन नही होता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

परम गुर देखौ रिदें बिचारी;
कछु करौ सहाई हमारी ॥टेक॥
लवानालि तंति एक संमि करि जंत्र एक भल साजा।
सति असति कछु नाही जानूँ, जैसे बजवा तैसै बाजा॥
चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।
इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा॥
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नाही जाँनाँ॥
ज्यूँ जल मै जल पैसि न निकसे, कहै कबीर मन माँनाँ॥२९२॥

शब्दार्थ—रिदे = हृदय मे। लवा = लौका।

अर्थ—परम गुरु प्रभु, हृदय मे विचार कर देखो। कुछ मेरी सहायता करो। लौकी के तुम्बे, नली और ताँत का एक समान बाजा बनाया। सत्य-असत्य कुछ नही जानता। जैसे बजाया वैसे बजा। तुम्हारा चोर तुम्हारे घर आया। तुम्हारे ही नगर मे चोरी करता है। (माया प्रभु की ही शक्ति है। यहाँ माया और उसके प्रतिनिधि काम, क्रोधादि की ओर सकेत है)। गुनाह इनका है और सजा मै भोगता हूँ। हमारा तो कोई अपराध नही है। हम दोनो (आत्मा-परमात्मा) तो एक है। किंतु जब तक आत्म और पर को नही जानते है तब तक भेद बना रहता है। जैसे जल जल मे प्रविष्ट होने पर पुन बाहर नही आ पाता है वैसे ही हमारा-तुम्हारा एकात्म सबध है। इसी बात को सत कबीर का मन मानता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

मन रे आइर कहाँ गयौ; तातै मोहि बैराग भयौ ॥टेक॥
पंच तत ले काया कीन्ही, तत्त कहा ले कीन्हाँ।
करमौ के बसि जीव कहत है, जीव करम किनि दीन्हाँ॥
आकास गगन पाताल गगन दसौ दिसा गगन रहाई ले।
आँनँद मूल सदा परसोतम, घट बिनसे गगन न जाई ले॥
हरि मै तन है तन मै हरि है, है पुनि नाँही सोई॥
कहै कबीर हरि नाम न छाडू सहजै होई सो होई॥२९३॥

अर्थ—ओ मन, आकर कहाँ गये हो ? इसी से मुझे वैराग्य हो गया है। यह शरीर पाँच तत्त्वो से बना है। किंतु तत्त्व कहाँ से बने है ? कहते है कि जीव कर्म के बस मे है। किंतु जीव को कर्म किसने दिया ? आकाश, पाताल, दसो दिशाओ मे आकाश ही आकाश है। पुरूषोत्तम प्रभु आनद मूलक है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आकाश का नाश नही होगा। यह शरीर प्रभु मे स्थित है। प्रभु इस शरीर मे स्थित है। वह है भी, नही भी है।

सत कबीर कहते है कि चाहे जो हो राम नाम नही छोड़ूँगा।

हँमारै कौन सहै सिरि भारा; सिरकी शोभा सिरजन हारा ॥टेक॥
टेढ़ा पाग बड जूरा, जरि भये मसक कौ कूरा॥

अनहद कींगुरी बाजी, तब काल दृष्टि भै भागी ॥
कहै कबीर राम राया, हरि कै रँगै मूड़ मुड़ाया ॥२९४॥

अर्थ—मेरे सिर की शोभा सृजनहार प्रभु है। अब मै सिर की शोभा के लिये दूसरा कोई भार क्यो सहूँ ? टेढ़ी पगड़ी, बड़े जूड़े आदि (सपन्नता) जल कर श्मशानके कूड़े हो गये।

जब अनाहत की वीणा बजी तब काल की दृष्टि भययुक्त हो कर भाग गयी।

सत कबीर कहते है कि प्रभु ही राजा है और उनके ही रग मे हमने मूड़ मुड़ाया है अर्थात् उनका ही अनन्य भक्त हो गया हूँ।

कारनि कौन सँवारै देहा; यहु तनि जरि बरि ह्वै है षेहा ॥टेक॥
चोवा चंदन चरचत अंगा सो तन जरत काठ के संगा ॥
बहुत जतन करि देह मुटयाई, अगिन दहै कै जम्बुक खाई ॥
जा सिरि रचि रचि बाँधत पागा, ता सिरि चंच सँवारत कागा ॥
कहि कबीर सब झूठा भाई, केवल राम रह्यो ल्यौ लाई ॥२९५॥

अर्थ—अरे भाई, इस देह को इतना क्यो सजाते हो ? यह शरीर तो जल बल कर राख हो जायगा। चोवा, चदन अगो पर लगाते हो। किंतु यह शरीर लकड़ी के साथ जलेगा। बहुत प्रयत्न कर इस को मोटा किया। किंतु यह शरीर आग मे जलेगा या इसे सियार खायेगे। जिस सिर को रच रच कर पाग से सजाते हो उस सिर को कौए चोच से सजाते है।

सत कबीर कहते है कि हे भाई, यह सब झूठा है, केवल राम मे ध्यान लगाओ।

धँन धंधा ब्योहार सब, माया मिथ्याबाद।
पाँणी नीर हलूर ज्यूँ हरि नाँव बिना अपवाद ॥टेक॥
इक राम नाम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा ॥
इस भरमि न भूलसि भोली, बिधना की गति है ओली ॥
जीवते कूँ मारन धावै, मरते को बेगि जिलावै ॥
जाकै हुँहि जम से बैरी सो क्यूँ सोवै नीद घनेरी ॥
जिहि जागत नीद उपावै, तिहि सोवत क्यूँ न जगावै ॥
जलजंत न देखिसि प्रानी, सब दीसै झूठ निदानी ॥
तन देवल ज्यूँ धज आछै, पड़ियाँ पछितावै पाछै ॥
जीवत ही कछू कीजै, हरि राम रसाइन पीजै ॥
राम नाम निज सार है, माया लागि न खोई ॥
अंति काल सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोई ॥
कोई ले जात न देख्या, बलि बिक्रम भोग ग्रस्या ॥
काहू कै संगि न राखी, दीसै बीसल की साखी ॥
जब हंस पवन ल्यौ खेलै, पसर्यौ हाटिक जब मेलै ॥
मानिख जनम अवतारा, नाँ ह्वै है बारंबारा ॥
कबहूँ ह्वै किसा बिहाँनाँ, तर पंखी जेम उड़ानाँ ॥
सब आप आप कूँ जाई, को काहू मिलै न भाई ॥
मूरिख मनिखा जनम गँवाया, बर कौडी ज्यूँ डहकाया ॥
जिहि तन धन जगत भुलाया, जग राख्यौ परहरि माया ॥
जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा ॥
कहै कबीर जग धंधा, काहे न चेतहु अंधा ॥२९६॥

शब्दार्थ—हलूर = लहर। अपवाद = व्यर्थ। काचा = कच्चा। ओली = और। निदानी अत मे। ग्रस्या = ग्रास। हाटिक = बाजार। मानिख = मनुष्य।

अर्थ—धन, धधा और सारे व्यवहार सब माया और मिथ्या है। ये सभी पानी की लहर समान आकर चले जाते है। प्रभु नाम के बिना ये सब व्यर्थ हे। एक राम नाम ही सच है। चतुर, चित्त मे चेत कर देखो। यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। भोले व्यक्ति भ्रम मे भूले। विधाता की चाल कुछ और है। वह जीवित को मारने दौड़ता और मरते को तेजी जीवित कर देता है। जिसका यम से वैर है वह गहरी नीद मे कैसे सो सकता हे ? जो ज कर भी नीद पैदा करता है, उसे सोने से भी क्यो न जगाया जाय ? मछली आदि जल जतु की गति कोई नही देखता है। वे जतु तुरन्त तड़पने लगते है। पता लगता है कि अत मे स झूठा है। यह शरीर मदिर है जिस पर कामनाओ की ध्वजा पहरा रही है। जब यह शरीर गिरे तब ध्वजा भी नष्ट हो जायगी। तब पछताना पड़ेगा। जीते जी कुछ कीजिए। हरि नाम रसायन पीजिए।

राम नाम मूल तत्त्व है। इसे माया के चक्कर मे समाप्त न कीजिए। अत काल (मृत्यु समय) किसी को सिर पर गॅठरी ले जाते नही देखा। राजा बलि, विक्रमादित्य, धारा नरेश भो ये सभी काल ग्रस्त हुए। किसी ने किसी का सग नही रखा। राजा बीसल देव भी इसके सा है (वे भी अकेले गये)। जब आत्मा (हस) पवन (प्राणो) के साथ खेलती है तब हाट का प्रस हो जाता है। मनुष्य जन्म बार-बार नही मिलता है। प्रभात होते ही पक्षी (जीवात्मा) उड़ जा है। सब अकेले अकेले जायॅगे। कोई किसी से नही मिलेगा। ऐ मूर्ख मनुष्य, तुमने मनुष्य ज व्यर्थ बर्बाद कर दिया। कोड़ियो के मोल जला दिया। जो माया छोड़ कर ससार के तन धन भूल गये। उन्होने जीवन को अजुली मे रखे पानी सा समझा। इस जीवन का क्या भंरोसा सत कबीर कहते है कि यह ससार धधा है। ऐ मनुष्य, शीघ्र क्यो नही चेतन होते हो ?

अलंकार—रूपक

रे चित चेति च्यंति लै ताही; जा च्यंतत आपा पर नाँही ॥टेक॥
हरि हिरदै एक ग्याँन उपाया, ताथै छूटि गई सब माया॥
जहाँ नाँद न ब्यंद दिवस नही राती, नही नर नारि नही कुल जाती॥
कहै कबीर सरब सुख दाता, अविगत अलख अभेद बिधाता॥२९७॥

अर्थ—रे चित्त, चेतन होकर उसकी चिता करो जिसके चितन से आप और पर का भा मिट जाता है। हृदय स्थित प्रभु ने ज्ञान उत्पन्न किया जिससे सभी प्रकार की माया दूर गयी। ज्ञान के उत्पन्न होने पर वहॉ नाद बिदु और रात-दिन नही हैं। नर-नारी, कुल अ जाति भी नही है। सत कबीर कहते है कि प्रभु सर्व सुख देने वाले है, अविगत, अलक्ष्य, रहित विधाता हैं।

सरवर तटि हंसणी तिसाई, जुगति बिनाँ हरि जल पिया न जाई ॥टेक॥
पीया चाहै तो लै खग सारी, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी।
कुंभ लीये ठाढ़ी पनिहारी, गुण बिन नीर भरै कैसैं नारी।
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिले राम राई॥२९८॥

अर्थ—जीवात्मा हसिनी आनद सरोवर के तट का आनंद नही ले पा रही है। आनद क प्यासी है। हरिजल युक्ति बिना नही पीया जा सकता है। पीना चाहे तो जीवात्मा पक्षी अप को पूर्णत प्रस्तुत करे। किंतु प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दोनो पखो के कारण उड़ना कठिन होगा जीवात्मा शरीर घट लिये खड़ी है। किंतु गुणो के अभाव मे यह पानी नही भर पा रही है आनद जल के लिये जिन गुणो की (रस्सी) की जरूरत है वे नही है। साधना गुण रहित है

कुडलिनी ने गुणो को उत्थित नही किया है।

सत कबीर कहते है कि गुरु ने बुद्धि बताई है। उससे वह सहज स्वभाव से राम को प्राप्त करेगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

भरथरी भूप भया बेरागी।
बिरह बियोग बनि बनि ढूँढे, काकी सुरति साहिब सौं लागी ॥टेक॥
हसती घोड़ा गाँव गढ़ गूड़र, कनडा पाइक आगी।
जोगी हूवा जाँणि जग जाता, सहज उँगीणी त्यागी ॥
छत्र सिघासण चवर दुलंता, राग रंग बहु आगी।
सेज रमैणी रंभा होती, तासौं प्रीति न लागी ॥
सूर बीर गाढ़ा पग रोप्या, इह बिधि माया त्यागी।
सब सुख छाड़ि भज्या इक साहिब, गुरु गोरख ल्यौ लागी।
मनसा बाचा हरि हरि भाखै, ग्रंध्रप सुत बड़ भागी।
कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भणे अणरागी ॥२९९॥

अर्थ—भरथरी (भर्तृहरि) राजा विरागी हो गये। प्रभु वियोग मे बन बन घूमे है। उनका ध्यान साहब मे लग गया है। हाथी, घोड़े, गभीर गढ को छोड़ कन्डे की आग को अपना लिया है। ससार को नाशवान देखकर योगी हो गये। उज्जैनी नगरी त्याग दी। क्षत्र सिहासन पर जिन्हे चवर डुलाया जाता था। बहुत से राग-रग आगे थे। शय्या पर रभा जैसी स्त्री थी। किंतु उनकी उससे प्रीति नही हुई। इस वीर ने गभीर पद रख दिया है। इस प्रकार सारी माया त्याग दी। सारे सुखो को छोड़ प्रभु को भज रहा है। गोरखनाथ मे ध्यान लग गया है। गधर्व पुत्र सा सुदर भरथरी भाग्यवान् है। मन वचन से प्रभु के गुणो का बखान करता है। सत कबीर कहते है कि बेढ़गे (कुदर) भजने वाले भी कर्त्ता हो गये और (अणरागी) जिन्होने राग नही किया वे अमर हो गये।

(राग केदारौ)

सार सुख पाइये रे, रंगि रमहु आत्माराम ॥टेक॥
बनह बसे का कीजिये, जे मन नहीं तजै बिकार।
घर बन तत समि जिनि किया, ते बिरला संसार ॥
का जटा भसम लेपन कियै, कहा गुफा मे बास।
मन जीत्याँ जग जीतिये, जौ बिषया रहै उदास ॥
सहज भाइ जे ऊपजै, ताका किसा माँन अभिमान।
आपा पर समि चीनियै, तब मिलै आतमाँ राम ॥
कहै कबीर कृपा भई, गुर ग्यान कह्या समझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटियै, जे मन अनतै नही जाइ ॥३००॥

अर्थ—अपने को राम मे पूर्णत रग देने पर सुख का मूल पा जाओगे। बन मे बसने से क्या यदि मन से विकार का नाश नही हुआ ? घर और वन को समान तत्त्व वाला जिसने बना लिया ससार मे ऐसा व्यक्ति विरल है। जटा, भस्म लेपन से क्या ? गुफा बास भी व्यर्थ है। मन को जीतने से ही जग जीता जाता है। विषयो से उदास रहना ही मन जीतना है।

जिसमे सहज भाव उत्पन्न होता है उसके लिए कैसा मान अभिमान ? जब आत्मतत्त्व और

परतत्त्व को समान समझते है तभी आत्माराम की प्राप्ति होती है।

सत कवीर कहते है कि गुरु देव की कृपा हुई। गुरु ने समझाकर ज्ञान दिया। हृदय स्थित श्री हरि का दर्शन कीजिये जिससे मन दूसरी जगह न जा सके।

है हरि भजन कौ प्रवाँन।
नीच पाँवै ऊँच पदवी, बाजते नीसान ॥टेक॥
भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवाँन॥
नव लख तारा चलै मंडल, ससिहर भाँन।
दास ध्रू कौ अटल पदवी, राम को दीवाँन॥
निगम जाकी साखि बोलै, कहै संत सुजाँन।
जन कबीर तेरी सरन आयौ, राखि लेहु भगवान॥२०१॥

अर्थ—हरि भजन का महत्त्व यह है कि नीच व्यक्ति भी ऊँचा पद पा जाता है। उसके नाम का डका बजने लगता है। भजन के प्रताप से जल मे पत्थर भी तिर जाते है। (यहाँ सकेत नलनील द्वारा बाँधे गए रामेश्वरम् के पुल की ओर है)। अधम जाति भीलनी शवरी और गणिका (वेश्या) विमान पर सवार हो स्वर्ग जाती है। नौलाख तारामडल और सूर्य-चद्रमा भी चलते है। भक्त ध्रुव को अविचल पद रामचद्र के दरबार मे प्राप्त है। वेद जिसके गुणो के साक्षी है। सुजान सत जिसके गुणो का वर्णन करते है। भक्त कबीर आपकी शरण मे है। हे प्रभु रक्षा करो।

चलौ सखी जाइये तहाँ, जहाँ गये पाँइयै परमानंद ॥टेक॥
यहु मन आमन घूमनाँ, मेरो तन छीजत नित जाइ।
च्यंतामणि चित चोरियौ, तातै कछू न सुहाइ॥
सुँनि सखी सुपनै की गति ऐसी, हरि आए हम पास।
सोवत ही जगाइया, जागत भये उदास॥
चलु सखी बिलम न कीजिये, जब लग साँस सरीर।
मिलि रहिये जमनाथ सूँयूँ कहै दास कबीर॥२०२॥

अर्थ—ऐ सखी (साधक) वहाँ चलो, जहाँ परमानद की प्राप्ति होती है। मेरा यह मन, अतर्मन घूमता है। प्रभु प्रेम की प्राप्ति मे व्याकुल है। मेरा शरीर नित्य क्षीण हो रहा है। चितामणि (प्रभु) ने मेरा चित्त चुरा लिया है। इससे और कुछ (विषय) अच्छे नही लगते है। सपने की बात सुनो- हरि मेरे पास आए। मुझ सोते को जगाया। जागते ही मै उदास हो गया। जागते ही मै उस प्रभु का दास हो गया। उदासी का कारण अपनी स्थिति भी है। सत कबीर कहते है कि ऐ सखियो, चलो, देर मत करो। जीते जी चलो। मृत्यु के मालिक राजाराम से मिल ले। ताकि मृत्यु का हमारे ऊपर कोई वश न चले।

तेरे तन मन लागी चोट सठौरी।
बिसरे ग्यान बुधि सब नाठी; भई बिकल मति बौरी ॥टेक॥
देह बदेह गलित गुन तीनूँ, चलत अचल भई ठौरी।
इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत ठगौरी॥
सोई पै जानै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु ब्यौरी।
जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरो, सुंनि सँभाली त्यौरी॥२०३॥

अर्थ—ऐ जीव, तेरे मन मे सठियानेवाली चोट लगी है। ससार ज्ञान सब भूल गया। बुद्धि नष्ट हो गयी। बुद्धि मे विकलता और पागलपन का आवेश है। मै देह से विदेह (दिह की चिता

से मुक्त), तीनो गुणो से रहित हुआ इसकी चचलता समाप्त हो गयी है। यह एक गुप्त और आश्चर्य वाली घटना घट गयी और मै इधर-उधर दसो दिशाओ और अपनी ओर तथा प्रभु की ओर (बारह दिशाएँ– देख रहा हूँ) मेरे इस दर्द को वही जानता है जिसे यह दर्द हुआ है।

दास कबीर प्रभु ठग से ठगा गया है। फलत उसकी त्यौरी चढ़ गयी है। दृष्टि शून्य साधना मे केंद्रित हो गयी है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

मेरी आँखियाँ जान सुजान भई।
देवर भरम सुसर सँग तजि करि, करि पीव तहाँ गई ।।टेक।।
बालपनै के करम हमारे काटे जानि दई।
बाँह पकरि करि कृपा कीन्हीं, आप समीप लई ।।
पानी की बूँद थै जिनि प्यंड साज्या, तासंगि अधिक करई।
दास कबीर पल प्रेम न घटइ, दिन दिन प्रीति नई ।।३०४।।

अर्थ—मेरी आँखे ज्ञान प्राप्त कर सुदर ज्ञानवाली हो गयी। अज्ञान (देवर) और अविद्या (ससुर) का सग छोड़ कर प्रभु पति के यहाँ चली गयी। दैव वश मे बचपन के कर्मजाल समाप्त हो गये। प्रभु ने बाँह पकड़ कर कृपा की और अपने समीप बुला लिया। पानी की एक बूँद (वीर्य) से जिन्होने इस शरीर की रचना की है उनका साथ हो गया है। दास कबीर कहते है कि प्रभु से मेरा प्रेम एक क्षण के लिये भी नही घटेगा बल्कि दिन-दिन प्रीति नई-नई होगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

हो बलियाँ कब देखेगी तोहि।
अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसा ब्यापै मोहि ।।टेक।।
नैन हमारे तुम्ह कूँ चाँहे, रती न माँनै हारि।
बिरह अगनि तन अधिक जरावै ऐसी लेहु विचारि ।।
सुनहुँ हमारी दादि गुसाँई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भाँडे नीर ।।
बहुत दिनन कै बिछुरे माधो, मन नही बाँधै धीर।
देह छताँ तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ।।३०५।।

अर्थ—हे प्रभु, मै तुम्हारी बलैया लेती हूँ। तुम्हे कब देखूँगा ? रात दिन तुम्हारे दर्शनो के कारण आतुर हूँ। मुझ मे तुम्हारा प्रेम इस प्रकार व्याप्त हो गया है। मेरी आँखे तुम्हे चाहती है। जरा भी पराजय स्वीकार करना नही चाहती है। तुम विचार कर देखो। तुम्हारे विरह की आग अधिक परेशान कर रही है। हे प्रभु, मेरी न्याय (दादि) की प्रार्थना पर ध्यान दो। अब अधिक बहरे मत बने रहो।

तुम धैर्यवान हो और मैं आतुर हूँ। जल कच्चे बर्तन मे नही रह सकता है। वैसे ही मेरे कच्चे (नाशवान) शरीर (बर्तन) मे प्राण बहुत देर तक नही टिकेगे।

हे माधव, बहुत दिनो के वियोग के कारण मन को धैर्य नही है। कबीर आर्त्त है। कृपया देह नाश के पूर्व दर्शन दो।

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ।।टेक।।
हौं जाँनूँ जे हिल मिलि खेलूँ तन मन प्राँन समाइ।
या काँमनाँ करौ परपूरन, समरथ हो राम राइ ।।
माँहि उदासी माधै चाहै, चितवत रैनि बिहाइ।

सेज हमारी स्यंघ भई है, जब साऊँ तब खाइ ॥
यह अरदारा दास की सुनिये, तन की तपनि बुझाइ ।
कहै कबीर मिलै जे साँई, मिलि करि मंगल गाइ ॥३०६॥

अर्थ—हे माँ, वह दिन कब आएगा ? जिस प्रभु से मिलने के लिये मैंने शरीर धारण किया है उससे कब मिलूँगा ? मै प्रभु से हिल-मिल कर खेलता हूँ। तन, मन, प्राण मे समाये हूँ। हे राजाराम, तुम समर्थ हो। मेरी यह कामना पूर्ण करो। हे माधव, तुम मेरी ओर से उदासीन न हो। इन्तजार ही रात बीतती है। शय्या सिंह हो गयी है। सोने पर खाने लगती है।

दास की प्रार्थना (अरदास) सुनिये। शरीर का दुख दूर कीजिए। संत कबीर कहते है कि प्रभु की प्राप्ति पर मगल गीत गाओ।

बाल्हा आव हमारे गेह रे; तुम्ह बिन दुखिया देह रे ॥टेक॥
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौ इहै अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।
आन भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूँ काँमी कौ काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे ॥
है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये है, बिन देखे जीव जाइ रे ॥३०७॥

अर्थ—हे बालक, तुम हमारे घर आओ। तुम्हारे बिना यह देह अत्यत दुखी है। सभी लोग कहते है कि मैं तुम्हारी स्त्री हूँ। मुझे यही अदेशा है कि तुम्हारे मन मे यह बात है या नही ? एक साथ होकर शय्या पर नही सोये तो कैसा प्रेम ? अन्न अच्छा नही लगता है। नींद नही आती है। घर वन मे कही भी धैर्य नही रख पाता हूँ। जैसे कामी को काम, प्यासे को पानी प्रिय है वैसे ही प्रभु प्रिय है। क्या कोई परोपकारी है जो प्रभु से मेरा दर्द कह सके ? दास कबीर का हाल ऐसा हुआ है कि बिना प्रभु को देखे प्राण जा रहे है।

माधौ कब करिहो दाया।
काम क्रोध अहंकार ब्यापै, नाँ छूटै माया ॥टेक॥
उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थे, कबहूँ सच नहीं पायौ।
पंच चोर सँगि लाइ दिए है, इन सँगि जनम गँवायो।
तन मन डस्यो भुजंग भाँमिनी, लहरी वार न पारा।
सो गारडू मिल्यौ नही कबहूँ, पसर्यौ विष बिकराला ॥
कहै कबीर यहु कासूँ कहिये, यहु दुख कोई न जानै।
देहु दीदार बिकार दूरि करि, तब मेरा मन माँनै ॥३०८॥

अर्थ—हे माधव, कब दया करोगे ? काम, क्रोध, अहकार व्याप्त हो रहे है। माया नही छूट रही है। जब से विदु द्वारा उत्पत्ति हुई, कभी सुख नही पाया है। काम, क्रोध लोभ, मोह, मद मत्सर ये पॉच चोरो के साथ जीवन बीत गया। स्त्री रूपी सर्पिणी ने तन-मन को डँस लिया है। उसके जहर की लहर का वार पार नही है। विष उतारनेवाला गारुडी कभी नही मिला। फलत विकराल विष फैल गया। सत कबीर कहते है कि यह दुख किससे कहे। इस दुखको नही कोई जानता है। हे प्रभु, विकारो को दूर कर दर्शन दो। तभी मेरे मन को सतोष होगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

मै बन भूला तूँ समझाइ।
चित चंचल रहै न अटक्यौ, विषै बन कूँ जाइ ॥टेक॥
संसार सागर माँहि भूल्यो, थक्यौ करत उपाइ।

मोहनी माया बाघनी थै, राखि लै राम राइ ॥
गोपाल सुनि एक बीनती, सुमति तन ठहराई।
कहै कबीर यहु काम रिप है, मारै सबकूँ ढाइ ॥३०९॥

अर्थ—हे प्रभु, मै विषम वन मे भूला भटक रहा हूँ। तुम मुझे समझाकर रास्ते पर ले आओ। चचल चित्त कही अटका रहना नही चाहता है। विषय रूपी वन को जाता है। ससार सागर मे भूला है। थका है। उपाय कर रहा है। मोहनेवाली माया बाघिन है। हे राम, इस बाघिन से बचा लो।

हे गोपाल मेरी एक बिनती सुनो। सुमति मन मे ठहरे। सत कबीर कहते है कि कामदेव दुश्मन है। यह सबको मार कर ढह रहा है।

भगति बिन भौजलि डूबत है रे।
बोहिथ छाड़ि बैसि करि डूँडे, बहुतक दुख सहै रे ॥टेक॥
बार-बार जम पै डहकावै हरि को ह्वै न रहै रे।
चोरी के बालक की नाईं, कासूँ बाप कहै रे ॥
नलिनी के सुवटा की नाँईं, जग सूँ राचि रहै रे।
बंसा अपनि वंस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे ॥
खेवट बिनाँ कवन भौ तारै, कैसे पार गहै रे।
दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे ॥
राम कौ नाँव अधिक रस मीठौ, बारंबार पीवै रे ॥३१०॥

अर्थ—भक्ति के बिना लोग ससार सागर मे डूब रहे है। प्रभु रूप जहाज को छोड़ कर बैठा है और डाड (डूँडे) पर बैठ कर बहुत दुख सहता है। प्रभु भक्त नही होने का फल यह है कि तुम्हे बार-बार यम के फदे मे पड़ना पड़ता है। जन्म-मृत्यु के चक्र मे फँसते हो। चोरी से जन्मा बालक किसे पिता कहे ? ऐसी ही स्थिति भक्ति के अभाव मे मनुष्य की हो रही है। मै नाल मे फँसे सुग्गे के समान ससार से लिपटा रहा। बॉस अपने ही कुल के बॉस से दग्ध होता है। ऐसे ही मनुष्य अपनी प्रवृत्तियो से नष्ट होता है।

बिना प्रभु खेवट (नाविक) के कौन है जो भव सागर पार करेगा ? सत कबीर कहते है कि हरि कथा जीव का आधार है। राम का नाम रस अधिक मीठा है। लोग उसे बार-बार पीते है।

चलत कत टेढौ टेढ़ौ रे।
नउँ दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगंधि को बैढौ रे ॥
जे जारै तो होई भसम तन रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वाँन काग कौ भखिन, तामै कहा भलाई ॥
फूटे नैन हिरदै नाही सूझै, मति एकै नही जाँनी।
माया मोह ममिता सूँ बाँध्यौ बूडि मुवौ बिन पाँनी ॥
बारू के घरबा मै बैठौ, चेतत नही अयाँनाँ।
कहै कबीर एक राम भगति बिन, बूडे बहुत सयाना ॥३११॥

शब्दार्थ—बैढो = बाड़ा। भखिन = भक्षण।

अर्थ—ऐ मनुष्य, अहकार मे टेढा-टेढा क्यो चलते हो ? तुम्हारा यह नरक सा शरीर नव द्वारो से बद है। तुम दुर्गन्ध का बाड़ा हो। इस शरीर को जलाओ तो भस्म होता है। रहता है तो जल के कीड़े खाते है। यह शरीर शूकर, श्वान और कौओ द्वारा भक्षण किया जाता है। इसमे कौन सी भलाई है? ज्ञान की ऑखे फूटी है। हृदय मे कुछ नही सूझता है। बुद्धि

कुछ नही समझती है। माया मोह, ममता से बँधे हो। चाहे तीर्थो मे कितना ही डूबो कुछ होने वाला नही है। ऐ अज्ञानी, तुम बालू के घर मे बैठे हो। चेतते क्यो नही ? सत कबीर कहते है कि राम की भक्ति के विना वहुत से बुद्धिमान् नष्ट हो गये।

अलंकार— बूडि मुवौ बिनुपानी—विभावना।
कहै कवीर सयाना—विरोधाभास।

अरे परदेशी पीव पिछाँनि।
कहा भयौ तोकौ समझि न परई, लागी कैसी बाँनि ॥टेक॥
भोमि बिडाणी थैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि।
लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि॥
निस दिन तोहि क्यूँ नींद परत है, चितवत नाँही तोहि॥
जम से बैरी सिर परि ठाढ़े पर हथि कहाँ बिकाइ॥
झूठे परपंच मै कहा लागौ ऊठै नाँही चालि।
कहै कबीर कछू विलम न कीजै, कौने देखी कालि॥३१२॥

अर्थ—अरे परदेशी प्रिय को पहचानो। तुम्हे कैसी खराब आदत पड़ गयी है ? क्या हो गया। यह तुम्हारी समझ मे नही आया है ? तुम दूसरे (बिडाणी) की भूमि मे अनुरक्त हो गये। यह तुमने क्या किया? तुम्हे दिन-रात कैसे नीद आती है ? तुम्हे कुछ दिखाई नही पड़ना है कि यम जैसा दुश्मन तुम्हारे सिर पर खड़ा है। तुम्हारे हाथ मे क्या बिक रहा है ? झूठे प्रपचो मे क्यो लगे हो ? उठ कर चलते क्यो नही ? सत कबीर कहते है कि कुछ विलब मत करो। कल क्या होगा कौन जानता है ?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

भयो रे मन पाहुँनड़ौ दिन चारि।
आजिक कालिहक माँहि चलैगी, ले किन हाथ सँवारि॥टेक॥
सौज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह।
यहु संसार इसी रे प्राणी, जैसी धूँवरि मेह॥
तन धन जीवन अँजुरी कौ पानी, जात न लागै बार।
सैबल के फूल परि फूल्यौ, गरब्यो कहाँ गँवार।
खोटि खाटैं खरा न लीया, कछू न जाँनी साटि।
कहै कबीर कछु बनिज न कीयौ, आयौ थै इहि हाटि॥३१३॥

अर्थ—ऐ मन, तुम चार दिनो के पाहुन हो। आज-कल मे जाना है। हाथ क्यो नही सम्हाल लेते हो? दूसरे के सामानो (सौज) को मत अपनाओ। यह बात क्यो नही सुनते हो? ससारकी सारी सपत्ति दूसरेकी है। प्रभु की है। यह ससार काले बादलो के समान नाशवान् है। तन, धन, जीवन अँजुरी मे रखे पानी के समान कुछ क्षणो मे बह जानेवाला है। खोट-खाट को छोड़ कर खरा (अच्छा) सौदा नही किया। कुछ भी व्यापार करना नही जानते हो। सत कबीर कहते हैं कि इस ससार बाजार मे आकर भी कुछ भी व्यापार नही किया।

अलंकार—उपमा, रूपकातिशयोक्ति

मन रे राम नामहि जाँनि।
थरहरी थूंनी पर्यौ मंदिर सूतौ खूँटी तानि ॥टेक॥
सैन तेरी कोई न समझै, जीभ पकरी आँनि।
पाँच गज दोवटी माँगी, चूँन लीयौ साँनि॥

वैसंदर पोषरी हाँड़ी, चल्यौ लादि पलाँनि।
भाई बँध बोलह बहु रे, काज कीनौ आँनि॥
कहै कबीर या मैं झूठ नाँहीं, छाँड़ि जीव की बाँनि॥
राम नाम निसंक भजि रे, न करि कुल की काँनि॥३१४॥

अर्थ—मन रे, राम नाम के महत्त्व को समझो। थर्रानेवाले खभों पर रहने के कारण मदिर गिर गया। शरीर नष्ट हो गया। किंतु तुम अभी चादर (खूँट) तान कर निश्चित सोये हो। तुम्हारे जीभ को यम ने पकड़ लिया है। फलत आवाज नही निकल रही है। तुम इशारे से बात कहते हो। किंतु तुम्हारे इशारे को कोई समझता नही है। पाँचगज का दुपट्टा (दोवटी) माँगा। कुछ आटा सान लिया। आग के पोषर (आहर) पर हाड़ी चढ़ा दी। लाध-पलान कर ससार यात्रा पूरी की। बहुत भाई बन्धुओ को इकट्ठा किया। उन्होने तुम्हारा क्रिया कर्म (काज) किया।

सत कबीर कहते है मृत्यु, श्मशान और तत्सबधी कार्य ही सत्य है। तुम अपनी आदते छोड़ो। नि.शक होकर राम नाम भजो। किसी कुल की मर्यादा का ध्यान मत रखो। कुल की मर्यादा व्यर्थ है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

प्राणी लाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
मुठी एक मटिया मुठि एक कठिया, संग काहू कै न जाइ॥टेक॥
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ।
मड़हट लूँ सब लोग कुटुंबी, हंस अकेलो जाइ॥
कहाँ वै लोग कहाँ पुर पाटण, बहुरि न मिलबौ आइ।
कहै कबीर जगनाथे भजहु रे, जन्म अकारथ जाइ॥३१५॥

अर्थ—ऐ जीव, इस ललित अवसर का बाजा बजाकर जा रहे हो। तुम्हारी घर-गृहस्थी, यह मुट्ठी भर (छोटी) मठिया और यह मुट्ठी भर का शरीर (कठिया) किसीके सग नही जाते हैं। देहली तक सभी स्त्री, फासला तक माँ, मरघट तक कुटुम्बी लोग जाते है। बाद मे हस (आत्मा) को अकेला जाना होता है। पुन उन लोगो, उन गाँव-नगर से मिलना कहाँ सभव है ? सत कबीर कहते है कि जीवन व्यर्थ बीत रहा है। प्रभु जगन्नाथ का भजन करो।

राम गति पार न पावै कोई।
च्यंतामणि प्रभु निकटि छाडि करि, भ्रँमि मति बुधि खोई॥टेक॥
तीरथ बरत जपै तप करि करि, बहुत भाँति हरि सोधै।
सकति सुहाग कहौ क्यूँ पावै, अछता कंत विरोधै॥
नारी पुरिष बसै इक संगा, दिन दिन जाइ अबोलै।
तजि अभिमान मिलै नही पीव कूँ, ढूँढत बन बन डोलै॥
कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जानै॥
प्रेम प्रीति बेधी अंतर गति, कहूँ काहि को मानै॥३१६॥

अर्थ—राम की गति का कोई पार नही पा सकता है। चितामणि (इच्छा पूर्ण करनेवाला) प्रभु को छोड़ कर व्यर्थ मे घूमकर बुद्धि नष्ट कर रहे हो। तीर्थ, व्रत, जप, तप कर-कर अनेक प्रकार से प्रभु की खोज की। किंतु शक्ति का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त करोगे? कत प्रिय परमात्मा के पास रहने पर तुमने उनकी उपेक्षा की। पुरुष और प्रकृति एक साथ बसते है। किंतु सदा बिना बोले ही, परिचयहीन समय बीतता है। व्यर्थ वन-वन घूम रहे हो? अभिमान छोड़ कर प्रिय प्रभु को भजो।

सक कबीर कहते है कि यह कथा कहने मे कोई समर्थ नही है। कोई विरला इसे समझता है। मेरा अतर (हृदय) तो प्रभु प्रेम से विद्ध है। किसी को कहता हूं तो वह मानने को तैयार नही है।

राम बिनाँ संसार धंध कुहेरा; सिरि प्रगट्या जम का फेरा ।।टेक।।
देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरुक मुये हज जाई ।।
जटा बाँधि बाँधि जोगी मूये, इनमै किनहूँ न पाई ।।
कवि कवीनै कविता मूये, कापड़ी के दारौ जाई।
केस लूँथि लूँथि मूये बरतिया, इनमे किन्हूँ न पाई ।।
धन संचते राजा मूये अरु ले कंचन भारी।
वेद पढ़े पढ़ि पंडित मूये, रूप-भूले मुई नारी ।।
जे नर जोग जुगति करि जाँनै, खोजै आप सरीरा।
तिनकूँ मुक्ति का संसा नाही कहत जुलाह कबीरा ।।३१७।।

अर्थ—राम के बिना यह ससार धुध कुहरा है। सबके सिर पर यमका फेरा पड़ा है। यम सब को घेर रहा है। देवताओ की पूजा करके हिंदू और हज जाकर मुसलमान मर गये। जटा बॉध कर योगी मर गये। इनमे किसी ने प्रभु को नही पाया। कवि कविता करने मे परेशान है। कापड़ी केदार जाकर परेशान हैं। जैनी बाल नोच रहे है। इनमे से किसी ने परमब्रह्म को नही पाया है। भारी सोने का धन इकट्ठा कर राजा मर गये। वेद पढ़-पढ़ कर पडित मर गये। स्त्रियॉ रूप के अभिमान मे भूली रही। जिन्होने योग के यत्न से शरीर मे ही ईश्वर को ढूॅढ़ा उनकी मुक्ति मे सशय नही है। यह बात जुलाहा कबीर कहते है।

कहूँ रे जे कहिबे की होइ।
नाँ को जाने नाँ को मानै ताथै अचिरज मोहि ।।टेक।।
अपने अपने रंग के राजा, माँनत नाही कोइ।
अति अभिमान लोभ के घाले, अपनपौ खोइ ।।
मै मेरी करि यहु तन खोयो, समझत नही गँवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे है, बूड़े बहुत अपार ।।
मोहि आग्या दई दयाल दया करि काहू कूँ समझाइ।
कहै कबीर मै कहि कहि हार्यो, अब मोहि दोष न लाइ ।।३१८।।

अर्थ—तब कोई बात कही जाती है जब कोई मानने के लिये तैयार हो। कोई जानता नही। इसीलिये कोई मानता नही। इसी से मुझे आश्चर्य होता है। सभी अपने अपने रग मे रगे राजा है। कोई दूसरे की सुनना नही चाहता है। अत्यत अभिमान मे, लोभ मे पड़े आत्मतत्त्व को खो दिया है। गॅवार समझता नही। मै हूँ, यह मेरा है, यह कहते हुए इस शरीर को नष्ट कर दिया। ससार सागर मे अधूरी सफलता पाकर थक गये है। अपार लोग डूब गये है। दयालु परमात्मा ने मुझे कृपा कर समझाने का आदेश दिया है। मै सबको कह कर हार गया। अब मुझे कोई दोष न दे। मैने अपना काम किया है।

अलंकार—रूपक

एक कोस वन मिलांन न मेला।
बहुतक भाँति करै फुरमाइस, है असवार अकेला ।।टेक।।
जोरत कटक जु घेरत सब गढ़, करतब झेली झेला।
जोरि कटक गढ़ तोरि पातसाह, खेलि चल्यौ एक खेला ।।
कूँच सुकाँम जोगहि के घर मैं, कछू एक दिवस खटाँनाँ।

आसन राखि विभूति साखि दे, फुनि ले माटी उडांनौं ॥
या जोगि की जुगति जूँ जाँनै, सो सतगुर का चेला।
कहै कबीर उन गुर की कृपा थैं, तिनि सब भरम पछेला ॥३१९॥

अर्थ—वन के एक मे न मिलान हुआ, न मेला लगा। अनेक प्रकार की फरमाइश की। किंतु यह तो अकेला समय है। सेना इकट्ठी की। गढ़ो को घेरा। अनेक प्रकार के सासारिक कार्यो मे रहे। ससार के मुकाम (स्थान) से चले (कूँच किया)। योग के घर मे पहुँचे। यहाँ कुछ दिन परिश्रम किया। आसन पर शरीर को रखा। विभूति (राख) का साक्षी रहा। फिर इस मिट्टी को लेकर आत्मा पक्षी उड़ गया। ब्रह्म मे मिल गया। इस योगी की युक्ति को जो जानता है वह सद्गुरु का शिष्य है।

सग कबीर कहते है कि गुरु की कृपा से सारे भ्रम पीछे छूट गये।

अलंकार—रूपक

(राग मारू)

मन रे राम सुमिरि, राम सुमिरि, राम सुमिरि भाई।
राम नाम सुमिरन बिनै, बूड़त है अधिकाई ॥टेक॥
दारा सुत ग्रेह नेह, संपति अधिकाई ॥
याथैं कछु नाँहि तेरौ, काल अवधि आई ॥
अजमेल गज गनिका, पतित कर कीन्हाँ।
तेऊ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हाँ ॥
स्वाँन सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई।
राम नाम अंमृत छाड़ि, काहे बिष खाई ॥
तजि भरम करम बिधि नखेद, राम नाम लेही।
जन कबीर गुर प्रसादि, राम करि सनेही ॥३२०॥

अर्थ—मन रे, भाई, राम का स्मरण करो। करो। राम नाम स्मरण के बिना सब पूर्णत डूब रहे है। स्त्री, पुत्र, गृह का प्रेम और अधिक सपत्ति, इनमे तुम्हारा कुछ भी नही है। काल की अवधि आ गयी है। राम नाम लेने से अजामिल, हाथी, वेश्या आदि सब मुक्त हो गए। तुम्हें प्रभु ने कुत्ता, सूअर, कौआ बनाया (इनमे जन्म हुआ) तो भी तुम्हे लज्जा नही आई। राम नाम रूप अमृत को छोड़ कर विषय विष का सेवन क्यो करते हो? भ्रम-कर्म, विधि-निषेध को छोड़कर रामनाम जपो। भक्त कबीर कहते है कि गुरु कृपा से ही मुक्ति होगी। राम से स्नेह करो।

राम नाम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूँ लोक, तिमर जाय बिविध पीरा ॥टेक॥
त्रिसनाँ नै लोभ लहरि, काँम क्रोध नीरा।
मद मछर कछ मछ, हरषि सोक तीरा ॥
काँमनी अरु कनक भवर, बोये बहु बीरा।
जन कबीर नवका हरि, खेवट गुरु कीरा ॥३२१॥

अर्थ—हे जीव, हृदय मे अनमोल राम नाम हीरे को धारण करो। इससे अज्ञान का अधकार और तीनो प्रकार (देह, देव, भूत) की पीड़ा दूर हो जाती है। तृष्णा नदी (नै) है। लोभ लहर है। काम, क्रोध जल है। मद, मत्सर कच्छप और मत्स है। हर्ष और शोक किनारे

है। स्त्री और खोना आवर्त (भँवर) है। बहुत से वीर डूब गये। सफलता तब मिलती है जब प्रभु की नौका और गुरु शुकदेव (कीरा) नाविक हो।

अलंकार—रूपक

चलि मेरी सखी हो, वोलगन राम राया।
जब तक काल बिनासै काया।।टेक।।
जब लोभ मोह की दासी, तीरथ ब्रत न छूटै जंम की पासी।
आवैंगे जम के घालैगे बाँटी; यहु तन जरि घरि होइया माटी।।
कहै कबीर जे जन हरि रंगिराता, पायौ राजा राम परम पद पाता।।३२२।।

शब्दार्थ—वोलगन = अवलग्न। अवलम्बन। लटकना। पासी = पाश। बधन। घालैगे बॉटी = रास्ता बॉट देगे।

अर्थ—ऐ साधक सखी, चलो। राजा राम मे अवलबित हो जाओ। जब तक काल शरीर को नष्ट न कर दे। लोभ-मोह का दास्य भाव छूट न जाय। तीर्थ व्रत जो यम के बधन है से मुक्ति न मिल जाय उसके पूर्व ही राम से जुड़ जाओ।

यम के दूत आकर तुम्हारा रास्ता रोक देगे। यह शरीर जलकर मिट्टी हो जायगा।

सत कबीर कहते है कि जो प्रभु प्रेम मे मग्न है वह राजा राम के परम पद को प्राप्त करता है।

(राग टोड़ी)

तू पाक परमानंदे।
पीर पैकवर पनहु तुम्हारी, मै गरीब क्या गंदे।।टेक।।
तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि परमाँनंद पियारे।
नैक नजरि हम ऊपरि नाँही, क्या कमिबखत हमारे।।
हिकमति करै हलाल बिचारै, आप कहावै मोटे।
चाकरी चोर निवाले हाजिर, साँई सेती खोटे।।
दाँइम दूवा करद बजावै मै क्या करूँ भिखारी।
कहै कबीर मै बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी।।३२३।।

शब्दार्थ—पाक = पवित्र। पीर = धर्मगुरु। पैकबर = पैगम्बर। गदे = भिक्षुक। पनह = शरण। पनाह। नैक = थोड़ा। कमिबखत = दुर्भाग्य। हिकमति = युक्ति। हलाल = शरीअत के अनुसार किया जानेवाला कर्म। दाइम = दायम। हमेशा। दूवा = दुआ। करद = टैक्स। निवाले = भोजन। कौर।

अर्थ—हे प्रभु, तुम पवित्र परमानद हो। पीर, पैगम्बर सब तुम्हारी शरण मे है। मै बेचारा भिखारी क्या हूँ ? हे प्यारे परमानद, तुम सभी दरियादिलो (उदारदिलो) के भीतर हो। मेरे ऊपर तुम्हारी थोड़ी भी निगाह नही है। हमारा कैसा अभाग्य है। जो बुद्धि से हलाल करते है वे बड़े (मोटे) कहे जाते है। प्रभु से भी बुरा करने वाले चाकर चोर है। वे भोजन के समय हाजिर हो जाते है। वे हर अवसर पर दुआ का टैक्स (कर) देते है। मुझ भिखारी के पास तो वह भी नही है। सत कबीर कहते है कि हे प्रभु मै तुम्हारा सेवक हूँ। तुम्हारी शरण मे हूँ।

अब हम जगत गौंहन तै भागे,
जग की देखि गति रामहि ढूँरि लाँगे।।टेक।।
अयाँनपनै थै बहु बौराने, समझि परी तब फिर पछितानें।।

लोग कहौ जाकै जो मनि भावै, लहै भुवंगम कौन डसावै ॥
कबीर बिचारि इहै डर डरिये, कहै का हो इहाँ रे मरिये ॥३२४॥

अर्थ—अब मै ससार के पीछे चलने से भाग निकला हूँ। ससार की गति देख कर राम मे ढल कर लग गया हूँ। अज्ञान से बहुत पागलपन किया। समझ मे आया। तब फिर पछता रहा हूँ।

जिस व्यक्ति को जो अच्छा लगे वह कहे। सर्प को प्राप्त कर उससे अपने को कौन कटवाएगा ?

सत कबीर विचार कर कहते है कि यहाँ डरते रहिए। किसी के कहनेसे क्या होता है ? क्या होगा ? इसी साधना मे मृत्यु प्राप्त कीजिए।

(राग भैरूँ)

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी; सबद अनाहद ध्यंत करी ।।टेक।।
पहले खोजी पंचे बाइ बाइ ब्यंद ले गगन समाइ ॥
गगन जोति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनाँ मेल बंधि ॥
मन थिर होइ त कवल प्रकासे, कवला माँहि निरंजन बासै ॥
सतगुरु संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तो कहाँ बतावै।
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिढ निद्रा पुनि साधि ॥
पुहुप पत्र जहाँ हीरा मणी, कहै कबीर तहाँ त्रिभुवन धणीं ॥३२५॥

अर्थ—नरहरि का ऐसा ध्यान करो जिसमे अनाहत शब्द का चितन हो। पहले पच वायु (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान) की खोज करो। वायु और विदु (सूक्ष्मशरीर या आज्ञा चक्र मे स्थित गोल प्रकाश) को लेकर आकाश (ब्रह्मरध्र) मे प्रवेश करो। आकाशमे ज्योति है जहाँ त्रिकुटी की सधि है। यह सधि रवि, शशि, पवन अर्थात इडा, पिगला और सुषुम्ना के मेल की है। यहाँ मन स्थिर होने पर कमल प्रकाशित होता है। इस कमल मे निरजन प्रभु का निवास है। सद्गुरु बद कमल खोल कर दिखाते है। उसके भीतर के आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कराते है। जिसके गुरु नही है उसे इस तत्त्व का ज्ञान कौन कराएगा ? आसन दृढकर निद्रा पर अधिकार कर उपाधियो (ससार प्रपचो) को त्याग कर सहज समाधि की स्थिति पूर्ण होती है। इस कमल पुष्प के पत्रो मे हीरामणि (परमतत्त्व) वर्तमान है। वही तीनो लोको का धनी है।

निगुरा होइ तो कहाँ बतायै— वक्रोक्ति
सपुट मे — रूपकातिशयोक्ति

इहि बिधि सेविये श्री नरहरी; मन की दुबिध्या मन परहरी ।।टेक।।
जहाँ नही तहाँ कछू जाँणि, जहाँ नही तहाँ लेहु पछाँणि ॥
नाँही देखि न जइये भागि, जहाँ नहीं तहाँ रहिये लागि ॥
मन मंजन करि दसवै द्वारि, गंगा जमुना संधि बिचारि ॥
नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद, नादहिं ब्यंद मिलै गोब्यंद ॥
देवो न देवा पूजा नही जाप, भाइ न बंध माइ नही बाप ॥
गुणातीत जस निरगुन आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयौ साप ॥
तन नाँही कब जब मन नाँहि, मन परतीति ब्रह्म मन माँहि ॥
परहरि बकुला अहि गुन डार, निरखि देखि निधि वार न पार ॥

कहै कबीर गुर परम गियाँन, सुंनि मंडल मै धरौं धियाँन॥
प्यंड परे जीव जैहै जहाँ, जीवत हो ले राखौ तहाँ॥३२६॥

अर्थ—इस प्रकार नरहरि की सेवा करनी चाहिए। मन की दुविधा दूर करनी चाहिए। जहॉ कुछ नही जान पड़ता है वहॉ कुछ है। जहॉ कुछ नही है वहॉ कुछ पहचानो। नही देख कर भाग मत जाइए। जहॉ नही जान पड़े वहॉ लगे रहिए। दसवे द्वार ब्रह्मरध्र मे मन को स्नान कराइए। यह विचार कर कि यहॉ गगा यमुना (इडा-पिंगला) की सधि है। नाद और विदु मे नाद अर्थात् सूक्ष्म शब्द तत्त्व का क्रियमान स्वरूप जो स्थूल रूप धारण कर सृष्टि का कारण हो जाता है और विदु स्थूल रूप मे वीर्य का पर्यायवाची है। इन दोनो के मिलन से गोविद की प्राप्ति होती है। जहॉ न देवता है। न पूजा है। न जप है।

जहॉ भाई, बधु, मॉ, बाप, कुछ भी सबध नही है, गुणातीत निर्गुण स्वय प्रभु है। जहॉ भ्रम से रस्सी को सॉप स्वय व्यक्ति बनाये है। तन नही है तो मन भी नही है। मन मे विश्वास नही तो मन मे ब्रह्म भी नही है। बाहरी छिलको को छोड़ रस्सी और सर्प का भ्रम छोड़ कर देखो। आर पार कुछ भी नही है।

सत कबीर कहते है कि गुरुदेव परम ज्ञानी है। उनके अनुसार शून्य मडल मे ध्यान करो। शरीर के नष्ट होने पर जीव जहॉ जायगा वहॉ जीते जी ले जाकर ध्यान धारण करो।

अलंकार—मनकी दुविधा मन परहरी—विरोधाभास
जहॉ नही तहॉ कछू जानि—विभावना
नादहि ब्यद कि ब्यदहिनाद—सदेह।
भ्रम जेवड़ी जन कीयौसाप—रूपक।
परहरि बकुला—रूपकातिशयोक्ति

अलह अलख निरंजन देव; किहिं बिधि करौ तुम्हारी सेव॥टेक॥
बिश्न सोई जाको बिस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयौ संसार।
गोब्यंद ते ब्रह्मंड गहै, सोई राम जे जुगि जुगि रहै॥
अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई।
लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जे एती करै।
गोरख सोई ग्यॉन गमि गहै, महादेव सोई मन कौ लहै।
सिधसोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती॥
सिध साधु पैकंबर हूवा, जपै सु एक भेष है जूवा।
अपरंपार का नाउ अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत॥३२७॥

अर्थ—हे अल्लाह, अलख, निरजन, देव, किस प्रकार तुम्हारी सेवा करूॅ?

विष्णु वह है जिसका विस्तार है। कृष्ण जिसने ससार बनाया है। गोविद वह है जिसने ब्रह्माड को ग्रहण किया है। राम वह है जो हर युग मे रहता है। अल्लाह वह है जिसने उम्मत अर्थात् पैगम्वर को माननेवालो को उत्पन्न किया है। दस द्वार खोलने वाला खुदा है। चौरासी लाख जीवो की परवरिश करने वाला रकब है। करीम जिसने इतनी (कृपा) की है। गोरख ज्ञान मे गमन करता है। महादेव वह है जो मन को प्राप्त करता है। सिद्ध वह है जो इतनी साधना करता है। त्रिभुवन का यती ही नाथ है। सिद्ध, साधु, पैगम्बर आदि जो एक रूप को जोड़कर जपते है। उस अपरपार के अनत नाम है। वह भगवान् है।

अलंकार—उल्लेख

तहाँ जौ राम नाम ल्यौ लागै; तौ जरा मरण छूटै भ्रम भागै।।टेक।।
अगम निगम गढ़ रचि ले आवास, तहुवाँ जोति करै परकास।
चमकै बिजुरी तार अनंत, तहाँ प्रभु बैठे कवलाकंत।।
अखंड मंडिल मंडित मंद, त्रि स्नाँन करै त्रीखंड।
अगम अगोचर अभिअंतरा, ताकौ पार न पावै धरणीधरा।।
अरध उरध विचि लाई ले अकास तहुँवा जोति करै परकास।।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मैं रह्यौ समाई।।
अबरन बरन स्यांमं नहीं पीत,हो हू जाइ न गावै गीत।
अनहद सबद उठै झणकार, तहाँ प्रभू बैठे समरथ सार।।
कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मै लिया निवास।
द्वादस दल अभिअतरि म्यंत, तहाँ प्रभु पाइसि करिले च्यंत।।
अमलिन मलिन घाम नही छाँहाँ, दिवस न राति नही है ताहाँ।।
तहाँ न ऊगै सूर न चंद आदि निरंजन करे अनंद।।
ब्रह्मँडे सो प्यंडे जाँन, माँनसरोवर करि असनाँन।।
सोई हंसा ताकौ जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप।।
काया माँहै जाँनै सोई, जो बोलै सो आपै होई।
जोति माँहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्राँणो तिरै।।३२८।।

शब्दार्थ—तहॉ = सहस्रार मे। ल्यौ = लय। ध्यान। मड = मडप। त्रीखड = तीन लोक। धरणीधरा = शेष नाग। हो हू = हल्ला। कदली = सुषुम्ना। रिदा =हृदय। द्वादसदल = अनाहत चक्र। म्यत = बीच मे। पाइसि = प्राप्त कर। च्यत = चितन। अमलिन = स्वच्छ। चाम = धूप। लिपै = लिप्त।

अर्थ—उस सहस्रार मे यदि ध्यान लग जाय तो जरा मरण छूट जायगा। भ्रम दूर हो जायगा। अगम्य निगम (पथ) मे निवास के लिये गढ़ बना ले। वहॉ प्रभु ज्योति का प्रकाश होता रहता है। अनत बिजली और तारे चमकते है। कमला कात प्रभु वहॉ बैठे है। अखड मडल मे मडप बना है। तीनो मे त्रिकाल स्नान होता है। उसका अतर अगम्य और इद्रियातीत है। उसके आदि अत का पता शेष नाग को भी नही है। अरध-उरध (नीचे-ऊपर) अर्थात् इडा-पिगला और बीच की सुषुम्ना मे आकाश है। वहॉ प्रभु ज्योति का प्रकाश होता है। वह ज्योति न आती है, न जाती है। न टालने पर टलती है। सहज शून्य मे स्थिर समाई रहती है। वह श्याम-पीत वर्ण अवर्ण से रहित है। वहॉ होहू गीत भी नही गाये जाते है। अनहद शब्द का झकार होती है। वहॉ सर्व समर्थ प्रभु बैठे है। वहॉ मानो कदली पुष्प मे दीपक जलता है। हृदय कमल मे ज्ञान का स्फुटन होता है। बारह दलो के अनाहत चक्र कमल मे प्रभु का चितन करो। वहॉ स्वच्छ या मलिन किसी प्रकार की धूप छाया नही है। न दिन, न रात है। वहॉ सूर्य चद्रमा नही उगते है। आदि निरजन प्रभु का आनद होता रहता है। जो ब्रह्माड मे है वही पिड मे समझो।

सहस्रार मानसरोवर मे स्नान करो। सोऽहम् हस का जप करो। इस जप करने वाले को पाप-पुण्य प्रभावित नही करते है। शरीर मे उस प्रभु को जानना चाहिए। जो बोलता है वह स्वय होता है। उस प्रभु प्रकाश मे जो मन को स्थिर रखता है। सत कबीर कहते है कि वह प्राणी ससार सागर पार कर जाता है।

अलंकार— ताको पार न पावै धरणी धरा —सबधातिशयोक्ति
टार्‌यौटरैन आवैजाइ—विशेषोक्ति
रिदा पकज—रूपक।

एक अचंभा ऐसा भया; करणी थै कारण मिटि गया।।टेक।।
करणी किया करम का नाम पावक माँहि पुहुप पन्नार
पुहुप माँहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै।।
प्रगटी बास बासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ।।
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसे भई।।
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहिं मिली।।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौ गहै।।३२९।।

शब्दार्थ—करणी = साधना। कारण = भवचक्र। जन्म-मृत्यु चक्र। पावक = साधनाग्नि। कुडलिनी। पुहुप = ज्ञान। चक्रकमल। कुल = कुडलिनी। परिवार। च्यत = ज्ञान। गग = कुडलिनी। मेर = सहस्रार। धरती = मूलाधार। आकासहि = ब्रह्मरध्र। ससिहर = चद्रमा। राह = विषय। जरामरण। भौ = भव। ससार।

अर्थ—एक आश्चर्य हुआ। साधना से ससार मे बार-बार जन्म लेना और मरना समाप्त हो गया। साधना से कर्म (कर्म से उत्पन्न भोग फल) समाप्त हो गया। साधना की आग मे ज्ञान पुष्प का विकास हो गया। योग की भाषा मे कुडलिनी उत्थित होकर ऊपर चढ़ने लगी तो विभिन्न चक्रो के कमल पुष्प प्रकाशित हो गये। कुडलिनी सहस्रार की ओर बढ़ने लगी। तब कमल पुष्पो से अग्नि शिखा सा प्रकाश फैलने लगा। यही पुष्प मे पावक का जलना है। यहाँ पाप-पुण्य दोनो भ्रम से दीखते है। पृथ्वी मे निवास और विषयो का सग करने की वासना समाप्त हो गयी है। कुडलिनी के उत्थित होने से कुल-परिवार की आसक्ति समाप्त हो गयी है। ज्ञान उत्पन्न होने से ससार की चिता मिट गयी। भव के सारे भ्रम भाग गये। कुडलिनी रूपी गगा उलट कर सहस्रार को जा रही है। मूलाधार उलट कर आकाश की ओर उन्मुख हो गया है। दास कबीर ऐसे तत्त्व का वर्णन करते है जब सहस्रार स्थित सोमरस जरा-मरण के राहु को नष्ट कर रहा है।

अलंकार— पुहुप माँहि भ्रम टरै—रूपकातिशयोक्ति।
कुल कुल, च्यत च्यत—यमक।
भौ भ्रम—अनुप्रास।
करणी थै करण मिटि गया,
उलटी गग राह कौगहै—विरोधाभास।

है हजूरि क्या दूर बतावै; दुंदर बाँधै सुंदर पावै।।टेक।।
सो मुलनाँ जो मनसूँ लरै, अह निसि काल चक्र सूँ भिरै।।
काल चक्र का मरदे माँन, ताँ मुलनाँ कू सदा सलाँम।।
काजी सो जो काया बिचारै, अहनिसि ब्रह्म अगनि प्रजारै।।
सुप्पनै बिंद न देई झरनाँ, तौ काजी कूँ जुरा न मरणाँ।।
सो सुलितान जु द्वै सुर ताँनै बाहरि जाता भीतरि आनै।।
गगन मंडल मै लसकर करै, सो सुलितान छत्र सिरि धरै।।
जौगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उच्चरै।।
मुसलमान कहै एक खुदाइ,
कबीरा कौ स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ।।३३०।।

शब्दार्थ—हजूरि = सामने। प्रत्यक्ष। दुदर = द्वन्द्व। मुलनाँ = मुसलमान। मुल्ला। प्रजारै = प्रज्जलित करे। बिंद = वीर्य। कूँ = को। जुरा = जरा। वृद्धता। लसकर = सैन्य समूह।

अर्थ—प्रभु तो पास है। क्यो दूर बताते हो ? अपने द्वन्द्व को समाप्त करो तब सुन्दर प्रभु

की प्राप्ति होगी। सच्चा मुल्ला या मुसलमान वह है जो मन से युद्ध करता है। रात-दिन काल चक्र से भिड़ता है। काल चक्र का मान मर्दन करता है। उस मुल्ला को मै नमस्कार करता हूँ। काजी वह है जो शरीर मे ही प्रभु का विचार करता है। रात-दिन ब्रह्माग्नि मे जलता है। स्वप्न मे वीर्य स्खलन नही होने देता है। उस काजी को बुढ़ापा और मृत्यु नही आती है। वह सुलतान है जो दोनो श्वासो को तानता है। बाहर जाते श्वासो को भीतर रखता है। अर्थात् प्राणायाम साधक है। आकाश मडल मे सेना सजाता है। उसी सुल्तान के सिर पर छत्र सजता है। योगी गोरख गोरख रटते है। हिंदू राम राम कहते है। मुसलमान एक खुदा की आराधना करते है। कबीर के स्वामी घट-घट मे समाये है।

आऊँगा न जाऊँगा, न मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद मै रमि रमि रहूँगा ।।टेक।।
आप कटोरा आपै थारी, आपै पुरिखा आपै नारी ।।
आप सदाफल आपै नींबू, आपै मुसलमाँन आपै हिंदू ।।
आप मछ कछ आपै जाल, आपै झीवर आपै काल ।।
कहै कबीर हम नाही रे नाही, ना हम जीवत न मुवले माँही ।।३३१।।

अर्थ—मै न आऊँगा, न जाऊँगा। न मरूँगा न जीऊँगा। गुरुदेव के शब्दो मे रमण करूँगा। भाव यह कि जो गुरुदेव शब्द का उपासक है उसका आवागमन, जन्म मृत्यु नही होती है। साधक स्वत पूर्ण है। वह कटोरा, थारी, पुरुष, स्त्री, सदाफल, नीबू, मुसलमान, हिंदू, मछली, कछुआ, जाल, मल्लाह (धीवर), काल सब है।

सत कबीर कहते है, हम नही है। मै निर्गुण निराकार हूँ। मै न जीवित हूँ। न मरो मे हूँ।

हम सब माँहि सकल हम माँही; हम थै और दूसरा नाही ।।टेक।।
तीन लोक मै हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा ।।
खट दरसन कहियत हम भेखा, हमही अतीत रूप नही रेखा ।।
हमही आप कबीर कहावा, हमही अपनाँ आप लखावा ।।३३२।।

अर्थ—ब्रह्मकी स्थितिका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हम (ब्रह्म) सबमे है। सभी हम मे है। हम से अलग दूसरा नही है। तीनो लोको मे हमारा प्रसार है। आवागमन सब हमारा खेल है। छह दर्शन, सारे वेश, रूप से अतीत, रेखा हीन सब हमी है। हम ब्रह्म ही कबीर कहलाते है। हम अपने को देखते है। अर्थात् साधक, साध्य, आराधक आराध्य सब हमी है।

सो धन मेरे हरि का नाँउ गाँठि न बाँधौ बेचि न खाँउँ ।।टेक।।
नाँउ मेरे खेती नाँउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी ।।
नाँउ मेरे सेवा नाँउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जाँनौ दूजा ।।
नाऊँ मेरे बंधव नाँव मेरे भाई, अंत कि बिरियाँ नाँव सहाई ।।
नाँउ मेरे निरधन ज्यूँ निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ।।३३३।।

अर्थ—भगवान का नाम मेरा धन है। इसको न गाँठ मे बाँधा जा सकता है। न बेच कर खाया जा सकता है। नाम मेरी खेती बारी है। भक्ति करता हूँ। प्रभु की शरण मे हूँ। नाम मेरी सेवा पूजा है। ईश्वर के अतिरिक्त और दूसरे को नही जानता हूँ। नाम मेरे बाँधव, भाई है। अत के समय नाम सहायक होता है। मुझ निर्धन के लिये नाम निधि प्राप्त हो गयी है। जैसे रक (दरिद्र) को मिठाई मिल गयी है।

अब हरि अपनौ करि लीनौ, प्रेम भगति मेरौं मन भीनौ ।।टेक।।
जरै सरीर अंग नही मोरौ, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ।।
च्यंतामणि क्यूँ पाइए ठोली, मन दे राम लियो निरमोली ।।

ब्रह्मा खोजत जनम गवायौ, सोई राम घट भीतरि पायौ ॥
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ विसवासा ॥३३४॥

शब्दार्थ—ठोली = बैठे हुए। बैठे-बिठाये। निरमोलिक = अमूल्य।

अर्थ—प्रेमा भक्ति से मेरा मन भर गया है। अब प्रभु ने मुझे अपना बना लिया है। प्रभु के प्रेम मे मेरा शरीर जले तो भी अग नही मोड़ूँगा। प्राण जाय फिर भी स्नेह नही तोड़ूँगा। प्रभु चिन्तामणि को बैठे-बिठाए नही प्राप्त किया जा सकता। (उसके लिए परिश्रम आवश्यक है)। मन देकर अमूल्य राम को पाया है। इस राम को खोजते ब्रह्मा का जन्म बीत गया। उसी राम को देह के भीतर ही प्राप्त किया। सत कबीर कहते है कि ससार की सभी वस्तुओ से आशा छूट गयी है। विश्वास उत्पन्न होने पर राम मिल गये है।

लोग कहै गोबरधनधारी; ताकौ मोहिं अचंभौ भारी ॥टेक॥
अष्ट कुली परबत जाके पग की रैनाँ, सातौं सायर अंजन नैनाँ ॥
ए उपमाँ हरि किती एक ओपै, अनेक मेर नख उपरि रोपै ॥
धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी ॥
सिव बिरंचि नारद जस गावै, कहै कबीर वाको पार न पावैं ॥३३५॥

शब्दार्थ—अष्ट कुली परबत = मेरू, मदर, कैलास, मलय, गन्धमादन, महेद्र, श्रीपर्वत, हेम कूट (दे० हिंदू धर्मकोश, राजवली पाडेय)। रैनॉ = धूल। ओपै = उपयुक्त। मेर = मेरू पर्वत। रोपै = आरोपित। टिकाए। मुगधा = मूढ। मूर्ख। साखी = प्रमाण।

अर्थ—लोग ईश्वर को गोवर्धन धारण करने वाला कहते हैं। यह सुनकर मुझे भारी आश्चर्य होता है। आठो कुल के पर्वत जिसके पैरो की धूल दीखते है। सातो समुद्र (ईक्षूद, क्षीरोद, घृतोद, दध्युद, लवणोद, सुरोद, स्वादुद) जिसकी आँखो के अजन है। ये उपमाएँ हरि के लिये बिल्कुल उपयुक्त नही है। जो हरि एक नख पर मेरु पर्वत को रखे है। टिकाए हैं। धरती और नभ जिसके (ओष्ट) है (या धरती और आकाश को जिसने निराधार टिका रखा है)। मूढ लोग उसका कौन सा प्रमाण देगे ? शिव, ब्रह्मा, नारद जिसका यश गाते है। सत कबीर कहते है कि उसका आदि अत नही है।

राम निरंजन न्यारा रे; अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥
अंजन उतपति वो उकार, अंजन माँड्या सब बिस्तार ॥
अंजन ब्रह्मा शकर इंद, अंजन गोपी संगि गोब्यंद ॥
अंजन बाँणी, अंजन बेद, अंजन कीया नाँनाँ भेद ॥
अंजन बिद्या पाठ पुराँन, अंजन फोकट कथहि गियाँन ॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव ॥
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
अंजन कहौ कहाँ लग केता, दाँन पुंनि तप तीरथ जेता ॥
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाँड़ि निरंजन लागै ॥३३६॥

अर्थ—अजन का अर्थ है माया। ससार। उत्पत्ति, प्रलय आदि स्थूल सगुण सागर। निरजन परब्रह्म परमात्मा है।

निरजन सबसे अलग है। यह सारा प्रसार अजन का है। अजन से ओकार और सारा विस्तार बना है। ब्रह्मा, शकर, इद्र, विद्या, पाठ, पुराण आदि सब अजन है। मुफ्त कथा भी अजन है। पूजा की पत्ती, देवता आदि की सेवा अजन द्वारा अजन की सेवा है। अजन ही नाचता, गाता, अनत वेश दिखाता है। सभी दान, पुण्य, तप, तीर्थ मे अजन है। सत कबीर कहते है कि कोई बिरला समझता है और अजन को छोड़ निरजन की उपासना करता है।

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहुँ विचार ।।टेक।।
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ।।
अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घट रह्यौ समाइ ।।
जोग ध्यांन तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे राम अधार ।।३३७।।

अर्थ—अजन अल्प (अपूर्ण) और निरजन मूल तत्त्व है। ऐ मनुष्य, यही सोचकर विचार करो। उत्पत्ति और बरतने वाले लोग अजन है। बिना निरजन की साधना किये इनकी मुक्ति सभव नही है। अजन आता है और अजन जाता है। किन्तु निरजन सभी देहो मे समाया रहता है। योग, ध्यान, तप सब विकार है। सत कबीर कहते है कि मेरा तो एक राम आधार है।

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दुहू नही मेरा ।।टेक।।
राखूँ व्रत न महरम जाँनाँ, तिसही सुमिरूँ जो रहै निदाँनाँ।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ ।।
नाँ हज जाँउँ न तीरथ पूजा, एक पिछाँण्या तौ का दूजा ।।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा।।३३८।।

अर्थ—मेरा अल्लाह निरजन (निर्गुण) है। हिंदू और मुसलमान दोनो उसके पास नही पहुँच सके है। मै न तो व्रत रखता हूँ, न रमजान (रोजा)। उस का ही स्मरण करता हूँ जो अत तक रहता है। पूजा नही करता, नमाज नही पढ़ता। निराकार ब्रह्म को हृदय मे नमस्कार करता हूँ। हज नही जाता। तीर्थ, पूजा नही करता। एक को पहचान लिया तो अब दूसरे की क्या जरूरत है ?

सत कबीर कहते है कि सारे भ्रम दूर हो गये। एक निर्गुण निराकार ब्रह्म से मन लग गया है।

तहाँ मुझ गरीब की को गुदरावै, मजलिस दूरि महल को पावै ।।टेक।।
सत्तरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै ।।
सेख जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोड़ि खेलिबे खासी ।।
कोड़ि तेतीसूँ अरु खिलखाँनाँ, चौरासी लख फिरै दिवाँनाँ ।।
बाबा आदम पै नजरि दिलाई नबी भिस्त घनेरी पाई ।।
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जबाब होत बजगारी ।।
जन कबीर तेरी पनह समाँनाँ भिस्त नजीक राखि रहिमाँनाँ ।।३३९।।

शब्दार्थ—गुदरावै = पुकारना। मजलिस = सभा। सहस = हजार। सलार = सेनापति। पैकबर = दूत। खलिबे = गिरोह। खिलखॉनॉ = एकात निवासी। भिस्त = स्वर्ग। बजगारी = बदकारी। बुराई। पनह = शरण।

अर्थ—वहाँ (उस शक्तिशाली प्रभु के पास) मेरे जैसे गरीब को कौन बुलायेगा ? कौन पहुँचने देगा ? उसकी सभा दूर है। फिर उसके महल को पाना तो और भी कठिन है। जिस प्रभु के सत्तर हजार सेनापति है। अस्सी लाख दूत है। अट्ठासी हजार शेख है। छप्पन करोड़ खास गिरोह, तैतीस करोड़ एकात निवासी एव चौरासी लाख दीवाने फिरते है। बाबा आदम पर जिसने कृपा की। नबी ने अनेक स्वर्ग पाये। प्रभु, तुम साहब और मै भिखारी हूँ। जबाव देते भी बुराई होती है। भक्त कबीर तुम्हारी शरण मे है। हे दया परवर, मुझे स्वर्ग के पास रखो।

जो जाचौं तो केवल राम, आँन देव सूँ नाँही काँम ।।टेक।।
जाकै सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कबिलास।
ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरै दुर्गा कोटि जाकै मरदन करै ।।
कोटि चंद्रमाँ गहै चराक, सुर तेतीसूँ जीमैं पाक ।।

नीग्रह कोटि ठाढ़े दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार॥
कोटि कुबेर जाकै भरै भंडार, लछमी कोटि करै सिंगार॥
कोटि पाप पुंनि ब्यौहरै, इंद्र कोटि जाकी सेवा करै॥
जगि कोटि जाके दरबार गंध्रप कोटि करै जयकार।
विद्या कोटि सबै गुँण कहै, पारब्रह्म को पार न लहै॥
बासिग कोटि सेज बिसतरै पवन कोटि चौबारे फिरै।.
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमाबली अठारह भारा।
असंखि कोटि जाके जमावली, रॉवण सेन्याँ जाथै चली॥
सहसबाँह के हरे पराँण, जरजोधन घल्यौ खै माँन॥
बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल।
लट छूटी खेलै बिकराल, अनंत कला नटवर गोपाल॥
कंद्रप कोटि जाकै लाँवन करै, घट घट भीतरि मनसा हरै॥
दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद माँगौ दान॥३४०॥

शब्दार्थ—कविलास = कैलास। मरदन = मर्दन। दमन। जीमै = भोजन। पाक = रसोई। नीग्रह = नवग्रह। पौली = ड्योढी। प्रतिहार = द्वारपाल। जगि = यज्ञ। ग्रध्रप = गधर्व। बासिग = वासुकिनाग। चौबारे = खुला कमरा। जमावली = यमावली। यम समूह। जरजोधन = दुर्योधन। कुटवाल = कोतवाल। कद्रप = कदर्प। लॉवन = लावण्य। मनसा = मानस। मनस सारगपान = विष्णु। अभै = अभय। भार = एक वजन। खै = क्षय। क्षेत्रफल = रखवाला।

अर्थ—मॉगना होगा तो केवल राम से मागूँगा। अन्य देवो से मेरा कोई पतलब नही है। क्योकि राम सभी देवो से अधिक शक्तिशाली है। कवि और देवो के मुकाबले मे राम की शक्ति की चर्चा करते हुए कहता है कि राम वह है जिसमे करोड़ो सूर्य का प्रकाश है। कैलास निवासी करोड़ो शिव है। जिसकी सेवा मे करोड़ो ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते है। करोड़ो दुगाएँ जिसकी प्रसन्नता के लिये अरिमर्दन करती है। करोड़ो चद्रमा दीपक से खड़े रहते है। जिसके यहॉ तैतीस कोटि देवता बनी रसोई का भोजन करते है। करोड़ो नवग्रह दरबार मे खड़े रहते है। धर्मराज दरवाजे पर पहरा देते है। करोड़ो कुबेर भडार भरते है। करोड़ो लक्ष्मी जिसका श्रृगार करती है। करोड़ो इन्द्र जिसके यहॉ पाप-पुण्य द्वारा सेवा करते है। जिसके दरबार मे करोड़ो विद्याएँ (सरस्वती) सभी गुण कहती है। परब्रह्म जिसका अत नही प्राप्त कर पाते है। करोड़ो वासुकिनाग शय्या लगाते है। जिसके खुले कमरे मे करोड़ो पवन देवता घूमते है। करोड़ो समुद्र जिसका पानी भरते है। अठारह भार जिसकी रोमावली अर्थात् वृक्षावली है। जिसकी यम पक्तियॉ करोड़ो है। जिनसे रावण की सेना छली गई। जिसने सहस्राबाहु के प्राण हर लिये थे। जिसने दुर्योधन के मान का क्षय कर दिया। जिसके बावन करोड़ कोतवाल है। जिसके नगर-नगर मे रखवाले है।

विकराल मुक्त बाल खेलते है। जो अनत कला युक्त नटवर गोपाल जैसा है। करोड़ो कामदेव जिसे सुदर बनाते है। घट घट (शरीर) मे रहकर मानस अर्थात् कामनाओ का नाश करते है।

सत कबीर दास कहते है कि भगवान् विष्णु को भजो। हे प्रभु, अभय पद दो। यह दान मॉगता हूँ।

अलंकार—विद्या कोटि सबै न लहै सबधातिशयोक्ति

मन न डिगै तायै तन न डराई, केवल राम रहे ल्यौ लाई॥टेक॥
अति अथाह जल गहर गंभीर, बाँधि जंजीर जलि बोरे है कबीर॥

जल की तरंग उठि कटि है जंजीर, हरि सुमिरन तट बैठे है कबीर ॥
कहे कबीर मेरे संग न साथ, जल थल मै राखै जगनाथ ॥३४१॥

अर्थ—मन नही डिगता है। इससे तन को कोई डर नही है। केवल राम मे ध्यान लगा है। अत्यत अथाह गभीर गहरे पानी मे जजीर मे बॉध कर कबीर को डुबो दिया। जल की तरग उठी। जजीर कट गयी। हरि का स्मरण करते हुए सत कबीर किनारे बैठे है। कबीर कहते है कि मेरा किसी का सग साथ नही है। वही प्रभु जल थल दोनो मे रक्षा करता है।

भलै नीदौ भलै नीदौ भलै नीदौ लोग, तनौ मन राम पियारे जोग ।।टिक।।
मै बौरी मेरे राम भरतार, ता कारनि रचि करौ स्यँगार ॥
जैसे धुबिया रज मल धोवै, हर तप रत सब निदक खोवै ॥
न्यंदक मेरे माई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप ॥
न्यंदक मेरे प्रान अधार, बिन बेगारि चलावै भार।
कहै कबीर न्यँदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी ॥३४२॥

अर्थ—लोग चाहे मेरी जितनी निदा करे किंतु मेरा तन-मन प्यारे राम मे युक्त है। मुझ बावली के भर्त्ता राम है। इस से रच कर श्रृंगार करती हूँ। जैसे धोबी सब रजमल को धोता है उसी प्रकार सब निदक मेरे सारे गिरते-पड़ते मलो को धो देते है। निदक मेरे माता पिता की तरह है। मेरी निदा करके मेरे जन्म-जन्म के पाप काट डालते है। निदक मेरे प्राणाधार है। बेगार मे बिना कुछ पाये भार ढोते है। निदक धन्य है जो स्वय रह जाते है और भक्त को पार उतार देते है।

अंलकार—रूपक तथा उपमा।

जो मै बौरा तौ राम तोरा, लोग मरम का जानै मोरा ।।टेक।।
माला तिलक पहरि मन मानाँ, लोगनि राम खिलौना जाँनाँ।
थोरी भगति बहुत अहँकारा, ऐसे भगता मिलै अपारा ॥
लोग कहै कबीर बौराना, कबीरा कौ मरम राम भल जाना ॥३४३॥

अर्थ—हे राम, यदि मै बाबला हूँ तो तुम्हारा हूँ। लोग मेरे इस मर्म को नही समझते है। लोगो ने माला, तिलक का प्रयोग मन मे ऐसे समझा है जैसे राम कोई खिलौना हो। थोड़ी भक्ति बहुत अहकार वाले ऐसे असख्य भक्त मिलते है। लोग कहते है कि कबीर पागल हो गया है। कबीर के रहस्य को राम भली भॉति जानते है।

हरिजन हंस दसा लिये डोले, निर्मल नाँव, चवै जस बोलै ।।टेक।।
मानसरोबर तट के बासी, राम चरन चित आँन उदासी ॥
मुकताहल बिन चच न लाँवै, माँनि गहै के हरि गुन गावै ॥
कउवा कुबधि निकट नही आवै, सो हंसा निज दरसन पावै ॥
कहँ कबीर सोई जन तेरा, छीर नीर का करै नबेरा ॥३४४॥

शब्दार्थ—हरिजन = भक्त। हसदसा = मुक्तदशा। चवै = उचवै। उच्चारण करता है। ऑन = अन्य। उदासी = उदासीन। चच = चचु। नबेरा = अलगाव।

अर्थ—भक्त मुक्तात्मा बना घूमता है। निर्मलराम नाम का उच्चारण करता है। वह ब्रह्मरध्र मानसरोवर के किनारे का बासी है। राम के चरणो मे चित्त लगाये रहता और अन्य से उदास रहता है। मोती के बिना चोच नही लगता। मौन गहता है या भगवान् का गुण गाता है। कुबुद्धि कौआ कभी निकट नही आता है। वही हस अपना (स्व) दर्शन करता है। सत कबीर कहते हैं कि वही आपका व्यक्ति है जो नीर क्षीर के अतर को जानता है।

अलंकार—साग रूपक, कौउवा कुबुद्धि—रूपक, मानसरोवर—श्लेष

सति राम सतगुर की सेवा, पूजहु राम निरंजन देवा ।।टेक।।
जल कै मजनय जो गति होई, मीनाँ नित ही न्हावै।
जैसा मीनाँ तैसा नरा, फिरि फिरि जोनी आवै ।।
मन मे माला तीर्थ न्हाँवै, तिनि बैकुंठ न जाँनाँ।
पाखंड करि करि जगत भुलाँनाँ, नाँहिन राम अयाँनाँ ।।
हिरदै कठोर मरै बनारसि, नरक न बंच्या जाई।
हरि को दास मरै जे मगहरि, सेन्याँ सकल तिराई ।।
पाठ पुराँन वेद नही सुमृत, तहाँ बसै निरकारा।
कहँ कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ।।३४५।।

शब्दार्थ—सति = सत्य। मजन्य = मज्जन। स्नान। जोनी = योनि। अयाँनाँ = अज्ञानी।

अर्थ—राम और सद्गुरु की सेवा ही सत्य है। निरजन देव राम की पूजा करो। जल मे स्नान करने से जो गति होती है वह तो नित्य स्नान करनेवाली मछली को सहज प्राप्त होती होगी। जैसे मछली वैसे ही मनुष्य। पुन पुन योनियो मे जन्म लेता है। मन गदा है और तीर्थो मे स्नान करता है। ऐसे व्यक्ति बैकुठ को नही जान सकते है। लोग राम के सामने पाखड करते है। उन्हे भुलावे मे रखना चाहते है। वे नही जानते कि राम अज्ञानी नही हैं।

कठोर (अपवित्र) हृदय का आदमी अगर वाराणसी मे भी मरेगा तो नरक जाने से नही छूट सकता है। भक्त मगहर मे मरकर अपने सभी साथियो को भी मुक्त करेगा। उस निराकार प्रभु के पास तक ये पाठ, पुराण, वेद, स्मृति आदि न पहुँच पाते है। वह प्रभु इनसे बहुत दूर है।

सत कबीर कहते है कि अनेक देवताओ का ध्यान करने से क्या फायदा ? एक प्रभु का ध्यान करो। किंतु ससार के लोग तो अनेक देवी देवताओ की उपासना मे पागल हो रहे है।

क्या है तेरे न्हाई धोई; आतम राम न चीन्हाँ सोई ।।टेक।।
क्या घट उपरि मंजन कीयै, भीतरि मैल अपारा ।।
राम नाम बिन नरक न छूटै, जे धोवै सौ बारा ।।
का नट भेष भगवाँ बस्तर, भसम लगावै लोई ।।
ज्यूँ दादुर सुरसरी जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई ।।
परिहरि काँम राम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नाँव अभयपददाता, कहै कबीरा कोरी ।।३४६।।

अर्थ—खाली नहाने-धोने से क्या होता है ? हे जीव, तुमने अब तक आत्माराम (आत्मतत्त्व) को नही पहचाना है। शरीर को बाहर से धोने से क्या ? भीतर मे तो अपार गदगी पड़ी है। रामनाम स्मरण के अभाव मे नरक से मुक्ति नही मिलेगी। नरक होगा ही। चाहे इस शरीर को सौ बार भी क्यो न धो लो। भगवा (गेरुआ) वस्त्र पहन कर नट का वेश धारण कर लिया। लोग भस्म लगाते है। ऐसे व्यक्ति उस मेढक के समान है जो पानी मे रहकर भी मुक्ति नही पाता है। अरे बावले, काम को छोड़ कर ईश्वर की आराधना करो। हे भाई, मेरी इस शिक्षा पर ध्यान दो।

कोरी कबीर कहते है कि भगवान् का नाम अभयपद देनेवाला है।

पाँणीं थै प्रकट भई चतुराई,
गुर प्रसादि परम निधि पाई ।।टेक।।
इक पाँणी वाँणी कूँ धोवै एक पाँणी पाँणी कूँ मोहै ।।

पाँणी ऊँचा पाँणीं नीचाँ, ता पाँणीं का लीजै सीवा ॥
इक पाँणी थै प्यंड उपाया, दास कबीर राम गुण गाया ॥३४७॥

अर्थ—पानी से प्रभु प्राप्ति का ज्ञान प्रगट हुआ है। गुरुदेव की कृपा से परम निधि का ज्ञान प्राप्त हुआ है। पानी कई प्रकार का है। एक पानी वाणी साफ करता है। एक पानी पानी (प्राणी) को मोह मे डालता है। एक पानी ऊँचा है। वह है सहस्रार का अमृत जल। दूसरा पानी नीचे मूलाधार मे स्थित है। उसी पानी (ऊपर के पानी) से आत्मा को सिचित करो। एक पानी (वीर्य) से शरीर उत्पन्न हुआ है।

पानी का यह महत्त्व देख कर सत कबीर राम के गुणो का गायन करते है और पानी के भेदक तत्त्व को समझाते है।

अलंकार—पानी पानी मे यमक

भजि गेब्यंद भूलि जिनि जाहु, मनिषा जनम को एही लाहु ॥टेक॥
गुर सेवा करि भगति कमाई, जो तै मनिषा देही पाई ॥
या देही कू लौचै देवा, सो देही करि हरि कि सेवा ॥
जब लग जरा राग नही आया, तब लग काल ग्रसै नहिं काया ॥
जब लग हींण पड़े नही बाणी, तब लग भजि मन सारँगपाँणी ॥
अब नही भजसि भजसि कब भाई, आवैगा अंत भज्यौ नहीं जाई ॥
जे कछू करौ सोई तत सार, फिरि पछिताबोगे बार न पार ॥
सेवग सो जो लागे सेवा, तिनही पाया निरंजन देवा ॥
गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनी बाट ॥
बहु तेरा औसर यहु तरिबार घट हो भीतरि सोचि बिचारि ॥
कहै कबीर जीति भावैं हारि बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि ॥३४८॥

शब्दार्थ—लौचै = ललचाते है। हींणं = क्षीण।

अर्थ—मनुष्य जन्म का लाभ प्रभु के स्मरण मे है। यह भूल मत जाओ। तुमने मनुष्य देह प्राप्त किया है तो गुरुदेव की सेवा कर भक्ति अर्जित करो। देवता भी नरदेह प्राप्ति के लिये ललचाते है। इसलिये इस देह से प्रभु की सेवा करो। जब तक बुढापा रोग नही आया है और काल ने शरीर को पकड़ नही लिया है। जब तक वाणी क्षीण नही हुई है तब तक हे मन, भगवान का भजन करो। अब नही भजोगे तब कब भजोगे ? हे भाँई, अतकाल मे भजना नही हो सकेगा। जो कुछ करो वह तत्त्व और सार से युक्त हो। ऐसा न करने पर आर-पार का कुछ पता नही चलेगा और पछताना पड़ेगा।

जो सेवक सेवा करता है वही निरजनदेव को प्राप्त करता है। गुरुदेव को मिलने से जिनके हृदय के पट खुल गये है, वे पुन ससार मे जन्म नही लेते है। यह अवसर है, तरने का समय है। शरीर के भीतर ही सोच-विचार करो।

सत कबीर कहते है कि अच्छा लगे तो इस ससार की वासनाओ को जीतो या हार जाओ। मैने अनेक प्रकार से पुकार कर कह दिया है।

तुलनीय— बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रथनि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा। —तुलसी

ऐसा ग्यान बिचारि रे मनाँ हरि किन सुमिरै दुख भंजना ॥टेक॥
जब लग मै मै मेरी करै, तब लग काज एक नही सरै ॥
जब बहु मै मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज सँवारै आइ ॥
जब स्यंघ रहै बन माहि, तब लग यहु बन फूलै माँहि ॥

उलटि स्याल सयंघ कूँ खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ ॥
जीत्या डूबै हास्या तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै ॥
दास कबीर कहै समझाइ, केवल राम रहै ल्यौ आइ ॥३४९॥

शब्दार्थ—सरै = पूर्ण होना।

अर्थ—ऐ मन, इस प्रकार से ज्ञान का विचार कर प्रभु का स्मरण क्यो नही करते हो ? प्रभु दुखी के नाशकर्त्ता है। जव तक मै, मेरी का अहभाव है तब तक भी कार्य पूर्ण नही होगा। जब यह मै मेरी मिट जाती है तब स्वय प्रभु आकर कार्य सम्हाल देते है। जब तक तुम्हारे मन वन मे अहकार का सिह है तब तक इस मन वन मे प्रफुल्लता नही आती है। जब प्रभु भक्ति का सियार उलट कर अहकार के सिह को खा जाता है तब वन मे असली प्रसन्नता के फूल फूलते है।

ससार मे जो अपने को जीतने वाला समझता है वह डूब गया है और हारने वाले को जीता (मुक्त) समझो। गुरु की कृपा से भक्त जीते जी मरता है। वासना मुक्त होता है। दास कबीर समझा कर कहते है कि केवल राम मे ध्यान लगाए रहो।

अंलकार—रूपकातिशयोक्ति

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौ डर बात कहत है, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेक॥
रा करि टोप ममाँ करि बखतर ग्यान रतन करि ताग रे ॥
ऐसै जो अजराइल मारै मस्तकि आवै भाग रे ॥
ऐसी जागी जे को जागै, तो परि देइ सुहाग रे ॥
कहै कबीर जग्या ही चहिये, क्या गृह क्या बैराग रे ॥३५०॥

शब्दार्थ—चोर = काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि। पहरै = ज्ञान पूर्ण सावधाता। बखतर = कवच। ताग = धागा। अजराइल = अजीर्ण। अजर।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि हे जीव, जागो अर्थात् अज्ञान की नीद को छोड़ कर भगवत्प्राप्ति का ज्ञान प्राप्त करो। इस ससार मे काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि चोर है। ये चोर मनुष्य की सत् प्रवृत्तियो की चोरी करते है। उनका नाश करते है। इसलिये प्रत्येक क्षण सावधान होकर पहरे पर रहो। राम के रा का टोप और म का कवच बनाकर ज्ञान रूपी रत्न को धागे मे गूँथकर उसकी रक्षा करो। जिसका भाग्य होता है वही इस प्रकार अजीर्णता को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति इस प्रकार जागता है उसे प्रभु भाग्यशाली बनाते है।

ज्ञान में जागरण महत्त्वपूर्ण है। इस जागरण की प्राप्ति होने पर साधक घर मे रहता है या विरागी होकर जगल जाता है। इससे कुछ फर्क नही पड़ता है।

अंलकार—ज्ञान रतन मे रूपक

जागहु रे नर सोवहु कहा, जम बटपारै रूँधे पहा ॥टेक॥
जागि चेति कछू करौ उपाई, मोटा बैरी है जँमराई ॥
सेत काग आये बन माँहि, अजहूँ रे नर चेतै नाँहि।
कहै कबीर तबै नर जागै, जंम का डंड मूँड मै लागै ॥३५१॥

शब्दार्थ—बटपारै = रहजन। रास्ते मे लूटनेवाला। पहा = पथ। रास्ता। थेति = स्थिति। मोटा = भारी। मजबूत। सेत = श्वेत। सेत काग = सफेद बाल। डड = दड। मूँड = सिर।

अर्थ—ऐ मनुष्य, अज्ञान निद्रा मे क्यो सोए हो ? ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान मे जागो। यम रूपी रहजन ने तुम्हारा रास्ता रोक रखा है। जाग कर कोई उपाय करो। तुम्हारा दुश्मन यमराज मजबूत है। तुम्हारे सारे काले वाल सफेद हो गये। वृद्धावस्था आ गयी। अब मृत्यु करीब है।

तुम्हे अब भी ज्ञान नही हो रहा है।

जान पड़ता है, तुम तभी जागोगे जब यम का डडा तुम्हारे माथे पर लगेगा। सकेत यह है कि मृत्यु के समय का जागरण व्यर्थ होगा।

जाग्या रे नर नीद नसाई, चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥
सोवत सोवत बहुत दिन बीते, जन जाग्या तसकर गये रीते॥
जन जागे का ऐसहि नाँण, बिष से लागे वेद पुराँण।
कहै कबीर अब सोवौ नाँहि, राम रतन पाया घट माँहि ॥३५२॥

शब्दार्थ—च्यतामणि = एक मणि जो कामनाओ की पूर्ति का साधन है। रीते = खाली। नॉण = ज्ञान।

अर्थ—ऐ मनुष्य, नीद छोड़ जागो। तुम्हे गुरु कृपा से ज्ञान प्राप्त हो गया है। चित्त मे प्रभु की चेतना पैदा हो गयी है। सोते-सोते बहुत दिन बीत गये। किंतु जागने के बाद विषय रूपी तस्कर व्यर्थ हो गये। उन तस्करो को कुछ हाथ नही लगा। वे खाली हाथ लौट गए। ज्ञान प्राप्त होने पर वेद पुराण आदि विष से लगते है अर्थात् व्यर्थ हो जाते है। सत कबीर कहते है कि अब सोना नही चाहिए। राम रूपी रत्न इस शरीर मे प्राप्त हो गया है।

संतनि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ॥टेक॥
या जंगल मै पाँचौ मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा।
पाराधीपनौं जे साधै कोई अध खाधा सा राखै सोई॥
कहै कबीर जो पंचौ मारै, आप तिरै और कूँ तारै ॥३५३॥

शब्दार्थ—अहेरा = शिकार। लाधा = लब्ध। प्राप्त किया। सबति = सपूर्ण। खाधा = खाया। पाँचो मृगा =- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर।

अर्थ—सतो ने एक शिकार प्राप्त किया है। शिकारी सत एक शिकार कर रहे है। यह शिकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर रूपी उन मृगो का है जो मनुष्य के आत्मिक ज्ञान को नष्ट कर रहे थे। मनुष्य इनके अधीन हो गया था। जो इनके अधीन रहता है इन्हे ये मृग आधा खा जाते है।

किंतु जो भक्त इन पाचो मृगो को मार डालते है वे स्वय तो मुक्त होते ही है दूसरो को भी मुक्त करते है।

हरि को बिलोवनो बिलोइ मेरी माई;
ऐसैं बिलोइ जैसे तत न जाइ ॥टेक॥
तन करि मटकी मननि बिलोइ, ता मटकी मै पवन समोइ॥
इला प्यंगुला सुषमन नारी, बेगि बिलोइ ठाढ़ी छलिहारी॥
कहै कबीर गुजरी बैराँनी, मटकी फूटी जोति समानी ॥३५४॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि ऐ मेरी जीवात्मा माता, भगवान का दूध मथो। भगवन्नाम का स्मरण करो। ससार मे इस प्रकार जीओ जिससे तत्त्व का नाश न हो।

शरीर को मटकी बना कर मन को मथो। इस शरीर मटकी मे प्राण वायु को समेटो। इडा, पिगला और सुषुम्ना नारियाँ इन्हे मथे। जल्दी मथो। परमतत्त्व का मक्खन प्राप्त करने के लिये जीवात्मा तैयार है।

सत कबीर कहते है कि जीवात्मा गूजरी (गूजर की स्त्री) इस मथन मे इतनी लीन हो गयी कि शरीर को भूल गयी। शरीर घट (मटकी) टूट गया और उसकी ज्योति एक व्यापक ज्योति मे मिल गयी। व्यष्टि का समष्टि मे पर्यावसान हो गया।

अलंकार—साग रूपक

आसण पवन किये दिढ़ रहु रे; मन का मैल छाड़ि दे बौरे ।।टेक।।
क्या सींगी मुद्रा चमकाये, क्या विभूति सब अंगि लगाये।
सो हिंदू सो मुसलमाँन, जिसका दुरस रहै ईमाँन ।।
सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियाँन, काजी सो जानै रहिमाँन।
कहै कबीर कछू आँन न कीजै, राम नाम जपि लाहा दीजै ।।३५५।।

अर्थ— सत कबीर योगियो की ओर सकेत करते हुए कहते है कि आसन (योग साधना मे बैठने की मुद्राओ) और पवन (पच प्राण) को दृढ रखो। मन से विकारो को दूर करो। श्रृगी और मुद्रा चमकाने से क्या होता है ? अर्थात् श्रृगी नाद करने और कानो मे कुडल पहनने से क्या होता है ? इस प्रकार शरीर मे भस्म लगाना भी व्यर्थ है। असली है मन को निर्विकार करना। वही असली हिंदू और मुसलमान है जिसका ईमान ठीक है। ब्राह्मण वह है जो ज्ञान की बात करता है। काजी वह है जो रहमदिल है।

सत कबीर कहते है कि और कुछ करने की जरूरत नही है। केवल राम नाम जप कर लाभ लीजिए।

अलंकार—वक्रोक्ति

तायै कहिये लोकोचार; वेद कतेब कथैं ब्यौहार ।।टेक।।
जारि बारि करि आवै देहा, मूवाँ पीछै प्रीति सनेहा ।।
जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूवाँ पित्र ले घालै गंगा ।।
जीवत पित्र कूँ अन न ख्वावै, मूँवाँ पाछैं प्यंड भरावै ।।
जीवत पित्र कूँ बोलै अपराध, मूँवाँ पीछे देहि सराध ।।
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कउवा खाइ पित्र क्यूँ पावै ।।३५६।।

अर्थ—असली है लोकाचार। वेद और कुरान भी इस लाकाचार के व्यवहार का कथन करते है। इस शरीर को जलाने के बाद या मृत्यु के बाद प्रीति और स्नेह व्यर्थ है। जीवित पितरो को तो डडा मारते है और मरने पर गगा ले जाते है। जीवित पितर को अन्न नही खिलाते है और मरने पर पिंड देते है। जीवित पितर को अपराधी बोलते है और मरने पर श्राद्ध करते है। सत कबीर कहते है कि आश्चर्य यह है कि कौओ का खाया अन्न पितर कैसे प्राप्त करेगे ?

बाप राम सुनि बीनती मोरी, तुम्ह सूँ प्रगट लोगन सूँ चोरी ।।टेक।।
पहलै काम मुगध मति कीया, ता भै कंपै मेरा जीया ।।
राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै ।।
कहै कबीर बाप राम राया, अबहूँ सरनि तुम्हारी आया ।।३५७।।

अर्थ—हे परम पिता राम, मेरी प्रार्थना सुनो। मेरा स्वभाव विचित्र है। मै अपने कर्मो को लोगो से छिपाता हूँ। किंतु तुम्हारे सामने तो सब प्रगट है। स्पष्ट है। पहले काम ने मुझे मुग्ध कर रखा था। उस भय से मेरा मन कॉपता है। हे राजा राम, अब लेखा कर मुझे क्षमा करे। हे राम, तुम पिता हो। कभी तुम्हारी शरण मे आने पर कल्याण हो सकता है। इसलिये मै तुम्हारी शरण मे आया हूँ।

टिप्पणी—यहॉ राम इष्ट देवता है। इष्ट देवता भक्त का सदा हित करते है। इन्हे भाव कुभाव, अनख, आलस मे कैसे भी भजा जा सकता है।

अजहूँ बीच कैसे दरसन तोरा, बिन दरसन मन माँनै क्यूँ मोरा ।।टेक।।
हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजाँनाँ, दुहु मै दोस कहौ किन रामा ।।
तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा, मन बंछित सब पुरवन काजा ।।
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ ।।३५८।।

अर्थ—हे प्रभु, आज भी हमारे तुम्हारे बीच मे भेद बना है। इसलिये मुझे तुम्हारा दर्शन कैसे होगा ? बिना दर्शन के मेरा मन सतुष्ध नही हो रहा है।

या तो मै ही कुसेवक हूँ या तुम्हे मेरी सेवा स्थिति का ज्ञान नही है। दोनो मे किसका दोष है ? हे राम, तुम्ही बताओ।

तुम्हे त्रिभुवन का राजा कहा जाता है। तुम मनोवांछित फल देनेवाले हो। सत कबीर कहते हैं कि हे हरि, मुझे दर्शन दो। हमे अपने पास बुला लो या तुम्ही चले आओ।

क्यूँ लीजै गढ़ बंका आई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई ॥टेक॥
काँम किवाड़ दुख सुख दरवानी, पाप पुंनि दरवाजा।
क्रोध प्रधान लोभ बड़ दुंदर, मन मैंवासी राजा।
स्वाद सनाह टाप ममिता का, कुबधि कमाँण चढ़ाई।
त्रिसना तीर रहे तन भीतरि, सुबधि हाथि नही आई॥
प्रेम पलीता सुरति-नालि करि, गोला ग्यॉन चलाया।
ब्रह्म अग्नि ले दियाँ पलीता, एकै चोट ढहाया॥
सत संतोष लै लरनै लागे, तोरै दस दरवाजा॥
साध संगति अरु गुर की कृपा थै, पकर्‌यौ गढ़ कौ राजा॥
भगवंत भीर सकति सुमरिण की, काटि काल की पासी।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अविनासी॥३५९॥

शब्दार्थ—बका = वक्र। दोवर = दुहरा। तेवड़ = तिहरा। दरवानी = पहरेदारी। दुदर = द्वन्द्ववाला। मैबासी = गढ़पति। सनाह = कवच। सन्नाह। पासी = फॉस। बधन।

अर्थ—इस शरीर रूपी वक्र किले को कैसे जीता जा सकता है ? यह दो ऊँची-ऊँची दीवारो से घिरा है। एक दीवार राग और दूसरी विराग की है। इसमे काम, क्रोध, लोभ की तीन खाइयॉ है। काम का किबाड़ लगा है। सुख और दुख दोनो पहरेदार है। पाप और पुण्य दो दरवाजे है। काम और लोभ दो प्रधान द्वन्द्व है। मन इस गढ़ का राजा है। गढ़पति है। इस राजा मन ने स्वाद का कवच, ममता का शिरस्त्राण (टोप) पहना रखा है। कुबुद्धि का धनुष चढ़ा रखा है।

तृष्णा का तीर शरीर के भीतर है। फलत सुबुद्धि हाथ नही आ रही है। सुरति की नली मे प्रेम का पलीता भरकर ज्ञान का गोला दागा। ब्रह्मज्ञान रूपी आग को पलीते मे देकर एक ही चोट मे पूरे अज्ञान या विषय-वासना के महल को गिरा दिया।

साधुओ की सगति और गुरुदेव की कृपा से किले के राजा मन पर अधिकार कर लिया। फिर तो भगवान् के स्मरण की भीड़ लग गयी। काल का बधन कट गया। भक्त कबीर गढ़ पर चढ़ गये अर्थात् विषयो से ऊपर उठ गये और अविनाशी राज्य की प्राप्ति हुई।

अलंकार—सांग रूपक

रैनि गई मति दिन भी जाइ; भवर उड़े बग बैठे आइ ॥टेक॥
काँचै करवै रहै न पानी, हंस उड्या काया कुमिलॉनी।
थरहर थरहर कंपै जीव, नौं जॉनूँ का करिहै पीव॥
कऊवा उड़ावत मेरी बहियाँ पिरॉनी,
कहै कबीर मेरी कथा सिरॉनी॥३६०॥

अर्थ—रात का अर्थ है जीवन का पूर्वपक्ष। बिना किसी साधना के बीत गया। सारी रात विषय सेवन मे ही लगे रहे। अब जीवन के उत्तर पक्ष अर्थात् वृद्धावस्था भी कही बिना साधना के न बीत जाए। भ्रमर रूप काले केश बगुलो से सफेद हो गये। मतलब कि वृद्धावस्था आ

गयी। कच्चे बर्तन (करवैं) मे पानी नही रह सकता है। वैसे ही कच्चे या साधना रहित मन मे ज्ञान जल नही टिक सकता है। जीवात्मा पक्षी के उड़ जाने से शरीर निष्प्रभ हो गया।

अब हृदय कॉप रहा है। प्रभु प्रिय न जाने क्या करेगा ? क्योकि उससे मिलने की कोई साधना नही की।

सारा जीवन कौआ उड़ाने अर्थात् आशा मे बीता। वॉहो मे दर्द होने लगा है। अद मेरे जीवन की कथा बद हो रही है। मेरा जीवन समाप्त है।

तुलनीय–

अनचिन्ह पिउ कॉपै मन मॉहा।
का मै कहब गहब जब बॉहा।
बारि वयस गौ प्रीति न जानी।
तरुनी भइ मैमत भुलानी।–पदूमावत।

अलंकार–रूपकातिशयोक्ति

काहे कूँ भीति बनाऊँ टाटी; का जाँनूं कहाँ परिहै माटी ।।टेक।।
काहे कूँ मंदिर महल चिणाँऊँ, मुँवाँ पीछै घड़ी एक रहण न पाँऊँ ।।
काहे कूँ छाऊँ ऊँच ऊँचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा ।।
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेती भुँइ लीजै ।।३६१।।

शब्दार्थ– परिहै = (स० परिधा) घेरा। घर। अर्गला। माटी = शरीर। चिर्णाऊँ = दीवार उठाना। मुँवॉ = मृत्यु।

अर्थ–सत कबीर ससारी के ठाट-बाट का विरोध करते हुए कहते है कि मैं परिघा और टाटी क्यो बनाऊँ ? पता नही यह शरीर कहॉ गिरकर नष्ट हो जायगा ? ऊँचे-ऊँचे भवनो के निर्माण से भी क्या फायदा है ? मृत्यु के वाद मनुष्य एक क्षण के लिये भी भवनो मे नही रह सकता है। ऊँचे-ऊँचे महलो को छाना व्यर्थ है। मनुष्य का घर तो उसका तीन हाथ का शरीर है।

सत कवीर कहते है कि ऐ मनुष्य, अहकार मत करो। अधिक जमीन का आग्रह मत करो। अपने शरीर की माप की जगह ही लो।

(राग विलावल)

वार बार हरि का गुण गावै, गुर गमि भेद सहर का पावै ।।टेक।।
आदित करै भगति आरंभ, काया मंदिर मनसा थंम ।।
अखंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज मै पाइ ।।
सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तपै निसतरै ।।
बाँणी रोक्याँ रहै दुबार, मन मतिवाला पीवनहार ।।
मंगलवार ल्यौ माँहीत, पंच लोक की छाडौ रीत ।।
घर छाँडे जिनि बाहरि जाइ, नही तर खरै रिसावै राइ ।।
बुधवार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल मै हरि का वास ।।
गुर गमि दोऊ एक समि करै, ऊरध पंकज थै सूधा धरै।
त्रिसपति बिषिया देह बहाइ, तीनि देव एकै सँगि लाइ ।।
तीनि नदी तहाँ त्रिकुटी माँहि, कुसमल धौवै अहनिसि न्हाँहि ।।

सुक्र सुधा ले इहि ब्रत चढ़े, अह निसि आप आप सूँ लड़े॥
सुरषी पंच राखिये सबै, तो दूजी द्रिष्टि न पैसे कबै॥
थावर थिर करि घट मै सोइ, जोति दीवटी मेल्है जोइ॥
बाहरि भीतरि भया प्रकाश, तहाँ भया सकल करम का नास॥
जब लग घट मै दूजो आँण, तब लग महलि न पावै जाँण॥
रमिता राम सू लागै रंग, कहै कबीर ते निर्मल अंग॥३६२॥

शब्दार्थ—गमि = (स० गम्य) प्राप्त कर। सुरष्या = सुरक्षिता। निसतरै = निस्तार। पैसै = प्रवेश करे। थावर = स्थावर। जोइ = ज्योति। सहर = १ ससार। २ स० सहचर < प्रा० सहयर > हि सहर = आत्माराम। आदित = रविवार। कुसमल = कल्मष। मैल।

अर्थ—बार-बार भगवान का स्मरण करना चाहिए। गुरु को प्राप्त कर ससार या आत्माराम के भेद को प्राप्त करना चाहिए। रविवार को भक्ति का आरभ करे तो काया को मदिर और मनसूतत्त्व को खभा बनाए। यह भक्ति अखड और रात दिन सुरक्षित रहे। अनाहत नाद का वेणु बजाए। इस नेणु मे सहज की वायु हो।

सोमवार को चद्रमा (चद्रानाड़ी) से अमृत झड़ेगा। उसे चखते ही त्रिताप या भव ताप से मुक्ति मिल जायगी। वाणी को दरवाजे पर रोके रहे या मौन साधना करे। मलवाला मन उस वायु का सेवन करता है।

मगलवार को ध्यान मे लीन रहे। पचलोक अर्थात् पॉचो इद्रियो की प्रवृत्तियो को छोड़ दे। घर छोड़ कर कही बाहर नही जाये वरना प्रभु क्रुद्ध हो जायगा।

बुधवार को बुद्धि का प्रकाश करे। हृदय कमल मे प्रभु का निवास स्थान बनाए। गुरु की कृपा प्राप्त कर इडा-पिगड़ा नाड़ियो को बराबर करे। ऊर्ध्वपकज यानी सहस्रार मे ध्यान को स्थित करे।

बृहस्पतिवार को विषयो का नाश करे। तीनो गुणो (तीनो देवो = ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को एक साथ कर ले। इडा पिगला, सुषुम्ना इन तीन नाड़ियो की नदी त्रिकुटी मे है। यहॉ कर्ममैल को धोए और रात दिन स्नान करे। शुक्रवार को सुधा लेकर व्रत करे। रात दिन अपने अहकार से युद्ध करता रहे। पॉचो इद्रियो को सुरक्षित किसी दूसरी दृष्टि को कभी प्रवेश न करने दे। शनिवार को स्थिर कर शरीर (घट) मे ही सो जाय। ज्योति का दिया जलाये। इससे बाहर भीतर प्रकाश हो। इस प्रकाश से कर्मो का नाश हो जाता है। जब इस शरीर दूसरा है अर्थात् विषयो की उपस्थिति है तब तक प्रभु के महल का ज्ञान नही हो सकता है।

सत कबीर कहते है कि जिनके सारे अग पवित्र हो गये है वे रमण करने वाले राम के अनुराग के अधिकारी है।

राम भजै सो जाँनिये, जाके आतुर नाँहीं।
सत संतोष लीयैं रहै, धीरज मन माँहीं॥टेक॥
जन कौ काँम क्रोध ब्यापै नहीं, त्रिष्णाँ न जरावै।
प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुंण गावै॥
जन कौ पर निंद्या भावै नही, अरु असति न भाषै।
काल कलपनाँ मेटि करि, चरनूँ चित राखै॥
जन सम द्रिष्टि सीतल सदा, दुबिधा नही आनैं॥
कहुँ कबीर ता दास सूँ मेरा मन मानै॥३६३॥

अर्थ—उस व्यक्ति को राम का उपासक (भजन करने वाला) समझिए जिसमे किसी चीज की प्राप्ति की आतुरता नही है। सतो के साथ सतुष्ट रहे। मन मे धैर्य रखे। काम, क्रोध आदि

से अप्रभावित रहे। तृष्णा उसे परेशान न करे। सदा प्रफुल्ल चित्त रह कर भगवान का भजन करता हो। काल की कल्पना को समाप्त कर प्रभु चरणो मे ध्यान लगाए रहे। सभी लोगो के प्रति सम शीतल दृष्टि रखे अर्थात् किसी पर क्रोध न करे। मन मे किसी प्रकार की दुविधा न लाये।

मत कवीर कहते है कि ऐसे भक्त के प्रति मेरा मन प्रसन्न होता है।

माधौ सो मिलै जासौ मिलि रहियै,
ता कारनि बक बहु दुख सहियै ॥टेक॥
छत्रधार देखत ढहि जाइ, अधिक गरब थै खाक मिलाइ ॥
अगम अगोचर लखी न जाइ, जहाँ का सहज फिरि तहाँ समाइ ॥
कहै कबीर झूठे अभिमान, सो हम सो तुम्ह एक समान ॥३६४॥

अर्थ—हे भगवान्, वह मिले जिसका मिलन स्थायी हो। उसकी प्राप्ति व्यर्थ है जो दुख का कारण बनता है। क्षत्रधारण करने वाले राजा देखते-देखते समाप्त हो जाते है। उनका ज्यादा अहकार खाक मे मिल जाता है। अगम-अगोचर प्रभु देखे नही जा सकते है। सहज तत्त्व जहाँ से पैदा होता है वही समाता है। सभी समान है। अलगाव या छोटे-बड़े का अभिमान व्यर्थ है।

अहो गोब्यंद तुम्हारा जोर, काजी बकिवा हस्ती तोर ॥टेक॥
बाँधि भुजा भलै करि डारयो, हस्ती कोपि मूँड मै मारयो ॥
भाग्यौ हस्ती चीसाँ मारी, वा मूरति की मैं बलिहारी ॥
महावत तोकूँ मारौ साँटी, इसहि मराँऊँ घालौ काटी ॥
हस्ती न तोरै धरै धियाँन, वाकै हिरदै बसै भगवाँन ॥
कहा अपराध संत हौ कीन्हाँ, बाँधि पोट कुंजर कूँ दीन्हाँ ॥
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहूँ न सूझै काजी अंधरै ॥
तीनि बेर पतियारा लीन्हाँ, मन कठोर अजहूँ न पतीनाँ ॥
कहै कबीर हमारै गोब्यंद, चौथे पद ले जन का ज्यंद ॥३६५॥

शब्दार्थ—चीसॉ = चीख। पोट = गॅठरी। कुजर = हाथी। पतियारा = परीक्षण। पतीनॉ = विश्वास। चौथेपद = तुरीयावस्था। ज्यद = जीव। सॉटी = डडा।

अर्थ—हे प्रभु, तुम्हारी ही शक्ति है। काजी ने तो भक्त को तोड़ देने का बकवास किया, आदेश दिया। मेरी भुजाएँ बॉध कर क्रुद्ध हाथी के सामने डाला गया। उसके क्रोध के लिये उसके माथेमे मारा। किंतु वह हाथी चीख कर भाग गया। यह प्रभुमूर्तिकी विशेषता है।

काजी ने कहा—हे महावत, तुझे डडे से मारूगा। इस हाथी को मार कर काट डालता हूँ। यह हाथी कवीर को मारता (तोड़) नही है। ध्यान कर रहा है। हाथी के हृदय मे भी भगवान का निवास है। प्रत्येक जीव मे जीव का निवास है। हाथी के भीतर के प्रभु ने कबीर स्वामी को पहचान लिया।

लोगो ने कहा—सत ने कौन सा अपराध किया है कि इसे गॅठरी बना कर हाथी के सामने दिया है। हाथी तो उस सत गॅठरी की वदना कर रहा है। इस पर भी इस अधे काजी को नही दिखाई दे रहा है।

नीन वार परीक्षा ली। किंतु कठोर मन को आज भी विश्वास नही हुआ है। सत कवीर कहते है कि हे प्रभु, इस जीवन को चौथा पद तुरीयावस्था या मुक्ति पद दो।

कुसल खेम अरु सही सलाँमति, ए दोइ काकौ दीन्हाँ रे।
आवत जाँत दुहूँवा लूटे, सर्व तत हरि लीन्हाँ रे ॥टेक॥
माया मोह मद मै पीया, मुगध कहै यहु मेरी रे।

दिवस चारि भलै मन रंजै, यहु नाही किस केरी रे॥
सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीराँ पैदा कीन्हाँ रे॥
कोटिक भये कहाँ लूँ बरनूँ, सबनि पयानाँ दीन्हाँ रे।
धरती पवन अकास जाइगा, चंद जाइगा सूरा रे।
हम नाँही तुम्ह नाँही रे भाई, रहे राम भरपूरा रे॥
कुसलहि कुसल करत जग खीना, पड़े काल भौ पासी।
कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहे राम अबिनासी॥३६६॥

शब्दार्थ–खेम = क्षेम। कल्याण। मुगध = मूढ। मीरॉ = अमीर। मुखिया। पयानॉ = प्रयाण। खीना = क्षीण। नष्ट। भौ = भव। पासी = पाश।

अर्थ–प्रभु ने कुशल क्षेम और सही सलामत से रहने का सौभाग्य किसे दिया है ? सभी लोग ससार मे आते जाते लुटते रहते है। सारे तत्त्व प्रभु के अधीन है। वे उनके हर्त्ता भी है। मायामोह मे पड़ा और मद पीया व्यक्ति मूढ है जो माया के विषयोको अपना समझता है।

चार दिनो तक (उम्र की चार अवस्थाओ तक) मनुष्य चाहे जितना आनन्द कर ले। किंतु यह ससार या शरीर किसी का नही है। सुर, नर, मुनि, पीर, औलिया, मीरा आदि सब पैदा हुए है। करोड़ो हुए। कहॉ तक कहा जाय ? सब ने ससार से प्रयाण किया। चले गये।

मनुष्यादि तो गये। यह धरती, आकाश, हवा, चद्रमा, सूर्य सभी चले जायॅगे। हे भाई, न हम रहेगे। न तुम रहोगे। केवल सर्वत्र राम रहेगे। अपना अपना कल्याण सोचने मे सारा ससार नष्ट हो रहा है। सभी काल देवता के फदे मे फसे है। सबको काल खा जायगा। सारा ससार नष्ट हो जायगा। अविनाशी केवल राम है।

मन बनजारा जागि न सोई, लाहे कारनि मूल न खोई॥टेक॥
लाहा देखि कहा गरबाँना, गरब न कीजै मूरखि अयाँनाँ।
जिन धन संच्या सो पछिताँनाँ, साथी चलि गये हम भी जाँनाँ॥
निसि अँधियारी जागहु बंदे, छिटकन लागे सबही संधे॥
किसका बंधू किसकी जोई, चल्या अकेला संगि न कोई॥
ढरि गए मंदिर टूटे वंसा, सूके सरबर उड़ि गये हंसा॥
पंच पदारथ भरिहै खेहा, जरि बरि जायगी कंचन देहा॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई, राम नाम बिन और न कोई॥३६७॥

शब्दार्थ–लाहे = लाभ। अयॉनॉ = अज्ञानी। मूर्ख। सधे = सधि। साथी। ज़ोई = स्त्री। वसा = वश। सूके = सूखे। खेहा = धूल।

अर्थ–ऐ मन वनजारे (वाणिज्यकारा), सोना छोड़ कर जागो। लाभ के चक्कर मे भगवत्‌तत्त्व मूलधन का नाश मत करो। ऐ अज्ञानी जीव, लाभ देखकर गर्व मत करो। जिन्होने धन का सचय किया वे भी चले गये। उन्हे पछताना पड़ा। साथी चले गये। हमे भी जाना होगा।

अज्ञान की ॲधेरी रात बीत रही है। हे भाई जागो। सभी सधियो (साथ के लोग) अलग हो रहे है। भाई, स्त्री किसी के नही है। कोई साथी नही है। सबको अकेला जाना है। भवन गिर गये। वश टूट गये। सरोवर (तालाब) अर्थात् जीवन रूप जल सूख गया। आत्मा-हस चला गया। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार इन पॉचो पदार्थो की धूल उड़ रही है। सोने सा शरीर जल रहा है।

सत कबीर कहते है कि ऐ लोगो, सुनो। एक राम नाम शाश्वत है और सब नाश होने वाले है।

अलंकार—'वश' मे श्लेष

मन पतंग चेते नहीं अंजुरी समाँन।
बिषिया लागि बिगूचिये, दाझिये निदाँन।।टेक।।
काहे नैन अनिदिये, सूझत नही आगि।
जनम अमोलिक खोइयै, साँपनि संगि लागि।।
कहै कबीर चित चंचला, गुर ग्याँन कह्यौ समझाइ।
भगति हीन न जरई जरै, भावै तहाँ जाइ।।३६८।।

अर्थ—हे मन पतग, अभी तक चेते नही। जीवन अजलि मे रखे जल के समान क्षण मे ही नष्ट हो जानेवाला है। विषयो के चक्कर मे स्वय को व्यर्थ नष्ट करते रहे। अत मे जलना होगा। आँखो मे क्यो नीद या आनद भरे हो ? तुम्हे आग नही दीखती है? अनमोल जन्म को क्यो खो रहे हो ? माया सर्पिनी के साथ जुड़े हो।

सत कबीर कहते है कि चित्त चचल है। गुरुदेव के ज्ञान मे समाहित होकर कल्याण होगा। भक्ति के बिना ससार दुख दूर नही होगा। चाहे जहाँ भी जाओ।

अलंकार—मन पतग मे रूपक

स्वादि पतंग जरै जरि जाइ, अनहद सौ मेरो, चित न रहाइ।।टेक।।
माया के मदि चेति न देख्या, दुविध्या माँहि एक नही पेख्या।
भेष अनेक किया बहु कीन्हाँ अकल पुरिष एक नहीं चीन्हाँ।।
केते एक मूये मरेहिगे केते, केतेक मुगध अजहूँ नही चेते।
तंत मंत सब ओषद माया, केवल राम कबीर दिढाया।।३६९।।

अर्थ—स्वाद के कारण मन फतिगा जलता रहता है। किंतु हद से परे अनहद तत्त्व से मन नही लगाता है। माया मद के चक्कर मे चेतन होकर नही देखा। विषयो के द्वैत मे एक भी सत्य नही देखा गया। कितने मरे। कितने ही मरेगे। किंतु कितने ही मूर्ख को आज भी ज्ञान नही हुआ। तत्र, मत्र, औषध आदि सब माया है। केवल राम से ही दृढ प्रेम करना चाहिए।

एक सुहागनि जगत पियारी, सकल जीव जत की नारी।।टेक।।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै।
रखवाले का होइ बिनास, उतहि नरक इत भोग बिलास।।
सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि बिख बिलसै संसार।।
पीछै लागी फिरै पचि हारी, संत की ठठकी फिरै बिचारी।।
संत भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदूँ मार्यौ डरै।
साषत कै यहु प्यंड पराइनि, हँमारी द्रिष्टि परै जैसै डाँइनि।।
अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरुदेव।
कहै कबीर इब बाहरि परी, संसारी कै अचलि टिरी।।३७०।।

शब्दार्थ—सुहागनि = माया। प्यडपराइनि = पीछे पड़ना। पचिहारी = परिश्रम करने वाली। भजै = भागता है। भेद = रहस्य।

अर्थ—माया सौभाग्यवती स्त्री है जो सपूर्ण ससार को प्रिय है। सभी जीव-जतु की स्त्री है। जीव उसका पति है। इस जीव की मृत्यु पर माया स्त्री बिल्कुल नही रोती है। क्योकि माया का रखवाला कोई और हो जाता है। जो माया के साथ विलास करता है उसे मरने के बाद नरक की प्राप्ति होती है।

माया सुदरी के गले मे विषयो की माला है। ससार के लोग इस माला से विलास करते है। किंतु यह सतो के लिये विष जैसी है। अत्यत परिश्रमी माया सबके पीछे लगी रहती है। किंतु

सतो को देख कर ठिठक जाती है। सत उससे भागते है। किंतु वह पीछे पड़ जाती है। माया सद्गुरु के शब्दो की मार से डरती है। वह शाक्तो के पीछे पड़ जाती है। हमारी (सत कबीर) दृष्टि मे वह डायन है।

गुरुदेव की कृपा से माया का रहस्य समझ मे आ गया है। अब यह बाहर हो गयी है। केवल ससारी लोगो के यहाँ अचल होकर पड़ी है।

अलंकार—'हार' मे रूपकातिशयोक्ति

एक सुहागनि जगतपियारी मे विरोधाभास

परोसनि माँगै कंत हमारा, पीव क्यूँ बौरी मिलहि उधारा ।।टेक।।
मासा माँगै रती न देऊँ, घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊँ।
राखि परोसनि लरिका मोरा, जे कछु पाऊँ सु आधा तोरा ।।
बन बन ढूँढौ नैन भरि जोऊँ, पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊँ।
कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागनि कंत पियारा ।।३७१।।

अर्थ—विषयो मे फँसी परोसिन बिना विषय छोड़े मुझसे मेरा प्रिय माँगती है। भगवत्सत्ता मे शामिल होना चाहती है। प्रिय कोई पदार्थ नही कि उधार दिया जा सके। यह अनुभूति है। अनुभूति निजी होती है। इसे उधार कैसे दिया जा सकता है? मासा (एक तोल) माँगती है। किंतु रत्ती (एक तौल) भर भी न दे सकूँगा। मेरा प्रेम अगर थोड़ा भी घट गया तो किससे लूगा?

ऐ पड़ोसिन, मेरे लड़के को रखो। अर्थात् साधना भक्ति से उत्पन्न कोई फल हो तो उसे मै तुम्हे देने को तैयार हूँ। साधना की प्राप्तियो मे सबका हिस्सा है। सहभागिता है। दो साधना आधा आधा लेगे।

मै प्रिय की खोज मे वन-वन घूमता हूँ। न मिलने पर रोता हूँ। मेरे लिये यह सहज है। विरला साधक प्रभु को प्रिय होता है।

अलंकार—बक्रोक्ति । गूढोक्ति

राम चरन जाकै रिदै बसत है, ता जंन कौ मन क्यूँ डोलै ।।
मानौ आठ सिध्य नव निधि ताकै हरषि हरषि जस बोलै ।।टेक।।
जहाँ जहाँ जाई तहाँ सच पावै, माया ताहि न झोलै।
बारंबार बरजि विषिया तै, लै नर जौ मन तोलै ।।
ऐसी जे उपजैं या जीय कै, कुटिल गाँठि सब खोलै।
कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै राम कै बोलै ।।३७२।।

अर्थ—जिसके हृदय मे प्रभु चरणो का निवास है वह व्यक्ति कभी चचल चित्त नही होगा। आठो सिद्धियाँ और नवो निधियाँ प्रसन्न होकर उसके यश का बखान करती है। जहाँ-जहाँ जाता है वही-वही सत्य की प्राप्ति होती है। उसे माया नही डिगाती है। वह बार-बार मन को विषयो से अलग रखता है। अपने मन को तौल कर अर्थात् वश मे रखता है। जिसके मन मे प्रभु की विशिष्ट भक्ति उत्पन्न हो जाती है वह विषयो की कुटिल गाँठे खोल देता है।

सत कबीर कहते है, जब मन मे परिचय हो गया तो राम की उपस्थिति मे कुछ बोलते नही बनता है।

जंगल मै का सोवनाँ औघट है घाटा।
स्यंघ बाघ गज प्रजलै, अरु लंबी बाटा ।।टेक।।
निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदांनी लूटै।
सूर धीर साचै मते, सोई जन छूटै ।।

घालि घालि मन माहरा, पुर पटण गहिये।
मिलिये त्रिभुवन नाथ सूँ निरभे होइ रहिये॥
अमर नही संसार मे, बिनसै नरदेही।
कहै कबीर बेसास सूँ, भजि राम सनेही॥३७३॥

अर्थ– साधक की जिदगी जगल मे सोने और औघट घाट मे पहुँचने जैसा है। यह ऐसा जगल है जिसमे ज्ञान की दावाग्नि मे विषय के सिह, वाघ जलते है। इसका रास्ता लम्बा है। रान दिन रास्ते मे यम लूटता है। जो सच्चे धीर और वीर है वे छूट पाते है।

ऐ मेरे मन, चलो। चलकर दूसरे देश को ग्रहण करो। वहाँ त्रिभुवननाथ प्रभु से मिलकर निर्भय होकर रहो। वहाँ विपयो का भय नही है। ससार मे सभी नर देह नश्वर है। यहाँ कोई अमर नही है। सत कबीर विश्वासपूर्वक कहने है कि स्नेही राम का भजन करो।

(राग ललित)

राम ऐसी ही जाँनि जपी नरहरी, माधव मदसूदन बनवारी॥टेक॥
अनुदिन ग्यान कथै घरियार, धूवाँ धोलह रहै संसार।
जैसे नदी नाव करि संग, ऐसे ही मात पिता सुत अंग॥
सबहि नल दुल मलफलकीर, जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर।
जिभ्या राम नाम अभ्यास, कहै कबीर तजि गरभ बास॥३७४॥

अर्थ–नरहरि, माधव, मधुसूदन, वनवारी को राम समझ कर जपता हूँ। घड़ियाल घटा नित्य ज्ञान के रूप मे वजता है। तव ससार धुएँ का भवन जान पड़ता है। जैसे नदी की नाव के मुसाफिरो का क्षणिक साथ होता है वैसे ही ससार मे माता-पिता, पुत्रादि सवध का साथ है।

ससार के सभी फल सुग्गे के द्वारा खाये जाते है वैसे ही यह शरीर यम खाता है। यह शरीर जल के वुलवुले सा नाशवान् है।

जीभ मे राम नाम का अभ्यास करो। सत कबीर कहते है कि जीभ से राम नाम का उच्चारण करो तभी गर्भवास (आवागमन) से मुक्ति मिल सकेगी।

रसनाँ राम गुन रसि रस पीजै; गुन अतीत निरमौलिक लीजै॥टेक॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई, जा सुमिरन सुधि बुधि मति पाई।
विष तजि राम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे॥
ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर बूड़े बकवादी॥३७५॥

अर्थ–ऐ जीभ, केवल राम नाम का रस पीओ। राम राम जपो। अमूल्य गुणातीत का सेवन करो। निर्गुण ब्रह्म की वात करो। इसके स्मरण से उच्चस्तरी ज्ञान की प्राप्ति होगी। विषय विष को छोड़ कर राम नाम जपो। विषयो के लालच मे क्यो डूव रहे हो ?

जिन्होंने राम नाम का स्वाद लिया वे सव मुक्त हो गये और वकवास करनेवाले सभी डूव गये।

निबरक सुत ल्यो कोरा राम मोहि मारि, कलि विष बोरा॥टेक॥
उन देस जाइवा रे बाबू, देखिबो रे लोग किन किन खैबू लो।
उड़ि कागा रे उन देस जाइबा, जासूँ मेरा मन चित लागा लो॥
हाट ढूँढि ले, पटनपुर ढूँढि ले, नही गाँव के गोरा लो॥
जल बिन हंस निसह बिन रबू कबीर कौ स्वामी पाइ परिकैं मनैबू लौ॥३७६॥

शब्दार्थ—निबरक = (स० निर्वाक्) गूँगा। कोरा = (स० क्रोड) गोद। मरा = मेरा। पटनपुर = पत्तनपुर। गॉव। नगर। गोरा = कब्र। निसह = निशा। रात्रि। रबू = रवि।

अर्थ—हे प्रभु, मुझ गूँगे अज्ञानी पुत्र को गोद मे उठा लो। कलि ने मुझे मार कर विषय विष मे डुबो दिया है। हे महाशयो, मुझे उस देश, प्रेम के देश मे जाना है और देखना है कि लोग वहाँ क्या क्या खाते है ? ऐ आत्मा काग, उड़कर उस देश मे चलो जहाँ मेरा मन लगा है।

गॉव तो कब्र है। इसे छोड़ो। हाट और नगर मे प्रभु को ढूँढ़ो। जैसे पानी के बिना हस, रवि के बिना रात्रि बेकार है वैसे ही भगवान् बिना भक्त निरर्थक है। मै (कबीर) स्वामी को पॉव पड़कर मनाऊँगा।

(राग बसंत)

सो जोगी जाकै सहज भाइ; अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद काम क्रोध विषया न बाद।
मन मुद्रा जाकै गुर को ग्याँन, त्रिकुट कोट मै धरत ध्यान ॥
मनाही करन कौ करै सनाँन, गुर को सबद ले ले धरै धियाँन।
काया कासी खोजे बास, तहाँ जोति सरूप भयौ परकास ॥
ग्याँन मेषली सहज भाइ बंक नालि कौ रस खाइ।
जोग मूल कौ देइ बंद कहि कबीर थीर होइ कंद ॥३७७॥

शब्दार्थ—भाइ = भाव। अकल = अखड। बाद = विवाद। मेषली = मेखला। धीर = स्थिर।

अर्थ—वह योगी है जो भगवान् की भक्ति मे सहज भाव से रहता है। अखड प्रेम की भीख मॉग कर खाता है। अर्थात् अखड प्रेम मे रहता है। अनाहत नाद, शृगीनाद सुनता है। काम, क्रोध तथा विषयो मे विवाद नही करता है। गुरु का ज्ञान ही जिसके मन की मुद्रा है। त्रिकुटी मे ध्यान लगाता है। मन मे ही स्नान करता है। गुरुदेव के शब्द का ध्यान करता है। काशी को शरीर मे ही खोजता है। वही प्रभु ज्योति का प्रकाश करता है। ज्ञान की मेखला धारण करता है। बक नाल से स्रवित अमृतरस का पान करता है। मूलाधार को बॉध देता है। सत कबीर कहते है कि उस का वीर्य (यहॉ कद का अर्थ वीर्य जान पड़ता है) स्थिर रहता है।

अलंकार—रूपक

मेरौ हार हिराँनौ मै लजाऊँ; सास दुरासनि पीव डराऊँ ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरौ राम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।
रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि लागे मोति ॥
पंच सखी मिलिहैं सुजाँन, चलहु त जइये त्रिवेणी न्हान।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, नाँ जानूँ हार किनहूँ लीन्ह ॥
हार हिराँनौ जन बिमल कीन्ह, मेरो आहि परोसनि हार लीन्ह।
तीनि लोक की जाँनै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥३७८॥

शब्दार्थ—हार = ज्ञान। सास = चेतनात्मा। दुरासनि = कठोर। प्रवालै = मूँगा। पच सखी = ज्ञानेद्रियॉ। त्रिवेणी = त्रिगुण। तिलक = इद्रिय सुख। परोसनि = विषय। मान्यक = माणिक। बिमल = दुखी।

अर्थ—गले मे लिपटे ज्ञान रूपी जिस हार से मानव जीवन चमकता है वह मुझ से खो गया। चेतनात्मा सास मुझे क्या कहेगी ? मै प्रिय से भी डरता हूँ। ज्ञान को प्रिय प्रभु कभी स्वीकार नही करेगा। मेरी ज्ञान माला राम नाम के धागे मे गुँथी है। बीच बीच मे साधना का माणिक्य, परम ज्योति का रत्न और मूँगे लगे हैं। उनके बीच मे परम प्रकाश के मोती है। पाँच ज्ञानेद्रिय सखियो के साथ विषय के त्रिगुण मे स्नान करने चली। वहाँ नहा धोकर विषय तिलक को माथे पर चढ़ाया। फल स्वरूप ज्ञान हार खो गया। विषय ने ज्ञान हर लिया (विपय मोर हरि लीन्हौ ज्ञाना-तुलसी)। हार के खो जाने से भक्त दुखी (विमल) हो गया। मेरी विषम पड़ोसिन ने मेरा हार चुरा लिया है। सत कबीर कहते है कि हे प्रभु आप तीनो लोको की पीड़ा जानते है। आप सभी देवो मे श्रेष्ठ है। कृपा कर मेरा कष्ट दूर करे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

तुलनीय— सखी एक तै खेल न जाना। भइ अचेति मनि हार गवाँना।
कँवल डार गहि भै बेकरारा। कासौ पुकारी आपन हारा।
कत खेलै आइउँ एहि सॉथा। हार गँवाइ चलिउँलेइ होथा।
घर पैठत पूँछब यह हारू। कौन उतर पाउवि पैसारू।—पद्मावत।

नाही छाड़ौ बाबा राम नाम; मोहिं और पढ़न सूँ कौन काम।।टेक।।
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीये बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ाव आल जाल, मेरी पाटी मै लिखि दे श्री गोपाल।।
तब सेनौं मुरकौं कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ।
तू राम कहत की छाड़ि बाँनि, बेगि छुड़ाऊँ मेरौ कह्यौ माँनि।।
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार।
बाँधि मारि भावै देह जारि, जे हूँ राम छाड़ौ तौ गुरहि गार।।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ तोहि राखनहारौ मोहि बताइ।
खभा तै प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मार्‌यो नखे विदारि।।
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यँध प्रकट कियौ भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहे न पार, प्रहिलाद ऊबार्‌यो अनेक बार।।३७९।।

शब्दार्थ—साल = पाठशाला। आल जाल = व्यर्थ। पाटी = पट्टी। पटरी। सेनौं मुरकौं = प्रह्लाद के पिता के दो सिपाहियो के नाम। बाँनि =- आदत। गिलारि = १ नृसिह। २ गरज कर।

अर्थ— प्रह्लाद कहता है कि हे पिता, मै राम नाम नही छोड़ूँगा। मुझे और कुछ पढ़ने से कोई मतलब नही है।

प्रह्लाद जब पाठशाला पढ़ने गये तो उनके साथ बहुत से बालमित्र भी थे। प्रह्लाद ने कहा, मुझे व्यर्थ चीजे न पढ़ा कर मेरी पटिया पर केवल श्री गोपाल लिख दो। दोनो सिपाहियो ने राजा हिरण्य कशिपु को सूचना दी। प्रह्लाद बाँधकर लाया गया।

पिता ने कहा— प्रह्लाद, तुम राम कहना छोड़ दो। मेरी बाते मानो। तुम को तुरन्त छोड़ दूँगा।

प्रह्लाद ने कहा— मुझे बार-बार क्यो डराते हो ? जिस प्रभु ने जल थल पहाड़ पर प्रहार किया है वे ही मेरे रक्षक है। चाहे मारो, जलाओ। किंतु यह सब देह के साथ होगा। आत्मा तो मुक्त है। मै राम नाम छोड़ूँ तो मेरे गुरु को गाली पड़ेगी।
इस पर पिता ने क्रोध मे तलवार निकाल कर कहा, अब तुम्हे बचाने वाला कौन है ?

नृसिह भगवान् गरज कर खभे से प्रगटे (जिस खभे से प्रह्लाद बाँधा गया था)। उन्होने

हिरण्य कशिपु को नखो से विदीर्ण कर दिया।

देवाधिदेव नृसिह प्रभु ने भक्ति तत्त्व का प्रकाश किया। कोई उनकी शक्ति का पता नही पा सकता है। उन्होने प्रह्लाद को अनेक बार मुक्त किया है।

अलकांर—लहै न पार सबधातिशयोक्ति-

हरि कौ नाउँ तत त्रिलोक सार; लौलीन भये जे उतरे पार ।।टेक।।
इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार ।।
इक मुनियर इक मनहूँ लीन, ऐसै होत होत जग जात खीन ।।
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव।
इक कुलदेव्यॉं कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिविध ताप ।।
अंनहि छॉंडि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदैं सूध।
कहै कबीर ऐसैं बिचारि, राम बिना को उतरे पार ।।३८०।।

शब्दार्थ—जगम = एक शैव सप्रदाय जिसका प्रचार मुख्यत भारत के दक्षिणी भाग मे है। ये शिवोपासक लिग धारण करते है।

अर्थ—ईश्वर का नाम तत्त्व तीनो लोको का मूल है। सार तत्त्व है। जो इसमे लवलीन हुए वे ससार सागर को पार कर जाते है। किंतु ससार मे अनेक प्रयत्न करते है।

दाक्षिणात्य (कर्णाटक प्रदेश) के जगम शिव साधना करते है। कोई जटाधारी है। कोई भस्म लगाता है। कोई मुनि मौन है। मन मे लीन है। ऐसे ही लोग ससार मे नष्ट हो रहे है। एक शक्ति शिव की उपासना करता है। एक पर्दा देकर जीव को बॉंधता है। एक कुलदेव जप करता है। किंतु त्रिभुवन पति को भूलने के कारण तीनो ताप (देहिक, दैविक, भौतिक) सहते है।

एक अन्न को छोड़ केवल दूध पीकर रहता है। किंतु हृदय शुद्धि के अभाव मे प्रभु प्राप्ति नही हो सकती है।

सत कबीर कहते है कि ऐसा विचार करो। राम के बिना कौन पार उतर सकता है ?

हरि बोलि सूवा बार बार; तेरी ढिग मीनॉं कछू करि पुकार ।।टेक।।
अंजन मंजन तजि बिकार सतगुर समझायौ तत सार ।।
साध संगति मिली करि बसंत, भौ बद न छूटै जुग जुगंत।
कहै कबीर मन भया अनंद, अनंत कला भेटे गोब्यंद ।।३८१।।

अर्थ—ऐ जीव रूपी सुग्गे, राम नाम का उच्चारण करो। तुम्हारे पास काल बिल्ली पुकार कर रही है। विकारो के अजन मजन छोड़ो। इस सार तत्त्व को सद्गुरु ने समझाया है। साधुओकी सगतिमे वसतका आनद मनाओ। भव बधन युग युगो तक नही छूटनेवाला है। अनत कलाओ से युक्त भगवान् के मिलने से मन प्रसन्न हो गया।

टिप्पणी— राम की १४ कलाएँ और कृष्ण की १६ कलाएँ मानी जाती है। किंतु कबीर के प्रभु अनत कलाओवाले है।

बनमाली जॉंनै बन की आदि; राम नाम बिना जनम बादि ।।टेक।।
फूल जू फूले रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत ।।
फूलनि मैं जैसें रहै बास यूँ घटि घटि गोबिंद है निवास।
कहै कबीर मनि भया अनंद, जगजीवन मिलियौ परमानंद ।।३८२।।

अर्थ—वन का माली ही वन के मूल को जानता है। रामनाम के अभाव मे यह जन्म व्यर्थ है। वसत ऋतु मे जो फूल फूले उनमे सभी जीय जतु मोहित हो गये। जैसे फूलो मे गध होती है वैसे ही घट घट मे भगवान् का निवास होता है।

सत कबीर कहते है कि मन प्रसन्न हो गया। परम आनद जगज्जीवन भगवान की प्राप्ति हो गयी।

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज; मूल घटै सिरि बधै ब्याज ॥टेक॥
नाइक एक बनिजारे पाँच बैल पचीस कौ संग साथ।
नव बहियाँ दस गौनि आहि, कसनि बहतरि लागै ताहि ॥
सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादौ संग लीन्ह।
तीन जगति करत रारि, चल्यौ है बनिज वा बनज झारि॥
बनिज खुटानौ पूँजी टूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि।
कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समाँनूँ रही लादि ॥३८३॥

शब्दार्थ—नाइक = जीवात्मा। बनिजारे पॉच = पच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी)। बैल पचीस—

आकाश – काम, क्रोध, लोभ, मोह, तम।
वायु – चलन, वलन, धावन, प्रसारण, सकोचन।
अग्नि– क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन।
जल– लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य
पृथ्वी– अस्थि, मॉस, त्वचा, नाड़ी, रोम।
नव बहियॉ = पच प्राण तथा चार अत करण।
दस गौनि = दस इद्रियॉ (ऑख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, हाथ, पॉव, गुदा, लिग, मुख)

कसनि बहत्तरि = बहत्तर बधन (१६ कडराएँ, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थि सघात, १४ सीमात, १ त्वचा)

सात सूत = सात धातुएँ (रक्त, रस, मज्जा, मास, वसा, अस्थि, शुक्र)। नीन जगति = (अ० जकात) कर्मचारी। यहॉ सत्त्व रज, तम से मतलब है।

खुटानी = समाप्त हो गया। षाडू = एक झोला।
दह दिसि = दस दिशाएँ। बाद = व्यर्थ। लादि = बोझा।

अर्थ—मुझे इस प्रकार के व्यापार से क्या काम है ? जिस व्यापार मे मूल घटता है और व्याज बढ़ जाता है। व्यापारी (नायक) एक और व्यापार करने वाले पॉच (महाभूत) है। इनका पचीस (तत्त्व) का साथ है। नव वहियॉ और दस बोरे लदे है। ये ७२ बधनो से बॅधे है। इनके सात पुत्र भी व्यापार करते है। कर्म रूपी सिपाही साथ है। तीन गुणो के रूप मे कर्मचारी है। ये कर्मचारी ससार मे झगड़ा करते है। फलत जीव व्यापारी अपना व्यापार पूरा नही कर पाता है। व्यापार छोड़कर चल देता है। व्यापार समाप्त हुआ। पूँजी खत्म हो गयी। झोला दसो दिशाओ मे टूट गया।

सत कबीर कहते है कि यह जन्म व्यर्थ गया। सहज साधना के व्यापार मे जब समाहित हुआ तो सासारिक भार दूर रह गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

माधौं दारुन दुख सह्यौ न जाइ,
मेरौ चपल बुधि तातै कहा बसाइ ॥टेक॥
तन मन भीतरि बसै मदन चोर, जिनि ग्यॉन रतन हरि लीन्ह मोर।
मै अनाथ प्रभु कहूँ काहि, अनेक बिगूचे मै को आहि॥
सनक सनंदन सिव सुकादि आपण कवलापति भये ब्रह्मादि।
जोगी जंगम जती जटाधार, अपनै औसर सब गये है हार॥

कहै कबीर रहु संग साथ, अभिअंतरि हरि सूँ कहौ बात।
मन ग्याँन जाँनि कै करि बिचार, राम रमत भौ तिरिबौ पार ॥३८४॥

शब्दार्थ—बसाइ = वश। बिगूचै = बर्बाद। आहि = हूँ। काहि = किससे। औसर = अवसर। भौ = भव। ससार। दारन = दारुण। भयानक।

अर्थ—हे माधव प्रभु, भयानक दुख सहा नही जाता है। मेरी बुद्धि तो चचल है। इससे कुछ भी बस मे नही आ रहा है। मेरे तन-मन मे कामदेव चोर बसा है। इसने मेरा ज्ञान रत्न चुरा लिया है। हे प्रभु, मै अनाथ किससे अपना दुख कहूँ ? अनेक जन बर्बाद हो गये। मै कौन हूँ? सनक, सनदन, शिव, शुकदेव आदि तथा विष्णु और ब्रह्मादि योगी, जगम, यती, जटाधर, ये सभी अपने अवसरो को हार गये। अर्थात् अवसर चूक गये। सत कबीर कहते है कि सतो के साथ रहो। हृदय (अभ्यन्तर) मे निवास करने वाले प्रभु से अपनी पीड़ा कहो। वे प्रभु कल्याण साधक है। हे मन, समझ कर विचार करो। राम नाम मे रमण करने से ससार सागर को पार किया जा सकता है।

अलंकार—रूपक

तू करी डर क्यूँ न करै गुहारि, तूँ बिन पंचाननि श्री मुरारी ॥टेक॥
तन भीतरि बसै मदन चोर, तिनि सरबस लीनौ छोरि मोर।
माँगै देइ न बिनै माँन, ताकि मारै रिदा मे काँम बाँन ॥
मै किहि गुहराँऊँ आप लागि, तू करी डर बड़े बड़े गये है भागि।
ब्रह्मा विष्णु अरु सुर मयंक, किहि किहि नही लावा कलंक ॥
जप तप संजम सुंनि ध्यान, बंनि परे सब सहित ग्याँन।
कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोविंद कृपा कीन्ह ॥३८५॥

अर्थ—तुम डर क्यो करती हो ? पुकार क्यो नही करती हो ? तुम बिना भगवान् के हो। तन के भीतर मदन चोर बसता है। उसने मेरा सब छीन लिया है। मॉगने पर लौटाता नही, हृदय मे ताक कर बाण मारता है। मै अपने लिये किसे पुकारूँ ? बड़े-बड़े तो भाग गये। ब्रह्मा, विष्णु और चद्रदेवता या शकर (मयकसुर = चद्रमावाला देवता अर्थात् शिव) किसे मदन का कलक नही लगा। जप, तप, मुनिध्यान सब बदी है। ज्ञान सहित बदी है।

सत कबीर कहते है कि दो-तीन ही उबर पाये जिन पर गोबिद की कृपा हुई।

ऐसे देखि चरित मन मोह्यौ मोर;
ताथै निस बासुरि गुन रमौ तोर ॥टेक॥
इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमे उदास इक नगन निरंतर रहै निवास ॥
इक जोग जुगुति तन हूँहि खीन, ऐसे राम नाम संगि रहै न लीन ॥
इक हूँहि दीन एक देहि दाँन, इक करै कलापी सुरा पाँन ॥
इक तंत मंत ओषध बाँन, इक सकल सिध राखै अपाँन ॥
इक तीर्थ ब्रत करि काया जीति, ऐसै राम नाम सूँ करै न प्रीति ॥
इक धोम घोटि तन हूँहि स्याम, यूँ मुकति नही बिन राम नाम ॥
सत गुर तत कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार ॥
जुरा मरण थै भये धीर, राम कृपा भई कहि कबीर ॥३८६॥

शब्दार्थ—ताथै = इस से। हूँहि = होते है। खीन = दुर्बल। कलापी = मयूर। पक्षधारण करने वाला। धोम = धुऑ। घोटि = साधकर। स्याम = काला। अनभै = अनुभव।

अर्थ—ऐसे चरितो को देखकर मेरा मन मोहित हो गया। इस से हे राम, रात दिन तुम्हारे गुणो मे रमता रहता हूँ। मुक्ति के लिये कोई पाठ करता है। उदासीन घूमता है। नगा रहता है।

योग युक्ति से दुर्बल होता है। इस प्रकार वे रामनाम मे लीन नही हो सकते हैं। एक दीन बनता है। एक दान देता है। एक मोर की ध्वनि रूप सुरा पीता है। एक तत्र, मत्र, औषध करता है। बाना धारण करता है। एक अपान साधना को सारी सिद्धि मानता है। एक तीर्थ का सेवन व्रत कर शरीर को जीतता है। ऐसे लोग राम नाम से प्रेम नही करते है। एक धुआं घोटता है। शरीर को काल बनाता है। किंतु राम के बिना मुक्ति नही है। सतगुरु ने विचार कर तत्त्व की बात कही। मूल तत्त्व राम को गहो। अनुभव का विस्तार करो। ऐसे व्यक्ति जरा मरण से मुक्त हो जाते है। ऐसे व्यक्ति पर राम की कृपा होती है।

सब मदिमाते कोई न जाग; ताथे संग ही चोर घर मुसंन लाग ।।टेक।।
पंडित माते पढ़ि पुरॉन, जोगी माते धरि धियॉन।
संन्यासी माते अहंमेव, जपा जु माते तप के भेव ।।
जागे सुक ऊधव अक्रूर, हणवंत जागे ले लंगूर।
संकर जागै चरन सेव, कलि जागे नॉमॉ जैदेव ।।
ए अभिमान सब मन के कॉम, ए अभिमॉन नही रही ठाम।
आतमॉ राम कौ मन बिश्राम, कहि कबीर भजि राम नाम ।।३८७।।

अर्थ—सभी विषयो मे मत्त है। कोई जाग नही रहा है। इस से सग के ही चोर घर को लूट रहे है। पडित पुराण पढ़ने मे मस्त है। योगी योग मे, सन्यासी अहम् मे, जप करनेवाले तपस्या के भेदो मे मस्त है। शुकदेव, उद्धव, अक्रूर जागे है, हनुमान लगूर ले जागे हैं। शकर प्रभु चरणो की सेवा कर रहे है। कलिकाल मे नामदेव और जयदेव जागते है। सारे अभिमान मन के भ्रम है। अभिमानवाले को कही स्थान नही मिलता है।

संत कबीर कहते है कि राम नाम भजो तभी आत्मराम को शांति मिलेगी।
चलि चलि रे भँवरा कवल पास; भवरी बोलै अति उदास ।।टेक।।
तै अनेक पुहुप कौ लियौ भोग सुख न भयौ तब बढ्यो है रोग ।।
हौ जु कहत तोसूँ बार बार, मै सब बन सोध्यो डार डार ।।
दिनॉ चारि के सुरंग फूल, तिनहिं देखि कहा रह्यौ है भूल ।।
या बनासपती मै लागैगी आगि, अब तूँ जैहौ कहाँ भागि ।।
पुहुप पुराने भये सूक तब भवरहि लागी अधिक भूख ।।
उड्यो न जाइ बल गयो है छूटि, तब भवरी रूँना सीस कूटि ।।
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ ।।
कहे कबीर मन कौ सुभाव राम भगति बिन जग को डाब ।।३८८।।

शब्दार्थ—भँवरा = मन। भवरी = बुद्धि। पहुप = पुष्प। विषय। वनासपती = ससारवन। कमल = आत्म ज्ञान। सूक = सूख।

अर्थ—ऐ मन, आत्म ज्ञान प्राप्त करो। यह बात मनुष्य की विवेक बुद्धि कहती है। ऐ मन, तुम अभी तक विषयो मे भूले थे। किंतु विषय सेवन से तुम्हे सुख नही प्राप्त हुआ उल्टे विषयो ने तुम्हे दुख ही दिया है। रोग, भवरोग बढ़ा है। मैने सारे ससार को देख लिया है। इसी लिये तुमसे बार-बार कहता हूँ— ये सारे रग, आनद और सुख चार दिनो के है। इसके बाद ये सभी नष्ट हो जायेगे। इन्हे देख कर भ्रम मे मत पड़ो। इस वन मे आग लग जायगी। तब तुम भाग कर कहाँ जाओगे ?

पुराने फूल सूखने लगे अर्थात् भोग्यवस्तुऐं समाप्त हो चली है। किंतु मन की भूख और बढ़ गयी है। वृद्धावस्था के कारण भोगने की शक्ति क्षीण हो गयी है। युवावस्था की उड़ाने समाप्त हो गयी हैं। अब बुद्धि रोती है। अफसोस करती है। मन भ्रमर दसो दिशाओ मे अर्थात् सभी

ओर रोता है। तब बुद्धि ने सहायता की।

सत कबीर कहते है कि यह मन का स्वभाव है। राम भक्ति के बिना यह ससार दॉव पर लगा है। इसे यम जीत ले जायगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

तै अनेक पुहुप-विशेषोक्ति

आवध राम सबै करम करिहूँ; सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ।।टेक।।
कुँभरा है करि बासन घरिहूँ धोबी है मल धोऊँ।
चमरा है करि बासन रँगों, अघोरी जाति पाँति कुल खोऊँ।।
तेली है तन कोल्हूँ करिहौ, पाप पुंनि दोऊ पेरूँ।
पंच बैल जब सूध चलाऊँ, राम जेवरिया जोरूँ।।
क्षत्री है करि खड़ग सँभालूँ, जोग जुगति दोउ साधूँ।
नउवा है करि मन कूँ मूँडूं बाढ़ी है कर्म बाढूँ।।
अवधू है करि यहु तन धूतौ, बधिक है मन मारूँ।
बानजारा है तन कूँ बनिजूँ, जूवारी है जम हारूँ।।
तन करि नवका मन करि खेवट, रसना करउँबड़ारूँ।
कहि कबीर भवसागर तरिहूँ आप तिरू बप तारूँ।।३८९।।

शब्दार्थ—आवध = १ आयुध। २ अवधवाला। वासन = बर्त्तन। घरिहूँ = गढूँगा। अधौरी = (स० अध्य) नीचता। पचबैल = पॉच इद्रियॉ। जेबरिया = रस्सी। जोरूँ = जोड़ना। बाढ़ी = बढई। धूती = धोना। नवका = नौका। करवा = करवार। पतवार। बप = शरीर।

अर्थ—हे अवध के राम या हे राम, मै सारे कर्मो को आयुध बनाऊँगा। सहज समाधि लगाऊँगा और यम से निडर रहूँगा।

कुम्हार होकर बर्त्तन रखूँगा। धोबी होकर मन की मैल धोऊँगा। चमार होकर बासन रगूँगा। नीचता की जाति-पॉति मिटा दूँगा। तेली होकर कोल्हू पेरूँगा। इसमे पाप-पुण्य दोनो को पेर दूँगा। पॉचो इद्रियो को सीधा चलाऊँगा और राज नाम की रस्सी से जोड़ दूँगा। क्षत्रिय होकर तलवार सम्हालूँगा और योग, युक्ति दोनो को साधूँगा। नौआ होकर मन का मुडन करूँगा। बढई होकर कर्म को काटूँगा। अवधूत योगी होकर तन को धोऊँगा। बधिक होकर मन को मारूँगा। व्यापारी होकर तन का व्यापार करूँगा। जुआरी होकर यम को हारूँगा। तन नौका, और मन को खेने वाला बना कर रसना को पतवार बनाकर उसे डाल दूँगा। संत कबीर कहते है कि भवसागर पार करूँगा। स्वय तो पार करूँगा ही। शरीर को भी तार दूँगा।

अलंकार—रूपक।

(राग माली गौड़ी)

पंडित मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे।।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे।।टेक।।
दाम छै पणि कौंम नाही, ग्यौंन छै पणि धंध रे।
श्रवण छै पणि सुरत नौंहीं, नैन छै पणि अंध रे।।
जाके नामि नाभि सूँ उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति बॉछू जगत गुर गोब्यंद रे।।३९०।।

अर्थ—ऐ मन मे रजन करनेवाले पडित, अर्थात् मन मोदक का आनद लेनेवाले, भगवान्

की भक्ति करो। प्रेम से भगवान् को भजो। अन्य सारे उपाय व्यर्थ है। तुम्हारे पास दाम है। किंतु उस दाम का उचित उपयोग नही जानते हो। ज्ञान है किंतु उसका धधा नही जानते हो। कान है। किंतु स्मृति नही है। ऑखे रहते अधा हो। जिसके नाभि कमल से ब्रह्मा एव चरण से गगा निकली है उस हरि की भक्ति की आकाक्षा करो। गोविद जगत् के गुरु है।

अलंकार—विरोधाभास

विष्णु ध्याँन सनान करि रे, बाहरि अंग न धोई रे।
साच बिन सीझसि नही, काँई ध्याँन दृष्टै जोइ रे॥
जंजाल माँहै जीव राखै, सुधि नही सरीर रे।
अभिअंतरि भेद नही, काँई बाहरि न्हावै नीर रे॥
निहकर्म नदी ग्याँन जल, सुंनि मंडल माँहि रे।
ओधूत जोगी आतमाँ, काँई पेड़ैं संजमि न्हाहि रे॥
इला प्यंगुला सुषमनाँ, पछिम गंगा बालि रे .
कहै कबीर कुसमल झड़े, काँई नाँहि लौ अंग पषालि रे॥३९१॥

अर्थ—ऐ मनुष्य, भगवान विष्णु के ध्यान मे स्नान करो। बाहर से अगोको धोने की आवश्यकता नही है। सत्य के बिना सिद्धि नही हो सकती है। ध्यान-दृष्टि की मलीनता धोओ। जीव तो जजाल मे पड़ा है। उसे शरीर का भी ध्यान नही है। बाहर से नहाते हो किंतु भीतर का भेद नही पाते हो। शून्य मडल मे निष्काम कर्म नदी मे ज्ञान का जल वह रहा है। अवधूत योगी की आत्मा वहाँ सयम जल मे स्नान करती है। इडा, पिंगला एव सुषुम्ना के पृष्ठ भाग (पश्चिम) मे गगा नदी का जल है।

सत कबीर कहते है कि कल्मष दूर होगा, मैल धोकर अगो का प्रक्षालन करो।

अलंकार—रूपक

भजि नारदादि सुकादि वंदित, चरन पंकज भाँमिनी।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर देव देव सिरोवनी।।टेक॥
बुधि नाभि चंदन चरिचिता, तन रिदा मंदिर भीतरा।
राम राजसि नैन बाँनी, सुजान सुँदर सुंदरा॥
बहु पाप परबत छेदनाँ, भौ ताप दुरिति निवारणाँ।
कहै कबीर गोब्यंद भजि, परमानंद बंदित कारणाँ॥३९२॥

अर्थ—ऐ साधिके, नारदादि, शुकदेव मुन्यादि वदित प्रभु चरण कमलो को भजो। देवदेव शिरोमणि सभी भूषणो मे प्रिय भूषण को भजो। शरीर मदिर के भीतर हृदय मे बुद्धि की नाभि मे चदन लगाओ। सुदर से सुदर सुजान राम तुम्हारी ऑखो और वाणी मे शोभा पाते है। तुम्हे बहुत से पाप के पर्वतो को छेदना है। कठिन भव दुख से मुक्त होना है।

सत कबीर कहते है कि गोविद को भजो। परमानद प्रभु कारण है। इसलिये वे वदित है।

(राग कल्याँण)

ऐसै मन लाइ लै राम रसनाँ;
कपट भगति कीजो कौन गुणाँ॥टेक॥
ज्यूँ मृग नादै बेध्यौ जाइ, प्यंड परे वाकौ ध्याँन न जाइ।
ज्यूँ जल मींन हेत करि जाँनि, प्राँन तजै बिसरै नही बाँनि॥
भ्रिगी कीट रहै ल्यौ लाइ, है लौलीन भ्रिग है जाइ।

राम नाम निज अमृत सार सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार ॥
कहै कबीर दासनि को दास, अब नही छाड़ौं हरि के चरन निवास ॥३९३॥

अर्थ—ऐ मन, इस प्रकार राम नाम को जीभ पर लाओ। कपट की भक्ति करने से क्या फायदा है ? जैसे मृग सगीत सुनते मारा जाता है। शरीर गिर जाने पर भी उसे ध्यान नही आता है। जैसे मछली का प्रेम जल से होता है। मरते दम तक प्रेम की आदत नही छोड़ती है। भ्रमर कीड़े को ध्यान लगाकर भ्रमर बना देता है। राम नाम अमरता का सार है। जन स्मरण कर ससार सागर को पार करते है।

सत कबीर अपने को भक्तो का भक्त कहते है। अब कभी हरि चरणो का निवास नही छोड़ेगे।

अलंकार—उदाहरण

(राग सारंग)

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै; गवन करै तब मुषह न बोलै ॥टेक॥
तूँ मेरो पुरिषा हौं तेरी नारी, तुम्ह चलतै पाथर थै भारी।
बालपनाँ के मीत हमारे, हमहि छाडि कत चले हो निनारे ॥
हम सूँ प्रीति न करि री बौरी, तुमसे केते लागे ढौरी।
हम काहू संगि गए न आये, तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाये ॥
माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूँ जन डरै कबीरा ॥३९४॥

अर्थ—माया ठग है। सारे ससार को ठगती फिरती है। मनुष्य के जाते समय आवाज भी नही निकलती है। ऐ प्रभु, तुम मेरे पुरुष हो। मै तुम्हारी स्त्री हूँ। तुम्हारे कारण पत्थर से अधिक वजनी हूँ। (दूसरा अर्थ है— चलते समय तुम पत्थर से भी कठोर हो गये हो)। तुम हमारे बचपन के मित्र हो। मुझे अकेला छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?

प्रिय का उत्तर—ऐ बावली, मुझसे प्रीति मत करो। तुम्हारे जैसे प्रीति करने वाले कितने ढेर लग गये। हम किसी के साथ न गए है, न आए है। तुम्हारे जैसे गढ़ हमने बहुत से बसाए है। यह शरीर मिट्टी, हवा आदि का है। सत कबीर कहते है कि उस ठग से सभी लोग डरते है।

धँनि सो धरी महूरत्य दिनाँ; जब ग्रिह आये हरि के जनाँ ॥टेक॥
दरसन देखत यहु फल भया, नैनाँ पटल दूरि है गया।
सब्द सुनत संसा सब छूटा, श्रवन कपाट बजर था तूटा ॥
परसत घाट फेरि करि घड़्या, काया कर्म सकल झड़ि पड़्या।
कहै कबीर संत भल भाया, सकल सिरोमनि घट मै पाया ॥३९५॥

अर्थ—वह समय धन्य है जब घर मे भक्त आये हो। उनका दर्शन करते यह फल हुआ कि आँखो के पटल दूर हो गये। शब्द सुनते हुए सारे सशय छूट गए। वज्र का श्रवण किवाड़ टूट गया। शरीर (घट) को छूकर जैसे पुन गढा गया हो। शरीरके सारे कर्म झड़ गये।

सत कबीर कहते है कि अच्छा हुआ, शरीर मे सारे गुणो की प्राप्ति हो गयी।

(राग मलार)

जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥

अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नही काहू, बहुत लोग पचि हारे॥
बुधि मेरी किरषी गुर मेरौ बिझुका, आखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न देहूँ, बरियाँ भली सँभारे॥३९६॥

अर्थ—प्रयत्न के अभाव मे इद्रिय मृगो ने सारे जीवन खेत को नष्ट कर दिया। ये हटाने से हटते नही। भगाने से भागते नही। ये अपने रस के लोभी है। इनके कर्त्तव्य अलग-अलग है। ये अति अभिमानी है। किसी को कुछ नही समझते है। वहुत से लोग थक गये है। मेरी बुद्धि कृषि और मेरे गुरुदेव बिझुका (खेत पशु-पक्षियो को डराने के लिये खड़ा किया गया पुतला) तथा रामनाम के अक्षर रखवाले है। सत कवीर कहते है कि मै अपने जीवन खेत को अव खाने न दूंगा। मै ठीक समय पर सम्हल गया हूं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

हरि गुन सुमरि रे नर प्राणी।
जतन करत पतन है जैहै; भावै जाँणम जाँणी॥टेक॥
छीलर नीर रहै धूँ कैसै, को सुपिनै सच पावै।
सूकित पाँन परत तरवर थै, उलटि न तरवरि आवै॥
जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उबर न पावै।
राम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दास कबीरा गावै॥३९७॥

अर्थ—ऐ मनुष्य, प्रभु के गुणो का स्मरण करो। यत्न करते हुए भी शरीर तो नष्ट होगा ही। इस वात को अच्छी तरह समझो। छिछला (छीलर) तालाव कैसे रह सकता है ? सपना कैसे सच हो सकता है ? सूखे पत्ते पेड़ से गिर जाते है। फिर वे उस पेड़ मे नही लगते है। जल स्थल जीव माया के इन पदार्थो मे जल (डहके) रहे है। इससे कोई व्यक्ति मुक्त नही होता है।

सत कवीर कहते है कि युग युग तक राम जिसके आधार है वही व्यक्ति माया से मुक्त हो सकता है।

अलंकार—निर्दशना

(राग धनाश्री)

जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो, हित चित परमाँनंदो रे।
बिरही जन कौ बालहौ, सब सुख आनंदकंदो रे॥टेक॥
धन धन झीखत धन गयौ, सो धन मिलयौ न आये रे।
ज्यूँ बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे॥
प्राणी प्रीति न कीजिये, इहि झूठे संसारी रे।
धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बारी रे।
माटी केरा पूतला, काहे गरब कराये रे।
दिवस चारि कौ पेखनौ, फिरि माटी मिलि जाये रे।
काँमी राम न भावई, भावैं बिषै बिकारी रे।
लोह नाव पाहन भरी, बूड़त नाँहीं बारी रे॥
नाँ मन मूवा न मारि सक्या, नाँ हरि भजि उतर्या पारो रे।
कबीर कंचन गहि रह्यौ, काँच गहै संसारो रे॥३९८॥

अर्थ—ऐ जीव, गोविद को भजो। तुम्हारे चित्त का हित परमानद वही है। विरही जन का

यह वल्लभ है। सारे सुखो का आनद स्वरूप है। धन के लिये झखते हुए तत्त्व ज्ञान रूप धन नष्ट हो गया। वह धन कभी न आया। न मिला। जैसे वन मे खिली मालनी के यहाँ कोई नही आया। उसका जन्म व्यर्थ हो गया। वैसे ही तुम्हारा यह मायामय जन्म व्यर्थ हो गया। हे प्राणी, यह ससार मिथ्या है। इससे प्रेम मत करो। यह धुएँ के भवन के समान नाशवान् है। हे मिट्टीके पुतले, क्यो गर्व करते हो ? चार दिन का प्रेक्षण है। फिर मिट्टीमे मिल जाना है।

कामी को राम अच्छा नही लगते। विषय के विकार अच्छे लगते है। ससार सागर मे सभी पत्थर भरी लोहे की नाव पर बैठे है। इसे डूबने मे जरा भी देर नही लगेगी। मन नही मरा। न तो मर सकता है। न तो भगवान् को भज कर पार उतरा।

सत कबीर ने राम नाम का स्वर्ण पकड़ा है। ससारी लोग माया का कॉच पकड़े है।

अलंकार—उपमा तथा रूपकातिशयोक्ति

न कछु रे न कछु राम बिनाँ।
सरीर धरे की रहै परमगति, साध संगति रहनाँ ॥टेक॥
मंदिर रचत मास दस लागे, बिनसत एक छिनाँ।
झूठे सुख के कारनि प्राँनी, परपंच करता घना॥
तात मात सुत लोग कुटुंब मै फूल्यो फिरत मनाँ।
कहै कबीर राम भजि बौरे, छाँड़ि सकल भ्रमनाँ॥३९९॥

अर्थ—राम के बिना कुछ भी नही है। शरीर धारण करने का यही परम उद्देश्य कि साधुओ की सगति मे रहना चाहिए। शरीर मदिर के निर्माण मे दस मास लगते है। किंतु यह एक क्षण मे नष्ट हो जाता है। मनुष्य झूठे सुखो के लिये अनेक प्रकार के प्रपंच करता है। पिता, माता, पुत्र आदि परिवार मे फूला फिरता है।

सत कबीर कहते है कि ऐ लोगो, सारे भ्रमो मे घूमना छोड़ कर राम को भजो।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज टका दस गँठिया, टेढ़ौ टेढ़ौ जात॥टेक॥
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ कहा काऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही, ज्यूँ बनि हरियल पात॥
राजा भयौ गाँव सौ पाये, टका लाख दस ब्रात।
रावन होत लंका को छत्रपति पल मै गई बिहात॥
माता पिता लोक सुत बनिता, अंत न चले सँगात।
कहै कबीर राम भजि बौरे, जनम अकारथ जात॥४००॥

अर्थ—हे मनुष्य, थोड़ी बात के लिये क्यो गर्व करते हो ? दस मन अनाज और गाँठ मे दस रुपये होते ही टेढ़े टेढ़े चलते हो। क्या कोई इस धन को लेकर आया है या लेकर जायगा ? चार दिनो की बादशाहत है। जैसे वन के हरे पत्ते गिर जाते है वैसे ही मानव जीवन नष्ट हो जाता है। राजा हुआ। सौ गाँव पाये। लाख रुपये की बारात प्राप्त हुई। लका का क्षत्रपति राजा रावण भी क्षण भर मे नष्ट हो गया। माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि भी अत मे साथ नही जाते है। सत कबीर कहते है कि ऐ बावले, राम का भजन करो। यह जन्म व्यर्थ नष्ट हो रहा है।

अलंकार—उपमा

नर पछिताहुगे अंधा।
चेति देखि नर जमपुरि जैहै, क्यूँ बिसरौ गोब्यंदा॥टेक॥

गरभ कुंडिनल जब तूँ बसता, उरध ध्याँन ल्यौ लाया।
उरध ध्याँन मृत मंडलि आया नरहरि नाँव भुलाया॥
बाल बिनोद छहूँ रस भीनाँ छिन छिन बिन मोह बियापै।
विष अंमृत पहिचाँनन लागौ, पाँच भाँति रस चाखै॥
तरन तेज पर तिय मुख जौवे, सर अपसर नही जानै।
अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुंनि न पिछानै॥
प्यंडर केस कुसुम भये धौला, सेत पलटि गई बाँनी।
गया क्रोध मन भया जु पावस, काँम पियास मंदाँनी॥
तूटी गाँठि दया धरम उपज्या, काया कवल कुमिलाँना।
मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछै पछिताँना॥
कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया।
आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैन भया॥४०१॥

अर्थ—अरे अधे मनुष्य, पछताओगे। अभी चेत जाओ। तुम्हे यमपुर जाना है। गोविद को क्यो भूल गये ? गर्भ कुड मे जव तुम बसे थे तव ऊर्ध्व ध्यान मे लवलीन थे। ऊर्ध्व ध्यान से जव मर्त्य लोक मे आये तो भगवान् को भूल गये। वाल्यकाल मे छह रस (मधुर, लवण, तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय) विनोद मे डूबे रहे। क्षण-क्षण मोहग्रस्त होते हो। विष अमृत का भेद उम्र बढ़ने पर समझ मे आने लगा। अब पाँच प्रकार (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय) से रस चखने लगे। तरुणावस्था मे समय-असमय स्त्री मुँह की प्रतीक्षा करते है। अत्यत उन्माद और घोर मद मे गर्क पाप पुण्य का ध्यान नही रहना है। बाद मे केश (वाल) पीले ओर फूल से सफेद हो गये। वोली भी बदल गयी। क्रोध चला गया। मन वरसात सा हो गया। काम पिपासा मद पड़ गयी। विषय ग्रथि टूट गयी। दया, धर्म का विकास हुआ। शरीर कमल कुम्हला गया। मरते समय विचार करने लगे। अव अपने किये का अफसोस कर रहे है।

सत कबीर कहते है कि हे सतो, सुनो। धन, माया कुछ भी साथ नही गया। जब राजा गोपाल का बुलावा आया तो धरती शय्या बन गयी।

अलंकार—रूपक

लोका मति के भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीर तौ रामहि कहा निहोरा रे॥टेक॥
तब हमे वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूँ जल मै जल पैसि न निकसै, यूँ ढुरि मिलै जुलाहा॥
राम भगति परि जाको हित चित, ताकौ अचिरज काहा।
गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीते जाइ जुलाहा।
कहै कबीर सुनहु रे संतो भ्रमि परे जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई॥४०२॥

अर्थ—लोग बुद्धि के भोले है। अगर कबीर काशी मे तन छोड़े तो इसमे राम की कौन सी कृपा होगी ? काशी मरकर तो सभी मुक्त होते है। कवीर को तो राम की कृपा चाहिए। हम जैसे थे वैसे ही है। यही जन्म लेने का लाभ है। जैसे जल मे प्रविष्ट जल पुन जल से नही निकलता है वैसे ही आत्मा परमात्मा मे प्रविष्ट होकर नही निकलती है। यह कवीर जुलाहा पानी सा ढुलक कर राम से मिलेगा। जो राम भक्ति मे चित लगाये है उनके लिये यह कोई आश्चर्य की बात नही है। गुरुदेव की कृपा और साधुओ की सगति से जुलाहा ससार जीतकर जा रहा है।

[illegible]

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै; तेज पुंज तहाँ प्रान उतारै ॥टेक॥
पानी पंच पहुप करि पूजा देव निरंजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हाँ प्रकट जोति तहाँ आतम लीनाँ॥
दीपक ग्यान सबद धुनि घंटा पर पुरिख तहाँ देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥४०३॥

[illegible]

अलंकार—[illegible]

परिशिष्ट
(पद)

अंतरि मैल जे तीरथ न्हावै तिसु बैकुंठ न जाना।
लोक पतीणे कछू न होवै नाही राम अयाना॥
पूजहू राम एकु ही देवा साचा नावण गुरु की सेवा।
जल कै मज्जन जे गति होवै नित नित मेडुक न्हावहि॥
जैसे मेडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनी आवहि।
मन्हु कठोर मरै बानारस नरक न बाँच्या जाई॥
हरि का संत मरै हाँड़वैत सगली सैन तराई।
दिन सुरैनि बेद नही सासतर तहाँ बसै निरंकारा॥
कहि कबीरा नर तिसहि धियावहु बावरिया संसारा॥१॥

अंधकार सुख कबहि न सोइहै। राजा रंक दोऊ मिलि रोइहै॥
जो पै रसना राम न कहिबो। उपजत बिनसत रोवत रहिबो॥
जस देखिय तरवर की छाया। प्रॉन गये कहू काकी माया॥
जस जंती महि जीव समाना। मुये मर्म को काकर जाना॥
हंसा सरवर काल सरीर। राम रसाइन पीउ रे कबीर॥२॥

अग्नि न दहै पवन नही गमनै तेस्कर नेरि न आवै।
राम नाम धन करि संचौनी सो धन कतही न जावै॥
हमरा धन माधव गोविद धरनीधर इहै सार धन कहिये।
जो सुख प्रभु गोविद की सेवा सो सुख राज न लहिये।
इसु धन कारण सिव सनकादिक खोजत भये उदासी।
मन मकुंद जिह्वा नारायण परै न जम की फाँसी॥
निज धन ज्ञान भगति गुरु दीनी तासु सुमति मन लागी।
जलत अंग थंमि मन धावत भरम बंधन भौ भागी॥
कहै कबीर मदन के माते हिरदे देखु बिचारी।
तुम घर लाख कोटि अस्व हस्ती हम घर एक मुरारी॥३॥

अचरज एक सुनहु रे पंडिया अब किछु कहन न जाई।
सुर नर गन गंध्रव जिन मोहे त्रिभुवन मेखलि लाई॥
राजा राम अनहद किगुरी बाजै। जाकी दृष्टि नाद लव लागै॥
भाठी गगन सिडिया अरु चुंडिया कनक कलस इक पाया॥
तिस महि धार चुए अति निर्मल रस महि रस न चुआया।
एक जु बात अनूप बनी है पवन पियाला साजिया॥
तीन भवन महि एको जोगी कहहु कवन है राजा।

ऐसे ज्ञान प्रगट्या पुरुषोत्तम कहु कबीर रँगराता॥
और दुनी सब भरमि भुलाना। मन राम रसाइन माता॥४॥

अनभौ कि नैन देखिया बैरागी अड़े।
बिनु भय अनभौ होइ बणाँ हंबै।
सहुद दूरि देखै ताभौ पावै बैरागी अड़े।
हुक्मै बूझे न निर्भऊ होइ न बणां हंबै।
हरि पाखड न कीजई बैरागी अड़े।
पाखंडि रता सब लोक बणां हंबै।
तृष्णा पास न छोड़ई बैरागी अड़े।
ममता जाल्या पिंड बणाँ हंबै॥
चिंता जाल तन जालिया बैरागी अड़े।
जे मन निरतक होइ बणा हंबै।
सत गुरु बिन बैराग त होवई बैरागी अड़े।
जे लोचै सब कोई बणा हंबै।
कर्म होवे सतगुरु मिलै बैरागी अड़े।
सहजै पावै सोइ बणा हंबै॥
कहूँ कबीर इक बेनती बैरागी अडे।
मोको भव जल पारि उतारि बड़ा हंबै॥५॥

अब मौको भये राजा राम सहाई। जनम मरन कटि परम गति पाई॥
साधू संगति दियो रलाइ। पंच दूत ते लीयो छड़ाइ॥
अमृत नाम जपौ जप रसना। अमोल दास करि लीनो अपना॥
सति गुरु कीनो पर उपकारु। काढ़ि लीन सागर संसारु॥
चरन कमल स्यो लागी प्रीति। गोबिंद बसै निता नित चीति॥
माया तपति बुझ्या अंग्यारु। मन संतोष नाम आधारु॥
जल थल पूरि रहे प्रभु स्वामी। जत पेखौ तत अंतर्यामी॥
अपनी भगति आपही दृढ़ाई। पूरब लिखतु गिल्या मेरे भाई॥
जिसु कृपा करे तिसु पूरन साज। कबीर को स्वामी गरीब निवाज।६।

अब मोहि जरत राम जल पाइया। राम उदक तन जलत बुझाइया॥
मन मारन कारन बन जाइये। सो जल बिन भगवत न पाइये॥
जेहि पावक सुर नर है जारे। राम उदक जन जरत उबारे॥
भवसागर सुखसागर माही। पीव रहे जल निखुटत नाही॥
कहि कबीर भजु सारिंगपानी। राम उदक मेरी तिषा बुझानी॥७॥

अमल सिरानो लेखा देना। आये कठिन दूत जम लेना॥
क्या तै खटिया कहा गवाया। चलहू सिताब दिवान बुलाया॥
चलु दरहाल दिवान बुलाया। हरि फुर्मान दरगह का आया॥
करौ अरदास गाव किछु बाकी। लेउ निबेर आज की राती॥

किछु भी खर्च तुम्हारा सारौ। सुबह निवाज सराइ गुजारौ॥
साध संग जाकौ हरि रँग लागा। धन धन सो जन पुरुष सभागा॥
ईत ऊत जन सदा सुहेले। जन्म पदारथ जीति अमोले॥
जागत सोया जन्म गँवाया। माल धन जोर्या भया पराया॥
कहु कबीर तेई नर भूले। खसम बिसारि माटी सग रूले।८।

अल्लह एकु मसीति बसतु है अबर मुलकु किसु केरा।
हिंदू मूरति नाँम निवासी दुहमति तत्तु न हेरा॥
अल्लह राम जीउ तेरी नाई। तू करीमह राम तिसाई॥
दक्खन देस हारी का बासा पच्छिम अलह मुकामा॥
दिल महि खोजि दिलै दिल खोजहु एही ठौर मुकामा।
ब्रह्म न ज्ञान करहि चौबीसा काजी महरम जाना॥
ग्यारह मास पास कै राखै एकै माहि निधाना॥
कहा उड़ीसे मज्जन कियाँ क्या मसीत सिर नाये॥
दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जाये।
एते औरत मरदा साजे ये सब रूप तुमारे॥
कबीर पूँगरा रांम अलह का सब गुरु पीर हमारे॥
कहत कबीर सुनहु नर नरवै परहु एक की सरना॥
केवल नाम जपहु रे प्रानी तबही निहचै तरना॥९॥

जन्म आइ कहा तुम कीना। रांम को नांम न कबहूँ लीना॥
राम न जपहु कवन मति लागे। मरि जैबे कौ क्या करहु अभागे॥
दुख सुख करिकै कुटंब जिवाया। मरती बार इकसर दुख पाया।
कंठ गहन तब कर न पुकारा। कहि कबीर आगे ते न समारा॥१०॥

अवर मुये क्या सोग करिजै। तौ कीजै जो आपन जीजै॥
मै न मरौ मरिबो संसारा। अब मोहि मिल्यो है जियावनहारा॥
या देही परमल महकंदा। ता सुख बिसरे परमानंदा॥
कुअटा एकु पंच पनिहारी। टूटी लेजु भरै मतिहारी॥
कहु कबीर इकु बुद्धि विचारी। ना ऊ कुअटा ना पनिहारी॥११॥

अव्वल अल्लह नूर उपाया कुदरत के सब बंदे॥
एक नूर ते सब जग उपज्या कौन भले को मंदे॥
लोगा भरमि न भुलहु भाई।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरा रह्यो सब ठाई॥
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारे॥
ना कुछ पोच माटी के भाँणे ना कछु पोच कुँभारे॥
सब महि सच्चा एकी सोई तिसका किया सब किछु होई॥
हुकम पछानै सु एकी जानै बंदा कहियै सोई॥
अल्लह अलख न जाई लखिया गुरु गुड दीना मीठा॥

कहि कबीर मेरी संका नासी सर्व निरंजन डीठा ॥१२॥

अस्थावर जंगम क़ीट पतंगा। अनेक जनम कीये बहुरंगा ॥
ऐसे घर हम बहुत बसाये। जब हम राम गर्भ होइ आये ॥
जोगी जपी तपी ब्रह्मचारी। कबहु राजा छत्रपति कबहु भेखारी ॥
साकत मरहि संत जन जीवहि। राम रसायन रसना पीवहि ॥
कहु कबीर प्रभु किरपा कीजै। हारि परै अब पूरा दीजै ॥१३॥

अहि निसि नाम एक जौ जागै। केतक सिद्ध भये सब लागै ॥
साधक सिद्ध सकल मुनि हारे। एकै नाम कलपतरु तारे ॥
जो हरि हरे सु होहि न आना। कहि कबीर राम नाम पछाना ॥१४॥

आकास गगन पाताल गगन है चहु दिसि गगन रहाइले ॥
आनंद मल सदा पुरुषोत्तम घट बिनसै गगन न जाइले ॥
मोहि बैराग भयो इह जीउ आइ कहाँ गयो ॥
पंच तत्व मिलि काया कीनो तत्व कहा ते कीन रे ॥
कर्मबद्ध तुम जीउ कहत हौ कर्महि किन जीउ दीन रे ॥
हरि महि तनु है तनु महि हरि है सर्व निरंतर सोइ रे ॥
कहि कबीर राम नाम न छोड़ो सहजे होइ सु होइ रे ॥१५॥

अगम दुर्गम गढ़ रचियो बास। जामहि जोति करे परगास ॥
बिजली चमकै होइ अनंद। जिह पौड़े प्रभु बाल गुबिंद ॥
इह जीउ राम नाम लव लागै। जरा मरन छूटै भ्रम भागै ॥
अबरन बरन स्यो मन ही प्रीति। हौ महि गावन गावहि गीति ॥
अनहद सबद होत झनकार। जिह पौड़े प्रभु श्रीगोपाल ॥
खंडल मंडल मंडल मंडा। त्रिय अस्थान तीनि तिय खंडा ॥
अगम अगोचर रह्या अभ्यंत। पार न पावै को धरनीधर मंत ॥
कदली पुहुप धूप परगासा। रज पंकज महि लियो निवास ॥
द्वादस दल अभ्यंतर मंत। जहँ पौड़े श्रीकवलाकंत ॥
अरध उरध मुख लागो कास। सुन्न मंडल महि करि परगासु ॥
ऊहाँ सूरज नाही चंद। आहि निरंजन करै अनंद ॥
सो ब्रह्मंडि पिंडि सो जानु। मानसरोवर करि स्नानु ॥
सोहं सो जाकहुँ है आप। जाको लिपत न होइ पुन्न अरु पाप ॥
अबरन बरन धाम नहि छाम। अबरन पाइयै गुरु की साम ॥
टारी न टरै आवै न जाइ। सुन्न सहज महि रह्या समाइ ॥
मन मद्धे जाने जे कोइ। जो बोलै सो आपै होइ ॥
जोति मंत्रि मनि अस्थिर करै। कहि कबीर सो प्रानी तरै ॥१६॥

आपे पावक आपे पवना। जारै खसम त राखै कवना ॥
राम जपतु तनु जरि किन जाइ। राम नाम चित रह्या समाइ ॥

काको जरे काहि होइ हानि। नटवर खेलै सारिगपानि॥
कह कबीर अक्खर दुइ भाखि। होइगा खसम त लेइगा राखि॥१७॥

आस पास घन तुलसी का बिरवा माँझ बनारस गाऊँ रे॥
वाका सरूप देखि मोही ग्वारिन मोकौ छाड़िन न आउ न जाहु रे॥
तोहि चरन मन लागी। सारिगधर सो मिलै सो जो बड़ भागी॥
वृंदावन मन हरन मनोहर कृष्ण चरावत गाऊ रे॥
जाका ठाकुर तुही सारिगधर मोहि कबीरा नाऊँ रे॥१८॥

इंद्रलोक सिवलोकै जैबो। ओछे तप कर बाहिर ऐबो॥
क्या माँगी किछु थिरु नाहीं। राम नाम राखु मन माही॥
सोभा राज बिभव बड़ि पाई। अंत न काहु संग सहाई॥
पुत्र कलत्र लक्ष्मी माया। इनते कहु कौने सुख पाया॥
कहत कबीर अवर नहि कामा। हमरे मन धन राम को नामा॥१९॥

ईक तु पतरि भरि उरकट कुरकट इक तु पतरि भरि पानी॥
आस पास पंच जोगिया बैठे बीच नकट देरानी॥
नकटी कोठ नगनबाडाइूँ किनहि बिबेकी काटी तूँ॥
सकल माहि नकटी का बासा सकल मारिऔ हेरी॥
सकलिया की हो बहिन भानजी जिनहि बरी तिसु चेरी॥
हमरो भर्त्ता बड़ो बिबेकी आपे संत कहावै॥
ओह हमारे माथे काइमु और हमरै निकट न आवै॥
नाकहु काटी कान्हु काटी काटि कूटि कै डारी॥
कहु कबीर संतन की बैरनि तीनि लोक की प्यारी॥२०॥

इन माया जगदीस गुसाईं तुमरे चरन बिसारे॥
किंचत प्रीति न उपजै जन को कहा करे बेचारे॥
धृग तन धृग धन धृग इह माया धृग मति बुधि फन्ना॥
इस माया कौ दृढ़ करि राखहु बाँधे आप बचन्ना॥
क्या खेती क्या लेखा देवा परपंच झूठ गुमाना॥
कहि कबीर ते अंत बिगूते आया काल निदाना॥२१॥

इसु तन मन मध्ये मदन चोर। जिन ज्ञानरतन हरि लीन मोर॥
मै अनाथ प्रभु कहौ काहि। की कौन बिगूतो मै को आहि॥
माधव दारुन दुख सह्यो न जाइ। मेरी चपल बुद्धि स्यो कहा बसाइ॥
सनक सनंदन सिव सुकादि। नाभि कमल जाने ब्रह्मादि॥
कविजन जोगी जटाधारि। सब आपन औसर चले सारि॥
तू अथाह मोहि थाह नाहि। प्रभु दीनानाथ दुख कहौ काहि॥
मेरो जनम मरन दुख आथि धीर। सुखसागर गुन रव कबीर॥२२॥

इहु धन मेरो हरि का नाउँ। गाँठि न बाँधौ बेचि न खाउँ॥
नाँउ मेरी खेती नाँउ मेरी बारी। भगति करौ जन सुरत तुम्हारी॥
नाउँ मेरे माया नाँउ मेरे पूँजी। तुमहि छोड़ि जानौ नहि दूजी॥
नाउँ मेरे बंधिय नाँउ मेरे भाई। नाँउ मेरे संगी अंति होई सहाई॥
माया महि जिसु रखै उदास। कहि कबीर हौ ताकौ दास॥२३॥

उदक सुमंद सलल की साख्या नदी तरंग समावहिगे॥
सुन्नहि सुन्न मिल्या समदर्सी पवन रूप होइ जावहिंगे॥
बहुरि हम काहि आवहिगे।
आवन जाना हुक्म तिसै का हुक्मै बुज्झि समावहिंगे॥
जब चूकै पंच धातु की रचना ऐते भर्म चुकावहिगे॥
दर्सन छोड़ भए समदर्सी एको नाम धियावहिगे॥
जित हम लाए तितही लागे तैसे करम कमावहिगे॥
हरि जी कृपा करै जौ अपनी तौ गुरु के सबद कमावहिगे॥
जीवत मरहु मरहु फुनि जीवहु पुनरपि जन्म न होई॥
कह कबीर जो नाम समाने सुन्न रह्याँ लव सोई॥२४॥

उपजै निपजै निपजिस भाई। नयनहु देखत इह जग जाई॥
लाज न मरहु कहौ घर मेरा। अंत की बार नही कछु तेरा॥
अनेक जतन कर काया पाली। मरती बार अगनी संग जाली॥
चोवा चंदन मर्दन अंगा। सो तनु जले काठ के संगा॥
कहु कबीर सुनहु रे गुनिया। बिनसैगो रूप देखै सब दुनिया॥२५॥

उलटत पवन चक्र षट भेदै सुरति सुन्न अनुरागी॥
आवै न जाइ मरै न जीवै तासु खोज बैरागी॥
मेरो मन मनही उलटि समाना।
गुरु परसादि अकल भई अवरै नातरु था बेगाना॥
निवरै दूरि दूरि फनि निवरै जिन जैसा करि मान्या॥
अलउती का जैसे भया बरेडा जिन पिया तिन जान्या॥
तेरी निर्गुण कथा काहि स्यो कहिये ऐसा कोई बिबेकी॥
कहु कबीर निज दिया पलीता तिनते सीझल देखी॥२६॥

उलटि जात कुल दोऊ बिसारी। सुन्न सहजि महि बुनत हमारी॥
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित मुल्ला छाड़े दोऊ॥
बुनि बुनि आप आप पहिरावौ। जह नही आप तहाँ है गावौं॥
पंडित मुल्ला जो लिखि दिया। छाड़ि चले हम कछू न लिया॥
रिदै खलासु निरिखि ले मीरा। आपु खोजि खोजि मिलै कबीरा॥२७॥

उस्तुति निंदा दोऊ बिबरजित तजहू मानु अभिमान॥
लोहा कंचन सम करि जानहि ते मूरति भगवान॥
तेरा जन एक आध कोई।
काम क्रोध लोभ मोह बिबरजित हरिपद चीन्है सोई॥
रजगुण तमगुण सतगुण कहियै इह तेरी सब माया॥
चोथे पद को जो नर चीन्है तिनहि परम पद पाया॥
तीरथ बरत नेम सुचि संजम सदा रहैं निहकामा॥
त्रिस्ना अरु माया भ्रम चूका चितवत आतमरामा॥
जिस मंदिर दीप परगास्या तह नासा॥
निरभौ पूरि रहे भ्रम भागा कहि कबीर जनदासा॥२८॥

ऋद्धि सिद्ध जाको फुरी तब काहू स्यो क्या काज॥
तेरे कहिने कौ गति क्या कहौ मैं बोलत ही बड़ लाज॥
राम जिह पाया राम ते भवहि न बारै बार॥
झूठा जग डहकै घना दिन दुई बर्तन की आस॥
राम उदक जिह जान पिया तिह बहुरि न भई पियास॥
गुरु प्रसादि जिहि बुझिया आसा ते भया निरास॥
सब सचुन दरि आइया जौ आतम भया उदास॥
राम नाम रस चाखिया हरि नामा हरि तारि॥
कहु कबीर कंचन भया भ्रम गया समुद्रै पारि॥२९॥

एक कोट पंचसिक दारा पंचे माँगहि हाला।
जिमि नाही मै किसी की बोई ऐसा देन दुखाला॥
हरि के लोगा मोकौ नीति डसे पटवारी।
ऊपरा भुजा करि मैं गुरु पहि पुकारा तिनही लिया उबारी॥
नव डाडी दस मुंसप धावहि रइयति बसन न देही।
डोरी पूरी मापहि नाही बहु बिष्टाला लेही॥
बहुतरि घर इक पुरुष समाया उन दीया नाम लिखाई।
धर्मराय का दफ्तर सोध्या बाकी रिज मन काई॥
संता की मति कोई निदहु संत राम है एको।
कहु कबीर मै सो गुरु पाया जाका नाउ बिबेको॥३०॥

एक जोति एक मिली किवा होइ न होइ।
जितु घटना मन उपजै फूटि मरै जन सोइ॥
सावल सुंदर रामय्या मेरा मन लागा तोहि।
साधु मिलै सिधि पाइयै कियेहु योग की भोग॥
दुहु मिलि कारज ऊपजै राम नाम संयोग।
लोग जानै इहु गीता है इहु तौ ब्रह्म बिचार॥
ज्यो कासी उपदेस होइ मानस मरती बार।

कोई गावै कोई सुनै हरि नामा चितु लाइ॥
कहु कबीर संसा नही अंत परम गति पाइ॥३१॥

एक स्वान कै घर गावण जननी जानत सुत बड़ा होता है।
इतना कुन जानै जि दिन दिन अवध घटत है॥
मोर मोर करि अधिक लाहु धरि पेखत ही जमराउ हसै।
ऐसा तै जगु भरम भुलाया कैसे बुझै जब मोह्या है माया॥
कबीर छोड़ि बिखया रस इतु संगति निहचौ मरना।
यह प्राणी अनत जीवण बाणी इन बिधि भवसागर तरना॥
जाँति सुभावै ता लागे भाउ। भर्म भुलावा बिचहु जाइ।
उपजै सहज ज्ञान मति जागै। गुरु प्रसाद अंतर लव लागै॥
इतु संगति नही मरणा। हुकुम पछाणि ता खसमै मिलणा॥३२॥

ऐसो अचरज देख्यौ कबीर। दधि कै भोलै बिरौलै नीर॥
हरी अंगूरी गदहा चरै। नित उठि हासै हींगै मारै॥
माता भैसा अम्मुहा जाइ। कुदि कुदि चरै रसातल पाइ॥
कहु कबीर परगट भई खेड़। ले ले कौ चूघै नित भेड़॥
राम रमत मति परगटि आई। कहु कबीर गुरु सोझी पाई॥३३॥

ऐसौ इहु संसार पेखना रहन न कोऊ पैहै रे।
सूधे सूधे रेगि चलहु तुम नतर कुधका दिवैहै रे॥
बारे बूढे तरुने भैया सबहु जम लै जैहै रे।
मानस बपुरा मूसा कीनौ मीच बिलैया खैहै रे॥
धनवंता अरु निर्धन मनई ताकी कछू न कानी रे।
राजा परजा सम कारि मारै ऐसो काल बड़ानी रे।
हरि के सेवक जो हरि भाये तिनकौ कथा नियारी रे।
आवहि न जाहि न कबहूँ मरते पारब्रह्म संगारी रे॥
पुत्र कलत्र लच्छामी माया इहै तजहु जिय जानी रे।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु मिलिहै सारंगपानी रे॥३४॥

ओई जू दीसहि अंबरि तारे। किन ओइ चीते चीतन हारे।
कहु रे पंडित अंबर कास्यो लागा। बूझे बूझनहार सभागा॥
सूरज चंद्र करहि उजियारा। सब महि पसरत्या ब्रह्म पसास्या।
कहु कबीर जानैगा सोई। हिरदै राम मुखि रामै होई॥३५॥

कंचन स्यो पाइयै नही तोलि। मन दे राम लिया है मौलि।
अब मोहि रांम अपना करि जान्या। सहज सुभाइ मेरा मन मान्या॥
ब्रह्मै कथि कथि अंत न पाया। राम भगति बैठे घर आया।
कहु कबीर चंचल मति त्यागी। केवल राम भक्ति निज भागी॥३६॥

कत नही ठौर मूल कत लावौ। खोजत तनु महि ठौर न पावौ।
लागी होइ सो जानै पीर। राम भगत अनियाले तीर॥
एक भाइ देखौ सब नारी। क्या जाना यह कौन पियारी।
कहु कबीर जाके मस्तक भाग। सब परिहरि ताको मिले सुहाग॥३७॥

करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुन बिनती मेरी॥
हौ बारी मुख फेरि पियारे। करवट दे मोकौ काहे कौ मारे॥
जौ तन चीरहि अंग न मोरौ। पिड परै तौ प्रीति न तोरौ॥
हम तुम बीच भयो नहीं कोई। तुमहि सुकंत नारि हम सोई॥
कहत कबीर सुनहु रे होई। अब तुमरी परतीति न होई॥३८॥

कहा स्वान कौ सिमृति सुनाये। कहा साकत पहि हरि गुन गाये॥
राम राम रमे रमि रहियै। साकत स्यों भूलि नहि कहियै॥
कौआ कहा कपूर धराये। कह बिसियर को दूध पिआये॥
संत संगति मिलि बिबेक बुध होई। पारस परस लोहा कंचन सोई॥
सकत स्वान सब कर कहाया। जो धुरि लिख्या सु करम कमाया॥
अमिरत लै लै नीम सिचाई। कहत कबीर बाको सहज न जोई॥३९॥

काम क्रोध तृष्णा के लीने गति नही एकै जाना।
फूटी आंखे कछू न सूझै बूड़ि मूये बिनु पानी॥
चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े।
अस्थि चर्म बिष्टा के मूँदे दुरगंधहि के बेढ़े॥
राम न जपहु कौन भ्रम भूले तुमते काल न दूरे।
अनेक जतन करि इह तन राखहु रहै अवस्था पूरे॥
आपन कीया कछू न होवै क्या को करै परानी।
जाति सुभावे सति गुरु भेटै एको नाम बखानी॥
बलुआ के घरुआ मै बसते फुलवत देह आयने।
कहु कबीर जिह राम न चेत्यो बूड़े बहुत सयाने॥४०॥

काया ,कलालनि लादनि मेलौ गुरु का सबद गुड़ कीनु रे।
त्रिस्ना काम क्रोध मद मत्सर काटि काटि कसु दीन रे॥
कोई हैरै संत सहज सुख अंतरि जाको जप तप देउ दलाली रे।
एक बूँद भरि तन मन देवो जो मद देइ कलाली रे॥
भुवन चतुरदस भाटी कीनी ब्रह्म अगिन तन जारी रे।
मुद्रा मदक सहज धुनि लागी सुखमन पोचनहारी रे॥
तीरथ बरत नेम सुचि संजम रवि ससि गहनै देउ रे।
सुरति पियास सुधारस अमृत एहु महारसु पेउ रे॥
निरझर धार चुऔ अति निर्मल इह रस मनुआ राती रे।
कहि कबीर सगले मद छूछे इहै महारस साचो रे॥४१॥

कालबूत की हस्तनी मन बौरा रे चलत रच्यो जगदीस।
काम सुजाइ गज बसि परे मन बौरा रे अंकसु सहियो सीस॥
बिषय बाधु हरि राधु समझु मन बौरा रे।
निर्भय होइ न हरि भजे मन बौरा रे गहूयो न राम जहाज॥
मर्क्कट मुष्टी अनाज की बन बौरा रे लीनी हाथ पसारि।
छूटन को संसा परया मन बौरा रे नाच्यो घर घर बारि॥
ज्यों नलनी सुअटा गहूयो मन बौरा रे माया इहु व्योहारू।
जैसा रंग कसुँम का मन बौरा रे त्यो पसरये पासारू॥
न्हावन को तीरथ घने मन बौरा रे पूजन कौ बहु देव।
कह कबीर छूटत नही मन बौरा रे छूट न हरि की सेव॥४२॥

काहू दीने पाट पटंबर काहू पलघ निवारा।
काहू गरी गोदरी नाही काहू खान परारा॥
अहि रख बादु न कीजै रे मन। सुकृत करि करि लीजै रे मन।
कुमारै एक जु माटी गूंधी बहु बिधि बानी लाई॥
काहू महि मोती मुकताहल काहू ब्याधि लगाई।
सूमहि धन राखन कौ दीया मुगध कहै धन मेरा॥
जम का दंड मूंड महि लागै खिन महि करै निबेरा।
हरि जन ऊतम भगत सदावै आज्ञा मन सुख पाई॥
जो तिसु भावै सति करि मानै भाणा मंत्र बसाई।
कहै कबीर सुनहु रे संतहु मेरी मेरी झूठी॥
चिरगट फारि चटारा लै गयो तरी तागरी छूटी॥४३॥

किनही बनज्या काँसा ताबा किनही लौग सुपारी।
संतहु बनज्या नाम गोबिंद का ऐसी खेप हमारी॥
हरि के नाम के ब्यापारी।
हीरा हाथ चढ्या निर्मोलक छूटि गई संसारी॥
साँचे लाए तो सच लागे साँचे के ब्योपारी॥
साँची बस्तजु के भार चलाए पहुँचे जाइ भंडारी॥
आपहि रतन जवाहर मानिक आपै है पासारी।
आपै है दस दिसि आप चलावै निहचल है ब्यापारी॥
मन करि बैल सुरति करि पैडा ज्ञान गोनि भरी डारी।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु निबाही खेप हमारी॥४४॥

कियो सिगार मिलन के ताई। हरि न मिले जगजीवन गुसाई।
हरि मेरौ पिउ मै राम की बहुरिया। राम बडे मै तनक लहुरिया।।
धनि पिय एकै संग बसेरा। सेज एकु पै मिलन दुहेरा।
धन्न सुहागनि जो पिय भावै। कहि कबीर फिर जनमि न आवै॥४५॥

कूटन सोइ जु मन को कूटै। मन कूटै तौ जम तै छूटै॥
कुटि कुटि मन कसवही लावै। सो कूटनि मुकति बहु पावै॥
कूटन किसै कहहु संसार। सकल बोलन के माहि बिचार॥
नाघन सोइ जू मन स्यौ नाचै। झूठ न पतियै परचै साचै॥
इसु मन आगे पूरै ताल। इसु नाचन के मन रखवाल॥
बाजरी सो बजारहि सोधै। पाँच पलीतह कौ परबोधै॥
नव नायक की भगति पछानै। सो बाजारी हम गुरु मानै॥
तस्कर सोइ जिता तित करै। इंद्री कै जतनि नाम ऊचरै॥
कहु कबीर हम ऐसे लक्खन। धन्न गुरुदे अतिरूप बिचक्खन॥४६॥

कोऊ हरि समान नही राजा।
ए भूपति सब दिवस चारि के झठे करत दिवाजा॥
तेरो जन सोइ कत डोलै तीनि भवन पर छाजा।
हाथ पसारि सकै को जन कौ बोलि सकै न अंदाजा॥
चेति अचेति मूढ़ मन मेरे बाजे अनहद बाजा।
कहि कबीर संसा भ्रम चूको ध्रुव प्रह्लाद निवाजा॥४७॥

कोटि सूर जाकै परगास। कोटि महादेव अरु कबिलास॥
दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करै। ब्रह्मा कोटि बेद उच्चारै॥
जौ जाँनौ तौ केवल राम। आन देव स्यो नाही काम॥
कोटि चंद्र मे करहि चराक। सुर तेतीसौ जेवहि पाक॥
नवग्रह कोटि ठाढ़े दरबार। धर्म कोटि जाकै प्रतिहार॥
पवन कोटि चौबारे फिरहि। बासक कोटि सेज बिस्तरहि॥
समुँद कोटि जाके पनिहार। रोमावलि कोटि अठारहि भार॥
कोटि कुबेर भरहि भंडार। कोटिक लखमी करै सिगार॥
कोटिक पाप पुन्य बहु हिरहि। इंद्र कोटि जाके सेवा करहि॥
छप्पन कोटि जाके प्रतिहार। नगरी नगरी खियत अपार॥
लट छूटी बरतै बिकराल। कोठि कला खेलै गोपाल॥
कोटि जग जाकै दरबार। गंधर्ब कोटहि करहि जयकार॥
बिद्या कोटि सबै गुन कहै। ताऊ पारब्रह्म का अंत न लहै॥
बावन कोटि जाकै रोमावली। रावन सैना जह ते छली॥
सहस कोटि बहु कहत पुरान। दुर्योधन का मथिया मान॥
कंद्रप कोटि जाकै लवै न धरहि। अंतर अंतरि मनसा हरहि॥
कहि कबीर सुनि सारंगपान। देहि अभयपद मानौ दान॥
कोरी को काहू भरम न जाना। सब जग आन तनायो ताना॥
जब तुम सुनि ले बेद पुराना। तब हम इतनुक पसरयो ताना॥
धरनि अकास की करगह बनाई। चंद सुरज दुइ साथ चलाई॥४८॥

पाई जोरि बात इक कीनी तह ताती मन माना॥
जोलाहे घर अपना चीनी घट ही राम पछाना॥

कहत कबीर कारागह तोरी। सूतै सूत मिलाये कोरी॥४९॥

कौन काज सिरजे जग भीतरि जनमि कौन फल पाया।
भव निधि तरन तारन चिंतामनि इक निमिष न इहु मन लाया॥
गोब्यिंद हम ऐसे अपराधी।
जिन प्रभु जीउ पिंड था दीया। तिसकी भाव भगति नहि साधी॥
परधन परतन परतिय निंदा पर अपवाद न छूटै॥
आवागमन होत है फुनि फुनि इहु पर संग न छूटै॥
इहि घर कथा होत संतन इक निमष न कीनो मैं फेरा॥
लंपट चोर धूत मतवारे तिन सँगि सदा बसेरा॥
दया धर्म ओ गुरु की सेवा ए सुपनंतरि नाहीं।
दीन दयाल कृपाल दमोदर भगति बछल भैहारी॥
कहत कबीर भीर जनि राखहु हरि सेवा करौ तुमारी॥५०॥

कौन तो पूत पिता को काकौ। कौन मेरे को देइ संतापो॥
हरि ठग जग कौ ठगौरी लाई। हरि के बियोग कैसे जियो मेरी माई॥
कौन को पुरुष कौन की नारी। या तत लेहु सरीर बिचारी॥
कहि कबीर ठग स्यो मन मान्या। गई ठगौरी ठग पहिचान्या॥५१॥

क्या जप, क्या तप क्या ब्रत पूजा। जाकै रिदै भाव है दूजा॥
रे जन मन माधव स्यो लाइयै। चतुराई न चतुभुंज पाइयै॥
परिहरि लोभ अरु लोकाचार। परिहरि काम क्रोध अहंकारा॥
कर्म करत बद्धे अहमेव। मिल पाथर की करही सेव॥
कहु कबीर भगत कर पाया। भोलै भाइ मिले रघुराया॥५२॥

क्या पढ़िये क्या गुनियै। क्या वेद पुराना सुनियै॥
पढ़े सुनै क्या होई। जौ सहज न मिलियो सोई॥
हरि का नाम न जपसि गवारा। क्या सोचहि बारंबार॥
अँधियारे दीपक चहिये। इक वस्तु अगोचर लहियै॥
वस्तु अगोचर पाई। घट दीपक रह्या समाई॥
कहि कबीर अब जान्या। जब जान्या तौमन मान्या॥
मन माने लोग न पतीजै। न पतीजै तौ क्या कीजै॥५३॥

खसम मरे तौ नारी न रोवै। उस रखवारा औरो होवै॥
रखवारे का होइ बिनास। आगै नरक ईहा भोग बिलास॥
एक सुहागिन जगत पियारी। सगले जीव जंत की नारी॥
सोहागिन गल सोहै हार। संत को बिष बिगसै संसार॥
करि सिंगार बहै पखियारी। संत की ठिठकी फिरै बिचारी॥
संत भागि ओह पाछै परै। गुरु परसादी मारहु डरै॥

साकत को ओह पिड पराइणि। हमको दृष्टि परै त्रखि डाइणि॥
हम तिसका बहु जान्या भेव। जबहु कृपाल मिले गुरु देव॥
कहु कबीर अब बाहर परी। संसारै कै अंचल॰ लरी॥५४॥

गंग गुसाइन गहिर गँभीर। जंजीर बाँधि करि खरे कबीर॥
मन न डिगै तन काहे को डराइ। चरन कमल चित रह्यो समाइ॥
गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर॥
कहि कबीर कोऊ संग न साथ। जल थल राखन है रघुनाथ॥५५॥

गंग के संग सलिता बिगरी। सो सलिता गंगा होइ निबरी॥
बिगरयौ कबीरा राम दुहाई। साधु भयो अन कतहि न जाई॥
चंदन के संगि तरवर बिगरयौ। सो तरवर चंदन है निबरयो॥
पारस के संग ताँबा बिगर्‌या। सो ताँबा कंचन है निबर्‌यो॥
संतन संग कबीरा बिगर्‌यो। सो कबीर राम है निबर्‌यो॥५६॥

गगन नगरि इक बूँद न बर्षै नाद कहा जु समाना।
पारब्रह्म परमेसरु माधव परम हंस ले सिधाना॥
बाबा बोलते ते कहा गये देही के संगि रहते।
सुरति माहि जो निरते करते कथा बार्ता कहते॥
बजावनहारो कहाँ गयो जिन इहु मंदर कीना।
साखी सबद सुरति नही उपजै खिंच तेज सब लीना॥
स्रवननि बिकल भये संगि तेरे इंद्री का बल थाका।
चरन रहे कर ढरक परे है मुखहु न निकसै बाता॥
थाके पंचदूत सब तस्कर आप आपणे भ्रमते।
थाका मन कुंजर उर थाका तेज सूत धरि रमते॥
मिरतक भये दसै बंद छूटे। मित्र भाई सब छोरे।
कहत कबीरा जो हरि ध्यावै जीवन बंधन तोरे॥५७॥

गगन रसाल चुए मेरी भाठी। संचि महारस तन भया काठी।
वाकौ कहिये सहज मतवारा। पीवत राम रस ग्यान बिचारा॥
सहज कलाननि जौ मिलि आई। आनंदि माते अनदिन जाई।
चीन्हत चीत निरंजन लाया। कहु कबीर तौ अनुभव पाया॥५८॥

गज नव गज दस इक्कीस पुरी आये कत नाई।
साठ सूत नव खंड बहत्तर पाटु लगो अधिकाई॥
गई बुनावन माहो घर छोड्या जाइ जुलाहो।
गजी न मिनियै तोलि न तुलियै पाँच न सेर अढ़ाई॥
जो करि पाचन बेगि न पावै झगरू करै घर आई।
दिन की बैठ खसम की बरकस इह बेला कत आई॥
छूटे कुंडे भीगै पुरिया चल्यो जुलाहो रिसाई।

छोछी नली तंतु नही निकसै नतरू टही उरझाही॥
छोड़ि परसाई हारहु बपुरी कहु कबीर समुझाही॥५९॥

गज साढ़े ते तै धौतिया तिहरे पाइनि तग्गा।
गली जिना जयमालिया लौटे हत्थिनि बग्गा॥
ओइ हरिके संतन आखि यदि बनारसि के ठग्गा।
ऐसे संत न मोकौ भावहि डाला स्यो पेड़ा गटकावहि॥
बासन माजि धरावहि ऊपर काठी धोइ जलावहि।
बसुधा खोदि करहि दुइ चूल्हे सारे माणस खावहि॥
ओई पापी सदा फिरहि अपराधौ मुखहु अपरस कहावहि।
सदा सदा फिरहि अभिमानी सकल कुटुंब डुबावहि॥
जित को लाया तितही लागा तैसे करम कमावै।
कहु कबीर जिसु सति गुरु भेटे पुनरपि जनमि न आवै॥६०॥

गर्भ वास महि कुल नहि जाती। ब्रह्म बिद ते सब उतपाती॥
कहु रे पंडित बामन कब के होये। बामन कहि कहि जनम मति खोये॥
जौ त ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया। तौ आन बाट काहे नही आया॥
तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद। हम कत लोहु तुम कत दूध॥
कहु कबीर जो ब्रह्म बिचारै। सो ब्राह्मण कहियत है हमारे॥६१॥

गुड करि ज्ञान ध्यान करि महुँवा भव भाठी मन धारा।
सुषमन नारी सहज समानी पीवै पीवन हारा॥
अवधु मेरा मन मतवारा।
उन्मद चढ़ा रस चाख्या त्रिभुवन भया उजियारा॥
दुइ पुर जोरि रसाई भाठी पीउ महारस भारी।
काम क्रोध दुइ किये जले ता छूटि गई संसारी॥
प्रगट प्रगास ज्ञान गुरु गम्मित सति गुरु ते सुधि पाई।
दास कबीर तासु मदमाता उचकि न कबहूँ जाई॥६२॥

गुरु चरण लागि हम बिनवत पूछत कह जीव पाया।
कौन काज जग उपजै कहहु माँह समझाया॥
देव करहु दया मोहि मारग लावहु जित भवबंधन टूटै।
जनम मरण दुख फेड़ कर्म सुख जीय जनम ते छूटै॥
माया फाँस बंधन ही फारै अरु मन सुन्नि न लूकै।
आपा पद निर्वाण न चीन्ह्या इन बिधि अभिउ न चूकै॥
कही न उपजै उपजी जाणै भाव प्रभाव बिहूणा।
उदय अस्त की मन बुधि नासी तो सदा सहजि लवलीणा॥
ज्यो प्रतिबिंब बिंब कौ मिलिहै उदक कुंभ बिगराना।
कहु कबीर ऐसा गुण भ्रम भागा तौ मन सुन्न समाना॥६३॥

गुरु सेवा ते भगति कमाई। तब इह मानस देही पाई॥
इस देही कौ सिमरहि देव। सो देही भजु हरि की सेव॥
भजहु गुबिंद भूल मत जाहु। मानस जनम का रही लाहु॥
जब लग जरा रोग नही आया। जब लग काल ग्रसी नहि काया॥
जब लग बिकल भई नही बानी। भजि लेहि रे मन सारंगपानी॥
अब न भजसि कब भाई। आवै अंत न भजिया जाई॥
जो किछु करहि सोई अवि सारु। फिर पछताहु न पावहु पारु॥
सो सेवक जो लाया सेव। तिनही पाये निरंजन देव॥
गुरु मिलि ताके खुले कपाट। बहूरि न आवै योनी बाट॥
इही तेरा अवसर इह तेरी बार। घट भीतर तू देखु बिचारि॥
कहत कबीर जीति कै हारि। बहुबिधि कह्यो पुकारि पुकारि॥६४॥

गृह तजि बन खंड जाइयै चुनि खाइयै कंदा।
अजहु बिकार न छोड़ई पापी मन मंदा॥
क्यौ छूटौ कैसे तरौ भवनिधि जल भारी।
राखु राखु मेरे बीठुला जद सरनि तुमारी॥
विषम विषय बासना तजिय न जाई।
अनिक यत्न करि राखियै फिरि लपटाई॥
जरा जावन जोबन गया कछु कीया न नीका।
इह जीया निर्मोल को कोड़ी लगि मीका॥
कहु कबीर मेरे माधवा तू सर्बव्यापी।
तुम सम सरि नाही दयाल मो सम सरि पापी॥६५॥

गृह शोभा जाकै रे नाहि। आवत पहिया खूधे जाहि॥
बाकै अंतरि नहीं संतोष। बिन सोहागिन लागै दोष॥
धन सोहागिन महा पवीत। तपे तपीसर डालै चीत॥
सोहागनि किरपन की पूती। सेवक तजि जग तस्यो सूती॥
साधू कै ठाढ़ी दरबारि। सरनि तेरी मोकौ निस्तारि॥
सोहागनि है अति सुंदरी। पगनेवर छनक छन हरी॥
जौ लग प्रान तऊ लग संगे। नाहिन चलो बेगि उठि नंगे॥
सोहागनि भवन त्रै लीया। दस अष्ट पुराण तीरथ रसकीया॥
ब्रह्मा बिष्णु महेसर बेधे। बड़ भूपति राजै है छेधे॥
सोहागनि उर वारि न पारि। पाँच नारद कै संग बिधवारि॥
पाँच नारद के मिटवे फूटे। कहु कबीर गुरु किरपा छूटे॥६६॥

चंद सूरज दुइ जोति सरूप। जोता अंतरि ब्रह्म अनूप॥
करू रे ज्ञानी ब्रह्म बिचारु। जोति अंतरि जरि आप सारु॥
हीरा देखि हीरै करो आदेस। कहै कबीर निरंजन अलेखु॥६७॥

चरन कमल जाके रिदै बसै सो जम क्यौं डोलै देव।
मानौ सब सुख नवनिधि ताके सहजि जस बोलै देव॥
तब इह मति जौ सब महि पेखै कुटिल गाँठ जब खोलै देव।
बारंबार माया ते अटकै लै नरु जा मन तोलै देव॥
जहँ उह जाइ तही सुख पावे माया तासु न झोलै देव।
कहि कबीर मेरा मन मान्या राम प्रीति को ओलै देव॥६८॥

चार पाव दुइ सिग गुंग मुख तब कैसे गुन गैहै॥
ऊठत बैठत ठैगा परिहै तब कत मूड लुकै है।
हरि बिन बैल बिराने है है।
फाटे नाक न टूटै का धन कोदौ कौ भुस खैहै॥
सारो दिन डोलत बन महिया अजहु न पेट अघैहै॥
जन भगतन को कही न माना कीयो अपनो पैहै॥
दुख सुख करत महा भ्रम बूडौ अनिक योनि भरमैहै।
रतन जनम खोयो प्रभु बिसरयो इह अवसर कत पैहै॥
भ्रमत फिरत तेलक के कपि ज्यो गति बिनु रैन बिहैहै।
कहत कबीर रांम नांम बिन मूंड घुनै पछितैहै॥६९॥

चारि दिन अपनी नौबति चले बजाइ।
इतन कु खटिया गठिया मठिया संगि न कछु लै जाइ॥
देहरी बैठी मेहरी रोवै द्वारे लौ संग माइ।
मरहट लगि सब लोग कुटुंब मिलि हंस इकेला जाई॥
बैसु तबै बितवै पुर पाटन बहुरि न देखै आई।
कहत कबीर राम को न सिमरहु जन्म अकारथ जाई॥७०॥

चोवा चंदन मर्दन अंगा। सो तन जलै काठ के संगा॥
इसु तन धन की कौन बड़ाई। धरनि परै उरबारि न जाई॥
रात जि सोवहि दिन करहि काम। इक खिन लेहि न हरि को नाम॥
हाथि त डोर मुख खायो तंबोर। मरती बार कसि बाँध्यो चोर॥
गुरू मति रहि रसि हरि गुन गावै। रामै राम रमत सुख पावै॥
किरपा करि के नाम दृढ़ाई। हरि हरि वास सुगंगा बसाई॥
कहत कबीर चेत रे अंधा। सत्य राम झूठ सब धंधा॥७१॥

जग जीवन ऐसा सूपने जैसा जीवन सुपन समानं।
साधु करि हम गांठ दीनी छोड़ि परम निधानं॥
बाबा माया मोहि हितु कीन। जिन ज्ञान रतन हरि लीन।
नयन देखि पतंग उरझै पसु न देखै आगि॥
काल पास न मुगध चेतै कनिक कामिनि लागि॥
करि विचारि बिकार परिहरि तरन तारन सोइ॥

कहि कबीर ज़ग जीवन ऐसा दुतिया नही कोइ ॥७२॥

जन्म मरन का भ्रम गया गोबिद लिव लागी।
जीवत सुन्नि समानिया गुरु साखी जागी॥
कासी ते धुनी उपजे धुनि कासी जाई ॥
कासी फूटी पंडिता धुनि कहाँ समाई ॥
त्रिकुटी संधि मै पेखिया घटहू घट जागी।
ऐसी बुद्धि समाचरी घट माहि तियागी॥
आप आप जे जागिया तेज तेज समाना।
कहु कबीर अब जानिया गोबिद मन माना ॥७३॥

जब जरिये तब होइ भसम तन रहै किरम दल खाई।
काची गागरि नीर परतु है या तन की इहै बड़ाई॥
काहे भया फिरतौ फूला फूला।
जब दस मास उरध मुका रहता सो दिन कैसे भूला॥
ज्यो मधु मक्खी त्यो सठोरि रसु जोरि जोरि धन कीया।
मरती बार लेहु लेहु करिये भूत रहन क्यो दीया।
देहुरी लौ वरी नारि संग भई आगै सजन सुहेला।
मरघट लौ सब लगे कुटुंब भयो आगै हंस अकेला॥
कहत कबीर सुनहु रे प्रानी परे काल ग्रस कूआ।
झूठी माया आप बँधाया ज्यो नलनी भ्रमि सुआ॥७४॥

जब लग तेल दीवे मुख बाती तब सुझै सब कोई।
तेल जल बाती ठहरानी सूना मंदर होई॥
रे बौरे तुहि घरी न राखै तूँ राम नाम जपि सोई।
काकी माता पिता कहु काको कौन पुरुष की जोई॥
घट फूटे कोऊ बात न पूछै काढहु होई।
देहुरी बैठ माता रोवै खटिया ले गये भाई॥
लट छिटकाये तिरिया रोवै हंस इकेला जाई।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु भौसागर के ताई॥
इस बंदे सिर जुलम होता है जम नही घटै गुसाई॥७५॥

जब लग मेरी करै। तब लग काज एक नहि सरै॥
जब मेरी मेरी मिटि जाई। तब प्रभु काज सवारहि आई।
ऐसा ज्ञान बिचारु मना। हरि किन सिमरहु दुख भंजना॥
जब लगि सिघ रहे बन माहि। तब लग बन फूलई नाहि॥
जब ही स्यार सिघ कौ खाई। फूल रही सगली बनराई॥
जीतौ बूडै हारो तरै। गुरु परसादि पार उतरै॥
दास कबीर कहै समझाइ। केवल राम रहहु लिव लाइ॥७६॥

जब हम एकौ एक करि जानिया। तब लोग काहै दुख मानिया॥
हम अपतह अपनी पति खोई। हमरै खोज परहु मति कोई॥
हम मंदे मंदे मन माहि। साँझपाति काहू स्यो नाही॥
पति मा अपति ताकी नही लाज। तब जान्हुगे जब उघरैगो काज॥
कहु कबीर पति हरि पखानु। सरव त्यागी भजु केवल रामु॥७७॥

जल महि मीन माया के बेधे। दीपक पतंग माया के छेदे॥
काम माया कुंजर को व्यापै। भुवंगम भृगं माया माहि खापै॥
माया ऐसी मोहनी भाई। जेते जीय तेते डहकाई॥
पंखी मृग माया महि राते। साकर माँखी अधिक संतापे॥
तुरे उष्ट माया महि मेला। सिध चौरासी माया महि खेला॥
छिय जती माया के बंदा। नवै नाथु सूरज अरु चंदा॥
तपे रखीसर माया महि सूता। माया महि काल अरु पंच दूता॥
स्वान स्याल माया महि राता। बंतर चीते अरु सिघाता॥
माजार गाडर अरु लूबरा। बिरख सूख माया महि परा॥
माया अंतर भीने देव। सागर इंद्रा अरु धरतेव॥
कहि कबीर जिसु उदर तिसु माया। तब छूटे जब साधु पाया॥७८॥

जल है सूतक थल है सूतक सूतक ओपति होई।
जनमे सूतक मुए फुनि सूतक सूतक परज बिगोई॥
कहुरे पंडित कौन पवीता ऐसा ज्ञान जपहु मेरे मीता।
नैन्हु सूतक बैन्हु सूतक स्रवनी होई॥
ऊठत बैठत सूतक लागै सूतक परै रसोई।
फाँसन की बिधि सब कोऊ जानै छूटन की इकु कोई॥
कहि कबीर राम रिदै बिचारे सूतक तिनै न होई॥७९॥

जहँ किछु अहा तहाँ किछु नाही पंच तत्व तह नाही।
इड़ा पिगला सुषमन बंदे ये अवगुन कत जाही॥
तागा तूटा गगन बिनसि गया तेरा बोलत कहा समाई।
एह संसा मौको अनदिन व्यापै मोको कौन कहै समझाई॥
जब ब्रह्मांड पिड तह नाही रचनहार तह नाही।
जोड़नहारी सदा अतीता इह कहिये किसु माही॥
जोड़ी जुड़ै न तोड़ी टूटै जब लग होइ बिनासी।
काको ठाकुर काको सेवक को काहू के जासी॥
कहु कबीर लिव लागि रही है जहाँ बसै दिन राती।
वाका मर्म वोही पर जानै ओहु तौ सदा अबिनासी॥८०॥

जाके निगम दूध के ठाटा। समुद बिलोवन की माटा॥
ताकी होहु बिलोवनहारी। क्यो मेटैगी छाछि तुम्हारी॥
घेरी तू राम न करसि भतारा। जग जीवन प्रान अधारा॥

तेरे गलहि तौक पग बेरी। तू घर घर रमिए फेरी॥
तू अजहु न चेतसि चेरी। तू जेम बपुरी है हेरी॥
प्रभु करन करावन हारी। क्या चेरी हाथ बिचारी॥
सोई सोई जागी। जितु लाई तितु लागी॥
चेरी तै सुमति कहाँ ते पाई। जाके भ्रम की लीक मिटाई॥
सुरसु कबीरै जान्या। मेरो गुरु प्रसाद मन मान्या॥८१॥

जाकै हरि सा ठाकुर भाई। मुकति अनत पुकारन जाई॥
अब कहु राम भरोसा तोरा। तब काहू को कौन निहोरा॥
तीनि लोक जाके हहि भार। सो काहे न करै प्रतिपार॥
कहु कबीर इक बुद्धि बिचारी। क्या बस जौ विष दे महतारी॥८२॥

जिन गढ़ कोठि किए कंचन के छोड़ गया सो रावन।
काहे कीजत है मन भावन।
जब जम आई केस ते पकरै तहँ हरि को नाम छुड़ावन।
काल अकाल खसम का कीना इहु परपंच बधावन॥
कहि कबीर ते अंते मुक्ते जिन हिरदे राम रसायन॥८३॥

जिह मुख बेद गायत्री निकसै सो क्यो ब्राह्मन बिसरु करै।
जाके पाये जगत सब लागै सो क्यो ब्राह्मन पंडित हरि न कहै॥
काहे मेरे ब्राह्मन हरि न कहहि रामु न बोलहि पाँडे दोजक भरहि।
आपन ऊँच नीच घरि भोजन हठे करम करि उदर भरहि॥
चौदस अमावस रचि रचि माँगहि कर दीपक लै कूप परहि।
तूँ ब्राह्मन मै कासी का जुलाहा मोहि तोहि बराबरि कैसे कै बनहि॥
हमरे राम नाम कहि उबरे बेद भरोसे पाँडे डूब मरहि॥८४॥

जिह कुल पूत न ज्ञान बिचारी। बिधवा कस न भई महतारी॥
जिह नर राम भगति नही साधी। जनमत कस न मुयो अपराधी॥
मुचमुच गर्भ गये कीन बचिया। बुडभुज रूप जीवे जग मझिया॥
कहु कबीर जैसे सुंदर स्वरूप। नाम बिना जैसे कुबज कुरूप॥८५॥

जिह मरनै कब जगत तरास्या। सो मरना गुरु सबद प्रगास्या॥
अब कैसे मरो मरन मन मान्या। मर मर जाते जिन राम न जान्या॥
मरनौ मरन कहै सब कोई। सहजै मरै अमर होइ सोई॥
कहु कबीर मन भया अनंदा। गया भरम रहा परमानंदा॥८६॥

जिह सिमरनि होइ मुक्ति दुवारि। जाहि बैकुंठ नही संसारि॥
निर्भव के घर बजावहि तूर। अनहद बजहि सदा भरपूर॥
ऐसा सिमरन कर मन मांहि। बिनु सिमरन मुक्ति कत नाहि॥

जिह सिमरन नही ननकारु। मुक्ति करै उतरै बहुभारु॥
नमस्कार करि हिरदय माँहि। फिर फिर तेरा आवदन नाहि॥
जिह सिमरन करहि तू केल। दीपक बाँधि धरययो तिन तेल॥
सो दीपक अमर कु संसारि। काम क्रोध बिष काढ़ि ले मार॥
जिह सिमरन तेरी गति होइ। सो सिमरन रखु कंठ पिरोइ॥
सो सिमरन करि नही राखु उतारि। गुरु परसादी उतरहि पार॥
जिह सिमरन नाही तुहि कान। मंदर सोवहि पंटबरि तानि॥
सेज सुखाली बिगसै जीउ। सो सिमरन तू अनहद पीउ॥
जिस सिमरन तेरी जाइ बलाई। जिह सिमरन तुझ पोह न माई॥
सिमरि सिमरि हरि हरि मन गाइयै। इह सिमरन सति गुरु ते पाइयै॥
सदा सदा सिमरि दिन राति। ऊठत बैठत सासि गिरासि॥
जागु सोई सिमरन रस भोग। हरि सिमरन पाइयै संजोग॥
जिहि सिमरन नाहीं तुझ भाउ। सो सिमरन राम नाम अधारु॥
कहि कबीर जाका नही अंत। तिसके आगे तंतु न मंतु॥८७॥

जिह मुखि पाँचो अमृत खाये। तिहि मुख देखत लूकट लाये॥
इक दुख राम राइ काटहु मेरा। अग्नि दहै अरु गरभ बसेरा॥
काया बिगति बहु विधि माती। को जारे को गड़ले माटी॥
कहु कबीर हरि चरण दिखावहु। पाछे ते जम को पठावहु॥८८॥

जिह सिर रचि बाँधत पाग। सो सिर चुंच सवारहि काग॥
इसु तन धन को क्या गर्वीया। राम नाम काहे न दृढ़ीया॥
कहत कबीर सुनहु मन मेरे। इही हवाल होहिगे तेरे॥८९॥

जीवत पितर न माने कोऊ मुएँ सराद्ध कराहीं।
पीतर भी बपुरे कहु क्यो पावहि कौआ कूकर खाही॥
मोकौ कुसल बतावहु कोई।
कुसल कुसल करते जग बिनसै कुसल भी कैसे होई॥
माटी के करि देवी देवा तिसु आगे जीउ देही॥
ऐसे पितर तुम्हरे कहियहि आपन कह्या न लेही॥
सरजीव काटहि निरजीव पूजहि अंत काल कौ भारी।
राम नाम की गति नही जानी भय डूबे संसारी॥
देवी देवा पूजहि डोलहि पारब्रह्म नहीं जाना।
कहत कबीर अकुल नही चेत्या विषया ज्यो लपटाना॥९०॥

जीवत मरै मरै फुनि जीवै ऐसे सुन्नि समाया।
अंजन माहि निरंजन रहियै कबीर बहुरि न भव जल पाया॥
मेरे राम ऐसा खीर बिलोइयै।
गुरु मति मनुवा अस्थिर राखहु इन विधि अमृत पिओइयै॥

गुरु के बाणी बजर कलछेदी प्रगट्या पद परगासा।
सक्ति अधेर जेवड़ी भ्रम चूका निटचल सिव घर बासा॥
तिन बिन बाणै धनुष चढ़ाइयै इहु जग बेध्या भाई।
दह दिसि बूड़ी पवन झुलावै डोरि रही लिव लाई॥
उनमन कबीर अनुभौ इकु देख्या राम नाम लिव लागी॥९१॥

जो जन भाव भगति कछु जाने ताको अचरज कहो।
विनु जल जल महि पैसि न निकसे तो ढरि मिल्या जुलाहो॥
हरि के लोग मै तो मति का भोरा।
जौ तन कासी तजहि कबीरा रामहि कहा निहोरा॥
कहतु कबीर सुनहु रे लोई भरम न भूलहु कोई।
क्या कासी क्या ऊसर मगहर राम रिदय जौ होई॥९२॥

जेते जतन करत ते डूबे भव सागर नही तास्यो रे।
कर्म धर्म करते बहु संजम अहं बुद्धि मन जास्यौ रे॥
साँस ग्रास को दाता ठाकुर सो क्यो मनहुँ बिसास्यौ रे।
हीरा लाल अमोल जनम है कोडी बदलै हास्यौ रे॥
तृष्णा तृषा भूख भ्रमि लागी हिरदै नाहि बिचास्यौ रे।
उनमत मान हिस्यो मन माही गुरु का सबद न धास्यौ रे॥
स्वाद लुभत इंद्री राम प्रेस्यो मद रस लेत बिकास्यौ रे।
कर्म भाग संतन संगाने काष्ठ लोह उद्धास्यौ रे।
धावत कबीर गुरु मिलत महा रस प्रेम भगति निस्तास्यौ रे॥९३॥

जेह बाछु न जीया जाई। जो मिलै तौ घाल अघाई॥
सद जीवन भलो कहाही। मुए बिन जीवन नाही॥
अब क्या कथियै ज्ञान बिचारा। निज निर्खत गत ब्यौहारा॥
घसि कुंकम चंदन गास्या। बिन नयनहु जगत बिहास्या॥
पूत पिता इक जाया। बिन ठाहर नगर बनाया॥
जाचक जन दाता पाया। सो दिया न जाई खाया॥
छोड़्या जाइ न मूका। औरन पहि जाना चूका॥
जो जीवन मरना जानै। सो पंच सैल सुख मानै॥
कबीरै सो धन पाया। हरि भेटत आप मिटाया॥९४॥

जैसे मंदर महि बाल हरना ठाहरै। नाम बिना कैसे पार उतरै॥
कुंभ बिना जल ना टिकावै। साधू बिन ऐसे अबगत जावै॥
जारौ तिसै जु राम न चेतै। तन मन रमत रहै महि खेतै।
जैसे हलहर बिना जिमी न हि बोइयै। सूत बिना कैसे मणी परोइयै॥
घुंडी बिना क्या गँठि चढ़ाइयै। साधू बिन तैसै अवगत जाइयै॥
जैसे माता पिता बिन बाल न होई। बिंब बिना कैसे कपर धोई॥
घोर बिना कैसे अवसार। साध बिन नाही दरबार॥

जैसे बाजे बिन नही लीजे फेरी। खसम दुहागनि तजिहो हेरी॥
कहै कबीर एकै करि जाना। गुरुमुखि होइ बहुरि नही मरना॥९५॥

जोइ खसम है जाया।
पूत बाप खेलाया। बिन रसना खीर पिलाया॥
देखहू लोगा कलि को भाऊ। सुति मुकलाई अपनी माऊ॥
पग्गा बिन हुरिया मारता। बदनै बिन खिन खिन हासता॥
निद्रा बिन नरु पै सोवै। बिन बासन खीर बिलोवै॥
बिनु अस्थन गऊल बेरी। पैड़े बिनु बाट घनेरी॥
बिन सत गुरु बाट न पाई। कहु कबीर समझाई॥९६॥

जो जन लेहि खसम का नाउ। तिनकै सद बलिहारै जाउ॥
सो निर्मल हरि गुन गावै। सो भाई मेरे मन भावै॥
जिहि घर राम रह्या भरपूरि। तिनकी पग पंकज हम धूरि॥
जाति जुलाहा मति का धीरु। सहजि सहजि गुन रमै कबीरु॥९७॥

जो जन परमिति परमनु जाना। बातन ही बैकुंठ समाना॥
ना जानौ बैकुंठ कहाही। जान न सब कह तिह हाही॥
कहन कहावन नहि पतियैहै। तौ मन मानै जातेहु मै जइहै॥
जब लग मन बैकुंठ की आस। तब लगि होहि नही चरन निवास॥
कहु कबीर इह कहियै कहि। साधु संगति बैकुंठे आहि॥९८॥

जो पाथर को कहिते देव। ताकी बिरथा होवै सेव॥
जो पाथर की पाँई पाई। तिस की घाल अजाई जाई॥
ठाकुर हमरा सद बोलंता। सबै जिया कौ प्रभु दान देता॥
अंतर देव न जानै अंधु। भ्रम का मोहया पावै फंधु॥
न पाथर बोलै ना किछु देइ। फोकट कर्म निहफल है सेइ॥
जे मिरतक के चंदन चढ़ावै। उससे कहहु कौन फल पावै॥
जो मिरतक को विष्टा माँहि सुलाई। तो मिरतक का क्या घटि जाई॥
कहत कबीर हौ करहुँ पुकार। समझ देखु साकत गावार॥
दूजै भाइ बहुत घर घाले। राम भगत है सदा सुखाले॥९९॥

जो मै रुप किये बहुतेरे अब फुनि रूप न होई।
तागा तंत साज सब थाका राम नाम बसि होई॥
अब मोहि नाचनो न आवै। मेरा मन मंदरिया न बजावै॥
काम क्रोध काया लै जारौ तृष्णा गागरि फूटी।
काम चोलना भया है पुराना गया भरम सब छूटी॥
सर्व भूत एक करि जान्या चूके बाद बिबादा।
कहि कबीर मै पूरा पाया भये राम परसादा॥१००।

जौ तुम मोको दूरि करत हौ तौ तुम मुक्ति बताव्हुगे।
एक अनेक होइ रह्यो सकल महि अब कैसे भर्माव्हुगे॥
राम मोकौ तारि कहाँ लै जैहै।
सोधौ मुक्ति कहा देउ कैसौ करि प्रसाद मोहि पाइहै।
तारन तरन कबै लगि कहियै जब लगि तत्व न जान्या॥
अब तौ बिमल भए घट ही महि कहि कबीर मन मान्या॥१०१॥

ज्यों कपि के कर मुष्टि चरन की लुब्धि न त्यागि दयो।
जो जो कर्म किये लालच स्यों ते फिर गरहि परयो॥
भगति बिनु बिरथे जनम गयो।
साध संगति भगवान भजन बिन कही न सच्च रह्यो॥
ज्यों उद्यान कुसुम परफुल्लित किनहि न घ्राउ लयो।
तैसे भ्रमत अनेक जोनि महि फिरि फिरि काल हयो॥
या धन जोबन अरु सुत दारा पेखन कौ जु दयो।
तिनही माहि अटकि जो उरझे इंद्री प्रेरि लयो॥
औध अनल तन तिन को मंदर चहु दिसि ठाठ ठयो।
कहि कबीर भव सागर तरन को मैं सति गुरु ओट लयो॥१०२॥

ज्यो जल छोड़ि बाहर भयो मीना। पूरब जनम हौं तप का हीना॥
अब कहु राम कवन गति मोरी। तजीले बनारस मति भई थोरी॥
सकल जनम सिवपुरी गँवाया। मरती बार मगहर उठि आया॥
बहुत बरस तप कीया कासी। मरन भया मगहर को बासी॥
कासी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥
कह गुरु गजि सिव सबको जानै। मुवा कबीर रमत श्रीरामै॥१०३॥

ज्योति की जाति की ज्योती। तितु लागे कँचुआ फल मोती॥
कौन सुघर जो निर्भौ कहियै। भव भजि जाइ अभय ह्वै रहियै॥
तट तीरथ नहिं मन पतियाइ। चार अचार रहे उरझाइ॥
पाप पुण्य दुइ एक समान। निज घर पारस तजहु गुन आन॥१०४॥

टेढ़ी पाग टेढ़े चले लागे बीरे खान।
भाउ भगति स्यो काज न कछुए मेरो काम दीवान॥
राम बिसार्यौ है अभिमानी।
कनक कामिनी महा सुंदरी पेखि पेखि सचु मानी॥
लालच झूठ बिकार महा मद इह बिधि औध बिहानी।
कहि कबीर अंत की बेर आई लागौ काल निदानी॥१०५॥
डंडा मुद्रा खिंधा आधारी। भ्रम कै भाई सबै भेषधारी॥

आसन पवन दूरि करि बवरे। छोडि कपट नित हरि भज बवरे॥
जिह तू याचहि सो त्रिभुवन भोगी। कहि कबीर कैसो जग जोगी॥१०६॥

तन रैनी मन पुनरपि करिहौ पाचौ तत्व बराती।
राम राइ स्यों भाँवरि लैहो आतम तिह रंगराती॥
गाउ गाउ री दुलहिनी मंगलचारा।
मेरे गृह आये राजा राम भतारा॥
नाभि कमल महि बेदि रचि ले ब्रह्म उच्चारा।
राम राइ स्यों दूल्हो पायो अस बड़ भाग हमारा॥
सुर नर मुनि जन कौतक आये कोटि तैंतीसो जाना।
कहि कबीर मोहि ब्याहि चले हैं पुरुष एक भगवाना॥१०७॥

तरवर एक अनंत डार साखा पुहुप पत्र रस भरिया।
इह अमृत की बाड़ी है रे तिन हरि पूरै करिया॥
जानी जायनी रे राजा राम की कहानी।
अंतर ज्योति राम परगासा गुरु मुख बिरलै जानी॥
भवर एक पुहुप रस बीधा बारह ले उर धरिया।
सोरह मध्ये पवन झकोरयो आकासे फर फरिया॥
सहज सुन्न इक बिरवा उपज्या धरती जलहर सोख्या।
कहि कबीर हौ ताका सेवक जिनका इहु बिरवा देख्या॥१०८॥

टूटे तागे निखुटी पानि। द्वार ऊपर झिलिकावहि कान॥
कूच बिचारे फुए फाल। या मुंडिया सिर चढ़िबो काल॥
इहु मुंडिया सगलो द्रब खोई। आवत जात न कसर होई॥
तुरी नारि की छोडि बाता। राम नाम वाका मन राता॥
लरिकी लरिकन खैबो नाहि। मुंडिया अनदिन धाये जाहि॥
इक दुइ मंदर इक दुइ बाट। हमकौ सायरु उनको खाट॥
मूँड पलोसि कमर बधि पोथी। हमकौ चाबन उनकौ रोटी॥
मुंडिया मुंडिया हुए एक। ए मुंडिया बूडत की टेक॥
सुनि अंधली लोई बेपीर। इन मुंडियन भजि सरन कबीर॥१०९॥

तू मेरी मेरु परबत सुवामी ओट गही मैं तेरी।
ना तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनी हरि मेरी॥
अब तब जब कब तूहरी तूही। हम तुम परसाद सुख सदाही॥
तोरे भरोसे मगहर बसियो। मेरे तन की तपति बुझाई॥
पहिले दर्सन मगहर पायो। फुनि कासी बसे आई॥
जैसा मगहर तैसी कासी। हम एकै करि जानी॥

हम निर्धन जो इह धन पाया मरते फूटि गुमानी॥
करे गुमान चुभहि तिसु सूला कोऊ काढ़न कौ नाही॥
अजै सुचोभ को बिलल बिलाते नरके घोर पचाही॥
कौन नरक क्या स्वर्ग विचारा संतन दोऊ रादे॥
हम काहू की काणि न कढ़ते अपने गुरु परसादे॥
अब तौ जाइ चढ़े सिंहासन मिलिहै सारंगपानी॥
राम कबीरा एक भये हैं कोई न सकै पछानी॥११०॥

थरथर कंपै बाला जीउ। ना जानौ क्या करसी पीउ॥
रैनि गई मति दिन भी जाइ। भवर गये बग बैठे आइ॥
काचै करवै रहै न पानी। हंस चला काया कुम्हिलानी॥
क्वारी कन्या जैसे करत सिंगारा। क्यो लिया माने बाझ भतारा॥
काग उड़ावत भुजा। पिरानी। कहि कबीर इह कथा सिरानी॥१११॥

थाके नयन स्रवण सुनि थाके थाकी सुंदर काया।
जरा हाक दी सब मति थाकी एक न थाकसि माया॥
बावरे तै ज्ञान बिचार न पाया बिरथा जनम गँवाया।
तब लगि प्रानी तिसे सरेवहु जब लग घटि साँसा॥
जे घट जाइत भाव न जासी हरि के चरन निवासा।
जिसकौ सबद बसावै अंतर चूकहि तिसहि पियासा॥
हुक्मै बूझै चौपड़ी खेलै मन जिन ढाले पासा।
जो जन जानि भजहि अवगति कौ तिनका कछु न नासा॥
कहु कबीर ते जन कबहुँ न हारहि ढालि जु जानहि पासा॥११२॥

तुझ बिन सुरति करै को मेरी दर्सन दीजै खोलि किवार॥
तुम धन धनी उदार तियागी तियागी स्रवनन सुनियत सुजस तुमार॥
माँगौ काहि रंक सब देखौ तुम ही ते मेरो निसतार॥
जयदेव नामा बिप्प सुदामा तिनकौ कृपा भई है अपार।
कहि कबीर तुम समरथ दाते चारि पदारथ देत न बार॥११३॥

दिन ते पहर पहर ते घरियाँ आयु घटै तनु छीजै।
काल अहेरी फिरहि बधिक ज्यौ कहहु कौन बिधि कीजै।
सो दिन आवन लागा।
माता पिता भाई सुत बनिता कहहु कोऊ है काका॥
जब लगु जोति काया महि बरतै आपा पसू न बूझै।
लालच करै जीवन पद कारन लोचन कछू न सूझै॥

कहत कबीर सुन्हु रे प्रानी छोड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी एक की सरना॥११४॥

दीन बिसार्यो रे दीवाने दीन बिसार्यो।
पेटु भरयो पसुआ ज्यो सोयो मनुष जगह है हार्यो॥
साध संगति कबहूँ नहि कीनी रचियो धंधे झूठ।
स्वान सूकर बायस सम जीवै भटकत चाल्यो ऊठि॥
आपन की दीरघ करि जानै औरन को लघु मान।
मनसा बाचा करमना मैं देखे दोजक जान॥
कामी क्रोधी चातुरी बाजीगर बेकाम॥
निंदा करते जनम सिरानी कबहु न सिमर्यो राम॥
कहि कबीर चेतै नहि मूरख मुगध गवार।
राम नाम जानियो नही, कैसे उतरसि पार॥११५॥

दुइ दुइ लोचन पेखा। हौ हरि बिन और न देखा॥
नैन रहे रंग लाई। अब बेगल कहन न जाई॥
हमारा भर्म गया भय भागा। जब राम नाम चितु लागा॥
बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमासे आई॥
कथनी गहि भर्म न जाई। सब कथि कथि रही लुकाई॥
जाकौ गुरु मुखि आप बुझाई। ताके हिरदै रहा समाई॥
गुरु किंचित किरपा कीनी। सब तन मन देह हरि लीनी॥
कहि कबीर रँगि राता। मिल्यो जग जीवनदाता॥११६॥

दुनिया हुसियार बेदार जागत मुसियत हौ रे भाई।
निगम हुसियार पहरुआ देखत जम ले जाई॥
नीबू भयो आँसु आँबु भयो नीबा केला पाका झारि।
नालिएर फल सेबरिया पाका मूरख मुगध गवार॥
हरि भयो खाँजु रे तुमहि बिखरियो हसतो चुन्यो न जाई।
कहि कबीर कुल जाति पाँति तजि चीँटी होइ चुनि खाई॥११७॥

देखो भाई ज्ञान की आई आँधी।
सबै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माया बाँधी॥
दुचिते की दुई थूनि गिरानी मोह बलेड़ा टूटा।
तिष्णा छानि परी घर ऊपर दुर्मति भाँड़ा फूटा॥
आँधी पाछै जो जल बर्षे तिहि मेरा तेरा जन भीना।
कहि कबीर मन भया प्रगासा उदय भानु जब चीना॥११८॥

देह मुहर लगाम पहिरावौ। सगल तजीनु गगन दौरावौ।
अपने बिचारे असवारी कीजै। सहज के पावड़े पग धरि लीजै॥
चलु रे बैकुंठ ले तारौ। हित चित प्रेम के चाबुक मारौ॥
कहत कबीर भले असवारा। बेग कतेब ते रहहि निरारा॥११९॥

देही गावा जीउ धर्म हत उबसहि पंच किरसाना।
नैनू नकटू स्रवनू रसपति इंद्री कहा न माना॥
बाबा अब न बसहु इह गाउ।
घरी घरी का लेखा माँगै काइथु चेतू नाउ॥
धर्मराय जब लेखा माँगै बाकी निकसी भारी।
पंच कृसनवा भागि गए लै बाध्यौ जीउ दरबारी॥
कहहि कबीर सुनहु रे संतहु खेतहि करौ निबेरा।
अब की बार बखसि बंदे कौ बहुरि न भव जल फेरा॥१२०॥

धन्न गुपाल धन्न गुरुदेव। धन्न अनादि भूखे कब लुटह केव॥
धन ओहि संत जिन ऐसी जानी। तिनकौ मिलिबौ सारंगपानी॥
आदि पुरुष ते होइ अनादि। जपियै नाम अन्न कै सादि॥
जपियै नाम जपियै अन्न। अंभै कै संग नीका बन्न।
अन्ने बाहर जो नर होवहि। तीनि भवन महि अपनो खोवहि॥
छोड़हि अन्न करै पाखंडा। ना सोहागनि ना ओहि रंडा॥
जग महि बकते दूधाधारी। गुप्ती खावहि बटिका सारी॥
अन्नै बिना न होइ सुकाल। तजिये अन्न न मिलै गुपाल।
कहु कबीर हम ऐसे जान्या। धन्य अनादि ठाकुर मन मान्या॥१२१॥

नगन फिरत जो पाइयै जोग। बनका मिरग मुकति सब होग॥
क्या नाँगे क्या बाँधे चाम। जब नहि चीन्हसि आतम राम॥
मूँड मुड़ाए जो सिधि पाई। मुक्ती भेड़ न गय्या काई॥
बिंदु राख जो तरियै भाई। खुसरै क्यों न परम गति पाई॥
कहु कबीर सुनहू नर भाई। राम नाम बिन किन गति पाई॥१२२॥

नर मरै नर काम न आवै। पशु मरै दस काज सँवारे॥
अपने कर्म की गति मैं क्या जानी। मै क्या जानी बाबा रे॥
हाड़ जले जैसे लकड़ी का तूला। केस जले जैसे घास का पूला।

कहत कबीर तबही नर जागै। जम का डंड महि लागै॥१२३॥

नाँगे आवन नाँगे जाना। कोई न रहिहै राजा राना॥
राम राजा नव निधि मेरै। संपै हेतु कलतु धन तेरै॥
आवत संग न जात सँगाती। कहा भयो दर बाँधे हाथी॥
लंका गढ़ सोने का भया। मूरख रावन क्या ले गया॥
कह कबीर कुछ गुन बीचारि। चलै जुआरी दुइ हथ झारि॥१२४॥

नाइक एक बनजारे पाँच। बरध पचीसक संग काच॥
नव बहियाँ दस गोनी आहि। कसन बहत्तरि लागी ताहि॥
मोहि ऐसे बनज स्यो ही काजु। जिह घटै मूल नित बढ़ ब्याजु॥
सत्तु सूत मिलि बनजु कीन। कर्म भावलिनी संग लीन॥
तीनि जगाती करत रारि। चलो बनजारा हाथ झारि॥
पूँजी हिरानी बनजू टूटि। दह दिसि टाँडो भयो फूटि॥
कहि कबीर मन सरसी काज। सहज समानो त भर्म भाजि॥१२५॥

ना इहु मानुष ना इहु देव। ना इहु जती कहावै सेव॥
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इसु माइ न काहू पूता॥
या मंदर महि कौन बसाई। ता का अंत न कोऊ पाई॥
ना इहु गिरही ना ओदासी। ना इहु राज न भीख मँगासी॥
ना इहु पिंड न रकतू राती। ना इसु ब्रह्मन ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावै सेख। ना इहु जीवै न मरता देख॥
इसु मरते कौ जे कोऊ रोवै। जो रोवै सोई पति खोवै॥
गुरु प्रसादि मै डगरो पाया। जीवन मरन दोऊ मिटवाया॥
कहु कबीर इहु राम की अंसु। उस कागद पर मिटै न मंसु॥१२६॥

ना मै जोग ध्यान चित लाया। बिन बैराग न छूटसि माया॥
कैसे जीवन होइ हमारा। जब न होइ राम नाम अधारा॥

कहु कबीर खोजौ असमान। राम सयान न देखौ आन॥१२७॥
निंदौ निंदौ मोकौ लोग निंदौ। निंदौ निंदौ मोकौ लोग निंदौ॥
निंदा जन कौ खरी पियारी। निंदा बाप निंदा महतारी॥
निंदा होय त बैकुंठ जाइयै। नाम पदारथ मनहि बसाइयै॥
रिदै सुद्ध जो निंदा होइ। हमरे कपरे निंदक धोइ॥
निंदा करै सु हमरा मीत। निंदक माहि हमारा चीत॥
निंदक सो जो निंदा होरै। हमरा जीवन निंदम लोरै॥
निंदा हमरी प्रेम पियार। निंदा हमरा करै उधार॥
जन कबीर कौ निंदा सार। निंदक डूबा हम उतरे पार॥१२८॥
नित उठि कोरी गागरिया लै लीपत जनम गयो।
ताना बाना कछु न सूझै हरि हरि रस लपट्यो॥
हमरे कुल कौने राम कह्यौ।

जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो॥
सुनहू जिठानी सुनहु दिरानी अचरज एक भयो॥
सात सूत इन मुंडियो खोये इहु मुँडिया क्यो न मुयो।
सर्व सखा का एक हरि स्वामी सो गुरु नाम दयो।
संत प्रह्लाद की पैज जिन राखी हरनाखसु नख बिरद्धयो।
घर के देव पितर की छोड़ो गुरु को सबद लयो।
कहत कबीर सकल पाप खंडन संतह ले उधर्‌यो॥१२९॥

निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करै ओहु चित न धरेई॥
जौ निर्धन सरधन कै जाई। आगै बैठा पीठ फिराई॥
जौ सरधन निर्धन कै जाई। दीया आदर लिया बुलाई॥
निर्धन सरधन दोनो भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई॥
कहि कबीर निर्धन है सोई। जाके हिरदै नाम न होई॥१३०॥

पंडित जन माते पढ़ि पुरान। जोगि माते जोग ध्यान॥
संन्यासी माते अहमेव। तपसी माते तप के भेव॥
सब मदमाते कोऊ न जाग। संग ही चोर घर मुसन लाग॥
जागै सुकदेव अरु अक्रुर। हणवंत जागे धरि लंगूर॥
संकर जागे चरन सेव। कलि जागे नामा जैदेव॥
जागत सोवत बहु प्रकार। गुरु मुखि जागे सोइ सार॥
इह देही के अधिक काम। कहि कबीर भजि राम नाम॥१३१॥

पंडिया कौन कुमति तुम लागे।
बूड़हुगे परवार सकल स्यो राम न जपहु अभागे॥
बेद पुरान पढ़े का किया गुन खर चंदन जस भारा।
राम नाम की गति नही जानी कैसे उतरसि पारा॥
जीय बधहु सुधर्म करि थापहु अधर्म कहौ कत भाई।
आपस कौ मुनि वर करि थापहु काकहु कहौ कसाई॥
मन के अंधे आपि न बूझहु का कहि बुझावहु भाई।
माया कारन विद्या बेचहु जनम अविर्था जाई॥
नारद बचन बिपास कहत है सुक कौ पूछहु जाई।
कहि कबीर रामहि रमि छूटहु नाहि त बूड़े भाई॥१३२॥

पथ निहारै कामनी लोचनि भरी लेइ उसासा।
उर न भीजै पग ना खिसै हरि दर्सन की आसा॥
उड़हु न कागा कारे। बेग मिलीजै अपने राम प्यारे।
कहि कबीर जीवन पद कारन हरि की भक्ति करीजै॥
एक अधार नाम नारायण रसना राम रवीजै॥१३३॥

पंद्रह तिथि सात बार। कहि कबीर उर वार न पार॥
साधक सिद्ध लखै जौ भेउ। आपे करता आपे देउ॥
अम्मावस महि आस निवारो। अन्तरयामी राम समारहु॥
जीवत पावहु मोख दुवारा। अनभौ सबद तत्व निज सारा॥
चरन कमल गोबिद रंग लागा।
संत प्रसाद भये मन निर्मल। हरि कीर्त्तन महि अनदिन जागा॥
परवा प्रीतम करहु बीचार। घट महि खेलै अघट अपार॥
काल कल्पना कदे जानै अंग। माया ब्रह्म रमै सब संग॥
ना ओहु बढ़ै न घटता जाइ। अकुल निरंजन एकै भाइ॥
तृतीया तीने सम करि ल्यावे। आनंद मूल परम पद पावै॥
साध संगति उपजै बिस्वास। बाहर भीतर सदा प्रगास॥
चौथहि चंचल मन कौ गहहु। काम क्रोध संग कबहु न बहहु॥
जल थल माहे आपही आप। आपै जपहु अपना जाप॥
पाँचे पंच तत्त बिस्तार। कनक कामिनि जुग ब्योहार॥
प्रेम सुधा रस पीवै कोई। जग मरण दुख फेरि न होई॥
छटि षट चक्र चहूँ दिसि धाइ। बिनु परचै नही थिरा रहाइ॥
दुबिधा मेटि खिमा गहि रहहु। कर्म धर्म की सूल न सहहु॥
सातै सति करि बाचा जाणि। आतम राम लेहु परवाणि॥
छूटै संसा मिटि जाहि दुक्ख। सुन्य सरोवरि पावहु सुक्ख॥
अष्टमी अष्ट धातु की काया। तामहि अकुल महा निधि राया॥
गुरु गम ज्ञान बतावै। भेद। उलटा रहे अभंग अछेद॥
नौमी नवै द्वार कौ साधि। बहती मनसा राखहु बाँधि॥
लोभ मोह सब बीसरी जाहु। जुग जुग जीवहु अमर फल खाहु॥
दसमी दह दिसि होइ अनंदा। छुटै भर्म मिलै गोबिंदा॥
ज्योति स्वरूप तत्त अनूप। अमल न मल न छाह नहि धूप॥
एकादसी एक दिसि धावै। तौ जोनी संकट बहुरिन आवै॥
सीतल निर्मल भया सरीरा। दूरि बतावत पाया नीरा॥
बारसि बारहौ गवै सर। अहि निसि बाजै अनहद तूर॥
देख्या तिहूँ लोक का पीउ। अचरज भया जीव ते सीउ॥
तेरसि तेरह अगन बखाणि। अर्द्ध उर्द्ध बिच सम पहिचाणि॥
नीच ऊँच नही मान प्रमान। ब्यापक राम सकल सामान॥
चौदसि चौदह लोक मुझारि। रोम रोम महि बसहि मुरारि॥
सत संतोष का धरहु धियान। कथनी कथियै ब्रह्म गियान॥
पून्यो पूरा चंद्र अकास। पसरहि कला सहज परगास॥
आदि अंत मध्य होइ रह्या बीर। सुखसागर महि रमहि कबीर॥१३४॥

पहिला पूत पिछौरी माई। गुरु लोगो चेले की पाई॥
एक अचंभौ सुनहु तुम भाई। देखत सिह चरावत गाई॥
जल की मछुली तरवर ब्याई। गुरु लागी चेले की पाई॥
तलेरे बैसा ऊपर सूला। तिसके पेड़ लगे फल फूला॥

घोरै घरि भैस घरावन जाई। बाहर बैल गोनि घर आई॥
कहत कबीर जो इस पद बूझै। राम रमत तिसु सब किछू सूझै॥१३५॥

पहिली कुरूप कुजाति कुलक्खनी साहुर पेइयै बरी।
अब की सरूप सुजाति सुलक्खनी सहजे उदरधरी॥
भली सरी मुई मेरी पहली बरी।
कहु कबीर जब लहुरी आई बड़ी का सुहाग टर्‍यो।
लहुरी संग भई अब मेरे जेठी और धर्‍यो॥१३६॥

पाती तोरै मालिनी पाती पाती जीउ।
जिसु पाहन को पाती तोरै सो पाहनु निरजीउ॥
भूली मालिनी है एउ। सति गुरू जागता है देउ।
ब्रह्म पाती बिस्नु डारी फूल संकर देव॥
तीन देव प्रतख्य तोरहि करहि किसकी सेव।
पाषान गढ़ि कै मूरति कीनी टेकै छाती पाउ।
जे एइ मूरति साची है तो गढ़णहारे खाउ॥
भातु पहिति और लापसी करकराका सारु॥
भोगनु हारे भोगिया इसु मूरतिमुख छार॥
मालिन भूली जग भुलाना हम भुलाने नाहि।
कहु कबीर हम राम राखे कृपा करि हरि राइ॥१३७॥

पानी मैला माटी गोरी। इस माटी की पुतरी जोरी॥
मै नही कछु आहि न मोरा। तन धन सब रस गोबिंद तोरा॥
इस माटी महि पवन समाया। झूठा परपंच जोरि चलाया॥
किनहूँ लाख पाँच की जोरी। अंत की बाट गगरिया फोरी॥
कहि कबीर इक नीवै सारी। खिन महि बिनसि जाइ अहंकारी॥१३८॥

पाप पुन्य दोइ बैल बिसाहे पवन पूँजी परगास्यो।
तृष्णा गूणि भरी घट भीतर इन बिधि टाँड बिसाह्यो॥
ऐसा नायक राम हमारा सकल संसार कियो बंजारा।
काम क्रोध दुइ भये जगाती मन तरंग बटवारा॥
पंच क्रोध दुइ भये जगाती मन तरंग बटवारा॥
पंच तत्तु मिलि दान निबेरहि टाडा उतर्‍यो पारा।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु अब ऐसी बनि आई॥
घाटी चढ़त बैल इक थाका चलो गोनि छिटकाई॥१३९॥

पिंड मुए जिउ किहि घर जाता। सबद अतीत अनाहद राता॥
जिन राम जान्या तिन्ही पछान्या। ज्यो गँगे साकर मन मान्या॥
ऐसा ज्ञान कथै बनबारी। मन रे पवन दृढ़ सुषमन नाड़ी॥
सो गुरु करहु जि बहुरि न करना। सो पद रवहु जि बहुरि न रवना॥

सो ध्यान धरहु जि बहुरि न धरना। ऐसे मरहु जि बहुरि न मरना॥
उलटी गंगा जमुन मिलावौ। बिनु जल सगम मन महि नावौ॥
लोधा सम सरिहहु ब्योहारा। ततु बिचारि क्या अवर बिचारा॥
अप तैज वायु पथवी अकासा। ऐसी रहान रहौ हरि पासा॥
कहै कबीर निरंजन ध्यावौ। तित घर जाहु जि बहुरि न आवौ॥१४०॥

पेवक दै दिन चारि है साहुरडे जाणा।
अंधा लोक न जाणई मुरखु एयाणा॥
कहु डडिया बाँधे धन खड़ी। याहूँ घर आये मूकलाऊ आये॥
ओह जि दिसै खूरड़ी कौ न लाजु बहारी।
लाज घड़ी स्यो टूटी पड़ी उटि चलि पनिहारी॥
साहिब होइ दयाला कृपा करे अपना कारज सवारे।
ता सोहागणि जानिए गुरु सबद बिचारै॥
किरत की बाँधी सब फिरै देखहु बिचारी॥
एसनो क्या आखियै क्या करै बिचारी॥
भई निरासी उठि चली चित बधी न धीरा॥
हरि की चरणी लागि रहु भजु सरण कबीरा॥१४१॥

प्रहलाद पठाये पठन साल। संगि सखा बहु लिए बाल॥
मोकौ कहा पढ़ावसि आल जाल। मेरी पटिया लिखि देहु श्रीगोपाल।
नही छोड़ौ रे बाबा राम नाम। मेरी और स्यो नही काम॥
संडे मरकै कह्यौ जाइ। प्रहलाद बुलाये बेगि धाइ॥
तू राम कहन की छोडु बानि। तुझ तुरत छड़ाऊँ मेरी कह्यो मान॥
मोकौ कहा सनावहुँ बार बार। प्रभु भज थल गिरि किये पहार॥
इक राम न छोड़ौ गुरुहि गारि। मोकौ घालि जारि भा कौ मारि डारि॥
काढ़ि खड़्ग कोप्यो रिसाई। तुझ राखनहारो मोहि बताइ॥
प्रभु थभ ते निकसे कै बिस्तार। हरनाखस छेद्यो नख बिदार॥
ओइ परम पुरुषि देवाधिदेव। भगत हेत नरसिंघ भेव॥
कहि कबीर को लखै न पार। प्रहलाद उबारे अनिक बार॥१४२॥

फील रबाबी बलुद पखावज कौआ ताल बजावे।
पहरि चोला गदहा नाचे भैसा भगति करावे॥
राजा राम क करिया बरपे काये किनै दूझन हारै खाये।
बैठि सिंह घर पान लगावहि घीस गल्योरे लावे॥
घर घर मुसरी मंगल गावहि कछुआ संख बजावे।
बंस को पूतन बिआहन चलिया सुइने मंडप छाये॥
रूप कन्निया सुंदर वेधी ससै सिंह गुन गाये।
कहत कबीर सुनहु रे पंडित कीटी परबत खाया॥
कछुआ कहै अंगार गिलो री लूकी सबद सुनाया॥१४३॥

फुरमान तेरा सिरै ऊपर फिरि न करत बिचार।

तुही दरिया तुही करिया तुझै ते निस्तार॥
बंदे बंदगी इकतीयार। साहिब रोष धरौ कि पियार।
नाम तेरा आधार मेरा जिउ फूल जहहै नारि॥
कहि कबीर गुलाम घर का जी आइ भावै मारि॥१४४॥

बंधचि बंधनु पाइया। मुकतै गुरि अनल बुझाइया॥
जब नख सिख इहु मनु चीना। तब अंतर मजनू कीना॥
पवन पति उनमनि रहनु खरा। नही मिसु न जनमु जरा॥
उलटी ले सकति संहारं। फैसीले गगन मझारं॥
बेधिय ले चक्र भूअंगा। भेटिया ले राइन संगा॥
चूकिय ले मोह मइ आसा। ससि कीनो सूर गिरासा॥
जब कुंभ कुभरि पुरि जीना। तब बाजे अनहद बीना॥
बकतै बकि सबद सुनाया। सुनतै सुनि माल बसाया॥
करि करता उतरसि पारं। कहै कबीरा सारं॥१४५॥

बटुआ एक बहत्तरि आधारी एको जिसहि दुबारा।
नवै खंड की प्रथमी माँगे सो जोगी जग सारा॥
ऐसा जोगी नव निधि पावै तल का ब्रह्म ले गगन धरावै।
खिथा ज्ञान ध्यान करि सूई सबद ताग मथि घालै॥
पंच तत्व की करि मिरगाणी गुरु कै मारग चालै।
दया फाहुरी काया करि धूई दृष्टि की अगनि जलावै॥
तिसका भाव लए रिद अंतर चहु जुग ताड़ी लावै।
सभ जोगत्तण राम नाम है जिसका पिंड पराना॥
कहु कबीर जे किरपा धारै देइ सचा नीसाना॥१४६॥

बनहि बसे क्यो पाइये जौ लौ मनहु न तजै बिकार।
जिह घर बन समसरि किया ते पूरे संसार॥
सार सुख पाइये रामा रंगि रवहु आतमै रामा।
जटा भस्म लै लेपन किया कहा गुफा महि बास॥
मन जीते जग जीतिया ते बिषिया ते होइ उदास।
अंजन देइ सब कोई टुकु चाहन माहि बिडांनु॥
ग्यान अंजन जिह पाइया ते लोइन परवानु।
कहि कबीर अब जानिया गुरु ग्यान दिया समुझाइ॥
अंतर गति हरि भेटिया अब मेरा मन कतहु न जाइ॥१४७॥

बहु प्रपंच करि परधन ल्यावै। सुत दारा पहि आनि लुटावै॥
मन मेरे भूले कपट न कीजै। अंत निबेरा तेरे जीय पहि लीजै॥
छिन छिन तन छीजै जरा जनावै। तब तेरी ओक कोई पानियो न पावै॥
कहत कबीर कोई नही तेरा। हिरदै राम किन जपहि सवेरा॥१४८॥
बात सूखी तेल निखूटा। मंदल न बाजै नट पै सूता॥

बूझि गई अगनि न निकस्यो धूआ। रवि रह्या एक अवर नहीं दुआ॥
तूटी तंतु न बजै रबाब। भूलि बिगार्‌यो अपना काज॥
कथनी बदनी कहन कहावन। समझ परी तो बिसर्‌यो गावन॥
कहत कबीर पंच जो चूरे। तिनते नाहि परम पद दूरे॥१४९॥

बाप दिलासा मेरो कीना। सेज सुखाली मुखि अमृत दीना॥
तिसु बाप कौ मन्हु बिसारी। आगे गया न बाजी हारी॥
मुई मेरा माई हौ खरा सुखाला। पहिरौ नहीं दगली लगै न पाला॥
बलि तिसु बापै जिन हौ जाया। पंचा ते मेरा संग चुकाया॥
पंच मारि पावा तलि दीने। हरि सिमरन मेरा मन तन भीने॥
पिता हमारो बहु गोसाई। तिसु पिता पहि हौ क्यो करि जाई॥
सति गुरु मिले ता मारग दिखाया। जगत पिता मेरे मन भाया॥
हौ पूत तेरा तू बाप मेरा। एकै ठाहरि दुहा बसेरा॥
कह कबीर जनि एको बूझिया। गुरु प्रसाद मै कछु सूझिया॥१५०॥

बारह बारस बालपन बीते बीस बरस कछु तपु न कियो।
तीस बरस कछु देव न पूजा फिर पछुताना बिरध भयो॥
मेरी मेरी करते जनम गयो। साझर साखी भुजंब लयो।
सूके सरवर पालि बँधावै लूणे खेत हथवारि करै॥
आयो चोर तुरंत ही ले गयो मेरो राखत मुगध फिरै।
चरन सीस कर कंपन लागे नैनी नीर असार बहै॥
जिहिवा बचन सुद्ध नही निकसै तब रे धरम की आस करै॥
हरि जी कृपा करै लिव लावै लाहा हरि हरि नाम लियो॥
गुरु परसादी हरि धन पायो अंते चल दिया नालि चल्यो॥
कहत कबीर सुनहु रे संतह अन धन कुछ ऐ लै न गयो॥
आई तलब गोपाल राइ की माया मंदर छोड़ चल्यो॥१५१॥

बावन अक्षर लोक त्रय सब कछु इनही माहि।
जे अक्खर खिरि जाहिगे ओइ अक्खर इन महि नाहि॥
जहाँ बोल तह अक्खर आवा। जहँ अबोल तहँ मन न रहावा॥
बोल अबोल मध्य है सोई। जस ओहु है तस लखै न कोई॥
अलह लहौ तौ क्या कहौ कहौ तो को उपकार।
बटक बीजि महि रवि रह्यो जाको तीनि लोक बिस्तार॥
अलह लहंता भेद छै कछु कछु पाया भेद।
उलटि भेद मन बेधियो पायो अभंग अछेद॥
तुरक तरी कत जानियै हिंदू बेद पुरान।
मन समझावन कारनै कछु यक पढ़ियै ज्ञान॥
ओअंकार आदि मै जाना। लिखि और मेटै ताहि न माना॥
ओअंकार लखै जो कोई। सोई लखि मेटणा न होई॥
कक्का किरणि कमल महि पावा। ससि बिगास संपट नहि आवा॥

अरु जे तहा कुसुम रस पावा। अकह कहा कहि का समझावा॥
खख्खा इहै खोड़ि मन आवा। खोडे छाड़ि न दह दिसि धावा॥
खसमहि जाणि खिसा करि रहै। तौ होइ निरखऔ अखै पद लहै॥
गग्गा गुरु के बचन पछाना। दूजी बात न धरई काना॥
रहै बिहंगस कतहि न जाई। अगह गहै गहि गगन रहाई॥
घघ्घा घट घट निमसै सोई। घट फूटै घट कबहि न होई॥
ता घट माहि घाट जौ पावा। सो घट छाँड़ि अवघट कत धावा॥
ङङा निग्रह सनेह करि निरवारो संदेह।
नाही देखि न भाजिये परम सियानप एह॥
चच्चा रचित चित्र है भारी। तजि चित्रे चेतहु चितकारी॥
चित्र बिचित्र इहै अवझोरा। तजि चित्रे चितु राखि चितेरा॥
छछूछा इहै छत्रपति पासा। छकि किन रहहु छाड़ि किन आसा॥
रे मन मै तो छिन छिन समझावा। ताहि छाड़ि कत आप बधावा॥
जज्जा जौ तन जीवत जरावे। जौबन जारि जुगति सो पावै॥
अस जरि परजरि जरि जब रहै। तब जाइ ज्योति उजारौ लहै॥
झझ्झा उरझि सुरझि नहि जाना। रह्यो झझकि नाही परवाना॥
कत झकि झकि औरन समझावा। झगर किये झगरौ ही पावा॥
ञंञा निकट जु घट रह्यो दूरि कहा तजि आइ।
जा कारण जग ढूँढियौ नेरौ पायो ताहि॥
टट्टा बिकट घाट घट माही। खोलि कपाट महल किन जाही॥
देखि अटल टलि कतहि न जावा। रहै लपटि घट परचौ पावा॥
ठट्ठा इहै दूरि ठग नीरा। नीठि नीठि मन कीया धीरा॥
जिन ठग ठग्या सकल जग खावा। सो ठग ठग्या ठौर मन आवा॥
डड्डा डर उपजै डर जाई। ता डर महि डर रह्या समाई॥
जौ डर डरै तौ फिरि डर लागै। निडर हुआ डर उर होइ भागै॥
ढढ्ढा ढिग ढूँढहि कत आना। ढूँढत ही ढहि गये पराना॥
चढ़ि सुमेर ढूँढि जब आवा। जिह गढ़ गढ़्यो सुगढ़ महि पावा॥
णाणा रणि रूतौ नर नेही करै। नानि बैना फुनि संचरै॥
धन्य जनम ताही को गणै। मारे एकहि तजि जाइ भणै॥
तत्ता अतर तर्यो नइ जाई। तन त्रिभुवण मे रह्यो समाई॥
जौ त्रिभुवण तन माहि समावा। तौ ततहि तत मिल्या सचु पावा॥
थथ्था अथाह नही पावा। ओहु अथाह इहु थिर न रहावा॥
थोडे थल थानक आरंभै। बिनुही थाहर मंदिर थंभै॥
दद्दा देखि जु बिनसन हारा। जस अदेखि तस राखि बिचारा॥
दसवै द्वार कुंजी जब दीजै। तौ दयाल कौ दर्सन कीजै॥
धद्धा अर्द्धहि उर्द्ध निबेरा। अर्द्धहि उर्द्ध मंझि बसेरा॥
अर्द्धहि छाडि अर्द्ध जो आवा। तौ अर्द्धहि उर्द्ध मिल्या सुख पावा॥
नन्ना निसि दिन निरखत नयन रहे रतवाई॥
निरखत निरखत जब जी पावा। तब ले निरखति निरख मिलावा॥
पप्पा अपर पार नही पावा। परम ज्योति स्यो परचौ लावा॥

पाँचो इंद्री निग्रह करई। पाप पुण्य दोऊ निरबरई॥
फक्फा बिनु फूले फल होई। ता फल फंक लखै जौ कोई॥
दूणि न परई फंक बिचारै। ता फल फंक सबै तन फारै॥
बबबा बिदहि बिंद मिलावा। बिदहि बिंद न बिछुरन पावा॥
बंदौ होइ बंदगी गहै। बंधक होइ बंधु सुधि लहै॥
भभ्भा भेदहि मिलावा। अब भौ भानि भरौसो आवा॥
जो बाहर सो भीतर जान्या। भया भेद भूपति पहिचान्या॥
मम्मा मूल रह्या मन मानै। मर्मी हो सो मन कौ जानै॥
मत कोइ मन मिलता बिलमालै। मगन भया तेसो सचु पावै॥
मम्मा मन स्यो काजु है मन साधै सिधि होइ।
मनही मन स्यो कहै कबीरा मनसा मिल्या न कोइ॥
इहु मन सकती इहु मन सीउ। इहु मन पंच तत्व को जीउ॥
इहु मन ले जौ उनमनि रहै। तौ तीनि लोक की बातें कहै॥
यय्या जौ जानहि तौ दुर्मति हनि करि बसि काया गाउ।
रणि रूतौ भाजे नही सुर उधारौ नाउ॥
रारा रस रिनस्स करि जान्या। होइ निरस्स सुरस पहिचान्या॥
इह रस छाड़े उह रस आवा। उह रस पीया इह रस नही भावा॥
लल्ला ऐसे लिव मन लावै। अनत त जाइ परम सचु पावै॥
अरु जौ तहा प्रेम लिव लावै। तौ अलह लहै लहि चरन समावै॥
ववा बार बार बिष्णु समारि। बिष्णु समारि न आवै हारि॥
बलि बलि जे बिष्णु तना जस गावै। बिष्णु मिलै सबही सचु पावै॥
वावा वाही जानियै वा जाने इहु होइ।
इहु अरु ओहु जब मिलै तब मिलत न जानै कोइ॥
शश्शा सो नीका करि सोधहु। घट परचा की बात निरोधहु॥
घट परचै जो उपजै भाउ। पूरि रह्या तह त्रिभुवन राउ॥
षष्या खोजि परै जो कोई। जो खोजै सो बहुरि न होई॥
खोजि बूझि जौ करे बिचारा। तौ भवजल तरत न लावै बारा॥
सस्सा सो सह सेज सवारै। सोई सही संदेह निवारै॥
अल्प सुख छाडि परम सुख पावा। तब इह त्रिय ओहु कंत कहावा॥
हाहा होत होइ नही जाना। जबही होइ तबहि मन माना॥
है तो सही लखौ जौ कोई। तब ओही उह एहु न होई॥
लिउँ लिउँ करत फिरै सब लोग। ता कारण ब्यापै बहु सोग॥
खक्खा खिरत खपत गये केते। खिरत खपत अजहुँ नहि चेते॥
अब जग जानि जौ मना रहै। जह का बिछुरा तह थिरु लहै॥
बावन अक्खर जोरे आनि। सक्या न अक्खरु एक पछानि॥
सत का सबद कबीरा कहै। पंडित होइ सो अनभै रहै॥
पंडित लोगह कौ व्यवहार। ज्ञानवंत कौ तत्व बिचार॥
जाकै जीय जैसी बुधि होई। कहि कबीर जानैगा सोई॥१५२॥

बिंदु ते जिन पिंड किया अगनि कुंड रहाइया।

दस मास माता उदरि राख्या बहुरि लागी माइया॥
प्रानी काहे को लोभि लागै रतन जनम खोया।
पूरब जनम करम भूमि बीजु नाही बोया॥
बारिक ते बिरध भया होना सो होया।
जा जम आइ झोट पकरै तबहि काहे रोया॥
जीवन की आसा करै जम निहारै सासा।
बाजीगरी संसार कबीरा चेति ढालि पासा॥१५३॥

बुत पूजि पूजि हिदू मुये तुरक मुये सिर नाई।
ओइ ले जारे ओइ ले गाडे तेरी गति दुहूँ न पाई॥
मन रहे संसार अंध गहेरा। चहुँ दिसि पसरयो है जम जेवरा॥
कबित पढ़े पढ़े कबता मूये। पकड़ के दारै जाई॥
जटा धारि धारि जोगी मूये मेरी गति इनहि न पाई॥
द्रव्य संचि संचि राजे मूये गड़िले कंचन भारी॥
वेद पढ़े पढ़ि पंडित रूप देखि देखी नारी॥
राम नाम बिन सबै बिगूते देखहु निरखि सरीरा॥
हरि के नाम बिन किन गति कहि उपदेस कबीरा॥१५४॥

भुजा बाँधि मिला करि डारयौ। हस्ती कोपि मूँड महि मारयो॥
हस्ती भागि कै चीसा मारै। या मुरति कै हौ बलिहारै॥
आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोर। काजी बकिबो हस्ती तोर॥
हस्त न तोरै धरै ध्यान। वाकै रिदै बसै भगवान॥
क्या अपराध संत है कीना। बाँधि पाट कुंजर को दीना॥
कुंजर पोटलै लै नमस्कारै। बूझी नही काजी अँलियारै॥
तीन बार पतिया भरि लीना। मन कठोर अजहुँ न पतीना॥
कहि कबीर हमारा गोबिद। चौथे पद महि जन की जिद॥१५५॥

भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै॥
हौ माँगो संतन रेनां। मै नाही किसी का देना॥
माधव कैसी बने तुम संगे। आपि न देउ तले बहु मंगे॥
दुइ सेर माँगौ चूना। पाव घीउ संग लूना॥
अधसेर माँगो दाले। मोको दोनो बखत जिवाले॥
खाट माँगौ चौपाई। सिरहाना और तुलाई॥
ऊपर कौ माँगौ खीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा॥
मै नाही कीता लब्बो। इक नाउ तेरा मै फब्बो॥
कहि कबीर मन मान्या। मन मान्या तौ हरि जान्या॥१५६।
मन करि मक्का किबला करि देही। बोलनहार परस गुरु एही॥
कहु रे मुल्ला बाँग निवाज। एक मसीति दसे दरवाज॥
मिसमिलि तामसू भर्म कर दूरी। भाखि ले पंचे होइ सबूरी॥
हिदू तुरक का साहिब एक। कह करै मुल्ला कह करै सेख॥

कहि कबीर हौ भया दिवाना। मुसि मुसि मनुआ सहजि समाना ॥१५७॥
मन का स्वभाव मनहि बियापी। मनहि मान कवन सिधि थापी॥
कबन सुमनि जो मन को मारै। मन को मारि कबहूँ किस तारै॥
मन अंतर बोले सब कोई। मन मारै बिन भगत न होई॥
कह कबीर जो जानै भेउ। मन मधुसूदन त्रिभुवण देउ॥१५८॥

मन रे छाड़हु भर्म प्रगट होई नाचहु या माया के डाड़े।
सूर कि सनमुख रन ते डरपै सती कि साँचे भाँड़े॥
डगमग डाँडि रे मन बौराय।
अब जो जरै मरै सिधि पाइये लीनो हाथ सिधोरा॥
काम क्रोध माया के लीने या बिधि जगत बिगूचा।
कहि कबीर राजा राम न छोड़ौ सगल ऊँच ते ऊँचा॥१५९॥

माता जूठी पिता भी जूठा जूठेही फल लागे।
आवहि जूठे जाहि भी जूठे जूठे मरहि अभागे॥
कहु पंडित सूचा कवन ठाउ। जहाँ बैसि हौ भोजन खाउ।
जिहवा जूठी बोलन जूठा करन नेत्र सब जूठे॥
इंद्री की जूठी उतरसि नाहि ब्रह्म अगनि के जूठे।
अगनि भी जूठी पानी जूठा जूठी बैसि पकाइया॥
जूठी करछी परोसन लागा जूठे ही बैठि खाइया।
गोबर जूठा चौका जूठा जूठी दीनी करा॥
कहि कबीर तेई नर सूचे साची परी बिचारा॥१६०॥

मरन जीवन की संका नासी। आपन रंगि सहज परगासी॥
प्रकटी ज्योति मिटया अँधियारा। राम रतन पाया करत बिचारा॥
जहँ अंनद दुख दूर पयाना। मन मानकु लिय तत्तु लुकाना॥
जौ किछु होआ सु तेरा भाणा। जो इन बूझै सु सहजि समाणा॥
कहत कबीर किलबिष गये खीणा। मन भाया जग जीवन लीणा॥१६१॥

माई मोहि अवरु न जान्यो आनाँ।
सिव सनकादि जासु गुन गावहि तासु बसहि मेरे प्रानाँ॥
हिरदै प्रगास ज्ञान गुरु गम्मित गगन मंडल महि ध्यानाँ॥
विषय रोग भव बंधन भागे मन निज घर सुख जानाँ॥
एक सुमति रति जानि मानि प्रभु दूसर मनहि न आना।
चंदन बास भये मन बास न त्यागी घट्यो अभिमानाँ॥
जो जन गाइ ध्याइ जस ठाकुर तासु प्रभु है थानाँ।
तिह बड़ भाग बस्यो मन जाके कर्म प्रधान मथानाँ॥
काटि सकति सिव सहज प्रगास्यौ एकै एक समानाँ।
कहि कबीर गुरु भेटि महासुख भ्रमत रहे मन मानाँ॥१६२॥
माथे तिलक हथि माला बाँना। लोगन राम खिलौना जानाँ॥

जौ हौ तौ राम तोरा। लोग मर्म कह जानै मोरा॥
तोरौ न पाती पूजौ न देवा। राम भगति बिन निहफल सेवा॥
सतिगुरु पूजौ सदा मनावो। ऐसी सेव दरगह सुख पावौ॥
लोग कहे कबीर बौराना। कबीर का मर्म राम पहिचाना॥१६३॥

माधव जल की प्यास न जाइ। जल महि अगनि उठी अधिकाइ॥
तू जलनिधि हौ जल का मीन। जल महि रहौ जलै बिन खीन॥
तू पिंजर हौ सुअटा तोर। जम मंजरा कहा करे मीर॥
तू तरवर हौ पंखी आहि। मंदभागी तेरो दर्शन नाहि॥१६४॥

मुंद्रा मौनि दया करि झोली पत्र का करहु बिचारू रे।
खिंथा इहु तन सीऔ अपना नाम करो आधारू रे॥
ऐसा जोग कमावे जोगी जप तप संजम गुरु मुख भोगी।
बुद्धि बिभूति चढाओ अपनी सिंगी सुरति मिलाई॥
करि बैराग फिरौ तन नगरी मन की किंगुरी बजाई।
पंच तत्व लै हिरदै राखहु रहै निराल मताड़ी॥
कहत कबीर सुनहु रे संतहु धर्म दया करि बाढ़ी॥१६५॥

मुसि मुसि रोव कबीर की माई। ए बारिक केसे जीवहि रघुराई॥
तनना बुनना सब तज्या है कबीर। हरि का नाम लिखि लियो सरीर॥
जब लग तागा बाहउ बेही। तब लग बिसरै राम सनेही॥
ओछी मति मेरी जाति जुलाहा। हरि का नाम लह्यो मै लाहा॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई॥१६६॥

मेरी बहुरिया को धनिया नाउ। ले राख्यौ रामजनिया नाउ॥
इन मुंडियन मेरा घर धुंधरावा। बिटवहि राम रमौआ लावा॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडियन मेरी जाति गवाई॥१६७॥

मैला ब्रह्म मैला इंदु। रबि मैला है मैला चंदु॥
मैला मलता इहु संसार। इक हरि निर्मल जाका अंत न पार॥
मैला ब्रह्मंडा इक्कै ईस। मैले निसि बासुर दिन तीस॥
मैला मोती मैला हीरु। मैला पवन पावक अरु नीरु॥
मैले सिब संकरा महेस। मैले सिध साधक अरु भेष॥
मैले जोगी जंगम जटा समेति। मैली काया हंस समेति॥
कहि कबीर ते जन परवान। निर्मल ते जो रामहि जान॥१६८॥

मौलो धरती मौला आकास। घटि घटि मौलिया आतम प्रगास॥
राज राम मौलिया अनत भाइ। जब देखो तह रहा समाइ॥
दुतिया मौले चारि बेद। सिमृति मौली सिउ कतेब॥

संकर मौल्यो जोग ध्यान। कबीर को स्वामी सब समान॥१६९॥

जम ते उलटि भये है राम। दुख बिनसे सुख कियो बिस्राम॥
बैरी उलटि भये है मीता। साकत उलटि सुजन भये चीता॥
अब मोहि सर्ब कुसल करि मान्या। सांति भई जब गोबिद जान्या॥
तन मोहि होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहजि समाधि॥
आप पछाने आपै आप। रोग न ब्यापै तीनो ताप॥
अब मन उलटि सनातन हुआ। तब जान्या जब जीयत मूआ॥
कहु कबीर सुख सहज समाओ। अपि न डरो न अवर डराओ॥१७०॥

जोगी कहहि जोग भल मीठी अवर न दूजा भाई।
रुंडित मुँडित एकै सबदी एकहहि सिधि पाई॥
हरि बिन भरमि भुलाने अंधा।
जा पहि जाउ आप छुटकावनि ते बाँधे बहु फंदा॥
जह ते उपजी तही समानी इहि बिधि बिसरी तबही।
पंडित गुणी सूर हम दाते एहि कहहि बड हमही॥
जिसहि बुझाए सोई बूझै बिनु बूझै क्यौ रहियै।
तिस गुरु मिलै अँधेरा चूकै इन बिधि प्राण कु लहियै॥
तजिवा बेदा हने बिकारा हरि पद दृढ़ करि रहियै।
कह कबीर गुँगै गुण खाया पूछे ते क्या कहियै॥१७१॥

जोगी, जती तपी संन्यासी बहु तीरथ भ्रमना।
लुंजित मुंजित मौनि जटा धरि अंत तऊ मरना॥
ताते सेविअ ले रामना।
रसना राम नाम हितु जाकै कहा करे जमना॥
आगम निगम जोतिक जानहि बहु वह ब्याकरना।
तंत्र मंत्र सब औषध जानहि अंत तऊ मरना॥
राजा भोग अरु छत्र सिहासन बहु सुंदरि रमना।
पान कपूर सुबास क चंदन अंत तऊ मरना॥
बेद पुरान सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरना।
कहु कबीर यो रामहि जपौ मैटि जनम मरना॥१७२॥

जोनि छाड़ि जौ जग महि आयो। लागत पवन खसम बिसरायो॥
जियरा हरि के गुन गाउ।
गर्भ जोनि महि ऊर्ध्व तपु करता। तौ जठर अग्नि महि रहता॥
लख चौरासीह जोनि भ्रमि आयो। अब के छुटके न ठौर न ठायो॥
कहु कबीर भजु सारिगपानी। आवत दीसै जात न जानी॥१७३॥

रहु रहु री बहुरिया घूँघट जिनि काढै। अंत की बात लहँगी ना आढै॥

घूँघट काढ़ि गई तेरी आगै। उनकी मैल तोहि जिनि लागै॥
घूँघट काढ़ की इहै बड़ाई। दिन दस पाँच बहू भले आई॥
घूँघट तेरो तौपरि साँचै। हरि गुन गाइ कूदहि अरु नाचै॥
कहत कबीर बहू तब जीतै। हरि गुन गावत जनम व्यतीतै॥१७४॥

राखि लेहु हमते बिगरी।
सील धरम जप भगति न कीनी हौ अभिमान टेढ़ पगरी॥
अमर जान संची इह काया इह मिथ्या काची गगरी।
जिनहि निवाजि साजि हम कीये तिनही बिसारि औ लगरी॥
संधि कोहि साथ नहि कहियौ सरनि परे तुमरी पगरी।
कह कबीर इहि बिनती सुनियहु मत घालहु जम की खबरी॥१७५॥

राजन कौन तुमारे आवै।
ऐसे भाव बिदुर को देख्यो ओहू गरीब मोहि भावै॥
हस्ती देखि भर्म ते भूला श्री भगबान न जान्या।
तुमरी दूध बिदूर को पानी अमृत करि मै मान्या॥
खीर समान सागु मै पाया गुन गावत रैनि बिहानी।
कबीर को ठाकुर अनद बिनोदी जाति न काहूँ की मानी॥१७६॥

राजा राम तू ऐसा निर्भव तरन तारन रांम राया।
जब हम होते तब तुम नाही अब तुम हहु हम नाही॥
अब हम तुम एक भये हहि एकै देखति मन पतियाही।
जब बुधि होती तब बल कैसा अब बुद्धि बल न खटाई॥
कही कबीर बुधि हरि लई मेरी बुद्धि बदली सिधि पाई॥१७७॥

राजा स्रिमामति नही जानी तोरी। तेरे संतन की हौ चेरी।
हसती जाइ सु रोवत आवै रोव जाइ सु हँसै॥
बसतो होइ सो ऊजरू ऊजरू होइ सु बसै।
धरती ते आकाश चढ़ावे चढ़े अकास गिरावै॥
भेखारी ते राज करावै राजा ते भेखारी।
खल मूरख ते पंडित करिबो पंडित ते मुगधारी॥
नारी ते जे पुरुष करावै पुरखन ते जो नारी।
कहु कबीर साधू का प्रीतम सुमूरति बलिहारी॥१७८॥

राम जपौ जिय ऐसे ऐसे। ध्रुव प्रहलाद जप्यो हरि जैसे॥
दीनदयाल भरोसे तेरे। सब परवार चढ़ाया बेड़े॥
जाति सुभावे ताहु कम मनावै। इस बेड़े कौ पार लँघावै॥
गुरु प्रसादि ऐसी बुद्धि समानी। चूँकि गई फिरि आवन जानी॥
कहु कबीर भजु सारिगपानी। उरवार पार सब एको दानी॥१७९॥
राम सिमरि राम सिमरि राम सिमिरि भाई।

राम नाम सिमिरन बिनु बूड़ते अधिकाई॥
बनिता सुत देह ग्रेह संपति सुखदाई।
इनमे कछु नाहि तेरो काल अवधि आई॥
अजामल गज गनिका पतित कर्म कीने।
तेऊ उतरि पार परे राम नाम लीने॥
सूकर कूकर जोनि भ्रमतेऊ लाज न आई।
राम नाम छाड़ि अमृत काहे बिष खाई॥
तजि भर्म कर्म विधि निषेध राम नाम लेही।
गुरु प्रसादि जन कबीर राम करि सनेही॥१८०॥

री कलवारि गवारि मूढ़ मति उलटो पवन फिरावौ।
मन मतवार मेर सर भाठी अमृत धार चुवावौ॥
बोलहु भैया राम की दुहाई।
पीवहु सत सदा मति दुर्लभ सहजे प्यास बुझाई॥
भय बिच भाउ भाइ कोउ बूझहि हरि रस पावे भाई।
जेते घट अमृत सवही महि भावे तिसहि पियाई॥
नगरी एकै नव दरवाजे नव दरवाजे धारत बर्जि रहाई।
त्रिकुटी छूटै दस बादर खूलै ताम न खीवा भाई॥
अभय पद पूरि ताप तह नासे कहि कबीर बीचारी।
उवट घलंते इहु मद पाया जैसे खोद खुमारी॥१८१॥

रे जिय निलज्ज लाज तोहि नाही। हरि तजि कत काहू के जाही॥
जाको ठाकुर ऊँचा होई। सो जन पर घर जात न सोही॥
सो साहिब रहिया भरपूरि। सदा संगि नाही हरि दूरि॥
कवलय चरन सरन है जाके। कहु जन का नाही घर ताके॥
सब कोऊ कहै जासु की बाता। सो सम्रथ निज पति है दाता॥
कहै कबीर पूरन जग सोई। जाकै हिरदै अवरु न होई॥१८२॥

रे मन तेरो कोई नहीं खिचि लेइ जिन भार।
बिरख बसेरा पखि को तैसो इहु संसार॥
राम रस पीया रे जिह रस बिसरि गये रस और।
और मुये क्या रोइये जो आपा थिर न रहाइ॥
जो उपजै सो बिनसिहै दुख करि रोवै बलाइ।
जह की उपजी तह रची पीवत मरद न लाग॥
कह कबीर चित चेतिया राम सिमिर बैराग॥१८३॥

रोजा धरे मनावै अल्लहु स्वादति जीय सँघारे।
आपा देखि अवर नही देखै काहे को झख मारे॥
काजी साहिब एक तोही महि तेरा सोच बिचार न देखै।
खबरि न करहि दीन के बौरे ताते जनम अलेखै॥

साँच कतेब बखानै अल्लहु नारि पुरुष नहि कोई।
पढ़ै गुनै नाही कछू बौरे जौ दिल महि खबरि न होई॥
अल्लहु गैब सगल घट भीतर हिरदै लेहु . बिचारी।
हिंदू तुरक दुहू महि एकै कहै कबीर पुकारी॥१८४॥

लंका सा कोट समुंद सी खाई। तिह रावन घर खबरि न पाई॥
क्या माँगै किछु थिरु न रहाई। देखत नयन चल्यो जग जाई॥
इक लख पूत सवा लख नाती। तिह रावन घर दिया न बाती॥
चंद सूर जाके तपत रसोई। बैसंतर जाके कपरे धोई॥
गुरु मति रामै नाम बसाई। अस्थिर रहे न कतहू जाई॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई। राम नाम बिन मुकुति न होई॥१८५॥

लख चौरासी जीअ जोनि महि भ्रमत नँदु बहु थाको रे।
भगति हेतु अवतार लियो है भाग बड़ो बपुरा को रे॥
तुम जो कहत हौ नंद को नंदन नंद सु नंदन काको रे।
धरिनि अकास दसो दिसि माही तब इहु नंद कहायो रे॥
संकट नही परै जोनि नहि आवै नाम निरंजन जाको रे।
कबीर को स्वामी ऐसो ठाकुर जाकै माई न बापो रे॥१८६॥

विद्या न पढ़ो बाद नही जानो। हरि गुन कथत सुनत बौरानो॥
मेरे बाबा मै बौरा, सब खलक सयानो मै बौरा॥
मै बिगर यो बिगरै मति औरा। आपन बौरा राम कियो बौरा॥
सतिगुरु जारि गयो भ्रम मोरा।
मै बिगरे अपनी मति खोई। मेरे भर्मि भूलो मति कोइ॥
सो बौरा आपु न पछानै। आप पछानै न एकै जानै॥
अबहि न माता सु कबहुँ न भाता। कहि कबीर रामै रँगि राता॥१८७॥

बिनु सत सती होई कैसे नारि। पंडित देखहु रिदै बिचारि॥
प्रीति बिना कैसे बँधे सनेहु। जब लग रस तब लग नहि नेहू॥
साह निसत्तू करै जिय अपनै। सो रमये कौ मिलै न स्वपनै॥
तन मन धन गृह सौपि सरीरू। सोई सोहागनि कहै कबीरू॥१८८॥

बिमल वस्त्र केते है पहिरे क्या बन मध्ये बासा।
कहा भया नर देवा धोखे क्या जल बोरयो ज्ञाता॥
जीय रे जाहिगा मै जाना। अविगत समझ इयाना।
जत जत देखौ बहुरि न पेखौ संग माया लपटाना॥
ज्ञानी ध्यानी बहु उपदेसी इहु जन सगलो धंधा।
कहि कबीर इक राम नाम बिनु या जग माया अंधा॥१८९॥
बिखया व्याप्या सकल संसारू। बिखया लै डूबा परवारू॥

रे नर नाव चौड़ि कत बोडी। हरि स्यो तोड़ि बिषया संगि जोड़ी॥
सुर नर दाधे लागी आगि। निकट नीर पसु पीवसि न झागि॥
चेतत चेतत निकस्यो नीर। सो जल निर्मल कथत कबीर॥१९०॥

बेद कतेब इफतरा भाई दिल का फिकर न जाई।
टुक दम करारी जौ करहु हाजिर हजूर खुदाई॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरि परेसानी माहि।
इह जु दुनिया सहरु मेला दस्तगीरी नाहि॥
दरोग पढ़ि पढ़ि खुसी होइ बखबर बाद बकाहि॥
हक सच्चु खालक खलक म्याने स्याममूरति नाहि॥
असमान म्याने लहंग दरिया गुसल करद त बूद।
करि फिकरु दाइम लाइ चसमे जँह तहाँ मौजूद॥
अल्लाह पाक पाक है सक करो जे दूसरे होइ।
कबीर कर्म करीम का उहु करे जानै सोइ॥१९१॥

बेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै।
जौ सब मै एकु खुदा कहत हो तौ क्यो मुरगी मारै॥
मुल्ला कहहु नियाउ खुदाई तेरे मन का भरम न जाई।
पकरि जीउ आन्या देह बिनासी माटी को बिसमिल किया॥
जोति सरूप अनाहत लागी कहु हलाल क्यो कीया॥
क्या उज्जु पाक किया मुह धोया क्या मसीति सिर लाया।
जौ दिल मैहि कपट निवाज गुजारहु क्या हज काबै जाया॥
तू नापाक पाक नही सूझ्या तिसका मरम न जान्या।
कहि कबीर भिस्त ते चुका दोजक स्यो मन मान्या॥१९२॥

बेद की पुत्री सिमृति भाई। साँकल जबरी लैहै आई॥
आपन नगर आप ते बाँध्या। मोह कै फाधि काल सरु साध्या॥
कटी न कटै तूटि नह जाई। सो सापनि होइ जग को खाई॥
हम देखत जिन्ह सब जग लूटया। कहु कबीर मै राम कहि छूट्या॥१९३॥

बेद पुरान सबै मत सुनि के करी करम की आसा।
काल ग्रस्त सब लोग सियाने उठि पंडित पै चले निरासा॥
मन रे सर्यो न एकै काजा। भज्यो न रघुपति राजा।
बन खंड जाइ रोग जोग तप कीनो कंद मूल चुनि खाया॥
नादी बेदी सबदी मौनी जम के पटै लिखाया।
भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तन दीना॥
राग रगनी डिंभ होइ बैठा उन हरि पहि क्या लीना।
परयो काल सबै जग ऊपरि माहि लिखे भ्रम ग्यानी॥
कहु कबीर जन भये खलासे प्रेम भगति जिह जानी॥१९४॥
षट नेम कर कोठड़ी बाँधी बस्तु अनूप बीच पाई।

कुंजी कुलफ प्रान करि राखे करते बार न लाई॥
अब मन जागत रहु रे भाई।
गाफिल होय के जनम गवायो चोर मुसे घर जाई॥
पंच पहरुआ दर महि रहते तिनका नही पतियारा।
चेति सुचेत चित होइ रहु तौ ले परगासु उजारा॥
नव घर देखि जु कामिनि भूली बस्तु अनूप न पाई।
कहत कबीर नवै घर मूसे दसवे तत्व समाई॥१९५॥

संत मिलै कछु सुनिये कहियै। मिले असंत मष्ट करि रहियै॥
बाया बोलना क्या कहियै। जैसे राम रमि रहियै॥
संतन स्यों बोले उपकारी। मूरख स्यो बोले झक मारी॥
बोलत बोलत बढ़हि बिकारा। बिनु बोले क्या करहि बिचारा॥
कहु कबीर छूछा घट बोलै। भरिया होइ सु कबहु न डोलै॥१९६॥

संतहु मन पवनै सुख बनिया। किछु जोग परापति गनिया॥
गुरु दिखलाई मोरी। जितु मिरग पड़त है चोरी॥
मूँदि लिये दरवाजे। बाजिल अनहद बाजे॥
कुभ कमल जल भरिया। जलौ मेट्या ऊभा करिया॥
कहु कबीर जन जान्या। जौ जान्या तो मन मान्या॥१९७॥

संता मानौ दूता डानौ इह कुटवारी मेरी।
दिवस रैन तेरे पाउ पलोसो केस चवर करि फेरी॥
हम कूकर तेरे दरबारि। भौकाई आगे बदन पसारि।
पूरब जनम हम तुम्हारे सेवक अब तौ मिट्या न जाइ॥
तेरे द्वारे धुनि सहज की मथै मेरे दगाई॥
दागे होहि सुरन महि जूझहि बिनु दागे भगि जाई॥
साधू होई सुभ गति पछानै हरि लये खजानै पाई॥
कोठरे महि कोठरा परम कोठरी बिचारि॥
गुरु दीनी बस्तु कबीर कौ लैव्हु वस्तु सम्हारि॥
कबीर दोई संसार कौ लीनी जिसु मस्तक भाग॥
अमृत रस जिनु पाइया थिरता का सोहाग॥१९८॥

संध्या प्रात स्नान कराही। ज्यो भये दादुर पानी माही॥
जो पै राम नाम रति नाही। ते सब धर्मराय कै जाही॥
काया रति बहु रूप रचाही। तिनकै दया सुपनै भी नाही॥
चार चरण कहहि बहु आगर। साधु सुख पावहि कलि सागर॥
कहु कबीर बहु काय करीजै। सबरस छोड़ि महा रस पीजै॥१९९॥

सत्तरि सै इसलारू है जाके। सवा लाख है कावर ताके॥

सेख जु कही यही कोटि अठासी। छप्पन कोटि जाके खेल खासी॥
मो गरीब की को गुजरावै। मजलसि दूरि महल को पावै॥
तेतसि करोडि है खेल खाना। चोरासी लख फिरै दिवाना॥
बाबा आदम कौ कछु न दरि दिखाई। उनभी भिस्त घनेरी पाई।
दिल खल हलु जाकै जर दरुबानी। छोड़ि कतेब करै सैतानी॥
दुनिया दोस रोस है लोई। अपना कीया पावै सोई।
तुम दाते हम सदा भिखारी। देउ जवाब होइ बजगारी॥
दास कबीर तेरी पनह समाना। भिस्त नजीकराखु रहमाना॥२००॥

सनक सनंद अंत नही पाया। वेद पढ़े पढ़ि ब्रह्मे जनम गवाया॥
हरि का विलोवना विलोकहु मेरे भाई। सहज विलोवहु जैस तत्व न जाई॥
तनु करि मटकी मन माहि बिलोई। इसु मटकी महि सबद संजोई।
हरि का विलोना मन का बीचारा। गुरु प्रसाद पावै अमृत धारा॥
कहु कबीर नजर करे जे मीरा। राम नाम लगि उतरे तीरा॥२०१॥

सनक सनंद महेस समाना। सेष नाग तेरी मर्म न जाना॥
संत संगति राम रिदै बसाई।
हनुमान सरि गरुड़ समाना। सुरपति नरपति नहि गुन जाना॥
चारि बेद अरु सिमृति पुराना। कमलापति कमला नहि जाना॥
कह कबीर सो भरमै नाही। पग लगि राम रहै सरनाही॥२०२॥

सब कोई चलन कहत है ऊँहा। ना जानौ बैकुंठ है कहाँ॥
आप आपका मरम न जानाँ। बातन ही बैकुंठ बखानाँ॥
जब लग मन बैकुंठ की आस। तब लग नाही चरन निवास॥
खाई कोट न परल पगारा। ना जानौ बैकुंठ दुआरा॥
कहि कबीर अब कहिये काहि। साधु संगति बैकुंठे आहि॥२०३॥

सर्पनी ते ऊपर नही बलिया। जिन ब्रह्मा बिष्णु महादेव छलिया॥
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पैठी। जिन त्रिभुवन डसिले गुरु प्रसादि डीठी॥
सर्पनी सर्पनी क्या कहहु भाई। जिन साधु पछान्या तिन सर्पनी खाई।
सर्पनी ते आन छूछ नही अवरा। सर्पनी जीति कहा करै जमरा॥
इहि सर्पनी ताकी कीती होई। बल अबल क्या इसते होई॥
एक बसती ता बसत सरीरा। गुरु प्रसादि सहजि तरे कबीरा॥२०४॥

सरीर सरोवर आछे कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुपोत्तमो जाकै रेख न रूप॥
रे मन हरि भुज भ्रम तजहु जग जीवन राम।
आवत कछू न दीसई नह दीसै जात॥
जहाँ उपजै बिनसै तहि जैसे पुरवनि पात।

मिथ्या करि माया तजा सुख सहज बीचारि॥
कहि कबीर सेवा करहु मन मंझि मुरारि॥२०५॥

सासु की दुखी ससुर की प्यारी जेठ के नाम डरौ रे।
सखी सहेली ननद गहेली देवर कै बिरहि जरौ रे॥
मेरी मति बौरी मै राम बिसार्‍या किन विधि रहनि रहौ रे।
सेजै रमत नयन नही पेखौ इहु दुख कासौ कहौ रे॥
बाप सवका करै लराई मया सद मतवारी।
बड़े भाई के जब संज होती तब ही नाह पियारी॥
कहत कबीर पंच को झगरा झगरत जनम गवाया।
झूटी माया सब जग बाँध्या मै राम रमत सुख पाया॥२०६॥

सिव की पुरी बैस बुधि सारु। यह तुम मिलि कै करहु बिचारु॥
ईत ऊत की सोझौ परे। कौन कर्म मेरा करि करि मरै॥
निज पद ऊपर लागो ध्यान। राजा राम नाम मेरा ब्रह्म ज्ञान॥
मूल दुआरे वंध्या बंधु। रवि ऊपर गहि राख्या चंदु॥
पंचम द्वारे की सिल ओड। तिह सिल ऊपर खिड़की और॥
खिड़की ऊपर दसवा द्वार। कहि कबीर ताका अंतु न पार॥२०७॥

सुख माँगत दुख आगे आवै। सो सुख हम्हुँ न माँग्या भावै॥
विषगा अजहु सुरति सुख आसा। कैसे होइ है राजाराम निवासा॥
इसु सुख ते सिव ब्रह्म डराना। सो सुख हम्हुँ साँच करि जाना॥
सनकादिक नारद मुनि सेखा। तिन भी तन महि मन नही पेखा॥
इस मन कौ कोई खोजहु भाई। तन छूटे मन कहा समाई॥
गुरु परसादी जयदेव नामा। भगति कै प्रेम इनही है जाना॥
इस मन कौ नही आवन जाना। जिसका भर्म गया तिन साधु पछाना॥
इस मन कौ रूप न रेख्या काई। हुकुमे होया हुकुम बूझि समाई॥
इस मन का कोई जानै भेउ। इहि मन लीण भये सुखदेउ॥
जीउ एक और सगल सरीरा। इस मन कौ रवि रहै कबीरा॥२०८॥

सुत अपराध करत है जेते। जननी चीति न राखसि तेते॥
रामय्या हौ बारिक तेरा। काहे न खंडसि अवगुन मेरा॥
जे अति कोप करे करि धाया। ताभी चीत न राखसि माया॥
चित्त भवन मन पर्‍यो हमारा। नाम बिना कैसे उतरसि पारा॥
देहि बिमल मति सदा सरीरा। सहजि सहजि गुन रवै कबीरा॥२०९॥

सुन्न संध्या तेरी देव देवा करि अधपति आदि समाई।
सिद्ध समाधि अंत नही पाया लागि रहे सरमाई॥
लेहू आरती हो पुरुष निरंजन सति गुरु पूजहु जाई।
ठाढा ब्रह्मा निगम बिचारै अलख न लखिया जाई॥

तत्तु तेल नाम कीया बाती दीपक देह उज्यारा।
जोति लाई जगदीस जगाया बूझै बूझनहारा॥
पंचे सबद अनाहत बाजे संगे सारिंगपानी।
कबीरदास तेरी आरती कीनी निरंकार निरबानी॥२१०॥

सुरति सिमृति दुई कन्नी मंदा परमिति बाहर खिथा।
सुन्न गुफा महि आसण बैसण कल्प विवर्जित पंथा॥
मेरे राजन मै बैरागी जोगी मरत न साग बिजोरी।
खंड ब्रह्मांड महि सिडी मेरा बटुवा सब जग भसमाधारी॥
ताड़ी लागी त्रिपल पलटियै छूटै होइ पसारी॥
मन पवन्न दुई तूंबा करिहै जुग जुग सारद साजी॥
थिरु भइ नंती टूटसि नाही अनहद किगुरी बाजी॥
सुनि मन गन भये है पूरे माया डोलन लागी।
कहु कबीर ताकौ पुनरपि जनम नही खेलि गयो बैरागी॥२११॥

सुरह की जैसी तेरी चाल। तेरा पूछट ऊपर झमक बलि॥
इस घर मह है सुंतू ढूढ़ि खाहि। और किसही के तू मति ही जाहि॥
चाकी चाटे चून खाहि। चाकी का चीथरा कहा लै जाहि॥
छीके पर तेरी बहुत डीठ। मत लकरी सोटा परै तेरी पीठ॥
कहि कबीर भोग भले कीन। मति कोऊ मारै ईट ठेम॥२१२॥

सो मुल्ला जो मन स्यो लरै। गुरु उपदेस काल स्यो जुरै॥
काल पुरुष का मरदे मान। तिस मुल्ला को सदा सलाम॥
है हुजूरि कत दूरि बतावहु। दुंदर बाधहु मुंदर पावहु॥
काजी सो जो काया बिचारै। काया की अग्नि ब्रह्म पै जारै॥
सुपनै बिंदु न देई जरना। तिस काजी कौ जरा न मरना॥
सो सुरतान जो दुइ सुर तानै। बाहर जाता भीतर आनै॥
गगन मंडल महि लस्कर करै। सो सुरतान छत्र सिर धरै॥
जोगी गोरख गोरख करै। हिंदू राम नाम उच्चरै॥
मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई॥२१३॥

स्वर्ग बास न वाछियै वारियै न नरक निवासु।
होना है सो होइहै मनहि न कीजै आसु॥
रमय्या गुन गाइयै जाते पाइयै परम निधानु।
क्या जप क्या तप संयमो क्या व्रत क्या इस्नान॥
जब लग जुक्ति न जानिये भाव भक्ति भगवान।
संपै देखि न हर्षियै बिपति देखि न रोइ॥
ज्यो संपै त्यो बिपत है बिधि ने रच्या सो होइ।
कहि कबीर अब जानिया संतन रिदै मझारि॥
सेवक सो सेवा भले जिह घट बसै मुरारि॥२१४॥

हज्ज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीतंबर पीर॥
वाहु वाहु क्या खुद गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥
नारद सारद करहि खवासी। पास बैठि बिधि कवला दासी॥
कंठे माला जिहवा राम सहस नाम लै लै करो सलाम॥
कहत कबीर राम गुन गावौ। हिंदू तूरक दोऊ समझावौ॥२१५॥

हम घर सूत तनहि नित ताना कंठ जनेऊ तुमारे।
तुम ते बेद पढ़हु गायत्री गोबिंद रिदै हमारे।
मेरी जिह्वा बिष्णु नयन नारायण हिरदै बसहि गोबिंदा।
जम दुआर जब पूँछसि बबरे तब क्या कहसि मुकुंदा॥
हम गोरू तुम ग्वार गुसाइ जनम जनम रखवारे॥
कबहू न पार उतार चराइहु कैसे खसम हमारे॥
तू बाह्मन मै कासी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना।
तुम तौ पाचे भूपति राजे हरि सो मोर धियाना॥२१६॥

हम मसकीन खुदाई बंदे तुम राघसु मन भावै।
अल्लाह अवलि दीन को साहिब जोर नही फुरमावै॥
काजी बोल्या बनि नही आवै।

रोजा धरै निवाजु गुजारै कलमा भिस्त न होई॥
सत्तरि काबा घटही भीतर जे करि जानै कोई॥
निवाजु सोई जो न्याइ बिचारै कलमा अकलहि जानै।
पाँचहु मुसि मुसला बिछावै तब तौ दीन पछानै॥
खसम पछानि तरस करि जीय मरि मणी करि फीकी।
आप जनाइ और को जानै तब होइ भिस्त सरीकी॥
माटी एक भेष धरि नाना तामहि ब्रह्म पछाना।
कहै कबीर भिस्त छोड़ि करि दोजक स्यो मनमाना॥२१७॥

हरि बिन कौन सहाई मन का।

माता पिता भाई सुख बनिता हितु लागो सब फन का॥
आगै कौ किछु तुलहा बाँधहु क्या भरोसा धन का।
कहा बिसासा इस भाँडे का इत नकु लगै ठन का॥
सगल धर्म पुन्न फल पावहु धूरि बाँछहु सब जन का।
कहै कबीर सुनहु रे संतहु इहु मन उडन पखेरू बन का॥२१८॥

हरि जन सुनहि न हरि गुन गावहि। बातन ही असमान गिरावहि॥
ऐसे लोगन स्यो क्या कहिये।

जो प्रभु कीये भगति ते बाहज। तिनके सदा डराने रहिये।
आपन देहि चुरू भरि पानी। तिहि निदहि जिह गंगा आनी॥
बैठत उठत कुटिलता चालहि। आप गये औरनहू घालहि॥

छाड़ि कुचर्चा आन न जानहि। ब्रह्महु का कहया न मानहि॥
आप गये औरनहू खोवहि। आगि लगाइ मंदिर मे सोवहि॥
औरन हँसत आपहहि काने। तिनकौ देखि कबीर लजाने॥२१९॥

हिदू तुरक कहाँ ते आये किन एक राह चलाई।
दिल महि सोच बिचार कवादे भिस्त दोजक कित पाई॥
काजी तै कौन कतेब बखानी।
पढ़त गुनत ऐसे सब मारे किनहू खबर न जानी॥
सकति सनेह करि सुन्नति करिये मै न बदौगा भाई।
जौ रे खुदाई मोहि तुरक करैगा आपनही कटि जाई॥
सुन्नति किये तुरक जे होइगा औरत का क्या करियै॥
अर्द्ध सरीरी नारि न छोडे तातै हिदू ही रहिये॥
छाड़ि कतेव राम भजु बौरे जुलम करत है भारी।
कबीर पकरी टेक राम की तुरक रहे पँचि हारी॥२२०॥

हीरै हीरा बेधि पवन मन सहजे रह्या समाई।
सकल जोति इन हीरै बेधी सतिगुरु बचनी मै पाई॥
हरि को कथा अनाहद बानी हंस है हीरा लेइ पछानी।
कह कबीर हीरा अस देख्यो जग महि रह्या समाई॥
गुपता हीरा प्रकट भयो जब गुरु गम दिया दिखाई॥२२१॥

हृदय कपट मुख ज्ञानी। झूठे कहा बिलोवसि पानी॥
काया माँजसि कौन गुना। जो घट भीतर है मलनां॥
लौकी अठ सठि तीरथ न्हाई। कौरापन तऊ न जाई॥
कहि कबीर बीचारी। भव सागर तारि मुरारी॥२२२॥

परिशिष्ट पदों के शब्दार्थ

पृ. ५६३

(१) मैल = विषय। लोक पतीणे = लोक विश्वास। अयाना = अज्ञानी। नावण = नमन। जोनी = जीवो की चार योनियाँ। हॉडवैत = १ नाड़ियों मे। २ एक स्थान। शायद राजस्थान मे स्थित।

(२) जंती = यत्र। सरवर = सरोवर।

(३) नेरि = नजदीक। तैस्कर = उसके। सचोनी = सचय। भो = भय।

(४) मेखलि = कटिबध। किगुरी = वीणा। सिडिया = सिरे पर। गगन = सहस्रार। भवन = भुवन। जोगी = साधक। परमात्मा। राजा = १ साधक। २ परमात्मा।

पृ. ५६४

(५) रॅगराता = तल्लीन। दुनी = ससार। रसाइन = रस। माता = मत्त। अन भौ = अनुभव। बर्णां = बनना। वड़ा। हॅवै =- अहम् है। पिड = शरीर। निरतक = नर्तक। लोचै = ललचै। बेनती = विनती।

(६) कटि = कट कर। रलाइ = सम्मिलित किया। पचदूत = पॉच विषय। चीति = चित्त। अग्यारु = अगार। दुख। गिल्या = गल गया। पूरब लिखा = सचित कर्म। राम जल = राम कृपा रूपी जल। तन जलत = विषयाग्नि से शरीर का जलना।

(७) विनु भगवत = बिना ईश्वर की कृपा से। जेहि पावक = विषयाग्नि। निखुटत नाही = समाप्त नही होता।

(८) अमल = लोकाचार। सिरानो = समाप्त हुआ। लेखा देना = हिसाब देना। सिताब = तुरत। झटपट। दिवान = मत्री। दरहाल = दरवार। फुर्सान = आदेश। अरदास = भेट। चढाबा। खटिया गवाना = षट राग। रुले = रल गए। मिल गए।

पृ. ५६५

सारौ = पूरा होना। निवाज = नमाज। सराइ = सराय। धन धन = धन्य, धन्य। सुहेला = सुखी। पदारथ = वस्तु। अमोले = अमूल्य। बहुमूल्य। खसम = परमात्मा। रुले = मिले।

(९) तिसाई = तृष्णा होना। प्यास होना। चौबीसा = चौबीस घड़ी। हर समय। महरम = भेद जाना। निधाना = आधार। उड़ीसे = जगन्नाथपुरी। मज्जन = स्नान। तुम्हारे = परमात्मा के। पूॅगरा = बालक। नरवै = नरपति। निहचै = निश्चय। अवतरि = जन्म लेकर। समारा = सम्हाला।

(११) अबर = दूसरो के। परमल = परिमल। महकदा = महने वाला और गदा। यह शब्द लगता है महक और गदा से बना है। कुअटा = कुऑ। सहस्रार। पच पनिहारी = पॉच चक्र। टूटी लेजु = कुडलिनी।

पृ. ५६५

(१२) नूर = प्रकाश। पोच = बुराई। छोटापन। भॉणे = १ भॉड़ना। गढना। २ वर्त्तन। कुॅभारे = ब्रह्मा। बदा = व्यक्ति। गुड़ दीना मीठा = उत्तम ज्ञान दिया। निरजन = निर्गुण ब्रह्म। डीठा = दीखा। सर्व = सर्वत्र।

पृ. ५६६

(१३) हारि परै = विषय मे दौड़ते-दौड़ते हार गए। पूरा = पूर्णता।
(१४) कलपतरु = इच्छित वस्तु देने वाला। गगन = शून्य। घट = शरीर।
(१६) ही महि = अपने मे। त्रिय अस्थान = तीन लोक। तीन तिय खडा =- माया के तीन खड–लोकेषण, वित्तेषण, सुत्तेषण। धरनी धर= शेषनाग। मत = मत्र। कदली पहुप = सुषुम्ना। धूप = ज्ञान। कास = शून्य। खाली। सुन्नमडल = सहस्रार। साम = कृपा। अबरन = निर्गुण।
(१७) अक्खर दुई = राम। हरि।
(१८) तुलसी का बिरवा = जीव। बनारस = शरीर। ग्वारिन = माया। चरावत गाऊ = इद्रियो का सचालन करना।

पृ. ५६७

(१९) कलत्र = स्त्री। ओछे = छोटे। इद्रलोक, सिवलोक = स्वर्ग। अवर = अपर। दूसरा।
(२०) पतरि=पत्तल। पात्र। शरीर। उरकट कुरकट = विषय। पानी = माया प्रवाह। पांच जोगिया = पच प्राण। नकट देरानी = तृष्णा। माया। कोठ= कोठा। नगनबा = ऊँचाई। डाईं = फॉद जाऊँ। हेरी = देख या खोजकर। सकलिया = सबकी। साधारण जीवो की। बरी = भक्ति का वरण किया। भर्त्ता = भगवान। काइमु = कायम। नाकहु काटी कानहु काटी = नाक, कान आदि के विषयो की प्रवृत्ति को नष्ट कर दिया।
(२१) फन्ना = विद्या। धृग = धिक् = बिगूते = नष्ट हुए। लेखा = हिसाब।
(२२) बसाइ = बस। नाभिकमल = ब्रह्मा का जन्म स्थान। सारि = समाप्त कर। आथि = अस्ति है।

पृ. ५६८

(२३) सुरत = स्मृति। बधिय = बधु।
(२४) सलल = सलिल। पानी। साख्या = शाखा। समदर्सी = समदर्शी। काहि = क्यो। तिसै = उसका। परमात्मा का। बुज्झि = समझ कर। पच-धातु = पचमहाभूत। दर्सन = दर्शन। शास्त्र। जीवत मरहु = विषय वासनामुक्त। एक नाम = प्रभु नाम। धियावहिगे = ध्यान मे लाएँगे। सुन्न = निर्गुण ब्रह्म।
(२५) जाई = नाश। अगनी = अग्नि। गुनिया = सगुण व्यक्ति।
(२६) उलटत पवन = श्वास की गति को रोक कर ऊपर करना। निबरै = निकट। अलउती का बरेडा = छप्पर का किनारा और उसमे लगी लकड़ी। यहाँ ओलती से गिरने वाला पानी अर्थ जान पड़ता है। पलीता = आग भड़काने वाली वस्तु। सीझल = सिद्ध। कुल दोऊ = लोक परलोक। महि = मे। बुनत = कर्म। आप = आत्मतत्त्व। रिदै = हृदय। खलासु = खाली। मीरा = स्वामी।

पृ. ५६९

(२८) बिबरजित = वर्जित। रोकना। सोई = वह। चौथे पद = ब्रह्म तत्त्व। नेम = नियम। निहकामा = निराकाम। मदिर = घर। शरीर। परिगास्या = प्रकाश। चमक-दमक। तह = उसका। निरभौ = निर्भर। गुरु पर निर्भरता।
(२९) फुरी = स्फुरित हुई। जिह = जिसने। भवहि = ससार मे। पियास = तृष्णा। कामेच्छा। निरास = विषयो की आशा से मुक्त। मुक्त। सचुन = नकली सत्य। दरि = दरवाज। तारि = तारता है। कचन भया = विषय की तमाई चली गयी। समुद्र

पारि = ससार सागर के बाहर।
(३०) पच सिक = पाँच शिखर। पाँच इद्रियाँ। कोट = शरीर। दारा पचे = विषय। बोई
विषयास्वाद। फलासक्त कर्म। पटवारी = चित्रगुप्त। ऊपरा भुजा = हाथ उठा कर
नव डाडी = नव इद्रियाँ। दस मुसफ = दीवानी का न्यायाधीश। पाँच लोभ, मोह
काम, क्रोध, द्वेष एव पाँच विषय। रइयति = जीव। डोरी = ध्यान। विद्याला
विस्तार। विस्टर। इक पुरुष = ब्रह्म। दीया नाम लिखाई = ब्रह्म ने नाम लिख
दिया। धर्मराय = यमराज। सोध्या = खोजा। रिज = ऋजु।
(३१) किवा = किवा। दुहु मिलि = साधक और साधु। ससा = सशय।
(३२) एक स्वासन के घर गावन = एक स्वान के घर पुत्रोत्पत्ति का गान हो रहा है। कु
= कौन। अवध = उम्र। हसे = हँसता है। हुकुम पछाणि = आदेश जान कर।
(३३) दधि कै भोलै विरौले नीर = दधि समझ कर पानी विलोता है। हरी अगरी = पुण्य
सद् वृत्तियाँ। गदहा = अज्ञान। हीगे = १ हीसना। २ अहकार जताना। आमुहा
मुखहीन। खेड़ = छोटा गाँव। चूषे = नाश करता है। भेड़ = जीव।
(३४) पेखना = प्रेक्षा। दृश्य। या देखो। रेगि = लगड़ाते। नतर = नही तो। मानस वपु
मूसा = बेचारा। मन चूहा है। मीच = मृत्यु। मनई = मनुष्य। कानी = मर्यादा
प्रतिष्ठा। नियारी = अलग। सगारी = सग वाली।
(३५) ओइ = वह। चीतन हारे = चितन वाले। ब्रह्म पसार्‍या = सब मे ब्रह्म है। सब ब्र
का प्रसार है।
(३६) तोलि = तौलि। मौलि = मोल। ब्रह्मै = ब्राह्मण।
(३७) कत नही ठौर = स्थान रहित। मूल कत लावौ = आरभ आदि रहित। अनियाले
न्यारे। विचित्र। एक माइ = एक पुरुष। परमात्मा। सब नारी = जीव।
(३८) करवतु = कर पत्र। आरी। करवट = करवट लेने से होने वाला वियोग। मु
फेरना। बारी = छोटी। अज्ञानी। पिड = शरीर।
(३९) स्वान = कुत्ता। स्वभाव न बदलने वाला। बकवासी। सिमृति = स्मृति। साकत
शाक्त। पहि = के पास। बिसियर = साँप।
(४०) बेढे = घेरा।
(४१) कस = शराब को अधिक प्रभावी बनाने हेतु दिया गया पदार्थ। एक बूँद = राम र
का एक बूँद। भाटी = भट्ठी। मुद्रा = शराब पीते समय का खाद्य। सुखमन
सुषुम्ना। पोचनहारी = पोतनहारी। भसके की नली को ठडा करने के लिये लपेटा जा
वाला वस्त्र। गहनै = ग्रहण। पेउ = पिओ। राती = अनुरक्त। सागले = सकल
महारस = भक्ति।
(४२) कालबूत की हस्तनी = नकली हथिनी। सुजाइ = जाकर। बाच = छोड़। राचु = र
हो। मर्क्कट मुष्टी अनाज = अनाज के लिये घड़े मे डालने वाला वदर। छूटत नही
वासना नही छूटती है।
(४३) पलघ = पलग। गरी = गली। गोदरी = गुदड़ी। परारा = पार रहित। अहिरख
सर्पमुख होकर। सुकृत = पुण्य। कुभारै = कुम्हार। बानी = वचन। वर्ण। माहि
मधि। मे। मुकुताहल = मोती। मुगध = मूर्ख। खिन = क्षण। निबेरा = फैसला
हरिजन = भक्त। सति = सत्य। भाणा = भाडा। शरीर। हृदय। चिरगट = टुकड़ा
शरीर। चटारा = १ कपड़े का व्यापारी। २ चटसार का स्वामी अर्थात् गुरु। तरी
तली। नीचे का। पृथ्वी का। तागरी = (ताग + री) बधन।

(४४) कॉसा = राजसी वस्तुएँ। तावा = ताम्र। तमाई। लौग सुपारी = रज, तम से सबद्ध चीजे। खेप = १ व्यापारी का लदा सामान। २ जन्म। निर्मोलक = अमूल्य। हाथ चढ्या = हाथ आया। पासारी = पसारी। फैलाने वाला। निहचल = स्थिर। पैडा = रास्ता या कदम।

(४५) लहुरिया = छोटी। पि = पिड। दुहेरा = दुर्लभ। सुहागिन = जीव।

(४६) कसवही = रस। जतनि = यत्न। लक्खन = लक्षण।

(४७) दिवाजा (दीप + अर्चा) = पूजा अर्चन। अनहद वाजा = अनाहतनाद। निवाजा = कृपा।

(४८) कबिलास = कैलास। मर्दन = मालिश करना। चराक = चिराग। रोशनी। पाक = भोजन। चौबारे = १ बैठका। २ चारो ओर। प्रतिहार = पहरेदार। बासक = वासुकि नाग। बिस्तरहि = फैलाते है। पनिहार = पानी भरने वाला। अठारह भार = पेड़ो के प्रकार। खियत = क्षेत्र पाल। ताऊ = पिता का बड़ा भाई। काम।

(४९) चीनी = चीन्हा। सूतै सूत मिलाये = कपड़े के समान शरीर को कर्म सूत्रो से रचा है। कोरी = जुलाहा। भगवान। ताती = तन्तुवाय। जुलाहा।

(५०) भव निधि तरन तारन चितामणि = यह ससार मुक्ति का स्थान है। पिड = शरीर। अपवाद = निदा। फुनि = फिर। संग = विषयो का साथ। हि = इस। धूत = धूर्त। मतवारे = विषय मत्त। सुपनतरि =- सपने मे भी। भैहारी = भय या भव से मुक्त करने वाले। भीर = भीड़।

(५१) ठगौरी = ठगो की जड़ीया गठरी।

(५२) रिदै = हृदय। अहमेव = अहम् एव। पाथर की सेव = मूर्त्ति पूजा। भौले भाव = सामान्य भाव से।

(५३) सोई = परमात्मा। पतीजै = विश्वास करना।

(५४) बिगसै = विकसित। परियारी = पक्ष करने वाली। माया। ठिठकी = ठिठकना। डरी। पिड पराइणि = पीछे पड़ना। त्रखि = डरना। डाइणि = माया। भेव = भेद। बाहर परी = बाहर हो गयी। अंचल = क्षेत्र। लरी = लड़ती।

(५५) गुसाइन = स्वामी। खरे = खड़ा। शुद्ध।

(५६) सलिता = सरिता। पानी। अन = अन्यत्र।

(५७) गगन नगरि = सहस्रार मे। नाद = अनाहत नाद। देही = आत्मा। बाबा = जीव। सुरति माहि = ध्यान। स्मृति। निरते = निरतर प्रेम। नृत्य। बजावन हारो = शरीर बाजे को बजाने वाली चैतन्यात्मा। मदर = मदिर। शरीर। पच दूत = पॉच इद्रियॉ। मन कुजर = हाथी सा मत्त। मन। तेज = प्रभु की तेजस्विता। दसै बद = दस इद्रियॉ।

(५८) गगन = सहस्रार। रसाल = रस स्थान। काठी = लकड़ी। विषय रस रहित। सहज कलालिनि = सहज साधना रूपी कलालिनि। अनदिन = सदा। निरजन = परमात्मा।

(५९) नव गज = दो कान, दो ऑखे, दो नासिका छिद्र, मुख, गुरा, लिग। दस गज = नौ + ब्रह्म रंध्र। इक्कीस पुरी = चौदह भुवन, सात द्वीप। कत = कितने। नाई = नाम। नव खड = भारत, इलावृत, कि पुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रम्य, कुश। बहत्तर पाटी = शरीर की बहत्तर ग्रथियॉ। माहो = अहम्। गई बुनावन माहो = अहम् ससार। वस्त्र बुनता है। जुलाहो = चैतन्यात्मा। छोड्या जाइ = शरीर या ससार छोड़ रहा है। गजी न मिनियै = गज से नापा नही जा सकता है। तोलि न

तुलियै = तोला नही जा सकता है। पॉच न सेर अढ़ाई = आधा अधूरा नही, पूर्ण। पाचन = साधना। बरकस = जबर्दश्ती। कत = कहॉं। कुडे = शरीर। पुरिया = शरीर। रिसाईं = कुद्ध होकर। नली = ढरकी के भीतर की नली। शरीर। तंतु = तत्त्व। टही = टहनी। इच्छाऍं।

(६०) धौतिया = धौती। तग्गा = जनेऊ। वग्गा = वल्गा। आखि = कहता है। डाला = ढेला। वासन = वर्त्तन। काठी = लकड़ी। माणस = मनुष्य। अपरस = रस हीन।

(६१) विंदु = वीर्य। उतपाती = उत्पत्ति। शूद = शूद्र।

(६२) अवधु = अव्यक्त। दुइ पुर = लोक-परलोक। रसाई = रस पैदा की। चुआई। प्रगास = प्रकाश।

(६३) मॉह = मुझे। फेड़ = फिर। लूके = छिपे। अभिउ = अभय। आपा पद = आत्म पद। उदय अस्त = जन्म-मरण। नासी = नष्ट हुई। विगराना = अलग होना।

(६४) सिमरहि = स्मरण करते है। मानस = मनुष्य। योनी वाट = जन्म।

(६५) वीठुला = विट्ठल भगवान। अनिक = अनेक। नीका = ठीक। निर्मोल = अमूल्य। मीका = मात्रा। परिमाण। सम = बराबर। सरि = ऊँचा। श्रेष्ठ।

(६६) खूधे = खोदना। पबीत = पवित्र। त्रै = तीन भवन। तीन लोक। बिधवारि = विधवा। पॉच नारद = पाच विषय। मिटवे = मित्रता। फूटे = छूटे।

(६७) आदेस = नमस्कार। अलेखु = अलक्ष्य।

(६८) रिदै = हृदय। ओलै = ओट।

(६९) ठैगा = ठोकर। बैल = साधनाहीन जीव। विराने = पराया। कोदो = एक रद्दी अन्न। भुस = भूसा। बन = विषय। महिया = मध्य। अनिक = अनेक। योनि = जन्म। रतन जनम = अमूल्य जन्म। तेलक के कपि = गांगेय तैलफ नामक राजा ने राजा मुज को गिरफ्तार कर बदर के समान द्वार-द्वार घुमाया। इसी की ओर सकेत जान पड़ता है। बिहै है = समाप्त होगा।

(७०) गठिया = गॉठ का धान। मठिया = मठ। मेहरी = पत्नी। मरहट = मरघट। वैसु = वयस। उम्र। पाटन = पत्तन। नगर।

(७१) उरबारि = उबरना। खिन = क्षण। तबोर = ताम्बूल। पान। चोर = विषय या इद्रियॉ।

(७२) कनिक = कनक।

(७३) लिव = लौ। नुरू = नूर। चमक। तेज। कासी = १ कासा। एक धातु विशेष। २. शरीर। घटहू घट = शरीर मे शरीर। स्थूल शरीर मे सूक्ष्म शरीर। सूत्रात्मा।

(७४) किरम = कृमि। मुका = मुख। सठोरि = सट्टेबाज (?)। वरी = श्रेष्ठ। बड़ी। सुहेला = सुहृद। नलनी भ्रम सूआ = नलनी पर बैठते ही सुग्गा उलट जाना है।

(७५) दीवे = देह। तेल = शक्ति। वाती = चेतना प्रकाश। जोई = स्त्री। पत्नी।

(७६) सिघ = सिह। मन। माया। बन = विषयवन। स्यार = साधना। जीतौ = प्राप्त करने वाला। हारो = अप्राप्त। लिव = लौ। ध्यान।

(७७) अपतह = प्रतिष्ठा रहित। पति = प्रतिष्ठा। परवानु = पहचान।

(७८) डहकाई = जलाई। कामाग्नि पैदा की। साकर माखी = मधुमक्खी। तुरे = तुरग। घोड़ा। उष्ट = ऊॅंट। सिध = सिद्ध। छिय = छ। यती = सनकादि। बदा = व्यक्ति। नवै नाथु = नौ नाथ। पच दूता = इद्रियॉ। धरतेव = धरती वाले।

.) सूतक = अशुद्धि। ओपति = उत्पत्ति। परज = प्रजा। पबीता = पवित्र। बैनहु =

वचन।

(८०) अहा = थे। तागा = जीवधागा। गगन = शून्य। ससार = सशय।

(८१) निगम = वेद। ठाटा = प्रवाह। माटा = १ मिट्टी का बर्त्तन। २ मक्खन निकाल दही। चेरी = साधिका। सेविका। तौक = पट्टा। बेरी = बेड़ी।

(८४) दोजक = नरक। चौदस = चतुर्दशी। कूपपरहि = नीच कर्मो मे पड़ना। बनाहि = बने। हमरे = हम। उबरे = मुक्त हुए। डूब मरहि = विषयो मे डूब कर नष्ट होना।

(८५) कस = क्यो। महतारी = माता। मुयो = मरा। मुचमुच = पुन.-पुन । कीन = कैसे। बुड़ भुज = लंबा हाथ। कुबज = कुब्जा।

(८६) तरास्या = त्रस्त। डरना। सहजै मरै = सहज साधना मे विषय मुक्त होना।

(८७) सिमरनि = स्मरण। निर्भव = अजन्मा। तूर = तूर्य। ननकारू = नकार। आवदन = आना। पटबरि = पीताम्बर। पोह = बधन। सासि = श्वास। गिरासि = ग्रास।

(८८) पॉचो अमृत = पॉच इद्रियो द्वारा पॉच विषयों का सेवन। लूकट = लुकाठ। आग।

(८९) चचु = चोच। सबारहि = सम्हालना। हवाल = हाल दशा।

(९०) सरजीव = सजीव। अकुल =- आकुल।

(९१) अजन = भौतिक ससार। खीर = दूध। बजर = बज्र। कल छेदी = काल को नष्ट करने वाली। अधेर = घटना। जेबड़ी = रस्सी बधन। निटचल = निश्चल। अटल। दह =- दश। लिव = लौ। उनमन = विषय मुक्त ध्यानस्थ मन। अनुभौ = अनुभव। ब्रह्मी भाव।

(९२) लोई = लोग।

(९३) काछ लोह = काष्ठ एव लोहे की मूर्तियॉ जड़।

(९४) बाझु = बिना। घाल अघाई = पूरा होना। सद = सत्य। बिहार्‍या = व्यर्थ बना दिया। ठाहर = सगुण आधार। पूत = जीव। पिता = ब्रह्म। जाया = पैदा किया। जाचक = साधक। दाता = भगवान। मूका = मुक्त। पंच सैल = अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

(९५) हरना = मन। अवगत = अविज्ञात। खेतै = क्षेत्र। हलहर = हलधर। किसान। परोइयै = पिरोना। जाइयै = जानना या जाना। कपर = कपाल या कपड़ा। अपसार = अपसरण। निकलना। घोर = घोल। दुहागनि = कष्ट।

(९६) जोइ = स्त्री। माया। जाया = पैदा किया। पूत = जीवन। बाप = ब्रह्म। खीर = ज्ञानामृत। भाऊ = भाव। मुकलाई = विवाह किया। माऊ = माता। पग्गा = पैदा। हुरिया = सिह। विषय। खिन खिन = क्षण क्षण। हासता = हॅसता। बासन = वर्त्तन। खीर = ज्ञानामृत। अस्थन = स्थान। गऊल = इद्रियॉ। बेरी = बाड़ा।

(९७) सद = सत्य।

(९८) परमनु = परम तत्त्व। कहाही = कहॉ है। हाही = है। आहि = है।

(९९) घाल = घात। अजाई = व्यर्थ। अघु = अज्ञानी। फघु = बधन। निहफल = व्यर्थ। फोकट = मुफ्त। सेइ = सेवा। साकत = शाक्त। गावार = गॅवार। भाइ = भाव। घर घाले = जीवन को नष्ट किया। दूजै माइ = परमात्म भिन्न भाव से।

(१००) तागा = नसे। नाचना = जीवन धारण। मदरिया = मदिर। पूरा = पूर्ण ब्रह्म।

(१०१) सोधौ = वह।

(१०२) कपि के कर मुष्टि = बदर की मुट्ठी जो लोभ के कारण सकरे बर्त्तन मे फॅसी है। गरहि पर्‍यो = गले पड़ा। फॅस गए। घ्राउ = घ्राण। सुगध। हयो = मारा। औघ =

ढेर। तिन = तृण। चुह = चारो।

(१०३) गजि = गरज कर। जन = १ परमात्मा। २ जीवन। शरीर। बनारस = शरीर। ससार। मगहर = मग, आवागमन हरने वाला स्थान। साधक शरीर या मार्ग।

(१०४) कॅचुआ = कच्चा। नाशवान्। चार अचार = १ चार पुरुषार्थ। २ आचार विचार।

(१०५) दीवान = दीवनगी। औध= अवधि। जीवन।

(१०६) खिघा = कथा। गुदरी। आधारी = योगियो का एक आधार। यह लकड़ी का बना होता है। भाई = भाव।

(१०७) रैनी = रण। युद्ध। पाचौ तत्व = पच महाभूत। तिह = उस मे। रॅगराती = अनुरक्त। जाना = १ ज्ञानी। २ जाना होगा। नाशवान्। ३ यान।

(१०८) तरवर = १ सृष्टि। २. कुडलिनी। वाड़ी = वाटिका। भवर = साधक। पुहुप रस = परमात्म या आत्म तत्त्व। वारह = १ दश इद्रियॉ, मन और बुद्धि। २ द्वादश कमल। सोरह = सोलह। दस इद्रियॉ, पॉच प्राण, एक मन। पवन झकोर्‌यो = पवन साधना। प्राणायाम। अकाशे = सहस्रार। शून्य = आकाश। सहस्रार। बिरवा = ज्ञान। कुडलिनी जागरण। धरती = मूलाधार चक्र। जलधर = आकाश।

(१०९) ताग = शरीर ततु। ससार मोह। निखुटी पानि = विषय प्रवाह समाप्त। द्वार = मन। झिलिकावहि = झलकाता है। कान = कृष्ण। कूच = प्रस्थान। फूए = स्फुरित हुए। फाल = फासला। डग। मुडिया = १ मुडित। जीव २ माया। सगलो = सपूर्ण। द्रव = सपत्ति। तुरी = तू री। नारि = माया। अनुदिन = अनुदिन। सदा। साथरु = साथरी। एक प्रकार का विछावन। पलोसि = धोना। चाबन = चबेना। भजि = भागकर। छोड़कर।

(११०) परसाद = प्रसाद। कृपा। रादे = रद्द किया। काणि = परवाह। मगहर = साधना हीन शरीर। कासी = साधकदेह।

(१११) बाला = साधक। भवर = १ भ्रमण। २ काले केश। ३ युवावस्था। करबै = करवा। मन। रलिया = मिलना। बाझ = बॉझ। इह कथा सिरानी = इस लोक की जन्म-कर्म कथा समाप्त। काग उड़ावत = प्रिय की आशा मे।

(११२) जरा = वृद्धता। हाक = आवाज। तिसे = १ उसे। २ प्यास। सरेवहु = १ श्रवण करो। २ स्रवित होता। पासा = शतरज। ढालि जु जानहि पासा = जो शतरज खेलना या साधना जानते है।

(११३) बिप्प = विप्र। जयदेव = एक भक्त। नामा = महाराष्ट्र के एक भक्त। चारि पदारथ = चार पुरुषार्थ।

(११४) आपा = आत्मा।

(११६) वेगल = वेकार। बाजीगर = १. परमात्मा। २, माया।

(११७) बेदार = जाग्रत। सावधान।

(१२०) चेतू = चेतना। खेतहि = शरीर रहते। निबेरा = निपटारा।

(१२१) सादि = १ स्वाद। २ साथ। रडा = ज्ञानी। दूधधारी = दूध पर जीने वाले। गुसी = चुपचाप। बटिका = रोटी।

(१२२) आतम राम = आत्मा तत्त्व। गम्या = गया। काई = कभी। बिदु = वीर्य। खुसरो = बधिया।

(१२३) तूला = रुई। पूला = गट्ठर।

(१२४) सपै = सपत्ति। दर = दरवाजा। द्वार।

(१२५) नाइक = जीवात्मा। बनजारै पॉच = इद्रियॉ। बरध पच्चीस = २५ तत्त्व। काच = कच्चा। नव बहिया = नौ इद्रियॉ। दस गोनी = नव इद्रियॉ, एक मन। कसन बहत्तरि = ७२ नाड़ियॉ। ब्याज = पुण्य। सत्तु = सत्त्व। बनजु = व्यापार। भावलिनी = भाव करने वाली। तीनि = गुण। टॉडो = व्यापारी का खेप। शरीर। सरसी = पूरा होगा।

(१२६) ओदासी = उदासी। खाती = १ खतना किया हुआ। मुसलमान। २ क्षत्रिय। पति = परमात्मा। असु = अश। कागर = शरीर। आत्मा। मसु = मास।

(१२९) लीपत = सकाम कर्म करते। ताना बाना = शरीर कर्म। जिठानी = माया। दिरानी = देवरानी = वासना। सात सूत = योग के सात साधन–शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्त। पैज = प्रतिज्ञा।

(१३०) सरधन = श्रद्धा। ईश्वर।

(१३२) खर = गदहा। अविर्था = व्यर्थ। बिपास = व्यास। सुक = शुकदेव। रमि = रमणकर।

(१३३) खीजै = रमण करना। कागा कारे = कुप्रवृत्तियॉ।

(१३५) पिछौरी = बाद की। लोगो = लगता है। पाई = पैर। जाल = ससार। मछली = मन। आत्मा। तरवर = ब्रह्मरध्र। सिह = साधक मन। गाई = माया। तले = मूलाधार चक्र। ऊपर = आकाश। सहस्रार। सूला = शून्य। लगै फल फूला = मुक्ति या प्रभु प्रीति का फूल लगना। चरि = चढ़। घोड़े चढ़ = इद्रिगे पर विजय कर। भैसे = विषय। बैल = मन। बिछू = विश्व।

(१३६) साहुर = साधु। खरी = चिता। बरी = बड़ी। लहुरी = भक्ति। जेठी = माया।

(१३७) पाहन = मूर्ति। पाउ = पॉव। पहिनि = पकी दाल। लापसी = हलुआ। करकराका = गरमा कर। सारु = घृत। हारे = वाले।

(१३८) पानी मैली = विषय जल। माटी गोरी = शरीर या पचमहाभूत। मै = आत्मा। आहि = है। गगरिया = शरीर। नीवौ = आत्मा। नीव।

(१३९) बिसाहे = बेचना। गूणि = बोरा। रस्सी। टॉड = व्यापार। बजारा = व्यापारी। जगाती = कर वसूलने वाला। टाडा = टॉड। व्यापारी का माल। बैल = शरीर।

(१४०) गॅगे = गूॅगा। साकर = शक्कर। खना = मरण। गगा जमुना = इगड़ा पिगला। लोचा = लालच। अप = जल। तैज = आग। पथवी = भूमि।

(१४१) साहुरडे = ससुराल। एयाणा = अज्ञानी। डंडिया = लकीरनुमा छीट की साड़ी। बॉधे = पहने। धन = घन्या। मूकलाऊ = विवाहार्थ। खूरड़ी = खुरवाली। उटि = १. उटग। २ उठि। पनिहारी = कुडलिनी। किरत = कीर्त्ति। आखियै = आख्यान। बधी = बधी।

(१४२) सडैमरकै = मोटे को।

(१४३) फील = हाथी। मन। खाबी = रबाब सरोद और सारगी के बीच का बाजा है। इसमे चार तार होते है। इसे बजाने वाला। बलुद = बैल। लोभ बुद्धि। पखावज = मृदग। कौआ = चचल वृत्तियॉ। चोला = वस्त्र। शरीर। गदहा = अज्ञानी जीव। भैसा = विषय ग्रस्त मन। करिया = १. पतवार। २ कर्म। बरपे = आरंभ हुआ। काये = शरीर। दूझन = जलाने वाले। विषयाग्नि। सिह = अहकार। घीस = बड़ा चूहा। मुसरी = चुहिया। कन्निया = कन्या। नववधू। माया। ससै = खरगोश। मन। कीटी = कीड़ा। साधक मन। परबत = पहाड़ सी माया या वासना।

(१४४) फुरमान = फरमान। आज्ञा। करिया = नाविक।
(१४५) गुरु = गुरु। मजनू = एक प्रसिद्ध प्रेमी। मिसु = बहाना। उलटी = प्रवृत्तियो को उलटने की साधना। सकति = सासारिकता। मझार = मध्य। चक्र = छः चक्र। भुअगा = कुडलिनी का जागरणहीन रूप। राइन = राजनि। प्रभु। गिरासा। ससि सूर = इडा पिगला नाड़ियाँ। कुभ = शरीर। कुभरि = भरा। माल = तत्त्व। करि = साधना कर्म। सार = मूल बात।
(१४६) बटुआ = शरीर। बहत्तरि आधारी = बहत्तर नाडियाँ। जिसहि = १. वस्तु। २ जैसा। दुवारा = दूसरा। तल = मूलाधार। ब्रह्म = कुडलिनी। गगन = सहस्रार। चरावै = चलावे। खिथा = व्यर्थ। मिरगाणी = १. मृगो के रहने का स्थान। जहाँ मन मृग का निवास है। २. मिरजई। फाहुरी = फाहा। दृष्टि = विचार। रिद = हृदय। ताड़ी = तार। लगाव। जोगत्तण = योगो मे उत्तम। पराना = प्राण।
(१४७) पूरे = पूर्ण। खहु = रमहु। टुकु = थोड़ा। विडानु = घूमना। परवानु = प्रामाणिक। अतरगति = हृदय मे।
(१४८) स्यावै = बढाता है। ओक = घर।
(१४९) बात = वत्ती। निखूटा = समाप्त हुआ। नट = जीव। गावन = भाषा। विषयगान। पच जो चूरे = पाँच चोर। पाँच इद्रियाँ।
(१५०) बाप = गुरु। परमात्मा। माई = माया। सुखाला = सुखी। दगली = भारी लबादा। शरीर। पाला = ससार विषय। पचा = पाँच विषय। पावा = पैर। ढहरि = ठहरने का स्थान। आत्मा परमात्मा का स्थान एक है। दुहा = कठिन।
(१५१) साझर = हिस्सेदार। साखी = साक्षी। भुजव = बाँहो मे। सूके = सूखे। पालि = पाल। लूणे = कटे। असार = लगातार। लाहा = लाभ। नालि = १. साथ। २ न अलि।
(१५२)- बावन अक्षर = नागरी लिपि मे बावन अक्षर होते हैं। इन्हीं अक्षरो से तीनो लोको की कथा लिखी जाती है। खिरि = खुरचना। लिखना। बोल = सगुण। अबोल = निर्गुण। सोई = प्रभु। अलह = अप्राप्त। रवि = रमि। मेट्या = नाश। सपट = सपुट। दह = दश। अकह = अकथनी। खोड़ि = खोट। खिसा = अलग। निमसै = निवास। सुमेर = एक पर्वत। स्मरण। रणि = रण मे। रुतो = ऋतु। नानि = ज्ञान। बैना = वचन। थाहर = स्थावर। दसवैद्वार = दस इद्रियाँ। रतवाई = अनुरक्त। फक = फाँक। अलह = अलभ्य। चरन समावै = भगवत्शरण मे जाना। समारि = स्मरण। भाउ = भाव। तह = तहाँ। पछानि = पहिचान।
(१५३) पिड = शरीर। झोट = केश। सासा = श्वास।
(१५४) बुत = मूर्ति। कबता = कवि। दारै = दले जाते है। बिगूते = नष्ट हुए। जेबरा = जबर्दश्त।
(१५५) चीसा = चिग्घाड़। पाट = वस्त्र। पोटलै = गठरी। अँलियारै = झूठ। पतिया = विश्वास। चौथे पद = मुक्ति। पतीना = विश्वास करना। जिंद = जीवन।
(१५६) चूना = आटा। खींघा = गूदड़ी। किबला = मक्का।
(१५७) मिसमिल (बिस्मिल्लाह) = ईश्वर का नाम कार्यारभ के समय। कह = क्या।
(१५९) डाँडि = टेक। सिधोरा = सिदूर रखने की डिबिया। बिगूचा = नष्ट हुआ। सगल = सकल।
(१६०) सूचा = सत्य। बैसि = बैठकर। करछी = परोसने वाला वर्त्तन।

(१६१) आपन रगि = आत्मरग। भाण = कहा। किलविष = पाप।
(१६२) निहफल = निष्फल। दरगह = दरबार।
(१६४) जल = विषय जल। खीन = क्षीण। सुअटा = सुग्गा। मंजरा = बिल्ली।
(१६५) सिगी = एक बाजा। किगुरी = बाजा। मताड़ी = विचार।
(१६६) बेही = छेद।
(१६७) धुधरवा = धीरे-धीरे धुआँ किया।
(१७०) उपाधि=उपद्रव।अपि = स्वय। अवर = अपर।
(१७२) लुजित मुजित = जैनी एव मूज पहनने वाले। जमना = यम।
(१७९) परवार = परिवार।
(१८२) कवलय = नील कमल।
(१८३) बिरख = वृक्ष। पखि = पक्षी।
(१८५) बैसतर = अग्नि।
(१९१) इफतरा = अधिक। टुक दम = थोड़ा धैर्य। दस्तगीरी = सहायता देने वाला। दरोग = झूठ। बखबर = बेखबर। बार = व्यर्थ। हक = उचित। खालक = सृष्टिकर्त्ता। खलक = सृष्टि। ससार। लहग = चमकदार। दरिया = नदी। गुसल = स्नान। करद = सहायक। बूद = अस्तित्व। दाइम = नित्य। चसमे = दृष्टि। छोटी नदी।
(१९२) कतेब = कुरान। बिसमिल = खुदानाम। उज्जु = नमाज पूर्व हाथ पैर धोना। मैहि = मे। भिस्त = स्वर्ग। दोजक = नरक।
(१९३) सिमृति = स्मृति। फाधि = फदे मे।
(१९४) सियाने = बुद्धिमान। राग रगनी = मोह। डिभ = जन्म के साथ। खलासे = शुद्ध।
(१९५) षट नेम = स्नान, सध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम। कोठड़ी = शरीर। कुलफ = ताला। पच पहुरुआ = इद्रियॉ। पतियारा = विश्वास। नवघर = नया घर। नौ इद्रियो वाला घर। दसबे = ब्रह्म।
(१९६) मष्ट = चुप। झकमारी = व्यर्थ की समय बर्बादी। छूछा = परमात्म अनुभूतिरहित। भरिया = परमात्मा की अनुभूति से पूर्ण।
(१९७) मिरग = मृग। मन। दरवाजे = इद्रियॉ।
(२००) इसलारु = स्वार्थ त्यागी। कावर = कॉवर या बहॅगी ढोने वाला। खासी = अपना। बजगारी = बदकारी। अनुचित। पनह = फनाह।
(२०३) पगारा = पद चिह्न।
(२०४) सर्पनी = माया। वासना।
(२०६) सासु = कुबुद्धि। ससुर = सांसारिक देवता। जेठ = काम। सखी सहेली = वासनाएँ। ननद = माया। गहीली = गर्वीली। देवर = राग। सेजै = हृदय। बाप = परमात्मा। सबका (< साबिक) = पहले का। सद = आदत। बड़े माई = काम। सज = सयम। नाह = नाथ। प्रभुपति। पंच = इद्रियॉ पॉच।
(२०७) बैस = बैठ। सारु = सार। मूल बुद्धि। मूल दुआरे = मूलाधार। रवि = पिगला। चंदु = इड़ा। पंचम द्वारे = विशुद्ध चक्र। सिल ओड = दीर्घ जीवन। यह चक्र मनुष्य की दीर्घ जीवी बनाता है। खिड़की और = आज्ञा चक्र। यह चक्र विशुद्ध चक्र से ऊपर है। दसवा द्वार = ब्रह्मरंघ्र।
(२०९) जननी = परमात्मा। बारिक = बालक।
(२१०) पचे = पच प्राणो मे।

(२११) खिया = गुदड़ी। शरीर। सुन्न गुफा = सहस्रार। आसन वैसण = ध्यान। कप्प = कल्प। विवर्जित = परिवर्तन रहित। राजन = परमात्मा। साग = शाक। बिजोरी = बीज। सिडी = शृगी। एक बाजा। भसमाधारी = भस्म का आधार। ताड़ी = ध्यान। त्रिपल = ज्ञान नेत्र। त्रिकुटी। पसारी = ससार का विस्तार। सारद = सरोद बाजा। थिरु = स्थिर। नती = तत्री। नसे। मनगन = मग्न। सुनि मनगन = शून्य मे ध्यानस्थ।

(२१२) सुरह = १ सरभी। गाय। २ इद्रिय। पूछट = मूलाधार। पूछने पर। सुतू = सो तू। चाकी = अनाज की ढेरी। साधना कर्म। चून = आटा। चाकी = इकट्ठी। विषयो की ढेरी। छीके = ऊर्ध्व मन स्थिति। लकरी सोटा = साधारण कर्म। पीठ = स्थान। ईट ठेम = इस स्थान पर

(२१३) जुरै = युद्ध करे। दुदर = द्वन्द्व। दुविधा। मुदर = १ कुडल। २ प्रभु कृपा। विदु = वीर्य। जरना = नष्ट होना। दुइ सुर = १ इड़ा पिगला। २. इहलोक परलोक। बाहर जाता = प्रवृत्तियाँ।

(२१४) वाछियै = बचेगा। वारियै = वारण या वर्जित होगा। सपै = सपत्ति।

(२१५) गोमती = १ एक नदी। २ इद्रियो को वश मे करना। पीतवर = श्री कृष्ण। खवासी = सेवकाई। कवला = लक्ष्मी।

(२१६) गोरु = जानवर। गुसाइ = स्वामी। पाचे = पचते हो। पीछे हो।

(२१७) मसकीन = दीन। अवलि = श्रेष्ठ। गुजारै = प्रार्थना करना। भिस्त = विहिश्त स्वर्ग। अकलहि = पूर्ण। पॉचहु = पॉच विषयो। मुसला = सपूर्ण। मणी = मन।

(२१८) बिसासा = विश्वास। भॉडे = शरीर। नकु = थोड़ा भी। ठनका = १ चोट। २ टूटा। सगल = सकल।

(२१९) वाहज = वाहक। चुरु = चुल्लू।

(२२०) कवादे = नियम। बदौगा = वद्ध हूँगा।

(२२१) हीरै = आत्मा। परमतत्त्व।

(२२२) अठ सठि = अड़सठ। कौरापन = कुमारावस्था। साधनाहीनता।

महाकवि रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रशंसित रचनाएँ

मोंको कहाँ ढूँढै बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।
ना मै देवल ना मै मसजिद, ना काबे कैलासमे।
ना तो काउन क्रिया-कर्ममे, नहीं जोग-बैरागमें।
ना मैं छगरी ना मैं भेंड़ी ना मैं छूरी गँड़ासमें।
नही खालमें नहीं पूँछमे ना हड्डी ना माँसमें॥
मैं तो रहौ सहरके बाहर मेरी पुरी मवासमें।
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पल-भरकी तालासमें।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सब साँसन की साँस में।

टिप्पणी—भगवान् मदिर, मस्जिद बाहरी क्रिया-कर्म या योग वैराग्य से नही मिलते। वे मनुष्य के भीतर वर्तमान है। वही उन्हे पाया जा सकता है।

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध बाभन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साध जाति है बरियाँ।
साधनमाँ रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषि सो भँगियाँ।
हिन्दु-तुर्क दुइ दीन बने है, कछू नहीं पहचनियाँ।

टिप्पणी—पुछनियाँ = पूछना, प्रश्न करना। सुपच ऋषि = श्वपच सुर्दशन। यज्ञसागर, उग्रगीता, कबीर मन्सूर आदि कबीरपथी ग्रथो मे कहा है कि कलियुग के आरंभ मे जब कबीरसाहब इस पृथ्वी पर प्रकट हुए थे तो काशी के भगी सुदर्शन नामक महात्मा ने उनसे दीक्षा ली थी। युधिष्ठिर ने महाभारत की लड़ाई के बाद भ्रातृहत्या के पाप से उद्धार पाने के लिए एक यज्ञ किया। श्रीकृष्ण ने इस यज्ञ मे एक घटा बॉध दिया। जब घटा सात बार बजे तभी पाप छूटेगा, ऐसा सकेत किया। हजारो ब्राह्मण और साधु भोजन कर चुके पर घटा नही बजा, तब श्रीकृष्ण के कहने पर भीम काशी के दुदर्शन भगी को लाने गये। भीम के अह के कारण सुदर्शन ने जाना स्वीकार नही किया। तब स्वय युधिष्ठिर ने जाकर उन्हे ले आए और भोजन कराया। उनके भोजन करने पर ही घटा बजा। प्रयाग क्षेत्र मे श्रीकृष्ण के कहने से सब लोग गए। वहाँ जल मे सबने अपनी छाया देखी। केवल सुदर्शन की छाया मनुष्य की थी, बाकी सबकी कुत्ते आदि निकृष्ट जीवो की। भँगिया = भगी। दीन = धर्म। पहिचानियाँ = भेद, पहचान, विशेषता। साधुकी जाति पूँछना बेकार है। बरियाँ = बारी।

लाखन जाति जगत माँ फैली कालको फंद पसारियाँ।
साधो भाई, जीवत ही करो आसा।
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत मुकुतिनिवासा।
जीवत करमकी फाँस न काटी, मुये मुक्तिकी आसा।

अबहुँ मिला तो तबहुँ मिलेगा, नहि तो जम्पुर बासा।
सत्त गहे सतगुरुको चीन्हें, सत्त-नाम विसवासा।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा।
सब सन्तनमाँ सन्त बड़े है सबद रूप जिन देहियाँ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो सत्तरूप बहि जनियाँ।

करम की फॉस = काल का फदा पसारा हुआ है। सत्तनमॉ = सत्वों मे। सब्दरूप जिन देहियॉ = जिनकी देह शब्दरूप है। सत्तरूप बही जनियॉ = उन्हे सत्य पुरुष का रूप ही समझो।

बागों ना जा रे ना जा,
तेरी काया में गुलजार।
सहस-कँवलपरबैठके
तू देखे रूप अपार॥

टिप्पणी—बगीचे का सौदर्य देखने के लिए किसी बाहरी उपवन मे जाने की जरूरत नही है, शरीर मे ही फूल खिले हैं। शरीर के भीतर जो सहस्र दलका कमल है (सहस्रार चक्र) उसी पर बैठकर अर्थात् समाधि के द्वारा प्रभु के अपार रूप को देख।

बागों ना जा रे ना जा, तेरी कायामे गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ कर तू रहनी करु रखवार॥
दुर्मति काग उड़ाइ के देखै अजब बहार।
मन माली परबोधिए करि संजमकी बार।
दया पौद सूखे नहीं छिमा सींच जल ढार॥
गुल और चमनके बीचमें फूला अजब गुलाब।
मुक्ति कली सतमालकी पहिरु गूँथि गलहार॥
अष्ट कमलसे ऊपजे लीला अगम अपार।
कहै कबीर चित चेतके आवागमन निवार॥

इस पद मे बाग का सागरूपक है। इस बगीचे मे करनी क्यारी है, रहनी रखवाला है। दुर्मति कौआ वगीचे को दूषित करने वाला है। मन माली, सयम बेड़ा, दया पौधा, क्षमा सींचने का जल है। चमन स्पष्ट ही शरीर है, गुल सहस्रार है और इन दोनो के बीच खिला हुआ अद्‌भुत गुलाव समाधि है। मुक्ति कली के सत्य नाम की माला गूँथी जा सकती है।

अवधू, माया तजी न जाई।
गिरह तजके बस्तर बाँधा, बस्तर तजके फेरी॥
काम-तजेते क्रोध न जाई, क्रोध तजेते लोभा।
लोभ तजे अहँकार न जाई, मान-बड़ाई सोभा॥
मन बैरागी माया त्यागी, शब्दमे सुरत समाई।

कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह गम बिरले पाई ॥

टिप्पणी—हे अवधू, माया छोड़ना कठिन है। गृह छोड़ा तो भेष धारण किया और अब भेष छोड़ा तो फेरी कर भीख माँगने लगे। गम = ज्ञान।

चंदा झलकै यहि घटमाही। अंधी आँखिन सूझै नाहीं ॥
यहि घट चंदा यदि घट सूर। यहि घट गाजै अनहद तूर ॥
यहि घट बाजै तबल-निसान। बहिरा सबद सुनै नहि कान ॥
जब लग मेरी मेरी करै। तब लग काज एकौ नहि सरै ॥
जब मेरी ममता मर जाय। तब प्रभु काज सँवारै आय ॥
जब लगि सिंघ रहै बनमांहि। तब लगि वह बन फूलै नाहि ॥
उलट स्यार सिंहको खाय। तब वह बन फूलै हरियाय ॥
ज्ञानके कारण करम कमाय। होय ज्ञान तब करम नसाय ॥
फल कारन फूलै बनराय। फल लागे पर फूल सुखाय ॥
मृगा पास कस्तूरी बास। आप न खोजै खोजै घास ॥

टिप्पणी—इसी शरीर मे वे सभी ज्योतियाँ और सभी मगलवाद्य वर्तमान है जो बाह्य जगत मे दीखते है। इसी मे वह विश्वव्यापी अनाहत ध्वनि भी हो रही है। परन्तु जिसके भीतर की आँखे नही है वह इस ज्योति को नही देख पाता। जब तक ममता बनी रहती है तब तक कोई काम नही निकलता। ममता के नष्ट होने पर भगवान् सहायता करते है। फिर तो बिगड़ा काम बन जाता है। ज्ञान होने पर कर्म बधन नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार फल के बाद फूल सूख जाता है। किन्तु जिस प्रकार फल के लिये ही वृक्ष फूलता है उसी प्रकार ज्ञान के लिये ही साधक कर्म किये जाते है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग कस्तूरी अपने मे खोजता, घास मे खोजता है। उसी प्रकार मनुष्य के भीतर ही परम सत्य वर्तमान है पर अज्ञान के कारण वह विषयो के पीछे पीछे भागता फिरता है। अपने भीतर के सत्य को नही खोजता है। चंद्र, सूर्य, अनाहतनाद आदि शब्द पारिभाषिक भी है। सन्त कहते हैं कि जो कुछ ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड मे है। घट का अर्थ शरीर है।

साधो, ब्रह्म अलख लखाया।
जब आप आप दरसाया ॥
बीज-मद्ध ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा मद्धे छाया ॥
ज्यो नभ-मद्धे सुन्न देखिये, सुन्न अनन्त आकारा।
निःअच्छरते अच्छर तैसे अच्छर छर बिस्तारा ॥
ज्यो रवि-मद्धे किरन देखिये, किरन-मद्ध परगासा ॥
परमातम मे जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा ॥
स्वाँसा-मद्धे शब्द देखिये, अर्थ शब्दके माहीं।
ब्रह्मते जीव जीवते मन यों, न्यारा मिला सदा ही ॥
आपहि बृच्छ बीज अंकूरा, आप फूल-फल छाया।

आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ माया॥
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, मन जीव ब्रह्म समाया॥
आतम मे परमातम दरसै, परमातम मे झाँई।
झाँई में परछाई दरसै, लखै कबीरा साँई॥

टिप्पणी—ब्रह्म ही इस जगत का एक मात्र कारण है और आत्मा से अभिन्न है। बीज से ही वृक्ष है। वृक्ष को छोड़कर छाया नही रह सकती उसी प्रकार ब्रह्म का रूप यह जगत है। माया अलग सत्ता नही रखती। अलख अर्थात् इद्रियातीत, जिसे ऑख आदि इद्रियो से देखा न जा सके। सुन्न = शून्य, आकाश समस्त आकाश महाकाश मे ही वर्तमान है उसी प्रकार जो कुछ भी अनन्त वस्तुऐं दीख रही है वे ब्रह्म का अग है। अच्छर = अक्षर। कूटस्थ जीवात्मा। वेदान्त के अनुसार अविद्या मे चेतन का आभास पड़ता है उस अविद्याच्छन्न चेतन को कूटस्थ कहते है। कूटस्थ और जीव मे भेद यह है कि कूटस्थ अविद्या से अवच्छिन्न सिर्फ चेतनमात्र को कहते है। जब यह चेतन के आभास और बुद्धि से युक्त होता है तो इसे जीव कहते हैं। सुख दु ख की अनुभूति जीव को ही होती है। गीता मे भगवान ने कहा है कि मै क्षर और अक्षर से अतीत हूँ। यहॉ नि अक्षर से इसी क्षर और अक्षर से अतीत का तात्पर्य है। सूर्य मे जिस प्रकार किरण है और किरण मे प्रकाश है। किरण और प्रकाश अभिन्न है उसी प्रकार परमात्मा मे जीव और जीव तथा ब्रह्म अभिन्न है। जीव मे प्राण है, प्राण मे शब्द है और शब्द मे अर्थ (पदार्थ) है।

इस घट-अंतर बाग-बगीचे, इसी मे सिरजनहारा।
इस घट-अंतर सात समुन्दर, इसीमें नौ लख तारा॥
इस घट अंतर पारस मोती, इसीमें परखनहारा।
इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसीमें उठत फुहारा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसीमें साई हमारा॥

टिप्पणी—यह व्यक्ति के भीतर क विराट का वर्णन है।

ऐसा लो नहिं तैसा लो, मै केहि विधि कथौ गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो॥
बाहर-भीतर सकल निरन्तर, चित-अचित दोउ पीठा लो।
दिष्टि न मुष्टि न परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो॥

तोहिं मोरि लगन लगाये रे फकिरिबा।
सोवत ही मैं अपने मन्दिरमें,
सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त ही भवके सागरमें
बहियाँ पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै बचन बचन नहिं दूजा
तुम मोसें बंद छुड़ाये रे फकिरवा।

कहै कबीर सुनो भाई साधो,
प्रानन प्रान लगाये रे फकिरवा।

टिप्पणी—ऐ फकीर तूने ही मेरी लगन लगा दी। सोवत ही = अज्ञान मे थी। सब्दन मारि = शब्द सगीत की चोट से। 'सब्द' का अर्थ कबीर साहब वाणी है। जो पारखी गुरु होता है उसे 'बदी छोड़' कहते है। कबीरदास 'बदी छोड़' रूप मे है। फकीर का अर्थ गुरु से है।

निस-दिन खेलत रही सखियन सँग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साहबकी ऊँची अटरिया,
चढ़तमे जियरा काँपे॥
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पियासे हिलमिल लागे॥
घूँघट खोल अंग भर भेंटे,
नैन आरती साजे॥
कहै कबीर सुनो सखि मोरी,
प्रेम होय सो जाने।
जिन प्रीतमकी आस नही है,
नाहक काजर पारे॥

टिप्पणी—कबीर कहते है कि ऐ सखी, जिसमे प्रेम होता है वही प्रियको जानता है और उसे ही प्रिय प्यार करता है। बाहरी साज सिगार से क्या होता है। तू व्यर्थ काजल पार अर्थात् शृगार का आयोजन कर रही है। बाहरी पूजा पाठ से भगवान् नही मिलते।

हसा करो पुरातन बात।
कोन देस से आया हसा, उतरना कोने घाट।
कहाँ हंसा बिसराम किया है, कहाँ लगाये आस॥
अबही हंसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ।
संसय-सोक वहाँ नहि व्यापै, नही कालके त्रास॥
हिआँ मदन-बन फूल रहे है, आवे सोहं बास।
मन भौरा जहँ अरुझ रहे है, सुख की ना अभिलास॥

टिप्पणी—हसा = विशुद्ध चैतन्य। हियाँ = यहाँ। मर्त्यलोक। मदन बन = विषय वन। सोऽह = ब्रह्म के साथ जीवकी अभिन्नता।

अतगाढ़िया देवा, कौन करै तेरी सेवा।
गढ़े देवको सब कोइ पूजै, नित ही लावै सेवा।
पूरन ब्रह्म अंखडित स्वामी, ताको न जाने भेवा।

दस औतार निरंजन कहिए, सो अपना ना होई।
यह तो अपनी करनी भोगै, कर्त्ता औरहि कोई।
जोगी जती तपी संन्यासी, आप आपमें लड़ियाँ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, राग लखै सो तरियाँ।

टिप्पणी—अनगढ़िया देवा = निर्गुण, निराकार ब्रह्म। गढ़े देव = मूर्ति, अवतार, मूर्ति हाथसे और अवतार मनसे गढ़े गए है। निरजन = निर्गुण ब्रह्म, ईश्वर।

दरियावकी लहर दरियाव है जी
दरिया और लहरमे भिन्न कोयम्।
उठै तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जी दूसरा किस तरह होयम्॥
उसीका फेरके नाम लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम्।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्मे
ज्ञान कर देख माल गोयम्॥

टिप्पणी—समुद्र और उसकी तरगमे केवल नाम और रूपका भेद है। इसी प्रकार जगत् ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है। जक्त = जगत्। माल गोयम् = परब्रह्ममे एक जगत्के बाद दूसरा जगत् इस प्रकार चल रहा है। जैसे जयमालाके मनके चलते है।

जहाँ खेलत बसन्त रितुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज।
चहुँदिसि जोतिकी बहै धार।
बिरला जन कोइ उतरै पार।
कोटि कृष्ण जहँ जोड़े हाथ
कोटि विष्णु जहँ नावैं माथ।
कोटिन ब्रह्मा पढ़ै पुरान
कोटि महेश धरै जहँ ध्यान॥
कोटि सरस्वती जहँ धरै राग
कोटि इन्द्र जहँ गगन लाग।
सुर-गंधर्व-मुनिगनैनजायँ
जहँ साहब प्रगटे आप आय।
चौबा चंदन और अबीर
पुहर-बास-रसरह्योगँभीर॥

टिप्पणी—यह अलौकिक लोकका वर्णन है। जो कुछ ब्रह्माण्डमे है वह पिडमे है।

जहँ चेत-अचेत खंभ दोउ मन रच्या है हिडोर।

तहँ झूलैं जीव जहान, जहँ कतहुँ नहि थिर ठौर॥
और चंद-सूर दोऊ झूले नाहीं पावै अन्त।
चौरासी लच्छहु जिव झूलै झूलै रवि-ससि धाय।
कोटिन कल्प जुग बीतिया आने न कब्हुँ हाय।
चतुरां झूलै चतुराइयाँ और झूले राजा सेव।
और चंद सूर दोऊ झूले नाहीं पावैं भेव।
धरनी अकासहु दोऊ झूलै झूलै पवनहु नीर।
धरि देह हरि आपहु झूलैं जो लखहीं दास कबीर।

टिप्पणी—माया-मयसृष्टि का वर्णन है। जहाँ मन चेतन और अचेतन के दो खभोपर हिडोरा लगा कर झूल रहा है।

ग्रह चंद्र तपन जोत बरत है
सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्नमें
कहै कबीर पिउ गगन गाजै॥

क्षण और पलककी आरती कौनसी
रैन-दिन आरती विस्व गावै।
घुरत निस्सान तँह गैबकी झालरा
गैबकी घंटका नाद आवै।

कहै कबीर तहँ रैन-दिन आरती
जगतके तखतपर जगत सांई।
कर्म औ' भर्म संसार सब करत है
पीवकी परख कोई प्रेमी जानै
सुरत औ निरत धार मनमें पकड़ कर
गंग और जमनके घाट आनै।
पाँचको नाथ करि साथ सोहं लिया अधर दरियावका सुक्ख मानैं॥
कहैं कबीर सोई संत निर्भय धरा जन्म और मर्नका मर्म भानै।
नीर निर्मल तहाँ रैन-दिन झरत है
जनम औ' मरन तब अन्त पाई॥

टिप्पणी—पीवकी परख = प्रिय ब्रह्म की पहचान। गगा = इड़ा। यमुना = पिगला। वहाँ निर्मल नीर झरता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञानधारा बह रही है। पाँचको नाथने से ज्ञानेद्रियोको वशमे

करनेका भाव है। अधर दरियाव = शून्यमे स्थित आनदका सागर। भानै = तोड़ (भग कर) सकता है।

देख बोजूदमे अजब बिसराम है
　　होय मौजूद तो सही पावै।
सुरतकी डोर सुख-सिधका झूलना
　　घोरकी सोर तहँ नाद गावै
नीर बिन कँवल देख-अति फूलिया
　　कहै कबीर मन भँवर छावै।

चक्रके बीचमे कँवल अति फूलिया
　　तासुका सुक्ख कोई सन्त जानै।
शब्दकी घोर चहुँ ओर तहँ होते है
　　असीम समुंदरकी सुक्ख मानै।
कहै कबीर यो डूब सुख-सिधमे
　　जन्म और मरनका भर्म भानै॥

पाँचकी प्यास तहँ देख पूरी भई
　　तीनकी ताप तहँ लगै नाही।
कहै कबीर यह अगमका खेल है
　　गैबका चाँदना देख माहीं।
जनम-मरन जहाँ तारी परत है
　　होत आनंद तहँ गगन गाजै।
उठत झनकार तहँ नाद अनहद घुरै
　　तिरलोक-महलके प्रेम बाजै॥

चंद्र-तपन कोटि दीप बरत है
　　तूर बाजै तहाँ सन्त झूलै।
प्यार झनकार तहँ नूर बरसत रहै
　　रस पीवै तहँ भक्त झूलै।

जनम-मरन बीच देख अन्तर नही
　　दच्छ और बाम यूं एक आही।
कहैं कबीर या सैन गूंगातेई
　　वेद कत्तेबकी गम्म नाही॥
अधर आसन किया अगम प्याला पिया

जोगकी मूल जग जुगुति पाई।
पंथ बिन जाय चल सहर बेगम पुरे
दया जगदेवकी सहज आई।
ध्यान धर देखिया नैन-बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई।
सहर बेगमपुरा गम्मको ना लहै
होय बेगम्म जो गम्म पावै।
गुनाकी गम्म ना अजब बिसराम है
सैन जो लखै सोइ सैन गावै।

टिप्पणी—शून्य के आसनपर (अर्थात् समाधिकी अवस्थामे आत्मा शून्य या सहस्रारमे बैठकर साधकने रहस्यातीत) भगवन् रसका प्याला पिया और वह योगकी इस मूल युक्तिको पा गया है। वह बे-गमपुर शहर अर्थात् जिस शहरमे कोई गम नही है, केवल आनद ही आनद है। जगदीश्वर की दया सहज ही मिली है। वहाँ वह बिना आँखोकी सहायताके ही उस वस्तुको देखता है जिसे अगम और अगाध कहा गया है। इस बे-गमपुर शहर तक पहुँच पाना कठिन है। वही पहुँच पाता है जो निर्द्वन्द्व है।

मुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहै
स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै।
कहै कबीर या सैन गूंगातई
होय गूंगा जोई सैन जानै।

छक्याँ अवधूत मस्तान माता रहै
ज्ञान-वैराग्य सुधि लिया पूरा।
स्वाँस-उस्वाँसकाप्रेम-प्यालापिया
गगन गरजै तहाँ बजै तूरा॥
बिनकर ताँतिया नाद गाता रहै
जतन जरना लिया सदा खेलै।
कहै कबीर प्रान प्रान-सिंधमें मिलावै
परम सुखधाम तहँ प्रान मेलै।

टिप्पणी—बिन रहै = बिना हाथके और बिना ताँत (तत्र = वीणा) के ही वहाँ नाद गाया करता है (राग बजाया करता है)।

आठहू पहर मतवाल लागी रहै
आठहू पहरकी छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्मके देहमे भक्त जीवै।
साँच ही कहत और साँच ही गहत है

काँचकूँ त्यागकर साँच लागा।
कहैं कबीर यूँ भक्त निर्भर हुआ
जन्म और मरनका भर्म भागा।
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै
होत झनकार नित बजत तूरा।
गगनके भवनमे गैबका चाँदना
उदय और अन्तका नाँव नाहीं।
दिवस और रैन तहँ नेक नहिं पाइये
प्रेम, परकासके सिंधमाही॥
सदा आनंद दुख-दंद व्यापै नहीं
पूरनानंद भरपूर देखा।
भर्म और भ्रांति तहँ नेक नहिं पाइये
कहैं कबीर रस एक पेखा।
खेल ब्रह्माण्डका पिंडमे देखिया
जगतकी भरमना दूर भागी।
बाहरा-भीतरा एक आकासवत
घरियामे अधर भरपूर लागी।
देख दीदार मस्तान मै होय रह्या
सकल भरपूर है नूर तेरा।
ज्ञानका थाल और प्रेम दीपक अहै
अधर आसन किया अगम डेरा।
कहैं कबीर तहँ मर्म भासै नहीं
जन्म और मरनका मिटा फेरा॥

मद्ध अकास आप जहँ बैठे, जोत शब्द उजियारा हो।
सेत सरूप राग जहँ फूलै, साँईं करत बिहारा हो।
कोटिन चन्द-सूर छिप जैहैं, एक रोम उजियारा हो।
वही पार एक नगर बसतु है, बरसत अंमृत-धारा हो।
कहैं कबीर सुनो ध्रमदासा, लखो पुरुष दरबारा हो।

टिप्पणी—आप = भगवान्। गैब = अपरोक्ष। सिध = संधि।

परमातम गुरु निकट बिराजैं
जाग जाग मन मेरे।
धायके पीतम चरनन लागै

सांई खड़ा सिर तेरे।
जुगनु जुगन तोंहि सोवत बीता
अजहुँ न जाग सबेरे।

मन, तू पार उतर कहँ जैहो।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच-मुकाम न पैहो।
नहि तहँ नीर, नाव नहि खेवट, ना गुन खैंचनहारा।
धरनी-गगन-कल्प कछु नाही, ना कछु वार न पारा।
नहि तन, नहि मन, नही अपनपौ सुन्नमें सुद्ध न पैहौ।
बलीवान होय पैठो घटमें, वाहीं ठौरें होइहौ।
बार हि बार बिचार देख मन, अंत कहूँ मत जैहौ।
कहै कबीर सब छाड़ि कल्पना, ज्योंके त्यों ठहरै हो॥

टिप्पणी—गुन = नाव खीचनेकी रस्सी। सुन्नमे सुद्ध = शून्यमे सुधि या खोज। कल्प = काल।

घर घर दीपक बरै, लखै नहि अन्ध है।
लखत लखत लखि परै, कटै जम के फन्द है॥
कहन-सुनन कछु नाहिं कछु करन है।
जीते जी मरि रहै, बहुरि नहि मरन है॥
जोगी पड़े वियोग, कहैं घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है॥
बाम्हन दिच्छा देता घर घर घालि है।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालि है॥
ऐसन साहब कबीर, सलोना आप है।
नहीं जोग नहिं जाप, पुन्न नहिं पाप है॥

साधो, सो सतुगुरु मोहि भावै।
सत्त प्रेमका भर-भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै।
परदा दूर करै आँखिनका, ब्रह्म-दरस दिखलावै।
जिस दरसमे सब लोक दरसै, अनहद सब्द सुनावै।
एकहि सब सुख-दुख दिखलावै, सब्द में सुरत समावै।
कहैं कबीर ताको भय नाहीं, निर्भय पद परसावै।

तिंविर साँझ का गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तन में।
पच्छिम दिसकी खिड़की खोलो, डूबहु प्रेम-गगनमें।
घेत-कँवल-दल रस पीयो रे, लहर लेहु या तनमें।

संख-घंट-सहनाईबाजे,सोभा-सिंधमहलमे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर साहब लख घटमें।

टिप्पणी—तिविर = अधकार। सायकाल का अधकार पश्चिम दिगन्त की ओर से गहरा होता आ रहा है। पश्चिम की खिड़की (अज्ञान द्वार) खोल दो। प्रेम के आकाश मे अपने को डुबा दो। सायकाल प्रिय समागम की तैयारी का समय है। भक्तरूपी प्रेयसी का तन और मन रोमाच और औत्सुक्य से भर गया है—छावै प्रेम मन तन मे। चित्तरूपी कमलदलका रस पान करो—मनही मे उस परम सुख का साक्षात्कार करो, शरीर मे प्रेम की लहरे तरगित हो। शोभा का समुद्र जो यह महल है-अन्त करण—वहाँ मिलन का सूचक शंख घटा और सहनाई आदि बाजे बज रहे है। साधु, तू अमर साहब को, अक्षय सुहाग देनेवाले स्वामी को अपने भीतर ही देख।

सायकाल का अँधेरा बुढ़ापन्रे का भी प्रतीक है। पश्चिम की खिड़की खोलना सुषुम्ना जागरण है।

जिससे रहनि अपार जगतमें, सो प्रीतम मुझे पियारा हो।
जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिमे करत पसारा हो।
वाके पानी पत्र न लागै, ढरकि चलै जस पारा हो।
जैसे सती चढ़ै अगिनपर, प्रेम-बचन ना टारा हो।
आप जरै औरनिको जारै, रखै प्रेम-मरजादा हो।
भवसागर इक नदी अगम है, अहद अगाह धारा हो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिरले उतरे पारा हो।

हरिने अपना आप छिपाया।
हरिने नफीज कर दिखराया॥
हरिने मुझे कठिन विष घेरी।
हरिने दुविधा काटी मेरी॥
हरिने सुख-दुख बतलाये।
हरिने सब दुंद मिटाये॥
ऐसे हरिपै तन-मन वारूँ,
प्राणहि तजूँ हरि नही बिसारूँ॥

टिप्पणी—नफीज = सुदर। आप = आत्म। दुद = द्वद्व।

ओकार सबै कोई सिरजै, रागस्वरूपी अंग।
निराकार निर्गुन अबिनासी, कर वाही को संग॥
नाम निरंजन नैनन-मद्धे, नाना रूप धरंत।
निरंकार निर्गुन अबिनासी, अपार अथाह अंग॥
महासुक्ख मगन होई नाचे, उपजै अंग तरंग।
मन और तन थिर न रहतु है, महा सुक्ख के संग।

सब चेतन सब अनन्द सब हैं दुःख गहन्त।
कहाँ आदि कहँ अन्त आप सुक्ख बिच धरंत॥

टिप्पणी—ओकार जो सबकी सृष्टि करता है वह भगवान् का रागरूपी-शब्दरूपी अंग है। नाम नाना धरत = यद्यपि उसका नाम निरजन है तथापि वह नानारूप धारण करता है। गनन्त = पकड़ता है।

सद्गुरु सोइ दया करि दीन्हा।
ताते अन-चिन्हार मैं चीन्हा॥
बिन पग चलना बिन पर उड़ना, बिना चूँचका चुगना।
बिना नैनका देखन-पेखन, बिन सरवनका सुनना।
चंद न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अंमृत-रस-भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
जहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासौ कहना।
कहैं कबीर बल बल सतगुरु की, धन्न सिष्य का लहना॥

निरगुन आगे सरगुन नाचै,
बाजै सोहँग तूरा।
चेलाके पाँव गुरूजी लागैं,
यही अचम्भा पूरा॥

टिप्पणी—सोऽहं = वह मै ही हूँ ऐसी अभेद प्रतीति। जीव का सात्विक अह ही उसे ब्रह्म के साथ एकता अनुभव कराता है। यह एकता ऐसी है मानो गुरु (परब्रह्म) चेला (जीव) के पैरो पड़ते है। सोऽहं मे स: (वह = ब्रह्म) दूरका होने से अप्रधान होता है और अह (मै = जीव) निकट है।

कबीर कबसे भये बैरागी।
तुम्हरी सुरति कहाँको लागी॥

बइचित्राका मेला नहीं, नहीं गुरु नहि चेला।
सकल पसारा जिन दिन नाहीं, जिहि दिन पुरुष अकेला॥
गोरख, हम तबके अहै बैरागी।
हमरी सुरति ब्रह्मसो लागी।
ब्रह्मा नहि जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका।
सिव-शक्ति कै जनमौ नाहीं, तबै जोग हम सीखा॥
कासी मे हम प्रगट भये है, रामानंद चेताये।

प्यास अहद की साथ हम लाये, मिलन-करनेको आये॥
सहजै सहजै मेला होइगा, जागी भक्ति उतंगा।
कहै कबीर सुनो हो गोरख चलो गीतके संगा॥

टिप्पणी—बहुचित्रा = एकका अनेक होना ही विचित्रता है। ब्रह्मा टीका = जब ब्रह्मा जब सृष्टि-रचना और विष्णु पालन का नही एव शिव शक्ति का जन्म भी नही था। टोपी देना = राज्य पाना। टीका लेना = सिहासन पर अभिषिक्त होना। प्यास अहदकी = असीमको पाने की तृष्णा या इच्छा। उतगा = उच्च तत्त्व।

या तरिवर मे एक पखेरू, भोग सरस वह डोलै रे।
वाकी संध लखै नहि कोई, कौन भावसों बोलै रे।
दुर्म्म-डार तहँ अति घन छाया, पंछी बसेरा लेई रे।
आवै साँझ उड़ि जाय वसेरा, मरम न काहू देई रे।
सो पंक्षी मोंहि कोइ न बतावै, जो बोले घटमाँही रे।
अबरन-बरन रूप नहि रेखा, बैठ प्रेमके छाँही रे।
अगम अपार निरन्तर बासा, आवत-जात न दीसा रे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह कुछ अगम कहानी रे।
या पंक्षी के कौन ठौर है, बूझो पंडित ज्ञानी रे।

टिप्पणी—पखेरू और पछी (पक्षी) शब्द जीवात्मा के वाचक हैं। भोग रे = सभोग रस से मस्त होकर झूम रहा है। सध = सधान, खोज, परिचय। मरम न काहू देई = किसीको अपना मर्म नही जानने देता है।

निसि-दिन सालै घाव, नींद आवै नहीं।
पिया-मिलनकी आस, नैहर भावै नहीं॥
खुल गये गगन-किवाड़, मन्दिर उजियार भयो।
भयो है पुरुष सो भेट तन-मन वार दयो॥

टिप्पणी—गगन किवाड़ = शून्य का दरवाजा। ब्रह्मरध्र।

नाचु रे मेरे मन मत्त होइ।
प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहु-केतु नवग्रह नाचै जन्म जन्म आनंद होई।
गिरी-समुन्दर धरती नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ।
छाप-तिलक लगाइ बाँस चढ़, हो रहा जगसे न्यारा।
सहस कला कर मन मेरो नाचै, रीझै सिरजनहारा॥

टिप्पणी—आनद से समस्त चराचर नाच रहा है, ग्रह तारे, पहाड़-समुद्र सब उल्लास मे नाच रहे है। हँसते-रोते, सुख दुख की अनुभूति करते सारा ससार ही नाच रहा है। छापा तिलक लगानेवाले अपने को विशेष समझते है। मेरा मन सहस्रार पहुँचकर नाच रहा है और

इस·नाच से सिरजनहार प्रसन्न हो रहा है, क्योकि उसने लीला के लिये सृष्टि का निर्माण किया है।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले।
सुरत-कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले ?
तेरा साहब है घरमाँहीं, बाहर नैना क्यों खोले ?
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले।

टिप्पणी—सुरत-कलारी भई मतवारी तोले = सुरतिरूपी कलारी (मद्य बेचनेवाली) ने मत्त होकर बिना तोले (तौलना, तुलना) ही बहुत पी लिया। तिल ओले = तिल की ओट मे। व्यक्ति मे।

मोहि तोंहि लागी कैसे छूटे।
जैसे कमलपत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा॥
जैसे चकोर तकत निस चंदा,
ऐसे तुम साहिब हम बंदा॥
मोहि-तोहि आदि अन्त बन आई,
अब कैसे लगन दुराई॥
कहैं कबीर हमरा मन लागा,
जैसे सरिता सिंध समाई॥

बालम, आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे।
दिल से नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे।
कामिन को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपगारी, पिवसों कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे॥
जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहे को खोवै॥
जिन जागा तिन मानिक पाया।

तैं बौरी सब सोय गँवाया ॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पियकी सेज सँवारी ॥
तैं बौरी बौरापन कीन्ही।
भर-जोबन पिय अपन न चीन्ही ॥
जाग देख पिय सेज न तेरे।
तोहि छाँड़ि उठि गये सबेरे।
कहैं कबीर सोई धुन जागै।
शब्द-बानउर-अन्तरलागै ॥

सूर-परकास, तहँ रैन कहँ पाइये
रैन-परकास नहि सूर भासै।
ज्ञान-परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाही।
कहै कबीर यह सत्त विचार है
समझ विचार कर देख माँही।

टिप्पणी—जहाँ ज्ञान का प्रकाश होता है वहाँ अज्ञान नही रहता और जहाँ अज्ञान रहता है वहाँ ज्ञान नही होता। इसी प्रकार जहाँ काम बलवान् है वहाँ प्रेम नही और जहाँ प्रेम बलवान् होता है वहाँ काम नही रहता। ज्ञान और अज्ञान का तथा प्रेम और काम का सबध प्रकाश और अधकार के सबध के समान है।

पकड़ समसेर संग्राम में पैसिये
देह-परजन्त कर जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियों दाब जँहका तहाँ
आय दरबार मे सीस नवाई ॥

टिप्पणी—समशेर = तलवार।

सूर संग्रामको देख भागै नहीं,
देख भागै सोई सूर नहीं।
काम और क्रोध मद-लोभ से जूझना,
मचा घमसान तन-खेत माँहीं।
सील और साँच सन्तोष साही भये,
नाम समसेर तहाँ खूब बाजे।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा

कायराँ भीड़ तहँ तुर्त भाजे॥

टिप्पणी—शूर युद्ध से भागता नही। तनरूपी खेत (युद्धस्थल) मे काम, क्रोध आदि शत्रुओ से घमासान मची हुई है। साही = साथी। तुर्त = तुरत।

साधको खेल तो बिकट बेंड़ा मती
सती और सूरकी चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चारका
सती घमसान पल एक लागै।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह परजन्तका काम भाई॥

टिप्पणी—बिकट बेड़। = अत्यन्त कठिन। सती और सूर = भक्त। परजन्त = पर्यत।

भ्रम का ताला लगा महल रे, प्रेम की कुंजी लगाव।
कपट-किवड़िया खोलके रे, यहि बिधि पियको जगाव॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, फिर न लगै अस दाव॥

साधो, यह तन ठाठ तँबूरेका।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरे का॥
टूटे तार बिखर गई खूँटी, हो गया धूरम-धूरेका॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ कोई सूरेका॥

टिप्पणी—यह शरीर तबूरे जैसा है। ऐचत तार का = तबूरे की खूटियॉ मरोड़ने से और तार खीचने से सुदर ध्वनि निकलती है। इद्रिय-दमन और मन का सयम करने से भगवत्भक्ति का राग प्रकट होता है। राग मे श्लेष हैं (१) सगीत (२) प्रेमाभक्ति। टूटे का = जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिका समूह कार्य नष्ट हो जाता है, स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग, नष्ट हो जाता है, तब जीव का कुछ करना कठिन है। साधना, भक्ति। यह अगम पंथ किसी बीरका अर्थात् साधक का काम है।

अवधू, भूलेको घर लावे।
सो जन हमको भावै॥
घरमे जोग भोग घरही मे, घर तज बन नहिं जावै।
घरमें जुक्त मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्न मे रहै समाना, सहज समाधि लगावै।
उन्मनि रहै ब्रह्मको चीन्है, परम तत्व को ध्यावै।
सुरत-निरतसों मेला करके, अनहद नाद बजावै।
घरमें बसत बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावै।
कहैं कबीर सुनो हो साधू, ज्योका त्यों ठहरावै॥

टिप्पणी—भूलो को घर लावै = भ्रमित को साधना मे लगाता है। सहज लगावै = सहज साधना से ही शून्य मे समा जाय। उन्मुनि = उन्मनी अवस्था। सुरत-निरत = ध्यान और निरतर ध्यान।

सन्तो, सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो जा दिनते, सुरत न अन्त चली॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मै हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचनका त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख-दुखके इक परे परम सुख, तेहिमें रहा समाई॥

तीरथमे तो सब पानी है, होवे नही कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ है भाई, बोले नही बोलाय देखा।
पुरान-कोरान सबै बात है, या घटका परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर कहै यह, सब है झूठी पोल देखा॥

पानी बिच मीन पियासी।
मोंहि सुन सुन आवै हाँसी॥
घरमे वस्तु नजर नहि आवत
बन बन फिरत उदासी।
आतमज्ञान बिना जग झूँठा
क्या मथुरा क्या कासी॥

टिप्पणी—अर्थ है कि भगवान् तो घटघटवासी है। फिर भी अज्ञानी लोग उन्हे बाहर खोजते है। आत्मज्ञान से ही वह मिलते है, तीर्थव्रत से नही।

गगन-मठ गैब निसान गड़े।
चंद्रहार चँदवा जहँ टाँगे, मुक्ता-मानिक मढ़े।

महिमा तासु देख मन थिरकर, रवि-ससि-जोत जरे।
कहैं कबीर पियै जोई जन, माता फिरत मरे॥

टिप्पणी—गैब = अद्‌भुत। अप्रत्यक्ष।

साधो, को है, कहँसे आयो?
तेहिके मन धौं कहाँ बसत है, को धों नाच नचायो॥
पावक सर्व अंग काठहिमें, को धौं डहक जगायो।
हो गया खाक तेज पुनि वाको, कहु धौं कहाँ समायो॥
अहै अपार पार कछु नाही, सतगुरु जिन्है लखायो॥
कहैं कबीर जेहि सूझ-बूझ जस, तेई तस आज सुनायो॥

टिप्पणी—पावक जगायो = काठ मे अग्नि है। वह प्रक्रट होती है। प्रकट होने के बाद काठको भस्म करके पुन लीन हो जाती है। इसी प्रकार भगवान् भी सर्वव्यापक है। किंतु साधना से प्राप्त होते है।

साधो, सहजै काया सोधो।
जैसे बट का बीजा ताहिमे पत्र-फूल फल छाया।
काया-मद्धे बीज बिराजे, बीजा-मद्धे काया।
अग्नि-पवन-पानी-पिरथी-नभ; बिनमिलैनाहीं।
काजी पंडित करो निरनय को न आपा माहीं।
जल-भर कुंभ जलै बिच धरिया, बाहर-भीतर सोई।
उनको नाम कहनको नाही, दूजा धोखा होई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्य-शब्द निज सारा।
आपा मद्धे आपे बोलै, आपै सिरजनहारा॥

टिप्पणी—शरीर काया की शुद्धि कृच्छ्रचार से नही होती। जिस प्रकार वट बीज मे ही वृक्ष की सत्ता रहती है। उसी प्रकार आपा (आत्मा) मे ही सब कुछ है। वस्तुत जीवात्मा परमात्मा अभिन्न है। जल से भरा हुआ घड़ा जैसे समुद्र मे डूबा रहता है वैसे भगवान की असीम सत्ता के भीतर ही भगवदश जीव है। उनको होई = उनका नाम कहना उचित नही। क्योकि नाम कहने से भ्रम हो सकता है। वे मुझसे अभिन्न है।

तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा, बिन फूले फल लागे।
साखा-पत्र कछू नहि ताके, सकल कमल-दल गाजे।
चढ़ तरवर दो पंक्षी बोले, एक गुरू एक चेला।
चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला॥
पंछी के खोज अगम परगट, कहै कबीर बड़ी भारी।

सब ही मूरत बीच अमूरत, मूरत की बलिहारी ॥

टिप्पणी—तरवर = ससार। मूल बिना खड़ा है निराकार ब्रह्म या अनादि माया पर आधृत है। गुरु = भगवान्। चेला = जीव। रस चुन खाया = भोग भोगता रहा। गुरु खेला = भगवान् है लीला करते रहे। मूरत बलिहारी = समस्त रूपो मे वह अमूर्त निर्गुण, निराकार ब्रह्म वर्तमान है।

चलत मनसा अचल कीन्ही, मन हुआ रंगी।
तत्वमें निःतत्व दरसा, संगमें संगी ॥
बंधते निर्बन्ध कीन्हा, तोड़ सब तंगी।
कहै कबीर अगम गम कीया, प्रेम रंग रंगी ॥

टिप्पणी—चलत = चचल। रगा = भक्ति मे तल्लीन। तत्व = पच महाभूत। तगी = सीमा। गम = साक्षात्कार।

जो दीसै सो तो नाही, है सो कहा न जाई।
बिन देखै परतीत न आवै, कहै न को पतियाना।
समझा होय तो शब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै आकारा।
या विधी इन दोनोंते न्यारा, जानै जाननहारा।
वह राग तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना।
कहै कबीर सो पढ़ै न परलय, सुरत-निरत जिन जाना ॥

टिप्पणी—अयाना = अज्ञानी। आकाश = मूर्ति। मात्रा = शब्द।

मुरली बजत अखंड सदाये, तहाँ प्रेम झनकारा है।
प्रेम-हद्द-तजी जब भाई, सत्त लोककी हद्द पुनि आई।
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार न पारा है।
कोटि भान राग को रूपा, बीन सत-धुन बजै अनूपा ॥

टिप्पणी—सत्त = ब्रह्म। भान = सूर्य।

सखियो, हमहुँ भई बलमासी।
आयो जोबन विरह सतायो, अब मै ज्ञान गली अठिलाती।
ज्ञान-गलीमे खबर मिल गये, हमे मिली पियाकी पाती।
वा पाती मे अगम सँदेसा, अब हम मरने को न डराती।
कहत कबीरा सुनो भाई प्यारे, बर पाये अबिनासी।

टिप्पणी—बलमासी = परमात्मा को पाने की उत्कट अभिलाषावाली। इस अभिलाषा से प्रिय जैसी हो गयी।

साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहि चैन रात नहि निंदिया, कासे कहुँ दुख रोय।

आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, सांई मिले सुख होय॥

कौन मुरली-शब्द सुन आनन्द भयौ
जोत बरे बिन बाती।
बिना मूलके कमल प्रगट भयौ।
फुलवा फुलत भाँति भाँती।
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै
जैसे चातृक स्वाँती।
तैसे सन्त सुरतके होके
हो गये जनम सँघाती॥

टिप्पणी—जोत = ज्योति। बरे = जलती है। कमल = १ हत्कमल। २ ज्ञान।

सुनता नही धुनकी खबर, अनहदका बाजा बाजता।
रस मंद मंदिर बाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ।
इक प्रेम-रस चाखा नही, अमली हुआ तो क्या हुआ॥
काजी किताबे खोजता, करता नसीहत औरको।
महरम नही उस हालसे, काजी हुआ तो क्या हुआ॥
जोगी दिगंबर सेवड़ा, कपड़ा रंगे रंग लालसे।
वाकिफ नही उस रंगसे, कपड़ा रँगसे क्या हुआ॥
मन्दिर-झरोखा-रावटी, गुल चमनमें रहते सदा।
कहते कबीरा हैं, सही हर-दममे साहिब रम रहा।

टिप्पणी—अमली = नशा सेवक। नसीहत = ज्ञान महरम = परिचित। सेवड़ा = श्वेतपट, श्वेताम्बर जैन साधु। हरदम = प्रत्येक व्यक्ति।

भक्ति का मारग झीना रे।
नहि अचाह नहि चाहना, चरनन लौ लीना रे।
साधन के रस-धारमे, रहे निस-दिन भीना रे।
रागमे स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।
साँई सेवनमे देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे।
कहै कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे।
भाई, कोई सतगुरु सन्त कहावै।
नैनन अलख लखावै॥

प्राण पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाध सिखावै।
द्वार न रूँधे पवन न रोके, नहि भवखण्ड तजावै।
यह मन जाय जहाँ लग जब ही परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै जो, ऐसी जुगत लखावै।
सदा, विलास त्रास नहि तनमे, भोगमे जोग जगावै,
धरती-पानी अकाश-पवन मे अधर मँड़िया छावै।
सुन्न सिखर के सार सिलापर, आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सो बाहर देखे, दूजा दृष्टि न आवै।

टिप्पणी—तजावै = छुड़ाना।

साधो,शब्द-साधनाकीजे।
जे ही शब्दते प्रगट भये सव, सोई शब्द गहि लीजे॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहि अन्तर-गति सूझै॥
शब्दै वेद-पुरान कहत हे, शब्दै सब ठहरावे।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहत है, शब्द-भेद नहि पावे।
शब्दै सुन सुन भेष धरत है, शब्दै कहै अनुरागी।
षट्-दर्शन सब शब्द कहत है, शब्द कहे बैरागी॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा॥

टिप्पणी—शब्द = १ शून्य। २ आकाश तत्त्व। ३ नाद तत्त्व। ४ अनाहत ध्वनि। ५ गुरुवचन। ६ शास्त्रवचन।

पीले प्यारा हो मतवाला
प्याला नाम अमीरसका रे।
कहै कबीर सुनो-साधो
नख सिख पूर रहा विषका रे।

टिप्पणी—मनुष्य का सारा शरीर विषय विपसे भरा है। इस विषय विषसे रक्षा का साधन नाम अमृत का पान करना ही है।

खसम न चीन्है बावरी, का करत बड़ाई।
बातन लगन न होयँगे, छोड़ौ चतुराई।
साखी शब्द संदेश पढ़ि, मत भूलो भाई।
सार-प्रेम कछु और है, खोजा सो पाई॥

टिप्पणी—खसम = पति, परमात्मा।

सुखसिंध की सैरका स्वाद तब पाइ है,
चाहका चौतरा भूल जावै।
बीजके मांहि ज्यों बीज विस्तार यों
चाहके माहि सब रोग आवै॥

टिप्पणी—चाहके माहि = इच्छाके भीतर। सिंध = सागर। चौतरा = विस्तार। चाह = विषय की इच्छा।

सुखसागर मे आयके मत जा रे प्यासा।
अजहुँ समझ नर बावरे, जम करत निरासा॥
निर्मल नीर भरे तेरे आगे, पी ले स्वाँसो स्वाँसा।
मृगतृष्णा-जल छाँड़ बावरे, करो सुधारस-आसा॥
ध्रू-प्रह्लाद-शुकदेव पिया, और पिया रैदासा।
प्रेमहिं संत सदा मतवाला, एक प्रेमकी आसा।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, मिट गई भय की बासा।

टिप्पणी—सुखसागर = भगवान् की शरण। सुधारस = भगवान् की भक्ति। मृगतृष्णा = अनित्य विषय-सुख। निराशा = विषय के प्रति असतोष। बासा = निवास।

सतीको कौन सिखावता है,
सँग स्वामीके तन जारना जी।
प्रेमको कौन सिखावता है,
त्यागमाँहि भोगका पावना जी।

अरे मन धीरज काहे न धरै।
पसु-पंछी जीव कीट-पतंगा सबकी सुद्ध करै।
गर्भ-बासमें खबर लेतु है बाहर क्यों बिसरै।
मन तू हसन से साहेब के भटकत्त काहे फिरै।
प्रीतम छाँड़ और को धारै, कारज इक न सरै॥

टिप्पणी—सुद्ध = सुधि। हसन से साहेब के = सुदर प्रभु के रहते हुए।

सांईसे लगन कठिन है भाई।
जैसे पपीहा प्यासा बूँदका, पिया पिया रट लाई।
प्यासे प्राण तड़फै दिन-राती, और नीर ना भाई।
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुननको जाई।
शब्द सुनै और प्रानदान दे, तनिको नाहि डराई।
जैसे सती चढ़ी सत-ऊपर, पियाकी राह मन भाई।

पावक देख डरे वह नाही, हँसत बैठे सदा माई।
छोड़ो तन अपनेकी आसा, निर्भय है गुन गाई।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नाहिं तो जनम नसाई॥

टिप्पणी—साई, प्रिय, बालम आदि शब्दो से मतलब परमात्मासे है। सत = यहाँ अर्थ चिता से है। माई = मे।

जब मै भूला रे भाई,
मेरे सतगुरु जुगत लखाई।
किरिया-करम-अचार मै छाँड़ा, छाँड़ा तीरथ का न्हाना।
सगरी दुनिया भई सयानी, मै ही इक बौराना।
ना मै जानूँ सेवा-बंदगी, ना मैं घंट बजाई।
ना मै मूरत धरी सिंघासन, ना मैं पुहुप चढ़ाई।
ना हरि रीझै जपतप कीन्हे, ना काया के जारे।
ना हरि रीझै धोती छाँड़े, ना पाँचोके मारे।
दया राखि धरम को पाले, जगसो रहे उदासी।
अपना-सा जिव सबको जाने, ताहि मिलै अविनासी।
सहे कुशब्द बादको त्यागे, छाँड़े गर्व-गुमाना।
सत्त नाम ताहीको मिलिहे कहे कबीर सुजाना॥

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिर मे बैठे
ब्रह्म-छाड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले।
काम जराय जोगी होय गैले हिजरा॥
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले,
गीता बाँचके होय गैले लबरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बाँधल जैबे पकड़ा।

टिप्पणी—कनवा फड़ाय = कनफटे योगी कान चीर का कुण्डल धारण करते है। धुनिया रमौले = धूनी रमाई। लबरा = झूठा।

ना जानै साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो देवै,

क्या तेरा साहब बहरा है।
कीड़ी के पग नेउर बाजे,
सो भी साहब सुनता है।
माला फेरी तिलक लगाया,
लंबा जटा बढ़ाता है।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी,
यो नहि साहब मिलता है।

टिप्पणी—साहब = परमात्मा। बॉग = असान। नेउर = नूपुर। कुफर = कुफ्र। कटारी = कुल्हाड़ी।

हमसों रहा न जाय मुरलिया कै धुन सुनके।
बिना बसन्त फूल इक फूलै भँवर सदा बोलाय।
गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिये हिलोर।
बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभुकी ओर।
तारी लागी तहाँ मन पहुँचा, गैब धुजा फहराय।
कहैं कबीर आज प्रान हमारा, जीवत ही मर जाय।

टिप्पणी—मुरलिया कै धुन = अनाहत नाद। इसे साधक भगवान् की पुकार कहते है। बिना वसत का फूलनेवाला फूल सहस्रार चक्र है। भँवर मन है। मेघ बरसाने = समाधि की पूर्णता की हालत मे 'धर्म मेघ' की वृष्टि होती है। उस समय योगी समस्त क्लेशो और कर्मों से निवृत्त हो जाता है। तारी लगना = भगवान् के प्रति एकाग्रता।

जो खोदाय मसजीद बसतु है और मुलुक केहि केरा।
तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा।
पूरब दिसा हरीकै बासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिलमें खोज दिलहिमें खोजौ इहैं करीमा-रामा।
जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर पोगडा अलह-रामका सो गुरु पीर हमारा।

टिप्पणी—पोगडा (पौगड) = बालक या साधक। उपानी = उत्पन्न। पीर = मुसलमान साधक।

सील-सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि में पूरा।
ताके दरस-परस भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा॥
निसि-बासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावै।
करनी धरनी संगीत गावै, प्रेम रंग उड़ावै॥
राग-सरूप अखंडित अविचल, निर्भर बेपरवाई।
कहै कबीर ताहि पग परसो, घट घट सब सुखदाई॥

साध-संगत पीतम उहाँ चल जाइये।
भाव-भक्तिउपदेशतहाँतेपाइये॥
संगत ही जरि जाव न चरचा नामकी।
दूलह बिना बरात कहो किस कामकी॥
दुविधा को कर दूर पीतम को ध्याइये।
आन देवकी सेव न चित्त लगाइये॥
आन देवकी सेव भली नहि जीवको।
कहै कबीर विचार न पावै पीवको।

तोर हीरा हिराइल बा किचड़ेमें।
कोई ढूँढ़े पूरब कोई कोई ढूँढ़े पश्चिम
कोई ढूँढ़े पानी-पथरे में।
दास कबीर ये हीराको परखैं
बाँध लिहलै जीयराके अँधरेमे।

टिप्पणी—हिराइल बा = खो गया है। बाँध लिहलै = बाँध लिया। जीयरा = हृदय। किचड़े = कीचड़। विषय। हीरा = ज्ञान।

आयौ दिन गौनेकौ हो, मन होत हुलास।
डोलिया उठावे बीजा बनवाँ हो, जहँ कोई न हमार॥
पइयाँ तोरी लागौ कहरवा हो, डोली धर छिन बार।
मिल लेवै सखिया सहेलर हो, मिलौं कुल परिवार॥
दास कबीर गावे निरगुन हो, साधो करि ले विचार।
नरम-गरम सौदा करि ले हो, आगे हाट ना बाजार॥

टिप्पणी—बीजा = बीच। छिन बार = एक क्षण के लिये।

अरे दिल,
प्रेमनगर का अन्त न पाया, ज्यो आपा त्यो जावेगा।
सुन मेरे साजन सुन मेरे मीता, या जीवन मे क्या क्या बीता॥
सिर-पाहनको बोझा लीता, आगे कौन छुड़ावेगा।
परली पार मेरा मीता खड़िया, उस मिलने का ध्यान न धरिया।
टूटी नाव उपर जो बैठा, गाफिल गोता खावेगा॥
दास कबीर कहै समुझाई, अन्तकाल तेरा कौन सहाई।
चला अकेला संग न कोई, कीया अपना पावैगा॥

अर्थ—परलीपार = विषयो के पार। टूटी नाव का अर्थ गलत साधन या विषय से है।

बेद कहे सरगुन के आगे निरगुन का बिसराम।
सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम।
सुख-दुख वहाँ कछु नहि व्यापै, दरसन आठों जाम।
नूरै ओढ़न नूरै डासन, नूरै का सिरहान।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सतुगुरु नूर तमाम।

टिप्पणी—सगुण वेद निर्गुण ब्रह्म को बताकर कहता है। वही विश्राम मानता है। किंतु यह ठीक नही है। ब्रह्म निर्गुण सगुण से परे है। सब को अपने भीतर देखो। ब्रह्म का प्रकाश ही महत्त्व की है।

तू सूरत नैन निहार वह अंडयें सारा है।
तू हिरदे सोच विचार यह देस हमारा है।
सतगुरु दरस होंय जब भाई,
वह दें तुमको प्रेम पिताई,
सुरत-निरत के भेद बताई,
तब देखे अण्ड कै पारा है ॥१॥
सकल जगत में सतकी नगरी,
पित्त भुलावै बांकी डगरी,
सो पहुँचे पाले बिन पग री,
ऐसा खेल अपारा है ॥२॥

टिप्पणी—अंड = ब्रह्माण्ड। बाकी = टेढा रास्ता।

लीला सुक्ख अनन्त वहाँकी
जहाँ रास-विलास अपारा है,
गहन-तजन छूटै यह पाई
फिर नहि पाना सताना है ॥३॥

टिप्पणी—गहन-तजन = ग्रहण और त्याग।

पद निरबान है अनन्त अपारा
सुरति मूरति लोक पसारा,
सत्तपुरुष नूतन तन धारा
साहिब सकल रूप सारा है ॥४॥
बाग-बगीचे खिली फुलवारी
अंमृत-लहरे हो रही जारी
हंसा केल करत तहँ भारी
जहँ अनहद घूरै अपारा है ॥५॥
तामध अधर सिहासन गाजे

पुरुष महा तहँ अधिक बिराजै
कोटिन सूर रोम इक लाजै
ऐसा पुरुष दीदारा है ॥६॥
पंथ बिना सतराग उघारैं
जो बेधत हिये मँझारा है।
जन्म जन्मका अंमृत धारा
जहँ अधर-अमृत फुहारा है ॥७॥
सतसे सत्त सुन्न कहलाई,
सत्त भँडार याहीके माँही,
निःतत रचना ताहि रचाई
जो सबहिनते न्यारा है ॥८॥
अहद लोक वहाँ है भाई,
पुरुष अनामी अकह कहाई।
जो पहुँचे जानेगे वाही
कहन सुननते न्यारा है ॥९॥
रूप-सरूप कछु वहँ नाहीं,
ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं।
अजर-तूल कछु दृष्टि न आई।
कैसे कहुँ सुमारा है ॥१०॥
जापर किरपा करिहैं साईं
अनहद मारग गावे ताही।
उद्‌भव परलग्र पावत नाहीं
जब पावै दीदारा हो ॥११॥
कहै कबीर मुख कहा न जाई
ना कागदपर अंक चढ़ाई।
मानों गूँगे-सम गुड़ खाई
कैसे बचन उचारा हो ॥१३॥

टिप्पणी—हसका प्राप्य सत्यलोक का वर्णन है। नाकागद लिखा नही जा सकता। न कहा जा सकता है।

चला हंसा वा देस जहँ पिया बसै चितचोर।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरै ठाढ़ बिन डोर॥
वहि देसवाँ बादर ना उमड़े, रिमझिम बरसै मेह।
चौबारे मे बैठ रहो ना, जा भीजहु निर्देह॥
वहि देसवा नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर।

एक सुरजकै कवन बतावै, कोटिन सुरज उँजेर ॥

टिप्पणी—सूरत   डोर = सुरति सुहागिन जहॉ बिना डोरी क़े ही पानी भरती है। डोरी = ध्यान। मेह = आनदवर्षा। चौबारे   निर्देह = वहॉ ओसारे की जरूरत नही है, वहॉ बिना देह के आनद लेना है।

कहैं कबीर सुनो हो साधो, अंमृत-बचन हमार।
जो भल चाहो आपनो, परखो करो बिचार ॥
जे करतातैं ऊपजै, तासों परि गयो बीच।
अपनी बुद्धि विवेक बिन, सहज बिसाही मीच ॥
यहिमेते सब मत चले, यही चल्यौ उपदेस।
निश्चय गहि निर्भय रहो, सुन परम तत्त संदेस ॥
केहि गावो केहि धावहू, छोड़ो सकल धमार।
यह हिरदे सबको बसे, क्यों सेबो सुन्न-उजाड़ ॥
दूरहि करता थापिकै, करी दूरकी आस।
जो करता दूरे हुते, तों को जग सिरजै आन ॥
जो जानो यहँ है नहीं, तो तुम धावो दूर।
दूरसे दूर भ्रमि भ्रमि, निष्फल मरो बिसूर ॥
दुरलभ दरसन दूरके, नियर सदा सुख-बास।
कहैं कबीर मोंहि व्यापिया, मत दुख पावै दास ॥
आप अपनपौ चीन्हहू, नख-सिख सहित कबीर।
आनंद-मंगल गावहू, होहि अपनपौ बीर ॥

टिप्पणी—परखौ = परीक्षण करो। जे   मीच = जिस ईश्वरसे उत्पन्न हुए हो अज्ञान के कारण तुम अपने को उससे भिन्न समझते हो। अपनी विवेकशून्य बुद्धि के कारण तुमने मृत्यु पर विश्वास किया या मृत्यु ने तुम्हे धोखा दिया। यहिमेते   सदेस = इसी बुद्धि से सब मत निकले है। तुम सत्य को ग्रहण करके निर्भय रहो। धमार = गान विशेष, हुड़दंग। दूरहि करता   आस = कर्त्ता को दूर रख कर उससे पर लोक की आशा करते हो। विसूर = पछताकर, दु ख करके।

ना मैं धर्मी नाहीं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो।
ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक-स्वामी हो।
ना मैं बंधा ना मैं मुक्ता ना मैं बिरत न रंगी हो।
ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो।
ना हम नरक-लोक को जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो।
सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मनतें न्यारे हो।
या मतको कोई बिरलै बूझै, सोइ अटर हो बैठे हो।

मत कबीर काहू को थापै, मत काहू को मेटे हो ॥

टिप्पणी—अटर = अटल। जत = सन्यासी। सुर्ग = स्वर्ग। थापै = स्थापित करे।

सत्त नाम है सबते न्यारा।
निर्गुनसर्गुनशब्द-पसारा॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल-फूला।
साखा ज्ञान नाम है मूला॥
मूल गहेतें सब सुख पावै।
डाल-पात मे मूल गँवावै॥
साईं मिलानी सुख दिलानी।
निर्गुन-सर्गुन भेटमिटानी॥

प्रथम एक जो आपे आप। निराकार निर्गुन निर्जाप॥
नहिं तव आदि-अन्त-मध-तारा। नहि तव अंध-धुंध उजियारा॥
नहि तव भूमि-पवन-आकासा। नहि तव पावक-नीर-नीवासा॥
नहिंतवसरसुति-जमुना-गंगाहितवसागर-समुद-तरंगा॥
नहि तव पाप-पुन्न नहि वेद-पुराना। नहि तव भये कतेब-कुराना॥
कहैं कबीर विचारिकै, तब कछु किरपा नाहिं।
परम पुरुष तहँ आपही, अगम-अगोचर माहिं॥
करता कछु खावे नहि पीवै। करता कबहूँ मरै न जीवै॥
करता के कछु रूप न रेखा। करता के कछु बरन न भेखा॥
जाके जोत-गोत कछु नाही। महिमा बरनि न जाय मो-पाहीं।
रूप-अरूप नही तेरा नाँव। बर्न-अबर्न नही तेहि ठाँव।

कहै कबीर विचारिकै, जाके बर्न न गाँव।
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव॥
करता आनंद खेल लाई, ओकारते सृष्टि उपाई॥
आनन्द धरती आनन्द आकासा। आनन्द चद-सूर परकासा।
आनंद आदि अंत-मध-तारा। आनंद अंधकूप उजियारा॥
आनदसागर-समुद्र-तरंगा आनंदसरसुतिजमुना-गगा॥
करता एक और सब खेल। मरन-जनम बिरह मेल॥
खेल जल-थल-सकल जहाना। खेल जानौं जमी असमाना॥
खेल का यह सकल पसारा। खेल माँहि रहै संसारा॥
कहैं कबीर सब खेलनमाही। खेलनहार को चीन्है नाहीं॥

टिप्पणी—करता = कर्त्ता ने आनद से ही सब कुछ उत्पन्न है। सब कुछ आनद ही है। खेल = लीला।

झी झी जंतर बाजै।
कर चरन बिहूना नाचै।
कर बिनु बाजै सुनै श्रवन बिनु
श्रवन श्रोता लोई।
पाट न सुबास सभा बिनु अवसर
बुझौमुनि-जनसोई॥

टिप्पणी—कर चरन विहूना = बिना हाथ पैर के। पाट न सुवास = न कोई पाट है न सुवास है। पाट = पट्टवस्त्र, बहुमूल्य रेशमी वस्त्र। सुवास = सुगधि। सभा विनु अवसर = न कोई सभा है। न नाच देखनेवाला है। न कोई अवसर है।

मोर फकिरवा मांगि जाय,
मैं तो देखहू न पौल्यौ।
मंगन से क्या मांगिये,
बिन माँगे जो देय।
कहै कबीर मै हौ वाही को,
होनी होय सो होय॥

टिप्पणी—मेरा फकीर मुझसे कुछ मॉग जाता है। मै उसे देख भी नही पाया। मै स्वय भिखारी हूँ, मगन से क्या मॉगना! फिर उस मगन से मॉगने का तो कोई प्रश्न ही नही उठता जो बिना मॉगे ही अपना सर्वस्व दे दे। कबीर कहते है कि मै तो उसीका हूँ, अब जो होना हो सो हो।

नैहर से जियरा फाट रे।
नैहर नगरी जिसके बिगड़ी, उसका क्या घर-बाट रे।
तनिक जियरवा मोर न लागै, तनमन बहुत उचाट रे।
या नगरी में लख दरवाजा, बीच समुंदर घाट रे।
कैसे के पार उतरिहै सजनी, अगम पंथका पाट रे।
अजब तरहका बना तंबूरा, तार लगै मन मात रे।
खूँटी टूटी तार बिलगाना, कोउ न पूछत बात रे।
हँस हँस पूछै मातुपितासों, भोरें सासुर जाब रे।
जो चाहैं सो वो ही करिहैं, पत वाही के हाथ रे।
न्हाय-धोय दुल्हिन होय बैठी, जोहै पिय की बाट रे।
तनिक घुंघटवा दिखाव सखीरी, आज सोहाग की रात रे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, पिया-मिलन की आस रे।
भोर होत बंदे याद करोगे, नींद न आवे खाट रे।

टिप्पणी—तबूरा = शरीर। खूँटी तार इद्रिय और अन्त करण। नैहर = दुनिया। सासुर = परलोक। न्हाय धोय = विषय रहित हो। सोहाग = सौभाग्य।

जीव महल मे सिव पहुनवाँ, कहाँ करत उनमाद रे।
पहुँचा देवा करिले सेवा, रैन चली आवत रे।
जुगन जुगन करै पतीछन, साहब का दिल लाग रे।
सुझत नाहि परम-सुख-सागर, बिना प्रेम बैराग रे।
सरवन सुर बुझि साहेबसे, पूरन प्रगट भाग रे।
कहै कबीर सुनो भाग हमारा, पाया अचल सोहाग रे।

टिप्पणी—पहुनवाँ = अतिथि। परमात्मा। सरवन सुर = श्रवण सुखद शब्द।

गगनघटा घहरानी साधो, गगनघटा घहरानी।
पूरब दिससे उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेंड़ सम्हारो, बह्यो जात है पानी।
सुरत-निरत का बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।
धान काट मार घर आवै, सोई कुसल किसानी।
दोनों थार बराबर परसैं, जेवैं मुनि और ज्ञानी॥

टिप्पणी—गगन घटा = साधना की पूर्णता। पूरब दिस = सहस्रार। मेड़ सँभाल = सयम नियम। धान काटना = परम पुरुषार्थ को पाना। दोनो थार = सुरति निरति की थालियाँ। सगुण-निर्गुण। ज्ञान-भक्ति। वेला = बेला। समय अथवा किनारा।

आज दिनके मैं जाउँ बलिहारी।
पीतम साहेब आये मेरे पहुना, घर-आँगन लगे सुहौना॥
सब प्यास लगे मंगल गायन, भये गगन लखि छबि मनभावन॥
चरन पखारूँ निहारूँ, तन-मन-धन सब साईपे वारूँ॥
जा दिन पाये पिया धन सोई, होत अनंद परम सुख होई॥
सुरत लगी सत नामकी आसा, कहैं कबीर दासन के दासा॥

कोई सुनता है ज्ञानी राग गगन मे, अवाज होती झीनी।
सब घट पूरन पूर रहा है, सब सुरन के खानी।
जो तन पाया खंड देखाया, तृस्ना नहीं बुझानी।
अंमृत छोड़ खंडरस चाखा, तृस्ना ताप तपानी॥
ओं अंग सो अंग बाजा बाजे, सुरत-निरत समानी।
कहैं कबीर सुनो भाई सायो, यहीं आद की बानी॥

टिप्पणी—पीनी = गभीर। जो तन तपानी = जिसने शरीर पारकर को खड सत्य ही दिखाया उसकी तृष्णा कभी शान्त नही हुई। उसने सपूर्ण सत्य के अमृत को छोड़कर खण्ड रसका ही आस्वादन किया। ओ अग सो अग = वे ही यह है और यही है और यही वे है'।

मैं कासों कहों आपन पियकी बात री।
कहै कबीर बिछुड़ नहि मिलिहौ
ज्यों तरवर छोड़ बनधाम री॥

संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो रही।
आसा-तृस्ना मे बहि गयो सजनी, कामके ताप सहो रही॥
मान मनी की मटुकी सिरपर, नाहक बोझ मरो रही।
मटुकी पटक मिलो पीतम से, साहेब कबीर कहो री॥

टिप्पणी—मान मनी = मान रूपी मणि।

चरखा चलै सुरत बिरहिन का।
काया नगरी बनी अति सुंदर, महल बना चेतन का।
सुरत भाँवरी होत गगन में, पीढ़ा ज्ञान-रतन का।
मिहीन सूत बिरहिन कातैं, माँझा प्रेम-भगति का।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, माला गुंथो दिन रैनका।
पिया मोर ऐहैं पगा रखिहै, आँसु भेंट देहौं नैनका।

टिप्पणी—भगवत्प्रेम विरहिनी का चरखा चल रहा है। सुरत भॉवरी = प्रेम की भॉवर जो व्याह के समय वर कन्या देते है। मॉझा = हल्दी। माला गूथो = दिन और रात की माला (वरमाला) गूँथूँ। (उन्ही महीन सूतो से) पगा रखिहै = चरण रखेगे, पधारेगे।

कोटिनभानु-चंद्र-तारा-गन छत्रकीछाँहरहाई।
मनमें मन नैननमें नैना, मन नैना इक हो जाई।
सुरत सोहागिन मिलन पियाको, तनके तपन बुझाई।
कहै कबीर मिलै प्रेम-पूरा, पिया में सुरत मिलाई॥

अवधू बेगम देस हमारा।
राजा-रंक-फकीर-बादसासबसेकहौंपुकारा।
जो तुम चाहो परम-पद को, बसिहो देस हमारा॥
जो तुम आये झीने होके, तजो मनकी भारा।
ऐसी रहन रहो रे प्यारे, सहजै उतर जीवो पारा॥
धरन-अकास-गगन कछु नाहीं, नही चन्द्र नहि तारा।

सत्त-धर्म की है महताबें, साहेब के दरबारा।
कहैं कबीर सुनो हो प्यारे, सत्त-धर्म है सारा॥

टिप्पणी—बेगम देस = दुख रहित देश। साधको का देश। वे परवाह जीवन। मनकी भारा = मनकी कल्पना का विषय बोझ। जो तुम तुम यदि सूक्ष्म रूपमे आए हो तो मानसिक भारको छोड़ दो। महताबे = प्रकाश।

साँईके संग सासुर आई।
संग ना रही स्वाद ना जान्यौ, गयो जोबन सुपनेकी नाई।
सखी-सहेली मंगल गावे, सुखदुख माथे हरदी चढ़ाई।
भयौ विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समझाई।
कहे कबीर हम गौने जैबे, तरत कन्त लै तूर बजाई।

समुझ देख मन मीत पियरवा,
आसिक हो कर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जब अँखियन में नींद घनेरी,
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहैं कबीर प्रेमका मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे।

साहेब हममें साहेब तुममें, जैसे प्राना बीजमें।
मत कर बन्दा गुमान दिल में, खोज देख ले तनमें।
कोटि सूर जहँ करते झिलमिल, नील सिंध सोहै गगनमें।
सब ताप मिट जाँय देहीके, निर्मल होय बैठी जगमें।
अनहद घंटा बजै मृदंगा, तन सुख लेहि पियारमें।
बिन पानी लागी जहँ बरषा, मोती देख नदीनमें।
एक प्रेम ब्रह्माण्ड छाय रह्यो है, समझे बिरले पूरा।
अंध भेदी कहा समझैगे, ज्ञानके घरतैं दूरा।
बड़े भाग अलमस्त रंगमे; कबिरा बोलै घटमें।
हंस-उबारनदुःख-निवारनआवा-गमननमिटैछनमें।

टिप्पणी—प्राना = पत्तियाँ।

रितु फागुन नियरानी, कोई पियासे मिलावे।
पियाको रूप कहाँ लग बरनूं, रूपहिं माँहि समानी।
जो रंगरंगे सकल छबि छाके, तन-मन सभी भूलानी।

यों मत जाने यहि रे फाग है, यह कुछ अकह-कहानी।
कहै कबीर सुनो भई साधो, यह गत बिरले जानी॥

नारद, प्यार सो अन्तर नाहीं।
प्यार जागै तौही जागूँ प्यार सोवै तब सोऊँ।
जो कोई मेरे प्यार दुखावै जड़ा-मूलसों खोऊँ॥
जहाँ मेरा प्यार जस गावै तहाँ करौ मैं बासा।
प्यार चले आगे उठ धाऊँ मोहि प्यारकी आसा॥
बेहद तीरथ प्यारके चरननि कोट भक्त समाय।
कहैं कबीर प्रेमकी महिमा प्यार देत बुझाय।

टिप्पणी—जो कोइ जो कोई मेरे प्यार को कष्ट देता है उसका जड़ मूल से विनाश कर देता हूँ। बेहद चरननि = प्यार के चरणो मे अनेक तीर्थ बसते है। कोट समाय = प्यार के चरणो मे करोड़ो भक्त समाहित है।

कोई प्रेमकी पेंग झुलावै।
भुजके खंभ और प्रेमके रससे,
तन-मन आजु झुलाव रे।
नैनन बादरकी झर लाओ,
श्याम घटा उर छाव रे।
आवत आवत श्रुतकी राहपर,
फिकर पियाको सुनाव रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पियाको ध्यान चित लाव रे।

टिप्पणी—भुजके खभ रे = भुजाओ के खंभो पर प्रेम से तन और मन को झुलाओ। आवत रे = कान के पास आकर प्रिय को अपनी प्रेम। व्याकुलता सुनाओ।

विप्रमतीसी आदि

साखी, सबदी और रमैनी के अतिरिक्त सत कबीर की कुछ अन्य रचनाएँ भी प्राप्त है। इनमे विप्रमतीसी, कहरा, बसत, चॉचर, बेलि, बिरहुली, हिडोला मुख्य है। ज्ञान चौतीसा तथा कुछ अन्य रचनाएँ परिशिष्ट मे है। विप्रमतीसी की तीस पक्तियो मे ब्राह्मणो के बारे मे मत व्यक्त हैं। इसमे एक साखी भी है।यह शब्द विप्रमत से बना है।

सुनहु सभन्हि मिलि विप्रमतीसी, हरि विनु बूड़ी नाव भरी सी।
ब्राह्मन होय कै ब्रह्म न जानै, घर महँ जग्य प्रतिग्रह आनै।
जे सिरजा तेहि नहि पहिचानै, करम धरम लै बैठि बखानै।
ग्रहन अमावस सायर दूजा, सांती पाठ परोजन पूजा।

शब्दार्थ—नाव = ससार। शरीर। प्रतिग्रह = दान। जग्य = कर्मकाड द्वारा ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्ति का विधान। आनै = लाना। जे = जिसने। सिरजा = सृजित किया। तेहि = उसे। करम धरम = वर्णो और आश्रमो के कर्म धर्म। बखानै = उपदेश देना। निर्णय देना। सायर (< स सकाल्य) = हवन की सामग्री। दूजा = १ द्वितीया। २ दुवारे। साती पाठ = ओम् शाति शाति शाति तथा वैदिक मंत्र। परोजन (<स प्रयोजन) = धार्मिक अनुष्ठान का आयोजन। हिदी का परोजन स प्रयोजन से भिन्न और रुढ अर्थ देता है। धार्मिक अनुष्ठान के लिये यह पारिभाषिक हो गया है।

प्रेत कनक मुख अंतर वासा, आहुति सहित होम की आसा।
कुल उत्तिम जग मांहि कहावै, फिरि फिरि मद्धिम करम करावैं।
सुत दारा मिलि जूठो खाई, हरि भक्ता के धूति लगाई।
करम असौच उचिष्टा खाहीं, मतिभरिष्ट जम लोकहि जाहीं।

शब्दार्थ—प्रेत कनक मुख = प्रेत के लिये किये जाने वाला आटे का पिड दान। अंतर = पेट। असौच = अशुद्ध। प्रेत कर्म। किसी के मरने पर परिवार वालो को लगने वाली अशुद्धि। उचिष्ठा = बचाहुआ। जूठा। भरिष्ट = भ्रष्ट। दारा = स्त्री।

नहाय खोरि उत्तिम है आये, विस्नु भग्त देखे दुख पाये।
स्वारथ लागि रहे बेकाजा, नाम लेत पावक जौ डाजा।
राम कृस्न की छोडिन्हि आसा, पढि गुनि भए क्रितिम के दासा।
करम पढ़ैं करमहि कौ धावैं, जो पूँछे तेहि करम दिढावै।

शब्दार्थ—खोरि = तिलक चदन लगाना। बेकाजा = व्यर्थ। पावक = आग। जौं = जैसे। डाजा = दग्ध। क्रितिम = १ मूर्ति। २. तीन गुण। करम = कर्मकाड। वैदिक लौकिक यज्ञ एव पूजा पाठ विधि। दिढावै = दृढ़ करना।

निहकरमी कै निदा कीजे, करम करै ताही चित दीजे।
ऐसी भक्ति भगवंत की लावै, हिरनाकुस को पंथ चलावै।
देखहु कुमति केर परगासा, भए अभिअंतर किरतिम दासा।
जाके पूजे पाप न ऊड़े, नाम सुमिरिनी भव मँह बूड़े।

शब्दार्थ—निहकरमी = कर्म हीन। |कर्मकांड मे विश्वास न करने वाला। सुम्रति = स्मृति। धर्मशास्त्र। अभिअतर = हृदय। जाके = जिस मूर्ति के। सुमरिनी = स्मरण। भव = ससार

बूड़ै = डूबता है।

पाप पुन्नि के हाथहि पासा, मारि जगत का कीन्ह बिनासा।
ई बहनी कुल बहनि, कहावैं, ई गृह जारैं वा गृह मारैं।
बैठे ते घर साहु कहावे, भितर भेद मन मुसहि लखावैं।
ऐसी बिधि सुर विप्र भनीजे, नाम लेत पीठासन दीजै।
बड़ि गए नहि आपु संभारा, ऊँच नीच कहु काहि जोहारा।
ऊँच नीच है मध्य की बानी, एक पवन एक है पानी।
एकै मटिया एक कुम्हारा, एक सभन का सिरजनहारा।
एक चाक सब चित्र बनाई, नाद-विद के मध्य समाई।

शब्दार्थ— पासा = १ चौसर खेल की गोटियॉ। २ बंधन। मारि = चौसर या चौपड़ के खेल मे होने वाली हार-जीत। इस ससार के पापपुण्य चौपड़ के खेल जैसे है। बहनी = बह्नि। आग। कुलबहनि = कुलाग्नि। वश को धारण करने वाली। ई गृह = इह लोक। वा गृह = परलोक। मुसहि = चोरी करना। भनीजै = कहिए। पीठासन = ऊँचा पीढ़ा। सुरविप्र = ब्राह्मण देवता। भूसुर। आपु = स्वय को। जोहारा = प्रणाम करना। मटिया = पच महाभूत। कुम्हारा = ब्रह्मा। चाक = १ चक्र। २ काल परिवर्तन। चित्र = सृष्टि। शरीर। नादविद = ब्रह्माड मे होने वाला अव्यक्त स्पदन। सुषुम्ना के भीतर की अव्यक्त ध्वनि को नाद कहते है। सृष्टि की ओर उन्मुख घनीभूत नाद को बिदु कहते है। नाद = रज। बिदु = वीर्य।

व्यापिक एक सकल की जोती, नाउ धरे का कहिये भोती।
राछस करनी देऊ कहावे, बाद करै गोपाल न भावै।
हंस देह तजि न्यारा होई, ताकर जाति कहैं धौ कोई।
स्याह सफेद की राता पियरा, अबरन बरन की ताता सियरा।

शब्दार्थ—जोती = प्रकाश। आत्मा। नाउ = नाम। भोती = भौतिक। शरीर सबधी। मानवेतर योनि। राछस = शाक्त। देउ = देवता। बाद = बहस। सिद्धात। हस = आत्मा। धौ = भला। राता = लाल। ताता = गर्म। सियरा = ठडा।

हिदू तुरक की बूढो वारा, नारि पुरख का करहु विचारा।
कहिये काहि कहा नहि माना, दास कबीर सोई पै जाना।

शब्दार्थ—वारा = बालक।

बहा है बहि जात है, कर गहि ऐंचहु ओर।
जो कहा नहि मानै, दै धक्का दुइ और।

कहरा

कहरा एक प्रकार का लोक गीत है। लगता है इसे मुख्यत कहार लोग गाते थे। इसे कहरवा भी कहते है। इन गीतो मे अश्लीलता होती है। इसके ताल मे आठ मात्राऍ होती है। धा गे न ति, न क, धि न। इसे दादरा मे भी गाते है'

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो।
मेली सिस्टि चराचित राखहु, रहहु दिस्टि लौ लाई हो।
जस दुःख देखि रहहु यहि अवसर, अस सुख होइहै पाये हो।
जो खुटुकार बेगि नहि लागै, हिरदय निवारहु कोहू हो।

शब्दार्थ—सहज ध्यान = सहज शब्द का प्रयोग हठ के विरुद्ध है। हठयोग नही। सहज योग या सहजध्यान। समाई = तन्मय। निमग्न। मेली = मैली। विकार युक्त। सिस्टि = सृष्टि।

चरा = चचल। चरा चित = चचल चित्त। लौ = प्रेम। खुटकार = खटका। चिता। कोहू = क्रोध। राखहु = सम्हालो।

अर्थ–सत कबीर कहते है कि हे भाई, हठयोग या किसी कठोर साधना मे न जाकर सहज, सरल ध्यान करो। सद्गुरु के वचनो मे अच्छी तरह निमग्न हो जाओ। यह सपूर्ण सृष्टि मैली (गुण-दोष युक्त) है या मायामत (आणव) वाली है। अपने चचल चित्त को विषय प्रवाह मे जाने से रोक रखो। चित्त को सम्हालो। दृष्टि को हर वक्त परमात्मा मे लगाए रहो। जो साधना का दुख देखता है भविष्य मे सुख पाता है। दुख पाने वाला ही सुख पाता है। हृदय से क्रोध हटा दो। क्रोध ही चिता का, दुख का कारण है।

मुकुति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब वाझी बड़ रोहू हो।
मनुवहि कहहु रहहू मन मारे, खिझुवा खीझि न बोले हो।
मानू मीत मितेया न छोड़े, कवहुँ गाँठि न खोलै हो।
भोगौ भोग भुगुति जनि भूलहु, जोग जुगुति तन साधहु हो।

अर्थ–मुक्ति की साधना रूप रस्सी को कठोरता पूर्वक (गाढ़ि) मत खीचो। कठोर साधना करने की जरूरत नही। सहजसाधना करो। सहज साधना द्वारा ही आत्म तत्त्व रूपी बड़ी रोहू मछली बझती है। फँसती है। मन को मारो। अमन करो। मन ही मन राम को भजो। बाहर प्रदर्शन नही। खिझाने वालो से खीझ कर मत बोलो। मित्रता मत छोड़ो। कभी भी अपनी गाँठ (रहस्य) मत खोलो। विषय की ओर मत जाओ। भोग भोगते हुए भी भक्ति (भुगुति) को मत भूलो। योग युक्ति से शरीर पर अधिकार रखो।

जो यहि भाँति करहु मतवाली ता मन के पित बाँधहु हो।
नाहि तौ ठाकुर है अति दारुन, करिहै चाल कुचाली हो।
बाँधि मारि डाँड़ि सम लै है, छुटहै भल टूटिहै हो।
जबही साँवत आनि पहूँचे, पीठि सांटि भल टूटिहै हो।

शब्दार्थ–मतवाली = १. मतवालापन। साधना मे मस्त। भगवतरस मे डूबा। २ विचारधारा। मत = १ मस्ती। २ अहकार। ठाकुर = १ यम। २. ईश्वर। डाँड़ि = दड। साँवत (< सामत) = यमदूत। साटि = डडा। पीठि = पीठ पर।

ठाढ़े लोग कुटुम सभ देखै, कहे काहु के न छूटिहे हो।
एक तो निहुरि पाँव परि बिनवे, विनति किए नहि मानै हो।
अनचिन्ह रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो केसे पहिचानै हो।
लीन्ह बोलाय बात नहि पूछै, केवट गरभ ते न बोलै हो।

शब्दार्थ– कहे काहु = किसी के कहने पर। निहुरि = झुक कर। चिन्हारी = पहचाना। परिचय। सो = १ वह। २ प्रभु। ३ यमदूत। केवट = यमदूत।

जेकरे गाँठि समर कछु नाही, सो निरधन होय डोलै हो।
जिन्ह सम जुक्ति आगमन कै राखिन, धरनि माछ भरि डेहरि हो।
जेकरे हाथ पाँव कछु नाही, धरै लागु तेहि सोहरि हो।
पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो।

शब्दार्थ–१ समर = सम्वल। पाथेय। २ पुण्य। भक्ति। निरधन = भक्ति हीन। अगमन = आगम। भविष्य। जुक्ति = प्रभु प्राप्ति की साधनाएँ। धरनि = पकड़ा। माछ = मन। भरि डेहरि = देहली। सोहरि = वह रस्सी जिसके द्वारा नाव के पाल की रस्सी खीची जाती है। पेलना = १ नाव खेने वाला बाँस। २ शरीर। अछत = रहने। पेलि = हटाकर। तीर तीर = नदी का किनारा। टोवहु = टटोलना। वौरे = साधक।

अर्थ—जिसकी गाँठ मे पाथेय नही है। अर्थात् जिसने प्रभु के यहाँ पहुँचने की यात्रा मे कोई साधना (समर) नही की है। वह धनहीन, साधना रहित व्यक्ति विषयो मे डोलता, घूमता रहता है। स्वामी रहित छुट्टे जानवर सा उसका जीवन, ससार यात्रानिरर्थक है। जिसने साधना की। साधना द्वारा भविष्य को ठीक रखा। मन मछली को विषयो के प्रवेश द्वार पर ही पकड़ लिया। वह व्यक्ति ही ठीक है। जिसके हाथ पाँव नही है। अर्थात् निर्गुण निराकार ब्रह्म, उसकी उपासना। वही ससार सागर से पार करने की नाव के पाल की रस्सी खीचता है। ऐ साधक, शरीर रूपी बाँस के रहते ससार के विषयो को हटाते चलो। किनारे खड़ा होकर देखने से कोई फायदा नहीं है। तीर तीर टोवहु का अर्थ है साधना मे तल्लीनता का अभाव। अल्प साधना से प्रभु प्राप्ति की कोशिश।प्रभु प्राप्ति की कोशिश।किसी साधना की मध्य गहराई मे न प्रवेशकरना।

उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो।
ऊपर के घाम तरे के भूंभरि, छाँह कतहुं नहि पायहु हो।
ऐसनि जानि पसीजहु सीझहु, कस न छतरिया छायहु हो।
जो कछु खेल किए सो कीयेहु, बहुरि खेल कस होई हो।

शब्दार्थ—उथले = अल्प ज्ञान। रहहु = रहते हो। मति हाथहु = सामान्य प्राप्त ज्ञान। स्वाभाविक बुद्धि। घाम = धूप। भूभरि = गर्म धूल। सीझहु = पक रहे हो। कष्ट सहते हो। कस = क्यो। छतरिया = गुरु या भगवत्कृपा का छत्र। छाँह = सुख। आनद।

अर्थ—हे साधक, अल्प ज्ञान साधना मे पड़े हो। गभीर ज्ञान नही प्राप्त करते। अल्प, अपूर्ण ज्ञान साधना से स्वाभाविक धर्म बुद्धि भी नष्ट हो रही है। स्वर्ग (ऊपर) मे विषयो की गर्मी है। धरती (तरे) पर वासनाओ की आग जल रही है। कही भी आनद नही है। इस प्रकार पसीने से लथपथ हो। दुखी हो। इनसे गुरु कृपा का छत्र बचा सकता है। उसे ही तानो। गुरु कृपा प्राप्त करने की कोशिश करो। अब तक सासारिक विषयो से जो कुछ भी खेल किया सो किया। विषयो को भोगा सो भोगा। इस शरीर के छूट जाने पर ससार खेल सभव नही। यह मानव देह मिलना कठिन है।

सासु ननद दोउ देतु उलाहन रहहु लाज़ मुख गोई हो।
गुर भौ ढील गोनि भै लचपचि, कहा न मान्हु मोरा हो।
ताजी तुरुकी कबहुँ न साजेहुं, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।
ताल झाँझ भल बाजत आवै, कहरा सम कोई नाचै हो।

शब्दार्थ—गोई = छिपाए। ताजी = अरबी घोड़ा। तुरकी = तुर्किस्तान का घोड़ा। ताल = होलियो की ध्वनि। झाझ = काँस का गोल बाजा। यह दो होता है। दोनो हाथो से बजाया जाता है।

अर्थ—विद्वानो ने सास ननद का अर्थ माया एव कुमति किया है। एसे मे सास ननद किस बात का उलाहना देती है? उनके उलाहने से लज्जा क्यो आती है? यहाँ सास का अर्थ परमात्मा की भक्ति और ननद का अर्थ माया लेना ठीक लगता है। भक्ति का उलाहना है कि पूरी भक्ति नही की। माया का उलाहना है कि भक्ति के चक्कर मे माया का सुख भी नही ठीक से नही भोगा। दोनो को शिकायते है। दोनो ओर से उलाहना है। परमात्मा साधक का पति और भक्ति परमात्मा की माँ है। क्योकि परमात्मा भक्ति से प्राप्त होता है। माया जीव का ननद है। क्योकि अजन्मा माया प्रभु पति जैसी ही अनादि है। दोनो का उलाहना सुन जीव का मुख लज्जा से लटक जाता है। वह अपना मुख छिपा लेता है। माया मिली न राम। 'उलाहना' के स्थान पर 'उलाटन' पाठ लेने से भी अर्थ इसी प्रकार होगा।

गुर, जिस शरीर को बड़ा भारी, महत्वपूर्ण समझे थे। वह शरीर ढीला हो गया। गोनि

शरीर के सारे बधन, नसे, इद्रियॉदि लचर (लचपच) हो गयीं। फिर भी मेरी बात नही मानते। भक्ति नही करते। सद्गुरु की शरण मे नही जाते। तुमने सदा काठ के घोड़े, कृत्रिम, भ्रम मूलक और नश्वर वस्तुओ का प्रयोग किया। कभी भी ताजी तुरकी-घोड़ो के समान ज्ञान और वैराग्य की सवारी, साधना नही की। ताल झांझ, मृत्यु संगीत बज रहा है। सभी कहार, यम दूत प्रसन्नता से नाच रहे है। इस पक्ति मे शव को श्मशान ले जाते समय के नृत्य, वाद्य, सगीत का सकेत है। सभी कहरा नाच नाचते है।

जेहि रंग दुलह वियाहन आए, तेहि रंग दुलहिनि राँचे हो।
नौका अछत खेवै नहि जान्हु, कैसे लगव्हु तीरा हो।
कहहि कबीर राम रस माते, जोलहा, दास कबीरा हो।

अर्थ—दूल्हा, परमात्मा एव दुलहन (जीवात्मा) दोनो ही एक रग के हैं। दोनो एक दूसरे के प्रेम मे अनुरक्त भी है। वर-कन्या दोनो एक ही विश्व चैतन्य हैं। फिर भी जीवात्मा, दुलहन में ससार सागर पार करने की क्षमता नही है। साधना रूपी, गुरु रूपी नौका के रहने पर भी कभी उस पर ध्यान नही दिया। भक्ति साधना करना नही सीखा। पता नही यह जीवात्मा कैसे किनारे लगेगी ? भगवान् के पास पहुँचेगी। जुलाहा कबीर रामरस मे मत्त है।

कहरा २

मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, हिदया बंध निबारहु हो।
अट पट कुंभरा करै कुंभरेया, चमरा गाँव न बाँचै हो।
नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाचै हो।
नित उठि नोवा नाव चढतु है, बेरहिं बेरा बोरै हो।
राउर की कछु खबरि न जान्हु, कैसे क झगरा निबेरहु हो।

शब्दार्थ—मानिक = माणिक्य के समान निर्मल मन। मत = १ सिद्धात। विचार। २ नही। बध = बधन। विषय ग्रंथि (जड़ चेतनहि ग्रथि परि गई—तुलसी)। कुभरा = मन। कुभरैया = विषय सृष्टि। चमरा गॉव = शरीर। बॉचै = बचना। कोरिया = जीव रूपी जुलाहा। पेट भरतु = १ वस्त्र का पेटा भरना। २ ससार का पेट भरना। विविध कर्म करना। छिपिया = रगरेज। ऑगन = ससार। नौवा = १. नाविक। २ जीव। नाव = १. ज्ञान। २. शरीर। ३ सासारिक कर्म। बेरहि = १ बेड़ा। २ शरीर या शरीर कर्म। बोरै = डुबाना। राउर (< स राजपुर) = १ अत करण। २ हृदय स्थित ईश्वर। आत्म तत्त्व। निबरेहु = निवारण।

अर्थ—ऐ निर्मल मन, मेरी (सद्गुरु) बात, उपदेश सुनो। यह सुन कर हृदय मे पड़ी विषयग्रथि का निवारण करो। मत का अर्थ नही ले तो अर्थ होगा मत सुनो। सासारिक गुरुओ की विषय वाणी को मत सुनो। तुम स्वय साधना द्वारा हृदय स्थित ग्रथि का निवारण करो।

चंचल मन कुम्हार अटपटा, विषय बढ़ाने वाला कार्य करता है। किंतु विषय कर्म से यह चर्म शरीर की रक्षा नही होगी। शरीर नष्ट होगा। कोरिया, कोली, जुलाहा नित्य उठकर, बार-बार जन्म लेकर केवल पेट पालने मे उम्र बिता देता है। जैसे जुलाहा धागा फैला कर वस्त्र के पेटे को भरता है। बुनता है। शरीर वस्त्र को देख जीव रूपी रगरेज प्रसन्नता से नाचता है। ऑगन मे नाचना का अर्थ है ससार के विविध कर्मो मे दौड़ने मे सुख मानना। शरीर रूपी नाव को भवसागर पार करने का साधन समझ जीव बार-बार जन्म ग्रहण करता है। किंतु यह शरीर बेड़ा शरीर कर्मो से ही डूब जाता है। ससार सागर मे समाप्त हो जाता है। बार-बार डूबता है।

ऐ मन, परमात्मा के राउर अर्थात् जिस अत पुर, हृदय मे परमात्मा का निवास है। उसका

तुम्हे कोई ज्ञान नही है। दूसरा अर्थ है–ऐ मन, तुम्हे अपने ही अंत.करण का ज्ञान नही है। वहाँ विषयो के द्वन्द्व चल रहे है। इस अज्ञान के कारण द्वन्द्वो का, विषयो के झगड़े का निवारण कैसे संभव है ? अर्थात् संभव नहीं है।

एक गाँव मे पाँच तरुनि बसैं, तामँह जेठ जेठानी हो।
आपन आपन झगरा पसारिनि, पिया सो प्रीति नसानी हो।
भैसिन्ह माँह रहत नित बकुला, तकुला ताकि न लीन्हा हो।
गाइन्ह माँह बसेउ नहिं कबहूँ, कैसे कै पद पहिचनवहु हो।

शब्दार्थ–तरुनि = इद्रियाँ। जेठ = मन। जेठानी = वासना। पिया = प्रभु। भैसिन्ह = दुर्बुद्धि। बकुला = छली मनुष्य। मन। तकुला = १ सूत कातने वाला यंत्र। २ (स. तत् कुल) उस कुल। परमात्मा। गाइन्ह = संत। गायन। भगवत्भजन।

अर्थ–एक शरीर मे पॉच ज्ञानेद्रियाँ है। उनमे ही मन रूपी जेठ और मन की प्रिया जेठानी वासना भी रहती है। इस प्रपच, ससार के सारे झगड़े इन्ही सब के प्रसार है। इद्रिय, मन और वासना के ही झगड़े है। फलत. परमात्म प्रेम नष्ट हो गया। दुर्बुद्धि रूप भैसों के बीच मे छल भरा मन रहता है। इनमे से कोई भी ज्ञान का महीन सूत कातने की ओर ध्यान नही देता। ताकता भी नही। अथवा परमात्मा की ओर ध्यान नही देता है। सत गान या संत सगति मे कभी न रहने से निर्वाण पद की पहचान सभव नही है।

पंथी पंथ पूछि नहि लीन्हो, मूढहि मूढ़ गँवारा हो।
घाट छाँडि कस औघट रेंगहु, कैसे कै लगवहु तीरा हो।
जतइत के धन हेरिन्हि ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।
दुइ चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहौ ठिक ठौरा हो।
प्रेम बान एक सतगुरु दीन्हा, गाढो तीर कमाना हो।
दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माहि समाना हो।

शब्दार्थ–रेंगहु = रेंगना। तीरा = किनारा। ससार पार। जतइत = १. जाँता। २ (सं यत्र अत्र) जहाँ यहाँ। पारलौकिक। कोदइत = १ कोदो। २. व्यर्थ का ज्ञानी। दरर = दलना। कमाना = धनुष। तीर कमाना = शब्द बाण। महरा = १ प्रधान। २. कहार जाति। ३. आत्म तत्त्व।

अर्थ–ऐ साधक, तुमने सतगुरु से रास्ता नही पूछा। गँवारो के समान मूढता मे थे ही। भक्ति की राह भी मूढ़ता वाली पकड़ी। उचित रास्ते को, पार जाने वाले घाट को छोड़ कर, औघट बिना रास्ते के, अनुचित मार्ग पर जा रहे हो। ऐसी स्थिति मे भव सागर का किनारा पाना कठिन है। जाँते के धन या यहाँ के धन को लालच से देखते हो। कोदो अर्थात् व्यर्थ के ज्ञान पर मन दौड़ता है। इन दोनो चक्र (इहलोक, परलोक) के सुखो को छोड़ दो। तभी ठौर ठिकाना लगेगा। परम पद को प्राप्त कर सकोगे।

सतगुरु देव ने प्रेम का बाण दिया है। सतगुरु द्वारा प्रदत्त गभीर ज्ञान रूपी तीर कमान से विषयो को नष्ट कर दो। सत कबीरदास ने आत्म तत्त्व मे लीन होकर यह कहरा कहा है।

कहरा ३

राम नाम को सेवहु बीरा, दूरि नाहि दुरि आसा हो।
और देव का पूजहु बौरे, ई सभ झूठी आसा हो।
ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो।
तन के बिरध कहा भौ बौरे, मनुआ अजहूँ बारो हो।

मुख के दाँत गए कहा बौरे, भीतर दाँत लोहे का हो।
फिरि फिरि चना चबाउ विषै कै, काम क्रोध मद लोभ के हो।
तन की सकल सकित घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूनी हो।
कहहि कबीर सुनहु हो संतो, सकल सयानप ऊनी हो।

शब्दार्थ—बीरा = भाई। दूरि नाहि = प्रभु दूर नही है। दुरि आसा = आशा पूर्ति दूर है। कारो = दुर्भावना। वासना। बारो = अज्ञानी। लोहे का = दृढ़। सयानप = सासारिक बुद्धि। ऊनी = व्यर्थ।

कहरा ४

ओढ़न मेरा राम नाम, मैं रामहि का बनिजारा हो।
राम नाम की करहु बनिजिया, हरि मोरा हटवाई हो।
सहसनाम का करौ पसारा, दिन दिन होत सवाई हो।
जाके देव वेद पछराखा, ताके होत अढ़ाई हो।
कानि तराजू सेर तिन पौवा, डहकै ढोल बजाई हो।
सेर पसेरी पूरा कैले, पासँग कतहुँ न जाई हो।
कहहि कबीर सुनहु हो संतो, जोर चला जहँड़ाई हो।

शब्दार्थ—हटवाई = बाजार क्रय विक्रय। बनिजिया = व्यापार। पसारा = फैलाव। सहस्र-नाम = राम सहस्रनाम। कानि = पसगा। अढ़ाई = अढ़ाई मे अ + ढ़ाई अर्थ करना ठीक जान पड़ता है। क्योंकि राम नाम के व्यापार मे सवाई और देववेद द्वारा पक्ष रखे जाए को अढ़ाई अर्थ समझ मे नही आता। अढ़ाई के स्थान पर हटवाई पाठ भी है। हटवाई का अर्थ हुआ बाजार। मतलब कि देव वेदादि बाजारू है। कानि का अर्थ पासग किया गया है। कानि का पासंग अर्थ शायद कण के आधार पर बनाया गया है। किंतु कानि का प्रचलित अर्थ है मर्यादा, लोकाचार। लोकाचार मे रहने पर सेर का तीन पाव हो जाता है। डहकै = जलना। दग्ध। डहकै ढोल बजाई = प्रत्यक्ष नुकसान। जहँड़ाई = घाटा होना।

अर्थ—मै, जीव का राम नाम ओढना है। राम नाम ओढ कर ही मै प्रकृति परिवर्तन से रक्षित रहता हूँ। मै राम नाम का व्यापारी हूँ। राम नाम का व्यापार करता हूँ। हरि, विषयो का हरण करने वाले राम ही मेरे व्यापार के बाजार है। व्यापार की सामग्री है राम सहस्रनाम। राम नाम को ही फैलाता हूँ। यह दिन दिन बढ़ रहा है। सवा हो रहा है। जिन्होने राम को नही। देव, वेद का भरोसा किया है उन्हे अढ़ाई नही होता है या व्यर्थ का रोजगार करते है। लोक मर्यादा के पीछे चलने वालो को तो सेर मे तीन पाव और कम प्राप्त होता है। ऐसे भक्त या लोग ढके की चोट विषय दग्ध हो जाते है।

ऐ जीव, सेर भर की भक्ति शक्ति को पसेरी, पच सेरी कर ले। भक्ति से शक्ति पॉच गुणा हो जाती है। इसमे किसी पासग की जरूरत नही पड़ती है। पासग का अर्थ है भक्ति मे अन्य किसी की छोटी सी सहायता की भी आवश्यकता नही होती है। पासग तो ठीक रहेगा ही। पासग, इधर-उधर की सहायता। राम नाम से दोनो पलड़े (लोक-परलोक) ठीक रहते है।

सत कबीर कहते है—हे सतो सुनो। राम नाम के व्यापार मे घाटा और (ठगी नही है) इसके विरुद्ध जो जाने का जोर करेगा उसे धोखा होगा। घाटा होगा।

कहरा ५

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो।

लच्छ करोरि जोरि धन गाड़िनि, चलत डोलावत बांहीं हो।
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्ह के ई भुंई भाँड़े हो।
आँधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहे सभ छाँड़े हो।
ई संसार असार को धंधा, अंतकाल कोइ नाहीं हो।
उपजत बिनसत बार न लागै, ज्यौं बादर की छाहीं हो।
नाता गोता कुल कुटुम सभ, इन्ह की कौन बड़ाई हो।
कहँहि कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सभ चतुराई हो।

शब्दार्थ—डोलावत बाही (मुहा) = बिना कुछ लिये। खाली हाथ। परपाजा = दादा का पिता। भॉड़े = नष्ट किया। बार = देर। बादर की छाही = नाशवान्। नश्वर।

कहरा ६

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जनम गवाँई हो।
सेमर सेइ सुवा ज्यौं जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो।
जैसे मदपी गांठि अरथ दै, घरहु के अकलि गवाँई हो।
स्वादै उदर भरै धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो।
दर्ब हीन कैसन पुरुषारथ, मनहीं माँह तवाँई हो।
गाँठी रतन मरम नहि जानै, पारख दीन्हा छोरी हो।
कहहि कबीर यहि औसर बीते, रतन न मिलै बहोरी हो।

अर्थ—राम नाम के बिना मानव जन्म व्यर्थ बीत गया। जीवन मे सुख की आशा संेवल फूल सा सुदर लगा। किंतु अत मे धोखा हुआ। सेमल से ऊन (रुई) निकला। ऊन अर्थात् विषय की व्यर्थता। जैसे सुग्गे को सेमल फूल से निराशा होती है। वैसे ही जीव को निराशा मिली। पछतावा मिला। जिस प्रकार शराबी (मद्यपी) अपने पास का धन समाप्त कर देता है। बुद्धि से इकट्ठा घर का धन खर्च कर देता है। वैसे ही जीव मानव जन्म रूपी धन को नष्ट करता है। दर्ब (द्रव्य), धन के बिना पुरुषार्थ सभव नही। स्वाद अर्थात् विषयो के सेवन से पेट नही भरता। शाति नही मिलती है। विषय सुख ओस के समान क्षणभगुर है। इनसे तृष्णा (प्यास) की समाप्ति नही होती है। इससे (विना पुरुषार्थ के) मन मे केवल दुख (तवॉई) होता है। पास मे (हृदय मे) राम नाम रूपी रत्न है। किंतु विषयासक्त जीव इस सत्य से परिचित नही है। पारस (पारख) रूप प्रभु को छोड़ देता है। सत कबीर कहते है। हे जीव, साधना, प्रभु भक्ति का अवसर (जीवन) बीत रहा है। पुन यह जीवन या मानव देह रूपी रत्न नही मिलेगा। समय रहते भक्ति कर लो।

कहरा ७

रहहु सँभारे राम-बिचारे, कहता हौं जु पुकारे हो।
मूड़ मुड़ाय फूल कै बैठे, मुद्रा पहिरि मंजूसा हो।
तेहि ऊपर कछु गरब लपेटे, भितर भितर घर मूसा हो।
गाँव बसत है गरब भारती, बाम काम हंकारा हो।
मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहि पति रहै तोहारा हो।
मांझ मंझरिया बसै जो जानै, जन होइहै सो थीरा हो।
निरभै है रह गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो।

शब्दार्थ—मुद्रा = १ एक प्रकार का कुडल। जिसे नाथ पथी योगी पहनते है। २. यौगिक

चेष्टाऐं। मजूसा = १. पिटारी। २ शरीर या कान। भूसा = चोरी। गॉव = शरीर। भारती = १. दशनामी साधुओ की एक जाति। २. ज्ञान। सरस्वती। हकारा = अहकार। वाम = वाम मार्ग। मोहन = मोह। पति = १ प्रतिष्ठा। २ प्रभु। माझ = हृदय के भीतर। अत करण। मझरिया = मध्य मे रहने वाला। भगवान्। जन = भक्त। थीरा = स्थिर।

अर्थ—सत कबीर पुकार कर कहते है। राम नाम का विचार करो और अपने को विषयो से समेट कर रखो। केवल मूड (सिर) मुड़ा कर अहकार से बैठना व्यर्थ है। यह शरीर या कान एक पिटारी है। इसमे मुद्रा (कुडल) धारण करना या शरीर को केवल यौगिक चेष्टाओ मे रखने से कोई लाभ नही है। असली है ईश्वराराधन। कान मे कुडल धारण किया या यौगिक चेष्टा मे बैठे। फिर कुछ राख (छार) लपेट लिया। यह भी बाह्य साधन है। अत करण को तो वासना नष्ट कर रही है। कुवृत्तियॉं सद्वृत्तियो को चुरा रही है। हे सन्यासी, तुम व्यर्थ ही ज्ञान गर्व के गोव मे रहते हो। केवल गर्व नही करते। गर्व के गॉव मे रहते हो। सगीसाथी भी गर्व वाले है। गर्व के गॉव मे तो केवल वामाचार, कामाचार और अहकार है। मोह तुम्हे जहॉं-तहॉं अनिश्चित जगहो मे ले जायगा। अनिश्चित मे शाति नही है। इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा नही होगी। तुम्हे पति-प्रभु की प्राप्ति नही होगी। प्रभु प्राप्ति ही निश्चय का स्थान है। अत.करण वासी प्रभु को जानने वाला ही स्थिर होता है। विषयो से अभय होकर सतगुरु की शरण (नगर) मे ही सुख की नीद प्राप्त होती है।

कहरा ८

छेम कुसल औ सही सलामत, कहहु कवन को दीन्हा हो।
आवत जात दोऊ बिधि लूटे, सर्व तंग हरि लीन्हा हो।
सुर नर मुनि जति पीर ओलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो।
कहँ लौ गनौ अनंत कोटि लौ, सकल पयाना कीन्हा हो।
पानी पौन अकास जाहिंगे, चंद जाहिंगे सूरा हो।
ए भी जाहिंगे वो भी जाहिंगे, परत न काहू के पूरा हो।
कुसलै कहत कहत जग बिनसै, कुसल काल की फांसी हो।
कहहि कबीर सारी दुनिया बिनसै, रहैं राम अबिनासी हो।

अर्थ—संत कबीर कहते है। भला ससार मे ऐसा कौन है जिसको सभी प्रकार का सुख है? ईश्वर ने सारे सुख किसी को नही दिए है। जीव जन्म और मृत्यु दोनो प्रकार लूटा जा रहा है। देह धारण का उद्देश्य व्यर्थ हो रहा है। क्योकि वह साधना हीन है। सब कुछ को छोटी दृष्टि, विषय दृष्टि (तग) हरण कर रही है। कुछ विद्वान् तग को तग्य = ज्ञान से व्युत्पन्न मानकर तग का अर्थ ज्ञान करते हैं। अर्थ हुआ सारा ज्ञान हरण कर लिया। तग (सीमा) का अर्थ शरीर भी होगा। तदनुसार सारे शरीर नष्ट हो रहे है।

देवता, मनुष्य, मुनि, यती (जति), पीर, औलिया (सिद्ध) इन सबको प्रभु (मीरा) ने पैदा किया है। कहॉं तक कहा जाय। अनत करोड़ पैदा किया। सब चले भी गये। प्रयाण (पयान) कर गए। प्रयाण मृत्यु के लिये विशिष्ट शब्द है। पानी, पवन, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, यह वह सारे दृश्य कोई पूर्ण नही है। सभी नश्वर है। सब एक दूसरे का कुशल पूछते नष्ट हो रहे है। कुशलता काल देवता का बधन (फॉंसी) है। कुशल चाहने वाले को काल सबसे पहले मारता है। सारी दुनिया नष्ट हो जायगी। केवल अविनाशी राम, अपने राम (भक्त) रह जायॅंगे।

कहरा ९

ऐसनि देह निरालप बौरे, मुए छुवै नहिं कोई हो।
डांड कै डोरिया तोरि लाइन, जो कोटिन धन होई हो।
उर्ध निसासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो।
जो कोई आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो।
चंदन चूर चतुर सम लेपहि, गरे गजमुकता हारा हो।
चहुं दिसि गीध मुए तन लूटे, जंबुक उदर विदारा हो।
कहहि कबीर सुनहु हो संतो, ग्यान हीन मति हीना हो।
एक एक दिन यह गति सबकी, काह राव का दीना हो।

शब्दार्थ—निरालप (< स नि आलाप) = शात। मौन। मलिन, दूषित अर्थ भी किया गया है। डाड कै डोरिया = कमर की डोरी। तोरि लाइन = तोड़ लाया। तरासा = त्रास भय। हकराइन्हि = बुलाया। मुए = मृत्यु। जबुक = सियार। राव = राजा। दीन = गरीब।

कहरवा १०

हौ सभहिन में, हौं ना हो मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढन मेरा एक पिछौरा, लोग बोलै एकताई हो।
एक निरंतर अंतर नाही, जौं ससि घट जल झांई हो।
एक समान कोई समुझत नाहीं, जाते जरा भर्म जाई हो।
रैनि दिवस मै तहवां नाही, नारि पुरुष समताई हो।
ना मैं बालक बूढो नाही, ना मोरे चिलकाई हो।
तिरबिधि रहौं सभनि मां बरतौं, नाम मोर रमुराई हो।
पठए न जाउँ आने नहि आवों, सहज रहौं दुनियाई हो।
जोलहा तान बान नहि जानै, फाँटि-बिनै दस ठाँई हो।
गुरु परताप जिन्हे जस भाषो, जन बिरले सुधि पाई हो।
अनंत कोटि मन हीरा बेधौ, फिटकी मोल न पाई हो।
सुर नर मुनि जाके खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन्हि पाई हो।

शब्दार्थ—पिछौरा = प्रकृति। माया। ओढन = चादर। आच्छादन। एकताई = पिछौरा और मेरी एकता। एक प्रकार। समताई = समान। चिलकाई = बालक। तिरबिधि = १ तीन गुणो या बाल, युवा, वृद्ध। २ लोकेषण, वित्तोषणा, कामेषणा। मा = मे। दस ठाँई = शरीर की दस इद्रियॉ। फिटकी = १ फिटकरी। २ तत्त्वहीन।

कहरा ११

ननदी गे तै विषम सोहागिन, तैं निदले संसारा गे।
आवत देखि एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।
मोरे बाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।
जब हम अइलीं रसिक के जग में, तबहि बात जग जानी गे।
माइ मोर मुवल पिता के संगे, सरारचि मुअल संघाती गे।
अपने मुवलि और लै मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे।
जौ लौं साँस रहै घट भीतर, तौलौं कुसलपरी है गे।
कहँहि कबीर जब साँस निसरि गौ, मंदिल अनल गरी है गे।

शब्दार्थ—ननदी = माया। विषम = विकट। विषम सोहागिनि = सदा सौभाग्यवती रहने

वाली। निदले = १. निद्रित किया। २ निदित किया। खसम = परमात्मा। मोरे बाप = परमात्मा। दुइ मेहररुआ = माया और जीव। मै = जीव। जेठानी = मायाा। रसिक = परमात्मा। माई = ममता माया। पिता = काम। सघाती = क्रोध, लोभादि। इद्रियाँ और उनके विषय। और लै = अन्य के साथ। आशा, तृष्णादि। कुटुब = माया परिवार। मदिल = शरीर।

बसंत १

जहाँ बारह मास बसंत होय, परमारथ बूझै बिरला कोय।
बरसै अगिन अखंडधार, बन हरियर भौ अठारह भार।
पनिया अंदर धरे न कोय, पौन गहै कस मलिन धोय।
बिन तरवर फूले आकास, सिव बिरंचि तहँ लेहिं बास।
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोनिन जोय।
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटै चरन भाव।
अमर लोक फल लावै चाव, कहँहि कबीर बूझै सो पाव।

अर्थ—साधक जिस लोक मे रहता है वहाँ सदा (बारह मास) आनद (बसत) रहता है। किंतु इस परमार्थ आनद को कोई विरला ही समझ पाता है। यहाँ अग्नि (ज्ञान) की अखड धारा बरसती है। इस ज्ञानाग्नि के बरसने से सपूर्ण वनस्पतियाँ (अठारह भार वनस्पति का अर्थ है १२ करोड़, ३० लाख, एक हजार, छ सौ साट वृक्ष—मा पी) हरी-भरी रहती हैं। आचार्य गंगा शरण दास जी ने बीजक की मनोरमा टीका मे चार भार फल वाली, भार-भार लताएँ, छ भार फूलो वाली एव चार भार काँटो वाली ये अठारह भार बताएँ है। यहाँ हरियर वन का अर्थ संपूर्ण अत.करण एव शरीर के अगादि का प्रसन्न और स्वच्छ होना है। कोई उसके भीतर पानी नही रखता। केवल पवन धारण, प्राणायाम से मलिनता (काम, क्रोधादि) धुलती रहती है। बिना तरुवर के निर्गुण-निराकार ब्रह्म से आकाश (सहस्रार) मे प्रसन्नता रहती है। आनद रहता है। वहाँ शिव, ब्रह्मा आदि देव निवास करते है। सनकादि भक्त उस फूल (आनद) की गंध (बोय, बू) को प्राप्त करते रहने मे ही मस्त रहते हैं। चौरासी लाख योनियो मे भटकते जीव उसे प्राप्त करने की प्रतीक्षा (जोय, जोह) मे रहते है। सतगुरु ने जो सत्य (परमतत्त्व) का ज्ञान कराया है। इससे प्रभु चरण सेवा का भाव नही छूटेगा। उस अमर लोक के फल को प्राप्त करने की इच्छा करो। सत कबीर कहते है-जो ज्ञान को समझता है। उसे वह आनद प्राप्त होता है।

बसंत २

रसना पढ़ि लेहु श्री बसंत, पुनि जाय परिहौ जम के फंद।
मेरुदंड पर डंक दीन्ह, अष्ट कवँल परजारि दीन्ह।
ब्रह्म अगिनि कियो प्रगास, अर्ध उर्ध तहँ बहै बतास।
नौ नारी परिमल सो गाँव, सखी पाँच तहँ देखन धाव।
अनहद बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्त्यरि खेलै धूरि।
माया देखि कस रहहु भूलि, जस बनसपती रहलि फूलि।
कहँहि कबीर ई हरि के दास, फगुआ माँगै बैकुंठ बास।

शब्दार्थ—रसना = जीभ। श्रीबसत = आनद पद। मेरुदंड = कमर की हड्डी। रीढ़। डक = डका। अस्ट कँवल = सुरति कमल। परजारि = प्रज्वलित। ब्रह्म अगिनि = तत्त्व ज्ञान। अर्ध = नीचे। अपान वायु। उर्ध = प्राण वायु। बतास = हवा। नौ नारी = नौ नाड़ियाँ, (इड़ा, पिगला, सुषुम्ना, गाधारी, हस्ति जिह्वा, पूषा, पयस्विनी, लकुहा, अलाम्बुषा)। परिमल =

सुगंध। पाँच सखी = पाँच ज्ञानेंद्रियाँ। पुरुष बहत्तरि = शरीर की बहत्तर ग्रथियाँ (१६ कडराएँ, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थि सघात, १४ सीमत १ त्वचा)। धूरि = १. धूल। २. फाग। ३. नाश। फगुआ = फागुन के उपलक्ष में दिया जाने वाला पैसा या वस्तु।

अर्थ—ऐ जीभ, स्वाद छोड़ो। प्रभु के आनद पद उच्चारण करो। ऐसा न करने से यम के फंदे मे पड़ जाओगे। रीढ़ स्थित सुषुम्ना मे कुडलिनी जाग्रत हो गयी है। इस जागरण का डंका बज रहा है। विषयो पर विजय हो रही है। सुरति कमल मे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित है। तत्त्व ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानाधकार मिट गया। अपान और प्राण दोनो मे आनंद की हवा बह रही है। शरीर के सभी प्राण आनद निरत है। सभी (नौ) नाड़ियो से उत्तम गध निकल रही है। पाँचो ज्ञानेंद्रियाँ देखने के लिये दौड़ रही है। हृदय मे अनाहत नाद हो रहा है। बहत्तर नाड़ी पुरुष फाग की धूर उड़ा रहे है। नाश मे आनद मना रहे है।

मायिक वन फूला है। इस माया को देखकर भ्रम मे नही पड़ना चाहिए। सत कबीर कहते है कि प्रभु सेवक अविनाशी वैकुठ का निवास चाहता है। जहाँ सनातन आनंद बना रहे।

बसंत ३

मैं आयों मेहत्तर मिलन तोहिं, रितु बसंत पहिरावहु मोहिं।
लम्बी पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूँटा तीन।
सर लागे तोहि तीन सै साठि, कसनि बहत्तरि लागु गाँठि।
खुर खुर खुर खुर चलै नारि, बैठि जोलाहिन पलथि मारि।
ऊपर नचनियाँ करै कोड़, करिगह में दुइ चलै गोड़।
पाँच पचीसो दसहूँ द्वार, सखी पाँच तहँ रची धमार।
रंग बिरंगी पहिरे चीर हरि के चरन धरि गावैं कबीर।

शब्दार्थ—मै = जीव। साधक। मेहतर = महत्तर। सद्गुरु। रितु बसत = परमपद का आनद। आनंद तत्त्व। पुरिया = १ वह नरी जिस पर बुनने के पहले बाना फैलाया जाता है। २ शरीर। पाई = १ जुलाहो द्वारा प्रयुक्त पतली-पतली छड़ियाँ जिन पर सूत को फैला कर तानते है। २ फन्नी बीनने के लिये ३६० वय का लगा ताना। खूँटा तीन = १. इड़ा, पिगला, सुषुम्ना। २. सत्त्व, रज, तम। तीनि सै साठि = १ शरीर की हाड्डियाँ। २ वर्ष भर के दिन। बहत्तर कसनि = शरीर ग्रथि। नारि = नरी। जोलाहिन = जीवात्मा। नचनियाँ = मान। कोड = क्रीड़ा। ऊपर = सहस्रार। करिगह = शरीर। गोड़ = श्वास = प्रश्वास खभा। पाच = पच तत्त्व। पच्चीस = पच्चीस तत्त्व। इनमे पुरुष भी शामिल है। दसहूँ द्वार = दश इद्रियाँ। धमार = १. उछल कूद। २. एक प्रकार का नाच युक्त सगीत। चीर = शरीर। खुर खुर = धीरे-धीरे किंतु ध्वनिवाली।

अर्थ—जीव कहता है। हे गुरुदेव, मै आपसे ही मिलने संसार मे आया हूँ। यहाँ भौतिक गुरु एवं परमात्मा दोनो की ओर सकेत हैं। जीव, आत्मा परमात्मा से मिलने, आनंद क्रीड़ा करने संसार मे आता है। इसलिये मुझे आनंद वस्त्र, साधना भक्ति वस्त्र पहनाओ। मै साधक बनूँ। मेरा शरीर अत्यत दुर्बल है। इसे आपका कृपा प्रसाद (शक्तिपात) चाहिए। सत्त्व, रज, तम या ईड़ा, पिगला, सुषुम्ना इन तीन खंभो पर आधारित बार-बार आवागमन के कारण यह शरीर पुराना हो गया है। इस शरीर मे तीन सौ साठ हड्डियाँ है या यह शरीर वर्ष के तीन सौ साठ दिनो से युक्त है। इसमे ७२ गाँठे है। इस शरीर की नाड़ियाँ धीरे-धीरे चलती हैं जिनमे ध्वनि होती है। यहाँ आत्मा रूपी जुलाहिन स्थिर बैठी है। सहस्रार मे चंचल मन क्रीड़ा कर रहा है। मन की बाह्य चचलता दूर हो गयी है। अब वह प्रभु संग क्रीड़ारत है। शरीर करिगह मे दो

श्वासो, श्वास, उसॉस या प्राण अपान की क्रिया हो रही है। पॉच इद्रियॉ, पच्चीस तत्त्व, दश इद्रियॉ, पॉच विषय रूप सखियो के नृत्य सगीत या उछलकूद हो रहे है। धमार आनद क्रीड़ा का सकेत है। जीव ने रग विरगे (काला, गोरा, लाल, पीला) शरीर धारण किया है। ये रग विश्व की मानव जातियो के है। सत कबीर प्रभु चरणो को पकड़ कर यह गीत गा रहे है।

बसंत ४

बुढिया हँसि बोलै मै नतहि वारि, मोहि अस तरुनि कहौ कौन नारि।
दाँत गैल मोर पान खात, केस गैल मोर गंग नहात।
नैन गैल मोर कजरा देत, बैस गैल पर पुरुष लेत।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने पर करौं सिगार।
कहँहि कबीर बुढिया आनंद गाय, पूत भतारहि बैठी खाय।

अर्थ—सत कबीर माया का वर्णन करते कहते है। सपूर्ण सृष्टि, उसका कार्य व्यापार मायामय है। माया वृद्धा है। अनादि है। वृद्ध भी माया मे फॅसे है। माया सदा (नित) बालिका है। माया जैसी कोई स्त्री युवती नही। मतलव कि वाल, वृद्ध, युवा सव मायाधीन है।

पान खाना माया को निमत्रित करना है। पान खाते-खाते दॉत चले जाते है। गगा नहाने। तीर्थों मे जाते। शरीर साफ करते केश चले जाते है। ऑख को सुदर बनाने के लिये काजल देते-देते ऑखे (रोशनी) चली जाती है। पर पुरुष अर्थात् पुनर्जन्म के कारण पर पुरुष। जीव का पुरुष तो केवल परमात्मा है। शेष पुरुष पर पुरुष है। दूसरो के है। पर पुरुष का सवध कर उसका नाश कर बैस, उम्र समाप्त हो जाती है। ज्ञानी (जान) पुरुष माया के भोजन है। माया ज्ञानियो (भक्ति रहित ज्ञानी) को समाप्त कर देती है। अज्ञानी (भक्तिहीन) से अपने को सजाती है। यह अनादि माया इद्रिय सपन्न पुत्र और माया उपाधि युक्त चैतन्य का भी नाश कर देती है।

बसंत ५

तुम बूझहु पंडित कवनि नारि, काहु न बियाहल है कुँवारि।
सब देवन्ह मिलि हरिहि दीन्ह, चारिउ जुग हरि संग लीन्ह।
प्रथमै पदुमनि रूप आहि, है सांपिनि जग खेदि खाहि।
ई भर जुवती वे वार नाह, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि।
कहहि कबीर यह जगत पियारि, अपन बलकवै रहलि मारि।

अर्थ—ऐ पडित, समझने का प्रयत्न करो। माया कौन है ? कुमारी है। अव्याही है। समुद्र मंथन के बाद सभी देवो ने मिल कर समुद्रोत्पन्न माया लक्ष्मी को हरि (विष्णु) को दे दिया। विष्णु उसे सदा (चारिउ युग) मे साथ रखते है। प्रभु भी माया युक्त है। उसका रूप पद्मिनी स्त्री जैसा है (पद्मिनी स्त्री सर्वसुदरी होती है। उसकी देह से कमल गध आती है)। वह माया सॉपिनि जैसी है। जैसे सॉपिनी अपने अड़ों को खा जाती है। वैसे ही माया अपने द्वारा उत्पन्न मायामयी सृष्टि का नाश कर देती है। खेद खाना, दौड़ा कर खाती है। किसी को भी भागने नही देती। यह तो युवती है किंतु इसका पति (नाह = नाथ) बालक (वार) है। (वार का अर्थ बालक जैसी सरलता वाला)। भर युवती का अर्थ है शृंगार से पूर्ण। माया स्त्री अत्यत तेज है। रात्रि (अज्ञान) मे और तेज रहती है या तीन रातों (बाल, किशोर एव युवा) मे वह अत्यत तीव्र रहती है। या लोकेषणा, वित्तेषणा एव सुतेषणा की रातो मे उसका तेज देखने लायक होता है। सारा ससार उसे प्यार करता है। वह माया सृष्ट, माया से ही उत्पन्न जीवो का नाश कर रही है।

बसंत ६

माई मोर मनुसा। अति सुजान, धंधा कुटि कुटि करै बिहान।
बड़े भौर उठि आँगनु बाढ़ु, बड़े खाँच लै गोबर काढ़ु।
बासी भात मनुसे लीहल खाय, बड़ा घैल सै पानी के जाय।
अपने सैंयाँ के बाँधौ पाट, लै बेचौंगी हाटे हाट।
कहँहि कबीर ये हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कवनि लाज।

अर्थ--माई एक सवोधन प्रकार है। पुरुष प्राय भाई और स्त्री माई सवोधन करती है। माया कहती है। मेरा आदमी (पुरुष = मनुसा) या पति (भक्त नही) अत्यत ज्ञानी है। हर समय किसी न किसी द्वन्द्व (धधा) मे रहता है। कुटि कुटि कृत कृत जगत का सारा धधा करता है। किंतु भक्ति नही करता। करै विहान से मतलब कि रात को भी धधे मे रहता है। जिस रात मे योगी जागते है। उस रात मे भी वह काम पूर्ति के चक्कर मे रहता है। सबेरे राम नाम नही जपता। हृदय रूपी ऑगन को बुहार कर विषयो को और बढ़ाता है। बड़े भारी खॉच (बॉस आदि की टोकरी) से गोवर (प्रवृत्तियों) को निकालना है। प्रवृत्तियो के अनुसार काम करता है। मेरे आदमी ने बासी भात, भक्ति का घिसा-पिटा ढंग, वासना युक्त भक्ति का भोग कर लिया। अपने शरीर घड़े मे विषयो का पानी भर ले जाता है। मै, माया। अपने पति (मनुष्य) की पगड़ी (या सिहासन) बाधूँगी और लोभ, मोहादि के बाजार मे ले जाकर बेचूँगी। मतलब कि सपन्न व्यक्ति माया का सौदा है।

सत कबीर कहते है। मेरा कर्म प्रभु की सेवा है। जगत या माया सेवा नही। इसलिये मै किस सकोच (लज्जा) वश माया स्त्री के पास रहूँ। माने कि माया मेरी स्त्री नही है। मै तो स्वय प्रभु पत्नी हूँ। एक स्त्री दूसरी स्त्री के पास कैसे रह सकती है ? दूसरे जीव माया के पास इसलिये है क्योकि वे अपने को माया का पति समझते है। मायापति की प्रिया नही।

बसंत ७

घरहि में बाबू बढ़लि रारि, उठि उठि लागै चपल नारि।
एक बड़ी जाके पाँच हाथ, पाँचहुँ के पचीस साथ।
पचीस बतावैं और और, और बतावे कइक ठौर।
अंतर मधे अंत लेइ, झकझोरी झोला जीवहि देइ।
आपन आपन चाहै भोग, कहु कैसे कुसल परी है जोग।
विवेक विचार न करै कोय, सब खलक तमासा देखैं लोय।
मुख फारि हँसैं सब राव रंक, ताते धरै न पावै एकौ अंग।
नियरे न खोजै बतावै दूरि, चहुँ दिसि बागुलि रहलि पूरि।
लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव।
अबकी बार जो होय चुकाव, कहहि कबीर ताको पूर दाँव।

शब्दार्थ--रारि = झगड़ा। बड़ी = माया। पॉच हाथ = आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। पच्चीस = १ आकाश के साथ काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय। २. वायु के साथ-चलन, वलन, धावन, प्रसारण, सकोचन। ३ अग्नि के साथ--क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन। ४ जल के साथ--लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य। ५ पृथ्वी के साथ--हाड़, मास, त्वचा, नाड़ी, रोम। झोला = झुलाना। धक्का देना। जोग = सयोग। उचित। लोय = लोग। अंग = भाग। हिस्सा। बागुलि = बधन। (बागुर विसम तुराइ।--मानस)। दॉव = बाजी।

अर्थ—घर मे, मन मे द्वन्द्व बढ़ गया है। माया के अनुचर स्वय आपस मे युद्ध कर रहे है। सभी के पीछे चचल माया लग जाती है। झगड़े का मूल कारण स्त्रियॉ हैं। बड़ी स्त्री एक है। माया। इसके पॉच हाथ है। चतुर्भुज से एक हाथ आगे। इन पॉच हाथो के साथ पच्चीस तत्त्व है। इन पच्चीसो से दूसरो-दूसरो का भी ज्ञान होता है। वे भी दूसरो को बताते है। मतलब कि माया के अनत विस्तार है। माया के इस अनत विस्तार मे द्वन्द्व होता है। सभी जीव को झकझोरते है। धक्का देते है। सभी इद्रियॉ या दूसरे अपना-अपना भोग चाहते है। भला ऐसे मे कुशल कैसे संभव है ? किसी इद्रिय या माया प्रतिनिधि मे विवेक विचार नही है। सारे ससार के लोग केवल तमाशा देखते है। सभी अमीर-गरीब केवल हॅसने मे लगे है। इसी से कुछ भी पकड़ मे नही आता है। हॅसते हुए कुछ भी पकड़ मे नही आएगा। कबीर हॅसना दूरि कर रोवण सो कर मित्त। हॅस-हॅस कत न पाइए। अपने पास नही खोजते। चारो ओर तो बधन है। माया का बधन। शिकारी लाखो है। जीव अकेला है। यहॉ माया प्रतिनिधि शिकारी है। जीव शिकार है। अकेले घिरा जीव प्रिय प्रभु को पुकार रहा है। सत कबीर कहते है, हे प्रभु! अब की बार, इस जन्म मे सारे सचित कर्म चुक जायॅ। समाप्त हो जायॅ। भक्त का सब कुछ दॉव पर है।

बसंत ८

कर पल्लौ के बल खेलै नारि, पंडित होय सो लेय बिचारि।
कपड़ा न पहिरै रहै उघारि, निरजिव सो धनि अति पियारि।
उलटी पलटी बाजे तार, काहू मारै काहू उबार।
कहहि कबीर दासन के दास काहू सुख दे काहू निरास।

अर्थ—माया के हाथ पल्लव (हरे पत्तों) के समान कोमल है। अर्थ कि कोमलता माया है। अत्यत कोमल स्पर्श से माया ससार का खेल रचाती है। इस बात को विद्वान् ही समझ सकते है। माया स्वय आच्छादन है। इसलिये इसे किसी आच्छादन की जरूरत नही। नगी होकर अज्ञानियो (निरजिव) को प्यार करती है। ज्ञानी माया की नग्नता से प्रभावित नही होते। यह माया ससार, देह वाद्य को उलट-पुलट कर बजाती है। शरीर की नस नस मे समायी है। अज्ञानियो को मारती है। किंतु इसी माया आश्रय देह को आधार बनाकर ज्ञानी मुक्त होते है। भव चक्र से उबर जाते है।

सत कबीर प्रभु भक्तो के दास (दासनि के दास) है। इसी से माया उन्हे मुक्त करती है। सुख देती है और अज्ञानियो की ससार यात्रा को निराशामय करती है।

बसंत ९

ऐसो दुर्लभ जात शरीर, राम नाम भजु लागु तीर।
गए बेनु गए कंस, दुरजोधन गए बूड़ो बंस।
पृथु गए पृथिमी के राव, तिर विक्रम गए रहे न काव।
छव चकवै मंडलिक झारि, अजहुं हो नर देख बिचारि।
हनुमत कस्यप जनक बालि, ई सम छेकल जम के द्वार।
गोपीचंद भल कीन्ह जोग, रावन मरि गौ करते भोग।
ऐसो जात सभन्हि को जाम, कहिहँ कबीर भजु राम नाम।

बसंत १०

सबै मदमाते कोइ न जाग, सँगहि चोर घर मूसन लाग।

जोगी माते धरि जोग ध्यान, पंडित माते पढ़ि पुरान।
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते करि हमेव।
मोलना माते पढ़ि मुसाफ, काजी माते दै निसाफ।
संसारी माते माया के धार, राजा माते करि हंकार।
माते सुकदेव ऊधो अंकूर, हनुमत माने लै लंगूर।
सिव माते हरि चरन सेव, कलि माते नामा जयदेव।
सत्त सत्त कहै सुम्रित बेद, रावन मारो घर के भेद।
चंचल मन के अधम काम, कहहि कबीर भजु राम नाम।

शब्दार्थ—माते = अज्ञान मे डूबे। घर = हृदय। अत करण। चोर = विषय। मूसन = सद्वृत्तियो को नष्ट करना। भेव = भेद। हमेव = अहम् एव। मुसाफ (अ मुसहफ) = कुरान शरीफ। निसाफ = इन्साफ। काजी = न्यायाधीश। ससारी = विषयासक्त। धार = धारा। हकार = अहकार। अधो = कृष्ण सखा उद्धव। अकूर = अक्रूर। लगूर = पूँछ। नामा = मराठी सत नाम देव। सुम्रिति = स्मृति। घर के भेद = घर का भेदिया। विभीषण। काम = कार्य।

बसंत ११

सिव कासी कैसे भई तोहारि, अजहूँ हो सिव देखु बिचारि।
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुम्रिति होय पुरान।
बहु बिधि भवनन्हि लागु भोग, नगर कोलाहल करत लोग।
बहु बिधि परजा लोग तोर, तेहि कारन चित्त दीठ मोर।
हमरे बलकवा के इहै ग्यान, तोहरा के समुझावै आन।
जे जाहि मनसे रहल आय, जीव को मरन कहुँ कहाँ समाय।
ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोस नहि साहेब लाज।
हर हरषित सों कहल भेव, जहाँ हम तहाँ दूसर न केव।
दिना चारि मन धरहु धीर, जस देखैं तस कहहि कबीर।

शब्दार्थ—परजा लोग तोर = शिव आपकी प्रजा। दीठ = दीखता है। हमरे बलकवा = मुझ बाल बुद्धि। कहु = कहाँ। अकाज = अगति। कुगति। ताहि दोस नहि = उसका दोष नही। साहेबलाज = प्रजा की अगति साहब अर्थात् स्वामी शिव के लिये लज्जा की बात है। केव = कोई। तहाँ दूसर न = एक शिव। अनन्य शिव।

बसंत १२

हमरा कहल के नहि पतियार, आपु बूड़े नर सलिल धार।
अंधा कहै अंधा पतियाय, जस बिसुवा के लगन धराय।
सो तो कहिए ऐसी अबूझ, खसम ठाढ़ ढिग नाही सूझ।
आपन आपन चाहै मान, झूठ प्रपँच साँच करि जान।
झूठा कबहूँ न करिहै काज, हौ बरजौं तोहि सुनु नीलाज।
छाँड़हु पाखंड मानहु बात, नाहि तौ परिहौ जम के हाथ।
कहहि कबीर नर कियहु न खोज, भटकि मुवल जस बन के रोझ।

शब्दार्थ—पतियार = विश्वास करने वाला। सलिल धार = भव सागर। विषय प्रवाह। अधा = अज्ञानी। बिसुवा = वेश्या। लगन धराय = विवाह की तिथि निश्चित करना। खसम = प्रभु। ढिग = पास। मान = अभिमान। प्रतिष्ठा। बरजौ = रोकता हूँ। नीलाज = निर्लज्ज।

रोझ = पशु। नील गाय।

टिप्पणी—जैसे वेश्या के विवाह का कोई लग्न नही। क्योकि वेश्या का विवाह नही होता। इसी प्रकार अज्ञानी के कहने से अज्ञान नही जा सकता है।

चाँचर

होली की धुन मे गाया जाने वाला चौदह या सोलह मात्राओ वाला गान। इसे स्त्री और पुरुष दो दलो मे बँट कर प्रतियोगिता के रूप मे गाते है।

खेलति माया मोहिनी जिन्ह जोर कियो संसार।
कटि केहरि गजगामिनी, संसै कियो सिगार।
रच्यो रंग ते चूनरी कोइ, सुंदरि पहिरे आय।
सोभा अद्‌बुद रूप की, महिमा बरनि न जाय।
चंद्रबदनि मृग लोचनि माया, बुंदका दियो उधार।
जती सती सभ मोहिया, गज गति वाकी चाल।
नारद को मुख माड़ि कै, लीन्हों बदन छुड़ाय।
गरभ गहेली गरभ ते, उलटि चली मुसकाय।

शब्दार्थ—जेर = पराजित। केहरि = सिह। ससै कियो सिगार = सशय ही उसका शृगार है। प्रभु की सत्ता मे श्रद्धा नही। सशय (संशयात्मा विनश्यति)। रग = १ तीन गुण। २ सृष्टि के विभिन्न रग। चूनरी = १ ससार। २ शरीर। सुदरि = जीव। बुदका=१ बिदी। २ सृष्टि चिह्न। उधार = स्पष्ट कर दिया। प्रगट किया। नारद के मुख माड़ि कै = नारद की स्वाभाविक शोभा नष्ट कर बंदर का मुख बना दिया। वदन छुड़ाय = मुख छीन लिया।

सिव सन ब्रह्मा दौरि कै, दोऊ पकरै जाय।
फगुआ लियो छिनाय कै, बहुरि दियो छिटकाय।

शब्दार्थ—सन = सनक सनदन आदि। दोऊ = दोनो पैर।

अर्थ—शिव के समान ब्रह्मा ने भी माया को दौड़ कर पकड़ लिया। सन का अर्थ सनकादि करने मे दोऊ बाधक है। सनकादि अर्थ करने पर दोऊ का अर्थ दोनो पैर या हाथ करना होगा। फागुन मे उन्हे छीन लिया। साधना से, वैराग्य से विमुख कर दिया। पुन छिटका दिया का अर्थ है उनकी साधना खत्म कर उन्हे बेकार कर दिया। क्योकि माया सदा किसी को सुख नही देती है।

अनहद धुनि बाजा बजे, स्रवन सुनत भौ चाव।
खेलनिहारा खेलिहै, जैसी वाकी दाँव।
ग्यान ढाल आगे दियो, टारै टरै न पाँव।
खेलनिहारा खेलिहै, बहुरि न ऐसो दांव।
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्ता ब्यास।
सनक सनंदन हारिया, और की केतिक बात।

अर्थ—माया से वही खेल सकता है जिसके हृदय मे अनाहत ध्वनि का बाजा बज रहा है। जेसमे इस ध्वनि को सुनने की इच्छा है। माया दॉव से, खेलने वाला, श्रेष्ठ साधक ही खेल सकता है। सबके बस का रोग नही है। इसके लिये ज्ञान के ढाल को आगे रखना होगा। तब माया के प्रयत्न करने पर भी पैर नही डिगेगे। किंतु कोई साधक (खेलनिहारा) पुन यह दॉव नही खेलेगा। क्योकि माया से खेलना खतरनाक है। इस खेल मे सुर, नर, मुनि, देवता, गोरखनाथ, दत्तात्रेय, महर्षि व्यास, सनक सनद भी हार चुके है। दूसरो की तो बात ही क्या

है?

छिलकत थोथे प्रेम सों, धरि पिचकारी गात।
करि लीन्हों बसि आपने, फिरि फिरि चितवत जात।
ग्यान गाड़ लै रोपिया, त्रिगुन लियो है हाथ।
सिव सन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात।

अर्थ—माया का प्रेम नकली, थोथा होता है। थोथे प्रेम की पिचकारी से माया रंग छोड़ती है। इसी से उसने सब को बस मे कर लिया है। फिर फिर कर अपना प्रभाव देखती है। ज्ञान को गड्ढे मे डाल दिया है। रोपिया, आरोपित कर दिया है। बधन के लिये एक गुण ही काफी था। उसके हाथ मे तो तीन गुण है। इन गुणो से तो उसने शिव, सनकादि, ब्रह्मा को भी ले लिया है। औरो की तो बात ही क्या है ?

एक ओर सुर नर मनि ठाढ़े, एक अकेली आपु।
द्रिष्टि परे उन काहु न छाँड़े, कै लीन्हों एक धाप।
जेत थे तेते लिये, घूँघट माँहि समोय।
काजर वाकी रेख है, अदग गया नहि कोय।
इन्द्र कृस्न द्वारे खड़े, लोचन ललचि लचाय।
कहहि कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।

अर्थ—एक तरफ देवता, नर और मुनि खड़े है। चाँचर के दूसरे दल मे माया अकेली है। देख लेने पर वह किसी को नही छोड़ती। एक ही दौड़ (धाप) मे वह सब को पकड़ लेती है। सब को उसने अपने घूँघट मे समा लिया है। काजल ही उसकी पहचान (रेखा) है। उसकी काजल रेखा से कोई वेदाग नही छूटा। माया से वेदाग छूटना कठिन है। लालच मे आँखे नचाते इन्द्र और कृष्ण भी उसके दरवाजे पर खड़े है। माया से मोहरहित व्यक्ति ही मुक्त हो सकता है। मोह ही माया है।

चाँचर २

जारो जग को नेहरा मन बौरा हो।
जामे सोग संताप समुझ मन बौरा हो।
तन धन सों का गर्वसी मन बौरा हो।
भसम किरिम जाके साज मन बौरा हो।
बिना नवे का देवघरा मन बौरा हो।
बिनु कहगिल की ईट समुझ मन बौरा हो।
कालबूत की हस्तिनी मन बौरा हो।
चित्र रचो जगदीस समुझ मन बौरा हो।
काम अंध गज बसि परे मन बौरा हो।
अंकुस सहिया सीस समुझ मन बौरा हो।
मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो।
लीन्हो भुजा पसारि समुझ मन बौरा हो।
छूटन की संशय परी मन बौरा हो।
घर घर नाचेउ द्वार समुझ मन बौरा हो।
ऊँच नीच जानेउ नही मन बौरा हो।
घर घर खायउ डांग समुझ मन बौरा हो।

जौं सुवना ललनी गह्यौ मन बौरा हो।
ऐसो भरम विचार समुझ मन बौरा हो।
पढ़े गुने का कीजिए मन बौरा हो।
अंत बिलैया खाय समुझ मन बौरा हो।
सूने घर का पाहुना मन बौरा हो।
ज्यौ आवै त्यौ जाय समुझ मन बौरा हो।
नहाने को तीरथ घना मन बौरा हो।
पूजन को बहु देव समुझ मन बौरा हो।
बिनु पानी नर बूड़िहो मन बौरा हो।
टेकहु नाम जहाज समुझ मन बौरा हो।
कहँहि कबीर जग भरमिया मन बौरा हो।
छाँड़ेहु हरि की सेव समुझ मन बौरा हो।

शब्दार्थ—नेहरा = स्नेह। जामे = जिसमे। सोग = शोक। किरिम = कृमि। क्रीड़ा। नेव = नीव। शून्य। देवघरा = १ सृष्टि। २ देह। कहगिल = ईट जोड़ने के लिये गारा। ईट = शरीर। सृष्टि। कालबूत = नकली या वह कच्चा भराव जिस पर महराव बनाई जाती है। नाशवान। हस्तिनी = हाथी सा भारी या बड़ा। चित्र = ससार। अकुस = तृष्णा का दुख। मरकट = बदर। मरकट मूठी स्वाद =वानर लोभ से घड़े मे हाथ डालता है। डालते समय हाथ खाली रहता है। बाद मे वह वस्तु को पकड़ कर मुट्ठी बाँधता है। फलत घड़े के अत्यत सँकरे मुँह मे उसका हाथ फँस जाता है। लोभ मे न वस्तु को छोड़ पाता है। न हाथ निकल पाता है। केवल दुखी होता है। इसी दुविधा दुख मे काल मदारी द्वारा पकड़ लिया जाता है। डाग (< स दड) = डडा। लाठी। सुवना ललनी गहयौ = ललनी का अर्थ है नली। बाँस की नली मे एक पतली छड़ी लगती ही है। फलत उस नली पर बैठते ही सुग्गा उलट जाता है। ऊपर से नीचे चला आता है और लटका रहता है। इसी बीच काल रूपी बिल्ली उसे पकड़ लेती है। सुग्गा जीव और लटकना विषयासक्ति है। सूने घर का पाहुना = इस देह ससार घर मे जीव अतिथि है। उसे लौटना होगा। वह सदा यहाँ रहने नही आया है। किंतु यहाँ आकर विषयो मे रहने का मतलब है गृह स्वामी भगवान् से अपरिचय। फलत ससार आगमन व्यर्थ हो गया। सूने घर से जैसे अतिथि बिना स्वागत पाए लौट जाते है। वैसे ही जीव लौट जाता है। उसका मानव जन्म व्यर्थ हो जाता है। निर्गुण सृष्टि।

बिनु पानी = बिना भक्ति जल-प्रवाह के।

बेलि १

हंसा सरवर-सरीर मे हो रमैया राम।
जागत चोर घर मूसला हो रमैया राम।
जो जागल सो भागल हो रमैया राम।
सोवत गैल बिगोय हो रमैया राम।
आजु बसेरा नियरे हो रमैया राम।
काल्हि बसेरा दूरि हो रमैया राम।
जैहो बिराने देस हो रमैया राम।
नैन मरहुगे झूरि हो रमैया राम।
त्रास मथन दधि मथन कियो हो रमैया राम।

भवन मथेउ भरिपूरि हो रमैया राम।
फिर हंसा पाहु भयो हो रमैया राम।
बेधिन पद निरवान हो रमैया राम।
तुम हंसा मन मानिक हो रमैया राम।
हटलो न मानेहु मोर हो रमैया राम।
जस रे कियहु तस पायहु हो रमैया राम।
हमरे दोस जनि देहु हो रमैया राम।
अगम काटि गम कियहु हो रमैया राम।
सहज कियहु बैपार हो रमैया राम।
राम नाम धन बनिज कियहु हो रमैया राम।
लादेहु बस्तु अमोल हो रमैया राम।
पाँच लदनुवा लादि चले हो रमैया राम।
खाँखरि डारिनि फोरि हो रमैया राम।
सिर धुनि हंसा उड़ि चले हो रमैया राम।
सरवर मीत जोहारि हो रमैया राम।
आगि जो लागी सरवर में हो रमैया राम।
सवर जरि भौ धूरि हो रमैया राम।
कहहि कबीर सुनु संतो हो रमैया राम।
परखि लेहु खरा खोट हो रमैया राम।

शब्दार्थ—बेलि = सृष्टि लता। माया विस्तार। हसा = जीव। सरवर = शरीर। जागत = माया मे रहना। चोर = काल। घर = गृह सपत्ति। सद्वृत्तियॉं। जीवन। जागल = सद्वृत्तियो का जागरण। सोवत = माया बद्ध होना। भागल = विषय वासना का नाश। बिगोय = नष्ट होना। नियरे = शरीर मे। मानव देह मे। जिस देह द्वारा प्रभु प्राप्ति निकट है। काल्हि = मृत्यु के बाद। दूरि = प्रभु प्राप्ति की सभावना कठिन है। बिराने देस = अपरिचित देश। धूरि = निराशा। त्रास मथन = कालभय की मथानी। दधि मथन = जीवन सागर को मथ रहा है। भवन = १. संसार। २ देह। ३ हृदय। मन। हसा = आत्मा। पाहु = अतिथि। बेधिन = १ वेध्य। शोध किया है। २ छोड़ दिया है। बेधिन पद निरवान का अर्थ निर्वाण पद का ज्ञान प्राप्त करना उचित लगता है। सामान्य अर्थ है निर्वाण पद को छोड़ दिया है। मन मानकि = मन द्वारा आकाक्षित माणिक्य। तुम हसा मन मानिक = हे मुक्तात्मा, तुम मन द्वारा बाछित माणिक्य जैसी सुदर वस्तु। मन तुम्हे ही प्राप्त करना चाहता है। यह मन माणिक्य निर्वाण पद के शोध से ही प्राप्त होता है। हट लो = वर्जित करना। रोकना। हमरे = सद्गुरु या साधक। अगम = अगम्य परमात्मा। काटि = छोड़ कर। गम्य = १ सांसारिक वस्तु। मायोत्पन्न। २ सगुण परमात्मा। सहज = सहज की साधना। बैपार = व्यापार। साधना। पॉंच लदनुवा = पच विषय या पच महाभूत। नौ बहिया = मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार एव पॉंच प्राणो का वहन किया। गोनि = १. थैली। २ शरीर। दस गोनि = १ दस इंद्रियॉं। जिनसे विषयो का सेवन होता है। इद्रियॉं विषयो का थैला है। २ दस दिशाऐं। खॉंगि परे = नष्ट हो गये। खॉंगि खज से व्युत्पन्न जान पड़ता है। खज का अर्थ है लगड़ा। जिन लदनियो पर विषय सुख लादता था वे आधार नष्ट हो गये। असमर्थ हो गए। अब उन पर विषयो का लादना नही होगा। खॉंखरि = खोपड़ी। मृत्यु के बाद सब की कपाल क्रिया होती है। इसमे कपाल को बॉंस से तोड़ दिया जाता है। शायद इसलिये कि बची-खुची वासनाऍं निकल जायँ। आग मे जल जायँ। सिर धुनि =

अफसोस कर। परमात्मा की प्राप्ति न कर विषयो मे आसक्त रहने का अफसोस। सरवर मीत = इस शरीर या ससार के मित्र, कुटुम्बी। जोहारि = अतिम प्रणाम। सरवर = शरीर और ससार जहॉ विषय जल रहते है। जहॉ विषय रहित जल भी रह सकते है।

बेलि २

भल सुप्रिति जहड़ायहु हो रमैया राम।
धोखे कियहु विसवास हो रमैया राम।
सो तो है वन सीकसी हो रमैया राम।
सो रे कियहु विसवास हो रमैया राम।
ई तो है वेद भागवत हो रमैया राम।
गुरु दीहल मोहि थापि हो रमैया राम।
गोयर कोटि उघाए हो रमैया राम।
परिहरि जेवहु खेत हो रमैया राम।
तहॉं खोज कस होई हो रमैया राम।
सो सुनि मन धीरज भयल हो रमैया राम।
मन बढि रहल लजाय हो रमैया राम।
कालबूत सब आहि हो रमैया राम।
कहहि कवीर सुनो संतो हो रमैया राम।
मत बुधि मति फैलावहु हो रमैया राम।

अर्थ—इनके अर्थ दो प्रकार से लगते है। १ स्मृतियो ने लोगो को धोखा दिया। लोगो ने उन धोखो का विश्वास किया। किंतु वे तो वन के समान हैं (शब्द जाल महारण्य—विवेक चूड़ामणि)। सीकस का अर्थ है ऊसर। शास्त्र ऊसर वन है। इनसे कुछ नही मिल सकता है। वेद, भागवत आदि अपूर्ण, भ्रामक है।

२ दूसरा अर्थ माया ने शास्त्रो को भी धोखा दिया। शास्त्रो ने भी माया के धोखे को विश्वास किया। फलत शास्त्र स्वय माया वन गए। वे मुक्ति साधन नहीं रह सके। सद्गुरु का दिया ज्ञान ही सही ज्ञान है। गुरु ज्ञान द्वारा ही स्थापित, स्थिर हुआ। विपय मुक्त हुआ। यह शरीर गोवर, मलो का ऊँचा किला (कोट) है। इस शरीर क्षेत्र (खेत) को छोड़कर जाना होगा। गोवर सा जलना होगा। वहॉ (यम द्वार मे) बुद्धिवल की पहुँच नही है। वहाँ साधना सभव नही। विना साधना के प्रभु की खोज कैसे होगी ? यह सुनकर मन मे धैर्य हुआ। लज्जा भी आयी कि मैने साधना नही की है। अब पीछे (ससार में) मुड़ कर मत देखो। यह शरीर, यह ससार कालबूत के समान केवल सहारे के लिये है। इसके सहारे से साधना होती है। प्रभु प्राप्ति होती है। किंतु ये स्वय साध्य नही है। ये तो स्वय कच्चे हैं। सत कबीर कहते है। अब मन और बुद्धि को दौड़ाना व्यर्थ है।

बिरहुली

आदि अंत नहि होत बिरहुली, नहिं जर पल्लौ पेड़ बिरहुली।
निसु बासर नहि होत बिरहुली, पौन पानी नहि मूल बिरहुली।
ब्रह्मादिक सनकादि बिरहुली, कथि गेल जोग अपार बिरहुली।
मास असाढे सीतल बिरहुली, बोइन सातो बीज बिरहुली।
नित कौड़े नित सीचै बिरहुली, नित नव पल्लौ पेड़ बिरहुली।

छिछिल बिरहुली छिछिल बिरहुली, छिछिल रहलि तिहुँ लोक बिरहुली।
फूल एक भल फूलल बिरहुली, फूलि रहल संसार बिरहुली।
सो फूल लोरें संत जना बिरहुली, बंदि के राउर जाहिं बिरहुली।
सो फूल बंदहि भक्त बिरहुली, डसि गैल बैतल साँप बिरहुली।
वियहर मंत्र न मान बिरहुली, गारुड़ि बोलै अपार बिरहुली।
बिष की कियारी बोय्हु बिरहुली, लोढ़त को पछिताहु बिरहुली।
जनम जनम जम अंतर बिरहुली, फल एक कनयर डार बिरहुली।
कहहिं कबीर सचु पाव बिरहुली, जो फल चाख्हु मोर बिरहुली।

अर्थ—बिरहुली = सासारिक जीव। हे जीव, ब्रह्म, माया किसी का भी आदि अंत नही है। न जड़, न पेड़, पल्लव। सव अवयव रहित है। हवा, पानी आदि मूल नही है। ब्रह्मादि देवता और सनकादि सतो ने अपार योग कहा है। इस योग से योगी हो माया और ब्रह्म के मनादि, अखड एव त्रिकाला वाधित स्थिति का ज्ञान होता है।आषाढ वर्षारभ और विषय गर्मी से शीतलता का महीना है। मतलव कि ब्रह्म या माया शात मन से सृष्टि के सात बीज रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, बुद्धि, अहकार बोते है। ब्रह्म माया को माध्यम वना कर सब करता है। स्वय अक्रिय रहता है। रोज कोड़ता, सीचता है। तव जगत वृक्ष मे पल्लव आते है। तीनों लोक छिछला, छितराया है। इसमे माया का, जीवन का, सत का एक फूल लगता हैं। यह संसार ही फूल है। इस फूल को सत जन लोढ़ते है। प्राप्त करते है। यह फूल भगवान को समर्पित करते है। इसी फूल से भक्त भी बदगी करते है। सब को भयानक तृष्णा या माया साँप ने डँस लिया है। इस मत्र को मात्रिक नही दूर कर सकता है। मात्रिक इसे अपार कहता है। ऐ जीव, तुमने माया विष की खेती की है। अब उसका फल प्राप्त करने मे पछताते हो। हर जन्म मे यम भेद पैदा कर रहा है। मृत्यु योनियाँ वदल रही है। नुकीले और कनेर की डाल के समान संसार फल कटु है। सत कवीर कहते है। सुख तभी होगा जब मेरे फल परमात्म फल को चखोगे।

टिप्पणी—बिरहुली मे मात्र १३ पक्तियाँ है। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अनेक प्रतियो मे यह नही है। बिरहुली को माया या विरही जीव कहते है। इसका अर्थ विरह भी है। सॉपिनी भी। इसे साँप विष उतारने के मंत्र से भी सम्बद्ध मानते है। यह बगाल की सती साध्वी विहुला से भी सम्बद्ध है। बगाल के सती बिहुलाने अपने पति को सर्प की पत्नी को मना कर जीवित कर लिया था। वगाल मे बिहुला देवी की पूजा होती है।

हिंडोला

भरम हिंडोला झूले सभ जग आय।
पाप पुन्न के खंभा दोऊ, मेरु माया मांहि।
लोभ भौंरा, विरवै मरुवा, काम कीला ठानि।
शुभ अशुभ बनाए डांडी, गहे दूनो पानि।
करम पटरिया बैठि के, को-को न झूलै आनि।
झूलत गन गंधर्व मुनिवर, झूलत सुरपति इंद्र।
झूलत नारद सारदा, झूलत बेयास फनिंद्र।
झूलत बिरंचि महेश सुख मानि, झूलत सूरज चंद।
आप निरगुन सरगुन होय झूलिया गोविंद।

शब्दार्थ—मेरु = हिडोले के चक्र का डडा। भौरा = हिडोले के चक्र को घुमाने वाला यंत्र। मरुवा = जिसमे हिडोला लटकाया जाता है। कीला = कील खूँटी। ठानि = स्थापित किया।

डांडी = चार सीधी लकड़ियाँ या डोरी जिनमे बैठने के लिये लकड़ी लटकती रहती है। पटरिया = बैठने का आसन।

छौ चारि चौदह सात इकइस तीनि लोक बनाय।
खानी बानी खोजि देखहु फिर न कोउ रहाय।
खंड ब्रह्मांड षट दरसना छूटत कतहूँ नाहि।
साधु संत विचारि देखहु जीव तरि कँह जाहि।
रैनि दिवस न चंद सूरज तहाँ तत्त पल्लौ नाहिं।
काल अकाल प्रलै नाही तहाँ संत विरलै जाहि।
तहाँ के बिछुरै बहु कलप बीते भूमि परे भुलाय।
साधु संगति खोजि देखहु बहुरि उलटि समाय।
यह झूलिबे की भय नही जो होंहि संत सुजान।
कहँहि कबीर सत सुक्रित मिलै तो बहुरि न झूलै आय।

शब्दार्थ—छ छ = छ शास्त्र या दर्शन। चार = वेद। चौदह = भुवन। सात = सप्त द्वीप। इकइस = सात द्वीप एव चौदह भुवन। तीन = लोक। खानी = चार प्रकार की जीवोत्पत्ति। बानी = चार प्रकार की वाणी। कल्प = ब्रह्मा का एक दिन। इसमे १४ मन्वन्तर होते हैं। ४३२००-००००० वर्ष होते है।

बहु बिधि चित्र बनाय के हरि रच्यो क्रीड़ा रास।
जाहि न इच्छा झूलिवे की ऐसी बुद्धि केहि पास।
झूलत झूलत बहु कल्प बीते मन नहि छोड़े आस।
रच्यो हिंडोला अहो निसि चारि जुग चौमास।
कबहुँ ऊँचे कबहुँ नीचे सरग भूमि ले जाय।
अति भरमत भरम हिंडोलना नेकु नही ठहराय।
डरपत हौं यह झूलिबे को राखु जादव राय।
कहहिं कबीर गोपाल बिनती सरन हरि तुव आय।

शब्दार्थ—चित्र = ससार। जादव राय = कृष्ण। रच्यो क्रीड़ा रास = यह सृष्टि भगवान की रास, रस, रसिक क्रीड़ा, लीला है।

लोभ मोह के खंभा दोऊ मन से रच्यो हिंडोर।
झूलहि जीव जहान जहँ कतहूँ नहीं थिति ठौर।
चतुरा झूलहि चतुराइया झूलहि राजा सेस।
चाँद सूरज दोऊ झूलहि उनहु न अग्या भेव।
लख चौरासी जीव झूलहि रविसुत धरिया ध्यान।
कोटि कल्प जुग बीतल, अजहुँ न मानै हान।
धरति अकास दोऊ झूलहि झूलहि पवना नीर।
देह धरे हरि झूलति ठाढे देखहि हंस कबीर।

रमैनी

सृष्टि क्रम

(१)

जीव रूप यक अन्तर-वासा, अन्तर ज्योति कीन्ह परगासा।
इच्छा रूप नारि अवतरी, तासु नाम गायत्री धरी।
तेहि नारि के पुत्र तिन भयऊ, ब्रह्मा विष्णु महेश नाम धरेऊ।
तब ब्रह्मा पूछल महतारी, को तोर पुरुष काकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई, तुम मोर पुरुष हमै तोरि जोई।
साखी—बाप पूत की एकै नारी, ओ एकै माय बिआय।
ऐसा पूत सपूत न देख्यो, जो बापै चीन्है धाय॥

अर्थ—एक ब्रह्म या मूल शक्ति सभी जीवो के अतर (हृदय) मे निवास करता है। वह ज्योति स्वरूप है तथा सभी उसी की ज्योति से प्रकाशित है। वह एक अपनी इच्छा से (स्वेच्छया) नारी के रूप मे अवतरित हुआ। उसका नाम गायत्री हुआ। इस गायत्री स्त्री के ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक तीन पुत्र हुए। ब्रह्मा ने माँ से पूछा—तुम्हारा पुरुष कौन है ? तुम किसकी स्त्री हो ? उस स्त्री ने उत्तर दिया—तुम और हम, हम और तुम दूसरे नही है। तुम्ही मेरे पुरुष हो और मै ही तुम्हारी पत्नी हूँ।

पिता पुत्र की स्त्री एक है। दोनो एक ही माँ से जन्मे है। ऐसा सपूत पुत्र नही देखा जो पिता से दौड़कर उसका परिचय पूछे।

टिप्पणी—'एक' का अर्थ है वह मूल या सनानन शक्ति जो सृष्टि और प्रलय सभी अवस्थाओ मे एक रूप रहती है। विस्तार और सकोच दोनो ही उसकी इच्छा से होते है। यह एक ही (स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्व उन्मीलियति—प्रत्यभिज्ञाहृदय) अपनी इच्छा से विश्व उन्मीलन करता है। उपनिषदो, पुराणो आदि मे इस एक की चर्चा बार-बार आई है। कठोपनिषद् (२,२, १२-१३) मे कहा गया है कि जो एक, सबको अपने अधीन रखनेवाला और सपूर्ण भूतो का अतरात्मा अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार का कर लेता है (एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा, एक रूप बहुधा य करोति)। श्वेताश्वरोपनिषद् मे एक ही देव को सर्वभूतो मे गूढ़, सर्वव्यापी और सभी भूतो की आत्मा कहा गया है (एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ६।११)।

गायत्री यहाँ प्रकृति, प्रधान या माहामाया के लिये आया है। गायत्री सपूर्ण वेदो का मूल है। अत त्रिगुणात्मक है। इसीलिये इसके तीन गुणो वाले तीन पुत्र हुए। देवी भागवत मे गायत्री को ब्रह्मादि का भी कारण कहा गया है। यह महापिद्या, महामाया, पूर्ण एव अव्यय प्रकृति भी है (एषा भगवती देवी सर्वेपा कारण हि न। महाविद्या महामाया पूर्णा प्रकृतिरख्यया)। इसे ही पराशक्ति भी कहा गया है (श्वेता०६।८)। जीव रूप मे अतर मे निवास करने वाला स्वय ईश्वर है। गीता मे कहा गया है कि हे अर्जुन, ईश्वर सभी जीवो के भीतर स्थित है। वही यत्रवत सबका सचालन करता है—

ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यत्रारुढानि मायया॥१८।६१॥

गीना मे ही श्रीकृष्ण ने कहा है कि महद ब्रह्म मेरी योनि है जिसमे मै गर्भ स्थापन करता

हूँ। तभी सभी भूतो की उत्पत्ति होती है। सभी योनियो मे मूर्तियाँ उत्पन्न होती है,बीज डालने-वाला पिता मै ही हूँ–

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भ दधाम्यहम्।
सभव सर्वभूताना ततो भवति भारत ॥१४।३॥
सर्वयोनिपु कौन्तेय मूर्तय सभवन्ति य ।
तासा ब्रह्म महद्योनिरह वीज प्रद पिता ॥१४।४॥

लोगो ने महद् ब्रह्म का अर्थ प्रकृति किया है। कितु ब्रह्म की योनि होने के कारण वह भी ब्रह्म रूप ही है।

(२)

अन्तर जोति सब्द यक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।
ते तिरिये भग लिग अनन्ता, तेऊ न जानै आदिउ अंता।
बाखरि एक विधातै कीन्हा, चौदह टहर पाट सो लीन्हा।
हरिहर ब्रह्मा महतो नाऊँ, तिन्ह पुनि तीनि बसावल गाऊँ।
तिन्ह पुनि रचल पिड ब्रह्मंडा, छव दरसन छानवे पाखंडा।
पेटे न काहू वेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुक नहि आया।
नारी मोचित गर्भ प्रसूती, स्वाँग धरै बहुतै करतूती।
तहिया हम तुम एकै लोहू, एकै प्रान वियापै मोहू।
एकै जनी जना संसारा, कौन ग्यान ते भयो निनारा।
भौ बालक भग द्वारे आया, भग भोगे ते पुरुष कहाया।
अविगत की गति काहु न जानी, एक जीभि कत कहउँ बखानी।
जौ मुख होय जीभि दस लाखा, तौ कोइ आय मंहतो भाखा॥
साखी—कहहि कबीर पुकारि के, ई लयऊ व्यौहार।
राम नाम जाने बिना, भव बूड़ि मुवा संसार॥

शब्दार्थ—अन्तर जोति सब्द = हृदय मे प्रकाशित सृष्टि शब्द। एक नारी = महामाया। प्रकृति। तिरिये = स्त्री। महामाया। बाखरि = ससार। घर। ब्रह्माण्ड। टहर = ठहर। पाट = भाग। छानवे पाषड = योगी १२, जगम १८, शेवड़ा २४, सन्यासी १०, दरवेश १४, ब्राह्मण १८। स्वाँग धरै = वेश बनाना। सृष्टि रचना की विविधता। निनारा = न्यारा। अलग अलग। भौ = भव। ससार। भग = योनि। ऐश्वर्य। महतो = महत्ता।

अर्थ—हृदय या अतरात्मा शब्द सृष्टि प्रकाश हुआ। उस शब्द का स्फुरण हुआ जो सृष्टि का मूल है। यह शब्द सृष्टि एक स्त्री जैसा है। इसे प्रकृति या महामाया कहना चाहिए। इससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश पैदा हुए। इसी महामाया स्त्री के अनत भगलिग वाले अनत स्त्री-पुरुष पैदा हुए। मतलब की पूरी सृष्टि मायामयी है। जिसने पैदा किया है वह महामाया भी इस सृष्टि का आदि अत (रहस्य) नही जानती। इसलिये कि वह स्वय चैतन्य नही है। विधाता ने ब्रह्माण्ड रूप एक घर वनाया है। इस १४ भुवनो के ठहराव वाले भाग है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव महात्माओ ने तीन लोको का गॉव बसाया है। उन्होने ही व्यष्टि और समष्टि ब्रह्माण्ड की रचना की है। उसी मे छ दर्शन (न्याय, वैशेषिक, वेदात, मीमासा, साख्य, योग) एव छ्यानवे पाषडो की रचना की है। (यहाँ छ दर्शन और ९६ पाषड निदा सूचक हैं)। कोई भी व्यक्ति माँ के पेट मे ही वेद नही पढ़ता है। (अत वेद पढ़ने की सुविधा सबको होनी चाहिए)। कोई मुसलमान सुन्नत कराकर पैदा नही होता है। (अत सुन्नत कराने मात्र से कोई मुसलमान नही हो जाता है । ये प्रकृत नही, कृत्रिम प्रक्रियाएँ हैं)। प्रसूती स्त्री गर्भ मोचन द्वारा अनेक प्रकार की सृष्टि करती है।

अनेक प्रकार के जीव गर्भ से पैदा होते है।

किंतु सृष्टि के पूर्व पुरुष और प्रकृति, स्त्री और पुरुष मे अभेद था। दोनो एक थे। एक ही रक्त, एक ही प्राण था। एक ही मोह व्याप्त था। स्त्री-पुरुष के मोह भिन्न नही थे। अत कोई किसी को देखकर मोहित नही होता था। एक ही प्रकृति ने सबको पैदा किया है। यह भेद भाव पता नही किस ज्ञान का फल है? सभी बालक इस ससार मे भग के रास्ते ही आते है। भग को भोगनेवाला पुरुष कहा जाता हे। उस पुरुष या सृष्टि रचना विधान को कोई नही जानत। एक जीभ से उसका बखान भी सभव नही। दस लाख जीभ हो तो उसकी महत्ता का वर्णन हो सकता है।

कबीर पुकारकर कहते है यह, वह ये सब सासारिक व्यवहार है। परमार्थत तो सब एक है। राम नाम के ज्ञान के बिना सारे ससार के लोग इस भव सागर मे नष्ट हो रहे है।

(३)

प्रथम अरंभ कौन को भैऊ, दूसर प्रगट कीन्ह सो ठैऊ।
प्रगटे ब्रह्मा विष्णु सिव सत्ती, प्रथमहि भक्ति कीन्ह जिउ उक्ती।
प्रगटे पवन पानी औ छाया, बहु विस्तार कै प्रगटी माया।
प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा, प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा।
प्रगटे सिध साधक संन्यासी, ई सब लागि रहे अविनासी।
प्रगटे सुर नर मुनि सब झारी, ताही खोज परे सब हारी॥
साखी–जीव सीव सब प्रगटे, वै ठाकुर सब दास।
कबीर और जानै नही, यक राम नाम की आस॥

अर्थ–इस सृष्टि का आरभ किससे हुआ ? दूसरा किसने इसे स्थिर किया ? ब्रह्मा, विष्णु शिव और शक्ति पहले पैदा हुए। उन्होने अपने को जीव मानकर भक्ति की। अथवा उन्ही जीव ने शब्द (उक्ति) द्वारा प्रथम आराधना (भक्ति) की। उसके बाद पानी, पवन, छाया (तिज) और बहु विस्तार वाली माया प्रगट हुई। अड (व्यष्टि) और ब्रह्माड के साथ ही पृथ्वी प्रगट हुई। इस पृथ्वी के नव खड (भारत, इलावृत, किपुरुष, भद्र,, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रम्य, कुश) पैदा हुए। अविनाशी सिद्ध, साधक और सन्यासी, सुर, नर, मुनि समूह (झारी) पैदा हुए। ये उस ब्रह्म को खोजकर हार गये (शायद इन्होने ब्रह्म को भीतर नही बाहर खोजा)।

जीव और शिव या कल्याण जीव सब प्रगट हुए। ब्रह्म स्वामी है और सभी जीव दास है। कबीरदास और कुछ नही जानते। उन्हे एक राम नाम की आशा है।

(४)

(रमणादि निरूपण)

प्रथम चरन गुरु कीन्ह विचारा, करता गावै सिरजनहारा।
करमै कै कै जग बौराया, सक्ति भक्ति लै बाँधिनि माया।
अद्‌बुद रूप जाति की बानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी।
गुनी अनगुनी अर्थ नहि आया, बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।
जो चीन्हे तेहि निर्मल अंगा, अनचीन्हे नर भए पतंगा॥
साखी–चीन्ह चीन्ह का गावहु बौरे, बानी परि न चीन्ह।
आदि अंत उतपति प्रलै, अपुहि कै कै लीन्ह॥

अर्थ–रचना के प्रथम चरण अर्थात् आरभ मे ही गुरुदेव ने विचार किया। सृष्टि रचने-वाले कर्ता पुरुष का गान होना चाहिए। सारा ससार फल की आशा मे कर्म (कर्मकाड) कर-करके

पागल हो रहा है। शाक्तो और भक्तो को भी माया बॉधे है। वे भी माया के वधन मे है। बानी अर्थात् शब्द की जाति अद्‌भुत है। शब्द के प्रभाव को देखकर ही प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। इससे रमैनी की रचना का निश्चय किया है।

गुणी-अगुणी अर्थात् विद्वान्, अविद्वान्, किसी को इसका अर्थ समझ मे नही आया। वहुत तो इसे पहचान भी न सके। जो सभी प्रकार से शुद्ध और स्वच्छ थे वे ही इसे पहचान सके। अर्थात् जो बाहर भीतर से स्वच्छ है वही रमैनी के तत्त्व को समझ सकता है। जिन्होने नही पहचाना वे पतिगे के समान विषयो पर गिरकर प्राण दे रहे है।

कबीरदास जी कहते है रमैनी के तत्त्व को पहचानो। बिना पहचान के क्या गाते हो ? अव तक तुम वाणी को नही पहचान पाए हो। आदि, अत, उत्पत्ति और प्रलय सब मे स्वय को लिया अर्थात् नष्ट किया।

(५)

कहाँ लै कहौ जुगन की बाता, भूला ब्रह्म न चीन्है बाटा।
हरिहर ब्रह्मा के मन भाई, बिबि अच्छर ले जुक्ति बनाई।
बिबि अक्षर का कीन्ह बंधाना, अनहद सब्द जोति परमाना।
अच्छर पढ़ि गुनि राह चलाई, सनक सनंदन के मन भाई।
वेद कितेब कीन्ह विस्तारा, फैलि गेल मन अगम अपारा।
चहुँ जुग भक्तन बाँधल बाटी, समुझि न परी मोटरी फाटी।
भै भै प्रिथिमी दहुँ दिसि धावै, अस्थिर होय न औषध पावै।
होय भिस्त जौ चित न डोलावै, खसमहि छोड़ि दोजख को धावै।
पूरब दिसा हंस गति होई, है समीप सँधि बूझै कोई।
भगता भगतनि कीन्ह सिंगारा, बूड़ि गैल सब माँझहि धारा।
साखी—बिनु गुरु ज्ञान दुंदि भई, खसम कही मिलि बात।
जुग जुग सो कहवैया, काहु न मानी बात।

शब्दार्थ—बिबि = दो। परमाना = प्रमाण। बाटी = रास्ता। भै भै = भयवश। प्रिथिमी = पृथ्वी। भिस्त = विहिश्त। स्वर्ग। दोजख = नरक। दुदि = द्वन्द्व। हस = सूर्य। मुक्तात्मा। सँधि = रहस्य। मिलन तत्त्व।

अर्थ—युगो की वाने कहॉ तक की जायॅ ? काल परिवर्त्तन तथा ससार ऐसा है जिसमे लोग सही रास्ते को नही पहचानते है। ब्रह्म को भूले हैं। या यो कि ब्रह्म भी रास्ता भूला है। भूल जाता है। जव लोग रास्ता भूल गये तो ब्रह्मा, विष्णु, महादेव ने कृपा कर रास्ता दिखाने वाले ज्योतिस्वरूप दो अच्छरो का वधान बॉधा। एक युक्ति वनाई जो प्राणियो का उद्धार कर सके। ये अक्षर राम, हरि या ओम् हैं। अक्षर को पढ़ गुण कर जो रास्ता बना वह सनक, सनदन, सनत्कुमार आदि को बड़ा अच्छा लगा। उन्होने ही वेदादि का विस्तार किया। (क्योकि वे ब्रह्मा के निकट और सृष्टि के आदि पुरुष थे)। किंतु अगम अपार वेदो मे मन फैल या उलझ गया।

फिर चारो युगो के भक्तो ने राह बॉधी अर्थात् भक्ति पद्धति का निर्माण किया। किंतु अपने अपूर्ण व्यक्तित्व (मोटरी फाटी) के कारण यह भक्ति पथ भी लोगो की समझ मे नही आया।

माया के भय से सभी लोग पृथ्वी पर चारो ओर दौड़ते है। किंतु अस्थिर मन रहने के कारण असली औषधि को नही पाते है। स्थिर चित्तवाले को ही स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। किंतु लोग है कि प्रभु (खसम) की उपासना छोड़कर नरक की ओर ले जाने वाले भूत-प्रेतो की पूजा करते है।

पूर्व दिशा मे (जैसे सूर्य है वैसे ही) मुक्तात्मा परमहस प्रभु का निवास है। वह परमहस प्रभु नजदीक है। कितु इस रहस्य को कोई बिरला ही समझ सकता है। भक्त और भक्तिन भी शृगार मे लगे है। जगत-प्रवाह की मध्य धारा मे डूब रहे है।

बिना सद्गुरु के सारे ज्ञान द्वन्द्व हो गए। यह बात सद्गुरु या स्वय प्रभु ने बतायी। युग-युग से गुरुदेव कह रहे है। कितु कोई भी बात मानने के लिये तैयार नही है।

टिप्पणी–सन, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, सुजात ये छ ब्रह्मा के पुत्र माने जाते हैं। कोई सन और सुजात को छोड़कर ब्रह्मा के चार ही पुत्र मानते है।

(६)

(मोक्षावस्था)

बरन्हुँ कौन रूप औ रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा।
औ ओंकार आदि नहि वेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा।
नहि तारागन नहि रवि चन्दा, नहि कछु होत पिता के बिंदा।
नहि जल नहि थल नहि थिर पौना, को धरे नाम हुकुम को बरना।
नहि कछु होत दिवस औ राती, ताकर कहहु कौन कुल जाती॥
साखी–सुन्न सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोती।
बलिहारी ता पुरुष की, निरालम्ब जो होती॥

शब्दार्थ–आहि = है। ओ = वह। बिदा = विंदु। वीर्य। पौना = पवन। थिर = स्थिर। सुन्न = शून्य।

अर्थ–उस परमतत्त्व की रूप रेखा का क्या वर्णन करूँ ? जहाँ वह है वहाँ और कौन है जिसने उसे देखा हो। वह ओकार सर्वप्रथम प्रगट हुआ। जब वेद भी अस्तित्व मे नही थे। इसलिये कुल के भेदो से मुक्त है अर्थात् उस परमतत्त्व का कोई कुल भेद नही है। वहाँ न तारे है, न सूर्य और चद्रमा है। वह पिता के वीर्य के विना उत्पन्न है। वहाँ जल, स्थल और हवा जैसे प्राकृत पदार्थो का भी अभाव है। मतलव कि परमतत्त्व प्राकृत पदार्थो से ऊपर है। भिन्न है। इसलिये वह नाम रहित और किसी भी प्रकार की आज्ञा से रहित है। वहाँ रात-दिन भी नही होते। ऐसे निराकार की कुल, जाति भी नही है।

वह शून्य है। इस सहज शून्य के स्मरण से एक ज्योति प्रगट हुई। उस पुरुष की बलिहारी है। वह बिना किसी सहारे के स्वशक्ति से टिका है।

टिप्पणी–परमतत्त्व शून्य मे स्थित है। वहाँ प्रकाश के सारे साधन नही है–

न तत्र सूर्यो भाति न चद्रतारकम्,
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्त मनु भाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिद विभाति।
कठ० २।२।१५

इसे सहज शून्य स्थिति कहते है। यहाँ केवल परमतत्त्व है। किसी भी प्रकार के भौतिक पदार्थो से शून्य है यह स्थान। कुछ नही होने के कारण शून्य है। परमतत्त्व भी शून्य है। साधक समाधि द्वारा यहाँ पहुँच सकता है। इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है। जब साधक का मन निर्विषय हो जाता है तब इस स्थिति की प्राप्ति होती है। इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि दशा या निर्विकल्प समाधि भी कहते है।

(७)
(महावाक्योपदेशादि)

तत्तुमसी इन्हके उपदेसा, ई उपनिषद कहै संदेसा। .
ई निस्चै इन्हके बड़ भारी, वाहि करे वर्णन अधिकारी।
परम तत्तु का निज परमाना, सनकादिक नारद सुक जाना।
जागबलिक औ जनक संवादा, दत्तात्रेय उहै रस स्वादा।
उहै राम वसिष्ठ मिलि गाई, उहै क्रिस्न ऊधौ समुझाई।
उहै यात जो जनक दिढ़ाई, देह धरे विदेह कहाई॥
साखी--कुल अभिमाना खोइ कै, जियत मुवा नहि होय।
देखत जो नाह देखिया, अदिस्टि कहावै सोय॥

अर्थ--तत् त्वम् असि। तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो। यह उनका अर्थात उपनिषदो का सदेश और उपदेश है। जीवो ब्रह्मैव ना पर । जीव और ब्रह्म एक है। कोई दूसरा नही है। उपनिषद्कार ऋषियो का यही निश्चय है। यही इसके वर्णन के अधिकारी है। परमतत्त्व स्वत प्रमाण है। यह उन ऋषि का स्वानुभूत प्रमाण है। इसके लिये अनुमानादि प्रमाण की जरूरत नही है। सनकादि, नारद, शुकदेव ने इस तत्त्व को जाना है। याज्ञवल्क्य और जनक (बृहदारण्योपनिषद् मे) सवाद मे भी इसी तत्त्व का चितन हुआ है। दत्तात्रेय मुनि ने महाभारत, भागवत आदि मे भी इसी तत्त्व का चितन किया है। उसी रस स्वाद मे निमग्न थ। योगवासिष्ठ मे राम और वसिष्ठ ने भी इसी का सयुक्त गान किया हे। भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण ने उद्धव को यही समझाया है। इसी को दृढ़तापूर्वक ध्यान मे रखने के कारण देह धारणकर भी राजा जनक विदेह कहे गये।

कुलाभिमान छोड़कर कोई भी जीवित रहकर नही मरा। मतलब कि तत्त्वमसि के साधक की कभी मृत्यु नही होती। वह मृत्यु को पार कर जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१९) के अनुसार जो एक को न देखकर नानात्व को देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार जो विद्या और अविद्या दोनो को जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत प्राप्त करता है--

विद्या चा विद्या च यस्तद्वेदो भयें सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।११।

जो सब कुछ देखकर भी नही देखता है अर्थात् बाह्य दृष्टि से मुक्त होकर, विषयो का सेवन न कर, विषयो से परे देखता है उसे ही दृष्टि रहित या अदृष्ट कहते है। अदृष्ट का अर्थ यह भी है कि जो दृष्टियो के परे है उस अदृष्ट को देखने वाला।

(८)

बाँधे अष्ट कष्ट नो सूता, जम बाँधे अंजनी के पूता।
जम के बाहन बाँधे जनी, बाँधे स्रिष्टि कहाँ लौ गनी।
बाँधे देव तेतीस करोरी, सुमिरत बंदि लोह गै तोरी।
राजा सँवरै तुरिया चढ़ी, पंथी सँवरै नाम लै बढ़ी।
अर्थ विहूना सँवरै नारी, परजा सँवरै पुहुमी झारी॥
साखी--बंदि मनावै फल मिलै, बंदि देय सो देव।
कहै कबीर ते ऊबरे, निसिदिन नामहि लेय॥

शब्दार्थ--अष्ट = शरीर के आठ अग जिनसे अति नम्र अभिवादन किया जाता है। आठ दिशाएँ। आठ प्रकार के योग। अणिमादि आठ सिद्धियाँ। नौ = नव ग्रह। नव निधि। भक्ति।

अजनी = माया। जनी = उत्पन्न। लोग। जम के बाहन = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर,मान। इन्हे षड्रिपु भी कहते है। तुरिया = घोड़ा। तुरीयावस्था। अर्थ = धन। पुरुषार्थ। पुहमी = पृथ्वी। झारी = समूह। सँवरै = स्मरण करना।

अर्थ—आठो सिद्धियो एव नवो निधियो की प्राप्ति माया पुत्र यम का बधन है। जो सिद्धियो और निधियो के चक्कर मे रहते है उन्हे यम के बधन मे पड़ना होता है। उनकी मृत्यु होती है। काम, क्रोधादि यम के सवारी है जिन्होने सारी सृष्टि को बॉध लिया है। इनके बारे मे कहॉ तक कहा जाय ? इन्होने तैतीस कोटि देवो को भी बॉध रखा है। जिन देवो के स्मरण से लोहे के बधन भी टूट जाते है। राजा घोड़े पर चढ़कर स्मरण करते है (या राजयोग के उपासक तुरीयावस्था मे स्मरण करते हैं)। पथी अर्थात् साधक नाम द्वारा स्मरण करते है। स्त्रियॉ पुरुषार्थ रहित होकर स्मरण करती है। प्रजा समूह पृथ्वी का स्मरण करता है। मतलब कि प्रजा साधन रहित है। उसके स्मरण के लिये केवल यह पृथ्वी है।

वदना से फल मिलता है। वदना से देनेवाला ही देव है। जो नित्य नाम स्मरण करता है वही मुक्त होता है। यही श्री कबीर कहते है।

(९)

राही लै पिपराही बही, करगी आवत काहु न कही।
आई करगी भौ अजगूता, जन्म-जन्म जम पहिरे बूता।
बूता पहिरि जम करै सुमाना, तीनि लोक मँह करै पयाना।
बाँधे ब्रह्मा बिस्नु महेसू, सुरनर मुनि औ बाँधु गनेसू।
बाँधे पौन पावक नभ नीरू चाँद सुरुज बाँधे दोउ बीरू।
साँच मंत्र बाँधिनि सब झारी, अमृत वस्तु न जानै नारी॥
साखी—अमृत वस्तु जानै नही, मगन भये सब लोय।
कहहि कबीर कामो नही, जीवहि मरन न होय॥

शब्दार्थ—राही = राह। पिपराही = पानी। करगी = ओला। बूता = ताबूत। पयाना = प्रयाण। नारी = अज्ञानी साधक।

अर्थ—जल रास्तो को डुबाकर वह गए। विषय जल ने सभी रास्ते बर्बाद कर दिये। वासना के ओलो के गिरने की बात किसी ने नही कही। वासना के ओलो के गिरने से अजूबा हुआ। जन्म-जन्मान्तर के लिये यम का ताबूत पहनना पड़ा। ताबूत पहनने पर यम ने मान किया। फिर तो तीनो लोको मे भ्रमण चक्र प्रारभ हो गया। वासना के प्रभाव से यम के ताबूत मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर, मुनि और गणेश सभी बॅधे अर्थात् सभी मरणधर्मा हो गए। हवा, आग, आकाश, पानी एव चॉद, सूर्य दोनो भाई भी बॉधे गए। सच्चे मत्र से सबको बॉध लिया। अज्ञानी साधक अमृत तत्त्व को नही जानता है।

अमृत वस्तु (ब्रह्म) को जाने बिना ही सभी लोग प्रसन्न हो रहे है। कबीरदास कहते हैं जिसने काम को छोड़ दिया है उसका जन्म-मरण नही होता है।

(१०)

(मनोमाया महिमा)

आँधरि गुष्टि स्रिष्टि भौ बौरी, तीनि लोक मँह लागि ठगौरी।
ब्रह्महि ठग्यो नाग कहँ जारी, देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी।
राजठगौरी बिस्नुहि परी, चौदह भुवन केर चौधरी।
आदि अंत जाकि जनक न जानी, ताकर डर तुम काहे न मानी।
वै उतंग तुम जाति पतंगा, जम घर कियहु जीव को संगा।

नीम कीट जस नीम पियारा, विष को अमृत कहै गँवारा।
विष अमृत गो एकहि सानी, जिन जानी तिनि विषि कै मानी।
विष के संग कौन गुन होई, किंचित लाभ मूल गो खोई।
कहा भये नर सुध बेसूधा, बिनु परचै जग बूड़ न बूझा।
मति के हीन कौन गुन कहई, लालच लागे आसा रहई॥
साखी—मुवा है मरि जाहुगे, मुए की बाजी ढोल।
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहि बोल॥

शब्दार्थ—गुष्टि = गोठी। ठगौरी = माया। नाग कहँ जारी = जनमेजय के नाग यज्ञ की ओर सकेत है। त्रिपुरारी = शिव। राजठगौरी = प्रधान माया। चौधरी = मालिक। सहिदानी = चिह्न। प्रमाण।

अर्थ—सारी सृष्टि वासना-विकल पागल हो रही है। यह ससार वासना-विकल पागलो की गोठी है। तीनो लोको को माया ने प्रभावित कर रखा है। माया ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को ठग कर उनसे सृष्टि करवाई। जनमेजय को नाग-यज्ञ की प्रेरणा दी। देवो सहित शिव को ठग कर रति को वरदान दिया एव पार्वती से पुत्र पैदा किया। चौदह भुवन के स्वामी विष्णु को भी प्रधान माया ने ठग लिया। वे भी लक्ष्मी के चक्कर मे पड़ गए। जिसके आदि-अत को जनक भी नही जानते है उसके डर को हे लोगो तुम क्यो नही मानते ? माया ऊँची है। उसके सामने मनुष्य पतिगे-सा है। जीव का साथ कर अर्थात् अपने को जीव समझकर यह चैतन्यात्मा भी यम के वश मे हो जाती है। लोग वासना या माया मे वैसे ही फँसे है जैसे नीम के कीड़े को नीम से प्यार होता है। मूर्ख (कीड़े) विष को अमृत कहते है। विष (विषय) के साथ कोई गुण नही है। थोड़े से लाभ के चक्कर मे मूल ही नष्ट हो जायगा। मनुष्य समझदार होकर भी मूर्ख बना है। प्रभु या आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना सब व्यर्थ हो रहा है, सारे लोग माया मे डूब रहे है। जिसे बुद्धि नही है वह क्या कर सकता है ? बस आशा-लालच मे रहता है।

सभी लोग पहले मरे है। तुम भी मरोगे। मरने का ही ढोल बजता है। उसे लोग ढोल बजाकर ले जाते है। या मरे के चमड़े से ही ढोल बनता है। बजता है। तात्पर्य यह कि विषयो मे पड़ा व्यक्ति मृत्यु ग्रस्त है। वह शाति नही पा सकता है। ससार के लोग स्वप्न मे मिलनेवाले प्रेमियो के समान है। मेरी बोली ही प्रमाण है। मै ठीक कहता हूँ।

(११)

माटिक कोट पषानक ताला, सोई बन सोई रखवाला।
सो बन देखत जीव डेराना, ब्राह्मन वैष्णव एकै जाना।
जौ रे किसान किसानी करई, उपजै खेत बीज नहि परई।
छाँड़ि देहु नर झेलिक झेला, बूड़े दोऊ गुरु औ चेला।
तीसर बूड़े पारधि भाई, जिन बन डाहो दावा लाई।
भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ, काज न एक सियार से भयऊ॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखहु हो संतो, हस्ती सिंघहि खाय॥

शब्दार्थ—माटिक = मिट्टी का। कोट = भवन। शरीर। ससार। पषानक ताला = जड़ता। बन = शरीर। ससार। रखवाला = रक्षा करनेवाला। सो बन = मायामय वन। झेलिक झेला = खीचतान। लोभ मोहादि। पारधि = शिकारी। साधक। डाहो = दावाग्नि। कूकुर = अज्ञानी जीव। सियार = नकली गुरु। मूस बिलाई = विषयासक्त जीव और माया। हस्ती = माया। सिंघहि = जीव। अहकारी जीव।

अर्थ—यह शरीर या ससार मिट्टी का बना नाशवान है। इसकी रक्षा करनेवाले तत्त्व मजबूत दीखते है। किंतु वे भी नाशवान् है। क्योकि रक्षक पाषण स्वय जड़ है। इसमे चैतन्य ज्ञान का अभाव है। इस शरीर या ससार की रक्षा भी माया या वासनाओ द्वारा करना चाहते है। ये दोनो (रक्षित और रक्षक) एक ही समान नाशवान् है। ससार या शरीर एक जगल है जिसमे प्रवृत्तियो, वासनाओ के विषैले जीवजतु भरे है। इन्हे देखकर डर लगता है। ब्राह्मण और वैष्णव दोनो एक ही प्रकार के है। ये ससार की इस स्थिति को नही समझते है।

सृष्टि रचना ऐसी वस्तु है जिसमे जीव रूपी किसान खेती करता है। इस खेत (ससार) की उपज तो लेता है। किंतु इसमे साधना का बीज नही डालता है। हे जीव, सासारिक खीचतान, लोभ, मोहादि छोड़ दो। सासारिकता, शिष्य और गुरु दोनो को नष्ट कर देती है। उन शिकारियो का भी नाश हो जाता है जो ससार से कुछ प्राप्त करना चाहते है। जिन्होने स्वार्थ-पूर्ति हेतु ससार-वन मे प्रवृत्तियो की आग लगायी हैं, सासारिक होशियारी में पड़े लोग सियार के समान है। लोग विषय के चक्कर मे पड़कर कुत्ते-सा भूँक-भूँककर मर जाते है। कभी तृप्ति नही होती है।

माया और जीव एक साथ है। भला इन दोनो भक्ष्य और भक्षक का साथ कैसे रह सकता है ? आश्चर्य तो यह है कि माया रूपी हाथी सिह रूपी विषयासक्त जीव को खा रहा है।

(१२)
(माया से सावधानी)

नहि परतीत जो यहि संसारा, दरब की चोट कठिन कै मारा।
तासे सेषहु जाइ लुकाई, काहू कैं परतीति न आई।
चले लोग सब मूल गँवाई, जम की बाढ़ि काटि नहि जाई।
आजु काज है कालि्ह अकाजा, चलेउ लादि दिगन्तर राजा।
सहज विचारत मूल गँवाई, लाभ ते हानि होय रे भाई।
वोछी मति चंदा गो अथई, त्रिकुटी संगम स्वामी बसई।
तबही बिस्नु कहा समुझाई, मिथुन आठ तुम जीतहु जाई।
तब सनकादिक तत्तु विचारा, ज्यौ धन पावहि रंक अपारा।
भौ मरजाद बहुत सुख लागा, यहि लेखे सब संसय भागा।
देखिनि उतपति लागु न बारा, एक मरै एक करै विचारा।
मुए गुए की कोई न कहई, झूठी आस लागि जग रहई॥
साखी—जरत जरत से बाँचिहो, काहे न करहु गोहारि।
विष विषया कै खायहु, राति दिवस मिलि झारि॥

शब्दार्थ—दरब = धन। दौलत। बाढ़ि = वृद्धि। वोछी = क्षुद्र। छोटी। गो = गया। अथई = अस्त। त्रिकुटी = दोनो भौहो के बीच का स्थान जहाँ इला, पिगला, सुषुम्ना नाड़ियो का सगम होता है। स्वामी = परमतत्त्व। मिथुन आठ = माला, सुगध, स्त्री, वस्त्र, भूषण, गीत, ताम्बूल, भोजन, वाहन—

स्रग्गधो वनिता वस्त्र गीत ताम्बूल भोजनम्।
भूषण वाहन चेति भोगस्त्वष्ट विध स्मृत ॥ (काम दर्पण)

मानसपीयूष, अयो पृ ७६९ पर

बारा = विलब। गुहार = पुकार।

अर्थ—इस ससार का विश्वास नही करना चाहिए। क्योकि इस ससार की सत्ता पारमार्थक **नहीं** व्यावहारिक है। इसके सुखादि प्रातिभासिक है। धन-दौलत की सत्ता का सुख प्रातिभासिक

है। इसलिये इसके द्वारा उत्पन्न दुख भी कठिन है। यही सब सोचकर शेषनाग पाताल चले गये। यह ससार मिथ्या है। इसका सुख प्रातिभासिक है। इसका किसी को विश्वास नही होता है। फलत लोग मूल तत्त्व आत्म तत्त्व को न प्राप्त कर या ससार जन्म का हेतु नष्ट कर चले जाते है। वे यमराज की वृद्धि मृत्यु को नष्ट नही कर पाते है। सभी लोग आज कल मे लगे है। आज काम है। कल काम की हानि होगी इसे लादे बड़े-बड़े राजा चले जाते है। इस ससार से दिशान्तर कर जाते है। लाभ की आशा मे हानि हो जाती है। छोटी बुद्धि वालो का भाग्य-चद्र नष्ट हो जाता है। स्वय चद्रमा गुरुपत्नीगामी होने से क्षयग्रस्त हो गया। नष्ट हो गया। लोग नही जानते कि सबका स्वामी परमतत्त्व त्रिकुटी मे निवास करता है। मतलब कि सबको त्रिकुटी का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यान से परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। भगवान् विष्णु का उपदेश है कि मैथुन के आठो रूपो को जीतना चाहिए। विष्णु द्वारा प्राप्त ज्ञान से सनकादि को तत्त्वबोध हुआ। जैसे गरीब को अपार धन की प्राप्ति हो गई हो। सारे सशय दूर हो गये और मर्यादित सुख की प्राप्ति हुई। उन्हे ससार मे सृष्टि को देखने मे देर नही लगी। उन्होने देखा कि ससार मरणशील है। सभी मर रहे है। ससार मे सभी आशाऍं नश्वर है। झूठी है। मरनेवालो के बारे मे कोई कुछ नही कहता है।

विषयो मे दिन-रात जलने की अपेक्षा इस जलन से मुक्त होना चाहिए। ईश्वर को पुकारना चाहिए। वही सबका रक्षक है।

(१३)

बड़ सो पापी आहि गुमानी, पाषंड रूप छलो नर जानी।
बावन रूप छलो बलि राजा, ब्राह्मन कीन कौन को काजा।
ब्राह्मन ही सब कीन्हो चोरी, ब्राह्मन ही को लागल खोरी।
ब्राह्मन कीन्हो ग्रंथ पुराना, कैसहु कै मोहि मानुष जाना।
एक से ब्रह्मै पंथ चलाया, एक से हंस गोपालहि गाया।
एक से सिभू पंथ चलाया, एक से भूत प्रेत मन लाया।
एक से पूजा जैनि विचारा, एक से निहुरि निमाज गुजारा।
कोउ काहु को हटा न माना, झूठा खसम कबीर न जाना।
तन मन भजि रहु मोरे भक्ता, सत्त कबीर सत्त है वक्ता।
आपुहि देवा आपुहि पाती, आपुहि कुल आपुहि है जाती।
सर्वभूत संसार निवासी, आपुहि खसम आपु सुखरासी।
कहते मोहि भये जुग चारी, काके आगे कहौ पुकारी॥
साखी—साँचहि कोई न मानई, झूठहि के संग जाय।
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय॥

शब्दार्थ—गुमानी = घमडी। अहकारी। पाषड = छल। धोखा। खोरी = दोष। बदनामी। हटा = रोकना।

अर्थ—वह बड़ा अहकारी और पापी है जो सबको छलता है। पाषड का अर्थ है नकली धर्म वाला। जो नकली धर्म के आधार पर सबको धोखा देता है।

विष्णु ने वामन ब्राह्मण का रूप धारणकर बलि (असुरराज) को छला। ब्राह्मण ने किसी का भला नही किया है। ब्राह्मणो द्वारा यह भी चोरी है। सारे शास्त्र अपने लिये सुरक्षित कर लिये। इसी से उनकी बदनामी हुई। ब्राह्मण ने ही ग्रंथो और पुराणो की रचना की। जिससे लोग उन्हे मनुष्यो मे श्रेष्ठ माने। उन्होने ब्रह्मपथ चलाया। एक कृष्ण के हस स्वरूप का पथ चलाया। एक पथ शिव (शैव) का चलाया। एक से भूत-प्रेतो की उपासना की। एक जैनो की पूजा है।

एक झुककर नमाज पढ़ता है। कोई किसी के रोकने पर नही मानता। कबीर झूठे परमात्मा को नही मानते है। मेरे भक्तो, तन-मन से सत्य वक्ता सत्य कबीर का भजन करो। सभी स्वयदेव है। स्वय प्रकाश है। सारी सृष्टि अपना कुल है। अपनी जाति है। सभी भूत समुदाय जो ससार के निवासी है स्वय स्वयसाधक, आराध्य और सुख के भडार है। इस बात को सत्य कबीर चार युगो (सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग) से कह रहे है। कोई सुनता नही। किसके आगे पुकारकर कहूँ ?

सभी झूठ की ओर जाते है। सत्य को मानने के लिये कोई भी तैयार नही है। सभी असत्य आचरण से असत्य ज्ञान को प्राप्त करते है। फलत मूर्ख बनकर धूल फॉकते है।

(१४)

(भव पन्थ खेद प्रकरण)

उनई बदरिया परिगौ संझा, अगुआ भूले बनखंड मंझा।
पिया अनते धनि अनते रहई, चौपरि कामरि माथे गहई।
साखी—फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन सो रोय।
ज्यौ ज्यौं भीजे कामरी, त्यो त्यो भारी होय॥

अर्थ—लोभ, काम, क्रोध, आदि के उमड़ने के कारण सत्य पथ पर अज्ञान का अँधेरा छा गया है। जीवन का अत भी आ गया है। अगुआ गुरु भी विषय वन मे भटक गये है। परम-पुरुष प्रिय और साधक जीवरूपी धन्या अलग-अलग दूर है। धन्या के माथे पर वासना की चपोती हुई कमली है या शरीर कम्बल, बाल, किशोर, युवा एव वृद्ध इन चार अवस्थाओ से घिरा है।

साधिका रोकर कहती है जिसका मन इतना कोमल है कि फूल का भार भी नही सह सकती है। वह वासना जल की वर्षा से भीगे कम्बल (शरीर) के बोझ को कैसे उठायेगी ? वासना बढ़ रही है और मन तथा शरीर परमतत्त्व के भार को सहने मे असमर्थ हो रहे है।

(१५)

(अविवेकादि)

जस जिव आपु मिलै अस कोई, बहुत धर्म सुख हृदया होई।
जासों बात राम की कही, प्रीति न काहू सो निरबही।
एकहि भाव सकल जग देखी, बाहर परै सो होय विवेकी।
विषय मोह के फंद छोड़ाई, तहँई जाय जँह काट कसाई।
आहि कसाई छूरी हाथा, कैसहु आवै काटे माथा।
मानुस बड़े बड़े है आए, एकै पंडित सबै पढ़ाए।
पढ़ना पढ़हु धरहु जनि गोई, नहि तौ निश्चय जाहु बिगोई॥
साखी—सुमिरन करहु राम कै, छाड़हु दुख के आस।
तर ऊपर धै चाँपिहि, जस कोल्हु कोटि पचास॥

अर्थ—जब अपने जैसे लोग मिलते है तभी धर्म का हार्दिक सुख होता है। अधार्मिक व्यक्ति से राम की बात कही तो वह प्रीति का निर्वाह नही करता है। सभी एक ही विषय भाव मे लिप्त है। बाहर देखनेवाले को ही विवेकी समझते है। लोग उस पशु के समान है जो बधनमुक्त होते ही कसाई के पास चला जाता है। वैसे ही मनुष्य विषयो के मोह से छूटकर भी नकली गुरु के पास पहुँच जाते है। कसाई हाथ-छुरी लिये है। कैसे भी आए और उसका माथा काट ले। ऐसी ही स्थिति नकली गुरु की है। बड़े-बड़े मनुष्यो को भी पडितो ने एक ही बात पढ़ाई। असली तत्त्व का ज्ञान नही कराया। आत्मज्ञान से दूर रखा। पढ़ना हो तो आत्म तत्त्व

जो सबके भीतर है पढ़ो। वरना सारी पढ़ाइयाँ नष्ट करनेवाली है।

दुखद आशा छोड़कर राम का स्मरण करो। अन्यथा स्वर्ग और ससार दोनो की प्राप्ति पचास करोड़ कोल्हू के समान भारी है। व्यर्थ है।

(१६)

अनहद अनुभव की करि आसा, देखहु यह विपरीत तमासा।
इहै तमासा देखहु भाई, जहवाँ सुंन तहाँ चलि जाई।
सुंनहि बांछा सुंनहि गैऊ, हाथा छाड़ि बेहाथा भैऊ।
संसै सावज सब संसारा, काल अहेरी सांझ सकारा॥
साखी— सुमिरन करहू राम के, काल गहे है केस।
ना जान्हु कब मारिहै, का घर का परदेस॥

शब्दार्थ—सुन = शून्य। आकाश। अनहद = अनाहत नाद। बाछा = इच्छा। सावज = जानवर। अहेरी = आखेटक। शिकारी। सकारा = सवेरा।

अर्थ—यह उलटी बात है कि लोग अनाहत नाद को ही सब कुछ समझ लेते है। उसी को परमतत्त्व मान बैठते है। शून्य मे पहुँचना या आकाश तत्त्व को प्राप्त करना भी परमतत्त्व को प्राप्त करना नही है। अनाहत नाद और आकाश तो तमाशा मात्र है। इन्हे कभी सिद्धि नही मानना चाहिए। शून्य के प्रति इच्छा रखनेवाला शून्य मे ही जाता है। जो कुछ हाथ मे आनेवाला है उससे भी वेहाथ का हो जाता है। सारा ससार सशय पशु-सा है। साँझ-सवेरे का काल परिवर्तन शिकारी है। यह काल परिवर्तन का शिकारी सभी को नष्ट करता है।

काल सबके केश पकड़े है। इसलिये सबको राम का स्मरण करना चाहिए। कोई नही जानता कि काल घर मे मारेगा या परदेश मे ? क्योकि काल घर और परदेश सर्वत्र है।

(१७)

(दुःखमय यातना)

अब गहु सत्यनाम अविनासी, हरि तजि जियरा कतहुँ न जासी।
जहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा, अब जनि जरहु समुझि विषसंगा।
रामनाम लौ लाय सो लीन्हा, भृंगी कीट समुझि मन दीन्हा।
भव अस गरुआ दुःख अति भारी, करु जिन जतन जे देसु विचारी।
मन की बात है लहरि विकारा, ते नहि सूझै वार न पारा॥
साखी—इच्छा करि भौ सागरे, बोहित नाम अधार।
कहै कबीर हरि सरन गहु, गो बछ खुर विस्तार॥

अर्थ—अविनाशी सनातन सत्यनाम (राम) को ग्रहण करो। यह हृदय, हरि को छोड़कर कही नही जायगा। विषयो के सग के दुष्परिणाम को समझकर अब विषयो मे मत जलो। विषयो मे भटकने से पतग के समान जलना होगा। राम-नाम से प्रेम करो। जैसे कीट भ्रमर का साथ कर भ्रमर हो जाता है। उसी प्रकार राम-नाम स्मरण से जीव भी राम बन जाता है। ससार भारी है। इसका दुख गभीर है। अच्छी प्रकार से विचार करो। जो मन की बातो की विकार- लहर मे दौड़ते है उन्हे भवसागर का आरपार नही दीखता है।

राम-नाम रूपी जहाज द्वारा भवसागर को पार करने की इच्छा करो। हरि की शरण मे जाने पर भवसागर को पार करना गोखुर पार करने जैसा सरल हो जाता है।

(१८)

बहुत दुख है दुख के खानी, तब बचिहहु जब रामहि जानी।
रामहि जानि जुक्ति जौ चलई, जुक्तिहिं ते फंदा नहि परई।

जुक्तिहि जुक्ति चला संसारा, निश्चय कहा न मानु हमारा।
कनक कामिनी घोर पटोरा, संपति बहुत रहै दिन थोरा।
थोरहि संपति गौ बौराई, धर्मराज के खबरि न पाई।
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई, अमृत धोखै गौ विष खाई॥
साखी—मै सिरजौ मै मारौं, मै जारौं मै खाउँ।
जल थल नभ मँह रमि रहौ, मोर निरंजन नाउँ॥

अर्थ—बहुत दुख है। दुख की खान है। पूरा ससार ही दुख है। राम को जानने पर ही दुख से बचा जा सकता है। राम को जानकर जो युक्ति चलती है उस युक्ति से बधन नही होता है। सोना, स्त्री, रेशमी वस्त्रादि सपत्ति थोड़े दिनो की मेहमान है। थोड़े धन मे पागल हो गए। यमराज का डर नही हुआ। यम के डर से मुँह कुम्हला गया। अमृत के धोखे से विष खा लिया।

मै ही पैदा करता हूँ। मै ही मारता हूँ। मै ही खाता हूँ। मेरा नाम निरजन है। मै ही जल, थल, नभ मे रमा हूँ।

(१९)

अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि बंधे बंधा सब कोई।
जेहि झूठे बंधाय अयाना, झूठी बात सांच कै जाना।
धंधा बंधा किन्ह बेवहारा, करम बिवरजित बसै निआरा।
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा, षटरस वास षट वस्तुहि चीन्हा।
चारि वृक्ष छव साख बखाने, विद्या अगनित गनै न जाने।
अवरो आगम करै विचारा, ते नहि सूझै वार न पारा।
जप तीरथ व्रत कीजै पूजा, दान पुन्य कीजै बहु दूजा॥
साखी—मंदिर तौ है नेह का, मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धायके, बिनु सिर सेतिहि जाय॥

शब्दार्थ—निरजन = ब्रह्म। अयाना = अज्ञान। निआरा = अलग। विवरजित = वर्जित। षट आश्रम = ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास, हस, परमहस। षट दरसन = न्याय, वैशेषिक, मीमासा, वेदात, साख्य, योग। षटरस = अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त, लवण, कटु। षट वस्तु = गोमाता से प्राप्त छ शुभ वस्तुएँ—गोमूत्र, गोमय, दूध, घी, दही, रोचन (गोमूत्र गोमय क्षीर, सर्पिर्दधि च रोचना। षडगमेतन्मागल्य पठित सदा गवाम्)। चारि वृक्ष = चार वेद। छव साख = शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छद, ज्योतिष, व्याकरण ये छ वेदाग। आगम = परपरागत शास्त्र। नेह = स्नेह। धाय = दौड़कर। सेतिह = मुफ्त मे।

अर्थ—ब्रह्म अलक्ष्य है। उसे कोई देख नही पाता है। इसी ब्रह्म की माया के बधन मे सभी बँधे है। इसने ही अज्ञानियो को झूठे बधन मे बाँध रखा है। लोग झूठी बात को भी सच मान लिये है। सभी ससार धधे मे बँधकर व्यवहार करते है। किंतु कर्मरहित योगी सबसे अलग रहता है। छ आश्रम, छ दर्शन, छ रस, छ वस्तु की व्यवस्था की। वेद (चार) वृक्ष और छ वेदाग उसकी शाखाएँ है। अनगिनत विद्याएँ है। और भी शास्त्र है। उन्हे भी ब्रह्म का आदि-अत नही दीखता है। जप, तीर्थ, व्रत, पूजा, दान, पुण्य आदि कितना भी करो। ब्रह्म को जानना असभव है।

परमात्मा का मदिर स्नेह का है। बिना प्रेम के कोई भी दौड़कर मत जाय। जो प्रेम रहित होकर दौड़ता है उसका जीवन मुफ्त मे बर्बाद हो जाता है।

(२०)

(संसार की असारता)

अलप सुख दुख आदि औ अंता, मन भुलान मैगर मैमंता।
सुख विसराय मुक्ति कहँ पावै, परिहरि साँच झूठ कहँ धावै।
अनल जोति डाहै एक संगा, नैन नेह जस जरै पतंगा।
करहु विचार जे सब दुख जाई, परिहर झूठा केरि सगाई।
लालच लागे जनम सिराई, जरा मरन नियरायल आई॥
साखी—भर्म के बाँधल ई जग, यहिविधि आवै जाय।
मानुष जन्महि पाय नर, काहे कै जहँडाय॥

शब्दार्थ—मैगर = (< स० मदकल) मैमता (< स० मदोन्मत्त) = मतवाला हाथी। जरा = वृद्धावस्था।

अर्थ—इस ससार के आरभ मे अल्प सुख दीखता है। किंतु अत मे दुख। मतवाले हाथी-सा मन इस बात को नही समझकर उसी सुख-दुख मे भूला रहता है। गीता के अनुसार सभी इद्रिय सुख, दुख के कारण है—

ये हि सस्पर्श जा भोगा दु ख योनय एव ते॥५।२२।

छादोग्य (७।२३।७) के अनुसार सुख भूमा (ब्रह्म) की प्राप्ति मे और अल्प मे सुख नही है

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति।

अल्प या विषय-सुख जलानेवाला है। जैसे पतग ऑखो के प्रेम के कारण जलता है। प्रेम का, विशेषकर युवा स्त्री-पुरुष का प्रेम सर्वप्रथम ऑखो से होता है। नैन नेह के द्वारा यह इसी प्रेम का सकेत है। क्योकि प्रेम का आधार रूप है। रूप मूलत ऑखो का विषय है। इसलिये झूठे प्रेम को छोड़कर विचार करो जिससे सारे दुख दूर हो जायँ। विष्य-लोभ मे सारा जीवन बर्बाद हो गया। बुढ़ापा और मरणकाल नजदीक आ गया।

सारा ससार भ्रम मे बँधा आता-जाता (जन्म-मरण) है। हे मनुष्य, मनुष्य-जन्म पाकर क्यो-धोखे मे रहते हो? ज्ञान प्राप्त करो। यही इस जन्म का लाभ है।

(२१)

चंद चकोर की ऐसी बात जनाई, मानुस बुद्धि दीन्ह पलटाई।
चारि अवस्था सपनै कहई, झूठी फुरो जानत रहई।
मिथ्या बात न जानै कोई, यहि विधि सब गैल बिगोई।
आगे दे दे सभन्हि गँवाया, मानुस बुद्धि न सपनेहु पाया।
चौतिस अक्षर से निकलै जोई, पाप पुन्य जानैगा सोई॥
साखी—सोई कहंते सोई होहुगे, निकरि न बाहर आव।
हो हजूर ठाढ़ो कहो, धोखे न जन्म गवाँव॥

शब्दार्थ—बिगोई = नष्ट। चौतिस अक्षर = कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग के २५ अक्षर, चार अर्ध स्वर (य, र, ल, व), तीन सकार (श, ष, स),ह।

अर्थ—मनुष्य की बुद्धि को उलट कर सद्गुरु ने उसे चद्रमा और चकोर जैसा प्रेम करना सिखलाया। जैसे चकोर एकमात्र चद्रमा का ध्यान करता है, वैसे ही तुम भी परमतत्त्व का ध्यान करो। चारो अवस्थाएँ स्वप्न के समान भ्रम भरी हे। इस झूठ को जानते रहो। ससार के मिथ्यात्व को कोई नही जानता। बिना जाने सारा जीवन व्यर्थ हो गया। मनुष्य ने सदा अपने आगे विषयो को महत्त्व दिया। इसलिये तात्त्विक बुद्धि कभी नही प्राप्त हो सकी। जो अक्षरो (शव्द ज्ञान, वाक्य ज्ञान, शास्त्र ज्ञान) के भ्रमजाल से निकलता है, वही पाप-पुण्य के भेद को

समझ सकता है।

शास्त्र-ज्ञान के चक्कर से बाहर आओ। तब ब्रह्म का ध्यान करते-करते ब्रह्म हो जाओगे। मै स्वामी खड़ा हूँ। मेरी बात मानो। शास्त्र धोखा है। इस धोखे मे जन्म मत बर्बाद करो।

टिप्पणी—शकराचार्य ने शब्द-जाल को महारण्य कहा है जिसमे चित्त भटकता है। तुलसीदास वाक्य-ज्ञान को अपूर्ण मानते है। साधना मे शास्त्र का महत्त्व न होकर गुरु की महत्ता है।

(२२)

चौतिस अच्छर का इहै विशेखा, सहसो नाम इहै मँह देखा।
भूलि भटकि नर फिरि घट आया, हो अजान सो सभन्हि गँवाया।
खोजहि ब्रह्मा विस्नु सिव सक्ती, अमित लोक खोजहि बहु भक्ती।
खोजहि गन गंधर्व मुनि देवा, अमित लोक खोजहि बहु भेदा॥
साखी—जती सती सभ खोजहि, मनहि न मानै हार।
बड़-बड़ जीव न बांचिहै, कहहि कबीर पुकारि॥

अर्थ—चौतीस अक्षर से मतलब है शास्त्र या पुस्तकी ज्ञान से। शास्त्र उपासना के एक नही हजारो नाम बताते है (विष्णु सहस्रनाम, गोपाल सहस्त्रनाम आदि)। मनुष्य शास्त्रो मे भटककर फिर इसी शरीर मे साधना के लिये आता है। अज्ञानी होने के कारण जो भी सहज साधना की बुद्धि थी उसे भी नष्ट कर देता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि अनेक लोको मे भक्ति की खोज करते है। गधर्व, देव और मुनि आदि यती, सती भी अनेक प्रकार से खोजते है। कभी हार नही मानते। कबीर पुकारकर कहते है कि चाहे कितना ही खोजो। परमतत्त्व बाहर नही मिलेगा। शास्त्र द्वारा नही मिलेगा। काल द्वारा कोई बच न सकेगा। अज्ञानमूलक खोज से सभी नष्ट हो जायँगे।

(२३)

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा, सात दीप पुहुमी नव खण्डा।
सत्त सत्त कै बिस्नु दिठाई, तीनि लोक मँह राखि निजाई।
लिग रूप तब संकर कीन्हा, धरती कीलि रसातल दीन्हा।
तब अष्टंगी रची कुमारी, तीनि लोक मोहिनि सभ झारी।
दुतिया नाम पारवती भैऊ, तप करते संकर कँह दैऊ।
एकै पुरुष एक है नारी, ताते रचेउ खानि भौ चारी।
सर्मन बर्मन देव औ दासा, रज सत तमगुन धरति अकासा।
साखी—एक अंड ओंकार ते, सब जग भयो पसार।
कहहि कबीर सब नारि के, अविचल पुरुष भतार॥

शब्दार्थ—सात दीप = सप्तद्वीप (कुश, जम्बू, क्रौच, प्लक्ष, शक, पुष्कर, शारामलि)। पुहुमी = पृथ्वी। नव खड = भारत, किपुरुष, इलावृत, भद्र, केतुमाल, कुश, रम्य,हरि, हिरण्य, दिठाई = देखकर। सत्त = सत्य। सत्त = शक्ति। सत्ता। निजाई = प्रभुत्व। कीलि = गाड़कर। अष्टगी = अष्टभुजी शक्ति। देवी। अष्ट प्रकृति = भूमि, जल, आग, हवा, आकाश, मन, बुद्धि और अहकार। झारी = समूह। चारी खानि = अडज, पिडज, स्वेदज, उद्भिज। सर्मन = शर्मा। वर्मन = वर्मा। क्षत्रिय। देव = गुप्त। दासा = शूद्र। अड = बीज। नारि = जीव। भतार = भर्ता।

अर्थ—आदिपुरुष ब्रह्म ने सृष्टि-रचना के समय ब्रह्म को सात द्वीप एव नौ खडो वाले पृथ्वी तथा ब्रह्माड का स्वामी बनाया। सत्य की सत्ता या शक्ति वाले विष्णु को तीनो लोको (भु भुव स्व या पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल) का अधिकार दिया। शकर को लिग रूप बनाकर उन्हे धरती से

पाताल तक गाड़ दिया। अष्टभुजी कुमारीदेवी या आठ अपरा प्रकृति ने तीनो लोको को मोह लिया है। इसी अष्टभुजी देवी का दूसरा नाम पार्वती हुआ। इसे तप करते हुए भगवान् शकर को दिया। एक ही पुरुष और एक ही नारी से चारो प्रकार के जीव की उत्पत्ति हुई। सत्त्व, रज, तम गुणो वाली धरती और आकाश मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुए।

पुराणो मे कहा गया है कि आरभ मे पृथ्वी का रूप अडाकार था। या सर्वप्रथम प्रलय समुद्र मे अडाकार ही दिखाई पड़ा। ओकार ही सृष्टि का वीज है। इसी से ससार फैला। कबीर दास कहते है कि ससार मे सभी जीव स्त्री के समान है। केवल अविचल सनातन परमात्मा ही सबका भर्त्ता पुरुष है।

(२४)

अस जोलहा का मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना।
महि अकास दुइ गाड़ खँदाया, चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया।
सहस तार लै पूरिन पूरी, अजहुँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहि कबीर करम सो जोरी, सूत-कुसूत बिनै भल कोरी।

अर्थ—यह ससार वस्त्र-सा है। इस वस्त्र को बुननेवाला जुलाहा स्वय ईश्वर है। इस परमात्मा जुलाहे के मर्म को कोई नही जानता है। जिसने ससार के ताने को पसारा है। धरती (महि) और आकाश ये दोनो ही उसके गड्ढे (गाड़) खोदे गए है। चद्रमा और सूर्य उसकी नली है। हजारो तारो को लेकर इस वस्त्र को पूरा किया। यद्यपि यह कार्य बहुत दिनो से चला आया। किंतु आज भी इस वस्त्र को बुनना कठिन है। कवीरदास जी कहते है कि ससार कर्मो से जुड़ा कर्माधीन है। सभी अपने कर्मो के अनुसार फल पाते है। ईश्वर अच्छे-बुरे दोनो का निर्माण करता है।

टिप्पणी—इसका अर्थ शरीर पर भी घटित होता है। चॉद सुरुज का अर्थ इड़ा एव पिगला नाड़ियॉ है। सहस तार का अर्थ है शरीर की हजारो नस-नाड़ियॉ। सूत-कुसूत का अर्थ है व्यक्ति के अच्छे-बुरे कर्म। जोलहा और कोरी शब्द सृष्टि-निर्माता परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। इससे पता लगता है कि कबीर जब अपने को जुलाहा या कोरी जाति का कहते है तो वे उसी परमात्मा की ओर सकेत करते है।

इसमे ताना, गाड़, नरी, पूरी, शब्द जुलाहो के वस्त्र-निर्माण से सम्बद्ध विशिष्ट शब्द है।

(२५)

बज्रहुं ते त्रिन खिन मे होई, त्रिन ते बज्र करै पुनि सोई।
निझरुहि नीरु जानि परिहरिया, करम क बाँधल लालच करिया।
कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया, झूठा नाम साँच लै धरिया।
रज गति त्रिविध कीन्ह परगासा, कर्म धर्म बुधि केर बिनासा।
रवि के उदै तार भौ छीना, चर बीहर दोनो मँह लीना।
विष के खाए विष नहिं जावै, गारुड़ि सो जो मरत जियावै।
साखी—अलख जो लागी पलक मे, पलकहि मँह डसि जाय।
विषहर मंत्र न मानै, तौ गारुड़ि काह कराय॥

शब्दार्थ—खिन = क्षण। निझरुहि = बहना। नीरु = जल। परिहरिया = छोड़ देता है। रजगति = रजोगुणी। त्रिविध = त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम)। तीन लोक। रवि = ज्ञान। तार = अज्ञान। बीहर = बीहड़। कठिन। चर का उलटा अचर। मँह = मे। विष = विषय। विष = वासना। गारुड़ि = सर्प का विष उतारनेवाला मात्रिक। (गरुड़ पक्षी सर्प विरोधी माने जाते है। इसी से गारुड़ि सर्प-विष उतारनेवाले मत्री को कहते है) विषहर = विषधर (माया)। अलख =

अलख का यहाँ विशिष्ट अर्थ माया से है जो स्पष्ट नही दिखाई पड़ती है। तार = तारा।

अर्थ—लोग परमात्मा के रहस्य को नही जानते है। यह अत्यत शक्तिशाली है। एक क्षण मे वज्र को तृण और पुन तृण को वज्र बना देता है। (सृष्टि और प्रलय उसी के खेल है। सृष्टि तृण के समान है। वज्र प्रलय है। प्रभु हर क्षण सृष्टि एव प्रलय का खेल करता रहता है। सृष्टि को प्रलय और प्रलय को सृष्टि मे बदलता रहता है। मनुष्य की दृष्टि से सृष्टि और प्रलय लाखो-करोड़ो वर्षो का चक्र है। किंतु ईश्वर के लिये वह एक क्षण जैसा है)।

ईश्वर की सृष्टि कभी बद नही होती है। प्रलय भी उसकी सृष्टि-लीला का ही एक रूप है। जैसे झरना सदा झरा करता है। जल को नार कहते है। इसीलिये प्रभु नारायण (नार+अयण) है। कर्मो की रस्सी मे बँधे लालची मनुष्य सदा बहनेवाले जल (सनातन सृष्टि और उसके कारण ब्रह्म) की उपेक्षा करते है। वे कर्म, धर्म, मति, बुद्धि के सात्त्विक पक्ष को छोड़कर झूठे नामो (नाशवान् या असत् देवी-देवताओ की पूजा-उपासना) को सत्य मानकर उन्हे पकड़ना चाहते है। परमात्मा की यह सृष्टि रजोगुणी है। यह रजोगुणी सृष्टि तीनो गुणो वाली है। इस रजोगुणी सृष्टि मे विश्वास करने से कर्म, धर्म एव बुद्धि का नाश हो जाता है। रजोगुणी ससार से ऊपर उठना चाहिए। जैसे सूर्योदय से तारे मलिन हो जाते है, उसी प्रकार ज्ञान के उत्पन्न होने पर चर-अचर मे रहनेवाला मायाधकार नष्ट हो जाता है। यहाँ तार माया के विभिन्न रूपो के लिये भी है। ज्ञानोदय से माया के विभिन्न रूपो का नाश हो जाता है। विषयो के सेवन से वासना कभी समाप्त नही होती है। अच्छा मत्रवेत्ता (सद्गुरु) वह है जो विषयासक्त जीवन को मुक्त करा सके।

जिनकी आँखो को माया ने आकर्षित कर रखा है, जिन्हे माया सर्पिणी डँसे है अर्थात् जो माया के चक्कर मे है। ऐसे विषधर (मायालिप्त) पर अगर गुरु-मत्रो का प्रभाव नही पड़ता है तो इसमे गुरु का क्या दोष है ?

टिप्पणी—'विष के खाए विष नहि जाए' इस सदर्भ मे दो मत है—एक मत मे विष विष से ही नष्ट होता है। दूसरे मत से काम का विष काम-सेवन से कभी शात नही होता है। जैसे वैर से वैर का शमन नही होता है। इस सदर्भ मे मनु की प्रसिद्ध उक्ति प्रचलित है—

न जातु काम कामानामुभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते (२।९४)

ऐसी ही बात कामायनी मे काम कहता है—

प्यासा हूँ मै अब भी प्यासा,
सतुष्ट ओघ से मै न हुआ।
आया फिर भी वह चला गया,
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ।

(२६)

अंध सो दरपन बेद पुराना, दरबी कहा महारस जाना।
जस खर चंदन लादे भारा, परिमल बास न जान गँवारा।
कहहि कबीर खोजे असमाना, सो न मिला जिहि जाय गुमाना॥

अर्थ—वेद पुराण आदि शास्त्रो का ज्ञान अधे के लिये दर्पण के समान व्यर्थ है। जैसे अधे के लिये दर्पण का कोई उपयोग नही है। उसी प्रकार अनुभूतिरहित ज्ञान के बिना शास्त्रज्ञान व्यर्थ है। जैसे कलछुल (दरबी) सब्जी का स्वाद नही जान सकती है उसी प्रकार हृदयहीन अनुभूतिरहित व्यक्ति के लिये शास्त्र व्यर्थ है। शास्त्रज्ञान गधे पर लदे भार-सा है। मूर्ख परिमल की गध नही जानता है। लोग सातवे आसमान मे ईश्वर को खोजते है। किंतु इससे हृदय का

अभिमान नही समाप्त हो सकता है।

टिप्पणी—

१ यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवल तु वहुश्रुत
न स जानाति शास्त्रार्थ दर्वी पाकरस यथा।
यही वचन महाभारत मे है। इसे धम्मपद मे भी दुहराया गया है।
२ लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पण कि करिष्यति—नीति।

(२७)

वेद की पुत्री सुम्रिति भाई, सो जेंवरि कर लेतहि आई।
आपुहि वरी आपु गर बंधा, झूठा मोह काल को फंदा।
बाँधत बंधन छोरि न जाई, विषै रूप भूली दुनियाई।
हमरे लखत सकल जग लूटा, दास कबीर राम कहि छूटा।
साखी—रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रौस।
सूधा जल पीवै नही, खोदि पियन की हौस॥

अर्थ—स्मृति आदि शास्त्रो को वेद का उपवृहण अर्थात् विस्तार कहा जाता है। यहाँ सत कवीर ने स्मृतियो को वेद की पुत्री कहा है। स्मृतियाँ सामाजिक धर्म कानून का ग्रथ हैं। इसलिये वे मनुष्य को बांधती है। कर्म के अनियन्त्रित फैलाव को रोकती है। सभी मोहकाल के झूठे फदे मे स्वय बँधे है। सारी दुनिया विषयो मे भूली है। इसलिये न छूटनेवाले बधन मे बँधी है। मै देख रहा हूँ, माया-मोह द्वारा सभी लोग लूटे जा रहे है। किंतु कबीरदास राम का स्मरण कर बच गये।

राम राम पुकारते जीभ मे घट्टे (रौस) पड़ गय। भक्त शास्त्रो द्वारा उपलब्ध कराया गया सीधा ज्ञान न प्राप्त कर अनुभूतिशील ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है। यह अनुभूनिशील ज्ञान ही कुआँ खोद (परिश्रम) कर जल पीने जैसा है।

(२८)

(मोक्ष स्थानाभावादि)

पढ़ि-पढ़ि पंडित करु चतुराई, निज मुक्ती मोहि कहु समुझाई।
कहँ बस पुरुष कहाँ सो गाऊँ, पंडित मोहिं सुनावहु नाऊं।
चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना, मुक्तिक मर्म उनहुँ नहि जाना।
दान-पुन्य उन बहुत बखाना, अपने मरन की खबरि न जाना।
एक नाम है अगम गँभीरा, तहवाँ स्थिर दास कबीरा॥
साखी—चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
आवागमन की गम नही, तहँ सकलो जग जाय॥

अर्थ—हे पडितो, पढ़ने से चतुराई तो आती है, किंतु मुक्ति नही हो सकती। इसलिये शास्त्र पढ़कर तुम्हे बुद्धिमानी तो हो गई है, किंतु अपनी मुक्ति के बारे मे भी कभी सोचा है क्या? वह परम पुरुष कहाँ रहता है? वह स्थान कहाँ है जहाँ एव जिसके द्वारा मुक्ति होती है? यह मुझे समझाकर कहो। समझाना और सुनाना से सकेत है कि मुक्ति तत्त्व न तो समझाया जा सकता है न सुनाया जा सकता है। वह तो अनुभूति का विषय है। चारो वेदो के निर्माता ब्रह्मा को भी मुक्ति का पता नही है। (फिर वेद को मुक्ति का पता कैसे हो सकता है। (अर्थात् वेद मुक्ति के साधन नही हैं)। जिन पडितो ने दान-पुण्य के महत्त्व की बहुत चर्चा की है उन्हे भी नही पता कि उनकी मृत्यु कब होगी? मृत्यु के वाद उनका क्या होगा? भगवन्नाम एक अगम्य और गभीर तत्त्व है। कबीरदास उस नाम के स्थान पर स्थित है।

पर स्थिर है।

जहाँ चीटी नही चढ़ सकती है। राई भी ठहर नही सकती है। जहाँ आवागमन की स्थिति भी नही है। उस शून्य स्थल पर लोग जाना चाहते है। कबीरदास जी कहते है कि यहाँ सभी नही। विरला ही जा सकता है।

(२९)

एक सयान सयान न होई, दोसर सयान न जानै कोई।
तीसर सयान सयानहि खाई, चौथ सयान तहाँ लै जाई।
पँचये सयान न जानै कोई, छठवे मा सभ गैल बिगोई।
सतये सयान जो जानहु भाई, लोक वेद मा देहु देखाई।
साखी—बीजक बतावइ बित्त को, जो बित गुप्ता होय।
सब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

भूमिका—इसमे सख्यावाचक शब्दो के अनुसार अर्थ लगाने मे कठिनाई होती है। कबीर को दर्शन के प्रयोजन से हीन या अज्ञानी बताना हो तो कबीर का पठन-पाठन करना ही नही चाहिए। किंतु वहुत से जहाँ रुकते है वहाँ कबीर को अज्ञानी कहकर निकल जाना चाहते है। वे लोग भी ऐसा करते है जो कबीर के साधारण अर्थो को भी शास्त्र के भार से भारी बना देते है।

योगवासिष्ठ मे योग की सात भूमियो का उल्लेख है—

ज्ञानभूमि शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनु मानसा।
सत्त्वाणत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसवितनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता।

कुछ इस आधार पर ज्ञान की सात भूमियाँ मानकर अर्थ करते है।

दूसरे लोग—इसका अर्थ ढग से करते है—

एक = अद्वैतवादी
दोसर = मायावादी
तीसर = जीववादी
चौथ = तटस्थ ईश्वरवादी
पँचये = इन्द्रियात्मवादी
छठये = आत्मवादी
सतये = देहात्मवादी

अर्थ—सत कबीर कहते हैं कि योग की प्रथम भूमि शुभेक्षा है। शुभेक्षा आरभिक भूमि है। इसे प्राप्त करने से कोई सयाना नही होता है। दूसरी भूमि विचारणा की है। इसमे भी आत्मतत्त्व का बोध नही हो पाता है। तीसरी भूमि तनुमानसा की है। इस भूमि पर पहुँच विषयासक्त मन की समाप्ति हो जाती है। इसे ही सयान को खान कहा है। चौथी भूमि सत्त्वापत्ति की है। इसमे योगी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। आत्मतत्त्व के पास पहुँचता है। पाँचवी भूमि अससक्ति नाम्नी है। यहाँ समाधि की अवस्था का प्रारभ होता है। यह समाधि असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है। छठी परार्थाभाविनी है। इसमे सारे अपरातत्त्व विलीन हो जाते है। पर तत्त्व का बोध रहता है। सब से मतलब यहाँ सासारिक उपादानो से है। छठी मे सासारिकता का बोध बिल्कुल समाप्त हो जाता है। सातवी तुर्यगा भूमि है। इसमे साधक को स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस

भूमि को निर्विकल्प समाधि की स्थिति भी कहते है। यह ज्ञान लोक-वेद का विषय नही है। यह तो साधना का विषय है।

यह आत्मज्ञान का तत्व गुप्त धन जैंसा है। बीजक (गुप्त धन बतानेवाली बंही) से जैसे गुप्त धन का पता चलता है उसी प्रकार सद्‌गुरु के शब्द-बीजक जीवो को आत्मतत्त्व बताते है। किंतु इसे कोई विरला ही समझ पाता है।

(३०)

यहि विधि कहो कहा नहि माना, मारग माँहि पसारिन ताना।
राति दिवस मिलि जोरिन तागा, ओटत कातत भरम न भागा।
भरमै सभ जग रहा समाई, भरम छोड़ि कतहूँ नहि जाई।
परै न पूरि दिन्हु दिन छीना, तँहई जाय जहँ अंग बिहीना।
जो मत आदि अंत चलि आवा, सो मत सभ उन प्रगट सुनावा॥
साखी—यह संदेस फुर मानिकै, लीन्हेउ सीस चढ़ाय।
संतो है संतोष सुख, रहहु तो हिरदय जुड़ाय॥

अर्थ— ईश्वर भी जुलाहा है। जीव भी जुलाहा है। किसी भी व्यक्ति को कितना ही समझाओ वह समझने के लिये तैयार नहीं है। मार्ग मे ही लोगो ने ताना फैला दिया। कुटुम्ब, स्वार्थ एव विषयो का जाल फैला रखा है। या झूठी साधना को पसार दिया है। जैसे जुलाहा कपड़ा बीनने के लिये सूत तानता है। रात-दिन परिश्रम कर गृहस्थी या साधना के धागो को जोड़ता है। कपास ओटता है। सूत कातता है। अर्थ यह कि नाना प्रकार के कर्म करता है, किंतु भ्रम नही भागता है। भागना तो दूर सभी लोग भ्रमो मे पड़े है। क्या भ्रम है? विषयो से आनद का भ्रम। झूठी साधना से आत्मतत्त्व के वोध का भ्रम। लोग ऐसे ही भ्रमो मे पड़े रहते है। भ्रमो को छोड़कर कही नही जाते है। कितना भी परिश्रम या साधना करो पूर्ण होना तो दूर दिन व दिन क्षीणता बढ़ती जाती है। अत मे वहाँ पहुँच जाते हैं जब इद्रियाँ शिथिल हो जाती है। आदि अत के सभी सिद्धात-विचार उन्हे प्रत्यक्षत सुनाने पर भी कोई लाभ नही होता।

सत कबीर कहते है कि मैने इस सदेश को सत्य (फुर) मानकर सिर पर चढ़ा लिया, स्वीकार कर लिया कि केवल सतोष ही सुख है। सतोषी का हृदय ही शाति (जुड़ाय) पाता है।

(३१)

(देवादि मोह विडम्बना)

अंबु कि रासि समुद्र कि खाँई, रवि ससि कोटि तैतिसो भाई।
भौर जाल मँह आसन माँड़ा, चाहत सुख, दुख संग न छाँड़ा।
दुख कै मर्म न काहू पाया, बहुत भाँति के जग भरमाया।
आपुहि बाउर आपु सयाना, हिरदय बसे सो राम न जाना॥
साखी—तेई हरि तेइ ठाकुर, तेई हरि के दास।
ना जम भया न जामिनी, भामिनि चली निरास॥

अर्थ—यह ससार जल से भरे समुद्र की खाई जैसा है। इसमे सूर्य, चद्रमा, तैतीस करोड़ देवता भी आसन जमाये चक्कर खा रहे है। चाहते है कि इस ससार से सुख प्राप्त हो किंतु दुख मिलता है। कभी दुख का सग नही छूटता है। दुख क्या और क्यो है इस का रहस्य आज तक किसी को ज्ञात नही हुआ। अनेक शास्त्रो ने ससार के लोगो को भ्रम मे रखा कि वे इस रहस्य को जानते है। मनुष्य स्वय पागल है। अपनी साधना से वह चैतन्य भी बन सकता है। किंतु साधना न कर वह अपने को होशियार माने बैठा है। फलस्वरूप हृदय मे रहनेवाले राम को नही जानता है।

आत्म और परमात्म तत्त्व, उपास्य और उपासक स्वामी और दास दोनो एक ही है। भाव यह है कि जीव और ब्रह्म मे अभेद है, (जीवो ब्रह्मैव नाऽपर)। इस ज्ञान के बाद मृत्यु का भय दूर हो जाता है। असान का अधकार दूर हो जाता है। माया (भामिनी) निराश हो जाती है और ऐसे व्यक्ति का कुछ नुकसान नहीं कर पाती है।

(३२)

जब हम रहल रहल नहि कोई, हमरे माँह रहल सब कोई।
कहहु राम कौन तोर सेवा, सो समुझाय कहौ मोहि देवा।
फुर-फुर कहत मार सब कोई, झूठहिं झूठा संगति होई।
आँधर कहै सबै हम देखा, तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा।
यहि विधि कहौ मानु जौ कोई, जस मुख तस जौ हृदया होई।
कहहि कबीर हंस मुसुकाई, हमरहि कहै छूटिहौ भाई।।

अर्थ—सृष्टि रचना के पूर्व भी परमात्मा था। केवल वही (हम) था। इसी बात को आत्मतत्त्वदर्शी, परमात्मबोध पूर्ण साधक कहता है कि जब केवल मै परमात्मा था। तब और सब कुछ नही था। तब सारा विराट् मेरे भीतर था। सारा प्रसार व्यष्टि से विराट् होने की प्रक्रिया है। सृष्टि-पूर्व केवल व्यष्टि था। विराट् उसके भीतर था। (इसी व्यष्टि बालक रूप मे अश्वत्थ वृक्ष पर लेटा था। मार्कंडेय ऋषि इसके उदर मे चले गये। वहाँ उन्होने पूरी सृष्टि की स्थिति देखी। उदर से बाहर आने पर फिर बालक को यथावत् देखा)। जब आत्मा परमात्मा, उपास्य उपासक एक ही है तो हे राम बताओ कि तुम्हारी सेवा कौन करे ? मतलब कि राम की सेवा अपनी सेवा है। अपनी सेवा राम की सेवा है। सत्य-सत्य कहने से मार होने लगती है। सभी झूठे है और सभी झूठे की सगति पसद करते है। अधा (अज्ञानी) अपने को समझदार समझता है। उसकी इस समझदारी को देखकर सचमुच के ज्ञानी उस पर तरस खाते है। इस प्रकार जो कहता हूँ उसे कोई माने तो। हृदय मे जो भाव होगा वही मुँह पर प्रतिबिम्बित होता है। हस (परम साधक) कबीर हँसकर कहते है—हे भाई, मेरे कथनानुसार ही भवबधन से मुक्त हो सकोगे।

(३३)

(सत्संगादि बिना दुःखादि)

कबहुँ न भयउ संग अरु साथा, ऐसो जनम गवाँयउ हाथा।
बहुरि न पइहउ ऐसो थाना, साधु संग तुम नहिं पहिचाना।
अब तोर होय नरक महँ बासा, निशु दिन बसेउ लबार क पासा।।
साखी—जात सभँन्हि कहँ देखिया, कहहि, कबीर पुकार।
चेतवा है तौ चेतहु नहि दिवसु परतु है धार।।

अर्थ— कभी सतो का साथ नही हुआ। ऐसा जन्म हाथ से व्यर्थ चला गया। पुन मानव तन का यह स्थान प्राप्त नही होगा। क्योकि तुमने सद्सगति की पहचान नही की। हे जीव, अब तुम्हारा नरक मे निवास होगा। क्योकि तुमने सदा झूठे (लबार) की सगति की है।

सभी प्राणियो को मरते (जात) देखकर सत कबीर पुकारकर कहते है चेतना हो तो चेतो वरना दिन मे ही डाका पड़नेवाला है। दिन मे डाका पड़ने का अर्थ है माया सबको लूट रही है। नष्ट कर रही है।

(३४)

हिरनाकुस रावन गौ कंसा, कृस्न गए सुर नर मुनि बंसा।
ब्रह्मा गए मर्म नहिं जाना, बड़ सब गयल जो रहल सयाना।
समुझि परी नहिं राम कहानी, निरबक दूध कि सरबक पानी।

रहिगो पंथ थकित भौ पौना, दसो दिसा उजारि भौ गौना।
मीन जाल भौ ई संसारा, लोह क नाव पषान क भारा।
खेवै सभै मर्म नहि जानी, तहियो कहै रहै उतरानी॥
साखी—मछरी मुख जस केंचुवा, मुसवन मुख गिरदान।
सर्पन मुख गहेजुआ, जात सभन की जान॥

अर्थ— ससार अनित्य और नाशवान् है। यहाँ जो भी आया, चाहे कितना भी प्रताणी हो सबकी मृत्यु हुई। हिरण्यकश्यपु, रावण, कस, कृष्ण, सुर, नर, मुनि-वश सभी इस ससार से विदा हो गये। इस सृष्टि का रहस्य समझे विना व्रह्मा चले गये। वे सभी बड़े चले गये जो बहुत होशियार थे। किंतु किसी को सृष्टि की रामकहानी समझ मे नही आयी। यह सृष्टि बिल्कुल (निरवक) दूध जैसी उज्ज्वल और सत्त्व-तत्त्व वाली है या पानी के समान सब (सरवक) व्यर्थ है। तत्त्वहीन है। अत समय आने पर सारे प्राण (पौना) स्थगित हो जाते हैं। रास्ता चलना कठिन हो जाता है। ससार मे बहुत कुछ करने की इच्छा से चलते है। किंतु बीच मार्ग मे ही मृत्यु आ जाती है। दसो दिशाओ को छोड़कर (उजारि) जाना होता है। दस इद्रियाँ हैं। ये इद्रियाँ जीव के रहते आनद करती है। किंतु जीव के जाते ही उजड़ जाती है। व्यर्थ हो जाती है। ससार जाल है। जीव मछली है। प्रत्येक जीवन इस जाल मे फँस जाता है। यह ससार एक दुस्तर नदी है। किंतु इसे पार करने के साधन लोहे की नाव है। अर्थात वासनामूलक साधन या अनुचित साधनाएँ है। उस पर विषयो और अनेक प्रकार की कामनाओ के पत्थर लदे हैं। इस जीवन-नौका को चलानेवाले इसे चलाने का रहस्य नही जानत हैं। न जानते हुए भी कहता है कि नाव ऊपर-ऊपर चल रही है।

सभी जीव मृत्यु के मुख मे पड़े है। जेसे मछली के मुँह मे केचुआ, चूहे के मुख मे गिरगिट, साँपो के मुँह मे छछूदर है, वेसी ही स्थिति मे लोग लोभवश नष्ट हो रहे है।

(३५)
(मायाकृत विनाश)

बिनसे नाग, गरुड़ गलि जाई, बिनसे कपटी, औ सत भाई।
बिनसे पाप पुन्य जिन्ह कीन्हा, बिनसे गुन निरगुन जिन चीन्हा।
बिनसे अगिनि पौन औ पानी, बिनसे सिष्टि कहाँ लौ गानी।
बिस्नु लोक बिनसे छिन माँही, हौ देखा परलै की छाँही॥
साखी—मच्छ रूप माया भई, जबरहि खेले अहेर।
विधि हरि हर नहि ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर॥

अर्थ—चाहे कोई कितना भी महत्त्वपूर्ण हो।किंतु काल सबको नष्ट कर देता है। शेषनाग पूरी धरती को उठाये है। किंतु वे भी नष्ट हो गये। सर्पो को खानेवाले गरुड़ भी नष्ट हो गए (भक्ष्य और भक्षक दोनो का नाश)। छली और सत्यव्रती, पाप-पुण्य करनेवाले, सगुण-निर्गुण साधक, पवन, पानी, आग आदि जहाँ तक सृष्टि है सब नष्ट हो गए। विष्णुलोक क्षणभर मे विलीन हो गया। मैने प्रलय की छाया देखी है। अर्थ कि सभी प्रलय मे नष्ट हो गए। नष्ट होना ही प्रलय की छाया है।

माया मगरमच्छ है। बड़ी मछली है। यह सबको खा जाती है। सभी इसके शिकार बन जाते है। यह ब्रह्मा, विष्णु, शिव को खा जाती है, देवता, मनुष्य और मुनि की क्या गिनती है?

टिप्पणी—यह माया को मछली कहने का सकेत है कि प्रलयकाल मे केवल मछली ही बचती है। मछली का प्रलय मे नाश नही होता। शायद इसलिये भी कि एक तो वह पानी का

जीव है। दूसरी यह कि उसकी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति है। योगी की साधना भी मत्स्य-सी ऊर्ध्वगमिनी होती है। परलै की छॉही का प्रयोग 'प्रसाद' ने 'प्रलय की छाया' शीर्षक मे किया है।

(३६)

जरासिधु सिसुपाल संहारा, सहस अरजुन छल ते मारा।
बड़ छली रावन सो गौ बीती, लंका रहल कंचन की भीती।
दुरजोधन अभिमानहि गैऊ, पंडव केर भेद नहि पैऊ।
माया के डिभ गैल सभ राजा, उत्तम मद्धिम बाजन बाजा।
सब चकवे बित धरनि समाना, एको जीव परतीत न माना।
कहँ लगि कहौ अचेतहि गैऊ, चेत अचेत झगर एक भैऊ।
साखी—ई माया जग मोहनी, मोहिसि सब जग धाय।
हरीचन्द सत कारने, घर घर गये बिकाय॥

अर्थ—जरासध (मगधराज), शिशुपाल का नाश हो गया। सहस्रार्जुन को धोखे से मारा गया। बड़ा भारी छली रावण भी मारा गया। जिस रावण की लका सोने की दीवार वाली थी, वह भी नष्ट हो गयी। दुर्योधन अपने अभिमान से चला गया। अभिमान मे वह पाडवो की शक्ति का रहस्य नही समझ सका। सभी राजा मायादभ (डिभ) मे चले गये। उत्तम, मध्यम बाजे वाले सभी राजाओ का नाश हो गया। सारे चक्रवर्ती (चकवे) नष्ट (वित) होकर पृथ्वी मे समा गये। इतना होने पर भी एक भी व्यक्ति माया की शक्ति मे विश्वास नही करता है या एक भी व्यक्ति रहेगा इसका विश्वास नही है। चेतन-अचेतन सभी झगड़ते हुए अचेतावस्था को प्राप्त हुए।

माया मोहनी है। दौड़कर सपूर्ण ससार को मोह लेती है। सत्य का पक्ष अत्यत कठिन है। सत्य के कारण ही राजा हरिश्चद्र को घर-घर बिकना पड़ा। अर्थात् जो सत्य पर रहेगा उसे कठिनाई होगी ही।

(३७)

(सूफ़ियों की बाह्याचार)

मानिकपुरहि कबीर बसेरी, मदुदति सुनी सेख तकी केरी।
ऊ जे सुनी जौनपुर धामा, झूँसी सुनि पीरन को नामा।
इकइस पीर लिखे तेहि ठामा, खतमा पढ़ैं पैगम्बर नामा।
सुनत बोल मोहि रहा न जाई, देखि मुकरबा रहा भुलाई।
नबी हबीबी के जो कामा, जहँ लै अमल सो सबै हरामा॥
साखी—सेख अकरदी सेख सकरदी, मानहु बचन हमार।
आदि अंत उतपति प्रलय, देखहु दिष्टि पसार॥

शब्दार्थ—मद्दति = प्रशसा। केरी = की। सेख तकी = एक सूफी फकीर। पीर = उस्ताद। गुरु। खतमा = प्रार्थना। मुकरबा = कब्र। नवी = पैगम्बर। देवदूत। हबीबी = हजरत मुहम्मद। अमल = लोकाचार। हरामा = अपवित्र। दिष्टि = दृष्टि। पसार = फैलाकर। खोलकर।

अर्थ—कबीर कभी मानिकपुर (इलाहाबाद के पास की एक जगह) मे ठहरे थे। वहॉ उन्होने सूफी सत शेख तकी की प्रशसा सुनी। वही सुना कि जौनपुर तथा झूॅसी (इलाहाबाद) पीरो के स्थान है। वहॉ २१ पीरो की कब्रे है। जहॉ पैगम्बर की प्रार्थना पढ़ी जाती है। ये बाते सुनकर मुझसे रहा नही गया। मकबरो को देखने लगा। मकबरो को देखकर मन भूल गया। हजरत मुहम्मद ने सपूर्ण ससार को हराम (यहॉ नाशवान्) कहा है।

इसलिये हे शेख अकरदी, सकरदी मेरी बाते मानो। आँखे खोलकर देखो—सभी कुछ का आदि-अत है। उत्पन्न होनेवाला प्रलयलीन होना है।

(३८)

दर की बात कहौ दरबेसा, पातसाह है कौन भेसा।
कहाँ कूच कहँ करे मुकामा, कवन सुरति के करहु सलामा।
मै तोहि पूछौ मूसलमाना, लाल जरद की नाना बाना।
काजी काज करहु तुम कैसा, घर-घर जबह करावहु भैसा।
बकरी मुरगा किन फरमाया, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दरद न जान्हु पीर कहावहु, बैता पढ़ि-पढ़ि जग भरमावहु।
कहहि कबीर एक सैयद कहावै, आपु सरीखे जग कबुलावै॥
साखी—दिन को रोजा रहतु हो, राति हनत हो गाय।
यह तो खून वह बंदगी, क्यो कर खुसी खोदाय॥

शब्दार्थ—दर = द्वार। स्थान। दरबेसा = फकीर। पातशाह = बादशाह। परमात्मा। खुदा। कूच = प्रस्थान। मुकामा = गन्तव्य। सुरति = रूप। जरद = पीला। की = या। अथा। नाना अनेक। बाना = वर्ण। काजी = न्यायाधीश। जवह = काटना। फरमाया = आदेश दिया। पीर = (१) धर्मगुरु (२) पीड़ा जाननेवाला। बैता = कविता। सैयद = हजरत इमाम हुसेन के वशज। हनन = मारना। खून = हत्या। बदगी = प्रार्थना। खोदाय = खुदा। जो स्वयभू है। खुद पैदा हुआ है।

अर्थ—कबीरदास इस्लाम की जबह प्रथा की आलोचना करते हुए कहते है—बादशाह का क्या भेस है? अर्थात् ईश्वर कैसा है? जो उसके दरवाजे या स्थान की बात कहता है वह दरवेश है। उस प्रभु का स्थान कहाँ है? कहाँ से तुम उसे प्राप्त करने के लिये प्रस्थान करते हो? क्या तुम जानते हो कि उस प्रभु का रग लाल है, पीला या अनेक वर्ण का है? ऐ काजी, क्या तुम्हारा काम यही है कि तुम घर-घर भैसा कटवाओ? किसके आदेश से तुम बकरी और मुर्गा काटने का फरमान जारी करते हो? तुम पीर कहलाकर भी इन जीवो का दर्द नही समझते हो। प्रार्थनाएँ पढ़-पढ़कर लोगो को धोखा देते हो। सैयद कहलानेवाले भी हिसा मे विश्वास करते है और सारे ससार को हिसा की प्रेरणा देते है।

दिन मे खुदा को प्रसन्न करने के लिये रोजा रखते है। खाना नही खाते। और रात को गाय मारकर खाते हो। एक तरफ प्रार्थना करते हो। दूसरी ओर हत्याएँ करते हो। क्या ईश्वर इससे कभी प्रसन्न हो सकता है? कभी नही।

(३९)

(विषय संग से ज्ञान दुर्लभ)

कहइत मोहि भयल जुग चारी, समुझत नाहि मोह सुत नारी।
बंस आगि लगि बंसै जरिया, भर्म भूलि नर धंधे परिया।
हस्तिनि फंदे हस्ती रहई, मृगी के फंदे मृगा परई।
लौहे लोह जस काटि सयाना, त्रिया के तत्तु त्रियै पै जाना॥
साखी—नारि रचंते पुरुषा, पुरुष रचंते नार।
पुर्षहि पुर्षा जो रचै, सो बिरला संसार॥

अर्थ—सत कबीर कहते है कि मै चार युग से कह रहा हूँ किंतु स्त्री-पुत्र की ममता मे पड़े लोग समझ नही रहे है। बाँस बाँस की रगड़ की आग से जलकर नष्ट हो जाता है। वैसे भ्रम और भूलकर पारिवारिक धधे मे पड़े लोग नष्ट हो जाते है। हाथी-हथिनी और मृग-मृगी के लोभ

जाल मे फँस जाते है। लोहा लोहे को काटता है। स्त्री के तत्त्व को स्त्री ही समझती है।

नारी पुरुष मे अनुरक्त होती है। पुरुष स्त्री मे अनुरक्त रहता है। किंतु पुरुष का पुरुष मे अनुरक्त रहने की बात विरले को ही समझ मे आ सकती है।

(४०)

(धारणारहस्य)

जाकर नाम अकहुआ रे भाई, ताकर काह रमैनी गाई।
कहौ तातपर्ज एक ऐसा, जस पंथी बोहित चढ़ि बैसा।
है कछु रहनि गहनि की बाता, बैसा रहे चला पुनि जाता।
रहे बदन नहि स्वाँग सुभाऊ, मन अस्थिर नहि बोलै काऊ॥
साखी—तन रहित मन जात है, मन रहित तन जाय।
तन मन एकै होय रहै, हंस कबीर कहाय॥

शब्दार्थ—अकहुआ = अकथनी। अनिर्वचनी। रमैनी = रामकथा। गुणानुवाद। बोहित = जहाज।

अर्थ—जिसका नाम भी अकथनी है उसके गुणो का वर्णन कैसे हो सकता है ? एक तात्पर्य की बात कहता हूँ। जैसे जहाज पर चढ़ा यात्री गन्तव्य को पहुँच जाता है वैसे ही जो सद्गुरु की पद्धति (रहनि) को पकड़ता है। उनके अनुसार साधना करता वह ससार को वैसे ही पार करता है जैसे जहाज का यात्री। साधक को किसी प्रकार की बनावट (स्वाँग) नही करनी चाहिए। उसे अपने शरीर के भीतर ही रहना चाहिए। अर्थात् मन को मन मे ही देखे। चचल चित्त (मन) से कुछ न बोले। जो भी बोले शात एव समाहित मन से बोले।

नन और मन का समन्वय आवश्यक है। तन का मन और मन का तन से समन्वय सबध होना चाहिए। यही बात महात्मा कबीर कहते है।

(४१)

जेहि कारन सिव अजहुँ वियोगी, अंग विभूति लाय भौ जोगी।
सेस सहस मुख पार न पावा, सो अब खसम सही समुझावा।
ऐसी विधि जो मो कहँ ध्यावै, छठये माँह दरस सो पावै।
कवनेहु भाव दिखाई देऊँ, गुप्ते रहि सुभाउ सब लेऊँ॥
साखी—कहहि कबीर पुकारि के, सभ का इहै हवाल।
कहा हमार मानै नही, कैसे छूटै भ्रम जाल॥

अर्थ—परमात्मा की प्राप्ति के अभाव मे शिव आज भी वियोगी (साधक) बनकर शरीर मे भस्म लगाकर योग की लौ जलाए बैठे है। परमात्म तत्त्व अवर्णनी है। शेष सहस्र मुख से भी उसका वर्णन नही कर सकते है। उसी परमतत्त्व खसम शब्द द्वारा समझाने मे आसानी हो गयी। मतलब कि परमतत्त्व शास्त्र और शब्द नही साधना से समझा-समझाया जा सकता है। ऐसी विधि अर्थात् खसम (पति) मानकर जो परमात्म का ध्यान करता है वह उसका छ मास मे ही दर्शन कर लेता है। परमात्म किसी भी भाव से (भाव कुभाव अनख आलसहू, नाम जपत मगल दिसि दसहू- तुलसी) साधना करने पर गोचर हो सकता है। गुप्त रहकर ही वह सब स्वभाव का अनुभव करता है।

कबीर पुकारकर कहते है कि सभी का यही हाल है। हमारी बात मानता नही है। फिर भ्रम-जाल से कैसे छूट सकता है ?

(४२)

महादेव मुनि अंत न पाया, उमा सहित उन्ह जन्म गँवाया।

उनते सिध साधक नहि कोई, मन निश्चय कहु कैसे होई।
जौ लगि तन मै आहै सोई, तब लगि चेति न देखै कोई।
तब चेतिहौ जब तजिहहु प्राना, भया अंत तब मन पछिताना।
इतना सुनत निकट चलि आई, मन विकार नहि छूटी भाई॥
साखी—तीनि लोक यो आय के, छूटि न काहु कि आस।
इक अँधरे जग खाइया, सबका भया बिनास॥

अर्थ—शकर जी उमा सहित जीवन बिता दिए किंतु परमतत्त्व को न जान सके। उनसे बड़ा साधक सिद्ध कोई नही है। फिर मन मे निश्चय कैसे हो सकता है कि वह तत्त्व क्या है ? जब तक परमात्म तत्त्व शरीर मे है तब तक कोई चेतकर उसे नही देखता। शरीर के न रहने पर यह सभव नही है। चेत तब होता है जब प्राण जाने का समय हो जाता है। अत समय मे मन पछताता है। यह सब सुनते-सुनते अत समय निकट चला आता है। फिर भी मन से विकार नही छूट पाता है।

तीनो लोको मे आकर किसी की आशा नही छूटी। सभी विषयो से तृप्ति की आशा मे है। एक अधकार (माया = लक्ष्यहीन) ने ससार को नष्ट कर दिया। सबका नाश हो गया।

(४३)

मरि गये ब्रह्मा कासी के वासी, सीव सहित मुए अविनासी।
मथुरा मरिगो कृस्न गुवारा, मरि मरि गए दसौ अवतारा।
मरि मरि गए भगति जिन ठानी, सरगुन महँ जिन निरगुन आनी॥
साखी—नाथ मछंदर बाँचे नही, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहि कबीर पुकारिकै, सभ परे काल की फाँस॥

अर्थ—काशी-निवासी ब्रह्मा (ब्राह्मण) बिना परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किये मर गये। अमर कहलानेवाले देवताओ के साथ शिव भी मर गए। मथुरावासी गोपाल कृष्ण भी मर गए। दसो आवतारो की मृत्यु हो गयी। सगुण शरीर या मूर्तियो मे जिन्होने निर्गुण निराकार की साधना की वे भी मर गए।

गोरखनाथ, दत्तात्रेय, व्यास, मत्स्येद्रनाथ कोई नही बचे। कबीर पुकारकर कहते है कि सभी काल के जाल मे पड़ गये।

(४४)

गये राम औ गये लछमना, संग न गई सीता अस धना।
जात कौरवहि लागु न बारा, गये भोज जिन साजल धारा।
गये पंडु कुन्ती सी रानी, सहदेवहु जिन बुधि मति ठानी।
सर्व सोन की लंक उठाई, चलत बार कछु संग न लाई।
जाकी पुरी अंतरिछ छाई, सो हरिचन्द देखल नहि जाई।
मुरुख मानुस बहुत सँजोवै, अपने मरे अवर लगि रोवै।
ना जानै अपनौ मरि जैबे, टका दस बढ़ै अवर लै खैबे॥
साखी—अपनी अपनी करि गये, लागि न काहु के साथ।
अपनी करि गो रावणा, अपनी दसारथ नाथ॥

अर्थ—राम और लक्ष्मण गए। उनके साथ सीता जैसी पतिव्रता स्त्री नही गयी। सब अलग-अलग गए। कौरवो को जाने मे देर नही लगी। धारा नगरी को सजानेवाले राजा भोज भी चले गए। पाडु एव कुती रानी, बुद्धिमान सहदेव भी चले गए। सोने की लका का निर्माता रावण चलते समय कुछ न ले जा सका। जिस हरिश्चद्र का नगर अतरिक्ष तक शोभा पाता है वे भी

अब देखे नही जाते है। मूर्ख मनुष्य बहुत सजोते (इकट्ठा करते) है। स्वय तो मरणशील है और दूसरो के लिये रोते है। यह नही जानता कि स्वय मर जायगा। उसके बढ़ाए धन (दस टका) से दूसरे लोग आरभ करेगे।

सभी ने अपने-अपने ढग से धन इकट्ठा किया। किंतु धन किसी के साथ नही लगा। सब खाली हाथ गए। रावण ने भी अपने ढग से किया। दशरथ भी अपने ढग से धन सँजो गए।

(४५)

(ममत्व फल)

दिन दिन जरै जलन के पाऊँ, डाढ़े जाय न उमँगे काऊ।
कंध न देइ मसखरी करई, कहु धौ कौनि भाँति निस्तरई।
अकरम करै करम को धावै, पढ़ि गुनि वेद जगत समुझावै।
छूँछा परे अकारथ जाई, कहहि कबीर चित चेतहु भाई॥

शब्दार्थ—डाढ़े = दग्ध। जलना। उमँगे = उन्मुक्त। मुक्त। काऊ = किसी। पाऊँ = प्राप्त करता हूँ। पैर। निस्तरई = मुक्ति। अकरम = बुरा कर्म।

अर्थ—दिनोदिन दुख और बढ़ता जा रहा है या दुख ने पैर जकड़ लिये है। जल रहा हूँ। किसी भी प्रकार से मुक्ति नही है। कोई सहारा नही देता है (कध न देइ)। सभी मजाक उड़ाते है। समझ मे नही आता कि मुक्ति कैसे होगी ? व्यक्ति दिन-रात कर्म के पीछे दौड़ता है। बुरा कर्म करता है। वेद पढ़कर ससार को कर्मकाड सिखलाता है। किंतु कर्मकाड से कुछ होनेवाला नही है। वेद और तज्जनित कर्मकाड व्यर्थ होते है। कबीरदास कहते है कि हे भाई चेतकर देखो।

(४६)

क्रितिया सूत्र लोक एक अहई, लाख पचास कै आयू कहई।
विद्या बेद पढ़े पुनि सोई, बचन कहत परतछै होई॥
पहुँची बात विद्या के पेटा, बाहू के भर्म भया संकेता॥
साखी—खग के खोजन तुम परे, पीछे अगम अपार।
बिनु परचै कस जानिहो, झूठा है हंकार॥

शब्दार्थ—क्रितिया = (स कृतक या कृत्रिम) निर्मित। काल्पनिक। सूत्र = सूक्ष्म। बाहू = उन्हे।

अर्थ—एक सूक्ष्म लोक है जिसके निवासियो की आयु पचास लाख वर्षो की कही जाती है। (किंतु वे भी मरणधर्मा हैं)। वेद विद्या पढ़नेवाले लोग ऐसे बोलते है जैसे वह लोक उनके सामने प्रत्यक्ष है। यह बात विद्या (सरस्वती) या विद्वानो के पेट मे पहुँची। किंतु उन्हे भी भ्रम हो गया।

आत्मतत्त्व पक्षी जैसा शून्य (आकाश) मे है। उसका पीछा करना अगम, अपार काम है। बिना साधना के परिचय द्वारा उसे कैसे जान सकते हो ? सारे अहकार झूठे है।

(४७)

(गुरुभक्ति का महत्व)

तै सुत मानु हमारी सेवा, तो कँह राज देइहों देवा।
अगम दुर्गम गढ़ देउँ छुड़ाई, औरौ बात सुनहु कछु आई।
उतपति परले देउँ देखाई, करहु राज सुख विलसहु जाई।
एकौ बार न होइहै बाँको, बहुरि जन्म नहि होइहै ताको।

जाइ पाप सुख मिले निधाना, निस्चै वचन कबीर के माना॥
साखी—साधु संत तेई जना, जो मानहि बचन हमार।
आदि अंत उतपति प्रलय, देखहु दिष्टि पसार॥

अर्थ—गुरु कहते है कि हे शिष्य तुम मेरी सेवा अथवा उपदेश मानो, इससे तुम्हे देवराज्य की प्राप्ति होगी। जन्म-कर्म का जो अगम्य दुर्गम गढ़ है उससे तुम्हे मुक्ति मिल जायगी। और भी कुछ ज्ञान हो जायगा। उत्पत्ति-प्रलय के तत्त्व बना दूँगा। इससे राज करो। विलास करो। तुम्हारा एक बाल भी बाँका नही होगा। (बाल बॉका न होना = कोई नुकसान न होना)। तुम्हारा पुनर्जन्म नही होगा। पाप नष्ट होकर सुख मिलेगा। यह कबीर की निश्चित बात है।

वही व्यक्ति साधु सत है जिसने हमारी (कबीर की) बात मानी। मेरी बात मानकर जन्म, मृत्यु, सृष्टि, प्रलय सब ऑख खोलकर देख सकते हो।

(४८)
(वैराग्यार्थोपदेश)

चढ़त चढ़ावत भँड़हर फोरी, मन नहि जानै केकर चोरी।
चोर एक मूसै संसारा, बिरला जन कोइ बूझनि हारा।
सरग पताल भूमि लै बारी, एकै राम सकल रखवारी॥
साखी—पाहन होयके सब गये, बिनु भितियन को चित्र।
जासो कियहु मिताई सो धन भया न हित्त॥

शब्दार्थ—चढ़त चढ़ावत = हठयोग करने से। भँड़हर = शरीर। चोर = माया। बारी = वाटिका या समुद्र। भितियन = दीवाल।

अर्थ—हठयोग की साधना द्वारा श्वासो और चक्रो को चढ़ाते-चढ़ाते शरीर नष्ट हो गया। मृत्यु आ गयी। मन नही जानता कि चोर कौन है ? माया चोर ससार को मूस रहा है। इस बात को विरला व्यक्ति ही समझ पाता है। स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, समुद्र, आदि सब के एक रखवाले राम है।

सभी पत्थर होकर गये। बिना दीवाल के चित्र सभव नही है। किंतु ईश्वर ने ससार चित्र को बिना किसी आधार के बनाया है। नो मनुष्य उसी चित्र का एक भाग है। वह शून्य भी है और निर्जीव चित्र भी है। जिस धन को मित्र समझकर इकट्ठा किया वह धन अत समय मे हितू न हो सका।

(४९)

छाँड़हु पति छाँड़हु लबराई, मन अभिमान छूटि तब जाई।
जन जो चोरी भिच्छा खाही, सो बिरवा पलुहावन जाहीं।
पुनि सम्पति औ पति कँह धावै, सो बिरवा संसार लै आवै॥
साखी—झूठ-झूठ के डारहु, मिथ्या यह संसार।
तेहि कारन मै कहत हौ,, जाते होय उबार॥

शब्दार्थ—पति = स्वामीत्व। परिग्रह। लबराई = झूठपना। बिरवा = आरभिक पेड़। भिच्छा = उदर निमित्त मॉगी जानेवाली वस्तु। पलुहावन = पल्लवित होना। वृद्धि को प्राप्त करना। ससार लै आवै = मोह बढ़ानेवाला। उबार = मुक्ति।

अर्थ—ऐ लोगो, स्वामीत्व और झूठपना दोनो एक है। इसलिये दोनो छोड़ो। तभी मन का अभिमान दूर होगा। (मुक्ति के लिये अभिमानरहित होना आवश्यक है)। जो लोग चोरी या भिक्षा का धन खाते है उसका आरभिक वृक्ष ससार मे बढ़कर मोह पैदा करता है। ऐसे लोग पुन धन और स्वामीत्व के लिये दौड़ने हैं। यह दौड़ बधन का कारण बनती है। इससे ससार

की वासना नही छूटती और बार-बार आवागमन होता है।

ससार की वासना झूठी है। जगत मिथ्या है। इसलिये इस मिथ्या (झूठ) को छोड़ दो। मै इसी कारण से कह रहा हूँ। जिससे मुक्ति मिल सके।

टिप्पणी—पेट भरने से अधिक रखनेवाले को भागवत मे चोर कहा गया है—

यावत् भ्रियते जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत् स स्तेनो दडमर्हति ।७।१४।८।

(५०)

(तत्वज्ञान बिना परवञ्चनादि प्रकरण)

धर्म कथा जो कहते रहई, लबरी नित उठि प्रातै कहई।
लाबरि बिहने लाबरि संझा, इक लाबरि बस हिरदया मंझा।
रामहुँ केर मरमु नहि जाना, लै मति टानिन्हि वेद पुराना।
वेदहु केर कहल नहि करई, जरतहि रहै सुस्त नहि परई॥
साखी—गुनातीत के गावते, आपुहि गये भ्रमाय।
माटिक तन माटी मिलै, पवनहि पवन समाय॥

अर्थ—जो नित्य धर्म की कथा कहते है, फिर भी नित्य झूठ का व्यवहार करते है। उनके हृदय मे झूठ है। वे सुबह-शाम झूठ का व्यवहार करते है। वे राम का रहस्य नही जानते। झूठ मूठ मे वेद-पुराण की बात करते है। वे झूठे लोग वेद का कहा भी नही करते है। वे सदा तृष्णा की आग मे जला करते है। कभी ठडे नही होते।

गुणातीत परमतत्त्व का गान करते हुए भी भ्रम से मुक्त नही होते है। मिट्टी का शरीर मिट्टी मे मिल जाता है। पवन पवन मे मिल जाता है। अर्थात् मृत्यु के बाद भी वे अज्ञानी ही बने रहते है। जीवन मरण सब अज्ञान मे होता है।

(५१)

जौ तोहि करता बरन बिचारा, जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा।
जन्मत सूद्र मुए पुनि सूद्रा, कृतम जनेउ डारि जग मुद्रा।
जौ तुह ब्राह्मन ब्रह्मनी के जाया, और राह ते काहे न आया।
जौ तुह तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटे काहे न सुनति कराया।
कारी पियरी दुहहू गाई, ताकर दूध देहु बिलगाई।
छाडु कपट नर अधिक सयानी, कहहि कबीर भजु सारंगपानी॥

शब्दार्थ—तीनि दड = त्रैताप। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप। कृतम = कृत्रिम। बनावटी। सारगपानी = विष्णु। सुनति = खतना। बिलगाई = अलगाना।

अर्थ—जो तुम कर्त्ता के वर्ण का विचार करते हो तो याद रखो कि सभी को जन्म से ही तीन दुख प्राप्त है। सभी लोग जन्म से मृत्यु तक शूद्र होते है। जनेऊ डालकर ब्राह्मण बनना कृत्रिम काम है। ऐ ब्राह्मण, यदि तुम ब्राह्मणी की सतान हो तो तुम्हारे जन्म का मार्ग भी दूसरा होना चाहिए। अर्थ यह कि जन्म से कोई ब्राह्मण या शूद्र नही है। हे मुसलमान, यदि तुम मुसलमानी से पैदा हो तो भीतर ही (माँ के पेट मे ही) खतना क्यो नही हुआ? गाय काली या पीली हो सबका दूध समान रूप से एक रग का होता है। गाय के रगो के आधार पर दूध को अलगाया नही जा सकता है। इसी प्रकार रग के आधार पर भी मनुष्य-मनुष्य मे भेद नही किया जा सकता है। ऐ मनुष्य, ज्यादा होशियार मत बनो, सभी एक होकर भगवान् का भजन करो। क्योकि भगवान भेदभावरहित है।

(५२)

नाना रूप बरन यक कीन्हा, चारि बरन उन्ह काहु न चीन्हा।
नष्ट गए करता नहि चीन्हा नष्ट गये औरहि मन दीन्हा।
नष्ट गए जिन्ह वेद बखाना, वेद पढ़े पे भेद न जाना।
विमलख करै नैन नहि सूझा, भया अयान तब कछुवौ न बूझा॥
साखी—नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी बसै, सुनहु तकी तुम सेख॥

अर्थ—परमात्मा एक है। उस एक ने एक ही प्रकार के मनुष्यो का निर्माण किया। किंतु उसी एक मे अनेक वर्ण और रूप पैदा हुए। चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) बनाए। सभी नष्ट होते गए किंतु उस निर्माता की पहचान नही की। इसलिये भी नष्ट हुए कि उस एक निर्माता को न पहचानकर दूसरो पर ध्यान रखा। वे भी नष्ट हो गए जिन्होने वेद का बखान किया। वेद की रचना की। वेद तो पढ़ा, किंतु जीव, जगत् और ब्रह्म का भेद समझने की कोशिश नही की। अपने को शुद्ध, साफ ऑखो वाला मानकर भी उन्हे तत्त्व दर्शन नही हुआ। वे मायाजन्य अज्ञान मे डूबे रहे। कुछ भी दिखाई नही दिया। कुछ भी समझ मे नही आया।

सभी लोग नट के समान अनेक प्रकार के नाच नाचते है। हे शेख तकी, सुनो। लोग शरीर (घट-घट) मे अविनाशी परमतत्त्व को नही समझ पाते है।

(५३)
(दुर्बोध फल)

काया कंचन जतन कराया, बहुत भाँति कै मन पलटाया।
जौ सौ बार कहौ समुझाई, तैयो धरा छोरि नही जाई।
जन के कहे जनै रहि जाई, नवौ निद्धि सिद्धि तिन पाई।
सदा धर्म जाके हिय बसई, राम कसौटी कसतै रहई।
जौ रे कसावै अनतै जाई, सो बाउर अपनै बौराई॥
साखी—तातै फाँसी काल की, करहु आपनो सोच।
संत सिधाये संत जहँ, मिलि रहा पोचहि पोच॥

अर्थ—लोग शरीर को सोने-सा सुदर बनाते है। अनेक कोशिशो से मन को विषयो से विमुख करते है। फिर भी चाहे कितना ही समझाओ किंतु लोगो का मन सासारिक बना रहता है। वे सासारिकता से मुक्त नही हो पाते है। अज्ञानियो की बात मानकर अज्ञानी ही रह जाते है। ऐसे अज्ञानी नवो निधियॉ, आठो सिद्धियॉ तो प्राप्त कर लेते है। अर्थात् उन्हे ससार की सारी सपत्ति मिल जाती है। किंतु परमात्मतत्त्व नही प्राप्त होता है। जो महान् धार्मिक है, महान् धर्म जिनके हृदय मे है। उन्हे भी अपने को राम की कसौटी पर कसते रहना चाहिए। आत्मतत्त्व की प्राप्ति की कसौटी राम को छोड़कर जो दूसरे देवी-देवताओ के पास जायँगे वे पागल है। पागल ही बने रहते है।

काल भयकर है। वह सबके लिये फॉसी है। मृत्यु है। इसलिये सबको अपनी सोच करनी चाहिए। सत के पास जाने पर व्यक्ति सत बनेगा। छोटे (पोच) लोगो का साथ करने पर छोटा होगा।

(५४)
(सद्गुरु शिष्य)

सोई हित बंधु मोहि मन भावै, जात कुमारग मारग लावै।

सो सयान मारग रहि जाई, करै खोज कबहूँ न भुलाई।
सो झूठा जो सत कहँ तजई, गुर की दया राम को भजई।
किंचित है यह जगत भुलाना, धन सुत देखि भया अभिमाना॥
साखी—दिया खताना किया पयाना, मन्दिर भया उजार।
मरि गये ते मरि गये, बाँचे बाँचनिहार॥

अर्थ—वही मुझे हितकर भाई जान पड़ता है जो मनुष्य को बुरे रास्ते से हटाकर सद्मार्ग पर ले जाय। वही बुद्धिमान है जो मार्ग पर रहकर सदा प्रभु की खोज करता है। ईश्वर के अन्वेषण मे कभी भूल नही करता। सत्य को छोड़नेवाला झूठा है। ऐसे ही लोग गुरुदेव की कृपा से राम का भजन करते है। यह ससार धन, पुत्र आदि जागतिक अभिमान मे भूला हुआ है।

जीव का सासारिक कार्य (खताना, खतियाना) था सासारिक लेखा जोखा पूरा हुआ। प्राण प्रयाण कर गये। घर या शरीर (मदिर) उजड़ गये। मरनेवाले मर गए। कितु जो राम की शरण मे गये हुए है। वे बच गये।

'दिया खताना' का अर्थ प्राणदीपक का बुझ जाना भी हो सकता है।

(५५)

बोलना कासो बोलिय (रे) भाई, बोलत ही सब तत्तु नसाई।
बोलत बोलत बाढ़ विकारा, सो बोलिये जो परै बिचारा।
मिलै जु संत बचन दुइ कहिए, मिलै असंत मौन होय रहिए।
पण्डित सो बोलिये हितकारी, मूरुख ते रहिये झख मारी।
कहहि कबीर अर्ध घट डोलै, पूरा होय विचार लै बोलै॥

अर्थ—परमतत्त्व की बात किससे की जाय ? परमतत्त्व को समझना-समझाना मुश्किल है। समझाने की चेष्टा मे परमतत्त्व की अनुभूति समाप्त हो जाती है। बोलने से विकार बढ़ता है। उतना ही बोलना चाहिए जिस पर लोग विचार कर सके या जो उन्हे समझ मे आ सकता हो। सत मिले तो दो बात कहिए। असत मिले तो मौन रहिए। पडित से बात करना लाभदायक है। मूर्ख मिले तो व्यर्थ समय मत नष्ट कीजिए। सत कबीर कहते है कि जैसे आधा भरे घड़े का पानी छलकता है उसी प्रकार अर्ध ज्ञानी बकवाद करता है। पूर्ण ज्ञानी विचार कर बोलता है।

(५६)

सोग बधावा सम कै माना, ताकि बात इन्द्रहु नहि जाना।
जटा तोरि पहिरावै सेली, जोग जुक्ति कै गर्ब दुहेली।
आसन उड़ये कौन बड़ाई, जैसे काग चील्ह मँड़राई।
जैसी भित्ति तैसि है नारी, राजपाट सब गनै उजारी।
जस नरक तस चंदन जाना, जस बाउर तस रहै सयाना।
लपसी लौग गनै एक सारा, परिहरि खाँड़ मुख फाँकै छारा॥
साखी—इहै विचार विचारते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै होय रहा, (मैं) काहि लगावौ हेत॥

शब्दार्थ—सोग = शोक। बधावा = बधाई। मगलाचार। सेली = ऊन या बालो को बॉटकर बनायी गई माला जैसी पहनने की चीज। खॉड़ = चीनी। छारा = धूल। लपसी = थोड़े घी मे बना हलुआ। सारा = समान। दुहेली = कठिन। दु साध्य।

अर्थ—सत कबीर कहते है कि कुछ लोग विचार मे सुख-दुख को एक मानते है। ऐसा चरित्र बनाते है जिसे इद्र भी नही जान सकते है। बाल कटाकर योगी जैसी सेली पहनते है। उन्हे योग-युक्ति का कठिन गर्व भी होता है। वे योग-साधना द्वारा आसन से उड़ जाते है।

किंतु यह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही है। यह कौए, चील्ह जैसे मॅडराना है। उड़ना है। वे कहते है कि स्त्री भित्तिचित्र के समान अनुत्तेजक है। राजपाठ सब उजाड़ स्थान के समान व्यर्थ है। चदन का लगाना या नरक का वास दोनो समान है। पागल और ज्ञानी दोनो का एक समान आचरण है। वे हलुआ और लोग को समान मानते है। मीठी चीनी छोड़कर धूल फॉकते है, किंतु इससे कुछ नही होना है।

इन्ही बातो पर विचार करते-करते मनुष्य की बुद्धि, बल और चेतना चली जाती है। नकली ज्ञान एव तत्त्वपूर्ण ज्ञान म इतनी एकता हो गयी है कि समझ नही आता कि किससे प्रेम किया जाय। भ्रामक स्थिति है।

(५७)

(माया का वर्णन)

नारि एक संसारहि आई, माय न बाके बाप न जाई।
गोड न मूड़ न प्रान अधारा, तामँह भरमि रहा संसारा।
दिना सात लौ बाकी सही, बुध अदबुध अचरज का कही।
बाकी बंदन करु सब कोई, बुध अदबुध अचरज बड़ होई॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
संतो अचरज देखहू, हस्ती सिघहि खाय॥

शब्दार्थ—नारि = माया। जाई = उत्पन्न। गोड़ = पैर। मूड़ = सिर। तामँह = उसमे। मूस = जीव। बिलाई = माया। हस्ती = माया। सिघहि = जीव को।

अर्थ—सृष्टि मे माया आई है। यह माया माता-पिता से रहित है। इसे किसी ने उत्पन्न नही किया है। वह पैर सिर, प्राण आदि से रहित है। किंतु उसी माया मे सारा ससार भ्रमण कर रहा है। भूला है। लोग पूरे हफ्ते अर्थात् सदा ही उसे सत्य मानते है। बुद्धिमान और मूर्ख दोनो ही माया के चक्कर मे है। इस आश्चर्य के बारे मे क्या कहे ? सभी उसकी (माया की) वदना करते है। आश्चर्य तो यह है कि इसमे ज्ञानी और अज्ञानी दोनो प्रकार के लोग है।

अब कबीर प्रतीक म कहते है कि जीव रूप चूहा और माया बिल्ली एक साथ कैसे रह सकते है ? हे सतो, आश्चर्य देखो, माया हाथी जीव सिह को खा रहा है।

(५८)

चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपर पनिहारी।
चली जात वह बाटहि बाटा, सोवनहार के ऊपर खाटा।
जाड़न मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भौ बौरी।
साँझ सकार दिया लै बारै, खसम छोडि सुमिरै लगवारै।
वाही के संग निसु दिन राची, पिय से बात कहै नहि साँची।
सोवत छाँडि चली पिय अपना, ई दु:ख अब दहुँ कहब कैसना॥
साखी—अपनी जाँघ उघारि कै, अपनी कही न जाय।
की चित जानै आपना, की मेरो जन गाय॥

शब्दार्थ—नारी = नाड़ी। सुषुम्ना। (सुषुम्ना मेरुदड मे से जाती है। वह नाभि प्रदेश से उत्पन्न होकर मेरुदड से होती हुई ब्रह्मचक्र मे प्रवेश करती है—कबीर का रह०, पृ० १०३)। तर गागरि = सुषुम्ना नाड़ी के निम्न मुख मे कुडलिनी निवास करती है। वह सुषुम्ना के सहारे आगे बढ़ती है। (वही पृ १०३) कुडलिनी का शरार सर्प के समान साढ़े तीन बार मुड़ा है। कुडलिनी सबसे नीचे के चक्र मूलाधार चक्र मे स्थित है। इसे जाग्रत किया जाता है। इस दृष्टि से कुडलिनी गागरि और सुषुम्ना नारि पनिहारी है। बाटहि बाटा = सुषुम्ना के जाने के मार्ग छ

चक्र। सोवनहार = सुप्त कुडलिनी। खाटा = ब्रह्मरध्र। कुडलिनी जाग्रत होकर यही पहुँचती है। जाइन = विषय-सुख। सपेदी सौरी = सफेद चादर। खसम = परमात्मतत्त्व। घरनि भौ बौरी = घर मे बावली। लगवारै = जार। विषय। दिया = ज्ञान। बारै = जलाना। अपनी जाँघ उघारि कै = अपना ही भेद बनाना।

अर्थ–साधक कबीर ने सुषुम्ना नाड़ी (स्त्री) को जाते देखा। वह ब्रह्मरध्र की ओर जा रही है। (उसकी गागर) सोयी सर्पाकार कुडलिनी का मुख गागर नीचे मूलाधार के पास है और वह ब्रह्मरध्र (पनिहारी) के पास पहुँचती है। 'जो योगी नही है, उनके ब्रह्मरध्र से अमृत प्रवाहित होता है, उसका शोषण मूलाधार चक्र मे स्थित सूर्य द्वारा हो जाता है (वही पृ ११५)। योगी इस प्रवाह को रोक अमृत को शोषण से बचाता है। सुषुम्ना जाग्रत कुडलिनी के साथ षड्चक्रो के रास्ते से होती ब्रह्मरध्र मे पहुँचती है। ब्रह्मरध्र ही खाट है। सोने वाली कुडलिनी है। जो मूलाधार मे सोयी थी। किंतु जागकर ब्रह्मरध्र खाट को प्राप्त करती है। जागरणहीन कुडलिनी के कारण जीव विषयो मे बड़ा दुख भोगता है। इसलिये भी कि जीव अपने शरीर मे ही परमतत्त्व के रहने विषयो के बावलेपन मे उस तत्त्व (परमतत्त्व) को नही पहचानता है। लगता तो ऐसा है कि जीव सदा (साँझ-सकारे) ज्ञान (दिया) प्राप्त करना चाहता है। किंतु उसका मन परमात्मतत्व मे न लगकर विषयो मे उलझा रहता है। सदा विषयो मे रहता है। कभी प्रिय की सच्ची बात नही करता है। विषय (अज्ञान) प्रिय जीव जो सदा सोता है और कुडलिनी भी सोती रहती है। जब विषय को छोडकर चलता है तब उसका (जीव का) कल्याण होता है। सामान्यत विषयो को छोडते समय भी एक प्रकार का दुख होता है। यह ऐसा दुख है जिसे कहना कठिन है।

जैसे अपना भेद कहना कठिन है वैसे ही विषय को छोड़ने का दुख और परमात्म-प्राप्ति के आनद का या तो अपना चित्त जानता है या जो मेरे जैसा साधक है या मेरा भक्त है।

(५९)

(देह के साझीदार और अपराध)

मानुष जन्म चूके जग माँझी, एहि तन केर बहुत है साँझी।
तात जननी कहै पुत्र हमारा, स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला।
कामिनि कहै मोर पिय आही, बाघिनि रूप गरासन चाही।
पुत्र कलत्र रहै लौ लाए, जम्बुक नित्य रहैं मुँह बाए।
काग गीध दोउ मरन विचारै, सूकर स्वान दोउ पंथ निहारै।
अगिनि कहै मै ई तन जारौ, पानि कहै मै जरत उबारौ।
धरती कहै मोहि मिलि जाई, पौन कहै सँग लेहुँ उड़ाई।
जेहि घर को घर कहै गँवारा, सो बैरी है गले तुम्हारा।
सो तन तुम आपन करि जानी, विषय रूप भूले अग्यानी।
साखी–एतने तनके साझिया, जन्मौ भरि दुख पाव।
चेतत नाही बावरा, मोर मोर गोहराव॥

अर्थ–भारती शास्त्रो मे कहा गया है कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। इसलिये मनुष्य जन्म पाकर भूल नही करनी चाहिए। इस शरीर के बहुत से हिस्सेदार है। पिता-माता कहते है कि यह हमारा पुत्र है। स्वार्थ के लिये ही हमने इसका पालन-पोषण किया है। स्त्री कहती है कि यह हमारा प्रिय है। किंतु बाघिन के समान पकड़ती है। पुत्र-स्त्री सभी ध्यान लगाए रहते है। सियार सोचता है मरे तो इसका मास खाएँ। इसी प्रकार कौए, गीध, सूअर, कुत्ते मरने का रास्ता देखते रहते है। आग जलाना चाहती है। पानी जलने से मुक्त कर अपने मे डुबोना चाहता है। धरती चाहती है कि मनुष्य मिट्टी मे मिल जाय। हवा उडाना चाहती है। मूर्ख मनुष्य जिस घर

को घर कहता है वह घर उसके दुश्मन-सा उसका गला पकड़े है। मनुष्य का असली घर तो अन्यत्र है। हे अज्ञानी, विषयो मे पड़कर तुमने शरीर को अनावश्यक महत्त्व दे रखा है।

ऐ मूर्ख मनुष्य, ज्ञान प्राप्त करो। शरीर के इतने हिस्सेदारो के वीच तुमने जन्मभर दुख पाया। व्यर्थ मे तुम सबको मेरा कहते हो। कोई भी तुम्हारा नही है।

(६०)

(विषय वासना)

बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी, परखत खर परखावत खोटी।
केतिक कहौ कहाँ लगि कही, औरौ कहौ परे जो सही।
कहल विना मोहि रहल न जाई, बेढ़ई लै लै कूकुर खाई॥
साखी—खाते खाते जुग गया, अजहुँ न चेतै आय।
कहहि कबीर पुकारिकै, ई जिव जरतहि जाय॥

अर्थ—विषय की ओर मन को बढ़ाने से वह और भी बढ़ता जाता है। मन को विषयो से हटा लेने पर विषय अत्यत क्षुद्र जान पड़ते है। विषय देखने मे अच्छे (खर) लगते है। किंतु जॉच करने पर पता लगता है विषय सुख बुरा है। कितना कहा जाय ? पुन जो अच्छा लगता है कहता हूँ। कहे बिना रहा भी तो नही जाता है। ऐ मनुष्य, कचौड़ी (बेढ़ई) जैसा सुदर मनुष्य-जन्म अज्ञान का कुत्ता नष्ट कर रहा है।

अज्ञान कुत्ता अनेक युगो से मनुष्य को खा रहा है या मनुष्य विषय का भोग कचौड़ी खाने वाले कुत्ते के समान तन्मय होकर कर रहा है। अब भी उसे समझ मे नही आया है। सत कबीर पुकारकर कहते है कि यह मनुष्य वासना की आग मे जलता हुआ नष्ट हो जायगा।

(६१)

(आशाजन्य दुख)

बहुतक साहस करु जिय अपना, तेहि साहब सो भेंट न सपना।
खरा खोट जिन नहि परखाया, चहत लाभ तिन्ह मूल गमाया।
समुझि न परै पातरी मोटी, ओछी गाँठि सबै भौ खोटी।
कहै कबीर केहि देहो खोरी, जब चलिहौ झिन आसा तोरी॥
साखी—झी झी आसा मँह लगे, ज्ञानी पण्डित दास।
पार न पावहि बापुरे, भरमत फिरहि उदास॥

अर्थ—साहसिक कार्यो से परमात्म की प्राप्ति नही होती है। इसलिए लोगो, कितना भी साहसिक (तीर्थ, व्रत, यज्ञ, दानादि) कार्य करोगे, प्रभु से भेट सभव नही है। जिन्होने अच्छे-बुरे की पहचान नही की। ऐसे लोग चाहते है लाभ। किंतु मूलधन भी गायब हो जाता है। उन्हे सूक्ष्म और स्थूल का भेद भी समझ मे नही आता है। छोटे मन से अपनाये गए सारे कर्म-धर्म छोटे हो जाते है। कबीर साहब कहते है कि किसको दोष दिया जाय ? चलते समय इच्छा-पूर्ति की छीन आशा भी समाप्त हो जाती है। फिर लोग है कि इच्छा के वश मे रहते है।

ज्ञानी, पडित और दास भी झीकते हुए प्राप्ति या तृष्णापूर्ति की आशा मे रहते है। या छीन आशा मे रहते है। कोई भी विषयो को पूर्णत पार नही पाता है। सभी दुखी होकर ससार चक्र मे घूमते है।

(६२)

(काम प्रभाव)

देव चरित्र सुनहु रे भाई, सो तो ब्रह्मा धिया नसाई।
ऊ जे सुनी मन्दोदरि तारा, तिन घर जेठ सदा लगवारा।

सुरपति जाय अहीलहि छरी, सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरी।
कहै कबीर हरिके गुन गाया, कुन्तीकरन कुँवारहि जाया॥

अर्थ–ऐ लोगो, देवताओ का चरित्र सुनो। ब्रह्मा ने अपनी ही पुत्री सरस्वती के साथ समागम किया। मदोदरी और तारा ने अपने जेठ से सबध किया। इद्र ने अहल्या का पातिव्रत भग किया। वृहस्पति की पत्नी के साथ चद्रमा ने समागम किया। कुती ने कर्ण को कुमारावस्था मे ही पैदा किया था। इसलिये देवताओ के चक्कर मे न पड़कर हरि स्मरण करो।

(६३)
(माया का आवरण)

सुख क बिर्छ एक जगत उपाया, समुझि न परै विषै कछु माया।
छव छत्री पत्री जुग चारी, फल दुइ पाप पुन्य अधिकारी।
स्वाद अमित कछु बरनि न जाई, कै चरित्र सो ताहि समाई।
नटवर सारे साज साजिया, जो खेलै सो देख बाजिया।
मोहा बपुरा जुक्ति न देखा, सिव सक्ति बिरंचि नहि पेखा॥
साखी–परदे परदे चलि गए, समुझि परी नहि बानि।
जो जानहि सो बाँचिहै, होत सकलकी हानि॥

अर्थ–माया का विषय कुछ समझ मे नही आता है। उसने सुख का एक जगत रूपी वृक्ष तैयार किया। मन सहित पॉच इद्रियॉ उस वृक्ष की शाखाऍ (छत्री) है। सुख-दुख दो पत्ते है। पाप-पुण्य करनेवाले अधिकार-भेद से उसके चार फलो (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को प्राप्त करते है। इन फलो मे बहुत अधिक स्वाद है। लोग इन्हे अपने चरित्र के अनुसार प्राप्त करते है। सभी लोग नट जैसी सज्जा सजाकर जो खेलते है। वे ही देखते है (जीव और ब्रह्म एक है)। सभी इसी मे मोहग्रस्त है। इससे मुक्ति का कोई उपाय नही है। शिव, शक्ति, ब्रह्मा को भी मुक्ति का कोई उपाय नही दीखता है।

सभी माया के पर्दे मे ही चले गये। माया का स्वभाव (बानि) किसी की समझ मे नही आया। जो माया के स्वभाव को समझ लेगा वही बच सकता है। वरना सब कुछ नष्ट हो रहा है।

(६४)
(राग सूहौ)

तूं सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार॥
तेरी कुदरति किनहूं न जानी, पीर मुरीद काजी मुसलमांनी॥
देवी देव सुर नर गण गंध्रप, ब्रह्मा देव महेसुर॥
तेरी कुदरति तिनहूं न जांनी॥टेक॥
काजी सो जो काया बिचारै, तेल दीप मै बाती जारै॥
तेल दीप मै बाती रहै, जोति चीन्हि जे काजी कहै॥
मुलनां बंग देइ सुर जांनीं, आप मुसला बैठा तांनीं॥
अपुन मै जे करै निवाजा, सो मुलनां सरबत्तरि गाजा॥
सेष सहज मै महल उठावा, चंद सूर बिचि तारी लावा॥
अर्ध उर्ध बिचि आंनि उतारा, सोई सेष तिहूं लोक पियारा॥
जंगम जोग बिचारै जहूंवां, जीव सीव करि एकै ठऊवां॥
चित चेतनि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा॥
जोगी भसम करै भौ मारी, सहज गहै विचार बिचारी॥

अनभै घट परचा सूं बोले, सो जोगी निहचल कदे न डोलै ॥
जैन जीव का करहु उबारा, कौंण जीव का करहु उधारा ॥
कहां बसै चौरासी का देव, लहौ मुकति जे जांनौ भेव ॥
भगता तिरण मतै संसारी, तिरण तत ते लेहु बिचारी ॥
प्रीति जांनि रांम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै ॥
पंडित चारि बेद गुण गावा, आदि अंति करि पूत कहाया ॥
उतपति परलै कहौ बिचारी, संसा घालौ सबै निवारी ॥
अरधक उरधक ये संन्यासी, ते सब लागि रहैं अबिनासी ॥
अजरावर कौं डिढ करि गहै, सो संन्यासी उन्मन रहै ॥
जिहि धर चाल रची ब्रह्मंडा, पृथमीं मारि करी नव खंडा ॥
अबिगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर अगह रहे ल्यो लाई ॥१॥

शब्दार्थ—गहगरा = उत्फुल्ल। गभीर। सफ सफा = स्पष्ट। स्वच्छ। गध्रप = गधर्व। कुदरति = स्वभाव। मुलना = मुसलमान। सरबत्तरि = सर्वत्र। गाजा = गर्जन। सीव = शिव। जगम = एक प्रकार के साधक। लिगायत शैव। भौ = भव। सहज = सहज साधना। अजरावर = अजर अमर। डिढ = दृढ़। उन्मन = विषयरहित मन। अगह = अग्रह या अगृह। मुसला = नमाज पढ़ने की चटाई। चादरी। पूत = पवित्र।

अर्थ—हे प्रभु, तुम सबमे एव सपूर्ण रूप से आनद हो। तुम स्वच्छ, दिलदार और दृश्यमान हो। तुम्हारी प्रकृति कोई नही जानता है। चाहे वे पीर हो, मुरीद या काजी हो। देवता-देवी, मनुष्य, गधर्व, ब्रह्मा, महादेव आदि कोई भी तुम्हारे स्वभाव को नही जानते है।

काजी वह है जो शरीर के सबध मे विचार करता है। शरीर क्या है ? जैसे दीपक मे तेल और बत्ती जलती हो। उसके प्रकाश मे अर्थात् जीवन रहने पर ही काजी कुछ पहचान सकता है। जीवन के बाद उसका कोई बस नही है। मुसलमान देवता समझकर बाग देते है। स्वय दरी तानकर बैठते है। जो अपने भीतर नमाज पढ़ता है वह सर्वत्र गरजता है। उसे केवल मस्जिद मे गर्जन नही करनी पड़ती है। जो सहज साधना द्वारा शेषनाग अर्थात् कुडलिनी मे महल उठाता है, कुडलिनी जाग्रत करता है तथा चद्र सूर्य (इला-पिगला) नाड़ियो की एकता स्थापित करता है। कुडलिनी को नीचे से जाग्रत कर ऊपर ले जाता है। वही कुडलिनी-साधक तीनो लोक का प्यारा होता है। लिगायत साधक जीव और शिव के अद्वैत की साधना करते है। चित्त को चैतन्य पूजा करते हे। इसी से उनका नाम जगम है। योगी ससार को नष्ट कर भस्म लगाते है। विचारकर सहज साधना को ग्रहण करते है। शरीर के भीतर अनुभव और परिचय कर बोलते है। ऐसे योगी कभी विचलित नही होते है। हे जैन, किस जीव का उद्वार करते हो यह स्पष्ट करो। चौरासी योनियो का देव कहाँ रहता है ? जो मुक्ति प्राप्त करता है वही इस भेद को समझ सकता है। भक्तो के मतानुसार ससार तरना ही महत्त्वपूर्ण है। किंतु तरन-तत्त्व क्या है इस पर विचार करो। जो प्रेम से राम कहता है वह भक्त दास कहलाता है। पडित चार वेदो के गुण गाते है। वेद को आदि से अत तक पवित्र कहते है। हे पडित, सारे भ्रमो को दूर कर उत्पत्ति और प्रलय की बात कहो। जो नीचे-ऊपर या बाहर-भीतर से सन्यासी है वह अविनाशी है। अजर अमर को दृढ़ता से पकड़ता है। वह सन्यासी विषयो से अलग रहता है। जिसने ब्रह्माड घर की रचना की है। पृथ्वी को मारकर नौ खड किया है। उस अविगत पुरुष की चाल कोई देख नही सकता है। कबीरदास ने उस अगेह तत्व मे ध्यान लगा रखा है।

राग- सूहो।

(६५)
(सतपदी रमैणी)

कहन सुनन कौ जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहूं न चीन्हां ॥
सत रज तम थै कीन्ही माया, आपण मांझै आप छिपाया ॥
ते तौ आहि अनंद सरूपा, गुन पल्लव बिस्तार अनूपा ।
साखा तत्त थै कुसम गियांनां, फल सो आछा रांम का नांमां ॥
सदा अचेत चेत जीव पंखी, हरि तरवर करि बास ।
झूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस ॥
सूक बिरख यहु जगत उपाया, समझि न परै बिखम तेरी माया ॥
साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी ॥
स्वाद अनेक कथ्या नही जांही, किया चरित सो इन मै नांही ॥
तेतौ आहि निनार निरंजनां, आदि अनादि न आंन ।
कहन सुनन कौ कीन्ह जग, आपै आप भुलांन ॥
जिनि नटवै नटसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी ॥
मो बपरा थै जोगति ढाठी, सिव बिरंचि नारद नही दीठी ॥
आदि अंति जो लीन भये है, सहजै जांनि संतोखि रहे है ॥
सहजै रांम नांम ल्यौ लाई, रांम नांम कहि भगति दिढाई ॥
रांम नांम जाका मन मांनां, तिनि तौ निज सरूप पहिचांनां ॥
निज सरूप निरंजनां, निराकार अपरंपार अपार ।
रांम नांम ल्यौ लाइस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार ॥
करि बिसतार जग धंधै लाया, अंध काया थै पुरिष उपाया ॥
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा ॥
तेतौ माया मोह भुलांनां, खसम रांम सो किनहूं न जांनां ॥
जिनि जांन्यां ते निरमल अंगा, नही जांन्यां ते भये भुजंगा ॥
ता मुखि बिष आवै बिष जाई, ते बिष ही बिष मै रहै समाई ॥
माता जगत भूत सुधि नांही, भ्रंमि भूले नर आवै जांही ॥
जानि बूझि चेतै नही अंधा, करम जठर करम के फंधा ॥
करंम का बांध्या जीयरा, अह निसि आवै जाइ ।
मनसा देही पाइ करि, हरि बिसरै तौ फिर पीछै पछिताइ ॥
तौ करि त्राहि चेति जा अंधा, तजि परकीरति भजि चरन गोव्यंदा ॥
उदर कूप तजौ ग्रभ वासा, रे जीव रांम नांम अभ्यासा ॥
जगि जीवन जैसै लहरि तरंगा, खिन सुख कूं भूलसि बहु संगा ॥
भगति कौ हीन जीवन कछू नांही, उतपति परलै बहुरि समांहीं ॥
भगति हीन अस जीवनां, जन्म मरन बहु काल ।
आश्रम अनेक करसि रे जियरा, रांम बिनां कोइ न करै प्रतिपाला ॥
सोई उपाव करि यहु दुख जाई, ए सब परहरि बिसै सगाई ॥
माया मोह जरै जग आगी, ता संगि जरसि कवन रस लागी ॥
त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु बिचारा ॥
रे रे जीवन नही बिश्रांमां, सब दुख खंडन रांम को नांमां ॥
रांम नांम संसार मै सारा, रांम नांम भौ तारनहारा ॥

सुम्रित बेद सबै सुने, नही आवे कृत काज।
नही जैसे कुंडिल बनित मुख, मुख सोभित बिन राज॥
अब गहि रांम नांम अबिनासी, हरि तजि जिनि कतहूं के जासी॥
जहां जाइ तहां तंहां पतंगा, अब जिनि जरसि समझि बिष संगा॥
चोखा रांम नांम मनि लीन्हां भ्रिगी कीट भ्यंन नही कीन्हां॥
भौसागर अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा॥
मनि भावै अति लहरि बिकारा, नही गमि सूझै वार न पारा॥
भौसागर अथाह जल, तामै बोहिथ रांम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर बिस्तार॥२॥

शब्दार्थ—जिहि = जिसने। सूक = सूखा। उपाया = उत्पन्न किया। निनार = न्यारा। अलग। नटवै = नटवर। नटसारी = नाट्यशाला। दीसै = दृश्य। थै = से। जोगति = इतजार। भुजगा = सर्प। माता = मत्त। जठर = पेट। परकीरति = प्रकृति। आश्रम = चार आश्रम (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास)। सारा = सार। मूल। भौ = भव। सुम्रित= स्मृति। कृत-काज = पूर्ण कार्य। बोहिथ = जहाज। मनसा = मनुष्य।

अर्थ—यह ससार तात्त्विक नही है। केवल कहने-सुनने लायक है। सभी इसमे भूले है। कोई इसको पहचान नही रहा है। सत्त्व, रज, तम गुणो से माया रची गयी है। माया भी ब्रह्म का एक रूप है। इसी से ब्रह्म अपनी माया से ही अपने को छिपाए रहता है। ब्रह्म तो आनद स्वरूप है। गुण रूप पत्ते उस विचित्र के विस्तार है। तत्त्व शाखा से ज्ञान-फूल का विकास हुआ है। इसमे राम नाम ही सबसे अच्छा फल है। ओ अचैतन्य जीव-पक्षी, चेतो। हरि (हरा) अर्थात् भगवान् पेड़ पर वास करो। भगवान् हरि ही हरे वृक्ष है। अन्य पेड़ हरे नही सूखे अर्थात् नाशवान् है (यह अर्थ श्लेष से निकलता है)। मिथ्या ससार मे कुछ कहने-सुनने से कुछ होनेवाला नही है। इसमे व्यर्थ मत भूलो। यह संसार सूखे वृक्ष जैसा है। भगवान् की माया विषम है। इस पेड़ के तीन काल (वर्तमान, भूत, भविष्य) शाखा और चार युग (सत, द्वापर, त्रेता, कलि) पत्र है। पाप और पुण्य इसके दो फल है। इसमे अनेक अकथनी स्वाद है। जिसने यह सब चरित किया है वह इनमे नही है। इनसे ऊपर है। वह निरजन आदि-अत रहित एव निराला है। उसी नटवर ने जगत नाट्यशाला की रचना की है। वही दृश्य भी है। द्रष्टा भी है। मुझ, बेचारा से केवल प्रतीक्षा हो सकती है। क्योकि वह तो शिव, ब्रह्मा और नारद की दृष्टि से भी परे है। जिन्होने सहज सतोष किया है। उनके जन्म-मरण नष्ट हो गये है। रामनाम का ध्यान करते है। रामनाम कहकर भक्ति दृढ़ करते है। जिसके मन मे रामनाम है वही अपने सच्चे स्वरूप को पहचनता है।

निरजन अपरपार एव निराकार है। उसका स्वरूप केवल उसका है। हे मन, ससार के विस्तार मे न भूलकर रामनाम का ध्यान करो। यह विस्तार जगत धधा है। इससे अज्ञानी (अधे) पुरुष का जन्म हुआ है। मतलब कि ससार धधा मे पुरुष अधा है। अधा ही उत्पन्न होता है। जिसका मन जैसा है उसका भाव भी वैसा है। उसका उपाय भी वैसा ही है।

तुम तो माया मोह मे भूले हो। स्वामी राम को कोई नही जानता है। जिन्होने जाना उनके अग पवित्र है। जो नहीं जानते वे सर्प के समान है। उनके मुख मे विष ही विष रहता है। वे विषय मे ही लिपटे रहते है (भुजग का अर्थ लपट भी है। विष विषय है। इस दृष्टि से अर्थ होगा कि लपट व्यक्ति विषयो मे ही लिप्त रहते है। ऐसे मे यहाँ श्लेष होगा)। सभी भूत जगत मे मत्त है। किसी को अपने स्वरूप का बोध नही है। भ्रम मे भूले लोगो का ही ससार मे आवागमन होता है। जान बूझकर नही समझता है। फलत कर्म के फदे मे पड़कर बार-बार

गर्भवास होता है। मनुष्य देह को प्राप्तकर जो भगवान् को भूल जाता है वह बाद मे अफसोस करता है।

ऐ विषयाध मनुष्य, रक्षा का भाव मन मे लाओ और प्रकृति को छोड़कर भगवान् का भजन करो। राम नाम के अभ्यास से उदर कूप (कुऑ) से तुम्हे मुक्ति मिल जायगी। विषयो का बहुसग पानी मे उठनेवाली लहर के समान क्षणिक है। भक्तिरहित जीवन बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र मे पड़ा करता है। अनेक आश्रमो मे जाने पर भी राम के बिना कोई प्रतिपाल नही कर सकता है। विषय विष का साथ छोड़ो और ऐसा उपाय करो जिससे दुख दूर हो जाय। ससार माया-मोह की आग मे जल रहा है। तुम उसके साथ किस रस के लिये जल रहे हो ? साधु सगति मे बैठकर विचार करो और भगवान् की शरण मे जाओ। उन्हे रक्षार्थ पुकारो। जीवन मे आराम नही है। राम नाम ही दुख भजन है। राम नाम ही सार तत्त्व है। ससार-सागर पार करनेवाला है।

वेद, स्मृति आदि सुनने से कार्य पूर्ण नही होता है। जैसे राज्य के बिना खाली कुडल पहनने से मुख की शोभा नही होती है।

अब राम नाम को पकड़ो। अविनाशी राम नाम को छोड़ अन्यत्र मत जाओ। अब विषयो मे मत जलो। जहॉ-जहॉ जाओगे वहॉ-वहॉ पतग जैसी स्थिति होगी। मन मे सच्चे राम नाम को लाओ। कीट भृग के समान राम से एक हो जाओ। भवसागर का आरपार नही है। इसे पार करने का विचार करो। मन मे विकारो की लहरे उठ रही है। इसलिये आरपार नही दिखाई देता है।

भवसागर का जल अथाह है। इसमे राम नाम ही जहाज है।

सत कबीर कहते है कि हरि-शरण मे जाने से ससार-सागर गौ के पद के खुर से बने गड्ढे के समान पार करना सरल हो जाता है।

(६६)
(बड़ी अष्टपदी रमैंणी)

एक बिनांनी रच्या बिनांन, सब अयांन जो आपै जांन ॥
सत रज तम थै कीन्ही माया, चारि खांनि बिस्तार उपाया ॥
पंच तत ले कीन्ह बंधानं, पाप पुंनि मांन अभिमानं ॥
अहंकार कीन्हे माया मोहू, संपति बिपति दीन्ही सब काहू ॥
भले रे पोच अकुल कुलवंतां, गुणी निरगुणीं धंन नीधनवंतां ॥
भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां ॥
पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम ओ आहि अबंधू ॥
अवर जीव जंत जे आही, संकुट सोच बियापै ताही ॥
निंद्या अस्तुति मांन अभिमांना, इनि झूठै जीव हत्या गियांनां ॥
बहु बिधि करि संसार भुलावा, झूठै दोजगि साच लुकावा ॥
माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ ॥
झूठै झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ ॥
झूठनि झूठ साच करि जांनां, झूठनि मैं सब साच लुकांनां ॥
धंध बंध कीन्ह बहुतेरा, क्रम बिबर्जित रहै न नेरा ॥
षट दरसंन आश्रम षट कीन्हां, षट रस खाटि कांम रस लीन्हां ॥
चारि बेद छह सास्त्र बखानै, बिद्या अनंत कथै को जांनै ॥
तप तीरथ कीन्ह व्रत पूजा, धरम नेम दांन पुंन्य दूजा ॥

ओर अगम कीन्हे ब्यौहारा, नही गमि सूझै वार न पारा ॥
लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछू कहत न आवा ॥
गहन ब्यंद कछू नही सूझै, आपन गोप भयौ आगम बूझै ॥
भूलि पर्यौ जीव अधिक डराई, रजनी अंधकूप ह्वै आई ॥
माया मोह उनवै भरपूरी, दादुर दांमिनि पवनां पूरी ॥
तरिपै बरिषै अखंड धारा, रैनि भांमनीं भया अँधियारा ॥
तिहि बिवोग तजि भये अनाथा, परे निकुंज न पांवै पंथा ॥
बेद न आहि कहूं को मानै, जानि बूझि मैं भया अयानै ॥
नट बहु रूप खेलै सब जांनै, कला केर गुन ठाकुर मांनै ॥
ओ खेलै सब ही घट मांही, दूसर कै लेखै कछु नाहीं ॥
जाके गुन सोई पै जांनै, और को जांनै पार अयानै ॥
भले रे पोष औसर जब आवा, करि सनमांन पूरि जम पावा ॥
दांन पुंन्य हम दिहूं निरासा, कब लग रहूं नटारंभ काछा ॥
फिरत फिरत सब चरन तुरांनै, हरि चरित अगम कथै को जांनै ॥
गण गंध्रप मुनि अंत न पावा, रह्यौ अलख जग धंधै लावा ॥
इहि बाजी सिव बिरंचि भुलांनां, और बपुरा को क्यंचित जांनां ॥
त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा, राखि राखि साईं इहि बारा ॥
कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई, फल कर कीट जनम बहुताई ॥
इस्वर जोग खरा जब लीन्हां, टर्‌यौ ध्यांन तप खंड न कीन्हां ॥
सिध साधिक उनथै कहु कोई, मन चित अस्थिर कहु कैसै होई ॥
लीला अगम कथै को पारा, बसहु समीप कि रहौ निनारा ॥
खग खोज पीछै नही, तूं तत अपरंपार।
बिन परचै का जांनियै, सब झूठे अहंकार ॥
अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई ॥
सुंनि असथूल रूप नही रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नही पेखा ॥
बरन अबरन कथ्यौ नही जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई ॥
आदि अंति ताहि नही मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे ॥
अपरंपार उपजै नही बिनसै, जुगति न जांनियै कथियै कैसै ॥
जस कथियै तस होत नही, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ ॥
जांनसि नही कस कथसि अयांनां, हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां ॥
मति करि हीन कवन गुन आंही, लालचि लागि आसिरै रहाई ॥
गुंन अरु ग्यांन दोऊ हम हीनां, जैसी कुछ बुधि बिचार तस कीन्हां ॥
हम मसकीन कछू जुगति न आवै, जे तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावै ॥
तुम्हारे चरन कवल मन राता, गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता ॥
जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा ॥
बाजे तंत्र नाद धुनि होई, जे बजावै सो औरै कोई ॥
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहूं न पेखा ॥
आप आप थै जांनियै, है पर नाही सोइ।
कबीर सुपिनै केर धंन ज्यूं, जागत हाथि न होइ ॥

जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुखयादि न आंनां ॥
ग्यांन हीन चेतै नही सूता, मै जाग्या बिष हर भै भूता ॥
पारधी बांन रहे सर सांधें, बिषम बांन मारे बिष बांधें ॥
काल अहेड़ी संझ सकारा, सावज ससा सकल संसारा ॥
दावानल अति जरै बिकारा, माया मोह रोकि ले जारा ॥
पवन सहाइ लोभ अति भइया, जम चरथा चहुं दिसि फिरि गइया ॥
जम के चर चहुं दिसि फिरि लागे, हंस पंखेरुवा अब कहां जाइबे ॥
केस गहे कर निस दिन रहई, जब धरि ऐंचे तब धरि चहई ॥
कठिन पासि कछू चलै न उपाई, जंम दुवारि सीझे सब जाई ॥
सोई त्रास सुनि रांम न गावै, मृगत्रिष्णां झूठी दिन धावै ॥
मृत काल किनहूं नही देखा, दुख कौ सुख करि सबही लेखा ॥
सुख करि मूल न चीन्हसि अभागी, चीन्है बिनां रहै दुख लागी ॥
नीब काट रस नीब पियारा, यूं बिष कूं अंमृत कहै संसारा ॥
बिष अंमृत एकै करि सांनां, जिनि चीन्ह्यां तिनही सुख मांनां ॥
अछित राज दिन दिनहि सिराई, अंमृत परहरि करि बिष खाई ॥
जांनि अजांनि जिन्है बिष खावा, परे लहरि पुकारै धावा ॥
बिष के खांये का गुंन होई, जा बेद न जांनै परि सोई ॥
मुरछि मुरछि जीव जरिहै आसा, कांजी अलप बहु खीर बिनासा ॥
तिल सुख कारनि दुख अस मेरू, चोरासी लख लीया फेरू ॥
अलप सुख दुख आहि अनंता, मन मैगल भूल्यौ मैमंता ॥
दीपक जोति रहै इक संगा, नैन नेह मांनूं परै पतंगा ॥
सुख बिश्रांम किनहूं नही पावा, परहरि साच झूठ दिन धावा ॥
लालच लागे जनम सिरावा, अंति काल दिन आइ तुरावा ॥
जब लग है यहु निज तन सोई, तब लग चेति न देखै कोई ॥
जब निज चलि करि किया पयांनां, भयौ अकाज तब फिरि पछितांनां ॥
मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अब मोहि कछू न सुहाइ ।
अनेक जतन करि टारिये, करम पासि नही जाइ ॥
रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु बिचारा ॥
कवन सयांन कौन बौराई, किहि दुख पइये किहि दुख जाई ॥
कवन हरिख कौ बिष मै जांनां, को अनहित को हित करि मांनां ॥
कवन सार को आहि असारा, को अनहित को आहि पियारा ॥
कवन साच कवन है झूठा, कवन करू को लागै मीठा ॥
किहि जरियै किहि करियै अनंदा, कवन मुकति को चल के फंदा ॥
रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौ तोहि ।
संसै सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि ॥
सुंनि हंसा मै कहूं बिचारी, त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी ॥
मनिषा जन्म उत्तिम जौ पावा, जांनूं रांम तौ सयांन कहावा ॥
नही चेतै तौ जनम गंमाया, पर्यौ बिहांन तब फिरि पछतावा ॥
सुख करि मूल भगति जौ जांनै, और सबै दुख या दिन आंनै ॥
अंमृत केवल रांम पियारा, ओर सबै बिष के भंडारा ॥

हरिख आहि जो रमियै रांमां, और सबै बिसमां के कांमां ॥
सार आहि संगति निरवानां, और सबै असार करि जांनां ॥
अनहित आहि सकल संसारा, हित करि जांनियै रांम पियारा ॥
साध सोई जे थिरह रहाई, उपजै बिनसै झूठ है जाई ॥
मीठा सो जो सहजै पावा, अति कलेस थैं करू कहावा ॥
नां जरियै नां कीजै मैं मेरा, तहां अनंद जहां राम निहोरा ॥
मुकति सोज आपा पर जांनै, सो पद कहा जु भरमि भुलांनै ॥
प्रांननाथ जग जीवनां, दुरलभ रांम पियार।
सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीये रे तर्वर पंख बसियार ॥
रे रे जीय अपनां दुख न संभारा, जिहि दुख व्याप्या सब संसारा ॥
माया मोह भूले सब लोई क्यंचित लाभ मांनिक दीयौ खोई ॥
मैं मेरी करि बहुत बिगूता, जननी उदर जन्म का सूता ॥
बहुतै रूप भेष बहु कीन्हां, जुरा मरन क्रोध तन खीनां ॥
उपजै बिनसै जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावै चाही ॥
दुख संताप कलेस बहु पावै, सो न मिलै जे जरत बुझावै ॥
जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित है जाइ बिलाई ॥
मोर तोर करि जरे अपारा, मृग त्रिष्णां झूठी संसारा ॥
माया मोह झूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी ॥
कछु कछु चेति देखि जीव अबही, मनिषा जनम न पावै कबही ॥
सार आहि जे संग पियारा, जब चेतै तब ही उजियारा ॥
त्रिजुग जोनि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चेता ॥
आतमां मुरछि मुरछि जरि जाई, पिछले दुख कहतां न सिराई ॥
सोई त्रास जे जांनै हंसा, तौ अजहूं न जीव करै संतोसा ॥
भौसार अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा ॥
जा जल की आदि अंति नही जांनियै, ताकौ डर काहे न मानियै ॥
को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तिरिये सो लीजै चाही ॥
समझि बिचारि जीव जब देखा, यहु संसार सुपन करि लेखा ॥
भई बुधि कछू ग्यांन निहारा, आप आप ही किया बिचारा ॥
आपण मैं जे रह्यौ समाई, नेडै दूरि कथ्यौ नही जाई ॥
ताके चीन्हे परचौ पावा, भई समझि तासूं मन लावा ॥
भाव भगति हित बोहिथा, सतगुर खेवनहार।
अलप उदिक तब जांणिये, जब गोपदखुर बिस्तार ॥३॥

शब्दार्थ—विनानी = विज्ञानी। बिनान = विज्ञान। अयान = अज्ञान। आपै = आत्म। स्वय। चारि खानि = स्वेदज, अडज, उद्भिज, जरायुज। उपाया = उत्पन्न किया। पचतत = आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। पोच = क्षुद्र। नीधनवता = निर्धनवान्। हेत = प्रेम। पच स्वाद = पॉच इद्रियो का स्वाद। आहि = है। अवर = अपर। और। दोजगि = दोजख। नरक। लोइ = लोग। नेरा = न्यारा। षट दरसन = साख्य, योग, न्याय, मीमासा, वेदात वैशेषिक। आश्रम षट = ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास, हस, परमहस। षट रस = मधुर, लवण, तिक्त, अम्ल, कटु, काषाय। छह सास्त्र = व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, कल्प, शिक्षा, छद। व्यद = विदु। मूल तत्त्व। उनवै = उमड़ना। तरिपै = तड़पै। भामनी = स्त्री। नटारभ =

नाट्यारभ। काछा = सँवारना। तुरानै = टूट गये। क्यचित = किंचित्। आगम = १ अगम्य। २ शास्त्र। बाजी = खेल। सरगुन = सगुण। आसिरै = आसरे। मसकीन = बेचारा। साधु। दरवौ = द्रवौ। पूरि = पूर्ण। फुर = सत्य। जहुवा = जहाँ। अनभै = अनुभव। बाजी = जादूगर। बिषहर = विषधर। पारधी = शिकारी। अहेड़ी = शिकारी। सकारा = सवेरा। सावज = मृग। जगली पशु। शिकार। भइया = भया। हुआ। चर = सेवक। सिपाही। पखेरूवा = पक्षी। ऐंचे = खीचे। पासि = पाश। सीझे = सीधे। अछित = रहते हुए। सिराई = समाप्त होना। काजी = खट्टा। खीर = दूध। मैगल = हाथी। मैमता = मदोन्मत्त। सिरावा = समाप्त हुआ। तुरावा = समाप्त होना। पयाना = प्रयाण। करूँ = कड़ुवा। ब्यौरि = व्यौरेवार। थिरह = स्थिर। सोज = वस्तु। प्रग्रह = पगहा। रस्सी। तर्वर = तरुवर। बसियार = बसने योग्य। बिगूता = नष्ट होना। जुदा = जरा। बुढ़ापा। खीना = क्षीण। आगी = आगे। भौसार = भव-सागर। खेवट = नाविक। बोहित = जहाज। नेडै = नजदीक। हसा = जीवात्मा।

अर्थ—विज्ञानात्मा ईश्वर ने विज्ञानात्मा जीव की सृष्टि की। यह ईश्वर सारे अज्ञानो को भी जानता है। अर्थ यह कि विज्ञान और अज्ञान दोनो उसी के है। उसने त्रिगुणात्मक माया के द्वारा चार प्रकार के जीवो की सृष्टि की। ये जीव पॉच तत्त्वो से इस शरीर-बधन मे बॉधे गये है। इसी मे पाप-पुण्य एव मान-अभिमान भी है। अहकार से ही माया-मोह हुए। सपत्ति-विपत्ति भी मिली। अच्छे-बुरे, कुलवत। नीच कुलवाले, गुणवान्, गुणरहित, धनी, निर्धन, भूख, प्यास, हित, अनहित तथा हमारे-तुम्हारे का प्रेम बनाया।

पॉच इद्रियो के पॉच स्वाद (रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द) बनाया। सबको कर्मसूत्र मे बॉधा। किंतु वह स्वय बधनरहित है। दूसरे भी जो जीव है, जिन्हे सकट एव चिंता होती है।

निदा एव प्रशसा, मान एव अभिमान ये सभी जीव हत्या करने के झूठे ज्ञान है। अनेक प्रकार से ससार मे भुलावा दिया जाता है। सत्य को छिपा झूठा नरक दिखाया जाता है।

सभी लोग माया, मोह, धन और यौवन मे भूले है। सर्वत्र झूठ ही झूठ व्याप्त है। अलख (ईश्वर) को कोई देख नही रहा है।

लोग झूठ को ही सत्य समझ रहे है। सारा सत्य झूठ मे छिप गया है, अनेक प्रकार बधन-कारक धधा किया। किंतु कभी कर्मरहित के पास नही गए। छ दर्शन, छ आश्रम, छ रस तथा खट्टे कामरस को लिया। चार वेद, छ शास्त्र कहते है। विद्या अनत कही गयी है। कितनी है कोई नही जानता है।

तप, तीर्थ, व्रत, पूजा, नियम, धर्म, दान, पुण्य आदि भी किया। दूसरे प्रकार का अगम्य व्यवहार किया। किंतु आरपार कुछ नही दीखता है। मनुष्य अनेक वेश बनाता है। अनेक प्रकार की लीलाएँ करता है। अनेक प्रकार विचारो और साधनाओ की आड़ लेता है। किंतु मूल तत्त्व नही दीखता है। आत्म तत्त्व तो गोप्य है। किंतु उसे जानने का प्रयत्न न कर अगम्य की ओर ध्यान लगाता है या आत्मतत्त्व को शास्त्र द्वारा जानना चाहता है। जीव ससार मे भटक गया है। ससार-कूप अत्यत अज्ञान अँधकार से भरा है। उसी कुएँ मे मनुष्य पड़ा है। इस पर माया-मोह के बादल उमड़ आये है। मेढक बोलते है। बिजली चमकती है। हवा तेज बह रही है। बिजली तड़कती है। मूसलाधार वर्षा हो रही है। हे स्त्री (साधक), माया की रात घनी हो गयी है। सारी सृष्टि मायाछन्न हो गयी है। जीव ईश्वर को छोड़कर अनाथ हो गया है। ससार-कुज मे उसे रास्ता नही मिल रहा है। वेद मे भी कुछ नही है। कोई क्या माने ? जीव जान-बूझकर अज्ञानी बना है। सभी नट बने खेलते है। किंतु कला का गुण तो ईश्वर ही जानता है। वह ईश्वर सभी जीव शरीर मे खेल रहा है। नासमझ (दूसर) के लिये उसका कुछ भी महत्त्व नही है। जिसका यह गुण है वही जानता है। अज्ञान के परे रहनेवाले को और कौन जानता

है ?

अच्छे-वुरे अवसर आते है। कितु इनमे यम ही सम्मानित होते है। दान-पुण्य से भी निराशा ही होती है। यह नात्यारभ का वेश कब तक रखा जाय ? ससार मे आवागमन करते-करते पैर टूट गये। थक गये। अगम्य हरि चरित को कौन कह सकता है ? गधर्वगण और मुनियो ने भी उसका अत नही पाया है। वह अलक्षित रहकर भी ससार का धधा चलाता है। उसके खेल मे शिव, ब्रह्मा सभी भूले हे। दूसरा वेचारा तो कुछ भी नही जान सकता है। त्राहि-त्राहि अर्थात् रक्षा करो, रक्षा करो, इस प्रकार पुकार करने पर हे स्वामी इस बार रख लो। उबार लो। उसने जीव को करोड़ो ब्रह्माड मे पकड़कर घुमाया है (या करोड़ो ब्रह्मा को पकड़कर घुमाता है)। जीव फल के कीड़े के समान घूमता है। यहाँ जीव कीड़ा है और ब्रह्माड फल है। ईश्वर ने जव खरा (सही) योग लिया। ध्यान टलने पर भी योग खडित नही हुआ। सिद्ध-साधक सब उसी प्रभु से उत्पन्न है। मुख्य समस्या है कि मन और चित्त अस्थिर है। बिना स्थिर हुए कुछ कैसे हो सकता है ? उस प्रभु की लीला अगम है। इसे कोई कैसे कह सकता है ? चाहे उससे दूर रहो या नजदीक रहो।

हे प्रभु, तुम्हारा तत्त्व अपरपार है। आकाश मे उड़ते पक्षी को पकड़ने-सा तुम्हारे तत्त्व को पाना कठिन है। विना परिचय के कुछ नही जाना जा सकता है। जानने की बात झूठा अहकार है।

वह निरजन अलक्ष्य है। उसे कोई देख नही सकता है। वह निर्भर (नि.भव = पैदा न होने वाला भी) और निराकार है। वह शून्य है। सूक्ष्म है। उसकी कोई रूपरेखा नही है। वह दृष्टि अदृष्टि से परे है। उसे देखा नही जा सकता है। वह वर्ण-अवर्ण से परे सभी शरीरो मे मौजूद है। उसका आदि, अत और मध्य नही है। वह अकथनी है।

वह जैसा है वैसा कहा नही जा सकता है। कहने-सुनने से आनद मिलता है एव परमार्थ होता है।

ऐ अज्ञानी, जब जानते नही तो क्यो कहते हो ? तुम उसे सगुण कहते हो, मै उसे निर्गुण जानता हूँ।

किस बात के लिये वुद्धि को छोटी बना रहे हो ? लालच मे पड़कर भगवत्प्राप्ति का अवसर खो रहे हो। हम तो गुण और ज्ञान दोनो से हीन है। जैसी बुद्धि है वैसा विचार करते है। मै बेचारा कोई युक्ति नही जानता। तुम्हारी कृपा हो तो यह जन पूर्ण को प्राप्त कर सकता हे। मेरा मन तुम्हारे चरण-कमलो मे लगा है। तुम्ही गुण-निर्गुण के दाता हो। ससार तुम्हारे द्वारा प्रगट होकर वजाये जानेवाले वाजा-सा है। ध्वनि ही मूल है। जिसके जो अनुभव मे आता है वह वैसा कहता है। जीवन-यत्र वजता है। उसमे ध्वनि होती है। कितु बज़ानेवाला कोई अन्य है। जादूगर नाचता है, वही देखता भी है। जो नाचता है उसे कोई नही देखता है।

जीव को अपने मे ही जानना चाहिए। वह जीव से परे नही है। वह स्वप्न-सपत्ति के समान है। जागरण पर हाथ नही आता है।

जिन्होने इस स्वप्न के सत्य को जान लिया है वे सब दुखो से छूट गये। विषयो मे सोये अज्ञानी चैतन्य नही होते। मै जागा हूँ तो यह भूत जगत मेरे लिये विषधर हो गया है। शिकारी (गुरु) वाण साधता है। विष का विषम बाण मारता है। सारा ससार जगली पशु है और काल शिकारी है। जीव विकारो के दावानल मे जल रहा है। अपने को माया-मोह मे जलने से रोको।

इस आग मे श्वास सहायक है। लोभ भी भयकर है। चारो ओर यम की चर्चा है। यम के सेवक चारो ओर घूम रहे हे। हस पक्षी अब कहाँ जायेंगे ? यम सेवक नित्य केश पकड़े है। जव चाहते है तव धरकर खीच लेते है। बधन कठिन है। कोई उपाय नही लगता है। यम ने

द्वार रोक रखा है। उस डर को सुनकर भी राम नही कहा जा रहा है। विषयो की मृगतृष्णा मे भटक रहे हो। सभी लोग दुख को सुख मान रहे है। मृत्यु-काल की चिता किसी को नही है। अभागे सुख के मूल को नही पहचानते है। बिना पहचान के दुखी रहते है। लोग विष (माया) को अमृत कहते है। माया नीम द्वारा उसका रस पीकर प्रसन्न होते है। लोगो को विष-अमृत के भेद का ज्ञान नही है। जो जानते है वही सुखी है। समय रहते सब ठीक कर लो। अमृत छोड़कर विष मत खाओ। जान-अनजान मे जिन्होने माया-विष का सेवन किया। वे लहर मे पड़ गये। अब दौड़ते है। विष के खाने से क्या फल होता है। यह वेद वाला नही जानता है। जीव आशा मे मुर्छित होकर जलेगा। थोड़ा भी खट्टा बहुत दूध को नष्ट कर डालता है। मनुष्य तिलसुख अर्थात् छोटे से सुख के लिये मेरु पर्वत-सा दुख सहता है। चौरासी लाख योनियो मे भटकता है। सुख अल्प है। दुख अनत है। मन मतवाला हाथी-सा भूला है। दीपक और प्रकाश के समान माया और जीव साथ रहते है। किंतु जीव पतग-सा नयन-लोभ के कारण विषय-दीपक पर गिरकर नष्ट होता है। लालच मे पड़कर मानव-जन्म समाप्त करते है। अतकाल का दिन आकर समाप्त हो गया। जब तक यह शरीर है तब तक चेतकर और किसी को मत देखो। जब जीवन की निजी चाल पूरी हो जायगी, प्रयाण का समय आ जायगा तब अकाज होगा। तब पछताना होगा।

ससार मृगतृष्णा-सा है। मुझे कोई भी विषय अच्छा नही लगता है। अनेक कोशिश करने पर भी कर्म का बधन समाप्त नही होता है।

ऐ बुद्धि का भडार मन स्वय विचार करो। कौन बुद्धिमान है, कौन पागल है ? दुख कैसे प्राप्त होता और दुख कैसे जाता है ? कौन हर्ष है ? कौन विष जैसा दुख है ? कौन अहित है ? कौन हित है ? असार सार क्या है ? कौन अहित और कौन प्यारा है ? सच्चा-झूठा, कटु-मीठा, जलन, आनद, मुक्ति और मल का फदा कौन है ? इस पर विचार करो।

ओ मन, मुझे ब्यौरेवार कहो। मै तुमसे पूछता हूँ। सशय का कॉटा चुभा है। मुझे समझाओ। ओ जीवात्मा, मै विचारकर कहता हूँ। तीनो युगो की सारी योनियाँ (जन्म) अधकार से भरी है। मनुष्य-जन्म तभी उत्तम है यदि राम को जान लूँ। यह बुद्धिमानी है। चेतना नही हुई तो जन्म व्यर्थ है। सवेरा होने पर पछताना होगा। भक्ति को सुख का मूल समझो। और जितने दिन है सभी दुख के है। प्रिय राम ही अमृत है। और सभी विष के भडार है। राम मे रमण हर्ष और सभी विषम काम है। निर्वाणो (साधुओ) की सगति सारतत्त्व है। अन्य सभी असार है। सारा ससार अहित है। प्रिय राम ही हित है। सत्य वह है जो स्थिर रहे। नष्ट न हो। जीने-मरनेवाला झूठा है। मीठा वह है जो सहज साधना से प्राप्त होता है। वही क्लिष्ट साधना से कटु हो जाता है। न तो विषयो की आग मे जलो, न मै, मेरा करो। राम की प्रार्थना मे ही आनद है। आत्म और पर को जानना ही मुक्ति है। वह पद व्यर्थ है। जो भ्रम मे भटकता हो।

जग जीवन प्राण नाथ प्यारे राम दुर्लभ है। पुत्र, शरीर, धन बधन है। जीवन पेड़ के पक्षी का बसेरा जैसा है। नाशवान् है।

अरे जीव, अपना दुख दूर नही किया। इसी दुख से सारा ससार व्याप्त है। सभी लोग माया-मोह मे भूले है। थोड़े लोभ के लिये माणिक्य जैसा मानव जन्म व्यर्थ गँवा दिया। मै, मेरी करते हुए बहुत नष्ट हुए। माता के उदर मे अनेक जन्मो से सोए। बहुत से रूप वेश किया। जरा, मरण, क्रोध, से शरीर क्षीण हुआ। लोग जन्मते मरते है। योनियो मे भटकते है। किंतु सुख का मूल पाना नही चाहते है। बहुत से दुख क्लेश पाते है। किंतु उसे नही जो विषयाग्नि की जलन से रक्षा करे। हे भाई, जिस हित के लिये जीव को रखना चाहते हो वही अहित होकर नष्ट कर देगा। मोर तोर कर अपार बार जले। ससार मृग तृष्णा के समान झूठा है। झूठे माया मोह मे

रहे। यहाँ क्या हुआ और आगे क्या होगा ? कुछ कुछ चेतो। अभी देखो। मनुष्य जन्म फिर कभी नही मिलेगा। जो प्रिय मूल तत्त्व है वह चेतने पर ही प्रकाशित होगा। तीन युग से योनियो मे अचेत पड़े हो। मनुष्य जन्म हुआ है। चित मे चेतो। आत्मा मूर्छित होकर जल जायगा। पीछे दुख कहते भी समाप्त न होगा। उस भय को जीवात्मा जान ले तो आज भी जीव सतोष न कर सकता है। ससार सागर का अत नही है। इसको पार करने का विचार करो। जिस जल का आदि अत नही जानते है उसका डर क्यो नही मानते हो ? ससार सागर के जहाज का खेवेया कौन है, जो तार सके उसे चाहो। विचार कर देखा तो ससार स्वप्न-सा लगा। बुद्धि हुई। ज्ञान से देख अपनी आत्मा मे विचार किया। जो अपने मे रहता है उसे नजदीक और दूर कहने की जरूरत नही होती है। हे भाई, उस तत्त्व को समझो। समझ होने पर उससे मन लगता है।

भाव, भक्ति भगवत्प्रेम जहाज है। गुरुदेव नाविक है। जब भवजल अल्प समझ मे आता है तो ससार-सागर गोपद खुर के फैलाव-सा पार करना आसान हो जाता है।

(६७)
(दुपदी रमैणी)

भया दयाल बिषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम बहु लागा॥
भया अनंद जीव भये उल्हासा, मिले रांम मनि पूगी आसा॥
मास असाढ़ रवि धरनि जरावे, जरत जरत जल आइ बुझावै॥
रुति सुभाइ जिमी सब जागी, अंमृत धार होइ झर लागी॥
जिमी मांहि उठी हरियाई, बिरहनि पीव मिले जन जाई॥
मनिकां मनि कै भये उछाहा, कारनि कौन बिसारी नाहा॥
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा, चौरासी लख कीन्हां फेरा॥
सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई॥
अपने औगुन कहूं न पारा, इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा॥
दरबो नही कांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह बिछुरे मै बहु दुख चाहा॥
मेघ न बरिखैं जांहि उदासा, तऊ न सारंग सागर आसा॥
जलहर भर्यौ ताहि नही भावै, कै मरि जाइ कै उहै पियावै॥
मिलहु रांम मनि पुरवहु आसा, तुम्ह बिछुर्यां मै सकल निरासा॥
मै रनिरासी जब निध्य पाई, रांम नांम जीव जाग्या जाई॥
नलनी के ज्यूं नीर अधारा, खिन बिछुर्यां थैं रवि प्रजारा॥
रांम बिनां जीव बहुत दुख पावै, मन पतंग जगि अधिक जरावै॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ बसंत तब बाग संभारा॥
अपनै रंगि सब कोइ राता, मधुकर बासं लेहि मैमंता॥
बन कोकिला नाद गहगहांनां, रुति बसंत सब कै मनि मांनां॥
बिरहन्य रजनी जुग प्रति भइया, बिन पीव मिले कलप टलि गइया॥
आतमां चेति समझि जीव जाई, बाजी झूठ रांम निधि पाई॥
भया दयाल निति बाजहि बाजा, सहजै रांम नांम मन राजा॥
जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल।
गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल॥
रांम नांम निज पाया सारा, अबिरथा झूठ सकल संसारा॥
हरि उतंग मै जाति पतंगा, जंबकु केहरि के ज्यूं संगा॥
क्यधिति है सुपिनै निधि पाई, नही सोभा कौ धरौ लुकाई॥

हिरदै न समाइ जांनियै नही पारा, लागै लोभ न और हकारा ॥
सुमिरत हूँ अपनैं उनमानां, क्यंचित जोग रांम मै जांनां ॥
मुखां साध का जांनियै असाधा, क्यंचित जोग रांम मै लाधा ॥
कुबिज होइ अंमृत फल बंछ्या, पहुँचा तब मनि पूगी इंछ्यां ॥
नियर थै दूरि दूरि थैं नियरा, रांम चरित न जांनियै जियरा ॥
सीत थै अगिन फुनि होई, रबि थै ससि ससि थैं रबि सोई ॥
सीत थै अगनि परजरई, जल थै निधि निधि थै थल करई ॥
बज्र थै तिण खिण भीतरि होई, तिण थै कुलिस करै फुनि सोई ॥
गिरवर छार छार गिरि होई, अबिगति गति जांनैं नही कोई ॥
जिहि दुरमति डोल्यौ संसारा, परे असूझि वार नहीं पारा ॥
बिख अमृत एकै करि लीन्हां, जिनि चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हां ॥
सुख दुख जिनि चीन्हां, नही जांनां, ग्रासे काल सोग रुति मांनां ॥
होइ पतंग दीपक मै परई, झूठै स्वादि लागि जीव जरई ॥
कर गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा ॥
ग्यांनहीन ओछी मति बाधा, मुखां साध करतूति असाधा ॥
दरसन समि कछू साध न होई, गुर समांन पूजिये सिध सोई ॥
भेष कहा जे बुधि बिसूधा, बिन परचै जग बूड़नि बूड़ा ॥
जदपि रबि कहिये सुर आही, झूठै रबि लीन्हां सुर चाही ॥
कबहूं हुतासन होइ जरावै, कबहूं अखंड धार बरिषावै ॥
कबहूं सीत काल करि राखा, तिहूं प्रकार बहुत दुख देखा ॥
ताकूं सेवि मूढ़ सुख पावै, दौरै लाभ कूं मूल गवावै ॥
अछित राज दिनै दिन होई, दिवस सिराइ जनम गये खोई ॥
मृत काल किनहूं नही देखा, माया मोह धन अगम अलेखा ॥
झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई ॥
साचै नियरै झूठै दूरी, बिष कूं कहै सजीवनि मूरी ॥
कथ्यौ न जाइ नियरै अरु दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरी ॥
जहां देखौ तहां रांम समांनां, तुम्ह बिन ठौर और नही आंनां ॥
जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव बिनां अभि-अंतरि दूरी ॥
लोभ पाप दोऊ जरै निरासा, झूठै झूठि लागि रही आसा ॥
जहुवां है निज प्रगट बजावा, सुख संतोष तहां हम पावा ॥
नित उठि जस कीन्ह परकासा, पावक रहै जैसै काष्ट निवासा ॥
बिनां जुगति कैसै मथिया जाई, काष्टै पावक रह्या समाइ ॥
कष्टै कष्ट अग्नि परजरई, जारै दार अग्नि समि करई ॥
ज्यूं रांम कहे ते रांमै होई, दुख कलेस घालै सब खोई ॥
जन्म के कलि बिष जांहि बिलाई, भरम करम का कछु न बसाई ॥
भरम करम दोऊ बरतै लोई, इनका चरित न जांनै कोई ॥
इन दोऊ संसार भुलावा, इनके लागे ग्यांन गंवावा ॥
इनकौ मरम पै सोई बिचारी, सदा अनंद लै लीन मुरारी ॥
ग्यांन द्रिष्टि निज पेखै जोई, इनका चरित जांनै पै सोई ॥
ज्यूं रजनी रज देखत अंधियारी, डसे भुयंगम बिन उजियारी ॥

तारे अगिनत गुनहि अपारा, तऊ कछू नही होत अपारा ॥
झूठ देखि जीय अधिक डराई, बिनां, भुवंगम डसी दुनियांई ॥
झूठै झूठ लागि रही आसा, जेठ मास जैसें कुरंग पियासा ॥
इक त्रिषावंत दह दिसि फिर आवै, झूठै लागा नीर न पावै ॥
इक त्रिषावंत अरु जाइ जराई, झूठी आस लागि मरि जाई ॥
नीझर नीर जांनि परहरिया, करम के बांधे लालच करिया ॥
कहै मोर कछू आहि न वाही, भरम करम दोऊ मति गवाई ॥
भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूठै नांऊ साच ले धरिया ॥
रजनीं गत भई रवि परकासा, भरम करम धूं केर बिनासा ॥
रवि प्रकास तारे गुन खीनां, आचार ब्यौहार सब भये मलीनां ॥
बिष के दाधे बिष नही भावै, जरत जरत सुखसागर पावै ॥
अनिल झूठ दिन धावै आसा, अंध दुरगंध सहै दुख त्रासा ॥
इक त्रिषावंत दुसरैं रवि तपई, दह दिसि ज्वाला चहुं दिसि जरई ॥
करि सनमुखि जब ग्यांन बिचारी, सनमुखि परिया अगनि मंझारी ॥
गछत गछत जब आगै आवा, बित उनमांन ढिबुवा इक पावा ॥
सीतल सरीर तन रह्या समाई, तहां छाड़ि कत दाझै जाई ॥
यूं मन बारुनि भया हंमारा, दाधा दुख कलेस संसारा ॥
जरत फिरे चौरासी लेखा, सुख कर मूल किनहूँ नही देखा ॥
जाके छाड़े भये अनाथा, भूलि परे नही पावै पंथा ॥
अछै अभि-अंतरि नियरै दूरी, बिन चीन्ह्यां क्यूं पाइये मूरी ॥
जा बिन हंस बहुत दुख पावा, जरत जरत गुरि रांम मिलावा ॥
मिल्या रांम रह्या सहजि समाई, खिन बिछुर्यां जीव उरझै जाई ॥
जा मिलियां तै कीजै बधाई, परमांनंद रैनि दिन गाई ॥
सखी सहेली लीन्ह बुलाई, रुति परमानंद भेटियै जाई ॥
सखी सहेली करहि अनंदू, हित करि भेटे परमानंदू ॥
चली सखी जहुँवां निज रांमां, भये उछाह छाड़े सब कांमां ॥
जांनूं कि मोरै सरस बसंता, मैं बलि जांऊ तोरि भगवंता ॥
भगति हेत गावै लैलीनां, ज्यूं बन नाद कोकिला कीन्हां ॥
बाजे संख सबद धुनि बेनां, तन मन चित हरि गोबिंद लीनां ॥
चल अचल पांइन पंगुरनी, मधुकरि ज्यूं लेहि अघरनीं ॥
सावज सीह रहे सब मांची, चंद अरु सूर रहे रथ खांची ॥
गण गंध्रप मुनि जोवैं देवा, आरति करि करि बिनवैं सेवा ॥
बासि गयंद्र ब्रह्मा करैं आसा, हंम क्यूं चित दुर्लभ रांम दासा ॥
भगति हेत रांम गुन गावैं, सुर नर मुनि दुरलभ पद पावैं ॥
पुनिम बिमल ससि मास बसंता, दरसन जोति मिले भगवंता ॥
चंदन बिलनी बिरहनि धारा, यूं पूजिये प्रांनपति रांम पियारा ॥
भाव भगति पूजा अरु पाती, आतमरांम मिले बहु भांती ॥
रांम रांम रांम रुचि मांनै, सदा अनंद रांम ल्यौ जांनैं ॥॥
पाया सुख सागर कर मूला, सो सुख नहीं कहूं सम तूला ॥

सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होइ।
जिहि लाधा सो जांनि है, रांम कबीरा और न जांनै कोइ॥ ४॥

शब्दार्थ—भया = हुआ। दयाल = दया। जरि = जड़ी। गहगहान = घना। घनघोर आनद-दायक। उल्हासा = उल्लास। मनि = मन मे। पूगी = पूर्ण हुई। आसा = आशा। रुति = ऋतु। सुभाइ = स्वभाव। जिमी = जमीन। मनिका मनि = मन का मन मे। उछाहा = उत्साह। नाहा = नाथ। बिसारी = भूल गये। सेवग = सेवक। अनिआई = अन्यायी। औगुन = अवगुण। दरबो = द्रवना। काइ = क्यो। सारग = चातक पक्षी। जलहर = जलधर। तालाब। नलनी = कमलिनी। प्रजारा = जलाया। कवलि = कमल। तुसारा = तुषार। पाला। राता = अनुरक्त। मधुकर = भ्रमर। मैमता = मतवाला। भइया = हुआ। प्रति = जैसा। टलि गइया = बीत गया। कलप = कल्प। बाजी = खेल। अबिरथा = वृथा। उतग = ऊपर। जबुक = सियार। केहरि = सिह। हकारा = अहकार। लाधा = लब्ध। कुबिज = कब्ज। बछया = वाछित। परजरई = प्रज्वलित। तिण = तृण। खिण = कण। कुलिस = वज्र। फुनि = पुन। ग्रासे = कौर। सोग = शोक। असाधा = असाध्य। साधा = साध्य। निधि = समुद्र। साध = साधु। असाधा = असाधु। बिसूधा = विशुद्ध। दार = दारु। लकड़ी। कष्ट = काठ। रज = रजोगुण। कुरग = हिरण। त्रिषावत = प्यासा। दह = दश। नीझर = निर्झर। खीनां = क्षीण। गछत = चलते हुए। ढिबुवा = पैसा। बित = वित्त। बेना = वेणु। अरघनी = सुगध। सावज = वनपशु। बिलनी = एक प्रकार की भ्रमरी। हुतासन = आग। अछित = इच्छित।

अर्थ—भगवान की कृपा से विष उतारने वाली जड़ी का जागरण हो गया। कुडलिनी जाग्रत हो गयी। यह सर्पिणी जो जड़ (मूलाधार) मे रहती थी जग गयी है। अब भगवत्प्रेम का घोर आनद छा गया है। जीव मे उल्लास है। राम मिलन से मन की आशा पूरी हुई। जैसे अषाढ़ मास मे धरती जलती है और जलते-जलते जल बरसकर जलन को बुझा जाता है, उसी प्रकार वियोग का दुख प्रभु-मिलन से दूर हो जाता है। ऋतु स्वभाव से धरती जागी है। क्योकि अमृत वर्षा की झड़ी लग गई है। धरती हरी हो गयी। विरहिन अपने प्रिय जन से मिल गयी। मन का उत्साह मन मे हुआ। हे प्रिय पता नही तुम मुझे किस कारण से भूले हो। तुम्हारा तो खेल है और मेरे लिये मृत्यु है। मै चौरासी लाख योनियो मे चक्कर लगा रहा हूँ। सेवक और पुत्र जो अन्यायी होते है उनके गुण-अवगुण सब तुममे ही समाए रहते है। मै अपने अवगुणो को कहने मे पार नही पा सकता हूँ। तुम न सम्हालो तो मेरा अभाग्य है। हे नाथ, तुम द्रवित क्यो नही होते हो ? तुमसे अलग होकर मै बहुत दुखी हूँ। मेघ बरसता नही, उदास चला जाता है। तब भी चातक पक्षी समुद्र की आशा नही करता है। भरा तालाब भी उसे अच्छा नही लगता है। या तो मरता है या स्वाति नक्षत्र का जल ही पीता है। मै निराश हूँ। अब भगवत्प्रेम निधि पा गया। राम नाम ही जीव के जागरण का आधार है। जैसे कमलिनी का आधार पानी है। अलग होते ही सूर्य उसे जला देता है, वैसे ही राम बिना जीव बहुत दुख पाता है। ससार मे मन-पतग अधिक जलता है। माघ मास मे कमल पर पाले का प्रभाव पड़ता है। बसत मे बाग सम्हल जाते है। सभी अपने रग मे रँगे है। मतवाले भ्रमर सर्वत्र गध लेते है। वन मे कोकिल की आवाज गूँजती है। ऋतु बसत सबको अच्छी लगती है। बिरहिन के लिये रात युग के समान हो गयी है। बिना प्रिय के मिले कल्प बीत गया। ऐ आत्मा, समझो। राम निधि को पाकर सासारिक खेल झूठा लगता है। दयाल की दया हुई। नित्य बाजा बज रहा है। अनाहत नाद हो रहा है। मन सहज ही राम नाम मे लग गया है।

ससार के विषयो मे जलते-जलते सुख सागर का मूल ईश्वर मे जल पाया। गुरु कृपा से सशय का काँटा दूर हुआ।

राम नाम का मूल तत्त्व के रूप मे प्राप्त किया। ससार व्यर्थ और झूठा है। हरि उतग (ऊपर) है। आकाश-सा है। मै उसमे घूमनेवाला पतग की तरह हूँ। हरि सिह और मै सियार हूँ। स्वप्न मे जिस निधि को पाया है उस शोभा को छिपाया नही जा सकता है। सारा व्यक्तित्व उससे प्रभावित है। वह तत्त्व हृदय मे समा नही सकता। उसका पार पाना कठिन है। इसमे लोभ और अहकार का वश नही चलता है। स्मरण करने से उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है। कुछ योग द्वारा राम को जाना जा सकता है। असाध्य की साधना मुख से नही हो सकती है। कुछ योग से राम की प्राप्ति होती है। उस वाछित अमृत-फल की प्राप्ति से कब्ज होता है। भाषण का कब्ज। उसके पास पहुँचने पर मन की इच्छा पूरी होती है। जो नजदीक रहकर भी दूर और दूर रहकर भी नजदीक है। उस रामचरित को मन से जानना चाहिए। पानी से आग होती है। सूर्य से चद्रमा और चद्रमा से सूर्य होता है। पानी से आग जलती है। जल से समुद्र और समुद्र से जल होता है। उसी से स्थल होता है। (वेदात मे पृथ्वी जल से निकली है)। वज्र से तृण कण के भीतर रहता है। तृण से पुन वज्र होता है। पहाड़ को क्षार, क्षार को पहाड़ करता है। अविगत की गति कोई नही जान सकता है। दुर्मति ससार मे डोलते है। उन्हे वारपार नही सूझना है। वह विष और अमृत को एक करता है। जिन्होने उसे पहचाना ईश्वर उन्हे सुख देता है। जिन्होने इस सुख-दुख को नही पहचाना। वे कालग्रसित एव शोकयुक्त होते है। वे पतग होकर कालदीपक पर गिरकर नष्ट हो जाते है। जीव झूठे स्वाद के लिये जलता है। हाथ मे दीपक रखकर भी ये कुएँ मे गिरते है। हमने यह विचित्र आश्चर्य देखा है।

ज्ञानहीन को ओछी बुद्धि बाधक है। उसके मुख मे साधुता और कर्म असाधुता का है। देखने मात्र से कोई साधु नही होता है। जो गुरु के समान हो उसी सिद्ध की पूजा करनी चाहिए। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है उसके लिये देश महत्त्वहीन है। बिना भगवान् से परिचय के ससार मे केवल डूबना ही डूबना है। यद्यपि सूर्य को देवता कहा जाता है। किंतु उन्हे देवता झूठ ही कहा जाता है। कभी वह आग बन जाता है। कभी अखड वर्षा करता है। कभी जाड़ा करके तीनो प्रकार दुख ही देता है। इसकी सेवा से मूर्ख को ही सुख प्राप्त होता है। दौड़कर लाभ क्या मूल भी नष्ट हो जाता है। इच्छित कार्य दिन दिन मे ही होता है। फिर तो दिन डूबता है। जीवन समाप्त हो जाता है। मरते समय माया, मोह, अगम धन का लेखा किसी ने नही देखा है। झूठ से झूठ जुड़ा है। सत्य तो अलक्ष्य है। यह ससार मे देखा नही जा सकता है। सत्य नजदीक है। झूठ दूर है। विषय-विष को सजीवनी कहा जाता है। नजदीक और दूर कुछ नही कहा जा सकता है। सबसे अतीत प्रभु शरीर के भीतर बैठा है (ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति-गी०)। जहाँ ,देखता हूँ। राम समान देखता हूँ (सिया राममय सब जग जानी—तुलसी)। हे प्रभु, तुम्हारे बिना कही आधार नही है। सहारा नही है। यद्यपि प्रभु सभी शरीर मे है। किंतु भाव (भक्ति) के बिना भीतर मे भी वह दूर है। लोभ पाप दोनो ही निराशा मे जलाते है। लोगो को झूठी-झूठी आशा लगी है। जहाँ स्वय प्रगट होकर बजाता है। वही सुख-सतोष की प्राप्ति होती है। नित्य उठकर जिस प्रकार प्रकाश करते है। आग जलती है और काठ का नाश होता है। विषयाग्नि मे जीव नष्ट हो रहा है। काष्ठ मे आग है। हृदय मे भगवान है। किंतु बिना मथे (साधना) न आग पैदा होगी। न भगवान प्राप्त होगे। काठ मे काठ घिसने से आग जलती है। जैसे लकड़ी आग बन जाती है वैसे ही साधक साधना से भगवान बन जाता है। राम कहने से राम बनता है। उसके सारे दुख दूर हो जाते है। जन्म के कलि-विष दूर हो जाते है। कर्म के भ्रम का कुछ भी वश नही चलता है। लोग भ्रम कर्म दोनो चलाते है। इनके चरित्र को कोई नही जानता है। इन दोनो ने ससार को भुला रखा है। इनके कारण ज्ञान नष्ट है। इनके मर्म का विचार वही कर सकता है जो मुरारी मे लीन और सदानंदित है। जो ज्ञान

ष्टि से देखता है, इनका चरित्र वही जान सकता है। जैसे रात के रजोगुण मे अधकार और ढ़ जाता है। बिना प्रकाश के सॉप डॅस लेता है।

अनगिनत तारे है। गिनना कठिन। तो भी कुछ आधार नही बनता है। झूठ देखकर जीव धिक डरता है। बिना सर्प के सारे ससार को काट रहा है। जैसे जेठ मे हिरण झूठी आशा मे यासे मर जाते है वही स्थिति ससारी की है। प्यासा दशो दिशाओ मे दौड़ता है। किंतु कही तोष-जल प्राप्त नही हुआ। निर्झर नीर को छोड़ो। ससार जल को छोड़ो। कर्मवश लोग लालच रते है। कहते मेरा कुछ यह-वह नही है। भ्रम कर्म ने मति नष्ट कर दी है।

भ्रम कर्म बुद्धि को छोड़ो। यह झूठे को सच्चा नाम रखता है। रात बीती। सूर्य उगा। भ्रम र्म का नाश हो गया। ज्ञान हो गया। सूर्योदय से तारो (विषयों) के प्रकाश क्षीण हो गये। ारे सासारिक आचार-व्यवहार व्यर्थ लगने लगे है। विषय विष से जलो को विषय विष अच्छे ही लगते है। जलते-जलते सुख-सागर की प्राप्ति हो जाती है। आशा की झूठी आशा मे दौड़ता है। अधी दुर्गध का दुख त्रास सहते है। एक प्यासा दूसरे सूर्य का ताप, दशो दिशाओ मे ज्वालामुखी जलती है। विचार का सामने कर ज्ञान करने पर आग सामने आती है। चलते-चलते जब आगे आये तब वित्त के अनुमान मे एक पैसा पाया। शीतलता शरीर मे समाए रही। यहाँ छोड़कर और कहाँ जला सकती है ? मेरा मन वारुणि से मतवाला है। ससार के दुख से दुखी है। चौरासी प्रकार से जलते फिरे। किंतु कही सुख का मूल नही मिला। भीतर रहकर भी प्रभु दूर है। बिना परिचय के उस मूल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जिसके बिना जीवात्मा बहुत दुखी होता है। साधना करते-करते गुरुदेव राम से मिला देते है। राम के मिलने से सहज मे समाहित हो गये। क्षण के लिये अलगाव भी उलझन बन जाता है। जिससे मिलकर तुम आनद करते हो उस परमानद को रात-दिन गाइए। सखी-सहेली (साधक) को बुला लिया। परमानद को भेटना है। सभी साधक आनद करते है। साधक सखी राम के पास चली। सब काम छोड़कर उत्साह हुआ।

मै सरस बसत को क्या जानूँ ? हे भगवान मै तुम्हारे पर बलि जाता हूँ। प्रेम-भक्ति मे लवलीन होकर गाता है। जैसे वन-कोकिल आवाज करता हो। शख-ध्वनि और वेणु बजते हैं। तन, मन, चित्त हरि ने ले लिया है। चचलता अचल, पॉव, पगु हो गये। जैसे भ्रमरी गध लेने के लिये स्थिर हो जाती है। वन-पशु एव सिह सब एक मच पर है। चद्रमा और सूर्य दोनो ही रथ खीच रहे है। गधर्व, मुनि, देवता आशा देखते है। आरती करके प्रार्थना करते है। उसकी गध की आशा गजेद्र एव ब्रह्मा करते है। हमारे चित्त मे दुर्लभ राम दास का भाव है। भक्ति के लिये राम गुण गाते है। सुर, नर, मुनि-दुर्लभ पद प्राप्त करते है। जैसे बसत मास की पूर्णिमा विमल होती है। उसी प्रकार ज्योति रूप मे भगवान् के रूप का दर्शन मिलता है। जैसे भ्रमरी चदन मे घर बनाती है उसी प्रकार प्यारे प्राणपति राम की पूजा करनी चाहिए। भाव, भक्ति, पूजा, पाती सब आत्मराम के बहुविध खेल है। जो राम भजने मे आनद मानते है। राम-प्रेम मे सदा प्रसन्न रहते है। सुख का मूल पा गये। यह अतुलनी सुख है।

हमारा सुख समाधि सुख है। कोई अलग नही मिला। राम को जिसने लब्ध किया है वही जान सकता है और कोई नही जान सकता है।

(६८)
(अष्टपदी रमैंणी)

केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटांनां, केऊ केऊ केवल रांम निज जांनां॥
अजरा अमर एक अस्थांनां, ताका मरम काहू बिरलै जांना॥
अबरन जोति सकल उजियारा, द्रिष्टि समांन दास निस्तारा॥

जे नही उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथिन सीच्या नीरा॥
जा नही लागे सूरजि के बांनां, सो मोहि आंनि देहु को दांनां॥
जब नही होते पवन नही पानी, जब नही होती सिष्टि उपांनी॥
जब नही होते प्यंड न वासा, तब नही होते धरनि अकासा॥
जब नही होते गरभ न मूला, तब नही होते कली न फूला॥
जब नही होते सबद न स्वादं, तब नही होते बिद्या न बादं॥
जब नही होते गुरु न चेला, गम अगमैं पंथ अकेला॥
अबगति की गति क्या कहूं, जस कर गांव न नांव।
गुन बिहूंन का पेखिये, काकर धरिये नांव॥
आदम आदि सुधि नही पाई, मां मां हवा कहां थै आई॥
जब नही होते रांम खुदाई, साखा मूल आदि नही भाई॥
जब नही होते तुरक न हिंदू, माका उदर पिता का ब्यंदू॥
जब नहीं होते गाई कसाई, तब बिसमला किनि फुरमाई॥
भूले फिरै दीन द्वै धांवै, ता साहिब का पंथ न पावै॥
संजोगै करि गुंण धर्या, बिजोगैं गुंण जाइ।
जिभ्या स्वारथि आपणै, कीजै बहुत उपाइ॥
जिनि कलमां कलि मांहि पठावा, कुदरति खोजि तिन्हूं नही पावा॥
कर्म करीम भये कर्तूता, वेद कुरान भये दोऊ रीता॥
कृतम सोजु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया॥
कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जांनै भेऊ॥
मन मुसले की जुगति न जांनै, मति भूलै द्वै दीन बखांनैं॥
पांणी पवन संजोग करि, कीया है उतपाति।
सुंनि मै सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जाति॥
तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा॥
गाफिल गरब करै अधिकाई, स्वारथ अरथि बधै ए गाई॥
जाकौ दूध धाइ करि पीजै, ता माता कौ बध क्यूं कीजै॥
लहुरै थकै दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भकै सरीरो॥
बेअकली अकलि न जांनही, भूले फिरै ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहां थै होइ॥
पंडित भूले पढ़ि गुन्य बेदा, आप न पांवै नांनां भेदा॥
संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनकै आशरमां॥
गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ कुमति किनि पाई॥
सब मै रांमं रहै ल्यौ सीचा, इन थै और कहौ को नीचा॥
अति गुन गरब करै अधिकाई, अधिकै गरबि न होइ भलाई॥
जाकौ ठाकुर गरब प्रहारी, सो क्यूं सकई गरब सहारी॥
कुल अभिमांन बिचार तजि, खोजौ पद निरबांन॥
अंकुर बीजं नसाइगा, तब मिलै बिदेही थांन॥
खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया करमो॥
जीवहि मारि जीव प्रतिपारै, देखत जनम आपनौ हारै॥
पंच सुभाव जु मेटै काया, सब तजि करम भजैं रांम राया॥

खत्री सों जु कुटुंब सूं सूझै, पंचूं मेटि एक कूं बूझै ॥
जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि धावा ॥
हेला करै निसांनै घाऊ, झूझ परै तहां मनमथ राऊ ॥
मनमथ मरै न जीवई, जीवण मरण न होइ।
सुनि सनेही रांम बिन, गये अपनपौ खोइ ॥
अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेस रहे लपटाई ॥
जैन बोध अरु साकत सैनां, चारबाक चतुरंग बिहूँनां ॥
जैंन जीव की सुधि न जांनै, पाती तोरि देहुरै आंनै ॥
दोनां मवरा चंपक फूला, तामै जीव बसैं कर तूला ॥
अरु प्रिथमी का रोम उपारैं, देखत जीव कोटि संघारै ॥
मनमथ करम करै असरारा, कलपत बिंद धसै तिहि द्वारा ॥
ताकी हत्या होइ अदभूता, षट दरसन मै जैन बिगूता ॥
ग्यान अमर पद बाहिरा, नेड़ा ही तै दूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकटि है, रांम रह्या सकल भरपूरि ॥
आपन करता भये कुलाला, बहु बिधि सिष्टि रची दर हाला ॥
बिधनां कुंभ किये द्वै थांनां, प्रतिबिंबता मांहि समांनां ॥
बहुत जतन करि बांनक बांना, सौज मिलाय जीव तहां ठांनां ॥
जठर अगनि दी कीं परजाली, ता मैं आप करै प्रतिपाली ॥
भीतर थै जब बाहिर आवा, सिव सकती द्वै नांव धरावा ॥
भूलै भरमि परै जिनि कोई, हिंदू तुरक झूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां, ताकै संगि क्यूं जाइ सयांनां ॥
साची बात कहै जे वासूं सो फिरि कहै दिवांनां तासूं ॥
गोप भिन है एकै दूधा, कासूं कहिये बांम्हन सूदा ॥
जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि बिचार ॥५॥

शब्दार्थ—केऊ = कोई। निस्तारा = कल्याण। बाना = बाण जैसी किरणे। को = कोई। उपानी = उत्पन्न। प्यड = पिड। शरीर। कली न फूला = गर्भ कमल। बाद = सिद्धात। विवाद। गम = गम्य। मा = मै। थै = से। ब्यदू = वीर्य। फुरमाई = फरमाना। दीन = १ धर्म। २ गरीब। रीता = खाली। कृतम = कर्त्ता। सुनि = शून्य। बजगर = दुष्ट। गाफिल = गफलत। असावधानी। अहमक = मूर्ख। भकै = भक्षण करना। दीदार = दर्शन। भिस्त = स्वर्ग। थकै = से। लहुरै = बचपन। आशरमा = आश्रम मे। गरब = गर्व। सहारी = सहना। बिदेही = देहरहित। आबध = अवधि। करवाल = तलवार। हेला = खिलवाड़। निसानै = डका। घाऊ = घाता। चोट। मनमथ = कामदेव। राऊ = राजा। पाखड = विधर्मी। वेद विरोधी। देहुरै = मदिर। दोना = एक प्रकार का पौधा। इसकी पत्तियो मे तेज गध होती है। मवरा = एक प्रकार का फूल। असरार = हठ। बिगूता = नष्ट हुआ। कुलाला = ब्रह्मा। दरहाला = भीतर। गोप = गोप्य। छिपा हुआ। सुतधार = सूत्रधार। झूझ = युद्ध। सौज = सामान। दीवाना = पागल।

अर्थ—कोई-कोई तीर्थ व्रत मे लिपटे है। कोई-कोई केवल अपने राम को जानते है। एक स्थान अजर अमर है। उसके मर्म को कोई विरला ही जानता है। वह अवर्ण है। उसका प्रकाश सर्वत्र फैला है। उसकी समता दृष्टि से दास (भक्त) का निस्तार (कल्याण) होता है। जिसका

शरीर धरती पर पैदा नही हुआ, उसका रास्ता पानी से सिंचित नही है। उसे सूर्य किरणो के बाण नही लगते है। उसे मुझे दान मे लाकर दो। जब ससार शून्य था, सृष्टि नही हुई थी, हवा, पानी, नही थे, शरीर नही था, गध, धरती, आकाश, गर्भमूल, गर्भकमल भी नही थे, शब्द, स्वाद, विद्या, विवाद नही थे, गुरु शिष्य नही थे, गम्य, अगम्य का अकेला रास्ता था। अवगति की चाल को क्या कहे ? जिसका कोई गाँव, नाम नही है, उस निर्गुण को कैसे देखा जाय? उसका नाम कैसे रखा जाय ?

आदम आदि ने भी उसकी सुधि नही पाई है। फिर मै मै की हवा कहाँ से आई ? अथवा मै का हौआ कहाँ से आया ? जब राम और खुदा भी नही थे, शाखा और मूल भी नही थे, हिंदू, तुर्क (मुसलमान) भी नही थे, माँ का उदर और पिता का वीर्य नही थे, न गाय थी, न कसाई थे, तब किसने बिस्मिल्ला का स्फुरण किया ? लोग धर्म मे भटक रहे है। उस मूल साहब (परमात्मा) का रास्ता नही पाते हे।

सयोग मे गुण हे। वियोग मे गुण नष्ट हो जाता हे। जीभ के स्वादवश लोग अनेक उपाय करते है।

कलियुग मे जिसने कलमा पढ़ाया, परमात्मा को उन्होने भी खोज नहीं पाया। करीम के कर्म ही कर्त्ता बन गये। वेद-कुरान दोनो रिक्त हो गये। समझ न सके। वही कर्त्ता गर्भ मे अवतरित हुआ। उसी ने नाम धारण किया। वह निन्य हे। वही जनेऊ है या उसी ने जना है। पैदा किया है। हिंदू मुसलमान कोई उसके भेद को नही जानता है। मन मे रहनेवाले सपूर्ण का तत्त्व नही जानता। भूलकर दो धर्मो की बात करता है।

उसी परमात्मा ने पानी और हवा के सयोग से सब बनाया है। जब शब्द शून्य ब्रह्म मे समा जायगा तब जाति की बात किससे कही जायगी।

हमने मुसलमान धर्म मे बहुत खोजा। किंतु दुष्ट का बोध न हो सका। असावधानीवश बहुत अहकार करता है। स्वार्थवश गाय का वध करता है। जिसका दूध दौड़कर या धाई मानकर पीते हे उस माता की हत्या कैसे की जा सकती हे। बचपन से ही दूध पिया। मूर्ख उसके शरीर का भक्षण करता है।

बेअक्ल अक्ल नही जानते। लोग भूल मे घूमते है। दिल की गहराई मे दृष्टि के बिना स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

पडित वेद पढ़कर भूले है। नाना भेद मे स्वय को नही पा रहे है। सध्या, तर्पण और षट्-कर्म आदि इनके आश्रम मे लगे है (षट्कर्म—स्नान, सध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम या यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह)। चारो युग मे गायत्री पढ़ाई। पूछो कि फिर भी कुमति क्यो मिली ? सबमे राम ध्यान मे है। फिर इनसे कोई नीच नही है। गुण के अधिक गर्व के कारण ही इनसे कोई भला नही हो रहा है। जो परमात्मा कि गर्वहता है वह गर्व का सहारा कैसे हो सकता है ?

कुल का अहकार छोड़कर निर्वाणपद की खोज करो। जब भवचक्र का बीजाकुर नष्ट होगा तब विदेह स्थान मिलेगा।

खत्री (क्षत्रिय) खत्री धर्म करता है। उनका कर्म सवाया होता है। जीव को मारकर जीव का पालन करता है। देखते-देखते अपने जन्म का नाश करता है। पच स्वभाव (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद) को शरीर से समाप्त कर दे तब कर्म तजकर राजा राम के बनोगे। खत्री वह है जो काम, क्रोधादि कुटुब से लड़ता है। पाँचो को समाप्त कर केवल परमात्मा को समझता है। जो समयावधि मे गुरु ज्ञान को लक्ष्य करता है। तलवार पकड़कर बाह्य ज्ञान को समाप्त कर देता है। खेल खेल मे डके पर चोट मारता है। कामदेव से युद्ध करता है।

कामदेव न मरता है, न जीता है। उसका जीवन-मरण नही होता है। राम से प्रेम किये बिना आत्मतत्व समाप्त हो जाता है।

सभी षट्दर्शन और पाषड वेश मे लिपटे है। जैन, बौद्ध और शाक्त, चार्वाक ये सेना रहित है। इनके पास कामदेव से लड़ने की सेना नही है। जैन जीव के बारे मे कुछ नही जानता है। पत्ती तोड़कर घर लाता है। फूलो के अनेक प्रकार लाता है। इन फूलो मे भी जीव का निवास है। इन्हे जीव के समान ही मानो। शरीर का रोम उखाड़ता है। देखते हुए करोड़ो जीवो का नाश करता है। कामदेव को हठपूर्वक रोकता है। वीर्य को कठिनाई से गिरने देता है। यह उसके द्वारा की गयी अद्भुत हत्या है। जैन भी षट्दर्शन (योगी, जगम, सेवड़ा, सन्यासी, दरवेश, ब्राह्मण) मे नष्ट हो रहा है।

अमरपद ज्ञान से बाहर है। नजदीक से दूर है। जिसने जाना उसके निकट है। सबमे राम भरे है। कर्त्ता परमात्मा स्वय ब्रह्मा बने। उन्होने अनेक प्रकार की सृष्टि रची है। विधाता ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब दो स्थान बनाए है। ब्रह्म बिम्ब और जीव या जगत उसका प्रतिबिम्ब है। बहुत यत्न करके वेश बनाया। सामान इकट्ठा कर मनुष्य ने स्थान बनाया। जठराग्नि मे जला। उसी मे अपना पालन करता है। उदर के भीतर से जब बाहर आता है तब शिव और शक्ति नाम होता है। कोई भ्रम मे न रहे, हिदू-मुसलमान दो कुल नही है। घर का पुत्र अज्ञानी हो तो उसके साथ कोई बुद्धिमान क्यो जायगा ? अगर उससे कोई सच्ची बात कहता है तो उसे दीवाना (पागल) कहा जाता है। ग्वाले अलग-अलग है किंतु सबका दूध एक ही है। इसी से ब्राह्मण और शूद्र मे भेद नही है।

जिसने यह जगत-चित्र बनाया है वह सच्चा सूत्रधार है। कबीरदास कहते है कि वे लोग भले है जो ससार को चित्र जैसा मानते है।।५।।

(९)

(बारहपदी रमैणी)

पहली मन मै सुमिरि सोई, ता सम तुलि अवर नही कोई ॥
कोई न पूजै बासु प्रांनां, आदि अंति वो किनहूं न जांनां ॥
रूप सरूप न आवै बोला, हरू गरू कछू जाइ न तोला ॥
भूख न त्रिषा धूप नहीं छांही, सुख दुख रहित रहै सब मांही ॥
अबिगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम।
बहु बिचार करि देखिया, कोई न सारिख रांम ॥
जो त्रिभुवन पति ओहै ऐसा, ताका रूप कहौ धौ कैसा ॥
सेवग जन सेवा कै तांईं, बहुत भांति करि सेवि गुसांईं ॥
तैसी सेवा चाहौ लाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई ॥
सेव करंतां जो दुख भाई, सो दुख सुख करि गिन्हु सबाई ॥
सेव करंतां सो सुख पावा, तिन्य सुख दुख दोऊ बिसरावा ॥
सेवग सेव भुलांनियां, पंथ कुपंथ न जांन।
सेवक सो सेवा करै, जिहि सेवा भल मांन ॥
जिहि जग की तस की तस के ही, आपै आप आथिहै एही।
कोई न लखई वाका भेऊ, भेऊ होइ तौ पावै भेऊ।
बावैं न दांहिनै आगै न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछू ॥
माय न बाप आव नहीं जावा, नां वहु जण्यां न को वहि जावा ॥
वो है तैसा वोही जांनै, ओही आहि आहि नहीं आंनैं ॥

नैनां बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार।
बोलन कै सुख कारनै, कहिये सिरजनहार॥
सिरजनहार नांउ धूं तेरा, भौसागर तिरिबे कूं भेरा॥
जे यहु भेरा रांम न करता, तो आपै आप आवटि जग मरता॥
रांम गुसांई मिहर जु कीन्हां, भेरा साजि संत कौ दीन्हां॥
दुख खंडण मही मंडणां, भगति मुकति विश्रांम।
बिधि करि भेरा साजिया, धर्या रांम का नांम॥
जिनि यहु भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हौ सुख लहिया॥
दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा, कर छिटके थैं थाह न पावा॥
इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा॥
राखन की कछु जुगति न कीन्ही, राखणहार न पाया चीन्ही॥
जिनि चीन्हां ते निरमल अंगा, जे अचीन्ह ते भये पतंगा॥
रांम नांम ल्यौ लाइ करि, चित चेतनि ह्वै जागि।
कहे कबीर ते ऊबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि॥
अरचित अबिगत है निरधारा, जांण्यां जाइ न वार न पारा॥
लोक बेद थैं अछै नियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा॥
जसकर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसे गुन बरनूं मै तेरा॥
नही तहां रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां॥
नही सो ज्वांन न बिरध नही बारा, आपै आप आपनपौ तारा॥
कहे कबीर बिचारि करि, जिनि को लावे भंग।
सेवौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरबंग॥
नही सो दूरि नहीं सो नियरा, नही सो तात नही सो सियरा॥
पुरिष न नारि करै नही क्रीरा, घांम न घांम न ब्यापै पीरा॥
नदी न नाव धरनि नही धीरा, नही सो कांच नहीं सो हीरा॥
कहे कबीर बिचारि करि, तासूं लावो हेत।
बरन बिबरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत॥
नां वो बारा ब्याह बराता, पीत पितंबर स्यांम न राता॥
तीरथ ब्रत न आवै जाता, मन नही मोनि बचन नही बाता॥
नाद न बिंद गरथ नही गाथा, पवन न पांणी संग न साथा॥
कहै कबीर बिचारि करि, ताकै हाथि न नाहि।
सो साहिब किनि सेविये, जाकै धूप न छांह॥
ता साहिब कै लागौ साथा, दुख सुख मेटि रह्यौ अनाथा॥
नां जसरथ घरि औतरि आवा, नां लंका का राव संतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा, नां जसवै ले गोद खिलावा॥
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया॥
बांवन होय नही बलि छलिया, धरनी बेद लेन उधरिया॥
गंडक सालिगरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री बैस्य ध्यांन नही लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा॥
कहै कबीर बिचारि करि, ये ऊले ब्योहार।

याही थै जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि॥
नां तिस सबद न स्वाद न सोहा, नां तिहि मात पिता नही मोहा॥
नां तिहि सास ससुर नही सारा, नां तिहि रोज न रोवनहारा॥
नां तिहि सूतिग पातिग जातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक॥
नां तिहि ब्रिध बधावा बाजै, नां तिहि गीत नाद नही साजै॥
नां तिहि जाति पांत्य कुल लीका, नां तिहि छोति पवित्र नही सीचा॥
कहै कबीर बिचारि करि, वो है पद निरबांन।
सति ले मन मै राखिये, जहां न दूजी आंन॥
नां सो आवै नां सो जाई, ताकै बंध पिता नही माई॥
चार बिचार कछू नही वाकै, उनमनि लागि रहौ जे ताकै॥
को है आदि कवन का कहिये, कवन रहनि वाका है रहिये॥
कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को खोजो दूरि।
ध्यांन धरौ मन सुध करि, रांम रह्या भरपूरि॥
नाद बिंद रंक इक खेला, आपै गुरू आप ही चेला॥
आपै मंत्र आपै मंत्रेला, आपै पूजै आप पूजेला॥
आपै गावै आप बजावै, अपनां कीया आप ही पावै॥
आपै धूप दीप आरती, अपनी आप लगावैं जाती॥
कहै कबीर बिचारि करि, झूठा लोही चांम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता रांम॥

शब्दार्थ—अवर = और। ता = उस। तुलि = तुलनी। पूजै = पूरा। वासूँ = उसके समान। हरू गरू = हलका भारी। सारिख = सरीखा। ओ = वह। भेउ = भेद। जण्या = जन्म दिया। अगोचरी = अतीद्रिय। श्रवना = कान। भेरा = नाव। आवटि = आवर्त। आना-जाना। मिहर = दया। दुमना = द्वैत मन। खेरा = खेड़ा। अकुलाना = कुलरहित। भग = कुटिलता। सरबग = सर्वअग। सियरा = ठडा। क्रीरा = कीड़ा। काच = शीशा। हेत = प्रेम। बारा = बालक। मोनि = मौन। देवै = देवकी। कूख = कोख। जसवै = यशोदा। कोला = सूकर। द्वारामती = द्वारावती। बैस्य = बसकर। बद्री = बदरिकाश्रम। ऊले = फालतू। बरति = बरतना। रोज = रोग। सूतिग = सूतक। ब्रिध = वृद्ध। सति = सत्य। आन = अन्य। बध = बधु। चार = आचार। उनमनि = उन्मनीभाव। मत्रेला = मत्रदाता। जाती = जाति। जन्म। लोही = रक्त।

(७०)
(चौपदी रमैणी)

ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला॥
हम तुम्ह मांहे एकै लोहू, एकै प्रान जीवन है मोहू॥
एक ही बास रहै दस मासा, सूतग पातग एकै आसा॥
एक ही जननी जन्याँ संसारा, कौन ग्यांन थै भये निनारा॥
ग्याँन न पायो बावरे, धरी अविद्या मैड।
सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, ताथै खाई बैड॥
बालक है भग द्वारे आया, भग भुगतान कूँ पुरिष कहावा॥
ग्यांन न सुमिर्‍यो निरगुण सारा, पिथै बिरचि न किया बिचारा॥
साधन मिटी जनम की, मरन तुराना आइ।
मन क्रम बचन न हरि भज्या, अंकुर बीज नसाइ॥

तिण घरि सुरही उदिक जु पीया, द्वारै बछ कूँ दीया।
बछा धूंखत उपजी न दया, बछा बाँजि बिछोहा भया॥
ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यांन बिचार कछू नही कीया॥
जे कुछ लोगनि सोई कीया, माला मंत्र बादि ही लीया॥
पीया दूध रध्र है आया, मुई गाई तब दोष लगाया॥
बाकस ले चमराँ कूँ दीन्ही, तुचा रँगाइ करौती कीन्ही॥
ले रुकरौती बैठे संगा, ये देखौ पीडे के रंगा॥
तिहि रुकरौती पाँणी पीया, बहु कुछ पाँडे अचिरज कीया॥
अचिरज कीया लोक मै, पीया सुहागल नीर।
इंद्री स्वारथि सब किया, बंध्या भरम सरीर॥
एकै पवन एक ही पाँणी, करी रसोई न्यारी जाँनी॥
माटी सूँ माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ थूँ छोती॥
धरती लीपि पबित्र कीन्ही, छोति उपाय लोक बिधि दीन्ही॥
याका हम सूँ कहौ बिचारा, क्यूँ भव तिरिहौ इहि आचारा॥
ए पाखंड जीव के भरमाँ, माँनि अमाँनि जीव के करमाँ॥
करि आचार जु ब्रह्म संतावा, नाँव बिनाँ संतोष न पावा॥
सालिगरांम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ि भया नर दूजा॥
ठाकुर ले पाटै पौढ़ावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा॥
साच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै॥
भाव भगति की सेवा मानै, सतगुर प्रगट कहै नही छानै॥
अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई॥
जब लग भाव भगति नही करि हौ, तब लग भवसार क्यूँ तिरिहौ॥
भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसौ सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नही रे मूल॥



प्रतीकात्मक एवं पारिभाषिक शब्दावली

अंकुर १. सासारिकता की इच्छा। कर्म सस्कार। वासना। अहकार। २ उच्च ज्ञान।

अंग स्वभाव। लक्षण।

अंगना, आंगना १ अतस्। हृदय। २ शरीर। ३ आत्मकमल।

अंगार १ ज्ञान। २. जीवनी शक्ति।

अंजन भौतिक ससार।

अंड शरीर। ब्रह्माड। मूल चैतन्य।

अंधरा अतर्ज्ञान वाला। जिसने इद्रियो को बाहर देखने की अपेक्षा भीतर कर लिया है।

अंधा १ माया। २ अज्ञानी।

अंधकूप अज्ञान मार्ग।

अंबर आकाश। अंत करण। आत्मा। ब्रह्म रध्र। ऊँची दशा। परमात्मा की दिशा।

अंबु वासना। प्रवृत्तियाँ। तन्मात्राएँ।

अंमर अम्बार।

अंम्रित १ सात्त्विक वाणी। २ राम नाम। भगवत्रस। ३ सहस्रार मे स्थित त्रिकोणाकार शक्ति केद्र है। यहाँ चद्रमा का स्थान माना जाता है। शक्ति स्रोत होने के कारण इसे योनि (सृष्टि स्थान) भी कहते है। इसी स्थान से स्रवित रस। इसे ही सोम रस भी कहते है।

अकास, आकासा, अकासि दे० अबर।

अगम निर्गुण–निराकार ब्रह्म या ब्राह्मी चेतना। इद्रियातीत स्थान।

अगम्पुर इद्रियातीत।

अगिनि १ वासना। २ ज्ञान। ३ कुंडलिनी। ४ विरहाग्नि।

अगुना शास्त्रज्ञ विद्वान्।

अघटि उलटा।

अजनी त्रिगुणात्मिका वृत्ति। आद्य शक्ति। माया। प्रकृति।

अजपा प्रत्येक प्राणी अजपा गायत्री का जप करता है। यह जप एक दिन (२४ घटे) मे २१६०० बार होता है। नि श्वास (सॉस निकालना) मे 'ह'–कार का तथा आश्वास (सॉस लेना) मे 'स'–कार का उच्चारण होता है। (–डा० नागेद्रनाथ उपाध्याय)। इसे कभी-कभी अगम जप भी कहते है। 'सोह' का अजपा जाप होने लगता है तब अनाहत नाद का स्वत. उदय होता है (नाथ और सत साहित्य पृ० ३६६)। ध्वनि रहित आतरिक जप।

अनल एक प्रकार का पक्षी। यह आकाश उड़ता हुआ ही अडा देता है। अंडा वही फूटकर बच्चा निकलता है। अपनी मॉ से जा मिलता है।

अतीत एक प्रकार के साधु।

अधर शून्य। ब्रह्मरंध्र।

आधारी लकड़ी का एक टेकन। इसका प्रयोग योगी टेकन, सहारे के लिये करते है।

अनहदनाद **(अनाहतनाद)** १ मन के सिद्ध होने पर यह आतरिक नाद होता है। २ आहत रहित ध्वनि। ३ असीम।

अमृत दे० अम्रित।

अम्रितबेली सहस्रार।

अमहल नश्वर घर।

अरध उरध इडा-पिगला नाड़ियॉ। अरध या अध मूलाधार चक्र को भी कहते है।

अरहट माल वासना सस्कार।

अलख १ माया। २ निराकार परमात्मा।

अलेख साधना की उच्चभूमि। परमात्मा।

अवधू (अवधूत) साधक। सिद्ध। प्रकृति विकारो का नाशक। अत्याश्रमी। यो विलघ्याश्रमान् वर्णान् आत्मन्येव स्थित प्रमाण। अति वर्णाश्रमी योगी अवधूत स उच्यते। —कबीर का रह० पृ० ७५

अविगत अज्ञेय। चैतन्यात्मा। इद्रियातीत।

अहरनि शरीर।

अहेड़ी १ गुरु। २ कामनाऍ।

इकताई सनातन। अपरिवर्त।

अहेरी यम।

आँजन १ देह। २ अत करण।

आदिमाया प्रकृति। उद्भव स्थिति सहार कारिणी बीज शक्ति। आदि शक्ति।

आप १ अहता। अस्मिता। २ आत्मन्।

आसन योग मुद्राऍ। ये चौरासी प्रकार की है।

इक पुरुष ब्रह्म।

इच्छा सृसिका। सृष्टि करने की कामना।

ईंट १ हाड़ मॉस। शरीराग। २ ससार।

उंदरी चुहिया। रागात्मिका वृत्ति।

उतपात ससार। शरीर।

उदधि १ आनद की अधिकता। ज्ञान प्रसार। २ शरीर। ३ अत करण।

उदय अस्त जन्म मरण।

उनमन, उनमनि, उन्मनी, उनमन्न मन की शात अवस्था। जब मन विषयो की ओर जाना छोड़ कर परमात्मलीन हो जाता है। ऐसे मे उसकी स्वाभाविक चचलता समाप्त हो जाती है और कोई भी विषय उसे उन्मथित नही कर पाता। हर वक्त भागवत स्थिति बनी रहती है। मन मन मे ही समाहित रहता है। इसे तुरीयावस्था, सहजावस्था, भागवती चेतन, अमनीभवन भी कहते है।

उलटी गंग कुडलिनी जागरण।

उलटबाँसी १ विषयो से उलट कर परमात्मा मे लगे साधक का कथन। २ उलटा कथन।

ऊँट मन।
ऊपर, ऊरध सहस्रार।
एक बूँद राम रस।
एक माह ब्रह्म।
औधा कुँआ गगन मडल (शून्य अथवा ब्रह्मरध्र) मे एक अमृतरसस्रावी स्थान है। इसे ही औधा कुँआ कहते है।
औंधा घड़ा १ विषयासक्त व्यक्तित्व। साधनाहीन। २ मूलाधार। अधोमुख कुडलिनी।
आलोती १. इद्रियॉ। २ मन। ३ मेरुदड।
कंकर सांसारिक विषय।
कंचन तमो गुण रहित।
कंत १ शरीर। जीव। २ परमात्मा।
कंथा शरीर।
कंद आनद।
कंदलि (कदली) काया।
कंदमूल यौगिक चेष्टाएँ।
कँवल, कमल १ परमात्मा के चरण कमल। २ नाभि। हृदय। अतरात्मा। प्रत्यगात्मा। ३ सहस्रार।
कउवा तृष्णा। कामना।
कछुआ मन। वासना।
कठवत ससार।
कदली सुषुम्ना। मेरुदड।
कनक कलस सहस्रार।
कन्या माया।
कपूर भक्ति। परमात्म चितन।
कमोदनी मूलाधार स्थित कुंडलिनी।
करगी मृत्यु।
करहा मन। जीवात्मा।
करिगह १. शरीर। २ ससार।
करिया नविक का कर्म।
कलस, कनक कलस १ आत्मा। २. सहस्रार।
कला पॉच ज्ञानेद्रिया, पॉच कर्मेंद्रियॉ, पॉच प्राण, एक मन।
कलाल गुरु।
कली वासना।
कलेस अस्मिता, अविद्या, राग, अभिनिवेश, द्वेष।
कसाई अज्ञानी गुरु।

कहरा	एक प्रकार का नृत्य गीत।
कहार	१ पॉच ज्ञानेद्रियॉ। २ वृत्तियॉ।
कांदौ, काई	विषय वासना।
कांसा	१ भक्ति। २ राजसी वस्तुऍ।
काइथ	१ मन। कर्म सस्कार। २ चित्रगुप्त।
काग	१ मन। २ अविवेक। कुबुद्धि। ३ तृष्णा। ४ पापकर्मी।
काजल	विषयासक्ति।
कूकुर	१ दुष्ट स्वभाव। २ २ थोथा ज्ञानी।
काट	विषयोपदेश।
कापड़	शरीर।
कामधेनु	मनोवृत्ति। माया।
कामिनी	१ माया। वासना। २ साधक।
कायथ	चित्रगुप्त।
कारा	अज्ञान। वासनावाला।
कालबूत	नकली या कच्चा भराव जिस पर महराव बनाई जाती है। नाशवान। मिथ्या।
कालाकंबल	अशुद्धशरीर या मन।
काल्हि	मृत्यु के बाद।
काशी	आज्ञाचक्र के समीप इडा (गगा वरुणा) और पिगला (जमुना या असी) का मध्यस्थान वाराणसी। साधक देह।
किसान	पचेद्रियॉ।
कीगरी	शरीर।
कीटी	साधक मन।
कीर	१ जीव। २ मृत्यु।
कुंजर	ज्ञान।
कुंडलिनी	मूलाधार मे कुडलाकार, सर्पाकार एक नाड़ी। यह अपने मुख से सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्म द्वार के प्रवेश द्वार को बद किये रहती है। प्राणायाम विधि या विशिष्ट मत्रोचार की सहायता से जाग्रत कुंडलिनी ब्रह्म नाड़ी से होती हुई, अत मे सहस्रार मे स्रवित होने वाले कुलामृत का पान करती है। बाद मे आनंद मग्न हो मूलाधार स्थित कुल स्थान को परावृत होती है।
कुंभ	१ शरीर। २ अत करण।
कुंभरा	१ मन। २ विधाता। ३ ईश्वर।
कुंभरैया	आशा। आसक्ति।
कुअटा	सहस्रार।
कुआँ	१ सहस्रदल कमल। २ शरीर।
कुबजा	माया।
कुमारी	दे० कन्या।

कुलाल सृष्टिकर्त्ता।
कूकुर, कूता अज्ञानी। विषयासक्त जीव।
कूड़े अज्ञानी।
कूलि ईश्वर।
केवट १ यमराज। २. गुरुदेव।
केवड़ा वासनात्मक जीवन।
केवल ब्रह्म।
केहरि ज्ञानी।
कैलास कविलास, औघा कुँआ, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशम द्वार, पश्चिम द्वार, पलका, ब्रह्मकुड, भँवर गुफा, ब्रह्माड, ब्रह्मसागर, ब्रह्मग्रथि, विषयी, शिवपुरी, सरोवर, शून्यद्वार, कपाट, धरती, पताल, मानसरोवर, सप्तग्रथि।
कोट शरीर।
कोठरी शरीर।
कोदइत लौकिक सुख।
कोरिया, कोरी १ जीव। २ ईश्वर। रचयिता। ३ कबीर।
कोल्हू १ कर्म चक्र २ कुडलिनी।
क्रीला विषय-विलास।
कितेब कुरान।
खग १ जीवात्मा। २ शुद्धात्मा।
खजुरि सहस्रार।
खपरा १ शरीर। भोग काया। २ अज्ञान भरा मस्तिष्क।
खरिया खट राग।
खसम ब्रह्म। चैतन्यात्मा। परमात्मा।
खाँखरि १ विषय युक्त खोपड़ी। २ शरीर।
खाटा सुषुम्ना।
खुसरो बधिया।
खेत १ जीवन। २ शरीर।
खेवट १ गुरु। २ भगवान।
खेवनहार १ अज्ञानी गुरु। २ साधनाहीन मन। दे० खेवट।
खोटा असत् कर्म।
गंग १ कुंडलिनी। २ भक्ति। ३ भव समुद्र। ४ इड़ा नाड़ी।
गइया, गाइ १. मन। २ अविद्या। ३ सत। ४ इद्रियाँ।
गगन, गगन गुफा, गगननगर गगन मंडल आत्म कमल। अत करण। ब्रह्म स्थान। दसवाँ द्वार। मस्तक मे स्थित एक छिद्र। चद्रमा जैसा है। आकाश। सहस्रार।
गड़री पशु प्रवृत्ति।

गढ़	१ शरीर। २. कर्म संस्कार।
गढ़पति	जीव।
गम्म	विषय। इद्रियो द्वारा प्राप्त करने योग्य।
गरजि	अनाहतनाद।
गरुड़	ज्ञान।
गाइन्ह	गान वाले। सत, जो प्रभु गुण गाते है।
गारुड़ि	सद्गुरु।
गांऊँ, गाँव	१ ससार। ब्रह्माड। २. शरीर।
गाँठि	ग्रथि। कर्म भोग।
गागरि	शरीर।
गादह	अज्ञानी जीव।
गाय	तृष्णा।
गावनहारा	१ उपदेशक। २ बाह्य साधना मे रत व्यक्ति। ३. आत्मा।
गीध	लोभ।
गुजरी	जीवात्मा।
गुड़	लोभ।
गुड़िया	शरीर।
गुदरी	शरीर।
गुन	१. साधना। भक्ति। २ मैत्री, मुदिता, करुणा, अहिसा, आर्जव, सतोष, क्षमा, सद् विवेकादि।
गुप्त	१ सूक्ष्म शरीर। २ परमात्मा।
गुफा	१. शरीर। २. आकाश। सहस्रार।
गुर	मन।
गोनि	१ मन। २ शरीर। ससार।
गोड़	श्वास।
गोबर	विलास। काम्य कर्म। वासना।
गोरी	कुंडलिनी।
गोह	अहंकार।
ग्रीसम	वृद्धावस्था।
ग्रीह	दे० घर।
घंटा	अनाहत नाद।
घट	१ शरीर। २ हृदय।
घन	सहस्रार।
घर	१ शरीर। २ सासारिक जीवन। ३. आत्म तत्त्व। ४ हृदय।
घरनि	सुरति।

घरहाई माया।
घूँस चूहा। मन।
घैल तृष्णा।
घोरे इद्रियाँ।
चंचल मन की सचारवृत्ति।
चंच, चंचु इद्रियाँ।
चंद, चाँद १ इड़ा नाड़ी। यह नाड़ी बाँयी नासिका की ओर होती है। इसे गगा भी कहते है। २ मन।
चकवा अंत करण। जीवात्मा।
चकोर साधक।
चटारा गुरु।
चढ़त-चढ़ावत प्राणायाम करते।
चमरख चमड़े का टुकड़ा जिसमें से तकुआ घूमता है।
चमरा गाँव शरीर।
चरखा, चरखुला १ चित्त। २ शरीर। ३ ससार।
चहले विषय।
चाँचर (चर्चरी) १ वसत मे गाया जाने वाला गान। फाग। २ होली की धूमधाम। ३ एक वर्ण वृत्त।
चाक जीव।
चाबुक सयम।
चिंउटी, चींटी १ सामान्य जीव। २ सुरति। ३ मन। वाणी। ४ साधक जीव।
चिंतामणि १ इच्छा पूर्ण करने वाली कल्पित मणि। २ परमात्म साक्षात्कार।
चिड़िये वासना।
चित्त १ ससार। सृष्टि रगारग जगत। २ शरीर।
चित्रवंतहि सृष्टिकर्त्ता।
चिरगट (चिरकुट) शरीर।
चीता सतोष।
चीर शरीर।
चूनरी १ शरीर। ससार। २ भक्ति।
चूल्है .अत-करण।
चूहा काल।
चेरी साधक।
चेला साधक।
चोर काम, क्रोधादि विकार।
चोल, चोलनां १ विषयासक्ति। काम, क्रोधादि। २ शरीर।

चौथापद ब्रह्मतत्त्व।

चौहटै इड़ा, पिगला, सुषुम्ना का सगम स्थान। इसे त्रिकुटी भी कहते है। यह भौहो के बीच स्थित है।

छतीसौ राग मूल राग छ और प्रत्येक की छ छ रागिनियॉं।

छांछरी मछली। चित्तवृत्ति।

छाग, छागर १ अज्ञानी जीव। २ माया।

छिपिया १ भक्त। २ ब्रह्म।

छींकै ब्रह्मरघ्र। उर्ध्व मनस्थिति।

छेरी दे० छागर।

जंगम दक्षिण के शैव। लिगायत।

जंगल ससार।

जंत्र शरीर।

जंत्री चेतन जीव।

जंबुक अज्ञानी जीव।

जतइत (यत्र) पारलौकिक सुख।

जना १ तीन गुण। २ इद्रियॉं। ३ इद्रियो के विषय।

जमुन पिगला नाड़ी।

जरी भक्ति। साधना मार्ग।

जल १ सहस्रार, शून्य शिखर मे स्थित अमृत। इसे मानसरोवर भी कहते है। २. ब्रह्म। ३ आत्म चैतन्य। विषय रहित। ४ विषयासक्त मन। विषयो का ससार।

जलहल आनद। ब्रह्म तत्त्व।

जोविग जीव।

जाड़न अज्ञान। जड़ता।

जामिनी अज्ञान। तमस।

जिठानी। कुबुद्धि। वासना। माया।

जीवतमूवा अहकार का नाश। सासारिक दृष्टि से मृतक जैसा। मन को विषयो से उलट कर सनातन परमात्मा मे सनातन प्रेम।

जुलाहा भगवान।

जेंवरी। सकाम कर्म। माया।

जेठ १ मन। २ काम।

जोइ माया।

जोगनी कुडलिनी।

जोगी, जोगिया १. जीवात्मा। २ साधक।

जोति ब्रह्मानद।

जोलहा, जोलहिन १ जीव। २. ईश्वर। ३. आत्मा।

ज्ञान चौंतीसा	इसमे ओकार सहित ३४ वर्ण होते है। क से ह तक तैतीस वर्ण एवं ॐ।
झल	ज्ञान। विरह की अग्नि।
झोली	१ संचित कर्म। कर्म सस्कार। २ मन। ३ शरीर।
ठग	जीव।
ठाकुर	१. मन। २ यम। ३ परमात्मा।
डाइनि	माया।
डाली	बाह्याचार।
डोरी	ध्यान
ढेला	कीट पतगादि निम्न योनियाँ।
तत	जीवात्मा।
तन	शरीर से सबद्ध सुख-दुख, तृष्णादि।
तर, तल	पाताल। मूलाधार चक्र।
तरवर	१ सुषुम्ना। नाड़ी। मेरुदड। २ माया। प्रकृति। ३. शरीर। ४ ब्रह्म। ईश्वर। ५. ससार।
तरु	दे० तरवर।
तरुनि	इद्रियाँ।
तलिहारी	मूलाधार चक्र।
ताऊ	काम।
ताग	शरीर ततु। माया। मोह।
ताना	१ शरीर। २. माया।
तार	१ नाड़ी मडल। ज्ञानेद्रियाँ, कर्मेद्रियाँ। २. मिथ्या ज्ञान।
ताल	शरीर।
तिन	सासारिक सुख।
तिलक	नाशवान् सुख।
तीर	१. अपूर्ण ज्ञान। माया वस्तु। २. माया से पार। मुक्ति।
तुमरी	वासना वाला मन।
तुरी	मन।
तेल	१ जीवनी शक्ति। २ स्नेह। भक्ति।
तेल के कपि	विषयी जीव।
तोपची	गुरुदेव का शब्द।
त्रिकुटी (सगम), त्रिवेनी, त्रीखड	भौहो का मध्य स्थान जो इड़ा पिगला एवं सुषुम्ना नाड़ियो का सधि स्थल है। आज्ञा चक्र।
त्रिपल	१ ज्ञाननेत्र। २. त्रिकुटी।
दरपन	हृदय। अत करण।
दरिया	१ संसार। भव सागर। २. ब्रह्म ज्ञान।

दवा, दव — १ वासना की आग। २ ज्ञानाग्नि।
दसवैद्वार — सहस्रार द्वार। गगन गुफा जहाँ से एक प्रकार का रस टपकता रहता है।
दह — विषय।
दाता — प्रभु।
दामिनी — क्षणिक ज्ञान।
दादुर — १ शास्त्रो के उपदेशक गुरु। २ भ्रम। ३ अविद्या। ४ अल्पसतोषी। ५. स्थूल बुद्धि का।
दिनु — गुरु का सामीप्य।
दिया, दीपक, दीवा — १. ज्ञान। २ शरीर। जीव।
दिरानी — वासना।
दुंदर — कामादि विकार।
दुल्हा — ब्रह्म।
दुलहिन — १ कुडलिनी। २ जीव। साधक।
दुहुमिलि — साधु असाधु।
दूध — आनंद।
देवर — राग।
देवल — शरीर।
देवहरा — १ शरीर। २ ससार।
देस — १ शरीर। २ ससार।
दौं, दौ — दे० दव।
दौहड़े — १ मानव शरीर। २. स्वर्ग। ३ गोरख के देवद्वार शब्द का प्रयोग ब्रह्मरध्र या दशम द्वार के लिये किया है।
धंधा — सकाम कर्म।
धजा — नाम। पहचान।
धन — आनद।
धनि — जीव। भक्त।
धनी — ब्रह्म। परमात्मा।
धनुष — त्रिकुटी।
धमार — १. उछलकूद। २. नाच युक्त सगीत।
धरती, धरनि — १. मूलाधार चक्र। २ बुद्धि।
धरणि — श्वास-प्रश्वास।
धरनीधर — शेषनाग।
धाना — आशा।
धिये — दुर्बुद्धि।
धूरि — १ विषय वासना। २ निराशा।

मौत	मोह।
नगर	१. शरीर। २. परमात्मा का स्थान।
नथनियाँ	इद्रियाँ।
नटबर	परमात्मा।
नदी	१. इद्रियासक्ति। २. कुडलिनी। ३. हृदय।
ननद	मोह। अविद्या। माया।
ननद के बीर	ब्रह्म।
नलिनी	जीव।
नली	शरीर।
नवल (नेवल)	साधक।
नाँव, नाव (नौका)	१ शरीर। २ विषय।
नाइकु	(नायक) ब्रह्म।
नाग फाँस	विषय बंधन।
नागिन	कुंडलिनी।
नाद	१. गोरक्ष सिद्धात सग्रह के अनुसार नाद रूपा सृष्टि सूक्ष्मा सृष्टि है और बिदु रूपा सृष्टि स्थूल सृष्टि है। २. वायु के यथेष्ट धारण से नाद की अभिव्यक्ति होती है। ३. नाद शून्य से सभूत होता है। ४. शब्द। ५. आकाश। ६ शिष्य। ७ माता का उदर।
नारि, नारी	१. अविद्या। माया। कुबुद्धि। २ भक्ति। ३ प्राण। ४. कुडलिनी। सुरति। ५. जीव।
नालि	१. डठल। २ निकट। पास।
नाहर	जीव।
निकुंज	विषय वन।
निमरुहि	ब्रहा।
निधि	परमानंद।
निरंजन	१ निर्गुण ब्रह्म। अजन रहित ब्रह्म! २ माया के ससर्ग से मायात्मक पिंड का निर्माता। २. नाद रूपा सृष्टि का लय स्थान ३. कहीं-कही महाठग भी।
निरति	१. सहजावस्था। २. बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति। वैराग्य। —ह प्र. द्वि।
निरालंब	निर्विकल्पिक। शून्य।
निराश	विषयमुक्ति।
निर्मल नीर	भक्ति रस। ज्ञान।
निस	अज्ञान।
नीझर	सहस्र दल से झरने वाला अमृत।
नीर	१ ज्ञान। आनंद। २ मन। हृदय। चित्तवृत्तियाँ। ३. अमृत।
नींवाँ	आत्मा।
नौका	दे० नाँव।

नौया (नाविक) जीवात्मा।
पंखि, पंखी, पखेरू १ जीव। जीवात्मा। २ मन। इद्रियाँ।
पंडुर कामी जीव।
पंथी जीव।
पखान अज्ञानी।
पछिम दिसा १ सुषुम्ना। २ मूलाधार चक्र।
पछेवरा शरीर।
पटवारी १ धर्म गुरु। २ चित्रगुप्त।
पतंग विषय। अल्प ज्ञानी।
पताल मूलाधार चक्र।
पत्री (पक्षी) जीव।
पदारथ भक्ति।
पनिआँ ससार। विषय।
पनिहारी १ कुडलिनी। सुरति। प्राण शक्ति। २. जीभ। ३ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गध।
परचा साक्षात्कार। परमस्थिति। अनत का एक मे समाहित होना।
परबत १ विषय। २ जीव। मन।
परम पुरुष भगवान्। परमात्मा।
परोसिन १ विषयासक्ति। २ इद्रियाँ।
पलानियाँ एकाग्रचित्तता।
पल्लव विषय।
पवन १ प्राण शक्ति। २ प्राणायाम।
पवनपति जीवन के स्वामी। परमात्मा।
पश्चिम, पश्चिम द्वार १ सहस्रार। २ सुषुम्ना। ३ मूलाधार।
पषान सकाम कर्म। जड़ता।
पसेरी पाँच इद्रियाँ।
पहरू ज्ञानेद्रिय। आत्मा।
पहाड़ी शून्य शिखर।
पांडुर अज्ञान।
पांनी, पानी, १ भक्ति। २. विषयी मन। विषय। ३. वीर्य।
पाट १. वासना। कामना। २. शरीर। ३ वीर्य। ४ आनद।
पाताल मूलाधार चक्र।
पान विषय।
पारखि प्रत्यभिज्ञान। परिचित परमात्मा का पुन. ज्ञान।
पारथ १ जीव। मन। २ सद्गुरु।

पारथी देo पारथ।
पानी प्रेमानद।
पारस १ ब्रह्म। २ गुरु।
पावक १ कुडलिनी। २ परमात्म ज्ञान।
पासंग भक्ति या साधना के सहायक तत्त्व।
पाहन १ विषयासक्त अत.करण। २ नाश।
पाहु देo पाहुना।
पाहुना जीव।
पिंजर शरीर।
पिछौरा १ प्रकृति। २ शरीर।
पिता ब्रह्म।
पिपराही कामना। वासना।
पिया परमात्मा।
पियादे प्रवृत्तियाँ।
पीपल स्थिरता।
पुत्र मन।
पुरइन विषय मुक्त व्यक्तित्व।
पुरता शरीर।
पुरविला भरतार ब्रह्म।
पुरिख ब्रह्म।
पुरिया १ जुलाहे का एक यत्र। २ शरीर।
पुरुष ब्रह्म।
पुहुप १ वासना। २ शून्य स्थान। कमल।
पूँजी ज्ञान।
पूछट मूलाधार।
पूत साधक। जीव।
पूरब १ सहस्रार। २ चतुर्मुख ब्रह्मा का एक मुख।
पूरबलिखा सचित कर्म।
पेड़ मूल तत्त्व।
प्याला शरीर।
प्यास कामेच्छा।
प्रकट साकार।
प्रवाले भक्ति।
फल १. परमात्म तत्त्व। ब्रह्म। २. मोक्ष।
फल फूल विषय सुख।

फागुन	वृद्धावस्था।
फील (हाथी)	मन।
फुलवा, फूल	१ कामना। आसक्ति। कर्म। २. ज्ञान। ३. जन्म। ४. अल्प ज्ञानी।
फुलवारी	सृष्टि। ससार।
बंकनालि	कुडलिनी। नागिनी।
बंध	कर्म बधन। भव चक्र। विषय।
बकुला, बग, बगों, बगुल	१ मन। अज्ञानी जीव। २. कपटी गुरु। ३ श्वेत केश। ज्ञान।
बगुचा	कर्म सस्कार।
बगुली	माया।
बछरा, बछा	१ आत्म बोध। २ जीवात्मा।
बजावनहार	जीव।
बज्र केवार	नवघर।
बजाऊ	सासारिक लोग।
बटुआ	शरीर।
बटेर	अज्ञान।
बढ़ई	मृत्यु।
बदरिया	मोह। अज्ञान।
बन	१ हृदय। २ घर। ३ जीव। ४. विषय सुख। ५ शरीर। ६ सहज शून्य।
बन खंड	१ शब्द जाल। शास्त्र वचन। २. विषय।
बनराइ	अत करण।
बनसपती	ससार।
बनकदली	शरीर।
बनिज	गुरु शिष्य सबध।
बनौरी	१ विवाह गीत। २ बनाना। उपहास कथन।
बरखा	उपदेश।
बसंत	१ आनद। २ युवावस्था।
बस्तु	आत्मतत्त्व।
बहुरिया	जीव।
बाखरि	१ ब्रह्माड। २ शरीर।
बाग	परलोक।
बाघ	जीव।
बाघिनी	माया।
बाज	ज्ञान।
बाजी	ससार।
बाजीगर	ब्रह्म।

बाट	चक्र षट्।
बाती	१ प्राण। २ ध्यान। ३. चेतना का प्रकाश।
बादर (ल)	१ शून्य। २ अज्ञानी मनुष्य। ३ भक्ति।
बादली	माया। कामनाएँ।
बान	वृत्तियाँ।
बानी	माया।
बाप	१ अज्ञान। २ परमात्म ज्ञान। ब्रह्म। ३. जीव।
बाबुल	१. सद्गुरु। २ ब्रह्म।
बार	बाल। अज्ञानी।
बारी	शरीर।
बासन	शरीर।
बासी भात	१. विषय। २. घिसी पिटी साधना।
बिंद	१ प्राण वायु। २. कुडलिनी के जागरण से आज्ञा चक्र मे स्थित प्रकाश। ३ वीर्य। ४ रूप। ५ इच्छा। ज्ञान। क्रिया। ६. परम सत्ता। प्रत्येक वस्तु मे सूक्ष्म रूप मे समाया।
बिख	विषय।
बिखहर	वासनात्मक मन।
बिहिया	अविद्या माया।
बिखा	१ ससार। २ वासना।
बिरख	१ सुषुम्ना। २ सासारिकता। शरीर। ३ ब्रह्म।
बिरहुली	१ सासारी जीव। ३ कहरा, हिडोला आदि एक प्रकार का राग या गीत। ३ शायद इसका सबंध बिहुला देवी से है। बिहुला का सबध सर्प विष झाड़ने से है।
बिलाई, बिल्ली	१ प्रज्ञा। २ माया। अविद्या। कुबुद्धि।
बिस्नु	सद्गुरु।
बिहंगम	जीव मन।
बीगर	जीव।
बीज	१ वासना। सकाम कर्म। २ परमात्मा।
बीजक	गड़े धन से सबद्ध वह पत्रक जिसमे उसका विवरण रहता है। कबीर की वाणियो का प्रामाणिक सग्रह। परमात्मा रूपी गुप्त धन का पता बताने वाली रचनाएँ।
बीबी	सुमति।
बीर	एक शैव सप्रदाय। और उसका साधु।
बुढिया	माया। तृष्णा।
बूंद	व्यष्टि।
बेलि	१ तृष्णा। आशा। माया। २ भावभक्ति।
बेहद	ब्रह्म। अनत।

बैल	लोभ। अविवेक।
बोकला	माया।
बोहरे	परमात्मा।
ब्रह्मरंध्र	शून्य, आकाश।
भँड़हर	शरीर। कपाल।
भँवर, भँवरा	१ भक्त। २ भ्रम। ३. मन। जीव। ४ काले केश। ५ युवावस्था।
भँवर गुफा	ब्रह्मरध्र।
भँवरी	विवेक।
भइया	वासना।
भतार	१ ईश्वर। २ पति।
भलुइया	लोभी गुरु।
भवन	शरीर।
भसुर	अविवेक।
भाँड़ा	१ साधना। २ शरीर। ३ जीव।
भात	जीवात्मा।
भान	आत्म प्रकाश।
भामिनि	माया।
भारती	सन्यासियो का एक सप्रदाय, जाति। उपाधि।
भीटि	विषय।
भील	मोह। काम।
भुअंग	कुडलिनी।
भेड़	जीव।
भेदी	गुरु।
भैंस	१ शम। २ निम्न सस्कार। तमोवृत्ति। ३ छली गुरु। ४ इंद्रियॉ।
भौर, भौरा	१ आवागमन। २ विषयो मे भ्रमण।
भौज	अविद्या माया।
मंछ	मन। आत्मा।
मंजार	बुद्धि।
मंडल	आकाश। सहसार।
मंदला	अनाहत नाद।
मंदिर	शरीर।
मगहर	साधनाहीन शरीर।
मच्छ	१ माया। २ साधक। ३ कुडलिनी। ४ मन।
मछली	दे० मच्छ।
मधि	द्वन्द्वो के बीच।

मरना	विषय त्याग।
मालिन	१ माया। २ मृत्यु।
मसाँन	साधना स्थल।
महतारी	माया।
महतौ	प्रवृत्तियाँ।
महल	हृदय।
महारस	१ अमृत। २. भक्ति का आनद।
माँखी	दुष्ट। धूर्त।
मांझ दीप	सुषुम्ना।
माँड़ी	पचभूत।
माँड़ो	शरीर।
मानसरोवर	१ मानस। अमृत कुड। २ शून्य शिखर।
मासु	विषय।
माई	१ ममता। माया। २ साधना।
माखी	दे० मच्छ।
माछ, माछली	दे० मच्छ।
माटी	१ प्रकृति। २ शरीर।
मवरिया	मन।
माड़ी	१ पच महाभूत। २ प्राणी मात्र।
मानसरोबर	चैतन्य। सहस्रार।
माणिक	चैतन्य। जीव।
मान्यक	भक्ति। भगवत्प्रेम।
माय	माया।
मालिन	साधिका।
माहो	माया।
मिनकी	वासना। कामना।
मिनी	मृत्यु।
मियाँ	जीव।
मिरग (मृग)	१ विषयासक्त जीव। २ पशु प्रवृत्ति। ३ तृष्णा। ४. कामदेव। विषय सुख। ५ माया।
मीन	१ साधना। इस साधनामे बहिरग, इद्रियो की वृत्तियो को भीतर करते है। विषय से उलट का भगवान की ओर ले जाते है। इसे मीन मार्ग इसलिये कहते है कि जैसे मछली प्रवाह के उलटे चलती है। उसी प्रकार साधक विषय प्रवाह को उलट कर साधना करता है। इससे किसी कर्म का निशान भी नही बनता। यह अरूप, अदृश्य साधना है।
मुंडित	एक प्रकार का साधु, जोर सिर मुड़ाए रहता है।

मुंड़िया — १. जीव। २. माया। ३ मुंडित साधु।

मुक्ताहल — आनंद।

मुद्रा — १. मुद्रा के अलग-अलग संप्रदायों में भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। गोरखनाथ के नाथ पंथ में मुद्रा कान में पहनने का एक आभूषण है। २ हठयोग में पाँच मुद्राएँ मानी जाती हैं—भूचरी, खेचरी, चाचरी, गोचरी एवं उन्मनी। ३. साधना में बैठने का ढंग। ४. पंचमकार—मांस, मीन, मैथुन, मदिरा, मुद्रा में कभी-कभी मुद्रा को मदिरा पीते समय का दाना भी कहा गया है। ५ साधिका। जिसका प्रयोग साधक साधना के लिये करता है।

मोट — कर्म संग्रह।

मुर्गी — साधक।

मूँड — १ मुवा। २ वासनासक्त जीव।

मेंढ़क — मोह युक्त।

मूल — १ संसार यात्रा का कारण। भगवत्प्रेम। २. मूलाधार चक्र। ३. ब्रह्म।

मूस — १ जीव। २ मन।

मेर — मम। ममत्व। अहं।

मेर डंड, मेरुदंड — १. कमर और पीठ के बीच की हड्डी। २ सुषुम्ना।

मैंगल — अहंकार।

मैंवासा — अहंकार।

मोटरी — विकारों भरा मन या शरीर।

मोती — १ मन। २ सुख। आनंद। ब्रह्मानंद।

मौर — सहकार।

म्यत — मैं।

यंत्र — शरीर।

रंग — भाव।

रंडा — ज्ञानी

रउरा — परायापन।

रन — १. साधना। २. विषय वन।

रमता — आत्मा या परमात्मा।

रमैनी — १. कबीर की एक प्रकार की रचना। इसमें सांसारिक जीवों का वर्णन है। २ रमण करने योग्य।

रसरिया — कर्म संस्कार की रस्सी।

रसिक — १. भगवान्। २. माया।

रजनी — अज्ञानावस्था।

रहस — एकांत।

राँड — १ विषय युक्त। २. माया।

राई — १ मन। २ छोटा से छोटा विषय भाव।

राउर	१. देह। विषय महल। २ अत करण।
राछ	जुलाहो का एक औजार।
राजा	१. साधक। २. परमात्मा।
रामकहानी	परमात्मा का कर्म। सृष्टि की रचनादि।
रावल	जीव।
रुक्मिनी	माया। विषय।
रुंख	सहस्रार।
रेह	नाशवान।
रैनि	युवावस्था।
रैयत	जीव।
रोगिया	जीवात्मा।
रोजा	मुसलमानो का एक व्रत।
रौम	वृत्तियॉं।
लंगर	विवेक।
लमधी	१ अविवेक। २ परमाचार्य।
लहुरिया	जीवात्मा।
लहुरि	भक्ति।
लीपना	सकाम कर्म।
लुहार	१ जीवात्मा। २ यम।
लेज, लजु	मेरुदंड। कुडलिनी।
लय	ध्यान। मोक्ष।
लोह	अज्ञान।
लौंगसुपारी	गुणो से सबद्ध वस्तुएँ।
वाराणसी	दे० काशी।
विदेस	ससार।
विप्रमतीसी	बत्तीस पक्तियो वाला एक काव्य रूप। तीस चौपाइयॉं और एक दोहा।
संगम	१ त्रिवेणी। २ त्रिकुटी। ३ प्रयाग।
सँजोग	१ कवच। २ साधना।
संझा	मृत्यु काल। वृद्धावस्था।
सांझ-सकारा	जन्म-मृत्यु।
सकति (शक्ति)	१ कुंडलिनी। २ इड़ा नाड़ी। ३ स्त्री।
सखी (सहेली)	१ जीव। २ वासनाऍं।
सती सगोती	साधक। भक्त।
सबद	१ गुरु वचन। २ अनाहतनाद। ब्रह्म मे होने वाला स्पंदन।
समधी	गुरु।

समुद्र 1. ससार। जीवन। २. ब्रह्म नाड़ी। ३ विवेक। ४ विषय। प्रकृति। ५. ब्रह्म।
सयान ज्ञानी। मन। जीव।
सर 1 अनाहतनाद। २ अस्थियाँ। ३ ब्राह्मी चेतना। ४ सत् गुरु के शब्द।
सरगुन प्राणायाम।
सरवर 1. आनद। २ शरीर।
सरवर मीत शरीर के मित्र।
सरिता 1 इद्रियाँ। २. वासना।
सर्प ज्ञान।
सलि कठिन साधना।
ससा 1 वासना। २ साधक। ३ मन।
ससि दे० चद्र।
ससुर 1 देवी देवता। २ भोग।
सहंस सोऽह।
सहज 1 एक साधना मार्ग। २ परम तत्त्व।
सहज समाधि 1. साधना और समाधि का प्रयत्न और परिश्रम से बढ़कर स्वभाव बन जाना। २ चित्त वृत्तियो का परम सत्ता मे लीन होना।
सहज भाव सहज समाधि। सहजशून्य।
सहज सुंनि 1 सहस्रार। २ साधना की चरमावस्था।
सहस्रार तालु मूल मे सहस्रदल कमल। वही सुषुम्ना का छिद्र है। यही ब्रह्मरध्र कहा जाता है। यह बिंदु रूप है।
सहनां आत्म तत्त्व।
सहेली मनोवृत्तियाँ।
साँपिनि 1 एक नाड़ी। २ विषय।
सांती पाठ ओ शाति शाति शाति।
सावँत सामत। दे० ठाकुर।
साउज वासना। वृत्तियाँ।
साखा नाड़ी सस्थान।
साखा पत्र कामनाएँ।
साखी दोहो मे कथित सतो द्वारा परमात्मा से साक्षात्कार की वाणी।
सायर (सागर) 1. शरीर। २ ससार। ३. हृदय। मानस। ४ माया।
सायर बारि आत्मानद।
सार्दुल 1 मन। २. वासना।
सावज मन।
साजीभूत तुरीयावस्था। परमात्मा से साक्षात्कार की अवस्था।
सास 1 बुद्धि। वृत्ति। २ अस्मिता। मैं भाव। ३ अविद्या। माया।

सासुर ससार।
साहब १ परमात्मा। २ गुरु।
साहु प्रभु।
सिघ, सिह जीव। अहकार।
सियार १ भ्रम। २ अल्पज्ञानी गुरु। ३ मन। ४ भगोड़ा।
सिव १ पिगला नाड़ी। २ शिव का स्थान सहस्रार मे है। ३ पुरुष।
सिषर ब्रह्मरध्र।
सीकर १ एक मुर्दाखोर जानवर। २. माया।
सीकस ससार।
सीतलछाया गुरु कृपा।
सीस अह। निजता।
सुंनिमंडल दे० सुन्नि सिखर।
सुंदरि, सुंदरी भक्त।
सुआसिनि प्रवृत्तियाँ।
सुत मन।
सुनहाँ मन।
सुन्न (शून्य) १ आकाश। २ सहजावस्था। समरसावस्था। ३ इद्रियो से भिन्न शीश के ऊपरी हिस्से मे स्थित छिद्र। सुषुम्ना के भीतर से होता हुआ यह मूलाधार तक फैला है। सहस्र दल कमल इसी के ऊपर है। ब्रह्मरध्र वह छिद्र जो ० बिदु रूप होता है।
सुन्नि शिखर सहस्रार।
सुरति १ ध्यानावस्थित चित्त। इस स्थिति मे अनाहतनाद सुनाई पड़ता है। सतत सुमिरन के कारण भगवतबोध बना रहता है एव आनद रस स्रवित होता है। इसमे चित्त की चचलता दूर होकर चित्त भगवत्ध्यान मे रत रहता है। सुरत कमल। २ नाथ वाणी के अनुसार सुरति श्रुति, स्मृति दोनो से व्युत्पन्न जान पड़ता है। २. अंतर्मुखी प्रवृत्ति प्रेम। —ह प्र द्वि।
सुरभी भनच्छन गो का अर्थ इद्रियाँ। जीभ को उलट कर तालु मे प्रवेश कराना गोमास भक्षण अर्थात् सुरभी भक्षण है। सुरभी = गो। खेचरी मुद्रा।
सुरही भक्ति।
सुरुज, सूर्य, सूर दाहिनी नासिका नाड़ी। पिगला। ज्ञान।
सुवटा १ ज्ञानेद्रियाँ। २ जीव।
सुषुम्ना, सुखमन ईड़ा और पिगला नाड़ी के बीच मे मेरुदड मे सामानातर नाड़ी। इसकी छ स्थितियाँ है।
सुहागिन माया।
सूत-कूसूत शुभ-अशुभ कर्म।
सूनाघर १ निर्गुण ससार। २ नाशवान् देह, ससार।

सूर्य	मूलाधार चक्र मे चार दलो के बीच मे एक गोलाकार स्थान।
सेज	हृदय।
सेमर	मिथ्या आशा।
सोनहा, स्वान	१. अज्ञानी। अज्ञान। २. काल।
सोवनहार	कुडलिनी।
सौदा	सत्कर्म।
सौरी	१. शरीर। २. आत्मज्ञान।
स्यंभ द्वार	ब्रह्मरध्र।
स्यार	१. तृष्णा। वासना। २. साधना।
स्वान	स्वभाव न बदलने वाला।
स्वामी	१ जीव। २. ब्रह्म।
स्वातन	कुत्ता।
स्वेत	सत्त्व।
हंस, हंसा, हंसिनी	नव द्वार के पिजड़े मे स्थित आत्मा। मुक्तात्मा। विवेकशील।
हजारी का सूत	कर्म वैविध्य।
हजूर	१ गुरु। २ परमात्मा।
हट्ट, हाट	संसार।
हर	कर्म।
हरा	वासना सुख।
हरिजल	आनद।
हरियरबन	अंत करण की प्रसन्नता।
हरीअंगरी	सद्वृत्तियाँ।
हस्ती	१. मन। जीव। २ परमात्म साधना। ३ माया।
हाकिम	जीवात्मा।
हाड़ी	विषय।
हार	सत्कर्म।
हींगै	अहकार जताना।
हीरा	१ सत्कर्म। कल्पना। परमात्मतत्त्व। ज्ञान। आत्म तत्त्व। ३ भक्ति।

संख्यावाची

एक	ब्रह्म।
एकताई	माया या प्रकृति एवं जीव की एकता।
एकै कुवां	प्राणमय कोष।
खूंटे दोऊ	ज्ञान भक्ति।
दोइ गयंद	अहकार और भक्ति।
दोऊ कुल	इहलोक, परलोक।

दोइ तुँबड़ा	सूर्य एव चंद्र नाड़ी।
जुग	ब्रह्म और जीव।
दोसर सेआन	स्वाधिष्ठान चक्र। सुविचारण।
दुइ दुख	जन्म-मरण।
दुइ अख	राम। हरि।
दुई	राग-द्वेष।
दुइ सुर	१ लोक परलोक। २. इड़ा पिगला।
पुरुष दुई	ज्ञान-वैराग्य।
दुइ फल	सुख-दुख।
बिधि अक्षर	राम।
तीन खूँटा	इड़ा, पिगला, सुषुम्ना।
तीन डारा	सत्, रज, तम।
तीनि डंड	पलास (ब्राह्मण के लिये), पीपल वट (क्षत्रिय के लिये), गूलर (वैश्य के लिये)।
तिरगन	सत्, रज, तम।
तिरदेव	ब्रह्मा, विष्णु, महेश।
तिरबिधि	बाल, युवा, वृद्धावस्थाएँ।
तिहाई	आधि दैविक, आधि भौतिक, अध्यात्मिक। त्रिताप।
तीन	धर्म, अर्थ, काम।
तीन गाँवें	१ ब्रह्म लोक, विष्णु लोक, शिव लोक। २. त्रि लोक। ३. भूः, भुवः, स्वः।
तीन गुण	१. भक्ति, ज्ञान, वैराग्य। २. सत्, रज, तम।
त्रियरैनि	१ बाल, किशोर, युवा। २ वित्तेषण, सुतेषण, लोकेषण।
तीन पुत्र	ब्रह्मा, विष्णु, महेश।
तीनि दंड	आधि भौतिक, आधि दैविक, अध्यात्मिक।
तीन भवन	अन्नमय कोष, प्राणामय कोष, मनोमय कोष।
तीन लोक	दे० तीन गाँव। पृथ्वी, अंतक्षि, स्वर्ग।
तीन सनेही	सुत, वित्त, लोक, ईषणाएँ।
तीसर सेआन	मणि पूरक चक्र। तनुमानसा।
चउथ सेआन	अनाहतचक्र। सत्त्वापत्ति।
चारि अवस्था	बाल। किशोर। युवा। वृद्ध।
चारि खूँटी	मन, चित्त, बुद्धि, अहकार। अतकरण।
चारि जना	दे० चारि खूँटी।
चार दिग	नाभि, कंठ, हृदय, त्रिकुटी।
चार पदार्थ	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।
चार फल	दे० चार पदार्थ।
चार वर्ण	ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।

चार वृक्ष	ऋक्, यजु, साम, अथर्व वेद।
चार दिन	बाल, किशोर, युवा, वृद्ध।
चार खानि	अडज, पिडज, ऊष्मज, उद्भिज।
चौथा पद	ब्रह्म तत्त्व।
चौमास	वर्षा ऋतु। आषाढ, सावन, भाद्र, आश्विन।
चार युग	सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि।
चौपरि कामरि	दे० चार अवस्था। चार खूँटी।
पंच	१ पांच ज्ञानेंद्रियां। २ पाँच विषय। ३. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर विकार।
पंच दूत	पॉच ज्ञानेद्रियॉ।
पंच किसान	ऑख, कान, नाक, जीभ, त्वचा।
पंच धातु	पच महाभूत। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर।
पंच कुसंगी	दे० पच।
पंच कुटुंब	दे० पच।
पंच चोर	दे० पंच।
पंच पियादे	दे० पंच।
पंच संत्री	दे० पंच।
पंच गदहा	पाँच इद्रियाँ।
पंच तत्त्व, पंच धात	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।
पंच दारा	दे० पचपियरियाँ।
पंच पियरियाँ	प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान।
पाँच पनिहारी	दे० पंचपियरियाँ।
पंच जना	दे० पच तत्त्व।
पाँच ढोटा	दे० पच।
पाँच भुवंग	ज्ञानेंद्रियॉ पॉच।
पाँच पवन	दे० पचपयरियाँ।
पाँच बनिजारे	पच तत्त्व।
पाँच पहरावा	दे० पच ज्ञानेंद्रियाँ।
पंच सिख	ज्ञानेद्रियॉ।
पंचू भइया	ज्ञानेद्रियॉ।
पाँच लदनुवा	पच तत्त्व।
पंच कोट	अन्नमय, प्राणामय, मनोमय, विज्ञानमय, आनद मय कोश।
पाँच नारद	१. पाँच इद्रियाँ। २. पॉच विषय।
पाँचो अमृत	पाँच विषय।
पाँच सैल	यम के अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह।

पाँच हाथ पच तत्त्व।

पाँचवे सेआन विशुद्ध चक्र। असन शक्ति।

पाँच थाना ज्ञानेद्रियाँ पाँच।

पाती पंच ज्ञानेंद्रियाँ।

पाँच सखी, पाँच सहेली ज्ञानेंद्रियाँ पाँच।

छव दरसन १. न्याय, वैशेषिक, मीमासा, साख्य, योग। २. योगी, जगम, सेवड़ा, सन्यासी, दरवेश, ब्राह्मण।

छव साखा दे० छव दरसन।

षट आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, हंस, परम हस।

षट् कर्म १ स्नान, सध्या, तर्पण, पूजा, तप, होम। ये नित्य कर्म है।
२ नेती, धोती, बस्ति, न्योली, त्राटक, कपालभाती। ये यौगिक कर्म हैं।
३ यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह। ये ब्राह्मण कर्म है।

छव चकवे १ बेनु, बलि, कस, दुर्योधन, पृथु, विक्रम। २ हरिश्चद्र, मनु, मान्धाता, हरिद्रुम्न, जरासघ, त्रिविक्रम।

षट चक्र ये सभी कमलाकार होते है।

१. चक्र	स्थान	आकार	(दल)
१. मूलाधार	जननेद्रिय के नीचे मेरुदड का प्रदेश	चार	भुवर्लोक
			तमस् अग्नि
२ स्वाधिष्ठान	जननेंद्रिय के ऊपर मेरुदड प्रदेश	छ	स्वर्लोक
३. मणिपूर	नाभि प्रदेश	दस	महर्लोक
			रजस् सूर्य
४. अनाहत	हृदय प्रदेश	बारह	जनलोक
५ विशुद्ध	कठ प्रदेश के नीचे	सोलह	तपोलोक
			सत्व चद्र
६. आज्ञा	त्रिकुटी, भौहो के बीच	दो	सत्यलोक

२ जन्म, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना, नष्ट होना। ये शरीर के भव चक्र है।
३. भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म-मृत्यु।

षडरस लवण, तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय, मधुर।

छिय जती, सिद्ध सन, सनक, सनदन, सनातन, सनत कुमार, सनातन (द्वतीय)।

छठयें सेआन आज्ञा चक्र। पदार्थाभाविनी।

सतये सेआन सहस्रार। तुरीय।

सात द्वीप जम्बू, कुश, प्लक्ष, क्रौच, शक, पुष्कर, शाल्मलि।

सात समुद्र दुग्ध, दधि, घृत, क्षार, इक्षुरस, मद्य, जल।

सात सूत रस, रक्त, मांस, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र।

सात, सात शब्द सगीत के सात स्वर–सा, रे, ग, म, प, ध, नी।

सात (पोषक) दे० सात सूत।

सात बीज १ रूप, रस, गध, स्पर्श, श्रवण, बुद्धि, अहकार।

२ पाँच महाभूत एवं बुद्धि, अहकार।

सात विरही भगवत्प्रेम की ओर उन्मुख सात साधना भूमियाँ–शुभेच्छा, विचारण, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, परार्थभाविनी, तुर्यगा। ये घटस्थ योग के सात साधन भी है।

अष्ट सिद्धि १ अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व।

२ अजन, पादुका, गुटका, धातुभेद, बोतल, बज्र, रसायन, योगिनी।

३ तार, सुतार, तारतार, रम्यक, आधि भौतिक, आधि दैविक, अध्यात्मिक (साख्य)

अष्ट कुमारी भूमि, जल, आग, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार।

अष्टांग योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

अष्ट गगन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार।

अष्ट कमल मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रदल, सुरति।

अष्ट मिथुन १. पॉच ज्ञानेद्रिया (उनके विषय रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द), मन, बुद्धि, अहकार।

२ सिह, वृष, हाथी, कमल, पखा, बैजयती, भेरी, दीपक। इन्हे अष्ट मगल भी कहते है।

३ स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सकल्प, अध्यवसाय, क्रिया निष्पत्ति।

४ गध, स्त्री, वस्त्र, गीत, पान, भोजन, अलकार, वाहन।

नव घर मन, चित्त, बुद्धि, अहकार, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान।

नव निधि पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुद, कुद, नील, खर्व।

नौ द्वार दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका, मुख, गुदा, जननेद्रिय।

नव खंड भारत, इलावृत, किपुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रम्य, कुश।

नव गज दे० नौ द्वार।

नव ग्रह सूर्य, चद्र, मगल, वुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु।

नव व्याकरण इद्र, चद्र, काश कृत्स्न, शाकटायन, पिशालि, पाणिनि, अमर, जैनेद्र, सरस्वती।

नवधा भक्ति श्रवन, स्मरण, कीर्तन, पाद सेवन, अर्चन, वदन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन।

नौ नारी (डी) १. इड़ा (चद्र), २ पिगला (सूर्य), सुषुम्ना (मध्य), ४ गाधारी (दक्षिणनेत्र), ५ हस्ति जिह्वा (वार्यो नेत्र), ६ पृषा (दक्षिण कर्ण), ७ पयस्विनी (वाम कर्ण), ८ लकुहा (गुदा), ९ अलबुषा (लिग)।

नौ बहिया दे० नवघर।

नवडाडी नौ इद्रियाँ।

दस गज १ दे० दस गोनि। २ दस नाड़ियॉ।

दस गोनि आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिग, मुख।

दस द्वार नव द्वार तथा एक ब्रह्मरध्र।

दसै बंद दस इद्रियाँ।

दस दिशा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, वायव्य, ईशान, नैर्ऋत, आग्नेय, आकाश, पाताल।

दस अवतार मत्स्य, कच्छप, शूकर, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि।

दस मुन्सफ दीवानी का न्यायाधीश।

बारह १. अनाहत चक्र। इसमें बारह दल होते है। प्रत्येक दल मे एक-एक अक्षर होते है। क से ठ के अक्षर। २ दस इंद्रियाँ, मन, बुद्धि।

द्वादस गम को अंतरा सहस्रार, जो हृदय से बारह अंगुल पर स्थित है। इसी मे चित्त की स्थिति है। इसे ही 'शिव द्वादशांत' भी कहते है।

द्वादस दल दे० बारह।

चौदह १. ब्रह्म ज्ञान, २. रस ज्ञान, ३ कर्म काड, ४ सगीत, ५. व्याकरण, ६. ज्योतिष, ७. धनुर्विद्या, ८ जलतरन, ९ न्याय, १० कोक, ११ अश्वारोहण, १२ नाट्य, १३ कृषि, १४ वैद्यक।

चौदह चंदा दे० चौदह विद्या।

चौदह ठहर भू भुव स्व. जन, तप, मह, सत्य, अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल।

चौदह भुवन दे० चौदह ठहर।

चौदह विद्या चार वेद, छ वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छद, ज्योतिष), मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण।

सोलह दे० कला।

सोलह सिगार उबटन, स्नान, वस्त्र धारण, बाल सँवारना, अजन, सिदूर लगाना, महावर, भाल पर तिलक, ठोढी पर तिलक, मेहदी, सुगंधित पदार्थो का प्रयोग, आभूषण, पुष्पहार, पान, ओठ रगना, मिस्सी का प्रयोग।

सोरह विशुद्धाख्य चक्र।

पत्र अठारह अठारह पुराण–विष्णु, वामन, पद्म, वाराह, शिव, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्म वैवर्त, ब्रह्मांड, भविष्य, भागवत, मार्कंडेय, मत्स्य, नारद, लिग, स्कद, कूर्म, गरुड़।

अठारह भार १२ करोड़, ३० लाख, एक हजार छ सौ साठ वृक्ष। २. चार फल वाली, चार लताएँ, छ. फूलो वाली, चार काँटो वाली।

उनइस गज १ पाँच प्राण। २. पाँच विषय (तन्मात्राएँ)। ३ पाँच इद्रियाँ। ४ अंत करण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार)।

इक्कीस चौदह भुवन एवं सात द्वीप।

पच्चीस १. आकाश के पाँच तत्त्व (काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय)। २ वायु के पाँच तत्त्व (चलन, वलन, धावन, प्रसारण, संकोचन)। ३ अग्नि के पाँच (क्षुधा, तृषा, आलस्य, न्द्रिा, मैथुन)। ४ जल के पाँच (लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य)। ५. पृथ्वी के पाँच (हाड़, मास, नाड़ी, रोम, त्वचा)।

२. पॉच महाभूत, पॉच कमेंद्रिय, पॉच ज्ञानेद्रिय, पॉच विषय, मन, बुद्धि, अहकार, प्रधान (प्रकृति) एवं पुरुष।

बत्तीस १ नाथ पथ मे शिष्य के बत्तीस लक्षण–

१. ग्यान पारछ्या–निरलोभी, निहचल, निरबासीक (निवासी), नि शब्द।

२ बिचार पारछ्या निरमोही, निबध, निसक, निरवान।

३ बमेक (विवेक) पारछ्या सरवगी, सावधान, सति, सारग्राही।

४ सतोष पारछ्या अजाचीक, अवाछीक, अमानीक, अस्थिर।

५ निरबता (निरालब) पारछ्या निहितरग, निहिपरपच, निरदुरी, निरलोप।

६ सहज पारछ्या सुमती, सुहृदी, सीतल, सुषदाई।

७ सील पारछ्या सुचि, सजम, सति (?), श्रोता।

८ सुनि पारछ्या ल्यौ, लषि, (लक्ष्यम्), ध्यान, समाधि।

ना और स सा ना ना उपा।

२ प्रधान योगासन भी बत्तीस है।

चौतीस अक्षर कवर्ग से पवर्ग तक पच्चीस वर्ण। य, र, ल, व, श, ष, स, ह एव ॐ।

छत्तीस राग सगीत मे छ राग और उनकी क्रमश छ छ रागिनियाँ है।

१ श्री राग–माल श्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधु माधवी, पहाड़ी।

२ बसत राग–देशी, देवगिरि, वैराठी, टौरीका, ललित, हिंडोल।

३ पचम राग–विभास, भूपाली, कर्णाटी, पटहसिका, मालवी, पट मजरी।

४ भैरव राग–भैरवी, बगाली, सेधवी, रामकली, गुंर्जरी, गुणकरी।

५ मेघ राग–मल्लारी, सैरिटी, सावेरी, कैशिकी, गाधारी, हर शृगार।

६ नट नारायण राग–कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारगी, हम्मीरी।

साठ सूत १ षष्टि तत्र (साख्य) ६० पदार्थो पर विचार। २ षष्टि सवत्सर।

चौंसठ दीवा चौसठ कला १. गीत। २ वाद्य। ३ नृत्य। ४ चित्रकारी। ५ भूर्ज पत्र को तिलकाकृति मे काटना। ६ पूजार्थ चावल एव अनेक अग के फूलो से सजाना। ७ पुष्पो से गृह सज्जा। ८. शरीर एव दातो को रगना। ९ फर्श पर मणि विछाना। १० शय्या रचना। ११ जल वाद्य। १२ जल घात। १३. मत्र-तत्र प्रयोग। १४. माला गूँथना। १५ सिर पर आभूषण धारणकरना। १६. वस्त्रालकार। १७ हाथी दाँत, शख के अलकरण। १८ सुगध निर्माण। १९ मणियो के आभूषण। २० इन्द्रजाल क्रीड़ा। २१ वाजीकरण। २२ हाथ की सफाई। २३ भोजन निर्माण कला। २४ पेय निर्माण। २५ सिलाई। २६ सूत से चित्र निर्माण। २७ वाद्य वादन। २८ प्रहेलिका प्रयोग। २९ अत्याक्षरी। ३० क्लिष्ट श्लोक वाचन। ३१ पुस्तक वाचन। ३२ नाटकादि ज्ञान। ३३ समस्यापूर्ति। ३४ बेत एव सरकंडो से वस्तु निर्माण। ३५ मीनाकारी एव पच्चीकारी। ३६ बढ़ईगिरी। ३७ गृह निर्माण। ३८ मणि एव रत्न परीक्षा।

३९ धातू शोधन। ४० मणि रगना। ४१ वृक्षार्युवेद। ४२ भेड-मुर्गादि लड़ाना। ४३ तोता-मैना पढ़ाना। ४४ शरीर मे मालिश। ४५ सकेताक्षर ज्ञान। ४६ गुप्त भाषा ज्ञान। ४७ विभिन्न देशो की भाषा का ज्ञान। ४८ फूलो से रथादि बनाना। ४९ शकुन विचार। ५० स्वचालित यत्र बनाना। ५१ स्मरण शक्ति वर्धन की कला। ५२ श्लोको का पुनरास्मरण। ५३ क्षिप्त अक्षरो से श्लोक निर्माण। ५४ कोश निर्माण। ५५ छद ज्ञान। ५६ अलकार ज्ञान। ५७ बहुरूपियापन। ५८ वस्त्राधारण कला। ५९ द्यूत कला ज्ञान। ६० पासा की क्रीड़ा। ६१ बच्चो के खेल का ज्ञान। ६२ आचार शास्त्र का ज्ञान। ६३ विजय विद्या ज्ञान। ६४ व्यायाम विद्या ज्ञान।

अठसठि अड़सठ तीर्थ।

कोठ बहत्तर शरीर की बहत्तर ग्रथियाँ।

पुरुष बहत्तर ग्रंथियाँ १६ कडराएँ, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवना, १४ अस्थि सघात, १५ सीमत, १ त्वचा।

चौरासी ८४ योनियाँ।

चौरासी सिद्ध सरहपा, कण्हपा आदि।

छानबे पाषंड १२ योगी, १८ जगम, २४ शेवड़ा, १० सन्यासी, १४ दरवेश, १८ ब्राह्मण। ये छयानवे सप्रदाय।

समाप्त

पद सूची

कोटि सूर जाके परगास	७०२
कोठी तो यह काठ की	३६०
कोठे ऊपर दौरना	४२१
कोठे मडप हेतु करि	५१४
को बीनै प्रेम लागी री	५३४
कोयला भी होय उजला	४४८
क्रोध अग्नि घर घर बढ़ी	४४१
कौंण कौंण गया राम कौंण कौंण न जासी	६२५